

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी-द्वारा

संस्थापित

## भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें

उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक

जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और वधासम्बन्ध

अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन गण्डार्योंकी

सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-

ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी

इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० ह्रीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आ० ने० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : ९ अलीपुर पोस्ट प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

विक्रय केन्द्र : ३६२०१२१-नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक सम्मति भुवनालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

---

स्थापना . फाल्गुन कृष्ण ९, वीर जि० २४०० • विक्रम सं० २००० • १८ फरवरी सन् १९४४

सर्वाधिकार सुरक्षित

भारतीय ज्ञानपीठ



स्व० सूरिदेवी, भावेइवरी मेठ शान्तिप्रसाद जैन



# ĀDIPURĀNA

[ Second Part ]

of

ĀCHĀRYA JINASENA

with

HINDI TRANSLATION, APPENDICES ETC.

Edited by

Pt. PANNALAL JAIN, SAHITYACHARYA



BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA PUBLICATION

---

VIRA SAMVAT 2491  
v s. 2021, 1965 A. D. }

{ Second Edition  
Rs. 10/ }



---

**BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ**

**JAINA GRANTHAMĀLĀ**

FOUNDED BY

**SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN**

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

**SHRĪ MŪRTIDEVĪ**

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL,  
PURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS  
AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAMŚĀ, HINDI,  
KANNADA, TAMIL ETC, ARE BEING PUBLISHED  
IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR  
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES  
AND  
CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS,  
STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR  
JAINA LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

General Editors

**Dr Hiralal Jain M A, D Litt**  
**Dr A N Upadhye, M. A, D. Litt.**

**Bharatiya Jnanapitha**

Head office 9 Alipore Park Place, Calcutta-27  
Publication office Duragahund Road, Varanasi-5  
Sales office 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi-6.

---

ded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam 2470, Vikrama-Sam, 2000 18th Febr 1944

All Rights Reserved

## विषयानुक्रमशिका

पृष्ठ

पृष्ठ

### पङ्क्तिशतितम पर्व

चक्रवर्ती भरतने विधिपूर्वक चक्ररत्नकी पूजा की और फिर पुत्रोत्पत्तिका उत्सव मनाया। नगरीकी सजावट की गयी। अनन्तर दिग्विजयके लिए उद्यत हुए। उस समय दारु श्वेतुका विस्तृत वर्णन। दिग्विजयके लिए उद्यत चक्रवर्तीका वर्णन। तत्कालोचित सेनाकी शोभाका वर्णन। पूर्व दिशामें प्रयाणका वर्णन। गंगाका वर्णन। १-१७

### सप्तविंशतितम पर्व

सारथी-द्वारा गंगा तथा वनकी शोभाका वर्णन। हाथी तथा घोड़ा आदि सेनाके अंगोंका वर्णन। १८-३२

### अष्टाविंशतितम पर्व

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही दिग्विजयके लिए आगे प्रयाण किया। चक्ररत्न उनके आगे-आगे चल रहा था। तात्कालिक सेनाकी शोभाका वर्णन। क्रमशः चलकर वे गंगाद्वारपर पहुँचे। वहाँ वे उपसमुद्रको देखते हुए स्थलमार्गसे गंगाके किनारेके उपवनमें प्रविष्ट हुए। वही सेनाको ठहराया। अनन्तर समुद्रके किनारेपर पहुँचे, वहाँ समुद्रका विस्तृत वर्णन। ३३-४४

भरत चक्रधर लवणसमुद्रमें स्थलकी तरह वेगसे आगे बढ़ गये। दारुह योजन आगे चलकर उन्होंने अपने नामसे चिह्नित एक वाण छोड़ा, जो कि मागध देवकी सभामें पहुँचा। पहले तो मागधदेव बहुत बिगड़ा पर बादमें वाणपर चक्रवर्तीका नाम देख गर्वरहित हुआ तथा, हार, सिंहासन और कुण्डल साथ लेकर चक्रवर्तीके स्वागतके लिए पहुँचा। चक्रवर्ती उसकी विनयसे बहुत प्रसन्न हुए। ४५-५०

समुद्रका विविध छन्दो-द्वारा विस्तृत वर्णन। अन्तमें कवि-द्वारा पुण्यका माहात्म्य वर्णन। ५१-६१

### एकोनविंशतितम पर्व

अनन्तर चक्रवर्ती दक्षिण दिशाकी ओर आगे बढ़े। मार्गमें अनेक राजाओंको वश करते जाते थे। बीचमें मिलनेवाले विविध देशों, नदियों और पर्वतोंका वर्णन। ६२-७१ दक्षिण समुद्रके तटपर चक्रवर्तीने अपनी समस्त सेना ठहरायी। वहाँकी प्राकृतिक शोभाका वर्णन। चक्रवर्तीने रथके द्वारा दक्षिण समुद्रमें प्रवेश कर वहाँके अधिपति व्यन्तरदेवको जीता। ७२-८०

### त्रिंशत्तम पर्व

सम्राट् भरत दक्षिण दिशाको विजय कर पश्चिमकी ओर बढ़े। वहाँ विविध वनों, पर्वतों और नदियोंकी प्राकृतिक सुपमा देखते हुए वे बहुत ही प्रसन्न हुए। क्रमशः वे विन्ध्य गिरिपर पहुँचे। उसकी खिलरी हुई शोभा देखकर उनका चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। वही उन्होंने अपनी सेना ठहरायी। अनेक वनोंके स्वामी उनके पास तरह-तरहकी भेंट लेकर मिलनेके लिए आये। भरतने सबका यथोचित सम्मान किया। समुद्रके किनारे-किनारे जाकर वे पश्चिम लवण-समुद्रके तटपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने दिव्य वास्त्र धारण कर पश्चिम समुद्रमें दारुह योजन प्रवेश किया और व्यन्तराधिपति प्रभास नामक देवको वगमें किया। पुण्यके प्रभावसे वया नहीं होता ? ८१-९५

### एकत्रिंशत्तम पर्व

अनन्तर अठारह करोड़ घोड़ोंके अधिपति भरत चक्रधरने उत्तरकी ओर प्रस्थान

किया। क्रमशः चलते हुए विजयार्थ पर्वतकी उपत्यकामें पहुँचे। वहाँ वे अपनी समस्त सेना ठहराकर निश्चित हुए। पता चलने-पर विजयार्थदेव अपने समस्त परिकरके साथ इनके पास आया और उनका आत्माकारी हुआ। विजयार्थको जीत लेनेसे इनकी दिग्विजयका अर्धभाग पूर्ण हो गया। अनन्तर उन्होंने उत्तरभारतमें प्रवेश करनेके अभिप्राय-से दण्डरत्न-द्वारा विजयार्थ पर्वतके गुहाद्वार-का उद्घाटन किया।

१६-१११

### द्वात्रिंशत्तम पर्व

गरमी शान्त होनेपर उन्होंने गुहाके मध्यमें प्रवेश किया। काकिणी रत्नके द्वारा मार्गमें प्रकाश होता जाता था। बीचमें उन्ममन्जला तथा निमन्मजला नामकी नदियाँ मिली, उनके तटपर सेनाका विश्राम हुआ। स्थपति-रत्नने अपने बुद्धि-बलसे पुल तैयार किया जिससे समस्त सेना उस पार हुई। गुहागर्भमें निकलकर सेनासहित भरत उत्तर भरत-क्षेत्रमें पहुँचे। चिलात और आवर्त नामके राजा बहुत क्रुपित हुए। वे रस्परमें मिलकर चक्रवर्तीसे युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए। नाग जातिके देवीकी सहायतासे उन दोनोंने चक्रवर्तीकी सेनापर घनघोर वर्षा की जिससे ७ दिन तक चक्रवर्तीकी सेना चर्मरत्नके बीचमें नियन्त्रित रही। अनन्तर जयकुमारके आग्नेय वाणसे नाग जातिके देव नाग खड़े हुए और सब उपद्रव शान्त हुआ। चिलात और आवर्त दोनों ही म्लेच्छ राजा निरुधाय होकर शरणमें आये। क्रमशः भरतने उत्तर-भरतके समक्ष म्लेच्छ खण्डोपर विजय प्राप्त की।

११२-१३०

### त्रयस्त्रिंशत्तम पर्व

दिविजय करनेके बाद चक्रवर्ती सेनासहित अपनी नगरीके प्रति वापस लौटे। मार्गमें अनेक देशों, नदियों और पर्वतोंको उल्लिखित करते हुए कैलास पर्वतके समीप आये। वहाँसे श्री ऋषभ जिनेन्द्रकी पूजा करनेके लिए कैलास पर्वतपर गये। अनेक राजा

उनके साथ थे। पुरोहितके द्वारा कैलास पर्वतका वर्णन।

१३१-१३६

समवसरणका सक्षिप्त वर्णन। समवसरणमें स्थित श्री ऋषभ जिनेन्द्रका वर्णन। सम्राट्के द्वारा भगवान्की स्तुतिका वर्णन।

१३७-१५०

### चतुस्त्रिंशत्तम पर्व

कैलाससे उतरकर अयोध्या नगरीकी ओर प्रस्थान। चक्ररत्न अयोध्या नगरीके द्वारपर आकर रुक गया, जिससे सबको आश्चर्य हुआ। चक्रवर्ती स्वयं सोच-विचारमें पड़ गये। निमित्तज्ञानी पुरोहितने बतलाया कि अभी आपके भाइयोंको वश करना बाकी है। पुरोहितकी सम्मतिके अनुसार राजदूत भाइयोंके पास भेजे गये। उन्होंने भरतकी आज्ञामें रहना स्वीकार नहीं किया और श्री ऋषभनाथ स्वामीके पास जाकर दोक्षा ले ली।

१५१-१७१

### पञ्चत्रिंशत्तम पर्व

सब भाई तो दीक्षित हो चुके, परन्तु बाहुवली राजदूतकी बात सुनकर क्षुभित हो उठे। उन्होंने कहा कि जब पिताजीने सबको समान रूपसे राजपद दिया है, तब एक सम्राट् हो और दूसरा उसके अधीन रहे यह सम्भव नहीं। उन्होंने दूतको फटकारकर वापस कर दिया अन्तमें दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ हुई।

१७२-१९९

### षट्त्रिंशत्तम पर्व

युद्धके लिए इस ओरसे भरतकी सेना आगे बढ़ी और उस ओरसे बाहुवलीकी सेना आगे आयी। बुद्धिमान् मन्त्रियोंने विचार किया कि इस भाई-भाईकी लड़ाईमें सेनाका व्यर्थ हो संहार होगा। इसलिए अच्छा हो कि स्वयं ये दोनों भाई ही लड़े। सबने मिलकर नेत्रयुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध, ये तीन युद्ध निश्चित किये। तीनों ही युद्धोंमें जब बाहुवली विजयी हुए तब भरतने क्रुपित होकर चक्ररत्न चला दिया, परन्तु उससे बाहुवलीकी कुछ भी हानि नहीं हुई। बाहुवली चक्रवर्तीके इस व्यवहारसे बहुत ही विरक्त हुए और जंगलमें जाकर उन्होंने

दीक्षा ले ली। वे एक वर्षका प्रतिमायोग ले कायोत्सर्ग करते हुए तपश्चरण करते रहे। भरत चक्रवर्तीने उनके चरणोंमें अपना मस्तक टेक दिया। बाहुबली केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त हुए। २००-२२०

### सप्तत्रिंशत्तम पर्व

चक्रवर्तीने बड़े वैभवके साथ अयोध्या नगरमें प्रवेश किया। उनके वैभवका वर्णन। २२१-२३९

### अष्टत्रिंशत्तम पर्व

एक दिन भरतने सोचा कि हमने जो वैभव प्राप्त किया है उसे कहाँ खर्च करना चाहिए। जो मुनि हैं, वे तो धनसे निःस्पृह रहते हैं। अतः अणुव्रतधारी गृहस्थोंके लिए ही धनादिक देना चाहिए। एक दिन भरत चक्रवर्तीने नगरके सब लोगोंको किसी उत्सवके बहाने अपने घर बुलाया। घरके अन्दर पहुँचनेके लिए जो मार्ग थे वे हरित अंकुरोंसे आच्छादित करा दिये। बहुत-से लोग उन मार्गोंसे चक्रवर्तीके महलके भीतर प्रविष्ट हुए। परन्तु कुछ लोग बाहर खड़े रहे। चक्रवर्तीने उनसे भीतर न आनेका जब कारण पूछा तब उन्होंने कहा कि मार्गमें उत्पन्न हुई हरी घास आदिमें एकैन्द्रिय जीव होते हैं। हम लोगोंके चलनेसे वे सब मर जायेंगे अतः दयाकी रक्षाके लिए हम लोग भीतर आनेमें असमर्थ हैं। चक्रवर्ती उनके इस उत्तरसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें दूसरे प्रामुख मार्गसे भीतर बुलाया और उन्हें दयालु समझकर श्रावक सजा दी, वही ब्राह्मण कहलाये। इन्हें ब्राह्मणोचित क्रिया-काण्ड आदिका उपदेश दिया। अनेक क्रियाओंका उपदेश दिया। सबसे पहले गर्भान्वय क्रियाओंका उपदेश दिया। २४०-२६८

### एकोनचत्वारिंशत्तम पर्व

तदनन्तर भरत चक्रवर्तीने दीक्षान्वय क्रियाओंका उपदेश दिया। २६९-२७६ फिर कर्णव्यय क्रियाओंका निष्पण किया। २७७-२८९

### चत्वारिंशत्तम पर्व

घोडश संस्कार तथा हवनके योग्य मन्त्रोंका वर्णन। २९०-३१६

### एकचत्वारिंशत्तम पर्व

कुछ समय व्यतीत होनेपर भरत चक्रधरने एक दिन रात्रिके अन्तिम भागमें अद्भुत फल दिखलानेवाले कुछ स्वप्न देखे। स्वप्न देखनेके बाद उनका चित्त कुछ त्रस्त हुआ। उनका वास्तविक फल जाननेके लिए वे भगवान् आदिनाथके समवसरणमें पहुँचे। वहाँ जिनैन्द्र बन्धनाके अनन्तर उन्होंने श्री आद्यजिनैन्द्रसे निवेदन किया कि मैंने ब्राह्मण वर्णकी सृष्टि की है। वह लाभप्रद होगी या हानिप्रद। तथा मैंने कुछ स्वप्न देखे हैं उनका फल क्या होगा? भरतके उत्तरमें श्री भगवान्ने कहा कि वृत्त! यह ब्राह्मण वर्ण आगे चलकर मर्यादाका लोप करनेवाला होगा यह कहकर उन्होंने स्वप्नोंका फल भी बतलाया, जिसे सुनकर चक्रवर्तीने अयोध्या नगरीमें वापस प्रवेश किया। और दुःस्वप्नोंके फलकी शान्तिके लिए जिनाभियेक आदि कार्य कर सुखसे प्रजाका पालन किया। ३१७-३३०

### द्विचत्वारिंशत्तम पर्व

एक दिन भरत सम्राट् राजसभामें बैठे हुए थे। पास ही अनेक अन्य राजा विद्यमान थे। उस समय उन्होंने विविध दृष्टान्तोंके द्वारा राजाओंकी राजनीति तथा वणिज्य धर्मका उपदेश दिया। ३३१-३६०

### त्रिचत्वारिंशत्तम पर्व

यहाँसे गुणभद्राचार्यकी रचना है। सर्वप्रथम उन्होंने गुहवर जिनसेनके प्रति भक्ति प्रकट कर अपनी लघुता प्रदर्शित की। अनन्तर श्रृंगिकने समवसरणसभामें खड़े होकर श्री गौतम गणधरसे प्रार्थना की कि भगवन्! अब मैं श्री जयकुमारका चरित सुनना चाहता हूँ कृपा कर कहिए। उत्तरमें गणधर स्वामी-

पृष्ठ

पृष्ठ

ने जयकुमारका विस्तृत चरित कहा। काशी-  
राज अकम्पनकी सुपुत्री सुलोचनाने स्वयंवर-  
मण्डपमें जयकुमारके गलेमें वरमाला  
डाल दी।

३५१-३८५

### चतुश्चत्वारिंशत्तम पर्व

स्वयंवर समाप्त होते ही चक्रवर्ती भरतके पुत्र  
अर्ककीर्ति और जयकुमारके बीच घनघोर  
युद्ध हुआ। अन्तमें जयकुमार विजयी हुए।  
अकम्पन तथा भरतकी दूरदक्षितासे युद्ध  
शान्त हुआ तथा दोनोंका मनमुटाव दूर  
हुआ।

३८६-४२४

### पञ्चचत्वारिंशत्तम पर्व

अकम्पनने पुत्रीके शील और सन्तोषकी  
प्रशंसा की तथा अर्ककीर्तिकी प्रशंसा कर  
उन्हे शान्त किया। तथा चक्रवर्ती भरतके  
पास दूत भेजकर अपने अपराधके प्रति क्षमा-  
याचना की। चक्रवर्तीने उनके उत्तरमें  
अकम्पन और जयकुमारकी बहुत ही  
प्रशंसा की।

४२५-४३१

जयकुमार और सुलोचनाका प्रेममिलन — जब  
जयकुमारने अपने नगरकी ओर वापस आनेका  
विचार प्रकट किया तब अकम्पनने उन्हे बड़े  
वैभवके साथ विदा किया। मार्गमें जयकुमार  
चक्रवर्ती भरतसे मिलनेके लिए गये। चक्र-  
वर्तीने उनका बहुत सत्कार किया।  
अयोध्यासे लौटकर जब जयकुमार अपने  
पड़ावकी ओर गमाके मार्गस जा रहे थे तब  
एक देवीने मगरका रूप धरकर उनके  
हाथीको ग्रस लिया जिससे जयकुमार हाथी-  
सहित गंगामें डूबने लगे तब सुलोचनाने  
पवनमस्कार मन्त्रकी आराधनासे इस उप-  
सर्गको दूर किया।

४३२-४४०

बड़ी धूमधामके साथ जयकुमारने हस्तिनापुर-  
में प्रवेश किया। नगरके नर-नारियोने  
सुलोचना और जयकुमारको देखकर अपने  
नेत्र सफल किये। जयकुमारने हेमागद  
आदिके समक्ष ही सुलोचनाको पटरानीका

पट्ट बाँधा और बड़े वैभवके साथ सुखसे रहने  
लगे।

४४१

इधर किसी कारणवश सुलोचनाके पिता  
अकम्पनको संसारसे विरक्ति हो गयी। उन्हेने  
वैराग्यभावनाका चिन्तन कर अपनी विरवित-  
को बढ़ाया तथा रानी सुप्रभाके साथ दीक्षा  
धारण कर निर्वाण प्राप्त किया। सुप्रभा  
यथायोग्य स्वर्गमें उत्पन्न हुई।

४४२-४४३

जयकुमार और सुलोचनाके विविध भोगोका  
वर्णन।

४४३-४४५

### षट्चत्वारिंशत्तम पर्व

किसी एक दिन जयकुमार अपनी प्राणबल्लभा  
सुलोचनाके साथ मकानकी छतपर बैठे हुए  
थे कि अचानक उनकी दृष्टि आकाशमार्गसे  
जाते हुए विशाखर-दम्पतिपर पड़ी। दृष्टि  
पडते ही 'हा मेरी प्रभावती' कहकर जय-  
कुमार मूर्च्छित हो गये और सुलोचना भी  
'हा मेरे रतिवर' कहती हुई मूर्च्छित हो  
गयी। उपचारके बाद दोनों सचेत हुए।  
जयकुमारने सुलोचनासे मूर्च्छित होनेका  
कारण पूछा तब वह पूर्वभवका वृत्तान्त कहने  
लगी। विस्तारके साथ दोनोंकी भवावलिका  
वर्णन।

४४६-४७९

### सप्तचत्वारिंशत्तम पर्व

जयकुमार और सुलोचना पूर्व भवकी चर्चा  
कर रहे थे, कि जयकुमारने उससे श्रीपाल  
चक्रवर्तीके विषयमें पूछा। सुलोचनाने अपनी  
सरस वाणीके द्वारा श्रीपाल चक्रवर्तीका  
विस्तृत कथानक प्रकट किया। अनन्तर दोनों  
सुखसे अपना समय बिताने लगे।

४८०-५००

देव-द्वारा जयकुमारके शीलकी परीक्षा।  
जयकुमारका संसारसे विरक्त होना और  
भगवान् ऋषभदेवके समवसरणमें गणधर  
पद प्राप्त करना।

५०१-५१२

भरत चक्रवर्तीका दीक्षाग्रहण, केवलज्ञानकी  
प्राप्ति, भगवान्का अन्तिम विहार और  
निर्वाणप्राप्ति।

५१३-५१५

आदिपुराणम्

अथ षड्विंशतितमं पर्व -

१ दक्षिणे नाम्नु । नो दक्षिणे ज्व. ल० । न दक्षिणे उव. द०, १० ५०, ५०, ५० । २ नाम्नुदक्षिणे  
३ नाम्नुदक्षिणे । ४ चतुर्ष्वकुलमण्डपे । ५ वीथिप । ६ 'अत्रि मयस व' इति मयस । ७ मयस । ८  
९ अथवा । १० निर्मलनामा निर्मलमयस व । ११ अथवा । १२ अथवा ।

सरोजलभूक्तान्तं सरोजरजसा ततम् । सुवर्णरजसाकीर्णमिव कुट्टिमभूतलम् ॥९॥

सरः सरोजरजसा परितः स्थगितोदकम् । कादम्बजायाः संप्रेक्ष्य मुमुक्षुः स्थलशङ्कया ॥१०॥

कञ्जकिञ्जल्कपुष्पेन पिञ्जरा षट्पदावली । सौवर्णमणिदृष्ट्वैव शरदः कण्ठिका वमी ॥११॥

सरोजलं समासेदुर्मुखराः सितपक्षिणः । वदान्यकुलमुद्भूतसौगन्ध्यमिव बन्दिनः ॥१२॥

नदीनां पुलिनान्यासन् झुचीनि शरदागमे । हंसानां रचितानीव शयनानि सितान्शुकैः ॥१३॥

सरांसि ससरोजानि सोपला वप्रभूमयः । सहस्रसैकता नद्यो जह्नुश्चेतांसि कामिनाम् ॥१४॥

प्रमन्नसलिला रञ्जुः सरस्थः सहसारसाः । कृजितैः कलहंसानां जितनूपुरशिञ्जितैः ॥१५॥

नीलोत्पलेक्षणा रंजे शरच्छ्रीः पङ्कजानना । व्यक्तमामाषमाणेव कलहंसीकलस्वनैः ॥१६॥

पक्ष्वालिमुको नन्नकणिशाः पिञ्जरश्रियः । स्नाता हरिद्वयेवासन् शरकालप्रियागमे ॥१७॥

मन्दसाना मन्द मेजुः सहसाना मन्द जहुः । शरद्वक्ष्मी समालोक्य शुद्धयशुद्धयोरथ निजः ॥१८॥

की बड़े-बड़े मोतियोंकी मालासे बनी हुई कण्ठमाल ( गलेमें पहननेका हार ) ही हो ॥ ८ ॥ कमलोकी परागसे व्याप्त हुआ सरोवरका जल ऐसा सुन्दर जान पड़ता था मानो सुवर्णकी धूलिसे व्याप्त हुआ रत्नजटित पृथिवीका तल ही हो ॥९॥ जिसका जल चारो ओरसे कमलोकी परागसे ढँका हुआ है ऐसे सरोवरको देखकर कादम्ब जातिके हंसोकी स्त्रियाँ स्थलका सन्देह कर बार-बार मोहमें पड़ जाती थीं अर्थात् सरोवरको स्थल समझने लगती थी ॥ १० ॥ जो भ्रमरोकी पंक्तियाँ कमलोकी केशरके समूहसे पीली-पीली हो गयी थी वे ऐसी जान पड़ती थी मानो सुवर्णमय मनकाबोंसे गूँथा हुआ शरदऋतुका कण्ठहार ही हो ॥ ११ ॥ जिस प्रकार चारण लोग प्रसिद्ध दानी पुरुषके समीप उसकी कीर्ति गाते हुए पहुँचते हैं उसी प्रकार हंस पक्षी भी शब्द करते हुए अतिशय सुगन्धित सरोवरके जलके समीप पहुँच रहे थे ॥ १२ ॥ शरदऋतुके आते ही नदियोंके किनारे स्वच्छ हो गये थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो सफेद वस्त्रोसे बने हुए हंसोंके बिछौने ही हो ॥ १३ ॥ कमलोसे सहित सरोवर, नील कमलोसे सहित खेतोकी भूमियाँ और हंसोंसहित किनारोसे युक्त नदियाँ ये सब कामी मनुष्योंका चित्त हरण कर रहे थे ॥ १४ ॥ जिनमे स्वच्छ जल भरा हुआ है और जो सारस पक्षियोंके जोड़ोंसे सहित हैं ऐसे छोटे-छोटे तालाब, नूपुरोंके शब्दको जीतनेवाले कलहस पक्षियोंके सुन्दर शब्दोंसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ १५ ॥ नीलोत्पल ही जिसके नेत्र हैं और कमल ही जिसका मुख है ऐसी शरदऋतुकी लक्ष्मीरूपी स्त्री कलहसियोंके मधुर शब्दोंके बहाने वातालाप करती हुई-सी जान पड़ती थी ॥१६॥ जिनमे बाले नीचेकी ओर झुक गयी हैं और जिनकी शोभा कुछ-कुछ पीली हो गयी है ऐसी पके चावलोंकी पृथिवियाँ उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानो शरदऋतुकी पत्तिका आनेपर हल्दी आदिके उबटन-द्वारा स्नान कर सुसज्जित ही बैठी हो ॥ १७ ॥ उस शरदऋतुकी शोभा देखकर हंस हर्षको प्राप्त हुए थे और मयूरोने अपना हर्ष छोड़ दिया था । सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध और अशुद्धिका यही स्वभाव होता है । भावार्थ—हंस शुद्ध अर्थात् सफेद होते हैं इसलिए उन्हें शरदऋतुकी शोभा देखकर हर्ष हुआ परन्तु मयूर अशुद्ध अर्थात् नीले होते हैं इसलिए उन्हें उसे देखकर दुःख हुआ । किसीका वैभव देखकर शुद्ध अर्थात् स्वच्छ हृदयवाले पुरुष तो आनन्दका अनुभव करते हैं और अशुद्ध अर्थात् मलिन स्वभाववाले—दुर्जन पुरुष दुःखका अनुभव करते हैं, यह इनका स्वभाव ही है ॥ १८ ॥

१ कलहसस्त्रिय । 'कादम्ब कलहस स्याद्' इत्यभिधानात् । २ मोहयन्ति स्म । ३ रचिता । ४ जगुः । ५ हसा । ६ त्यागिसमूहम् । ७ सीहादम् । ८ केदार । ९ पुलिन । १० अपहरन्ति स्म । ११ रज्ज्या । १२ हंसा । मन्दमाना ल० । १३ हर्षम् । १४ मयूरा । सहमाना ल० । १५ अयमास्मीयगुणो हि ।

कलहंसा हसन्ती च विस्तैः स्म शिखण्डिनः । अहो जडप्रिया थूथमिति निर्मलमूर्तयः ॥ १९ ॥  
चित्रवर्णा घनावद्धरुचयो गिरिसंश्रयाः । समं शतमखेव्यासैर्बर्हिणः स्वोन्नतिं जडः ॥ २० ॥  
बन्धुकैरिन्द्रगोपश्रीरातेने वनराजिषु । शरलक्ष्म्येव निष्ठयुतैस्ताम्बूलसबिन्दुभिः ॥ २१ ॥  
विकासं बन्धुजीवेषु शरदाविर्मवन्त्यधात् । सतीव सुप्रसन्नासां विषड्का विजदाभरता ॥ २२ ॥  
हमरवनानकाकाशकपिशोऽञ्जलचामरा । पुण्डरीकाक्षपत्रासीद्विजयोत्येव सा शरन् ॥ २३ ॥  
दिशां प्रसाधनायाधाद् बाणासनपरिच्छदम् । शरत्कालो जिगीषोहि इलाव्यो बाणासनग्रहः ॥ २४ ॥  
घनावली कृशा पाण्डुरासीदाग्रा विमुञ्चती । घनागमविद्योगोत्थचिन्तयेवाकुलीकृता ॥ २५ ॥  
नमः सतारमारंजे विहसत्कुमुदाकरम् । कुमुदतीवनं चामाज्यचारिकितं नमः ॥ २६ ॥

निर्मल शरीरको धारण करनेवाले हंस मयूर शब्द करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो अहो तुम लोग जडप्रिय — सुखप्रिय ( पक्षमे जलप्रिय ) हो इस प्रकार कहकर मयूरोकी हँसी ही उड़ा रहे हों ॥ १९ ॥ जिनका वर्ण अनेक प्रकारका है, जिनकी रुचि-इच्छा ( पक्षमे कान्ति ) मेघोमे लग रही है और जो पर्वतोके आश्रय हैं ऐसे मयूरोने इन्द्रधनुषोके साथ-ही-साथ अपनी भी उन्नति छोड़ दी थी । भावार्थ — उस शरदऋतुके समय मयूर और इन्द्रधनुष दोनोंकी शोभा नष्ट हो गयी थी ॥ २० ॥ वन-पमित्तयोमे शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा थूके हुए ताम्बूलके रसके बूँदोके समान शोभा देनेवाले बन्धूक ( दुपहरिया ) पुष्पोने क्या इन्द्रगोप अर्थात् वर्षाऋतुमे होनेवाले लाल रंगके कीड़ोकी शोभा नहीं बढ़ायी थी ? अर्थात् अवश्य ही बढ़ायी थी । बन्धूक पुष्प इन्द्रगोपोके समान जान पड़ते थे ॥ २१ ॥ जिस प्रकार निर्मल अन्त करणवाली, पापरहित और स्वच्छ वस्त्र धारण करनेवाली कोई सती स्त्री घरसे बाहर प्रकट हो अपने बन्धुजनोके विषयमे विकास अर्थात् प्रेमको धारण करती है उसी प्रकार शुद्ध दिशाओको धारण करनेवाली कीचडरहित और स्वच्छ आकाशवाली शरदऋतुने भी प्रकट होकर बन्धुजीव अर्थात् दुपहरिया-के फूलोपर विकास धारण किया था — उन्हे विकसित किया था । तात्पर्य यह है कि उस समय दिशाएँ निर्मल थी, कीचड़ मूख गया था, आकाश निर्मल था और वनोमें दुपहरियाके फूल खिले हुए थे ॥ २२ ॥ उस समय जो हसोके शब्द हो रहे थे वे नगाडोके समान जान पड़ते थे, वनोमें काशके फूल फूल रहे थे वे उज्ज्वल चमरोके समान मालूम होते थे, और तालाबोमे कमल खिल रहे थे वे क्षत्रके समान सुशोभित हो रहे थे तथा इन सबसे वह शरदऋतु ऐसी जान पड़ती थी मानो उसे दिग्विजय करनेकी इच्छा ही उत्पन्न हुई हो ॥ २३ ॥ उस शरदऋतुने दिशाओ-को प्रसाधन अर्थात् अलंकृत करनेके लिए बाणासन अर्थात् बाण और आसन जातिके पुष्पो-का समूह धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओको प्रसाधन अर्थात् वश करनेके लिए जिगीषु राजाको बाणासन अर्थात् धनुषका ग्रहण करना प्रशसनीय ही है ॥ २४ ॥ उस समय समस्त आगा अर्थात् दिशाओ ( पक्षमें सगमकी इच्छाओ )को छोडती हुई मेघमाला कृश और पाण्डुवर्ण हो गयी थी सो उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो वर्षाकालके वियोगसे उत्पन्न हुई चिन्तासे व्याकुल होकर ही वैसी हो गयी हो ॥ २५ ॥ उस शरदऋतुके समय ताराओसे सहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो कुमुदिनियोसहित सरोवरकी हँसी ही कर रहा हो

१ जलप्रिया ल०, द०, इ०, स०, अ०, प० । २ मेघकुनवाञ्छाः । ३ इन्द्रचापे । ४ बन्धुजीवकै । बन्धूकै बन्धुजीवकै, इत्यभिधानात् । ५ बन्धूक-कुसुमेषु, पक्षे सुहृज्जीवेषु । ६ पुण्याह्रगनेव । ७ सुप्रसन्नदिक्, पक्षे सुप्रसन्नमात्मा । सुप्रसन्नात्मा-ल० । ८ विगतकर्दमा, पक्षे दोपरहिता । ९ पक्षे निर्मलवस्त्राः । १० अलकाराय । जयार्थं च । ११ क्षिण्टिकुसुमसर्जककुसुमपरिकरम् । पक्षे घनु परिकरम् । १२ जेतुमिच्छो ।



तारकाकुमुदाकीर्णं नमःसरसि निर्मले । हंसायते स्म ग्रीतांशुर्विक्षिप्तकरपक्षतिः<sup>१</sup> ॥२७॥  
 नमोगृहाद्गगे तेनुः श्रियं पुण्योपहारजाम् । तारकादिग्वधुहारतारमुक्ताफलखिपः<sup>२</sup> ॥२८॥  
 वसुर्नमोऽम्बुधौ ताराः स्फुरन्मुक्ताफलामलाः । करका<sup>३</sup> इव मेघोघैर्विहिता<sup>४</sup> हिमगीतलाः ॥२९॥  
 ज्योत्स्नासलिलसभृता इव बुद्बुदपङ्क्तयः<sup>५</sup> । तारका रुचिमातेनुर्विप्रकीर्णा नमोऽद्भुतगणे ॥३०॥  
 तन्भूतपयोवेणी<sup>६</sup> नयः परिकुशा द्रुमुः । वियुक्ता घनकालेन विरहिण्य इवाद्भुतगनाः ॥३१॥  
 अनुद्धता गनीरत्नं भेषुः स्वच्छजलांशुकाः<sup>७</sup> । सरस्तित्रयो वनापायाद् वैधन्यमिव<sup>८</sup> संश्रिताः ॥३२॥  
 दिगद्भुतगना घनापायप्रकाशीभूतमूर्तयः । व्यावहार्सीमिवातेनुः प्रसन्ना हसमण्डलैः<sup>९</sup> ॥३३॥  
 कृजितैः कलहंसानां निर्जिता इव तस्यसुः । केकायितानि<sup>१०</sup> शिखिनः सर्वैः कालदलाद् बली ॥३४॥  
 ज्योत्स्नादुकूलवसना लसन्नक्षत्रमालिका<sup>११</sup> । वन्धुजीवाधरा रजे निर्मला शरदङ्गना ॥३५॥  
 ज्योत्स्ना कीर्तिमिवातन्म्व<sup>१२</sup> विधुर्गङ्गनमण्डले । शरलक्ष्मीं समासाद्य सुराजेवाधुतचराम् ॥३६॥  
 वन्धुजीवेपु<sup>१३</sup> विन्यस्तरागा<sup>१४</sup> वाणकृतयुतिः<sup>१५</sup> । हंसी सखीवृत्ता रजे नयोदेव<sup>१६</sup> शरद्वधूः ॥३७॥

और कुमुदिनियोसे सहित सरोवर ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सुशोभित आकाश-  
 को ही जीत रहा हो ॥ २६ ॥ तारकारूप कुमुदोसे भरे हुए आकाशरूपी निर्मल सरोवरमें  
 अपने किरणरूप पंखोंको फैलाता हुआ चन्द्रमा ठीक हंसके समान आचरण करता था ॥ २७ ॥  
 जिनकी कान्ति दिशाक्षरूपी स्त्रियोंके हारोमें लगे हुए बड़े-बड़े मोतियोंके समान है ऐसे तारागण  
 आकाशरूपी घरके आँगनमें फूलोंके उपहारसे उत्पन्न हुई शोभाको बढ़ा रहे थे ॥ २८ ॥ देदीप्य-  
 मान मुक्ताफलोंके समान निर्मल तारे आकाशरूपी समुद्रमें ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघों-  
 के समूहने वर्षाके समान शीतल ओले ही धारण कर रखे हो ॥ २९ ॥ आकाशरूपी  
 आँगनमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए तारागण ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो चाँदनीरूप जलसे  
 उत्पन्न हुए बबूलोंके समूह ही हो ॥ ३० ॥ वर्षाकालरूपी पतिसे बिछड़ी हुई नदियाँ विरहिणी  
 स्त्रियोंके समान अत्यन्त क्रुद्ध होकर जलके सूक्ष्म प्रवाहरूपी चोटियोंको धारण कर रही थी  
 ॥ ३१ ॥ वर्षाकालके नष्ट हो जानेसे नदीरूप स्त्रियाँ मानो वैधव्य अवस्थाको ही प्राप्त हो गयी  
 थी, क्योंकि जिस प्रकार विधवाएँ उद्धतता छोड़ देती हैं उसी प्रकार नदियोंने भी उद्धतता छोड़  
 दी थी, विधवाएँ जिस प्रकार स्वच्छ ( सफेद ) वस्त्र धारण करती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी  
 स्वच्छ वस्त्ररूपी जल धारण कर रही थी, और विधवाएँ जिस प्रकार अगम्भीर वृत्तिको धारण  
 करती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी अगम्भीर अर्थात् उथली वृत्तिको धारण कर रही थी ॥ ३२ ॥  
 मेघोंके नष्ट हो जानेसे जिनकी मूर्ति-आकृति प्रकाशित हो रही है ऐसी दिशाक्षरूपी स्त्रियाँ  
 अत्यन्त प्रसन्न हो रही थी और हसरूप आभरणोंके छलसे मानो एक-दूसरेके प्रति हँस ही रही  
 थी ॥ ३३ ॥ उस समय मयूरोने अपनी केका वाणी छोड़ दी थी, मानो कलहस पक्षियोंके  
 मधुर शब्दोंसे पराजित होकर ही छोड़ दी हो, सो ठीक ही है क्योंकि समयके बलसे सभी बलवान्  
 हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ चाँदनीरूपी रेशमी वस्त्र पहने हुए, देदीप्यमान नक्षत्रोंकी माला ( पक्ष-  
 में सत्ताईस मणियोंवाला नक्षत्रमाल नामका हार ) धारण किये हुए और दुपहरियोंके फूल  
 रूप अधरोसे सहित वह निर्मल शरद्वन्धुतारूपी स्त्री अतिशय सुशोभित हो रही थी ॥ ३५ ॥  
 शरद्वन्धुतकी शोभा पाकर आकाशमण्डलमें चाँदनीरूपी कीर्तिको फैलाता हुआ चन्द्रमा किसी  
 उत्तम राजाके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥ ३६ ॥ वह शरद्वन्धु नवोद्भा स्त्रियोंके समान

१ किरणा एव पञ्चति मूल यस्य । २ वर्षोपला । ३ निक्षिप्ता । ४ पद्म प्रवाहा इत्यर्थः । ५ पक्षे  
 श्वेतस्थलवस्त्रा । ६ विधवाया भावः । ७ परस्परहासम् । ८ हंसमण्डना पं०, इ०, द० । हंसमण्डनात् ल० ।  
 ९ मयूररसानि । १० तारकावली, पक्षे हारयेद । ११ वन्धुकेपु वान्धवेपु च । १२ क्षिप्ति, पक्षे शर ।  
 १३ विकास, पक्षे कान्ति । १४ नूतनविवाहिता ।

स्वयं<sup>१</sup> धौतमभाद् व्योम स्वयं प्रच्छालितः शशी । स्वयं प्रसादिता<sup>२</sup> नवः स्वयं संमार्जिता दिग्गः ॥३८॥  
 शरद्धर्मीमुखालोकदर्पणे गगिमण्डले । प्रजादयो धृतिं भञ्जुरसंसृष्टसमुज्ज्वले ॥३९॥  
 वनराजीस्ततामोदाः कुसुभाभरणोज्ज्वलाः । मधुमता भजन्ति स्म कुतकोलहलस्वनाः ॥४०॥  
 तन्मन्यो वनलता रेजुर्विकासिकुसुमस्मिताः । सालका इव गन्धान्धविलोलालिकुलाकुलाः ॥४१॥  
 दर्पोद्गुराः खुरोत्सातमुचस्ताग्रीकृतेज्जनाः । वृषाः प्रलिवृषालोकमुपिताः प्रतिसस्वतुः ॥४२॥  
 अवास्किरन्तं श्रद्धाग्रैर्वृषभा धीरनिःस्वनाः । वनस्थलीः स्थलाम्मोजसृणालभकलाचिताः ॥४३॥  
 वृषाः ककुदसंलग्नमृदाः कुमुदपाण्डराः । व्यक्ताङ्गस्य मृगाङ्गस्य लक्ष्मीमविमरुस्तदा ॥४४॥  
 क्षीरप्लवमयी कृत्स्नामातन्वाना वनस्थलीम् । प्रस्तुवाना वनान्तेषु प्रसक्तुर्गमितल्लिकाः ॥४५॥  
 कुण्डोन्मोहमृतपिण्डेन<sup>३</sup> घटिता इव निर्मलाः । योगुष्टयो<sup>४</sup> वनान्तेषु गरच्छिद्य इवारुचन्<sup>५</sup> ॥४६॥

सुगोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार नवोढा स्त्री वन्धुजीव अर्थात् भाई-वन्धुओपर राग अर्थात् प्रेम रखती है उसी प्रकार वह शरद्धर्तु भी वन्धुजीव अर्थात् दुपहरियाके फूलोपर राग अर्थात् लालिमा धारण कर रही थी, नवोढा स्त्री जिस प्रकार देदीप्यमान होती है उसी प्रकार शरद्धर्तु भी बाण जातिके फूलोसे देदीप्यमान हो रही थी और नवोढा स्त्री जिस प्रकार सखियोंसे घिरी रहती है उसी प्रकार वह शरद्धर्तु भी हसीरूपी सखियोंसे घिरी रहती थी ॥३७॥ उस समय आकाश अपने-आप साफ किये हुएके समान जान पड़ता था, चन्द्रमा अपने आप धोये हुएके समान मालूम होता था, नदियाँ अपने-आप स्वच्छ हुई-सी जान पड़ती थी और विशाएँ अपने-आप झाड़-बुहारकर साफ की हुईके समान मालूम होती थी ॥३८॥ जो शरद्धर्तुरूपी लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए दर्पणके समान है और जो बिना साफ किये ही अत्यन्त उज्ज्वल है ऐसे चन्द्रमण्डलमें प्रजाके नेत्र बड़ा भारी सन्तोष प्राप्त करते थे ॥३९॥ जिनकी सुगन्धि चारो ओर फैल रही है और जो फूलरूप आभरणोसे उज्ज्वल हो रही हैं ऐसी वन-पक्षियोंकी भ्रमर कोलाहल शब्द करते-हुए सेवन कर रहे थे ॥४०॥ जो फूले हुए पुष्परूपी मन्द हास्यसे सहित थी तथा गन्धसे अन्धे हुए भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त होनेके कारण जो सुन्दर केनोसे सुशोभित थी ऐसी वनकी लताएँ उस समय कृश गरीरवाली स्त्रियोंके समान शोभा पा रही थी ॥४१॥ जो खुरोसे पृथिवीको खोद रहे थे, जिनकी आंखें लाल-लाल हो रही थी और जो दूसरे वँलोके देखनेसे क्रोधित हो रहे थे ऐसे मदोन्मत्त वँल अन्य वँलोके गवद सुनकर वदलेमें स्वयं शब्द कर रहे थे ॥४२॥ उसी प्रकार गम्भीर शब्द करते हुए वे वँल अपने सींगोके अग्रभागसे स्थलकमलोके मृणालके टुकड़ोसे व्याप्त हुई वनकी पृथिवीको खोद रहे थे ॥४३॥ इसी तरह उस शरद्धर्तुमें जिनके कोंबोलपर मिट्टी लग रही है और जो कुमुद पुष्पके समान अत्यन्त सफेद हैं ऐसे वे वँल स्पष्ट चिह्नवाले चन्द्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे ॥४४॥ जिनसे अपने-आप दूध निकल रहा है ऐसी उत्तम गायें वनकी सम्पूर्ण पृथिवीको दुग्ध प्रवाहके रूप करती हुई वनोके भीतर जहाँ-तहाँ फिर रही थी ॥४५॥ इसी प्रकार जिनके स्तन कुण्डके समान भारी हैं और जो अमृतके पिण्डसे वनी हुईके समान अत्यन्त निर्मल हैं ऐसी पुरन्तकी प्रसूत हुई गायें वनोके मध्यमें शरद्धर्तुकी गोमाके समान जान पड़ती थी ॥४६॥

१ आत्मना प्रसन्नमित्यर्थ । २ प्रसन्नोक्ता । ३ कृश अङ्गनाम् । ४ उत्कृष्ट । ५ वृषभा ।  
 ६ किरन्ति स्म । ७ वनस्थली ल० । ८ -चिताम् ल० । ९ धरन्ति स्म । १० प्रगस्तगाव ।  
 'मत्तल्लिका मच्चिका प्रकाण्डमुदतल्लजो । प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यभिधानात् । ११ पिठरावोना । 'पिठरः  
 स्यात्पुष्पा कुण्डमि'त्यभिधानात् । 'ऊवस्तु वलीवमापीनम्' । 'ऊवसोऽन्नम्' इति सूत्रान् सकारस्य नकारादेशः ।  
 १२ सकृत्प्रसूता गाव । 'गृष्टि सकृत्प्रसूतिका' इत्यभिधानात् । १३ इवाभवन् ल० ।

हुस्मारवभृतो<sup>१</sup> वत्सानापिप्येन्द्रकृतस्वनान्<sup>२</sup> । पीनापीनाः<sup>३</sup> पयस्त्रिन्यः<sup>४</sup> पयःपीयूषमुत्सुकाः<sup>५</sup> ॥४७॥  
 क्षीरस्यतो<sup>६</sup> निजान् वत्सान् हुस्मागम्भीरभिःस्वनान् । घेनुष्याः<sup>७</sup> पाययन्ति स्म गोपैरपि नियन्त्रिताः ॥४८॥  
 प्राक्चवीया जलदा जाताः शिखिनामप्रियास्तदा । रिक्ता जलधनापायादहो कष्टा दरिद्रता ॥४९॥  
 व्यावहासीमिवातेनुर्गिरयः पुष्पितैर्दुग्धैः<sup>८</sup> । ज्वालुक्षीमिव<sup>९</sup> तन्वानाः स्फुरजिह्वरशीकरैः<sup>१०</sup> ॥५०॥  
 प्रवृद्धवयसो<sup>११</sup> रेजुः कलमा भृशमानताः । परिणामात्प्रयुज्यन्तो<sup>१२</sup> जरन्तः<sup>१३</sup> पुरुषा इव ॥५१॥  
 विरेजुरसनापुष्पैर्मदालिपटलावृतैः<sup>१४</sup> । इन्द्रनीलकृतान्तयैः<sup>१५</sup> सौवर्णैरिव भूषणैः<sup>१६</sup> ॥५२॥  
 घनावरणनिर्मुक्ता दधुराक्षा दशां सुदम् । नटिका<sup>१७</sup> इव नेपथ्यगृहाद्रङ्गसुपागताः<sup>१८</sup> ॥५३॥  
 अदधुर्घनवृन्दानि मुक्तासारणि<sup>१९</sup> भूभराः । सदशानीव<sup>२०</sup> वासांसि<sup>२१</sup> निष्पवाणीनि<sup>२२</sup> सानुभिः ॥५४॥  
 पवनाधोरणारूढाभ्रेमुज्ज्वलितदन्तिनः<sup>२३</sup> । सान्तर्गजा निःकुम्भेषु<sup>२४</sup> सासारमदसीकराः<sup>२५</sup> ॥५५॥  
 शुकावलीप्रवालमचञ्चुस्तेने दिवि<sup>२६</sup> श्रियम् । हरिन्मणिपिनद्धेव तोरणाली सपद्मना<sup>२७</sup> ॥५६॥

जिनके स्तन बहुत ही स्थूल हैं और जो हम्भा शब्द कर रही हैं ऐसे दूधवाली गायें दूध पीनेके लिए उत्सुक तथा बार-बार हम्भा शब्द करते हुए अपने बच्चोको दूधरूपी अमृत पिला रही थी ॥४७॥ जो गायें ग्वालालोके यहाँ बन्धकरूपसे आयी थी अर्थात् दूधके ठेकापर आयी थी, उन्होंने उन्हें यद्यपि बाँध रखा था तथापि वे 'हुम्भा' ऐसा गम्भीर शब्द करनेवाले एवं दूध पीनेके लिए उत्सुक अपने बच्चोको दूध पिला ही रही थी ॥४८॥ जो मेघ पहले मयूरोंकी अत्यन्त प्रिय थे वे ही अब शरदऋतुमें जलरूप घनके नष्ट हो जानेसे खाली होकर उन्हें अप्रिय हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि दरिद्रता बहुत ही कष्ट देनेवाली होती है ॥४९॥ उस समय फूले हुए वृक्षोंसे पर्वत ऐसे जान पड़ते थे मानो परस्परमें हँसी ही कर रहे हों और झरते हुए झरनोंके छीटोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो फाग ही कर रहे हों - विनोदवशा एक-दूसरेके ऊपर जल डाल रहे हों ॥५०॥ कलमी जातिके घान, जो कि बहुत दिनोंके थे अथवा जिनके समीप बहुत पक्षी बैठे हुए थे, जो खूब नव रहे थे और जो अपने परिपाकसे जगत्के समस्त जीवोंका पोषण करते थे, वे ठीक वृद्ध पुरुषोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥५१॥ सहजनाके वृक्ष मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे घिरे हुए अपने फूलोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके मध्यभागमें इन्द्रनील मणि लगा हुआ है ऐसे सुवर्णमय आभूषणोंसे ही सुशोभित हो रहे हो ॥५२॥ जिस प्रकार आभूषण आदि पहननेके परदेवाले घरसे निकलकर रंगभूमिमें आयी हुई नृत्यकारिणी नेत्रोंको आनन्द देती है उसी प्रकार मेघोंके आवरणसे छूटी हुई दिशाएँ नेत्रोंको अतिशय आनन्द दे रही थी ॥५३॥ पर्वतोंने जो अपनी शिखरोंपर जलरहित सफेद बादलोंके समूह धारण किये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अंचलसहित नवीन वस्त्र ही हो ॥५४॥ जिनपर वायुरूपी महावत बैठे हुए हैं, जो भीतर-ही-भीतर गरज रहे हैं और जो लतागुहोंमें जलकी बूँदरूपी मदघाराकी बूँदें छोड़ रहे हैं ऐसे मेघरूपी हाथी जहाँ-तहाँ फिर रहे थे ॥५५॥ जिनकी चोच भूँगाके समान लाल है ऐसी तोताओंकी

१ हुँमा इत्यनुकरणरावभृतः । २ पाययन्ति स्म । ३ प्रकर्षणे कुत । ४ प्रवृद्धवयसः । ५ घेनव । ६ -मुत्सुकाम् ल० । ७ क्षीरमतत्मानमिच्छन् । ८ 'घेनुष्या बन्धके स्थिता' इत्यभिधानात् । ९ परस्परहसनम् । १० परस्परस्नेहनम् । ११ वृद्धवयसका प्रवृद्धपक्षिणश्च । १२ परिपक्वात् । १३ वृद्धा । १४ सर्जका । १५ मध्यैरित्यर्थः । १६ नर्तक्य । १७ अलंकारगृहात् । १८ वर्षाणि । १९ वस्तिरसहिताणि । 'स्त्रिया बहुवचने वस्त्रस्य दशा स्युर्वस्तयः' इत्यभिधानात् । अन्यदपि दशावर्तावस्थाया वस्त्रान्ते स्युर्दशा अपि । २० वस्त्राणि । २१ नूतनानि । 'अनाहत निष्प्रवाणि तन्त्रक च नवाम्बरे' इत्यभिधानात् । २२ हस्तिपक । 'आधोरणो हस्तिपकः' इत्यभिधानात् । २३ मेघ । २४ सानुपु । २५ आकाशे । २६ पद्मरागसहिता ।

चेतांसि <sup>१</sup> तरणाङ्गोपजीविनामुद्धतात्मनाम् । पुंसां च्युताधिकाराणामिव दैन्यसुपागमम् ॥५७॥  
 प्रतापी सुवनस्यैकं चक्षुर्नित्यमहोदयः । मास्वानाक्रान्ततेजस्वी वमासे भरतेगवत् ॥५८॥  
 इति प्रस्पष्टचन्द्राङ्गुग्रहासे शरदागमे । चक्रे दिग्विजयोद्योगं चक्री चक्रपुरस्सरम् ॥५९॥  
 प्रस्थानमेयौ गम्भीरप्रध्वानाः प्रहतास्तदा । श्रुता बहिर्मिलद्वीवैर्बनाडम्बरशङ्किभिः ॥६०॥  
 कृतमङ्गलनेपथ्यौ वमासोरस्थलं प्रभुः । शरद्वर्षमेव संमत्तं सहारहरिचन्द्रनम् ॥६१॥  
 ज्योत्स्नामये दुकूले च शुक्ले परिद्वौ नृपः । गरच्छिद्योपनीते वा सृदुनी दिव्यवाससी ॥६२॥  
 आजानुलम्बिता ब्रह्मसूत्रेण विवमौ विभुः । हिमाद्रिरिव गङ्गागन्धुप्रवाहेण तटस्पृशा ॥६३॥  
 तीरीटोदग्रमूर्धासौ कर्णाभ्यां कुण्डले द्वौ । चन्द्रार्कमण्डले वस्तुमिवायाते ज्योत्स्नवम् ॥६४॥  
 वक्षःस्थलेऽस्य रुक्मे रुचिरः कौस्तुभो मणिः । जयलक्ष्मीसमुद्गहमङ्गलान्सिद्धीपवत् ॥६५॥

पण्डित आकाशमें ऐसी शोभा बढ़ा रही थी मानो पद्मराग मणियोंकी कान्तिरसहित हुरित मणियोंकी बनी हुई बन्दनमाला ही हो ॥५६॥ जिस प्रकार अधिकारसे भ्रष्ट हुए मनुष्योंके चित्त दीनताको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नावोंके द्वारा आजीविका करनेवाले उद्धत मल्लाहोंके चित्त दीनताको प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ — शरद्वर्षमेव नदियोंका पानी कम हो जानेसे नाव चलानेवाले लोगोंका व्यापार बन्द हो गया था इसलिए उनके चित्त दुःखी हो रहे थे ॥५७॥ उस समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान देदीप्यमान हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार भरत प्रतापी थे उसी प्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिस प्रकार भरत लोकके एकमात्र नेत्र थे अर्थात् सबको हिताहितका मार्ग दिखानेवाले थे उसी प्रकार सूर्य भी लोकका एकमात्र नेत्र था, जिस प्रकार भरतका तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था उसी प्रकार सूर्यका भी तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार भरतने अन्य तेजस्वी राजाओंको दबा दिया था उसी प्रकार सूर्यने भी अन्य चन्द्रमा तारा आदि तेजस्वी पदार्थोंको दबा दिया था — अपने तेजसे उनका तेज नष्ट कर दिया था ॥५८॥ इस प्रकार अत्यन्त निर्मल चन्द्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य है ऐसी शरद्वर्षके आनेपर चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्न आगे कर दिग्विजय करनेके लिए उद्योग किया ॥५९॥

उस समय गम्भीर शब्द करते हुए प्रस्थान कालके नगाड़े बज रहे थे, जिन्हें भेषके आडम्बरकी शंका करनेवाले मयूर अपनी ग्रीवा ऊँची उठाकर सुन रहे थे ॥६०॥ उस समय जिन्होंने मंगलमय वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत हार तथा सफेद चन्दनसे सुशोभित जिस वक्षस्थलको धारण किये हुए थे वह ऐसा जान पड़ता था मानो शरद्वर्ष-रूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥६१॥ महाराज भरतने चाँदनीसे बने हुएके समान सफेद, बारीक और कोमल जिन दो दिव्य वस्त्रोंको धारण किया था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरद्वर्षरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही उपहारमे लाये गये हो ॥६२॥ घुटनो तक लटकते हुए ब्रह्मसूत्रसे महाराज भरत ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसा कि तटको स्पर्श करनेवाले गंगा जलके प्रवाहसे हिमवान् पर्वत सुशोभित होता है ॥६३॥ मुकुट लगानेसे जिनका मस्तक बहुत ऊँचा हो रहा है ऐसे भरत महाराजने अपने दोनों कानोंमें जो कुण्डल धारण किये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो ज्योत्स्नकी वर्षाई देनेके लिए मूर्धमण्डल और चन्द्रमण्डल ही आये हों ॥६४॥ भरतेश्वरके वक्षःस्थलपर देदीप्यमान कौस्तुभ मणि ऐसा सुशोभित होता था,

१ द्रोण्युपाधुपजीविनाम् । नदीतारकाणामित्यर्थ । २ मङ्गलालकारः । ३ सेवितम् । ४ किरीटोदग्र - ल०, ८०, अ०, स० ।

त्रिभुविभ्रप्रतिस्पर्धि<sup>१</sup> दध्नेऽस्यातपवारणम् ।<sup>२</sup> तस्मिन्नेन्दवं त्रिभ्रमागत्वेव सिपेविपु ॥६६॥  
 तदस्य रुचिमातेने षतमातपवारणम् । चूडारत्नांशुमिर्मिन्नं<sup>३</sup> सारुणांश्विव<sup>४</sup> पङ्कजम् ॥६७॥  
 स्वर्धुनीशीकरस्पर्धि चामराणां कदम्बकम् । दुधुदुर्वारनाथोऽस्य दिक्कन्या इव संश्रिताः<sup>५</sup> ॥६८॥  
 ततः स्थपतिवत्त्वेन निर्भरं<sup>६</sup> स्थन्दनो महान् । सुवर्णमणिचित्राङ्गो<sup>७</sup> मेरुकुञ्जश्चिर्य<sup>८</sup> हसन् ॥६९॥  
 चक्ररत्नप्रतिस्पर्धिचक्राद्रितयसंगतः । वज्राक्षवटितो<sup>९</sup> रंसे रथोऽस्येव मनोरथः ॥७०॥  
 कामगैर्वायुरंहोमिः<sup>१०</sup> कुमुदोज्ज्वलकान्तिमिः । यजोवितानसंकाशैः स रथोऽयोजि<sup>११</sup> वाजिमिः ॥७१॥  
 स तं स्थन्दनमारुह्युक्तसारथ्यधिष्ठितम्<sup>१२</sup> । नितम्बदेगमद्रीशः<sup>१३</sup> सुरराडिव चक्रराट् ॥७२॥  
 ततः प्रास्थानिकैः<sup>१४</sup> पुण्यनिघोषैरभिनन्दितः । प्रतस्थे दिग्जयोद्युक्तः कृतप्रस्थानमङ्गलः ॥७३॥  
 तदा नभोऽङ्गणं कृत्स्नं जयघोषैरुत्थयत् । नृपाङ्गणं च संसृष्टमभवत् सैन्यनाथकैः ॥७४॥  
 महामुकुटबद्धास्तं परिवव्रुः स्वमन्ततः । दूरात् प्रणतभूर्धानः सुरराजमिवामराः ॥७५॥  
 प्रचचाल बलं विष्वगारूढपुरवीथिकम् । महायोधमयी<sup>१५</sup> सृष्टिरपूर्वेवामवत्तदा ॥७६॥

मानो विजयलक्ष्मीके विवाहरूपी मंगलकी सूचना देनेवाला दीपक ही हो ॥ ६५ ॥ उन्होने चन्द्रमण्डलके साथ स्पर्धा करनेवाले जिस छात्रको धारण किया था वह ऐसा जान पड़ता था मानो उस छत्रके बहानेसे स्वयं चन्द्रमण्डल ही आकर उनकी सेवा करना चाहता हो ॥ ६६ ॥ महाराज भरतने जो छत्र धारण किया था वह चूडारत्नकी किरणोंसे मिलकर ऐसा सुगोभित हो रहा था, मानो सूर्यकी लाल किरणोंसहित कमल ही हो ॥ ६७ ॥ जो वारागनाएँ महाराज भरतके आसपास गंगाके जलकी वूँदोंके साथ स्पर्धा करनेवाले चमरोके समूह ढोल रही थी वे ऐसी जान पड़ती थी मानो अच्छी तरहसे आयी हुई दिक्कन्याएँ ही हों ॥ ६८ ॥ तदनन्तर स्थपति-रत्नने एक बड़ा भारी रथ तैयार किया जो कि सुवर्ण और मणियोंसे चित्र-विचित्र दिखनेवाले मेरु पर्वतके लतागूहोंकी शोभाकी ओर हैस रहा था ॥ ६९ ॥ वह रथ चक्ररत्नकी प्रतिस्पर्धा करनेवाले दो पहियोंसे सहित था तथा वज्रके बने हुए अक्ष ( दोनों पहियोंके बीचमें पड़ा हुआ मजबूत लोहदण्ड—भीरा ) से युक्त था इसलिए महाराज भरतके मनोरथके समान बहुत ही अधिक सुगोभित हो रहा था ॥ ७० ॥ उस रथमें जो घोड़े जोते गये थे वे इच्छानुसार गमन करते थे, वायुके समान वेगशाली थे, कुमुदके समान उज्ज्वल कान्तिवाले थे और यशके समूह-के समान जान पड़ते थे ॥ ७१ ॥ जिस प्रकार इन्द्र मेरु पर्वतके तटपर आरूढ होता है उसी प्रकार भरतेश्वर, योग्य सारथीसे युक्त रथपर आरूढ हुआ ॥ ७२ ॥ तदनन्तर प्रस्थान समयमें होनेवाले 'जय' 'जय' आदि पुण्य शब्दोंके द्वारा जिनका अभिनन्दन किया जा रहा है, जो दिग्विजयकी समस्त तैयारियाँ कर चुके हैं और जिनके साथ प्रस्थानकालीन सभी मंगलाचार किये जा चुके हैं ऐसे महाराज भरतने प्रस्थान किया ॥ ७३ ॥ उस समय आकाशरूपी समस्त आंगन जय-जय शब्दोंकी घोषणासे भर गया था, और राजाका आंगन सेनापतियोंसे भर गया था ॥ ७४ ॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रको घेरकर खड़े हो जाते हैं उसी प्रकार दूरसे ही मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए महामुकुट बद्ध राजा लोग भरतको घेरे हुए चारों ओर खड़े थे ॥ ७५ ॥ जिसने चारों ओरसे नगरकी समस्त गलियोंको रोक लिया है ऐसी वह सेना चलने-लगी । उस समय ऐसा जान-पड़ता था मानो बड़े-बड़े

१ दवे ल० । २ आतपवारणव्याजेन । ३ मिश्रम् । ४ सूर्यकिरणसहितम् । ५ कीजयन्ति स्म । ६ संसृता ल० । ७ रज्यते स्म । ८ अवयव । ९ तट । १० वरुथाङ्ग । ११ वेगवद्धि । १२ इज्यते स्म । १३ युक्तिपरमार्थिसमाश्रितम् । १४ मेरो । १५ प्रस्थाने नियुक्ते । १६ भटमयो ।

पुरः पादात्माद्वीर्यं रथकड्या<sup>१</sup> च हास्तिकम् । क्रमाक्षिरी<sup>२</sup> युरावेष्टय सपताकं रथं प्रभोः ॥७७॥  
 रथ्या<sup>३</sup> रथ्याश्चसंघट्टादुत्थितैर्हंसरेणुभिः । बलश्रोदाक्षमाल्योम समुत्पेतुरिव<sup>४</sup> स्वयम् ॥७८॥  
 रौक्मै रजोमिराकीर्णं तदा रेजे नमोऽजिरम् । स्पृष्ट<sup>५</sup> बालातपेनैव पटवासेन चाततम् ॥७९॥  
 शनैः शनैर्जनैर्मुक्ता विरेडुः पुरवीथयः । कल्लोलैरिव<sup>६</sup> त्रैलोक्यैर्महालम्बेस्तीरसुमयः ॥८०॥  
 पुराङ्गानामिदम्मुक्ताः सुमनोज्ज्वलयोऽपतन् । सौधत्रातायनस्थाभिर्दृष्टिपातैः समं प्रभौ ॥८१॥  
 जयेश विजयिन् विद्वं विजयस्व दिशो दश । पुण्याभिर्षां वातेरित्थं<sup>७</sup> पौराः प्रभुमयूयुजन्<sup>८</sup> ॥८२॥  
 सम्राट् पद्मस्रयोध्यायाः परां मूर्तिं<sup>९</sup> तदातनीम्<sup>१०</sup> । शनैः प्रतोलो<sup>११</sup> सप्रापद् स्वतोरणमासुराम् ॥८३॥  
 पुरो बहिः पुरः पश्चात् समं च विमुनाऽमुना । दृश्ये दृष्टिपर्यन्तमसङ्ख्यमिव तद्वलम् ॥८४॥  
 जगतः प्रसवागारादिव तस्मात् पुराद् बलम् । निरिथाय निरुच्छवासं<sup>१२</sup> शनैराखदगोपुरम् ॥८५॥  
 किमिदं प्रलयक्षोमात् क्षुभितं चारिधेर्जलम् । किमुत त्रिजगत्सगः<sup>१३</sup> प्रत्यशोऽयं विजृम्भते ॥८६॥  
 इत्याशाङ्क्य नमोनग्निः सुरैः साश्चर्यैर्मीक्षितम् । प्रससार बलं विपक्वपुरास्त्रिर्वाय चक्रिणः ॥८७॥

योद्धाओकी एक अपूर्व सृष्टि ही उत्पन्न हुई हो ॥ ७६ ॥ सबसे पहले पैदल चलनेवाले सैनिकोंका समूह था, उसके पीछे घोड़ोंका समूह था, उसके पीछे रथोंका समूह और उसके पीछे हाथियोंका समूह था । इस प्रकार वह सेना पताकाओंसे सहित महाराजके रथको घेरकर अनुक्रमसे निकली ॥७७॥ जिन मार्गोंसे वह सेना जा रही थी वे मार्ग रथ और घोड़ोंके संघटनसे उठी हुई सुवर्णमय धूलिसे ऐसे जान पड़ते थे मानो सेनाका आघात सहनेमें असमर्थ होकर स्वयं आकाशमें ही उड़ गये हों ॥ ७८ ॥ उस समय सुवर्णमय धूलिसे भरा हुआ आकाशरूपी आंगन ऐसा मुग्धोभित हो रहा था मानो बालसूर्यकी सुनहली प्रभासे स्पर्ण किया गया हो, और सुगन्धित चूर्णसे ही व्याप्त हो गया हो ॥७९॥ धीरे-धीरे लोग नगरकी गलियोंको छोड़कर आगे निकल गये जिससे खाली हुई वे गलियाँ ऐसी जान पड़ती थी मानो ज्वारभाटासे उठी हुई लहरोंके चले जानेपर खाली हुई समुद्रके किनारेकी भूमि ही हो ॥ ८० ॥ उस समय बड़े-बड़े मकानोंके शरोक्षोंमें खड़ी हुई नगर-निवासिनी स्त्रियोंके द्वारा अपने-अपने कटाक्षोंके साथ छोड़ी हुई पुष्पाजलियाँ महाराज भरतके ऊपर पड़ रही थी ॥८१॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे विजय करनेवाले महाराज, आप संसारका विजय करे और दशो दिशाओंको जीते, इस प्रकार सैकड़ों पुण्याशीर्वादोंके द्वारा नगरनिवासी लोग भरतकी पूजा कर रहे थे—उनके प्रति सम्मान प्रकट कर रहे थे ॥ ८२ ॥ इस प्रकार उस समय होनेवाली अयोध्याकी उत्कृष्ट विभूतिको देखते हुए सम्राट् भरत धीरे-धीरे रत्नोंके तोरणोंसे देदीप्यमान गोपुरद्वारको प्राप्त हुए ॥ ८३ ॥ उस समय महाराज भरतको नगरके बाहर अपने आगे-पीछे और साथ-साथ जहाँतक दृष्टि पड़ती थी वहाँतक असंख्यात सेना ही सेना दिखाई पड़ती थी ॥ ८४ ॥ जगत्की उत्पत्तिके घरेके समान उस अयोध्यापुरीसे वह सेना गोपुरद्वारको रोकती हुई बड़ी कठिनतासे धीरे-धीरे बाहर निकली ॥८५॥ क्या यह प्रलय कालके क्षोभसे क्षोभको प्राप्त हुआ समुद्रका जल है ? अथवा यह तीनों लोकोंकी नवीन सृष्टि उत्पन्न हो रही है ? इस प्रकार आशंका कर आकाशमें खड़े हुए देव लोग जिसे बड़े आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसी चक्रवर्तीकी वह सेना नगरसे निकलकर चारों ओर फैल गयी ॥८६—८७॥

१ पदातीना समूह । २—कट्या ल० । ३ निर्गच्छन्ति स्म । ४ रथनिधुक्त्ववाजी । रथाश्व. द०, ल०, इ० । ५ उत्पत्ति स्म । ६ स्पष्ट ल० । ७ चाततम् । ८ लज्जविकारोत्वे 'अव्यम्बुविकृता वेला' इत्यभिधानात् । ९—मपूजयन् ल० । १० सम्पदम् । ११ तत्कालजाम् । १२ गोपुरम् । १३ उच्छ्वासान्निष्क्रान्त यथा भवति तथा । ससङ्कटमिति यावत् । १४ विलोकसृष्टि ।

ततः प्राचीं दिशं जेतुं कृतोद्योगो विनापतिः । प्रययौ प्राङ्मुखो भूत्वा चक्ररत्नमनुमजन् ॥८८॥  
 चक्रमस्य ज्वलद्भ्योऽग्निं प्रयाति स्म पुरो विमोः । सूर्यः परिष्कृतं<sup>२</sup> विश्वभास्वं<sup>३</sup> द्विभ्यग्रभास्वरम् ॥८९॥  
 चक्रानुयायि तद्भजे<sup>४</sup> निधीनामीक्षितुर्बलम् । पुरोरिच्छानुवर्तिष्णु मुनीनामिव मण्डलम् ॥९०॥  
 दण्डरत्नं पुरोघाय सेनानीरग्रणीरभूत् । स्थपुटानि<sup>५</sup> समीकुर्वन् स्थलदुर्गाण्यन्तः ॥९१॥  
 अग्रण्या दण्डरत्नेन पथि राजपथीकृते । यथेष्टं प्रययौ सैन्यं कचिदयस्वलदृशति ॥९२॥  
 ततोऽग्निं विनामीशः सोऽपश्यच्छारदी श्रियम् । दिशां प्रसाधनीं कीर्तिमात्मीयामिव निर्मलाम् ॥९३॥  
 सरांसि कमलामोदमुद्गमन्ति शरच्छिद्यः । मुखायितानि संप्रेक्ष्य सोऽभ्यनन्ददधीशिता ॥९४॥  
 स हंसान् सरतां तीरेष्वपश्यत् कृतशिञ्जनाम्<sup>६</sup> । मृगालपीथसंपुटान्<sup>७</sup> शरद्ः पुत्रकानिव ॥९५॥  
 चञ्च्वा मृगालमुद्धृत्य हंसो हंस्यै समर्पयन् । राजहंसस्य<sup>८</sup> हृदयस्य<sup>९</sup> महतीं धृतिमाददे ॥९६॥  
 सधीचीं<sup>१०</sup> वीचिंसं<sup>११</sup> हृदामपश्यन् परितः सरः । कोकः<sup>१२</sup> कोक्यमामोऽस्य मनसः प्रीतिमातनोत् ॥९७॥  
<sup>१३</sup> हंसयूनवज्जिज्जलकरजःपिञ्जरितां निजाम् । बभूविभूतां<sup>१४</sup> सोऽपश्यच्चक्रवाकीविशङ्कया ॥९८॥  
 तरङ्गैर्धवलीभूतविग्रहां कोककामिनीम् । व्यामोहादनुपावन्तं स<sup>१५</sup> जरङ्गसमैक्षत् ॥९९॥  
 नदीपुलिनदेशेषु हंससारसहारिषु । शयनेष्विव तस्यासीद् धृतिः शुचिमसीमसु<sup>१६</sup> ॥१००॥

तदनन्तरं जिन्होने सबसे पहले पूर्व दिशाको जीतनेका उद्योग किया है । ऐसे महाराज भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे जाते हुए पूर्वकी ओर मुख कर प्रयाण किया ॥ ८८ ॥ सूर्यमण्डलके समान देदीप्यमान और चारो ओरसे देव लोगोके द्वारा चिरा हुआ जाज्वल्यमान चक्ररत्न आकाशमे भरतेश्वरके आगे-आगे चल रहा था ॥ ८९ ॥ जिस प्रकार मुनियोका समूह गुरुकी इच्छानुसार चलता है उसी प्रकार निधियोके स्वामी महाराज भरतकी वह सेना चक्ररत्नकी इच्छानुसार उसके पीछे चल रही थी ॥ ९० ॥ दण्डरत्नको आगे कर सेनापति सबसे आगे चल रहा था और वह ऊँचे-नीचे दुर्गम वनस्थलोंको लीलापूर्वक एक-सा करता जाता था ॥ ९१ ॥ आगे चलनेवाला दण्डरत्न सब मार्गको राजमार्गके समान विस्तृत और सम करता जाता था इसलिए वह सेना किसी भी जगह स्थलित न होती हुई इच्छानुसार जा रही थी ॥ ९२ ॥ तदनन्तर मार्गमे प्रजापति-भरतने दिशाओंको अलंकृत करनेवाली अपनी कीर्तिके समान निर्मल शरदृक्तुकी शोभा देखी ॥ ९३ ॥ शरदृक्तुखुपी लक्ष्मीके मुखके समान जो सरोवर कमलकी सुगन्धि छोड़ रहे थे उन्हें देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ९४ ॥ सरोवरोके किनारेपर मधुर शब्द करते हुए और मृणालरूपी मक्खन खाकर पुष्ट हुए हंसोको भरतेश्वरने शरदृक्तुके पुत्रोके समान देखा ॥ ९५ ॥ जो हंस अपनी चोंचसे मृणालको उठाकर हसीके लिए दे रहा था उसने, सब राजाओमे श्रेष्ठ इन भरत महाराजके हृदयमे बड़ा भारी सन्तोष उत्पन्न किया था ॥ ९६ ॥ जो चक्रवा लहरोसे रुकी हुई चक्रवीको न देखकर सरोवरके चारो ओर शब्द कर रहा था उसने भी भरतके मनकी प्रीतिको अत्यन्त विस्तृत किया था ॥ ९७ ॥ एक तरुण हंसने कमल केशरकी धूलिसे पीली हुई अपनी हसीको चक्रवी समझकर भूलसे छोड़ दिया था महाराज भरतने यह भी देखा ॥ ९८ ॥ लहरोसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चक्रवीको हसी समझकर और उसपर मोहित होकर एक बूढ़ा हंस उसके पीछे-पीछे दीड़ रहा था - महाराज भरतने यह भी देखा ॥ ९९ ॥ जिनकी सीमाएँ अत्यन्त पवित्र हैं जो हंस तथा

१ पूर्वम् । २ परिकृत ल० । ३ सूर्यबिम्बम् । ४ तद्भजे ल० । ५ निम्नोन्नतानि । ६ शिञ्जिताम् प०, द०, ल० । ७ क्षीरवनवीत । स्वपयोनवनीतमित्यर्थः । ८ राजश्रेष्ठस्य । ९ हृदये । १० प्रियाम् । ११ सरसः समन्तात् । १२ भृङ्गं स्वर कुवणि । १३ तरुणहंस । १४ अवज्ञाताम् । १५ चक्री । १६ शुचित्वस्यावधिषु ।

‘रोधोलताशिलोत्पुष्टपुष्पप्रकटशोभिनीः । सरितीरमुबोऽदशञ्जलोच्छ्वासतरङ्गिताः ॥१०१॥  
लतालेयु रम्येण रतिरस्य प्रपन्नतः । स्वयं गलत्प्रसूनौवरचितप्रस्तरेष्वभूत् ॥१०२॥  
ववचिल्लतागृहान्तःस्थचन्द्रकान्तशिलाश्रिताम् । स्वयशोगानसंसक्तान् किन्नरां प्रसुरंभत ॥१०३॥  
ववचिल्लताः प्रसूनेषु विलीनमधुपावलीः । विलोचय सस्तकेष्वां सस्मर प्रिययोपिताम् ॥१०४॥  
सुमनोवर्षमातेषुः प्रीत्येवास्याधिसुर्ध्वजम् । पवनाधृतशाखायाः प्रफुल्ला मार्गशाखिनः ॥१०५॥  
सच्छायाम् सफलाम् तुङ्गाम् सर्वसंयोग्यसंपदः । मार्गद्वाम् समद्राक्षीत् स नृपानसुकुर्वतः ॥१०६॥  
सरस्तीरमुबोऽपश्यत् सरोजरजसा तताः । सुवर्णकुट्टिं मागङ्गामध्वन्यहृदि तन्वतीः ॥१०७॥  
वल्लरेणुभिराह्वे दोषामन्यै नमस्त्यसौ । कर्णं खती वीक्षाञ्चक्रे चक्राह्वकामिनीम् ॥१०८॥  
गवां गणनाथापश्यद्गोप्पदारण्य चारिणः । क्षीरमेघानिवाजस्रं क्षरस्त्रीरप्सुतान्तिकान् ॥१०९॥  
सौरभेयान् स शृङ्गाग्रतमुत्खातस्थलाम्बुजान् । मृणालानि यक्षासीव किरतोऽपश्यदुन्मदात् ॥११०॥

सारस आदि पक्षियोंसे मनोहर है, और जो बिछी हुई शय्याओंके समान जान पड़ते हैं ऐसे नदी-किनारेके प्रदेशोंपर महाराज भरतको भारी सन्तोष हुआ ॥१००॥ जो किनारेपर लगी हुई लताओंके अग्रभागसे गिरे हुए फूलोंके समूहसे सुशोभित हो रही है और जो जलके प्रवाहसे उठी हुई लहरोसे व्याप्त हैं ऐसी नदियोंके किनारेकी भूमि भी भरतेस्वरने बड़े प्रेमसे देखी थी ॥१०१॥ जिनमें अपने-आप गिरे हुए फूलोंके समूहसे शय्याएँ बनी हुई हैं ऐसे रमणीय लतागुहोंको देखते हुए भरतको उनमें भारी प्रीति उत्पन्न हुई थी ॥१०२॥ उन भरत महाराज-ने कहीं-कहींपर लतागुहोंके भीतर पड़ी हुई चन्द्रकान्त मणिकी शिलाओंपर बैठे हुए और अपना यशगान करनेमें लगे हुए किन्नरोंको देखा था ॥१०३॥ कहीं-कहींपर लताओंके फूलोंपर बैठे हुए भ्रमरोंके समूहोंको देखकर जिनकी चोटियाँ ढीली होकर नीचेकी ओर लटक रही हैं ऐसी प्रिय स्त्रियोंका स्मरण करता था ॥१०४॥ जिनकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे हैं ऐसे फूले हुए मार्गके वृक्ष मानो बड़े प्रेमसे ही भरत महाराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥१०५॥ वह भरत मार्गके दोनों ओर लगे हुए जिन वृक्षोंको देखते जाते थे वे वृक्ष राजाओंका अनुकरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् उत्तम छाँहरीसे सहित थे, जिस प्रकार राजा सफल अर्थात् अनेक प्रकारकी आयसे सहित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष सफल अर्थात् अनेक प्रकारके फलोंसे सहित थे, जिस प्रकार राजा तुंग अर्थात् उदार प्रकृतिके होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तुंग अर्थात् ऊँचे थे और जिस प्रकार राजाओंकी सम्पदाएँ सबके उपभोगमें आती हैं उसी प्रकार उन वृक्षोंकी फल पुष्प पल्लव आदि सम्पदाएँ भी सबके उपभोगमें आती थी ॥१०६॥ जो सरोवरोंके किनारेकी भूमियाँ कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रही थी और इसीलिए जो पथिकोंके हृदयमें ‘क्या यह सुवर्णकी धूलियोंसे व्याप्त है,’ इस प्रकार शका कर रही थी, उन्हें भी महाराज भरत देखते जाते थे ॥१०७॥ सेनाकी धूलिसे भरे हुए और इसीलिए रात्रिके समान जान पड़नेवाले आकाशमें रात्रि समझकर रोती हुई चक्रीको देखकर महाराज भरतके हृदयमें बड़ी दया उत्पन्न हो रही थी ॥१०८॥ कुछ आगे चलकर उन्होंने जंगलोंकी गोचरभूमिमें चरते हुए गायोंके समूह देखे, वे गायोंके समूह दूधके मेघोंके समान निरन्तर झरते हुए दूधसे अपनी समीपवर्ती भूमिको तर कर रहे थे ॥१०९॥ जिन्होंने अपने सींगोंके

१ तटलता । २ कूल रोवज्ज तीरश्च तट त्रिषु इत्यभिधानात् । ३ देजेण् । ४ रजना-ठ० । ५ आत्मानं दोषा रात्रि मयत इति । ६ क्रियाविशेषणाना नपुसकत्वं द्वितीया वक्तव्या । ७ योगम्यवन ।



वात्सकं क्षीरसंघोषादिव निर्मलविग्रहम् । सोऽपश्यच्चापलस्येव परां कोटिं कृतोत्प्लुतिम् ॥१११॥  
 स पक्वकिणानन्रकलमक्षेत्रमैश्वर्यम् । नौद्धत्यं फलयोगीति नृणां वक्तुमिवोद्यतम् ॥११२॥  
 वप्रान्तं शुंभमाप्राप्तुमिवोत्पलमिवातनान् । स कैदार्येषु कलमान् वीक्ष्यानन्दं परं ययौ ॥११३॥  
 फलानतान् स्तम्बक्रीन् सोऽपश्यद् वप्रयूमिषु । स्वजन्महेतून् केदाराश्रमस्यत् इवाद्दरात् ॥११४॥  
 आगीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः । पयस्विनीरिवापश्यत् प्रसूताः शालिसंपदः ॥११५॥  
 अवतंसितनीलाब्जाः कञ्जरेणुश्रितस्तनीः । इधुदण्डमृतोऽपश्यच्छालीश्वोक्तुर्वतीः स्त्रियः ॥११६॥  
 हारिगीतस्वनाकृष्टैर्वेष्टिता हंसमण्डलैः । शालिगोप्यो दशोरस्य मुदं तेजुर्वधूटिकाः ॥११७॥  
 कृताञ्जगोपरोधानि गीतानि दधतीः सतीः । न्यस्तावतंसाः कण्ठितैः शालिगोपीर्ददर्श सः ॥११८॥  
 सुगन्धिमुखनिःश्वासा भ्रमरैराकुलीकृताः । मनोऽस्य जहुः शालीनां पालिकाः कलबालिकाः ॥११९॥  
 उपाध्वं प्रकृतक्षेत्रान् क्षेत्रिणः परिधावतः । बलोपरोधैरायस्तानैक्षतासौ सकौतुकम् ॥१२०॥

अग्रभागसे स्थलकमल उखाड़ डाले है और जो अपने यवाके समान उनकी मृणालोंकी जहाँ-तहाँ फेक रहे है ऐसे उन्मत्त बैल भी भरत महाराजने देखे थे ॥११०॥ दूधसे पालन-पोषण होनेके कारण ही मानो जिनका निर्मल-सफेद शरीर है, जो चंचलताकी अन्तिम सीमाके समान जान पड़ते है और जो बार-बार उछल-कूद रहे है ऐसे गायोंके बछड़ोंके समूह भी भरतेश्वर देखते जाते थे ॥१११॥ भरत महाराज पकी हुई बालोसे नम्रीभूत हुए धानोंके खेत भी देखते जाते थे, उस समय वे खेत ऐसे मालूम होते थे मानो 'लोगोंको उद्धतपना फल देनेवाला नहीं है' यही कहनेके लिए तैयार हुए हों ॥११२॥ जो खेतके भीतर उत्पन्न हुए कमलोंको सूँघनेके लिए ही मानो नम्रीभूत हो रहे है ऐसे खेतोमे लगे हुए धानके पौधोंको देखकर भरत महाराज परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥११३॥ उन्होंने खेतकी भूमियोमे फलोंके भारसे झुके हुए धानके उन पौधोंको भी देखा था जो कि अपने जन्म देनेके कारण खेतोको बड़े आदरके साथ नमस्कार करते हुए-से जान पड़ते थे ॥११४॥ उन्होंने जहाँ-तहाँ फैली हुई धानरूप सम्पदाओंको गायोंके समान देखा था, क्योंकि जिस प्रकार गायें जल पीती हैं उसी प्रकार धान भी जल पीते है ( जलसे भरे हुए खेतोमे पैदा होते है ) जिस प्रकार गायोंमें उत्तम दूध भरा रहता है उसी प्रकार धानोमे भी पकनेके पहले दूध भरा रहता है और गायें जिस प्रकार लोगोका उपकार करती हैं उसी प्रकार धान भी लोगोका उपकार करते है ॥११५॥ जिन्होंने नालसहित कमलोंको अपने कर्णका आभूषण बनाया है, कमलकी पराग जिनके स्तनोंपर पड़ रही है, जो हाथमे ईखका दण्डा लिये हुए है और जो धान रखानेके लिए 'छो-छो' शब्द कर रही है ऐसी स्त्रियोको भी उन्होंने देखा था ॥११६॥ जो अपने मनोहर गीतोंके शब्दोंसे खिचकर आये हुए हंसोंके समूहोंसे घिरी हुई है ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली नवीन स्त्रियाँ भरत महाराजके नेत्रोंका आनन्द बढा रही थी ॥११७॥ जो पथिकोंको रोकनेवाले सुन्दर गीत गा रही है और जिन्होंने धानकी बालोसे कर्णभूषण बनाकर धारण किये है ऐसी धानकी रखानेवाली स्त्रियोको भरतने बड़े प्रेमसे देखा था ॥११८॥ जो अपने मुखकी सुगन्धित निःश्वाससे आये हुए भ्रमरोसे व्याकुल हो रही है ऐसी धान रखानेवाली सुन्दर लड़कियाँ महाराज भरतके मनको हरण कर रही थी ॥११९॥ जो सेनाके लोगोसे मार्गके समीपवर्ती खेतोंकी रक्षा करनेके लिए उनके

१ भुव अन्त अन्तर्मुत्रम् । २ -मेवानतान् ल०, इ०, प० । ३ सस्यक्षेत्रसमूहेषु । ४ धेनू । ५ स वतसित-इ० । ६ उत्कर्षान् कुर्वती । ७ कुलबालिका ल०, इ०, द० । ८ मार्गसमीपे । ९ कृत । १० क्लेशितान् ।

‘उपशलयमुचोऽप्राक्षीन्निगमानमितो विसुः । केदारलावैराकीर्णाः स आश्रमदग्निः कृषीवलैः ॥१२१॥  
सोऽपश्यन्निगमोपान्ते पथः<sup>३</sup> संस्थानकर्दमान्<sup>४</sup> । प्रव्यक्तगोचुरक्षोदस्थपुटानतिसङ्कटान् ॥१२२॥  
निगमान् परितोऽपश्यद् ग्राममुख्यान् महाबलान् । पथस्विनो जवैः सेव्यान् महारामतरुनपि ॥१२३॥  
ग्रामान् कुक्कुटसम्पात्यन् सोऽप्यगाद् वृत्तिमिदृशान् । कोशातकीलतापुष्पस्थगिताभिरितोऽमुतः ॥१२४॥  
‘कुटीपरिसरेष्वस्य छत्रिरासीत् प्रपश्यतः । फलपुष्पांनता वल्लीः प्रसवाढ्याः<sup>५</sup> सतीरपि ॥१२५॥  
योषितो<sup>६</sup> निष्कमालामिर्वलयैश्च विसृष्टिताः । पश्यतोऽस्य मनो जहृग्रामीणाः<sup>७</sup> संश्रिता घृताः<sup>८</sup> ॥१२६॥  
‘हैयद्ग्रावीनकलशैर्दध्नासपि निहित्रकैः<sup>९</sup> । ग्रामेषु फलभेदैश्च तमद्राक्षुर्भृंहचराः ॥१२७॥  
ततो विदूरमुल्लङ्घय सोऽप्यवान् धृतनावृतः । गद्गामुपासद् वीरः<sup>१०</sup> प्रयाणैः<sup>११</sup> कतिथैरपि ॥१२८॥  
हिमवद्विधत्ता पूज्या<sup>१२</sup> सतामासिन्धुगामिनीम् । क्षुचिप्रवाहामाकल्पवृत्तिं कतिमिवात्मनः ॥१२९॥  
‘शफरीप्रक्षणासुधचरद्ग्राश्रुविनर्तनाम् । वनराजीवृहच्छाटीपरिधानां वधूमिव ॥१३०॥

चारो ओर दौड़ रहे हैं और सेनाके लोगोकी जबरदस्ती करनेपर खेदखिन्न हो रहे हैं, ऐसे खेतोके मालिक किसानोको भी भरतेश्वरने बड़े कौतुकके साथ देखा था ॥१२०॥ जो खेत काटनेवाले इधर-उधर घूमते हुए किसानोसे व्याप्त हो रही है ऐसी प्रत्येक ग्रामोके चारो ओरकी निकट-वर्ती भूमियोको भी भरतेश्वरने देखा था ॥१२१॥ जो स्पष्ट दिखनेवाले गावोके खुरोके चित्तोसे ऊँचे-नीचे हो रहे हैं और जो अत्यन्त सकड़े हैं ऐसे कुछ-कुछ कोचड़से भरे हुए गाँवके समीपवर्ती मार्गोको भी भरत महाराज देखते जाते थे ॥१२२॥ उन्होने ग्रामोके चारों ओर खड़े हुए महाबलवान् गाँवके मुखिया लोगोको देखा था तथा पक्षी तिर्यच और मनुष्योके द्वारा सेवा करने योग्य बड़े-बड़े बगीचोके वृक्ष भी देखे थे ॥१२३॥ जो जहाँ-तहाँ लोकी अथवा तुरईकी लताओके फूलोसे ढकी हुई वाड़ियोसे घिरे हुए हैं और जिनपर एकसे दूसरेपर मुरगा भी उड़कर जा सकता है ऐसे गावोको वे दूरसे ही छोड़ते जाते थे ॥१२४॥ झोपडियोके समीपमे फल और फूलोसे ढकी हुई लताओको तथा पुत्रोसे युक्त सती स्त्रियोको भी देखते हुए महाराज भरत-को बड़ा आनन्द था रहा था ॥१२५॥ जो सुवर्णकी मालाओ और कड़ोसे अलंकृत हैं तथा वाड़ियोकी ओटमे खड़ी हुई हैं ऐसी गाँवोकी स्त्रियाँ भी देखनेवाले भरतका मन हरण कर रही थी ॥१२६॥ गाँवोके बड़े-बड़े लोग धीके घड़े, दहीके पात्र और अनेक प्रकारके फल भेंट कर उनके दर्शन करते थे ॥१२७॥

तदनन्तर धीरवीर भरत सेनासहित कितनी ही मजिलो-द्वारा लम्बा मार्ग तय कर गंगा नदीके समीप जा पहुँचे ॥१२८॥ वहाँ जाकर उन्होने गंगा नदीको देखा, जो कि उनकी कीर्तिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार उनकी कीर्ति हिमवान् पर्वतसे धारण की गयी थी उसी प्रकार गंगा नदी भी हिमवान् पर्वतसे धारण की गयी थी, जिस प्रकार उनकी कीर्ति पूज्य और उत्तम थी उसी प्रकार गंगा नदी भी पूज्य तथा उत्तम थी, जिस प्रकार उनकी

१ ग्रामान्तमुचः । ‘ग्रामान्त उपशलयं स्यात्’ इत्यभिधानात् । २ केदारान् लुन्तीति केदारलावास्त । ३ मार्गान् । ४ ईषदाद्र्कर्मणान् । ५ ग्राममहत्तरान् । ६ महाफलान् द०, इ० । ७ व्यस्तितो जने-ल० । क्षीरोपायान् क्षीरिणश्च । ८ महाग्राम-इत्यपि न्वचित् । ९ पटोरिका । १० ‘कोशातकी ज्योत्स्निकायामपामार्गोऽपि सा भवेत्’ इत्यभिधानात् । १० गृह । ११ पुनैराद्वय । १२ सुवर्णमालाभिः । १३ ग्रामे भवा । १४ ‘संवृतावृत्तौ ससृतासृती’ इत्यपि न्वचित् । १५ घृतकुम्भैः । १६ आजनविशेष । १७ - सद्यधीर द० । १८ कतिपय । १९ सती-ल० । २० भीमनेत्राम् ।

विस्तीर्णैर्जनसंभोगैः कूजद्धंसालिमैखलैः । तरङ्गवसनैः कान्तां<sup>१</sup> पुलिनैर्जवनैरिव ॥१३१॥  
 लोलोर्मिहस्तनिर्धूतपक्षिमालकलस्वनैः । किमप्यालपितुं यत्नं तन्मन्ती वा तटद्रुमैः ॥१३२॥  
 क्षती<sup>२</sup> वन्येभदन्ताणां<sup>३</sup> रोधोजघनवर्तिनीः । रुन्धतीमन्विभीत्यैव लसद्भिन्दुकलकैः ॥१३३॥  
 रोमराजीमिवानीलां वनराजी विवृण्वतीम् । तिष्ठमानामिवावर्तव्यवतनामिमुदन्वते ॥१३४॥  
 विलोहवीचिसंघट्टादुत्थितां पतगावलम् । पताकामिव विभ्राणां लब्धां सर्वापगाजयात् ॥१३५॥  
 समांसमीनां<sup>४</sup> पर्याप्तपयसं धीरनिःस्वनाम् । जगतां पावनीं मान्यां हसन्ती गोभंतल्लिकाम् ॥१३६॥  
 गुरुप्रवाहप्रसृतां तीर्थकामैरपासिताम् । गम्भीरशब्दसंभूतिं जैनीं श्रुतिमिवामलाम् ॥१३७॥

कीर्ति समुद्र तक गमन करनेवाली थी उसी प्रकार गंगा नदी भी समुद्र तक गमन करनेवाली थी, जिस प्रकार उनकी कीर्तिका प्रवाह पवित्र था उसी प्रकार गंगा नदीका प्रवाह भी पवित्र था और जिस प्रकार उनकी कीर्ति कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी उसी प्रकार गंगा नदी भी कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी । अथवा जो गंगा किसी स्त्रीके समान जान पड़ती थी, क्योंकि मछलियाँ ही उसके नेत्र थे, उठती हुई तरंगे ही भौहोका नचाना था और दोनों किनारोके वनकी पक्षि ही उसकी साडी थी । जो स्त्रियोके जघन भागके समान सुन्दर किनारो-से सहित थी, उसके वे किनारे बहुत ही बड़े थे । शब्द करती हुई हंसोकी माला ही उनकी करधनी थी और लहुरे ही उनके वस्त्र थे ।—चंचल लहुरूपी हाथोके द्वारा उड़ाये हुए पक्षि-समूहोके मनोहर शब्दोसे जो ऐसी जान पड़ती थी मानो किनारेके वृक्षोके साथ कुछ वार्तालाप करनेके लिए प्रयत्न ही कर रही हो ।—जो अपनी छलकती हुई लहुरोसे ऐसी जान पड़ती थी मानो तटरूपी नितम्ब प्रदेशपर जगली हाथियोके द्वारा किये हुए दाँतोके घावोको समुद्ररूप पतिके डरसे शोभायमान लहुरूपी वस्त्रसे ढँक ही रही हो । जो दोनो ओर लगी हुई हरी-भरी वनश्रेणियोके प्रकट करनै तथा साफ-साफ दिखाई देनेवाली भँवरोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो किसी स्त्रीकी तरह अपने समुद्ररूप पतिके लिए रोमराजि और नाभि ही दिखला रही हो ।—जो चंचल लहुरोके सघटनसे उड़ी हुई पक्षियोकी पक्षिको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो सब नदियोको जीत लेनेसे प्राप्त हुई विजयपताकाको ही धारण कर रही हो । जो किसी उत्तम गायकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार उत्तम गाय समासमीना अर्थात् प्रति वर्ष प्रसव करनेवाली होती है उसी प्रकार वह नदी भी समासमीना अर्थात् परिपुष्ट मछलियोसे सहित थी, जिस प्रकार उत्तम गायमें पर्याप्त पय अर्थात् दूध होता है उसी प्रकार उस नदीमें भी पर्याप्त पय अर्थात् जल था, जिस प्रकार उत्तम गाय गम्भीर शब्द करती है उसी प्रकार वह भी गम्भीर कल-कल शब्द कर रही थी, उत्तम गाय जिस प्रकार जगत्को पवित्र करनेवाली है उसी प्रकार वह भी जगत्को पवित्र करनेवाली थी और उत्तम गाय जिस प्रकार पूज्य होती है उसी प्रकार वह भी पूज्य थी । अथवा जो जिनवाणीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार जिनवाणी गुरु-प्रवाह अर्थात् आचार्य परम्परासे प्रसृत हुई है उसी प्रकार वह भी गुरुप्रवाह अर्थात् बड़े भारी जलप्रवाहसे प्रसृत हुई थी—प्रवाहित हुई थी । जिस प्रकार जिन वाणी तीर्थ अर्थात् धर्मको इच्छा करनेवाले पुरुषो

१ कान्तं ल० । २ वालोर्मि-त० । ३-वन्ये ल० । ४ तीर । ५ प्रदर्शयन्तीम् । ६ मासमक्ष-मीनसहिताम् । प्रतिवर्षं गर्भं गृह्णन्तीम् । 'समासमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते' । ७ प्रसस्तगाम् । गोमचविकाम् ल०, द०, इ० ।

राजहंसैः<sup>१</sup> कृतोपास्थामलङ्घ्यां विवृतायतिम्<sup>२</sup> । जयलक्ष्मीमिव स्फीतामास्मीयामद्विगमिनीम् ॥ १३८ ॥  
 विलसत्पद्मसंभूतां<sup>३</sup> जनतानन्ददायिनीम् । जगद्भोग्यामिवास्मीयां श्रियमायतिशालिनीम् ॥ १३९ ॥  
 विजयार्धतटाक्रान्तिं<sup>४</sup> कृतश्लावां<sup>५</sup> सुरहसम् । अमग्नप्रसरं दिव्यां निजामिव पताकिनीम् ॥ १४० ॥  
 व्यालोलोर्मिकरास्पृष्टैः स्वतीरवनपादपै । दधद्भिरङ्कुरोद्भेदैर्माश्रितां कासुकैरिव ॥ १४१ ॥  
 रोधोलतालयासीनान् स्वेच्छया सुरदम्पवीन् । हसन्तीमिव सुधानैः<sup>६</sup> शीकरोत्थैर्विसारिभिः ॥ १४२ ॥  
 किन्नराणां कलक्वाणैः सगानैरुपवीणितैः । सेव्यपर्यन्तभूभागलतामण्डपमण्डनाम् ॥ १४३ ॥

के द्वारा उपासित होती है उसी प्रकार वह भी तीर्थ अर्थात् पवित्र तीर्थ-स्थानकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके द्वारा उपासित होती अथवा किनारेपर रहनेवाले मनुष्य उसमें स्नान आदि किया करते थे, जिस प्रकार जिनवाणीसे गम्भीर शब्दोंकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उससे भी गम्भीर अर्थात् बड़े जोरके शब्दोंकी उत्पत्ति होती थी, और जिस प्रकार जिनवाणी मल अर्थात् पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित होती है उसी प्रकार वह भी मल अर्थात् कीचड़ आदि गँदले पदार्थों-से रहित थी ।—अथवा जो अपनी ( भरतकी ) विजयलक्ष्मीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार विजयलक्ष्मीकी उपासना राजहंस अर्थात् बड़े-बड़े राजा लोग करते थे उसी प्रकार उस नदीकी भी उपासना राजहंस अर्थात् एक प्रकारके हंसविशेष करते थे, जिस प्रकार जय-लक्ष्मीका कोई उल्लंघन-अनादर नहीं कर सकता था उसी प्रकार उस नदीका भी कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था, जयलक्ष्मीका आयति अर्थात् भविष्यत्काल जिस प्रकार स्पष्ट प्रकट था इसी प्रकार उसकी आयति अर्थात् लम्बाई भी प्रकट थी, जयलक्ष्मी जिस प्रकार स्फीत अर्थात् विस्तृत थी उसी प्रकार वह भी विस्तृत थी और जयलक्ष्मी जिस प्रकार समुद्र तक गयी थी उसी प्रकार वह गंगा भी समुद्र तक गयी हुई थी । अथवा जो भरतकी राज्यलक्ष्मीके समान मालूम होती थी क्योंकि जिस प्रकार भरतकी राज्यलक्ष्मी शोभायमान पद्म अर्थात् पद्म नामकी निधिसे उत्पन्न हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी पद्म अर्थात् पद्म नामके सरोवरसे उत्पन्न हुई थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी उसी प्रकार वह भी जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जगत्के भोगने योग्य थी उसी प्रकार वह भी जगत्के भोगने योग्य थी, और भरतकी लक्ष्मी जिस प्रकार आयति अर्थात् उत्तरकालसे सुशोभित थी उसी प्रकार वह आयति अर्थात् लम्बाईसे सुशोभित थी ।—अथवा जो भरतकी सेनाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार भरतकी सेना विजयार्ध पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी विजयार्ध पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी ( गंगा नदी विजयार्ध पर्वतके तटको आक्रान्त करती हुई वही है ) जिस प्रकार भरतकी सेनाका वेग तेज था उसी प्रकार उस नदीका वेग भी तेज था । जिस प्रकार भरतकी सेनाके फैलावको कोई नहीं रोक सकता था उसी प्रकार उसके फैलावको भी कोई नहीं रोक सकता था और भरतकी सेना जिस प्रकार दिव्य अर्थात् सुन्दर थी उसी प्रकार वह नदी भी

१ सेवाम् । २ विवृतायतीम् ल० । ३ पद्महृदे जाताम् । पक्षे निधिविणेपजाताम् । ४ आक्रमण । ५ श्लाघ्या ल०, इ० । ६ सुवेगाम् । ७ रोमाञ्चम् । ८ तीरलतागृहस्थितान् । ९ मुस्वानैः ल० । स्वस्वान् इ० ।

हारिभिः किन्नरोदगीतैराहूता हरिणाङ्गनाः । दधतीं तीरकच्छेषु प्रसारितगलद्गलाः ॥१४४॥  
 हृद्यैः ससारसारावैः पुलिनैर्दिव्ययोषिताम् । नितम्बानि सकान्चीनि हसन्तीमिव विस्तृतैः ॥१४५॥  
 चतुर्दशमिरन्वितां सहस्रैरब्जियोषिताम् । सद्ग्रीवाचीनामिन्द्रोद्गीचि वाहूनां परिरम्भणे ॥१४६॥  
 इत्यादिपङ्क्तसंगोभां जाह्नवीसैश्च प्रसुः । हिमवद्गिरिणाभ्योषेः प्रहितामिव कण्टिकां ॥१४७॥

## मालिनीवृत्तम्

शरदुपहितकान्तिं प्रान्तकान्तारराजी-

विरचितपरिधानां सैकतारोहरम्याम् ।

युवतिमिव गभीरावर्तनानि प्रपश्यन्

प्रमदमनुलभूहे क्षमापतिः स्वःस्रवन्तीम् ॥१४८॥

सरसिजमकरन्दोद्गन्धिवराधृतरोधो-

वनकिसलयमन्दां दौलनोदुदमान्धः ।

असकृदुमरसिन्धोराधुमानस्तरङ्गा-

नहत नृपबधूनामध्वस्त्रेण समीरः ॥१४९॥

सुन्दर थी । जो चचल लहोरूपी हाथोसे स्पर्श किये गये और अकुरूपी रोमांचोंको धारण किये हुए अपने किनारेके वनके वृक्षोसे आश्रित थी और उससे ऐसी मालूम होती थी मानो कामी जनोंसे आश्रित कोई स्त्री ही हो । — जो जलकणोसे उत्पन्न हुए तथा चारो ओर फैलते हुए मनोहर शब्दोसे अपनी इच्छानुसार किनारेपर-के लतागूहोमे बैठे हुए देव-देवांगनाओंकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी । किन्नरोके मधुर शब्दवाले गायन तथा वीणाकी ज्ञानकारसे सेवनीय किनारेकी पृथिवीपर बने हुए लतागूहोसे जो बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी । — किन्नर देवोंके मनोहर गानोसे बूलायी हुई और सुखसे ग्रीवाको लम्बा कर बैठी हुई हरिणियों-को जो अपने किनारेकी भूमिपर धारण कर रही थी । — जिनपर सारस पक्षी कतार बाँधकर मनोहर शब्द कर रहे हैं ऐसे अपने बड़े-बड़े सुन्दर किनारोसे जो देवांगनाओंके करघनीसहित नितम्बोंकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी । — जिन्होंने आलिंगन करनेके लिए तरंगरूपी भुजाएँ ऊपरकी ओर उठा रखी हैं ऐसी सखियोंके समान जो चौदह हजार सहायक नन्दियोंसे सहित हैं । — इस प्रकार जिसकी शोभा प्रकट दिखाई दे रही है और जो हिमवान् पर्वतके द्वारा समुद्रके लिए भेजी हुई कण्ठमालाके समान जान पड़ती हैं ऐसी गंगा नदी महाराज भरतने देखी ॥ १२५-१४७ ॥ शरद्वक्रतुके द्वारा जिसकी कान्ति बढ़ गयी है, किनारेके वनोंकी पंक्ति ही जिसके वस्त्र है, जो बालूके टीलेरूप नितम्बोसे बहुत ही रमणीय जान पड़ती है, गम्भीर भँवर ही जिसकी नाभि है और इस प्रकार जो एक तरुण स्त्रीके समान जान पड़ती है ऐसी गंगा नदीको देखते हुए राजा भरतने अनुपम आनन्द धारण किया था ॥ १४८ ॥ जो कमलोकी मकरन्दसे सुगन्धित है, कुछ-कुछ कम्पित हुए किनारेके वनके पल्लवोंके धीरे-धीरे हिलनेसे जिसका मन्दपना प्रकट हो रहा है और जो गंगा नदीकी तरंगोंको बार-बार हिला रहा

१ तीरवनेषु । २ प्रसारितो भूत्वा सुखातिजयेनाधो गलद्गलो यासा ता । ३ सखीनाम् ।

४ वीचिवाहूना ल० । ५ गंगाम् । ६ प्राप्त । ७ सैकतनितम्ब ।

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

तामाक्रान्तहरिमुखी<sup>१</sup> कृतरजोभृति<sup>२</sup> जगत्पावनी -  
मासेभ्यां<sup>३</sup> द्विजकुञ्जरैरविरतं संतापचिच्छेदिनीम् ।  
जैनी कीर्तिमिवाततामपसलां शद्वज्जनानन्दिनीं  
निष्यायन् विद्वचापगां निधिपतिः प्रीतिं परामासदन् ॥१५०॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिऋक्षस्यमहापुराणसंग्रहे भरतराज-  
दिविजयोद्योगवर्णनं नाम षड्विंशतितमं पर्व ॥२६॥

■

है ऐसा बहूँका वायु रानियोकै भागकै परिश्रमको हरण कर रहा था ॥ १४९ ॥ वह गंगा ठीक जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिके समान थी क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवकी कीर्तिने समस्त दिशाओं-को व्याप्त किया है उसी प्रकार गंगा नदीने भी पूर्व दिशाको व्याप्त किया था, जिनेन्द्र भगवान्-की कीर्तिने जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंका नाश किया है उसी प्रकार गंगा नदीने भी रज अर्थात् धूलिका नाश किया था, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार जगत्को पवित्र करती है उसी प्रकार गंगा नदी भी जगत्को पवित्र करती है, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार द्विज कुंजर अर्थात् श्रेष्ठ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंके द्वारा सेवित है उसी प्रकार गंगा नदी भी द्विज कुंजर अर्थात् पक्षियों और हाथियोंके द्वारा सेवित है, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार निरन्तर संसार-भ्रमण-जन्य सन्तापको दूर करती है उसी प्रकार गंगा नदी भी सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न सन्तापको नष्ट करती थी और जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार विस्तृत, निर्मल और सदा लोगोंको आनन्द देनेवाली है उसी प्रकार वह गंगा नदी भी विस्तृत, निर्मल तथा सदा लोगोंको आनन्द देती थी । इस प्रकार उस गंगा नदीको देखते हुए निधियोंके स्वामी भरत महाराज परम प्रीतिको प्राप्त हुए थे ॥ १५० ॥

इस प्रकार आर्य नामने प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिऋक्षस्य महापुराणसंग्रहके हिन्दी-भाषानुवादमें भरतराजकी दिविजयके उद्योगको वर्णन करनेवाला छव्वीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

■

## सप्तविंशतितमं पर्व

अथ व्यापारयामास इत्थं तत्र<sup>१</sup> विशां पतिः । प्रसन्नैः सलिलैः पाथं वितरन्त्यामिवात्मनः ॥१॥  
 व्यापारितदृशं तत्र प्रभुमालोक्य सारथिः । प्रासावसरमिन्धूचे वचश्चेतोऽनुरञ्जनम् ॥२॥  
 इयमाह्लादितोषसुवना देवनिम्नगा । रजो विधुन्वती भाति मारतीव स्वयंभुवः ॥३॥  
 पुनातीथं हिमाद्रिं च सागरं च महानदी । प्रसूतौ<sup>२</sup> च प्रवेशे च गम्भीरा निमलदाया ॥४॥  
 इमां वनगजाः प्राप्य निर्वान्येते<sup>३</sup> मदश्च्युतः । सुनीन्द्रा इव सद्विद्यौ<sup>४</sup> गम्भीरां तापविच्छिदम् ॥५॥  
 इतः पिवन्ति वन्येमाः पयोऽस्याः कृतनिःस्वनाः । इतोऽमी पश्यन्त्येनां सुक्सासाराः शरद्वनाः ॥६॥  
 अस्याः प्रवाहमभोधिर्यते गाम्भीर्ययोगतः । असौढं विजयार्धेन तुङ्गेनाप्यचलात्मना ॥७॥  
 अस्याः पथःप्रवाहेण नूनमब्धिर्यतुङ् भवेव । क्षारेण पथसा स्वेन दह्यमानान्तराशयः ॥८॥  
 पद्महृदाद्विमवतः प्रसन्नादिव मानसात् । प्रसूता पथये पुष्पां शुद्धजन्मा हि पूज्यते ॥९॥  
 व्योमापगामिसां प्राहुर्विचक्षः पतितं भित्तं । गङ्गादेवीगुहं विष्वगाप्लाव्य स्वजलप्लवैः ॥१०॥

अथानन्तर वहाँपर जो स्वच्छ जलसे अपने लिए ( भरतके लिए ) पादोदक प्रदान करती हुई-सी जान पड़ती थी. ऐसी गंगा नदीपर महाराज भरतने अपनी दृष्टि डाली ॥ १ ॥ उस समय सारथिने महाराज भरतको गंगापर दृष्टि डाले हुए देखकर चित्तको प्रसन्न करनेवाले निम्नलिखित समयानुकूल वचन कहे ॥ २ ॥ हे महाराज ! यह गंगा नदी ठीक ऋषभदेव भगवान्की वाणीके समान जान पड़ती है, क्योंकि जिस प्रकार ऋषभदेव भगवान्की वाणी समस्त संसारको आनन्दित करती है उसी प्रकार यह गंगा नदी भी समस्त लोकको आनन्दित करती है और ऋषभदेव भगवान्की वाणी जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंको नष्ट करनेवाली है उसी प्रकार यह गंगा नदी भी रज अर्थात् धूलिको नष्ट कर रही है ॥ ३ ॥ गम्भीर तथा निर्मल जलसे भरी हुई यह गंगा नदी उत्पत्तिके समय तो हिमवान् पर्वतको पवित्र करती है और प्रवेश करते समय समुद्रको पवित्र करती है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार गम्भीर और सन्तापको नष्ट करनेवाली सद्विद्या ( सम्यग्ज्ञान ) को पाकर बड़े-बड़े मुनि लोग मद अर्थात् अहंकार छोड़कर मुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार ये जंगली हाथी भी इस गम्भीर तथा सन्तापको नष्ट करनेवाली गंगा नदीको पाकर मद अर्थात् गण्डस्थलसे झरनेवाले तोयविशेषको छोड़कर शान्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥ इधर ये वनके हाथी शब्द करते हुए इसका पानी पी रहे हैं और इधर जलकी वृष्टि करते हुए ये शरदऋतुके मेघ इसे भर रहे हैं ॥ ६ ॥ अत्यन्त ऊँचा और सदा निश्चल रहनेवाला विजयार्ध पर्वत भी जिसे धारण नहीं कर सका है ऐसे इसके प्रवाहको गम्भीर होनेसे समुद्र सदा धारण करता रहता है ॥ ७ ॥ सम्भव है कि अपने खारे जलसे जिसका अन्तःकरण निरन्तर जलता रहता है ऐसा समुद्र इस गंगा नदीके जलके प्रवाहसे अवश्य ही व्यासहित हो जायेगा ॥ ८ ॥ यह गंगा प्रसन्न मनके समान निर्मल हिमवान् पर्वतके पद्म नामक सरोवरसे निकलकर पृथिवीपर प्रसिद्ध हुई है सो ठीक ही है क्योंकि जिसका जन्म शुद्ध होता है वह पूज्य होता ही है ॥ ९ ॥ यह गंगा अपने जलके प्रवाहसे गंगादेवीके घरको चारों ओरसे भिगोर आकाश-

१ गङ्गायाम् । २ उत्पत्तिस्थाने । ३ सुखिनो भवन्ति मुक्ताश्च । ४ मदश्च्युतः ल० ।  
 ५ परमागमरूपा । ६ सोढुमजक्यम् । दत्तमश्वशमित्यर्थ । ७ वियत ल०, इ०, द० ।

विमर्ति हिमवानेनां शशाङ्करनिर्मलाम् । आ सिन्धोः प्रसृतां कर्त्तिमिव स्वां लोकपावनीम् ॥११॥  
 वनराजीद्वयेनेयं विभाति तटवर्तिना । वाससोरिव युग्मेन विनीलेन कृतधिया ॥१२॥  
 स्वतटाश्रयिणीं धत्ते हंसमालां कलस्वनाम् । काञ्चीसिवैयमम्भोजरजःपिञ्जरविग्रहाम् ॥१३॥  
 नदीसखीरियं स्वच्छं मृणालशकलामलाः । संविमर्ति स्वच्छावृत्य सख्यं श्लाघ्यं हि तादृशम् ॥१४॥  
 राजहंसैरियं सेन्या लक्ष्मीरिव विभाति ते । तन्वती जगतः प्रीतिमलङ्कयमहिमा परं ॥१५॥  
 वनवेदीमियं धत्ते समुत्तुङ्गां हिरण्ययीम् । आज्ञामिव तवालङ्क्यां नभोमार्गविलङ्घिनीम् ॥१६॥  
 इतः प्रसीद देवेभ्यो भारलक्ष्मीं विलोकय । वनराजिषु सरुद्धां सरित्सु सरसांषु च ॥१७॥  
 इमे ससच्छदाः पौष्पं विकिरन्ति रजोऽसितः । पटवासमिवाभोदसंवासितहरिन्मुखम् ॥१८॥  
 जाणैः कुसुमबाणस्य बाणैरिव विकासिभिः । हियते कामिनां चेतो रम्य हारि न कस्य वा ॥१९॥  
 विकसन्ति सरोजानि सरस्तु सममुत्पलैः । विकासिलोचनामीव वदनानि शरच्छ्रियः ॥२०॥  
 पङ्कजेषु विलीयन्ते भ्रमरा गन्धलोलुपाः । कामिनीमुखपत्रेषु कामुका इव काहलाः ॥२१॥  
 मनोजशरपुङ्खवाण्यैः पञ्चैर्भुङ्गुरा इमे । विचरन्त्यग्निजनीषण्डे मकरन्दरसोत्सुकाः ॥२२॥

से अर्थात् हिमवान् पर्वतके ऊपरसे पृथिवीपर पड़ी है इसलिए इसे आकाशगंगा भी कहते हैं ॥ १० ॥ जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है, समुद्र तक फैली हुई है और लोकको पवित्र करनेवाली है ऐसी इस गंगाको यह हिमवान् अपनी कौतिके समान धारण करता है ॥११॥ यह गंगा अपने तटवर्ती दोनों ओरके वनोंसे ऐसी सुशोभित हो रही है मानो इसने नीले रंगके दो वस्त्र ही धारण कर रखे हो ॥१२॥ कमलोंके परागसे जिनका शरीर पीला-पीला हो गया है और जो मनोहर शब्द कर रही है ऐसी हंसोंकी पक्षितियोंको यह नदी इस प्रकार धारण करती है मानो मन्द-मन्द शब्द करती हुई सुवर्णमय करवनी ही धारण किये हो ॥१३॥ यह नदी स्वच्छ मृणालके टुकड़ोंके समान निर्मल अन्य सखी स्वरूप सहायक नदियोंको अपने-मे मिलाकर धारण करती है सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे पुरुषोंकी मित्रता ही प्रशंसनीय कहलाती है ॥१४॥ अनेक राजहंस ( पक्षमे बड़े-बड़े राजा ) जिसकी सेवा करते हैं, जो ससारको प्रेमी उत्पन्न करनेवाली है, और जिसकी महिमा भी कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी यह गंगा आपकी राजलक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही है ॥१५॥ जो अत्यन्त ऊँची है, सोनेकी बनी हुई है, आकाश-मार्गको उल्लंघन करनेवाली है और आपकी आज्ञाके समान जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी वनवेदिकाको यह गंगा नदी धारण कर रही है ॥ १६ ॥ हे देव, प्रसन्न होइए और इधर वनपक्षितियों, नदियों और तालाबोंमे स्थान जमाये हुई शरदऋतु-की इस शोभाको निहारिए ॥ १७ ॥ ये सप्तपर्ण जातिके वृक्ष अपनी सुगन्धिसे समस्त दिशाओं-को सुगन्धित करनेवाले सुगन्धिचूर्णके समान फूलोंकी परागको चारों ओर बिखेर रहे हैं ॥१८॥ इधर कामदेवके बाणोंके समान फूले हुए बाण जातिके वृक्षों-द्वारा कामी मनुष्योंका चित्त अपहृत किया जा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि रमणीय वस्तु क्या अपहृत नहीं करती ? अथवा किसे मनोहर नहीं जान पड़ती ? ॥ १९ ॥ इधर तालाबोंमे नील कमलोंके साथ-साथ साधारण कमल भी विकसित हो रहे हैं और जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो जिनमे नेत्र विकसित हो रहे हैं ऐसे शरदऋतुपूर्ण लक्ष्मीके मुख ही हो ॥२०॥ इधर ये कुछ-कुछ अव्यक्त शब्द करते हुए सुगन्ध-के लोभी भ्रमर कमलोंमे उस प्रकार निलीन हो रहे हैं जिस प्रकार कि चाटुकारी करते हुए कामी जन स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंमे निलीन—आसक्त होते हैं ॥ २१ ॥ जो मकरन्द रसका पान

१ विभर्ति ल० । २ वृत्तधिया ल०, द०, ङ० । ३ स्वच्छमृणाल-ल० । ४ तादृशम् ल० । ५ यत्र राजश्रेष्ठे । ६ प्रणिद्धम् । ७ सिष्टिभिः । ८ अग्रहूतम् । ९ आलिप्यन्ति । निनीयन्ते ल० । १० अग्रदूतवचना ।



रुषिता 'कञ्जकिञ्जलैरामान्तेत मधुवताः । सुवर्णकपिगैरङ्गैः कामाग्नेरिव सुसुराः ॥२३॥  
 स्थलेषु स्थलपद्मिण्यो विकसन्त्यदृक्कासति । अरच्छिद्यो जिगीषन्त्या दूष्यशाला इवाग्न्यिताः ॥२४॥  
 स्थलाद्वज्रशङ्किनी हंसी सरस्यञ्जरजरते । संहृत्य पक्षत्रिक्षेपं विगन्तीथं निमज्जति ॥२५॥  
 हंसेऽयं निजशावाय चन्द्रोदधृत्य लसद्विसम् । पीयूषदृष्ट्या ददात्यस्मै शशाङ्ककरकोमलम् ॥२६॥  
 कृतयत्नाः प्लवन्तेऽमी राजहंसाः सरोजले । सरोजिनीरजःकीर्णै धृतपक्षाः शनैः शनैः ॥२७॥  
 चक्रवाकी सरस्तीरं तरङ्गैः स्थगिताममम् । अपश्यन् कर्णं रीति चक्राहः साश्रुलोचनः ॥२८॥  
 अभ्येति वरटाशङ्की धातराष्ट्रः कृतस्वनम् । सरस्तरङ्गमुभ्राड्गीं कोककान्तामनिच्छतीम् ॥२९॥  
 अनुगाह्वातदं भाति साप्तपर्णमिदं वनम् । सुमनोरंणभिर्योनिं वितानश्रियमादधत् ॥३०॥  
 मन्दाकिनीतरङ्गोत्थपवनोऽध्वश्रमं हरन् । शनैः स्पृशति नोऽङ्गानि शोधोवनविधूननः ॥३१॥  
 आतिथ्यमिव नस्तन्वच्च हृतगङ्गाम्बुगीकरः । अभ्येति पवमानोऽयं वनवीथीविधूनयम् ॥३२॥  
 अगोप्यमिदं देव देवैः ध्रुपितं वनम् । लतालयविभात्यन्तः कुसुमप्रस्तराञ्चितैः ॥३३॥

करनेके लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं ऐसे ये भ्रमर कामदेवके वाणोंकी मूठके समान आभावाले अपने पंखोंसे कमलिनियोंके समूहमें जहाँ-तहाँ विचरण कर रहे हैं, घूम रहे हैं ॥ २२ ॥ जिनके अंगोपाग कमलकी केशरसे रूपित होनेके कारण सुवर्णके समान पीले-पीले हो गये हैं ऐसे ये भ्रमर कामरूपी अग्निके स्फुलिङ्गोंके समान जान पड़ते हैं ॥ २३ ॥ जगह-जगह पृथिवीपर फूले हुए स्थल-कमलिनियोंके पेड़ ऐसे सुगोभित हो रहे थे मानो सबको जीतनेकी इच्छा करने-वाली शरद्वृक्षरूपी लक्ष्मीके खड़े हुए कपड़ेके तन्मू ही हो ॥ २४ ॥ जो कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रहा है ऐसे सरोवरमें कमलको स्थलकमल समझती हुई यह हसी पंखोंके विसेपको रोककर अर्थात् पंख हिलाये विना ही प्रवेश करती है और पानीमें डूब जाती है ॥ २५ ॥ यह हंस चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल और देदीप्यमान मृणालको अपनी चोचसे उठाकर और क्षीरसहित मक्खनके समान कोई पदार्थ समझकर अपने बच्चेके लिए दे रहा है ॥ २६ ॥ कमलिनीके परागसे भरे हुए तालावके जलमें ये हंस धीरे-धीरे पंख हिलाते हुए बड़े प्रयत्नसे तैर रहे हैं ॥ २७ ॥ तालावके तीरपर तरंगोंसे तिरोहित हुई चकवीको नहीं देखता हुआ यह हंस आँखोंमें आँसू भरकर बड़ी कर्णुणके साथ रो रहा है ॥ २८ ॥ सम्भोगकी इच्छा करनेवाला यह शब्द करता हुआ हंस, तालावकी तरंगोंसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चकवीके सम्मुख जा रहा है जब कि वह चकवी इस हंसकी इच्छा नहीं कर रही है ॥ २९ ॥ गंगा नदीके किनारे-किनारे यह सप्तपर्ण जातिके वृक्षोंका वन ऐसा सुगोभित हो रहा है मानो अपने फूलोंकी परागसे आकाशमें चँदोवाकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥ ३० ॥ मार्गीकी थकावटको दूर करता हुआ और किनारेके वनोंको हिलाता हुआ यह गंगाकी लहरोसे उठा हुआ पवन हम लोगोंके शरीरको धीरे-धीरे स्पर्श कर रहा है ॥ ३१ ॥ वनकी पक्षितियोंको हिलाता हुआ यह वायु ग्रहण की हुई गंगाके जलकी वृद्धोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो हम लोगोंका अतिथि-सत्कार करता हुआ ही आ रहा हो ॥ ३२ ॥ हे देव, जो गायोंके संचारसे रहित हैं अर्थात् अत्यन्त दुर्गम

१ आच्छादितः । २ कनकवत् पिङ्गलैः । ३ विस्फुल्लिङ्गाः । ४ पटकुटयः । 'दूष्य वस्त्रे च तद्गृहं' । ५ सक्षीरनवनतनुदृष्ट्या । ६ कृतयत्न ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । ७ स्तनिताम् आच्छादिताम् । ८ आलोचयन् । ९ हसकान्तेति गङ्गाकावन् । "वरटा हसकान्ता स्यात् वरटा वरलापि च" इति वैयाक्यन्ती । १० सितेतरचञ्चुचरणवान् हस । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणे लोहितं सितं । मलिनमल्लिकाशास्तेष्वतिराष्ट्रा सितेतरं इत्यभिधानात् । ११ कृतस्वन द०, व०, ल० । कृतस्वनमा अ० । १२ अस्माकम् । १३ तदवन । १४ अतिथित्वम् । १५ औकरं ल०, प०, इ० । १६ अभिमुखमागच्छति । १७ प्रमाणरहितम् । प्रवेष्टुमशक्य वा । १८ विभात्येतैः इ०, ल०, द० । १९ गयन ।

मन्दारवनवीथीनां सान्द्रच्छायाः समाश्रिताः । चन्द्रकान्तगिलास्वेते रंरन्थन्ते नमःपदः ॥३४॥  
 अहो तद्वनस्थास्थ रामणीयकमदुसुतम् । अवधूतनिजावासा रिरंसन्तेऽत्र यत्सुराः ॥३५॥  
 मनोमवनिवेशस्थ लक्ष्मीरत्र वितन्यते । सुरदम्पतिभिः स्वैरमारुधरतिविभ्रदैः ॥३६॥  
 इय निधुवनास्तप्ताः सुरस्त्रीरतिकोमलाः । हसतोऽव तरङ्गोत्थैः श्रीकैरैरमरापगा ॥३७॥  
 इतो किन्नरसंगीतभितः सिद्धोपशृणितम् । इतो विद्याधरीनृत्तमिं तस्तद्गतिविभ्रमः ॥३८॥  
 नृत्तमप्सरसां पश्यन् गृण्वस्तद्गीतनिःस्वनम् । वाजिचक्रोऽयमुद्गीवः सममास्ते रवकान्तया ॥३९॥  
 निष्पर्यायं वनेऽमुमिन्नुतवर्गो विवर्धते । परस्परमिव द्रष्टुमुत्सुक्यितमानसः ॥४०॥  
 अशोकतरुत्रायं तनुते पुष्पमञ्जरीम् । लाक्षारक्तैः खगल्लीणां चरणैरभिताडितः ॥४१॥  
 पुंस्कोकिलकलालापमुखरीकृतदिङ्मुखः । नृत्तोऽयं मञ्जरीर्धत्ते मदनस्येव तीरिकाः ॥४२॥  
 चम्पका विक्रमन्तोऽत्र कुसुमलौ वितन्वति । प्रदीपामिव पुष्पोष्णं दधतीमे मनोभुवः ॥४३॥  
 सहकारेण्मयी मत्ता विरुवन्ति मधुव्रताः । विजिगीषोरनङ्गस्य काहला इव पूरिताः ॥४४॥  
 कोकिलानभिःस्वानैरलिज्यारवजुभिर्भूतैः । अभिषेणयतीवात्र मनोभूर्ध्वनत्रयम् ॥४५॥

है और जो देवोंके द्वारा अधिष्ठित है अर्थात् जहाँ देव लोग आकर क्रीड़ा करते हैं ऐसा यह वन फूलोंके बिछौनोंसे सुगोभित इन लतागूहोंसे अतिगन्ध सुगोभित हो रहा है ॥ ३३ ॥ इधर मन्दार वृक्षोंकी वन-पंक्तियोकी घनी छायामें बैठे हुए ये देव लोग चन्द्रकान्त मणियोंकी गिलापर बार-बार क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ३४ ॥ अहा, इस किनारेके वनकी सुन्दरता कैसी आश्चर्यजनक है कि देव लोग भी अपने-अपने निवासस्थान छोड़कर यहाँ क्रीड़ा करते हैं ॥ ३५ ॥ जिन्होंने अपनी इच्छानुसार रति-क्रीडा प्रारम्भ की है ऐसे देव-देवागनाओंके द्वारा यहाँ काम-देवके घरकी शोभा बढ़ायी जा रही है । भावार्थ - देव-देवागनाओंकी स्वच्छन्द रतिक्रीड़ाको देखकर मालूम होता है कि मानो यह कामदेवके रहनेका घर ही हो ॥ ३६ ॥ यह गंगा अपनी तरंगोंसे उठी हुई जलकी बूँदोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो सम्मोग करनेमें असमर्थ होकर दीनताभरे अस्पष्ट गन्ध करनेवाली देवागनाओंकी हँसी-ही कर रही हो ॥ ३७ ॥ इधर किन्नरोंका संगीत हो रहा है, इधर सिद्ध लोग वीणा बजा रहे हैं, इधर विद्याधरियों नृत्य कर रही हैं और इधर कुछ विद्याधरियाँ विलासपूर्वक टहल रही हैं ॥ ३८ ॥ इधर यह किन्नर अपनी कान्ताके साथ-साथ अप्सराओंका नृत्य देखता हुआ, और उनके संगीत शब्दोंको सुनता हुआ मुखसे गला ऊँचा कर बैठा है ॥ ३९ ॥ परस्परमें एक-दूसरेको देखनेके लिए जिसका मन उत्कण्ठित हो रहा है ऐसा ऋतुओंका समूह इस वनमें एक साथ इकट्ठा होता हुआ बढ रहा है ॥ ४० ॥ लाखसे रगे हुए विद्याधरियोंके चरणोंसे ताडित हुआ यह अशोक वृक्ष इस वनमें पुष्प-मञ्जरियोंको धारण कर रहा है ॥ ४१ ॥ कोकिलोंके आलापसे जिसने समस्त दिगाओंको वाचालित कर दिया है ऐसा यह आभ्रवृक्ष कामदेवकी आँखोंकी पुतलियोंके समान पुष्प-मञ्जरियोंको धारण कर रहा है ॥ ४२ ॥ वसन्तऋतुके फैलनेपर इस वनमें जो चम्पक जातिके वृक्ष विकसित हो रहे हैं और फूलोंके समूह धारण कर रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो कामदेवके दीपक ही धारण कर रहे हो ॥ ४३ ॥ इधर ये मदोन्मत्त भ्रमर आभ्र वृक्षोंपर ऐसा बब्द कर रहे हैं मानो सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवरूपी राजाके बाजे ही बज रहे हो ॥ ४४ ॥ कोयलों-

१ अवज्ञात । २ रतुमिच्छन्ति । ३ यस्मात् कारणात् । ४ यक्ता. ल०, ड० । ५ रतिक्रीडा ल०, ड०, इ० । ६ नृत्यम् अ०, ड० । ७ युगपत् । निष्पर्यायो प०, ल०, ड०, अ०, स० । ८ पुंस्कोकिलानामालाप ल० । ९ वागा । तारकाः ल० । १० विक्रमन्त्यद् ल०, ड०, इ०, अ०, प०, न० । ११ वसन्तकाले । १२ विस्तृते सति । अविश्रितकर्मकोऽकर्मक इत्यकर्मकस्यमत्र । १३ दधतीऽग्नी ल०, ड०, इ०, अ०, प०, न० । १४ ध्वनन्ति । १५ मेनया अभिवाति । गिज्जहृन् वृत्रादिप् गिज् ।

निचुलः सहकारेण विकसन्नत्र माधवीम् । तनोति लक्ष्मीमक्षूणामहो प्रावृष्टश्रिया समम् ॥४६॥  
 माधवीस्तवकेन्द्रेण माधवोऽब्जं विजृम्भते । वनलक्ष्मीप्रहासस्य लीलां तन्वत्सु विश्वतः ॥४७॥  
 वासन्त्यो विकसन्त्येता वसन्तर्तुस्मितश्रियम् । तन्वाणाः कुसुमामोदैराकुलीकृतषट्पदाः ॥४८॥  
 मल्लिकाविततमोदैर्विलोलीकृतषट्पदाः । पादपेषु पद धत्ते क्षुब्धः पुष्पक्षुचिरिमतः ॥४९॥  
 कदम्बामोदसुरभिः केतकीधूलिधूसरः । तापात्ययानिलो<sup>१</sup> देव नित्यमत्र विजृम्भते ॥५०॥  
 माद्यन्ति कोकिलाः शश्वत् सममत्र शिखण्डभिः । कलहंसीकलस्वानैः संमूर्छितं विकृजिताः ॥५१॥  
 कृजन्ति कोकिला मत्ता. केकायन्ते<sup>२</sup> कलापिनः । उभयस्यास्य वर्गस्य हंसाः<sup>३</sup> प्रत्यालपन्त्यमी ॥५२॥  
 इतोऽमी किन्नरीगीतमनुकृजन्ति<sup>४</sup> षट्पदाः । सिद्धोपवीणितान्येषु निहन्तुतेऽन्यमृतस्वनः ॥५३॥  
 जितनूपुरक्षंकारमितो हंसविकृजितम् । इतश्च खेचरीनृत्यमनुनृत्यच्छिलाबलम्<sup>५</sup> ॥५४॥  
 इतश्च सैकतोत्सङ्गे सुप्तान् हंसान् सशावकान् । प्रातः प्रबोधयत्युद्यन्<sup>६</sup> खेचरीनूपुरारवः ॥५५॥  
 इतश्च रचितानल्पपुष्पतल्पमनोहराः । चन्द्रकान्तशिलागर्भा सुरैर्मोय्या लतालयाः ॥५६॥

के मधुरशब्दरूपी नगाडो और भ्रमरोकी गुंजार रूप प्रत्यन्ताकी टकारध्वनिसे यहाँ ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव तीनों लोकोंको जीतनेके लिए सेनासहित चढाई ही कर रहा हो ॥ ४५ ॥ अहा, कैसा आश्चर्य है कि आभ्रवृक्षके साथ-साथ फूलता हुआ यह निचुल जातिका वृक्ष इस वनमें वर्षाऋतुकी शोभाके साथ-साथ वसन्तऋतुकी भारी शोभा बढा रहा है ॥४६॥ इधर इस वनमें चारो ओरसे वन-लक्ष्मीके उत्कृष्ट हास्यकी शोभा बढानेवाले माधवीलता-के गुच्छोपर आज वसन्त बडी वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ॥ ४७ ॥ जो अपने विकाससे वसन्त-ऋतुके हास्यकी शोभा बढा रही है और जो फूलोकी सुगन्धिसे भ्रमरोको व्याकुल कर रही है ऐसी ये वसन्तमे विकसित होनेवाली माधवीलताएँ विकसित हो रही है - फूल रही है ॥४८॥ जिसने मालतीकी फैली हुई सुगन्धिसे भ्रमरोको चंचल कर दिया है और फूल ही जिसका पवित्र हास्य है ऐसा यह ग्रीष्मऋतु वृक्षोपर पैर रख रहा है—अपना स्थान जमा रहा है ॥४९॥ हे देव, कदम्ब पुष्पोकी सुगन्धिसे सुगन्धित तथा केतकीकी धूलिसे धूसर हुआ यह वर्षाऋतु-का वायु इस वनमें सदा बहता रहता है ॥५०॥ इस वनमें मयूरोके साथ-साथ कोयल सदा उन्मत्त रहते हैं और कल-हंसियो ( वदको ) के मनोहर शब्दोके साथ अपना शब्द मिलाकर बोलते हैं ॥५१॥ इधर उन्मत्त कोकिलाएँ कुहू कुहू कर रही है, मयूर केका वाणी कर रहे हैं और ये हंस इन दोनोंके शब्दोकी प्रतिध्वनि कर रहे हैं ॥ ५२ ॥ इधर ये भ्रमर किन्नरियोके द्वारा गाये हुए गीतोका अनुकरण कर रहे हैं और इधर यह कोयल सिद्धोके द्वारा बजायी हुई वीणाके शब्दोको छिपा रहा है ॥ ५३ ॥ इधर नूपुरोकी क्षंकारको जीतता हुआ हंसोका शब्द हो रहा है, और इधर जिसका अनुकरण कर मयूर नाच रहे हैं ऐसा विद्याधरियोका नृत्य हो रहा है ॥ ५४ ॥ इधर बालूके टीलोकी गोदमे अपने बच्चोसहित सोये हुए हंसोको प्रातः कालके समय यह विद्याधरियोके नूपुरोका ऊँचा शब्द जगा रहा है ॥ ५५ ॥ इधर जो बहुत-से फूलोसे बनायी हुई शय्याओसे मनोहर जान पड़ते हैं, जिनके मध्यमे चन्द्रकान्त मणिकी शिलाएँ पडी

१ हिज्जुल । 'निचुलो हिज्जुलोऽम्बुज' इत्यभिधानात् । २ वसन्ते भवाम् । 'अलिमुशत पुण्ड्रक स्याद् वासन्त्यो माधवी लला' इत्यभिधानात् । एतानि पुण्ड्रदेशे वसन्तकाले बाहुलेन जायमानस्य नामानि । ३ वासन्त्यो गुच्छकेषु । 'स्याद् गुच्छकस्तु स्तवक' इत्यभिधानात् । ४ ग्रीष्म । ५ पुष्पाण्येव क्षुचिरिमत यस्य स । ६ ईषत्पाण्डु । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसर' इत्यभिधानात् । ७ वर्षाकालवायु । ८ मिश्रित । ९ केका कुर्वन्ति । १० प्रत्युत्तर कुर्वन्ति । ११ अपलाप कुर्वते । १२ अनुगतं नृत्यन् शिलाबलो यस्य । १३-नृत्यन् पं० ।

इतीदं वनमत्यन्तरमणीयैः परिच्छदैः । स्वर्गोद्यानगतां प्रीतिं जनयेत् स्वःसदा<sup>१</sup> सदा ॥५७॥  
 वहिस्तटवनादेतद् दृश्यते काननं महत् । नानाद्रुमलतागुल्मवीरुद्विभिरतिदुर्गम<sup>२</sup> ॥५८॥  
 दृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन् वने सुगन्धद्वन्द्वकम् । नानाजातीयसुदधानं सैन्यक्षोभात् प्रधावति ॥५९॥  
 इदमस्मद्बलक्षोभादुल्लसत्सुगणसंकुलम् । वनमाकुलितप्राणमिवाभात्यन्धकारितम् ॥६०॥  
 गजयूथमितं<sup>३</sup> कच्छादन्धकारमिवाभितः । त्रिद्विष्टं<sup>४</sup> बलसञ्जोमादपसर्पत्यतिद्रुतम् ॥६१॥  
 सनैः प्रयाति संजिघ्रन्<sup>५</sup> दिशः प्रोत्थिसपुष्करः । स महाहिमिवाद्दीन्द्रो भद्रोऽयं गजयूथपः ॥६२॥  
 महाहिरयसायाम् भिमानं<sup>६</sup> इव भूतहाम् । इवसन्नायच्छते<sup>७</sup> कच्छाद्-वर्जितशरीरकः ॥६३॥  
 'अयुपोता निकुञ्जेषु<sup>८</sup> पुञ्जीभूता वसन्त्यभी<sup>९</sup> । वनस्यैवान्नसंतानादवमृक्षोमाद्भिनिःसृताः ॥६४॥  
 अयमेकचरः<sup>१०</sup> पोत्रसमुल्लातान्तिकस्थल<sup>११</sup> । रुणद्धि बलं सैन्यस्य वराहस्तीव्ररोषणः ॥६५॥  
 सैनिकैर्यस्यारुहः<sup>१२</sup> पाषाणलकुटादिभिः । व्याकुलीकुरुते<sup>१३</sup> सैन्यं गण्डो<sup>१४</sup> गण्ड<sup>१५</sup> इव स्फुटम् ॥६६॥  
 प्राणा इव वनादस्माद् विनिष्क्रामन्ति सन्तताः । सिंहा बहुदवज्जवाला<sup>१६</sup> पुन्राना केसरच्छटाः ॥६७॥

हुई है और जो देवोंके उपभोग करने योग्य है ऐसे लतागूह बने हुए हैं ॥५६॥ इस प्रकार यह वन अत्यन्त रमणीय सामग्रीसे देवोंके सदा नन्दन वनकी प्रीतिको उत्पन्न करता रहता है ॥ ५७ ॥  
 इधर किनारेके वनके बाहर भी एक बड़ा भारी वन दिखाई दे रहा है जो कि अनेक प्रकारके वृक्षों, लताओं, छोटे-छोटे पौधों और झाड़ियोंसे अत्यन्त दुर्गम है ॥ ५८ ॥ जिसमें दृष्टि भी नहीं जा सकती ऐसे इस वनमें सेनाके क्षोभसे घबड़ाया हुआ यह अनेक-जातिके मृगों-का समूह बड़े जोरसे दौड़ा जा रहा है ॥५९॥ जो हमारी सेनाके क्षोभसे भयभीत हुए हरिणों-से व्याप्त है तथा जिसमें जीवोंके प्राण आकुल हो रहे हैं ऐसा यह वन अन्धकारसे व्याप्त हुए-के समान जान पड़ता है ॥ ६० ॥ इधर सेनाके क्षोभसे अलग-अलग हुआ यह हाथियोंका झुण्ड गंगा किनारेके जलवाले प्रदेशसे अन्धकारके समान चारों ओर बड़े वेगसे भागा जा रहा है ॥ ६१ ॥ हाथियोंके झुण्डकी रक्षा करनेवाला यह भद्र गजराज सूँडको ऊँचा उठाता हुआ तथा विगाओंको सूँघता हुआ धीरे-धीरे ऐसा जा रहा है मानो शेषनागसहित सुमेरु पर्वत ही जा रहा हो ॥ ६२ ॥ जिसने अपने शरीरके ऊर्ध्वभागको ऊँचा उठा रखा है ऐसा यह बड़ा भारी सर्प जलवाले प्रदेशसे साँस लेता हुआ इस प्रकार आ रहा है मानो वृक्षोंकी लम्बाईको नापता हुआ ही आ रहा हो ॥६३॥ इधर इस लतागूहमें इकट्ठे हुए ये अजगरके वच्चे इस प्रकार बसा ल रहे हैं मानो सेनाके क्षोभसे वनकी अँतड़ियोंके समूह ही निकल आये हो ॥६४॥ जो अकेला ही फिरा करता है, जिसने अपनी नाकसे समीपके स्थल खोद डाले हैं, और जो अत्यन्त क्रोधी है ऐसा यह शूकर सेनाका मार्ग रोक रहा है ॥६५॥ सेनाके लोगोंने जिसे पत्थर लकड़ी आदिसे रोक रखा है ऐसा यह गण्ड अर्थात् छोटे पर्वतके समान दिखनेवाला गैडा हाथी स्पष्ट रूपसे सेनाको व्याकुल कर रहा है ॥६६॥ जो दावानलकी ज्वालाके समान पीले और विस्तृत गरदनपरके बालोंके समूहोंको हिला रहे हैं ऐसे ये सिंह इस वनसे इस प्रकार

१ नाकिनाम् । २ प्रतानिनीलताभि । 'लता प्रतानिनी वोक्तुं गुल्मिन्युपलम्ब्ययि' इत्यभिधानात् ।  
 ३ बहुजलप्रदेशात् । 'जलप्रायमनूय स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविध' । इत्यभिधानात् । ४ त्रिषवत्तम् ।  
 ५ आघ्राणयन् । ६ प्रमत्ति कुर्वन्निव । ७ वीर्यशिवति । यमुञ्च स्वोङ्गे चाजा 'इत्यात्मनेपदी । -त्रागच्छते ल०, इ० । ८ अजगरशिशव । ९ निकुञ्जेऽस्मिन् ल०, द०, ड० । १० पुरीतत् । ११ एकाकी ।  
 १२ मुखाग्र । 'मुखाग्रे क्रोडहल्यो पोत्रम्' इत्यभिधानात् । 'पोत्रणोहलक्रोहमुले त्रद' इति मूलेण सिद्धि ।  
 १३ वेष्टित । १४ आकुली-ल० । १५ खड्गीमृग । १६ गण्डजल इव । १७ दवज्जालसदृशा ।

गुगुलुता<sup>१</sup> वनादेष महिषो घनकर्धुरः । निर्याति मृत्युदंष्ट्राभविषाणाप्रातिभीषणः ॥६८॥  
 ललटालययो लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणाः । व्याला<sup>२</sup> बलस्य संशोभममी तन्वन्त्यनाकुलाः ॥६९॥  
 गरमः सं समुत्पत्य पतञ्जुतापितोऽपि सन् । नैप दुःखासिकां वेदं चरणैः पृष्ठवर्तिभिः ॥७०॥  
 चमरोऽयं<sup>३</sup> चमरोधाद् विद्रुतो<sup>४</sup> द्रुतमुत्पतन् । क्षोभं तनोति सैन्यस्य दर्पो रूपीव<sup>५</sup> दुर्धरः ॥७१॥  
 शशः शशश्च<sup>६</sup> देव सैनिकैरनुद्रुतः<sup>७</sup> । शरणायेव सीतात्मा<sup>८</sup> मध्येसैन्यं निलीयते<sup>९</sup> ॥७२॥  
 सारङ्गोऽयं<sup>१०</sup> तनुच्छायाकल्माषितवनः<sup>११</sup> शनैः । प्रयाति शृङ्गमारेण शाशिनेव प्रशुष्यता ॥७३॥  
 दक्षिणेर्मतया<sup>१२</sup> विष्वगभिधावन्यपीक्षिता<sup>१३</sup> । प्रजानुपालनं न्याय्यं तवाचष्टे मृगप्रजः<sup>१४</sup> ॥७४॥  
 कलापी बर्हमारेण मन्दं मन्दं ब्रजत्यसौ । कैरापात्राश्रितं तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूरुहैः ॥७५॥  
 नेत्रावलीमिघातन्वन् वनभूत्याः सचन्द्रकैः । कलापिनामयं संवो विभान्यस्मिन् वनरथले ॥७६॥  
 संक्रोडता<sup>१५</sup> रथाङ्गानां स्वनमाकर्णयन् सुदुः । हरिणानामिदं यूथं नापसर्पति वर्त्मनः<sup>१६</sup> ॥७७॥

निकल रहे है मानो उसके प्राण ही निकल रहे हों ॥६७॥ जो मेघके समान कर्धुर वर्ण है, जिसके सींगका अग्रभाग यमराजकी दाढ़के समान है तथा जो अत्यन्त भयंकर है ऐसा यह भैंसा इस गुगुलुके वनसे बाहर निकल रहा है ॥६८॥ जिनकी पूँछ हिल रही है, जिह्वा चंचल हो रही है और नेत्र अत्यन्त लाल हो रहे हैं ऐसे ये सिंह आदि क्रूर जीव स्वयं व्याकुल न होकर ही सेनाका क्षोभ बढ़ा रहे हैं ॥६९॥ यह अष्टापद आकाशमें उछलकर यद्यपि पीठके बल गिरता है तथापि पीठपर रहनेवाले पैरोंसे यह दुःखका अनुभव नहीं करता । भावार्थ—अष्टापद नामका एक जगली जानवर होता है उसके पीठपर भी चार पाँव होते हैं । जब कभी वह आकाशमें छलाँग मारनेके बाद चित्त अर्थात् पीठके बल गिरता है तो उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता क्योंकि वह अपने पीठपरके पैरोंसे सँभलकर खड़ा हो जाता है ॥७०॥ जो मूर्तिमान् अहंकारके समान है, दुर्जेय है और सेनासे घिर जानेके कारण जल्दी-जल्दी छलाँग मारता हुआ इधर-उधर दौड़ रहा है ऐसा यह मृग सेनाका क्षोभ बढ़ा रहा है ॥७१॥ हे देव, यह खरगोश दौड़ रहा है, यद्यपि सैनिकोंने इसका पीछा नहीं किया है तथापि यह भीरु होनेसे इधर-उधर दौड़कर शरण ढूँढ़नेके लिए आपकी सेनाके बीचमें ही कहीं छिप जाता है ॥७२॥ जिसने अपने शरीरकी कान्तिसे वनको भी काला कर दिया है ऐसा यह कृष्णसार जातिका मृग सूखे हुए वृक्षके समान अनेक शाखाओवाले सींगोंके भारसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥७३॥ देखिए, दाहिनी ओर घाव लगनेसे जो चारों ओर चक्कर लगा रहा है ऐसा यह हरिणोंका समूह मानो आपसे यही कह रहा है कि आपको सब जीवोंका पालन करना योग्य है ॥७४॥ जो अपनी पूँछके द्वारा वनलक्ष्मीके केशपाशकी शोभाको बढ़ा रहा है ऐसा यह मयूर पूँछके भारसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥७५॥ इधर इस वनस्थलमें यह मयूरोंका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी पूँछपरके चन्द्रकोसे वनकी पृथिवीरूपी स्त्रीके नेत्रोंके समूहकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥७६॥ इधर देखिए, चलते हुए रथके पहियेके शब्दको बार-बार सुनता हुआ यह हरिणोंका समूह मार्ग

१ कौशिकानाम् । कुम्भोदखलकं वलीवे कौशिको गुगुलु पुरः । इत्यभिधानात् । २ चल्त् । ३ दुष्टमृगाः । ४ निर्भीताः । ५ अष्टापद । ६ ऊर्ध्वमुखचरणौ भूत्वा । ७ जानाति । ८ व्याघ्र । ९ सेनानिरोधात् । १० घावमान । ११ रूपी च ल० । १२ शशः प्लुतगतौ । लत्प्लुत्य गच्छन् । १३ अनुगत । १४ सैन्यमध्ये । १५ अन्तर्हितो भवति । विलीयते अ०, इ० । १६ शबलितः । १७ दक्षिणभागे कृतव्रणतया । 'दक्षिणे गतया विष्वगभिधावनं प्रवीक्षताम् । प्रजानुपालनं न्याय्यं तवाचष्टे मृगप्रजः ॥' ल० । १८ सैनिकैरवलोकितः । १९ मृगसमूहः । २० चीत्कारं कुर्वताम् । 'क्रोडोऽक्रूजे' इति अक्रूजार्थं तद्विधानात् । कूजार्थं परस्मैपदी । २१ वर्त्मनः ल० । द्रुतं अ० ।

<sup>१</sup>हरिणीमिश्रितेष्वेताः पश्यन्ति सकृत्तुल्यम् । स्वां नेत्रगोमां कामिन्यो बहिर्बहूषु सूर्यजान् ॥७८॥  
 इत्यनाकुलमेवेदं सैन्यैरप्याकुलीकृतम् । वनमालक्ष्यते विश्वसांवाधसृगद्विजम् <sup>२</sup>॥७९॥  
 जैरोऽप्यात्तपो नायमिहास्मान् देव बाधते । वने महातरुच्छाया नैरन्तर्यानुबन्धिनि ॥८०॥  
 इमे वनहुमा भान्ति साम्द्रच्छाया मनोरमाः । त्वद्भक्त्यै <sup>३</sup>वनलक्ष्म्येव मण्डपा विनिवेशिताः ॥८१॥  
 सरस्यः स्वच्छसलिला वारितोष्णास्तट्टुमैः । स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रप्रा <sup>४</sup>भान्ति क्लमच्छिदः ॥८२॥  
 बहुवा <sup>५</sup>णासनाकीर्णमिदं खड्गमिराततम् । सर्हास्तिकमपर्यन्तं वनं युष्मद्वलायते ॥८३॥  
 इत्थं वनस्य सामुद्ध्यं निरुपयति सारथौ । वनभूमिमतीयाय सम्राट्त्रिविद्वान्तराम् <sup>६</sup>॥८४॥  
 तदावधीयसुरोद्धातादुत्थिता वनरेणवः । दिशां मुखेषु संलम्नास्तेनुर्यवनिकाश्रियम् ॥८५॥  
 साविनी <sup>७</sup>वारबाणानि स्यूतान्यपि <sup>८</sup>सितांशुकैः । काषायाणीव जातानि ततानि वनरेणुभिः ॥८६॥  
 वनरेणुमिरालनैर्जटीभूतानि बोधितः । स्तनांशुकानि वृच्छेग वृद्धुरध्वश्रमालसाः ॥८७॥  
 कुम्भस्थलीषु संसक्ता करिणामध्वरेणवः । सिम्बुरश्रियमावेनुधातुभूमिसमुत्थिताः <sup>९</sup>॥८८॥

से एक ओर नहीं हट रहा है ॥७८॥ ये स्त्रियाँ हरिणियोंके नेत्रोंमे अपने नेत्रोंकी गोभा बड़े कौतूहलके साथ देख रही हैं और हरिणोंकी पूँछोंमे अपने केशोंकी गोभा निहार रही है ॥७८॥ जिसमें हरिण पक्षी आदि सभी जीव एक-दूसरेको बाधा किये बिना ही निवास कर रहे हैं ऐसा यह वन यद्यपि सैनिकोंके द्वारा व्याकुल किया गया है तथापि आकुलतासे रहित ही प्रतीत हो रहा है ॥७९॥ हे देव, जो बड़े-बड़े वृक्षोंकी घनी छायासे सदा सहित रहता है ऐसे इस वनमे रहनेवाले 'हम लोगोको यह तीव्र घाम कुछ भी बाधा नहीं कर रहा है ॥८०॥ ये घनी छायावाले वनके मनोहर वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो आपकी भक्तिके लिए वनलक्ष्मीके द्वारा लगाये हुए मण्डप ही हो ॥८१॥ किनारेपरके वृक्षोंसे जिनकी सब गरमी दूर कर दी गयी है ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए ये छोटे-छोटे तालाव ऐसे मालूम होते हैं मानो वन-लक्ष्मीने बलेग दूर करनेवाली प्याऊ हो स्थापित की हो ॥८२॥ हे प्रभो, यह वन आपकी सेना-के समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार आपकी सेना बहुत-से वाणासन अर्थात् घनुषोंसे व्याप्त है उसी प्रकार यह वन भी बाण और असन जातिके वृक्षोंसे व्याप्त है, जिस प्रकार आपकी सेना खड्गी अर्थात् तलवार धारण करनेवाले सैनिकोंसे भरी हुई है उसी प्रकार यह वन भी खड्गी अर्थात् गैडा हाथियोंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपकी सेना हाथियोंके समूहसे सहित है उसी प्रकार यह वन भी हाथियोंके समूहसे सहित है और जिस प्रकार आपकी सेनाका अन्त नहीं दिखाई देता उसी प्रकार इस वनका भी अन्त नहीं दिखाई देता ॥८३॥ इस प्रकार सारथिके वनकी समुद्रिका वर्णन करते रहनेपर सम्राट् भरत उस वनभूमिको इस तरह पार कर गये कि उन्हें उसकी लम्बाईका पता भी नहीं चला ॥८४॥ उस समय घोड़ोंके समूहके खुरों-के आघातसे उठी हुई वनकी धूलि समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥८५॥ घुडसवारोंके कवच, यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोंसे ढँके हुए थे तथापि वनकी धूलिसे व्याप्त होनेके कारण ऐसे मालूम पड़ते थे मानो कषाय रंगसे रंगे हुए ही हों ॥८६॥ मार्गके परिश्रमसे अलसताी हुई स्त्रियाँ वनकी धूलि लगनेसे भारी हुए स्तन ढँकनेवाले वस्त्रों-को बड़ी कठिनाईसे धारण कर रही थी ॥८७॥ गेरू रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि

१ लोचनेषु । २ पञ्च । ३ प्रवृद्ध । ४ तव भजनाय । ५ पानीयशालिका । 'प्रपा पानीयशालिका' इत्यभिधानात् । ६ क्षिप्रं सर्जकं, पक्षे चाप । ७ मण्डभृगं, पक्षे आयुधिकं । ८ उभयत्रापि गजमूहम् । ९ अजातशत्रुमध्वयस्मिन्त्ययमकर्मणि । १० अश्वारोहकाणाम् । 'अश्वारोहास्तु सादिन' इत्यभिधानात् । ११ कञ्चुका । 'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री' इत्यभिधानात् । १२ युतानि । १३ कपायरञ्जितानि । १४ गैरिक ।

ततो मध्यन्दिनेऽभ्यर्णे दिदीपे तीव्रभञ्जमान् । विजिगीषुरिचारूढप्रतापः शुद्धमण्डलः ॥८९॥  
 सरस्तीरतच्छायामाश्रयन्ति स्म पत्रिणः । गरदातपसंतापात् संकुचपत्रैः संपदः ॥९०॥  
 हंसाः कलमषण्डेषु पुञ्जीभूतान् स्वशावकान् । पक्षैराच्छाद्यामासुरसोढजटातपान् ॥९१॥  
 वन्याः स्तम्भेरमा भेजुः सरसीरवगाहिषुम् । मदसुविषु तप्तासु मुक्ता मधुकर्बजैः ॥९२॥  
 शाखाभङ्गैः कृतच्छायाः प्रयान्तो गजयूयपाः । शाखोद्धारमिवातन्वन् खरोक्षोः करपीडिताः ॥९३॥  
 यूथं वनवराहाणामुपर्युपरि पुञ्जितम् । तदा प्रविश्य वैशान्तमधिशिष्ये सकर्दमम् ॥९४॥  
 मृणालैरङ्गमावेष्ट्य स्थिता हंसा विरेजिरे । प्रविष्टाः शरणायेव शशाङ्कपञ्जरम् ॥९५॥  
 चक्रवाकयुवा भेजे घनं शैवलमाततम् । सर्वाङ्गलग्नमुष्णालुर्विनीलमिव कञ्चुकम् ॥९६॥  
 पुण्डरीकातपत्रेण कृतच्छायोऽब्जिनीवने । राजहंसस्तदा भेजे हंसीभिः सह मञ्जनम् ॥९७॥  
 विसभङ्गैः कृताहारा मृणालैरवगुण्ठिताः । विसिनीपत्रतल्पेषु शिथिले हंसशावकाः ॥९८॥  
 हलि शारदिके तीव्रं तन्वाने तापमातपे । पुलिनेषु प्रतन्वेषु न हंसा दृष्टिमान्भुः ॥९९॥

हाथियोंके गण्डस्थलोमें लगकर सिन्दूरकी शोभा धारण कर रही थी ॥८८॥ तदनन्तर मध्याह्न-  
 का समय निकट आनेपर सूर्य अत्यन्त देदीप्यमान होने लगा । उस समय वह सूर्य किसी विजि-  
 गीषु राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा प्रताप ( प्रभाव )  
 धारण करता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रताप ( प्रकृष्ट गरमी ) धारण कर रहा था और जिस  
 प्रकार विजिगीषु राजाका मण्डल ( स्वदेश ) शुद्ध अर्थात् आन्तरिक उपद्रवोंसे रहित होता है  
 उसी प्रकार सूर्यका मण्डल ( बिम्ब ) भी मेघ आदिका आवरण न होनेसे अत्यन्त शुद्ध ( निर्मल )  
 था ॥८९॥ शरदऋतुके घामके सन्तापसे जिनके पक्षोंकी शोभा संकुचित हो गयी है ऐसे पक्षी  
 सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेने लगे ॥ ९० ॥ जो मध्याह्नकी गरमी सहन  
 करनेमें असमर्थ हैं और इसीलिए जो कमलोके समूहमें आकर इकट्ठे हुए हैं ऐसे अपने बच्चोंको  
 हंस पक्षी अपने पक्षोंसे ढँकने लगे ॥ ९१ ॥ मदका प्रवाह गरम हो जानेसे जिन्हें भ्रमरोंके समूह-  
 ने छोड़ दिया है ऐसे जंगली हाथी अवगाहन करनेके लिए सरोवरोंकी ओर जाने लगे ॥ ९२ ॥  
 सूर्यकी किरणोंसे पीडित हुए हाथी वृक्षोंकी डालियाँ तोड़-तोड़कर अपने ऊपर छाया करते  
 हुए जा रहे थे और उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो शाखाओंका उद्धार ही कर रहे हों ॥९३॥  
 उस समय जंगली शूकरोका समूह कीचड़सहित छोटे-छोटे तालाबोंमें प्रवेश कर परस्पर एक  
 दूसरेके ऊपर इकट्ठे हो शयन कर रहे थे ॥ ९४ ॥ अपने शरीरको मृणालके तन्तुओंसे लपेट-  
 कर बैठे हुए हंस ऐसे सुखोन्मत्त हो रहे थे मानो अपनी रक्षा करनेके लिए चन्द्रमाकी किरणोंसे  
 बने हुए पिण्डमें ही घुस गये हों ॥ ९५ ॥ जो उष्णता सहन करनेमें असमर्थ हैं ऐसे किसी तृण  
 चक्रवाने अपने सर्व शरीरमें लगे हुए, मोटे-मोटे तथा विस्तृत शेवालको धारण कर रखा था  
 और उससे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीले रंगका कुरता ही धारण कर रहा हो ॥९६॥  
 जिसने कमलिनियोंके वनमें सफेद कमलरूप छत्रसे छाया बना ली है ऐसा राजहंस उस मध्याह्न-  
 के समय अपनी हसियोंके साथ जलमें गोते लगा रहा था ॥ ९७ ॥ जिन्होंने मृणालके टुकड़ोंका  
 आहार किया है और मृणालके तन्तुओंसे ही जिनका शरीर ढँका हुआ है ऐसे हंसोंके बच्चे कमलिनी-  
 के पत्ररूपी शय्यापर सो रहे थे ॥ ९८ ॥ इस प्रकार शरदऋतुका घाम तीव्र सन्ताप फैला रहा

१ मध्याह्नकाले । २ पक्षिण ल० । ३ पक्ष । ४ शाखाखण्ड । ५ पल्लवानि गृहीत्वा आक्रोशम् । ६ पल्लवम् ।  
 अल्पसर इत्यर्थः । 'वैशान्तः पल्लव चाल्पसर' इत्यभिधानात् । ७ उष्णमसहमान् । 'स्रोतोष्णत्रयादश्च आलुः' ।  
 ८ आच्छादिता ।

मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रं तत्तापं तरणिर्मुच्यम् । नूनं तीव्रप्रतापानां माध्यस्थमपि तापकम् ॥१००॥  
 स्वेदविन्दुमिरावद्जालकानि<sup>१</sup> नृपस्त्रियः । वदनान्धुहुरल्लिन्यः<sup>२</sup> पद्मानीवाग्बुधार्कैः ॥१०१॥  
 नृपवल्लभिकावक्त्रपद्मेव्यपुष्पच्छिन्नम् । धर्मविन्दुद्वयमौ निर्यल्लावण्यरसपूरवत् ॥१०२॥  
 गलदधमाम्बुविन्दूनि सुखानि नृपयोषिताम् । अवस्थायततानीव रात्रीवानि विरेजिरे ॥१०३॥  
 नृपाङ्गनासुखाब्जानि धर्मविन्दुमिरादधु । मुक्ताफलैर्द्वीभूतैरिवालकविभूषणैः ॥१०४॥  
 रथवाहा<sup>३</sup> रथान्हुरायस्ताः<sup>४</sup> फेनिलैर्मुखैः । तीव्रं तपति तिम्रान्धौ समेऽपि<sup>५</sup> प्रस्वलत्सुरा ॥१०५॥  
 ह्रस्ववृत्तसुरास्तुद्रास्तुत्स्निग्धतनूत्सहाः । पृथ्वासना<sup>६</sup> महावाहाः प्रययुर्वायुरंहसः<sup>७</sup> ॥१०६॥  
 महाजवजुषो वक्त्राद्भुजमन्तः<sup>८</sup> खुरानिव । महोरस्काः स्फुरद्योर्था<sup>९</sup> हुतं अग्निमूर्हाहयाः ॥१०७॥  
 समुच्छित्तपुरो भागाः शुद्धावर्ता<sup>१०</sup> मनोजवाः । अपर्याप्तेषु<sup>११</sup> मार्गेषु हुतमीयुस्तुरङ्गमाः ॥१०८॥  
 मेधासम्पन्नजवोपेता विनीताश्चटुलक्रमाः । गलदमाना<sup>१२</sup> इव स्फण्डं<sup>१३</sup> महौमश्वा हुतं ययुः ॥१०९॥  
 अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि पत्तयो वेगित<sup>१४</sup> ययुः । सोपानल्लैः<sup>१५</sup> पदैः स्यायुक्कण्टकोपललङ्घिनः ॥११०॥

था और उससे तपे हुए नदियोंके किनारोंपर हसोंको सन्तोष नहीं हो रहा था ॥१०१॥ उस समय सूर्य यद्यपि मध्यस्थ था—आकाशके बीचोबीच स्थित था, पक्षपातरहित था तथापि वह पृथिवीको बहुत ही सन्तप्त कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि तीव्र प्रतापी पदार्थोंका मध्यस्थ रहना भी सन्ताप करनेवाला होता है ॥१००॥ जिस प्रकार कमलिनियों ( कमलकी लताएँ ) जलकी बूँदोंसे सुशोभित कमलोंको धारण करती है उसी प्रकार महाराज भरतकी स्त्रियों पसीनेकी बूँदोंसे जिनपर मोतियोंका जाल-सा बन रहा है ऐसे अपने मुख धारण कर रही थी ॥१०१॥ रानियोंके मुख-कमलोपर जो पसीनेकी बूँदे उठी हुई थी वे निकलते हुए सौन्दर्य रूपी रसके प्रवाहके समान शोभाको पुष्ट कर रही थी ॥१०२॥ जिनसे पसीनेकी बूँदे टपक रही है ऐसे रानियोंके मुख ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो ओसकी बूँदोंसे व्याप्त हुए कमल ही हो ॥१०३॥ जिन पसीनेकी बूँदोंसे रानियोंके मुख-कमल सुशोभित हो रहे थे वे ऐसी जान पड़ती थी मानो केशपात्रको अलंकृत करनेवाले मोती ही पिघल-पिघलकर तरल रूप हो गये हो ॥१०४॥ उस समय सूर्य बड़ी तेजीके साथ तप रहा था इसलिए जो थोड़े रथोंको ले जा रहे थे उनके मुख परिश्रमसे खुल गये थे, उनमें फेन निकल आया था और उनके खुर समान जमीनपर भी स्खलित होने लगे थे ॥१०५॥ जिनके खुर छोटे और गोल हैं, जिनपर छोटे और चिकने रोम हैं, जो बहुत ऊँचे हैं, जिनका आसन अर्थात् पीठ बहुत बड़ी है, और जिनका वेग वायुके समान है ऐसे बड़े-बड़े उत्तम घोड़े भी जल्दी-जल्दी दौड़े जा रहे थे ॥१०६॥ जो तीव्र वेगसे सहित हैं, जो अपने आगेके खुरोंको मुखसे उगलते हुएके समान जान पड़ते हैं, जिनका बल स्थूल बढ़ा है और जिनकी नाकके नथने कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसे बड़े-बड़े घोड़े जल्दी-जल्दी जा रहे थे ॥१०७॥ जिनके आगेका भाग बहुत ऊँचा है, जिनके शरीरपर-के भँवर अत्यन्त घुद्ध है, और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़े उस छोटे-से मार्गमें बड़ी गीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१०८॥ जो बुद्धि-बल और वेगसे सहित हैं, विनयवान् हैं तथा सुन्दर गमनके धारक हैं ऐसे घोड़े पृथिवीको ( रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त—पक्षमें रजोधर्मसे युक्त—समझ ) उसके स्पर्श करनेमें घृणा करते हुए ही मानो बड़े वेगसे जा रहे थे ॥१०९॥ पैदल चलनेवाले

१ जालसमूहानि । कोरकाणि वा । २ प्रालेय । 'अवस्थायस्तु नीहारास्तुपास्तुहिम हिमम् । प्रालेय सिद्धिं का च' इत्यभिधानात् । ३ रथाश्वा । ४ उपतन्ता । — रायस्ते इत्यपि पाठ । ५ समानमूतल्लेजपि । ६ पुयुलपूष्पभागा । ७ वायुवेगा । ८ वीगा । ९ देवगणिमूलजुभावर्ता । १० अनमूर्णेषु मत्सु । ११ कुत्समाना । १२ वेगवद् यथा भवति तथा । १३ सारादनाय ।



शाक्तिकाः<sup>१</sup> सह शाहीकैः<sup>२</sup> प्रासिका<sup>३</sup> धन्वभिः समम् । नैखिषिकाश्च<sup>४</sup> तऽन्योन्यं स्पर्धयेव ययुर्दुःतम् ॥१११॥  
 पुरः प्रधावितैः<sup>५</sup> प्रेहृषद्धारणा<sup>६</sup> अपल्लवाः । जातपद्मा इवोद्भाय भटा जग्युरतिद्रुतम् ॥११२॥  
 प्रयात धावतापंत भार्य मा रुधमग्रतः । ह्युच्यैरुचरद्व्यानाः<sup>७</sup> पौरुषानन्त्ययुर्मदाः ॥११३॥  
 इतोऽपसरपताश्वीयादितो धावत हासिकात् । इतो रथादपत्रस्त<sup>८</sup> दूरं नश्यत नश्यत ॥११४॥  
 अमुष्मान्जनसंबट्टादुत्थापयत डित्यकान् । इतो<sup>९</sup> हस्त्युरसादश्वानपसारयत द्रुतम् ॥११५॥  
 इतः<sup>१०</sup> प्रस्थानमास्थ स्थितोऽप<sup>११</sup> वादुकां गजः । सभ्येऽध्व<sup>१२</sup> प्राजितुर्दोपात्<sup>१३</sup> पर्यस्तोऽयमितोरथः ॥११६॥  
<sup>१४</sup> क्रमेणोऽयमुन्नस्तः<sup>१५</sup> प्रतीप<sup>१६</sup> पथि धावति । उत्सृष्टभारो लम्बोद्यो जनानिव विडम्बन् ॥११७॥  
 विन्नस्ताद्वेसरादेनां पतन्तोमचरोधिकां । संवारयन्<sup>१७</sup> दपातऽस्मिन्<sup>१८</sup> सांविदश्च<sup>१९</sup> पतत्ययम् ॥११८॥  
 शवीयानेष<sup>२०</sup> पथ्यस्रीमुखालोकनविस्मितः । पातितोऽप्यश्वसंबट्टैर्नात्मानं वेद<sup>२१</sup> श्रृण्वधी ॥११९॥  
<sup>२२</sup> हरिद्वारम्भितस्मश्रुः<sup>२३</sup> रुज्जलादिकृतलोचनः ।<sup>२४</sup> कुट्टिनीमनुयज्ञेष<sup>२५</sup> प्रथयास्तक्षणायतं ॥१२०॥  
 इति प्रयाणसंजल्यैरज्ञाताध्वपरिश्रमाः । सैनिकाः भिविरं प्रापन् सेनान्याः प्राड्निर्वैशितम् ॥१२१॥

सेनिक जूता पहने हुए पैरोसे डूँठ, कटि तथा पत्यर आदिको लाँघते हुए घोड़े और रथोसे भी जल्दी जा रहे थे ॥११०॥ शक्ति नामके हथियारको धारण करनेवाले लट्ट धारण करनेवालोंके साथ, भाला धारण करनेवाले धनुष धारण करनेवालोंके साथ और तलवार धारण करनेवाले लोग परस्पर एक-दूसरेके साथ स्पर्धा करते हुए ही मानो बड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१११॥ आगे-आगे दौड़नेसे जिनके कवचके अग्रभाग कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसे योद्धा लोग इतनी जल्दी जा रहे थे मानो पक्ष उत्पन्न होनेसे वे उड़े ही जा रहे हों ॥११२॥ चलो, दौड़ो, हटो, आगेका मार्ग मत रोको इस प्रकार जोर-जोरसे बोलनेवाले योद्धा लोग अपने सामनेके लोगोको हटा रहे थे ॥११३॥ अरे, इन घोड़ोके समूहसे एक ओर हटो, इन हाथियोके समूहसे भागो, और बिचले हुए इन रथोसे भी दूर भाग जाओ ॥११४॥ अरे, इन बच्चोंको लोगोकी इस भीड़से उठाओ और इन हाथियोके आगेसे घोड़ोको भी शीघ्र हटाओ ॥११५॥ इधर यह दुष्ट हाथी रास्ता रोककर खड़ा हुआ है और इधर यह रथ सारथिकी गलतीसे मार्गके बीचमे ही उलट गया है ॥११६॥ इधर देखो, जिसने अपना भार पटक दिया है, जिसके लम्बे होठ हैं और जो बहुत घबड़ा गया है ऐसा यह ऊँट मार्गमें इस प्रकार उलटा दौड़ा जा रहा है मानो लोगोकी विडम्बना ही करना चाहता हो ॥११७॥ इधर इस ऊँची जमीनपर घबड़ाये हुए खच्चरपर-से गिरतो हुई अन्त पुरकी स्त्रीको कोई कचुकी बीचमे ही धारण कर रहा है परन्तु ऐसा करता हुआ वह स्वयं गिर रहा है ॥११८॥ यहतरुण पुरुष वेश्याका मुख देखनेसे आश्चर्यचकित होता हुआ घोड़ेके धक्केसे गिर गया है, परन्तु वह मूर्ख 'मैं' गिर गया हूँ इस तरह अब भी अपने-आपको नहीं जान रहा है ॥११९॥ जिसने अपने बाल खिजावसे काले कर लिये हैं, जिसकी आँखोंमें काजल लगा हुआ है और जो किसी कुट्टिनीके पीछे-पीछे जा रहा है ऐसा यह बूढ़ा ठीक तरुण पुरुषके समान आचरण कर रहा है ॥१२०॥ इस प्रकार चलते समयकी बात-

१ शक्ति । प्रहरणं येषां ते शक्तिका । २ यष्टिहेतिका । ३ कौन्तिका । ४ अमिहेतिका । ५ प्रधावितैः । ६ चलरुक्मचुका । ७ पुरोगामिनः । ८ भो विगतभयाः । ९ बालकान् । डिम्भकान् लं, दं, इ०, अ०, प०, सं० । १० हस्तिमुह्यात् । ११ गमनम् । पन्थान-ल० । १२ मार्गमध्ये । १३ सारथे । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूत क्षता च सारथि' इत्यभिधानात् । १४ उत्तानित । १५ उच्छ्र । १६ भीत गत । १७ प्रतिकूलम् । अभिमुखमित्यर्थः । १८ प्रयातस्तु तटोभूय । १९ कञ्चुकी । २० युवा । २१ जानाति । २२ पलितप्रतीकाराद्यं प्रयुक्तौपविक्षेपेरञ्जित । २३ शफरोम् । 'कुट्टिनी शफरी समे' इत्यभिधानात् । २४ अनुपचञ्च । २५ वृद्धा । 'प्रवया स्वविरो वृद्धो जोनो जोर्णां जरत्तपि' इत्यभिधानात् ।

ततोऽबरोधनवद्भुजच्छायाचिरुदधिनि । मध्यन्दिनातपे<sup>१</sup>सम्राट् संप्राप शिबिरान्तकम् ॥१२२॥  
छत्रलङ्घतच्छायो दिव्यं रथमधिष्ठितः । न तदातपसंवाधां विदामास<sup>२</sup> विशपतिः ॥१२३॥  
वर्षोमिरयासतै<sup>३</sup>रारुचस्रु<sup>४</sup>खसक्रयः । प्रयातमपि<sup>५</sup> नाध्वानं विवेद भरताधिपः ॥१२४॥  
नोदधात<sup>६</sup> कोऽप्यभूदद्गो रथाङ्गपरिवर्तनः<sup>७</sup> । रथवेगेऽपि नास्याभूत क्लेशो<sup>८</sup> दिव्यानुभावतः ॥१२५॥  
रथवेगानिलोदस्ते<sup>९</sup> ध्यायत तदध्वजंशुक्रम् । पश्चादागामिसैन्यानामिव मार्गमसूत्रयत्<sup>१०</sup> ॥१२६॥  
रथोद्धतगतिश्रोभादुद्भूताङ्गपरिभ्रमाः । कथं कथमपि प्रापन् रथिनोऽन्ये रथं प्रभोः ॥१२७॥  
तमवशेषमध्वन्यैस्तुहैरत्यवाहयन्<sup>११</sup> । सादिनः प्रमुखा सार्धं गिरिं प्रविशिक्षव<sup>१२</sup> ॥१२८॥  
दूराद्दृप्यकुटीभेदानुत्थितात् प्रशुश्रुत । सेनानिवेशममितः<sup>१३</sup> सौवशोभापहासिनः ॥१२९॥  
सौम्यदण्डेषु विन्यस्तान् विस्तृतान् पटमण्डपान् । सोऽपश्यज्जनतातापहारिणः सुजनानिव ॥१३०॥  
किमेतानि स्थलाब्जानि हंसयूथान्यमूनि वा । इत्यानाङ्क्य स्थूलाग्राणि<sup>१४</sup> दूराददशिरैः जमैः ॥१३१॥  
सामन्तानां निवेशेषु कायसानानि<sup>१५</sup> नैकधा<sup>१६</sup> । निवेशिषानि सिन्यार्सनिदध्या<sup>१७</sup> प्रभुरग्रतः ॥१३२॥  
परितः कायसानानि वीक्ष्य कण्टकिनीभृतीः । निष्कण्टके निजे राज्ये मेने सानेव कण्टकान् ॥१३३॥

चीतसे जिन्हें मार्गका परिश्रम भी मालूम नहीं हुआ है ऐसे सैनिक लोग सेनापतिके द्वारा पहले-  
से ही तैयार किये हुए शिबिर अर्थात् ठहरनेके स्थानपर जा पहुँचे ॥ १२१ ॥ तदनन्तर जब  
मध्याह्नका सूर्य अन्तःपुरकी स्थियोंके मुखकी कान्तिको मलिन कर रहा था तब सम्राट् भरत  
शिबिरके समीप पहुँचे ॥ १२२ ॥ जिनपर छत्ररत्नके द्वारा छाया की जा रही है और जो  
देवनिमित्त सुन्दर रथपर बैठे हुए हैं ऐसे महाराज भरतको उस दोपहरके समय भी गरमीका  
कुछ भी दुःख मालूम नहीं हुआ था ॥ १२३ ॥ जिन्होंने समीपमें चलनेवाले वृद्ध जनोके साथ-साथ  
अनेक प्रकारकी कथाएँ प्रारम्भ की हैं ऐसे भरतेश्वरको वीते हुए मार्गका भी पता नहीं चला  
था ॥ १२४ ॥ दिव्य सामर्थ्य होनेके कारण रथके पहियोंकी चालसे उनके शरीरमें कुछ भी  
उदधात ( दचका ) नहीं लगा था और न रथका तीव्र वेग होनेपर भी उनके शरीरमें कुछ क्लेश  
हुआ था ॥ १२५ ॥ रथके वेगसे उत्पन्न हुए वायुसे ऊपरकी ओर फहराता हुआ उनकी ध्वजा-  
का लम्बा वस्त्र ऐसा जान पड़ता था मानो पीछे आनेवाली सेनाके लिए मार्ग ही सूचित कर  
रहा हो ॥ १२६ ॥ रथकी उद्धत गतिके क्षोभसे जिनके अंग-अंगमें पीड़ा उत्पन्न हो रही है ऐसे रथ-  
पर सवार हुए अन्य राजा लोग बड़ी कठिनाईमें महाराज भरतके रथके समीप पहुँच सके थे  
॥ १२७ ॥ जो घुड़सवार लोग महाराज भरतके साथ ही शिबिरमें प्रवेश करना चाहते थे उन्होंने  
बचे हुए मार्गको अपने उन्हीं चलते हुए श्रेष्ठ घोड़ोसे बड़ी शीघ्रताके साथ तय किया था  
॥ १२८ ॥ जो राजमवनोकी शोभाकी ओर भी हँस रहे हैं ऐसे शिबिरके चारों ओर खड़े किये  
हुए रावटी तम्बू आवि डेराओंको महाराज भरतने दूरसे ही देखा ॥ १२९ ॥ उन्होंने चाँदीके  
खम्भोपर खड़े किये हुए बहुत बड़े-बड़े कपड़ेके उन मण्डपोंको भी देखा था जो कि सज्जन पुरुषोंके  
समान लोगोका सन्ताप दूर कर रहे थे ॥ १३० ॥ क्या ये स्थलकमल हैं अथवा हंसोंके समूह  
हैं इस प्रकार आशंका कर लोग दूरसे ही उन तम्बूओंके अग्रभागोंको देख रहे थे ॥ १३१ ॥  
सामन्त लोगोकी ठहरनेकी जगहपर अनेक प्रकारकी रचना कर जो तम्बू बगैरह बनाये गये  
थे उन्हें भी महाराज भरतने सामनेसे देखा था ॥ १३२ ॥ तम्बूओंके चारों ओर जो कटीली

१ दिनाधिपे ट० । मध्याह्नसूर्ये । २ विविदे । ३ कुलवृद्धादिभि । ४ मुख ल० । ५ अतिदूर गतम् ।  
६ पीडा । ७ रथचक्रप्रपणं । ८ कलम ट० । ९ अम । १० उद्धतम् । ११ अवसंयत् । १२ अप्वनि साधुभि ।  
१३ अतिक्रम्य प्रापत् । १४ प्रवेष्टुमिच्छव । १५ सेनारचनाया समन्तात् । १६ पटकुट्याग्राणि । १७ ह्वयं स्थूलं  
पटकुटीगुणलयनिर्भेयिका तुल्या इति वैजयन्ती । १८ कुटीभेदा । १९ नानाप्रकारा । २० दवर्ष ।

तरुणास्त्राप्रसंयक्तपर्याणादि परिच्छदान् । स्कन्वावागद् वहिः काञ्चिदावायान् प्रभुरक्षत ॥१३४॥  
 वहिर्निवेशसित्यादान् विशेषान् स विलोकयन् । प्रवेगे गिविरस्यान्व महाद्वारमयासदन् ॥१३५॥  
 तदतीत्य समं सैन्यैः संगच्छन् किञ्चिदन्तरम् । महाविधिसमनिर्वापमाम्यद् वणिक्पथम् ॥१३६॥  
 कृतोपशोभमावद्धतोरणं चित्रकेतनम् । वणिगिमरुदरन्तार्थं स जगहि वणिक्पथम् ॥१३७॥  
 प्रत्यापणमसौ तत्र स्तरागोन्निधीनिव । पश्यन् मेने निर्धायत्तां प्रसिद्धैव तदास्थिताम् ॥१३८॥  
 समौक्तिकं स्फुरद्गलं जनतोत्कलिकाकुलम् । रथा वणिक्पथान्मार्गं पोता हव ललङ्घिरे ॥१३९॥  
 चलदञ्च्रीयक्ललैः स्फुरन्निम्निगरोहितैः । राजभागोऽभ्युधेलाला महम्मकरैरधान् ॥१४०॥  
 राजन्यकेन संरुद्धः समन्तादानुपालयम् । तदासौ विपणीमार्गः सन्त्य राजपथोऽभवत् ॥१४१॥  
 ततः पर्यन्तविन्यस्तरत्नभामुरतोरणम् । रथकट्यां परिक्षिपकृतवाद्यपरिच्छदम् ॥१४२॥  
 आरुध्यमानमञ्चरीयहस्तिवैनातिदुर्गमम् । बहुनागव्रतं लुष्टं कलमञ्च कण्ठुभिः ॥१४३॥  
 छत्रपण्डकृतच्छायां महोद्यानमिव ववचिन् । ववचिन्मामन्तमण्डल्या रचिनास्थानमण्डलम् ॥१४४॥

वाङ्गियाँ बनायी गयी थी उन्हें देखकर महाराज भरतने अपने निष्कण्टक राज्यमें ये ही कटि हं  
 ऐसा माना था । भावार्थ — भरतके राज्यमें वाङ्गिके कटि छोड़कर और कोई कटि अर्थात्  
 शत्रु नहीं थे ॥ १३३ ॥ जहाँपर वृद्धोकी डालियोके अग्र भागपर घोड़ोंके पलान आदि अनेक  
 वस्तुएँ टँगी हुई हैं और जो गिविरके बाहर बने हुए हैं ऐसे कितने ही डेरे महाराज भरतने  
 देखे ॥ १३४ ॥ इस प्रकार गिविरके बाहर बनी हुई अनेक प्रकारकी विशेष वस्तुओंको देखते  
 हुए महाराज गिविरमें प्रवेश करनेके लिए उसके बड़े दरवाजेपर जा पहुँचे ॥ १३५ ॥ बड़े  
 दरवाजेको उल्लघन कर सैनिकोंके साथ कुछ दूर और गये तथा जिसमें समुद्रके समान गम्भीर  
 गव्व हो रहे हैं ऐसे बाजारमें वे जा पहुँचे ॥ १३६ ॥ जिसकी बहुत अच्छी सजावट की गयी है  
 जिसमें तोरण वैसे हुए हैं, अनेक प्रकारकी ध्वजाएँ फहरा रही हैं और व्यापारी लोग जिसमें रत्नों-  
 का अर्थ लेकर खड़े हैं ऐसे उस बाजारमें महाराजने प्रवेश किया ॥ १३७ ॥ वहाँपर प्रत्येक  
 दूकानपर निविधियोंके समान रत्नोंकी राशि देखते हुए महाराज भरतने माना था कि निविधियों-  
 की सख्या प्रसिद्धि मात्रसे ही निश्चित की गयी है । भावार्थ — प्रत्येक दूकानपर रत्नोंकी राशियाँ  
 देखकर उन्होंने इस बातका निष्पन्न किया था कि निविधियोंकी सख्या नही है यह प्रसिद्धि मात्र  
 है, वास्तवमें वे असंख्यात हैं ॥ १३८ ॥ जो मोतियोंसे सहित हैं, जिसमें अनेक रत्न वेदीप्यमान  
 हो रहे हैं और जो मनुष्योंके समूहस्वपी लहरोसे व्याप्त हो रहा है ऐसे उस बाजारस्वपी समुद्र-  
 को रथोंने जहाजके समान पार किया था ॥ १३९ ॥ उस समय वह राजमार्ग चलते हुए घोड़ों-  
 के समुदायस्वपी लहरोसे, चमकती हुई तलवारस्वपी मछलियोंसे और बड़े-बड़े हाथीस्वपी मगरों-  
 से ठीक समुद्रकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १४० ॥ उस समय वह बाजारका रास्ता महाराज-  
 के तम्बू तक चारों ओरसे अनेक राजकुमारोंसे भरा हुआ था इसलिए वास्तवमें राजमार्ग हो  
 रहा था ॥ १४१ ॥ तदनन्तर जिसके समीप ही रत्नोंके वेदीप्यमान तोरण लग रहे हैं, धेरकर  
 रखे हुए रथोंके समूहसे जिसकी बाहरकी गोमा बड़ रही है — जो घोड़ोंके समूहसे भरा हुआ है,  
 हाथियोंके समूहसे जिसके भीतर जाना कठिन है, जो हाथियोंकी बड़ी भारी सेनाने नुगोभित  
 है, हाथियोंके वच्चे और हथिनियोंसे भी भरा हुआ है । अनेक छत्रोंके समूहकी छाया होनेसे

१ पश्यनादिपरिकरान् । २ शिखरात् । ३ कटकाद् वहिः । ४ घृतरत्नार्थम् । ५ प्रमाणम् ।  
 ६ नवनिष्करणेन स्थिताम् । तथस्थितान् न० । ७ तरङ्गाकुलम् । ८ मत्स्यविशेषः । ९ रथमूहपरिवेष्टेन  
 कृतवाद्यपरिकरम् । १० ईपदस्मात्तनागवनम् । नागवनसङ्गमिति यावत् । ११ सेवितम् ।

प्रत्रिगृभिश्च निर्यदभिरपयन्तेर्निर्योगिभिः । महाब्धेरिव कच्छोलैस्तत्राविर्भवद्भवनि ॥१४५॥  
जनतोत्सारणव्यग्रमहादीवारपालकम् । कृतमङ्गलनिर्घोषं वाग्देव्येवं कृतास्पदम् ॥१४६॥  
चिरानुभूतमप्येवमपूर्वमिव ओमया । नृपो नृपाङ्गणं पश्यन् किमप्यासीत् सविस्मयः ॥१४७॥  
निघयो यस्य पर्यन्ते सप्ये रत्नान्यनन्तशः । महतः मित्रिरस्यास्थ विशेपं कोऽनुवर्णयेत् ॥१४८॥

### शार्दूलविक्रीडितम्

स श्रीमानिति विश्वत् स्वशिविरं लक्ष्म्या निवासायितं  
पश्यन्नात्तृतिर्विलङ्घ्य विगिताः<sup>१</sup> स्वर्गापहासिभ्रियः ।  
संभ्राम्यप्यतिहाररुद्धजनतासंवाधमुत्केतनं  
प्राविशन् कृतसन्निवेशमचिरादात्मालयं श्रीपतिः<sup>२</sup> ॥१४९॥  
तत्राविकृतमङ्गले सुरसरिद्वीचीमुखा वायुना  
संसृष्टाङ्गणवेदिके विकिरता तापच्छिदः शीकरात् ।  
गस्ते वस्तुनि<sup>३</sup> विस्तृते स्थपतिना सयः समुत्थापिते  
लक्ष्मीमान् सुखभावसन्नधिपतिः प्राचीं<sup>४</sup> दिगं निर्जयन् ॥१५०॥

जो कहीपर किसी बड़े भारी बगीचाके समान जान पड़ता है और कहीं अनेक राजाओंकी मण्डलीसे युक्त होनेके कारण सभामण्डपके समान मालूम होता है, जो प्रवेश करते हुए और बाहर निकलते हुए अनेक कर्मचारियोंसे लहरोसे शब्द करते हुए किसी महासागरके किनारेके समान जान पड़ता है । जहाँपर बड़े-बड़े द्वारपाल लोग मनुष्योंकी भीड़को दूर हटानेमें लगे हुए हैं, जहाँ अनेक प्रकारके मंगलमय गन्ध हो रहे हैं और इसीलिए जो ऐसा जान पड़ता है मानो सरस्वती देवीने ही उसमें अपना निवास कर रखा हो तथा जो चिरकालसे अनुभूत होनेपर भी अपनी अनोखी गोभासे अपूर्वके समान मालूम हो रहा है ऐसे राजभवनके आँगनको देखते हुए महाराज भरत भी कुछ-कुछ आश्चर्यचकित हो गये थे ॥१४२-१४७॥ जिसके चारों ओर निधियाँ रखी हुई हैं और बीचमें अनेक प्रकारके रत्न रखे हुए हैं ऐसे उस बड़े भारी गिबिर-की विशेषताका कौन वर्णन कर सकता है ॥ १४८ ॥ इस प्रकार लक्ष्मीके निवासस्थानके समान सुशोभित अपने शिविरको चारों ओरसे देखते हुए जो अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहे हैं ऐसे लक्ष्मीपति श्रीमान् भरतने, चारों ओर दौड़ते हुए द्वारपालोंके द्वारा जिसमें मनुष्योंकी भीड़का उपद्रव दूर किया जा रहा है, जिसपर अनेक पताकाएँ फहरा रही हैं, और जिसमें अनेक प्रकारकी रचना की गयी है ऐसे अपने तम्बूमें शीघ्र ही प्रवेश किया ॥१४९॥ जिसमें मंगल-द्रव्य रखे हुए हैं, गंगा नदीकी लहरोंसे उत्पन्न हुए तथा सन्तापको दूर करनेवाली जलकी बूँदोंको बरसाते हुए वायुसे जिसके आँगनकी वेदी साफ की गयी है, जो प्रगल्भीय है, विस्तृत है तथा स्थपति ( गिलावट ) रत्नके द्वारा बहुत शीघ्र खड़ा किया गया है, बनाया गया है ऐसे तम्बूमें पूर्व दिशाको जीतनेवाले, निधियोंके स्वामी श्रीमान् भरतने सुखपूर्वक निवास किया

१ रथ्या । 'रथ्या प्रतोलो विगिता' इत्यमरः । २ विहितसम्पन्नरचनम् । ३ भरतेवम् । ४ सम्मानितम् ।

५ गृहे । ६ पूर्वाम् ।

राज्ञामावसथेषु शान्तजनताक्षोमेषु पीताम्भसा-  
 मञ्चानां पटमण्डपेषु निबहे स्वैरं तृणप्रासिनि ।  
 गङ्गातीरसरोवगाहिनि वनेष्वालानिते हास्तिके  
 जिष्णोस्नलकटकं विरादिव कृत्तावासं तदा लक्ष्यते ॥१५१॥  
 तत्रासीनमुपायनैः कुलधनैः कन्याप्रदानादिभिः  
 प्राच्या मण्डलभूसुजः समुचितैराराधयन् साधनैः ।  
 संरुद्धाः प्रविहाय भानमपरे प्राणशिपुश्चक्रिणं  
 दूरादानतमौलयो जिनमिव प्राज्योदयं नाकिनः ॥१५२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजविजय-  
 प्रयाणवर्णनं नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥२७॥

॥१५०॥ जिस समय राजाओके तन्त्रुओमें मनुष्योंकी भीड़का क्षोभ शान्त हो गया था, घोड़ों-  
 के समूह जल पीकर कपड़ेके वने हुए मण्डपोमें अपने इच्छानुसार घास खाने लगे थे, और हाथियों-  
 के समूह गंगा नदीके किनारेके सरोवरोमें अवगाहन कराकर-स्नान कराकर-वनोमें बाँध  
 दिये गये थे उस समय विजयी महाराज भरतकी वह सेना ऐसी जान पड़ती थी मानो चिरकालसे  
 ही वहाँ रह रही हो ॥१५१॥ जिस प्रकार श्रेष्ठ महिमाको धारण करनेवाले तथा समवसरण  
 सभामें विराजमान जिनेन्द्रदेवकी देव लोग आराधना करते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ वैभवको  
 धारण करनेवाले तथा उस मण्डपमें बैठे हुए महाराज भरतकी पूर्वदिशाके राजाओने अपनी  
 कुल-परम्परासे आया हुआ धन भेटमें देकर, कन्याएँ प्रदान कर तथा और भी अनेक योग्य  
 वस्तुएँ देकर उनकी आराधना-सेवा की थी । इसी प्रकार उनकी सेनाके द्वारा रोके हुए अन्य  
 कितने ही राजाओने अहंकार छोड़कर दूरसे ही मस्तक झुकाकर चक्रवर्तीके लिए प्रणाम किया  
 था ॥१५२॥

इस प्रकार आर्प नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराणसंग्रहके  
 भाषानुवादमें भरतराजका राजाओकी विजयके लिए प्रयाण करना  
 इस बातका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

## अष्टाविंशतितमं पर्व

अथान्येषु दिनां रम्भे कृतप्राभातिकक्रियः । प्रयागमकरोचक्रो चक्ररवानुसार्गतः ॥१॥  
 अलङ्घ्यं चक्रमाक्रान्तपरचक्रपराक्रमम् । दण्डिद्वयं दण्डितारातिद्वयमस्य पुरोऽभवत् ॥२॥  
 रश्मिं देवसहस्रेण चक्रं दण्डिद्वयं तारणः । जयलक्ष्मिदमेवास्य द्वयं नेपः परिच्छिद्यः ॥३॥  
 विजया वं प्रतिस्पर्धिवर्माणं यागहस्तिनम् । प्रत्येकं प्रभुरारुह्य नाम्ना विजयपर्वतम् ॥४॥  
 प्राचीं दिशमथो जेतुमापयोधेस्तमुद्यतम् । वृत्तं स्तम्भैरमथ्याजान्दृष्ट्वा विजयपर्वतः ॥५॥  
 सुरैः<sup>१</sup> शरद्भ्रातृमारुहो जयकुञ्जरम् । न रेजे दीप्तमुकुटः सुरैः<sup>२</sup> सुरराट्वि ॥६॥  
 सितातपत्रमस्योच्चैर्दिशतं क्षियमादधे । दक्षिणां प्रसवागारमिव तद्दृष्ट्वा तज्जृम्भितम् ॥७॥  
 लक्ष्मीप्रहासविशदा चामराली समन्ततः । व्यधूयतास्य विध्वंसनतापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥८॥  
 जयविरजमारुहो जयलक्ष्मीयास्त्रमासुरः । जयलक्ष्मीकटाक्षगणमगमत् न शरव्यताम्<sup>३</sup> ॥९॥  
 महासुकुटवद्वानां सहस्राणि<sup>४</sup> समन्ततः । तमनुप्रचलन्ति स्म सुराधिपमिवामराः ॥१०॥

अथानन्तर-दूसरे दिन सबरा होते ही जो प्रातःकालके समय करने योग्य समस्त क्रियाएँ कर चुके हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे प्रस्थान किया ॥१॥ शत्रु-समूहके पराक्रमको नष्ट करनेवाला तथा म्वयं दूसरेके द्वारा उल्लघन न करने योग्य चक्ररत्न और शत्रुओंको दण्डित करनेवाला दण्डरत्न, ये दोनों ही रत्न चक्रवर्तीकी सेनाके आगे-आगे रहते थे ॥२॥ चक्ररत्न एक हजार देवोंके द्वारा रक्षित था और दण्डरत्न भी इतने ही देवोंके द्वारा रक्षित था । वास्तवमें चक्रवर्तीकी विजयके कारण ये दो ही थे, नेप सामग्री तो केवल शोभाके लिए थी ॥३॥ अथकी बार चक्रवर्तीने, जिसका शरीर विजयावर्ष पर्वतके साथ स्पर्श कर रहा है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया था ॥४॥ उस समय ऐसा मालूम होता था मानो समुद्र पर्यन्त पूर्व दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए महाराज भरतको उस हाथीके छलसे विजयावर्ष पर्वत ही धारण कर रहा हो ॥५॥ जिस प्रकार देवीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार देवीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला भरत शरद्वृक्षके बादलोंके समान सफेद और देवोंके द्वारा दिये हुए उस विजयपर्वत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित हो रहा था ॥६॥ भरतेस्वरके ऊपर लगा हुआ सफेद छत्र ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो छत्रके बहानेसे यशकी उत्पत्तिका स्थान ही हो ॥७॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और शरद्वृक्षके चाँदनीके समान सन्तापको नष्ट करनेवाली चमरोकी पवित्र महाराज भरतके चारों ओर ढोली जा रही थी ॥८॥ विजय नामके हाथीपर आरुह्य हुए और विजय प्राप्त करानेवाले प्रकाशमान अस्त्रोंसे देदीप्यमान होनेवाले भरतेस्वर जयलक्ष्मीके कटाक्षोंके लक्ष्य बन रहे थे । भावार्थ — उनकी ओर विजयलक्ष्मी देख रही थी ॥९॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रके पीछे-पीछे चलते हैं उसी प्रकार हजारों मुकुटवद्ध वडे-वडे राजा लोग चारों ओर भरत महाराजके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥१०॥ 'आज १ अनुगमनात् । २ अरिनिर्कर । पराष्ट्र वा । ३ चक्रिण । ४ परिकर । ५ विजयावर्षगिरिणा स्पर्धमान-पेदम् । ६ पुरोपेतगजम् । ७ ननु लं । ८-वरति स्म । ९ विजयावर्षगिरिः । १० सुशब्दम् । ११ ऐरावतम् । १२ क्षयगयाज । १३ लक्ष्यताम् । 'लक्ष लक्ष्य शरव्यं च' इत्यभिधानात् । १४ अपरिमिता इत्यर्थः ।

दूरमद्य प्रयातव्यं निवेष्टव्यमुपाणवम् । त्वरध्वमिति सेनान्यः सैनिकानुदतिष्ठयन् ॥११॥  
 त्वर्यतां प्रस्थितो देवो दवीयश्च<sup>१</sup> प्रयाणकम् । बलाधिकारिणामित्थं वचो बलमनुश्रुमत् ॥१२॥  
 अथासिन्धुं प्रयातव्यं गङ्गाद्वारे निवेशनम् । संघ्राप्त्यो मागधोऽद्यैव विलङ्घ्य पयसां निधिम् ॥१३॥  
 समुद्रमद्य पय्यामः समुद्रञ्चरञ्जकम्<sup>२</sup> । समुद्रं लङ्घतेऽद्यैव समुद्रं<sup>३</sup> आसनं विभोः ॥१४॥  
 अन्योन्यस्येति संजल्पैः संप्रास्थित<sup>४</sup> सैनिकाः । प्रयाणमैरीप्रध्वानस्तदोद्यन्<sup>५</sup> 'शामदिध्वनत्' ॥१५॥  
 ततः प्रचलिता सेना सागुगङ्गं पृतायति । मिमानेव तदायामं पप्रथे प्रथितध्वनिः ॥१६॥  
 सचामरा चलद्दंसां सचलाकां<sup>६</sup> पताकिन्ती<sup>७</sup> । अन्विषाय चमूर्गद्गा सतुरङ्गा तरङ्गिणीम्<sup>८</sup> ॥१७॥  
 राजहंसः कृताध्यासा कचिदध्यस्वलङ्गतिः । चमूर्द्विं प्रति प्रायात्<sup>९</sup> सा द्वितीयेव जाह्नवी ॥१८॥  
 विपरीतामतद्वृत्तिं<sup>१०</sup> निम्नगां<sup>११</sup> सुन्नतस्थितिः । त्रिमार्गां व्यजेतसौ पृतना बहुमार्गां ॥१९॥

बहुत दूर जाना है और समुद्रके समीप ही ठहरना है इसलिए जल्दी करो' इस प्रकार सेनापति लोग सैनिकोंको जल्दी-जल्दी उठा रहे थे ॥११॥ 'अरे जल्दी करो, महाराज प्रस्थान कर गये, और आजका पडाव बहुत दूर है' इस प्रकार सेनापतियोंके वचन सेनाको क्षोभित कर रहे थे ॥१२॥ 'आज समुद्र तक चलना है, गंगाके द्वारपर ठहरना है और आज ही समुद्रको उल्लंघन कर मागधदेवको वश करना है ॥१३॥ आज हम लोग, जिसमें ऊँची-ऊँची लहरे उठ रही हैं ऐसे समुद्रको देखेंगे और आज ही समुद्रको उल्लंघन करनेके लिए महाराजकी मुहर सहित आजा है' ॥१४॥ इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए सैनिकोंने प्रस्थान किया, उस समय प्रयाण-कालमें बजनेवाले नगाड़ोंके उठे हुए शब्दने आकाशको शब्दायमान कर दिया था ॥१५॥ तदनन्तर, जिसका शब्द सब ओर फैल रहा है ऐसी वह सेना गंगा नदीके किनारे-किनारे लम्बी होकर इस प्रकार चलने लगी मानो उसकी लम्बाईका नाप करती हुई ही चल रही हो ॥१६॥ उस समय वह सेना ठीक गंगा नदीका अनुकरण कर रही थी क्योंकि जिस प्रकार गंगा नदीमें हंस चलते हैं उसी प्रकार उस सेनामें चमर हुलाये जा रहे थे, जिस प्रकार गंगा नदीमें बगुला उड़ा करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें ध्वजाएँ फहरायी जा रही थी और जिस प्रकार गंगा नदीमें अनेक तरंग उठा करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें अनेक छोड़े उछल रहे थे ॥१७॥ वह सेना समुद्रकी ओर इस प्रकार जा रही थी मानो दूसरी गंगा नदी ही जा रही हो क्योंकि जिस प्रकार गंगा नदीमें राजहंस निवास करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें भी राजहंस अर्थात् श्रेष्ठ राजा लोग निवास कर रहे थे और जिस प्रकार गंगा नदीकी गति कही भी स्थलित नहीं होती उसी प्रकार उस सेनाकी गति भी कही स्थलित नहीं हो रही थी ॥१८॥ अथवा उस सेनाने गंगा नदीको जीत लिया था क्योंकि गंगा नदी विपरीत अर्थात् उलटी प्रवृत्ति करनेवाली थी ( पक्षमें वि-परीत - पक्षियोंसे व्याप्त थी ) परन्तु सेना विपरीत नहीं थी अर्थात् सदा चक्रवर्तीके आज्ञानुसार ही काम करती थी, गंगा नदी निम्नगा अर्थात् नीच पुरुषको प्राप्त होनेवाली थी ( पक्षमें ढालू स्थानकी ओर बहनेवाली थी ) परन्तु सेना उसके विरुद्ध उन्नतगा अर्थात् उन्नत पुरुष-चक्रवर्तीको प्राप्त होनेवाली थी और इसी प्रकार गंगा त्रिमार्गा अर्थात् तीन मार्गोंसे गमन करनेवाली थी ( पक्षमें त्रिमार्गा, यह गंगाका एक नाम है ) परन्तु

१ अर्णवसमीपे । २ वेग कुक्ष्वम् । ३ दूरतरम् । ४ आ समुद्रम् । ५ सावनीय । संसाध्यो इ०, अ०, द०, ल० । ६ उच्चञ्चलद्वीपिकम् । ७ समुद्रलङ्घनेऽद्यैव ल०, द०, इ० । ८ मुद्रया सहितम् । ९ गन्तुमुपक्रान्त-वन्त । १० वम् । ११ ध्वनिप्रकारयत् । १२ विसकण्ठिकासहितम् । १३ सपताकावती । १४ तरङ्गवतीम् । १५ अगच्छत् । १६ पक्षिणि परिवृताम् । प्रतिकूलामिति ध्वनि । १७ विपरीत-वृत्तिरहितेत्यर्थ । १८ नीच-पथगामिति ध्वनि ।

अनुगङ्गातटं यान्ती ध्वजिनां सा ध्वजांशुकैः । वररंणुमिराकीर्णं समसाल्लेखं खाद्वराणम् ॥२०॥  
 दुर्विगाहा महाप्राहाः<sup>१</sup> सेन्यान्त्युत्तरन्तरे । गङ्गानुगा<sup>२</sup> धुनीर्वह्नीवद्भुजकुलस्थिताः<sup>३</sup> ॥२१॥  
 मार्गं<sup>४</sup> बहुविधां देवांश्च सतितः पर्वतानपि । वनधीन् वनदुर्गाणि खनीरप्यत्यगात् प्रभुः ॥२२॥  
 अगोप्यदेव्वरण्येषु<sup>५</sup> दृग् व्यापारयन् विभुः । भूमिच्छिद्रपिधानाय<sup>६</sup> क्षणं यत्नमिवातनोत् ॥२३॥  
 पथि प्रणुसुरागत्य संभ्रान्ता मण्डलाधिपाः । दण्डोपनतवृत्तस्य<sup>७</sup> विषयोऽयमिति प्रभुम् ॥२४॥  
 स<sup>८</sup> चक्रं धेहि<sup>९</sup> राजेन्द्र सधुरं<sup>१०</sup> प्राज्ञं<sup>११</sup> सारथे । संजल्प इति नास्थालीदयत्नावनतद्विपः ॥२५॥  
 प्रतिबोद्धुमशक्तास्तं<sup>१२</sup> प्रधनेषु जिगीषवः । तत्पदं प्रणतिव्याजात् समालिभिरताडयन् ॥२६॥  
 विभुस्त्वमदिचक्रेषु भूपरागादुरञ्जनम्<sup>१३</sup> । स्वचक्र इव भोऽधत्त महतां चित्रमीहितम् ॥२७॥

सेना अनेक मार्गोंसे गमन करनेवाली थी ॥१९॥ गगानदीके किनारे-किनारे जाती हुई वह सेना अपनी फहराती हुई ध्वजाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो वनकी धूलिसे भरे हुए आकाशरूपी आंगनको ध्वजाओंके वस्त्रोंसे साफ ही कर रही हो ॥२०॥ महाराज भरतकी सेनाओंमें गंगाकी ओर आनेवाली उन अनेक नदियोंको पार किया था जो राजकुलकी स्थितिके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार राजकुलकी स्थिति दुर्विगाह अर्थात् दु.खसे जाननेके योग्य होती है उसी प्रकार वे नदियाँ भी दुर्विगाह अर्थात् दु.खसे प्रवेग करने योग्य थी और राजकुलकी स्थिति जिस प्रकार महाप्राह अर्थात् महास्वीकृतिके सहित होती है उसी प्रकार वे नदियाँ भी महाप्राह अर्थात् बड़े-बड़े मगर-मच्छोंसे सहित थी ॥२१॥ धनवान् महाराज भरत मार्गमें पड़ते हुए अनेक देश, नदियाँ, पर्वत, वन, किले और खान आदि सबको उल्लंघन करते हुए आगे चले जा रहे थे ॥२२॥ गार्ग्य आदि जानवरोंके संचारसे रहित अर्थात् अगम्य वने में दृष्टि डालते हुए भरतेश्वर ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथिवीके छिद्रोंको टाँकनेके लिए क्षण-भरके लिए न यत्न ही कर रहे हो ॥२३॥ मार्गमें धबकाये हुए अनेक मण्डलेश्वर राजा भरतको यह सोचकर प्रणाम कर रहे थे कि यह देश दण्डरत्नके धारकका है ॥२४॥ मार्गमें महाराज भरतेश्वरके समस्त शत्रु विना प्रयत्नके ही नष्टीभूत होते जाते थे इसलिए उन्हें कभी यह शब्द नहीं कहने पड़ते थे कि हे राजेन्द्र, आप चक्ररत्न धारण कीजिए और हे सारथे, तुम रथ चलाओ ॥२५॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य कितने ही राजा लोग युद्धमें भरतेश्वरसे लड़नेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे इसलिए नमस्कारके वहाने अपने मुकुटोंसे ही उनके पैरोंकी ताड़ना कर रहे थे ॥२६॥ महाराज भरत जिस प्रकार अपने राज्यमें विभुत्व अर्थात् ऐश्वर्य धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओंके राज्यो में भी विभुत्व अर्थात् पृथिवीका अभाव-धारण करते थे-उनकी भूमि छीन लेते थे, (विगत भूयंपा तेषां भाव विभुत्वम्) और जिस प्रकार अपने राज्यमें भूप-रागादुरञ्जन अर्थात्

१ महानक्रा, २ पक्षे महास्वीकारा. ३ नदी । ४ राजकुलस्थिते समा [ प्रकारार्थे बहुच ] । ५ बहुसंख्यान् । बहुस्थितान् ल०, द० । बहुतिथान् ट० । ६ सरोवरान् । धनवान् ल०, प०, इ० । वलवान् अ०, स० । ७ अगम्येषु । ८ भूगतीच्छादनाय । ९ दण्डेन प्राप्त वृत्त यस्य स तस्य । १० प्रणाम । ११ प्रसिद्धस्त्वम् । १२ वारय । १३ यानमुखम् । 'धू' स्वी क्लीबे यानमुखम् इत्यभिधानात् । १४ प्रेरय, 'अज प्रेरणे च' । १५ युद्धेषु । प्रधनेषु ल०, द०, इ०, प०, स०, अ० । १६ प्रभुत्वम्, व्यापित्व च । १७ स्वराष्ट्रपक्षे भूपाना-भनुरागरञ्जनम् । अरिराष्ट्रपक्षे भुव परागरञ्जनम् ।



संध्यादिदिष्ये<sup>१</sup> नास्य समकक्षो<sup>२</sup> हि पार्थिवः । षाड्गुण्यमत एवास्मिन् चरिता<sup>३</sup>मभूत् प्रमो<sup>४</sup> ॥२८॥  
 प्रतिराष्ट्रपानीतप्राभृतान् विषयाधिपान् । संभावयन् प्रसादेन सोऽत्यगाद् विषयान् वहन् ॥२९॥  
 नास्त्रे<sup>५</sup> व्यापारितो हर्तो मौर्वी धनुषि नार्पिता । केवलं प्रशुशक्त्यैव प्राची दिग्विजिताऽमुना ॥३०॥  
 गोकुलानुपाप्तेषु सोऽपश्यद् युवचछवान्<sup>६</sup> । वनचह्रीमिरावदजृटका<sup>७</sup> गोऽभिरक्षिणः ॥३१॥  
 मन्थाकर्षमोद्भूतरवेदविन्दुचिताननाः । मन्थती<sup>८</sup> सकुचोत्कम्पं सलीत्रिकनर्तनैः<sup>९</sup> ॥३२॥  
 मन्थरज्जुसमाकृष्टिकलान्तवाहूः<sup>१०</sup> श्लथांशुकाः । स्रस्तस्तनांशुका लक्ष्यत्रिवलीमद्गुरोदराः<sup>११</sup> ॥३३॥  
 ध्रुव्याभिघातोच्चलितस्थलगोरसविन्दुभिः<sup>१२</sup> । विरलैरङ्गसंलग्नैः शोभां कामपि पुष्प्यतीः ॥३४॥  
 मन्थारवानुसारेण किंचिदारब्धमूर्च्छनाः<sup>१३</sup> । विस्रस्तकवरीवन्धाः कामस्येव पताकिकाः ॥३५॥  
 “गोष्ठाङ्गेषु सहायैः<sup>१४</sup> स्वैरमारब्धमन्यनाः । प्रभुर्गोपवधूः पश्यन् किमप्यासीत् समुत्सुकः ॥३६॥  
 वने वनगजैरुष्टैः<sup>१५</sup> प्रभुमेनं वनेचराः । दन्तैर्वनकरीन्द्राणामद्राक्षुः सह मौक्तिकैः ॥३७॥

राजाओके प्रेमपूर्ण अनुरागको धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओके राज्योमे भी भू-परागा-  
 नुरजन अर्थात् पृथिवीकी धूलिसे अनुरजन धारण करते थे, शत्रुओंको धूलिमे मिला देते थे,  
 सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोंकी चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली होती ही है ॥२७॥ सन्धि  
 आदि गुणोंके विषयमें कोई भी राजा महाराज भरतके बराबर नहीं था इसलिए सन्धि आदि  
 छहो गुण उन्हीमे चरितार्थ हुए थे । भावार्थ — कोई भी राजा इनके बिरुद्ध नहीं था इसलिए  
 इन्हे किसीसे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय नहीं करने पड़ते थे ॥२८॥  
 प्रत्येक देशमे भेट लेकर आये हुए वहाँके राजाओका बड़ी प्रसन्नतासे आदर-सत्कार करते हुए  
 महाराज भरत बहुत-से देशोंको उल्लघन कर आगे बढ़ते जाते थे ॥२९॥ भरतेश्वरने न तो  
 कभी तलवारपर अपना हाथ लगाया था और न कभी डोरी ही धनुषपर चढ़ायी थी । उन्हीने  
 केवल अपनी प्रभुत्वशक्तिसे ही पूर्व दिशाको जीत लिया था ॥३०॥ उन्हीने गोकुलोके समीप  
 ही गायोकी रक्षा करनेवाले तथा वनकी लताओंसे जिन्हीने अपने शिरके बालोका जूबा बाँध रखा  
 है ऐसे तरुण ग्वाला देखे ॥३१॥ कठनियोंके खीचनेके परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेकी बूँदोंसे  
 जिनके मुख व्याप्त हो रहे हैं, जो लीलापूर्वक नितम्बोंको नचानचाकर स्तनोंको हिलाती हुई  
 दही मथ रही हैं, कठनियोंके खीचनेसे जिनकी भुजाएँ थक गयी हैं, जिनके सब वस्त्र ढीले पड़  
 गये हैं, जिनके स्तनोपर-का वस्त्र भी नीचेकी ओर खिसक गया है, जिनके कृश उदरमें त्रिवलीकी  
 रेखाएँ साफ-साफ दिख रही हैं, रई ( फूल ) के आघातसे उछल-उछलकर शरीरसे जहाँ-तहाँ  
 लगी हुई दहीकी बड़ी-बड़ी बूँदोंसे जो एक प्रकारकी विचित्र शोभाको पुष्ट कर रही हैं, मन्थनसे  
 होनेवाले शब्दोंके साथ-साथ ही जिन्हीने कुछ गाना भी प्रारम्भ किया है, जिनके केशपाशका  
 बन्धन खुल गया है और इसीलिए जो कामदेवकी पताकाओंके समान जान पड़ती हैं, तथा  
 गोशालाके आँगनोमे अपने इच्छानुसार वार्तालाप करती हुई जिन्हीने दहीका मथना प्रारम्भ  
 किया है ऐसी ग्वालाओंकी स्त्रियोंकी देखते हुए महाराज भरतेश्वर कुछ उत्कण्ठित हो उठे थे  
 ॥३२-३६॥ जगली हाथियोंसे भरे हुए वनमे रहनेवाले भील लोगोने जंगली हाथियोंके  
 दौत और मोती भेटकर महाराजके दर्शन किये थे ॥३७॥ जिनका शरीर इग्राम है जिनके

१ सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयाना विषये । २ समानप्रतिपत्तिक । ३ सन्ध्यादिगुणसमूहः । ४ कृतकृत्यम् ।  
 ५ प्रमो स०, अ०, द० । ६ नासी ल०, द०, इ० । ७ तरुणगोपालान् । ‘गोपे गोपालगोसह्यागोदुगाभीर-  
 वल्लवा’ इत्यभिधानात् । ८ केशपावान् । ९ मयनं कुर्वती । १० नितम्ब । ‘त्रिका कूपस्थ वेमो स्यात्  
 त्रिक पुष्टधरे त्रये’ इत्यभिधानात् । ११ समाकर्षणलाना । १२ मनोज्ञ । १३ मयन । १४ स्वरविश्रवण ।  
 १५ गोस्थान । ‘गोष्ठ गोस्थानकम्’ इत्यभिधानात् । १६ मिथो भाषणं । १७ सेविते ।

श्यामाङ्गीरन्मिव्यक्तरोमराजीरतन्दरीः । परिधानीकृतालोलपल्लवव्यपतसंवृतीः ॥३८॥  
 चमरीवालकाविदूकवीचनपञ्चनुराः । फलिनीफलसंख्यमाकारचितकण्डिकाः ॥३९॥  
 कस्तुरिकागुग्गुलुसवासिताः सुरभीसुन्दः । संनिवृत्तीर्वनाभोगे प्रसाधनजिघृक्षया ॥४०॥  
 पुलिन्दकन्यकाः सैन्यसमालोकनविस्मिताः । अन्धजसुन्दराकारा दूरादालोकयन् प्रभुः ॥४१॥  
 चमरीवालकाद् केचित् केचित् कस्तुरिकाण्डकान् । प्रयोरुपायनीकृत्य दृष्टुम्लेच्छराजकाः ॥४२॥  
 तत्रान्तपालदुर्गाणां सहस्राणि सहस्रशः । लब्धचक्रवरादेशः सेनानी समशिथ्रियत् ॥४३॥  
 अपूर्वरत्नसंदर्भैः । कुप्यसारधनैरपि । अन्तपालाः प्रभोराजां सप्रणामैरमानयन् ॥४४॥  
 ततो विदूरमुखलङ्घ्य सोऽप्यानं सह सेनया । गङ्गाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालङ्घ्यमर्णवम् ॥४५॥  
 वहिः समुद्रमुद्रिवत् द्वैप्यं निम्नोपगं जलम् । समुद्रस्येव १० निप्यन्वसम्भेराद् व्यलोकयत् ॥४६॥  
 वर्षारम्भो युगारम्भे थोऽभूत् कालानुभावत् ११ । तत् प्रभृति संवृद्धं जलं द्वीपान्तमावृणोत् ॥४७॥  
 अलङ्घ्यत्वान् १२ महीयस्त्वाद् द्वीपपर्यन्तवेष्टनात् । द्वैप्यमम्बु १३ समुद्रिक्तमगादुपसमुद्रताम् ॥४८॥  
 पश्यन्नुपसमुद्रं तं गत्वा स्थलपथेन १४ । गङ्गोपवनवेद्यन्तमग्निं १५ सैन्यं न्यवीविशत् ॥४९॥

शरीरपर अभी रोमराजी प्रकट नहीं हुई है, उदर भी जिनका कृषा है, वस्त्रके समान धारण किये हुए चचल पत्तोसे जिनके शरीरका सवरण प्रकट हो रहा है, चमरी गायके बालोसे बंधे हुए केशपाशोसे जो बहुत ही सुन्दर जान पड़ती हैं, गुंजाफलोसे बनी हुई मालाओंको जिन्होंने अपना कण्ठहार बनाया है, कस्तूरी मृगके बैठनेसे सुगन्धित हुई मिट्टीको आभूषण बनानेकी इच्छासे जो वनके किसी एक प्रदेगमे इकट्ठी कर रही है, जिनका आकार वास्तवमे सुन्दर है और जो सेनाके देखनेसे विस्मित हो रही है ऐसी भीलोकी कन्याओको भरतने दूरसे ही देखा था ॥३८-४१॥ कितने ही म्लेच्छ राजाओने चमरी गायके बाल और कितने ही ने कस्तूरी-मृगकी नाभि भेट कर भरतके दर्शन किये थे ॥४२॥ वहाँपर सेनापतिने चक्रवर्तीकी आज्ञा प्राप्त कर अन्तपालोके लाखो किले अपने वश किये ॥४३॥ अन्तपालोने अपूर्व-अपूर्व रत्नोंके समूह तथा सोना चाँदी आदि उत्तम धन भेट कर भरतेश्वरको प्रणाम किया तथा उसकी आज्ञा स्वीकार की ॥४४॥ तदनन्तर सेनाके साथ-साथ बहुत कुछ दूर मार्गको व्यतीत कर वे गंगाद्वारको प्राप्त हुए और उसके बाद ही अपने समान अलघनीय समुद्रको प्राप्त हुए ॥४५॥ उन्होने समुद्रके समीप ही, समुद्रसे बाहर उछल-उछलकर गहरे स्थानमे इकट्ठे हुए द्वीपसम्बन्धी उस जलको देखा जो कि समुद्रके निप्यन्दके समान मालूम होता था अथवा समुद्रके जलके समान ही निश्चल-स्थायी था अर्थात् उपसमुद्रको देखा, समुद्रका जो जल उछल-उछलकर समुद्रके समीप ही द्वीपके किसी गहरे स्थानमे इकट्ठा होता जाता है वही उपसमुद्र कहलाता है । उपसमुद्र द्वीपके भीतर होता है इसलिए उसका जल द्वैप्य कहलाता है । उपसमुद्रका जल ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्रका स्वेद ही इकट्ठा हो गया हो ॥४६॥ कर्मभूमिरूप युगके प्रारम्भमे जो वर्षा हुई थी तबसे लेकर कालके प्रभावसे बढ़ता हुआ वही जल द्वीपके अन्त भाग तक पहुँच गया था ॥४७॥ जो जल समुद्रसे उछल-उछलकर द्वीपमें आया था वह अलघनीय था, बहुत गहरा था और उसने द्वीपके सब समीपवर्ती भागको घेर लिया था इसलिए वही उपसमुद्र कहलाने लगा था ॥४८॥ उस उपसमुद्रको देखते हुए भरतने मुखकर मार्गसे जाकर १ अश्वत्थप्रदेशा । २ गुञ्जारचित । ३ अनुपाधि । ४ व्याघ्र । ५ कार्पासश्रीखम्हादि । ६ अपूजयन् । ७ समुद्रस्य वहि । ८ द्वीपपर्यन्तम् । ९ अगाधभावागतम् । १० प्रभवणम् । ११ मामर्थ्यत । १२ अत्यन्तमहत्त्वात् । १३ उत्कटम् । १४ सुखपथेन ल०, मुलपथेन इ०, ल० । 'सुखेन' लायते गृह्यते इति सुल०, इति 'इ' टिप्पण्याम् । १५ वेद्यन्तभागे ल० ।

वेदिकालोरणद्वारमस्ति तत्रोच्छ्रितं महत् । शनैस्तेन प्रविश्यान्तर्वर्णं सैन्यं न्यविक्षत ॥५०॥  
 तत्र वास्तुवशादस्य किञ्चित्संकुचितायत । स्कन्धान्वारनिवेशोऽभूदलङ्घ्यव्यूहविवृतिः ॥५१॥  
 नन्दनप्रतिमे तस्मिन् वने रुद्रातपाङ्घ्रिपे । गङ्गाशीतानिलस्पर्शैस्तद्वलं सुखमावसत् ॥५२॥  
 तस्मिन् पौरुषसाध्येऽपि कृत्यं देवं प्रमाणयन् । लवणाग्नियजयोद्युस्तः सोऽभ्येच्छद् दैविकीं क्रियाम् ॥५३॥  
 अधिवासितजैत्रास्त्रः स त्रिरात्रमुपोषिवाद् । मन्त्रानुस्मृतिपूतात्मा शुचितल्योपगः शुचिः ॥५४॥  
 सार्यं प्रातिकनिःशेषकणीये समाहितः । पुरोघोऽधिष्ठितां पूजां स व्यधात् परमेष्ठिनाम् ॥५५॥  
 सेनान्यं बलरक्षायै नियोज्य विधिवद् विभुः । प्रतस्थे घृतदिव्यास्त्रो जिगीर्षुर्लवणाग्न्युधिम् ॥५६॥  
 १० प्रतिग्रहापसारादिचिन्ताऽभून्नास्य चेतसि । ११ विलिलङ्घयिषोरविधमहो १२ स्वैर्यं महात्मनाम् ॥५७॥  
 अजितं जयमारुह्य रथं दिव्यास्त्रसंयुतम् । योजितं बाजिभिर्दिव्यैर्जलस्थलविलङ्घिभिः ॥५८॥  
 १३ पत्रध्यामरथं प्रोच्यैश्चलच्चक्राङ्ककेतनम् । तम् हुञ्जयन् १४ बाहा १५ दिव्यसव्येष्ट्युद्योदिताः १६ ॥५९॥  
 ततोऽस्मै दत्तपुण्याशीः पुरोधा १७ घृतमङ्गलः । त्वं देव विजयस्वेति स १८ इमामृचमापठत् ॥६०॥

गगाके उपवनकी वेदीके अन्तभागमे सेनाका प्रवेश कराया ॥४९॥ वहाँ वेदिकामे एक बड़ा भारी तोरणद्वार है जो कि उत्तर द्वार कहलाता है, उसी द्वारसे धीरे-धीरे प्रवेश कर वनके भीतर सेना ठहरी ॥५०॥ वहाँ चक्रवर्तीका जो शिविर था डेरोके कारण उसकी लम्बाई कुछ संकुचित हो गयी थी पर सेनाकी रचनाका विस्तार अलङ्घनीय था ॥५१॥ जो नन्दन वनके समान है तथा जिसके वृक्ष सूर्यके आतापको रोकनेवाले हैं ऐसे उस वनमें भरतकी वह सेना गंगा नदीके शीतल वायुके स्पर्शसे सुखपूर्वक निवास करती थी ॥५२॥ यद्यपि मागध देवको वश करना यह कार्य पौरुषसाध्य है अर्थात् पुरुषार्थसे ही सिद्ध हो सकता है तथापि उसमे दैवकी प्रमाणता मानकर लवण समुद्रको जीतनेके लिए तत्पर हुए भरत महाराजने भगवान् अरुन्धत देवके आराधन करनेका विचार किया ॥५३॥ जिसने मन्त्र-तन्त्रोसे विजयके शस्त्रोका संस्कार किया है, तीन दिन उपवास किया है, मन्त्रके स्मरणसे जिसका आत्मा पवित्र है, जो पवित्र शय्यापर बैठा हुआ है, स्वयं पवित्र है, सायकाल और प्रातः कालकी समस्त क्रियाओमें सावधान है और पुरोहित जिसके समीप बैठा है ऐसे उस भरतने पंच परमेष्ठीकी पूजा की ॥५४-५५॥ भरतने विधिपूर्वक सेनाकी रक्षाके लिए सेनापतिको नियुक्त किया और स्वयं दिव्य अस्त्र धारण कर लवण समुद्रको जीतनेकी इच्छासे प्रस्थान किया ॥५६॥ समुद्रको उल्लङ्घन करनेकी इच्छा करनेवाले भरतके चित्तमे यह भी चिन्ता नहीं हुई थी कि क्या-क्या साथ लेना चाहिए और क्या-क्या यहाँ छोड़ देना चाहिए सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका वैयं ही आश्चर्यजनक होता है ॥५७॥ जो देवोपनीत अस्त्र-शस्त्रोसे भरा हुआ है और जिसमे जल स्थल दोनोंपर समान रूपसे चलनेवाले दिव्य घोड़े जुते हुए हैं ऐसे अजितजय नामके रथपर भरतेश्वर आरुढ़ हुए ॥५८॥ जो पत्तोके समान हरितवर्ण है, जिसपर बहुत ऊँचे चक्रके आकारसे चिह्नित ध्वजा फहरा रही है और जो दिव्य सारथिके द्वारा प्रेरित है-हाँका जा रहा है-ऐसे उस रथको वेग-शाली घोड़े ले जा रहे थे ॥५९॥ तदनन्तर हे देव, आपकी जय हो इस प्रकार भरतके लिए

१ तन्त्रोत्तर द०, ल० । २ द्वारेण । ३ गृहसामर्थ्यात् । ४ बलविन्यासविस्तारः । ५ स्यूते । ६ -माविशत् ल० । ७ मागधामरसावनरूपकार्ये । ८ मन्त्रसंस्कृतः । ९ अस्तमनप्रभातसंबन्धिः । १० स्वीकाररथजनादि । ११ त्रिलङ्घितुमिच्छो । १२ मतास्वर्थं अ०, स०, इ० । १३ बाह्वनवाजिभिः श्यामवर्णीकृतरथम् । वनेके तद्रथाश्वा हरिद्वर्णा इत्युक्ताः । १४ वेगिनः । १५ दिव्यसारथिप्रेरिताः । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षता च सारथिः । सव्येष्ट्युदक्षिणस्थो च सजारथकुटुम्बिनः' इत्यभिधानात् । ( सव्येष्टेति ऋदन्त इति केचित् ), १६ चोदितं ल० । नोदिता स०, अ० । १७ घृतमङ्गलम् अ०, स०, इ० । १८ ऋच मन्त्रमित्यर्थः ।

जयन्ति विधुताशेषवन्वना धर्मनायकाः<sup>१</sup> । त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्पसादाज्जयाखिलम् ॥६१॥  
 सन्त्यग्निलया देवास्त्वद्भुक्त्यन्तर्निवासिनः । तान् विजेतुमर्थं कालस्तवेत्युच्चैर्जघोष च ॥६२॥  
 ततः कतिपयैरेव नायकैः परिवारितः ।<sup>२</sup> जगतीतलमारुहद् गङ्गाद्वारस्य चक्रवृत् ॥६३॥  
 न केवलं समुद्रान्तःप्रवेशद्वारमेव तत् । कार्यसिद्धेरपि द्वारं तदमस्तं रथाङ्गमूर्त् <sup>३</sup> ॥६४॥  
 धृतमङ्गलवेषस्य तद्देधारोहणं विभोः । विजयश्रीसमुद्राहवेधारोहणवद् वमौ ॥६५॥  
 मद्गुहाङ्गणवेदीयं जगतीति विकल्पयन् । दशं व्यापारयामास कुल्यालुङ्घ्या महोदधौ ॥६६॥  
 स प्रतिज्ञामिवाकूटो जगतीं तां महायतिम् । निस्तीर्णमिव तत्पारं पारावारमजीगणत् ॥६७॥  
 सुहृः प्रचलदुद्वेलकल्लोलमनिलाहृतम् । विलङ्घनामयादुर्ध्वैः फल्गुर्वन्तमिवारवैः ॥६८॥  
 बीचिवाहुमिस्त्रमुक्तैः सरस्वैः शीकरोत्क्षरैः । पाथं स्वस्येव तन्वावं मौक्तिकाक्षतमिश्रितैः ॥६९॥  
 असङ्ख्यशङ्खमाक्रान्तविज्वह्रीपमपारकम् । परैरलङ्घयमक्षोभ्यं स्वबलौघानुकारिणम् ॥७०॥  
 उक्तेनजुस्मिन्कारम्भैः सापस्मारमिबोस्त्रणम् । केनाप्यशक्यमाघर्तुं क्वचिदप्यनवस्थितम् ॥७१॥

पवित्र आशीर्वाद देकर मंगलद्रव्य धारण किये हुए पुरोहितने इस नीचे लिखी हुई ऋचाको पढ़ा ॥६०॥ समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करनेवाले धर्मनायक-तीर्थकर देव सदा जयवन्त रहते हैं इसलिए उनके प्रसादसे तू भी धर्मपूर्वक विजय प्राप्त कर, सबको जीत ॥६१॥ उसी समय पुरोहितने यह भी जोरसे घोषणा की कि हे देव, इस समुद्रमे निवास करनेवाले देव आपके उप-भोग करने योग्य क्षेत्रके भीतर ही रहते हैं इसलिए उन्हें जीतनेके लिए आपका यह समय है ॥६२॥ तदनन्तर कुछ बीर पुरुषोंसे घिरे हुए चक्रवर्ती भरत गंगाद्वारकी वेदीपर जा चढ़े ॥६३॥ चक्रवर्तीने उस गंगाद्वारकी वेदीको केवल समुद्रके भीतर प्रवेश करनेका द्वार ही नहीं समझा था किन्तु अपने कार्यकी सिद्धि होनेका भी द्वार समझा था ॥६४॥ मंगल वेषको धारण करने-वाले चक्रवर्तीका उस वेदीपर आरूढ़ होना विजय-लक्ष्मीके विवाहकी वेदीपर आरूढ़ होनेके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥६५॥ यह वेदी मेरे घरके ग्रांगनकी वेदी है इस प्रकार कल्पना करते हुए भरतने महासागरपर कृत्रिम नदीकी बुद्धिसे दृष्टि डाली थी । भावार्थ — भरतने अपने बलकी अधिकतासे गङ्गाकी वेदीको ऐसा समझा था मानो यह हमारे घरके आगनकी ही वेदी है और महासमुद्रको ऐसा माना था मानो यह एक छोटी-सी नहर ही है ॥६६॥ वे उस बड़ी लम्बी वेदीपर इस प्रकार आरूढ़ हुए थे जैसे अपनी प्रतिज्ञापर ही आरूढ़ हुए हो और समुद्रको उन्होंने ऐसा माना था जैसे उसके दूसरे किनारेपर ही पहुँच गये हो ॥६७॥ उस वेदीपर-से उन्होंने समुद्र देखा, उस समुद्रमे बारबार तटको उल्लंघन करने-वाली लहरे उठ रही थी, पवन उसका ताड़न कर रहा था और वह अपने गम्भीर गन्धोंसे ऐसा मालूम होता था मानो उल्लंघनके भयसे रो ही रहा हो । तरंगरूपी भुजाओंसे किनारेपर छोड़े हुए रत्नसहित जलके छोटे-छोटे कणोंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो भरतके लिए मोती और अक्षतोंसे मिला हुआ अर्घ्य ही दे रहा हो । उस समुद्रमे असंख्यात गज थे, उसने समस्त द्वीपोंको आक्रान्त कर लिया था, वह पाररहित था, उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था और न उसे कोई क्षोभित ही कर पाता था इसलिए वह ठीक भरतकी सेनाके समूहका अनुकरण कर रहा था क्योंकि उसमे भी वजाये जानेवाले असंख्यात गज थे, उसने भी समस्त द्वीप आक्रान्त कर लिये थे—अपने अधीन बना लिये थे, वह भी अपार था, वह भी दूसरोंके द्वारा अलघनीय तथा क्षोभित करनेके अयोग्य था । वह समुद्र किसो अपस्मार (मृगी)

१ तीर्थकर । २ त्वत्पालनक्षेत्र । ३ वेदिभूवम् । ४ रथाङ्गवृत् ६०, ६०, ६० । ५ मङ्गला-लकारस्य । ६ 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' । ७ पारगतम् । ८ उदगतविण्डीराभिवृद्धि । पक्षे उद्गनफेन ।

अकस्मादुच्चरद्भवानमनिमित्तचलाचलम् । अकारणकृतावर्तमति सङ्कुसुकोस्थितिम् ॥७२॥  
 हसन्तमिव फेनोर्ध्वैरसन्तमिव<sup>१</sup> वीचिमिः । चलन्तमिव कल्लोलैर्माघन्तमिव धूर्णितैः ॥७३॥  
 सरत्नमुलव्रणविषं<sup>२</sup> सुक्तशूकरमीकरम् । स्फुरत्तरङ्गनिर्मोकं स्फुरन्तमिव भोगिनम् ॥७४॥  
 अत्यम्बुपानादुद्विक्तप्रतिद्विषायमिवाधिकम् । क्षुतानीव विकृर्णान् ध्वनितानि सहस्रशः ॥७५॥  
 आद्यूनमसकृत्पीतविश्वस्रोतस्त्रिनीरसम् । रसातिरेकादुद्वेगारं तन्वानमिव खात्कृतैः ॥७६॥  
 निजगम्भीरपातालमहागर्तापदेशतः । अतृप्थन्तमिवाम्भोमिरातालुविवृताननम् ॥७७॥

के रोगिके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार अपस्मारका रोगी फेनसहित आती हुई जम्भिकाओं अर्थात् जमुहाइयोंसे व्याकुल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी फेनसहित उठती हुई जम्भिका अर्थात् लहरोसे व्याकुल था, जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसीके द्वारा पकड़कर नहीं रखा जा सकता उसी प्रकार वह समुद्र भी किसीके द्वारा नहीं रोका जा सकता और जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसी भी जगह स्थिर नहीं रहता इसी प्रकार वह समुद्र भी किसी जगह स्थिर नहीं था—लहरोके कारण चंचल हो रहा था । वह समुद्र अकस्मात् ही गम्भीर शब्द करता था, बिना कारण ही चंचल था और बिना कारण ही उसमें आवर्त अर्थात् भँवर पड़ते थे, इसलिए उसकी दशा किसी अत्यन्त अस्थिर मनुष्यसे भी बढ़कर हो रही थी क्योंकि अत्यन्त अस्थिर मनुष्य भी अचानक शब्द करने लगता है, चिल्ला उठता है, बिना कारण ही काँपने लगता है, और बिना कारण ही आवर्त करने लगता है, इधर-उधर भागने लगता है । वह समुद्र फेन उठनेसे ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो, ज्वार-भाटाओंसे ऐसा मालूम होता था मानो लास्य (नृत्य) ही कर रहा हो, लहरोंसे ऐसा सुशोभित होता था मानो चल ही रहा हो और हिलनेसे ऐसा दिखाई देता था मानो नशेमें डूब ही रहा हो अथवा वह समुद्र किसी सर्पके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सर्प रत्नसहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी रत्नसहित था, जिस प्रकार सर्पमें उत्कट विष अर्थात् जहर रहता है उसी प्रकार समुद्रमें भी उत्कट विष अर्थात् जल था, जिस प्रकार सर्प सू सू आदि फुकारोसे भयंकर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सू सू आदि शब्दोंसे भयंकर था, जिस प्रकार सर्पके देदीप्यमान कांचली होती है उसी प्रकार उस समुद्रके भी देदीप्यमान लहरे थी, और जिस प्रकार सर्प चंचल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चंचल था । अथवा वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो अधिक पानी पीनेसे उसे सर्दी (जुकाम) ही हो गयी हो और इसीलिए हजारों शब्दोंके बहाने छीके ही ले रहा हो । अथवा वह समुद्र किसी आद्यून अर्थात् बहुत खानेवाले—पेटू मनुष्यके समान जान पड़ता था, क्योंकि जिस प्रकार आद्यून मनुष्य बहुत खाता है और बादमें भोजनकी अधिकता होनेसे डकारे लेता है उसी प्रकार उस समुद्रने भी समस्त नदियोंका जल पी लिया था और बादमें जलकी अधिकता होनेसे वह भी शब्दोंके बहाने डकारें ले रहा था । वह समुद्र अपने गम्भीर पातालरूपी महाउदरके बहानेसे जलसे कभी तृप्त नहीं होता था और इसीलिए मानो उसने तालु पर्यन्त अपना मुख खोल रखा था । भावार्थ—वह समुद्र किसी ऐसे मनुष्यके समान जान पड़ता था जो बहुत खानेपर भी तृप्त नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार तृप्त नहीं होनेवाला मनुष्य बहुत कुछ खाकर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी बहुत कुछ जल ग्रहण कर चुकनेपर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता था—नदियो

१ चञ्चलम् । २ नितराम् अस्थिरस्थितिम् । 'असंकुसुकोस्थिते' इत्यमरः । विशेषनिष्पत्तिः । ३ नृत्यन्तम् । ४ उत्कटजलम् । ५ सीकरम् प० । ६ उत्कटपीनसम् 'प्रतिश्यायस्तु पीनसः' इत्यभिधानात् । ७ औदरिकम् । तृप्तिरहितमित्यर्थः । ८-गर्भाप-८० ।

दिशा<sup>१</sup> रावणमाकान्याचलग्राह<sup>२</sup> विभीषणम्<sup>३</sup> । रक्षसाभिन्व संपातमतिकाय<sup>४</sup> महोदरम्<sup>५</sup> ॥७८॥  
 वीर्यबाहुभिरान्नन्तमजस्रं तटवेदिकाम् । समर्थादित्वमाहृत्य आवयन्तमिवात्मनः ॥७९॥  
 चलद्भिरचलोद्गमैः कल्लोलैरतिवर्तिनम् । सखिबुवत्तिसंभोगादसमान्तमिवात्मनि ॥८०॥  
 तरङ्गिततनुं वृद्धं पृथुकं व्यकरद्दिग्गतम् । सरलमतिकान्ताद्गंगं सम्राहमतिभीषणम् ॥८१॥  
 लावण्येऽपि न संभोग्यं गाम्भीर्येऽप्यनवस्थितम् । महत्त्वैऽपि कृताक्रोशं व्यक्तमेव जलागम्यम् ॥८२॥  
 न चास्य मन्त्रिरासद्गो न कोऽपि मदनञ्जरः । तथाप्युद्रिकं कन्दर्पमारुढमधुविक्रियम् ॥८३॥

का अन्य जल ग्रहण करनेके लिए तत्पर रहता था । वह समुद्र समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर शब्द कर रहा था इसलिए 'रावण' था, उसने अनेक पहाड़ अपने जलके भीतर डुबा लिये थे इसलिए 'अचलग्राह' था । वह सब जीवोंको भय उत्पन्न कराता था इसलिए विभीषण था, अत्यन्त बड़ा था इसलिए 'अतिकाय' था और बहुत गहरा होनेसे 'महोदर' था इस प्रकार वह ऐसा जान पड़ता था मानो राक्षसोका समूह ही हो । वह समुद्र अपनी तरंगरूपी भुजाओंके द्वारा किनारेकी वेदीपर निरन्तर आघात करता रहता था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो धक्का देकर उसे अपने समर्थादित्वको ही सुना रहा हो । वह पर्वतके समान ऊँची उठती हुई लहरोसे किनारेको उल्लंघन कर रहा था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो नदीरूप स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेसे अपने-आपमें ही नहीं समा रहा हो । उसके शरीरमें अनेक तरंगरूपी सिकुडने उठ रही थी इसलिए वह वृद्ध पुरुषके समान जान पड़ता था, ( पक्षमें अत्यन्त बड़ा था ) अथवा वह समुद्र किसी पृथुक अर्थात् बालकके समान मालूम होता था ( पक्षमें पृथुक अधिक है जल जिसमें ऐसा था ) क्योंकि जिस प्रकार बालक पृथिवीपर घुटनोके वल चलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोके द्वारा पृथिवीपर चल रहा था, जिस प्रकार बालक सरकता है उसी प्रकार वह भी लहरोसे सरकता था, जिस प्रकार बालक अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार वह भी अत्यन्त सुन्दर था । इसके सिवाय वह समुद्र मगरमच्छ आदि जलचरजीवोंसे सहित था तथा अत्यन्त भयंकर था अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही जलागम्य ( ड और ल में असेद होनेसे जडाशय ) अर्थात् मूर्ख था क्योंकि लावण्य रहनेपर भी वह उपभोग करने योग्य नहीं था जो लावण्य अर्थात् सुन्दरतासे सहित होता है वह उपभोग करने योग्य अवश्य होता है परन्तु समुद्र वैसा नहीं था ( पक्षमें लावण्य अर्थात् खारापन होनेसे किसीके पीने योग्य नहीं था ) गम्भीरता होनेपर भी वह स्थिर नहीं था, जो गम्भीरता अर्थात् धैर्यसे सहित होता है वह स्थिर अवश्य रहता है परन्तु समुद्र ऐसा नहीं था ( पक्षमें गम्भीरता अर्थात् गहराई होनेपर भी वह लहरोसे चंचल रहता था ) और महत्त्वके रहते हुए भी वह चिल्लाता रहता था—गालियाँ बका करता था, जो महत्त्व अर्थात् वडप्पनसे सहित होता है वह बड़ा गान्त रहता है, चिल्लाता नहीं है परन्तु समुद्र ऐसा नहीं था ( पक्षमें बड़ा भारी होनेपर भी लहरोके आघातसे गव्द करता रहता था ) इन सब कारणोंसे स्पष्ट है कि वह जडाशय अवश्य था ( पक्षमें जल है आशयमें जिसके अर्थात् जलसे भरा हुआ था ) । उस समुद्रके यद्यपि मखका सगम नहीं था—मद्यपानका अभाव था तथापि वह आरुढ मधुविक्रिय था अर्थात् मद्यपानसे उत्पन्न होनेवाले विकार—नशाको धारण कर रहा था, इसी प्रकार यद्यपि उसके कामञ्जर नहीं था तथापि वह उद्रिक्तकन्दर्प था अर्थात् तोत्र काम-विकारको धारण करनेवाला था । भावार्थ—डम श्लोकमें श्लेष-

१ रीतीति रावणस्तम् । अर्द्धं कुर्वन्मिति यावत् । पक्षे दगास्यम् । २ पर्वतस्वीकारवन्तम् । पक्षे अचलग्राहमिति कचिद् राक्षसम् । ३ भयंकरम् । पक्षे रावणानुजम् । ४ अतिशयं मूर्तिम् महान्तमित्यर्थः । पक्षे अतिकायमिति कचिदसुरम् । ५ महाकुक्षिम् । पक्षे महोदरमिति राक्षसम् । ६ उत्कटकामम्, पक्षे उत्कटजलदर्पम् ।

अनाशितमंत्रं पीत्वा सुखादुत्तरितां जलम् । गतागतानि कुर्वन्तं संतोषादिव वीचिभिः ॥८४॥  
 नदीवधूमिरासेव्यं कृतरत्नपरिग्रहम् । महाभोगिमिराराधं चतुरन्तमिव प्रभुम् ॥८५॥  
 यादोदोर्घातनिघर्षितं दूरोच्चलितक्रीकैः । सपताकमित्राजेषरोपाणवविनिर्जयात् ॥८६॥  
 कुलाचलवृथुस्तम्भजम् द्वापमहौकसः । विनीलरत्ननिर्माणमेकं सालमिवोच्छ्रितम् ॥८७॥  
 अनादिमस्तपर्यन्तमखिलार्थावगाहनम् । गभीरदाब्दसंदर्भं श्रुतस्कन्धमिवापरम् ॥८८॥  
 नित्यप्रवृत्तगन्धत्वाद् द्रव्याधिकनयाश्रितम् । घांतीनां क्षणमङ्गित्वात् पर्यायनयगोचरम् ॥८९॥  
 नित्यानुबद्धतृणत्वात् शब्दवज्जलपरिग्रहात् । गुरुणां च तिरस्कारात् किंराजानमिवान्वहम् ॥९०॥

मूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिए प्रारम्भ-कालमें विरोध मालूम होता है परन्तु बादमें उसका परिहार हो जाता है । परिहार इस प्रकार समझना चाहिए कि वह मद्यके संगमसे रहित होकर मधु अर्थात् पुष्परसकी विक्रिया धारण कर रहा था अथवा मनोहर जलपक्षियों की क्रियाएँ धारण कर रहा था और कामज्वरसे रहित होकर भी उद्विक्त-क-दर्प था अर्थात् जलके अहंकारसे सहित था । वह समुद्र किनारेपर आती-जाती हुई लहरोसे ऐसा जान पड़ता था मानो जिससे कभी तृप्ति न हो ऐसा नदियोंका भीठा जल पीकर लहरों-द्वारा सन्तोषसे गमना-गमन ही कर रहा हो । अथवा वह समुद्र चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी नदीरूपी अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित था, जिस प्रकार चक्रवर्तीके पास अनेक रत्नोंका परिग्रह रहता है उसी प्रकार उस समुद्रके पास भी अनेक रत्नोंका परिग्रह था, जिस प्रकार चक्रवर्ती महाभोगी अर्थात् बड़े-बड़े राजाओंके द्वारा आराधन करने योग्य होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी महाभोगी अर्थात् बड़े-बड़े सपोंके द्वारा आराधन करने योग्य था और जिस प्रकार चक्रवर्ती चारों ओर प्रसिद्ध रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चारों ओर प्रसिद्ध था—व्याप्त था । जल-जन्तुओंके आघातसे उड़ी हुई और बहुत दूर तक ऊँची उछटी हुई जलकी बूंदोंसे वह समुद्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाकीके समस्त समुद्रोंको जीतनेसे अपनी विजय-पताका ही फहरा रहा हो । उस समुद्रका नीले रंगका पानी वायुके वेगसे ऊपरको उठ रहा था जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कुलाचलरूपी बड़े-बड़े खम्भोंपर बने हुए जम्बूद्वीपरूपी विशाल घरका नील रत्नोंसे बना हुआ एक ऊँचा कोट ही हो । अथवा वह समुद्र दूसरे श्रुतस्कन्धके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध आदि-अन्त-रहित है उसी प्रकार वह समुद्र भी आदि-अन्त-रहित था, जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध समस्त पदार्थोंका अवगाहन-निरूपण करनेवाला है उसी प्रकार वह समुद्र भी समस्त पदार्थोंका अवगाहन-प्रवेशन-धारण करनेवाला है, और जिस प्रकार श्रुतस्कन्धमें गम्भीर शब्दोंकी रचना है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी गम्भीर शब्द होते रहते थे—अथवा वह समुद्र द्रव्याधिक नयका आश्रय लेता हुआ-सा जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार द्रव्याधिक नयसे प्रत्येक पदार्थमें नित्य शब्दकी प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी नित्य शब्दकी प्रवृत्ति हो रही थी अर्थात् निरन्तर गम्भीर शब्द होता रहता था । अथवा उसकी लहरे क्षण-भंगुर थी इसलिए वह पर्यायाधिकके गोचर भी मालूम होता था क्योंकि पर्यायाधिक नय पदार्थोंको क्षणभंगुर अर्थात् अनित्य बतलाता है । अथवा वह समुद्र किसी दुष्ट राजाके समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट राजा सदा तृष्णासे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सदा तृष्णासे सहित रहता था अर्थात् प्रतिक्षण अनेक नदियोंका जल ग्रहण करते रहने-

१ अतृप्तिकरम् । २ महासर्पः । ३ सार्वत्रिक प्रसिद्धमित्यर्थः । चतुरङ्ग-सं०, इ०, अ०, प० । ४ निर्द्धतै-ल० । ५ महागृहम् । ६ जडस्वीकारात् । ७ गुह्यव्यापामष करणात् । ८ कुत्सितराजानम् ।

ससत्त्वमतिगम्भीरं भोगिभिर्दत्तवेलकम् । सुराखानमिवाव्युच्चैर्दृष्टिं मर्यादया घृतम् ॥६१॥

अनेकमन्तरद्वीपमन्तर्वातेनमात्मनः । दुर्गदेशमिवाहार्यं पालयन्तमलङ्घनैः ॥६२॥

गर्जन्निरतिगम्भीरं नभोच्यापिमिरुर्जितैः । आपूर्यमाणमम्भोभिर्घनौघैः किङ्करैरिव ॥६३॥

रङ्गितैश्चलितैः श्रोमैरुत्थितैश्च विवर्तनैः । ग्रहाविष्टमिवोज्ज्वलं सत्त्वात् च सवृर्णितम् ॥६४॥

रत्नाञ्जुचित्रिततलं सुकथावलितार्णवम् । आहैरप्यासितं विष्वक्सुखालोकं च भीषणम् ॥६५॥

नदीन<sup>१</sup> रत्नभूयिष्ठमप्याण<sup>२</sup> चिरजीवितम्<sup>३</sup> । समुद्रमर्षि<sup>४</sup> चोन्मुद्र<sup>५</sup> अपकेतुममन्मथम्<sup>६</sup> ॥६६॥

पर भी सन्तुष्ट नहीं होता था, जिस प्रकार दुष्ट राजा जल (जड़) अर्थात् मूर्ख मनुष्योंसे घिरा रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी निरन्तर जल अर्थात् पानीसे घिरा रहता था, और जिस प्रकार दुष्ट राजा गुह अर्थात् पूज्य महापुरुषोका तिरस्कार करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी गुह अर्थात् भारी बजनदार पदार्थोंका तिरस्कार करता रहता था अर्थात् उन्हें डुवोता रहता था । अथवा वह समुद्र किसी उत्तम राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा सत्त्व अर्थात् पराक्रमसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सत्त्व अर्थात् जल-जन्तुओंसे सहित था, जिस प्रकार उत्तम राजा अत्यन्त गम्भीर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अत्यन्त गम्भीर अर्थात् गहरा था, जिस प्रकार उत्तम राजाके समीप अनेक भोगी अर्थात् राजा लोग विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार उस समुद्रकी वेला (तट) पर भी अनेक भोगी अर्थात् सर्प विद्यमान रहते थे, जिस प्रकार उत्तम राजाकी वृत्ति उच्च होती है उसी प्रकार उस समुद्रकी वृत्ति भी उच्च थी अर्थात् उसका जल हवासे ऊँचा उठ रहा था और जिस प्रकार उत्तम राजा मर्यादा अर्थात् कुल-परम्परासे आयी हुई समीचीन पद्धतिसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मर्यादा अर्थात् पालीसे सहित था । वह समुद्र अपने मध्यमे रहनेवाले अनेक अन्तर्द्वीपोंकी रक्षा कर रहा था वे अन्तर्द्वीप उसके अलगनीय तथा हरण करनेके अयोग्य किलोके समान जान पड़ते थे । वह अतिशय गम्भीर समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो सेवकोंके समान निरन्तर बढ़ते हुए, गरजते हुए और आकाशमे फैले हुए मेघोंके द्वारा ही जलसे भरा गया हो अथवा वह समुद्र किसी ग्रहाविष्ट अर्थात् भूत लगे हुए मनुष्यके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य जमीनपर रगता है, चलता है, क्षुब्ध होता है, ऊँचा उछलता है और इधर-उधर घूमता है अथवा करवटे वदलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोसे पृथिवीपर रग रहा था, चल रहा था, क्षुब्ध था, ऊँचा उछलता और इधर-उधर घूमता था अर्थात् कभी इधर लहरता था तो कभी उधर लहरता था, तथा ग्रहाविष्ट मनुष्य जिस प्रकार उज्ज्वल अर्थात् उठती हुई जमुहाइयोसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उज्ज्वल अर्थात् उठती हुई लहरोसे सहित था, जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य शब्द करता है उसी प्रकार समुद्र भी शब्द कर रहा था और जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य कांपता रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी बायुसे कांपता रहता था । उस समुद्रका तल भाग रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र हो रहा था, उसका जल मोतियोंसे चित्रित था, और वह चारो ओर मगरमच्छोंसे भरा हुआ था इसलिए वह देखनेमे अच्छा भी लगता था और भयानक भी मालूम होता था । वह समुद्र अनेक रत्नोंसे

१ भूप्रसर्पण । २ चरनै । ३ उत्थानै । ४ भ्रमणं । ५ उज्ज्वलमणम् । पक्षे ज्वलन्मकासहितम् । ६ सरित्-पतिम् । निस्त्वसदृशम् । 'नग्भावे निपेक्षे च स्वरूपायै व्यतिक्रमै । ईपदर्थे च सादृश्ये तद्विच्छदतदन्ययो ॥' इत्यभिधानात् । ७ आप प्राण यस्य स तम् । पक्षे यतप्राणम् । ८ चिरकालस्थायिनम् । -जीविनम् अ०, प०, व०, स०, ६० । ९ मुद्रया सहितम् । १० मुद्रारहितम् । महान्तमित्यर्थ । ११ अपाङ्कितम् । १२ मत् मनो मन्नातीति मन्मथ न मन्मथ अमन्मथस्त मनोहरमित्यर्थ ।



अष्टपारमार्थममर्ह्यं मनुत्तरम् । सिद्धालयमिव व्यक्तमव्यक्तमभूतास्पदम् ॥१७॥  
 कचिन्महोपलब्धार्थां धृतसंख्याभिन्नमम् । कृतान्वतमसारम्भं कचिर्बालाभ्रमरमिमिः ॥१८॥  
 हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैः कचिसंदिग्धं गैवलम् । कचिच्च कौटुम्भा कान्ति तन्वानं विद्रुमादुरः ॥१९॥  
 कचिच्छुक्तिपुटोद्भेदसमुच्चलितमौक्तिकम् । तारकानिकराकोणं हसन्तं जलभृत्पथम् ॥२०॥  
 वेलापर्यन्तसंमुखं संसर्गानांशुभीकरैः । कचिदिन्द्रधनुर्ललां लिखन्तमिव स्वाङ्गणे ॥२१॥  
 रथाङ्गपाणिस्त्युच्चैः संदृतं रत्नकोटिमिः । महानिधिमिवापूर्वमपश्यन्मकराकरम् ॥२२॥

भरा हुआ था इसलिए नदीन अर्थात् दीन नहीं था यह उचित था ( पक्षमे 'नदी इन' नदियोंका स्वामी था ) परन्तु अप्राण अर्थात् प्राणरहित होकर भी चिरजीवित अर्थात् बहुत समय तक जीवित रहनेवाला था, समुद्र अर्थात् मुद्रासहित होकर भी उन्मुद्र अर्थात् मुद्रारहित था और झपकेतु अर्थात् मछलीरूप पताकासे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् कामदेव नहीं था यह विरुद्ध बात थी किन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थमे परिवर्तन कर देनेसे कोई विरुद्ध बात नहीं रहती । वह प्राणरहित होनेपर भी चिरजीवित अर्थात् चिरस्थायी रहनेवाला था अथवा चिरकालसे जलसहित था, समुद्र अर्थात् सागर होकर भी उन्मुद्र अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दको देनेवाला था ( उद्-उत्कृष्टा मुद हृपं राति-ददातीति उन्मुद्रः ) और झपकेतु अर्थात् समुद्र अथवा मछलियोंके उत्पातसे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् काम नहीं था । अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही सिद्धालयके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सिद्धालयका पार दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार उस समुद्रका भी पार दिखाई नहीं देता था — दोनों ही अदृष्टपार थे, जिस प्रकार सिद्धालय अक्षोभ्य है अर्थात् आकुलतारहित है उसी प्रकार समुद्र भी अक्षोभ्य था अर्थात् क्षोभित करनेके अयोग्य था उसे कोई गँदला नहीं कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालयका कोई सहार नहीं कर सकता उसी प्रकार उस समुद्रका भी कोई सहार नहीं कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालय अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अनुत्तर अर्थात् तैरनेके अयोग्य था, जिस प्रकार सिद्धालय अव्यक्त अर्थात् अप्रकट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अव्यक्त अर्थात् अगम्य था और सिद्धालय जिस प्रकार अमृतास्पद अर्थात् अमृत (मोक्ष) का स्थान है उसी प्रकार वह समुद्र भी अमृत (जल) का स्थान था । कही तो वह समुद्र पद्मराग-मणियोंसे सन्ध्याकालके बादलोकी शोभा अथवा सन्देह धारण कर रहा था और कही नील मणियोंकी किरणोंसे गाढ़ अन्धकारका प्रारम्भ करता हुआ-सा जान पड़ता था । कही हरित मणियोंकी कान्तिके प्रसारसे उसमे गंवालका सन्देह हो रहा था और कही वह मृगाओंके अङ्कुरोंसे कुकुम्भीकी कान्ति फैला रहा था । कही सीपोंके सम्पुट खुल जानेसे उसमे मोती तैर रहे थे और उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंके समूहसे भरे हुए आकाशकी ओर हँस ही रहा हो । तथा कहीपर किनारेके समीप ही समस्त रत्नोंकी किरणोंसहित जलकी छोटी-छोटी बूँदें पड़ रहों थीं उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आँगनमे इन्द्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो । इस प्रकार जो ऊँचे तक करोड़ों रत्नोंसे भरा हुआ था ऐसे उस समुद्रको चक्रवर्तिनि अपूर्व महानिधिके समान देखा ॥ ६८-१०२ ॥

१ अविनाश्यम् । २ न विद्यते उत्तर श्रेण्यो यस्मात् स तम् । ३ सलिलपीयूषनिवासम् । पक्षे अभयस्थानम् । 'सुवाकरयज्ञोपसल्लिख्यमोक्षवन्तरि विपक्रन्दच्छिन्नसहायदिविज्वलमृतम्' इत्यभिधानात् । ४ पद्मराग-मणिष्वय । ५ लिप्त । सन्देहविषयीकृत । ६ समुत्सर्पज्ञानारत्नमरीचियुतभीकरै । ७ —संकरैः प० । ८ मकरालयम् ल० ।

दृष्ट्वाऽथ तं महाभागः<sup>१</sup> कृतधीर्धोरनिःस्वनम् । दृष्ट्वैवानुलयच्चक्री गोप्पदावज्जयाण्वम् ॥१०३॥  
 ततोऽभिमतसंसिद्ध्यै कृतसिद्धनमस्क्रियः । रथ प्रचोदयेत्युच्चैः प्राजितारमचोदयत् ॥१०४॥  
 विमुक्तप्रग्रहैर्वाहैरुत्थमानो मनोजवैः । लवणाब्धौ द्रुतं प्रायाद् यानपात्रावितो रथः ॥१०५॥  
 रथो मनोरथात् पूर्व रथान् पूर्व मनोरथः । इति संभाव्यवेगोऽस्मी रथो वार्धि ज्यगाहत ॥१०६॥  
 जलस्तम्भः प्रयुक्तो नु जल न स्थलतां गतम् । स्वन्दनं यदमी वाहा जले निन्युः स्थलास्थया ॥१०७॥  
 तथैव चक्रवीत्कारः तथैवोच्चैः प्रचौरितम्<sup>२</sup> । यथा वहिर्जलं<sup>३</sup> पूर्वमहो पुण्यं रथाङ्गिनः ॥१०८॥  
 महद्भिरपि कल्लोलैः शीनयमानास्तुरङ्गमाः । रथं निन्युरनाथासात् प्रत्युनैषां स<sup>४</sup> विश्रमः<sup>५</sup> ॥१०९॥  
<sup>६</sup> रथचक्रमसुत्पीडाजलोत्पीडः<sup>७</sup> स्वसुखतत् । न्यषाद् ध्वजंशुके जाड्यं जलानामीदृशी गतिः ॥११०॥  
 नाङ्गरागस्तुरङ्गाणामाद्रितः श्रमघर्मितैः<sup>८</sup> । क्षालितः खुरवेगोलैः केवलं शीर्कररपाम् ॥१११॥  
 क्षणं रथाङ्गमदृष्ट्वाजलमच्छेद्विधाऽभवत् । ध्वभावि भाविनां वस्मं चक्रिणामिव सूत्रितम् ॥११२॥  
 रथोऽस्याभिमतां भूमिं प्रापत्सारथिचोदितः । मनोरथोऽपि ससिद्धिं पुण्यसारथिचोदितः ॥११३॥

तदनन्तर—महाभाग्यशाली बुद्धिमान् भरतने गम्भीर गवद करते हुए उस समुद्रको देखकर, दृष्टि मात्रसे ही उसे गायके खुरके समान तुच्छ समझ लिया ॥१०३॥ और फिर अपने मनोरथकी सिद्धिके लिए सिद्ध परमेष्ठिको नमस्कार कर 'गीघ्र ही रथ बढ़ाओ' इस प्रकार सारथिके लिए जोरसे प्रेरणा की ॥१०४॥ जिनकी रास ढीली कर दी गयी है और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़ोंके द्वारा ले जाया जानेवाला वह रथ लवणसमुद्रमे जहाजकी नाई गीघ्रताके साथ जा रहा था ॥१०५॥ मनोरथसे पहले रथ जाता है अथवा रथसे पहले मनोरथ जाता है इस प्रकार जिसके वेगकी सम्भावना की जा रही है ऐसा वह रथ समुद्रमें बढ़े वेगके साथ जा रहा था ॥१०६॥ क्या वह जलस्तम्भनी विद्यासे थँभा दिया गया था अथवा स्थलपनेको ही प्राप्त हो गया था क्योंकि चक्रवर्तीके घोड़े स्थल समझकर ही जलमे रथ खींचे लिये जा रहे थे ॥१०७॥ जिस प्रकार जलके बाहर पहियोका चीत्कार गवद होता था उसी प्रकार जलके भीतर भी हो रहा था और जिस प्रकार जलके बाहर घोड़े दौड़ते थे उसी प्रकार जलके भीतर भी दौड़ रहे थे, अहा ! चक्रवर्तीका पुण्य भी कैसा आश्चर्यजनक था ॥१०८॥ वे घोड़े बड़ी-बड़ी लहरोसे सींचे जानेपर भी बिना किसी परिश्रमके रथको ले जा रहे थे । उन लहरोसे उन्हें कुछ दुःख नहीं होता था वल्कि उनका परिश्रम दूर होता जाता था ॥१०९॥ रथके पहियेके आघातसे आकाशकी ओर उछलनेवाले जलके समूहने ध्वजाके वस्त्रमे भी जाड्य अर्थात् भारीपन ला दिया था सो ठीक ही है क्योंकि जलका ऐसा ही स्वभाव होता है । भावार्थ—संस्कृत काव्योमे ड और लं के बीच कोई भेद नहीं माना जाता इसलिए जलानाम्की जगह जडानाम् पढ़कर चतुर्थ चरणका ऐसा अर्थ करना चाहिए कि मूर्ख मनुष्योका यही स्वभाव होता है कि वे दूसरोमे भी जाड्य अर्थात् मूर्खता उत्पन्न कर देते हैं ॥११०॥ घोड़ोंके शरीर-पर लगाया हुआ अंगराग ( लेप ) परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेसे गीला नहीं हुआ था केवल खुरोंके वेगसे उठे हुए जलके छीटोसे ही धुल गया था ॥१११॥ रथके पहियोके सघट्टनसे क्षण-भरके लिए जो समुद्रका जल फटकर दोनो ओर होता जाता था वह ऐसा मालूम होता था मानो आगे होनेवाले सगर आदि चक्रवर्तियोके लिए सूत्र डालकर भाग ही तैयार किया जा रहा हो ॥११२॥ सारथिके द्वारा चलाया हुआ चक्रवर्तीका रथ उनके अभिलषित स्थानपर पहुँच

१ महाभागं ल० । २ सारथिम् । ३ त्यक्तरज्जुमि । ४ अगच्छत् । ५ स्थलमिति बुद्ध्या । ६ गतिविशेषा-  
 कात्मम् । ७ जलाद् बहिः । ८ स्थले इत्यर्थः । ९ सिन्धुमाना । १० सेचनविधि । ११ धमहरणकारणम् ।  
 ११ समुत्पीडनत् । १२ जलसमूह । जलाना जडानामिति ध्वनि । १३ स्वेदै ।

गत्वा कतिपयान्यवधौ योजनानि रथः प्रभोः । स्थितोऽन्तर्जलमाक्रम्य प्रस्ताव्य इव चार्धिता ॥११४॥  
 द्विषड्योजनमाग्राह्य स्थिते मध्येऽर्णवं रथे । रथाङ्गपाणिारुष्टो<sup>१</sup> जग्राह किल कार्मुकम् ॥११५॥  
<sup>२</sup>स्फुरन्ज्यं वज्रकाण्डं तदनुसारोपितं यदा । तदा जीवितसंदेहदोलाखण्डमग्न्युजगत् ॥११६॥  
 स्फुरन्मौर्वीरयस्तस्य मुहुः प्रचवानयन् दिशः । प्रभोममनयद्वाधिं चलत्सिन्धुलाकुलम् ॥११७॥  
 संहार्यः किमनुप्याधिपतं विजयमिदं जगत् । इत्याशङ्क्य क्षणं तस्ये तदा नमसि खेवरं ॥११८॥  
 वक्रोऽपि गुणवत्यस्मिन्नुज्ज्वल्य कार्मुके । जमोचं संदधे वाणं श्लाघ्यं स्थानकमास्थितः ॥११९॥  
 अहं हि भरतो नाम चक्री वृषभनन्दनः । मत्सादृभवन्यु मद्भुक्तिवासिनो व्यन्तरामराः ॥१२०॥  
 द्रुति व्यक्तलिपिन्त्यासो दूतमुख्य इव दूतम् । स पत्नी<sup>३</sup> चक्रिणाः सुक्तः प्रादुसुखीमास्थितो गतिम् ॥१२१॥  
<sup>४</sup>जितनिघातनिघोषं ध्वनिं कुर्वन्नमस्तलात् । न्यपसन्मागधावासे तत्सैन्यं क्षोभमानयन् ॥१२२॥  
 किमेव ध्रुमितोऽम्भोधि कल्पान्तपवनाहतः । निर्वातः किंस्विदुद्वहान्तो भूमिकण्यो नु जृम्भते ॥१२३॥  
<sup>५</sup>इत्याकुलाकुलधियस्तनिकाचोपगाः सुराः । परिवव्रुरपेल्येनं सचब्दा मागधं प्रभुम् ॥१२४॥  
 देव दीप्रः शरः कोऽपि पतितोऽस्मत्समाङ्गणे । तेनार्यं प्रकृतः<sup>६</sup> क्षोभो न किंचित्कारणान्तरम् ॥१२५॥

गया और पुण्यरूपी सारथिके द्वारा प्रेरित हुआ चलका मनोरथ भी सफलताको प्राप्त हो गया ॥११३॥ महाराज भरतका रथ समुद्रमें कुछ योजन जाकर जलके भीतर ही खड़ा हो गया मानो समुद्रने ऊपरकी ओर बढ़कर उसके घोड़े ही थाम लिये हों ॥११४॥ जब वह रथ समुद्रके भीतर बारह योजन चलकर खड़ा हो गया तब चक्रवर्तीने कुछ कुपित होकर धनुष उठाया ॥११५॥ जिसको प्रत्यचा ( डोरी ) स्फुरायमान है और काण्ड वज्रके समान है ऐसा वह धनुष जिस समय चक्रवर्तीने प्रत्यचासे युक्त किया था उसी समय यह जगत् अपने जीवित रहनेके सन्देह रूपी झूलपर आरुढ़ हो गया था अर्थात् समस्त ससारको अपने जीवित रहनेका सन्देह हो गया था ॥११६॥ समस्त दिशाओको बार-बार शब्दायमान करते हुए चक्रवर्तीके धनुषकी स्फुरायमान प्रत्यचाके शब्दने इधर-उधर भागते हुए मच्छोके समूहसे भरे हुए समुद्रको भी क्षोभित कर दिया था ॥११७॥ क्या यह चक्रवर्ती इस समुद्रका संहार करना चाहता है अथवा समस्त संसारका ? इस प्रकार आशका कर विद्याधर लोग उस समय क्षण-भरके लिए आकाशमें खड़े हो गये थे ॥११८॥ जो टेढ़ा होकर भी गुणवान् ( पक्षमें डोरीसे सहित ) और सरल कार्य करनेवाला था ( पक्षमें सीधा बाण छोड़नेवाला था ) ऐसे उस धनुषपर चक्रवर्तीने प्रशस्तनीय-योग्य आसनसे खड़े होकर भी व्यर्थ न जानेवाला अमोघ नामका बाण रखा ॥११९॥ 'मै वृषभ-देवका पुत्र भरत नामका चक्रवर्ती हूँ इसलिए मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्रमें रहनेवाले सब व्यन्तर देव मेरे अधीन हो इस प्रकार जिसपर स्पष्ट अक्षर लिखे हुए हैं ऐसा हुआ वह चक्रवर्तीके द्वारा चलाया हुआ बाण मुख्य दूतकी तरह पूर्व दिशाकी ओर मुख कर चला ॥१२०-१२१॥ और जिसने वज्रपातके शब्दको जीत लिया है ऐसा भारी शब्द करता हुआ तथा मागध देवकी सेनामें क्षोभ उत्पन्न करता हुआ वह बाण आकाश-तलसे मागध देवके निवासस्थानमें जा पड़ा ॥१२२॥ क्या यह कल्पान्त कालके वायुसे ताड़ित हुआ समुद्र ही क्षोभको प्राप्त हुआ है ? अथवा जोरसे शब्द करता हुआ वज्र पड़ा है ? अथवा भूमिकम्प ही हो रहा है ? इस प्रकार जिनकी बुद्धि अत्यन्त व्याकुल हो रही है ऐसे उसके समीप रहनेवाले व्यन्तरदेव तैयार होकर मागध देवके पास आये और उसे घेरकर खड़े हो गये ॥१२३-१२४॥ हे देव, हमारे सभा-

१ जलमध्ये । २ अर्णवमध्ये । ३ कुट्ट । ४ स्फुरन्ती ज्या मौर्वी यस्य स तम् । ५ चक्रिणः । ६ स्थानकम् प्रत्यालीढादिस्थानम् । ७ मदवीना भवन्यु । ८ मम क्षेत्रवाग्निन इत्यर्थः । ९ बाण । १० पूर्वोन्निमुखीम् । ११ अशनि । १२ अत्याकुलबुद्धयः । १३ विहित ।

येनायं प्रहितः पत्नी नाकिना दानवेन वा । तस्य कर्तुं प्रतीकारमिमे सज्जा वयं<sup>१</sup> प्रभो ॥१२६॥  
 इत्यारक्षिं सदैस्तूर्णमेत्य विज्ञापितः प्रभुः । अलमाध्वं<sup>२</sup> मटालपैरित्युच्चैः प्रत्युवाच तान् ॥१२७॥  
 ययं तं<sup>३</sup> एव मद्राष्ट्राः सोऽहमेवास्मि मागध<sup>४</sup> । श्रुतपूर्वमिदं किं वः सोऽहं मत्स्यरिः ॥१२८॥  
 विमर्ति यः पुमान् प्राणाञ्च<sup>५</sup> परिभूतिमलीमसान् । न गुणैर्लिङ्गमात्रेण पुमानेष प्रतीयते ॥१२९॥  
 स चित्रपुरुषो वास्तु चञ्चापुरुष<sup>६</sup> एव च<sup>७</sup> । ओ विनापि गुणैः पौष्टैर्नानैव<sup>८</sup> पुरुषायते ॥१३०॥  
 स पुमान् यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च पौरुषैः । भट्टब्रुवो जनो यस्तु तस्यास्त्वं भवनिर्मुवि ॥१३१॥  
 विजिगीषुतया देवा<sup>९</sup> वयं नेच्छाविहारतः<sup>१०</sup> । ततोऽरिविजयादेव संपदस्तु सदापि नः ॥१३२॥  
 वस्तुवाहनराज्याङ्गराराधयति यः परम् । परमोगीष्मैर्द्वयं<sup>११</sup> तस्य मन्ये विडम्बनम् ॥१३३॥  
 शरशाली प्रभुः कोऽपि सतोऽयं<sup>१२</sup> धनमीप्सति । घनायतोऽस्य द्वास्यामि निधनं प्रथमैः<sup>१३</sup> समम् ॥१३४॥  
 विचूष्यैवं शरं तावन् कोपाग्नेः प्रथमेन्धनम् । करवाणीदमेवास्तु<sup>१४</sup> तनुशस्त्रैर्येन्धनम्<sup>१५</sup> ॥१३५॥

भवनके आंगनमे कोई देदीप्यमान बाण आकर पड़ा है उसीसे यह क्षोभ हुआ है इसका दूसरा कारण नहीं है ॥१२५॥ हे प्रभो, जिस किसी देव अथवा दानवने यह बाण छोड़ा है हम सब लोग उसका प्रतिकार करनेके लिए तैयार है ॥१२६॥ इस प्रकार रक्षा करनेवाले वीर योद्धाओं-ने क्षीघ्र ही आकर अपने स्वामी मागध देवसे निवेदन किया और मागध देवने भी बड़े जोरसे उन्हें उत्तर दिया कि चुप रहो, इस प्रकार वीर वाक्योंसे कुछ लाभ नहीं है ॥१२७॥ तुम लोग वे ही मेरे अधीन रहनेवाले देव हो और मैं भी वही मागध देव हूँ, क्या मुझे कभी पहले अपना शत्रु सहन हुआ है ? यह बात तुम लोगोंने पहले भी कभी सुनी है ? ॥१२८॥ जो पुरुष पराभवसे मलिन हुए अपने प्राणोको धारण करता है वह गुणोसे पुरुष नहीं कहलाता किन्तु केवल लिंगसे ही पुरुष कहलाता है ॥१२९॥ जो पुरुष, पुरुषोमे पाये जानेवाले गुणोके बिना केवल नामसे ही पुरुष बनना चाहता है वह या तो चित्रमे लिखा हुआ पुरुष है अथवा तुण काष्ठ वगैरहसे बना हुआ पुरुष है ॥१३०॥ जो अपने पराक्रमसे अपने कुल और जन्मको पवित्र करता है वास्तवमे वही पुरुष कहलाता है, इसके विपरीत जो मनुष्य झूठमूठ ही अपनेको वीर कहता है पृथिवीपर उसका जन्म न लेना ही अच्छा है ॥१३१॥ हम लोग शत्रुओको जीतनेसे ही 'देव' कहलाते हैं, इच्छानुसार जहाँ-तहाँ विहार करनेमात्रसे देव नहीं कहलाते इसलिए हम लोगोकी सम्पत्ति सदा शत्रुओको विजय करनेमात्रसे ही प्राप्त हो ॥१३२॥ जो मनुष्य रत्न आदि वस्तु, हाथी घोड़े आदि वाहन और छत्र चमर आदि राज्यके चिह्न देकर किसी दूसरेकी आराधना-सेवा करता है उसका ऐश्वर्य दूसरोके उपभोगके लिए हो और मैं ऐसे ऐश्वर्यको केवल विडम्बना समझता हूँ ॥१३३॥ बाण चलानेवाला यह कोई राजा मुझसे धन चाहता है सो इसके लिए मैं युद्धके साथ-साथ निधन अर्थात् मृत्यु दूँगा ॥१३४॥ सबसे पहले मैं इस बाण-को चूर कर अपने क्रोधरूपी अग्निका पहला ईंधन बनाऊँगा, यही बाण अपने छोटे-छोटे टुकड़ों-

१ प्रभो वयम् स०, अ०, प०, इ० । २ अङ्गरक्षिभट्ट । ३ तूष्णी तिष्ठत । ४ ते पूर्वस्मिन् विद्यमाना एव । ५ परिभव । ६ तुणपुरुष । 'चञ्चोऽजलादिनिर्माणे चञ्चा तु तुणपुरुषे' इत्यभिधानात् । करिकलमन्यायमाश्रित्य पुन पुरुषशब्दप्रयोग । ७ वा ल०, व०, अ०, प०, स०, द०, इ० । ८ पुरुषसवन्विमि । ९ अनुत्पत्ति । 'वडो नि शापे' इति अग्निप्रत्ययान्त । १० दीव्यन्ति विजिगीषुपन्तीति देवा । ११ स्वरविहारत । क्रोडाविहारत इति भावः । १२ परमोगीष्मो हितम् । १३ अस्मत् । १४ प्रथमं द०, इ०, ल०, अ०, प०, स० । युद्धे । 'युद्धमाशोचनं जन्मं प्रवन प्रविदारणम्' इत्यभिधानात् । १५ अलशकलं ( चूर्णीकृतशरोरेवैनं ) । शत्रुशरीरशकलं । १६ मधुक्षणम्, अग्निज्वालनम् ।

साक्षेपमिति संस्मादुदीर्यं गिरमूर्जिताम् । व्यरंयीद् दृगनज्योत्स्नां संहर्न्मागधामरः ॥१३६॥  
 ततस्तमूचुरभ्यर्णाः सुरा दृष्टपरम्पराः । प्रभुं शमयितुं क्रोधाद् विद्यां बुद्धेर्विभोः स्थितिः ॥१३७॥  
 यथार्थं<sup>१</sup> वरमर्थं<sup>२</sup> च मितं च बहुविस्तरम् । अनाकुलं च गम्भीरं<sup>३</sup> नाधियामीदृशं वचः ॥१३८॥  
 सत्यं परिभवः सोढुमशक्यो मानशालिनाम् । बलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपरामभवकारणम् ॥१३९॥  
 सत्यमेव यन्नो रक्ष्यं प्राणैरपि धनैरपि । तत्तु प्रभुमनाश्रित्य कथं लभ्येत धीधनैः ॥१४०॥  
 अलव्यभावो लब्धार्थपरिरक्षणमित्यपि । दृश्यमेतत् सुखादृभ्यं जिगीषोर्नाश्रयं विना ॥१४१॥  
 बलिनामपि सन्त्येव बलीयांसो मनस्विनः । बलवानहमस्मीति नोत्सेवतव्यमत परम् ॥१४२॥  
 न किंचिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यतां<sup>४</sup> । ततः शरः कुतश्चोऽर्थं किमीयो<sup>५</sup> वेति मृग्यताम्<sup>६</sup> ॥१४३॥  
 श्रुतं च बहुशोऽस्माभिराप्तांशं<sup>७</sup> पुष्कलं वचः । जिनादचक्रधरंस्पाशं<sup>८</sup> वत्स्यन्तीहिति भारते ॥१४४॥  
 नूनं चक्रिण पद्मार्थं जयाशंसी शरागम । धृतान्धतमसोद्योतः संभाव्योऽन्यत्र किं रवेः<sup>९</sup> ॥१४५॥  
 अथवा खलु<sup>१०</sup> संसृज्य चक्रपाणेरयं शरः । ध्यनक्ति व्यक्तमेव<sup>११</sup> तन्नामाश्रमालिका ॥१४६॥

से मेरी क्रोधरूपी अनिनको प्रज्वलित करनेवाला हो ॥१३५॥ इस प्रकार वह मागध देव क्रोधसे तिरस्कारके साथ-साथ कठोर वचन कहकर दाँतोकी कान्तिको सकुचित करता हुआ जब चुप हो रहा ॥१३६॥ तब कुल-परम्पराको देखनेवाले समीपवर्ती देव उसका क्रोध शमन करनेके लिए उससे कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोगोकी स्थिति विद्याकी अपेक्षा बृद्ध हुए मनुष्योसे ही होती है, भावार्थ—जो मनुष्य विद्याबृद्ध अर्थात् विद्याकी अपेक्षा बढ़े है उन्हींसे राजा लोगोकी मर्यादा स्थिर रहती है किन्तु जो मनुष्य केवल अवस्थासे बढ़े हैं उनसे कुछ लाभ नहीं होता ॥१३७॥ उन देवोंने जो वचन कहे थे वे समयके अनुकूल थे, अर्थसे भरे हुए थे, परिमित थे, अर्थकी अपेक्षा बहुत विस्तारवाले थे, आकुलतारहित थे और गम्भीर थे सो ठीक ही है क्योंकि मूलोंके ऐसे वचन कभी नहीं निकलते हैं ॥१३८॥ उन देवोंने कहा कि हे प्रभो, यह ठीक है कि अभिमानी मनुष्योको अपना पराभव सहन नहीं हो सकता है परन्तु बलवान् पुरुषोके साथ विरोध करना भी तो अपने पराभवका कारण है ॥१३९॥ यह बिलकुल ठीक है कि अपने प्राण अथवा धन देकर भी यन्त्रकी रक्षा करनी चाहिए परन्तु वह यश किसी समर्थ पुरुषका आश्रय किये बिना बुद्धिमान् मनुष्योको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? ॥१४०॥ प्राप्त नहीं हुई वस्तुका प्राप्त होना और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी विजिगीषु राजाके आश्रयके बिना सुखपूर्वक प्राप्त नहीं हो सकते ॥१४१॥ हे प्रभो, बलवान् मनुष्योकी अपेक्षा और भी अधिक बलवान् तथा बुद्धिमान् है इसलिए मैं बलवान् हूँ इस प्रकार कभी गर्व नहीं करना चाहिए ॥१४२॥ सिद्धि अर्थात् सफलताकी इच्छा करनेवाले पुरुषको बिना विचारे कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिए इसलिए यह वाण कहाँसे आया है ? और किसका है ? पहले इस बातकी खोज करनी चाहिए ॥१४३॥ इस भारतवर्षमें चक्रवर्तियोके साथ तीर्थ कर निवास करेगे, अवतार लेगे ऐसे आप्त पुरुषोके यथार्थ वचन हम लोगो- ने अनेक बार सुने हैं ॥१४४॥ विजयको सूचित करनेवाला यह वाण अवश्य ही चक्रवर्तीका ही होगा क्योंकि सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला प्रकाश क्या मूर्खके सिवाय किसी अन्य वस्तुमें भी सम्भव हो सकता है ? अर्थात् नहीं ॥१४५॥ अथवा इस विषयमें संग्रह करना व्यर्थ है । यह वाण चक्रवर्तीका ही है, क्योंकि इसपर खुदे हुए नामके अक्षरोकी माला साफ-साफ ही

१ प्रभो स्थितिर्विद्याबुद्धेर्वचति हि । २ प्रभो ल० । ३ यथावसरमर्थं च द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । ४ अभिलषणीयम् । ५ बुद्धिहीनताम् । ६ सिद्धि वाञ्छता । ७ कस्य मंत्रित्वि । ८ विचार्यताम् । ९ आप्तमन्त्रि । १० रवि विवर्ज्य । ११ अङ्गा मा कार्पी । १२ चक्रिनामाश्र ।

तदेवं शरमभ्यर्च्य गन्धमाल्याक्षतादिभिः । पूज्याद्यैव विमोराज्ञा गत्वास्माभिः शरापणा ॥१४०॥  
मा गा मागध वैचित्यं<sup>१</sup> कार्यमेतद् विनिश्चिनु । न युक्तं तत्पतीपत्वं<sup>२</sup> तव तद्देववासिनः<sup>३</sup> ॥१४१॥  
तद्वत् देव संरम्य<sup>४</sup> तत्पातीप्यं<sup>५</sup> न श्रान्तये । मद्गतः सरिदोवस्य<sup>६</sup> कः प्रतीपं तरन् सुखी ॥१४२॥  
बलवान्मुवर्त्यदेवेदुनेयोऽद्य चक्रवृत्<sup>७</sup> । महत्सु बैतसीं<sup>८</sup> वृत्तिसामनन्त्यत्रिपल्कीरम् ॥१४३॥  
इहामुत्र च जन्तूनामुन्नत्यै पूज्यपूजनम् । तापं<sup>९</sup> तत्रानुवज्ज्वाति पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥१४४॥  
इति तद्वचनात्किञ्चित् प्रबुद्ध इव<sup>१०</sup> तत्क्षणम् । अज्ञातमेवमेतत्स्यादित्यसौ प्रत्यपद्यत<sup>११</sup> ॥१४५॥  
ससंभ्रममिवास्याभूच्चित्तं किञ्चित्सत्तापसम् । सायङ्कामित्रं<sup>१२</sup> सोद्वेगं प्रबुद्धमिव च क्षणम् ॥१४६॥  
ततः प्रसेदुषी<sup>१३</sup> तस्य नचिरादेव<sup>१४</sup> दोमुषी । पूर्वापरं व्यलोकित् कोपापायात् प्रदोमुषी<sup>१५</sup> ॥१४७॥  
सोऽयं चक्रवृत्तामाद्यो मरतोऽलङ्घयशासनः । प्रतीक्ष्य<sup>१६</sup> सर्वथास्माभिरनुनेयश्च सादरम् ॥१४८॥  
चक्रित्वं चरमाङ्गत्वं पुत्रत्वं च जगद्गुरोः । इत्यस्य पूज्यमेवैकं किं पुनस्तत्समुच्चितम् ॥१४९॥  
इति निश्चित्य<sup>१७</sup> संश्रान्तैरनुयातः सुरोत्तमैः । सहसा चक्रिणं द्रष्टुमुन्नचाल स मागधः ॥१५०॥

चक्रवर्तीको प्रकट कर रही है ॥१४६॥ इसलिए गन्ध माला अक्षत आदिसे इस बाणकी पूजा कर हम लोगोको आज ही वहाँ जाकर उनका यह बाण उन्हें अर्पण कर देना चाहिए और आज ही उनकी आज्ञा मान्य करनी चाहिए ॥१४७॥ हे मागध, आप किसी प्रकारके विकारको प्राप्त मत हुआ, और हम लोगोके द्वारा कहे हुए इस कार्यका अवश्य ही निश्चय कीजिए, क्योंकि उनके देशमें रहनेवाले आपको उनके साथ विरोध करना उचित नहीं है ॥१४८॥ इसलिए हे देव, क्रोध करना व्यर्थ है, चक्रवर्तीके साथ बैर करनेसे कुछ शान्ति नहीं होगी क्योंकि नदीके बड़े भारी प्रवाहके प्रतिकूल तैरनेवाला कौन सुखी हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१४९॥ यदि बलवान् मनुष्यको अनुकूल बनाये रखना चाहिए यह नीति है तो चक्रवर्तीको आज ही प्रसन्न करना चाहिए, क्योंकि बड़े पुरुषोके विषयमें देतके समान नञ् वृत्ति ही दुःख दूर करनेवाली है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१५०॥ पूज्य मनुष्योकी पूजा करनेसे इस लोक तथा परलोक-दोनों ही लोकोमें जीवोंकी उन्नति होती है और पूज्य पुष्पोकी पूजाका उल्लंघन अर्थात् अनादर करनेसे दोनों ही लोकोमें पापबन्ध होता है ॥१५१॥ इस प्रकार उन देवोंके वचनोसे जिसे उसी समय कुछ-कुछ बोध उत्पन्न हुआ है ऐसे उस मागध देवने मुझे यह हाल मालूम नहीं था यह कहते हुए उनके वचन स्वीकार कर लिये ॥१५२॥ उस समय उसके चित्तमें कुछ घबड़ाहट, कुछ भय, कुछ आशंका, कुछ उद्वेग और कुछ प्रबोध-सा उत्पन्न हो रहा था ॥१५३॥ तदनन्तर थोड़ी ही देरमें निर्मल हुई और क्रोधके नष्ट हो जानेसे शान्त हुई उसकी बुद्धिने आगे पीछेका सब हाल देख लिया ॥१५४॥ यह वही चक्रवर्तियोंमें पहला चक्रवर्ती भरत है जिसकी कि आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, हम लोगोको हरएक प्रकारसे इसकी पूजा करनी चाहिए और आदरसहित इसकी आज्ञा माननी चाहिए ॥१५५॥ यह चक्रवर्ती है, चरमवारीरी है और जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, इन तीनोंमेंसे एक-एक गुण ही पूज्य होता है फिर जिसमें तीनोंका समुदाय है उसकी तो बात ही क्या कहनी है ? ॥१५६॥ इस प्रकार निश्चय कर वह मागध देव शीघ्र हो चक्रवर्तीको देखनेके लिए आकाश-मार्गसे चला, उस समय सम्भ्रमको प्राप्त हुए अनेक अच्छे-अच्छे देव उसके पीछे-पीछे

१ चित्तविकारम् । २ चक्रप्रतिकूलत्वम् । ३ -वर्तिनः ल० । ४ संरम्यं मा कार्यं । ५ प्रातिकूल्यम् । ६ प्रवाहस्य । ७ वेतससम्प्रचिनीम् । अनुकूलतामित्यर्थः । ८ पाप ल० । ९ जन्तोः । १० एव । ११ अनु-मेने । १२ इव अवधारणे । १३ प्रसन्नवर्ती । १४ अलकालेनैव । १५ उपसमवनी । १६ पूज्य । सांग्रयिकः, सशयापवमानस । १७ सम्भ्रमवद्भिः ।

खमुन्मणितिरीशुरचित्तेन्द्रशरासनम् । क्षणेनोद्धृत्य संप्रापत् तं देशं यत्र चक्रभूत् ॥१५८॥  
 पुरोधाय<sup>१</sup> शरं रत्नपटले सुनिवेशितम् । मागधः प्रसुमानंसी<sup>२</sup> दायं स्वीकुरु मामिति ॥१५९॥  
 चक्रोत्तिक्षणे भद्र यन्नायामोऽनभिज्ञाः<sup>३</sup> । महान्तमपराधं नस्त्वं क्षमस्वार्थितो<sup>४</sup> मुहुः ॥१६०॥  
 युष्मत्पादरजःस्पर्शाद् वार्ष्णिरेव न केवलम् । पूता वयमपि श्रीमन् त्वत्पादाम्बुजसेवया ॥१६१॥  
 रत्नान्यसूच्यनर्घाणि स्वर्गोऽप्यसुलभानि च । अधो<sup>५</sup> निधीनामाधातुं सोपयोगानि सन्तु ते ॥१६२॥  
 हारोऽथमतिरोचिष्णुरवाराहै<sup>६</sup> रजुकिजैः । अवेषुद्विपसंभूतैः दृढो मुक्ताफलैर्युजैः ॥१६३॥  
 तच्च वक्षःस्थलाश्लेषा<sup>७</sup> दुपेया दुपहारताम्<sup>८</sup> । स्फुरन्ती<sup>९</sup> कुण्डले चामू कर्णासङ्गात् पवित्रताम् ॥१६४॥  
 इत्यस्मै कुण्डले दिव्ये हारं च चित्तवार सः । त्रैलोक्यसारसंदोहमिवैक्यमुपागतम्<sup>१०</sup> ॥१६५॥  
 रत्नैश्चाभ्यर्च्य रवेशं मागधः प्रीतमानसः । प्रमोदवाससत्कारः तन्मतात् स्वमगात् पदम् ॥१६६॥  
 अयं तत्रस्थ एवालिंघ सान्तर्द्वारं विलोकयन् । प्रसुर्विसिस्मये<sup>११</sup> किंचिद् बह्माश्चर्यो हि वारिधिः ॥१६७॥  
 ततः कृतहृत्वाद् वार्षि पश्यन्तं भूगतः<sup>१२</sup> पतिसु । तमिदुवाच दन्तांशुसुमनोमञ्जरीः किरन् ॥१६८॥

पृथ्वीपुत्रम्

अयं जलधिस्त्रचलत्तरलवीचिवाद्भूतस्फुरन्मणिगणार्चनो ध्वनदसङ्ख्ययज्ञाङ्गुलः ।

तवार्धमिव संधिधित्सुरनुबेलमुच्चैर्नदन् मरुद्वृत्तजलानको दिशतु वाश्वदानन्दधुम्<sup>१३</sup> ॥१६९॥

जा रहे थे ॥१५७॥ देदीप्यमान मणियोसे जड़े हुए मुकुटकी किरणोंसे जिसमें इन्द्रधनुष बन रहा है ऐसे आकाशको क्षण-भरमें उल्लंघन कर वह मागध देव जहाँ चक्रवर्ती था उस स्थान-पर जा पहुँचा ॥१५८॥ रत्नके पिटारमें रखे हुए बाणको सामने रखकर मागध देवने भरतके लिए नमस्कार किया और कहा कि हे आर्य, मुझे स्वीकार कीजिए—अपना ही समझिए ॥१५९॥ हे भद्र, हम अज्ञानी लोग चक्र उत्पन्न होनेके समय ही नहीं आये सो आप हमारे इस भारी अपराधको क्षमा कर दीजिए, हम बार-बार प्रार्थना करते हैं ॥१६०॥ हे श्रीमन्, आपके चरणोंकी धूलिके स्पर्शसे केवल यह समुद्र ही पवित्र नहीं हुआ है किन्तु आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे हम लोग भी पवित्र हो गये हैं ॥१६१॥ हे प्रभो, यद्यपि ये रत्न अमूल्य हैं और स्वर्गमें भी दुर्लभ हैं तथापि आपकी निधियोंके नीचे रखनेके काम आवें ॥१६२॥ यह अतिशय देदीप्यमान तथा सुगर, सीप, बाँस और हाथीमें उत्पन्न न होनेवाले दिव्य मोतियोंसे गुथा हुआ हार आपके वक्ष स्थलके आलिंगनसे पूज्यताको प्राप्त हो तथा ये देदीप्यमान—चमकते हुए दोनों कुण्डल आपके कानोंकी संगतिसे पवित्रताको प्राप्त हो ॥१६३—१६४॥ इस प्रकार उस मागध देवने एकरूपताको प्राप्त हुए तीनों लोकोंकी सार-वस्तुओंके समुदायके समान सुशोभित होनेवाला हार और दोनों दिव्य कुण्डल भरतके लिए समर्पित किये ॥१६५॥ तदनन्तर जिसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है ऐसे मागध देवने अनेक प्रकारके रत्नोंसे रत्नोके स्वामी भरत चक्रवर्तीकी पूजा की और फिर उनसे आदर-सत्कार पाकर उन्हीकी सम्मतिसे वह अपने स्थानपर चला गया ॥१६६॥

अथानन्तर—वहाँ खड़े रहकर ही अन्तर्द्वीपोंसहित समुद्रको देखते हुए महाराज भरत-को कुछ आश्चर्य हुआ सो ठीक ही है क्योंकि वह लवणसमुद्र अनेक आश्चर्यसे सहित था ॥१६७॥ तदनन्तर दाँतोकी किरणरूपी पुष्पमञ्जरीको बिखेरता हुआ सारथि कौतूहल-से समुद्रको देखनेवाले भरतसे इस प्रकार कहने लगा ॥१६८॥ कि, उछलती हुई चंचल लहरो

१ अग्रे कृत्वा । २ नमस्करोति स्म । ३ आगता । ४ प्रार्थित । ५ निधिं प्रयत्नेन स्थापयितुमर्हः शिलाकर्तुं सप्रयोजनानि भवन्तिस्ति भावः । ६ न सूकरजै । ७ इक्षुजै । ८ समात् । ९ उपगच्छत् । १० पूज्यताम् । ११ स्फुरती कुण्डले केने ल० । १२ एकप्रकारम् । १३ विस्मितवान् । १४ यानमुखं गतः । सारथिरित्यर्थः । १५ आनन्दम् ।

अमुष्यजलमुत्पत्तद्गगनमेतदालक्ष्यते शशाङ्करकोमलचैत्रविभिराततं श्रीकरैः ।  
 प्रहासमिव दिग्बभूवपरिचयाय विख्यदधत् तितारं दिव चात्मनः प्रतिदिशं यशो मागहाः ॥१७०॥  
 क्वचित्सुकुटितशुकिमीतिक्वत्तं सतारं नभो जयत्यलिललीमसं मकरमीनराशिञ्जितम् ।  
 क्वचित्सलिलमय्य भोगिकुलं संकुलं सूत्रतं नरेन्द्रकुलमुत्तमस्थितिजिगीषतीवोद्भटम् ॥१७१॥  
 इतो विशति गाङ्गमम्बु शरदम्बुदाच्छच्छि सुतं हिमवतोऽसुतश्च सुरसं पथः सैन्धवम्<sup>१</sup> ।  
 तथापि न जलागमेन धृतिरस्य पोष्यते ध्रुवं न जलसंग्रहैरिह जलाशयो<sup>२</sup> द्रायति<sup>३</sup> ॥१७२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

व्याप्योदरं चलकुलाचलसंनिकाशाः पुत्रा इवास्य तिमयः पयसा प्रपुष्टाः ।

कङ्गोलकाश्च परिमारहिताः समन्तादन्योन्यवद्वनपराः सममावसन्ति<sup>४</sup> ॥१७३॥

रूपी भुजाओके द्वारा धारण किये हुए देदीप्यमान मणियोंके समूह ही जिसकी पूजाकी सामग्री है, जो शब्द करते हुए असल्यात राखोसे आकुल है, जो प्रत्येक बेलके साथ जोरसे शब्द कर रहा है, वायुके द्वारा कम्पित हुआ जल ही जिसके नगाड़े हैं और जो इन सबसे ऐसा जान पड़ता है मानो आपके लिए अर्घ्य ही देना चाहता हो ऐसा यह समुद्र सदा आपके लिए आनन्द देवे ॥१६९॥ आकाशकी ओर उछलता हुआ और चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल कान्तिवाले जलके छोटे-छोटे छोटोसे व्याप्त हुआ इस समुद्रका यह जल ऐसा जान पड़ता है मानो दिशारूपी स्त्रियोंके साथ परिचय करनेके लिए चारो ओरसे हास्य ही कर रहा हो अथवा अपना यग वाँटकर प्रत्येक दिशामें फैलाना ही चाहता हो ॥१७०॥ खुली हुई सीपोंके मोतियोंसे व्याप्त हुआ, भ्रमरके समान काला और मकर, मीन, मगर-मच्छ आदि जल-जन्तुओंकी राशि-समूहसे भरा हुआ यह समुद्रका जल कहीं ताराओसहित, भ्रमरके समान श्याम और मकर मीन आदि राशियों से भरे हुए आकाशको जीतता है तो कहीं राजाओंके कुलको जीतना चाहता है क्योंकि जिस प्रकार राजाओंका कुल भोगी अर्थात् राजाओंके समूहसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार यह जल भी भोगी अर्थात् सर्पोंके समूहसे व्याप्त है, जिस प्रकार राजाओंका कुल सूत्रत अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार यह जल भी सूत्रत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा है, जिस प्रकार राजाओंका कुल उत्तम स्थिति अर्थात् मर्यादासे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उत्तम स्थिति अर्थात् अवधि (हृद) से सहित है, और राजाओंका कुल जिस प्रकार उद्भूत अर्थात् उत्कृष्ट योद्धाओसे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उद्भूत अर्थात् प्रबल है ॥१७१॥ इधर हिमवान् पर्वत-से निकला हुआ तथा शरद्वक्रतुके बादलोंके समान स्वच्छ कान्तिको धारण करनेवाला गंगा नदीका जल प्रवेश कर रहा है और उस ओर सिन्धु नदीका मीठा जल प्रवेश कर रहा है, फिर भी जलके आनेसे इसका सन्तोष पूरा नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जलाशय (जिसके बीचमें जल है, पक्षमें जड़ आशयवाला-मूर्ख) जल (पक्षमें जड़-मूर्ख) के संग्रहसे कमी भी सन्तुष्ट नहीं होता है । भावार्थ — जिस प्रकार जलाशय-जडाशय अर्थात् मूर्ख मनुष्य जलसंग्रह-जड़संग्रह अर्थात् मूर्ख मनुष्योंके संग्रहसे सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार जलाशय अर्थात् जलसे भरा हुआ समुद्र या तालाव जल संग्रह अर्थात् पानीके संग्रह करनेसे सन्तुष्ट नहीं होता ॥१७२॥ इस समुद्रके उदर अर्थात् मध्यभाग अथवा पेटमें व्याप्त होकर पय अर्थात् जल अथवा दूधसे अत्यन्त पुष्ट हुए तथा चलते हुए कुलाचलोंके समान बड़े-बड़े इसके पुत्रोंके समान मगरमच्छ और प्रमाणरहित

१ बिस्तारितुमिच्छत् । २ सर्पसमूह पक्षे भोगिसमूह । ३ सिन्धुनदीसन्धि । ४ जलावार जडवृद्धिश्च ।  
 ५ द्रायति तृप्यति । ६ तृप्ती । — ६ भाविजन्ति ल०, द० ।



आपो धनं धृतरसाः सरितोऽस्य टाराः पुत्रीयिता<sup>१</sup> जलचराः सिकताश्च रवम् ।

इत्थं विभूतिं<sup>२</sup> लब्धदुर्लभितो विचित्रं धत्ते महोदधिरिति प्रथि<sup>३</sup>मानमेवः ॥ १७४ ॥

निःश्वसधूममलिनः फणमण्डलान्तः<sup>४</sup> सुख्यं<sup>५</sup> करवरुचयः परितो अमन्तः ।

व्यायच्छमानतनवो<sup>६</sup> रूपिते रकस्मादज्ञेऽमुकधि<sup>७</sup>धममी दधते फणीन्द्राः ॥ १७५ ॥

पदैर्यं जलनिधिः शिशिरपीन्दोरास्पृश्यमानसलिलः सहसा खमुधन् ।

रोषादिवोचलति<sup>८</sup> मुक्तगामीरभायो वेलाच्छलेन<sup>९</sup> न महान् सहतेऽभिभूतिम्<sup>१०</sup> ॥ १७६ ॥

नाकौक्यां धृतरसं<sup>११</sup> सहकामिनीमिराक्रीडनानि<sup>१२</sup> सुमनोहरकाननानि ।

द्वीपस्थलानि रुचिराणि सहस्रशोऽस्मिन् सन्न्यन्तरीपमित्र<sup>१३</sup> दुर्गनिवेशनानि<sup>१४</sup> ॥ १७७ ॥

अनेक लहरे ये सब चारों ओरसे एक दूसरेको घबका देते हुए एक ही साथ इस समुद्रमें निवास कर रहे हैं ॥ १७३ ॥ हे प्रभो, इस समुद्रके जल ही धन हैं, रस अर्थात् जल अथवा शृंगार या स्नेहको धारण करनेवाली नदियाँ ही इसकी स्त्रियाँ हैं, मगरमच्छ आदि जलचर जीव ही इसके पुत्र हैं और बालू ही इसके रत्न हैं इस प्रकार यह थोड़ी-सी विभूतिको धारण करता है तथापि महोदधि इस भारी प्रसिद्धिको धारण करता है यह आश्चर्यकी बात है । भावार्थ — इस श्लोकमें कविने समुद्रकी दरिद्र अवस्थाका चित्रण कर उसके महोदधि नामपर आश्चर्य प्रकट किया है । दरिद्र अवस्थाका चित्रण इस प्रकार है । हे प्रभो, इस समुद्रके पास आजीविकाके योग्य कुछ भी धन नहीं है । केवल जल ही इसका धन है अर्थात् दूसरोंको पानी पिला पिलाकर ही अपना निवाह करता है, इसकी नदीरूप स्त्रियोंका भी बुरा हाल है वे बेचारी रस-जल धारण करके अर्थात् दूसरेका पानी भर-भरकर ही अपनी आजीविका चलाती हैं । पुत्र हैं परन्तु वे सब जलचर अर्थात् ( जडचर ) मूर्ख मनुष्योंके नीकर हैं अथवा मूर्ख होनेसे नीकर हैं अथवा पानीमें रहकर गेंबाल वीनना आदि तुच्छ कार्य करते हैं, इसके सिवाय कुलपरम्परासे आयी हुई सोना-चाँदी रत्न आदिकी सम्पत्ति भी इसके पास कुछ नहीं है — बालू ही इसके रत्न हैं, यद्यपि इसमें अनेक रत्न पैदा होते हैं परन्तु वे इसके निजके नहीं हैं उन्हें दूसरे लोग ले जाते हैं इसलिए दूसरेके ही समझना चाहिए इस प्रकार यह विलकुल ही दरिद्र है फिर भी महोदधि ( महा + उ + दधिक् ) अर्थात् लक्ष्मीका बड़ा भारी निवासस्थान इस नामको धारण करता है यह आश्चर्यकी बात है । आश्चर्यका परिहार ऊपर लिखा जा चुका है ॥ १७४ ॥ जो निश्वासके साथ निकलते हुए धूमसे मलिन हो रहे हैं, जिनके फणाओके मध्यभागमें रत्नोंकी कान्ति स्पष्ट रूपसे प्रकट हो रही है, जो चारों ओर गोलाकार धूम रहे हैं, जिनके शरीर बहुत लम्बे हैं, और जो अकस्मात् ही क्रोध करने लगते हैं ऐसे ये सर्प इस समुद्रमें अलातचक्रकी शोभा धारण कर रहे हैं ॥ १७५ ॥ इस समुद्रका जल चन्द्रमाके शीतल पादो अर्थात् पैरोंसे (किरणोंसे) स्पर्श किया जा रहा है, इसलिए ही मानो यह क्रोधसे गम्भीर शब्द करता हुआ ज्वारकी लहरोंके छलसे बदला चुकानेके लिए अकस्मात् आकाशकी ओर उछलकर दौड़ रहा है सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष तिरस्कार नहीं सह सकते ॥ १७६ ॥ इस समुद्रके जलके

१ पुत्रा इव आचरिता । २ विभूतेरैश्वर्यस्य लभो लेगस्तेन दुर्लभितो दुर्गवः । लवणान्द्रोश्च विचित्र-कारणम् । ३ प्रसिद्धताम् । ४ फणमण्डलमध्ये । ५ सुषकट । ६ दीर्घमवच्छरीराः । ७ रोपेः । ८ अलात-शोभा । ९ किरणं चरणैरिति ध्वनि । १० -विबोध्यवलयति ल० । ११ जलविकाशक्याजेन । 'अण्डग्रन्थुविकृता वेला' इत्यभिधानात् । १२ परामवम् । १३ क्रियाविशेषणम् । मतिरस द० । प्रतरसा ल० । १४ आसमन्तात् क्रीडनानि येषु तानि । १५ समनोहर इत्यपि क्वचित् पाठ । १६ अन्तर्हीपमिव । 'द्वीपोऽस्तिवामन्तरीप यदन्तर्वारिणस्तदम् ।' इत्यभिधानात् । १७ महाद्वीपमध्यवर्तीनि गिरिदुर्गानिनिवेशनानि च सन्तोत्यर्थ । \* 'दधि क्षीरोत्तरावस्थाभावे श्रीवाससर्जयो' इति मेदिनी ।

मालिनीवृत्तम्

‘अयमनिभृतवलो’ रुद्रोऽधोऽन्तरालैरनिलबलविलोलैर्भूरिकछोलजालैः ।  
तद्वनममिहन्ति व्यक्तमस्मै<sup>३</sup> प्रस्पृश्यन् मम किल वहिरस्मान्नास्ति वृत्तिमुद्येति<sup>४</sup> ॥१७८॥  
अविगणितमहत्त्वा ययमस्मान् स्वपादैरमिहय<sup>५</sup> किमलङ्घ्यं वो वृथा तौद्वयमेतत् ।  
वयमिव किमलङ्घ्या किं गभीरा इतीत्यं परिवदति<sup>६</sup> विराबैर्न<sup>७</sup> मन्विः कुलाद्रीन् ॥१७९॥

प्रहर्षिणीवृत्तम्

अत्रायं भुजगशिखिलामिशङ्का<sup>८</sup> व्यात्तास्थं तिमिममिधानति प्रहृष्टः ।  
तं सोऽपि स्वगलत्रिलावलप्रलम्भं<sup>९</sup> स्वान्नास्था<sup>१०</sup> विहितदयो न जेगिलीति<sup>११</sup> ॥१८०॥

दोधकवृत्तम्

एष<sup>१२</sup> महामणिरदिमचिक्रीर्णं तोयममुष्य<sup>१३</sup> क्षतामिधशङ्क<sup>१४</sup> ।  
मीनगणोऽनुसरन् सहसास्माद् बह्निभिया पुनरप्यपयाति ॥१८१॥  
लोलतरङ्गविलोलितदधिर्वृद्धतरोऽसुमतिः<sup>१५</sup> सुसर्त<sup>१६</sup> नः ।  
ही रयमेव तिमिङ्गिलशङ्की पश्यति पश्य तिमिः<sup>१७</sup> स्तिमिताक्षः<sup>१८</sup> ॥१८२॥

भुजङ्गप्रयातवृत्तम्

इहामी भुजङ्गाः सरलैः फणाग्रैः समुत्क्षिप्य मोगान्<sup>१९</sup> खमुद्रीक्षमाणाः ।  
विमल्यन्त एते तरङ्गोरुहस्तैर्धृत्वा ढीपिकौवा महावार्धिनेव ॥१८३॥

भीतर अपनी देवागनाओके साथ बड़े वेगसे आते हुए वेनोके हजारो क्रीड़ा करनेके स्थान है, हजारो मत्तोहर वन है और हजारो सुन्दर द्वीप हैं तथा वे सब ऐसे जान पड़ते हैं मानो इसके भीतर बने हुए किले ही हो ॥१७७॥ ज्वार-भाटाओसे चचल हुआ यह समुद्र इस वनके बाहर मेरा जाना नहीं हो सकता है इसलिए इसपर प्रकट क्रोध करता हुआ अपने किनारेके वनको वायुके वेगसे अतिगय चचल और पृथिवी तथा आकाशके मध्य भागकी रोकनेवाली अनेक लहरोंके समूहसे व्यर्थ ही ताडन कर रहा है ॥१७८॥ हे प्रभो, यह गरजता हुआ समुद्र ऐसा जान पड़ता है मानो अपने ऊँचे शब्दोंसे कुल पर्वतोंको यही कह रहा है कि हे कुलपर्वतो, तुम्हारी ऊँचाई बहुत है इसलिए क्या तुम अपने पैरो अर्थात् अन्तके भागोंसे हम लोगोकी ताड़ना कर रहे हो ? तुम्हारी यह व्यर्थकी ऊँचाई क्या उल्लघन करनेके अयोग्य है ? क्या तुम हमारे समान अलघ्य अथवा गम्भीर हो ? ॥१७९॥ इधर यह साँपका बच्चा अपना बिल समझकर प्रसन्न होता हुआ, मुख फाड़े हुए मच्छके मुखमें दौड़ा जा रहा है और वह भी अपने गले रूप बिलमें लगे हुए इस साँपके बच्चेको अपनी आँत समझ दयाके कारण नहीं निगल रहा है ॥१८०॥ इधर यह मछलियोंका समूह पक्षराग मणिकी किरणोंसे व्याप्त हुए इस समुद्रके जलको मास समझकर उसे लेनेके लिए दौड़ता है और फिर अकस्मात् ही अग्नि समझकर वहाँसे लौट आता है ॥१८१॥ हे देव, इधर देखिए, चचल लहरोंसे जिसकी दृष्टि चचल हो रही है और जो बहुत ही बूढ़ा है ऐसा यह मच्छ इस रथको मछलियोंको खानेवाला बड़ा मच्छ समझकर निश्चल दृष्टिसे देख रहा है, हमारा खयाल है कि यह बड़ा दुर्वुद्धि है ॥१८२॥ इधर

१ अस्थिर । अचलमित्यर्थ । २ आकाशमण्डलैः ‘भूम्याकाशरुह प्रयोगानयेषु रोधय’ । ३ तद्वनान् । ४ वृथा । ५ अभिताडयथ । ६ पक्षिञ्जनिभिः । ७ इव । ८ विवृताननम् । ९ मध्य । मध्यमं चावलनं च तुषोऽस्ती’ इत्यमरः । १० निजपुरीतद्विद्याकृतकृतय (?) [ निजपुरीतद्विभ्रमकृतदय ] । ११ भूय गलितः । १२ पक्षरागः । १३ समुद्रस्य । १४ पल्लः । १५ अशोभनबुद्धिः । १६ साधुज्ञातम् । १७ मत्स्यः । १८ ‘स्तिमिता वाधर्षिनिश्चलमित्यभिधानात् । १९ शरीराणि । ‘भोग सुखे श्यादिभूतावहेव फणकाययो’ ।

भुजङ्गप्रयातरिदं वारिशयेजलं लक्ष्यतेऽन्तःस्फुरद्भवकांठ ।  
महानीलवेम्बवर्धपरिनेकैर्वलद्भिश्चलद्भिस्ततःस्थान्तनुद्भिः ॥१८४॥

मत्तमयूरवृत्तम्

वातावाता १ पुष्करवाद्यन्विमुच्चैस्तन्वानेज्ज्वा मन्त्रगमोर् कनलास्याः ।  
झपोपान्ने सन्ततमस्मिन् सुरकन्या रंरन्त्यन्ते मत्तमयूरः यममेताः ॥१८५॥  
नीलं व्यामा. कृतरवमुच्चैर्धृतनादां विद्युद्भन्तः स्फुरितभुजङ्गाङ्गणरवम् ।  
आडिलप्यन्तो जलदसमुहा जलमस्य व्याप्तिं नोपग्रजितुमलं २ तं वनकाले ॥१८६॥  
पथ्याम्भोघ्रेरनुतटमेनां धनराजीं राजीवास्यं प्रशमितनापां विततापाम् ३ ।  
बेलोत्सर्पजलकणिकाभिः ४ परिघातां नीलां श्रादीमिव ५ सुमनोभिः प्रविहीर्णाम् ॥१८७॥

तोटकवृत्तम्

परितः ६ सग्माः सरमैः कमलैः सुहिताः ७ सुचिरं विचरन्ति मृगाः ।  
८ उपतीरममुष्य निगमं मुखान् वमति ९ निर्यद्वृत्तिमेष्य वने ॥१८८॥  
धनुनीरवने १० मृगयूपमिदं कनकस्थलमुज्ज्वलितं सन्निभिः ।  
परिवीक्ष्य दवानलशङ्कि भृङ्ग ११ परिभाषति चावति तीरमुखः ॥१८९॥

रत्नसहित फणाके अग्रभागसे अपने मस्तकको ऊँचा उठाकर आकाशकी ओर देखते हुए ये सर्प ऐसे जान पड़ते हैं मानो इस महासमुद्रने अपने तरंगोष्पी वड़े-वड़े हाथोंसे दीपकोंके समूह ही धारण कर रखे हो ॥१८३॥ जिसके भीतर करोड़ों रत्न दंदीयमान हो रहे हैं ऐसा यह महा-समुद्रका जल सर्पोंके इधर-उधर जानेसे ऐसा दिखाई देता है मानो फैले हुए अन्वकारकी नष्ट करते हुए, जलते हुए और चलते हुए अनेक दीपकोसे सहित महानील मणियोंका वना-हुआ घर ही हो ॥१८४॥ जिस समय यह समुद्र वायुके आघातसे पुष्कर ( एक प्रकारका बाजा ) के समान गम्भीर और ऊँचे शब्द करता है उस समय इस दीपके किनारेपर इन उन्मत्त मयूरोके साथ साथ नृत्य करती हुई ये देवकन्याएँ निरन्तर क्रीडा किया करती हैं ॥ १८५ ॥ वर्षाऋतुमें बादलोके समूह और इस समुद्रका जल दोनों एक समान रहते हैं क्योंकि वर्षाऋतुमें बादलोंके समूह काले रहते हैं और समुद्रका जल भी काला रहता है, बादलोंके समूह जोरसे गरजते हुए आनन्दित होते हैं और समुद्रका जल भी जोरसे शब्द करता हुआ आनन्दित होता है — लहराता रहता है, बादलोंके समूहमें विजली चमकती है और समुद्रके जलमें भी सर्पोंके ऊँचे उठे हुए फणाओं-पर रत्न चमकते रहते हैं, इस प्रकार बादलोंके समूह अपने समान इस समुद्रके जलका आलिंगन करते हुए वर्षाऋतुमें किसी दूसरी जगह नहीं जा सकते यह स्पष्ट है ॥ १८६ ॥ कमलके समान सुन्दर मुखको धारण करनेवाले हे देव, समुद्रके किनारे-किनारेकी इन वनपक्षियोंको देखिए जिनमें कि सूर्यका सन्ताप विलकुल ही शान्त हो गया है, जहाँ-तहाँ विस्तृत जल भरा हुआ है, जो फूलोंसे व्याप्त हो रही है और जो वड़ी-वड़ी लहरोके उछलते हुए जलकी वृंदोंसे धोई हुई नीले रंगकी साड़ियोंके समान जान पड़ती है ॥१८७॥ इस समुद्रके किनारेके वनमें उपद्रव-रहित तथा स्वभावसे ही सुख देनेवाले स्थानपर आकर सरस कलमी घानोंको खाते हुए ये हरिण बहुत काल तक इन तालावोंके चारों ओर घूमा करते हैं ॥१८८॥ इस किनारेके वनमें कान्ति

१ व्याप्तान्वकारनाशकः । २ जलमिति वाद्य अथवा चर्मोन्द्वाद्यभेद । ३ सममेतै. ल०, द० । ४ घृतमोदा ल० । ५ तडिद्वन्त । ६ व्यक्त ल० । ७ गन्तुम् । ८ मेघमूहा । ९ कमलास्थ । १० विस्तृतजलम् । ११ जललव । १२ कणिका कथ्यतेऽयन्ता सूक्ष्मवस्त्वनिमन्यथो. १३ वक्ष्यम् । १४ सरसीना समन्तत । १५ पोषिता । १६ तटे । १७ निर्यद्वाम । १८ तटवने । १९ परिमण्डले (बेलायाम्)

ग्रहर्षिणी

लावण्यादयमभिसारयन्<sup>१</sup> सरित्स्त्रीरासस्तप्रतनुं जलांशुकास्तरङ्गैः ।<sup>२</sup>

वाङ्मिल्यन्मुहुरपि नोपयाति वृत्तिं संमोगैरतिरसिको न नृप्यतीह ॥१६०॥

वसन्ततिलका

रो<sup>३</sup> भोभुवोऽस्य तनुश्रीकरवारिसिन्वा<sup>४</sup> संसारिता विरलमुच्चलितैस्तरङ्गैः ।

मान्तीह संतलताविगल्यसूनित्योपहारसुमगा<sup>५</sup> शुसदा<sup>६</sup> निषेव्याः ॥१९१॥

मन्दक्रान्ता

स्वर्गोद्यानश्रियमिदं<sup>७</sup> हसत्युत्पसूने वनेऽस्मिन् मन्दाराणां सरति<sup>८</sup> पवने मन्दमन्दं वनान्तात् ।

मन्दक्रान्ताः<sup>९</sup> सललितपदं<sup>१०</sup> किञ्चिदारब्धगानाश्चक्षुष्यन्ते रङ्गयुवतयस्तीरदेगेष्वाभ्युप ॥१९२॥

ग्रहर्षिणी

अप्यव्य<sup>११</sup> स्तिमिरथमाजिघां<sup>१२</sup> सुतारादभ्यति द्रुतममिमाबु<sup>१३</sup> को<sup>१४</sup> सुयोनिम्<sup>१५</sup> ।

दौलोद्यानपि निगिलस्तिमीनितोऽन्यो व्यस्थास्ते<sup>१६</sup> समसमुना युयुत्समानः ॥१९३॥

पृथ्वी

जलादजगरस्तिमिं शयुमपि<sup>१७</sup> स्थलादप्युजो<sup>१८</sup> विकर्षति<sup>१९</sup> युयुत्सया<sup>२०</sup> कृतदृढग्रहो<sup>२१</sup> दुर्ग्रहः<sup>२२</sup> ।

तथापि न जयो मिथोऽस्ति समकक्षयोरैनयोर्ध्रुवं न<sup>२३</sup> समकक्षयोरिह जयेतरप्रक्रमः<sup>२४</sup> ॥१९४॥

से प्रकाशमान सुवर्णमय स्थानोको देखकर जिसे दावानलकी शंका हो रही है ऐसा यह हरिणो-  
का समूह बहुत गीघ्र किनारेकी पृथ्वीकी ओर लौटता हुआ दौड़ा जा रहा है ॥ १८९ ॥ यह  
समुद्र, जिनके जलरूपी सूक्ष्म वस्त्र कुछ-कुछ नीचेकी ओर खिसक गये हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियों-  
को लावण्य अर्थात् सुन्दरताके कारण ( पक्षमे खारापनके कारण ) अपनी ओर बुलाता हुआ तथा  
तरंगोंके द्वारा बार-बार उनका आलिंगन करता हुआ भी कभी तृप्तिको प्राप्त नहीं होता सो  
ठीक ही है क्योंकि जो अत्यन्त रसिक अर्थात् कामी ( पक्षमे जलसहित ) होता है वह इस संसार-  
मे अनेक बार सम्भोग करनेपर भी तृप्त नहीं होता है ॥ १९० ॥ जो छोटी-छोटी बूंदोंके पानी-  
के सींचनेसे स्वच्छ हो गयी हैं, निरन्तर लताओंसे गिरते हुए फूलोंके उपहारसे जो सदा सुन्दर  
जान पडती हैं, और जो देवोंके द्वारा सेवन करने योग्य हैं ऐसी ये यहाँकी किनारेकी भूमियाँ  
विरल-विरल रूपसे उछलती हुई लहरोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं ॥ १९१ ॥ स्वर्गके  
उपवनकी शोभाकी ओर हँसनेवाले तथा फूलोंसे भरे हुए इस वनमे मन्दार वृक्षोंके वनके मध्य  
भागसे यह वायु धीरे-धीरे चल रहा है और इसी समय जिन्होंने कुछ-कुछ गाना प्रारम्भ किया  
है ऐसी ये धीरे-धीरे चलनेवाली विद्याधरियाँ इस समुद्रके किनारेके प्रदेशोंपर लीलापूर्वक पैर  
रखती उठाती हुई टहल रही हैं ॥ १९२ ॥ इधर, इस जलमे उत्पन्न हुए अन्य अनेक मच्छोंको  
तिरस्कार कर उनके मारनेकी इच्छा करता हुआ यह इसी जलमें उत्पन्न हुआ बड़ा मच्छ बहुत  
गीघ्र दूरसे उनके सम्मुख आ रहा है और पर्वतके समान बड़े-बड़े मच्छोंको निगलता हुआ  
यह दूसरा बड़ा मच्छ उस पहले बड़े मच्छके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ खड़ा है ॥ १९३ ॥  
इधर, यह अजगर जलमे-से किसी वड़े मच्छको अपनी ओर खींच रहा है और मजबूतीसे पकड़ने-

१ अभिसारिका कुर्वन् । २ इलक्षण । ३ तटभूमयः । ४ देवानाम् । ५ हसतीति हसत् तस्मिन् ।  
६ सरतीति सरत् तस्मिन् । ७ मन्दयमना । ८ अप्यु भव । ९ आहन्तुमिच्छुः । १० अभिभवशील ।  
११ शङ्ख जलचर वा । १२ वैपरीत्येन स्थित । १३ अजगरम् । १४ मत्स्यः । १५ आकर्षति ।  
१६ योद्धुमिच्छया । १७ परस्परविहितदृढग्रहणम् । १८ स्वीकार । १९ गृहीतुमशक्यः । १९ समवल्योः ।  
२० अपजय ।

वनं<sup>१</sup> वनगत्रैरिदं जलनिधेः समास्फालितं वनं वनगत्रैरिव स्फुटविमुक्तसाराविणम् ।  
 मृदङ्गपरिवादनश्रियमुपादधद्विकटे सनोति तटमुच्चलत्सपदि दत्तसंमार्जनम् ॥ १९५ ॥  
 तरसिमिकलेवरं स्फुटितश्रुक्तिगल्कां चितं स्फुरत्परुषनिःस्वनं विवृतरन्ध्रपातालकम् ।  
 मयानकमितो जलं जलनिधेर्ल<sup>२</sup> सत्पद्मगप्रमुक्ततनुं कृत्तिसंशयितवीचिमालाकुलम् ॥ १९६ ॥  
 इतो धुतवनोनिलः शिशिरशीकरानाकिरन्नुपैति शनकैस्तटद्वमसुगन्धिपुष्पाहारः ।  
 इतदच परुषोऽनिलः स्फुरति धूतकल्लोलसात् कृतस्वनमयानकस्तिम्बिकलेवरानुवनम् ॥ १९७ ॥

### शार्दूलविक्रीडितम्

अस्योपान्तभुवश्चकासति तरां वेलोच्चलन्मौक्तिकैरकार्णः कुसुमोपहारजनितान् लक्ष्मीं दधाना भृशम् ।  
 सेवन्ते सह सुन्दरीभिरमरा याः स्वर्गलोकान्तरं मन्वाना<sup>३</sup> धृतसंमदास्तटवनच्छायातरुसंश्रिता ॥ १९८ ॥  
 एते ते मकरादयो जलचरा मत्वेच कुक्षिम्मरि<sup>४</sup> वारां राशिमनन्तरायमधिकं पुत्रा इवास्वयोरसाः ।  
 भागस्यै प्रतिलिपयामु<sup>५</sup> जनकस्याक्रोशतोप्यप्रतो युष्यन्ते मिलिताः परस्परमहो बद्धक्रुधो भिग्धनम् ॥ १९९ ॥  
 लोकानन्दिभिरप्रभा<sup>६</sup> परिगतैरुद्यावर्धभोगिनां मारुद्वैरधिमस्तकं<sup>७</sup> छुचित्तमैः संतापविच्छेदिभिः ।  
 पातालैर्विवृतानमैर्मुहुषि प्रासज्यैरक्षयैरासंसारममुष्य नास्ति विगमो<sup>८</sup> रतैर्जलैर्धरपि ॥ २०० ॥

वाला यह दुष्ट मच्छ भी लडनेकी इच्छासे उसे जमीनपरसे अपनी ओर खींच रहा है तथापि एक समान बल रखनेवाले इन दोनोंमे परस्पर किसीकी जीत नहीं हो रही है सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें जो समान शक्तिवाले हैं उनमें परस्पर जय और पराजयका निर्णय नहीं होता है ॥ १९४ ॥ जंगली हाथियोंके द्वारा अतिशय ताड़न किया हुआ यह समुद्रका जल, जिसमे जंगली हाथी स्पष्ट रूपसे गर्जना कर रहे हैं ऐसे किसी वनके समान तथा भूदग वजनेकी शोभाको धारण करता हुआ और दिशाओंमें उछलता हुआ किनारेको बहुत शीघ्र शुद्ध कर रहा है ॥ १९५ ॥ जिसमें अनेक मछलियोंके शरीर तैर रहे हैं, जो खुली हुई सीपोंके टुकड़ोंसे व्याप्त हैं, जिसमे कठोर शब्द हो रहे हैं, जिसने अपने रन्ध्रोंमें पातालको भी धारण कर रखा है, और जो तैरते हुए साँपोसे छूटी हुई काँचलियोंसे लोगोंको ऐसा सन्देह उत्पन्न करता है मानो लहरोके समूहसे ही व्याप्त हो ऐसा यह समुद्रका जल इधर बहुत भयानक हो रहा है ॥ १९६ ॥ इधर, वनको हिलाता हुआ, शीतल जलकी वूँदोंको बरसाता हुआ और वृक्षोंके सुगन्धित फूलोंकी सुगन्धिका हरण करता हुआ वायु धीरे-धीरे किनारेकी ओर बह रहा है और इधर बड़े-बड़े मच्छोंके शरीरको कैपाता हुआ तथा हिलती हुई लहरोके शब्दोंसे भयकर यह प्रचण्ड वायु बह रहा है ॥ १९७ ॥ जो बड़ी-बड़ी लहरोसे उछलते हुए मोतियोंसे व्याप्त होकर फूलोंके उपहारसे उत्पन्न हुई अतिशय शोभाको धारण करती है, किनारेके वनके छायादार वृक्षोंके नीचे बैठे हुए देव लोग हर्षित होकर अपनी-अपनी देवागनाओंके साथ जिनकी सेवा करते हैं और इसीलिए जो दूसरे स्वर्गलोककी शोभा बढाती है ऐसी ये इस समुद्रके किनारेकी भूमियाँ अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं ॥ १९८ ॥ ये मगरमच्छ आदि जलचर जीव, जिसके पास अनन्त धन है ऐसे इस समुद्रको अपने उदरका पालन-पोषण करनेवाला पिता समझकर सगे पुत्रोंके समान उसका धन बाँटकर अपने भाग (हिस्से)को अधिक रूपसे लेनेकी इच्छासे, गर्जनाके शब्दोंके बहाने चिल्लाते हुए पित्तके सामने ही इकट्ठे होकर क्रोधित होते हुए परस्परमे लड़ रहे हैं, हाय ! ऐसे धनको धिक्कार हो ॥ १९९ ॥ मुँह खोलकर पड़े हुए अनेक पातालो अर्थात् विबरो और

१ जलम् । २ शकल । ३ ललत्यत्रद्ग—ल०, अ०, द०, इ०, प०, स०, व०, । चलत्परम् ।  
 ४ निर्मोक । ५ पुष्पाण्याहर्तुं शील । ६ तन्वाना प० । ७ स्वोदरपूरकम् । 'उभावात्मभरि. कुक्षिभरिः  
 स्वोदरपूरकैः' इत्यभिधानात् । ८ उरशि भवा । ९ भाग लब्धुमिच्छया । १० इव । ११ प्रमाणरहित ।  
 १२ नानाप्रकार । १३ मस्तके । १४ वियोग ।

स्रग्धरा

वज्रद्रोण्यामप्युप क्रथदिव जग्रं व्यक्तमुद्बुद्बुदासुसूत्रैर्नालान्त्रोच्छ्वसदनिलबलाद्विप्लवावर्तमानम् ।  
प्रस्तीणनैकरत्नान्यपइरति जनेनूनमुत्तमन्तः प्रायो राया<sup>२</sup> त्रियोगो जनयति महतोऽप्युग्रमन्तर्विदाहम् ॥२०१॥

प्रहर्षिणी

आयुष्मन्निति बहुविस्मयोऽयमस्त्रिः सद्रत्नः सकलजगज्जनोपजीव्यः ।

गम्भीरप्रकृतिरनल्पसत्त्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते<sup>३</sup> विना जडिज्ञा<sup>४</sup> ॥२०२॥

वसन्ततिलका

हृत्थं नियन्तरि<sup>५</sup> परां श्रियमस्त्रुराशेरावर्णयत्यनुगतैर्दन्तैर्विचित्रैः ।

प्राप प्रमोदमधिकं नचिराच्च<sup>६</sup> सन्नाट्य सेनानिवेशमभियातुमना बभूव ॥२०३॥

वडवानलके द्वारा बार-बार हास होनेपर भी जिनका कभी क्षय नहीं हो पाता है, जो लोगोंको आनन्द देनेवाले है, प्रमाण-रहित है, अनेक प्रकारके है, सपोंके फणाओपर आरुढ है, अत्यन्त पवित्र है, और सन्तापको नष्ट करनेवाले है ऐसे रत्नो तथा जलके समूहोंकी अपेक्षा इस समुद्रका जबतक ससार है तबतक कभी भी नाश नहीं होता । भावार्थ—यद्यपि इस समुद्रके अनेक रत्न इसके विबरो-बिलोमे घुसकर नष्ट हो जाते हैं और जलके समूह वडवानलमे जलकर कम हो जाते हैं तथापि इसके रत्न और जलके समूह कभी भी विनाशको प्राप्त नहीं हो पाते क्योंकि जितने नष्ट होते हैं उससे कहीं अधिक उत्पन्न हो जाते हैं ॥२००॥ बहुत बड़े पातालरूपी छिद्रोंके द्वारा ऊपरकी ओर बढ़ते हुए वायुके जोरसे जो चारो ओर घूम रहा है और जिसमे जलके अनेक बबूले उठ रहे हैं ऐसा यह समुद्रका उदर अर्थात् मध्यभाग बज्जकी कड़ाहींमें खौलता हुआ-सा जान पड़ता है अथवा लोग इसके जहाँ-तहाँ फैले हुए अनेक रत्न ले जाते हैं इसलिए मानो यह भीतर ही भीतर सन्तप्त हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि धनका वियोग प्रायः करके बड़े-बड़े पुरुषोंके हृदयमे भी भयंकर दाह उत्पन्न कर देता है ॥२०१॥ हे आयुष्मन्, जिस प्रकार आप अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपके पास अच्छे-अच्छे रत्न हैं उसी प्रकार इस समुद्रके पास भी अच्छे-अच्छे रत्न हैं, जिस प्रकार ससारके समस्त प्राणी आपके उपजीव्य हैं अर्थात् आपकी सहायतासे ही जीवित रहते हैं उसी प्रकार इस समुद्रके भी उपजीव्य हैं अर्थात् समुद्रमें उत्पन्न हुए रत्न मोती तथा जल आदिसे अपनी आजीविका करते हैं, जिस प्रकार आप गम्भीर प्रकृतिवाले हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी गम्भीर (गहरी) प्रकृतिवाला है और जिस प्रकार आप अनल्पसत्त्व योग अर्थात् अनन्त शक्तिको धारण करनेवाले हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनल्पसत्त्व योग अर्थात् बड़े-बड़े जलचर जीवोंसे सहित है अथवा जिस प्रकार आप अनालसत्त्व योग अर्थात् आलस्यके सम्बन्धसे रहित हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनालसत्त्व योग अर्थात् नाल (नरा) रहित जीवोंके सम्बन्धसे सहित है इस प्रकार यह समुद्र ठीक आपका अनुकरण कर रहा है । यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है कि यह जलकी ऋद्धिसे सहित है और आप जल अर्थात् मूर्ख (जड़) मनुष्योंकी ऋद्धिसे सहित हैं ॥२०२॥ इस प्रकार जब सारथिने समुद्रकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब सम्राट् भरत बहुत ही अधिक आनन्दको प्राप्त हुए तथा श्रीम ही अपनी छावनीमे जानेके लिए उद्यत हुए ॥२०३॥

१ -वर्त्यमानम् द०, प०, ल० । २ धनानाम् । ३ अनुकरोति । ४ जडत्वेन । ५ माय्यी । ६ आशु ।

## मालिनी

अथ रथपरिवृत्तैः सारथी कृच्छ्रकृच्छ्राद् विषमचलनं मुग्धग्रीवमथास्तुत्यौ<sup>१</sup> ।  
 भुवति मरुति मन्दं वाचिवेगोपमान्ते निविरममिनिर्धानास्मागिता संप्रतस्थे ॥२०४॥  
 क्रथमपि रथचक्रं<sup>२</sup> सारथित्वास्तुरुदं<sup>३</sup> प्रवहणकृतकोपान् वाजिनोऽनुप्रसादय<sup>४</sup> ।  
 रथमधि जलमद्वयं<sup>५</sup> चोदयामास सूतो जलधिरपि नृपानुं ब्रज्ययेवोच्चाल ॥२०५॥  
 अथमथमुद्रमारो<sup>६</sup> धारिरागैर्वस्थं स्थगयति रथवेगादेष मिश्रोर्मिरन्विधः ।  
 इति किल तटमङ्गिस्तत्कर्ममाणो रथोऽयं जवनतुरगकृष्टः<sup>७</sup> प्राप पारमसुद्रम्<sup>८</sup> ॥२०६॥

## शिलरिणी

<sup>१०</sup> तरङ्गास्थस्तोऽयं<sup>१३</sup> ममघटितसर्वाङ्गघटनो रथः श्रेमान् प्राप्तो रथचरणहेनिश्च<sup>१४</sup> कुशली ।  
 तुरङ्गा धौलाङ्गा जलविसलिलैरश्रतत्तुरा महत्पुण्यं जिह्गोरिति किल जजल्पुस्तटजुषः<sup>१५</sup> ॥२०७॥  
 नृपैर्गङ्गाद्वारे प्रणतमणिमाल्यपितकररथस्तासद्वेष्टा सजयजयघोरैरधिकृतैः<sup>१६</sup> ।  
 बहिर्द्वारं<sup>१७</sup> सैन्यैर्युगपदम्कृतोपितजयैर्विमुष्टैः प्रापन् स्वजिविरवहिस्तोरणभुवम् ॥२०८॥

अथानन्तर-जब सारथिने बड़ी कठिनाईसे रथ लौटानेके लिए विषम रूपसे घूमनेके कारण गलेको कुछ टेढ़ा कर घोड़ेको हाँका, मन्द-मन्द वायु वहने लगा और लहरोका वेग जान्त हो गया तब निधियोके स्वामी भरतने छावनीकी ओर प्रस्थान किया ॥२०४॥ पानीसे स्के हुए रथके पहियोंको किसी तरह बाहर निकालकर और बार-बार हाँकने अथवा बोझ धारण करनेके कारण कुपित हुए घोड़ोंको प्रसन्न कर सारथि समुद्रमें जलके भीतर ही रथ चला रहा था, और वह समुद्र भी उस रथके पीछे-पीछे जानेके लिए ही मानो उछल रहा था ॥२०५॥ अरे, यह समुद्रकी बड़ी भारी लहर रथकी छतरीको अवश्य ही ढक लेगी और इधर रथके वेगसे समुद्रकी लहरे भी फट गयी हैं इस प्रकार किनारेपर खड़े हुए लोग जिसके विषयमें अनेक प्रकारके तर्क-वितर्क कर रहे हैं ऐसा वह वेगवाली घोड़ेसे खीचा हुआ रथ समुद्रके किनारेपर आ पहुँचा ॥२०६॥ जिसके समस्त अंगोकी रचना एक समान मुन्दर है ऐसा यह रथ लहरोंको उल्लंघन करता हुआ कुशलनापूर्वक किनारे तक आ गया है, चक्ररत्नको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरत भी सकुशल आ गये हैं और समुद्रके जलसे जिनके समस्त अंग धुल गये हैं तथा जिनके खुर भी नहीं घिसे हैं ऐसे घोड़े भी राजी-खुशी आ पहुँचे हैं । अहा ! विजयी चक्रवर्तीका बड़ा भारी पुण्य है, इस प्रकार किनारेपर खड़े हुए लोग परस्परमे वार्तालाप कर रहे थे ॥२०७॥ जो वेदीके नीचे गंगाद्वारपर नियुक्त किये गये हैं, जिन्होंने नवाये हुए मणिमय मुकुटोंपर अपने-अपने हाथ जोड़कर रखे हैं और जो जय-जय शब्दका उच्चारण कर रहे हैं ऐसे राजा लोग, तथा दरवाजेके बाहर एक साथ बार-बार जयघोष करनेवाले सैनिक लोग जिसे देख

१ परिवर्तनाय । २ विषमार्कपणकुटिलश्रीवं यथा भवति तथा । ३ प्रेरितुमिच्छे सति । ४ गमयित्वा । ५ प्रेरण । ६ प्रसादं नीत्वा । ७ अनुगमनेन । ८ जलसमूह । ९ तोरस्थै । १० वेगावकाष्ठ । ११ समुद्रस्य पारम् । १२ तरङ्गान् अत्यस्त तरङ्गात्यस्तः इति द्वितीयातत्पुष्प । वररुचिना तथैवोक्तत्वात् । १३ समानं यथा भवति तथा घटित । १४ चक्रायुधः । १५ तटसेविन । तीरस्था इत्यर्थः । १६ अधिकारिभिः । १७ द्वारस्य बाह्ये ।

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रोद्धोषितमङ्गलैर्जययेत्यानन्दितो वन्दिर्मग्नत्वातः शिविरं नृपालयमहाद्वारं समासादयन् ।  
 'अन्तर्वेशिकलोकवारधनितादृत्ताक्षताशासनः प्राविशन्नजिकेतनं निधिपतिर्वातोऽलसक्तेतनम् ॥२०६॥

वसन्ततिलका

देवोऽयमक्षततनुर्विजिताद्विरागात् ते यूयमानयत साक्षतसिद्धशेषाः ।  
 आशीर्ध्वमाध्वमिह<sup>१</sup> संमुखसेत्य तूर्णमित्युत्थितः कलकलः कटके तदामृत ॥२१०॥  
 जीवेति नन्दतु भवानिति वधिधीष्टाः देवेति निर्जयरिपूनिमि मां जयेति ।  
 एवं 'स्ताक्षिरायुरिति कामितमानुहर्ति' पुण्याशिषां शतमलम्भि तदा स वृद्धैः ॥२११॥  
 जीयाद्रीनिह भवानिति निर्जितारिदेव प्रशाधि<sup>२</sup> बभुधामिति सिद्धरत्नः ।  
 एवं जीवताक्षिरमिति प्रथमं चिरायुरायोजि मङ्गलशिष्या पुनरुक्तवार्क्यः ॥२१२॥  
 देवोऽयमम्बुधिमगाधमलङ्घयपारमुलङ्घय लब्धविजयः पुनरप्युपायात्<sup>३</sup> ।  
 पुण्यैकसारयिरिहेति विनान्तरागैः पुण्ये प्रसेदुषि<sup>४</sup> नृणां किमिवास्त्यलङ्घयम् ॥२१३॥

रहे है ऐसा वह, भरत अपनी छावनीके बाहरवाली तोरणभूमिपर आ पहुँचा ॥२०८॥ वहाँपर जय जय इस प्रकार मंगलशब्द करते हुए वन्दीजन जिन्हें आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज भरत छावनीके भीतर जाकर राजभवनके बड़े द्वारपर जा पहुँचे वहाँ परिवारके लोगों तथा वैश्याओने उन्हें मंगलक्षत तथा आगोवाँद दिये । इस प्रकार निधियोके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे अपने तम्बूमें प्रवेश किया ॥२०९॥ जिन्होंने शरीरमें कुछ चोट लगे बिना ही समुद्रको जीत लिया है ऐसे ये भरत महाराज आ गये हैं, इसलिए तुम मंगलाक्षतसहित सिद्ध तथा गेपाक्षत लाओ, तुम आशीर्वाद दो और तुम बहुत शीघ्र सामने जाकर खड़े होओ इस प्रकार उस समय सेनामें बड़ा भारी कोलाहल उठ रहा था ॥२१०॥ हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहे, समृद्धिमान् हो, सदा बढ़ते रहे, आप शत्रुओंको जीतिए, पृथिवीको जीतिए, आप चिरायु रहिए और समस्त मनोरथोंको प्राप्त कीजिए — आपकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो इस प्रकार उस समय वृद्ध मनुष्योंने भरत महाराजके लिए सैकड़ों पवित्र आशीर्वाद प्राप्त कराये थे ॥२११॥ यद्यपि भरतेश्वर शत्रुओंको पहले ही जीत चुके थे तथापि उस समय उन्हें आशीर्वाद दिया गया था कि देव, आप शत्रुओंको जीतिए, यद्यपि उन्होंने चौदह रत्नोंको पहले ही प्राप्त कर लिया था तथापि उन्हें आशीर्वाद मिला था कि हे देव ! आप पृथिवीका शासन कीजिए, और इसी प्रकार वे पहले ही से चिरायु थे तथापि आशीर्वादमे उनसे कहा गया था कि हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहे — चिरायु हो । इस प्रकार मंगल समझकर लोगोंने उन्हें पुनरुक्त ( कार्य हो चुकनेपर उसी अर्थको सूचित करनेके लिए फिरसे कहे हुए ) वचनोसे युक्त किया था ॥२१२॥ एक पुण्य ही जिनका सहायक है ऐसे महाराज भरत अगाध और पाररहित समुद्रको उल्लघन कर तथा योग्य उपायसे विजय प्राप्त कर बिना किसी विघ्न-बाधाके यहाँ वापस आ गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल पुण्यके रहते

१ कञ्चुको । 'अन्तर्वेशिका अन्त पुराधिकारिण ।' 'अन्त पुरेण्वधिकृत स्यादन्तर्वेशिको जन.' इत्यभिधानात् । २ आशीर्वाचन । ३ आधिप कुरुष्वम् । ४ भुवम् । ५ भव । ६ याहि । ७ शामु अनुदिष्टो लोद । ८ उपागमत् । ९ प्रसन्नो सति ।



पुण्यादयं भरतचक्रधरो जिगीपुसंज्ञिज्वेलमनिहाहतवीचिमालम् ।

प्रोल्लङ्घ्य वार्धिममरं सहसा विजिग्ये पुण्ये बलीयसि किमस्ति जगत्प्रजयम् ॥२१३॥

पुण्योदयेन मकराकरवारिसीमं पृथ्वीं स्वसादकृतं चक्रधरः पृथुश्रीः ।

दुर्लङ्घ्यमविश्रमवगाह्य विनोपसर्गैः पुण्यात् परं न खलु साधनमिष्टसिद्धये ॥२१५॥

चक्राद्युद्योऽयमरिचक्रमथंकरश्रीराक्रम्य<sup>१</sup> सिन्धुमत्सिमीपणनक्रचक्रम् ।

चक्रे वशे सुरमवश्यमनन्यवशं पुण्यात् परं न हि वर्धाकरणं जगत्याम् ॥२१६॥

पुण्यं जले स्थलमिवाभ्यवपसते<sup>२</sup> नृन् पुण्यं स्थले जलमिवाशु नियन्ति तापम् ।

पुण्यं जलस्थलमये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्तम् ॥२१७॥

पुण्यं परं शरणमापदि दुर्बिलद्वयं पुण्यं दरिद्रति<sup>३</sup> जने धनदायि पुण्यम् ।

पुण्यं सुखार्थिनि जने सुखदायि रत्नं पुण्यं जिनादितमतः सुजनाश्चिन्तुध्वम् ॥२१८॥

पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत् ।

पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥२१९॥

हुए मनुष्योंको क्या अलङ्घनीय ( प्राप्ति न होने योग्य ) रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२१३॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भरत चक्रवर्तिने पुण्यके प्रभावसे, जिसमें ज्वार-भाटा उठ रहे हैं और जिसमें लहरोके समूह वायुसे ताड़ित हो रहे हैं ऐसे समुद्रको उल्लंघन कर शीघ्र ही मागध देवको जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि अतिशय बलवान् पुण्यके रहते हुए संसारमें अजय्य अर्थात् जीतनेके अयोग्य क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२१४॥ बहुत भारी लक्ष्मीको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरतने पुण्यकर्मके उदयसे ही बिना किसी उपद्रवके उल्लंघन करनेके अयोग्य समुद्रको उल्लंघन कर समुद्रका जल ही जिसकी सीमा है ऐसी पृथिवीको अपने अधीन कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिके लिए पुण्यसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है ॥२१५॥ शत्रुओंके समूहके लिए जिनकी सम्पत्ति बहुत ही भयकर है ऐसे चक्रवर्ती भरतने अत्यन्त भयकर मगर-मच्छोंके समूहसे भरे हुए समुद्रको उल्लंघन कर अन्य किसीके वश न होने योग्य मागध देवको निश्चित रूपसे वश कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि लोकमें पुण्यसे बढ़कर और कोई वशीकरण ( वश करनेवाला ) नहीं है ॥२१६॥ पुण्य ही मनुष्योंको जलमें स्थलके समान हो जाता है, पुण्य ही स्थलमें जलके समान होकर शीघ्र ही समस्त सन्तापको नष्ट कर देता है और पुण्य ही जल तथा स्थल दोनों जगहके भयमें एक तीसरा पदार्थ होकर शरण होता है, इसलिए हे भव्यजनो, तुम लोग जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए पुण्यकर्म करो ॥२१७॥ पुण्य ही आपत्तिके समय किसीके द्वारा उल्लंघन न करनेके योग्य उत्कृष्ट शरण है, पुण्य ही दरिद्र मनुष्योंके लिए धन देनेवाला है और पुण्य ही सुखकी इच्छा करनेवाले लोगोंके लिए सुख देनेवाला है, इसलिए हे सज्जन पुरुषो ! तुम लोग जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए इस पुण्यरूपी रत्नका सचय करो ॥२१८॥ जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करनेसे उत्पन्न होनेवाला पहला पुण्य है, सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न हुआ, दूसरा पुण्य है व्रत पालन करनेसे उत्पन्न हुआ, तीसरा पुण्य है और उपवास करनेसे उत्पन्न हुआ, चौथा पुण्य है इस प्रकार पुण्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको ऊपर लिखे हुए चार प्रकारके पुण्योंका

१ सीमा ल०, इ०, द०, अ०, प०, स० । २ स्वाधीन चकार । ३ समुद्रम् । ४ प्राप्ति ।

— मिवाभ्युपपद्यते ल०, द० । ५ दरिद्रयति ।

इत्थं स्वपुण्यपरिपावजमिष्टलाभं<sup>१</sup> संश्लाघयन्<sup>२</sup> जनतया<sup>३</sup> श्रुतपुण्यबोधः ।  
चक्री समागृहगतो नृपचक्रमध्ये शक्रोपमः पृथुनृपासनमध्यवात्सीव<sup>४</sup> ॥२२०॥

हरिणी

श्रुततटवने रक्षाशोकप्रवालपुटोद्भिदि<sup>५</sup> स्पृशति पवने भन्दं तरङ्गविभेदिनि ।  
अनुसरसरित्सैन्यैः सार्धं प्रभुः सुखमावसज्जलनिधिनयश्लाघाश्रीभिर्जिनाननुचिन्तयन् ॥२२१॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे  
पूर्वार्णवद्वारविजयवर्णनं नामाष्टाविंश पर्व ॥२२॥



संचय करना चाहिए ॥ २१९ ॥ इस प्रकार जिसने लोगोके समूहसे पुण्यकी घोषणा सुनी है  
ऐसे चक्रवर्ती भरत, अपने पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए इष्ट वस्तुओके लाभकी प्रशंसा करते  
हुए समाभवनमे पहुँचे और वहाँ राजाओके समूहके मध्यमे इन्द्रके समान बड़े भारी राज-  
सिंहासनपर आरुढ़ हुए ॥ २२० ॥ जिस समय किनारेके वनको हिलानेवाला, रक्त अशोक  
वृक्षकी कोपलोके समुद्रको भेदन करनेवाला और लहरोको भिन्न-भिन्न करनेवाला वायु धीरे-  
धीरे वह रहा था उस समय समुद्रको जीतनेकी प्रशंसा और आशोवर्दिके साथ-साथ जिनेन्द्र  
भगवान्का स्मरण करते हुए भरतने गंगा नदीके किनारे-किनारे ठहरी हुई सेनाके साथ सुख-  
से निवास किया था ॥२२१॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहके  
भाषानुवादमे पूर्वसमुद्रके द्वारको विजय करनेका वर्णन  
करनेवाला अष्टाविसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



१ उदयजम् । २ संश्लाघयन् ल० । ३ जनसमूहेन । ४ अविशसति स्म । ५ पल्लवपुटोद्भेदिनि ।

## एकोनविंशतमं पर्व

अथ चक्रधरी जैनी वृत्तेज्यामिष्टसाधनीम् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां जिगीषुरनुतोयधि ॥ १ ॥  
 'यतोऽस्य' पदद्वयानां च निरामन्दमुच्चरत् । मूर्धितः काहलारावैरन्विज्वलन् तिरोदधे ॥ २ ॥  
 प्रयाणसेरीनिःस्थान, सम्मुखं गजवृंहितैः । त्रिबुलान्यनयत् क्षोभं हृदयानि च विदिषाम् ॥ ३ ॥  
 विवभुः पवनोद्भूता जिगीषोजयकैतनाः । वारिधेरिव कलोलानुद्वेलेनानुहूयवः ॥ ४ ॥  
 एकतो लवणाम्मोधिस्तन्यतोऽनुपसागरः । तन्मध्ये यान्वल्लाघोऽस्य तृतीयोऽविधिरिवावर्मा ॥ ५ ॥  
 हस्त्यश्वरथपादात् देवाश्च सनमश्वराः । पङ्क्तं बलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदती ॥ ६ ॥  
 पुरः प्रतस्थे दण्डेन चक्रेण तदनन्तरम् । ताभ्यां विमोहिते मार्गे तद्वलं प्रययां सुखम् ॥ ७ ॥  
 तच्चक्रमरिचक्रस्य केवलं क्रकृचायितम्<sup>१</sup> । दण्डोऽपि दण्डपक्षस्य कालदण्ड<sup>२</sup> इवापरः ॥ ८ ॥  
 प्रययां निकपाम्मोधि<sup>३</sup> समया तदवेदिकाय<sup>४</sup> । अनुवेलावनं सम्राट् सैन्यैः संश्रावयन्<sup>५</sup> दिशः ॥ ९ ॥  
 अनुवाधितं<sup>६</sup> कर्पलङ्कां स्वामर्नाकिनीम् । आज्ञालतां वृषाद्रीणां मूर्ध्नि रोपयति स्म सः ॥ १० ॥  
 चलिते चलितं पूर्वं निशाने निःसृतं पुरः । प्रयाते यातसेवादिमन्<sup>७</sup> सेनानामिरिवारिमः ॥ ११ ॥

अथानन्तर — चक्रवर्ती भरत समस्त इष्ट वस्तुओको सिद्ध करनेवाली जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छा करते हुए समुद्रके किनारे-किनारे चले ॥ १ ॥ जिस समय चक्रवर्ती जा रहे थे उस समय तुरहीके शब्दसे मिली हुई पदरूपी नगाड़ोंकी गम्भीर ध्वनि समुद्रकी गर्जनाकी भी ढक रही थी ॥ २ ॥ हाथियोंकी चिंगाड़ोसे मिले हुए प्रस्थानके समय बजनेवाले नगाड़ोके शब्द समस्त दिशाओ तथा शत्रुओके हृदयोको क्षोभ प्राप्त करा रहे थे ॥ ३ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीकी वायुसे उड़ती हुई विजय-पताकाएँ ऐसी सुगो-भित हो रही थी मानो ज्वारसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंकी ही बुला रही हों ॥ ४ ॥ उस सेनाके एक ओर ( दक्षिणकी ओर ) तो लवण समुद्र था और दूसरी ( उत्तरकी ) ओर उपसागर था उन दोनोंके बीच जाता हुआ वह सेनाका समूह ऐसा सुगोभित हो रहा था मानो तीसरा समुद्र ही हो ॥ ५ ॥ हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर सब ओर फैल गयी थी ॥ ६ ॥ सेनामें सबसे आगे दण्डरत्न और उसके पीछे चक्ररत्न चलता था तथा इन दोनोंके द्वारा साफ किये हुए मार्गमें सुखपूर्वक चक्रवर्तीकी सेना चलती थी ॥ ७ ॥ चक्रवर्तीका वह एक चक्र ही शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेके लिए करोतके समान था तथा दण्ड ही दण्ड देने योग्य शत्रुओंके लिए दूसरे यमदण्डके समान था ॥ ८ ॥ सम्राट् भरत समुद्रके समीप-समीप किनारेकी वेदीके पास-पास किनारेके अनुसार अपनी सेनाके द्वारा दिशाओंको गुंजाते हुए — सचेत करते हुए चले ॥ ९ ॥ अपनी अलघनीय सेनाको समुद्रके किनारे-किनारे चलाते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी आज्ञा-रूपी लताको राजारूपी पर्वतोंके मस्तकपर चढ़ाते जाते थे ॥ १० ॥ महाराज भरतके शत्रु उनके सेनापतियोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार महाराजके चलनेकी इच्छा होते ही सेनापति १ गच्छत १ २ पटु १०, ३०, ४० ॥ ३ मिश्रित ॥ ४ अल्लादयति स्म ॥ ५ मिश्रोभयन् ॥ ६ उज्जृम्भितान् ॥ ७ स्पर्धां कर्तुमिच्छन् ॥ ८ गच्छन् ॥ ९ द्यावापृथिव्यौ । 'भूजावौ रोदसी रोदसी च ते' इत्यमर ॥ १० दण्ड-रत्नेन ॥ ११ करपत्रमिवाचरितम् ॥ १२ यमस्य दण्डः ॥ १३ अम्भोघे समीपम् ॥ 'निकषा त्वन्तिके मध्ये' ॥ १४ तदवेदिकायाः समीपे ॥ १५ साधयन् ॥ १६ प्रापयन् ॥ १७ भरते ।

निष्क्रान्त इति संभ्रान्तैरायात इति भीमज्ञैः । प्राप्त<sup>१</sup> इत्यनवस्यैश्च<sup>२</sup> प्रणेमे सोऽरिभूमिषैः ॥१२॥  
<sup>३</sup>महापगारयस्येव तत्प्रस्य बलीयसः । यो यः प्रतीपमभवत् स स निर्मूलतां चयौ ॥१३॥  
<sup>४</sup>प्रतीपवृत्तिमादशे छायात्मानं<sup>५</sup> च नात्मनः । विक्रमैकसश्वकी सोऽसोद<sup>६</sup> किमुत द्विपम् ॥१४॥  
 चमुरवश्रवादेव<sup>७</sup> कैश्चिदस्य विरोधिभिः । चमूरुत्तमारुधमतिदूरं पलायितैः<sup>८</sup> ॥१५॥  
<sup>९</sup>महामोर्गनृपैः कैश्चिद् भयादुत्सृष्टमण्डलैः<sup>१०</sup> । भुजङ्गैरिव निर्मोकस्तत्यजेऽपि परिच्छदः<sup>११</sup> ॥१६॥  
 प्रदुष्टान् भोगिनः<sup>१२</sup> काञ्चित् प्रभुरुद्धृत्य मन्त्रतः<sup>१३</sup> । बलमीकेष्विव दुर्गेषु<sup>१४</sup> कुल्यानन्यान्तिष्ठिपत्<sup>१५</sup> ॥१७॥

पहले ही चलनेके लिए तैयार हो जाते हैं उसी प्रकार उनके गन्तु भी महाराजको चलनेके लिए तत्पर सुनकर स्वयं चलनेके लिए तत्पर हो जाते थे अर्थात् स्थान छोड़कर भागनेकी तैयारी करने लगते थे अथवा भरतकी ही गरणसे आनेके लिए उद्यत हो जाते थे, जिस प्रकार महाराजके नगरसे बाहर निकलते ही सेनापति उनसे पहले बाहर निकल आते हैं उसी प्रकार उनके गन्तु भी महाराजको नगरसे बाहर निकला हुआ सुनकर स्वयं अपने नगरसे बाहर निकल आते थे अर्थात् नगर छोड़कर बाहर जानेके लिए तैयार हो जाते थे अथवा भरतसे मिलनेके लिए अपने नगरसे बाहर निकल आते थे और जिस प्रकार महाराजके प्रस्थान करते ही सेनापति उनसे पहले प्रस्थान कर देते हैं उसी प्रकार उनके गन्तु भी महाराजका प्रस्थान सुनकर उनसे पहले ही प्रस्थान कर देते थे अर्थात् अन्यत्र भाग जाते थे अथवा चक्रवर्तिसि मिलनेके लिए आगे बढ़ आते थे ॥११॥ चक्रवर्ती भरत नगरसे बाहर निकला यह सुनकर जो व्याकुल हो जाते थे, चक्रवर्ती आया यह सुनकर जो भयभीत हो जाते थे और वह समीप आया यह सुनकर जो अस्थिरचित्त हो जाते थे ऐसे शत्रु राजा लोग उन्हें जगह-जगह प्रणाम करते ॥१२॥ जिस प्रकार किसी महानदीके बलवान् वेगके विरुद्ध खड़ा हुआ वृक्ष निर्मूल हो जाता है-जड़सहित उखड़ जाता है उसी प्रकार जो राजा उस बलवान् चक्रवर्तीके विरुद्ध खड़ा होता था-उसके सामने विनयभाव धारण नहीं करता था वह निर्मूल हो जाता था-वशसहित नष्ट हो जाता था ॥१३॥ एक पराक्रम ही जिसे प्रिय है ऐसा वह भरत जब कि दर्पणमें उलटे पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बको भी सहन नहीं करता था तब शत्रुओंको किस प्रकार सहन करता ? ॥१४॥ कितने ही विरोधी राजाओंने तो उनकी सेनाका गव्व सुनते ही बहुत दूर भागकर हरिणकी वृत्ति प्रारम्भ की थी ॥१५॥ और कितने ही वैभवशाली बड़े-बड़े राजाओंने भयसे अपने-अपने देग छोड़कर छत्र चमर आदि राज्य-चिह्नोंको उस प्रकार छोड़ दिया था जिस प्रकार कि बड़े-बड़े फणाओंको धारण करनेवाले सर्प अपने बलयाकार आसनको छोड़कर काँचली छोड़ देते हैं ॥१६॥ जिस प्रकार दुष्ट सर्पोंको मन्त्रके जोरसे उठाकर वामीमें डाल देते हैं उसी प्रकार भरतने अन्य कितने ही भोगी-विलासी दुष्ट राजाओंको मन्त्र (मन्त्रियोंके साथ की हुई सलाह) के जोरसे उखाड़कर किलोमें डाल दिया था, उनके स्थानपर अन्य कुलीन राजाओंको बैठाया

- १ समीप प्राप्त । २ अवस्थाभतिक्रान्तै । त्यक्तपूर्वस्वभावैरित्यर्थ । ३ महानदीवेगस्य । ४ प्रतिकूलम् । ५ प्रतिकूलवृत्तिम् । ६ छायास्वरूपम् । 'आत्मा यत्नो घृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्णं च' इत्यमर । ७ सहितम् । ८ सेनाध्वनिसमाकर्णनात् । ९ कम्भोजादिदेशजन्तुविशेषवर्तनम् । 'कदली कन्दली चीनश्चमूरप्रियकावपि । समूहचेति हरिणा जमी अजिनयोनय ।' इत्यभिधानात् । १० पलायिभि ल०, प०, द०, । ११ पक्षे महाकार्ये । 'भोग सुखे श्रयादिभूतावहेश्च फणकाययो' इत्यभिधानात् । १२ त्यक्तभूमौ । पक्षे त्यक्तबल्यै । १३ परिच्छेदोपि छत्रचामरादिपरिकरोऽपि परित्यक्तत । १४ पक्षे सर्पान् । १५ मन्त्रशक्ति । १६ सत्कुलजम् । १७ स्थापयति स्म ।

अनन्यशरणैरन्यैस्तपविच्छेदमिच्छुभिः । तत्पादपादपच्छाया न्यपेवि सुखशीतला ॥१८॥  
 केवाधित पत्रनिर्माणं छायापायं च भूभुजायम् । पादपानामिव श्रीमः<sup>३</sup> समम्यर्णश्चकार सः ॥१९॥  
 ध्वस्तोपमप्रसरां गादमुच्छ्वसन्तोऽन्तराकुलाः । प्राप्तेऽस्मिन्<sup>४</sup> वैरिभूपालाः प्रापुर्मन्त्रव्यशेषतमम्<sup>५</sup> ॥२०॥  
 वैरकास्थिति बः स्मास्मिन् प्रागेव विननाश सः । विदिध्यापयिपुर्वोद्धि शलभः कुशली किमु ॥२१॥  
 वस्तुवाहनसर्वस्वमाच्छिद्यं<sup>६</sup> प्रसुराहन्<sup>७</sup> । अस्त्विमरिचक्रेषु<sup>८</sup> व्यक्तमेव चकार सः ॥२२॥  
 स्वयमर्पितसर्वस्वा नमन्तश्चक्रवर्तिनम् । पूर्वमन्यस्यः पश्चाद्विकारित्वमाचरन्<sup>९</sup> ॥२३॥  
 सावनैरमुनाक्रान्ता या धरा हृतसाध्वसा<sup>१०</sup> । साधनैरेव तं तोषं नीत्वाऽभूद्भूतसाध्वसा ॥२४॥  
 कुल्याः कुलधनान्यस्मै दत्त्वा स्वां भुवमार्जिजन्<sup>११</sup> । कुल्या<sup>१२</sup> धनजलोपस्य जिगीषोस्तं हि पार्थिवाः ॥२५॥  
 प्रजाः करमराक्रान्ता यस्मिन् स्वामिनि दुःस्थिताः । तमुद्दृष्ट्य पदे तस्य<sup>१३</sup> युक्तदण्डं न्यधाद्विभुः ॥२६॥

था ॥१७॥ जिन्हें अन्य कोई शरण नहीं थी और जो अपना सन्ताप नष्ट करना चाहते थे ऐसे कितने ही राजाओंने सुख तथा शान्ति देनेवाली भरतके चरणरूपी वृक्षोकी छायाका आश्रय लिया था ॥१८॥ जिस प्रकार समीप आया हुआ श्रीधम ऋतु वृक्षोके पत्र अर्थात् पत्तोंका नाश कर देता है और उनकी छाया अर्थात् छाँहरीका अभाव कर देता है उसी प्रकार समीप आये हुए भरतने कितने ही राजाओंके पत्र अर्थात् हाथी बोड़े आदि वाहनों (सवारियों) का नाश कर दिया था और उनकी छाया अर्थात् कान्तिका अभाव कर दिया था । भावार्थ—भरतके समीप आते ही कितने ही राजा लोग वाहन छोड़कर भाग जाते थे तथा उनके मुखकी कान्ति भयसे नष्ट हो जाती थी ॥१९॥ महाराज भरतके समीप आते ही शत्रु राजाओंका सब तेज (पक्षमे गरमी) नष्ट हो गया था, उनके भारी-भारी स्वासोच्छ्वास चलने लगे थे और वे अन्त करणमें व्याकुल हो रहे थे, इसलिए वे मरणोन्मुख मनुष्यकी समानताको प्राप्त हो रहे थे ॥२०॥ जिस पुरुषने भरतके साथ शत्रुता करनेकी इच्छा की थी वह पहले ही नष्ट हो चुका था, सो ठीक ही है क्योंकि अग्निकी बुझानेकी इच्छा करनेवाला पतंगा क्या कभी सकुशल रह सकता है ? अर्थात् नहीं ॥२१॥ महाराज भरतने शत्रुओंके हीरा मोती आदि रत्न तथा सवारी आदि सब धन छीन लिया था और इस प्रकार उन्होंने समस्त अरि अर्थात् शत्रुओंके समूहको स्पष्ट रूपसे अरि अर्थात् धनरहित कर दिया था ॥२२॥ अपने आप समस्त धन भेंट कर चक्रवर्तीको नमस्कार करनेवाले राजा लोग यद्यपि पहले शत्रु थे तथापि पीछेसे वे बड़े भारी अधिकारी हुए थे ॥२३॥ जो पृथिवी पहले भरतकी सेनासे आक्रान्त होकर भयभीत हो रही थी वही पृथिवी अब अपने धनसे भरतको सन्तोष प्राप्त कराकर निर्भय हो गयी थी ॥२४॥ उच्च कुलोमें उत्पन्न हुए अनेक राजाओंने भरतेश्वरके लिए अपनी कुल-परम्परासे चला आया धन देकर फिरसे अपनी पृथिवी प्राप्त की थी सो ठीक ही है क्योंकि वे राजा विजयामिलाषी राजाके लिए धनरूपी जालके प्रवाहकी प्राप्ति के लिए 'कुल्या'—नदी अथवा नहरके समान होते हैं । भावार्थ—विजयी राजाओंको धनकी प्राप्ति साधारण राजाओंसे होती है ॥२५॥ जिस राजाके रहते हुए प्रजा करके बोझसे दबकर दुःखी हो रही थी,

१ वाहननिर्माणम् पक्षे पर्णविनाशम् । २ तेजोहानिम् । ३ समीपस्व । ४ निरस्तप्राप्तप्रसराः । पक्षे निरस्तोष्णप्रसराः । ५ भरते । ६ मरणकालश्राव्यपुरुषसमानतामित्यर्थ । ७ वैरमिच्छति । ८ यो नास्मिन् इ० । ( ना पुमान् इति इ० टिप्पणी ) । ९ क्षयितुमिच्छु । १० आक्रुध्य । ११ स्वीकुर्वन् । १२ न विद्यते रा धन येषा तानि अरीणि तेषा भावस्वत्वम्, निर्धनत्वमित्यर्थ । १३ अधिकसत्त्वमिति ध्वनि । १४ सैन्ये । १५ निरस्तभीति । १६ कुलजाः । १७ उपार्जयति स्म । ऋज गतिस्थानार्जनीपाजनेषु । १८ सरित् । 'कुल्या कुलवधुः सरित्' । अथवा कुत्रिमसरित् । तत्पक्षे 'कुल्यात्पा कुत्रिमा सरित्' । १९ दुःखिता ल० । १० योग्य-दण्डकारिपुरुषं स्थापयामास ।

निजग्राह नृपान् दसाननुजग्राह सक्त्यान् । न्यार्यैः क्षात्रोऽयस्मिन्नेव प्रजाहितविधित्तया ॥२७॥  
योगक्षेमौ जगत्स्थित्यै न प्रजास्वेव केवलम् । प्रजापालेऽपि प्रायस्तस्य चिन्त्यत्वमीयतुः ॥२८॥  
पार्थिवस्यैकराष्ट्रस्य सता वर्णाश्रमाः प्रजाः । पार्थिवाः सार्वभौमस्य प्रजा यत्नेन ते हृताः ॥२९॥  
पुण्यं साधनमस्यैकं चक्रं तस्यैव पोषकम् । तद्द्वयं सध्वंसिद्व्यङ्ग सेनाज्ञानि विभूतये ॥३०॥  
इति मण्डलभूषालान् बलान् प्राणमयन्नयम्<sup>१२</sup> । मानमेवामनकं<sup>१३</sup> तेषां न सेवाप्रणयं विभुः ॥३१॥  
प्रतिप्रयाणमभ्येत्य<sup>१४</sup> प्राणसिपुसुं नृपाः । प्राणरक्षामिवास्याज्ञां वहन्तः स्वेपु मूर्धसु ॥३२॥  
प्रणताननुजग्राह सातिरैः<sup>१५</sup> फलेः प्रभुः । किमु कल्पतरोः सेवास्य फलात्पफलापि वा ॥३३॥  
<sup>१७</sup>संरक्षितैः स्मितैर्हंसैः सविश्रमैश्च<sup>१६</sup> जल्पितैः<sup>१७</sup> । सम्राट् संभावयामास नृपान् समानवैरपि<sup>१८</sup> ॥३४॥  
स्मितैः प्रसादं संजल्पैर्विस्त्रम्<sup>१९</sup> हसितैर्मुदम् । प्रेक्षितैरनुरागं च व्यनक्ति स्म नृपेषु सः ॥३५॥

भरतने उसे हटाकर उसके पदपर किसी अन्य नीतिमान् राजाको बैठाया था ॥२६॥ उन्होने अहंकारी राजाओको दण्डित किया था और सत्कार अथवा उत्तम कार्य करनेवाले राजाओपर अनुग्रह किया था सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाका हित करनेकी इच्छासे क्षत्रियोका यह धर्म ही न्यायपूर्ण है ॥२७॥ राजा भरतने जगत्की स्थितिके लिए केवल प्रजाके विषयमे ही योग (नवीन वस्तुको प्राप्त करना) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना) की चिन्ता नहीं की थी किन्तु प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाओके विषयमें भी प्रायः उन्हें योग और क्षेमकी चिन्ता रहती थी ॥२८॥ किसी एक देवके राजाकी प्रजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्ण रूप मानी जाती है परन्तु चक्रवर्तीकी प्रजा नम्रीभूत हुए राजा लोग ही माने जाते हैं इस-लिए चक्रवर्तीको प्रजाके साथ-साथ राजाओकी चिन्ता करना भी उचित है ॥२९॥ भरतके समस्त कार्योको सिद्ध करनेवाला एक पुण्य ही मुख्य साधन था, और चक्ररत्न उस पुण्यकी पुष्टि करनेवाला था, पुण्य और चक्ररत्न ये दोनों ही उसके साध्य (सिद्ध करने योग्य विजय रूप कार्य) की सिद्धिके अंग थे, बाकी हाथी घोड़े आदि सेनाके अंग केवल वैभवके लिए थे ॥३०॥ इस प्रकार मण्डलेश्वर राजाओसे बलपूर्वक प्रणाम कराते हुए चक्रवर्तीने उनका केवल मान भग ही किया था, अपनी सेवाके लिए जो उनका प्रेम था उसे नष्ट नहीं किया था ॥३१॥ प्राणीकी रक्षाके समान भरतकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करते हुए अनेक राजा लोग प्रत्येक पड़ावपर आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥३२॥ प्रणाम करनेवाले राजाओको महाराज भरतने बहुत अधिक फल देकर अनुगृहीत किया था सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षकी सेवा क्या कभी फलरहित अथवा थोड़ा फल देनेवाली हुई है ? ॥३३॥ सम्राट् भरतने कितने ही राजाओकी ओर देखकर, कितने ही राजाओकी ओर मुसकराकर, कितने ही राजाओकी ओर हँसकर, कितने ही राजाओके साथ विश्वासपूर्वक वार्तालाप कर, और कितने ही राजाओका सम्मान कर उन्हें प्रसन्न किया था ॥३४॥ उन्होने कितने ही राजाओपर मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी, कितने ही राजाओपर वार्तालाप कर अपना विश्वास प्रकट किया था, कितने ही राजाओपर हँसकर अपना हर्ष प्रकट किया था और कितने ही राजाओपर प्रेमपूर्ण

१ निग्रह करोति स्म । २ दर्पाविष्टान् । ३ स्वीकृतवान् । ४ न्यायादनपेत । ५ क्षत्रियधर्म । ६ पार्थिवेषु । ७ एकदेशवत् । ८ क्षत्रियादिवर्णा ब्रह्मचर्याद्या आश्रमा । ९ प्रजायन्ते प०, ल० । १० पार्थिवा । ११ स्वीकृता । १२ प्रह्वोभूतानकुर्वन् । १३ गर्वमेव । १४ मर्दयति स्म । 'अञ्जोऽवमर्दने' । १५ नमस्कुर्वन्ति स्म । १६ तैस्तथानां सार्थिकं । १७ स्निग्धालोकनैः । सप्रेक्षणं ल० । १८ सविज्वालैः । 'समो विश्रम्भ-विश्वातो' इत्यमरः । १९ वचनं । २० वस्त्राभरणादिपूजनं ।

"अताप्लीन् प्रणतानेप सैमताप्सीन् विरोधिनः । शमप्रतापौ द्वौ जेतुः<sup>३</sup> पार्थिवस्तोचितौ गुणौ ॥३६॥  
 प्रसन्नया हनैवास्य प्रसादः प्रणते रिपौ । भ्रूमङ्गेनास्कुटं कोपः सत्यं बहून्तो<sup>४</sup> नृपः ॥३७॥  
 अङ्गानमिभिरत्यङ्गैर्वज्रांस्तुङ्गैर्मतङ्गजैः । तैश्च तैश्च कलिङ्गेभान् सोऽभ्यनन्ददुपानतान् ॥३८॥  
 भारग्राथितमेवास्य स्फुटं<sup>५</sup> मागधिकैर्नृपैः । कीर्तयद्भिर्गुणानुचैः प्रसादमभिलाषुकैः ॥३९॥  
 कुरुनवन्तीन् पाञ्चालान् काशीश्च सह कोसलैः । वैदर्भानप्यनाथासादाचकष<sup>६</sup> चमूपतिः ॥४०॥  
 ब्रजन् मद्रांश्च कच्छांश्च चेदीन् वत्सान् ससुहृकान् । पुण्ड्रानोण्डांश्च गौडांश्च भतमश्रावयद् विभोः ॥४१॥  
 दशार्णान् कामरूपांश्च काश्मीरानप्युभीनरान् । मध्यमानपि भृपालान् सोऽचिराद् वशमानयत् ॥४२॥  
 ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकलिङ्गाङ्गारजान्<sup>७</sup> गजान् । गिरीनिव महोच्छ्वायान्<sup>८</sup> प्रश्नोत्तमदनिर्जरान् ॥४३॥  
 दशार्णकवनोद्भूतानपि चेदिककूजजान्<sup>९</sup> । दिङ्नागस्पर्धिनी नागा<sup>१०</sup> आदुर्नाग<sup>११</sup> वनाधिपाः ॥४४॥  
 विभोर्बलभरक्षोभमासहन्ती च दुःसहश्च । सुयुवेऽनन्तरत्नानि गर्भिणीव<sup>१२</sup> वसुन्धरा ॥४५॥

दृष्टि डालकर अपना प्रेम प्रकट किया था ॥३५॥ उन्होंने नन्नीभूत राजाओंको सन्तुष्ट किया था और विरोधी राजाओंको अच्छी तरहसे सन्तुष्ट किया था सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवीको जीतनेके लिए शान्ति और प्रताप ये दो ही राजाओंके योग्य गुण माने गये हैं ॥३६॥ राजा भरत नमस्कार करनेवाले पुरुषपर अपनी प्रसन्न दृष्टिसे प्रसन्नता प्रकट करते थे और साथ ही शत्रुके ऊपर भीहू टेढ़ी कर क्रोध प्रकट करते जाते थे इसलिए यह उक्ति सच मालूम होती है कि राजा लोग नट तुल्य होते हैं ॥३७॥ उत्तम-उत्तम मणियोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए अग देशके राजाओंपर, ऊँचे-ऊँचे हाथियोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए बंग देशके राजाओंपर और मणि तथा हाथी दोनोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए कलिङ्ग देशके राजाओंपर वह भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥३८॥ भरतेश्वरके प्रसादकी इच्छा करनेवाले मगध देशके राजा उनके उत्कृष्ट गुण गा रहे थे इसलिए वे ठीक मागध अर्थात् बन्दीजनोंके समान जान पड़ते थे ॥३९॥ भरत मुहाराजके सेनापतिने कुरु, अन्वन्ती, पांचाल, काशी, कोशल और वैदर्भ देशोंके राजाओंको बिना किसी परिश्रमके अपनी ओर खींच लिया था अर्थात् अपने वश कर लिया था ॥४०॥ मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुहृ, पुण्ड्र, औण्ड्र और गौड देशोंमें जा-जाकर सेनापतिने सब जगह भरत महाराजकी आज्ञा सुनायी थी ॥४१॥ उसने दशार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर और मध्यदेशके समस्त राजाओंको बहुत ग्रीष्म वश कर लिया था ॥४२॥ वहाँके राजाओंने जिनसे मदके निर्झरने झर रहे हैं ऐसे, पूर्व देशमें उत्पन्न होनेवाले तथा कलिङ्ग और अंगार देशमें उत्पन्न होनेवाले, पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे हाथी महाराज भरतके लिए भेंटमें दिये थे ॥४३॥ जिनमें हाथी उत्पन्न होते हैं ऐसे वनोंके स्वामियोंने दिग्गजोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले, दशार्णक वनमें उत्पन्न हुए तथा चेदि और ककूष देशमें उत्पन्न हुए हाथी महाराजके लिए प्रदान किये थे ॥४४॥ उस समय भरतेश्वरको पृथिवीपर जहाँ-तहाँ अनेक रत्न भेटमें मिल रहे थे इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो गर्भिणीके समान पृथिवीने चक्रवर्तीकी सेनाके बोझसे उत्पन्न हुए दुःसह शोभको न सह सकनेके कारण ही अनन्त रत्न उत्पन्न किये हुए हों ॥४५॥

१ तर्पयामाग । २ सन्तापयति स्म । ३ जेतु ल०, इ०, अ०, प०, स० । ४ व्यक्तो बभूव । ५ नटसदृश । ६ अङ्गदेशाधिपान् । ७ अनर्थ्य । ८ आनतान् । ९ मागधीयत-प०, इ० । स्तुतिपाठका इवाचरितान् । १० मगधाधिप । ११ स्वीकृतवान् । १२ गच्छन् । १३ नासनम्, आज्ञामित्यर्थ । १४ प्राक्विक्ष्वन्वम्बिक-लिङ्गदेशाङ्गारजान् । १५ गलत् । १६ दशार्णदेशसम्बन्धि । १७ चेदिकसेहजान् ल०, द० । १८ दधति स्म । १९ गजवन । २० गर्भस्थशिगुरिव ।

आपाण्डुरगिरिप्रस्थादा च वैमारपर्वतात् । आसौलाद् गोस्थादस्य विचे<sup>१</sup>र्यजकुञ्जराः ॥४६॥  
 वज्राङ्गपुष्पमगधान्<sup>२</sup> मलदान् काशिकौसलान् । सेनानीः परिवभ्राम जिगीर्जयसाधनैः ॥४७॥  
 कालिन्दकालकृदौ च किरातविषयं तथा । मलदेशं च संप्रापन्म<sup>३</sup>त्तादस्य<sup>४</sup> चमूपतिः ॥४८॥  
 धुनी सुमागधी गङ्गा गोमती च कपीवतीम् । रथास्फा<sup>५</sup> च नदीं तीर्त्वा<sup>६</sup> अ्रेमुरस्य चमृगजाः ॥४९॥  
 गम्भीरामतिगम्भीरां कालतोयां च कौशिकीम् । नदीं कालमहौं ताम्रामरुणां निचुरामपि<sup>७</sup> ॥५०॥  
 तं लौहित्यं समुद्रं च कम्बुकं च महत्सरः । चमृततङ्गजास्तस्य भेजुः प्राच्यं वनोपगाः ॥५१॥  
 दक्षिणेन<sup>८</sup> नदं शोणमुत्तरेण च नर्मदाम् । बीजानदीमुपयतः परितो मेखलानदीम् ॥५२॥  
 विचेरुः स्वबुरोदूतधूलीसंखद्विद्युखाः ।<sup>९</sup> जविनीस्य स्फुरद्योधा<sup>१०</sup> जयसाधनवाचिनः ॥५३॥  
 औदुम्बरी<sup>११</sup> च पनसां तमसां प्रमृशामपि ।<sup>१२</sup> पपुरस्य द्विपाः शुक्तिमती च यमुनामपि ॥५४॥  
 चेदिपर्वतसुखद्वय चेदिराष्ट्रं<sup>१३</sup> विजिग्यिर<sup>१४</sup> । पम्पा<sup>१५</sup> सरोज्ज्मोत्तिगमा विमोरस्य सूरगमाः ॥५५॥  
 तमृद्वयमूकमाक्रम्य कोलाहलगिरिं श्रिताः । प्राह्माल्यगिरिमासेदुर्जयिनोऽस्य जयद्विपाः ॥५६॥  
 नागप्रियाद्रिमाक्रम्य<sup>१६</sup> कुतपावज्ञया विभोः । सेनाचराः इवसाक्यगुणार्जवैदिककृपाजान्<sup>१७</sup> ॥५७॥  
 नदीं वृत्रवतीं<sup>१८</sup> क्रान्त्वा वन्यभक्षतरोधसम्<sup>१९</sup> । भेजुश्चित्रवतीमस्य चमूवीरास्तुरंगमैः ॥५८॥

हिमवान् पर्वतके निचले भागसे लेकर वैभार तथा गोरथ पर्वत तक सब जगह भरत महाराजके विजयी हाथी घूम रहे थे ॥४६॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाला भरतका सेनापति अपनी विजयी सेनाके साथ-साथ बग, अग, पुण्ड, मगध, मालव, काशी और कोशल देशोमे सब जगह घूमा था ॥४७॥ भरतकी सम्मतिसे वह सेनापति कालिन्द, कालकूट, भीलौका देश, और मल्ल देशमे भी पहुँचा था ॥४८॥ उनकी सेनाके हाथी सुमागधी, गगा, गोमती, कपीवती और रथास्फा नदीकी तरकर जहाँ-तहाँ घूम रहे थे ॥४९॥ पूर्व दिशाके पास-पास जानेवाले उनकी सेनाके हाथी अत्यन्त गहरी गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमहौ, ताम्रा, अरुणा और निचुरा आदि नदियो तथा लौहित्य समुद्र और कवक नामके बड़े-बड़े सरोवरोमे घूमे थे ॥५०-५१॥ जिन्होने अपने खुरोसे उठी हुई धूलीसे समस्त दिशाएँ भर दी हैं, जो बड़े वेगशाली हैं और जिनके नथने चंचल हो रहे हैं ऐसे महाराज भरतकी विजयी सेनाके छोड़े शोण नामके नदकी दक्षिण ओर, नर्मदा नदीकी उत्तर ओर, बीजां नदीके दोनों ओर और मेखला नदीके चारो ओर घूमे थे ॥५२-५३॥ भरतके हाथियोने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृगा, शुक्तिमती और यमुना नदीका पान किया था ॥५४॥ चक्रवर्तिक घोड़ोने पम्पा सरोवरके जलको पार किया था तथा चेदि नामके पर्वतको उल्लंघन कर चेदि नामके देशको जीता था ॥५५॥ सबको जीतनेवाले भरतके विजयी हाथी ऋष्यमूक पर्वतको उल्लंघन कर कोलाहल पर्वत तक जा पहुँचे थे और फिर माल्य पर्वतके पूर्व भागके समीप भी जा पहुँचे थे ॥५६॥ भरतकी सेनाके लोगोने देहली-जैसा समझ अवज्ञापूर्वक नागप्रिय पर्वतको उल्लंघन कर चेदि और ककुष देशमें उत्पन्न हुए हाथियोको अपने अधीन कर लिया था ॥५७॥ उनकी सेनाके वीर मुख्य घोड़ोके द्वारा वृत्रवती नदीको पार कर जिसके किनारे जगली हाथियोसे खूँदे गये हैं ऐसी चित्र

१ चरन्ति स्म । २ मलयान् ६०, अ० । मालयान् ५० । मालवान् ८०, द० । ३ आसात । ४ चक्रिण । ५ रथस्था अ० । रथस्था ५०, ट० । रथस्था द० । ६ अवतीर्य । ७ निचुरामपि ८० । ८ लौहित्यममुद्रनाम-सरोवरम् । ९ पूर्व । १० शोणनदस्य दक्षिणस्या दिशि । ११ वेगिन । १२ नास्तिका । १३ उदुम्बरी स०, ६०, अ०, ५०, द०, ल० । १४ 'ययु' इत्यपि पाठ । यानमकुर्वन् । १५ चेदिदेशम् । १६ जयन्ति स्म । १७ पम्पासरोजमतिक्रान्ता । १८ देहली । १९ -सेरुजान् ८०, द० । २० वेत्रवती ३० । छत्रवती ५० । वृत्रवती अ०, स०, । २१ वनगजधुष्यतटाम् ।



रुद्ध्वा माल्यवतीतीरवनं वन्येभसंकुलम् । यासुनं च पयः पीत्वा जिग्युरस्य द्विपा दिशः ॥५९॥  
 अनुवेणुमतीतीरं गन्वास्य जयसाधनम् । वत्सभूमिं समाक्रम्य दशार्णामप्यलङ्घयत् ॥६०॥  
 विगालं नालिकां सिन्धुं परां मिच्छन्दरीमपि । बहुवज्रां च रम्यां च नदीं सिकतिनीमपि ॥६१॥  
 ऊहां च समतोयां च कज्जामपि कपीवतीम् । निर्विन्ध्यां च धुनीं जम्बूमतीं च सरित्तुत्तमाम् ॥६२॥  
 वसुमत्यापगामदिग्गमिनीं शर्करावतीम् । सिप्रां च कृतमालां च परिजां पनमामपि ॥६३॥  
 नदीमघन्तिकामां च हस्तिपानीं च निम्नगाम् । कागन्धुमापगां च व्याघ्रीं चर्मण्वतीमपि ॥६४॥  
 शतभोगां च नन्दां च नदीं करभवेगिनीम् । चुल्लितापीं च रेवां च सप्तपारां च कौशिकीम् ॥६५॥  
 सरितोऽमृताधापा विप्वगारुद्ध्य तद्वलम् । तुरंगमसुरोत्प्लावतीरा विस्तारिणीर्व्यधात् ॥६६॥  
 तैरश्विकं गिरिं क्रान्त्वा रुद्ध्वा वेदूर्यभूधरम् । यदाः कूटाद्रिसुलङ्घ्य पारियात्रमशिश्रियन् ॥६७॥  
 गत्वा पुष्पगिरेः प्रस्थान् सानून् सितगिरिरपि । गदागिरेर्निकुञ्जेषु बलान्नस्य विगमश्रमुः ॥६८॥  
 वातपृष्ठवरीमाणां वृक्षवत्<sup>१</sup> कुक्षिभिः<sup>२</sup> समम् । तन्मैनिकाः श्रयन्ति स्म कम्बलाद्रितटान्यपि ॥६९॥  
 वासवन्तं महाशैलं विलङ्घ्यासुरधूपने<sup>३</sup> । स्थित्वाऽस्य सैनिकाः प्रापन् मदमानद्वरेयिकान्<sup>४</sup> ॥७०॥  
 निःसपलमिति श्रेयुरितश्चेतश्च सैनिकाः । द्विपां वनविभागेषु<sup>५</sup> कर्पन्तोऽस्य निर्जरजैः ॥७१॥  
 दुस्ताराः सुतरा जाताः संभुकाः सरितो बलैः । स्वारीहाश्च<sup>६</sup> दुरारोहा गिरयः क्षुण्णसानवः ॥७२॥

वती नदीको प्राप्त हुए थे ॥५९॥ जंगली हाथियोसे भरे हुए माल्यवती नदीके किनारेके वनको घेरकर तथा यमुना नदीका पानी पीकर भरतके हाथियोने उस ओरकी समस्त दिगाएँ जीत ली थी ॥५९॥ उनकी विजयी सेनाने वेणुमती नदीके किनारे-किनारे जाकर वत्स देगकी भूमिपर आक्रमण किया और फिर दशार्णा ( धसान ) नदीको भी उल्लंघन किया - पार किया ॥६०॥ भरतकी सेनाने विगाला, नालिका, सिन्धु, पारा, नि.कुन्दरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतिनी, कुहा, समतोया, कजा, कपीवती, निर्विन्ध्या, नदियोमे श्रेष्ठ जम्बूमती, वसुमती, समुद्र तक जानेवाली शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिजा, पनसा, अघन्तिकामा, हस्तिपानी, कागन्धु, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा, और कौशिकी इन अगाध जलसे भरी हुई नदियोंको चारो ओरसे घेरकर जिनके किनारे घोड़ों-के खुरोंसे खुद गये हैं ऐसी उन नदियोंको बहुत चौड़ा कर दिया था ॥६१-६६॥ सैनिकोंने तैरश्विक नामके पर्वतको लांघकर वेदूर्य नामका पर्वत जा घेरा और फिर कूटाचलको उल्लंघन कर पारियात्र नामका पर्वत प्राप्त किया ॥६७॥ भरतकी वह सेना पुष्प गिरिके शिखरोपर चढकर सितगिरिके शिखरोपर जा चढ़ी और फिर वहाँसे चलकर उसने गदा नामक पर्वतके लतागृहमे विश्राम किया ॥६८॥ भरतके सैनिकोंने ऋक्षवान् पर्वतकी गुफाओं-के साथ-साथ वातपृष्ठ पर्वतकी गुफाओंका आश्रय लिया और फिर वहाँसे चलकर कम्बल नामक पर्वतके किनारोपर आश्रय प्राप्त किया ॥६९॥ वे सैनिक वासवन्त नामके महापर्वतको उल्लंघन कर असुरधूपन नामक पर्वतपर ठहरे और फिर वहाँसे चलकर मदेम आनग और रेमिक पर्वतपर जा पहुँचे ॥७०॥ सेनाके लोग उन देशोको शत्रुरहित समझकर अपने हाथियोंके द्वारा वनके प्रदेशोमे हाथी पकड़ते हुए जहाँ-तहाँ घूम रहे थे ॥७१॥ जो नदियाँ दुस्तर अर्थात् कठिनाईसे तैरने योग्य थी वे ही नदियाँ सैनिकोंके द्वारा उपभुक्त होनेपर सुतर अर्थात् सुखसे

१ बलम् । २ 'दशार्णान्' इत्यपि वचि । ३ कुहा ल० । ४ कामधुन्यापगाम् । ५ सानून् । ६ स्मितगिरे-ल० । ७ नितम्बेषु । ८ विश्राम्यन्ति स्म । ९ वातपृष्ठगिरिकन्दरप्रदेशान् । १० भल्लूका इव । ११ तद्ग्रीरस्थित-गुहाभि सह इत्यर्थः । १२ असुरधूपन इति पर्वतविशेषे । १३ मदेमश्च आनङ्गश्च रेयिकश्च तान् । १४ स्वी-कुर्वन्तः । १५ सुद्वारोहाः ।

राष्ट्राप्यवधयस्तेषां राष्ट्रीशश्च महामुलः । फलाय जलिरं मृत्योर्नोतिताञ्चाहुना<sup>१</sup> फलैः ॥७३॥  
 नृपानवारपरीपान्<sup>२</sup> ३५५ पानपुपसामरे । बली वलैरवधयं प्रापोषवनवान् गजान् ॥७३॥  
 रत्नान्यपि विचित्राणि तेभ्यो लब्ध्वा यथेप्सितम् । तानेवास्थापयन्तत्र संतुष्टः प्रभुराज्या ॥७५॥  
 महाप्ति गिरिदुर्गाणि निम्नदुर्गाणि च प्रभोः । सिद्धानि वलरुद्धानि किमसाध्यं महोयसाम् ॥७६॥  
 इत्थं स पृथिधीमध्यान्<sup>३</sup> पौरस्थाजिर्जयन्नुपान् । प्रतस्थे दक्षिणामात्रां<sup>४</sup> दक्षिणात्यजिगीषया ॥७७॥  
 यतो यतो बलं लिप्थोः प्रचलत्युद्धनायकम् । ततस्ततः स्म सामन्ता नमन्यान्ममैलयः ॥७८॥  
 त्रिकलिङ्गाधिपानोद्गान् कच्छान्प्रविषथाधिपान् । प्रातरान् कैरलांश्चोल्बान् पुत्रागांश्च व्यजेष्ट सः ॥७९॥  
 कुड्डन्वानोलिकांश्चैव स माहिषकमेकुरान् । पाण्डवान्तरपाण्डयश्च दण्डेन वशमानयत् ॥८०॥  
 नृपानेतान् त्रिलित्यान् प्रणमय स्वपादयोः । हत्वा तत्साररत्नाणि प्रभुः प्रापत् परां सुदम् ॥८१॥  
 सेनानीरपि वध्राम<sup>५</sup> विमोराज्ञां ससुद्रहन् । गिरीश्च ससरितो देगान्<sup>६</sup> कालिङ्गकवनाश्रितान् ॥८२॥  
 स साधनैः समं भजे तैलसिन्धुमतीमपि । नदीं नक्रवां बन्नां श्वसनां च महानदीम् ॥८३॥

तैरने योग्य हो गयी थी । इसी प्रकार जो पर्वत दुरारोह अर्थात् कठिनाईसे चढ़ने योग्य थे वे ही पर्वत सैनिकोंके द्वारा शिखरोंके चूर्ण हो जानेसे स्वारोह अर्थात् सुखपूर्वक चढ़ने योग्य हो गये थे ॥७३॥ देवा, उनकी सीमाएँ और देशोंके राजा लोग सम्राट् भरतेश्वरको फल प्रदान करने-के लिए ही उत्पन्न हुए थे तथा बदलेमें भरतने भी उन्हें अनेक फलोसे युक्त किया था । भावार्थ — सम्राट् भरत जहाँ-जहाँ जाते थे वहाँ-वहाँके लोग उन्हें अनेक प्रकारके उपहार दिया करते थे और भरत भी उनके लिए अनेक प्रकारकी सुविधाएँ प्रदान करते थे ॥७३॥ जो राजा लोग उपसमुद्रके उस पार रहते थे अथवा उप-समुद्रके भीतर द्वीपोंमें रहते थे उन सबको बलवान् भरतने सेनाके द्वारा अपने वश किया था तथा वनमें उत्पन्न होनेवाले हाथियोंको पकड़-पकड़कर उनका पोषण किया था ॥७४॥ महाराज-भरतने उन राजाओंसे अपनी इच्छानुसार अनेक प्रकारके रत्न लेकर सन्तुष्ट हो अपनी आज्ञासे उनके स्थानोंपर उन्हींको फिरसे विराजमान किया था ॥७५॥ जो बड़े-बड़े किले पहाड़ोंके ऊपर थे और जो जमीनके नीचे बने हुए थे वे सब सेनाके द्वारा घिरकर भरतके वशीभूत हो गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंको क्या असाध्य है ? ॥७६॥ इस प्रकार भरतने पूर्व दिशाके समस्त राजाओंको जीतकर दक्षिण दिशाके राजाओंको जीतनेकी इच्छासे उस पृथिवीके मध्यभागसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥७७॥ उत्कृष्ट सेनापति सहित विजयी भरतकी सेना जहाँ-जहाँ जाती थी वहाँ-वहाँके राजा लोग सामन्तोंसहित मस्तक झुका-झुकाकर उन्हें नमस्कार करते थे ॥७८॥ दक्षिणमें भरतने त्रिकलिङ्ग, ओड्र, कच्छ, प्रातर, कैरल, चैर और पुत्राग देवोंके सब राजाओंको जीता था ॥७९॥ तथा कूट, ओलिक, माहिष, कमेकुर, पाण्डव और अन्तरपाण्डव देवोंके राजाओंको दण्डरत्नके द्वारा अपने वशीभूत किया था ॥८०॥ सम्राट् भरतने इन सब राजाओंको शीघ्र ही जीतकर उनसे अपने चरणोंमें प्रणाम कराया और उनके सारभूत रत्न लेकर परम आनन्द प्राप्त किया ॥८१॥ चक्रवर्तीकी आज्ञा धारण करता हुआ सेनापति श्री कालिङ्गक वनके समीपवर्ती अनेक पहाड़ों, नदियों तथा देशोंमें धूमा था ॥८२॥ वह अपनी सेनाओंके, साथ-साथ तैला, इक्षुमती, नक्रवा, बणा और श्वसना आदि महानदियोंको प्राप्त हुआ था

१ सेनात्या । २ उभयतीरे भवान् । 'पारानारपरैर्य उति ख' उति प्राप्तिर्भवेत्यर्थः । 'पाराचारे परे तीरे' इत्यमरः । ३ द्वीपे आज्ञाम् । ४ घाटी कृत्वा । ५ पुषोप वनवान् ल०, द०, इ०, ज० । ६ पूर्वदिग्भवान् । ७ दक्षिणदिशि जावा । ८ चैरान् ल०, द० । ९ वलेन । १० प्रभो-ल० । ११ कलिङ्गदेशसंबन्धि ।

धुनी वेत्रणीं मापवती च समहेन्द्रकाम् । सैनिकैः सममुत्तीर्य ययौ शुष्कनदीमपि ॥८४॥  
 सप्तगोदावरं तीर्त्वा<sup>१</sup> पश्यन् गोदावरीं शुचिम् । सरो मानसमासाद्य मुमुदं शुचिमानसः ॥८५॥  
 सुप्रयोगां नदीं तीर्त्वा<sup>२</sup> कृष्णवेणीं<sup>३</sup> च निम्नगाम् । सञ्जीरां च प्रवेणीं च व्यतीयाय समं वलैः ॥८६॥  
 कुञ्जां धैर्यां च चूर्णीं च वेणां सूकरिकामपि । अम्बेणां च नदीं पश्यन् दक्षिणत्यानशुश्रुवत् ॥८७॥  
 महेन्द्रादि समाक्रामन् विन्ध्योपान्तं च निर्जयन् । नागपर्वतमध्यास्य प्रथमौ मलयाचलम् ॥८८॥  
 गोशीर्षं दुर्दुरादिं च गिरिं पाण्ड्यचक्रवाटकम् । स शीतगुहमासीदन् गं श्रीकटनाह्वयम् ॥८९॥  
 श्रीपर्वतं च किष्किन्धं निर्जयञ्जयसाधनैः । तत्र तत्रोचितैर्यैरवर्धत चमूपतिः ॥९०॥  
 कर्गाटकान् स्फुटाटो पविकटोद्भटं वेपकान् । हरिद्राजिनताम्बूलप्रियां प्रायो यशोधनान् ॥९१॥  
 आन्ध्रान्<sup>४</sup> रुद्रप्रहारेषु कृतलक्षान्<sup>५</sup> कदर्यकान्<sup>६</sup> । पाषाणकठिनानङ्गैर्न परं हृदयैरपि ॥९२॥  
 कालिङ्गकान् गज<sup>७</sup> प्रायसाधनान् सकलाधनान् । प्रायेण तादृशानोद्गान् जडाजु<sup>८</sup> सरप्रियां ॥९३॥  
<sup>९</sup>चोलिकाश्चालिकप्रयां<sup>१०</sup> प्रायशोऽनुजुचेष्टितान्<sup>११</sup> । केरलान् सरलालापान् कलागोष्ठिपु<sup>१२</sup> सुबुक्कान्<sup>१३</sup> ॥९४॥  
 पाण्ड्यान् प्रचण्डदोर्गण्डखण्डितारामण्डलान् । प्रायो गजप्रियां धन्विक्कुन्तभूषिष्ठाधनान् ॥९५॥

॥८३॥ तथा वेत्रणी, मापवती और महेन्द्रका इन नदियोंको अपने सैनिकोंके साथ पार कर वह शुष्क नदीपर जा पहुँचा था ॥८४॥ सप्तगोदावरको पार कर पवित्र गोदावरीको देखता हुआ वह पवित्र हृदयवाला सेनापति मानस सरोवरको पाकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८५॥ तदनन्तर उसने सेनाओंके साथ-साथ सुप्रयोगा नदीको पार कर कृष्णवेणा, सञ्जीरा और प्रवेणी नामकी नदीको पार किया ॥८६॥ तथा कुञ्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका और अम्बर्णा नदीको देखते हुए उसने दक्षिण दिशाके राजाओंको चक्रवर्तीकी आज्ञा सुनायी ॥८७॥ फिर महेन्द्र पर्वतको उल्लङ्घन कर विन्ध्याचलके समीपवर्ती प्रदेशोंको जीतता हुआ नागपर्वतपर चढ़कर वह सेनापति मलय पर्वतपर गया ॥८८॥ वहाँसे अपनी सेनाके साथ-साथ गोशीर्ष, दुर्दुर, पाण्ड्य, कवाटक और शीतगुह नामके पर्वतोंपर पहुँचा तथा श्रीकटन, श्रीपर्वत और किष्किन्ध पर्वतोंको जीतता हुआ वहाँके राजाओंसे यथायोग्य लाभ पाकर वह सेनापति अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥८९-९०॥ प्रकट रूपसे धारण किये हुए आडम्बरोसे जिनका वेप विकट तथा शूरवीरताको उत्पन्न करनेवाला है, जिन्हें हल्दी, ताम्बूल और अजन बहुत प्रिय हैं; तथा प्रायः कर जिनके यश ही धन है ऐसे कर्णाटक देशके राजाओंको, जो कठिन प्रहार करनेमें सिद्धहस्त हैं जो बड़े कृपण हैं और जो केवल शरीरकी अपेक्षा ही पाषाणके समान कठोर नहीं हैं किन्तु हृदयकी अपेक्षा भी पाषाणके समान कठोर हैं ऐसे आन्ध्र देशके राजाओंको, जिनके प्रायः हाथियोंकी सेना है और जो कला-कौशल रूप धनसे सहित हैं ऐसे कालिङ्ग देशके राजाओंको, जो प्रायः कालिङ्ग देशके समान हैं, मूर्ख हैं और लड़नेवाले हैं ऐसे ओण्ड्र देशके राजाओंको, जिन्हें प्रायः झूठ बोलना प्रिय नहीं है और जिनकी चेष्टाएँ कुटिल हैं ऐसे चोल देशके राजाओंको, मधुर गोष्ठी करनेमें प्रवीण तथा सरलतापूर्वक वार्तालाप करनेवाले केरल देशके राजाओंको, जिनके भुजदण्ड अत्यन्त बलिष्ठ हैं, जिन्होंने शत्रुओंके समूह नष्ट कर दिये हैं, जिन्हें हथेली बहुत प्रिय है और जो युद्धी प्रायः धनुष तथा माला आदि शस्त्रोंका अधिकतासे प्रयोग करते हैं ऐसे पाण्ड्य

१ तीर्थ अ०, स०, ल० । २ 'सुप्रवेणाम्' इत्यपि क्वचित् । ३ कृष्णवर्णा ल० । ४ अम्बर्णा ल० । ५ श्रावयति स्म । ६ नागपर्वते स्थित्वा । ७ आमम् । ८ गर्व । ९ मनोहर । 'विकट सुन्दरं प्रोक्तो विशालविकरालयो' इत्यभिधानात् । १० बुद्धि । ११ कृतव्याजान् । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमर । १२ कृपणान् । 'कदर्यं कृपणद्वर्कपचानमितपचा' इत्यमर । १३ करिवहलसेनान् । १४ युद्ध । १५ द्राविडान् । १६ अलीक अनृत । १७ चक्रवर्तनान् । १८ कलगोष्ठीषु चञ्चुरान् ल०, द० । १९ प्रतीतान् ।

‘दद्यापदानान्यांश्च तत्र तत्र व्युत्थितान्’ । जयसैन्यैरवस्कन्ध<sup>१</sup> सेनानीरनयद् वज्रम् ॥६६॥  
 ते च सस्कृत्य सेनान्यं पुरस्कृत्य ससाध्वसम् । चक्रिणं प्रणमन्ति स्म दूरादूरीकृतायतिम् ॥६७॥  
 वरग्रहेण संपीड्य दक्षिणाशां वधूमिव । प्रसमं हततत्सारो दक्षिणाब्धिमगात् प्रभुः ॥६८॥  
 ‘लवङ्गलवलीप्रायमेलागुल्ललतान्तिकम्’ । वेलोपान्तवनं पश्यन् महतीं धृतिमाप सः ॥६९॥  
 तमासिपेवरे मन्दमान्दोलितसरोजलाः । पलासुगन्धयः सौम्या वेलान्तवनवायवः ॥७०॥  
 मरुद्वतशाखाप्रविकीर्णसुसमोऽञ्जलिः । नूनं प्रत्यगृहीदेनं वनोद्देशो विशांपतिम् ॥७१॥  
 पवनापूतशाखाग्रैर्व्यक्तपटपदनिःस्वनैः । विश्रान्त्यै सैनिकानस्य व्याहरन्निव पादपाः ॥७२॥  
 अथ तस्मिन् वनामोगे<sup>२</sup> सैन्यमावासायद् विशुः । वैजयन्तमहाद्वारनिकटेऽम्बुनिधेस्तटे ॥७३॥  
 सन्नागं<sup>३</sup> बहुपुत्रागं<sup>४</sup> सुसमोभि<sup>५</sup> रधिष्ठितम् । बहुपत्ररथ<sup>६</sup> जिष्णोर्वलं तद्वनमावसत्<sup>७</sup> ॥७४॥

देशके राजाओको और जिन्होने प्रतिकूल खड़े होकर अपना पराक्रम दिखलाया है ऐसे अन्य देशके राजाओको सेनापतिने अपनी विजयी सेनाके द्वारा आक्रमण कर अपने अंवीन किया था ॥९१-९६॥ उन राजाओने सेनापतिका सत्कार कर तथा भयसहित कुछ भेट देकर जिन्होने उनका भविष्यत्काल अर्थात् आगे राजा बना रहने देना स्वीकार कर लिया है ऐसे चक्रवर्तीको दूरसे ही प्रणाम किया था ॥९७॥ जिस प्रकार पुरुष करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण संस्कारसे किसी स्त्रीको वशीभूत कर लेता है उसी प्रकार चक्रवर्ती भरतने करग्रह अर्थात् टैक्स वसूलीसे दक्षिण दिशाको अपने वज्र कर लिया था और फिर जवरदस्ती उसके सार पदार्थोंको छीनकर दक्षिण समुद्रकी ओर प्रयाण किया था ॥९८॥ वहाँ वह चक्रवर्ती, जिनमें प्रायः लवग और लवलीको लताएँ लगी हुई हैं तथा जो इलायचीके छोटे-छोटे पौधोकी लताओसे सहित है ऐसे किनारेके समीपवर्ती वनको देखता हुआ बहुत भारी सन्तोषको प्राप्त हुआ था ॥९९॥ जो तालाबोंके जलको हिला रहा है, जिसमे इलायचीकी सुगन्धि मिली हुई है और जो सौम्य है ऐसे किनारेके वनकी वायु उस चक्रवर्तीकी सेवा कर रही थी ॥१००॥ वायुसे हिलती हुई शाखाओके अग्रभागसे जिसने फूलोकी अञ्जलि बिखेर रखी है ऐसा वह वनका प्रदेश ऐसा जान पड़ता था मानो इस चक्रवर्तीकी अगवानी ही कर रहा हो ॥१०१॥ वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे थे और उनपर भ्रमर स्पष्ट शब्द कर रहे थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे वृक्ष हाथ हिला-हिलाकर भ्रमरोके गब्बोके वहाने पुकार-पुकारकर विश्राम करनेके लिए भरतके सैनिकोंको बुला ही रहे हो ॥१०२॥

अथान्तर-चक्रवर्तीने उस वनके मैदानमे समुद्रके किनारे वैजयन्त नामक महाद्वारके निकट अपनी सेना ठहरायी ॥१०३॥ वह वन और भरतकी सेना दोनों ही समान थे क्योंकि जिस प्रकार वन सनाग अर्थात् मोथाके पौधोसे सहित था उसी प्रकार सेना भी सनाग अर्थात् हाथियोसे सहित थी, जिस प्रकार वन बहुपुत्राग अर्थात् नागकेशरके बहुत वृक्षोसे सहित था उसी प्रकार सेना भी बहुपुत्राग अर्थात् अनेक उत्तम पुरुषोंसे सहित थी, जिस प्रकार वन सुमन अर्थात् फूलोंसे सहित था उसी प्रकार वह सेना भी सुमन अर्थात् देव अथवा अच्छे हृदय-वाले पुरुषोंसे सहित थी, और जिस प्रकार वन बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक पथियोंसे सहित होता

१ दृष्टमाश्रयति । ‘अपादान कर्मणि न्धादतिवृत्तेऽवमण्डने ।’ इत्यभियानान् । २ अन्वृत्तिवान् । ३ आक्रम्य । ४ अद्भुतमपदम् । ५ वलाकाण्ये । ६ चन्दनलता । ७ ‘तताङ्घ्रिन्’ इत्यपि ष्वविच् । उन निम्नम् । ८ आहूयन्ति स्मेव । ९ विस्तारे । १० प्रान्मणजम् । मुनागवृक्ष च । ११ पुरपत्रेऽन् नागकेशं च । १२ देव-कुमुदीम्ब । १३ बहुवाहनस्यन्दनम् बहुलविहगं च । ‘पनथिपत्रिगणपतगध्रथाङ्गजा’ इत्यभियानान् । १४ एवमपि दन्तमयत्रिं चरमावमन् ।

सच्छायान् स रुद्रांस्तुहान् बहुपत्रपरिच्छदान् । असेवन्त जनाः प्रीत्या<sup>१</sup> पार्थिवांस्तपविच्छिदः ॥१०५॥  
 सच्छायानप्यसंमाच्याफलान् प्रोज्य महाद्रुमान् । सफलान् चिरलच्छायानप्यहो शिश्रियुर्जनाः ॥१०६॥  
<sup>२</sup>आकालिकीमनाहत्य वहिश्छायां तदातनीम् । भाविनी तरुमूलेषु छायामाशिश्रियञ्जनाः ॥१०७॥  
 वनस्थलीस्तच्छायानिरुद्धयुमणिविपः । सजानयस्तरस्तीरेवप्यामिषत मैनिकाः ॥१०८॥  
 सप्रेयसीभिरावद्धप्रणयैराश्रिता नृपैः । कल्पपादपजां लक्ष्मीं व्यक्तमुद्वेगनद्रुमाः ॥१०९॥  
 कपयः<sup>३</sup> कपिकच्छानामुद्वनानाः फलच्छटाः<sup>४</sup> । मैनिकानाकुलांश्चक्रुर्निविष्टान् वी<sup>५</sup> रूपायधः ॥११०॥  
 सरःपतिसरैश्वासन् प्रमोदार्थीयमन्दुराः । सुन्दराः स्वरमाहायै<sup>६</sup> वाप्यच्छेयस्त्रुणादुरैः<sup>७</sup> ॥१११॥

है उसी प्रकार वह सेना भी अनेक सवारियों और रथोंसे सहित थी, इस प्रकार भरतकी वह सेना अपने समान वनमें ठहरी ॥१०४॥ उस वनके पार्थिव अर्थात् वृक्ष (पृथिव्यां भव, 'पार्थिव.') पार्थिव अर्थात् राजाओं (पृथिव्या अविप 'पार्थिव.') के समान थे, क्योंकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् उत्तम छाया (छाहरी) से सहित थे, जिस प्रकार राजा लोग सफल अर्थात् आय-से सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सफल अर्थात् फलोंसे सहित थे । जिस प्रकार राजा लोग तुंग अर्थात् ऊँची प्रकृतिके—उदार होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी तुंग अर्थात् ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा लोग बहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक सवारी आदिके वैभवसे सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी बहुपत्रपरिच्छद, अर्थात् अनेक पत्तोंके परिवारसे सहित थे और जिस प्रकार राजा लोग ताप अर्थात् दरिद्रतासम्बन्धी दुःखको नष्ट करनेवाले होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी ताप अर्थात् सूर्यके धामसे उत्पन्न हुई गरमीको नष्ट करनेवाले थे, इस प्रकार भरतके सैनिक, राजाओंकी समानता रखनेवाले वृक्षोंका आश्रय वड़े प्रेमसे ले रहे थे ॥१०५॥ सेनाके कितने ही लोग उत्तम छायासे सहित होनेपर भी जिनसे फल मिलनेकी सम्भावना नहीं थी ऐसे वड़े-वड़े वृक्षोंको छोड़कर थोड़ी छायावाले किन्तु फलयुक्त वृक्षोंका आश्रय ले रहे थे । भावार्थ—जिस प्रकार धनाढ्य होनेपर भी उचित वृत्ति न देनेवाले कंजूस स्वामीको छोड़कर सेवक लोग अल्पधनी किन्तु उचित वृत्ति देनेवाले उदार स्वामीका आश्रय लेने लगते हैं उसी प्रकार सैनिक लोग फलरहित वड़े-वड़े वृक्षोंको छोड़कर फलसहित छोटे-छोटे वृक्षोंका आश्रय ले रहे थे ॥१०६॥ सेनाके लोग उस समयकी थोड़ी देर रहनेवाली बाहरकी छाया छोड़कर वृक्षोंके नीचे आगे आनेवाली छायामें बैठे थे ॥१०७॥ वनस्थलीके वृक्षोंकी छायासे जिनपर सूर्यकी धूप रुक गयी है ऐसे कितने ही सैनिक अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित तालावोंके किनारोंपर बैठे हुए थे ॥१०८॥ परस्परके प्रेमसे बँधे हुए राजा लोग अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित जिनके नीचे बैठे हुए हैं ऐसे वनके वृक्ष कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुई गोभाको स्पष्ट रूपसे धारण कर रहे थे । भावार्थ—वनके वे वृक्ष कल्पवृक्षोंके समान जान पड़ते थे और उनके नीचे बैठे हुए स्त्री-पुरुष भोगभूमिके आर्य तथा आर्याओंके समान मालूम होते थे ॥१०९॥ वहाँ करेचकी कलियोंको हिलाते हुए वानर उन लताओंके नीचे बैठे हुए सैनिकोंको व्याकुल कर रहे थे क्योंकि करेचकी फलियोंके रोये गरीरपर लग जानेसे खुजली उठने लगती है ॥११०॥ तालावोंके समीप ही इच्छानुसार चरने योग्य तथा भापसे ही टूटनेवाले सुकोमल घासके

१ सच्छायान् तेजस्विनश्च । २ बहुदलपरिकरान्, बहुवाहनपरिकराश्च । ३ वृक्षान् नृपतीदृश । ४ अक्षिराम् ।

५—मागिश्रियुर्जना ल०, द० । ६ स्त्रीसहिताः । ७ मर्कटीनाम् । 'कपिकच्छुच मर्कटी' इत्यभिधानात् । ८ फल-मञ्जरी । ९ लतानाम् । १० सर्वत्रप्रवेगेषु मुलभैरित्यर्थः । ११ कोमलैः ।

अवतारितपर्याण<sup>१</sup>मुखमाण्डाद्युपस्कराः । स्फुरत्योधैर्मुखैरश्वाः क्षमां<sup>२</sup> जम्बुविजितुत्सवः<sup>३</sup> ॥११२॥  
 सान्द्रपञ्चरज कीर्णाः<sup>४</sup> सरसामन्तिकस्थले । मण्डं<sup>५</sup> दुधुबुरङ्गानि वाहाः कृतविवर्तनाः ॥११३॥  
 विब्रमावम्बरे कम्पजरजःपुञ्जोऽनिलोद्भव<sup>६</sup> । अथल<sup>७</sup> रचितोऽज्ञानामित्रोच्चैः पट्टमण्डप ॥११४॥  
 रजस्वलां<sup>८</sup> महौ स्पृष्ट्वा<sup>९</sup> जुष्टपुत्र इवोत्थिताः । द्रुतं विविञ्चुरम्भामि सरसीनां महाहवा ॥११५॥  
 वारिं<sup>१०</sup> वारिजकिंजल्कततान्यथा विगाहिताः । यौतमप्यङ्गरागं स्वं भेजुरम्भोजरेणुभिः ॥११६॥  
 सरोवगाहनभिर्धृतश्रमाः पीताम्भसो हयाः । आर्मीलिताक्षमध्वृषुर्विततान् पट्टमण्डपान् ॥११७॥  
 गालिकेरदुमेष्वासीदुचितो<sup>११</sup> वर्ष्मशालिनः । निवेशो हास्तिकस्थास्य विभोस्त्रालीवनेषु च ॥११८॥  
 प्रपतन्नालिकेरौघस्थपुटा वनभूमय । हस्तिना स्थानतामीयुस्त्रैरेव<sup>१२</sup> प्रान्तसारितैः<sup>१३</sup> ॥११९॥  
 द्विपाशुद्वयतरतीक्ष्णं<sup>१४</sup> वमधुच्यञ्जितश्रमान् । निन्युर्जलोपर्यङ्गाय सरांस्यभिनिषादिनः<sup>१५</sup> ॥१२०॥  
 न, चैर्गतेन<sup>१६</sup> सुच्यक्तमार्गसंज्ञितश्रमान् । गजानावोरणा निन्युः सरसीरवगाहनैः<sup>१७</sup> ॥१२१॥

अकुरोसे सुन्दर, चक्रवर्तिकाे घोड़ोकी घुडसाले थी ॥१११॥ जिनपर-से पलान और लगाय  
 आदि सामग्री उतार ली गयी है ऐसे घोड़े जमीनपर लोटनेकी इच्छा करते हुए, हिलते हुए नथर्न-  
 से युक्त मुखोसे जमीनको सूँघ रहे थे ॥११२॥ कमलोकी सान्द्र परागसे भरे हुए,  
 तालावके समीपवर्ती प्रदेशपर लोटकर वे घोड़े धूलि झाड़नेके लिए धीरे-धीरे अपने गरीर  
 हिला रहे थे ॥११३॥ जो कमलोकी परागका समूह वायुसे उडकर आकाशमें छा गया  
 था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो घोड़ोंके लिए बहुत ऊँचा कपडेका मण्डप ही बनाया  
 गया हो ॥११४॥ बड़े-बड़े घोड़े पृथिवीको रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त ( पक्षमे रजोधर्म-  
 से युक्त ) देखकर ग्लानि करते हुए-से उठे और शीघ्र ही सरोवरोके जलमें घुस गये ॥११५॥  
 कमलकी केशरसे भरे हुए जलमें प्रविष्ट हुए घोड़ोंका अगरराग ( शोभाके लिए गरीरपर  
 लगाया हुआ एक प्रकारका लेप ) यद्यपि धुल गया था तथापि उन्होंने कमलोके परागसे अपने  
 उस अगररागको पुन प्राप्त कर लिया था । भावार्थ—कमलोकी केशरसे भरे हुए पानीमें  
 स्नान करनेसे उनके शरीरपर जो कमलोकी केशरके छोटे-छोटे कण लग गये थे उनसे अगरराग-  
 की कमी नहीं मालूम होती थी ॥११६॥ सरोवरोंमें घुसकर स्नान करनेसे जिनका सब परि-  
 श्रम दूर हो गया है और जिन्होंने इच्छानुसार जल पी लिया है ऐसे घोड़े कपडेके बड़े-बड़े मण्डपों-  
 में कुछ-कुछ नेत्र बन्द किये हुए खड़े थे ॥११७॥ ऊँचे-ऊँचे शरीरोसे सुशोभित होनेवाले,  
 महाराज भरतके हाथियोके डेरे नारियल और ताड़ वृक्षके वनोमें बनाये गये थे जो कि सर्वथा  
 उचित थे ॥११८॥ जो वनकी भूमि ऊपरसे पडते हुए नारियलोके समूहसे ऊँची-नीची हो रही  
 थी वही नारियलोके एक ओर हटा देनेसे हाथियोके योग्य स्थान बन गयी थी ॥११९॥ जिन्हे  
 बहुत प्यास लगी है तथा जो वमधु अर्थात् सूँडसे निकाले हुए जलके छीटोसे अपना परिक्षम  
 प्रकट कर रहे हैं ऐसे हाथियोको महावत लोग पानी पिलानेके लिए तालावोपर ले गये थे ॥१२०॥  
 जो धीरे-धीरे चलनेसे मार्गमें उत्पन्न हुए परिश्रमको प्रकट कर रहे हैं ऐसे हाथियोको महावत

१ पर्ययनखलीनाविपरिकरा । २ आघ्रापयन्ति स्म ३ विवर्तयितुमिच्छन् । ४-कीर्णं ल० ।  
 ५ कम्पयन्ति स्म । ६ -निलोद्भूत ल० । ७ अयं नु ल० । ८ कुसुमरजोवतीम्, ऋषुमतोमिति ध्वनि । ९ दृष्ट्वा  
 ल०, द० । १० जलानीत्यर्थः । ११ पमाणम् । 'वर्ष्म देहप्रमाणयो' इत्यग्निवचनान् । १२ गजैरेव ।  
 १३ स्वकरंभीत्याकारेण धर्मन्तप्रसारिते । १४ तृपितान् । 'उदय्या तु पिपासा तृप्त' इत्यग्निवचनान् । १५ करशी-  
 कप्रकटित । 'वमधु करशीकर' इत्यग्निवचनान् । १६ हस्त्यारोहा । 'हस्त्यारोहा निषादिन' इत्यमर ।  
 १७ मन्दगमनेन । स्थलद्वगमनेन वा । अगमनेनेत्यर्थः । 'अले नीचैर्महत्पुञ्जै' । १८ अवगाहनार्थम् ।

प्रवेष्टुमब्जिनीपत्रच्छन्नं नागो नवग्रहः । नैच्छत् प्रचोद्यमानोऽपि वारि वारी<sup>१</sup> विशङ्कया ॥१२२॥  
 वनं त्रिलोक्यन् स्वैरं कवलचित्पल्लवम् । गजश्चिरगृहीतोऽपि किमप्यासीत् समुत्सुकः ॥१२३॥  
 स्वैरं न पपुरम्मांसि नागुह्यन् कवलानपि । केवलं वनसंभोगसुखानां<sup>२</sup> समसुराजाः ॥१२४॥  
 उत्पुकरान् स्फुरद्भौक्तं कक्ष्यान्निन्युद्धिपान् सरः । सशयूनिव<sup>३</sup> नीलाद्रीन् सविद्युत इवाम्बुदा ॥१२५॥  
 वनद्विपदामोदवाहिने गन्धवाहिने<sup>४</sup> । अजः कुप्यञ्जलोपान्तं निन्ये कृच्छ्राजिषादिना ॥१२६॥  
 अकस्मात् कुपितो दन्ती शिरन्तिर्यमिवधूनयन् । अनङ्कुशवशस्तीव्रमाधोरणमखेदयत् ॥१२७॥  
 वन्यानेकपसंभोगसंक्रान्तमदवासनाम् । मिसोढुं सरसीं नैच्छन्मदेमः करिणीमिव ॥१२८॥  
 पीतं वनद्विपैः पूर्वमन्त्रु तदानवासितम् । द्विपः करेण संजिघ्रन्<sup>५</sup> नापादास्फालयत् परम् ॥१२९॥  
 पीतात्मसो मदसारैर्द्वि निन्युः सरोजलम् । गजा भुधा धनादानं नूनं बान्छन्ति नोजताः ॥१३०॥  
 उत्पुकरं सरोमधे निमग्नोऽपि मदद्विपः । रंरणदुमि<sup>६</sup> खमुत्पत्य व्यज्यते स्म मधुव्रतैः ॥१३१॥  
 पीताम्बुरम्बुदस्पर्धि बृंहितो मदकुंजरः । दुघात्र<sup>७</sup> गण्टकण्डूया<sup>८</sup> चण्डगण्डूषवारिभिः ॥१३२॥

लोग नहलानेके लिए तालाबोपर ले गये थे ॥१२१॥ कोई नवीन पकड़ा हुआ हाथी बार-बार प्रेरित होनेपर भी कमलनीके पत्तोसे ढँके हुए जलमे समुद्रकी आशकासे प्रवेश नहीं करना चाहता था ॥१२२॥ बहुत दिनका पकड़ा हुआ भी कोई हाथी अपने इच्छानुसार खाने योग्य नवीन पत्तोंवाले वनकी देखता हुआ विलक्षण रीतिसे उत्कण्ठित हो रहा था ॥१२३॥ कितने ही हाथियोने इच्छानुसार न तो पानी ही पिया था और न ग्रास ही उठाये थे, वे केवल वनके सम्भोगसे उत्पन्न सुखोंका स्मरण कर रहे थे ॥१२४॥ जिनकी सूँड़ ऊँची उठी हुई है और जिनकी बगलमें सुवर्णकी मालाएँ देदीप्यमान हो रही है ऐसे हाथियोको महावत लोग सरोवरोपर ले जा रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे जान पडते थे मानो अजगरसहित नील पर्वत ही हो अथवा बिजलीसहित मेघ ही हो ॥१२५॥ जो जंगली हाथीके मदकी गन्धको धारण करनेवाले वायुसे कुपित हो रहा है ऐसे किसी हाथीको उसका महावत बड़ी कठिनाईसे जलके समीप ले जा सका था ॥१२६॥ अचानक कुपित हुआ कोई हाथी अपने शिरको तिरछा हिला रहा था, वह अंकुशके वश भी नहीं होता था और महावतको खेदलिख कर रहा था ॥१२७॥ जंगली हाथीके सम्भोगसे जिसमें मदकी वास फैल रही है ऐसी हथिनीको जिस प्रकार कोई मदोन्मत्त हाथी नहीं चाहता है उसी प्रकार जिसमें जंगली हाथियोंकी क्रीड़ासे मदकी गन्ध मिली हुई है ऐसी सरोवरीमे कोई मदोन्मत्त हाथी प्रवेश नहीं करना चाहता था ॥१२८॥ जिस पानीको पहले वनके हाथी पी चुके थे और इसीलिए जो मदकी गन्धसे भरा हुआ था ऐसे पानीको सेनाके हाथियोने नहीं पिया था, वे केवल सूँड़से सूँध-सूँधकर उसे उछाल रहे थे ॥१२९॥ जिन हाथियोने तालाबका पानी पिया था उन्होने अपना मद बहा-बहाकर तालाबका वह पानी बहा दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो उन्नत अर्थात् बड़े होते है वे किसीका व्यर्थ ही धन लेनेकी इच्छा नहीं करते है ॥१३०॥ कोई मदोन्मत्त हाथी यद्यपि सूँड़ ऊपर उठाकर तालाबके मध्यभागमे डूबा हुआ था तथापि आक्राशमें उडकर शब्द करते हुए भ्रमरोसे 'वह यहाँ है', इस प्रकार साफ समझ पडता था । ॥१३१॥ जो पानी पी चुका है और जिसकी गर्जना मेघोके साथ स्पर्धा कर रही है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी अपने कुरलेके जलकी तेज फटकारसे कपोलकी खुजली शान्त कर रहा था

१ नवो नूतनो ग्रहः स्वीकारो यस्य स । २ गजबन्धनहेतुभूतगतिशङ्कया । 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यभिधानात् । ३ वनस्य संभोगाज्जातसुखानाम् । ४ उद्यतहस्ताग्राम् । ५ सुवर्णमयसवरत्रान् । 'द्वय्या कक्ष्या वरत्रा स्यात्' इत्यभिधानात् । ६ अजगरसहितान् । ७ अनिलाय । ८ विगाढ लं, दं० । ९ आम्रापयन् । १० न पिबन्ति स्म । ११ भुञ्जं गुञ्जद्भिः । १२ अपनयति स्म । १३ कपोलकण्डूयनम् ।

विमुक्तं व्यक्तसूक्तारं करमुच्छिष्य वाणैः । वारि स्फटिकदण्डस्य लक्ष्मीसूहे खमुच्चलत् ॥१३३॥  
 उदगाहैर्विनिर्धूतश्रमाः केचिन्मतज्ञाः । विसमङ्गे रघुसृष्टि हेलया कवलीकृतैः ॥१३४॥  
 मृणालैरधिदन्ताग्रमर्पितैर्विवभुर्गजाः । अत्रसमम्बुसंसेकाद् रदैः प्रारोहितैरिव ॥१३५॥  
 प्रमाद्यद् द्विदः कश्चिन्मृणालं स्वकरोदधृतम् । ददावालान् बुधैव नियन्त्रे द्विगुणीकृतम् ॥१३६॥  
 चरणालम्बमाकर्षन् मृणालं मीलुको गजः । वहिःसरस्तटं १० न्यास्यदन्दुतत्तुक्कशङ्कया ११ ॥१३७॥  
 करैरुच्छिष्य पद्मानि स्थिताः स्तम्भेरमा वसुः । देवतानुसृष्टिं किञ्चित् कुर्वन्तोऽवोरिवोदृतैः ॥१३८॥  
 सरस्तरङ्गधौताङ्गा रेखसुङ्गा मतङ्गजाः । शृङ्गारिता इवालनैः सान्द्रैरम्भोजरेणुभिः ॥१३९॥  
 ययुः करिभिरारुढं परिहृत्य १२ सरोजलम् । पतत्रिणः सरस्तीरं तद्युक्तमवलीयसाम् ॥१४०॥  
 सरोचगाहनिर्गिक्तमूर्तयोऽपि १३ मतङ्गजाः । रजःप्रमाथैराध्मानं चक्रुरेव मलीमसम् ॥१४१॥  
 वयं जाल्यैव मातङ्गा १४ मदेनोद्दीपिताः पुनः । कुतस्त्या शुद्धिरस्माकमित्यात्तं नु १५ रजो गजैः ॥१४२॥

वसन्ततिलकाघृतम्

इत्थं सरस्सु रुचिरं प्रविहृत्य नागाः संतापमन्तं रुदितं प्रशमय्य तौषैः ।

तीरद्वामानुपययुः किमपि प्रतोषाद् वग्धं नु तत्र नियत न विदोवभूयुः १८ ॥१४३॥

॥१३२॥ कितने ही हाथी सँड ऊँची उठाकर सू सू शब्द करते हुए ऊपरको पानी-छोड़ रहे थे, उस समय आकाशकी ओर उछलता हुआ वह पानी ठीक स्फटिक मणिके बने हुए दण्डकी शोभा धारण कर रहा था ॥१३३॥ पानीमें प्रवेश करनेसे जिनका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसे कितने ही हाथी लीलापूर्वक मृणालके टुकड़े खाकर सन्तोष धारण कर रहे थे ॥१३४॥ कितने ही हाथी अपने दाँतोके अग्रभागपर रखे हुए मृणालोसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निरन्तर पानीके सीचनेसे उनके दाँत ही अंकुरित हो उठे हो ॥१३५॥ मदसे अत्यन्त उन्मत्त हुआ कोई हाथी अपनी सँडसे ऊपर उठाये हुए मृणालको बाँधनेकी साँकल समझकर उसे दोहरी कर सहावतको दे रहा था ॥१३६॥ अपने पैरमें लगे हुए मृणालको खींचता हुआ कोई भीरु हाथी उसे बाँधनेकी साँकल समझकर तालावके बाहरी तटपर ही खड़ा रह गया था ॥१३७॥ अपनी सँडोसे कमलोको उठाकर खड़े हुए हाथी ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हाथीमें अर्ध लेकर किसी देवताका कुछ स्मरण ही कर रहे हों ॥१३८॥ जिनके शरीर तालावकी लहरोसे धुल गये हैं ऐसे ऊँचे-ऊँचे हाथी सघन रूपसे लगे हुए कमलोकी परागसे ऐसे सुगोभित हो रहे थे मानो स्नान कराकर उनका शृंगार ही किया गया हो ॥१३९॥ हाथियोसे घिरे हुए तालावके जलको छोड़कर सब पक्षी तालावके किनारेपर चले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि निर्बल प्राणियोको ऐसा ही करना योग्य है ॥१४०॥ तालावोमें प्रवेश करनेसे जिनके शरीर निर्मल हो गये हैं ऐसे कितने ही हाथी धूल उड़ाकर फिरसे अपने-आपको मैला कर रहे थे ॥१४१॥ प्रथम तो हम लोग जातिसे ही मातंग अर्थात् चाण्डाल है ( पक्षमे-हाथी है ) और फिर मद अर्थात् मदिरासे ( पक्षमे-गण्डस्थलसे बहते हुए तरल पदार्थसे ) उत्तेजित हो रहे हैं इसलिए हम लोगोकी शुद्धि अर्थात् पवित्रता ( पक्षमे-निर्मलता ) कहाँसे रह सकती है ऐसा समझकर ही मानो हाथियोने अपने ऊपर धूल डाल ली थी ॥१४२॥ इस प्रकार वे हाथी बहुत देर तक सरोवरोमें क्रीडा कर और अन्तरंगमें उत्पन्न हुए सन्तापको जलसे शान्त कर किनारेके वृक्षों-

१ खमुच्छलत् ल०, द०, ड०, अ०, प०, सं० । २ जनावगाहं । ३ मृणालवण्डे । ४ घृतवन्न ।

५ वन्तं ल०, द० । ६ संजातप्रारोहं, अङ्कुरितं । ७ वग्धनरज्जु । ८ आरोहकाय । ९ नरस्नदीबाह्यप्रदेने ।

१० प्रलिपति स्म । 'अमु क्षेत्रे' । ११ शृङ्खलासूत्र । 'अथ शृङ्खले' । 'अन्तुको निगन्तोऽन्तो स्याद्' इत्यनिधा-

गात् । १२ त्यक्त्वा । १३ गृह्य । १४ घूलिप्रक्षेपे । १५ ध्वपचा इति ध्वनिः । १६ इव । १७ अन्तरोद-

भूतम् । १८ न विदन्ति स्म ।



हत्वा सरोऽम्बु करिणो निजदानवारि संबधितं विनिमयाद्वृणाश्च सन्तः ।  
 तद्वीचिहस्तजनितप्रतिरोधगद्गा व्यासंगिनो नु सरसः प्रसभं निरीयुः ॥१४४॥  
 आधारेणा मदमपीमलिनान् करीन्द्रान् निर्णेतुं भम्बु सरमामद्ग्राहयन्तः ।  
 श्रेष्ठं केवलमपामुपयोगमात्रं तारस्थिताननु नयैस्तदवीकरन्तः ॥१४५॥  
 स्वैरं नवाभ्युपरीतमयल्लभ्यतीरद्वेषु न कृतः कवलग्रहोऽपि ।  
 छायास्वलम्बि न तु विश्रमणं प्रभिन्नैः स्तम्भैर्मयैव भद्रः खलु नात्मनीयः ॥१४६॥  
 नाभ्यां द्रुत गुरुतरंरपि नातिथार्तो युद्धेषु जातु न किमप्यपराद्धमेभिः ।  
 मारक्षमाद्य करिणः सविशेषमेव श्रद्धास्तथाप्यनिश्रुता<sup>०</sup> इति दिक्चलत्वम् ॥१४७॥  
 वर्ष्मार्थं<sup>१</sup> नः किमिति हन्त विनापराधाज् जार्नात्<sup>२</sup> भोः<sup>३</sup> प्रनिफल्यचिरादिदं वः ।  
 इत्युच्चलत्पुष्पि<sup>४</sup> विधूय गिरांसि वन्धे वैरं नु यन्मृषु गजाः स्म विभावयन्ति ॥१४८॥  
 आधातुको<sup>५</sup> द्विरदिनः सविशेषमेव गात्रापरास्तकरं बालधिषु न्ययोजि ।  
 बन्धेन सिन्धुरवरास्त्वितरं<sup>६</sup> तथा नो गाढीभवत्यविरताञ्च परत्र<sup>७</sup> बन्धः ॥१४९॥

के समीप आ गये थे, यद्यपि वहाँ उनके बाँधनेका स्थान नियत था तथापि क्रीड़ासे उत्पन्न हुए अतिगय सन्तोषसे उन्हें उसका कुछ भी ज्ञान नहीं था ॥१४३॥ हाथियोंने तालाबोका जो पानी पिया था उसे मानो अपना बदला चुकानेके लिए ही अपने मदरूपी जलसे बढा दिया था, इस प्रकार प्यासरहित हो सुखकी माँस लेते हुए वे हाथी, 'ये तालाव अपनी लहुरेरूपी हाथीसे कही हमे रोक न ले' ऐसी आगका कर तालाबोसे शीघ्र ही बाहर निकल आये थे ॥१४४॥ मदरूपी स्याहीसे मलिन हुए हाथियोको निमल करनेके लिए तालाबोके जलमे प्रवेग कराते हुए महावत जब उन्हें जलके भीतर प्रविष्ट नहीं करा सके तब उन्होंने केवल जल ही पिलाना चाहा परन्तु बहुत कुछ अनुनय-विनय करनेपर भी वे किनारेपर खड़े हुए उन हाथियोको केवल जल भी पिलानेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे । भावार्थ — मदोन्मत्त हाथी न तो पानीमे डी घुसे थे और न उन्होंने पानी ही पिया था ॥१४५॥ मदोन्मत्त हाथियोने न तो अपने इच्छा-नुसार विना यत्नके प्राप्त हुआ पानी ही पिया था, न किनारेके वृक्षोसे कुछ तोड़कर खाया ही था और न वृक्षोकी छायामे कुछ विस्वास ही प्राप्त किया था, खेद है कि यह मद कभी भी आत्माका भला करनेवाला नहीं है ॥१४६॥ इन हाथियोने शरीर भारी होनेसे शीघ्र ही मार्ग तय नहीं किया यह बात नहीं है अर्थात् इन्होंने भारी होनेपर भी शीघ्र ही मार्ग तय किया है, इन्होंने युद्धमे भी कभी अपराध नहीं किया है और ये भार ढोनेके लिए भी सबसे अधिक समर्थ है फिर भी केवल चचल होनेसे इन्हे बढ होना पड़ा है इसलिए इस चचलताको ही धिक्कार हो ॥१४७॥ तुम लोग इस प्रकार विना अपराधके हम लोगोको क्यों बाँध रहे हो ? तुम्हारा यह कार्य तुम्हे शीघ्र ही इसका बदला देगा यह तुम खूब समझ लो, इस प्रकार बाँधनेके कारण महावतोमें जो वैर था उसे वे हाथी अनुश्रुतिको ऊपर उछालकर मस्तक हिलाते हुए स्पष्ट रूपसे जतला रहे थे ॥१४८॥ जो हाथी जीवोका घात करनेवाले थे वे शरीरके आगे पीछे तथा सूँड और पूँछ आदि

१ नैमेयात् । 'परिदानं परीवर्तं नैमेयनियमावपि' इत्यभिधानात् । २-द्वतुणा. ध्वसन्त ल० ।-द्वतुणा. ध्वसन्त ल० । ३ श्रुदान् कर्तुम् । ४ तीरे स्थितान्-ल० । ५ कारयन्ति स्म । ६ नैव । ७ सन्तः । 'प्रभिन्नो गजितो मत्' इत्यभिधानात् । ८ आत्महितम् । ९ नानुयातो प०, ल० । १० चञ्चला । ११ बन्धन कुत्स्य । १२ लोद् । १३ भो यूयम् । १४ उच्चलदक्कज यथा भवति तथा । 'अंकुशोऽङ्गो मृषि स्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । १५ हिन्नक । 'अराखधितुको हिंस' इत्यभिधानात् । १६ अपरगाथान्त । शरीरापरभाग । 'द्वौ पूर्वपञ्चाद-जङ्घादिदेशौ गात्रावरे क्रमात्' इति रभम । गात्रे इत्युक्ते पूर्वजङ्घा, अपरे इत्युक्ते हस्तिन अपरजङ्घा, अन्त इत्युक्ते हस्तिनो मध्यप्रदेश, कर इत्युक्ते हस्तिनो हस्त, बालविरित्युक्ते पुच्छविशेष शरीरमध्य । १७ अयातुका । १८ असंयतात् । अव्रतिकादित्यर्थः । १९ संयते ।

आलानिता वनतरुष्वतिमात्रमुच्चरुन्धेषु सिन्धुरवराश्च तथोच्चैर्यत्<sup>१</sup> ।  
 तश्चनमाश्रयणमिष्टमुदात्तमेव सधारणाय महतामहतात्मसारम् ॥१५०॥  
 इत्थं नियन्तुमिरनेकपट्टन्दमुच्चैरालानितं तरुषु सामि<sup>२</sup> निमीलिताक्षम् ।  
 तस्यै मुखं विचतुरणं कृताङ्गहारं<sup>३</sup> लीलोपयुक्तकवलं स्फुटकर्णतालम् ॥१५१॥  
 उत्तारिताखिलपरिच्छदलाघवेन प्रच्यवित्तद्वुतगतिक्रमलक्ष्यवेगा ।  
 आपातुमश्वसरसां परितः प्रसस्रुरुच्छृङ्खलै रनुगताः कलमैः करिण्य ॥१५२॥  
 प्रावपीतमश्व सरसां कृतमौष्टकेण स्वोद्गालं<sup>४</sup> दूषितमुपात्तदङ्गगन्धम्<sup>५</sup> ।  
 नापातुमैच्छदुदिदन्त्य<sup>६</sup> पितोऽपि वर्कः<sup>७</sup> सर्वो हि वाञ्छति जनो विषयं मनोज्ञम् ॥१५३॥  
 पीतं पुरा गजतया सलिलं मदागन्धु संवासितं सरसिजाक्रमेत्य तूर्णम् ।  
 प्रीत्या पपुः कलभकाश्च करेणवश्च संभोगहेतुसुदितो<sup>८</sup> हि सगन्धं भावः ॥१५४॥

### प्रहर्षिणी

पीत्वाऽम्भो व्यपगमितान्तरङ्गतापाः संतापं बहिरुदितं सरोचगाहैः ।  
 नीत्वा<sup>९</sup> गजकलमैः समं करिण्यः संभोक्तु सपदि वनदुमान् विचैरुः ॥१५५॥

सब जगह बन्धनोसे युक्त किये गये थे और जो हाथी किसीका घात नहीं करते थे वे बन्धनसे युक्त नहीं किये गये थे इससे यह सिद्ध होता है कि जो अविरत अर्थात् हिंसा आदि पापोंके त्यागसे रहित हैं उन्हींके कर्मबन्धन सुदृढ़ रूपसे होता है और जो विरत अर्थात् हिंसा आदि पापोंके त्यागसे सहित हैं उनके कर्मका बन्ध नहीं होता ॥१४९॥ जिनके स्कन्ध बहुत ऊँचे गये हैं ऐसे वनके वृक्षोंमें ही सेनाके ऊँचे-ऊँचे हाथी बाँधे गये थे सो ठीक ही है क्योंकि महा-पुरुषोंको धारण करनेके लिए जिसकी स्वशक्ति नष्ट नहीं हुई है ऐसा बहुत बड़ा ही आश्रय चाहिए ॥१५०॥ इस प्रकार महावतोंके द्वारा ऊँचे वृक्षोंमें बाँधा हुआ वह हाथियोंका समूह अपनी आधी आँखें बन्द किये हुए सुखसे खड़ा था, उस समय वह अपना सब गरीर हिला रहा था, लीलापूर्वक ग्रास ले रहा था और कान फड़फड़ा रहा था ॥१५१॥ पलान आदि सब सामान उतार लेनेसे हलकी होकर जिन्होंने जल्दी-जल्दी चलकर अपनी गीघ्र गति प्रकट की है, तथा चंचल बच्चे जिनके पीछे-पीछे आ रहे हैं ऐसी हथिनियाँ तालावोंका पानी पीनेके लिए चारों ओर-से जा रही थी ॥१५२॥ तालावोंके जिस पानीको पहले ऊँटोंके समूह पी चुके थे, जो ऊँटोंके उगालसे दूषित हो गया था और जिसमें ऊँटोंके गरीरकी गन्ध आने लगी थी ऐसे पानीको हाथीका बेच्चा प्यासा होनेपर भी नहीं पीना चाहता था, सो ठीक ही है क्योंकि सभी कोई अपने मनके विषयभूत पदार्थके अच्छे होनेकी चाह रखते हैं ॥१५३॥ जिसे पहले हाथियोंके समूह पी चुके थे और जिसमें उनके मूद जलकी गन्ध आ रही है ऐसे पानीको हथिनियाँ तथा उनके बच्चे बहुत शीघ्र तालावपर जाकर बड़े प्रेमसे पी रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि समानता ही साथ-साथ खाने-पीने आदि सम्भोगका कारण होती है ॥१५४॥ जिन्होंने जल पीकर अन्तरगका सन्ताप दूर किया है और तालावमें घुसकर बाहरी सन्ताप नष्ट किया है ऐसी हथिनियाँ अपने

१ आधोरण । २ यस्मात् चारणात् । ३ अर्थ । ४ विद्वग्नामि विगतानि चत्वारि यस्य तेन । ५ अङ्गविशेषम् ।  
 ६ पाद । ७ स्वच्छन्दवृत्तिम् । ८ सम्पूर्णम् । ९ उष्ट्रसमूहेण । १० निजोद्गार । ११ उष्ट्रशरीरगन्धम् ।  
 १२ भृशं क्षुपित । १३ तरुणज । विषयः यः । १४ उक्त । १५ परिमल्य मिश्रत्व च । १६ नाशम् ।

वलीनां सकुसुमपल्लवाग्रमङ्गान् गुल्मीधानपि सरसां कडङ्गरांश्च ।  
 सुस्त्रादून् सृष्टुविटपान् वनदुमाणां तद्युथं कवल्यति स्म धेनुकानाम् ॥१५६॥  
 कुञ्जेषु प्रतनुवृणाङ्कुरान् प्रसृद्दन् वप्रान्तानपि रदनैः शनैर्विनिजन् ।  
 वल्लयग्रप्रसनचणः फलेग्रहिः सन् न्यालोलः कलमगणश्चिरं विजहे ॥१५७॥  
 प्रयथाः किसलयिनीगृहाण शाखा भङ्ग्युच्चैर्वनगहनं निषीद कुञ्जे ।  
 संभोग्यानुपसरसलकीवनान्तानित्येवं व्यहृत् वने करेणुवर्गः ॥१५८॥  
 संभोगैर्वनमिति निर्विशन् यथेष्टं स्वातन्यान्सुहुरपि धूर्तैर्निबद्धः ।  
 बद्धस्थः सहकलमः करेणुवर्गः संप्रापत् समुचितमात्मनो जिवेशम् ॥१५९॥  
 वित्रस्तैरपथमुपाहृतस्तुरंगैः पर्यस्तो रथ इह भग्नधूर्तिरक्षः ।  
 पृतास्ता द्रुतमपचान्त्यपेत्वा मार्गाद् वारखीवहनपराश्र वेगसर्थः ॥१६०॥  
 वित्रस्तः करमनिरीक्षणाद् राजोऽयं श्रीरुचं प्रकटयति प्रधावसानः ।  
 उत्त्रस्तत्पतति च वेसरादमुष्माद् विज्रस्तस्तनजजनांशुका पुरग्धी ॥१६१॥  
 इत्युच्चैर्वतिबद्धा वृथगजनानां संजल्यैः क्षुभितखरोष्ट्रकौक्षकैश्च ।  
 व्याक्रोशैर्जनितरवैश्च सैनिकानां संक्षोभः क्षणममवचमूषु राज्ञाम् ॥१६२॥

बच्चोके साथ खानेके लिए शीघ्र ही वनके वृक्षोंकी ओर चली गयी ॥१५५॥ वह हथिनियोंका समूह लताओके पुष्पसहित नवीन पत्तोंके अग्रभागोंको, छोटे-छोटे पीधोंको, रसीले कडंगरि वृक्षोंको और वनके वृक्षोंकी स्वादिष्ट तथा कोमल शाखाओंको खा रहा था ॥१५६॥ लता-गृहमे पतली घासके अकुरोंको खूँदता हुआ खेतोंकी मेड़को अपने दाँतोंसे धीरे-धीरे तोड़ता हुआ, लताओंके अग्रभागके खानेमे चतुर तथा फलोंको तोड़ता हुआ वह चंचल हाथियोंके बच्चोंका समूह चिरकाल तक क्रीडा करता रहा था ॥१५७॥ पत्तेवाली नवीन लताओंको ग्रहण कर, ऊँची-ऊँची शाखाओंसे युक्त सघन वनमें जा, लतागृहमे बैठ और खानेके योग्य सल्लकी वनोंके समीप जा इस प्रकार महावतोंकी आज्ञासे वह हथिनियोंका समूह वनमें इधर-उधर विहार कर रहा था ॥१५८॥ इस प्रकार जो अनेक प्रकारकी क्रीडाओंके द्वारा वनका अपनी इच्छा-नुसार उपभोग कर रहा है, स्वतन्त्रतापूर्वक आगे चलनेसे महावत लोग जिसे रोक रहे हैं और जो बाँधनेके योग्य है ऐसा वह हथिनियोंका समूह बच्चोंके साथ अपने ठहरने योग्य स्थानपर जा पहुँचा ॥१५९॥ इधर हाथियोंसे डरे हुए इन घोड़ोंने यह रथ कुमार्गमे ले जाकर पटक दिया है, इसका घुरा और भीरा टूट गया है तथा वेस्त्रियोंको ले जानेमे तत्पर ये खच्चरियाँ अपना मार्ग छोड़कर बहुत शीघ्र भागी जा रही है ॥१६०॥ इधर यह ऊँट देखनेसे डरा हुआ हाथी दीडा जा रहा है और उससे अपना भीरुपना प्रकट कर रहा है तथा इधर जिसके स्तन और जघन-परका वस्त्र खिसक गया है ऐसी यह स्त्री डरे हुए खच्चरसे गिर रही है ॥१६१॥ इस प्रकार जोर-जोरसे बोलते हुए साधारण पुरुषोंकी बातचीतके शब्दोंसे, क्षोभको प्राप्त हुए गधे, ऊँट तथा बैलोंके शब्दोंसे और परस्पर बुलानेसे उत्पन्न हुए सैनिकोंके कठोर शब्दोंसे राजाओंकी

१ बुसानि । 'कडङ्गरौ वुस क्लीबे' इत्यभिधानात् । २ करिणीनाम् । 'करिणी वेनुका वशा' इत्यमरः ।  
 ३ सुरभीणाम् । ४ कोमल । ५ मन्द्यन् । ६ सान्वनान् । 'सुवर्ष सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । ७ भक्षणसमर्थ ।  
 ८ फलानि गृह्णन् । ९ भङ्गं कुरु । १० आस्त्व । ११ साविजनानुनयैः । १२ विहाति स्म । १३ अनुभवन् ।  
 १४ सादिभिः । १५ निषिद्ध । १६ उत्तान यथा पतित । १७ भग्नयानमुखः । १८ निर्गतवयवः ।  
 १९ वेसरा । २० भय यत । २१ चकितात् । २२ परस्परभाषमाणानाम् । २३ वृषभैः । २४ परस्परान्ध्रैः ।

मालिनी

अवनिपतिसमाजेनानुयातस्तुरगैरकुम्भविभवयोगान्निजयन् लोकपालान् ।  
प्रतिदिशमुपशृण्वन्नागिवश्रकथाणिः शिबिरमविशदुर्ध्वैर्निदानां पुण्यधोवैः ॥१६३॥  
अथ सरसिजिनीनां गन्धमादाय सान्द्रं ध्रुततटवनवीथिमन्दभावात् समन्तात् ।  
श्रममखिलमनोत्स्रीत् कर्तुमस्योपचारं प्रहित इव सगन्धः<sup>३</sup> सिन्धुना<sup>४</sup> गन्धवाहः ॥१६४॥  
अविदितपरिमाणैरन्वितो रत्नगङ्गाः<sup>५</sup> स्फुरितमणिसिखाग्रैर्मोगिभिः<sup>६</sup> सेवनीयः ।  
सततमुपचितात्मा<sup>७</sup> रुद्धदिवचक्रवालो जलनिधिमनुजह<sup>८</sup> तस्य सेनानिवेशः ॥१६५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रावासितसाधनो<sup>१</sup> निधिपतिर्गत्वा रथेनाख्युधिं जैत्राश्रप्रतिजितामरसमस्तं व्यन्तरावीश्वरम् ।  
जित्वा मागधवत् क्षणाद्वरतनुं तत्साहस्रमोनिधेर्द्वैपं शशदलचकार यगसा कल्पान्तरस्थाग्रिना ॥१६६॥  
लेभेऽभेद्यमुरश्छदं वरतनोर्ग्रैवेयकं च स्फुरच्चूडारत्नसुदंष्ट्रं दिव्यकटकान् सूत्रं च रत्नोद्भवलम् ।  
सद्रत्नैरिति पूजितः स मगवान्<sup>२</sup> श्रीवैजयन्तार्णव-द्वारेण प्रतिसंनिवृत्त्य कटकं प्राविशदुत्तोरणम् ॥१६७॥

सेनाओमे क्षण-भरके लिए बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया था ॥१६२॥ घोड़ोंपर बैठे हुए अनेक राजाओका समूह जिसके पीछे-पीछे चल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती अपने बड़े भारी वैभवसे लोकपालोको जीतता हुआ तथा प्रत्येक दिशासे बन्दीजनोके मगल गानोके साथ-साथ आशीर्वाद सुनता हुआ अपने उच्च शिबिरमे प्रविष्ट हुआ ॥१६३॥

अथानन्तर जो किनारेके वनकी पवित्रयोको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनीयोको उल्टा गन्ध लेकर धीरे-धीरे चारो ओर बह रहा था और समुद्रके द्वारा भेजे हुए किसी खास सम्बन्धीके समान चक्रवर्तीके समस्त परिश्रमको दूर कर रहा था ॥१६४॥ उस समय वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान ( पडाव ) ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार समुद्र प्रमाणरहित शस्त्र और रत्नोसे सहित होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी प्रमाणरहित शस्त्र आदि निधियो तथा रत्नोसे सहित था, जिस प्रकार समुद्र, जिनके मस्तक-पर अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् संपत्ति सेवनीय होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी, जिनके मस्तकपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् राजाओके द्वारा सेवनीय था, जिस प्रकार समुद्र निरन्तर बढ़ता रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी निरन्तर बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार समुद्र सब दिशाओको घेरे रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी सब दिशाओको घेरे हुए था ॥१६५॥ जिसने अपनी सेना समुद्रके किनारे ठहरा दी है और जिसने अपने विजय-शील शस्त्रोसे मागध देवकी सभाको जीत लिया है ऐसे निधियोके स्वामी चक्रवर्तीने रथके द्वारा समुद्रमे जाकर मागध देवके समान व्यन्तरोके स्वामी वरतनु देवको भी जीता और समुद्रके भीतर रहनेवाले उसके वरतनु नामक द्वीपको कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले अपने यशसे सदाके लिए अलंकृत कर दिया ॥१६६॥ भरतने वरतनु देवसे कभी न टूटनेवाला कवच, देदीप्यमान हार, चमकता हुआ चूडारत्न, दिव्य कड़े और रत्नोसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत इतनी वस्तुएँ प्राप्त कीं । तदनन्तर उत्तम रत्नोसे जिसकी पूजा की गयी है ऐसे ऐश्वर्यशाली

१ आगच्छन् । २ अपनयति स्म । ३ वन्धु । ४ समुद्रेण । ५ चक्राविरत्नशङ्खनिधिभिः । ६ पक्षे मौक्तिकादि-रत्नगङ्गा । ७ पक्षे सर्वे । ८ वदितस्वरूप । ९ अनुकरोति स्म । १० निवासितवल । १० पूज्य ।

स्वच्छं स्वं हृदयं स्फुटं प्रकटयन्मुक्ताफलच्छन्नानां स्वं चान्तर्गतरागमाशु कथयन्नुत्पन्नालङ्कुरैः ।  
 सर्वस्वं च समर्पयन्नुपनयन्नन्तर्वर्णं<sup>१</sup> दक्षिणो वारां राशिरभान्यवह्निभुमसौ निर्व्याजमाराधयत् ॥१६८॥  
 आस्थाने<sup>२</sup> जयदुन्दुभीननु नदन्<sup>३</sup> प्राभातिके मङ्गले गम्भीरध्वनितैर्जयध्वनिमिव स्पष्टमुच्चारयन् ।  
 सुव्यक्तं स जलाशयोऽप्यजलधीवरांपतिः श्रीपतिं निमृत्वा स्थितिरन्विताय सुचिद् शक्तौ यथाद्य जिनम्

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपटिलक्षणमहापुराणसंग्रहे  
 दक्षिणार्णवद्वारविजयवर्णनं नामैकोनत्रिंशं पर्व ॥२६॥

भरतने वैजयन्त नामक समुद्रके द्वारसे वापस लौटकर अनेक प्रकारके तोरणोंसे सुगोभित किये गये अपने शिबिरमें प्रवेश किया ॥१६७॥ उस समय वह दक्षिण दिशाका लवणसमुद्र ठीक मन्त्रीकी तरह छलरहित हो भरतकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार मन्त्री अपने स्वच्छ हृदयको प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मोतियोंके छलसे अपने स्वच्छ हृदय (मध्यभाग) को प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपने अन्तरंगका अनुराग (प्रेम) प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उत्पन्न होते हुए भूगाओंके अंकुरोंसे अपने अन्तरंगका अनुराग (लाल वर्ण) प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है उसी प्रकार समुद्र भी अपना सर्वस्व (जल) समर्पण कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपना गुप्त धन उनके समीप रखता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अपना गुप्त धन (मणि आदि) उनके समीप रख रहा था, जिस प्रकार मन्त्री दक्षिण (उदार सरल) होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी दक्षिण (दक्षिणदिशावर्ती) था ॥१६८॥ अथवा जिस प्रकार इन्द्र दास होकर अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेवकी सेवा करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी दास होकर राज्यलक्ष्मीके अधिपति भरत चक्रधरकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र आस्थान अर्थात् समवसरण सभामें जाकर विजय-दुन्दुभि वजाता था उसी प्रकार वह समुद्र भी भरतके आस्थान अर्थात् सभामण्डपके समीप अपनी गर्जनासे विजय-दुन्दुभि वजा रहा था, जिस प्रकार इन्द्र प्रातःकालके समय पढ़े जानेवाले मंगल-पाठके लिए जय जय शब्दका उच्चारण करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी प्रातःकालके समय पढ़े जानेवाले भरतके मंगल-पाठके लिए अपने गम्भीर शब्दोंसे जय जय शब्दका स्पष्ट उच्चारण कर रहा था, जिस प्रकार इन्द्र जलाशय (जडाशय) अर्थात् केवलज्ञानकी अपेक्षा अल्पज्ञानी होकर भी अपने ज्ञानकी अपेक्षा अजलधी (अजडधी) अर्थात् विद्वान् (अजडा वीर्यस्य स.) अथवा अजड (ज्ञानपूर्ण परमात्मा) का ध्यान करनेवाला (अजडं ध्यायतीत्यजडधी.) था उसी प्रकार वह समुद्र भी जलाशय अर्थात् जलयुक्त होकर भी अजलधी अर्थात् जल प्राप्त करनेकी इच्छासे (नास्ति जले वीर्यस्य स.) रहित था, इस प्रकार वह समुद्र चिरकाल तक भरतेश्वरकी सेवा करता रहा ॥१६९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपटिलक्षण महापुराणसंग्रहके  
 भाषानुवादमें दक्षिण समुद्रके द्वारके विजयका वर्णन करनेवाला  
 उन्तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

## त्रिंशत्तमं पर्व

अथापरान्तं<sup>१</sup> निजैतुमुद्यतः<sup>२</sup> प्रमुस्थयौ । दक्षिणापतद्दिग्भागं वगीकुर्वन् स्वसाधनं ॥१॥  
 पुरः प्रयातमधीरस्वक् प्रवर्तितं रथैः । मध्ये हस्तिवटा प्रायात् सर्वत्रैवात्र पचय ॥२॥  
 सदेववलमित्यस्य चतुरङ्गं विभोर्वलम् । विद्याभृतां वलैः सार्द्धं पद्भिरङ्गैर्विपप्रथे ॥३॥  
 प्रचलद्वलसंक्षोभादुच्चाल किलार्णव । महतामनुवृत्तिं तु आवयन्ननुजीविनाम् ॥४॥  
 वलैः प्रसह्य<sup>५</sup> निभुंक्ताः<sup>६</sup> प्रह्वन्ति स्म<sup>७</sup> महीभुजः<sup>८</sup> । सन्तिः कर्दमन्ति<sup>९</sup> स्म स्यलन्ति स्म महाद्रय ॥५॥  
 सुरसाः<sup>१०</sup> कृतनिर्वाणाः<sup>११</sup> स्पृहणीया बुसुक्षुभिः<sup>१२</sup> । महद्भिः सममुद्योगैः<sup>१३</sup> फलन्ति स्माश्च सिद्धय<sup>१४</sup> ॥६॥  
 अभेद्या ददसं बाना<sup>१५</sup> विपक्षजय<sup>१६</sup> हतवः । गच्छयोऽस्य स्फुरन्ति स्म सेनाश्च विजिगीषु ॥७॥  
 फलेन<sup>१७</sup> योजितास्तीक्ष्णाः सपञ्चा<sup>१८</sup> दूरगामिनः । नाराचै<sup>१९</sup> सममेतस्य योधा जसुर्जयाङ्गताम् ॥८॥

अथानन्तर-पश्चिम दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण और पश्चिम दिशाके मध्यभाग ( नैर्ऋत्य दिशा ) को जीतते हुए निकले ॥१॥ उनकी सेनामे घोड़ोंके समूह सबसे आगे जा रहे थे, रथ सबसे पीछे चल रहे थे, हाथियोंका समूह बीचमे जा रहा था और प्यादे सभी जगह चल रहे थे ॥२॥ हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे इस प्रकार चार तरहकी भरतकी सेना देव और विद्याधरोकी सेनाके साथ-साथ चल रही थी । इस प्रकार वह सेना अपने छह अंगोंके द्वारा चारो ओर विस्तार पा रही थी ॥३॥ उस चलती हुई सेनाके शोभसे समुद्र भी क्षुभित हो उठा था - लहराणे लगा था और ऐसा जान पड़ता था मानो 'सबको महापुरुषोका अनुकरण करना चाहिए' यही बात सेवक लोगोंको सुना रहा हो ॥४॥ सेनाके द्वारा जबरदस्ती आक्रमण किये हुए राजा लोग नम्र हो गये थे, नदियोंमे कीचड़ रह गया था और बड़े-बड़े पहाड़ समान - जमीनके सदृश-हो गये थे ॥५॥ जिनका उपभोग अत्यन्त मनोरम है, जो सन्तोष उत्पन्न करनेवाली हैं, और जो उपभोगकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके द्वारा चाहने योग्य हैं ऐसी इस चक्रवर्तीकी समस्त सिद्धियाँ इसके बड़े भरी उद्योगोंके साथ-ही-साथ फल जाती थी अर्थात् सिद्ध हो जाती थी - ॥६॥ जिन्हे कोई भेद नहीं सकता है, जिनका संगठन अत्यन्त मजबूत है और जो शत्रुओंके क्षयका कारण हैं ऐसी भरतकी शक्ति तथा सेना दोनों ही शत्रु राजाओंपर अपना प्रभाव डाल रहे थे ॥७॥ भरतके योद्धा उनके बाणोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार योद्धा फल अर्थात् इच्छानुसार लाभसे युक्त किये जाते थे उसी प्रकार बाण भी फल अर्थात् लोहेकी नोकसे युक्त किये जाते थे, जिस प्रकार योद्धा तीक्ष्ण अर्थात् तेजस्वी थे उसी प्रकार बाण भी तीक्ष्ण अर्थात्

१ 'रूप्याद्रिनाथनतमौलिविराजितलसदोहनिर्गलितदीप्तिमयाङ्घ्रिपद्मम् । देव नमामि सततं जगदेकनाथं भक्त्या प्रणष्टुरितं जगदेकनाथम् ॥ 'त' पुस्तकेऽधिकोऽयं श्लोकः । २ अपरदिगवचिम् । ३ अम्युदग्वान् । ४ नैर्ऋत्य-दिग्भागम् । ५ पचत् । ६ अगच्छत् । ७ सदेवं ल० । ८ प्रकाशते स्म । ९ भटानाम् । १० बलात्कारेण । ११ निजिता । १२ प्रणता इव आचरन्ति स्म । १३ महीभुज वृक्षा वा । १४ कर्दमा इवाचरिताः । १५ सिद्धिपक्षे रागसहिता । फलपक्षे रससहिता । 'युगे रागे ब्रवे रसः' इत्यमरः । १६ कृपमुक्ता । १७ भोक्तु-मिच्छुभिः । आश्रितजनैरित्यर्थः । १८ उत्साहैः । १९ फलानीवाचरन्ति स्म । २० कार्यसिद्धयः । २१ दृढ-संवन्धाः । २२ -स्रग-ल० । २३ प्रभुमन्त्रोत्साहरूपाः । २४ तीरिफलेन अभीष्टफलेन च । २५ पत्रसहिताः सहायाश्च । २६ बाणैः ।

दूरमुत्सारिताः सैन्यैः परित्यक्तपरिच्छदाः । विपक्षाः सत्यमेवास्य विपक्षत्वमुपाययुः ॥९॥  
 आक्रान्ते<sup>१</sup> भूधृतो नित्यं भुज्जानाः फलसंपदम्<sup>२</sup> । कुपतित्वं<sup>३</sup> ययुश्चित्रं कोपेऽप्यस्य विरोधिनः ॥१०॥  
 संधिविग्रहचिन्तास्य<sup>४</sup> पदविद्यास्व<sup>५</sup> भूत् परम् । धृतया<sup>६</sup> तन्व्यपक्षस्य क संधानं क विग्रहः ॥११॥  
 ह्यजेतपक्षोऽपि यदयं दिग्ब्रजोद्यतः । तच्चूनं<sup>७</sup> भुक्तिमात्मीयां तद्व्याजेन<sup>८</sup> परीयिषाम् ॥१२॥  
 आक्रान्ताः सैनिकैरस्य विभोः पारेऽण्वं<sup>९</sup> भुवः । पूगद्रुमकृतच्छाया नालिकैरवनैस्तताः ॥१३॥  
 निपपे<sup>१०</sup> नालिकैराणां तरुणानां क्षुतो<sup>११</sup> रसः । सरंस्तीरतरुच्छाया विश्रान्तैरस्य सैनिकैः ॥१४॥

पैने थे, जिस प्रकार योद्धा सपक्ष अर्थात् सहायकोसे सहित थे उसी प्रकार बाण भी सपक्ष अर्थात् पंखोसे सहित थे, और जिस प्रकार योद्धा दूर तक गमन करनेवाले थे उसी प्रकार बाण भी दूर तक गमन करनेवाले थे, इस प्रकार वे दोनों साथ-साथ ही विजयके अग हो रहे थे ॥८॥ भरत-के विपक्ष ( विरुद्धः पक्षो येषा ते विपक्षाः ) अर्थात् शत्रुओंको उनकी सेनाने दूर भगा दिया था और उनके छत्र चमर आदि सब सामग्री भी छीन ली थी इसलिए वे सचमुच ही विपक्ष-पनेको ( विगत पक्षो येषा ते विपक्षास्तेषा भावस्तत्त्वम् ) प्राप्त हो गये थे अर्थात् सहाय्यरहित हो गये थे ॥९॥ यह एक आश्चर्यकी बात थी कि भरतके विरोधी राजा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर तथा उनके क्रोधित होनेपर भी अनेक प्रकारकी फल-सम्पदाओंका उपभोग करते हुए कुपतित्व अर्थात् पृथिवीके स्वामीपनेको प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ — इस श्लोकमें श्लेष-मूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिए पहले तो विरोध मालूम होता है बादमें उसका परिहार हो जाता है । श्लोकका जो अर्थ ऊपर लिखा गया है उससे विरोध स्पष्ट ही झलक रहा है क्योंकि भरतके क्रोधित होनेपर और उनकी सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर कोई भी शत्रु सुखी नहीं रह सकता था परन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थ बदल देनेसे उस विरोधका परिहार हो जाता है—भरतके विरोधी राजा लोग, उनके कुपित होने तथा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर अपनी राजधानी छोड़कर जंगलोमें भाग जाते थे, वहाँ फल खाकर ही अपना निर्वाह करते थे और इस प्रकार कु-पतित्व अर्थात् कुत्सित राजवृत्ति ( दरिद्रता ) को प्राप्त हो रहे थे ॥१०॥ उस भरतको सन्धि ( स्वर अथवा व्यंजनोंको मिलाना ) और विग्रह ( व्युत्पत्ति ) की चिन्ता केवल व्याकरण शास्त्रमें ही हुई थी अन्य शत्रुओंके विषयमें नहीं हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिसने समस्त शत्रुओंको नष्ट कर दिया है उसे कहाँ सन्धि ( अपना पक्ष निर्वल होनेपर बलवान् शत्रुके साथ मेल करना ) करनी पड़ती है? और कहाँ विग्रह ( युद्ध ) करना पड़ता है? अर्थात् कही नहीं ॥११॥ इस प्रकार भरतके यद्यपि जीतने योग्य कोई शत्रु नहीं था तथापि वे जो दिग्विजय करनेके लिए उद्यत हुए थे सो केवल दिग्विजयके छलसे अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रमें चक्कर लगा आये थे — धूम आये थे ॥१२॥ महाराज भरतके सैनिकोंने, जहाँ सुपारीके वृक्षोंके द्वारा छाया की गयी है और जो नारियलके वनोंसे व्याप्त हो रही है ऐसे समुद्रके किनारेकी भूमिपर आक्रमण किया था ॥१३॥ सरोवरोके किनारेके वृक्षोंकी छायामें विश्राम करनेवाले भरतके सैनिकोंने नारियलके तरुण अर्थात् बड़े-बड़े वृक्षों

१ सहाय्यपुरुषरहितत्वम् । २ आक्रान्ता भूभृतो ल० । भूभृतः राजान् पर्वताश्च । ३ अभीष्टफलसंपदम्, वन-स्पतिकलसंपदं च । ४ भूपतित्वं कुत्सितपतित्वं च । ५ संधानयुद्धचिन्ता च । ६ शब्दज्ञासूत्रेषु । ७ निरस्त-शत्रुपक्षस्य । ८ पालनक्षेत्रम् । ९ दिग्विजयच्छाना । १० प्रदक्षिणीकृतवान् । ११ समुद्रतीरम् । 'पारे मध्येऽप्यः पच्छा' । १२ पानं क्रियते स्म । १३ निमुत ।

स्फुरापहसंपातपत्रनाभूननोत्थितः । तालीवनेषु<sup>१</sup> तत्सैन्यैः शुश्रुवे मर्मरध्वनिः<sup>२</sup> ॥१५॥  
 सर्मं ताम्बूलवल्लीनिरपश्यत् क्रमुकान् बिभुः । एककार्यत्वमस्माकमिति<sup>३</sup> मिलितान्मिथः ॥१६॥  
 नृपस्ताम्बूलवल्लीनामुपपन्नान्<sup>४</sup> क्रमुकहुमान् । निधायन् वेष्टि तांस्तामिसुमुदे दम्पतीयितान् ॥१७॥  
 स्वाध्यायमिव कुर्वाणान् वनेष्ववितस्वनान् । बोन्यनीनिव सोऽपश्यत् यत्रास्तं मितवासिनः ॥१८॥  
 पनसानि मृदून्यन्तः कण्टकीनि बहिस्त्वचि । सुरसान्यमृतानीव जनाः प्रादन् यथेप्सितम् ॥१९॥  
 नालिकेररसः पानं पनसान्यशनं परम् । मरीचान्युपदंशश्च वन्या<sup>५</sup> वृत्तिरहो सुखम् ॥२०॥  
 सरसानि मरीचानि किमध्यास्वाद्य विकिरान् । खतः<sup>६</sup> प्रसुरद्राक्षीद् गलदश्रुविलोचनान् ॥२१॥  
 विदश्य<sup>७</sup> मञ्जरीस्तीक्ष्णा मरीचानां सशङ्कितम् । शिरो विधुन्वतोऽपश्यत् प्रभुस्तरुणमर्कटान् ॥२२॥  
 वनस्पतीन् फलानन्नान् वीक्ष्य लोकोपकारिणः । जाताः बह्वद्रुमास्तित्वे<sup>८</sup> निरारेकास्तदा जनाः ॥२३॥  
 लताषुवृत्तिसंस्तः प्रसवाब्धा वनदुमाः । करदा<sup>९</sup> इव तस्यासन् प्रीणयन्तः फलैर्जनान् ॥२४॥  
 नालिकेरासवैर्नैत्ताः<sup>१०</sup> किंचिदावृणितेक्षणाः । यशोऽस्य जगुरामन्दकुहरै<sup>११</sup> सिंहलाङ्गनाः ॥२५॥

ते निकला हुआ रस खूब पिया था ॥१४॥ वहाँ भरतकी सेनाके लोगोंने ताड़ वृक्षोंके बनोमें वायुके हिलनेसे उठी हुई बहुत कठोर सूखे पत्तोंकी मर्मर-ध्वनि सुनी थी ॥१५॥ वहाँ सम्राट् भरतने हम लोगोका एक ही समान कार्य होगा यही समझकर जो पानकी बेलोके साथ-साथ परस्परमे मिल रहे थे ऐसे सुपारीके वृक्ष देखे ॥१६॥ जो पानोकी लताओके आश्रय थे तथा जो उनके साथ लिपटकर स्त्री-पुरुषके समान जान पडते थे ऐसे सुपारीके वृक्षोंके बड़े गौरके साथ देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥१७॥ उन वनोमे सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले जो पक्षी निरन्तर शब्द कर रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानो सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले तथा स्वाध्याय करते हुए मुनि हीं हो उन्हे भरतने देखा था ॥१८॥ जो भीतर कोमल है तथा बाहरी त्वचापर कांटोसे युक्त है ऐसे अमृतके समान मीठे कटहलके फल सेनाके लोगोंने अपनी इच्छानुसार खाये थे ॥१९॥ वहाँ पीनेके लिए नारियलका रस, खानेके लिए कटहलके फल और व्यंजनके लिए मिरचे मिलती थी, इस प्रकार सैनिकोके लिए वनमे होनेवाली भोजनकी व्यवस्था भी सुखकर मालूम होती थी ॥२०॥ जो सरसे अर्थात् गीली मिरचे खाकर कुछ-कुछ शब्द कर रहे हैं और जिनकी आँखोसे आँसू गिर रहे हैं ऐसे पक्षियोको भी भरतने देखा था ॥२१॥ जो तरुण वानर बहुत तेज मिरचोके गुच्छोको नि गंक रूपसे खाकर वादमे चरपरी लगनेसे सिर हिला रहे थे उन्हे भी महाराजने देखा ॥२२॥ उस समय वहाँ फलोसे युक्त हुए तथा लोगोका उपकार करनेवाले वृक्षोको देखकर लोग कल्प-वृक्षोके अस्तित्वमे गकारहित हो गये थे ॥२३॥ जो लतारूप स्त्रियोसे लिपटे हुए हैं और अनेक फलोसे युक्त हैं ऐसे वनके वृक्ष अपने फलोसे सेनाके लोगोको सन्तुष्ट करते हुए ऐसे जान पडते थे मानो भरतके लिए कर हो दे रहे हो ॥२४॥ जो नारियलकी मदिरा पीकर उन्मत्त हो रही हैं और इसीलिए जिनके नेत्र कुछ-कुछ घूम रहे हैं ऐसी सिंहल द्वीपकी स्त्रियाँ वहाँ गद्गद

१ तालवनेषु । २ शुष्कपर्णध्वनि । 'अथ मर्मर', स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यभिधानात् । ३ पर्णक्रमुकमेलनादेक-कार्यत्वमिति । ४ आश्रयभूतान् । 'स्यादुपच्योर्जन्तिकाश्रये' इत्यमरः । ५ निधाय व-ल० । ६-स्वनम् ल० । ७ विह्वान् । ८ यत्र रविस्त गतस्तत्र वासिनः । ९ भक्षयन्ति स्म । भक्षितवन्त इत्यर्थः । १० वनवासः । ११ रव कुर्वन् । १२ भक्षयित्वा । १३ निस्सन्देहा । १४ कर सिद्धार्थं ददतीति करदा, कुटुम्बिजना इवेत्यर्थः । 'आलस्योपहतः पादः पादः पापण्डमाश्रितः । राजानं सेवते पादः पादः कुबिमुपागतः ॥' १५ प्रचलायितः । १६ गम्भीरगहर यथा भवति तथा । गद्गदसहितकम्पन कुहरशब्देनोच्यते ।



त्रिकूटं मलयोत्सङ्गे गिरौ पाण्ड्यप्रकटात्के । जगुस्स्य यशो मन्द्रमूर्च्छनाः किन्नराङ्गनाः ॥२६॥  
 मलयोपान्तकान्तारे सहायलवनेषु च । यशो वनेचरस्त्रीभिरुज्जगोऽस्य जयाजितम् ॥२७॥  
 चन्द्रोद्यानमाधूय मन्दं गन्धब्रह्मो बभौ । मलयाचलकुञ्जेष्वो हरिर्निर्गन्धर्वीकान् ॥२८॥  
 विष्वग्विहारी<sup>१</sup> दाक्षिण्यं<sup>२</sup> समुज्जगपि सोऽनिलः । संभावयन्निवातिष्वैर्विभोः श्रममपाहरत् ॥२९॥  
 पुलालवज्रसंशसुरभिद्वसितैर्मुलैः । स्तनैरापाण्डुभिः सान्द्रचन्दनद्रवचर्चितैः ॥३०॥  
 सलीलमृदुभिर्यातिर्नितम्बरमन्यरैः<sup>३</sup> । स्मितैरनङ्गपुण्यास्त्रस्तबकोद्भेदविभ्रमैः ॥३१॥  
 कोकिलालापमधुरैर्वर्जितैर्जल्पितैर्नतस्फुटैः । मृदुबाहुलतान्दोलसुभगैश्च विचैष्टितैः ॥३२॥  
 छास्यैः स्तलत्पद्म्यासैर्मुक्तप्रायैर्विभूषणैः । मदमञ्जुभिर्दृशीर्जितालिकुलसिञ्जितैः<sup>४</sup> ॥३३॥  
 तमालवनवीथीषु संवरन्त्यो यदृच्छया । मनोऽस्य जहरारुढयौवनाः केरलस्थियः ॥३४॥  
 प्रसाध्य दक्षिणासाक्षां<sup>५</sup> विशुस्त्रैराज्यपालकान् । सम प्रणमयाभासं विजित्य जयसाधनैः ॥३५॥

कण्ठसे महाराज भरतका यश गा रही थी ॥२५॥ त्रिकूट पर्वतपर, मलयगिरिके मध्यभाग-  
 पर और पाण्ड्यकवाटक नामके पर्वतपर किन्नर जातिकी देवियाँ गम्भीर स्वरसे चक्रवर्ती-  
 का यश गा रही थी ॥२६॥ इसी प्रकार मलय गिरिके समीपवर्ती वनमे और सहाय पर्वतके  
 वनोमे भीलोकी स्त्रियाँ विजयसे उत्पन्न हुआ महाराजका यश जोर-जोरसे गा रही थी ॥२७॥  
 उस समय मलय गिरिके लतागृहोसे शरनोके जलके छोटे-छोटे कण हरण करता हुआ तथा  
 चन्दनके बगीचेको हिलाता हुआ वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥२८॥ वह वायु दक्षिण दिशा-  
 को छोड़कर चारो ओर बह रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो अतिथि-सत्कारके द्वारा  
 भरतका सम्मान करता हुआ ही उनका परिश्रम दूर कर रहा था । भावार्थ—इस श्लोकमे  
 दाक्षिण्य शब्दके श्लेष तथा अपि शब्दके सन्निधानसे नीचे लिखा हुआ विरोध प्रकट होता है—  
 ‘वह वायु यद्यपि दाक्षिण्य ( स्वामीके इच्छानुसार प्रवृत्ति करना ) भावको छोड़कर स्वच्छन्दता  
 पूर्वक चारों ओर घूम रहा था तथापि उसने एक आज्ञाकारी सेवककी तरह भरतका अतिथि-  
 सत्कार कर उनका सब परिश्रम दूर कर दिया था, जो स्वामीके विरुद्ध आचरण करता है  
 वह उसकी सेवा क्यों करेगा ? यह विरोध है परन्तु दाक्षिण्य शब्दका दक्षिण दिशा अर्थ  
 लेनेसे वह विरोध दूर हो जाता है ( ‘दक्षिणो दक्षिणोद्भूतसरलच्छन्दवर्तिषु’ इति मेदिनी, दक्षि-  
 णस्य भावो दाक्षिण्यम्, पक्षे दक्षिणैव दाक्षिण्यम् ) ॥२९॥ तमाल वृक्षोके वनकी गलियोंमें  
 इच्छानुसार इधर-उधर घूमती हुई केरल देशकी तरुण स्त्रियाँ इलायची, लौग आदि सुगन्धित  
 वस्तुओंके सम्बन्धसे जिनके नि स्वास सुगन्धित हो रहे हैं ऐसे सुखोसे, जो घिसे हुए चन्दनके  
 गाढ लेपसे सुशोभित हो रहे हैं ऐसे स्तनोसे, नितम्बोके भारसे मन्थर लीलासहित  
 सुकोमल गमनसे, जो कामदेवके पुष्परूपी शस्त्रोके गुच्छोंके खिलनेके समान सुशोभित हो  
 रहे हैं ऐसे मन्द हास्यसे, कोयलकी कूकके समान मनोहर तथा अव्यक्त वाणीसे, सुकोमल बाहु-  
 रूपी लताओंके इधर-उधर फिरानेसे सुन्दर चेष्टाओंसे, जिसमें स्खलित होते हुए पैर पड़ रहे  
 हैं ऐसे नृत्योसे, अधिकतर मोतियोंके बने हुए आभूषणोंसे, भ्रमरसमूहकी गुजारको जीतनेवाले  
 मदसे मनोहर उत्कृष्ट गीतोसे चक्रवर्ती भरतका मन हरण कर रही थी ॥३०—३४॥ इस प्रकार  
 महाराज भरतने अपनी विजयी सेनाके द्वारा दक्षिण दिशाको वश कर चोल, केरल और पाण्ड्य

१ त्रिकूट म०, द० ल० अ०, प०, स० । त्रिकूटगिरिमलयाचलसानी । २ वनचर-ल० । ३ विसरणशील ।  
 ४ दक्षिणदिग्भाग । आनुकूल्येन च । ५ अतिथी साधुभि उपचारैरित्यर्थ । ६ उच्छ्वासैः । ७ गमनैः ।  
 ८ मन्दैः । ९ जल्पितं वचनं । १० सिञ्जने अ०, प०, ब०, स० । ११ त्रिराज्येषु जातान् । चोरकेरल-  
 पाण्ड्यान् ।

कलिङ्गकैर्लैरस्य<sup>१</sup> मलयोपान्तभूधरा ।<sup>२</sup> तुल्यजिह्वोन्मानमाक्रान्ताः स्वेन वर्ष्मणा ॥३६॥  
 दिशां प्रान्तेषु विश्रान्तैर्दिग्जयेऽस्य चमूगजैः । दिग्गजत्वं स्वसाक्षके शोभायै तत्कथान्तरम् ॥३७॥  
 ततोऽपान्तमाख्यं<sup>३</sup> सहावलतटोपगः । पश्चिमाणववेद्यान्तं पालकानजयद् विभुः ॥३८॥  
 जयसाधनमस्यान्धेरारात्तीरे व्यजृम्भत<sup>४</sup> । महासावनमप्युच्चैः<sup>५</sup> परं<sup>६</sup> पारमवाष्टमत्<sup>७</sup> ॥३९॥  
 उपसिन्धु<sup>८</sup> रिति व्यक्तुमभयोस्तीरयोर्वलम् । दृष्ट्वास्य साध्वसाक्षुभ्यश्चिवाभूदाकुलाकुलः ॥४०॥  
 ततः स्म बलसंक्षोभादितो वार्धिः प्रसर्पति । इतः स्म बलसंक्षोभात् ततोऽन्धिः प्रतिसर्पति ॥४१॥  
 हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैस्ततमन्धेर्वमौ जलम् । चिराद् विवृत्तमस्यैव<sup>९</sup> सशैवलमधस्तलम् ॥४२॥  
 पद्मारागानुमिर्मिहं कचनान्धेर्वमज्जलम् । क्षोभादिवास्य<sup>१०</sup> हृच्छीर्णमुच्छलच्छोणितच्छटम्<sup>११</sup> ॥४३॥  
 सहासङ्गे<sup>१२</sup> छुटन्नधिर्नूनं दुःखं न्यवेदयत् । सोऽपि संधारयन्नेन बन्धुकृत्यमिवातनोत् ॥४४॥  
 असहैर्वलसधैः सहाः<sup>१३</sup> सहातिपीडितः । शाखोद्धारमिव<sup>१४</sup> व्यक्तमकरोद्<sup>१५</sup> रणपादपैः ॥४५॥

इतः तीन राजाओको एक साथ जीता और एक ही साथ उनसे प्रणाम कराया ॥३५॥ जो अपने क्षीरीरसे मानो मलय पर्वतकी ऊँचाईकी ही तुलना कर रहे हैं ऐसे कालिङ्ग देशके हाथियोने मलय पर्वतके समीपवर्ती अन्य समस्त छोटे-छोटे पर्वतको व्याप्त कर लिया था ॥३६॥ दिग्विजयके समय दिशाओके अन्त भागमे विश्राम करनेवाले भरतके हाथियोने दिग्गजपना अपने अधीन कर लिया था अर्थात् स्वयं दिग्गज बन गये थे इसलिए अन्य आठ दिग्गजोंकी कथा केवल शोभा-  
 के लिए ही रह गयी थी ॥३७॥ तदनन्तर पश्चिमी भागपर आलूढ होकर सहा पर्वतके किनारे के समीप होकर जाते हुए भरतने पश्चिम समुद्रकी वेदीके अन्तकी रक्षा करनेवाले राजाओंको जीता ॥३८॥ भरतकी वह विजयी सेना समुद्रके समीप किनारे-किनारे सब जगह फैल गयी थी और वह इतनी बड़ी थी कि उसने समुद्रका दूसरा किनारा भी व्याप्त कर लिया था ॥३९॥ उस समय हवासे लहराता हुआ उपसमुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो दोनो किनारेपर भरतकी सेना देखकर भयसे ही अत्यन्त आकुल हो रहा हो ॥४०॥ उस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे इस किनारेकी ओर आता था और इस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे उस किनारे-  
 की ओर जाता था ॥४१॥ ऊपर फैली हुई हरे मणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हुआ वह समुद्रका जल ऐसा सुगोमित हो रहा था मानो इस समुद्रका शेवालसहित नीचेका भाग ही बहुत समय बाद उलटकर ऊपर आ गया हो ॥४२॥ कहीं-कहींपर पद्माराग मणियोंकी किरणोसे व्याप्त हुआ समुद्रका जल ऐसा जान पड़ता था मानो सेनाके क्षोभसे समुद्रका हृदय ही फट गया हो और उसीसे खूनकी छटाएँ निकल रही हों ॥४३॥ सहा पर्वतकी गोदमें लोटता हुआ ( लहराता हुआ ) वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो उससे अपना दुःख ही कह रहा हो और सह्यपर्वत भी उसे धारण करता हुआ ऐसा मालूम होता था मानो उसके साथ अपना बन्धुभाव ( भाई-  
 चारा ) ही बढ़ा रहा हो ॥४४॥ सेनाके असह्य संघटनोसे अत्यन्त पीडित हुआ वह सह्यपर्वत अपने टूटे हुए वृक्षोसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपने मस्तकपर लकड़ियोंका गट्ठा रख-

१ कलिङ्गवने जातं । कलिङ्गवनजाता उन्नतकायाश्च । उन्नतं च दिग्गजा देशविरोधप्रतिपादनकाले 'कलिङ्ग-  
 वनसंभूता मृगप्राया मतङ्गजा' इति । २ मलयदेशसमीपस्थपर्वता । ३ गुणयद्भिः - अ०, इ०, सं० ।  
 ४ दिग्गजा सन्तीति कथामेद । ५ अपरदिग्गजम् । ६ व्याप्य । ७ बेलान्त-इत्यपि स्वचित् । ८ प्रभुः ल० ।  
 ९ विजृम्भितम् ल० । १० -मयुज्ये, द०, ल०, अ०, प०, सं० । ११ अपरतीरम् । १२ अशिश्रियत् ।  
 १३ उपसमुद्र । १४ परिणतम् । चिरकालप्रवर्तितम् । १५ हृत् हृदयम् और्ण विदर्शनं सत् । १६ -मुच्छ्वल-  
 ल० द० । १७ सह्यगिरिसानी । १८ पश्चिमाणवपर्वतः । १९ पल्लव गृहीत्वा आक्रोशम् । २० भुग्न । 'रुग्णं  
 भुग्ने' इत्यमर । भुग्न-ल० । भग्न-द० ।

चलत्सत्त्वो<sup>१</sup> गुहारन्मैविमुञ्चत्कुलं स्वनम् ।<sup>२</sup> महाप्राणोऽद्रिस्तृकान्ति<sup>३</sup> सिधायैव बलक्षतः ॥४६॥  
 चलच्छास्त्री चलत्सत्त्वः चलच्छिथिलमेखलः । नास्त्रैवाचलतां मेजे सोऽद्रिरेव चलाचलः ॥४७॥  
 गजतावनं संभोगैस्तुरङ्गहुरघटनैः । सद्योत्सङ्गमुवः क्षुण्णाः स्थलीभावं क्षणाद् ययुः ॥४८॥  
 आपद्भिर्माणवतटादा च मध्यमपर्वतात् । आतुङ्गवरकाद्रेस्तुङ्गगण्डोपलङ्घितात् ॥४९॥  
 तं कृष्णगिरिमुल्लङ्घ्य तं च शैलं सुमन्दरम् । मुकुन्दं चात्रिसुन्दरा जयेमास्तस्य वज्रसुः ॥५०॥  
 तत्रोपरान्तकान् नागान् हस्वग्रीवान् परान् रदैः । युक्तान् पीनायतन्निग्धैः श्यामान् स्वक्षान् मृदुत्वचः ॥५१॥  
<sup>४</sup>महोत्सङ्गानुदग्राङ्गान् रक्तजिह्वोष्ठतालुकान् । मानिनो दीर्घवालोष्ठान् पद्मगन्धमदच्युतः ॥५२॥  
 संतुष्टान् स्वे वने शूरान् दृढपादान् सुवर्षणः । स मेजे तद्वनाधीनैः ससंभ्रममुपाहृतान् ॥५३॥  
 वनरोमावलीस्तुवतटारोहा<sup>५</sup> बहूनदीः । पूर्वापरान्विभाः<sup>६</sup> सोऽस्यैव सह्याद्रेर्दुहितूरिव<sup>७</sup> ॥५४॥  
 संचरन्नीषणमार्गैर्मोसा<sup>८</sup> भैरवरी नदीम् । नक्रचक्रकृतावर्तैर्दक्षिणैर्वा च दारुणाम् ॥५५॥

कर भरतके प्रति अपनी पराजय ही स्वीकृत कर रहा हो (पूर्व कालमें यह एक पद्धति थी कि पराजित राजा सिरपर लकड़ियोका गट्टा रखकर गलेमें कुल्हाड़ी लटकाकर अथवा मुखमें तृण दबाकर विजयी राजाके सामने जाते थे और उससे क्षमा माँगते थे ।) ॥४५॥ वह पर्वत-रूपी बड़ा भारी प्राणी सेनाके द्वारा घायल हो गया था, उसके शिखर टूट-फूट गये थे, उसका सत्त्व अर्थात् धैर्य विचलित हो गया था—उसके सब सत्त्व अर्थात् प्राणी इधर-उधर भाग रहे थे, वह गुफाओके छिद्रोसे व्याकुल शब्द कर रहा था और इन सब लक्षणोसे ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत शीघ्र मरना ही चाहता हो ॥४६॥ उस पर्वतके सब वृक्ष हिलने लगे थे, सब प्राणी इधर-उधर चंचल हो रहे थे—भाग रहे थे और उसके चारो ओरका मध्यभाग भी क्षिथिल होकर हिलने लगा था इस प्रकार वह पर्वत नाममात्रसे ही अचल रह गया था, वास्तवमें चल हो गया था ॥४७॥ लोगोकी वनक्रोड़ाओसे तथा घोड़ोके खुरोके सघटनसे उस सहा पर्वतके ऊपरकी भूमि चूर-चूर होकर क्षण-भरमें स्थलपनेको प्राप्त हो गयी थी अर्थात् जमीनके समान सपाट हो गयी थी ॥४८॥ चक्रवर्ती भरतके मदोन्मत्त विजयी हाथी, पश्चिम समुद्रके किनारेसे लेकर मध्यम पर्वत तक और मध्यम पर्वतसे लेकर ऊँची-ऊँची चट्टानोसे चिह्नित तुंगवरक पर्वत तक, कृष्ण गिरि, सुमन्दर तथा मुकुन्द नामके पर्वतको उल्लंघन कर, चारो ओर घूम रहे थे ॥४९-५०॥ जिनकी गरदन कुछ छोटी है, जो देखनेमें उत्कृष्ट है, मोटे लम्बे और चिकने दाँतोसे सहित है, काले है, जिनकी सब इन्द्रियाँ अच्छी है, चमड़ा कोमल है, पीठ चौड़ी है, शरीर ऊँचा है, जोभ, होंठ और तालु लाल है, जो मानी है, जिनकी पूँछ और होठ लम्बे है, जिनसे कमलके समान गन्धवाला मद क्षर रहा है, जो अपने ही वनमें सन्तुष्ट है, शूरवीर है, जिनके पैर मजबूत है, शरीर अच्छा है और जिन्हें उन वनोके स्वामी बड़े हर्ष या क्षोभके साथ भेट देनेके लिए लाये है ऐसे पश्चिम दिशामें उत्पन्न होनेवाले हाथी भी भरतने प्राप्त किये थे ॥५१-५३॥ वन ही जिनकी रोमावली है और ऊँचे किनारे ही जिनके नितम्ब है ऐसी सहा पर्वतकी पुत्रियोके समान पूर्व तथा पश्चिम समुद्रकी ओर बहनेवाली अनेक नदियाँ महाराज भरतने उल्लंघन की थी—पार की थी ॥५४॥ चलते-फिरते हुए भयकर मगरमच्छोसे भयानक भीमरथी नदी, नाकुओसे समूहसे की हुई आवर्तोंसे भयकर दारुणवा नदी, किनारे

१ गुहारन्मै ल० । २ सिंहादिसत्त्वरूपमहाप्राण । 'प्राणो ह्नुमास्ते चोले काले जीवोऽनिले बले ।' इत्यभिधानात् । ३ मरणावस्थाम् ( मृतिम् ) । ४ जनता ल०, द० । ५ पश्चिमदिक्समीपान् । ६ कुञ्जरकन्धोत्कृष्टान् । ७ पीनायित-ल० । ८ मुनेत्रान् । ९ दृढदुपरिगगान् । १० उपायनीकृतान् । ११ नितम्बाः । १२ अगात् । १३ पुत्रीरिव । १४ भीमरथी ल० ।

नीरां तीरस्थानीर<sup>१</sup> शाखाग्रस्थगिताम्भसम् । मूलां कूलंकषैराधैरुन्मूलिततटद्रुमार्<sup>२</sup> ॥५६॥  
 बाणामभिरता<sup>३</sup> बाणां केतुं स्वामशुसंभृताम् । करीरितं तटोत्सङ्गां करीरां सरिदुत्तमाम् ॥५७॥  
 प्रहरां<sup>४</sup> विषमग्राहं दृषितामसतीमिव । मुरां<sup>५</sup> कुरीरं<sup>६</sup> सेन्यासपङ्कां<sup>७</sup> सतीमिव ॥५८॥  
 पारां<sup>८</sup> पारेजलं<sup>९</sup> कूजकौञ्चकादम्<sup>१०</sup> सारसाम् । दमनां<sup>११</sup> समनिग्नेषु<sup>१२ १३</sup> ममानामस्त्रुलदृगतिम् ॥५९॥  
 मदसुतिं<sup>१४</sup> मिवावद्वेणिकां<sup>१५</sup> सहादन्तिनः । गोदावरीमविच्छिन्नप्रवाहामतिविस्तृताम् ॥६०॥  
 करीरवणं<sup>१६</sup> सरुद्धतटपथन्तश्रुतलाम् । तापीमातपसंतापात् कनोग्गा विघ्नतीमप ॥६१॥  
 रम्यां तीरतस्त्रुहायासंसुसमुगगावकाम् । खातामिवापरान्तस्थं<sup>१७</sup> नदीं लाजलखातिकां ॥६२॥  
 सरितोऽभूः समं सैन्यैरुत्तार चमूपतिः । तत्र तत्र<sup>१८</sup> समाकषन्मदिनो वनसामवान् ॥६३॥  
 प्रसारितसरिज्जिह्वो योऽविधं पातुमिवोद्यतः । सहाचलं<sup>१९</sup> तमुल्लङ्घ्य विन्ध्यादिं प्राप तद्वलम् ॥६४॥  
 श्रुत्वा<sup>२०</sup> पतिसुप्तं पृथ्वंशं<sup>२१</sup> धृतायतिम्<sup>२२</sup> । परैरलङ्घ्यमद्राक्षीद् विन्ध्यादिं स्वमिव प्रभुः ॥६५॥-

पर स्थित बेतोकी शाखाओके अग्रभागसे जिसका जल ढँका हुआ है ऐसी नीरा नदी, किनारेको तोड़नेवाले अपने प्रवाहसे जिसने किनारेके वृक्ष उखाड़ दिये हैं ऐसी मूला नदी, जिसमें निरन्तर गव्व होता रहता है ऐसी बाणा नदी, जलसे भरी हुई केतवा नदी, जिसके किनारेके प्रदेश हाथियोने तोड़ दिये हैं अथवा जिसके किनारेके प्रदेश करीर वृक्षोसे व्याप्त है ऐसी करीरी नामकी उत्तम नदी, विषमग्राह अर्थात् नीच मनुष्योसे दूषित व्यभिचारिणी स्त्रीके समान विषम ग्राह अर्थात् बड़े-बड़े मगरमच्छोसे दूषित प्रहरा नदी, सती स्त्रीके समान अपना अर्थात् कीचड़-रहित, (पक्षमें-कलकरहित) तथा कुरर पक्षियोके द्वारा सेवा करने योग्य मुररा नदी, जिसके जलके किनारेपर क्रौंच, कलहस ( बदक ) और सारस पक्षी शब्द कर रहे हैं ऐसी पारा नदी, जो समान तथा नीची भूमिपर एक समान जलसे भरी रहती है तथा जिसकी गति कहीं भी स्थलित नहीं होती है ऐसी मदना नदी, जो सहा पर्वतरूपी हाथीके बहते हुए मदके समान जान पड़ती है, जो अनेक धाराएँ बाँधकर बहती है, जिसका प्रवाह बीचमें कहीं नहीं टूटता, और जो अत्यन्त चौड़ी है ऐसी गोदावरी नदी, जिसके किनारेके समीपकी भूमि करीर वृक्षोके वनोसे भरी हुई है और जो धूपकी गरमीसे कुछ-कुछ गरम जलको धारण करती है ऐसी तापी नदी, तथा जिसके किनारेके वृक्षोकी छायामें हरिणोके बच्चे सो रहे हैं और जो पश्चिम देशकी परिखाके समान जान पड़ती है ऐसी मनोहर लागलखातिका नदी, इत्यादि अनेक नदियो-को सेनापतिने अपनी सेनाके साथ-साथ पार किया था । उस समय वह सेनापति मदोन्मत्त जगली हाथियोको भी पकड़वाता जाता था ॥५५-६३॥ जो अपनी नदियोरूपी जीभोको फैलाकर मानो समुद्रको पीनेके लिए ही उद्यत हुआ है ऐसे उस सहा पर्वतको उल्लङ्घन कर भरतकी सेना विन्ध्याचलपर पहुँची ॥६४॥ चक्रवर्ती भरतने उस विन्ध्याचलको अपने समान ही देखा था क्योंकि जिस प्रकार आप भूभृत् अर्थात् राजाओके पति थे उसी प्रकार विन्ध्याचल भी भूभृत् अर्थात् पर्वतोका पति था, जिस प्रकार आप उत्तुग अर्थात् अत्यन्त उदार हृदय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी उत्तुग अर्थात् अत्यन्त ऊँचा १ वेतस । २ प्रवाह । ३ अविच्छिन्नविघ्नबाणाम् । अविरत आवाणो यस्या सा । ४ केतवा ल० । ५ गजप्रेरित । ६ विषममकरः, पक्षे नीचग्रहण । ७ पक्षिविणेपे । ८ अगगतकर्माम् । पक्षे अपगतदोषपङ्काम् । ९ तीरजले । १० कलहंस । ११ मदना ल०, द० । १२ ममानप्रदेनेषु । निम्नदेनेषु च । १३ जलेन समानाम् । १४ मदसवणम् । १५ प्रवाहाम् । कुल्याम् वा । १६ वेणुवन । १७ खातिकां । १८ पश्चिमदेशस्य । १९ स्वीकुर्वन् । २० राजा गिरीणा च । २१ महान्वयं महावेणुं च । २२ धृत्यनागमम् । धृतायाम च । 'आद्यति-र्विगताया स्यात् प्रमुतागामिकालो ।'

भाति यः शिखरैस्तुङ्गैर्दूरव्यायतनिर्झरैः । सपताकैर्विमानौषैर्विभ्रमायेव सञ्चितः ॥६६॥  
 यः पूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्याम्बुनिधिं स्थितः । नूनं<sup>१</sup> दावन्नयत् सख्यं<sup>२</sup> ममुना<sup>३</sup> प्रचिकीर्षते ॥६७॥  
 नयन्ति निर्झरा यस्य शश्वत्पुष्टिं तटद्भुमात् । स्वपादाश्रयिणः पोष्याः प्रभुणेतीव शंसितुम् ॥६८॥  
 तटस्थपुटं पाषाणस्खलितोच्चलिताम्मसः । नदीवधूः कृतध्वानं निर्झरैर्हसतीव यः ॥६९॥  
 वनाभोगमपर्यन्तं यस्य दग्धमिवाक्षमः । शृणुपातार्थं<sup>४</sup> दावाग्निः शिखराभ्युधरोहति ॥७०॥  
 ज्वलदावपरीतानि यत्कूटानि वनेचरैः । चामीकरमयानीय लब्धयन्त्रे शुचिं सञ्चिधौ ॥७१॥  
 समातङ्गं<sup>५</sup> वनं यस्य समुजङ्गपरिग्रहम्<sup>६</sup> । विजाति<sup>७</sup> कण्टकाकीर्णं कचिद्वृत्तेऽतिकष्टताम् ॥७२॥  
 क्षीबं<sup>८</sup> कुञ्जरयोगेऽपि कचिदक्षीबकुञ्जरम्<sup>९</sup> । विपन्नमपि<sup>१०</sup> सत्पन्नपल्लवं<sup>११</sup> भाति यद्वनम् ॥७३॥

था, जिस प्रकार आप पृथुवश अर्थात् विस्तृत-उत्कृष्ट वश ( कुल ) को धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी पृथुवश अर्थात् बड़े-बड़े बाँसके वृक्षोंको धारण करनेवाला था, जिस प्रकार आप धृतायति अर्थात् उत्कृष्ट भविष्यको धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी धृतायति अर्थात् लम्बाईको धारण करनेवाला था, और जिस प्रकार आप दूसरोके द्वारा अलङ्घ्य अर्थात् अजेय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी दूसरोके द्वारा अलङ्घ्य अर्थात् उल्लङ्घन न करने योग्य था ॥६५॥ जिनसे बहुत दूर तक फैलेवाले झरने झर रहे हैं ऐसे ऊँचे-ऊँचे शिखरों से वह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पताकाओंसहित अनेक विमानोंके समूह ही विश्राम करनेके लिए उसपर ठहरे हों ॥६६॥ वह पर्वत अपने पूर्व और पश्चिम दिशाके दोनों कोणोंसे समुद्रमें प्रवेश कर खड़ा हुआ था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो दावानलके डरसे समुद्रके साथ मित्रता ही करना चाहता हो ॥६७॥ उस विन्ध्याचलके झरने 'स्वामीको अपने चरणोंको आश्रय लेनेवाले पुरुषोंका अवश्य ही पालन करना चाहिए' मानो यह सूचित करनेके लिए ही अपने किनारेके वृक्षोंका सदा पालन-पोषण करते रहते थे ॥६८॥ वह पर्वत शब्द करते हुए निर्झरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपने किनारेके ऊँचे-नीचे पत्थरोंसे स्खलित होकर जिनका पानी ऊपरकी ओर उछल रहा है ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंकी हँसी ही कर रहा हो ॥६९॥ उस पर्वतके शिखरोंपर लगा हुआ दावानल ऐसा जान पड़ता था मानो उसके सीमारहित बहुत बड़े वनप्रदेशको जलानेके लिए असमर्थ हो ऊपरसे गिरकर आत्मघात करनेके लिए ही उसके शिखरोंपर चढ़ रहा हो ॥७०॥ आषाढ महीनेके समीप जलते हुए दावानलसे घिरे हुए उस पर्वतके शिखर वहाँके भीलोंको सुवर्णसे बने हुएके समान दिखाई देते थे ॥७१॥ उस पर्वतका वन कहीं-कहीं मातंग अर्थात् हाथियोंसे सहित था अथवा मातंग अर्थात् चाण्डालोंसे सहित था, भुजंग अर्थात् सर्पोंके परिवारसे युक्त था अथवा भुजंग अर्थात् नीच ( विट-गुण्डे ) लोगोंके परिवारसे युक्त था और अनेक प्रकारके काँटोंसे भरा हुआ था अथवा अनेक प्रकारके उपद्रवी लोगोंसे भरा हुआ था इसलिए वह बहुत ही दुःखदायी अथवा शोचनीय अवस्थाको धारण कर रहा था ॥७२॥ उस पर्वतपर-का वन क्षीबकुंजर अर्थात् मदनोन्मत्त हाथियोंसे युक्त होकर भी अक्षीबकुंजर अर्थात् मदनोन्मत्त हाथियोंसे रहित था, और विपन्न अर्थात् पत्तोसे रहित होकर भी सत्पन्नपल्लव अर्थात् पत्तो तथा कोंपलोंसे सहित

१ द्व । २ मित्रत्वम् । ३ समुद्रेण । ४ कर्तुमिच्छति । ५ तटनिम्नोन्नत । ६ प्रपातपतनाय । 'प्रपातस्त्वतदो भूगु' इत्यभिधानात् । ७ गीष्म । ८ सगर्जं पक्षे सचाण्डालम् । ९ ससर्पं, पक्षे सविट् । १० पक्षिताति, पक्षे नीच जाति । ११ मत्तगज । १२ अक्षीब समुद्रलवणम् 'सामुद्रं यत्तु लवणपक्षीवं वशिश्च तत्' । कुञ्जो भुक्तगुह्यान्ती रातीति ददातीति । १३ वीना पत्राणि पक्षा यस्मिन् सन्तीति, अथवा विगताश्वम् ।

स्फुटद्वेणुदरोन्मुखैर्यस्तैर्मृत्ताफलैः क्वचित् । वनलक्ष्म्यो हसन्तीव स्फुटद्वन्नाम्बु यद्वने ॥७४॥  
 गुहासुखरपुरदीरनिर्गमप्रतिशब्दकैः । गर्जतीव दृत्तस्पर्धो मन्त्रिणा यः कुलाचलैः ॥७५॥  
 स्फुटशिश्रोन्नतोद्देशैश्चित्रवर्णैश्च धातुभिः<sup>१</sup> । मृगारुपरैतवर्गैश्च चित्राकारं विभर्ति यः ॥७६॥  
 ज्वलन्सोपधयो यस्य वनान्तेषु तर्मासुखे । देवतामिरिवोत्तिष्ठत्<sup>२</sup> द्राघिकास्त्रिमिरादिदृष्टः ॥७७॥  
 कचिन्मृगोन्मिमेभुम्भुम्भोललितमौक्तिकैः<sup>३</sup> । मनुष्यान्तर्यलं धत्ते प्रकीर्णकुसुमश्रिण्णम्<sup>४</sup> ॥७८॥  
 स तमालोकयन् दूरादाम्बुमाद महागिरिम् । आह्वयन्तमिवामकं भरुवतैस्मदद्रुमैः ॥७९॥  
 स तद्वनरातान् दूरादपश्यद् वनकडुराम् । मयूथानुबुदगात्<sup>५</sup> किरालोन् करिणोऽपि च ॥८०॥  
 सरिद्वधूस्तदुत्सङ्गे<sup>६</sup> विवृत्तशफरीक्षणाः । तद्वल्लभा इवापश्यन् स्फुरद्विरतमन्मनाः<sup>७</sup> ॥८१॥

था इस प्रकार विरोधरूप होकर भी सुगोभित हो रहा था । भावार्थ — इस ग्लोकमें विरोधाभास अलंकार है, विरोध ऊपर दिखाया जा चुका है अब उसका परिहार देखिए — वहाँका वन क्षीवकुंजर अर्थात् मदनोन्मत्त हाथियोसे युक्त होनेपर भी अक्षीवकुंजर अर्थात् समुद्री नमक तथा हाथीदाँतोको देनेवाला था अथवा सोहाजनाके लतामण्डपोंको प्रदान करनेवाला था और विपन्न अर्थात् पक्षियोंके पंखोंसे सहित होकर भी उत्तम पक्षी तथा नवीन कोपलोंसे सहित था ( अक्षीव च कुञ्जश्चेत्यक्षीवकुञ्जौ, ती राति ददातीत्यक्षीवकुञ्जरम् अथवा 'अक्षीवाणा गोमाञ्जनाना कुञ्ज लतागृहं राति ददाति', 'सामुद्र यत्तु लवणमक्षीवं वक्षिर च तत्' 'कुञ्जो दन्तेऽपि न स्त्रियाम्' 'गोमाञ्जने गियुतीधणगन्धकाक्षीवमोचका' इति सर्वत्रामर ) ॥७३॥ उस पर्वतके वनमें कहीं-कहींपर फटे हुए बाँसोंके भीतरसे निकलकर चारो ओर फैले हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो वनलक्ष्म्या ही दाँतोकी किरणें फैलाती हुई हैं रही हो ॥७४॥ गुफाओंके द्वारोंसे निकलती हुई झरनोंकी गम्भीर प्रतिध्वनियोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो अपनी महिमाके कारण कुलाचलोंके साथ स्पर्धा करता हुआ गरज ही रहा हो ॥७५॥ वह पर्वत ऊँचे नीचे प्रदेशोंसे, अनेक रंगकी धातुओंसे और हरिणोंके अचिन्तनीय वर्णोंसे प्रकट रूप ही एक विचित्र प्रकारका आकार धारण कर रहा था ॥७६॥ उस पर्वतके वनोमें रात्रि प्रारम्भ होनेके समय अनेक प्रकारकी औपधियाँ प्रकाशमान होने लगती थी जो कि ऐसी जान पड़ती थी मानो देवताओंने अन्धकारको नष्ट करनेवाले दीपक ही जलाकर लटका दिये हो ॥७७॥ कहीं-कहींपर उस पर्वतके समीपका प्रदेश, सिंहोंके द्वारा फाड़े हुए हाथियोंके मस्तकोंसे उछलकर पड़े हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो बिखरे हुए फूलोंकी गोभा ही धारण कर रहा हो ॥७८॥ जो बायुसे हिलते हुए किनारेके वृक्षोंसे वृकाता हुआ-सा जान पड़ता था ऐसे अपनेमें आसक्त उस महापर्वतको दूरसे ही देखते हुए चक्रवर्ती भरत उसपर जा पहुँचे ॥७९॥ वहाँ जाकर उन्होंने उस पर्वतके वनोमें रहनेवाले झुण्डके झुण्ड भील और हाथी देखे । वे भील मेघोंके समान काले थे और घनुषोंके बाँसोंको ऊँचा उठाकर कन्धोंपर रखे हुए थे तथा हाथी भी मेघोंके समान काले थे और घनुषके समान ऊँची उठी हुई पीठकी हड्डीको धारण किये हुए थे ॥८०॥ उस पर्वतके किनारेपर उन्होंने चंचल मछलियाँ ही जिनके नेत्र हैं और बोलते हुए पक्षियोंके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द हैं ऐसी उस विन्ध्याचलकी प्यारी स्त्रियोंके समान नदीरूपी स्त्रियोंकी बड़ी ही उत्कण्ठोंके साथ

१ स्फुरद्वन्नाम्बु-ल० । २ व्यक्त । ३ गैरिकादिभि । ४ उद्भूता । ५ -ज्वलन्-ल०, द० । ६ पुष्पोपहार-गोभाम् । ७ अनवरतम् । ८ सप्तमूहान् । ९ उद्यतघनुषो वेणून् । उद्यतघनुराकारपुष्टस्थान्च । १० पर्वतसानी । ११ विहगवन्निरेवाण्यवतवाचो यासा ता । -मुम्भना ल०, द० ।

मध्येविन्ध्यमथैक्षिणं नर्मदां सरिदुत्तमाम् । प्रततामिव तत्कीर्तिमासमुद्रमपरिकाम् ॥८२॥  
 तरङ्गितपथोवेगां भुवो<sup>१</sup> वेणीमिवायताम् । पताकानिव विन्ध्याष्ट्रेः शोपाद्रिजयत्रसिनीम् ॥८३॥  
 सा धुनी वलसंक्षोभादुड्गीनविहगावलिः । विभोरुपागमे बद्धतोरणेव क्षणं व्यमात् ॥८४॥  
 नर्मदा<sup>२</sup> सत्यमंघासीन्नर्मदा नृपयोषिताम् । यदुपोरुत्तरन्तीस्ताः शफरीभिरघटयत् ॥८५॥  
 तामुत्तीर्य जनक्षोभादुत्तरपतगावलिम् । वलं विन्ध्योत्तरप्रस्थानाक्रामय कृतपास्थया<sup>३</sup> ॥८६॥  
 तस्यां<sup>४</sup> दक्षिणतोऽपश्यद् विन्ध्यं सुतरतोऽप्यसौ । द्विधाकृतमिवाभ्यामनमपर्यन्तं दिशोर्द्वयोः ॥८७॥  
 स्कन्धावारनिवेशोऽस्य नर्मदाममितोऽद्युतव । प्रथिम्ना<sup>५</sup> विन्ध्यमावेष्ट्य स्थितो विन्ध्य इवापरः ॥८८॥  
 गजैर्गण्डोपलैरधैरक्षवक्त्रैश्च<sup>६</sup> विद्वतैः । स्कन्धावारः स विन्ध्यश्च मिदं<sup>७</sup> नावापतुमिथः ॥८९॥  
 बलोपशुक्तनिःशेषफलपल्लवपादपः । अप्रसूनलतावीरुद्विन्ध्यो बन्ध्यस्तदाभवत् ॥९०॥  
 बैजवैस्तण्डुलैर्मुक्ताफलमिश्रैः कृतार्चनाः । अध्यूषुः<sup>८</sup> सैनिकाः खैरं रम्या विन्ध्याचलस्थलाः<sup>९</sup> ॥९१॥

देखा ॥८१॥ तदनन्तर उन्हेने विन्ध्याचलके मध्य भागमें समुद्र तक फैली हुई और किसी-से न रुकनेवाली उसकी कीर्तिके समान नर्मदा नामकी उत्तम नदी देखी ॥८२॥ जिसके जल-का प्रवाह अनेक लहरोसे भरा हुआ है ऐसी वह नर्मदा नदी पृथिवीरूपी स्त्रीकी लम्बी चोटी-के समान जान पड़ती थी अथवा शेष सब पर्वतोंको जीत लेनेकी सूचना करनेवाली विन्ध्याचल-की विजय-पताकाके समान भालूम होती थी ॥८३॥ सेनाके क्षोभसे जिसके ऊपर पक्षियोंकी पंक्तियाँ उड़ रही हैं ऐसी वह नदी क्षण-भरके लिए ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने चक्रवर्ती-के आनेपर तोरण ही बाँधे हों ॥८४॥ चूँकि वह नर्मदा नदी जलको पार करनेवाली रानियोंके लिए उनकी जाँघोंके पास मल्लियोंके द्वारा धक्का देती थी इसलिए वह सचमुच ही उन्हे नर्मदा अर्थात् क्रोडा प्रदान करनेवाली हुई थी ॥८५॥ मनुष्योंके-क्षोभसे जिसके पक्षियोंकी पंक्ति ऊपर-को उड़ रही है ऐसी उस नर्मदा नदीको पार कर उस सेनाने देहली समझकर विन्ध्याचलके उत्तर-की ओर आक्रमण किया ॥८६॥ वहाँ भरतने दक्षिण और उत्तर दोनों ही ओर विन्ध्याचलको देखा, उस समय दोनों ओर दिखाई देनेवाला वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो अपने दो भाग कर दोनों दिशाओंको ही अर्पण कर रहा हो ॥८७॥ भरतकी सेनाका पड़ाव नर्मदा नदी-के दोनों किनारोंपर था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने विस्तारसे विन्ध्याचल-को घेरकर कोई दूसरा विन्ध्याचल ही ठहरा हो ॥८८॥ उस समय सेनाका पड़ाव और विन्ध्या-चल दोनों ही परस्परमें किसी भेद ( विशेषता ) को प्राप्त नहीं हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार सेनाके पड़ावमे हाथी थे उसी प्रकार विन्ध्याचलमें भी हाथियोंके समान ही गण्डोपल अर्थात् बड़ी-बड़ी काली चट्टाने थी और सेनाके पड़ावमे जिस प्रकार अनेक घोड़े इधर-उधर फिर रहे थे उसी प्रकार उस विन्ध्याचलमे भी अनेक अश्ववक्त्र अर्थात् घोड़ोंके मुखके समान मुखवाले किन्नर जातिके देव इधर-उधर फिर रहे थे ( कवि-सम्प्रदायमें किन्नरोंके मुखोंका वर्णन घोड़ोंके मुखोंके समान किया जाता है ) ॥८९॥ सेनाने उस विन्ध्याचलके समस्त फल, पत्ते और वृक्षोंका उपभोग कर लिया था और लताओं तथा छोटे-छोटे पौधोंको पुष्परहित कर दिया था इसलिए वह विन्ध्याचल उस समय बन्ध्याचल अर्थात् फल-पुष्प आदिसे रहित हो गया था ॥९०॥ मोतियोंसे मिले हुए बाँसी चावलोसे जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हुए सैनिक लोगोंने वहाँ इच्छा-

१ -मवैक्षिण अ०, स०, इ० । २ प्रवेणीम् । ३ नर्म क्रोडा ता ददातीति नर्मदा । ४ ऊरुसमीपे । यदयो हयुत्तरन्ती-ल० । ५ पक्षी । ६ देहलीति बुद्ध्या । ७ नर्मदायाः । ८ दक्षिणस्या दिशि स्थितः । ९ उत्तरस्या दिशि स्थितम् । १० विन्ध्याचलम् नर्मदाविन्ध्याचलमध्ये विभिन्न द्विवाक्यं गतेति भावः । ११ पशुत्वेन । १२ गण्डगैः । १३ किन्नरैः । १४ भेदम् । १५ निवसन्ति स्म । १६ -स्थिति ल० ।

कृतावासं च तत्रैवं ददुस्तद्वनाधिपाः । वन्यैरुपायनैः श्लाघ्यैरगदैश्च महौषधैः ॥६२॥  
 उपनिन्युः<sup>१</sup> करीन्द्राणां दन्तानस्मै समौक्तिकान् । किरातवर्षा<sup>२</sup> वर्षा हि स्वीचिता सत्क्रिया प्रभौ<sup>३</sup> ॥९३॥  
 पश्चिमाध्वनं<sup>४</sup> विन्ध्याद्रिसुलब्धोत्तीर्थं नर्मदाय् । त्रिजेतुमपरामाशां प्रतस्थे चक्रिणो बलम् ॥६४॥  
 गत्वा किंचिद् दग्धभूयः प्रतीचीं<sup>५</sup> दिशमानशे । प्राक् प्रतापोऽस्थ दुर्वारः सचक्रं चरमं<sup>६</sup> बलम् ॥९४॥  
 तदा प्रचलदश्वीयसुरोद्धूतं<sup>७</sup> महोरजः । न केवलं द्विषां तेजो रूरोषं शुभणेरपि ॥६६॥  
 लालाटिकपदं<sup>८</sup> संघृष्टभृष्टाश्चाद्रुमाषिणः । लालाटिकपदं<sup>९</sup> भेजुः प्रमोराज्ञावनीकृताः ॥९७॥  
 केचित्सौराष्ट्रिकैर्नागैः परे<sup>१०</sup> पाञ्चनदगैर्जैः । तं तद्वनाधिपा वीक्षाचक्रिरे चक्रचालिताः ॥९८॥  
 चक्रसंदर्शनादेव त्रस्ता निर्मण्डलग्रहाः<sup>११</sup> । ग्रहा<sup>१२</sup> ह्य नृपाः केचित् चक्रिणो वशमाययुः ॥९९॥  
 दिश्यानिव<sup>१३</sup> द्विषात् क्षमापान्पृथुवंशान्मदोद्भुरान् । प्रचक्रे<sup>१४</sup> प्रगुणांश्चकी वलादाक्रम्य दिवपतीन् ॥१००॥  
 नृपाश्च सौराष्ट्रकालुप<sup>१५</sup> धामीशतभृतोपदान् । समाजयन् प्रभुर्मेघे रम्या रैवतकस्थलीः<sup>१६</sup> ॥१०१॥

नुसार निवास किया था सो ठीक ही है क्योंकि विन्ध्याचलपर रहना बहुत ही रमणीय होता है ॥९१॥ विन्ध्याचलके वनोके राजाओने वनोमें उत्पन्न हुई, रोग दूर करनेवाली और प्रशंसनीय बड़ी-बड़ी ओषधियाँ भेंट कर वहाँपर निवास करनेवाले राजा भरतके दर्शन किये ॥९२॥ भीलोके राजाओने बड़े-बड़े हाथियोके दाँत और मोती महाराज भरतकी भेंट, किये सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीका सत्कार अपनी योग्यताके अनुसार ही करना चाहिए ॥९३॥ विन्ध्या-चलको पश्चिमी किनारेके अन्तभागसे उल्लंघन कर और नर्मदा नदीको पार कर चक्रवर्ती-की सेनाने पश्चिम दिशाको जीतनेके लिए प्रस्थान किया ॥९४॥ वह सेना पहले तो कुछ उत्तर दिशाकी ओर बढ़ी और फिर पश्चिम दिशामें व्याप्त हो गयी । सेनामें सबसे आगे महाराज भरतका दुर्निवार प्रताप जा रहा था और उसके पीछे-पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी ॥९५॥ उस समय वेगसे चलते हुए घोडोके समूहके खुरोसे उड़ी हुई पृथिवीकी धूलिने केवल शत्रुओके ही तेजको नहीं रोका था किन्तु सूर्यका तेज भी रोक लिया था ॥९६॥ जिन्होंने अपने लालाटसे पृथिवीतलको घिसा है और जो मधुर भाषण कर रहे हैं ऐसे भरतकी आज्ञासे वश किये हुए लाट देशके राजा उनके लालाटिक पदको प्राप्त हुए थे । ( लालाट पश्यति लाला-टिक—स्वामी क्या आज्ञा देते हैं ? यह जाननेके लिए जो सदा स्वामीके मुखकी ओर ताका करते हैं उन्हे लालाटिक कहते हैं ) ॥९७॥ चक्र रत्नसे विचलित हुए कितने ही वनके राजाओ-ने सोरठ देशमें उत्पन्न हुए और कितने ही राजाओने पञ्जाबमें उत्पन्न हुए हाथी भेंट देकर भरतके दर्शन किये ॥९८॥ जो चक्रके देखनेसे ही भयभीत हो गये हैं और जिन्होंने अपने देशका अभिमान छोड़ दिया है ऐसे कितने ही राजा लोग सूर्य चन्द्र आदि ग्रहोके समान चक्रवर्तीके वश हो गये थे । भावार्थ—जिस प्रकार समस्त ग्रह भरतके वशीभूत थे—अनुकूल थे उसी प्रकार उस दिशाके समस्त राजा भी उनके वशीभूत हो गये थे ॥९९॥ चक्रवर्ती भरतने दिग्गजोके समान पृथुवंश अर्थात् उत्कृष्ट वशमें उत्पन्न हुए ( पक्षमे-पीठपर-की चौड़ी रीढ़से सहित ) और मदो-द्धुर अर्थात् अभिमानी ( पक्षमें-मदजलसे उत्कट ) राजाओको जवरदस्ती आक्रमण कर अपने वश किया था ॥१००॥ सैकड़ो लूट और चोड़ियोकी भेंट लेकर आये हुए सोरठ देशके राजाओसे

१ व्याधिघातकं । २ उपायनीकृत्य नयन्ति स्म । उपनिन्यु अ०, इ०, प०, स०, द० । ३ श्रेष्ठा । ४ वर्षा ल० । ५ विभौ स०, अ० । ६ पश्चिमाम्नेन ल०, द० । ७ उत्तरदिशम् । ८ पश्चिमाम् । ९ पदचात् । १० खुरोद्भूतमहोरजं ल० । ११ सदष्ट-इ०, प०, द० । १२ विजिष्टमृत्युपदम् । 'लालाटिक प्रभोर्भावदर्शं नार्यक्षमश्च य' इत्यभिधानात् । १३ पञ्चनदीपु जातं । १४ देशग्रहणरहिता । १५ भाद्रपदग्रहा । १६ दिशि भवान् । १७ प्रणतान् । १८ उद्भूतसमूहधनोपदान् । १९ तोपयन् । २० ऊर्जयन्तगिरिस्थकां ।



सुराण्डेयज्यन्तादिमद्विराजमिवाञ्छितम् । यथा त्रदक्षिणीकृत्य भावितार्थमनुसरन् ॥१०२॥  
 क्षौमांशुकदुल्लेश चीनपट्टाञ्चररपि । पटीभेदश्च<sup>१</sup> देवेना ददुस्तमुपायैः ॥१०३॥  
 काञ्चित् समानदानान्यां काञ्चिद्वि<sup>२</sup> स्वस्ममापिनैः । प्रसन्नैर्वाञ्छितैः काञ्चिद् भूपाण्डुरुरजयत् ॥१०४॥  
 गजप्रवे<sup>३</sup> केजायव<sup>४</sup> रन्नेरपि पृथग्विधैः<sup>५</sup> । तमानुचुर्तुपास्तुष्टाः स्वराण्डेपगतं प्रभुम् ॥१०५॥  
 तरस्विमिव पुमैर्धावथः सत्त्वगुणान्वितैः । तुरंगमैस्तुलका<sup>६</sup> यैर्विशुमारार्थयन् परं ॥१०६॥  
 केचिक्काञ्चजवाह्नी<sup>७</sup> तैतिलारष्ट्रमैन्धवैः<sup>८</sup> । वानायुके<sup>९</sup> सगान्धारैर्वापि<sup>१०</sup> रपि वाजिमिः ॥१०७॥  
 कुलोपकुलसंभूतैर्नानादिग्देशचारिमिः । आजानैर्यैः<sup>११</sup> नमस्राज्ञैः प्रभुमैश्चन्त पाथिवाः ॥१०८॥  
 प्रतिप्रयाणमित्यस्य रत्नलाभो न केवलम् । यन्मोलाभञ्च दुःसाध्यान् बलान साधयतो नृपान् ॥१०९॥  
 जलस्थलपयान् शिष्यगारुह्य जयमाधनं । प्रत्यन्तपालमूपात्मानजयत्तच्चमपति ॥११०॥  
 विलङ्घ्य विविधान् देशानल्प्यानीः<sup>१२</sup> नरिर्दुर्गिरीन् । तत्र तत्र<sup>१३</sup> विमोराज्ञासैनानाराज्यशुभ्रवत्<sup>१४</sup> ॥१११॥  
 प्राच्यानिव स भूपालान् प्रतीच्यानश्चक्रमान् । श्रावयन् हततन्मानधनः प्रापापराभुधिम् ॥११२॥

सेवा कराते हुए अथवा उनसे प्रीतिपूर्वक साक्षात्कार ( मुलाकात ) करते हुए चक्रवर्ती भरत गिरनार पर्वतके मनोहर प्रदेशोमें जा पहुँचे ॥१०१॥ भविष्यत् कालमें होनेवाले तीर्थंकर नेमिनाथका स्मरण करते हुए वे चक्रवर्ती सोरठ देशमें सुमेरु पर्वतके समान ऊँचे गिरनार पर्वतकी प्रदक्षिणा कर आगे बढ़े ॥१०२॥ उन-उन देशोंके राजाओंने उत्तम-उत्तम रेशमी वस्त्र, चायना सिल्क तथा और भी अनेक प्रकारके अच्छे-अच्छे वस्त्र भेंट देकर महाराज भरतको दर्शन किये ॥१०३॥ भरतने कितने ही राजाओंको सम्मान तथा दानसे, कितने ही राजाओंको विश्वास तथा स्नेहपूर्ण बातचीतसे और कितने ही राजाओंको प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे अनुसृत किया था ॥१०४॥ कितने ही राजाओंने सन्तुष्ट होकर उत्तम हाथी, कुलीन घोड़े और अनेक प्रकारके रत्नोंसे अपने देशमें आये हुए महाराज-भरतकी पूजा की थी—॥१०५॥ अन्य कितने ही राजाओंने वेगसे चलनेवाले, तथा शरीर, बुद्धि, अवस्था और बल आदि गुणोंसे सहित तुल्य आदि देशोंमें उत्पन्न हुए घोड़ोंके द्वारा भरतकी सेवा की ॥१०६॥ कितने ही राजाओंने उसी देशके घोड़े-घोड़ियोंसे उत्पन्न हुए, तथा एक देशके घोड़े और अन्य देशकी घोड़ियोंसे उत्पन्न हुए, नाना दिशाओं और देशोंमें संचार करनेवाले, कुलों और पूर्ण अंगोपांग धारण करनेवाले, काम्बोज, वाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सैन्धव, वानायुज, गान्धार और वापि देशमें उत्पन्न हुए घोड़े भेंट कर महाराजके दर्शन किये थे ॥१०७—१०८॥ इस प्रकार भरत-को प्रत्येक पड़ावपर केवल रत्नोंकी ही प्राप्ति नहीं हुई थी किन्तु अपने पराक्रमसे बड़े-बड़े दुःसाध्य (कठिनाइयोंसे जीते जाने योग्य) राजाओंको जीत लेनेसे यशकी भी प्राप्ति हुई थी ॥१०९॥ भरतके सेनापतिने अपनी विजयी सेनाओंके द्वारा चारों ओरसे जल तथा स्थलके मार्ग रोककर पहाड़ी राजाओंको जीता ॥११०॥ सेनापतिने अनेक प्रकारके देश, बड़े-बड़े जंगल, नदियाँ और पर्वत उल्लंघन कर सब जगह शीघ्र ही सम्राट् भरतकी आज्ञा स्थापित की ॥१११॥ इस प्रकार चक्रवर्ती क्रम-क्रमसे पूर्व दिशाके राजाओंके समान पश्चिम दिशाके राजाओंको भी वश करता हुआ तथा उसके अभिसान और घनका हरण करता हुआ पश्चिम समुद्रकी ओर

१ सूत्रवस्त्रद्वय पटी । २ स्नेह । ३ छेष्टे । ४ नानाविध । ५ तुल्यदेशजात्यादी । ६ तैतिल-आरट्ट-सिन्धुदेशज । ७ वानायुज्ये जात । ८ वापिदेशभवैः, पार्श्वे द०, वाण्ये ल० । ९ कुलीन । १० आजानैवाः कुलीना स्मृ । इत्यभिधानात्, जात्यस्वरित्यर्थ । ११ प्रभो— ल० । १२ श्रावयति स्म ।

वेलासत्किराणां द्विरिन्द्रं प्रसारयन् । सूनं<sup>२</sup> प्रत्यग्रहीदेवं नानारतां सुदहन् ॥११३॥  
 शूषोन्मेयानि<sup>३</sup> रत्नानि वार्धेत्यप्रशंसिनी । थानपात्रमहामानैरुन्मेयान्यत्र तानि यत् ॥११४॥  
 नानैव लवणाम्भोधिरित्युदन्वान् लघुकुतः । रवाकरोऽयमित्युच्चैर्बहु मेने तदा नृपैः ॥११५॥  
 पतन्त्यत्र पतद्भोऽपि<sup>४</sup> तेजसा याति मन्दताम् । दिदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रतीर्या<sup>५</sup> जयतो नृपान् ॥११६॥  
 धारयंश्चक्रवर्त्य<sup>६</sup> पारयः संगसोदधेः<sup>७</sup> । द्विषां सुदं<sup>८</sup> जयस्तीर्थं स सिम्पान्निविद्युत्तत् ॥११७॥  
 अनुवादं तदं गत्वा सिन्धुद्वारे न्यवेशयत् । स्कन्धावारं स लक्ष्मीवानक्षीभ्यं स्वमिवाशयम् ॥११८॥  
 सिन्धोस्तद्वने रम्ये न्यविशन्नास्य सैनिकाः । जमुद्विरदसंभोगनिकुञ्जीभूतपादं<sup>९</sup> ॥११९॥  
 तत्राबिवासितानोद्गः<sup>१०</sup> पुरश्चरणकर्मवित्<sup>११</sup> । पुरोधा धर्मचक्रेशान्<sup>१२</sup> प्रपूज्य विधिवत्ततः ॥१२०॥  
 सिद्धशोषाक्षसैः पुण्यगन्धोदकविमिश्रितैः । अम्यनन्दरसुयज्वा<sup>१३</sup> तं पुण्याग्नीमिश्र चक्रिणम् ॥१२१॥  
 ततोऽसौ धृतद्विष्यास्त्रो रथमारुह्य पूर्ववत्<sup>१४</sup> । जगाहे लवणाम्भोधं गोपद्मावज्ञया प्रभुः ॥१२२॥

चला ॥११२॥ उस समय वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो किनारेपर बहनेवाली नदियाँरूपी हाथोको बहुत दूर तक फैलाकर नाना प्रकारके रत्नरूपी अर्धको धारण करता हुआ महाराज भरतकी अगवानी ही कर रहा हो अर्थात् आगे बढ़कर सत्कार ही कर रहा हो ॥११३॥ जो लोग कहा करते हैं कि समुद्रके रत्न सूपसे नापे जा सकते हैं वे उसकी ठीक-ठीक प्रशंसा नहीं करते बल्कि अप्रशंसा ही करते हैं क्योंकि यहाँ तो इतने अधिक रत्न हैं कि जो बड़े-बड़े जहाजरूप नापोसे भी नापे जा सकते हैं ॥११४॥ यह समुद्र 'लवण समुद्र' इस नामसे विलकुल ही तुच्छ कर दिया गया है, वास्तवमे यह रत्नाकर है इस प्रकार उस समय भरत-आदि राजाओंने उसे बहुत बड़ा माना था ॥११५॥ जिस दिशामे जाकर सूर्य भी अपने तेजकी अपेक्षा मन्द ( फीका ) हो जाता है उसी दिशामे पश्चिमी राजाओंको जीनते हुए चक्रवर्ती भरत का तेज अतिशय देदीप्यमान हो रहा था ॥११६॥ चक्ररत्नको धारण करता हुआ, युद्ध-रूपी समुद्रको पार करता हुआ और शत्रुओंको उद्ध्विग्न करता हुआ वह भरत उस समय ठीक सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥११७॥ जो राज्यलक्ष्मीसे युक्त है ऐसे उस भरत-ने समुद्रके किनारे-किनारे जाकर अपने हृदयके समान कभी क्षुब्ध न होनेवाला अपनी सेनाका पड़ाव सिन्धु नदीके द्वारपर लगवाया । भावार्थ — जहाँ सिन्धु नदी समुद्रमे जाकर मिलती है वहाँ अपनी सेनाके डेरे लगवाये ॥११८॥ सेनाके हाथियोंके उपभोगसे जहाँकि वृक्ष निकुंज अर्थात् लतागूहोके समान हो गये हैं ऐसे सिन्धु नदीके किनारेके मनोहर वनमे भरतकी सेनाके लोगोंने निवास किया ॥११९॥ तदनन्तर कार्यके प्रारम्भमे करने योग्य समस्त कार्योंको जाननेवाले पुरोहितने वहाँपर मन्त्रके द्वारा चक्ररत्नकी पूजा कर विधिपूर्वक धर्मचक्रके स्वामी अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजा की और फिर गन्धोदकसे मिले हुए पवित्र सिद्ध शोषाक्षतों और पुण्यरूप अनेक आजीवोदीसे चक्रवर्ती भरतको आनन्दित किया ॥१२०-१२१॥ तदनन्तर

१ वेलासत्ति एव करा. तान् । २ इव । ३ प्रस्फोटने उन्मानो योग्यानि । प्रस्फोटनं शूर्पमश्रीर्त्तमिधानात् । ४ वेला । -रिप्यप्रशंसिनि ल० । प्रशस्तेऽपि न प्रशस्या । ( प्रशस्ताऽपि न प्रशस्या ) । ५ सूर्यः । ६ प्रती-  
 क्क्यने इति वातु । 'धारिपारिवेद्युदेजिनेतिसाहिषाहिलिम्पविन्दोपसगात्' इति कर्त्तरि श्रृप् प्रत्ययः । 'मय्ये  
 कर्त्तरि श्रृप्' इति शब्दविधानात् एज्यादेशः । ११ नितरा ह्रस्वीभूतः । १२ समन्त्रक पृथितचक्ररत्नः ( अतः  
 शकटम् तस्याङ्गम् चक्रम् ) । १३ पूर्वसेवा । १४ पञ्चपरमेष्ठिनः । १५ पुरोहितः । गृष्टं दृष्टवान् । 'यज्वा  
 तु विनिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'मुयजोद् वनिप्' इति अतीताथं सुयज्वातुभ्यां द्वनिप्प्रत्ययः । १६ मागध-  
 विजये यथा ।

प्रभा<sup>१</sup>समजयत्तत्र प्रभासं व्यन्तराधिपम् । प्रभासमूहमर्कस्य स्वभासा तर्जयन्प्रभुः ॥१२३॥  
जयश्रीगफरीजालं<sup>२</sup> मुक्तालालं ततोऽमरात् । लेभे सान्त्वानिकी<sup>३</sup> मालां हेममालां च चक्रभृत् ॥१२४॥  
इति पुण्योदयाजिष्णुन्यजेष्टामरसत्तमान् । तस्मात् पुण्यधनं प्राप्ताः ग्रन्थदर्शयतोर्जितम् ॥१२५॥

### शार्दूलविक्रीडितम्

त्वङ्गं<sup>४</sup> सुज्जतुरङ्गसाधनसुरक्षुण्णा<sup>५</sup>न्महीस्थण्डिलाद्  
उद्भूतैरणरै<sup>६</sup>णुभिर्जलनिधेः कालुष्यमापादयन् ।  
सिन्धुद्वारमुपेत्य तत्र बिधिना जित्वा प्रभासामरं<sup>७</sup>,  
तस्मात्सारधनान्यवापदत्तुलश्रीरग्रणीश्चक्रिणाम् ॥१२६॥  
लक्ष्म्यान्दोलं<sup>८</sup> लतामिवोरसि दधत् संतानपुष्पलज्जं  
मुक्ताहेममयेन<sup>९</sup> जालयुगलेनालङ्कृतोच्चैस्तनुः ।  
लक्ष्म्युद्वाह<sup>१०</sup> गृहादिवाप्रसिधयो<sup>११</sup> निर्यसिधेरम्मसां  
लक्ष्मीगो रुक्मे भृशं नववरच्छायां<sup>१२</sup> परामुद्रहन् ॥१२७॥

जिसने दिव्य अस्त्र धारण किये है ऐसे भरतने पहलेके समान रथपर चढकर गोष्पदके समान तुच्छ समक्षते हुए लवण समुद्रमे प्रवेश किया ॥१२२॥ अपनी प्रभासे सूर्यकी प्रभाके समूहको तिरस्कृत करते हुए भरतने वहाँ जाकर अतिगय कान्तिमान् प्रभास नामके व्यन्तरीके स्वामीको जीता ॥१२३॥ तदनन्तर चक्रवर्तिने उस प्रभासदेवसे जयलक्ष्मीरूपी मछलीको पकड़नेके लिए जालके समान मोतियोका जाल, कल्पवृक्षके फूलोकी माला और सुवर्णका जाल भेंट स्वरूप प्राप्त किये ॥१२४॥ इस प्रकार विजयी भरतने अपने पुण्यकर्मके उदयसे अच्छे-अच्छे देवोंको भी जीता इसलिए हे पण्डितजन, तुम भी उत्कृष्ट फल देनेवाले पुण्यरूपी धनका सदा उपाजन करो ॥१२५॥ अनुपम लक्ष्मीके धारक भरत, उछलते हुए बड़े-बड़े घोड़ोकी सेनाके खुरोसे खुदी हुई पृथिवीसे उड़ती हुई रथकी धूलिके द्वारा समुद्रको कलुपता प्राप्त कराते हुए (गैदला करते हुए) सिन्धुद्वारपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक प्रभास नामके देवको जीतकर उससे सारभूत धन प्राप्त किया ॥१२६॥ जो अपने वक्षःस्थलपर लक्ष्मीके झूलाकी लताके समान कल्पवृक्षके फूलोकी माला धारण किये हुए है, जिसका ऊँचा शरीर मोती और सुवर्णके बने हुए दो जालोसे अलंकृत हो रहा है, जो निर्भय है और लक्ष्मीका स्वामी है ऐसा यह भरत लक्ष्मीके विवाहगृहके समान समुद्रसे निकल रहा है और नवीन वरकी उत्कृष्ट कान्तिको धारण करता हुआ अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥१२७॥ इस प्रकार समुद्र-पर्यन्त पूर्व दिशाके राजाओंको, वैजयन्त पर्वत तक दक्षिण दिशाके राजाओंको और पश्चिम समुद्र

१ प्रकृष्टदीप्तिम् । २ जयश्रीरेव गफरी मत्स्यो तस्या जालम् पाज । ३ कल्पवृक्षजाताम् । ४ वल्गत् । ५ चूर्णीकृतात् । ६ गर्कराप्रायप्रदेवात् । ७ सङ्गरापांशुभिः । ८ संपादयन् । ९ लक्ष्म्या प्रेङ्खोलिकारज्जुम् । १० मालामुमेन । ११ विवाह । १२ भयरहित । १३ नूतनवरगोभाम् ।



## एकत्रिंशत्तमं पर्व

कौन्तेरीमथ निजैतुमाशामभ्युद्यतो विभुः । प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठे साधनेः स्थगयन् दिशः ॥१॥  
 धौरितं गतं मुत्साहैः सत्त्वं मिश्रां च लावयैः । जातिं वपुर्गणैस्तज्ज्ञास्तदाश्वानां निजजिरे ॥२॥  
 धौरितं गतिचानुयमुत्साहस्तु पराक्रमः । मिश्राविनयमपत्नी रोमच्छाया वपुर्गुणः ॥३॥  
 पुरोमाणां निवात्येत् पद्माङ्गणैः कृतोद्यमाः । प्रययुर्दुतमध्वानमध्वनीनां लुङ्गमाः ॥४॥  
 खुरोदधुतान् महारिणून् स्वाङ्गस्पर्शमयादिव । केचिद् व्यती खुरध्वजैः महाश्वः कृतविक्रमाः ॥५॥  
 छायात्मानः<sup>१०</sup> सहोत्थानं<sup>११</sup> केचिन्सोडुमिवाश्रमाः । खुरैरवदृश्यन् बाहाः स तु सौक्ष्म्यान्नवाधितः ॥६॥  
 केचिद्भुक्तमिधानेनुरमर्हारे<sup>१२</sup> नुरङ्गमाः । क्रमैश्चङ्क्रमणास्मे<sup>१३</sup> कृतमद्भुतवादनैः<sup>१४</sup> ॥७॥  
 स्थिरप्रकृतिसत्त्वानामश्वानां चलताऽभवन् । प्रचलत्खुरसंश्रुण्णसुवां गतिषु केवलम् ॥८॥  
 कोटयोऽष्टादशास्य स्युर्वाजिनां वायुरहसाम्<sup>१५</sup> । आजानेयप्रधानानां<sup>१६</sup> योग्यानां चक्रवर्तिनः ॥९॥  
 स्मररोधावनाश्रुण्णहस्तभूहामयन्त्यपः । सिन्धोः<sup>१७</sup> प्रतीपतां<sup>१८</sup> भञ्जं प्रयान्ती मा पताकिनी ॥१०॥

अथानन्तर—उत्तर दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत जिनमें अनेक घोड़े हैं ऐसी सेनाओसे दिशाओंको व्याप्त करते हुए निकले ॥१॥ उस समय घोड़ोंके गुण जानने वाले लोगोंने धौरित नामकी गतिसे उनकी चाल जानी, उत्साहसे उनका बल जाना, स्फूर्तिके साथ हलकी चाल चलनेसे उनकी मिश्रा जानी और जरीरके गुणोंमें उनकी जाति जानी ॥२॥ गतिकी चतुराईको धौरित, उत्साहको पराक्रम, विनयको मिश्रा और रोमोंकी कान्तिको जरीरका गुण कहते हैं ॥३॥ अच्छी तरह मार्ग तय करनेवाले घोड़े मार्गमें बहुत जल्दी-जल्दी जा रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पीछेके भागोंसे अगले भागोंको उल्लंघन ही करना चाहते हों ॥४॥ अपने खुरोंसे उड़ती हुई पृथिवीकी धूलिका कही हमारे ही जरीरके साथ स्पर्श न हो जावे इस भयसे ही मानो अनेक बड़े-बड़े घोड़े अपना पराक्रम प्रकट करते हुए मार्गमें उस धूलिको उल्लंघित कर रहे थे ॥५॥ कितने ही घोड़े अपनी छायाका भी अपने साथ चलना नहीं सह सकते थे इसलिए ही मानो वे उसे अपने खुरोंसे तोड़ रहे थे परन्तु सूक्ष्म होनेसे उन छायाको कुछ भी बाधा नहीं होती थी ॥६॥ कितने ही घोड़े ऐसे जान पड़ते थे मानो चलनेके प्रारम्भमें बजते हुए नगाड़े आदि वाजोंके साथ-साथ अपने पैरोंसे पृथ्वीरूपी रंगभूमिपर नृत्य ही कर रहे हों ॥७॥ जिनका स्वभाव और पराक्रम स्थिर है परन्तु जिन्होंने अपने चलते हुए खुरोंसे पृथ्वी खोद डाली है ऐसे घोड़ोंकी चंचलता केवल चलनेमें ही थी अन्यत्र नहीं थी ॥८॥ जिनका वेग वायुके समान है, जो उत्तम जातिके हैं और जो योग्य हैं ऐसे चक्रवर्ती घोड़ोंकी संख्या अठारह करोड़ थी ॥९॥ जिसने किनारेके वन रोक लिये हैं, जिसने किनारेकी पृथिवी

१ धाराभि । 'आस्कन्दिनं धौरितकं रेचितं वलिगतं प्लुतम् । गतयोऽमूः पञ्च धाराः ।' पदैस्तुल्योत्प्लुत्य गमनम् आस्कन्दितम् । कङ्कमिखिज्रोहनकुलगतैः सद्गमं धौरितकम् । मव्यमवेनेन चक्रवद् भ्रमणम् रेचितम् । पद्मिर्बलिगतम् वलिगतम् । मृगजाम्बेन लङ्घनं प्लुतम् । आस्कन्दितादीनि पञ्चपदानि धाराशब्दवाच्यानि । शरत्त्वयवगतिः, या ये आस्कन्दितादिनेदेन पञ्चविधा भवतीत्यर्थः । २ गमनम् । ३ वृत्तिरे । ४ पूर्वकायम् । ५ अतिगन्तुम् । ६ अपरकायैः । ७ अश्वनि समर्था । ८ अतीत्यापच्छन् । ९ मार्गे । १० छायास्वरूपस्य । ११ छायात्मा । १२ वीथ्यगमनारम्भे । १३ बाह्यविशेष । १४ पवनवेगिनाम् । १५ ज्ञान्यञ्चमुह्यमानम् । १६ सिन्धुनद्या । १७ प्रतिकूलताम् ।

प्रभोरिवागमात्तुष्टा सिन्धुः सैन्याधिनायकान् । तरङ्गपवनैर्मन्दमासिपेवे सुखाहरैः<sup>१</sup> ॥११॥  
गङ्गावर्णनयोपेतां फेनाघां<sup>२</sup> संमुखानाम् । तां पश्यन्नुचरामाणां जितां मेने निवीश्वरः ॥१२॥  
अनुसिन्धुतटं सैन्यैरुदीच्यान् साधयन्नुपान् । विजयाद्वाचलोपान्तमाससाद ग्रनैर्मानुः ॥१३॥  
स गिरिमणिनिर्माणनवकूटविगङ्गटः<sup>३</sup> । दद्वो प्रमुणा दूराद् दृष्टार्थ इव राजतः<sup>४</sup> ॥१४॥  
स गैल पवनाधूतचलआस्त्राग्रवाहुभिः । दूरादभ्यागतं जिष्णुमाजुहावेव पादपैः ॥१५॥  
सोऽचलः शिखरोपान्तनिपतस्त्रिअंराम्भुभिः । प्रमोरुपागंन पाथ<sup>५</sup> संविप्रित्सुखिवाचकात्<sup>६</sup> ॥१६॥  
स नगो नामपुत्रागपूराद्रिद्रुमसङ्घटः<sup>७</sup> । रम्यैस्तटवनोद्देशैराहूत प्रभुमिवासितुर्म<sup>८</sup> ॥१७॥  
रजो जितानयन् पीर्यं पवनैः पतितो वनम् । सोऽभ्युत्तिष्ठन्निवास्यासीत् कूजकोकिलडिण्डिमः ॥१८॥  
किमत्र बहुना सोऽत्रिर्विभुं दिग्विजयोद्यतम् । प्रत्यैच्छदिव संप्रीत्या सत्काराङ्गैरतिस्फुटैः ॥१९॥  
<sup>११</sup>पिनद्धतोरणा मुच्चैरतीन्ध वनवेदिकास् । नियन्त्रितं<sup>१०</sup> बलाध्यक्षैर्जगाहेऽन्तर्बर्ण वलम् ॥२०॥  
वनोपान्तभुवः सैन्यैराकृष्टा रुद्रदिक्कुलैः । उड्डानविहगप्राणा निरुच्छ्वासास्तदाभवन् ॥२१॥

तोड दी है और जो जलको कम करती जाती है ऐसी चलती हुई वह सेना मानो सिन्धु नदीके साथ चत्रुता ही धारण कर रही थी । भावार्थ—वह सेना सिन्धु नदीको हानि पहुँचाती हुई जा रही थी ॥१०॥ वह सिन्धु नदी मानो चक्रवर्ती भरतके आनेसे सन्तुष्ट होकर ही सुख देनेवाली अपनी लहरोके पवनसे धीरे-धीरे सेनाके मुख्य लोगोकी सेवा कर रही थी ॥११॥ जो गंगा नदीके समस्त वर्णनसे सहित है और फेनोसे भरी हुई है ऐसी सामने आयी हुई सिन्धु नदीको देखते हुए निधिपति—भरत उत्तर दिशाको जीती हुईके समान समझने लगे थे ॥१२॥ सिन्धु नदीके किनारे-किनारे अपनी सेनाओके द्वारा उत्तर दिशाके राजाओको वश करते हुए कुलकर—भरत धीरे-धीरे विजयार्थ पर्वतके समीप जा पहुँचे ॥१३॥ जो मणियोंके वने हुए नी शिखरोसे बहुत विगल मालूम होता था ऐसा वह चाँदीका विजयार्थ पर्वत भरतने दूरसे ऐसा देखा मानो शिखरोके वहानेसे अर्थ ही धारण कर रहा हो ॥१४॥ जिनकी शाखाओके अग्रभागरूपी भुजाएँ वायुसे हिल रही हैं ऐसे वृक्षोसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो दूरसे सन्मुख आये हुए विजयी भरतको बुला ही रहा हो ॥१५॥ शिखरोके समीपसे ही पड़ते शरनोके जलसे वह पर्वत ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो चक्रवर्ती भरतके आनेपर उनके लिए पाद्य अर्थात् पेर देनेका जल ही देना चाहता हो ॥१६॥ वह पर्वत पुष्पाग, नागकेसर और सुगारी आदिके वृक्षोसे भरे हुए तथा मनोहर अपने किनारेके वनके प्रदेशोसे ऐसा जान पड़ता था मानो विश्राम करनेके लिए स्वामी भरतको बुला ही रहा हो ॥१७॥ जो अपने वनके चारो ओर वायुसे उड़ते हुए फूलोकी परागका चंदोवा तान रहा है और गव्व करते हुए कोकिल ही जिसके नगाड़े हैं ऐसा वह पर्वत भरतका सम्मान करनेके लिए सामने खड़े हुए के समान जान पड़ता था ॥१८॥ इस विषयमे अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? इतना ही बहुत है कि वह पर्वत वडे प्रेमसे प्रकट किये हुए सत्कारके सब साधनोसे दिग्विजय करनेके लिए उद्यत हुए भरतका मानो सत्कार ही कर रहा था ॥१९॥ जिसके चारो ओर तोरण बंधे हुए हैं ऐसी वनकी लँची वेदीको उल्लंघन कर सेनापतियोंके द्वारा नियन्त्रित की हुई ( वज की हुई ) सेनाने वनके भीतर प्रवेश किया ॥२०॥ समस्त दिशाओमे फैलनेवाली सेनाओसे उस वनके समीप

१ मुखस्याहरणम् स्वीकारो येन्य(पञ्चमी) स्ते तै, सुखाकरैरित्यर्थः । २ फेनाढ्याम् प०, ल० । ३ विगल । ४ रजतमयः । ५ मविधातुमिच्छुः । ६ अभात् । ७ मकुलं, ल०, प०, द०, म०, अ०, ड० । ८ वस्तुम् । ९ विस्तारयन् । १० अभिमुखमुपितम् । ११ विभक्त अ०, प०, द०, म०, ल०, ड० । १२ नियमितम् !

अभूत्पूर्वमुदभूतप्रतिध्वानं बलध्वनिम् । श्रुत्वा <sup>१</sup>बलवदुत्त्रेसु <sup>२</sup>स्तिर्यञ्चो वनगोचराः ॥२२॥  
 वलक्षोमादिभो <sup>३</sup>निर्यन् वलक्षोऽमाद् वनान्तरात् । सुरेभः <sup>४</sup>सुविमन्तः सुरेभः <sup>५</sup>इव वर्मणा ॥२३॥  
 प्रबोधजृम्भणादास्थं व्याददौ <sup>६</sup>किं केसरी । न मेऽस्त्यन्तर्मथं किंचित् पश्यतेऽतीव दर्शयन् ॥२४॥  
 गरमो रमसादध्वमुत्पत्योत्तानितः पतन् । सुस्थ एव पदैः <sup>७</sup>पृष्ठै रमृज्जिमार्तुकोशलात् <sup>८</sup> ॥२५॥  
<sup>१</sup>विषाणोल्लिखितस्कन्धो रषिताऽऽताम्रितेक्षणः <sup>२</sup> । खुरोत्खातावनिः सैन्यैर्दृष्टो महिषो विभीः <sup>३</sup> ॥२६॥  
 चमूरवश्रवोद्भूत <sup>४</sup>साध्वसाः क्षुद्रका मृगाः । विजयाद्गुहोत्सगान् युगत्रय <sup>५</sup>इवाश्रयन् ॥२७॥  
 अनुहुता <sup>६</sup>मृगाः शार्वाः पलायं चक्रिरेऽमितः । वित्रस्ता वेपमानाङ्गाः <sup>७</sup>सिक्तामथरमैरिव ॥२८॥  
 बराहाररति <sup>८</sup>सुक्त्वा बराहा सुक्तपल्वलाः <sup>९</sup> । विनेपु <sup>१०</sup>र्विस्फुटयुथा <sup>११</sup> श्रमक्षोमादितोऽमुतः ॥२९॥  
<sup>१२</sup>वरणावरणास्तस्थुः करिणोऽन्ये मयहुताः । हरिणा हरिणा <sup>१३</sup>रातिगुहान्तानधिशिदियरे ॥३०॥

की समस्त भूमियाँ भर गयी थी, उनके पक्षीरूपी प्राण उड़ गये थे और उस समय वे ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वासोच्छ्वाससे रहित ही हो गयी हों । अर्थात् सेनाओंके बोझसे दबकर मानो मर ही गयी हों ॥२१॥ जो पहले कभी सुननेमें नहीं आया था और जिसकी प्रतिध्वनि उठ रही थी ऐसा सेनाका कलकल शब्द सुनकर वनमें रहनेवाले पशु बहुत ही भयभीत और डु खो हो गये थे ॥२२॥ जो अपने शरीरकी अपेक्षा ऐरावत हाथीके समान था, जिसके समस्त अंगो-पांगोका विभाग ठीक-ठीक हुआ था, और जो मधुर गर्जना कर रहा था ऐसा कोई सफेद रंगका हाथी सेनाके क्षोभसे वनके भीतरसे निकलता हुआ बहुत ही अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥२३॥ मेरे मनमें कुछ भी भय नहीं है जिसकी इच्छा हो सो देख ले इस प्रकार दिखलाता हुआ ही मानो कोई सिंह जागकर जमुहाई लेता हुआ मुँह खोल रहा था ॥२४॥ अष्टापद बड़े वेगसे ऊपरकी ओर उछलकर ऊपरकी ओर मुँह करके नीचे पड़ गया था परन्तु बनानेवाले (नामकर्म) की चतुराईसे पीठपरके पैरोसे ठीक-ठीक आ खड़ा हुआ था—उसे कोई चोट नहीं आयी थी ॥२५॥ जो पथरसे अपने कन्धे घिस रहा है, जिसके नेत्र कोधित होनेसे कुछ-कुछ लाल हो रहे हैं और जो खुरोसे पृथिवी खोद रहा है ऐसा एक निर्भय भैसा सेनाके लोगोंने देखा था ॥२६॥ सेनाके शब्द सुननेसे जिनके भय उत्पन्न हो रहा है ऐसे छोटे-छोटे पशु प्रलयकालके समान विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंके मध्य भागका आश्रय ले रहे थे । भावार्थ—जिस प्रकार प्रलयकालके समय जीव विजयार्थकी गुफाओंमें जा छिपते हैं उसी प्रकार उस समय भी अनेक जीव सेनाके शब्दोंसे डरकर विजयार्थकी गुफाओंमें जा छिपे थे ॥२७॥ जिनके पीछे-पीछे वच्चे दौड़ रहे हैं और जिनका शरीर कंप रहा है ऐसे डरे हुए हरिण चारो ओर भाग रहे थे तथा वे उस समय ऐसे मालूम होते थे मानो मयरूपी रससे सींचे ही गये हों ॥२८॥ सेनाके क्षोभसे जिन्होंने जलसे भरे हुए छोटे-छोटे तालाब (तलैया) छोड़ दिये हैं और जिनके झुण्ड बिखर गये हैं ऐसे सूखर अपने उत्तम आहारमें प्रेम छोड़कर इधर-उधर घुस रहे थे ॥२९॥ कितने ही अन्य हाथी भयसे भागकर वृक्षोंसे ढकी हुई जगहमें छिपकर जा खड़े हुए थे और हरिण सिंहोंकी गुफाओं

१ अधिकम् । २ तत्रमु । ३ धवल । ४ रेजे । ५ क्षोभनध्वनिः । ६ सुव्यवसायवयव । ७ देवगण । ८ विद्वत्-मकरोत् । ९ पृष्ठवत्प्रति । १० निर्माणकर्म अथवा निधि । ११ पापाणो लो । १२ रोपेणाशुणीकृतः । १३ निर्भीति । १४ सेनाध्वन्याकर्णनाज्ज्ञात । १५ प्रलयकाले यथा । १६ अनुगता । १७ कम्पमानचरीरा । १८ उच्छ्वाहारभीतिम् । १९ त्यक्तवैशन्ता । २० नश्यन्ति स्म । विविधु लो । २१ विप्रकीर्णवृन्दा । २२ वृक्षविशेषाच्छादना सन्त । २३ सिंह ।

इति सत्त्वा वनस्येव प्राणाः प्रचलिता भृशम् । प्रत्यापत्तिं विरादीयुः सैन्यक्षोभे प्रसेदुषि<sup>१</sup> ॥३१॥  
 'प्रयायानुबन्धं किंचिदन्तरं तदनन्तरम् । रूप्याद्रेर्मध्यमं कृतं संनिष्कृत्य स्थितं बलम् ॥३२॥  
 ततस्तस्मिन् वने मन्दं भ्रष्टां दोलितद्रुमे । नृपाज्ञया बलाध्यक्षा स्कन्धावारं न्यवेक्षयन् ॥३३॥  
 स्वैरं जयद्रुवावासान् सैनिकाः सानुमत्त<sup>२</sup> । स्वयं गलघ्नसूनाँघ्रं घनशाशि घने वने ॥३४॥  
 सरस्तीरतरूपान्तलतामण्डपगोचराः । रम्या वभूजुरावासाः सैनिकानामयजन्तः ॥३५॥  
 वनप्रवेशमुन्मुग्धाः<sup>३</sup> प्राहुर्वैराग्यकारणम् । तत्प्रवेशो<sup>४</sup> यतस्तेषाममवद् रागवृद्धयं ॥३६॥  
 अथ तत्र कृतावासं ज्ञात्वा सनियमं प्रभुम् । अगान्मागववद् ब्रह्मं विजयाद्वाधिपः सुरः ॥३७॥  
 तिरीदशिशरोदग्रो लम्बप्रालम्बनिर्घोर<sup>५</sup> । स भास्वकटको<sup>६</sup> रेजे राजतद्रिखिवापरः ॥३८॥  
 सितांशुकधरः लम्बी हरिचन्दनचर्चितः । स बभौ क्षतरत्नार्धो निधिः शङ्ख इवोन्मिष्रतः ॥३९॥  
 ससंभ्रमं च सोऽभ्येक्ष्य प्रहृतामगमत्वभोः । ससत्कारं च तं चक्री भट्टासनमलम्भयन् ॥४०॥

के भीतर ही जा ठहरे थे ॥३०॥ इस प्रकार वनके प्राणोके समान अत्यन्त चंचल हुए प्राणी सेनाका क्षोभ शान्त होनेपर बहुत देरसे अपने-अपने स्थानोपर वापस लौटे ॥३१॥ तदनन्तर वह सेना वन ही वन कुछ दूर जाकर विजयार्ध पर्वतके पाँचवे कूटके समीप पहुँचकर ठहर गयी ॥३२॥ सेनाके ठहरनेपर सेनापतियोने महाराजकी आज्ञासे, जिसके वृक्ष मन्द-मन्द वायुसे हिल रहे थे ऐसे उस वनमें सेनाके डेरे लगवा दिये थे ॥३३॥ जिसमें अपने आप फूलोके समूह गिर रहे हैं और जो घने-घने लगे हुए वृक्षोसे सघन हैं ऐसे विजयार्ध पर्वतके किनारेके वनमें सैनिक लोगोने अपने इच्छानुसार डेरे ले लिये थे ॥३४॥ सरोवरोके किनारेके वृक्षोके समीप ही जो लतागूहोके स्थान थे वे बिना प्रयत्न किये ही सेनाके लोगोके मनोहर डेरे हो गये थे ॥३५॥ 'वनमें प्रवेश करना वैराग्यका कारण है, ऐसा मूर्ख मनुष्य ही कहते हैं क्योंकि उस वनमें प्रवेश करना उन सैनिकोकी रागवृद्धिका कारण हो रहा था । भावार्थ—वनमें जानेसे सेनाके लोगोका राग बढ़ रहा था इसलिए वनमें जाना वैराग्यका कारण है ऐसा कहनेवाले पुरुष मूर्ख ही हैं ॥३६॥

अथानन्तर—महाराज भरतको वहाँ नियमानुसार ठहरा हुआ जानकर विजयार्ध पर्वतका स्वामी विजयार्ध नामका देव मागध देवके समान भरतके दर्शन करनेके लिए आया ॥३७॥ उस समय वह देव किसी दूसरे विजयार्ध पर्वतके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार विजयार्ध पर्वत शिखरसे ऊँचा है उसी प्रकार वह देव भी मुकुटरूपी शिखरसे ऊँचा था, जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतपर क्षरने क्षरते हैं उसी प्रकार उस देवके गलेमें भी क्षरनों-के समान हार लटक रहे थे और जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतका कटक अर्थात् मध्यभाग देदीप्यमान है उसी प्रकार उसका कटक अर्थात् हाथोका कड़ा भी देदीप्यमान था ॥३८॥ जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए हैं, मालाएँ पहने हैं, जिसके शरीरपर सफेद चन्दन लगा हुआ है और जो रत्नोका अर्ध धारण कर रहा है ऐसा वह देव खड़ी की हुई शंख नामक निधिसे समान सुशोभित हो रहा था ॥३९॥ उस देवने बड़ी घीघ्रताके साथ आकर चक्रवर्तीको नमस्कार किया और

१ पुनस्तत्प्राप्ति पूर्वस्वितिमित्यर्थ । २ जग्मु । ३ प्रशान्ते सति । ४ गत्वा । ५ रौप्यादे ५०, ६०, ८० ।  
 ६ रूप्यादे ५०, ६०, ८० । ६ समीप गत्वा । ७ अद्रिसानी । ८ 'निपु निमित्तसमारोहपरिणाहघनोद्धवनापघनोपच-  
 निधोघसधामूर्त्यत्यादानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा' इति सूत्रेण निमित्तार्थनिषेधो निपातित निमित्त-  
 शब्द समारोहपरिणाहे वर्तते ऊर्ध्वविशालताया वर्तते इत्यर्थ । समारोहपरिणाह 'परिणाहो विशालता' उत्सेधः  
 विशाल इत्यर्थ । अस्मिन्नर्थे घनोद्धवनापघनोपचनिषद्वसंधामूर्त्यत्यादानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा इति  
 निभावमात् सिद्धि । ९ जडा । १० यस्मात् कारणात् । ११ ऋजुलम्बिहारः । १२ करबलयः एव सानु ।



१ गोपायिताऽहमस्याऽग्नेर्मध्यमं कृत्वा त्रयम् । स्वैरचारी चिरादत्र त्वयाऽस्मि परवान् ॥४१॥  
 विद्धि मां विजयाद्विजयसमुच्चैर्गिरिमुज्जितम् । अन्योऽन्यैः संश्रयादावामलज्वावचलस्थिति ॥४२॥  
 देव दिग्विजयस्याद्वैतविजयसंज्ञां सानुमान् । विजयाद्वैतश्रुतिं धत्ते तात्स्थ्यात् तद्द्वयो वयम् ॥४३॥  
 आयुष्मन् युष्मदीयां मूर्त्तिं स्रजमिवोद्बभूव । पदातिनिर्विशेषोऽस्मि विश्वाप्यं किमतः परम् ॥४४॥  
 इति युवन्तयोऽथवा विजैस्तीर्थान्मुनिभिः प्रभुम् । सोऽन्यविजयं सुरैः सार्द्धं स्वं नियोगं निवेदयन् ॥४५॥  
 तदा प्रणेदुरामन्दमानकाः पथि वासुचाम् । विचैरुमस्तौ मन्दमाधूतवनवीथयः ॥४६॥  
 ननुतुः सुरनर्तक्यः सलीलानर्तितश्रुवः । जगुश्च मङ्गलान्यस्य जयवांसीनि किन्नराः ॥४७॥  
 कृतसिपेक्षमेतं च शुभ्रनेपथ्यधारिणम् । युयोज रत्नलामेन लम्पयन् स जयाशिषः ॥४८॥  
 स तस्मै रत्नशृङ्गारं सितमातपवारणम् । प्रकीर्णकं युगं दिव्यं ददौ च हरिविष्टम् ॥४९॥  
 इति प्रसाधितस्तेन वचोभिः सानुवर्तनैः । प्रसादतरङ्गं दृष्टिं तत्र व्यापारयत् प्रभुः ॥५०॥  
 विसर्जितश्च सानुजं प्रभुणा कृतसक्तिभ्यः । भूत्यारवं प्रतिपद्यास्य स्वमोकः प्रत्यगात् सुरः ॥५१॥  
 विजयाद्वैतं जिते कृत्स्नं जितं दक्षिणभारतम् । मन्वानो निधिराट् तच्च चक्ररत्नमपूजयत् ॥५२॥

चक्रवर्तिनी भी उसे सत्कारपूर्वक उत्तम आसनपर बैठाया ॥४०॥ भरतसे उस देवने कहा कि मैं इस पर्वतका रक्षक हूँ और इस पर्वतके बीचके शिखरपर रहता हूँ । हे प्रभो, मैं आजतक अपनी इच्छानुसार रहता था—स्वतन्त्र था परन्तु आज बहुत दिनमें आपके अधीन हुआ हूँ ॥४१॥ मुझे तथा इस ऊँचे पर्वतको आप विजयार्थ जानिए अर्थात् हम दोनोंका नाम विजयार्थ है और हम दोनों ही परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे अलङ्घ्य तथा निश्चल स्थितिसे युक्त हैं ॥४२॥ हे देव, यह पर्वत दिग्विजयका आधा-आधा विभाग करता है इसलिए ही यह विजयार्थ नामको धारण करता है और उसपर रहनेसे मेरा भी विजयार्थ नाम रूढ़ हो गया है ॥४३॥ हे आयुष्मन्, मैं आपकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हूँ और आपके पैदल चलनेवाले एक सैनिकके समान ही हूँ, इसके सिवाय मैं और क्या प्रार्थना करूँ ? ॥४४॥ इस प्रकार कहता हुआ और दिग्विजय करनेवाले चक्रवर्तियोंका अभिषेक करना मेरा काम है इस तरह अपने नियोगकी सूचना करता हुआ वह देव उठा और अनेक देवोंके साथ-साथ कल्याण करनेवाले तीर्थजलसे सन्नाद भरतका अभिषेक करने लगा ॥४५॥ उस समय आकाशमें गम्भीर शब्द करते हुए नगाड़े बज रहे थे और वन-गलियोंको कम्पित करता हुआ वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥४६॥ लीलापूर्वक भाँहोको नचाती हुई नृत्य करनेवाली देवागनाएँ नृत्य कर रही थीं और किन्नर देव भरतकी विजयको सूचित करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे ॥४७॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है और जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए हैं ऐसे भरतको विजय करनेवाला आशीर्वाद देते हुए उस देवने अनेक रत्नोंकी प्राप्तिसे युक्त किया अर्थात् अनेक रत्न भेंट किये ॥४८॥ उस देवने उनके लिए रत्नोंका भूगार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिंहासन भी भेंट किया था ॥४९॥ इस प्रकार ऊपर लिखे हुए सत्कारसे तथा विनय-सहित वचनोंसे प्रसन्न हुए भरतने उस देवपर प्रसन्नतासे चंचल हुई अपनी दृष्टि डाली ॥५०॥ अनन्तर भरतने जिसका आदर-सत्कार किया है और 'जाओ' इस प्रकार आज्ञा देकर जिसे-विदा किया है ऐसा वह विजयार्थ देव उनका दासपना स्वीकार कर अपने स्थानपर वापस चला गया ॥५१॥ विजयार्थ पर्वतके जीत लेनेपर समस्त दक्षिण भारत जीत लिया गया

१ रक्षिता । २ नाथवान् परवज इत्यर्थः । 'परवान्नाथवानपि' इत्यभिधानात् । ३ परस्परमावाधायेरूप-संश्रयात् । ४ तस्मिन् विद्यति इति तत्स्य तस्य भावः तात्स्थ्यम् तस्मात् । ५ विजयार्थ इति रूढयः । ६ पत्तिशब्दः । ७ मङ्गलं । ८ विजयार्थभूगार । ९ चामरयुगलम् ।

गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैश्च सजलाक्षतैः । फलैश्च चरुमिदिव्यैश्च क्रेज्यां निरवर्तयत् ॥५३॥  
 विजयार्द्धजयं<sup>१</sup> स्यात्सीदमन्दोऽस्य जयोद्यमः । उत्तरार्धजयार्णसं<sup>२</sup> प्रत्यागूर्णस्य<sup>३</sup> चक्रिणः ॥५४॥  
 ततः प्रतीपमागच्छ<sup>४</sup> रूप्याद्रेः<sup>५</sup> पश्चिमां गुहाम् । निकं<sup>६</sup> पा वनमारुह्य बलैरीशो न्यविशत ॥५५॥  
 दक्षिणेन तमद्रीन्द<sup>७</sup> मध्ये<sup>८</sup> वेदिकयोर्द्वयोः । वलं निविविशो भर्तुः सिन्धोस्तटवनाद् वहिः ॥५६॥  
 भूयो द्रष्टव्यमश्रितं बह्माश्रयं धराधरे । इति तत्र चिरावासं बहु मेने किलाधिराद् ॥५७॥  
 चिरासचेऽपि<sup>९</sup> तत्रास्य नासीत् स्वल्पोऽप्युपभ्रयः<sup>१०</sup> । प्रत्युतापूर्वलाभेन प्रसुरापूर्थतान्धिबत् ॥५८॥  
 कृतासनं च तत्रैनं श्रुत्वा द्रष्टुमुपागमन् । पार्थिवाः पृथिवीमध्यात् मध्ये<sup>११</sup> नद्योर्द्वयोः स्थितः ॥५९॥  
 दूरानतचलन्मौलिसंदधकरकुट्मलाः<sup>१२</sup> । प्रणमन्तः स्फुटीचक्रुः प्रभौ भक्तिं महोभुजः ॥६०॥  
 कुङ्कुमागर्भं<sup>१३</sup> कर्पूरसुवर्णमणिमौक्तिकैः । रत्नैरन्यैश्च रत्नेशं भक्त्या नर्तुं पः परम् ॥६१॥  
 विज्वागार्प्यमाणस्य रराशिमिरभारतम् । कोशं प्रावेशरत्नानामियथा कोऽस्य निर्णयेत् ॥६२॥  
 देशाभ्यक्षा बलाभ्यक्षैर्वलं सुकृतरक्षणम् । यवसेनान<sup>१४</sup> संचानैस्तदोपजगृ<sup>१५</sup> दुश्चिरम् ॥६३॥  
 उत्तरार्द्धजयोद्योग प्रभोः श्रुत्वा तदागमन् । पार्थिवाः कुरुराजाद्याः<sup>१६</sup> समग्रबलवाहनाः ॥६४॥

ऐसा मानते हुए चक्रवर्तीने चक्ररत्नकी पूजा की ॥५२॥ उन्होंने चक्ररत्नकी पूजा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, जल, अक्षत, फल और दिव्य नैवेद्यके द्वारा की थी ॥५३॥ विजयार्ध पर्वत तक विजय कर लेनेपर भी उत्तरार्धको जीतनेकी आशासे उद्यत हुए चक्रवर्तीका विजयका उद्योग शिथिल नहीं हुआ था ॥५४॥ तदनन्तर—वह भारत कुछ पीछे लौटकर विजयार्ध पर्वतकी पश्चिम गुहाके समीपवर्ती वनको अपनी सेवाके द्वारा घेरकर ठहर गया ॥५५॥ विजयार्ध पर्वतके दक्षिणकी ओर पर्वत तथा वन दोनोंकी वेदियोके बीचमे सिन्धु नदीके किनारेके वनके बाहर भरतकी सेना ठहरी थी ॥५६॥ अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए इस पर्वतपर बहुत कुछ देखने योग्य है यही समक्षकर चक्रवर्तीने वहाँ बहुत दिन तक रहना अच्छा माना था ॥५७॥ वहाँपर बहुत दिनतक रहनेपर भी भरतका थोड़ा भी खर्च नहीं हुआ था, बल्कि अपूर्व-अपूर्व वस्तुओके लाभ होनेसे वह समुद्रके समान भर गया था ॥५८॥ भरतको वहाँ रहता हुआ सुनकर गंगा और सिन्धु दोनों नदियोके बीचमे रहनेवाले अनेक राजा लोग अपनी-अपनी पृथ्वीसे उनके दर्शन करनेके लिए आये थे ॥५९॥ दूरसे श्रुके हुए चंचल मुकुटोंपर जिन्होंने अपने हाथ जोड़कर रखे हैं ऐसे नमस्कार करते हुए राजा लोग महाराज भरतमे अपनी भक्ति प्रकट कर रहे थे ॥६०॥ उन राजाओने केशर, अगुरु, कपूर, सुवर्ण, मोती, रत्न तथा और भी अनेक वस्तुओसे भक्तिपूर्वक चक्रवर्तीका उत्तम सम्मान किया था ॥६१॥ धनकी राशियो-से निरन्तर चारो ओरसे भरते हुए भरतके खजानेमे प्रविष्ट हुए रत्नोंकी मर्यादा (सख्या) का भला कौन निर्णय कर सकता था ? भावार्थ—उसके खजानेमे इतने अधिक रत्न इकट्ठे हो गये थे कि उनकी गणना करना कठिन था ॥६२॥ उस समय समीपवर्ती देशोंके राजाओने, सेनापतियोके द्वारा जिसकी अच्छी तरह रक्षा की गयी है ऐसी भरतकी सेनाको चिरकाल तक भूसा, ई धन आदि वस्तुएँ देकर उपकृत किया था ॥६३॥ महाराज भरत विजयार्ध पर्वतसे उत्तर भागको जीतनेका उद्योग कर रहे हैं यह सुनकर कुरु देशके राजा जयकुमार

१ इच्छामुद्दिश्य । २ उद्यतस्य । ३ पश्चिमदिक्षाम् । ४ रूप्याद्रेः प० । रूप्याद्रे अ०, स०, इ० । ५ वनस्य समीपम् । ६ तस्य अद्रीन्द्रस्य दक्षिणस्या दिशि । ७ पर्वतवेदिकावनवेदिकयोः । ८ बहुकालनिवसने सत्यपि । ९ धनव्ययः । १० पुन किमिति चेत् । ११ गङ्गासिन्धुनदीमध्यात् । १२ कुट्टमला द०, ल०, अ०, स०, इ० । १३ कालागुरु 'कालागुरु' स्याद् इत्यमरः । १४ भाण्डागारप्रवेशयोः । १५ दृष्ट्वा । १६ उपकारं चक्रुः । १७ सोमप्रभुत्राद्याः ।

आहूताः केचिदाजगुः प्रभुणा मण्डलाधिपाः । अनाहूताश्च संभेजुर्विभुं चारभटाः<sup>१</sup> परे ॥६५॥  
 विदेशः<sup>२</sup> किल यातव्यो जेतव्या म्लेच्छभूमिपाः<sup>३</sup> । इति संचिन्त्य सामन्तैः प्रायः सज्जं<sup>४</sup> धनुर्वलम् ॥६६॥  
 धन्विनः शरनाराचसंभृतेषु धिबन्धनैः । न्यवेदयन्निवात्मानमृणदासमधीशिनान् ॥६७॥  
 धनुर्धरा धनुः सज्जन्मो<sup>५</sup> स्फाल्यं<sup>६</sup> चक्रुः<sup>७</sup> परे । चिकीर्षव इवारीणां जीवाकर्षं सहकुताः ॥६८॥  
 करवालान् करे कृत्वा तुल्यन्ति स्म केचन । स्वामिसत्कारभारेण<sup>८</sup> नूनं तान् प्रमिसित्सवः<sup>९</sup> ॥६९॥  
 'संवर्मिता भृशं रेजुमंटाः प्रोह्लासितासयः'<sup>१०</sup> । निर्मो<sup>११</sup> कैरिव<sup>१२</sup> चिद्विलष्टैः<sup>१३</sup> लज्जिह्वामहाहयः ॥७०॥  
 साटोपं स्फुटिताः<sup>१४</sup> केचिद् वल्गन्ति स्माभितो मटाः । अस्त्युद्यताः<sup>१५</sup> पुरोऽरातीन् पश्यन्त<sup>१६</sup> इव संमुखम् ॥  
 'अछैर्ब्यैश्चै' <sup>१७</sup> 'शक्षैश्च शिरक्षैः'<sup>१८</sup> सतनुन्नकैः । द्रुज्ज्वनशालानां<sup>१९</sup> लीलां<sup>२०</sup> रथ्याः सुसंभृता ॥७१॥  
 रथिनो<sup>२१</sup> रथकव्यासु<sup>२२</sup> गुर्वारायुधसंपदः । समारोप्यापि पत्तिभ्यो भेजुरेवातिगौरवम्<sup>२३</sup> ॥७२॥

तथा और भी अनेक राजा लोग अपनी समस्त सेना और सवारियाँ लेकर उसी समय आ पहुँचे ॥६४॥ कितने ही मण्डलेश्वर राजा भरतके बुलाये हुए आये थे और कितने ही शूर वीर लोग बिना बुलाये ही उनके समीप आ उपस्थित हुए थे ॥६५॥ अब विदेशमें जाना है और म्लेच्छ राजाओंको जीतना है यही विचार कर सामन्तोंने प्रायः धनुष-बाणको धारण करने वाली सेना तैयार की थी ॥६६॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धा छोटे-बड़े बाणोंसे भरे हुए तरकसोंके बाँधनेसे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपने स्वामियोंसे यही कह-रहे हो कि हम लोग आपके ऋणके दास हैं अर्थात् आज तक आप लोगोंने जो हमारा भरण-पोषण किया है उसके बदले हम लोग आपकी सेवा करनेके लिए तत्पर हैं ॥६७॥ हुंकार शब्द करते हुए कितने ही धनुषधारी लोग अपने डोरीसहित धनुषको आस्फालन कर खींच रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शत्रुओंके जीवोंको ही खींचना चाहते हो ॥६८॥ कितने ही योद्धा लोग हाथमें तलवार लेकर उसे तोल रहे थे मानो स्वामीसे प्राप्त हुए सत्कारके भारके साथ उसका प्रमाण ही करना चाहते हो ॥६९॥ जो कवच धारण किये हुए हैं और जिनकी तलवारे चमक रही हैं ऐसे कितने ही योद्धा इतने अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनकी काँचली कुछ ढीली हो गयी है और जीभ बार-बार बाहर लपक रही है ऐसे बड़े-बड़े सर्प ही हों ॥७०॥ कितने ही योद्धा अभिमानसहित हाथमें तलवार उठाये और गर्जना करते हुए चारों ओर इस प्रकार घूम रहे थे मानो शत्रुओंको अपने सामने ही देख रहे हो ॥७१॥ आग्नेय बाण आदि अस्त्र, महिस्तम्भ आदि व्यस्त्र, तलवार धनुष आदि शस्त्र, शिरकी रक्षा करनेवाले लोहके टोप और कवच आदिसे भरे हुए रथोंके समूह ठीक आयुधशालाओंकी शोभा धारण कर रहे थे ॥७२॥ रथोंमें सवार होनेवाले योद्धा यद्यपि भारी-भारी शस्त्रोंको रथोंपर रखकर जा रहे थे तथापि

१ वीरभटा । 'शूरवीरश्च विक्रान्तो भरस्वारभटो मतः' इति हल्लायुधः । २ नानादेश । ३ भूभुज म०, द०, अ०, प०, स०, ल०, इ० । ४ सज्जद्वीकृतम् । ५ ज्यासहितम् । ६ आताड्य, टण्टकारं कृत्वा । स्फाल्या चक्रुः व०, द०, अ०, म०, प०, स०, ल०, इ० । ७ आकर्षयन्ति स्म । ८ भारेण सह । ९ प्रमातुमिच्छन् । १० घृतकवचा । ११ प्रकर्षणेऽल्लासितवद्ग्या । १२ शिथिलं । १३ चलत् । १४ आस्फालिते भुजा । १५ खड्गो उद्युवता । १६ शत्रून् प्रत्यक्षमालोकयन्निव । १७ दिव्यायुधै । १८ गरलमुडाद्यायुधै । १९ सामान्यायुधै । २० शीर्षकैः । २१ शस्त्रशालानाम् । २२ वीर्या । २३ रथिका । २४ रथसमूहेषु । २५ अतिश्लाघनम् । अति भारयुक्तमिति ध्वनिः, अत्यर्थं वेग गता इत्यर्थः ।

हस्तिनां पदरक्षायै सुमदा योजिता नृपैः । राजन्यैः सह युध्वानः कृताञ्चाभिनिषादिनः ॥७४॥  
 प्रवीरा राजयुध्वानः क्लृप्ताः पत्तिषु नायकाः । अङ्गीये<sup>१</sup> च ससन्नाहाः<sup>२</sup> सोत्तरङ्गा<sup>३</sup> स्तुरंगिनः ॥७५॥  
 आरचय्य बलान्प्रेके स्थानीक्षांचक्रिरे नृपाः । दण्डमण्डलमोगासंहतव्यूहैः<sup>४</sup> सुयोजितैः ॥७६॥  
 चक्रिणोऽक्षरः<sup>५</sup> कोऽस्य योऽस्मामिः सा<sup>६</sup> ध्यतेऽक्षकैः । भक्तिरेषा तु नः काले प्रमोयं दनुसर्पणम्<sup>७</sup> ॥७७॥  
 प्रमोरवमरः सार्यः प्रसार्य नो यकोधनम् । विरोधिवलमुत्सार्य संधार्य पुरुषवत्तम् ॥७८॥  
 द्रष्टव्या विविधा देगा लब्धव्याश्च जयाशिवः । इत्युदाचक्रिरे<sup>८</sup> अन्योन्यं मटाः स्थायैरुदाहृतैः ॥७९॥  
 गिरिदुर्गोऽयमुल्लङ्घ्यो महयः सरितोऽन्तरा<sup>९</sup> । इत्युपायेक्षिणः केचिदयानं<sup>१०</sup> बहु मेनिरे ॥८०॥  
 इति नानाविधैर्भावैः संजल्यैश्च लब्धव्यताः । प्रस्थिताः सैनिकाः प्रापन् सेद्वरा<sup>११</sup> शिविरं प्रमोः ॥८१॥

वे पैदल चलनेवाले सैनिकोंकी अपेक्षा अधिक गौरव अर्थात् भारीपन ( पक्षमें श्रेष्ठता ) को प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ—पैदल चलनेवाले सैनिक अपने शस्त्र कन्धेपर रखकर जा रहे थे और रथोपर सवार होनेवाले सैनिक अपने सब शस्त्र रथोपर रखकर जा रहे थे तो भी वे पैदल चलनेवालोंकी अपेक्षा अधिक भारी हो रहे थे यह बड़े आश्चर्यकी बात है परन्तु अति गौरव शब्दका अर्थ अतिगय श्रेष्ठता लेनेपर वह आश्चर्य दूर हो जाता है । पैदल सैनिकोंकी अपेक्षा रथपर सवार होनेवाले सैनिक श्रेष्ठ होते ही हैं ॥७३॥ राजाओंने हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिए जिन गूरवीर योद्धाओंको नियुक्त किया था वे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करते थे और उन हाथियोंके चारों ओर विद्यमान रहते थे अथवा समय-पर महाव्रत भी बनाये जाते थे ॥७४॥ जो राजाओंके साथ भी युद्ध करनेवाले थे ऐसे श्रेष्ठ गूरवीर पैदल सेनाके सेनापति बनाये गये और जो घुडसवार क्वच पहने हुए तथा लहराते हुए नदीके प्रवाहके समान थे उन्हें घुडसवार सेनाका सेनापति बनाया था ॥७५॥ कितने ही राजा लोग अच्छी तरह योजित किये हुए दण्डव्यूह, मण्डलव्यूह, भोगव्यूह और असहृतव्यूहसे अपनी सेनाकी रचना कर उसे देख रहे थे ॥७६॥ इस चक्रवर्तीका ऐसा कौन-सा कार्य है जिसका हम तुच्छ लोग स्मरण भी कर सकते हो अर्थात् कार्यका सिद्ध करना तो दूर रहा उसका स्मरण भी नहीं कर सकते, फिर भी हम लोग जो स्वामीके पीछे-पीछे चल रहे हैं सो यह हम लोगोंकी इस समयपर होने वाली भक्ति ही है । हम लोगोंको स्वामीका कार्य सिद्ध करना चाहिए, अपना यशस्वी धन फैलाना चाहिए, अनुगोंकी सेना दूर हटानी चाहिए, पुरुषार्थ धारण करना चाहिए, अनेक देग देखने चाहिए और विजयके अनेक आशीर्वाद प्राप्त करने चाहिए, इस प्रकार प्रगसनीय उदाहरणोंके द्वारा योद्धा लोग परस्परमे बातचीत कर रहे थे ॥७७-७९॥ यह दुर्गम पर्वत उल्लङ्घन करना है और बीचमे बड़ी-बड़ी नदियाँ पार करनी हैं इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओंका विचार करते हुए कितने ही लोग आगे नहीं जाना ही अच्छा समझते थे ॥८०॥ इस प्रकार अनेक प्रकारके भावों और परस्परकी बातचीतके साथ जल्दी उठकर जिन्होंने प्रस्थान किया है ऐसे सैनिक लोग अपने-अपने स्वामियोंसहित चक्रवर्तीके शिविरमे जा पहुँचे ॥८१॥

१ अक्षवस्यूह । २ सकवचा । ३ ऊर्मिसमाना । ४ दण्डादीनि चत्वारि व्यूहभेदानामानि । अत्राभिधानम्-  
 'तिर्यक्वृत्तिस्तु दण्ड स्याद् भोगोऽप्यावृत्तिरेव च । मण्डलं सर्वतो वृत्ति प्रागवृत्तिरसंहृतः' । ५ समय ।  
 ६ स्मर्यते द०, ल०, अ०, प०, ह०, स० । ७ अनुवर्तनम् । ८ प्रापणीयः । ९ ऊचिरे । १० मध्ये मध्ये ।  
 ११ वाहनरहितत्वम् अथवा अगमनम् । १२ निजस्वामिसहिता ।

प्रचेलुः सर्वसामग्र्या नृपा. संभृतकोष्ठिकाः<sup>२</sup> । प्रभोर्विचरं जयोयोगमाकलय्याहिमाचलम् ॥८२॥  
 भटैर्लाकुटिकैः<sup>३</sup> केचिद्वृत्ता लालाटिकैः<sup>४</sup> परे । नृपाः पश्चात्कृतानीका विभोर्निकटमाययुः ॥८३॥  
 समन्वादिति सामन्तैरापतद्भिः ससाधनैः । समिद्धशासनश्चक्री, समेत्य जयकारितं<sup>५</sup> ॥८४॥  
 सामवायिकं सामन्तसमाजैरिति सर्वतः । सरिद्रोघैरिवाम्भोधिरापूर्वत विभोर्वलम् ॥८५॥  
 सवनः<sup>६</sup> सावनिः सोऽद्भिः परितो रुरुधे बलैः । जिनजन्मोत्सवे मेरुनीकैरिव<sup>७</sup> नाकिनाम् ॥८६॥  
 विजयाद्वाचिलप्रस्था<sup>८</sup> विभोरध्यासिता बलैः । स्वर्गात्रासश्रितं तेनुर्विभक्तैर्नृपमन्दिरैः<sup>९</sup> ॥८७॥  
 प्रक्ष्वेलितं<sup>१०</sup> रथं विष्वक् प्रहेषिततुरंगमम् । प्रवृत्तितगजं सैन्यं ध्वनिसादकरोद्<sup>११</sup> गिरिम् ॥८८॥  
 बलध्वानं गुहारन्ध्रैः प्रतिश्रुद्भूतं सुद्वहन् । सोऽद्भिर्द्विचक्रवद्गोघो<sup>१२</sup> ध्रुवं फूत्कारमातनोत् ॥८९॥  
 अत्रान्तरे उवलन्मौलिक्रमापिञ्जरिताम्बरः । ददृशे प्रमुणा ज्योत्स्नि गिरैरवतत् सुरः ॥९०॥  
 स ततोऽवतरन्नद्रेर्बभौ<sup>१३</sup> सानुचरोऽमरः । सवनः<sup>१४</sup> कल्पशास्त्रीव लसदामरणांशुकः ॥९१॥

भरतेश्वरका हिमवात् पर्वत तक विजय प्राप्त करनेका उद्योग बहुत समयमें पूर्ण होगा ऐसा समझकर राजा लोग सब प्रकारकी सामग्रीसे कोठे भर-भरकर निकले ॥८२॥ कितने ही राजा लाठी धारण करनेवाले योद्धाओंके साथ, और कितने ही ललाटकी ओर देखनेवाले उत्तम सेवकोंके साथ, अपनी सेना पीछे छोड़कर भरतके निकट आये ॥८३॥ इस प्रकार अपनी-अपनी सेना सहित चारो ओरसे आते हुए अनेक सामन्तोंने एक जगह इकट्ठे होकर, जिनकी आज्ञा सब जगह देदीप्यमान है ऐसे चक्रवर्तीका जय-जयकर किया ॥८४॥ जिस प्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भर-जाता है उसी प्रकार सहायता देनेवाले सामन्तोंके समूहसे भरतकी सेना सभी ओरसे भर गयी थी ॥८५॥ जिस प्रकार भगवान्‌के जन्म-कल्याणके समय वन और भूमि सहित सुमेरु पर्वत देवोंकी सेनाओंसे भर जाता है उसी प्रकार वह विजयार्थ पर्वत भी वन और भूमिसहित चारो ओरसे सेनाओंसे भर गया था ॥८६॥ भरतकी सेनाओंसे अधिष्ठित हुए विजयार्थ पर्वतके शिखर अलग-अलग तने हुए राजमण्डपोसे स्वर्गकी शोभा धारण कर रहे थे ॥८७॥ जिसमें चारों ओरसे रथ चल रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी गरज रहे हैं ऐसी उस सेनाने उस विजयार्थ पर्वतको एक शब्दोंके ही अधीन कर दिया था अर्थात् शब्दमय बना दिया था ॥८८॥ गुफाओंके छिद्रोंसे जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है ऐसे सेना-के शब्दोंको धारण करता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो सेनासे घिर जानेके कारण फू फू शब्द ही कर रहा हो अर्थात् रो ही रहा हो ॥८९॥

इसी बीचमें भरतने, देदीप्यमान मुकुटकी कान्तिसे जिसने आकाशको भी पीला कर दिया है और जो पर्वतपर-से नीचे उतर रहा है ऐसा एक देव आकाशमें देखा ॥९०॥ जिसके आभूषण तथा वस्त्र देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा वह देव अपने सेवकोंसहित उस पर्वतसे उतरता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसके आभूषण और वस्त्र देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा वनसहित

१ भूपाः ल० । २ तण्डुलादिभारवाहकबलीबर्दाः । ३ लकुटम् आयुधं येषां तै । ४ प्रभोर्भविर्दाशिभि 'लालाटिक प्रभोर्भविर्दशी कार्यसमश्च य' इत्यभिधानात् । ५ जयकारं नीत सजातजयकारो वा जय जयेति स्तुत इति यावत् । ६ मिलित । ७ वनसहित । ८ अवनिसहितः । ९ सैन्ये । १० सानव । ११ मण्डलैः ल० । १२ सिंहनादित 'ध्वेहा तु सिंहनाद स्यात्' इत्यभिधानात् । १३ शब्दमयमकरोत् । १४ प्रतिध्वनिभूतम् 'सती प्रतिश्रुतप्रतिश्राने' इत्यभिधानात् । १५ उत्कटशेनानिरोध । १६ अनुचरैः सहित । १७ वनेन सहितः

दिव्यः प्रभान्वयः<sup>१</sup> कोऽपि संमूर्च्छति<sup>२</sup> किमग्रे । तद्विष्णुः किमग्न्यचिरिति<sup>३</sup> दृष्टः क्षणं जनैः ॥६९॥  
 किमप्येतदधिप्येतदिति<sup>४</sup>त्यादावविशेषतः । पश्चादवयवव्यक्त्या प्रत्यक्षपुरुषाकृतिः ॥९३॥  
 कृतमालभ्रुतिव्यक्त्यै<sup>५</sup> कृतमालः स चम्यकैः । कृतमाल इवोक्नुहो निदध्यै<sup>६</sup> प्रमुणाऽग्रतः ॥९४॥  
 सप्रणमं च संप्राप्तं तं वीक्ष्य सहसा विभुः । यथाहंप्रतिपत्त्याऽस्मा आसनं प्रत्यपादयत्<sup>७</sup> ॥९५॥  
 प्रमुणाऽनुमतदवाचं कृतमालपरिग्रहः । क्षणं त्रिसिंस्थये पश्यन् धामां मुव्यार्ति मानुषम्<sup>८</sup> ॥९६॥  
 संभाषितश्च सञ्जाता पूर्व<sup>९</sup> पूर्वाह्णमापिणा । सुरः प्रचक्रमे वक्तुमिति प्रश्रयवद्भवः ॥९७॥  
 क्व वयं क्षुद्रका देवः क्व मवान् दिव्यमानुषः । पौतन्य<sup>१०</sup> मुचितं मन्ये<sup>११</sup> वाचाटयति<sup>१२</sup> नः स्फुटम् ॥९८॥  
 आयुष्मन् कुशलं प्रष्टुं जिहीमः<sup>१३</sup> शासितुस्तव । स्वदायता यतः<sup>१४</sup> कृत्स्ना जगतः कुशलक्रिया ॥९९॥  
 लोबस्य कुशलाधाने<sup>१५</sup> निरुद्धं<sup>१६</sup> यस्य कौशलम् । कुशलं<sup>१७</sup> दक्षिणस्याऽस्य बाहोस्ते क्षमां जिगीपतः १००  
 देवानां प्रियं देवत्वं तवाशेषजगज्जयात् । नाम्नैव तु वयं देवा जातिमात्रकृतोक्तयः ॥१०१॥  
 गीर्वाणा<sup>१८</sup> वयमन्यत्र<sup>१९</sup> जिगीषी शितगीद्वरा<sup>२०</sup> । स्वयि<sup>२१</sup> कुण्ठगिरौ<sup>२२</sup> जाताः प्रसल्लद्वर्गवर्गद्वग्दाः १०२

कल्पवृक्ष ही हो ॥९१॥ क्या कोई दिव्य प्रभुका समूह आकाशमें फैल रहा है ? अथवा क्या विजलीका समूह है ? अथवा क्या अग्निकी ज्वाला है ? इस प्रकार अनेक कल्पनाओं-से लोगोंने जिसे क्षण-भर देखा था जो पहले तो यह कोई कान्तिका समूह है इस प्रकार सामान्य रूपसे देखा गया था, परन्तु बादमें अवयवोंके प्रकट होनेसे जिसका पुरुषका-सा आकार साफ-साफ प्रकट हो रहा था, जो अपना कृतमाल नाम प्रकट करनेके लिए चम्पाके फूलोंकी माला पहने हुआ था और जो उससे फूले हुए कृतमाल वृक्षके समान जान पड़ता था ऐसे उस देवकी चक्रवर्ती भरतने अपने सामने खड़ा हुआ देखा ॥९२-९४॥ आनेके साथ ही नमस्कार करते हुए उस देवको अकस्मात् अपने सामने देखकर भरतने उसे यथायोग्य सत्कारके साथ आसन दिया ॥९५॥ भरतकी आज्ञासे वह देव आसनपर बैठा और उनके लोकोत्तर तेजको देखता हुआ क्षण-भरके लिए आश्चर्य करने लगा ॥९६॥ प्रथम ही, पहले बोलनेवाले सम्राट भरतने जिसके साथ बातचीत की है ऐसा वह देव नीचे लिखे अनुसार विनयसहित वचन कहने लगा ॥९७॥ हे देव, हम क्षुद्र देव कहाँ ? और आप दिव्य मनुष्य कहाँ ? तथापि मैं ऐसा मानता हूँ कि हम लोगोका यथायोग्य देवपना ही हम लोगोको स्पष्ट रूपसे वाचालित कर रहा है अर्थात् जबरदस्ती बुलवा रहा है ॥९८॥ हे आयुष्मन्, आप-जैसे शासन करनेवालोका कुशल-मंगल पूछनेके लिए हम लोग लज्जित हो रहे हैं क्योंकि इस जगत्का सब तरहका कल्याण करना आपके ही अधीन है ॥९९॥ जगत्का कल्याण करनेके लिए जिसकी चतुराई प्रसिद्ध है और जो समस्त पृथिवीकी जीतना चाहती है ऐसी आपकी इस दाहिनी भुजाकी कुशलता है न ? ॥१००॥ हे देव, आप देवोंके भी प्रिय हैं, आपने समस्त जगत्की जीत लिया है इसलिए यह देवपना आपके ही योग्य है हम लोग तो अत्यन्त तुच्छ देव हैं-केवल देव जातिमें जन्म होनेसे ही देव कहलाने लगे हैं । यहाँ पर 'देवानां' 'प्रियं' ये दोनों ही पद पृथक्-पृथक् हैं, अथवा ऐसा

१ प्रभासतान । २ व्यार्ज्यते । ३ अग्निविश्रामतिक्रान्त । ४ कृतमालनामा । कृतमाल आरम्भवः । 'आरम्भवे राजवृक्ष गम्भाकचतुरगुला । आरवतव्याधिघातकृतमालसुवर्णका ॥' इत्यभिधानात् । ५ दृश्यते स्म । ६ प्रापयत् । ७ तेज । ८ चक्रिण । ९ यानुषमतीतम् । १० संस्कृतमापिणा । पूर्वाभि—अ०, प०, स०, द०, ल० । ११ पूतानाम् अपत्यं पौतन तस्य भावः पौतन्यम् । देवत्वमित्यर्थः । १२ नूनम् । १३ वाचां करोति । १४ लज्जामहे । १५ यस्मात् कारणात् । १६ क्षेमकरणे । १७ प्रस्थातम् । १८ क्षेम किम् । १९ गीरेव शापानुग्रह-समर्था वाणाः सावर्नं निग्रहानुग्रहयोरेषामिति गीर्वाणा देवा इत्यर्थः । २० जिगीषो त्वत् अन्वयः । २१ शीत-शीतवरा दृष्टं । मन्दानामीश्वरा इत्यर्थः । शीते जेरते एते शीतवयः तेषामीश्वरा क्रियासु मन्दानामीश्वरा इत्यर्थः । 'मूढाल्पापटुनिर्भाया । मन्दा स्युः ।' इत्यमरः । २२ मन्दवचसः ।

राजोक्तिस्त्वयि राजेन्द्र राजतेऽनन्यगामिनी । अलण्डमण्डलां कृत्स्नां षट्खण्डां गां नियच्छति ॥१०३॥  
 चक्रात्मना ज्वलत्येव प्रतापस्तव दुःसहः । प्रयते दण्डनीतिश्च दण्डरत्नछलाद् विमोः ॥१०४॥  
 ईशितव्या मही कृत्स्ना स्वतन्त्रस्त्वमसीश्वरः । निधिरजर्द्धिरैश्वर्यं कः परस्वाद्याः प्रभुः ॥१०५॥  
 अमत्येकाकिनी लोकं शश्वक्तीतिरनगला । सरस्वती च वाचाला कथं ते ते प्रिये प्रभोः ॥१०६॥  
 इति प्रतीतमाहात्म्यं त्वां समाजयितुं दिवः । त्वद्वलध्वानसंक्षोभसाध्वसाद् वयमागताः ॥१०७॥  
 कूटस्था वयमस्याद्रेः स्वपदाद्विचालिनः । भूमिमेतावती तावत् त्वया देवावतारिताः ॥१०८॥  
 विप्रकृष्टान्तरावासवासिनो व्यन्तरा वयम् । संविधेयास्त्वये दानीं प्रत्यासज्जाः पदातयः ॥१०९॥  
 विद्धि मां विजयाद्वैश्य मर्मज्ञममृताशनम् । कृतमालं गिरेरस्य कूटेऽमुष्मिन् कृतालयम् ॥११०॥  
 मयि स्वलाकृते देव स्वीकृतोऽयं महाचलः । सगुहाकाननस्थास्य गिरेर्गर्भविदस्यहम् ॥१११॥  
 गर्भजोऽहं गिरेरस्मीत्यल्पमिदमुच्यते । द्वीपाब्धिबलयै कृत्स्ने नास्माकं कोऽप्यगोचरः ॥११२॥

अर्थ करना चाहिए कि हे प्रिय, समस्त जगत्को जीतनेसे आप देवोके भी देव है ॥१०१॥  
 हम गीर्वाण हैं और आपके अतिरिक्त विजयकी इच्छा करनेवाले किसी दूसरे पुरुषके विषय-  
 में यद्यपि हम वचनरूपी तीक्ष्ण बाणोको धारण करते हैं तथापि आपके विषयमें हम लोग  
 कुण्ठितवचन हो रहे हैं, हमारा अहंकार जाता रहा है और हमारे वचन गद्गद स्वरसे निकल  
 रहे हैं ॥१०२॥ हे राजेन्द्र, आप छह खण्डोंमें बँटी हुई समस्त प्रदेशसहित इस सम्पूर्ण पृथिवी-  
 का शासन करते हैं इसलिए दूसरी जगह नहीं रहनेवाली राजोक्ति आपमें ही सुशोभित हो  
 रही है—आप ही वास्तवमें राजा है ॥१०३॥ हे विभो, चक्ररत्नके वहानेसे यह आपका  
 दुःसह प्रताप देदीप्यमान हो रहा है और दण्डरत्नके छलसे आपकी दण्डनीति प्रसिद्ध हो रही  
 है ॥१०४॥ यह समस्त पृथिवी आपके अधीन है—पालन करने योग्य है, आप इसके स्वतन्त्र  
 ईश्वर हैं और निधियां तथा रत्न ही आपका ऐश्वर्य है इसलिए आपके समान ऐश्वर्यवाली  
 दूसरा कौन है ? ॥१०५॥ हे प्रभो, आपकी कीर्ति स्वच्छन्द होकर समस्त लोकमें सदा  
 अकेली फिरा करती है और सरस्वती वाचाल है अर्थात् बहुत बोलनेवाली है फिर भी न जाने  
 ये दोनों ही स्त्रियाँ आपको प्रिय क्यों हैं ? ॥१०६॥ इस प्रकार जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध  
 है ऐसे आपकी सेवा करनेके लिए हम लोग आपकी सेनाके शब्दके क्षोभसे भयभीत हो आकाश-  
 से यहाँ आये हैं ॥१०७॥ हे देव, हम लोग इस पर्वतके शिखरपर रहते हैं और  
 अपने स्थानसे कभी भी विचलित नहीं होते परन्तु इस भूमिपर आपके द्वारा ही अवतारित हुए  
 हैं—उतारे गये हैं ॥१०८॥ हम लोग दूर-दूर तक अनेक स्थानोंमें रहनेवाले व्यन्तर हैं अब आप  
 हम लोगोको अपने समीप रहनेवाले सेवक बना लीजिए ॥१०९॥ आप मुझे इस पर्वतके इस  
 शिखरपर रहनेवाला और विजयार्थ पर्वतका मर्म जाननेवाला कृतमाल नामका देव जानिए  
 ॥११०॥ हे देव, आपने मुझे वश कर लिया है इसलिए इस महापर्वतको अपने अधीन हुआ  
 ही समझिए क्योंकि मैं गुफाओं और वनसहित इस पर्वतका समस्त भीतरी हाल जानता हूँ  
 ॥१११॥ अथवा मैं इस पर्वतका भीतरी हाल जाननेवाला हूँ यह बहुत ही थोड़ा कहा गया  
 है क्योंकि समस्त द्वीप और समुद्रोके भीतर ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जो हम लोगोका जाना

१ राजेति शब्द । २ शासति । ३ ऐश्वर्यवती भवितु योग्या । ४ प्रतिबन्धरहिता । ५ कीर्तिसरस्वती ।  
 ६ प्रियतमे (बभूवतु) । ७ सेवितुम् । ८ स्वस्थानात् । ९ एतावद्भूमिपर्यन्तम् । 'यावत्तावच्च साकल्येऽप्यो  
 मानेऽवधारणे' । १० सविधापयितुं योग्या । ११ त्वदधीने कृते ।

<sup>१</sup> वटस्थानवटस्यांश्च <sup>२</sup> कूटस्थान् कोटरोटजान् । <sup>३</sup> अक्षपाटान् क्षपाटान्श्च विद्धिनः सार्वसर्वगान् ॥ ११३ ॥  
इति प्रथान्तमोजस्विं वचः संमाप्य सादरम् । सोऽमरो विर्तितारास्मि भूषणानि चतुर्दश ॥ ११४ ॥  
तान्यनन्योपलभ्यानि प्राप्य चक्री प्ररां मुदम् । भेजे <sup>४</sup> तत्कृतसत्कारैः सुतः सोऽप्यप्य संमदम् ॥ ११५ ॥  
तं रूपयाद्रिगुहाद्वारप्रवेशोपायशंसिनम् । प्रविशज्य स्वसेनान्यं प्राहिणोत् प्रभुरग्रतः ॥ ११६ ॥  
त्वमुद्घाटय गुहाद्वारं यावन्नचिति <sup>५</sup> सा गुहा । तावत् पाश्चात्यखण्डस्य <sup>६</sup> निर्जयाय कुरुक्षमम् ॥ ११७ ॥  
इति चक्रधरादेशं <sup>७</sup> मूर्ध्ना माल्यमिवोद्गहत् । कृतमालामरोद्विष्टकृत्योपायप्रयोगवित् ॥ ११८ ॥  
कृती कतिपयैरेष तुरगैः सपरिच्छदैः । प्रतस्थे वाजिरत्नेन दण्डपाणिश्चमूपतिः ॥ ११९ ॥  
किंचिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम् । विगाह्य विजयार्धस्य संप्राप्य तटवेदिकाम् ॥ १२० ॥  
तत्तोपानेन रूप्याभ्रैराकृष्ट जगतीतलम् । प्रत्यङ्मुखो <sup>८</sup> गुहोत्तरंगं माससाद चमूपतिः ॥ १२१ ॥  
जयताश्चक्रवर्तीति सोऽभ्ररत्नमधिहितः <sup>९</sup> । दण्डेन <sup>१०</sup> ताडयामास गुहाद्वारं स्फुरद्भवनिः ॥ १२२ ॥  
दण्डरत्नाभिघातेन गुहाद्वारे निरगले <sup>११</sup> । तद्गामाद् ब्रह्मानुष्मा निर्गमौ किल संततः <sup>१२</sup> ॥ १२३ ॥  
दण्डदण्डाभिघातोत्थं <sup>१३</sup> क्रोद्धारमररीपुटम् <sup>१४</sup> । सवेदनमिवास्वेदि <sup>१५</sup> निर्गतासु गुहोष्मणा ॥ १२४ ॥

हुआ न हो ॥ ११२ ॥ हे सार्व अर्थात् सबका हित करनेवाले, वटके वृक्षोंपर, छोटे-छोटे गड्ढोंमें, पहाड़ोंके शिखरोंपर, वृक्षोंकी खोली और पत्तोंकी झोपड़ियोंमें रहनेवाले तथा दिन और रात्रिमें भ्रमण करनेवाले हम लोगोंको आप सब जगह जानेवाले समझिए ॥ ११३ ॥ इस प्रकार आदरसहित शान्त और ओजपूर्ण वचन कहकर उस देवने भरतके लिए चौदह आभूषण दिये ॥ ११४ ॥ जो किसी दूसरेको प्राप्त नहीं हो सकते थे ऐसे उन आभूषणोंको पाकर चक्रवर्ती परम हर्षको प्राप्त हुए और चक्रवर्तीके द्वारा किये हुए सत्कारोंसे वह देव भी अत्यन्त हर्षको प्राप्त हुआ ॥ ११५ ॥ तदनन्तर विजयार्ध पर्वतकी गुफाके द्वारसे प्रवेश करनेका उपाय बतलाने-वाले उस देवको भरत चक्रवर्तीने विदा किया और गुफाका द्वार खोलनेके लिए सबसे आगे अपना सेनापति भेजा ॥ ११६ ॥ चक्रवर्तीने सेनापतिसे कहा कि तुम गुफाका द्वार उवाड़कर जबतक गुफा शान्त हो तबतक पश्चिम खण्डको जीतनेका उद्योग करो ॥ ११७ ॥ इस प्रकार चक्रवर्तीकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हुआ और कृतमाल देवके द्वारा बतलाये हुए समस्त उपायोंके प्रयोगको जाननेवाला वह चतुर सेनापति कुछ धोड़े और सैनिकोंके साथ दण्डरत्न हाथमें लेकर अश्वरत्नपर आरूढ होकर चला ॥ ११८-११९ ॥ और कुछ थोड़ी दूर जाकर तथा सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लङ्घन कर विजयार्ध पर्वतके तटकी वेदीपर जा पहुँचा ॥ १२० ॥ प्रथम ही वह सेनापति सीढ़ियोंके द्वारा विजयार्ध पर्वतकी वेदिकापर चढ़ा और फिर पश्चिमकी ओर मुँहकर गुफाके आगे जा पहुँचा ॥ १२१ ॥ अश्वरत्नपर बैठे हुए सेनापतिने चक्रवर्तीकी जय हो इस प्रकार कहकर दण्डरत्नसे गुफाद्वारका ताड़न किया जिससे बड़ा भारी शब्द हुआ ॥ १२२ ॥ दण्डरत्नकी चोटसे गुफाका द्वार खुल जानेपर उसके भीतरसे बड़ी भारी गरमी निकलने लगी ॥ १२३ ॥ दण्डरत्नके प्रहारसे उत्पन्न हुए क्रोद्धार अन्दको धारण करते हुए दोनों किवाड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो वेदनासे सहित होनेके

१ न्यग्रोवस्थान् । २ पातालस्थान् । 'गतावटी भुवि श्वभ्रे' इत्यभिधानान् । ध्वजगतावटागादा भुवो विवर-वाचका' इति कात्येनोक्तम् । ३ वृक्षविवरणंशालाम् आशान् 'पर्णमालोद्विष्टाग्राम्' इत्यभिधानान् । ४ राक्षसेभ्योऽप्यान् । ५ सपा रात्रि तन्मामटन्तोति क्षराटा तान् राक्षसानित्यर्थ । 'पल्लवो रात्रिमटो राक्षटो जललोहित' इत्यभिधानात् । ६ सहितान् । ७ तेजोऽग्नितम् । ८ वदो । ९ त्रिजगदिचतुर्दशभरणानि । १० चक्रकृत । ११ उपशान्तिमेति । १२ पश्चिमखण्डस्य । १३ आजाम् । १४ पश्चिमभिमुखम् । १५ समीपम् । १६ आरूढ । १७ दण्डरत्नेन । १८ अगलरहिते सति । १९ विस्तृत । २० ध्वनिनिर्गमः । २१ कवाटयुगलम् 'कवाटमररं तुल्यं' इत्यभिधानात् । २२ स्विच्छति स्थ स्वेदितमित्यर्थ ।



उदादितिकवायेन हारेणोष्माणमुद्गमन् । राजा राजतः शैलो लब्धोच्छ्वासश्चिरादिव ॥१२५॥  
 कवाटपुटविशेषादुच्चचार महान् ध्वनिः । दण्डेनाभिहतस्याद्वैराक्रोश इव दिस्फुरन् ॥१२६॥  
 शुभोष्मणा स नाटलेषि<sup>१</sup> विद्वरम्पवाहितः<sup>२</sup> । तरश्चिनाश्चरतेन देवताभिश्च रक्षितः ॥१२७॥  
 निपेतुरमरखीणां दृक्क्षेपैः समसम्बरात् । सुमनःप्रकरास्तस्मिन् हासा इव जयधियः ॥१२८॥  
 तटवेदीं सतोपानां रूपाद्भेः समतीथिवान् । सोऽथैव<sup>३</sup> सतीरणां सिन्धोः पश्चिमां वनवेदिकाम् ॥१२९॥  
 वेदिकां तामतिरम्य संगमाहो<sup>४</sup> परां<sup>५</sup> भुवम् । नानाकरपुरमामसीमाराभैरलंघयाम् ॥१३०॥  
 प्रविष्टमात्र पृवास्मिन् प्रजास्थासमुपाययुः । सयं<sup>६</sup> दारगवैरन्या पटन्ते स्म<sup>७</sup> पलायितम् ॥१३१॥  
 केचित् कृतधियो धीराः सार्धाः पुण्याक्षतादिभिः । प्रत्यग्रहीपुरम्येत्य सबलं बलनायकम् ॥१३२॥  
 न भेतन्यं न भेतन्यमाध्वमाध्वं यथासुखम् । इत्य<sup>८</sup> स्याद्वाकरा<sup>९</sup> विष्यग्नोमुरावासितपजाः ॥१३३॥  
 म्लेच्छखण्डमखण्डाः पश्चिमाम् प्रदक्षिणम् । तत्र तत्र विभीराज्ञां म्लेच्छराजैरजिगृहत्<sup>१०</sup> ॥१३४॥  
 इदं चक्रधरक्षेत्रं स वैष निरुदे<sup>११</sup> प्रभुः । तमाराधयितुं शूयं स्वरथं सह साधवैः ॥१३५॥  
 भरतस्थादिराजस्य चक्रिणोऽप्रतिशासनम्<sup>१२</sup> । शासनं शिरसा दध्वं<sup>१३</sup> यूयमित्यन्वशाध<sup>१४</sup> ताम् ॥१३६॥

कारण चित्ता ही रहे हों, उन्हें दुःखसे पसीना ही आ गया हो और गुफाके भीतरकी गरमी-से उनके प्राण ही निकले जा रहे हों ॥१२५॥ जिसके किवाड़ खुल गये हैं ऐसे द्वारसे गरमी-को निकालता हुआ वह विजयार्थ पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत दिन बाद उसने उच्छ्वास ही लिया हो ॥१२५॥ दोनों किवाड़ोंके खुलनेसे एक बड़ा भारी शब्द हुआ था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो दण्डरत्नके द्वारा ताड़ित हुए पर्वतके रोनेका शब्द ही हो ॥१२६॥ वेगशाली अश्वरत्न जिसे बहुत दूर तक भगा ले गया है और देवताओंने जिसकी रक्षा की है ऐसे उस सेनापतिको गुफाकी गरमी छू भी नहीं सकी थी ॥१२७॥ उस समय उस सेना-पतिपर देवांगनाओंके कटाक्षोंके साथ-साथ आकाशसे फूलोंके समूह पड़ रहे थे और वे जपलक्ष्मी-के हासके समान जान पड़ते थे ॥१२८॥ सेनापति सीद्धियोंसहित विजयार्थ पर्वतके किनारे-को वेदीको उल्लंघन करता हुआ तोरणसहित सिन्धु नदीके पश्चिम ओरवाली वनकी वेदिका के सम्मुख पहुँचा ॥१२९॥ उसने उस वेदिकाको भी उल्लंघन कर अनेक ज्ञानि, पुर, ग्राम, सीमा और बाग-बगीचोंसे सुन्दर म्लेच्छखण्डकी उत्तम भूमिमें प्रवेश किया ॥१३०॥ उस भूमिमें सेनापतिके प्रवेश करते ही वहाँकी समस्त प्रजा घबड़ा गयी, उसमें-से कितने ही लोग स्त्रियों तथा गाय-भैस आदिके साथ भागनेके लिए तैयार हो गये ॥१३१॥ कितने ही बुद्धिमान् तथा धीर वीर पुरुष पवित्र अक्षत आदिका बना हुआ अर्घ लेकर सेनासहित सेनापतिके सम्मुख गये और उसका सत्कार किया ॥१३२॥ अरे डरो मत, डरो मत, जिसको जिस प्रकार सुख हो उसी प्रकार रहो इस प्रकार प्रजाको आस्वासन देते हुए चक्रवर्तीके सेवक चारों ओर घूमे थे ॥१३३॥ अखण्ड आज्ञाको धारण करनेवाला वह सेनापति प्रदक्षिणा रूपसे म्लेच्छखण्ड में घूमता हुआ जगह-जगह म्लेच्छ राजाओंसे चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकृत करवाता जाता था ॥१३४॥ सेनापतिने म्लेच्छ राजाओंको यह भी सिखलाया कि यह चक्रवर्तीका क्षेत्र है और वह प्रसिद्ध चक्रवर्ती समीप ही है इसलिए तुम सब अपनी-अपनी सेनाओंके साथ उनकी सेवा करनेके लिए शोधाता करो । चक्रवर्ती भरत इस युगके प्रथम अपना सबसे मुख्य राजा है इसलिए कभी भंग नहीं होनेवाली उनकी आज्ञाको तुम सब अपने मस्तकपर धारण करो ॥१३५-१३६॥

१ न आलिङ्गितः । २ अपनीतः । ३ अम्पयच्छत् । ४ प्रविशति स्म । ५ पलायिताम् । ६ (हृदयमासः) कलधेनुभिः । ७ चेष्टन्ते स्म । ८ यथासुतं लिखत । ९ सेवान्यः । १० भुव्याः । ११ अथाहं यत् । १२ समीपे आस्ते । १३ न विपत्ते पतिशान्तं यस्म । १४ धारयत । १५ शास्ति स्म ।

ज्ञाता वर्यं चिरादय सनाथा रत्युदागिपः<sup>१</sup> । कंचिच्चकधरस्याज्ञामशङ्क<sup>२</sup> प्रत्यपत्सत्<sup>३</sup> ॥१३७॥  
 संधिविग्रहयानादिपादगुण्यकृतविग्रहाः । बलाद् प्रमाणिताः केचिद् गुण्यकृतवृद्धिपाताः ॥१३८॥  
 कांश्चिदुगाथितान् म्लेच्छानवस्कन्दनिरोधनैः । सेनानीवंशमानिन्ये नमत्यज्ञोऽधिक क्षतः ॥१३९॥  
 केचिद् बलैरवष्टब्धा स्तस्योडां सोढुमक्षमाः । शासने चक्रिणस्तस्थुः स्नेहो नार्पणितान् गलत् ॥१४०॥  
 ह्युपायैरपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः । तेभ्यः कन्याद्विरतानि प्रभोग्याग्न्युपाहरत् ॥१४१॥  
 धर्मकर्मवहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः । अन्यथाऽन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः ॥१४२॥  
 इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमिं धर्मकर्मणाम् । म्लेच्छराजवलेः सार्द्धं सेनानीन्वृत्तत् पुनः ॥१४३॥  
 राज्ञ राजराजस्य साक्षरवल्कमूपतिः । सिद्धदिग्विजयी जैत्रः प्रताप इव मूर्तिमान् ॥१४४॥  
 सतोरणामतिक्रम्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम् । विगाढश्च<sup>४</sup> सतोपानां रूप्याद्रेस्तद्वेदिकाम् ॥१४५॥  
 आरूढो जगतीमद्रेच्छूदोरको<sup>५</sup> महाभुजः । पद्मिमांसैः प्रक्षान्तोऽप्यसौऽध्यवासीद्<sup>६</sup> गुहामुखम्<sup>७</sup> ॥१४६॥  
 तत्रासीनश्च संशोष्य बहूपाय गुहोहरम् । कृतारक्षोविधिः सम्यक् प्रत्यायाचिच्छिरं<sup>८</sup> प्रभोः ॥१४७॥

‘आज हम लोग बहुत दिनमें सनाथ हुए हैं इसलिए जोर-जोरसे आशीर्वाद देते हुए कितने ही बुद्धिमान् लोगोंने चक्रवर्तीको आज्ञा स्वीकृत की थी ॥१३७॥ जिन्होंने सन्धि, विग्रह और यान आदि छह गुणोंमें अपना पराक्रम दिखाया था और जो थोड़े-से ही ऐक्कमेंसे उन्नत हो गये थे ऐसे कितने ही राजाओंसे सेनापतिने जबरदस्ती प्रणाम कराया था ॥१३८॥ किलेके भीतर रहनेवाले कितने ही म्लेच्छ राजाओंको सेनापतिने उनका चारों ओरसे आवागमन रोककर बंध किया था सो ठीक ही है क्योंकि अज्ञानी लोग अधिक दुःखी किये जानेपर ही नम्रोभूत होते हैं ॥१३९॥ कितने ही राजा लोग सेनाओंके द्वारा घिरकर उससे उत्पन्न हुए दुःखको सहन करनेके लिए असमर्थ हो चक्रवर्तीके शासनमें स्थित हुए थे, सो ठीक ही है क्योंकि बिना पेल खल अर्थात् खलीसे स्नेह अर्थात् तेल उत्पन्न नहीं होता ( पक्षमें बिना दुःखी किये हुए खल अर्थात् दुर्जनसे स्नेह अर्थात् प्रेम उत्पन्न नहीं होता ) ॥१४०॥ इस प्रकार उपायोको जाननेवाले सेनापतिने अनेक उपायोके द्वारा म्लेच्छ राजाओंको बंध किया और उनसे चक्रवर्तीके उपभोगके योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेटमें लिये ॥१४१॥ ये लोग धर्मक्रियाओंसे रहित हैं इसलिए म्लेच्छ माने गये हैं, धर्मक्रियाओंके सिवाय अन्य आचरणोंसे आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले लोगोंके समान हैं ॥१४२॥ इस प्रकार वह सेनापति, धर्मक्रियाओंसे रहित उस म्लेच्छभूमिको बंध कर म्लेच्छराजाओंकी सेनाके साथ फिर वापस लौटा ॥१४३॥ जिसने दिग्विजय कर लिया है, सबको जीतना ही जिसका स्वभाव है, और जो अश्वरत्नसे सहित है ऐसा वह राजाधि-राज भरतका सेनापति ऐसा सुगोमित हो रहा था मानो मूर्तिमान् प्रताप ही हो ॥१४४॥ तोरणोंसहित सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लंघन कर वह सेनापति सीढियोंसहित विजयार्थ पर्वतके वनकी वेदीपर जा चढ़ा ॥१४५॥ जिसका बध-स्थल बहुत बड़ा है और जिसकी भुजाएँ बहुत लम्बी हैं ऐसा वह सेनापति पर्वतकी वेदिकापर चढ़कर छह महीनेमें जिसकी गरमी शान्त हो गयी है ऐसी गुफाके द्वारपर ठहर गया ॥१४६॥ वहाँ ठहरकर उसने अनेक विज्ञो-से भरे हुए गुफाके भीतरी भागको बुद्ध ( साफ ) कराया और फिर अच्छी तरहसे उसकी रक्षा

१ उद्यताशीर्वचना । २ निष्कपटवृत्तयो भूत्वा । ३ अङ्गीकार कृतवन्त । ४ घाटीनिरोधनैः । निग्रहस्तु निरोध स्याद् इत्यमरः । अम्मासावनात्मकनिग्रहैः । उक्तं च विदग्धचूडामणौ ‘अभ्यवस्कन्दनं त्वस्यासाधनम्’ ( धरेका नाम ) । ५ अधिक पीडितो भूत्वा । ६ वेष्टिता । ७ विवाहादिभिः । ८ पुण्यभूम्या आर्याखण्डे-नेत्यर्थः । ‘आर्यावर्तं पुण्यभूमिः’ इत्यभिधानात् । ९ अस्थानम् । १० प्रविष्टः । ११ विशालवज्रस्थलः । १२ तस्यो १ । १३ गुहाद्वारम् । १४ स्कन्धावार प्रत्यागात् ।

अथ संमुखमागत्य 'सानीकैर्नृपसत्तमैः । प्रत्येगृह्यत सेनानीः सजयानकनिःस्वनम् ॥१४८॥  
 विमक्ततोरणामुच्चैः प्रचलत्केतुमालिकाश्च । महावीथीमतिक्रम्य प्राविशत् स नृपालयम् ॥१४९॥  
 तुरंगमवराद्दूरात् कृतावतरणः कृती । प्रमोर्नृपासनस्थस्य प्रापदास्थानमण्डपम् ॥१५०॥  
 दूरान्तचलन्मौलिसं दष्टकरकुट्सलः । प्रणनाम प्रभुं सम्यैर्वीक्ष्यमाणः सविस्मितैः ॥१५१॥  
 मुखैरर्ज्यकारेण म्लेच्छराजैः ससाध्वसम् । प्रणेमे प्रसुरभ्येत्य ललाटस्पृष्टभृतलैः ॥१५२॥  
 तदुपाहृतं रत्नाद्यैर्यं च यन्नुपदौकितैः । नामादेशं च तानस्मै प्रभवेऽसौ न्यवेदयत् ॥१५३॥  
 सप्रसादं च संमान्य सत्कृवास्ते महीभुजः । प्रमोरमुमताद् भूयः स्वमोकः प्रत्ययासिधुः ॥१५४॥  
 इत्थं पुण्योदयाक्षक्री वलात् प्रत्यन्तपालकाङ् । विजिग्ये दण्डमात्रेण जयः पुण्यादृते कुतः ॥१५५॥

### मालिनी

अथ नृपतिसमाजेनाचिंतः सातुरागं विजितसकलदुर्गः प्रह्वयन् म्लेच्छनाथात् ।  
 पुनरपि विजयायाद्योजि सोऽग्रेसरत्वे जय इव जयचिह्नैर्मनितो रत्नभर्ता ॥१५६॥  
 जयति जिनवराणां शासनं यत्प्रसादात् पदमिदमभिराजां प्राप्यते हेलयैव ।  
 ससुविजितभिरलप्राज्यभोगोपभोगप्रकटितसुखसारं भूरि संपत्पसारम् ॥१५७॥

का उपाय कर वह चक्रवर्तीको छावनीमें वापस लौट आया ॥१४७॥ सेनापतिके वहाँ पहुँचने-पर अनेक उत्तम-उत्तम राजाओने अपनी सेनाओके साथ सामने जाकर विजयसूचक नगाड़ोके शब्दोके साथ-साथ उसका स्वागत-सत्कार किया ॥१४८॥ जिसमें अनेक तोरण लगे हुए हैं और जिसमें बहुत ऊँची अनेक पताकाओके समूह फहरा रहे हैं ऐसे राजमार्गको उल्लंघन कर वह सेनापति महाराज भरतके डेरेमें प्रविष्ट हुआ ॥१४९॥ वह व्यवहार कुशल सेनापति दूरसे ही उत्तम घोड़ेपर-से उत्तर पड़ा और जहाँ महाराज भरत राजसिंहासनपर बैठे हुए थे उस सभा-मण्डपमें जा पहुँचा ॥१५०॥ दूरसे ही झुके हुए चंचल मुकुटपर जिसने अपने दोनो हाथ जोड़कर रखे हैं और सभासद लोग जिसे आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसे सेनापतिने महाराज भरतको नमस्कार किया ॥१५१॥ जिन्होंने अपने ललाटसे पृथिवीतलका स्पर्श किया है और जो जय-जय शब्द करनेसे वाचालित हो रहे हैं ऐसे म्लेच्छ राजाओने भयसहित सामने आकर भरत-को नमस्कार किया ॥१५२॥ उन म्लेच्छ राजाओके द्वारा उपहारमें लाये हुए रत्न आदिको सामने रखकर सेनापतिने महाराज भरतसे नाम ले लेकर सबका परिचय कराया ॥१५३॥ महाराजने प्रसन्नताके साथ सम्मान करके उन सब राजाओका सत्कार किया, तदनन्तर वे राजा महाराजकी अनुमतिसे अपने-अपने स्थानपर वापस चले गये ॥१५४॥ इस प्रकार चक्रवर्ती-ने पुण्य कर्मके उदयसे केवल दण्डरत्नके द्वारा ही म्लेच्छ राजाओको जबरदस्ती जीत लिया था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके बिना विजय कहाँसे हो सकती है ? ॥१५५॥

अथानन्तर-अनेक राजाओके समूहने प्रेमपूर्वक जिसका सत्कार किया है, जिसने सब किले जीत लिये हैं, जिसने म्लेच्छ राजाओको नम्रीभूत किया है, जो साक्षात् विजयके सामान सुशोभित हो रहा है और विजयके चिह्नोसे जिसका सम्मान किया गया है ऐसे उस सेनापति-को रत्नोके स्वामी भरत महाराजने विजय प्राप्त करनेके लिए फिर भी प्रधान सेनापतिके पदपर नियुक्त किया ॥१५६॥ योग्य निधियाँ, रत्न तथा उत्कृष्ट भोग-उपभोगकी वस्तुओ

१ ससैन्य । २ तन्म्लेच्छराजेश्वर आहूत । ३ पूजयन् । ४ प्रभो समीप नीते । ५ नामोद्देशम् । ६ म्लेच्छ-राजान् । ७ निजावास संप्रतिजन्म । ८ म्लेच्छराजान् 'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेश स्यादित्यभिधानम् ।

शार्दूलविक्रीडितम्

छत्रं चन्द्रकरापहासि रुचिरं चामीकरप्रोत्खलद्-  
 दण्डं चामरयुग्मकं सुरसरिद्विण्डीरपिण्डच्छदिः ।  
 रत्नमाद्रेरिव संनिभक्तमपरं कूटं मृगेन्द्रासनं  
 लेभेऽसौ विजयार्द्धनाथविजयाद्रक्षाभ्यान्वयम् ॥ १५८ ॥  
 श्रीचार्णः कृतमाल इत्यभिमतः संपूज्य तं सादरं  
 प्रादादासरणानि यानि न पुनस्तेषामिहास्त्युन्मितिः ।  
 सम्राट् तैरचका दलंकृततनुः कल्पद्रुमः पुष्पितो  
 मेरोः सानुमिवाश्रितो मणिमयं सौख्यासितो विष्टरम् ॥ १५९ ॥  
 इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे  
 विजयार्द्धगुहाद्वारोद्धाटनवर्णनं नामैकत्रिंशं पर्व ॥ ३१ ॥

के द्वारा जिसमें सुखोका सार प्रकट रहता है, और जिसमें अनेक सम्पदाओंका प्रसार रहता है  
 ऐसा यह चक्रवर्तीका पद जिसके प्रसादसे लोलामात्रमे प्राप्त हो जाता है ऐसा यह जिनेन्द्र  
 भगवात्का शासन सदा जयमन्त रहे ॥ १५७ ॥ महाराज भरतने विजयार्ध पर्वतके स्वामीको  
 जीतकर उससे चन्द्रमाकी किरणोंकी हैंसी करनेवाला सुन्दर छत्र, सुवर्णमय देदीप्यमान  
 दण्डसे युक्त तथा गंगा नदीके फेनके समान कान्तिवाले दो मनोहर चमर, सुमेरु पर्वतसे  
 अलग किये हुए उसके शिखरके समान सिंहासन तथा और भी अन्य अनेक रत्न प्राप्त किये  
 थे ॥ १५८ ॥ 'कृतमाल' इस नामसे प्रसिद्ध देवने सत्कार कर महाराज भरतके लिए जो आभू-  
 षण दिये थे इस भरतक्षेत्रमे उनकी उपमा देने योग्य कोई भी पदार्थ नहीं है । उन अनुपम  
 आभूषणोंसे जिनका शरीर अलंकृत हो रहा है और जो मणियोंके बने हुए सिंहासनपर  
 विराजमान है ऐसे महाराज भरतदेवर उस समय मेरु पर्वतके शिखरपर स्थित फूले हुए कल्प  
 वृक्षके समान अत्यन्त सुसौभित हो रहे थे ॥ १५९ ॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके  
 हिन्दी भाषानुवादमें विजयार्ध पर्वतकी गुफाका द्वार उघाड़नेका  
 वर्णन करनेवाला इकतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

## द्वात्रिंशत्तमं पर्व

अथान्येद्युर्पारुडसंभ्रमैर्वलनायकैः । प्रत्यपाहृत्य संनद्धः प्रथाणसमयः प्रभोः ॥१॥  
 गजताधीयरथ्यानां पादातानां च संकुलैः । न नृपाजिरमेवासीद् रुद्रमद्रेर्वनान्यपि ॥२॥  
 जयकुञ्जरमारुहः परीतो नृपकुञ्जरैः । रजे<sup>१</sup> निर्यन्थथाणाय सप्राट् शक्र इवामरैः ॥३॥  
 किञ्चित् पश्चान्मुखं<sup>२</sup> गत्वा सेनान्या शोधिते पथि । ध्वजिनीं संकुचन्त्यासीदीर्घाशुद्धिं श्रितेव सा ॥४॥  
 प्रगुणस्थानसोपानां<sup>३</sup> रूप्याद्रेः श्रेणिमश्रमात् । मुनेः शुद्धिरिव श्रेणीमारुढा सा पताकिनी<sup>४</sup> ॥५॥  
 तमिञ्चेति गुहा यासौ गिरिव्याससमायतिः<sup>५</sup> । उच्छ्रिता भोजनान्यष्टौ<sup>६</sup> ततोऽद्वाधिकविस्तृतिः<sup>७</sup> ॥६॥  
 बाह्रं कपाटयोयुग्मं वा स्त्रोच्छ्रायमितोच्छ्रितिः । दग्धे पृथक्<sup>८</sup> स्वविष्कम्भसाधिकद्व्यंशविस्तृतिः<sup>९</sup> ॥७॥  
 परार्ध्यंमणिमणिलचमिद्विहारमन्थना । तदवस्तलनिस्सर्पसिन्धुस्रोतोविराजिता ॥८॥  
 अशक्योद्घाटनाऽन्येषां मुक्त्वा चक्रिचमूपतिम् । तन्निरगलितत्वाच्च<sup>१०</sup> प्रागेव कृतनिर्गृतिः<sup>११</sup> ॥९॥

अथानन्तर—दूसरे दिन जिन्हे जल्दी हो रही है और जो हरएक प्रकारसे तैयार है ऐसे सेनापति लोग चक्रवर्तीके चलनेके समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥१॥ हाथियोंके समूह, घोड़ोंके समूह, रथोंके समूह और पैदल चलनेवाले सैनिक, इन सबकी भीड़से केवल महाराजका आँगन ही नहीं भर गया था किन्तु विजयार्ध पर्वतके वन भी भर गये थे ॥२॥ विजयी हाथीपर चढ़ा हुआ और अनेक श्रेष्ठ राजाओंसे घिरा हुआ चक्रवर्ती जब विजयके लिए निकला तब ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ और देवोंसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥३॥ भरतकी वह सेना कुछ पश्चिमकी ओर जाकर सेनापतिके द्वारा शुद्ध किये हुए मार्गमें सकुचित होकर चल रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो वह ईर्यापथ शुद्धिकी ही प्राप्त हुई हो ॥४॥ जिस प्रकार मुनियोंकी विशुद्धता उत्तम गुणस्थान ( आठवे, नौवे, दशवे रूपी सीढियोंसे युक्त श्रेणी ( उपगम श्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी ) पर चढ़ती है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी सेना, जिसपर उत्तम सीढियाँ बनी हुई हैं ऐसी विजयार्ध पर्वतकी श्रेणीपर जा चढ़ी थी ॥५॥ वहाँ तमिस्रा नामकी वह गुफा थी जो कि पर्वतकी चौड़ाईके बराबर लम्बी थी, आठ योजन ऊँची थी और उससे डेवढी अर्थात् बारह योजन चौड़ी थी जो अपनी ऊँचाईके बराबर ऊँचे और कुछ अधिक छह-छह योजन चौड़े वज्रमयी किवाड़ोंके युगल धारण कर रही थी, जिसके दरवाजेकी चौखट महामूल्य रत्नोंसे बनी हुई होनेसे अत्यन्त देदीप्यमान थी, जो अपने नीचेसे निकलते हुए सिन्धु नदीके प्रवाहसे सुशोभित थी, चक्रवर्तीके सेनापतिके छोड़कर जिसे और कोई उधाड़ नहीं सकता था, जो सेनापतिके द्वारा पहले ही उधाड़ दी जानेसे शान्त पड़ गयी थी—भीतरकी गरमी निकल जानेसे ठण्डी पड़ गयी थी । जो यद्यपि जगत्की सृष्टिके समान अनादि थी तथापि किसीके द्वारा बनायी हुईके समान मालूम

१ प्रतीज्यते स्म । २ सैन्यानाम् ल० । ३ पदातीनाम् ल० । ४ परिद्वृत । ५ निर्गच्छत् । ६ पश्चिमार्ध-मुखम् । ७ अष्टगुणस्थानसोपाना प्रकृष्टगुणस्थानसोपानाच्च । ८ सेना । ९ पञ्चाशद्विजयार्धमेति भाव । १० अष्टयोजनोत्सेधात् । ११ द्वादशयोजनविस्तारित्यर्थः । १२ यमलकवाटे एकैककवाटम् । १३ द्वादशयोजनविस्तारवद् गुहाया साधिकद्वितीयं विस्तारम् । यमलरूपकवाटे एकैककवाटस्य साधिकपञ्चयोजनविस्तारित्यर्थः । १४ द्वारवन्धादवस्तलनिर्गच्छत् । देहल्या अवस्तले निर्गच्छदिति भाव । १५ तेन चमूपतिना समुद्घाटितकवाटत्वात् । १६ कृतोपशान्ति ।

जगत्प्रतिरिचानाया घटितेव<sup>१</sup> च केनचित् । जैनी<sup>२</sup> श्रुतिरिवोपात्तगाम्भीर्या मुनिभिर्मता ॥१०॥  
व्याप्यता जीवितान्नेव मूर्च्छेव च तमोमयी । गतेबोद्धाघतां<sup>३</sup> कृच्छ्रान्मुक्तोष्मा शोषितोदरा<sup>४</sup> ॥११॥  
कुटीर च प्रसूताया निषिद्धान्यप्रवेशना । कृतरक्षाविधिद्वारे<sup>५</sup> श्रुतमङ्गलसंविधिः ॥१२॥  
तामालोदय बलं<sup>६</sup> जिष्णोर्दूरादासीत्स साध्वसम् । तमसा सुचिमेष्टेन कज्जलेन संभृताम् ॥१३॥  
चक्रिण ज्ञापितो भूयः सेनानीः सपुरोहितः । तत्तमोनिर्गमोपाये प्रयत्नमकरोत्ततः ॥१४॥  
काकिणीमगिरिवाभ्यां<sup>७</sup> प्रतियोजनमालिखत् । गुह्यासिचिद्वये सूर्यसोमयोर्मण्डलद्वयम् ॥१५॥  
तत्प्रकाशकृतेद्योतं सज्योत्सनातमसंनिधिम् । गुह्यामध्यमपध्वान्तं व्यगाहत् ततो बलम् ॥१६॥  
चक्ररत्नज्वलदीपे ससेनान्या<sup>८</sup> पुरः स्थिते । बलं तदनुमार्गेण प्रविमज्य द्विधा ययौ ॥१७॥  
परिसिन्धु नदीस्रोतः प्राक् पश्चाच्चोभयोः<sup>९</sup> पथोः । बलं<sup>१०</sup> प्रायज्जलं सिन्धोरुपयुक्त्योपयुज्य तत् ॥१८॥  
पथि द्वैधे<sup>११</sup> स्थिता तस्मिन् सेनाग्रण्या नियन्त्रिता<sup>१२</sup> । सा चम्पुः संशयद्वैधे<sup>१३</sup> तदा प्रापद् दिगाश्रयम्<sup>१४</sup> ॥  
ततः प्रयाणकैः कैश्चित् प्रभृतयवसोदकैः<sup>१५</sup> । गुहाद्वंसंभिता<sup>१६</sup> भूमिं व्यतीयाय<sup>१७</sup> पत्तिर्विशाम् ॥२०॥

होती थी, अत्यन्त गम्भीर ( गहरी ) होनेके कारण जिसे मुनि लोग जिनवाणीके समान मानते थे क्योंकि जिनवाणी भी अत्यन्त गम्भीर ( गूढ़ अर्थसे भरी हुई ) होती है । जो जीवित रहनेकी आशाके समान लम्बी थी, मूर्च्छाके समान अन्धकारमयी थी, गरमी निकल जाने तथा भीतरका प्रवेश शुद्ध हो जानेसे जो नीरोग अवस्थाको प्राप्त हुईके समान जान पड़ती थी, जिसमें चक्रवर्तीकी सेनाको छोड़कर अन्य किसीका प्रवेश करना मना था, जिसके द्वारपर रक्षाकी सब विधि की गयी थी, जिसके समीप मंगलद्रव्य रखे हुए थे और इसलिए जो प्रसूता (बच्चा उत्पन्न करनेवाली) स्त्रीकी कुटी ( प्रसूतिगृह ) के समान जान पड़ती थी ॥१६-१८॥ सुईकी नोकसे भी जिसका भेद नहीं हो सकता ऐसे कज्जलके समान गाढ़ अन्धकारसे भरी हुई उस गुफाको देखकर चक्रवर्तीकी सेना दूरसे ही भयभीत हो गयी थी ॥१३॥ तदनन्तर जिसे चक्रवर्तीने आज्ञा दी है ऐसे सेनापतिने पुरोहितके साथ-साथ, उस अन्धकारसे निकलनेका उपाय करनेके लिए फिर प्रयत्न किया ॥१४॥ उन्होंने गुफाकी दोनों ओरकी दीवालेंपर काकिणी और चूड़ामणि रत्नसे एक-एक योजनकी दूरीपर सूर्य और चन्द्रमाके मण्डल लिखे ॥१५॥ तदनन्तर उन मण्डलोंके प्रकाशसे जिसमे प्रकाश किया जा रहा है, चाँदनी और धूप दोनों ही जिसमें मिल रहे हैं तथा जिसका सब अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे गुफाके मध्य भागमें सेनाने प्रवेश किया ॥१६॥ आगे-आगे सेनापतिके साथ-साथ चक्ररत्नरूपी देदीप्यमान दीपक चल रहा था और उसके पीछे-पीछे उसी मार्गसे दो भागमे विभक्त होकर सेना चल रही थी ॥१७॥ वह सेना सिन्धु नदीके प्रवाहको छोड़कर पूर्व तथा पश्चिमकी ओरके दोनों मार्गोंमें सिन्धु नदीके जलका उपयोग करती हुई जा रही थी ॥१८॥ उन दोनों मार्गोंपर चलती हुई तथा सेनापतिके द्वारा वश की हुई वह सेना उस समय दिशाओंसम्बन्धी संशयकी द्विविधताको प्राप्त हो रही थी अर्थात् उसे इस बातका संशय हो रहा था कि पूर्वदिशा कौन है ? और पश्चिम दिशा कौन है ? ॥१९॥ तदनन्तर जिनमे घास और पानी अधिक है ऐसे कितने ही मुकाम चलकर महाराज

१ निमित्तेव । २ केनचित् पुरुषेण । ३ परमाणम । ४ ऋजुत्वं गतेव । 'उल्लाघो निर्गतो गदात्' । ५ शोषिता-न्तरालः । ६ गुह्यम् । ७ सेनापतिसमन्विते । ८ सिन्धुनदीप्रवाहं वर्जयित्वा । परिशब्दस्थ वर्जनार्थत्वात् । ९ पश्चात् पूर्वापर । १० अगच्छत् । ११ द्विप्रकारवती । १२ नियमिता । १३ संशयभेद संशयविनाशं वा । १४ उपदेशाश्रयं वा संशयभेद प्राप । पूर्वादिदिग्भेदे सेना सन्देहवती जातेत्यर्थः । १५ तृण, घास । 'घासो यवसं तृणमर्जुमि'त्यभिधानात् । १६ गुह्यामर्द्धप्रमिताम् । १७ अत्यगात् ।

‘यत्रोन्मग्नजला सिन्धुर्निमग्नजलया समम् । प्रविष्टा तिर्यगुद्देशं<sup>२</sup> तं<sup>३</sup> प्राप बलमीशितुः ॥२१॥  
 तथोरारात्ते सैन्यं निवेक्ष्य भरतेश्वरः । वैषम्यमुपयोर्वचोः प्रेक्षांचको सकौतुकम् ॥२२॥  
 एकाऽधः पातयत्यन्यां<sup>४</sup> दावीद्युष्मावत्यरम् । मिथो विरुद्धसांगत्ये संगते ते कथंचन ॥२३॥  
 नद्योत्तरणोपायः को नु स्यादिति तर्कयन् । द्रुतमाह्वापयामास तत्रस्थः स्थपतिं पतिः ॥२४॥  
 ‘तथोरारात्ते पश्यन्नुत्पन्नपितजलम् । दृष्ट्वैव तुल्यामास<sup>५</sup> जलाञ्जलिमिव<sup>६</sup> क्षणम् ॥२५॥  
 ‘उपर्युच्छ्वासयत्येनां महान् वायुः स्फुरन्नघः । वायुस्तदन्यथावृत्तिं रमुष्यां च विजृम्भते ॥२६॥  
 उपनाहाहते<sup>७</sup> कोऽन्यः प्रतीकारोऽन्योरिति । मिषग्वर इवारेमे संक्रमोपक्रमं<sup>८</sup> कृती ॥२७॥  
 अमानुषेष्वरण्येयु ये केचन महाद्रुमाः । स तानानाययामास<sup>९</sup> दिव्यशक्त्यनुभावतः ॥२८॥  
 सारदारुमिरुक्तम्बु<sup>१०</sup> स्तम्भानन्तर्जलस्थितान्<sup>११</sup> । स्थपतिः स्थापयामास<sup>१२</sup> तेषामुपरि संक्रमम्<sup>१३</sup> ॥२९॥  
 बलव्यसनमाशङ्क्य<sup>१४</sup> चिरवृत्तो<sup>१५</sup> स धीरधीः । क्षणान्निष्पादयामास संक्रमं प्रभुशासनात् ॥३०॥  
 कृतः कलकलः सैन्यैर्निष्ठिते सेतुकर्मणि । तदेव च बलं कृत्स्नमुत्तार परं तटम्<sup>१६</sup> ॥३१॥

भरतने गुफाकी आधी भूमि तय की ॥२०॥ और जहाँपर ‘उन्मग्नजला’ नदी ‘निमग्नजला’ नदीके साथ-साथ दोनों तरफकी दीवालोकें ‘कुण्डोसे निकलकर सिन्धु नदीमें प्रविष्ट होती है उस स्थानपर चक्रवर्तीकी सेना जा पहुँची ॥२१॥ महाराज भरतेश्वर उन दोनों नदियोंके किनारेके समीप ही सेना ठहराकर कौतुकके साथ उन दोनों नदियोंकी विषमता देखने लगे ॥२२॥ इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् निमग्नजला तो लकड़ी आदिको शीघ्र ही नीचे ले जा रही है और दूसरी अर्थात् उन्मग्नजला प्रत्येक पदार्थको शीघ्र ही ऊपरकी ओर उछाल रही है । यद्यपि ये दोनों परस्पर विरुद्ध है तथापि किसी प्रकार यहाँ आकर सिन्धु नदीमें मिल रही है ॥२३॥ इन नदियोंके उतरनेका उपाय क्या है ? इस प्रकार विचार करते हुए चक्रवर्तीने वहाँ खड़े-खड़े ही शीघ्र ही अपने स्थपति (सिलावट) रत्नको बुलाया ॥२४॥ जिनका पानी ऊपर तथा नीचेकी ओर जा रहा है ऐसी उन दोनों नदियोंको देखते हुए सिलावट रत्नने उन्हें अपनी दृष्टिमात्रसे ही क्षण-भरमें अञ्जलि-भर जलके समान तुच्छ समझ लिया ॥२५॥ उसने समझ लिया कि इस उन्मग्नजला नदीको इसके नीचे रहनेवाला महावायु ऊपरकी ओर उछालता है और इस निमग्नजला नदीको उसके ऊपर रहनेवाला महावायु नीचेकी ओर ले जाता है ॥२६॥ इसलिए इन दोनोंका पुल बाँधनेके सिवाय और क्या उपाय हो सकता है ऐसा विचार कर उत्तम वैद्यके समान कार्यकुशल सिलावट रत्नने उन नदियोंके पार होनेका उपाय अर्थात् पुल बाँधनेका उपाय प्रारम्भ कर दिया ॥२७॥ उसने अपनी दिव्य शक्तिकी सामर्थ्यसे निर्जन वनोंमें जो कुछ बड़े-बड़े वृक्ष थे वे मँगवाये । भावार्थ — अपने आश्रित देवोंके द्वारा सघन जंगलोसे बड़े-बड़े वृक्ष मँगवाये ॥२८॥ उसने मजबूत लकड़ियोंके द्वारा जलके भीतर मजबूत खम्भे खड़े कर उनपर पुल तैयार कर दिया ॥२९॥ अधिक समय लगनेपर सेनाको दुःख होगा इस बातका विचार कर उस गम्भीर बुद्धिके धारक सिलावटने भरतेश्वरकी आज्ञासे क्षण-भरमें ही पुल तैयार कर दिया था ॥३०॥ पुल तैयार होते ही सेनाओने आनन्दसे कोलाहल किया और उसी समय चक्रवर्तीकी समस्त सेना उतरकर नदियोंके उस किनारे

१ यस्मिन् प्रवेष्टे । २ पूर्वापरभित्तिद्वयदण्डान् निर्गत्य । ३ प्रदेशम् । ४ काष्ठादि । ५ स तत्रदीदृश्यम् ल०, ६०, अ०, प०, स० । ६ ददर्शेत्यर्थ । ७ उत्पत्तिनिरूपणत्वाद्भ्रूलियुक्तजलवत् । ८ अधोगमनवृत्तिः । ९ बन्धनात् विना । १० सेतूपक्रमम् । ११ आनयति स्म । १२ विन्यस्थ । १३ जल स्थिरात् ब०, द० । जले स्थिरात् इ० । १४ स्तम्भानाम् । १५ सेतुम् । १६ बलस्य पीडा भविष्यन्तीति विशङ्क्य । १७ चिरकालेऽतीते सति । १८ अपरतोरम् ।

नायकैः सममन्येषुः प्रभुर्जयदातृतः । महापथेन तेनैव जलदुर्गं व्यलङ्घयत् ॥३२॥  
ततः कतिपयैरेव प्रयाणैरतिवाहितैः । गिरिदुर्गं विलम्बोदग्गुहाद्वा रमवासदत् ॥३३॥  
निरंगलीकृतं द्वारं<sup>१</sup> पौरस्त्यैरिससाधनैः । व्यतीत्य प्रभुरस्थाद्विरप्युवास वनावनिम्<sup>२</sup> ॥३४॥  
अधिशय्य गुहागर्भं चिरं भातुरिवोदरम् । लब्धं जन्मान्तरं मेने<sup>३</sup> निःसृतैः सैनिकैर्नहिः ॥३५॥  
गुह्यमतिगुह्यैव<sup>४</sup> गिलित्वा जनतामिमाम् । जरणाशक्तितो नूनमुज्ज्वालं बहिः पुनः ॥३६॥  
व्यजनैरिव शाखाग्रैर्बोजयन् वनवीरुषाम् । गुहोष्मणां चिरं खिन्नां चमूमाश्रयस्यम्<sup>५</sup> ॥३७॥  
तद्वनं पवनाधृतं चलच्छाखाकरोत्करैः । प्रभोरुपागमे तोषाञ्जनतैव घृतार्चवम्<sup>६</sup> ॥३८॥  
पूर्ववत् पश्चिमे खण्डे बलाग्रण्या प्रसाधिते । विजेतुं मध्यमं खण्डं साधनैः प्रभुरुद्यतौ ॥३९॥  
न करैः पीडितो लोको न भुवः शोधितो रसः । नार्कणेव जनस्तप्तः प्रभुणाऽभ्युद्यताप्युदक्<sup>७</sup> ॥४०॥  
कौबेरी दिशमास्थाय<sup>८</sup> तपत्येकान्ततः<sup>९</sup> करैः । मानुर्भरतराजस्तु सुवस्तापमपाकरोत् ॥४१॥  
कृतव्युहानि<sup>१०</sup> सैन्यानि संहतानि<sup>११</sup> परस्परम् । नातिभूमि यदुज्जिष्णोर्न स्वैरं परिवभ्रमुः ॥४२॥

पर जा पहुँची ॥३१॥ दूसरे दिन हाथियोंके समूहसे घिरे हुए महाराज भरतने अनेक राजाओं-  
के साथ-साथ उसी जलमय महामार्गसे कठिन रास्ता तय किया ॥३२॥ तदनन्तर कितने ही  
मुकाम चलकर और उस पर्वतरूपी दुर्ग (कठिन मार्ग) को उल्लंघन कर वे उस गुफाके उत्तर  
द्वारपर जा पहुँचे ॥३३॥ आगे चलनेवाली हाथियोंकी सेनाके द्वारा उधाड़े हुए उत्तर द्वारको  
उल्लंघन कर चक्रवर्तिनि विजयार्थ पर्वतके वनकी भूमिमे निवास किया ॥३४॥ माताके उदर-  
के समान गुहाके गर्भमे चिरकाल तक निवास कर वहाँसे बाहर निकले हुए सैनिकोने ऐसा  
माना था मानो दूसरा जन्म ही प्राप्त हुआ हो ॥३५॥ सेनाको बाहर प्रकट करती हुई वह  
गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो पहले वह बड़ी भारी तृष्णा इस मनुष्य-समूहको निगल गयी  
थी परन्तु पचानेकी शक्ति न होनेसे अब उसे फिर बाहर उगल रही हो ॥३६॥ उस समय  
पक्षोंके समान वनलताओंकी शाखाओंके अग्रभागसे हवा करता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता  
था मानो चिरकाल तक गुफाकी गरमीसे दुःखी हुई सेनाको आश्वासन ही दे रहा हो ॥३७॥  
जिसने ऋतु-सम्बन्धी अनेक फल-फूल धारण किये हैं और जो वायुसे हिल रहा है ऐसा वह वन  
उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके आनेपर सन्तुष्ट होकर हिलते हुए अपने शाखा  
रूपी हाथोंके समूहसे नृत्य ही कर रहा हो ॥३८॥ जब सेनापति पहलेकी तरह यहाँके भी  
पश्चिम म्लेच्छ खण्डको जीत चुका तब महाराज भरत अपनी सेनाओंके द्वारा मध्यम म्लेच्छ  
खण्डको जीतनेके लिए उद्यत हुए ॥३९॥ यद्यपि भरत सूर्यके समान उत्तर दिशाकी ओर  
निकले थे तथापि जिस प्रकार सूर्य अपने कर अर्थात् किरणोंसे लोगोंको पीड़ित करता है, पृथिवी-  
का रस अर्थात् जल सुखा देता है, और मनुष्योंको सन्तप्त करता है उस प्रकार उन्होंने अपने  
कर अर्थात् टेकसे लोगोंको पीड़ित नहीं किया था, पृथिवीका रस अर्थात् आनन्द नहीं सुखाया  
था-नष्ट नहीं किया था और न मनुष्योंको सन्तप्त अर्थात् दुःखी ही किया था ॥४०॥ सूर्य  
उत्तर दिशामे पहुँचकर अपनी किरणोंसे सन्ताप करता है परन्तु महाराज भरतने पृथिवीका  
सन्ताप द्वेर कर दिया था ॥४१॥ जिनमें अनेक व्यूहोंकी रचना की गयी है और जो परस्परमे  
मिली हुई है ऐसी भरतकी सेनाएँ न तो उनसे बहुत दूर ही जाती थी और न स्वच्छन्दतापूर्वक

१ अपनी २ उत्तरगुहाद्वारम् ३ पुरोयत ४ वनभूमिम् ५ मन्थते स्म ६ अतिवाञ्छया ।  
७ निगरण कृत्वा । ८ जरणशक्यमावात् । ९ उद्गिलति स्म । १० ऋतौ भवम् अर्चवम् पुष्पादि । घृतमार्चव  
येन तत् । ११ उत्तरदिग्भागः । १२ उत्तरस्या दिशि स्थित्वा । १३ नितराम् । १४ विहितरचनानि ।  
१५ सवद्वानि मिलितानि वा ।



प्रसाधितानि दुराणि कृतं चाशक्यसाधनम् । परचक्रमवष्टब्धं चक्रिणो जयसाधनैः ॥४३॥  
 बलवान्नामियोक्तव्यो<sup>२</sup> रक्षणीयाश्च संश्रिताः । अतितज्यं क्षितित्राणे जिगीषोर्दृष्टमीदृशम् ॥४४॥  
 इत्यलङ्घ्यबलश्चक्री चक्ररत्नमुब्रजन् । कियतीमपि तां<sup>३</sup> भूमिमवाष्ट<sup>४</sup> म्मीत् स्वसाधनैः ॥४५॥  
 तावच्च परचक्रेण<sup>५</sup> स्वचक्रस्य<sup>६</sup> परामवंसु । चिलातावर्तनामानौ प्रभू शुश्रूवतुः किल ॥४६॥  
 अमृतपूर्वमेतौ<sup>७</sup> परचक्रमुपस्थितम् । व्यसनं प्रतिकर्तव्यमित्यास्तां संगतां मिथः ॥४७॥  
 ततो धनुर्धरप्राथं सहाश्र्वीयं सहास्तिकम् । इतोऽमुतश्च संजग्मे<sup>८</sup> तत्सैन्यं म्लेच्छराजयोः ॥४८॥  
 कृतोच्चविग्रहारम्भौ संरम्भं प्रतिपद्य तौ । विक्रम्य<sup>९</sup> चक्रिणः सैन्यैर्मैजतुर्विजिगीषुताम् ॥४९॥  
 तावच्च सुधियो धीराः कृतकार्याश्च मन्त्रिणः । निपिथ्य तौ रणारम्भाद् वचः पथ्यमिदं जगुः ॥५०॥  
 न किञ्चिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यतां<sup>१०</sup> । अनालोचितकार्याणां दवीयस्थो<sup>११</sup> ऽयं सिद्धयः ॥५१॥  
 कोऽयं प्रभुरवष्टम्भी कुतस्थो वा कियद्वलः<sup>१२</sup> । बलवान् इत्यनालोच्य नामिषेण्यः<sup>१३</sup> कथंचन<sup>१४</sup> ॥५२॥  
 विजयार्द्धचलोद्ध्वी नैव सामान्यमानुषः । दिव्यो<sup>१५</sup> दिव्यानुभावो<sup>१६</sup> वा भवेदेव न संशयः ॥५३॥

इधर-उधर ही घूमती थी ॥४२॥ चक्रवर्तीकी विजयी सेनाओंने अनेक किले अपने वश किये, जिन्हें कोई वश नहीं कर सकता था, ऐसे राजाओंको वश किया और शत्रुओंके देश घेरे ॥४३॥ बलवान्के साथ युद्ध नहीं करना, शरणमें आये हुएकी रक्षा करना, और अपनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें प्रयत्न करना यही विजयकी इच्छा करनेवाले राजाके योग्य आचरण है ॥४४॥ इस प्रकार जिनकी सेना अथवा पराक्रमको कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे जाते हुए अपनी सेनाके द्वारा वहाँकी कितनी ही भूमिको अपने अधीन कर लिया ॥४५॥ इतनेमें ही चिलात और आवर्त नामके दो म्लेच्छ राजाओंने शत्रुओंकी सेनाके द्वारा अपनी सेनाका पराभव होता सुना ॥४६॥ हमारे देशमें शत्रुओंकी सेना आकर उपस्थित होना यह हम दोनोंके लिए विलकुल नयी बात है, इस आये हुए संकटका हमें प्रतिकार करना चाहिए ऐसा विचारकर वे दोनों ही म्लेच्छ राजा परस्पर मिल गये ॥४७॥ तदनन्तर जिसमें प्रायः करके धनुष धारण करनेवाले योद्धा हैं, तथा जो हाथियों और घोड़ोंके समूहसे सहित हैं ऐसी उन दोनों राजाओंकी सेना इधर-उधरसे आकर इकट्ठी मिल गयी ॥४८॥ जिन्होंने भारी युद्ध करनेका उद्योग किया है ऐसे वे दोनों ही राजा क्रोधित होकर तथा पराक्रम प्रकट कर चक्रवर्तीकी सेनाओंके साथ विजिगीषुपनको प्राप्त हुए अर्थात् उन्हें जीतनेकी इच्छासे उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गये ॥४९॥ इसीके बीच, बुद्धिमान् धीर-वीर तथा सफलतापूर्वक कार्य करनेवाले मन्त्रियोने उन दोनों राजाओंकी युद्धके उद्योगसे रोककर नीचे लिखे अनुसार हितकारी वचन कहे ॥५०॥ हे प्रभो, सिद्धिकी इच्छा करनेवालोंको बिना विचारे कुछ भी नहीं करना चाहिए क्योंकि जो बिना विचारे कार्य करते हैं उनके कार्योंकी सिद्धि बहुत दूर हो जाती है ॥५१॥ हमारी सेनाको रोकनेवाला यह कौन राजा है ? कहाँसे आया है ? इसकी सेना कितनी है और यह कितना बलवान् है इन सब बातोंका विचार किये बिना ही उसकी सेनाके सम्मुख किसी भी तरह नहीं जाना चाहिए ॥५२॥ विजयार्ध पर्वतको उल्लंघन करनेवाला यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है, यह या तो कोई देव होगा-या कोई दिव्य प्रभावका धारक होगा इसमें

१ व्याप्तम् । २ अभिषेणनीय । ३ महतीम् । ४ वेष्टयति स्म । ५ परसैन्येन । ६ स्वराष्ट्रस्य । ७ आवयोः । ८ संगतमभूत् । ९ अधिका शक्तिं विधाय । १० सिद्धिमिच्छता । ११ दूरतरा । १२ कियद्वल अं, सौ ६० । १३ सेनया अभियातव्य । १४ सर्वथा । १५ देव । १६ दिव्यसामर्थ्य ।

तदास्तां समरारम्भः संभाव्यो दुर्गसंश्रयः । तदाश्रितैरनायासात् जेतुं शक्यो सिंघुहान् ॥ ५४ ॥  
 रसावदुर्गमेतन्नः क्षेत्रं केनाभियूयते । हिमवद्विजयाद्धाद्रिगङ्गा<sup>१</sup>सिन्धुवटावधि ॥ ५५ ॥  
 अन्यच्च देवताः सन्ति सत्यमस्मत्कुलोचिताः । नागामेघमुखा नाम ते निरुध्वन्तु आत्रवान् ॥ ५६ ॥  
 इति तद्गन्तव्यज्ञातजयाशंसौ जनेश्वरौ । देवतानुसृष्टिं सद्यः चक्रतुः कृतपूजनौ ॥ ५७ ॥  
 ततस्तं जलदाकारधारिणो घनगजिताः । परितो वृष्टिमातेतुः सानिलाग्निलिखनाः<sup>२</sup> ॥ ५८ ॥  
 तजलं जलदोद्गर्गं बलमाप्लान्य जैष्णवम्<sup>३</sup> । अघस्तिर्यग्धौ<sup>४</sup> च समन्तादभ्यदुद्रवत्<sup>५</sup> ॥ ५९ ॥  
 न चेत्<sup>६</sup> वनोपमस्यासीत् शिविरे वृष्टिरीशितुः । वहिरेकार्णवं कृत्स्नमकरोद् व्याप्य रोदसी ॥ ६० ॥  
 छत्ररत्नमुपर्यासीच्चर्मरत्नमधोऽभवत् । ताभ्यामावेष्टय तद्दुर्द्धं बलं<sup>७</sup> स्यूतमिवाभितः ॥ ६१ ॥  
 मध्येरत्नद्वयस्यास्य स्थितमाससमाद् दिनात् । जलप्लवे बलं भर्तुर्व्यक्तमण्डायितं<sup>८</sup> तदा ॥ ६२ ॥  
 चक्ररत्नकृतोद्योतं रुद्रद्वादशयोजने । तन्नागदके<sup>९</sup> स्थितं जिष्णोर्निरावाधमभूद् बलम् ॥ ६३ ॥  
 प्रविभक्तचतुर्द्वारं सेवान्यान्तःसुरक्षितम् । बहिर्जयकुमारेण रक्षे किल तद्वलम् ॥ ६४ ॥  
 तदा पटकुटीभेदाः<sup>१०</sup> कीटिकाश्च विशङ्कताः<sup>११</sup> । कृताः स्थपतिरत्नेन<sup>१२</sup> रथाश्चात्रगोचराः ॥ ६५ ॥

कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ५३ ॥ इसलिए युद्धका उद्योग दूर रहे, हम लोगोको किसी किलेका आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि किलेका आश्रय लेनेवाले पुरुष बड़ेसे बड़े शत्रुको सहज ही जीत सकते हैं ॥ ५४ ॥ हिमवान् पर्वतसे विजयावर्ष पर्वत तक और गंगा नदीसे सिन्धु नदीके किनारे तक का यह हमारा क्षेत्र स्वभावसे ही किलेके समान है, इसका पराभव कौन कर सकता है ? इसे कौन जीत सकता है ? ॥ ५५ ॥ और दूसरी बात यह भी है कि हमारी कुल-परम्परासे चले आये नागमुख और मेघमुख नामके जो देव हैं वे अवश्य ही शत्रुओंको रोक लेंगे ॥ ५६ ॥ इस प्रकार मन्त्रियोंके वचनोसे जिन्हें विजय करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई है ऐसे उन दोनों राजाओं-ने शीघ्र ही पूजन कर देवताओंका स्मरण किया ॥ ५७ ॥ स्मरण करते ही नागमुख देव, बादलों-का आकार धारण कर घनघोर गर्जना करते हुए चारों ओर झंझावायुके साथ-साथ जलकी वृष्टि करने लगे ॥ ५८ ॥ मेघोके द्वारा बरसाया हुआ वह जल भरतेस्वरकी सेनाको डुबोकर ऊपर नीचे तथा अगल-बगल चारों ओर बहने लगा ॥ ५९ ॥ यद्यपि वह जल इतना अधिक बरसा था कि उसने आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर बाहर एक समुद्र-सा बना दिया था परन्तु चक्रवर्तीके शिविर ( छावनी )में वस्त्रका एक टुकड़ा भिगोने योग्य भी वृष्टि नहीं हुई थी ॥ ६० ॥ उस समय भरतकी सेनाके ऊपर छत्ररत्न था और नीचे चर्मरत्न था, उन दोनों रत्नोसे घिरकर रूकी हुई सेना ऐसी मालूम होती थी मानो चारों ओरसे सी ही दी गयी हो अर्थात् चर्मरत्न और छत्ररत्न इन दोनोंमे चारों ओरसे टाँके लगाकर वीचमे ही रोक दी गयी हो ॥ ६१ ॥ उस जलके प्रवाहमे भरतकी वह सेना सात दिनतक दोनों रत्नोके भीतर ठहरी थी और उस समय वह ठीक अण्डाके समान जान पड़ती थी ॥ ६२ ॥ जिसमे चक्ररत्नके द्वारा प्रकाश किया जा रहा है ऐसे उस बारह योजन लम्बे-चौड़े अण्डाकार तम्बूमें ठहरी हुई भरतकी सेना सब तरहकी पीड़ासे रहित थी ॥ ६३ ॥ उस बड़े तम्बूमे चारों दिशाओंमें चार दरवाजे विभक्त किये गये थे, उसके भीतरकी रक्षा सेनापतिने की थी और बाहरसे जय-कुमार उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥ ६४ ॥ उस समय सिलावट रत्नने अनेक प्रकारके कपड़े-के तम्बू, घासकी बड़ी-बड़ी शोपड़ियाँ और आकाशमे चलनेवाले रथ भी तैयार किये थे ॥ ६५ ॥

१ नागसिन्धु-ल० । २ नागमेघ-ल० । ३ नागा । ४ जिष्णोश्चक्रिण संबन्धि । ५ अभिधावति स्म । ६ पटमादं यथा भवति । ७ अतम् तन्नुना संबद्धमित्यर्थ । ८ अण्डमिवाचरितम् । ९ पञ्जरे । १० कीटिकाः कुटीरा, शाला । ११ कीटिकाश्च ल०, द०, अ० प०, स० । १२ विशाला । १३ रथाः सचरगोचरा प० ।

बहिः कलकलं श्रुत्वा किमेतदिति पार्थिवाः । करं व्यापारयामासुः क्रुद्धाः कौक्षेयकं<sup>१</sup> प्रति ॥ ६६ ॥  
 ततश्चक्रधरादिष्टा<sup>२</sup> गणबद्धामरास्तदा । चागानुत्सारयामासु<sup>३</sup> राक्षसां हुंकृतैः क्षणात् ॥ ६७ ॥  
 बलवान् कुरुराजोऽपि<sup>४</sup> मुक्तसिंहप्रगर्जितः । दिव्यास्त्रैरज्यन्नागान् रथं दिव्यमघिहितः ॥ ६८ ॥  
 तदा रणाङ्गणे वर्षन् शरधारामनारतम् । स रेजे धृतसन्नाहः<sup>५</sup> प्रावृषेण्य<sup>६</sup> इवागबुधः ॥ ६९ ॥  
 तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा रेजिरे समराजिरे<sup>७</sup> । द्रष्टुं तिरोहितान्नागान् दीपिका इव बोधिताः ॥ ७० ॥  
 ततो निववृते<sup>८</sup> जित्वा नागान् मेघमुखानसौ । कुमारो रणसंरम्भात् प्राप्तमेघस्वरश्रुतिः<sup>९</sup> ॥ ७१ ॥  
 कुरुराजस्तदा स्फूर्जत्पर्जन्य<sup>१०</sup> स्तनितोजितैः । गर्जितैर्निर्जयन् मेघमुखान् स्थातस्तदाज्ञया ॥ ७२ ॥  
 तोषितैरवदानेन<sup>११</sup> घोषितोऽस्य जयोऽमरैः । दन्ध्वनदुन्दुभिष्वावधिरीकृतदिङ्मुखैः ॥ ७३ ॥  
 ततो दृष्टापदानोऽयं<sup>१२</sup> तुष्टुवे<sup>१३</sup> चक्रिणा मुहुः । निथोजितश्च सत्कृत्य वीरो वीराग्रणीपदे ॥ ७४ ॥  
 इन्द्रजाल इवासुष्मिन् व्यतिक्रान्तेऽहिचिह्नवे<sup>१४</sup> । प्रत्यापत्तिमगाद् भूयो बलमाविर्भवजयम् ॥ ७५ ॥  
 विध्वस्ते पन्नगानीके बिबलौ म्लेच्छनायकौ । चक्रिणश्चरणावेत्य भयान्नामौ प्रणेमतुः ॥ ७६ ॥  
 धनं यशोधनं चास्मै कृतागः परिक्षोधनम्<sup>१५</sup> । दत्त्वा प्रसीद देवेति तौ श्रुत्यत्वमुपेयतुः ॥ ७७ ॥

बाहर कोलाहल सुनकर 'यह क्या है' इस प्रकार कहते हुए राजाओने क्रोधित होकर अपना हाथ तलवारकी ओर बढ़ाया ॥ ६६ ॥ तदनन्तर उस समय जिन्हें चक्रवर्तिनि आदेश दिया है ऐसे गणबद्ध जातिके देवोने क्रुद्ध होकर अपने हुकार शब्दोंके द्वारा क्षण-भरमें नागमुख देवोंको हटा दिया ॥ ६७ ॥ अतिशय बलवान् कुरुवशी राजा जयकुमारने भी दिव्य रथपर बैठकर सिंह-गर्जना करते हुए, दिव्य शस्त्रोंके द्वारा उन नागमुख देवोंको जीता ॥ ६८ ॥ उस समय युद्धके आँगनमें निरन्तर बाणोंकी वर्षा करता हुआ और शरीरपर कवच धारण किये हुए वह जयकुमार वर्षावृष्टिके बादलके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ६९ ॥ जयकुमारके द्वारा छोड़े हुए वे देवीप्यमान बाण युद्धके आँगनमें ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छिपे हुए नागमुखोंको देखनेके लिए जलाये हुए दीपक ही हो ॥ ७० ॥ तदनन्तर वह जयकुमार नागमुख और मेघ-मुख देवोंको जीतकर तथा मेघेश्वर नाम पाकर उस युद्धसे वापस लौटा ॥ ७१ ॥ उस समय वह जयकुमार बिजली गिरानेके पहले भयंकर शब्द करते हुए बादलोंकी गर्जनाके समान अपनी तेज गर्जनाके द्वारा मेघमुख देवोंको जीतता हुआ मेघेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥ ७२ ॥ बार-बार बजते हुए दुन्दुभियोंके शब्दोंसे जिन्होंने समस्त दिशाएँ बहिरी कर दी है ऐसे देवोंने इस जयकुमारके पराक्रमसे सन्तुष्ट होकर इसका जयजयकार किया था ॥ ७३ ॥ तदनन्तर जिसका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे इस जयकुमारकी चक्रवर्तिनि भी बार-बार प्रशंसा की और उस वीरका सत्कार कर उन्होंने उसे मुख्य शूरवीरके पदपर नियुक्त किया ॥ ७४ ॥ इन्द्र-जालके समान वह नागमुख देवोंका उपद्रव शान्त हो जानेपर जिसकी जीत प्रकट हो रही है ऐसी वह भरतकी सेना पुन स्वस्थताको प्राप्त हो गयी अर्थात् उपद्रव टल जानेपर सुखका अनुभव करने लगी ॥ ७५ ॥ नागमुख देवोंकी सेनाके भाग जानेपर वे दोनों ही चिलात और आवर्त नामके म्लेच्छ राजा निर्बल हो गये और भयसे घबड़ाकर चक्रवर्तिके चरणोंके समीप आकर प्रणाम करने लगे ॥ ७६ ॥ उन्होंने अपराध क्षमा कराकर भरतके लिए बहुत-सा धन तथा यशरूपी धन दिया और 'हे देव, प्रसन्न होइए' इस प्रकार कहकर उनकी दासता स्वीकार

१ खड्गम् । २ आज्ञापिता । ३ पलायितान् चक्र । ४ क्रुद्धा । ५ जयकुमार । ६ धृतकवच । ७ प्रावृषि भवः । ८ समरागणे । ९ न्यवृत्त । १० प्रान्तमेघस्वरसञ्ज्ञ । ११ मेघ । १२ पराक्रमेण । १३ दृष्टावदातोऽय सः, लः, दः । दृष्टावदानोऽय दः, पः । दृष्टसामर्थ्य । १४ स्तूयते स्म । १५ पूर्वस्थितिम् । स्वरूपात् प्रच्युतस्य पुनः स्वरूपे अवस्थानम्, आस्वासमित्यर्थ । १६ कृतवेषस्य परिक्षोधन यस्मात् तत् ।

निस्तपलां सहीमेनां कुर्वन्नर्वाह्निधीश्वरः<sup>१</sup> । आ हिमाद्रितट्वाद् भूय प्रयाणमकरोद् वलैः ॥७८॥  
 सिन्धुरोधोभुजः<sup>२</sup> भुन्दर्<sup>३</sup> प्रयाणे जयसिन्धुरः । सिन्धुप्रपातं मासीदन्<sup>४</sup> सिन्धुदेव्या न्यपेचि सः ॥७९॥  
 ज्ञात्वा समागतं जिष्णुं देवि स्वावासगोचरम् । उपेयाथ<sup>५</sup> समुद्धृत्य रत्नार्घं सपरिच्छदा<sup>६</sup> ॥८०॥  
 पुण्यैः<sup>७</sup> सिन्धुजलैरेनं हेमकुम्भशतोद्धतैः । साभ्यषिञ्चत् स्वहस्तेन भद्रासननिवेशितम् ॥८१॥  
 कृतमङ्गलनेपथ्यमभ्यनन्दञ्जयाशिवा । देव त्वन्मर्जनादथ पूताऽस्मीत्यवदच्च तम् ॥८२॥  
 तत्र भद्रासनं दिव्यं लब्ध्वा तदुपहोतम् । कृतानुब्रजनां<sup>८</sup> किञ्चित् सिन्धुदेवीं व्यसर्जयत् ॥८३॥  
 हिमाचलमनुप्राप्तस्तत्तानि जय<sup>९</sup> जयम् । कैत्रितययाणकैः प्रापत् हिमवत्कूटसनिधिम्<sup>१०</sup> ॥८४॥  
 पुरोहितसखस्तत्र कृतोपवसनक्रियः । अच्यवोत्<sup>११</sup> शुचिं शय्यां दिव्यास्त्राण्यधिवासयन्<sup>१२</sup> ॥८५॥  
 विधिरेष न चाशक्तिरिति<sup>१३</sup> संभावितो नृपैः । स राज्यमकरोच्चापं<sup>१४</sup> वज्रकाण्डमयत्नतः ॥८६॥  
 तत्रामोघं शरं दिव्यं<sup>१५</sup> समधत्तोर्ध्वगामिनम् । वैशाखस्थानमास्थाय<sup>१६</sup> स्वनामाभरचिह्नितम् ॥८७॥  
 मुक्तसिंहप्रणावेन यदा मुक्तः शरोऽमुना<sup>१७</sup> । तदा सुरगणैस्तुष्टैस्तोऽस्य कृसुमांजलिः ॥८८॥

की ॥७७॥ इस समयस्त पृथिवीको गन्तुहित करते हुए प्रथम निधिपति-चक्रवर्तिनि फिर अपनी सेनाके साथ-साथ हिमवान् पर्वतके किनारे तक गमन किया ॥७८॥ गमन करते समय अपने विजयी हाथियोंके द्वारा सिन्धु नदीके किनारेकी भूमिको खूँदते हुए भरतेश्वर जब सिन्धुप्रपात-पर पहुँचे तब सिन्धु देवीने उनका अभिषेक किया ॥७९॥ वह देवी भरतको अपने निवास-स्थानके समीप आया हुआ जानकर रत्नोका अर्घ लेकर परिवारके साथ उनके पास आयी थी ॥८०॥ और उसने अपने हाथसे सुवर्णके सैकड़ों कलशोंमें भरे हुए सिन्धु नदीके पवित्र जलसे भद्रासनपर बैठे हुए महाराज भरतका अभिषेक किया था ॥८१॥ अभिषेक करनेके बाद उस देवीने मंगलरूप वस्त्राभूषण पहने हुए महाराज भरतको विजयसूचक आगीर्वादीसे आनन्दित किया तथा यह भी कहा कि हे देव, आज आपके दर्शनसे मैं पवित्र हुई हूँ ॥८२॥ वहाँ उस सिन्धु देवीका दिया हुआ दिव्य भद्रासन प्राप्त कर भरतने आगेके लिए प्रस्थान किया और कुछ दूर तक पीछे-पीछे आती हुई सिन्धु देवीको विदा किया ॥८३॥ हिमवान् पर्वतके समीप पहुँचकर उसके किनारोंको जीतते हुए भरत कितने ही मुकाम चलकर हिमवत् कूटके निकट जा पहुँचे ॥८४॥ वहाँ उन्होंने पुरोहितके साथ-साथ उपवास कर और दिव्य अस्त्रोंकी पूजा कर लाभकी पवित्र शय्यापर शयन किया ॥८५॥ अस्त्रोंकी पूजा करना यह एक प्रकारकी विधि ही है, कुछ चक्रवर्तीका असमर्थपना नहीं है, ऐसा विचार कर राजाओने जिनका सम्मान किया है ऐसे भरतराजने बिना प्रयत्नके ही अपना वज्रकाण्ड नामका धनुष डोरीसे सहित किया ॥८६॥ और वैशाख नामका आसन लगाकर अपने नामके अक्षरोसे चिह्नित तथा ऊपरकी ओर जानेवाला अपना अमोघ (अव्यर्थ) दिव्य बाण उस धनुषपर रखा ॥८७॥ जिस समय सिंहनाद करते हुए भरतने वह बाण छोड़ा था उस समय देवोंके समूहने सन्तुष्ट होकर उनपर फूलोंकी अजलियाँ छोड़ी थी, अर्थात् फूलोंकी वर्षा की थी ॥८८॥

१ उत्कृष्टनिधिपति । २ 'वरे त्वर्वाह'त्यभिधानात् । ३ सिन्धुनदी-पतनकुण्डम् । ४ आगच्छन् । ५ न्यपेचि द० । सेवते स्म । ६ उपाययौ । ७ सपरिकरा । ८ पवित्रैः । ९ विहितानुगमनाम् । १० जयन् जयन् ल०, अ०, इ० । जय जयन् प०, स० । ११ हिमवन्नामकूट । १२ अच्यवोत् स्म । १३ मन्त्रैरभिपूजयन् । १४ अन्धभावो न । १५ गोवीर्यसहितम् । १६ सधानमकरोत् । १७ वैशाखस्थाने स्थित्वा, वितस्त्वन्तरेण स्थिते पादद्वये विशाख, तथा चोक्तं धनुर्वेदे । वामपादप्रसारे वसिष्ठसंकोचे प्रथमलीढं दक्षिणजघाप्रसारे वामसंकोचे चालीढम् । तुल्यपादयुगम् समपदम् । वितस्त्वन्तरेण स्थिते पादद्वये विशाख, मण्डलाकृति पादद्वयं मण्डलम् । १९ वक्रिणा ।

स शरो दूरमुत्पत्य क्वचिदप्यस्वलङ्गतिः । संप्राप्यद्विमवलूटं तद्वैस्माकम्ययन् पतन् ॥८९॥  
 स मागधवदाध्याय<sup>१</sup> ज्ञातचक्रधरागमः । उच्चचाल चलन्मौलिस्तत्रिवासी<sup>३</sup> सुरोत्तमः ॥९०॥  
 संप्राप्तश्च तमुद्देशं यमध्यास्ते स्म चक्रभृत् । द्रोपदं संरम्भो धनुर्धामसकृत्प्रशन् ॥९१॥  
 तुङ्गोऽयं हिमवानद्रिखल्व्यश्च पृथग्जनैः । लङ्घितोऽथ त्वया देव त्वद्वृत्तमतिमात्रुषम् ॥९२॥  
 विप्रकृष्टान्तराः क्वास्मदावासाः क्व भवच्छरः । तथाप्याकम्पितास्तेन<sup>२</sup> पततैकपदे<sup>४</sup> वयम् ॥९३॥  
 स्वव्यतापः शरव्याजादुत्पतन् गगनाद्गणम् । गणबद्धपदे कर्तुमस्मान् नाहूतवान् भुवम् ॥९४॥  
 विजिताब्धिः समाक्रान्तविजयादङ्गुहोदरः । हिमाद्रिशिखरेष्वथ जृम्भते ते जयोद्यमः<sup>५</sup> ॥९५॥  
 जयवादोऽनुवादोऽयं<sup>६</sup> सिद्धदिग्विजयस्य ते । जयतात् नन्दताज्जिष्णो वद्विषीष्ट भवानिति ॥९६॥  
 समुच्चरन् जयध्वानमुखरः स सुरैः समम् । प्रभुं समाजयामास<sup>७</sup> सोपचारं सुरोत्तमः ॥९७॥  
 अभिषिष्य च राजेन्द्रं राजवद्विधिना<sup>८</sup> वदौ । गोशीर्षचन्दनं<sup>९</sup> सोऽस्मै सममौषधिमालया<sup>१०</sup> ॥९८॥  
 त्वदमुक्तिवासिनो<sup>११</sup> देव दूरानमितमौलयः । देवास्त्वासानमन्त्येते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥९९॥

जिसकी गति कही भी स्थलित नहीं होती ऐसा वह बाण ऊपरकी ओर दूर तक जाकर वहाँपर रहनेवाले देवके भवनमे पडकर उस भवनको हिलाता हुआ हिमवत्कूटपर जा पहुँचा ॥८९॥ मागध देवके समान कुछ विचार कर जिसने चक्रवर्तीका आगमन समझ लिया है ऐसा वहाँका रहनेवाला देव अपना मस्तक झुकाता हुआ चला ॥९०॥ और जिसने अपना कुछ क्रोध रोक लिया है ऐसा वह देव धनुषकी चापका स्पर्श करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा जहाँपर कि चक्रवर्ती विराजमान थे ॥९१॥ वह देव भरतसे कहने लगा कि हे देव, यह हिमवाद् पर्वत अत्यन्त ऊँचा है और साधारण पुरुषोंके द्वारा उल्लंघन करने योग्य नहीं है फिर भी आज आपने उसका उल्लंघन कर दिया है इसलिए आपका चरित्र मनुष्योंको उल्लंघन करनेवाला अर्थात् लोकोत्तर है ॥९२॥ हे देव, बहुत दूर बने हुए हम लोगोके आवास कहाँ ? और आपका बाण कहाँ ? तथापि पड़ते हुए इस बाणने हम सबको एक ही साथ कम्पित कर दिया ॥९३॥ हे देव, यह आपका प्रताप बाणके व्याजसे आकाशमे उछलता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो हम लोगोको गणबद्ध (चक्रवर्तीके अधीन रहनेवाली एक प्रकारकी देवोंकी सेना) देवोंके स्थानपर नियुक्त होनेके लिए बुला ही रहा था ॥९४॥ जिसने समुद्रको भी जीत लिया है और विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंके भीतर भी आक्रमण कर लिया है ऐसा यह आपका विजय करनेका उद्यम आज हिमवान् पर्वतके शिखरोपर भी फैल रहा है ॥९५॥ हे प्रभो, आपका समस्त दिग्विजय सिद्ध हो चुका है इसलिए हे जयशील, आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हों और सदा बढ़ते रहे इस प्रकार आपका जयजयकार बोलना पुनरुक्त है ॥९६॥ इस प्रकार उच्चारण करता हुआ जो जय जय शब्दोसे वाचाल हो रहा है ऐसा वह उत्तम देव अन्य अनेक उत्तम देवोंके साथ-साथ सब तरहके उपचारोसे भरतकी सेवा करने लगा ॥९७॥ तथा राजाओंके योग्य विधिसे राजाधिराज भरतका अभिषेक कर उसने उनके लिए औषधियोंके समूहके साथ गोशीर्ष नामका चन्दन समर्पित किया ॥९८॥ और कहा कि हे देव, आपके क्षेत्रमें रहनेवाले ये देव आपकी प्रसन्नताकी इच्छा करते हुए दूरसे ही मस्तक झुकाकर आपके लिए नमस्कार

१ संप्रापद्धिम- प०, ल० । २ विचार्येत्यर्थः । ३ हिमवत्कूटवासी । हेमवानाम् । ४ ईपत्पीडित । ५ सामान्य । ६ दिव्यमित्यर्थः । ७ दूर । ८ भवतो वाणः । ९ क्षरेण । १० युगपत् । ११ जयोद्योग । १२ सार्यकं पुनर्वचनमनुवादः । १३ संभावयामास । १४ राजार्हविधानेन । १५ हरिवन्दनम् । १६ वनपुष्पमालया । १७ तव पालनक्षेत्रवासिनः ।

धेहि<sup>१</sup> देव ततोऽस्मासु प्रसाद्वरलां दशम् । स्वामिप्रसादलाभो हि वृत्तिज्ञाभो<sup>२</sup>ऽनुर्जायिनाम्<sup>३</sup> ॥१००॥  
निदेशे<sup>४</sup> रुचितेश्वास्मान् संभावितुमर्हसि । वृत्तिलाभादपि प्रायस्तत्त्वाम्<sup>५</sup> किंरमंतः ॥१०१॥  
मानयन्निति<sup>६</sup> तद्वाक्यं<sup>७</sup> स तानमरसत्तमान् । व्यसर्जयस्वसत्कृत्य यथास्वं कृतमानान् ॥१०२॥  
हिमवज्जयशंसानि मङ्गलान्यस्य किन्नराः । जगुस्तत्कुञ्जदेशेषु<sup>८</sup> स्वैरमारग्यमुच्छ्रिता ॥१०३॥  
असकृत् किन्नरस्त्रीणामाधुन्वानाः स्तनावृत्तीः<sup>९</sup> । सरोव्रीचिमिदो मन्दमावबुस्तद्वनानिला ॥१०४॥  
स्थलाब्जिनीवनाद्विष्वक्<sup>१०</sup> किरन् विजल्कजं रजः । हिमी हिमाद्रिकुञ्जभ्यस्तं सिपेत्रे समीरणः ॥१०५॥  
स्थलाम्भोरुहिणीवास्य कीर्तिः साकं<sup>११</sup> जयश्रिया । हिमाचलनिकुञ्जेषु पप्रथे<sup>१२</sup> दिग्जयाजिता ॥१०६॥  
हिमाचलस्थलेष्वस्य धृतिरासीत् प्रपश्यतः । कृतोपहारकृत्येषु<sup>१३</sup> स्थलाम्भोर्वैर्विकस्रैः ॥१०७॥  
तमुच्चैर्दृष्टिमाक्रान्तिद्विकचक्रं विष्टतायतिम्<sup>१४</sup> । स्वमिवानल्यल्लङ्घि हिमाद्रिं बह्ममंस्तं<sup>१५</sup> स ॥१०८॥

कर रहे है ॥१०९॥ इसलिए हे देव, हम लोगोपर प्रसन्नतासे चंचल हुई दृष्टि डालिए क्योंकि स्वामीकी प्रसन्नता प्राप्त होना ही सेवक लोगोकी आजीविका प्राप्त होना है । मावार्थ — स्वामी लोग सेवकोंपर प्रसन्न रहे यही उनकी उचित आजीविका है ॥१००॥ हे स्वामिन्, आप उचित आज्ञाओंके द्वारा हम लोगोको सन्मानित करनेके योग्य हैं अर्थात् आप हम लोगोको उचित आज्ञाएँ दीजिए क्योंकि सेवक लोग स्वामीकी आज्ञा मिलनेको आजीविका ( तनखाह ) की प्राप्तिसे भी कहीं बढ़कर मानते हैं ॥ १०१ ॥ इस प्रकारके उस देवके वचनोकी प्रशंसा करते हुए भरतने उन सब उत्तम देवोंका सत्कार किया और सबको अपने अधीन कर विदा कर दिया ॥ १०२ ॥ उस समय अपने इच्छानुसार स्वरोका चढ़ाव-उतार करनेवाले किन्नर देव उस पर्वतके लतागुहोके प्रदेशोमें 'भरतने हिमवान् देवको जीत लिया है' इस बातको सूचित करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे ॥ १०३ ॥ उस समय वहाँ किन्नर देवोकी स्त्रियोंके स्तन ढकनेवाले वस्त्रोको बार-बार हिलाता हुआ तथा तालावकी तरगोंको छिन्न-भिन्न करता हुआ उस हिमवान् पर्वतके वनोका वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥ १०४ ॥ स्थल-कमलिनियोके वनके चारो ओर केशरसे उत्पन्न हुआ रज फैलाता हुआ तथा हिमवान् पर्वतके लतागुहोसे आया हुआ गीतल वायु महाराज भरतकी सेवा कर रहा था ॥ १०५ ॥ दिग्विजय करनेसे प्राप्त हुई भरतकी कीर्ति जयलक्ष्मीके साथ-साथ स्थलकमलिनियोके समान हिमवान् पर्वतके लतागुहोंमें फैल रही थी ॥ १०६ ॥ जिन्होंने फूले हुए स्थल-कमलोसे उपहारका काम किया है ऐसे हिमवान् पर्वतके स्थलोमें चारो ओर देखते हुए भरतको बहुत ही सन्तोष होता था ॥१०७॥ वह हिमवान् पर्वत ठीक भरतके समान था क्योंकि जिस प्रकार भरत उच्चैर्वृत्ति अर्थात् उत्कृष्ट व्यवहार धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह पर्वत भी उच्चैर्वृत्ति अर्थात् बहुत ऊँचा था, जिस प्रकार भरतने अपने तेजसे समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थी उसी प्रकार उस पर्वतने भी अपने विस्तारसे समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थी, जिस प्रकार भरत आयति अर्थात् उत्तम भवितव्यता ( भविष्यत्काल ) धारण करते थे उसी प्रकार वह पर्वत भी आयति अर्थात् लम्बाई धारण कर रहा था और जिस प्रकार भरतके पास अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थी उसी प्रकार उस पर्वतके पास भी अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थी । इस प्रकार अपनी समानता रखनेवाले उस हिमवान्

१ कुच । २ जीवितलाम् । 'आजीवी जीविका वार्ता वृत्तिवर्तनजीवने' इत्यभिधानात् । ३ सेवकानाम् । ४ शासनं । 'अपवादस्तु निदेशो निदेश शासनं च स । विष्टिश्चाज्ञा च' इत्यभिधानात् । ५ आज्ञाशालम् । ६ पूजयन् । ७ तद्वचस्य वचनम् । ८ हिमवन्निकुञ्जप्रदेशेषु । 'निकुञ्जमुञ्जो वा वनोवे लतादिभिर्हितोदरे' इत्यभिधानात् । ९ उरोजाच्छादनवस्त्राणि । १० सह । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यभिधानात् । ११ प्रकृष्टो-  
न्नयम् । १२ विहितगुणोपहारव्यापारेषु । १३ वृत्तधनागमम् । १४ बहुमानमकरोन् ।

अन्नान्तरै<sup>१</sup> गिरीन्द्रेऽस्मिन् व्यापारितद्वं प्रभुम् । विनोदवितुमित्युचैः पुरोधा गिरमभ्यधात् ॥ १०६ ॥  
 हिमवानयमु<sup>२</sup>नुङ्गः संगतः सततं श्रिया<sup>३</sup> । कुलक्षोणीभृतां धुर्यो<sup>४</sup> घत्ते युष्मदनुक्रियाम् ॥ ११० ॥  
 अहो महानयं मैलो दुरारोहो दुरुत्तरः<sup>५</sup> । गरसंधानमात्रेण सिद्धो<sup>६</sup> युष्मन्महोदयात् ॥ १११ ॥  
 चित्रैरलंकृता रत्नैरस्य श्रेणी हिरण्यमी । शतयोजनमात्रोच्चा टङ्कच्छिञ्चेव सात्यसौ ॥ ११२ ॥  
 स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवम् । स्थितोऽयं गिरिरामाति मानदण्डाधितो भुवः ॥ ११३ ॥  
 द्विर्विस्तृतोऽयमद्रीन्दो भरताद् भरतर्षभ<sup>७</sup> । मूले चोपरिभागे च तुल्यविस्तारसंमतिः<sup>८</sup> ॥ ११४ ॥  
 अस्यानुसानु रस्येयं वनराजी विराजते । शश्वदधुषिता सिद्धविद्याधरमहोरगः ॥ ११५ ॥  
 तटाभोगा<sup>९</sup> विमान्यस्य ज्वलन्मणिविचित्रिताः । चित्रिता इव संक्रान्तैः स्ववर्धप्रतिविम्बकैः ॥ ११६ ॥  
 पर्यटन्ति तटेऽप्यस्य सप्रदेश्यो<sup>१०</sup> नमङ्कराः । स्वैरसंभोगयोग्येषु हारिमिलितिकागृहैः ॥ ११७ ॥  
 विचिक<sup>११</sup> रमणीयेषु सानुजस्य ह्यतोस्सवाः । न दृष्टिं दधतेऽन्यत्र गीर्वाणाः साप्सरोगणाः ॥ ११८ ॥

पर्वतको भरतने बहुत कुछ माना था—आदरकी दृष्टिसे देखा था ॥ १०८ ॥ इसी बीचमें, जब कि महाराज भरत अपनी दृष्टि हिमवान् पर्वतपर डाले हुए थे—उसकी शोभा निहार रहे थे तब पुरोहित उन्हें आनन्दित करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट वचन कहने लगा ॥ १०९ ॥ हे प्रभो, यह हिमवान् पर्वत बहुत ही उत्तुंग अर्थात् ऊँचा है, सदा श्री अर्थात् शोभासे सहित रहता है और कुलक्षोणीभृत् अर्थात् कुलाचलोमें श्रेष्ठ है इसलिए आपका अनुकरण करता है—आपकी समानता धारण करता है क्योंकि आप भी तो उत्तुंग अर्थात् उदारमना है, सदा श्री अर्थात् राज्यलक्ष्मीसे सहित रहते हैं और कुलक्षोणीभृत् अर्थात् वंशपरम्परासे आये हुए राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ११० ॥ अहा, कितना आश्चर्य है कि यह बड़ा भारी पर्वत, जो कि कठिनाईसे चढ़ने योग्य है और जिसका पार होना अत्यन्त कठिन है, डोरीपर बाण रखते ही आपके पुण्य प्रतापसे आपके वश हो गया है ॥ १११ ॥ इसकी सुवर्णमयी श्रेणी अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुगोभित हो रही है, सौ योजन ऊँची है और ऐसी जान पड़ती है मानो टाँकीसे गढ़ कर ही बनायी गयी हो ॥ ११२ ॥ अपने पूर्व और पश्चिमके कोणोंसे 'लवण समुद्रमें प्रवेश कर' पड़ा हुआ यह पर्वत ऐसा सुगोभित हो रहा है मानो पृथिवीके नापनेका एक दण्ड ही हो ॥ ११३ ॥ हे भरतश्रेष्ठ, यह श्रेष्ठ पर्वत भरतक्षेत्रसे दूने विस्तारवाला है और मूल, मध्य तथा ऊपर तीनों भागोंमें इसका समान विस्तार है ॥ ११४ ॥ जिसमें सिद्ध, विद्याधर और नागकुमार निरन्तर निवास करते हैं ऐसी यह मनोहर वनकी पवित्र इस पर्वतके प्रत्येक शिखरपर गोभायमान हो रही है ॥ ११५ ॥ देदीप्यमान मणियोंसे चित्र-विचित्र हुए इस पर्वतके किनारेके प्रदेश बहुत ही अधिक सुगोभित हो रहे हैं और भीतर पड़ते हुए देवांगनाओंके प्रतिविम्बोंसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो उनमें अनेक चित्र ही खींचे गये हो ॥ ११६ ॥ सुन्दर लतागृहोंसे अपनी इच्छानुसार उपभोग करने योग्य इस पर्वतके किनारोंपर अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर लोग टहल रहे हैं ॥ ११७ ॥ जो देव लोग अपनी अप्सराओंके साथ इस पर्वतके निर्जन पवित्र और रमणीय किनारोंपर क्रीडा कर लेते हैं फिर उन्हें किसी दूसरी जगह सन्तोष नहीं होता

१ अस्मिन्नवसरे । २ श्रद्धेया लक्ष्म्या च । ३ मुख । ४ तवानुकरणम् । ५ अवतरितुमर्ह्यः । ६ राटो ल० । ७ द्विगुणविस्तारः । ८ भरतश्रेष्ठ । ९ तुल्या विस्तार—ल०, द० । १० सानुविस्तार । ११ प्रियतमासहिता । १२ पवित्र । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यभिधानात् ।

पर्यन्तेऽस्य<sup>१</sup> वनोद्देशा विकासि कुसुमस्मिताः । हसन्तीवामरोद्धानश्रियमात्मीयया श्रिया ॥११९॥

स्वेन सुधर्मा विमल्येष श्रियं नित्यानपायिनीम् ।

स्मार्त्ताः<sup>२</sup> स्मरन्ति यां शच्याः सौभाग्यसदकर्षिणीम् ॥१२०॥

मूर्तिं पद्महृदोऽस्यास्ति धृतश्रीं<sup>३</sup> बद्धवर्णनः । प्रसन्नचारिस्तुल्यहैमपद्मजमण्डनः ॥१२१॥

हृदस्यास्य पुरःप्रत्यक्तीरणं<sup>४</sup> द्वारनिर्गते । गङ्गासिन्धू महानद्यौ धत्तेऽयं धरणीधरः ॥१२२॥

सरितं रोहितास्यां च दधत्येष शिलोच्चयः । तदुदक्तीरणं<sup>५</sup> द्वाराभिः सत्योदबुधौ<sup>६</sup> गताम् ॥१२३॥

महापगामिरित्याभिरलङ्घ्यामिर्विमात्ययम् । तिसृभिः शक्तिभिः स्वं वा भूभृद्भावं विभावयन् ॥१२४॥

शिखरैरेष कुलीलः कीलयन्निव खाद्वणम् । सिद्धाध्वानं<sup>७</sup> रुणद्धीद्वैः परार्थ्यै<sup>८</sup> रुद्धदिबुधैः ॥१२५॥

परश्रुतमिहार्द्रान्दे सन्यावासाः सुधाशिनाम् । येऽनस्थां वरुणो<sup>९</sup> लक्ष्मीं हसन्तीव स्वसंपदा ॥१२६॥

इत्यनेकगुणोऽप्यस्मिन् दोषोऽस्त्येको महान् गिरौ । यत् पर्यन्तगतान्धत्ते<sup>१०</sup> गुरुष्व्यगुरुद्वन्द्वान् ॥१२७॥

अलङ्घ्यमहिमोद्गो गरिमाक्लान्तविष्टयः । जगद्गुरोः<sup>११</sup> पुरोरामामयं धत्ते धराधरः ॥१२८॥

है ॥११८॥ जो फूल हुए फूलरूपी हास्यसे सहित है ऐसे इसके किनारेके वनके प्रदेश ऐसे जान पड़ते है मानो अपनी शोभासे देवोके जगोकेकी शोभाकी हँसी हो कर रहे हो ॥११९॥ यह पर्वत अपने मस्तक ( शिखर ) से उस शोभाको धारण करता है, जो कि, सदा नाशरहित है और स्मृतिके जानकार पण्डित लोग जिसे इन्द्राणीके सौभाग्यका अहंकार दूर करनेवाली कहते है ॥१२०॥ इसके मस्तकपर पद्म नामका वह सरोवर है जिसमे कि श्री देवीका निवास है, शास्त्रकारोने जिसका बहुत कुछ वर्णन किया है, जिसमे स्वच्छ जल भरा हुआ है, और जो फूले हुए सुवर्ण कमलोसे सुशोभित है ॥१२१॥ यह पर्वत क्रमसे इस पद्मसरोवरके पूर्व तथा पश्चिम तोरणसे निकली हुई गंगा और सिन्धुनामकी महानदियोको धारण करता है ॥१२२॥ तथा पद्म सरोवरके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर उत्तरकी ओर गयी हुई रोहितास्या नदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥१२३॥ यह पर्वत इन अलङ्घ्य तीन महानदियोसे ऐसा सुशोभित होता है मानो उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीन शक्तियोसे अपना भूभृद्भाव अर्थात् राजापना ( पक्षमे पर्वतपना ) ही प्रकट कर रहा हो ॥१२४॥ देदीप्यमान तथा दिशाओको व्याप्त करनेवाले अपने अनेक शिखरोसे यह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो आकाशरूपी अग्नि-को कीलोसे युक्त कर देवोका मार्ग ही रोक रहा हो ॥१२५॥ इस पर्वतराजपर देवोके अनेक आवास हैं जो कि अपनी शोभासे स्वर्गकी बहुत भारी शोभाकी भी हँसी करते है ॥१२६॥ इस प्रकार इस पर्वतमे अनेक गुण होनेपर भी एक बड़ा भारी दोष है और वह यह कि यह स्वयं गुरु अर्थात् बड़ा होकर भी अपने चारों ओर लगे हुए अगुरु द्रुम अर्थात् छोटे-छोटे वृक्षोको धारण करता है ( परिहार पक्षमे अगुरु द्रुमका अर्थ अगुरु चन्दनके वृक्ष लेना चाहिए ) ॥१२७॥ यह पर्वत जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी सद्गता धारण करता है क्योंकि जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव अपनी अलङ्घ्य महिमासे उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट है उसी प्रकार यह पर्वत भी अपनी अलङ्घ्य महिमासे उदग्र अर्थात् ऊँचा है और जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवने अपनी गरिमा अर्थात् गुरुपनेसे समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया है उसी प्रकार इस पर्वतने भी अपनी गरिमा अर्थात् भारीपनसे समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया है । भावार्थ — जिस प्रकार भगवान् वृषभ-देवका गुरुपना समस्त लोकमे प्रसिद्ध है उसी प्रकार इस पर्वतका भारीपना भी लोकमे प्रसिद्ध

१ पर्यन्तस्य ल० । २ स्मृतिवेदिन । ३ धृता श्री ( देवी ) येन स । ४ पूर्वगन्धिमदिव्यत्तीरण ।

५ तलपथसरोवरस्योत्तरदिक्स्थितोत्तर । ६ उत्तरदिग्मुखीम् । ७ देवमेदमार्गम् । ८ अपरिमितः । 'पद्म' मन्त्रा शताधिकात् । ९ स्वर्गजम् । १० कालगुरुतरुन्, लघुतरुनिति ध्वनि । ११ उपमाम् ।



इत्यस्याद्रेः परां शोभां शंसत्युच्चैः<sup>१</sup> पुरोधसि । प्रशंसां स तमद्गीन्द्रं संप्रीतो भरताधिपः ॥१२६॥  
 स्वमुक्तिक्षेत्रसीमान सोऽमिनन्त्रं<sup>२</sup> हिमाचलम् । प्रत्यावृत्तं प्रशुद्धं<sup>३</sup> वृषभाद्रिं कुतूहलात् ॥१३०॥  
 यो योजनशतोच्छ्रायो मूले तावच्च विस्तृतः । तदूर्ध्वविस्तृतिर्मूर्ध्नि शुबो मौलिरिदोद्गतः ॥१३१॥  
 यस्योत्संगशुबो रम्याः कदली<sup>४</sup> पण्डमण्डितैः । संभोगाय नभोगानां वल्पन्ते स्म<sup>५</sup> लतालयैः ॥१३२॥  
 सनागर्भं सनागैश्च सपुत्रागैः परिप्लुतम् । यदुपान्ते वनं सेव्यं मुच्यते जातु नामरैः ॥१३३॥  
 स्वतटस्फटिकोत्सर्प्यमादिग्धहरिन्मुखम्<sup>६</sup> । गरदग्रैरिवारव्ववपुषं<sup>७</sup> सनमोऽब्रुवन्<sup>८</sup> ॥१३४॥  
 तं शैलं भुवनस्यैकं ललामेव<sup>९</sup> निरूपयन्<sup>१०</sup> । कलयामास लक्ष्मीवान् स्वयशःप्रतिमानकम्<sup>११</sup> ॥१३५॥  
 तमेकपाण्डुरं<sup>१२</sup> शैलमाकङ्क्षान्तमनश्चरम् । स्वयशोराशिनीकाशं<sup>१३</sup> पश्यन्नमिननन्द सः ॥१३६॥  
 सोऽचलः प्रभुमायान्तं<sup>१४</sup> मायान्तमखिलद्विषाम् । प्रत्यग्रहीदिवाभ्येत्य<sup>१५</sup> विष्वच्चरिर्मर्वनानिलैः ॥१३७॥  
 तत्तदोपान्तविश्रान्तस्वचरोरगकिन्नरैः । प्रोद्गीयमानममलं क्षुश्रुवे<sup>१६</sup> स्वयशोऽमुना ॥१३८॥  
 जयलक्ष्मीमुखालोकमङ्गलादर्शविभ्रमाः । तत्तदीमिच्छयो जुहुर्मनोऽस्य स्फटिकामलाः ॥१३९॥

है, अथवा इस पर्वतने अपने विस्तारसे लोकका बहुत कुछ अंश व्याप्त कर लिया है ॥१२८॥  
 इस प्रकार जब पुरोहित उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन कर चुका तब भरतेस्वरने भी प्रसन्न होकर उस पर्वतकी प्रशंसा की ॥१२९॥ अपने उपभोग करनेयोग्य क्षेत्रकी सीमा स्वरूप हिमवान् पर्वतकी प्रशंसा कर महाराज भरत कुतूहलवश वृषभाचलको देखनेके लिए लौटे ॥१३०॥

जो सी योजन ऊँचा है, मूल तथा ऊपर क्रमसे सी और पचास योजन चौड़ा है एवं ऊपरकी ओर उठा हुआ होनेसे पृथिवीके मस्तकके समान जान पड़ता है । जिसके ऊपरके मनोहर प्रदेश केलोके समूहसे सुशोभित लतागृहोसे आकाशगामी देव तथा विद्याधरोके उपभोग करने योग्य है, नाग, सहजना और नागकेशरके वृक्षोसे घिरे हुए तथा सेवन करने योग्य जिस पर्वतके समीपके जनोको देव लोग कभी नहीं छोड़ते है । अपने तटपर लगे हुए स्फटिक मणियोंकी फैलती हुई प्रभासे जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली है, जिसका शरीर शरदृश्रुके बादलोसे बना हुआ-सा जान पड़ता है और जो सदा देव तथा विद्याधरोसे सहित रहता है, ऐसे उस पर्वतको लोकके एक आभूषणके समान देखते हुए श्रीमान् भरतने अपने यशका प्रतिबिम्ब माना था ॥१३१-१३५॥ जो एक सफेद रंगका है और जो कल्पान्त काल तक कभी नष्ट नहीं होता ऐसे उस वृषभाचलको अपने यशकी राशिके समान देखते हुए महाराज भरत बहुत ही आनन्दित हुए थे ॥१३६॥ उस समय वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त शत्रुओंकी सर्वमुखी भाग्यको नष्ट करनेवाले चक्रवर्ती भरतको अपने समीप आता हुआ जानकर चारो ओर बहनेवाले वनके वायुके द्वारा सामने जाकर उनका स्वागत-सत्कार ही कर रहा हो ॥१३७॥ वहाँपर भरतने उस पर्वतके किनारेके समीप विश्राम करते हुए विद्याधर नागकुमार और किन्नर देवोके द्वारा गाया हुआ अपना निर्मल यश भी सुना था ॥१३८॥ स्फटिकके समान

१ स्तुति कुर्वति सति । २ प्रशंस्य । ३ व्याघटितवान् । ४ खण्ड-अ०, द०, स०, ल० । ५ समर्था भवन्ति । ६ नागवृक्षसहितम् । ७ सर्जकतर्षभिः । ८ यदुपान्तवनं ल०, प०, द०, अ०, प०, स० । ९ लिप्तविद्गुणम् । १० घटित । ११ आकाशस्पर्शनसहितम्, देव-विद्याधर-सहितम् । १२ तिलकम् । १३ विलोकयन् । १४ सदृशम् । १५ केवल धवलम् । १६ समानम् । १७ आ समन्तात् अथ आय तस्य अन्त अन्तक नाश इत्यर्थः । निभृत्यन्तकम् समन्तात्पुण्यानाशकमित्यर्थः । 'अत युभावहो विधि' रित्यभिधानात् । १८ समन्तात् प्रसारिभिः । विष्वच्चरद् विष्वगञ्चतीत्यभिधानात् । १९ श्रूयते स्म ।

अधिमेषलमस्यासीच्छिलामितिषु चक्रिणः । स्वनामाक्षरविन्यासे घृतिर्विश्वक्षमाजितः<sup>२</sup> ॥१४०॥  
 काकिणीरत्नमादाय यदा लिलिखिषत्ययम्<sup>३</sup> । तदा राजसहस्राणां<sup>४</sup> नामान्यत्रैक्षताधिवाद<sup>५</sup> ॥१४१॥  
 असंख्यकल्पकोटीषु येऽतिक्रान्ता धराभुजः । तेषां नामभिराकीर्णं तं पश्यन् स सिंसिम्पये ॥१४२॥  
 ततः किञ्चित् स्वलदगर्वो विलक्षीभूय<sup>६</sup> चक्रिराट् । अनन्यशासनासेनां न मेने भरतावनीम् ॥१४३॥  
 स्वयं कस्यचिदेकस्य निरस्त्रस्यामशासनम् । स मेने निखिलं लोकं प्रायः स्वार्थपरायणम् ॥१४४॥  
 अथ तत्र शिलापट्टे स्वेहस्ततलनिस्तले<sup>७</sup> । प्रशस्तिसित्युदात्तार्थं व्यलिखत् स यशोधनः ॥१४५॥  
 स्वस्तीक्ष्वाकुलव्योमतलप्रालेयदीधितिः । चातुरन्तं महीभर्ता<sup>८</sup> भरतः शातमातुरः<sup>९</sup> ॥१४६॥  
 श्रीमानानघनिःशेषखचरामरभूचरः । प्राजापत्यो<sup>१०</sup> मनुमान्यः शूरः शुचिहृदारधीः ॥१४७॥  
 चरमाङ्गधरो धीरो<sup>११</sup> धौरेयश्चक्रधारिणाम् । परिक्रान्तं धराचक्रं जिष्णुना येन दिग्जये ॥१४८॥  
 यस्याष्टादशकोटयोऽश्वा जलस्थलविलङ्घिनः । लक्षाश्चतुरशीतिश्च मदेभा जयसाधने ॥१४९॥  
 यस्य दिग्विजये विष्णवबलरेणुमिरुस्थितैः । सदिङ्मुखं खमारुढं कपोतगलकडुर्द<sup>१२</sup> ॥१५०॥

निर्मल और विजयलक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मगलमय दर्पणके समान उस वृषभाचलके किनारे-  
 की दीवारें भरतका मन हरण कर रही थी ॥ १३९ ॥ समस्त पृथिवीको जीतनेवाले चक्रवर्ती  
 भरतको उस पर्वतके किनारेकी शिलाकी दीवारोपर अपने नामके अक्षर लिखनेमें बहुत कुछ  
 सन्तोष हुआ था ॥ १४० ॥ चक्रवर्ती भरतने काकिणी रत्न लेकर ज्यो ही वहाँ कुछ लिखनेकी  
 इच्छा की त्यो ही उन्होंने वहाँ लिखे हुए हजारों चक्रवर्ती राजाओके नाम देखे ॥१४१॥ असंख्यात  
 करोड़ कल्पोंमें जो चक्रवर्ती हुए थे उन सबके नामोंसे भरे हुए उस वृषभाचलको देखकर भरत-  
 को बहुत ही विस्मय हुआ ॥ १४२ ॥ तदनन्तर जिसका कुछ अभिमान दूर हुआ है ऐसे चक्र-  
 वर्तीने आश्चर्यचकित होकर इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीको अनन्यशासन अर्थात् जिसपर दूसरेका  
 शासन न चलता हो ऐसा नहीं माना था । भावार्थ — वृषभाचलकी दीवारोपर असंख्यात  
 चक्रवर्तियोंके नाम लिखे हुए देखकर भरतका सब अभिमान नष्ट हो गया और उन्होंने स्वीकार  
 किया कि इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीपर मेरे समान अनेक शक्तिशाली राजा हो गये हैं ॥ १४३ ॥  
 चक्रवर्ती भरतने किसी एक चक्रवर्तीके नामकी प्रशस्तिको स्वयं — अपने हाथसे मिटाया और  
 जैसा करते हुए उन्होंने प्रायः समस्त ससारको स्वार्थपरायण समझा ॥ १४४ ॥

अथानन्तर — यश ही जिसका धन है ऐसे चक्रवर्तीने अपने हाथके तलभागके समान  
 चिकने उस शिलापट्टपर नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट अर्थसे भरी हुई प्रशस्ति लिखी ॥ १४५ ॥  
 स्वस्ति श्री इक्ष्वाकु वंशरूपी आकाशका चन्द्रमा और चारो दिशाओकी पृथिवीका स्वामी  
 मैं भरत हूँ, मैं अपनी माताके सौ पुत्रोंमेंसे एक बड़ा पुत्र हूँ, श्रीमान् हूँ, मैंने समस्त विद्याधर  
 देव और भूमिगोचरी राजाओको नञ्जीभूत किया है, प्रजापति भगवान् वृषभदेवका पुत्र हूँ,  
 मनु हूँ, मान्य हूँ, शूरवीर हूँ, पवित्र हूँ, उत्कृष्ट बुद्धिका धारक हूँ, चरमवीररी हूँ, धीर वीर हूँ,  
 चक्रवर्तियोंमें प्रथम हूँ और इसके सिवाय जिस विजयीने दिग्विजयके समय समस्त पृथिवीमण्डल-  
 की परिक्रमा दी है अर्थात् समस्त पृथिवीमण्डलपर आक्रमण किया है, जिसके जल और स्थल-  
 में चलनेवाले अठारह करोड़ घोड़े हैं, जिसकी विजयी सेनामें चौरासी लाख मदनोन्मत्त हाथी

१ सतोप । २ सकलमहीविजयिण । ३ लिखितुमिच्छति । ४ अपरिमितानां राजाभित्यर्थ । ५ विस्मयान्वितो  
 भूत्वा । 'विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यभिधानात् । ६ वलुले समतले इत्यर्थ । ७ चतुरन्तो द०, प०, ड०,  
 न०, स० । ८ त्रिसमुद्र-हिमवद्गिरिपर्यन्तमहीनाथ । ९ अतस्य माता शतमाता तस्या अपश्यं शातमातुरः ।  
 १० प्रजापते पुरोरपत्यं पुमान् । ११ मुख्य ।

प्रसाधितविशो यस्य यशः शगिकलामलम् । सुरैरसकृदुद्गीर्तं कुलक्षोणीप्रकुक्षिपु ॥१५१॥  
 द्विजये यस्य सैन्यानि विश्रान्तान्यधिष्ठितम् । चक्रानुभ्रान्तिताम्रानि क्रान्वा हंसवतीस्थलीः ॥१५२॥  
 नसा श्रीनामिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेभिनिः । यत्पण्डमण्डिताम्रैर्ना यः स्म आस्यखिलां महीम् ॥१५३॥  
 भवासां गम्भीरं लक्ष्मीं जित्वः सर्वभूयताम् । जगद्विस्तृतीं कीर्त्तिमतिष्ठिद्विहाचले ॥१५४॥  
 इति प्रगस्तिमारमीयां विलिखन् स्वयमक्षरैः । प्रसूनप्रकर्षुर्भुक्तैर्गोश्वचक्रिरेऽमरैः ॥१५५॥  
 तत्रोच्चैरुच्चरद्भवाना मन्द्रदुन्दुभयोऽध्वनन् । दिवि देवा जयत्याशीशतप्युच्चैरघोषयन् ॥१५६॥  
 स्वर्भुनीमीकरासारवाहिनो गन्धवाहिनः । मन्दं त्रिचैरुधत्तं सान्द्रमन्दारनन्दना ॥१५७॥  
 न केवलं शिलाभित्तावस्य नामांक्षरावली । लिखितानेन चान्द्रेऽपि विम्वे तल्लान्छनच्छलात् ॥१५८॥  
 लिखितं साक्षिणे भुक्तिरित्यस्तीहापि शासने । लिखितं सोऽचलो भुक्तिर्द्विजये साक्षिणोऽमराः ॥१५९॥  
 अहो महानुभावोऽयं चक्री द्विचक्रनिर्जयं । येनाक्रान्तं महोचक्रमानक्रवसतित्रिकात् ॥१६०॥  
 खचराद्रिरलङ्घ्योऽपि हेल्यालङ्घिनोऽमुना । कीर्तिः स्यलालङ्घिनोऽमुना ॥१६१॥

है, जिसकी दिग्विजयके समय चारो ओर उठी हुई कवूतरके गलेके समान कुछ-कुछ मलिन सेनाकी धूलिसे समस्त दिशाओके साथ-साथ आकाश भर जाता है, समस्त दिशाओको वश करनेवाले जिसका चन्द्रमाकी कलाओके समान निर्मल यज्ञ कुलपर्वतोके मध्यभागमें देव लोग बार-बार गाते हैं, दिग्विजयके समय चक्रके पीछे-पीछे चलनेसे थकी हुई जिसकी सेनाओंने हिमवायु पर्वतकी तराईको उल्लंघन कर दिशाओके अन्तभागमें विश्राम लिया है, जो श्री नाभिराजका पौत्र है, श्री वृषभदेवका पुत्र है, जिसने छह खण्डोंसे मुशोभित इस समस्त पृथिवीका पालन किया है और जो समस्त राजाओंको जीतनेवाला है ऐसे मुख भरतने लक्ष्मीको नन्वर समझकर जगत्में फैलनेवाली अपनी कीर्तिको इस पर्वतपर स्थापित किया है ॥ १४६ - १५४ ॥ इस प्रकार चक्रवर्त्तिने अपनी प्रगस्ति स्वयं अक्षरोके द्वारा लिखी, जिस समय चक्रवर्ती उक्त प्रगस्ति लिख रहे थे उस समय देव लोग उनपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १५५ ॥ वहाँ जोर-जोरसे गव्व करते हुए गम्भीर नगाड़े बज रहे थे, आकाशमें देव लोग जय-जय इस प्रकार सैकड़ों आशीर्वाद रूप गव्वोंका उच्चारण कर रहे थे ॥ १५६ ॥ और गंगा नदीके जलकी बौंदोंके समूहको धारण करता हुआ तथा कल्पवृक्षोंके सघन वनको हिलाता हुआ वायु धीरे-धीरे वह रहा था ॥ १५७ ॥ भरतके नामके अक्षरोंकी पवित्र केवल जिलाकी दीवारपर ही नहीं लिखी गयी थी किन्तु उन्होंने काले चिह्नके वहानेसे चन्द्रमाके मण्डलमें भी लिख दी थी । भावार्थ - चन्द्रमाके मण्डलमें जो काला-काला चिह्न दिखाई देता है वह उसका चिह्न नहीं है, किन्तु भरतके नामके अक्षरोकी पवित्र ही है, यहाँ कविने अपह्नुति अलंकारका आश्रय लेकर वर्णन किया है ॥ १५८ ॥ अन्य प्रगस्तियोके समान भरतकी इस प्रगस्तिमें भी लेख, साक्षी और उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र ये तीनों ही बातें थी क्योंकि लेख तो वृषभाचलपर लिखा ही गया था, दिग्विजय करनेसे छह खण्ड भरत उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र था और देव लोग साक्षी थे ॥ १५९ ॥ अहा, यह चक्रवर्ती बड़ा प्रतापी है क्योंकि इसने समस्त दिशाओको जीतते समय पूर्व पश्चिम और दक्षिणके तीनों समुद्रपर्यन्त समस्त भूमण्डलपर आक्रमण किया है - समस्त भरतको अपने वज्र कर लिया है । यद्यपि विजयार्थ पर्वत उल्लंघन करनेयोग्य नहीं है तथापि इसने

१ चक्रानुगमनेन विज्ञानि । २ गमनशीलम् । ३ जयनशीलः । ४ विसरणशीलम् । ५ वक्रलिखत् ल०, अ०, द०, स० । ६ आवीर्णः । ७ - राष्मात् ल० । ८ पत्रम् । ९ पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रपर्यन्तम् ।

इति दृष्टापदान<sup>१</sup> तं पुष्टुपुनिकिनायकाः । दिष्ट्या<sup>२</sup> स्म वर्धयन्त्येनं साङ्गनाश्र नमश्चराः ॥१६२॥  
 भूयः प्रोत्साहितो देवैर्जयोद्योगमनूयन्<sup>३</sup> । गङ्गापातसमीपे<sup>४</sup> व्याहृत इव तत्सर्वनैः ॥१६३॥  
 गलद्वगङ्गाभ्रमुनिप्लूतः शीकरा मटशीकरैः । संमूर्च्छन्नुपेमाणां<sup>५</sup> व्यात्युर्क्षा<sup>६</sup> वा तितांसवः ॥१६४॥  
 पतद्गङ्गाजलावर्तपरिवर्द्धितकौतुकः । प्रत्याग्राहि स तत्पाते गङ्गादेव्या शृताधया ॥१६५॥  
 सिंहासने निवेशयेनं प्राव्युखं सुखगीतलैः । सोऽभ्यषिञ्चजलैर्गाङ्गा शशाङ्कग्रहासिभिः ॥१६६॥  
 कृतमङ्गलसङ्गीतानादीत्थंरवाकुलम् । निर्वर्त्य मञ्जनं जिष्णुमेजे मण्डनमप्यतः ॥१६७॥  
 अथात्सै व्यत रत् प्राशु<sup>७</sup> रत्नांशुस्थगिताम्बरम् । सेंद्रचापमिवाङ्गीन्द्रशिखरं हरिविष्टरम् ॥१६८॥  
 चिरं वर्द्धस्व बद्धिप्लो जीवताञ्जन्तदाद् भवान् । इत्यनन्तरमागस्य तिरोऽभूत् सा विसर्जिता ॥१६९॥  
 अनुगङ्गाततं सैन्यैरावजन्विषयाधिपैः । सिंघे पवमानैश्च गङ्गागुणवाहिभिः ॥१७०॥  
 गङ्गातटव्रनोपास्तनिवेगेषु विशाम्यतिस्म । सुखयासासुरन्वीपमायाता<sup>८</sup> जनमास्ताः<sup>९</sup> ॥१७१॥

उसे लीलामात्रमे ही उल्लंघन कर दिया है और इसकी कीर्ति स्थल-कमलनीके समान हिमालय पर्वतकी गिखरपर आरुढ हो गयी है । इस प्रकार जिनका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे उन भरत महाराजकी बड़े-बड़े देव भी स्तुति कर रहे थे और अपनी-अपनी स्त्रियोसे सहित विद्याधर लोग भी भाग्यसे उन्हें बढा रहे थे अर्थात् आगीर्वाद दे रहे थे ॥१६०-१६२॥

तदनन्तर-जिन्हें देवोंने फिर भी उत्साहित किया है ऐसे महाराज भरतने अपने विजयके उद्योगको कम न करते हुए गंगापात ( जहाँ हिमवान् पर्वतसे गंगा नदी पड़ती है उसे गंगापात कहते हैं ) के सम्मुख इस प्रकार गये मानो उसके शब्दोके द्वारा बुलाये ही गये हो ॥१६३॥  
 ऊपरसे गिरती हुई गंगा नदीके जलके समीपसे उछटे हुए छोटे-छोटे जलकण राजाओके हाथियों-के मदकी बूंदोके साथ इस प्रकार मिल रहे थे मानो वे दोनों परस्पर फाग ही खेलना चाहते हो अर्थात् एक दूसरेको सीचना ही चाहते हो ॥१६४॥ पडते हुए गंगाजलकी भँवरोंसे जिसका कौतुहल बढ रहा है ऐसे भरतका गंगापातके स्थानपर अर्ध धारण करनेवाली गंगादेवीने सामने आकर सत्कार किया ॥१६५॥ गंगादेवीने चक्रवर्ती भरतको पूर्व दिशाकी ओर मुख कर सिंहासनपर बैठाया और फिर सुखकारी, गीतल तथा चन्द्रमाकी किरणोकी हँसी करनेवाले गंगा नदीके जलसे उनका अभिषेक किया ॥१६६॥ जिसमे मंगल संगीत, आगीर्वाद वचन और तुरही आदि वाजोके शब्द मिले हुए हैं ऐसे अभिषेकको समाप्त कर विजयगील भरतने उसी गंगादेवीसे सब वस्त्राभूषण भी प्राप्त किये ॥१६७॥ तदनन्तर देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोसे जिसने आकाश भी व्याप्त कर लिया हैं और जो इन्द्रधनुषसहित सुमेरु पर्वतके शिखरके समान जान पड़ता है ऐसा एक सिंहासन गंगादेवीने भरतके लिए समर्पित किया ॥१६८॥ और फिर 'सदा बढनेवाले हे महाराज भरत, अपि चिर काल तक बढते रहिए, चिरकाल तक जीवित रहिए और चिरकाल तक आनन्दित रहिए अथवा समृद्धिमान रहिए इस प्रकार आशीर्वाद देकर महाराज भरतके द्वारा बिदा हो वह गंगादेवी तिरोहित हो गयी ॥१६९॥

अथानन्तर-सेनाके साथ-साथ गंगाके किनारे-किनारे जाते हुए भरतकी अनेक देशोके स्वामी-राजाओने और गंगा नदीके जलकी बूंदोको धारण करनेवाले वायुने सेवा की थी ॥१७०॥ गंगा किनारेके वनोके समीपवर्ती भागोंमें पीछेसे आता हुआ वनका वायु चक्रवर्ती

१ दृष्टापदानम् । दृष्टापदान ५०, अ० । दृष्टापदानं ल० । २ सन्तोषेण । ३ अनून कुर्वन् संवर्द्धयन्नित्यर्थः । ४ अभिमुखमगच्छत् । ५ प्रसरति स्म । ६ नृपसवन्निगजानाम् । ७ परस्परसेचनम् । ८ वित्तारितुमिच्छवः । ९ दत्तौ । १० उन्नत । ११ अनुकूलताम् । १२ वनवायव ल० ।

वने वनचरस्त्रीणामुदस्थन्नलकावलीः । मुहुस्सखलं कपालेषु नृत्यद्वनशिखण्डिनाम् ॥१७२॥  
 विलोलितालिराधुन्वद्भुत्फुल्लं वनवल्लरीः । गिरिनिर्झरसंश्लेषशिशिरो मरुदाववौ ॥१७३॥  
 प्रतिप्रयाणमानन्ना नृपास्तद्देशवासिनः । प्रभुमाराधयार्चकुराक्रान्ता जयसाधनैः ॥१७४॥  
 कृत्स्नामिति प्रसाधैनामुत्तरां भरतावनिम् । प्रत्यासीद्दुथो जिष्णुर्विजयाद्धं चलस्थलीः ॥१७५॥  
 तन्नावासितसैन्यं च सेनान्यं प्रभुरादिशत् । अपावृतं गुहाद्वारः प्राच्यखण्डं जयेत्यरम् ॥१७६॥  
 यावदभ्येति सेनानीम्लेच्छराजजयोद्यमात् । तावत्प्रभोः किलातीयुर्मासाः पट् सुखसंगिनः ॥१७७॥  
 दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः निवसन्तोऽम्बरेश्वराः । विद्याधराधिपैः सार्द्धं प्रभुं द्रष्टुमिहाययुः ॥१७८॥  
 विद्याधरधराधीशैरादानम्रमौलिभिः । नखांशुमालिकाग्न्याजादाज्ञास्य गिरसा हृता ॥१७९॥  
 नमिश्च विनमिद्वैव विद्याधरधराधिपौ । स्वसारधनसामग्र्या विभुं प्रष्टुमुपेयतुः ॥१८०॥  
 विद्याधरधरासारधनोपायनसंपदा । तदुपानीतयाऽनन्यलभ्ययासीद्विभोर्दृतिः ॥१८१॥  
 तदुपाकृतलौघैः कन्यारत्नपुरःसरैः । सरिदोघैरिवोदन्वानापर्युत तदा प्रभुः ॥१८२॥  
 स्वसारं च नमैर्धन्यां सुभद्रां नामकन्यकाम् । उदुवाहं स लक्ष्मीवान् कल्याणैः खचरोचितैः ॥१८३॥

को सुखो कर रहा था ॥१७१॥ वहाँके वनमे भीलोकी स्त्रियोंके केशोके समूहको उड़ाता हुआ नृत्य करते हुए वनमयूरीकी पूँछपर बार-बार टकराता हुआ अमरको इधर-उधर भगाता हुआ, फूली हुई वनकी लताओंको कुछ कुछ हिलाता हुआ और पहाड़ी झरनोके स्पर्शसे शीतल हुआ वायु चारों ओर बह रहा था ॥१७२-१७३॥ विजय करनेवाली सेनाके द्वारा दबाये हुए उन देशोमे निवास करनेवाले राजा लोग नम्र होकर प्रत्येक पड़ावपर महाराज भरतकी आराधना करते थे ॥१७४॥ इस प्रकार उत्तर भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवीको दश कर विजयी महाराज भरत फिरसे विजयार्ध पर्वतकी तराईमे आ पहुँचे ॥१७५॥ वहाँपर उन्होंने सेना ठहराकर सेनापतिके लिए आज्ञा दी कि 'गुफाका द्वार उघाड़कर शीघ्र ही पूर्व खण्डकी विजय प्राप्त करो' ॥१७६॥ जबतक सेनापति म्लेच्छराजाओंको जीतकर वापस आया तबतक सुखपूर्वक रहते हुए महाराज भरतके छह महीने वहीपर व्यतीत हो गये ॥१७७॥ विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीपर निवास करनेवाले विद्याधर लोग अपने-अपने स्वामियोंके साथ महाराज भरतका दर्शन करनेके लिए वहीपर आये ॥१७८॥ दूरसे ही मस्तक झुकानेवाले विद्याधर राजाओने नखोंकी किरणोंके समूहके बहानेसे महाराज भरतकी आज्ञा अपने सिरपर धारण की थी । भावार्थ-नमस्कार करते समय विद्याधर राजाओंके मस्तकपर जो भरत महाराजके चरणोंके नखोंकी किरणें पड़ती थी उनसे वे ऐसे सालूम होते थे मानो भरतकी आज्ञा ही अपने मस्तकपर धारण कर रहे हों ॥१७९॥ नमि और विनमि दोनों ही विद्याधरोके राजा अपने मुख्य धनकी सामग्रीके साथ भरतके दर्शन करनेके लिए समीप आये ॥१८०॥ नमि और विनमि जो अन्य किसीको नहीं मिलनेवाली विद्याधरोके देशकी मुख्य धनरूप सम्पत्ति भेटमे लाये थे उससे महाराज भरतको भारी सन्तोष हुआ था ॥१८१॥ जिस प्रकार नदियोंके प्रवाहसे समुद्र पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार उस समय नमि और विनमिके द्वारा उपहारमे लाये हुए कन्यारत्न आदि अनेक रत्नोके समूहसे महाराज भरतकी इच्छा पूर्ण हो गयी थी ॥१८२॥ श्रीमान् भरतने राजा नमिकी बहिन सुभद्रा नामकी उत्तम कन्याके साथ

१ स्थलीम् ल०, द०, इ०, अ०, स० । २ सैन्यश्च ल० । ३ विभुः । ४ उद्घाटित । ५ पूर्वखण्डम् । ६ शीघ्रम् । ७ आगच्छन् । ८ क्षेत्र । ९ प्रभुं ल०, अ०, स०, इ०, द० । १० विद्याधररूपायनोक्तया । ११ भगिनीम् । 'भगिनी स्वसा' इत्यभिधानात् । १२ परिणीतवान् ।

तां मनोजैस्सत्येव सुतिं संप्राप्य चक्रधृत् । स्वं मेने सफलं जन्म परमानन्दनिर्भरः ॥१८३॥  
 तावाञ्छितनिर्भोयम्लेच्छराजबलो वलै । जयलक्ष्मीं पुरस्कृत्य सेनानीः प्रभुमैक्षत ॥१८४॥  
 कृतकार्यं च सत्कृत्य तां तंश्च म्लेच्छनायकान् । विसर्ज्य सन्नादं सञ्जोभूत् प्रत्यायातुमपाह्महीम् १८६  
 जयप्रयाणसंशित्यस्तदा भेर्यं प्रध्वजान् । विष्वक्वलार्णवे क्षोभमातन्वन्त्यो महोन्मताम् ॥१८७॥  
 तां काण्डकप्रपातस्थानं प्रागेवोद्घातितां गुहाम् । प्रविशेश बलं जिष्णोश्चक्रवपुरोगमाम् ॥१८८॥  
 गङ्गापगोभयप्रान्तमहावीथीद्वयेन सा । व्यतीयाय गुहां सेना कृतद्वारां चमूभृतां ॥१८९॥  
 सुच्यमाना गुहा सैन्यैर्विचरादुच्छ्वसितेव सा । चमूरपि गुहारोघाञ्चिःसृत्योज्जीवितेव सा ॥१९०॥  
 नाट्यमालामरस्तत्र रत्नाभं प्रभुमर्चयन् । प्रत्यगुद्गाद् गुहाद्वारि पूर्णकुम्भादिमङ्गलैः ॥१९१॥  
 कृतोपच्छन्दनं<sup>१</sup> चासु नाट्यमालं सुरर्षभम्<sup>२</sup> । न्यसर्जयद्यथोद्देशं<sup>३</sup> सत्कृत्य भरतर्षभः ॥१९२॥  
 कृतोदयमिदं ध्वान्तालरितो गगनेधरा । परिचेरुर्नमोमार्गमाह्वय दृतसायकाः ॥१९३॥

मालिनीवृत्तम्

नमिनिमिपुरो गौरान्वितः खेचरेन्द्रैः खचरगिरिगुहान्तज्वन्तमुत्सार्य दूरम् ।  
 रक्षित्व किरणौघैद्योतयन्निधिमालान् निधिपतिरुचिधाय<sup>४</sup> प्रीणयन् जीवलोकम् ॥१९४॥  
 सरसकिशलयान् स्पन्दमन्दैः सुरबीस्तनतपरिलक्ष्मीमसंक्रान्तचारि<sup>५</sup> ।  
 सरति<sup>६</sup> मसति मन्दं चन्द्ररेण्वद्विमर्त्तुमिधिपतिशिविराणां प्रादुरासन्निवेशाः ॥१९५॥

विद्याधरोके योग्य मगलाचारपूर्वकं निवाहं किया ॥१८३॥ रसकी धाराके समान मनोहर उस सुमद्राको पाकर उत्कृष्ट आनन्दसे भरे हुए चक्रवर्तीने अपना जन्म सफल माना था ॥१८४॥ इतनेमें ही जिसने अपनी सेनाके द्वारा समस्त म्लेच्छ राजाओंकी सेना जीत ली है ऐसे सेनापति-ने जयलक्ष्मीको आगे कर महाराज भरतके दर्शन किये ॥१८५॥ जिसने अपना कार्य पूर्ण किया है ऐसे सेनापतिका सम्मान कर और आये हुए म्लेच्छ राजाओंको विदा कर सन्नाद भरतेवचर दक्षिणकी पृथिवीकी ओर आनेके लिए तैयार हुए ॥१८६॥ उस समय विजयके लिए प्रस्थान करनेकी सूचना देनेवाली भेरियाँ राजाओंकी सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करती हुई चारो ओर वज्र रही थी ॥१८७॥ चक्रवर्त्तन जिसके आगे चल रहा है ऐसी भरतकी सेनाने पहलेसे ही उधाड़ी हुई काण्डकप्रपात नामकी प्रसिद्ध गुफामें प्रवेश किया ॥१८८॥ उस सेनाने गंगा नदीके दोनों किनारोंपर-की दो बड़ी-बड़ी गलियोंमें-से, सेनापतिके द्वारा जिसका द्वार पहलेसे ही खोल दिया गया है ऐसी उस गुफाको पार किया ॥१८९॥ सेनाके द्वारा छोड़ी हुई वह गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो चिरकालसे उच्छ्वास ही ले रहो हो और वह सेना भी गुफाके रोध-से निकलकर ऐसी मालूम होती थी मानो फिरसे जीवित हुई हो ॥१९०॥ वहाँ नाट्यमाल नामके देवने दक्षिण गुफाके द्वारपर पूर्णकलश आदि मंगलद्रव्य रखकर तथा रत्नोंके अर्घसे अर्घ देकर भरत महाराजकी अगवान्नी की थी - सामने आकर सत्कार किया था ॥१९१॥ भरत महाराजने अनेक प्रकारकी स्तुति करनेवाले उस नाट्यमाल नामके श्रेष्ठ देवका सत्कार कर उसे अपने स्थातपर जानेके लिए विदा कर दिया ॥१९२॥ धनुष-बाण धारण करनेवाले विद्याधर चारो ओरसे आकाशमार्गको घेरकर, सूर्यके समान अन्वकारसे परे रहकर उदित होनेवाले चक्रवर्तीकी परिचर्या करते थे ॥१९३॥ जिनमें नमि और विनमि मुख्य हैं ऐसे विद्याधरोसहित तथा विजयार्ध पर्वतकी गुफाके भीतरी अन्वकारको दूर हटाकर सूर्यके समान किरणोंके समूहसे दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह निधियोंका अधिपति चक्रवर्ती नमस्त जीवलोकको आनन्दित करता हुआ उदित हुआ अर्थात् गुफाके बाहर निकला ॥१९४॥ रस-

१ मनोजैस्सत्येव । २ दक्षिणभूमिम् । ३ सेनान्या । ४ कृतसम्पन्नम् । ५ मुरखेष्टम् । ६ निजदेवमननिरूप्य । ७ पुर मर । ८ उदित स्म । ९ मुगन्वे । १० वाति सति ।

किसलयपुटभेदी देवदारुद्रुमाणामसकृदमरविन्धोः सीकरान्याहुनानः ।

श्रमसलिलममुष्णा दुष्णसंभूष्ण जिष्णोः खचरगिरितटान्ताभिष्यत न्मातरिक्षा ॥१९६॥

सपदिविजयसैन्यैर्निर्जितम्लेच्छखण्डः समुपहृतजयश्रीश्चक्रिणादिष्टमात्रम् ।

जिनमिव जयलक्ष्मीं सन्निधानं निधीनां परिब्रूढमुपतस्थौ नम्रमौलिश्चमभृत् ॥१९७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

जित्वा म्लेच्छनृपौ विजित्य च सुरं प्रालेयशैलेर्निर्देव्यौ च प्रणमय्य दिव्यमुभयं स्वीकृत्य भद्रासनम् ।

हेलानिर्जितखेचराद्रिरधिराट् प्रत्यन्तपालान् जयन् सेनान्या विजयी व्यजेष्ट निखिलां षट्खण्डभूषां भुवम् ॥१९८॥

पुण्यादित्ययमाहिमाह्वयगिरेरातोयधेः प्राक्तनादाचापा च्यपयोनिधेर्जलनिधेरा च प्रतीच्यादितः ।

चक्रेक्ष्मामरिचक्रं भीकरकरश्चक्रेण चक्री वक्षे तस्मात्पुण्यसुपार्जन्यम्भु सुधियो जैनं मते सुस्थिताः ॥१९९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भरतोत्तरार्द्धविजयवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमं पर्व ॥३२॥

युक्त नवीन कोमल पत्तोंके भीतर प्रवेश करनेसे मन्द हुआ तथा देवांगनाओंके स्तनतटपर लगे हुए रेशमी वस्त्रोमे जिसकी सुगन्धि प्रवेश कर गयी है ऐसा वायु जिस समय उस विजयार्थ पर्वतकी गुफाओमे धीरे-धीरे बह रहा था उस समय निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीकी सेनाके डेरोंकी रचना शुरू हुई थी ॥१९५॥ देवदारु वृक्षोंके कोमल पत्तोंके सम्पुटको भेदन करनेवाला तथा गंगा नदीके जलकी बूँदोंको बार-बार हिलाता हुआ और विजयार्थ पर्वतके किनारेके अन्त भागसे आता हुआ वायु गरमसे उत्पन्न हुए महाराज भरतके पसीनेको दूर कर रहा था ॥१९६॥ चक्रवर्तीके द्वारा आज्ञा प्राप्त होनेमात्रसे ही जिसने अपनी विजयी सेनाओंके द्वारा बहुत शीघ्र समस्त म्लेच्छ खण्ड जीत लिये हैं और जो जयलक्ष्मीकी ले आया है ऐसा सेनापति अपना मस्तक झुकाये हुए, निधियोंके स्वामी भरत महाराजके समीप आ उपस्थित हुआ । उस समय भरत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान मालूम होते थे क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवके समीप सदा जयलक्ष्मी विद्यमान रहती है उसी प्रकार उनके समीप भी जयलक्ष्मी सदा विद्यमान रहती थी ॥१९७॥ विजयी भरतने ( चिलात और आनर्त नामके ) दोनों म्लेच्छराजाओंको जीतकर हिमवान् पर्वतके स्वामी हिमवान् देवको कुछ ही समयमें जीता, तथा ( गंगा सिन्धु नामकी ) दोनों देवियोंसे प्रणाम कराकर ( उनके द्वारा दिये हुए ) दो दिव्य भद्रासन स्वीकृत किये, और विजयार्थ पर्वतकी लीला मात्रमें जीतकर उसके समीपवर्ती राजाओंको जीतते हुए उन्होने सेनापतिके साथ-साथ छह खण्डोंसे सुशोभित भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवीकी जीता ॥१९८॥ जिनका हाथ अथवा टैक शत्रुओंके समूहमें भय उत्पन्न करनेवाला है ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके द्वारा पुण्यसे ही हिमवान् पर्वतसे लेकर पूर्व दिशाके समुद्र तक और दक्षिण समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथिवी अपने वश की थी । इसलिए बुद्धिमान् लोगोंको जैन-मतमें स्थिर रहकर सदा पुण्य उपार्जन करना चाहिए ॥१९९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी

भाषानुवादमें उत्तरार्ध भरतकी विजयका वर्णन करनेवाला

वर्तीसर्वा-पर्व समाप्त हुआ ।

१ अनाशयत् । २ उष्णसंजातम् । ३ आगच्छन् । ४ आज्ञात । ५ नाभम् । ६ प्राप्तवानित्यर्थः । ७ सुविरं  
ल०, द० । ८ हिमवद्गिरिपतिम् । ९ गङ्गादेवीसिन्धुदेव्यो । १० पूर्वात् । ११ दक्षिणसमुद्रात् । १२ भयकर-  
कर । 'भयंकरं प्रतिभय'मित्यभिधानात् ।

## त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व

श्रीमानानमिताशेषनृपविद्याधराभरः । सिद्धदिविजयश्चक्री न्यवृत्तत्वां पुरी प्रति ॥१॥  
 नवास्य निधयः सिद्धा रत्नान्यपि चतुर्दश । सिद्धविद्याधरैः सादं षट्षण्डधरणीभुजः ॥२॥  
 जित्वा महीमिमां कृत्स्नां लवणाम्मोधिमेखलाम् । प्रयाणमकरोच्चक्री साकेतनगरं प्रति ॥३॥  
 प्रकीर्णचलद्वीचिरुलसच्छत्रबुद्धुदा । निर्यथी विजयार्द्धाद्रितटाद् गङ्गेव सा चमूः ॥४॥  
 करिणीनौभिरश्रीयकलोलैर्जनतोमिमिः । दिशो रुन्धन्वलाम्मोधिः प्रससर्प स्फुरदध्वनिः ॥५॥  
 चलतां रथचक्राणां चीत्कारैर्हृषहेवितैः । बृंहितैश्च गजेन्द्राणां शब्दाद्वैतं तदाभवत् ॥६॥  
 भेषः प्रस्थानशंसिन्धो नेदुरामन्दनिःस्वनाः । अकालस्तनिं तासद्भुत्तामातन्वानाः शिखण्डिनाम् ॥७॥  
 तदाऽभ्युदयमश्वीर्यं हास्तिकेन प्रसर्पत् । न्यरोधि पश्चिद्वन्दं च प्रयान्त्या रथकल्पया ॥८॥  
 पादातकृतसंवाधात् पथः पर्यन्तपातिनः । हया गजा वरूयाश्च भेजुस्तिर्यक्प्रचोदिताः ॥९॥  
 पर्वतोदग्रमारुहो गजं विजयपर्वतम् । प्रतस्थे विचलन्मौलिः चक्री शक्रसमधृतिः ॥१०॥  
 अनुगतादं देशान् विलङ्घ्य ससरिद्विगिरीन् । कैलासशैलसाक्षिष्यं प्रापत्तच्चक्रिणो वलम् ॥११॥

अथानन्तर — जिन्होंने समस्त राजा विद्याधर और देवोको नम्रीभूत किया है तथा समस्त विजयमे सफलता प्राप्त की है ऐसे श्रीमान् चक्रवर्ती भरत अपनी अयोध्यापुरीके प्रति लौटे ॥१॥ इन महाराज भरतको नौ निधियाँ और चौदह रत्न सिद्ध हुए थे तथा विद्याधरोंके साथ-साथ छह खण्डोंके समस्त राजा भी इनके वश हुए थे ॥२॥ लवण समुद्र ही जिसकी मेखला है ऐसी इस समस्त पृथिवीको जीतकर चक्रवर्तीने अपने अयोध्या नगरकी ओर प्रस्थान किया ॥३॥ बुलते हुए चमार ही जिसकी लहरे हैं और ऊपर चमकते हुए छत्र ही जिसके दबूले हैं ऐसी वह सेना गंगाके समान विजयार्ध पर्वतके तटसे निकली ॥४॥ हृथिनीरूपी नावोंसे, घोड़ोंके समूहरूपी लहरोसे और मनुष्योंके समूहरूपी छोटी-छोटी तरंगोंसे दिशाओंको रोकता हुआ तथा खूब शब्द करता हुआ वह सेनारूपी समुद्र चारों ओर फैल गया ॥५॥ उस समय चलते हुए रथोंके पहियोंके चीत्कार शब्दसे, घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे और हाथियोंकी गर्जनासे शब्दाद्वैत हो रहा था अर्थात् सभी ओर एक शब्द-ही-शब्द नजर आ रहा था ॥६॥ जिनका शब्द अतिशय गम्भीर है ऐसी प्रस्थान-कालको सूचित करनेवाली भेरियाँ मयूरोको असमयमे ही बादलोंके गरजनेकी शका बढ़ाती हुई शब्द कर रही थी ॥७॥ उस समय दौड़ते हुए हाथियोंके समूहसे घोड़ोंका समूह रुक गया था और चलते हुए रथोंके समूहसे पैदल चलनेवाले सिपाहियोंका समूह रुक गया था ॥८॥ पैदल सेनाके द्वारा जिन्हे कुछ बाधा की गयी है ऐसे हाथी घोड़े और रथ — थोड़ी दूर तक कुछ तिरछे चलकर ठीक रास्तेपर आ रहे थे । भावार्थ — सामने पैदल मनुष्योंकी मीड़ देखकर हाथी घोड़े और रथ वगलसे बरककर आगे निकल रहे थे ॥९॥ जिनका मुकुट कुछ-कुछ हिल रहा है और जिनकी कान्ति इन्द्रके समान है ऐसे चक्रवर्तीने पर्वतके समान ऊँचे विजय पर्वत नामके हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥१०॥ चक्रवर्ती की वह सेना गंगा नदीके किनारे-किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतोंको उल्लंघन करती हुई

१ सिद्धा विद्या-ल०, इ०, द०, अ०, स०, प० । २ षट्षण्डस्थितमहीपाला । ३ मेघध्वनि । ४ मार्गन् । ५ सापापय. अ०, प०, स०, इ०, द० । ५ मार्गं विहाय पर्यन्ते वर्तमाना भूत्वा । ६ नंप्रापच्चक्रिणा वन्म ल० ।



कैलासाचलमभ्यर्णमथा लोक्य रथाङ्गभृत् । निवेद्य निकटे सैन्यं प्रययौ जिनमर्चितुम् ॥१२॥  
 प्रयान्तमनुजगमुस्तं भरतेषां महाद्युतिम् । रोचिष्णुमौलयः क्षमापाः सौधमैन्द्रमिवामराः ॥१३॥  
 अचिराच्च तमासाद्य शरदम्बरसच्छविम् । जिनस्यैव यशोराशिभभ्यनन्दद्विषां पतिः ॥१४॥  
 निपतज्जिह्वारावैराह्यन्तमिवामरान् । त्रिजगद्गुरुमेत्याराव् सेवध्वमिति सादरम् ॥१५॥  
 मरुदान्दोलितोदप्रशाखाग्रैस्तटपादपैः । प्रतोषादिव नृत्यन्तं विकासिकुसुमस्मितैः ॥१६॥  
 तटनिर्झरसंपातैर्दातुं पाद्यमिवोद्यतम् । वन्दारो<sup>२</sup>र्भन्यवृन्दस्य विष्वगास्कन्दतो<sup>३</sup> जिनम् ॥१७॥  
 शिखरोल्लिखिताम्भोदपटलोद्गी<sup>४</sup>र्णवारिमिः । दावभीत्येव सिञ्चन्तं स्वपर्यन्तलतावनम् ॥१८॥  
 शुचिप्राव<sup>५</sup> विनिर्माणैः शिखरैः स्थगिताम्बरैः । गतिप्रसरमकंस्य न्यक्कुर्वाणमिवोच्छ्रितैः ॥१९॥  
 क्वचित् किंनरसंभोग्यैः क्वचित् पद्मगसेवितैः । क्वचित् खचराक्रीडै<sup>६</sup>र्वनैराविष्कृतश्रियम् ॥२०॥  
 क्वचिद्विरलीलाशुमिलितैः स्फटिकोपलैः । शशाङ्कमण्डलाशङ्कामातन्वन्त<sup>७</sup> नमोऽनुपाम् ॥२१॥  
 हरिन्मणिप्रभाजालैर्नञ्जालैश्च प्रभाजमनाम्<sup>८</sup> । क्वचिदिन्द्रधनुर्लखाभालिखन्तं नभोऽङ्गणे ॥२२॥

क्रमसे कैलास पर्वतको समीप जा पहुँची ॥११॥ तदनन्तर चक्रवर्तीने कैलास पर्वतको समीप ही देखकर सेनाओंको वही पासमें ठहरा दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेके लिए प्रस्थान किया ॥१२॥ जिस प्रकार सौधमैन्द्रके पीछे-पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक देव जाते हैं उसी प्रकार आगे-आगे जाते हुए अतिशय कान्तिमान् महाराज भरतको पीछे-पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक राजा लोग जा रहे थे ॥१३॥ जिसकी कान्ति शरद्वृन्दतुके बादलके समान है और इसीलिए जो जिनेन्द्र भगवान्के यक्षके समूहके समान जान पड़ता है ऐसे उस कैलास पर्वतको बहुत शीघ्र पाकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥१४॥ जो पड़ते हुए झरनोके शब्दोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो समीप आकर तीनों जगत्के गुरु भगवान् वृषभदेवकी सेवा करो इस प्रकार देव लोगोंको आदरपूर्वक बुला ही रहा हो — जिनकी ऊँची-ऊँची शाखाओंके अग्रभाग वायुके द्वारा हिल रहे हैं और जिनपर फूले हुए फूल उनके मन्द हास्यके समान मालूम होते हैं ऐसे अपने किनारोंपरके वृक्षोंसे जो ऐसा जान पड़ता है मानो सन्तोषसे नृत्य ही कर रहा हो—जो किनारोंपरसे झरनोंके पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना करनेके लिए चारों ओरसे आते हुए भव्य जीवोंके समूहके लिए पैर धोनेके लिए जल देनेको ही उद्यत हुआ हो — जो शिखरोंसे विदीर्ण हुए बादलोंके समूहसे गिरते हुए जलसे ऐसा जान पड़ता है मानो दावानलके डरसे अपने समीपवर्ती लताओंके वनको सींच ही रहा हो—जो स्फटिक मणिके सफेद पथरोंसे बने हुए और आकाशको घेरनेवाले अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यकी गतिके फैलावको रोक ही रहा हो—जिनमें कहीं तो किन्नर जातिके देव सम्मोग कर रहे हैं, कहीं नागकुमार जातिके देव सेवा कर रहे हैं और कहीं विद्याधर लोग क्रीड़ा करते हैं ऐसे अनेक वनोंसे जिसकी शोभा प्रकट हो रही है — जो कहींपर कुछ-कुछ नीलमणियोंकी किरणोंसे मिले हुए स्फटिक मणियोंके पथरोंसे देवोंको चन्द्रमण्डलकी आशका उत्पन्न करता रहता है । जो कहींपर हरे रंगके मणियोंकी प्रभाके समूहसे और स्फटिक मणियोंकी प्रभाके समूहसे आकाशरूपी आंगनमें इन्द्रधनुषकी रेखा लिख रहा था । कहींपर पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे मिले हुए स्फटिक मणियोंकी किरणोंसे जिसके किनारेका समीपभाग कुछ-कुछ लाली लिये हुए सफेद रंगका हो गया है और

१ कैलासम् । २ वन्दनशीलस्य । ३ आगच्छत । ४ विदारित । ५ उद्यत । ६ स्फटिकपाषाण । ७ संभोगी । ८ खचरा-पद्म । ९ खचराणाम् आसमन्तात् क्रीडा येषु तानि । १० -मातन्वान्-द०, ल०, अ०, स०, इ० । ११ पद्मरागाणाम् ।

पञ्चरागांशुमिभिर्नै<sup>१</sup> स्फटिकोपलरश्मिभिः । आरक्तधेतवप्रान्त<sup>२</sup> किलासिनमिव<sup>३</sup> कचिन् ॥२३॥  
 कचिद्विहिल<sup>४</sup> शैलेयपटलैर्वहुदहणैः<sup>५</sup> । मृगेन्द्रनखरोहोत्सहैर्गण्डोपलैस्ततम् ॥२४॥  
 कचिदगुहान्तराद् गुञ्जन्मृगेन्द्रप्रतिनादिनोः । तटीर्दधानमुद्गद्धमदैः परिहृतागजैः ॥२५॥  
 कचिन् सितोपलोत्संगचारिणीरभराङ्गनाः<sup>६</sup> । विभ्राणं शरदभ्रान्तर्वर्तिनीरिव विद्युतः ॥२६॥  
 तंमिवद्वृतया लक्ष्म्या परीतं-भूमृतां पतिम् । स्वमिवाल्हयमालोच्य चक्रपाणिरगान्मुदम् ॥२७॥  
 गिरैरथस्तले दूराद् वाहनादिपरिच्छदम् । विहाय पादचारेण ययौ किञ्च स धर्मधीः ॥२८॥  
 पद्भ्यामारोहतोऽस्याद्रिं नासीत् खेदो मनागपि । हितार्थिनां हि खेदाय नात्मनीनः क्रियाविधिः ॥२९॥  
 आरुह्य स त्वं शैलं सुरशिल्पिनिर्मितैः । विविक्तैर्मणिलोपानैस्स्वर्गस्येवाधिरोहणैः ॥३०॥  
 अधित्यक्त्वा<sup>७</sup> स्योऽस्याद्रेः प्रस्थाप्य वनराजिषु । लम्बितोऽतिथिसत्कारमिव शीतैर्वनानिलैः ॥३१॥  
 कचिदुत्फुल्लमन्दारवणवीथीविहारिणीः । विविक्तं सुमनोभूषाः सौऽपश्यद्वनदेवताः ॥३२॥  
 कचिद्वनान्तसंयुसनिजशाबाजुशायिनीः । मृगीरपश्यदालम्ब्य<sup>८</sup> मृदुरोमन्थमन्थराः ॥३३॥  
 कचिन्<sup>९</sup> कुञ्जसंसुप्तान् बृहतः शयुः<sup>१०</sup> पोतकान् । पुरीतञ्जिकरानद्रेरिवापश्यत्स पुलितान् ॥३४॥  
 कचिद् गमनमोदवासितान् गण्डशैलकान् । दृष्ट्वा<sup>११</sup> हरिरारोषादुल्लिखन्नखराङ्कुरैः ॥३५॥

इसलिए जो ऐसा जान पड़ता है मानो उसे किलास ( कुष्ठ ) रोग ही हो गया हो । जिनपर कहीं-कहीं अनेक धातुओंके टुकड़े टूट-टूटकर पड़े हैं तथा जो सिंहोंके नखोंका आघात सहनेवाली हैं और इसलिए जो ऐसी जान पड़ती है मानो उनपर बहुत-सा दाद हो गया हो ऐसी अनेक चट्टानों-से जो व्याप्त हो रहा है । कहीं-कहींपर जिनमें गुफाओंके भीतर गरजते हुए सिंहोंकी प्रतिध्वनि व्याप्त हो रही है और इसीलिए जिन्हें मदोन्मत्त हाथियोंने छोड़ दिया है ऐसे अनेक किनारोंको जो धारण कर रहा है-और जो कहीं-कहींपर शरदऋतुके बादलोके भीतर रहनेवाली विज-लिमोके समान स्फटिक मणियोंकी शिलाओंपर चलनेवाली देवांगनाओंको धारण कर रहा है -इस प्रकार अद्भुत गोभासे सहित उस कैलास पर्वतको देखकर चक्रवर्ती भरत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुए । और उसका खास कारण यह था कि चक्रवर्तिक समान ही अलङ्घ्य था और भूमृत् अर्थात् पर्वतो ( पक्षमें राजाओं ) का अधिपति था ॥१५-२७॥ धर्मबुद्धिको धारण करनेवाले महाराजे भरत पर्वतके नीचे दूरसे ही सवारी आदि परिकरको छोड़कर पैदल चलने लगे ॥२८॥ पर्वतपर पैदल चढ़ते हुए भरतको थोड़ा भी खेद नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको आत्माका हित करनेवाली क्रियाओंका करना खेद-के लिए नहीं होता है ॥२९॥ स्वर्गकी सीढ़ियोंके समान देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनायी हुई पवित्र मणिमयी सीढ़ियोंके द्वारा महाराज भरत उस कैलास पर्वतपर चढ़ रहे थे ॥३०॥ चढ़ते-चढ़ते वे उस पर्वतके ऊपरकी भूमिपर जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने वनकी पवित्रयोमें वनकी शीतल वायुके द्वारा मानो अतिथिसत्कार ही प्राप्त किया था ॥३१॥ वहाँ उन्होंने कहीं तो फूले हुए मन्दार वनकी गलियोंमें धूमती हुई तथा फूलोंके पवित्र आभूषण धारण किये हुई वनदेवियोंको देखा ॥३२॥ कहीं वनके भीतर अपने बच्चोंके साथ लेटी हुई और धीरे-धीरे रोमन्थ करती हुई हरिणियोंको देखा ॥३३॥ कहीं संकुचित होकर सोते हुए और एक जगह इकट्ठे हुए अजगरके उन बड़े-बड़े बच्चोंको देखा जो कि उस पर्वतकी अंतर्द्धियोंके समूहके समान जान पड़ते थे ॥३४॥ और कहींपर हाथियोंके मदसे सुवासित बड़ी-बड़ी काली चट्टानोंको हाथी

१ शिलित । २ पाटलसान्त्वन्तम् । 'ध्वतवस्तु पाटल' इत्यभिधानात् । ३ सिम्पलम् । 'किलासी सिम्पल' इत्यभिधानात् । ४ शिथिलितकुसुमसमम् । ५ दद्रुरोगिसदृशं । 'दद्रुरो दद्रुरोगी स्याद्' इत्यभिधानात् । ६ स्फटिकशिलाभरण । ७ आत्महित । ८ ऊर्ध्वभूमिषु । ९ प्रापित । १० विभिन्न । ११ उपक्रान्त । १२ निकृञ्ज ल०, द०, अ०, प०, इ०, स० । १३ अजगरशिबून् । १४ अन्धसमूहान् । १५ दृश्यते स्म ।

किंचिदन्तरमारुह्य पश्यन्नदेः परां श्रियम् । प्राप्तावसरमित्यूचे वचनं च पुरोधसा ॥३६॥  
 पश्य देव गिरेरस्य प्रदेशान्वहुविस्मयान् । स्मरन्ते त्रिदशा यत्र स्वर्गावासेऽप्यनन्तराः ॥३७॥  
 पर्याप्तिमेतदेवावश्य प्राप्तवं सुवनातिगम् । देवो यदेनमध्यास्ते चराचरगुरुः पुरुः ॥३८॥  
 महाद्विरस्यमुत्संगसंगिनीः सरिदङ्गनाः । शशब्दं विमर्त्ति कामीव गलञ्जलजलांशुकाः ॥३९॥  
 क्रीडाहेतोरहिंसोऽपि मृगेन्द्रो गिरिकन्दरात् । महाहिमयमाकर्षन्दैर्वाग्निमुब्रत्यपारयन् ॥४०॥  
 सर्वद्वन्द्वं सहान्सावान् जनतातापहारिणः । मुनीनिव वनाभोगानेष धत्तेऽविमेलनम् ॥४१॥  
 हरीजखरनिर्मज्जमद्विरदमस्तकान् । निर्हारैः पापभीत्येव तर्जयत्येष सारवै ॥४२॥  
 धत्ते सानुचरान् भद्रान् उच्चैर्वशान् स्ववग्रहान् । वनद्विपानयं नैलो भवानिव महीसुजः १० ॥४३॥  
 ध्वनतो धनसंघातान् शरमा रमसादमी । द्विरदावाङ्मयोत्पत्य पतन्तो यान्ति शोच्यताम् ॥४४॥  
 कपोलकाषसंरुण्यत्वयो १२ मज्जलाविद्याः १३ । द्विपानां वनसंयोगं सूचयन्तीह १४ आरिणः ॥४५॥

समझकर नखरूपी अंकुरोसे विदारण करता हुआ सिंह देखा ॥३५॥ भरत महाराज कुछ दूर आगे चढकर जब पर्वतकी शोभा देखने लगे तब पुरोहितने 'अवसर पाकर नीचे लिखे अनुसार वचन कहे ॥३६॥ हे देव, इस पर्वतके अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए उन प्रदेशोंको देखिए जिनपर कि देव लोग भी स्वर्गवासमें अनादर करते हुए क्रीड़ा कर रहे हैं ॥३७॥ समस्त लोकको उल्लंघन करनेवाली इस पर्वतकी महिमा इतनी ही बहुत है कि चर और अचर—सभीके गुरु भगवान् वृषभदेव इसपर विराजमान हैं ॥३८॥ यह महापर्वत अपनी गोदी अर्थात् नीचले मध्यभागमें रहनेवाली और जिनके नीचे जलरूपी वस्त्र छूट रहे हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंको कामी पुरुषकी तरह सवा धारण करता है ॥३९॥ यह सिंह अहिंसक होनेपर भी केवल क्रीड़ाके लिए पर्वतकी गुफामेंसे एक बड़े भारी सर्पको खींच रहा है परन्तु लम्बा होनेसे खींचनेके लिए असमर्थ होता हुआ उसे छोड़ भी रहा है ॥४०॥ यह पर्वत अपने तटभागपर ऐसे अनेक वनके प्रदेशोंको धारण करता है जो कि ठीक मुनियोंके समान जान पड़ते हैं क्योंकि जिस प्रकार मुनि सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् शीत उष्ण आदिकी बाधा सहन करते हैं उसी प्रकार वे वनके प्रदेश भी सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् पशुपक्षियों आदिके युगल सहन करते हैं,—धारण करते हैं, जिस प्रकार मुनि सबका कल्याण करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी सबका कल्याण करते हैं और जिस प्रकार मुनि जनसमूहके सन्ताप अर्थात् मानसिक व्यथाको दूर करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी संताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गरमीको दूर करते हैं ॥४१॥ यह पर्वत शब्द करते हुए शरनोसे ऐसा जान पड़ता है मानो जिन्होंने अपने नखोंसे मदोन्मत्त हाथियोंके मस्तक विदारण किये हैं ऐसे सिंहोंको पापके डरसे तर्जना ही कर रहा हो—डाट ही दिखा रहा हो ॥४२॥ हे नाथ, जिस प्रकार आप सानुचर अर्थात् सेवकोंसहित, भद्र, उच्च कुलमें उत्पन्न हुए और उत्तम शरीरवाले अनेक राजाओंको धारण करते हैं—उन्हें अपने अधीन रखते हैं, उसी प्रकार यह पर्वत भी सानुचर अर्थात् शिखरोपर चलनेवाले, पीठपरकी उच्च रीढ़से युक्त और उत्तम शरीरवाले भद्र जातिके जंगली हाथियोंको धारण करता है ॥४३॥ इधर ये अष्टापद, गरजते हुए मेघोंके समूहको हाथी समझकर उनपर उछलते हैं परन्तु फिर नीचे गिरकर शोचनीय दशाको प्राप्त हो रहे हैं ॥४४॥ कपोलके घिसनेसे जिनकी छाल घिस

१ अधानुकोऽपि । २ समर्थो भूत्वा । ३ प्राणियुगल, पक्षे दुःख । ४ सर्वहितान् । ५ गिरि । ६ ध्वनिसहित । ७ सानुपु चरन्तीति सानुचरास्तान्, पक्षे अनुचरैः सहितान् । ८ उन्नतपृष्ठास्थीन्, पक्षे इक्ष्वाकवादिवंशान् । ९ स्वविग्रहान् ट० । शोभनललाटान् । 'अवग्रहो ललाटं स्याद्' इत्यभिधानात् । पक्षे—सुष्ठु स्वतन्त्रतानिपेधान् । 'अवग्रह इति स्थातो वृष्टिरोषे गजालिके । स्वतन्त्रतानिपेधेऽपि प्रतिबन्धेऽप्यवग्रहः' इत्यभिधानात् । १० भूपतीन् । ११ मेघसमूहान् । १२ गण्डस्थलनिघर्षणसंयम । १३ आर्द्राः । १४ गिरी ।

शास्त्रासृगा<sup>१</sup> मृगेन्द्राणां गर्जितैरिह तर्जिताः । पुञ्जीभूता निकुञ्जेषु पश्य तिष्ठन्ति साध्वसात् ॥४६॥  
 मुनीन्द्राणानिर्घोषैरितो रम्यमिदं वनम् । सुणाग्रकवलग्रासिकुरंगकुलसंकुलम् ॥४७॥  
 इत्थं हरिणारतिं कठोरारवभीषणम् । विमुक्तकवलच्छेदप्रपलायितकुञ्जरम् ॥४८॥  
 जरजरन्तं शृङ्गाप्रक्षतवल्मीकीरोधसः<sup>२</sup> । इतो रम्या वनोद्देशा वराहोत्सातपल्वलाः ॥४९॥  
 मृगैः प्रविष्टदेशन्तं वंशस्तम्बोपरै<sup>३</sup> गजैः । सूच्यते हरिणाक्रान्तं वनमेतद् सयानकम् ॥५०॥  
 वनप्रवेगिभिर्नित्यं नित्यं स्थण्डिलशायिभिः । न मुच्यतेऽयमद्मीन्द्रो मृगैर्मृनिगणैरपि ॥५१॥  
 इति प्रशान्तो रौद्रश्च सदैवायं धराधरः । सन्निधानाज्जिनेन्द्रस्य शान्त एवाधुना पुनः ॥५२॥  
 गजैः पश्य मृगेन्द्राणां संवासमिह<sup>४</sup> कानने । नखरक्षतमार्गेषु<sup>५</sup> स्वैरमास्पृशतमिमान् ॥५३॥  
 चारणाच्युषितानेते<sup>६</sup> गुहोत्संगाननङ्किताः । विशन्त्यनुगताः गावैः पाकसत्तैः<sup>७</sup> समं मृगाः<sup>८</sup> ॥५४॥  
 गहो परमसाधुचर्यं तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयातं<sup>९</sup> मुनीन्द्राणामज्ञातमयसंपदाम् ॥५५॥  
 सोऽथमष्टापदैर्गुह्यै<sup>१०</sup> मृगैरन्वर्थनामभिः<sup>११</sup> । पुनरष्टापदव्यातिं पुरैति<sup>१२</sup> त्वदुपक्रमम्<sup>१३</sup> ॥५६॥  
 स्फुरन्मणिलटोपाभं तारकाचक्रमापतत्<sup>१४</sup> । न याति न्यक्तिमस्याद्देस्तद्रोषिश्छन्नमण्डलम् ॥५७॥

गयी है और जो मदर्ूपी जलसे मलिन हो रहे हैं ऐसे इस वनके वृक्ष हाथियोंकी वनक्रीडाको साफ-साफ सूचित कर रहे हैं ॥४५॥ इधर देखिए, सिंहकी गर्जनासे डरे हुए ये बन्दर भयसे इकट्ठे होकर लतामण्डपोंमें बैठे हुए हैं ॥४६॥ यह वन इधर तो बड़े-बड़े मुनियोंके पाठ करने-के शब्दोंसे रमणीय हो रहा है और इधर तृणोंके अग्रभागका घ्रास खानेवाले हरिणों-के समूहसे व्याप्त हो रहा है ॥४७॥ इधर सिंहोंके कठोर शब्दोंसे भयंकर हो रहा है और इधर खाना-पीना छोड़कर हाथियोंके समूह भाग रहे हैं ॥४८॥ इधर, जिनमे वृद्ध जंगली भैंसबोने सींगोंकी नोकसे वामियोंके किनारे खोद दिये हैं और सूअरोंने छोटे-छोटे तालाब खोद डाले हैं ऐसे ये सुन्दर-सुन्दर वनके प्रदेश हैं ॥४९॥ छोटे-छोटे तालाबोंमें घुसे हुए हरिणों और बाँसकी झाड़ियोंके समीप छिपकर खड़े हुए हाथियोंसे साफ-साफ सूचित होता है कि इस भयंकर वनपर अभी-अभी सिंहने आक्रमण किया है ॥५०॥ सदा वनमें प्रवेग करनेवाले और सदा जमीनपर सोनेवाले हरिण और मुनियोंके समूह इस वनकी कभी नहीं छोड़ते हैं ॥५१॥ इस प्रकार यह पर्वत सदा शान्त और भयंकर रहता है परन्तु इस समय श्री जिनेन्द्रदेवके सन्निधानसे शान्त ही है ॥५२॥ इधर, इस वनमें सिंहोंका हाथियोंके साथ सहवास देखिए, ये सिंह अपने नखोंसे किये हुए हाथियोंके धावोंका इच्छानुसार स्पर्श कर रहे हैं ॥५३॥ जिनके पीछे-पीछे बच्चे चल रहे हैं ऐसे हरिण, सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीवोंके साथ-साथ चारण-मुनियोंसे अधिष्ठित गुफाओंमें निर्भय होकर प्रवेश करते हैं ॥५४॥ अहा, बड़ा आश्चर्य है कि पशुओं-के समूह भी, जिन्हें वनके भय और शोभाका कुछ भी पता नहीं है ऐसे मुनियोंके पीछे-पीछे फिर रहे हैं ॥५५॥ सार्थक नामको धारण करनेवाले अष्टापद नामके जीवोंसे सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढ़नेके बाद अष्टापद नामको प्राप्त होगा ॥५६॥ जिसपर अनेक मणि देदी-प्यमान हो रहे हैं ऐसे इस पर्वतके किनारेके समीप आता हुआ नक्षत्रोंका समूह उन मणियोंकी किरणोंसे अपना मण्डल तिरोहित हो जानेसे प्रकटताको प्राप्त नहीं हो रहा है । भावार्थ —

१ मर्कटा । २ सिंह । ३ वृद्धमहिष । ४ वामलूरतटा । 'वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुष्पपुंसकम्' इत्यभिधानात् । ५ अल्पसरोवरः । ६ पल्वलैः । 'वेदान्तं पल्वलं चाल्पसरं' इत्यभिधानात् । ७ वेणुपुञ्जसमीपगैः । ८ सहवासम् । ९ नखरक्षतकीर्णपेक्षितेषु । १० चारणमुनिसिंहराश्रितान् । ११ गुह्यमग्न्यान् । १२ सिंहशार्ङ्गलोदिकूरुमृगैः । १३ हरिणादयः । १४ अनुगतम् । १५ सेवित । १६ सार्थाभिधानैः । १७ भविष्यत्काले आगमिष्यति । १८ त्वया प्रथमोपक्रमं यथा भवति तथा । १९ आगच्छन् ।

ज्वलन्धोषधिक्षालेऽपि निशि नाभ्येति किन्नरः । तमोविशङ्कयाऽस्याद्वैरिन्द्रनीलमयीस्तटीः ॥५८॥  
 हरिर्मणितटोत्सर्पन्मयूखानन्न मूषरे । तृणाद्भुरधियोपेत्य सृया आन्ति विलक्ष्यताम् ॥५९॥  
 सरोजराग<sup>१</sup> रत्नांशुच्छरिता<sup>२</sup> वनराजयः । तताः संभ्यातपेनेव<sup>३</sup> पुष्पन्तीह परां श्रियम् ॥६०॥  
 सूर्याशुभिः पराभूष्टाः सूर्यकान्ता ज्वलन्त्यमी । प्रायस्तेजस्विंसंपर्कस्तेजः पुष्पाति तादृशम् ॥६१॥  
 इहेन्दुकरसंस्पर्शाव्यक्षरन्तोऽप्यनुक्षपम्<sup>४</sup> । चन्द्रकान्ता न हीयन्ते<sup>५</sup> विचित्रा पुद्गलस्थितिः ॥६२॥  
 सुराणामभिगम्यत्वात् सिंहासनपरिग्रहात्<sup>६</sup> । महत्त्वादचलत्वाच्च गिरिरेष जिनायते ॥६३॥  
 शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोदारविग्रहः । शुद्धात्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ॥६४॥  
 इति शंसति<sup>७</sup> तस्याद्वैः परां शोभां पुरोधसि । शंसाद्भूत<sup>८</sup> इवानन्दं परं प्राप परंतपः<sup>९</sup> ॥६५॥  
 किञ्चिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य प्रसञ्जेनान्तरात्मना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदावरः ॥६६॥  
 निपतपुष्पवर्षणं दुन्दुभीनां च निःस्वनैः । विदावभूवे<sup>१०</sup> लोकेशमभ्यासकृतसंनिधिम्<sup>११</sup> ॥६७॥

किनारेके समीप सचार करते हुए नक्षत्रोंके समूहपर मणियोंकी कान्ति पड़ रही है जिससे वे मणियोंके समान ही जान पड़ते हैं, पृथक् रूपसे दिखाई नहीं देते हैं ॥५७॥ यद्यपि यहाँ रात्रिके समय ओषधियुक्ता समूह प्रकाशमान रहता है तथापि किन्नर जातिके देव अन्धकारकी आगंका-से इन्द्रनील मणियोंके बने हुए इस पर्वतके किनारोंके सम्मुख नहीं जाते हैं ॥५८॥ इस पर्वत-पर हरित मणियोंके बने हुए किनारोंकी फैलती हुई किरणोंकी हरी वासके अंकुर समझकर हरिण आते हैं परन्तु घास न मिलनेसे बहुत ही आश्चर्य और लज्जाको प्राप्त होते हैं ॥५९॥ इधर पद्मराग मणियोंकी किरणों-सी व्याप्त हुई वनकी पक्वियाँ ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही हैं मानो उनपर सन्ध्याकालकी लाल-लाल धूप ही फैल रही हो ॥६०॥ ये सूर्यकान्त मणि सूर्यकी किरणोंका स्पर्श पाकर जल रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः तेजस्वी पदार्थका सम्बन्ध तेजस्वी पदार्थके तेजको पुष्ट कर देता है ॥६१॥ इस पर्वतपर चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श होनेपर चन्द्रकान्त मणियोसे यद्यपि प्रत्येक रात्रिको पानी झरता है तथापि ये कुछ भी कम नहीं होते सो ठीक ही है क्योंकि पुद्गलका स्वभाव बड़ा ही विचित्र है ॥६२॥ अथवा यह पर्वत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके समीप देव आते हैं उसी प्रकार इस पर्वतपर भी देव आते हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवने सिंहासन स्वीकार किया है उसी प्रकार इस पर्वतने भी सिंहासन अर्थात् सिंहके आसनको स्वीकार किया है — इसपर जहाँ-तहाँ सिंह बैठे हुए हैं अथवा सिंह और असन वृक्ष स्वीकार किये हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव महान् अर्थात् उत्कृष्ट है उसी प्रकार यह पर्वत भी महान् अर्थात् ऊँचा है और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अचल अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिर है उसी प्रकार यह पर्वत भी अचल अर्थात् स्थिर है ॥६३॥ हे देव, जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है ऐसा यह पर्वतराज कैलास शुद्धात्माकी तरह आपका कल्याण करनेवाला हो ॥६४॥ इस प्रकार जब पुरोहितने उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब शत्रुओंको सन्तुष्ट करनेवाले महाराज भरत इस प्रकार परम आनन्दको प्राप्त हुए मानो सुखरूप ही हो गये हो ॥६५॥ विद्वानोमें श्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती प्रसन्न चित्तसे कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेवका समवसरण जान पड़ा ॥६६॥ ऊपरसे पड़ती हुई पुष्पवृष्टिसे और दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे उन्होंने जान

१ विस्मयताम् । २ पद्मराग । ३ मिश्रिताः । ४ वर्द्धयन्ति । ५ रात्री रात्री । ६ न कृषा भवन्ति । ७ हरि-विष्टरस्वीकारात्, पक्षे सिंहानामशनवृक्षाणां च स्वीकारात् । ८ स्तुतिं कुर्वति सति । ९ सुखायतः । १० परं शत्रु तापयतीति परंतपश्चक्री । ११ जानाति स्म । १२ समीपविहितस्थितिम् ।

मन्दारकुसुमोद्गन्धिराम्दोलितलतावनः । पवनस्तमभीयाय<sup>१</sup> प्रत्युद्यन्निव पावनः ॥६८॥  
 सुमनोदुष्टिरापसदापरितनभोद्गणा । विरजीकृतभूलोकैः समं शीतैरपां<sup>२</sup> कणैः ॥६९॥  
<sup>३</sup>शुश्रुवे ध्वनिरामन्दो दुन्दुभीनां नमोऽङ्गणे । श्रुतः केकिमिदृशीवैध्वनस्तनितशङ्किभिः ॥७०॥  
 गुल्फद्वयं प्रसूनीषसंमर्दसूटुना पथां<sup>४</sup> । तमद्विजेषमश्रान्तं<sup>५</sup> प्रययौ स नृपाग्रणीः ॥७१॥  
 ततोऽधिरह्य तं शैलमपश्यत् सोऽस्थ<sup>६</sup>मूर्धनि । प्रागुक्तवर्णनोपेतं जैनमास्थानमण्डलम् ॥७२॥  
 समेत्या वसरावेक्षास्तिष्ठन्त्य<sup>७</sup>स्मिन् सुरासुरा । इति तज्जैर्निरुक्त तत्सरणं समवादिक्म<sup>८</sup> ॥७३॥  
 आखण्डलधनुर्लखामखण्डपरिमण्डलम् । जनयन्तं निजोद्योतैर्धूलीसालमथासदव<sup>९</sup> ॥७४॥  
 हेमस्तम्भाग्रविन्यस्तरत्नतोरणमासुरम् । धूलीसालमतीत्यासौ मानस्तम्भमपूजयत् ॥७५॥  
 मानस्तम्भस्य पर्यन्ते<sup>१०</sup> सरसीः ससरोरुहाः । जैनीरिव श्रुतीः स्वच्छशीतलापो<sup>११</sup> ददर्श सः ॥७६॥  
 धूलीसालपरिक्षेपस्यान्तर्भागे समन्ततः । वीप्यन्तरेषु सोऽपश्यद् देवावासोचिता भुवः<sup>१२</sup> ॥७७॥  
 अतीत्य परतः किञ्चिद् ददर्श जलखातिकाम् । सुप्रसन्नामगाथां च मनोवृत्तिं सतामिव ॥७८॥  
 वहीधनं ततोऽद्राक्षीन्नानापुष्पलतावतम् । पुष्पासवरसामत्तभ्रमङ्गमरसकुलम् ॥७९॥

लिया था कि त्रिलोकीनाथ जितेन्द्रदेव समीप ही विराजमान है ॥६७॥ मन्दार वृक्षोंके फूलों-  
 से सुगन्धित और लताओंके बनको कम्पित करनेवाला वायु उनके सामने इस प्रकार आया था  
 मानो उनकी अगवान्नी ही कर रहा हो ॥६८॥ जिन्होंने पृथ्वीको धूलिरहित कर दिया है  
 ऐसी जलकी शीतल बूंदोंके साथ-साथ आकाशरूपी आगनको भरती हुई फूलोंकी वर्षा पड़  
 रही थी ॥६९॥ जिन्हें मेघोंकी गर्जना समझनेवाले मयूर, अपनी गरदन ऊँची कर सुन रहे हैं  
 ऐसे आकाशरूपी आगनमे होनेवाले दुन्दुभि बाजोंके गम्भीर गव्व भी महाराज भरतने सुने  
 थे ॥७०॥ राजाओंमें श्रेष्ठ महाराज भरत, पैरकी गाँठो तक ऊँचे फैले हुए फूलोंके सम्मर्दसे  
 जो अत्यन्त कोमल हो गयां है ऐसे मार्गके द्वारा बिना किसी परिश्रमके बाकी वचे हुए उस पर्वत-  
 पर चढ़ गये थे ॥७१॥ तदनन्तर उस पर्वतपर चढ़कर भरतने उसके मस्तकपर पहले कहीं  
 हुई रचनासे सहित जितेन्द्रदेवका समवसरणमण्डल देखा ॥७२॥ इसमें समस्त सुर और  
 असुर आकर दिव्य ध्वनिके अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए बैठे हैं इसलिए जानकार गणधरादि  
 देवोंने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है ॥७३॥

अथानन्तर—महाराज भरत, जो अपने प्रकाशसे अखण्ड मण्डलवाले इन्द्रधनुषकी रेखा-  
 को प्रकट कर रहा है ऐसे धूलिसालके समीप जा पहुँचे ॥७४॥ सुवर्णके खम्भोंके अग्रभागपर  
 लगे हुए रत्नोंके तोरणोंसे जो अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा है ऐसे धूलिसालको उल्लघन कर उन्होंने  
 मानस्तम्भकी पूजा की ॥७५॥ जिनमें स्वच्छ और शीतल जल भरा हुआ है और कमल  
 फूल रहे हैं ऐसी जितेन्द्र भगवान्की बाणीके समान मानस्तम्भके चारो ओरकी बावड़ियाँ भी  
 महाराज भरतने देखी ॥७६॥ धूलिसालकी परिधिसे भीतर चारो ओरसे गलियोंके बीच-  
 बीचमे उन्होंने देवोंके निवास करने योग्य पृथ्वी भी देखी ॥७७॥ कुछ और आगे चलकर  
 उन्होंने जलसे भरी हुई परिखा देखी । वह परिखा सज्जन पुष्पोंके चित्तकी वृत्तिके समान  
 स्वच्छ और गम्भीर थी ॥७८॥ तदनन्तर जो अनेक प्रकारके फूलोंकी लताओंसे व्याप्त हो  
 रहा है और जो फूलोंके आसवरूपी रससे भत्त होकर फिरते हुए भ्रमरोसे व्याप्त है ऐसा लता-

१ अभिमुखं जगाम । २ जलानाम् । ३ भरतेन श्रूयते स्म । ४ घृष्टिकप्रमाण । 'तद्वर्ण्यी घृष्टिके गुल्फो'  
 इत्यभिधानात् । ५ मार्गेण । ६ भ्रमरहित । ७ कैलासस्य । ८ समागत्य । ९ प्रभोरवसरमालोकयन्तः ।  
 १० समवसरणम् । ११ आगमत् । १२ पर्यन्तसरसी ल० । १३ शैत्यजलाः, पले शान्तिजलाः । १४ देव-  
 प्रासादभूमी ।

ततः किंचित्पुरो गच्छन् सालमाद्यं न्यलोकयत् । निषधाद्रितत्तदुत्सर्गिण्युषं रत्नमाजुषम् ॥८०॥  
 सुरदौवारिकास्थिततलोलीतलाश्रितान् । सोऽपश्यन्मङ्गलद्रव्यमेदांस्त्राष्टाधा स्थितान् ॥८१॥  
 ततोऽन्तः प्रविशन्वीक्ष्य द्वितयं नाट्यशालयोः । प्रीतिं प्राप परां चक्री शक्राक्षीवर्तनोचितम् ॥८२॥  
 स धूपघटयोर्युग्मं तत्र वीथ्युभयान्तयोः । सुगन्धिन्धनसंदोहोदुग्धगन्धिधूपं न्यलोकयत् ॥८३॥  
 कक्षान्तरे द्वितीयेऽस्मिन्मत्स्यो वनचतुष्टयम् । निदध्मौ विगलसुप्तैः कृतार्चमिव शासिमिः ॥८४॥  
 प्रफुल्लवनमागोक्षं साप्तपर्णं च चाम्पकम् । आग्नेदितं वनं प्रेक्ष्य सोऽभूदाग्नेदितोत्सवः ॥८५॥  
 तत्र चैत्यद्वामास्तुत्तान् जिनविम्बैरधिष्ठिताम् । पूजयामास लक्ष्मीवान् पूजितासुरेशिनाम् ॥८६॥  
 तत्र किन्नरनारीणां गीतैरामन्दमूर्च्छनैः । लेभे परां धर्तिं चक्री गायन्तीवां जिनोत्सवम् ॥८७॥  
 सुगन्धिपवनामोदनिःश्वासा कुसुमस्मिता । वनश्रीः कोकिलाणां सज्जलप्येव चक्रिणा ॥८८॥  
 भृङ्गीसंगीतसमूर्च्छत् कोकिलानकनिस्त्वनैः । अनङ्गविजयं जिण्योर्वनानीवोदघोषयन् ॥८९॥  
 त्रिजगज्जनताजस्रप्रवेशरभसोत्थितम् । तन्नाश्रुणोन्महाबोधमर्षां बोधमिवोदधेः ॥९०॥  
 वनवेदीमथापश्यद् वनरुद्धावने परम् । वनराजीविलासिण्याः काञ्चीमिव कण्ठमणिम् ॥९१॥  
 तद्गोपुरावनि क्रान्त्वा ध्वजरुद्धावनि सुरार्धम् । आञ्जुधूमिवाऽपश्यन्मन्दभूतैर्ध्वजाञ्जुकेः ॥९२॥

वन देखा ॥७९॥ वहाँसे कुछ आगे जाकर उन्होंने पहला कोट देखा जो कि निषध पर्वतके किनारेके साथ स्पर्धा कर रहा था और रत्नोंकी दीप्तिसे सुशोभित था ॥८०॥ देवरूप द्वारपाल जिसकी रक्षा कर रहे हैं ऐसे गोपुरद्वारके समीप रखे हुए आठ मंगलद्रव्य श्री उन्होंने देखे ॥८१॥ तदनन्तर भीतर प्रवेश करते हुए चक्रवर्ती भरत इन्द्राणीके नृत्य करनेके योग्य दोनो ओरकी दो नाट्यशालाओंको देखकर परम प्रीतिको प्राप्त हुए ॥८२॥ वहाँसे कुछ आगे चलकर मार्गके दोनो ओर बगलमे रखे हुए तथा सुगन्धित ईंधनके समूहके द्वारा जिनसे अत्यन्त सुगन्धित धूम निकल रहा है ऐसे दो धूपघट देखे ॥८३॥ इस दूसरी कक्षामें उन्होंने चार वन भी देखे जो कि झड़ते हुए फूलोवाले वृक्षोंसे अर्घ्य देते हुएके समान जान पड़ते थे ॥८४॥ फूले हुए अशोक वृक्षोका वन, सप्तपर्ण वृक्षोका वन, चम्पक वृक्षोका वन और आमोका सुन्दर वन देखकर भरत महाराजका आनन्द भी दूना हो गया था ॥८५॥ श्रीमान् भरतने उन वनोंमें जिनप्रतिमाओंसे अधिष्ठित और इन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूजित बहुत ऊँचे चैत्यवृक्षोकी भी पूजा की ॥८६॥ उन्ही वनोंमें किन्नर जातिकी देवियाँ भगवान्का उत्सव गा रही थीं, उनके गम्भीर तानवाले गीतोसे चक्रवर्ती भरतने परम सन्तोष प्राप्त किया था ॥८७॥ सुगन्धित पवन ही जिसका सुगन्धिपूर्ण निःश्वास है और फूल ही जिसका मन्द हास्य है ऐसी वह वनकी लक्ष्मी कोयलोके मधुर शब्दोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो चक्रवर्तीके साथ वार्तालाप ही कर रही हो ॥८८॥ भ्रमरियोंके संगीतसे मिले हुए कोकिलारूपी नगाड़ोके शब्दोंसे वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवान्ने जो कामदेवको जीत लिया है उसीकी घोषणा कर रहे हो ॥८९॥ वहाँपर तीनो लोकोके जनसमूहके निरन्तर प्रवेश करनेकी उतावलीसे जो समुद्रके जलकी गर्जनाके समान बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था उसे भी भरत महाराजने सुना था ॥९०॥ तदनन्तर उन वनोंसे रुकी हुई पृथिवीके आगे उन्होंने वनपक्षितरूपी विलासिनी स्त्रीकी मणिमयी मेखलाके समान मणियोंसे जड़ी हुई वनकी वेदी देखी ॥९१॥ वनवेदीके मुख्य द्वारकी भूमिको उल्लंघन कर चक्रवर्ती भरतने ध्वजाओंसे रुकी हुई पृथिवी देखी, वह पृथिवी उस समय ऐसी मालूम हो रही थी मानो वायुसे हिलते हुए ध्वजाओंके वस्त्रोंके द्वारा

१ ददर्श । २ प्रफुल्लवन- ल० । ३ आग्नेदितवनं ल० । आग्निमिति स्तुतम् । ४ द्विजगुणितोत्सवः । ५ जल्पति स्म । ६ समिधोभवत् । ७ स्फुरद्गताम् । ८ सुराट् ल०, द० । ९ आञ्जुधुमिच्छुम् ।

सावनिः<sup>१</sup> सावनीवोधद् ध्वजमालतताम्बरा । सचक्रा सगजा रेजे जिनराजजयोजिता ॥९३॥  
 केतवो हरिवन्ध्याजवर्हिणेमगरुत्मनाम् ।<sup>२</sup> स्रगुक्षहंसचक्राणां दशघोक्ता जिनेशिनः ॥९४॥  
 तानेकशः<sup>३</sup> शतं चाष्टौ ध्वजान् प्रतिदिशं स्थितान् । वरीवक्ष्यन् गावक्षी स वदुद्भावनेः परम् ॥९५॥  
 द्वितीयमार्जुनं सालं सगोपुरचतुष्टयम् । व्यतीत्य परतोऽपश्यन्नाट्यशालादिपूर्ववत् ॥९६॥  
 तत्र पश्यन्सुरक्षीणां नृत्यं गीतं निशामयन् । धूपामोदं च संजिघ्रन् सुमीताक्षोऽभवद् विभुः ॥९७॥  
 कक्षान्तरे ततस्तस्मिन् कल्पवृक्षवनावलिम् । खग्वन्ध्याभरणादीष्टफलदां स निरूपयन्<sup>४</sup> ॥९८॥  
 सिद्धार्थपादपांस्तत्र सिद्धविम्बैरभिष्टितान् । परीत्य प्रणमन् प्रार्च्यदक्षितान्नक्रियायकैः ॥९९॥  
 वनवेदी ततोऽतीत्य चतुर्गोपुरमण्डनम् । प्रासादरुद्धामवनी स्तूपान् प्रशुरैक्षत् ॥१००॥  
 प्रासादा विविधास्तत्र सुरावासाय कल्पिताः । त्रिचतुष्पञ्चभूम्याद्या<sup>५</sup> नानाच्छन्दैरलंकृताः ॥१०१॥  
 स्तूपान् रत्ननिर्माणाः सान्तरा रत्नोरणैः । समन्ताजिनविम्बैस्ते निचितास्त्राश्रकाशिरैः ॥१०२॥  
 तां पश्यन्नर्चयंस्तान् तान्श्च तान्श्च स कीर्तयन् । तां च कक्षां व्यतीया<sup>६</sup> विस्मयं परमीयिवान् ॥१०३॥

उन्हे बुला ही रही हो ॥९२॥ वह ध्वजाभूमि यज्ञभूमिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार यज्ञभूमिका आकाश अनेक फहराती हुई ध्वजाओके समूहसे व्याप्त होता है उसी प्रकार उस ध्वजाभूमिका आकाश भी अनेक फहराती हुई ध्वजाओके समूहसे व्याप्त हो रहा था, जिस प्रकार यज्ञभूमि धर्मचक्र तथा हाथी आदिके मागलिक चिह्नोंसे सहित होती है उसी प्रकार वह ध्वजाभूमि भी चक्र और हाथीके चिह्नोंसे सहित थी, तथा जिस प्रकार यज्ञभूमि जिनेन्द्रदेवके जय अर्थात् जयजयकार शब्दोंसे व्याप्त होती है उसी प्रकार वह ध्वजाभूमि भी जिनेन्द्रदेवके जयजयकार शब्दोंसे व्याप्त थी अथवा कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लेनेसे प्रकट हुई थी ॥९३॥ जिनराजकी वे ध्वजाएँ सिंह, वस्त्र, कमल, मयूर, हाथी, गरुड़, माला, बैल, हंस और चक्र इन चिह्नोंके भेदसे दश प्रकारकी थी ॥९४॥ वे ध्वजाएँ प्रत्येक दिशामें एक-एक प्रकारकी एक सी आठ स्थित थी, उन सबकी पूजा करते हुए चक्रवर्ती महाराज उस ध्वजाभूमिसे आगे गये ॥९५॥ आगे चलकर उन्होंने चार गोपुर दरवाजोसहित चाँदोका बना हुआ दूसरा कोट देखा और उसे उल्लंघन कर उसके आगे पहलेके समान ही नाट्यशाला आदि देखी ॥९६॥ वहाँ देवागनाओके नृत्य देखते हुए, उनके गीत सुनते हुए और धूपकी सुगन्ध सूँघते हुए महाराज भरतकी इन्द्रियाँ बहुत ही सन्तुष्ट हुई थी ॥९७॥ आगे चलकर उन्होंने उसी कक्षाके मध्यमे माला, वस्त्र और आभूषण आदि अश्रेष्ठ फल देनेवाली कल्प वृक्षोंके वनकी भूमि देखी ॥९८॥ उसी वनभूमिमे उन्होंने सिद्धोंकी प्रतिमाओसे अधिष्ठित और इन्द्रोके द्वारा पूजित सिद्धार्थ वृक्षोंकी प्रदक्षिणा दी, उन्हे प्रणाम किया और उनकी पूजा की ॥९९॥ तदनन्तर चार गोपुर दरवाजोसे सुशोभित वनकी वेदीको उल्लंघन कर चक्रवर्तीने अनेक महलोसे भरी हुई पृथिवी और स्तूप देखे ॥१००॥ वहाँ देवोंके रहनेके लिए जो महल बने हुए थे वे तीन खण्ड, चार खण्ड, पाँच खण्ड आदि अनेक प्रकारके थे तथा नाना प्रकारके उपकरणोंसे सजे हुए थे ॥१०१॥ जिनके बीच-बीचमे रत्नोंके तोरण लगे हुए हैं और जिनपर चारों ओरसे जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाएँ विराजमान हैं ऐसे वे रत्नमयी स्तूप भी बहुत अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१०२॥ उन स्तूपोंको देखते हुए, उनकी पूजा करते हुए और उन्हींका वर्णन करते हुए जिन्हे परम आश्चर्य प्राप्त हो रहा है ऐसे भरतने क्रम-क्रमसे उस कक्षाको उल्लंघन

१ यज्ञसवन्निनीद । सवन यज्ञ । २ मालावृषभ । ३ एकैकस्मिन् ( दिशि ) । ४ पूजयन् । ५ प्रथमसाओ-वत्सवत् । ६ शृण्वन् । ७ माघ्राणयन् । ८ प्रीतिन्द्रिय । ९ वनावनिम् ल०, प० । १० पश्यन् । ११ स्वस्तिक-सन्तोभग्रन्ध्यावत्सचकवर्द्धमानाधिरचनाविशेष । १२ व्यतीतवान् ।



नमःस्फटिकनिर्माणं प्राकारवलयं ततः । प्रत्यासत्तेर्जिनस्येव लब्धशुद्धिं ददर्श सः ॥१०४॥  
 तत्र कल्पोपमैर्देवैर्महादौवारपालकैः । सादरं सोऽभ्यनुज्ञातः प्रविवेश समां विमोः ॥१०५॥  
 समन्ताद्योजनायामविष्कम्पपरिमण्डलम् । श्रीमण्डपं जगद्धिषमपश्यन्मान्वात्मनि ॥१०६॥  
 तत्रापश्यन्मुनिनिष्ठबोधान्देवीश्वरकल्पजाः । सार्थिका नृपकान्ताश्च ज्योतिर्वन्द्योत्सगामरीः ॥१०७॥  
 भावनव्यन्तरज्योतिःकल्पेन्द्रान्यार्थिवान्मृगान् । भगवत्पादसंप्रेक्षाप्रीतिप्रोक्तुल्लोचनान् ॥१०८॥  
 गणानिति क्रमात् पश्यन्परीयाय परंतपः । त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलां श्रितः ॥१०९॥  
 तत्रानर्चं मुदा चक्री धर्मचक्रचतुष्टयम् । यक्षेन्द्रैर्विष्टतं मूर्ध्ना ब्रध्नविश्वानुकारि यत् ॥११०॥  
 द्वितीयमेखलायां च प्राचंदष्टौ महाध्वजान् । चक्रेभोक्षाब्जपञ्चास्यसम्बन्धगुडाद्वितान् ॥१११॥  
 मेखलायां तृतीयस्यामथैक्षिष्ट जगद्गुरुम् । वृषभं स कृत्वा यस्यां श्रीमद्गन्धकुटीस्थिता ॥११२॥  
 तद्गर्भे रत्नसंदर्भरुचिरे हरिविष्टरे । मेरुशृङ्ग इवोत्तुङ्गे सुनिविष्टं महातनुम् ॥११३॥  
 छत्रत्रयकृतच्छायामप्यच्छायमवच्छिद्यम् । स्वतेजोमण्डलाक्रान्तं नृसुरासुरमण्डलम् ॥११४॥  
 अशोकशाखिचिह्नेन व्यञ्जयन्तमिवाञ्जसा । स्वपादाश्रयिणां शोकनिरासे शक्तिमात्मनः ॥११५॥  
 चलत्प्रकीर्णकाकीर्णपर्यन्तं कान्तविग्रहम् । रुक्साद्रिभिश्च वप्रान्तं पतञ्जिर्भरसंकुलम् ॥११६॥

किया ॥१०३॥ आगे चलकर उन्होंने आकाशस्फटिकका बना हुआ तीसरा कोट देखा । वह कोट ऐसा जान पड़ता था- मानो जिनेन्द्रदेवकी समीपताके कारण उसे शुद्धि ही प्राप्त हो गयी हो ॥१०४॥ वहाँ महाद्वारपालके रूपमें खड़े हुए कल्पवासी देवोंसे आदरसहित आज्ञा लेकर भरत महाराजने भगवान्की सभामें प्रवेश किया ॥१०५॥ वहाँ उन्होंने चारों ओरसे एक योजन लम्बा, चौड़ा, गोल और अपने-भीतर समस्त जगत्को स्थान देनेवाला श्रीमण्डप देखा ॥१०६॥ उसी श्रीमण्डपके मध्यमें उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंके दर्शन करनेसे उत्पन्न हुई प्रीतिसे जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे क्रमसे बैठे हुए उज्ज्वल ज्ञानके धारी मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाओंसे सहित रानी आदि स्त्रियाँ, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंकी देवियाँ, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव, राजा आदि मनुष्य और मृग आदि पशु ऐसे बारह संघ देखे तथा इन्हींको देखते हुए महाराज भरतने तीन कटनीदार पीठकी प्रथम कटनीका आश्रय लेकर उसकी प्रदक्षिणा दी ॥१०७-१०९॥ उस प्रथम कटनीपर चक्रवर्तीने, जिन्हें यक्षोंके इन्द्रोंने अपने मस्तकपर धारण कर रखा है और जो सूर्यके बिम्बका अनुकरण कर रहे हैं ऐसे चारों दिशाओंके चार धर्मचक्रोंकी प्रसन्नताके साथ पूजा की ॥११०॥ दूसरी कटनीपर उन्होंने चक्र, हाथी, बैल, कमल, सिंह, माला, वस्त्र और गरुड़के चिह्नोंसे विद्वित आठ महाध्वजाओंकी पूजा की ॥१११॥ तदनन्तर विद्वान् चक्रवर्तीने, जिसपर शोभायुक्त गन्धकुटी स्थित थी ऐसी तीसरी कटनीपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको देखा ॥११२॥ उस गन्धकुटीके भीतर जो रत्नोंकी बनावटसे बहुत ही सुन्दर और मेरु पर्वतके शिखरके समान ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए थे, जिनका शरीर बड़ा - जिनपर तीन छत्र छाया कर रहे थे परन्तु जो स्वयं छायारहित थे, पापोंको नष्ट करनेवाले थे, जिन्होंने अपने प्रभामण्डलसे मनुष्य, देव और धरणेन्द्र सभीके समूहको व्याप्त कर लिया था-जो अशोक वृक्षके चिह्नोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने चरणोंका आश्रय लेनेवाले जीविका शोक दूर करनेके लिए अपनी शक्ति ही प्रकट कर रहे हो-जिनके समीपका भाग चारों ओरसे ढुलते हुए चामरोसे व्याप्त हो रहा था, जो सुन्दर शरीरके धारक थे और इसीलिए जो उस सुमेरु

तेजसां चक्रबालेन स्फुरता परितो वृत्तम् । परिवेषवृत्तस्याकर्मण्डलस्यानुकारकम् ॥११७॥  
 विद्यद्दुन्दुभिभिर्मन्द्रघोषैरुद्धोषितोदयम् । सुमनोवर्षिभिर्दिव्यजी सृतैरुज्जितश्रियम् ॥११८॥  
 स्फुरद्गम्भीरनिर्घोषप्रीणितत्रिजगत्समम् । प्रावृषेण्य<sup>१</sup> पयोवाहमिव घर्माश्रुवर्षिणम् ॥११९॥  
 नानाभाषात्मिकां दिव्यभाषामेकात्मिकामपि । प्रथयन्तमथलेन हृद्धान्तं नुदती नृणाम् ॥१२०॥  
 अमेयवीर्यमाहर्थायिरेह<sup>२</sup> ज्योतिःसुन्दरम् । सुभाग्विभवमुत्सर्पत्सौरभं सुमलक्षणम् ॥१२१॥  
 अस्वेदमलमच्छायमपठमल्पन्दवन्युरम् । सुसंस्थानमभेद्यं<sup>३</sup> च दधानं वपुरुर्जितम् ॥१२२॥  
 रत्यप्रतर्क्यमाहात्म्यं दूरादालोकयन् जिनम् । प्रह्वोऽभूत्स महीस्पृष्टं जानुरानन्दनिर्मरः ॥१२३॥  
 दूरानतचलन्मौलिरालोलमणिकुण्डलः । स रेजे प्रणमन् सक्त्या जिनं रत्नैरिवार्चयन् ॥१२४॥  
 ततो विधिवदानचं जलगन्धस्नगक्षतैः । चरुप्रदीपधूपैश्च सफलैः स फलेप्तया ॥१२५॥  
 कृतपूजाविधिर्भूयः प्रणम्य परमेश्वरम् । स्तोतुं स्तुतिभिरत्युच्चैरारेभे मरताधिपः ॥१२६॥  
 त्वां स्तोष्ये परमात्मानमपारगुणमच्युतम् । चोदितोऽहं बलाद् भवत्या शक्त्या मन्दोऽप्यमन्द्या ॥१२७॥

पर्वतके समान जान पड़ते थे जो कि शिखरोके समीप भागसे पड़ते हुए झरनोसे व्याप्त हो रहा है—जो चारो ओरसे फैलते हुए कान्तिमण्डलसे व्याप्त हो रहे थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो गोल परिधिसे घिरे हुए सूर्यमण्डलका अनुकरण ही कर रहे हो—गम्भीर शब्द करने-वाले आकाशदुन्दुभियोंके द्वारा जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा था तथा फूलोंकी वर्षा करने-वाले दिव्य मेघोंके द्वारा जिनकी शोभा बढ़ रही थी—जिन्होंने चारों ओर फैलती हुई अपनी गम्भीर गर्जनासे तीनों लोकोंके जीवोंकी सभाको सन्तुष्ट कर दिया था और इसीलिए जो धर्मरूपी जलकी वर्षा करते हुए वर्षाश्रुतुके मेघके समान जान पड़ते थे, जो उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा एक रूप होकर भी अतिशयवश श्रोताओंके कर्णकुहरके समीप अनेक भाषाओंरूप परिणमन करनेवाली और जीवोंके हृदयका अन्धकार दूर करनेवाली दिव्य ध्वनिको बिना किसी प्रयत्न-के प्रसारित कर रहे थे—जो अनन्त वीर्यको धारण कर रहे थे, आभूषणरहित होनेपर भी अति-शय सुन्दर थे, वाणीरूपी उत्तम विभूतिके धारक थे, जिनके शरीरसे सुगन्धि निकल रही थी, जो शुभ लक्षणोसे सहित थे, पसीना और मलसे रहित थे, जिनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती थी, जो आँखोंके पलक न लगनेसे अतिगय सुन्दर थे, समचतुरस्र सस्थानके धारक थे, और जो छेदन-मेदनरहित अतिशय बलवान् शरीरको धारण कर रहे थे—ऐसे अचिन्त्य माहात्म्यके धारक श्री जिनेन्द्र भगवान्को दूरसे ही देखते हुए भरत महाराज आनन्दसे भर गये तथा उन्होंने अपने दोनों घुटने जमीनपर टेककर श्री भगवान्को नमस्कार किया ॥११३—१२३॥ दूर-से ही नम्र होनेके कारण जिनका मुकुट कुछ-कुछ हिल रहा है और मणिमय कुण्डल चंचल हो रहे हैं ऐसे भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको प्रणाम करते हुए चक्रवर्ती भरत ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्हें रत्नोंके द्वारा अर्घ्य ही दे रहा हो ॥१२४॥ तदनन्तर उन्होंने मोक्षरूपी फल प्राप्त करनेकी इच्छासे विधिपूर्वक जल, चन्दन, पुष्पमाला, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंके द्वारा भगवान्की पूजा की ॥१२५॥ पूजाकी विधि समाप्त कर चुकनेके बाद भरतेश्वरने परमेश्वी वृषभदेवको प्रणाम किया और फिर अच्छे-अच्छे स्तोत्रोंके द्वारा उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥१२६॥ हे भगवन्, आप परमात्मा हैं, अपार गुणोंके धारक हैं, अविनश्वर हैं और मैं शक्तिते हीन हूँ तथापि बड़ी भारी भक्तिते जबरदस्ती प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता

१ विष्णु ६० । २ आकाशो ध्वनदुन्दुभि । ३ सुरमेधै । ४ प्रावृषि भवम् । ५ आभरणाद् विरहितोऽपि । ६ समचतुरस्र । ७ महीपृष्ठ ल० ।

—क ते गुणा गगेन्द्राणामप्यगव्या<sup>१</sup> क मादशः । तथापि प्रथते<sup>२</sup> स्तोतुं मत्स्या त्वद्गुणनिज्ञया<sup>३</sup> ॥१२८॥  
 फलाय त्वदराता भक्तिरनलयाय प्रकल्पते । स्वामिसंपत्त्यपुष्पाति ननु संपत्परम्पराम् ॥१२९॥  
 घातिकर्ममलापायत् प्रादुरासन् गुणास्तव । घनावरणनिर्मुक्तमूर्त्तैर्मानोर्वयथाऽशवः ॥१३०॥  
 यथार्थदर्शनज्ञानसुखवीर्यादिलब्धयः । क्षायिक्यस्तव निर्जाता<sup>४</sup> घातिकर्मविनिर्जयात् ॥१३१॥  
 केवलख्यं परं ज्योतिस्तव देव यदोदगात्<sup>५</sup> । तदा लोकमलोकं च त्वमेवमुद्रा विनावधेः ॥१३२॥  
 सार्वा<sup>६</sup> तव वक्त्रेश वचः शुद्धिरसोऽयम्<sup>७</sup> । न हि वाग्विमवो मन्दधियामस्तीह पुष्कलः ॥१३३॥  
 वक्तृप्रामाण्यतो देव वचःप्रामाण्यमिष्यते । न ह्युद्धतराद् वक्तुः प्रभवन्त्युज्ज्वला गिरः ॥१३४॥  
 सप्तमङ्गाभिकेयं ते भारती विश्वगोचरा । आसप्रतीति<sup>८</sup> ममलां त्वय्युद्भावयितुं क्षमा ॥१३५॥  
 स्यादस्त्येव हि नास्त्येव स्यादवक्तव्यमित्यपि । स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति<sup>९</sup> ते सार्व<sup>१०</sup> भारती ॥१३६॥

हूँ ॥१२७॥ हे देव, जो गणधर देवोके द्वारा भी गम्य नहीं हूँ ऐसे कहाँ तो आपके अनन्त गुण और कहाँ मुझ सरीखा मन्द पुरुष ? तथापि आपके गुणोंके अधीन रहनेवाली भवितसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करनेका प्रयत्न करता हूँ ॥१२८॥ हे भगवन्, आपके विषय-में की हुई थोड़ी भक्ति भी बहुत भारी फल देनेके लिए समर्थ रहती है सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीकी सम्पत्ति सेवक जनोकी सम्पत्तिकी परम्पराको पुष्ट करती ही है ॥१२९॥ हे नाथ, जिस प्रकार मेघोके आवरणसे छूटे हुए सूर्यकी अनेक किरणें प्रकट हो जाती हैं उसी प्रकार घातिया कर्मरूपी मलके दूर हो जानेसे आपके अनेक गुण प्रकट हुए हैं ॥१३०॥ हे प्रभो, घातिया कर्मोंको जीत लेनेसे आपके यथार्थ दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट हुई हैं ॥१३१॥ हे देव, जिस समय आपके केवलज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट हुई थी उसी समय आपने मर्यादाके बिना ही समस्त लोक और अलोकको जान लिया था ॥१३२॥ हे ईश, सब जगह जानेवाली अर्थात् ससारके सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाली आपके वक्त्रोकी शुद्धि आपके सर्वज्ञपनेकी प्रकट करती है सो ठीक ही है क्योंकि इस जगत्में मन्द बुद्धि-वाले जीवोंके इतना अधिक वक्त्रोका वैभव कभी नहीं हो सकता है ॥१३३॥ हे देव, वक्ता-की प्रमाणतासे ही वक्त्रोकी प्रमाणता मानी जाती है क्योंकि अत्यन्त अव्युद्ध वक्तासे उज्ज्वल वाणी कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है ॥१३४॥ हे नाथ, समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाली आपकी यह सप्तभंगरूप वाणी ही आपमें आप्तपनेकी निर्मल प्रतीति उत्पन्न करानेके लिए समर्थ है ॥१३५॥ हे सबका हित करनेवाले, आपकी सप्तभंगरूप वाणी इस प्रकार है कि जीवादि पदार्थ कथंचित् है ही, कथंचित् नहीं ही है, कथंचित् दोनों प्रकार ही है, कथंचित् अवक्तव्य ही है, कथंचित् अस्तित्व रूप होकर अवक्तव्य है, कथंचित् नास्तित्व रूप होकर अवक्तव्य है और कथंचित् अस्तित्व तथा नास्तित्व-दोनों रूप होकर अवक्तव्य है । विशेषार्थ— जैनागममें प्रत्येक वस्तुमें एक-एक धर्मके प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षासे सात-सात भंग माने गये हैं, जो कि इस प्रकार है—१ स्यादस्त्येव, २ स्यान्नास्त्येव, ३ स्यादस्ति च नास्त्येव, ४ स्यादवक्तव्यमेव, ५ स्यादस्ति चावक्तव्यं च, ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च और ७ स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं च । इनका स्पष्ट अर्थ यह है कि ससारका

१—मप्यगव्या ल० । २ प्रयत्न करिष्ये । ३ त्वद्गुणाधीनतया । ४ नितरा जाता । ५ उदेति रूप । ६ सर्वज्ञ-ताम् । ७ सर्वगा । ८ सम्पूर्ण । ९ आप्तस्य निश्चितिम् । १० स्यादस्त्येवेत्यादिना सप्तभंगी योजनीया, कथ-मिति चैतः (१) स्यादस्त्येव, (२) स्यान्नास्त्येव, (३) द्वयमपि मिलित्वा स्यादस्तिनास्त्येव, (४) स्यादवक्तव्यमेव, (५) स्यादवक्तव्यपदेन सह स्यादस्ति नास्तीति द्वय योजनीयम्, कथम् ? स्यादस्त्यवक्तव्यम्, (६) स्यान्नास्त्य-वक्तव्यमिति, (७) स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमिति । ११ सर्वहित ।

विहृद्वावद्ववाजालरुद्धव्यासुग्धबुद्धिषु । अश्रद्धेयमनासेषु सार्वज्ञ्यं त्वयि तिष्ठते ॥१३७॥

रविः पयोधरोत्संगसुसरस्मिर्विकसिभिः । सूच्यतेऽष्टजैर्यथा तद्बहुजैर्वाग्विमवैर्मवान् ॥१३८॥

प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय ( द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ) की अपेक्षा अस्तित्व रूप ही है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व रूप ही है और एक साथ दोनो धर्म नहीं कहे जा सकनेके कारण अवक्तव्य रूप भी है, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें मुख्यतासे अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य ये तीन धर्म पाये जाते हैं । इन्हीं मुख्य धर्मोंके संयोगसे सात-सात धर्म हो जाते हैं । जैसे 'जीवोऽस्ति' जीव है । यहाँपर जीव और अस्तित्व क्रियामे विशेष्य विशेषण सम्बन्ध है । विशेषण विशेष्यमे ही रहता है इसलिए जीवका अस्तित्व जीवमे ही है दूसरी जगह नहीं है, इसी प्रकार 'जीवो नास्ति'-जीव नहीं है यहाँपर भी जीव और नास्तित्वमें विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध है इसलिए ऊपर कहे हुए नियमसे नास्तित्व जीवमे ही है दूसरी जगह नहीं है । जीवके इन अस्तित्व और नास्तित्व रूप धर्मोंको एक साथ कह नहीं सकते इसलिए उसमे एक अवक्तव्य नामका धर्म भी है । इन तीनों धर्मोंमे-से जब जीवके केवल अस्तित्व धर्मकी विवक्षा करते हैं तब 'स्याद् अस्त्येव जीव.' ऐसा पहला भंग होता है, जब नास्तित्व धर्मकी विवक्षा करते हैं तब 'नास्त्येव जीव.' ऐसा दूसरा भंग होता है, जब दोनोकी क्रम-क्रमसे विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति च नास्त्येव जीव' इस प्रकार तीसरा भंग होता है, जब दोनोकी अक्रम अर्थात् एक साथ विवक्षा करते हैं तब दो विरुद्ध धर्म एक कालमे नहीं कहे जा सकनेके कारण 'स्यादवक्तव्यमेव' ऐसा चौथा भंग होता है, जब अस्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति चावक्तव्य च' ऐसा पाँचवाँ भंग होता है, जब नास्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च' ऐसा छठा भंग हो जाता है और जब अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्य इन धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं च' ऐसा सातवाँ भंग हो जाता है । संयोगकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमे प्रत्येक धर्म सात-सात भंगके रूप रहता है इसलिए उन्हें कहनेके लिए जिनेन्द्र भगवान्ने सप्त-भंगी ( सात भगोंके समूह ) रूप वाणी-के द्वारा उपदेश दिया है । जिस समय जीवके अस्तित्व धर्मका निरूपण किया जा रहा है उस समय उसके अवशिष्ट धर्मोंका अभाव न समझ लिया जाये इसलिए उसके साथ विवक्षा-सूचक स्याद् शब्दका भी प्रयोग किया जाता है तथा सन्देह दूर करनेके लिए नियमवाचक एव या च आदि निपातोका भी प्रयोग किया जाता है जिससे सब मिलाकर 'स्यादस्त्येव जीव.' इस वाक्यका अर्थ होता है कि जीव किसी अपेक्षासे है ही । इसी प्रकार अन्य वाक्योंका अर्थ भी समझ लेना चाहिए । जैनधर्म अपनी व्यापक दृष्टिसे पदार्थके भीतर रहनेवाले उसके समस्त धर्मोंका विवक्षानुसार कथन करता है इसलिए वह स्याद्वादरूप कहलाता है । वास्तवमे इस सर्वमुखी दृष्टिके बिना वस्तुका पूर्ण स्वरूप कहा भी तो नहीं जा सकता ॥१३९॥ हे देव, जिनकी बुद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे विरुद्ध तथा सम्बन्धरहित वचनोंके जालमे फँसकर व्यामुग्ध हो गयी है ऐसे कुदेवोमे श्रद्धान नहीं करने योग्य सर्वज्ञता आपमे विराजमान है । भावार्थ - सर्वज्ञ वही हो सकता है जिसके वचनोमे कही भी विरोध नहीं आता है । संसारके अन्य देवो-देवताओ-के वचनोंमे पूर्वापर विरोध पाया जाता है और इसीसे उनकी भ्रान्त बुद्धिका पता चल जाता है इन सब कारणोंको देखते हुए 'वे सर्वज्ञ ये' ऐसा विश्वास नहीं होता परन्तु आपके वचनो अर्थात् उपदेशोमे कही भी विरोध नहीं आता तथा आपने वस्तुके समस्त धर्मोंका वर्णन किया है इससे आपकी बुद्धि-ज्ञान-निर्भ्रान्त है और इसीलिए आप सर्वज्ञ हैं ॥१३७॥ जिस प्रकार मेघोंके

१ प्रमाणभूते निर्णयाय तिष्ठतोत्पथ । 'स्वैयप्रकाशने इति स्वैयविषये आत्मनेपदे-विवादपदे निर्णता प्रमाण-भूत पुष्य स्वैय ।

यथान्धतमसे दूरात्कर्त्तव्यं ते विस्तृतैः शिखी<sup>१</sup> । तथा त्वमपि सुदुर्गन्धैः सूक्ष्मैरासौकिमर्हसि<sup>२</sup> ॥ १३९॥  
 आस्तामाध्यात्मिकीयं ते ज्ञानसंपन्नमहोदया । बहिर्विभूतिरेवैवा शास्ति नः गास्तुतां<sup>३</sup> त्वयि ॥ १४०॥  
 परार्थमासनं सैहं कल्पितं सुरशिखिमभिः । रत्नरुक्छुरितं<sup>४</sup> भाति तावकं<sup>५</sup> मेरुष्टङ्गवत् ॥ १४१॥  
 सुरैस्चिह्नमेतत्ते छत्राणां त्रयमूर्जितम् । त्रिजगत्यामवे<sup>६</sup> चिह्नं न प्रतीमः कथं वयम् ॥ १४२॥  
 चामराणि तवामूनि वीज्यमानानि चामरैः । शसन्त्यनन्यसामान्यसैश्वर्यं भुवनातिगम् ॥ १४३॥  
 परितस्त्वत्सभां देव वर्षन्त्येते सुराम्बुदाः । सुमनोवर्षमुद्गन्धि व्याहृतमधुपत्रजम् ॥ १४४॥  
 सुरदुन्दुभयो मन्द्रं ध्वनन्त्येते<sup>७</sup> नमोऽङ्गणे । सुरकिंकरहस्ताग्रताडितास्त्वज्योत्सवे ॥ १४५॥  
 सुरैरासेवितोषान्तो जनसाशोकतापनुत्<sup>८</sup> । प्रायस्त्वामयमन्वेति<sup>९</sup> तवाशोकमहीरुहः ॥ १४६॥  
 त्वद्देहदीप्तयो दीप्राः प्रसरन्त्यमितः समाम् । हृतबालातपच्छायास्तन्वाना नयनोत्सवम् ॥ १४७॥

बीचमे जिसकी समस्त किरणे छिप गयी है ऐसा सूर्य यद्यपि दिखाई नहीं देता तथापि फूले हुए कमलोंसे उसका अस्तित्व सूचित हो जाता है उसी प्रकार आपका प्रत्यक्ष रूप भी दिखाई नहीं देता तथापि आपके श्रेष्ठ वचनोंके वैभवके द्वारा आपके प्रत्यक्ष रूपका अस्तित्व सूचित हो रहा है । भावार्थ — आपके महान् उपदेश ही आपको सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं ॥ १३९॥ अथवा जिस प्रकार सघन अन्धकारमें यद्यपि मयूर दिखाई नहीं देता तथापि अपने शब्दोंके द्वारा दूर-से ही पहचान लिया जाता है उसी प्रकार आपका आप्तपना यद्यपि प्रकट नहीं दिखाई देता तथापि आप अपने स्पष्ट और सत्यार्थ वचनोंसे आप्त कहलानेके योग्य है ॥ १३९॥ अथवा हे देव, जिसका बड़ा भारी अभ्युदय है ऐसी यह आपकी अध्यात्मसम्बन्धी ज्ञानरूपी सम्पत्ति दूर रहे, आपकी यह बाह्य विभूति ही हम लोगोंकी आपके हितोपदेशीपनका उपदेश दे रही है । भावार्थ — आपकी बाह्य विभूति ही हमें बतला रही है कि आप भोक्षमार्गरूप हितका उपदेश देनेवाले सच्चे वक्ता और आप्त हैं ॥ १४०॥ हे भगवन्, देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ और रत्नोंकी किरणोंसे मिला हुआ आपका यह श्रेष्ठ सिंहासन मेरु पर्वतके शिखर-के समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४१॥ देवोंके द्वारा ऊपरकी ओर धारण किया हुआ यह आपका प्रकाशमान छत्रत्रय आपकी तीनों लोकोंकी प्रभुताका चिह्न है ऐसा हम क्यों न विश्वास करें ? भावार्थ — आपके मस्तकके ऊपर आकाशमें जो देवोंने तीन छत्र लगा रखे हैं वे ऐसे मालूम होते हैं मानो आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं यही सूचित कर रहे हों ॥ १४२॥ देवोंके द्वारा बुलाये हुए ये चप्रर तीनों जगत्को उल्लंघन करनेवाले आपके असाधारण ऐश्वर्यको सूचित कर रहे हैं ॥ १४३॥ हे देव, ये देवरूपी मेघ आपकी सभाके चारो ओर अत्यन्त सुगन्धित तथा भ्रमरोके समूहकी बुलानेवाली फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥ १४४॥ हे प्रभो, आपके विज-योत्सवमे देवरूप किकरोके हाथोंके अग्र भागसे ताड़ित हुए ये देवोंके दुन्दुभि बाजे आकाश रूप आंगनमे गम्भीर शब्द कर रहे हैं ॥ १४५॥ जिसका समीप भाग देवोंके द्वारा सेवित है अर्थात् जिसके समीप देव लोग बैठे हुए हैं और जो जनसमूहके शोक तथा सन्तापको दूर करने-वाला है ऐसा यह अशोकवृक्ष प्रायः आपका ही अनुकरण कर रहा है क्योंकि आपका समीप भाग भी देवोंके द्वारा सेवित है और आप भी जनसमूहके शोक और सन्तापको दूर करनेवाले हैं ॥ १४६॥ जिसने प्रातःकालके सूर्यकी कान्ति धारण की है और जो नेत्रोंका उत्सव बढ़ा रही है ऐसी यह आपके शरीरकी देदीप्यमान कान्ति सभाके चारो ओर फैल रही है । भावार्थ —

१ बहि । २ श्रुतेर्योग्यो भवसि । ३ शिक्षकत्वम् । ४ रत्नकान्तिमिश्रितम् । ५ त्वत्सवन्धि । ६ देवैरुद्धृतम् । ७ त्रैलोक्यप्रभुत्वे । ८ कथं न विश्वासं कुर्मः । ९ नदन्त्येते ल० । १० संतापहारि । ११ अनुकरोति ।

दिव्यभाषा तथा शेषभाषा भेदादनुकारिणी । निरस्यति मनो ध्वान्तमत्राचामर्षि<sup>१</sup> देहिनाम् ॥१४८॥  
 प्रतिहार्यमयो भूतिरियमष्टतयो प्रभो । सहिमानं तत्राचष्टे विस्तरं विष्टपातिगम् ॥१४९॥  
 त्रिमेखलस्य पीठस्य मेरोरिव गरीयसः । चूलिकेव विमालयुक्तैः सेन्या गन्धकुटी तव ॥१५०॥  
 वन्दारूपां मुनीन्द्राणां स्तोत्रप्रतिरवेर्महुः । स्तोत्रुक्तामेव भक्त्या त्वां सैषा मात्यतिसमदान् ॥१५१॥  
 परार्थरत्ननिर्माणमेनामत्यन्तमास्वरात् । त्वामध्यासीनमानन्ना नाकमात्रो भजन्यत्मा ॥१५२॥  
 सगिखामणयोऽस्तीषां नन्नाणां भान्ति मौलयः । सदीपा इव रत्नार्वाः स्थापितास्त्वत्पद्मनिर्गते<sup>२</sup> ॥१५३॥  
 नतानां सुरकोटीनां चक्रासत्यधिमस्तकम् । प्रसादात्ता इवालयना युष्मत्पादत्रयाङ्गवः ॥१५४॥  
 वलदुर्पणसक्रान्तविम्बान्धसरोर्योषिताम् । दधत्यमूनि वन्त्राणि त्वदुपाद्ग्रन्थजुजश्रियम् ॥१५५॥  
 वक्त्रेण्डमरनारोणां संघर्षे कुङ्कुमश्रियम् । युष्मत्पादतलच्छाया प्रसरन्ती जयाऽरुणा ॥१५६॥  
 गणाधुषित<sup>३</sup> भुसायामध्यवर्ती त्रिमेखल । पीठाद्विरयमाभाति तन्नाविक्रममङ्गलः ॥१५७॥  
 प्रथमोऽस्य परिक्षेपो धर्मचक्रैरङ्कृतः । द्वितीयोऽपि तवाऽर्माभिर्द्विज्वष्टासु महाध्वजैः ॥१५८॥  
 श्रीमण्डपनिवेशस्ते योजनप्रसितोऽप्ययम् । त्रिजगज्जनताऽजस्रप्रावेशोपग्रहश्रमः<sup>४</sup> ॥१५९॥  
 धूलीसालपरिक्षेपो मानस्तम्भाः सरांसि च । रत्नतिका सलिलापूर्णा वल्लीवनपरिच्छदः ॥१६०॥

आपके भामण्डलकी प्रभा सभाके चारो ओर फैल रही है ॥१४७॥ समस्त भाषाओंके भेदोंका अनुकरण करनेवाली अर्थात् समस्त भाषाओं रूप परिणत होनेवाली आपकी यह दिव्य ध्वनि जो वचन नहीं बोल सकते ऐसे पशु पक्षी आदि तिर्यचोंके भी हृदयके अन्वकारको दूर कर देती है ॥१४८॥ हे प्रभो, आपकी यह प्रातिहार्यरूप आठ प्रकारकी विभूति आपकी लोकोत्तर महिमाको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर रही है ॥१४९॥ मेरे पर्वतके समान ऊँचे तीन कटनीदार पीठपर सबके द्वारा सेवन करने योग्य आपकी यह ऊँची गन्धकुटी मेरी चूलिकाके समान सुशोभित हो रही है ॥१५०॥ वन्दना करनेवाले उत्तम 'मुनियोंके स्तोत्रोंकी प्रतिध्वनिसे यह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती है मानो भक्तिवग हर्षसे आपकी स्तुति ही करना चाहती हो ॥१५१॥ हे प्रभो, जो श्रेष्ठ रत्नोंसे बनी हुई और अतिगद्य देदीप्यमान इस गन्धकुटीमें विराजमान है ऐसे आपकी, स्वर्गमें रहनेवाले देव नम्र होकर सेवा कर रहे हैं ॥१५२॥ हे देव, जो अग्रभागमें लगे हुए मणियोंसे सहित है ऐसे इन नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुट ऐसे जान पड़ते हैं मानो आपके चरणोंके समीप दीपकसहित रत्नोंके अर्घ ही स्थापित किये गये हो ॥१५३॥ नमस्कार करते हुए करोड़ों देवोंके मस्तकोंपर जो आपके चरणोंके नखोंकी किरणें पड़ रही हैं वे ऐसी सुशोभित हो रही हैं मानो उनपर प्रसन्नताके अंग ही लग रहे हो ॥१५४॥ आपके नखरूपी दर्पणमें जिनका प्रतिविम्ब पड़ रहा है ऐसे ये देवांगनाओंके मुख आपके चरणोंके समीपमें कमलोंकी गोभा धारण कर रहे हैं ॥१५५॥ जवाके फूलके समान लाल वर्ण जो यह आपके पैरोंके तलवोंकी कान्ति फैल रही है वह देवांगनाओंके मुखोंपर कुंकुमकी गोभा धारण कर रही है ॥१५६॥ जो बारह सभाओंसे भरी हुई पृथिवीके मध्यभागमें वर्तमान है और जिसपर अनेक मंगल द्रव्य प्रकट हो रहे हैं ऐसा यह तीन कटनीदार आपका पीठरूपी पर्वत बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा है ॥१५७॥ इस पीठकी पहली परिधि धर्मचक्रोंसे अलङ्कृत है और दूसरी परिधि भी आठों दिशाओंमें फहराती हुई आपकी इन बड़ी-बड़ी ध्वजाओंसे सुशोभित है ॥१५८॥ यद्यपि आपके श्रीमण्डपकी रचना एक ही योजन लम्बी-चौड़ी है तथापि वह तीनो जगत्के जनसमूहोंके निरन्तर प्रवेश कराते रहने रूप उपकारमें समर्थ है ॥१५९॥ हे प्रभो, यह धूलीसालकी परिधि, ये मानस्तम्भ, सरोवर, स्वच्छ जलसे भरी हुई परिखा, लता-

१ तिरस्चाम् । २ तव पादमयी । ३ द्वादशगणस्त्रिंशत् । ४ उपकारदश्च । त्रिजगज्जनानां स्थानदाने नमर्य इत्यर्थः ।

मालत्रितयमुत्तुङ्गचतुर्गोपुरमण्डितम् । मङ्गलद्वन्द्वसंदोहो निधयस्तोरणानि च ॥१६१॥  
 नाट्यशालाद्वयं दीप्तं लसद्भूपघटीद्वयम् । वनराजिपरिक्षेपश्रैष्ठ्यद्रुमपरिष्कृतः ॥१६२॥  
 वनवेदीद्वयं प्रोच्चैर्ध्वजमालोत्ततावनिः । कल्पद्रुमवनामोगाः स्तूपहर्म्यावलीत्यपि ॥१६३॥  
 'सदोऽवनि' रियं देव नृसुरासुरपावनी । त्रिजगत्सारसंदोह इवैकत्र निवेगितः ॥१६४॥  
 बहिर्विभूतिरित्युच्चैराविकृतमहोदयाः । लक्ष्मीमाध्यात्मिकी व्यक्तं व्यनक्ति जिन तावकीम् ॥१६५॥  
 सभापरिच्छदः सोऽयं सुरैस्तव विनिर्मितः । वैराग्यातिशयं नाथ नोपहन्त्यं प्रतर्कितः ॥१६६॥  
 हृन्मद्भुतसाहाय्याखिलजगद्गल्लभो भवान् । स्तुत्योपतिष्ठमानं मां पुनीतात्पूतशासनः ॥१६७॥  
 अलं स्तुतिप्रपञ्चेन तवाचिन्त्यतमा गुणाः । जयेशान नमस्तुभ्यमिति संक्षेपतः स्तुवे ॥१६८॥  
 जयेश जय निर्दग्धकर्मन्धनजयाजर । जय लोकगुरो सार्व जयताज्जय जित्वरं ॥१६९॥  
 जय लक्ष्मीपते जिष्णो जयानन्तगुणोज्ज्वल । जय विश्वजगद्बन्धो जय विश्वजगद्धित ॥१७०॥  
 जयाखिलजगद्देविन् जयाखिलसुखोदय । जयाखिलजगज्ज्येष्ठ जयाखिलजगद्गुरो ॥१७१॥  
 जय निर्जितमोहारे जय तर्जितमन्मथ । जय जन्मजरातङ्कविजयिन् विजितान्तक ॥१७२॥

वनोका समूह — ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर दरवाजोसे सुशोभित तीन कोट, मंगल द्रव्योका समूह, निधियाँ, तोरण — दो-दो नाट्यशालाएँ, दो-दो सुन्दर धूप घट, चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित वन पंक्तियोंकी परिधि — दो वनवेदी, ऊँची-ऊँची ध्वजाओंकी पंक्तिसे भरी हुई पृथिवी, कल्पवृक्षोंके वनका विस्तार, स्तूप और मकानोंकी पंक्ति — इस प्रकार मनुष्य देव और धरणेन्द्रोको पवित्र करनेवाली आपकी यह सभाभूमि ऐसी जान पड़ती है मानो तीनों जगत्की अच्छी-अच्छी वस्तुओका समूह ही एक जगह इकट्ठा किया गया हो ॥१६०—१६४॥ हे जिनेन्द्र, जिससे आपका महान् अभ्युदय या ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसी यह आपकी अतिशय उत्कृष्ट बाह्य विभूति आपकी अन्तरग लक्ष्मीको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर रही है ॥१६५॥ हे नाथ, जिसके विषयमें कोई तर्क-वितर्क नहीं कर सकता ऐसी यह देवोंके द्वारा रची हुई आपके समवसरणकी विभूति आपके वैराग्यके अतिशयको नष्ट नहीं कर सकती है । भावार्थ — समवसरण सभाकी अनुपम विभूति देखकर आपके हृदयमें कुछ भी रागभाव उत्पन्न नहीं होता है ॥१६६॥ इस प्रकार जिनकी अद्भुत महिमा है, जो तीनों लोकोके स्वामी है, और जिनका शासन अतिशय पवित्र है ऐसे आप स्तुतिके द्वारा उपस्थान (पूजा) करनेवाले मुझे पवित्र कीजिए ॥१६७॥ हे भगवन्, आपकी स्तुतिका प्रपच करना व्यर्थ है क्योंकि आपके गुण अत्यन्त अचिन्त्य हैं इसलिए मैं संक्षेपसे इतनी ही स्तुति करता हूँ कि हे ईशान, आपकी जय हो और आपको नमस्कार हो ॥१६८॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे कर्मरूप ईधनको जलानेवाले, आपकी जय हो, हे जगद्गुरु, आपकी जय हो, हे लोकोके गुरु, आपकी जय हो, हे सबका हित करनेवाले, आपकी जय हो, और हे जयशील, आपकी जय हो ॥१६९॥ हे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी जयनशील, आपकी जय हो । हे अनन्तगुणोंसे उज्ज्वल, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्के बन्धु, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्का हित करनेवाले, आपकी जय हो ॥१७०॥ हे समस्त जगत्को जाननेवाले, आपकी जय हो । हे समस्त सुखोंको प्राप्त करनेवाले, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्में श्रेष्ठ, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्के गुरु, आपकी जय हो ॥१७१॥ हे मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले, आपकी जय हो । हे कामदेवको भर्त्सना करने

१ अलङ्कृत. 'परिष्कारो विभूषणम्' इत्यभिधानात् । २ नवाभोग द०, इ०, । ३ समवसरणभूमि । ४ न नाशयति । ५ ऊहातीत ऊहितुमशक्य इत्यर्थः । ६ स्तोत्रेणार्चयन्म् । ७ पवित्रं कुच । ८ जयशील ।

जय निर्मल निर्माय जय निर्मोह निर्मम । जय निर्मल निर्द्वन्द्व जय निष्कल<sup>१</sup> पुष्कल ॥ १७३ ॥  
 जय प्रबुद्ध सन्मार्ग जय दुर्गारोघन । जय कर्मारिमर्माविद्ध<sup>२</sup> मंचक्र जयोद्धर<sup>३</sup> ॥ १७४ ॥  
 जयाध्वरपते यज्वन् जय पूज्य महोदय । जयोद्धर जयाचिन्त्य<sup>४</sup> सद्धर्मरथसारथे ॥ १७५ ॥  
 जय निस्तीर्णसंसारपारावारगुणाकर । जय निःशेषनिष्पीतविद्यारत्नाकर प्रभो ॥ १७६ ॥  
 नमस्ते परमानन्दसुखरूपाय जयिने<sup>५</sup> । नमस्ते परमानन्दमयाय परमात्मने ॥ १७७ ॥  
 नमस्ते भुवनोद्भासिज्ञानभाभारमासिने<sup>६</sup> । नमस्ते नयनानन्दिपरमौदरिकत्विये ॥ १७८ ॥  
 नमस्ते मस्तकन्यस्तस्वहस्ताक्षलिङ्गकुड्मलैः । स्तुताय त्रिदशाधीशैः स्वर्गावतरणोत्सवे ॥ १७९ ॥  
 नमस्ते प्रचलन्मौलिघटिताक्षलिबन्धनैः । नुताय मेखलैः प्रसन्नाताय सुरसत्तमैः ॥ १८० ॥  
 नमस्ते मुकुटोपाग्रलघ्नहस्तपुटोद्भटैः<sup>७</sup> । लोकान्तिकैरधीष्टाय<sup>८</sup> परिनिष्क्रमणोत्सवे ॥ १८१ ॥  
 नमस्ते स्वकिरीटाग्रलघ्नान्तचुम्बिमिः । कराब्जमुकुलैः प्रासकेवलेज्याय नाकिनाम् ॥ १८२ ॥  
 नमस्ते पारनिर्वाणकल्याणेऽपि प्रवत्स्यति<sup>९</sup> । पूजनीयाय बह्वीन्द्रैर्वल्लभमुकुटोदिसिः ॥ १८३ ॥

वाले, आपकी जय हो । हे जन्मजरारूपी रोगकी जीतनेवाले, आपकी जय हो । हे मृत्युकी जीतनेवाले, आपकी जय हो ॥ १७२ ॥ हे मदरहित, मायारहित, आपकी जय हो । हे मोह-रहित, ममतारहित, आपकी जय हो । हे निर्मल और निर्द्वन्द्व, आपकी जय हो । हे शरीर-रहित, और पूर्ण ज्ञानसहित, आपकी जय हो ॥ १७३ ॥ हे समीचीन मार्गकी जाननेवाले, आपकी जय हो । हे मिथ्या मार्गकी रोकनेवाले, आपकी जय हो । हे कर्मरूपी शत्रुओंके मर्मकी वेधन करनेवाले, आपकी जय हो । हे धर्मचक्रके द्वारा विजय प्राप्त करनेमें उत्कट, आपकी जय हो ॥ १७४ ॥ हे यज्ञके अधिपति, आपकी जय हो । हे कर्मरूप ईश्वनको ध्यानरूप अग्निमें होम करनेवाले, आपकी जय हो । हे पूज्य तथा महान् वैभवकी धारण करनेवाले, आपकी जय हो । हे उत्कृष्ट दयारूप चिह्नसे सहित तथा हे समीचीन धर्मरूपी रथके सारथि, आपकी जय हो ॥ १७५ ॥ हे ससाररूपी समुद्रकी पार करनेवाले, हे गुणकी खानि, आपकी जय हो । हे समस्त विद्यारूपी समुद्रका पान करनेवाले, हे प्रभो, आपकी जय हो ॥ १७६ ॥ आप उत्कृष्ट अनन्त सुखरूप हैं तथा सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आप परम आनन्दमय और परमात्मा हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १७७ ॥ आप समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी दीप्तिके समूहसे देदीप्यमान हो रहे हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आपके परमौदारिक शरीरकी कान्ति नेत्रोंको आनन्द देनेवाली है इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १७८ ॥ हे देव, स्वर्गावतरण अर्थात् गर्भकल्याणकके उत्सवके समय इन्द्रोने अपने हाथोंकी अजलिरूपी बिना खिले कमल अपने मस्तकपर रखकर आपकी स्तुति की थी इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १७९ ॥ अपने नम्र हुए मस्तकपर दोनों हाथ जोड़कर रखनेवाले उत्तम-उत्तम देवोंने जिनकी स्तुति की है तथा सुमेरु पर्वतके अग्रभागपर जिनका जन्माभिषेक किया गया है ऐसे आपके लिए नमस्कार है ॥ १८० ॥ दीक्षाकल्याणकके उत्सवके समय अपने मुकुटके समीप ही हाथ जोड़कर लगा रखनेवाले लोकान्तिक देवोंने जिनका अधिष्ठान अर्थात् स्तुति की है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ १८१ ॥ अपने मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंका चुम्बन करनेवाले देवोंके हाथरूपी मुकुलित कमलोंके द्वारा जिनके केवलज्ञानकी पूजा की गयी है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ १८२ ॥ हे भगवन्, जब आपका दीक्षाकल्याणक होगा

१ शरीरबन्धनरहित । २ मर्म विषयिता ताडयतीति मर्मावित् तस्य संबुद्धि । 'नद्विद्वित्ववृष्यधिसहितनिरुचि बभौ कारकस्येति' दीर्घ । ३ उद्भट । ४ दयाचिह्न द०, ल०, इ०, अ०, प०, स० । ५ पालकाय । ६ ज्ञान-किरणममहप्रकाशने । ७ स्तुताय । ८ अग्रध्वि, समर्थ वा । ९ अधिकमिष्टाय सत्कारानुमतायेत्यर्थ । १० भाविनि ।



नमस्ते प्राप्तकल्याणमहेज्याय महौजते । प्राज्यत्रैलोक्यराज्याय ज्यायसे ज्यायसामपि ॥१८४॥  
 नमस्ते नतनाकीन्द्रचूलारत्नाचितालुप्रये । नमस्ते दुर्जयारातिनिर्जयोपार्जितप्रिये ॥१८५॥  
 नमोऽस्तु तुभ्यमिदं संपथमिदं पराम् । रहोरजोऽरिघाताच्च प्राप्तवत्तमस्त्वयै ॥१८६॥  
 जितान्तक नमस्तुभ्यं जितमोह नमोऽस्तु ते । जितानङ्ग नमस्ते स्वाद् विरागाय स्वयम्भुवे ॥१८७॥  
 स्वां नमस्यन् जनैर्नैर्नैरभ्यते सुकृती पुमान् । गां जयेजितजेतं ज्यस्त्वज्जयोदोषणात्कृती ॥१८८॥  
 त्वस्तुतेः पूतवागस्मि त्वस्त्वृतेः पूतमानसः । त्वन्नतेः पूतदेहोऽस्मि धन्योऽस्म्यद्य त्वदीक्षणात् ॥१८९॥  
 अहसद्य कृतार्थोऽस्मि जन्माद्य सफलं मम । सुनिर्वृत्तैश्चैव मेऽद्य सुप्रसन्नं मनोऽद्य मे ॥१९०॥  
 त्वत्तीर्थसरसि स्वच्छे पुण्यतोयसुसंभृते । सुस्नातोऽहं विराद्य पूतोऽस्मि सुखनिर्वृतः ॥१९१॥  
 त्वत्पादनखभाजालसलिलरस्तकल्मषैः । अधिमस्तकमालम्बैरभिषिक्त इवास्यहम् ॥१९२॥  
 एकतः सार्वभौमश्रीरियमप्रतिशासना । एकतश्च सवत्यादसेवालोकैकपावनी ॥१९३॥

उस समय भी देदीप्यमान मुकुटोको धारण करनेवाले बल्लिकुमार देवोके इन्द्र आपकी पूजा करे  
 इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८३ ॥ हे नाथ, आपको गर्भ आदि कल्याणकोके समय बड़ी  
 भारी पूजा प्राप्त हुई है, आप महान् तेजके धारक है, आपको तीन लोकका उत्कृष्ट राज्य प्राप्त  
 हुआ है और आप बड़ोमे भी बड़े अथवा श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ है इसलिए आपको नमस्कार हो  
 ॥ १८४ ॥ नमस्कार करते हुए, स्वर्गके इन्द्रोके मुकुटमे लगे हुए मणियोसे जिनके चरणोंकी  
 पूजा की गयी है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो और जिन्होंने कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओंको जीतकर  
 अनन्तवत्पुष्ट्यरूपी उत्तम लक्ष्मी प्राप्त की है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ १८५ ॥  
 हे उत्कृष्ट ऋद्धियोको धारण करनेवाले, आप उत्कृष्ट पूजाके योग्य है तथा रहस् अर्थात्  
 अन्तराय रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण और अरि अर्थात् मोहनीय कर्मके नष्ट  
 करनेसे आपने 'अरिहन्त' ऐसा सार्थक नाम प्राप्त किया है इसलिए आपको नमस्कार  
 हो ॥ १८६ ॥ हे मृत्युको जीतनेवाले, आपको नमस्कार हो । हे मोहको जीतनेवाले,  
 आपको नमस्कार हो । और हे कामको जीतनेवाले, आप वीतराग तथा स्वयम्भू है इसलिए  
 आपको नमस्कार हो ॥ १८७ ॥ हे नाथ, जो आपको नमस्कार करता है वह पुण्यात्मा  
 पुरुष अन्य अनेक नम्र पुरुषोके द्वारा नमस्कृत होता है और जो आपके विजयकी घोषणा  
 करता है वह कुशल पुरुष जीतने योग्य समस्त कर्मरूप शत्रुओंको जीतकर गो अर्थात् पृथिवी या  
 वाणीको जीतता है ॥ १८८ ॥ हे देव, आज आपकी स्तुति करनेसे मेरे वचन पवित्र हो गये  
 हैं, आपका स्मरण करनेसे मेरा मन पवित्र हो गया है, आपको नमस्कार करनेसे मेरा शरीर  
 पवित्र हो गया है और आपके दर्शन करनेसे मैं धन्य हो गया हूँ ॥ १८९ ॥ हे भगवन्, आज  
 मैं कृतार्थ हो गया हूँ, आज मेरा जन्म सफल हो गया है, आज मेरे नेत्र सन्तुष्ट हो गये हैं और  
 आज मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न हो गया है ॥ १९० ॥ हे देव, स्वच्छ और पुण्यरूप जलसे खूब  
 भरे हुए आपके तीर्थरूपी सरोवरमे मैंने चिरकालसे अच्छी तरह स्नान किया है इसीलिए मैं  
 आज पवित्र तथा सुखसे सन्तुष्ट हो रहा हूँ ॥ १९१ ॥ हे प्रभो, जिसने समस्त पाप नष्ट कर  
 दिये हैं ऐसा जो यह आपके चरणोके नखोकी कान्तिका समूहरूप जल मेरे मस्तकपर लग रहा  
 है उससे मैं ऐसा मालूम होता हूँ मानो मेरा अभिषेक ही किया गया हो ॥ १९२ ॥ हे विभो,  
 एक ओर तो मुझे दूसरेके शासनसे रहित यह चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त हुई है और एक ओर

१ पूजाया योग्याय । २ अन्तरायज्ञानावरणमोहनीयघातात् । ३ अर्हर्चिति नामप्रसिद्धाय । ४ भवतु ।

५ नमस्कुर्वन् । ६ भोजितजेतव्यपक्ष । ७ अन्यन्तसुखवत्यौ । ८ सुखतृप्त ।

यद्विभ्रान्तिविमूढैर्न महदेनो<sup>१</sup> भयाऽर्जितम् । तत्त्वत्सदृशनाङ्गीर्न<sup>२</sup> तमो नैशं<sup>३</sup> रवेर्यथा ॥१९४॥  
 स्वप्नस्मृतिमात्रेण पुमानेति पवित्रताम् । किमुत स्वद्गुणस्तुत्या मन्त्रैर्व<sup>४</sup> सुप्रयुक्तया ॥१९५॥  
 भगवंस्त्वद् गुणस्तोत्राद् यन्मया पुण्यमार्जितम्<sup>५</sup> । तेनास्तु त्वत्त्वदाम्मोले परा भक्तिं सदापि मे ॥१९६॥

### वसन्ततिलकावृत्तम्

हृत्थं चराचरगुरुं परमादिदेवं स्तुत्वाऽधिराट् धरणिषैः सममिद्वबोधः ।  
 आनन्दवाय्वलघसिक्तपुरःप्रदेशो भक्त्या ननाम करकुङ्कुमललप्रमौलिः ॥१९७॥  
 श्रुत्वा पुराणपुराणच पुराणधर्मं कर्मास्त्रिचक्रजयलब्धविशुद्धबोधात् ।  
 संश्रितिमाप परमां भरताधिराजः प्रायो हृतिः कृतधियां स्वहितप्रवृत्तौ ॥१९८॥  
 आमुञ्छय च स्वगुरुमादिगुरुं निधीशो व्यालोलमौलितटताडितपादपीठः ।  
 भूयोऽमुगम्य च सुनीद प्रणतेन भूक्षां स्वावासभूमिमग्नान्तुमना चमूव ॥१९९॥  
 भक्त्यापितां स्रजमिवाधिपदं जिनस्य स्वां दृष्टिमन्वितलसस्तुमनोविकासार्थम् ।  
 दोषास्थयैव<sup>६</sup> च पुनर्विनिवर्त्य कृच्छ्रात् चक्राधिपो जिनसमाभवात्पतस्थे ॥२००॥

समस्त लोकको पवित्र करनेवाली आपके चरणोकी सेवा प्राप्त हुई है ॥१९३॥ हे भगवन्, दिशाभ्रम होनेसे विमूढ होकर अथवा दिग्विजयके लिए अनेक दिशाओंमें भ्रमण करनेके लिए भुग्ध होकर मैंने जो कुछ पाप उपार्जन किया था वह आपके दर्शन मात्रसे उस प्रकार विलीन हो गया है जिस प्रकार कि सूर्यके दर्शनसे रात्रिका अन्धकार विलीन हो जाता है ॥१९४॥ हे देव, आपके चरणोके स्मरणमात्रसे ही जब मनुष्य पवित्रताको प्राप्त हो जाता है तब फिर इस प्रकार भक्तिके की हुई आपके गुणोकी स्तुतिसे क्या नहीं पवित्रताको प्राप्त होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१९५॥ हे भगवन्, आपके गुणोकी स्तुति करनेसे जो मैंने पुण्य उपार्जन किया है उससे यही चाहता हूँ कि आपके चरणकमलोंमें मेरी भक्ति सदा बनी रहे ॥१९६॥ इस प्रकार चर अचर जीवोके गुद सर्वोल्लुष्ट भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर जिसने आनन्दके आँधुओकी बँदोसे सामनेका प्रदेश सींच दिया है, जिसका ज्ञान प्रकाशमान हो रहा है, और जिसने दोनों हाथ जोड़कर अपने मस्तकसे लगा रखे है ऐसे चक्रवर्ती भरतने भक्तिपूर्वक भगवान्को नमस्कार किया ॥१९७॥ कर्मरूपी गन्धोके समूहको जीतनेसे जिन्हें विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे पुराण पुरुष भगवान् वृषभदेवसे पुरातन धर्मका स्वरूप सुनकर भरताधिपति महाराज भरत बड़ी प्रसन्नताको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषोको प्रायः अपना हित करनेमें ही सन्तोष होता है ॥१९८॥ तदनन्तर अपने चञ्चल मुकुटके किनारेसे जिन्होंने भगवान्के पादपीठका स्पर्श किया है ऐसे निधियोके स्वामी भरत महाराज अपने पिता आदिनाथ भगवान्से पूछकर तथा वहाँ विराजमान अन्य मुनियोको नम्र हुए मस्तकसे नमस्कार कर अपनी निवासभूमि अयोध्याको जानेके लिए तत्पर हुए ॥१९९॥ चक्राधिपति भरतने जिसमें अनुक्रमसे खिले हुए सुन्दर फूल गुँधे हुए हैं और जो श्री जिनैन्द्रदेवके चरणोंमें भक्तिपूर्वक अर्पित की गयी है ऐसी मालाके समान, सुन्दर मनकी प्रसन्नतासे युक्त अपनी दृष्टिको गोपाक्षत समझ बढ़ी कठिनाईसे हटाकर भगवान्के सभाभवन अर्थात् समवसरणसे प्रस्थान किया ॥२००॥

१ दिग्विजयभ्रमणभूहेन । २ महत्तापम् । ३ नष्टम् । ४ आदित्यस्य । ५ -भक्तिम् ल० । ६ बोधनमनो-विकासम्, सुपुण्यविकास च । ७ सिद्धदोषास्थया ।

आलोकयन् जिनसभावनिभूतिमिदं विस्फारितंक्षणयुगो युगदीर्घबाहुः ।  
 पृथ्वीश्वररनुगतः प्रणतोत्तमाङ्गैः प्रत्यावृतस्त्वसदनं मनुर्वचकेतुः ॥२०१॥  
 पुण्योदयाग्निप्रतिविजिताखिलाशस्तन्निर्जितौ गमितपष्टिसमा सहस्रः ।  
 ग्रीत्याऽनिवन्य जिनमाप परं प्रमोदं तत्पुण्यसंग्रहविधौ सुविधौ यत्तत्त्वम् ॥२०२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे  
 भरतराजकैलासामिगमनवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥२३॥

भगवान्के समबसरणकी प्रकाशमान विभूतिको देखनेसे जिनके दोनों नेत्र खुल रहे हैं, जिनकी भुजाएँ युग ( जुवारी ) के समान लम्बी हैं, मस्तक झुकाये हुए अनेक राजा लोग जिनके पीछे-पीछे चल रहे हैं और जो कुलकरोंके वंशकी पताकाके समान जान पड़ते हैं ऐसे भरत महाराज अपने घरकी ओर लौटे ॥२०१॥ चूँकि पुण्यके उदयसे ही चक्रवर्तिनि समस्त दिशाएँ जीतीं, तथा उनके जीतनेमें साठ हजार वर्ष लगाये और फिर प्रीतिपूर्वक जिनैन्द्रदेवको नमस्कार कर उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त किया । इसलिए हे बुद्धिमान् जन, पुण्यके संग्रह करनेमें प्रयत्न करो ॥२०२॥

इस प्रकार आर्षे नामसं प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षण  
 महापुराणसंग्रहके नाथानुवादमें भरतराजका कैलास पर्वतपर  
 जानेका वर्णन करनेवाला तैत्तिरीय पर्व समाप्त हुआ ।

## चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व

अथावरा<sup>१</sup> कैलासादद्रीन्द्रादिव<sup>२</sup> देवराट् । चक्री प्रयाणमकरोद् विनीतामिसुखं कृती ॥१॥  
 सैन्यैरनुगतो रंजे<sup>३</sup> प्रयागश्चक्री निजालयम् । गङ्गाव<sup>४</sup> इव दुर्वारः सरिदोर्ध्वराम्पतिः ॥२॥  
 ततः कतिपर्यैरेव प्रयागे<sup>५</sup>श्चक्रिणो बलम् । अयोध्यां प्रापदावद्वतोरणां चित्रकेतनाम् ॥३॥  
 चन्दनद्रवसंसिक्तसुमंस्पृष्टं महीतला । पुरी स्नातानुलिसेव सा रंजे पत्युरागमे ॥४॥  
 नातिदूरे<sup>६</sup> निविष्टस्य प्रवेशसमये प्रभोः<sup>७</sup> । चक्रमस्तारि चक्रं च नाकस्तं पुरगोपुरम्<sup>८</sup> ॥५॥  
 मा पुरी गोपुरोपान्तस्थितचक्रांशुरञ्जिता । धृतसंध्यातपेणासीत् कुङ्कुमापिञ्जरच्छविः ॥६॥  
 सत्यं भरतराजोऽयं धीरेयश्चक्रिणामिति । धृतदिव्येव<sup>९</sup> सा जज्ञे उचलचक्रा पुरः<sup>१०</sup> पुरी ॥७॥  
 ततः कतिपर्यै<sup>११</sup> देवाश्चक्ररत्नाभिरक्षिणः । स्थितमेकपदे<sup>१२</sup> चक्रं वीक्ष्य विस्मयमाययुः ॥८॥  
 सुरा जातरूप केचित्किं किमिष्युर्बर्द्गरिः । अलातचक्रव<sup>१३</sup> छेत्सु करवालापितैः करैः ॥९॥  
 किमन्वरमणेविन्ध्यमन्धरात्परिलम्बते । प्रतिसूर्यं विमुञ्चत इत्यन्ये<sup>१४</sup> सुसुहृद्भुः ॥१०॥

अथानन्तर — सुमेरु पर्वतसे इन्द्रकी तरह कैलास पर्वतसे उत्तरकर उस बुद्धिमान् चक्रवर्ती-  
 ने अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया ॥१॥ सेनाके साथ-साथ अपने घरकी ओर प्रस्थान करता  
 हुआ चक्रवर्ती ऐसा सुशोभित होता था मानो नदियोके समूहके साथ किसीसे न रुकनेवाला  
 गंगाका प्रवाह समुद्रकी ओर जा रहा हो ॥ २ ॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम तय कर चक्रवर्ती-  
 की वह सेना जिसमे तोरण बँधे हुए हैं और अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसी अयोध्या नगरी-  
 के समीप जा पहुँची ॥ ३ ॥ जिसकी बृहत्कार साफ़ की हुई पृथिवी घिसे हुए गीले चन्दनसे  
 सीची गयी है ऐसी वह अयोध्यानगरी उस समय इस प्रकार सुगोभित हो रही थी मानो उसने  
 पतिते आनेपर स्नान कर चन्दनका लेप ही किया हो ॥४॥ महाराज भरत नगरीके समीप ही  
 ठहरे हुए थे वहाँसे नगरीमें प्रवेश करते समय जिसने समस्त बाजुओंके समूहको नष्ट कर दिया  
 है ऐसा उनका चक्ररत्न नगरके गोपुरद्वारको उल्लंघन कर आगे नहीं जा सका — बाहर ही  
 रुक गया ॥ ५ ॥ गोपुरके समीप रुके हुए चक्रकी किरणोंसे अनुरक्त होनेके कारण जिसकी  
 कान्ति कुंकुमके समान कुछ-कुछ पीली हो रही है ऐसी वह नगरी उस समय इस प्रकार जान  
 पड़ती थी मानो उसने सन्ध्याकी लालिमा ही धारण की हो ॥ ६ ॥ जिसके आगे चक्र-  
 रत्न देवीप्यमान हो रहा है ऐसी वह नगरी उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानो  
 यह भरतराज सचमुच ही सब चक्रवर्तियोंमें मुख्य है, अपनी इस बातकी प्रामाणिकता  
 सिद्ध करनेके लिए उसने तप्त अयोध्यालोक आदिको ही धारण किया हो ॥ ७ ॥ तदनन्तर  
 चक्ररत्नकी रक्षा करनेवाले कितने ही देव चक्रको एक स्थानपर खड़ा हुआ देखकर  
 आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥ ८ ॥ जिन्हे क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे कितने ही देव, क्या है ?  
 क्या है ? इस प्रकार चिल्लाते हुए हाथमें तलवार लेकर अलातचक्रकी तरह चारों ओर  
 घूमने लगे ॥ ९ ॥ क्या यह आकाशसे सूर्यका बिम्ब लटक पड़ा है ? अथवा कोई दूसरा ही  
 सूर्य उदित हुआ है ? ऐसा विचार कर कितने ही लोग बार-बार मोहित हो रहे थे ॥ १० ॥

१ अवतीर्थ । २ मेरो । ३ गच्छन् । ४ गागीष ल० । ५ सुष्ठुसंभाजित । ६ समीपे । ७ त्रिभोः ल०,  
 ३० । ८ प्रवेश नाकरोत् । ९ पुष्पोपुरैर्ग०, ल० । १० अपथ । - ११ अग्रभागैः । १२ केचन । १३ युगपत्  
 सपदि वा । १४ चक्रवत्काष्ठाभिभ्रमणवत् । १५ मुह्यन्ति स्म ।

कस्याप्यकालचक्रेण<sup>१</sup> पतितव्यं<sup>२</sup> विरोधिनः । क्रूरेणैव ग्रहेणाद्य यत्त्रक्रेण चक्रितम् ॥११॥  
 अथवाद्यापि जेतव्यः<sup>३</sup> पक्षः कोऽप्यस्ति चक्रिणः । चक्रस्खलनतः कैश्चिदित्यं तज्ज्ञैर्व्रितकितम् ॥१२॥  
 सेनानीप्रमुखास्तावत् प्रभवे<sup>४</sup> तन्न्यवेदयन् । तद्वाताऽऽकर्णनाच्चक्रो किमप्यासीत्सविस्मयः ॥१३॥  
 अचिन्तयच्च किं नाम चक्रमप्रतिशासने । मयि स्थिते स्खलत्यद्य कचिदप्यस्खलद्गतिः ॥१४॥  
 संप्रथार्थमिदं<sup>५</sup> तावदित्याहूय पुरोधसम् । धीरो धीरतरां वाचमित्युच्चैराज्ञगी मनुः ॥१५॥  
 वदनोऽस्य सुखाम्मोजाद् व्यक्ताकृता<sup>६</sup> सरस्वती । निर्ययौ सदलंकारा शम्भुलीव जयश्रियः ॥१६॥  
 चक्रमाक्रान्तदिक्चक्रमरिचक्रमयंकरम् । कस्माज्जस्मत्पुरहारि क्रमते न्यक्तृताकृत् ॥१७॥  
 विश्वदिग्विजये पूर्वदक्षिणापरवार्दिषु । यदासीदस्खलद्बृत्ति रूपाद्रेश्च गुहाद्वये ॥१८॥  
 चक्रं तदधुना कस्मात् स्खलत्यस्मदगृहद्विणे । प्रायोऽस्माभिर्विरुद्धेन भवितव्यं जिगीषुणा ॥१९॥  
 किमसाध्यो द्विषत्कश्चिदस्यस्मद्भक्तिगोचरे । सनाभिः<sup>७</sup> कोऽपि किं वाऽस्मान् द्वेष्टि दुष्टान्तराशयः ॥२०॥  
 यः कोऽप्यकारणद्वेष्टी खलोऽस्माभिरनन्दति । प्रायः स्खलन्ति चेतांसि महस्त्वपि दुःशाल्यनाम् ॥२१॥  
 विमत्सराणि चेतांसि महतां परवृद्धिषु । मत्सरीणि तु तान्येव क्षुद्राणामन्यवृद्धिषु ॥२२॥  
 अथवा दुर्मदाविष्टः कश्चिदप्रणतोऽस्ति मे । स्ववर्ग्यस्तन्महोच्छ्रित्यै<sup>८</sup> नूनं चक्रेण चक्रितम् ॥२३॥

आज यह चक्र क्रूरग्रहके समान चक्र हुआ है इसलिए अकालचक्रके समान किसी विरोधी शत्रु-पर-अवश्य ही पड़ेगा ॥११॥ अथवा अब भी कोई चक्रवर्तीके जेतव्य पक्षमें है — जीतने योग्य शत्रु विद्यमान है इस प्रकार चक्रके रुक जानेसे चक्रके स्वरूपको जाननेवाले कितने ही लोग विचार कर रहे थे ॥१२॥ सेनापति आदि प्रमुख लोगोंने यह बात चक्रवर्तीसे कही और उसके सुनते ही वे कुछ आश्चर्य करने लगे ॥ १३ ॥ वे विचार करने लगे कि जिसकी आज्ञा कही भी नहीं रुकती ऐसे मेरे रहते हुए भी, जिसकी गति कही भी नहीं रुको ऐसा यह चक्ररत्न आज क्यों रुक रहा है ? ॥ १४ ॥ इस बातका विचार करना चाहिए यही सोचकर धीर वीर मनु-ने पुरोहितको बुलाया और उसने नीचे लिखे हुए बहुत ही गम्भीर वचन कहे ॥१५॥ कहते हुए भरत महाराजके मुखकमलसे स्पष्ट अभिप्रायवाली और उत्तम-उत्तम अलंकारोंसे सजी हुई जो वाणी निकल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो विजयलक्ष्मीकी दूती ही हो ॥१६॥ जिसने समस्त दिशाओंके समूहपर आक्रमण किया है जो शत्रुओंके समूहके लिए भयकर है और जिसने सूर्यकी किरणोंका भी तिरस्कार कर दिया है ऐसा यह चक्र मेरे ही नगरके द्वारमें क्यों नहीं आगे बढ रहा है — प्रवेश कर रहा है ? ॥१७॥ जो समस्त दिशाओंको विजय करनेमें पूर्व-दक्षिण और पश्चिम समुद्रमें कहीं नहीं रुका, तथा जो विजयार्थकी दोनों गुफाओंमें नहीं रुका वहीं चक्र आज मेरे घरके आँगनमें क्यों रुक रहा है ? प्राय मेरे साथ विरोध रखनेवाला कोई विजिगीषु (जीतकी इच्छा करनेवाला) ही होना चाहिए ॥१८-१९॥ क्या मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्र (राज्य) में ही कोई असाध्य शत्रु मौजूद है अथवा दुष्ट हृदयवाला मेरे गोत्रका ही कोई पुरुष मुझसे द्वेष करता है ॥२०॥ अथवा बिना कारण ही द्वेष करनेवाला कोई दुष्ट पुरुष मेरा अभिनन्दन नहीं कर रहा है — मेरी वृद्धि नहीं सह रहा है सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट पुरुषोंके हृदय प्राय कर बड़े आदमियोंपर भी बिगड़ जाते हैं ॥२१॥ महापुरुषोंके हृदय दूसरोंकी वृद्धि होनेपर मात्सर्यसे रहित होते हैं परन्तु क्षुद्र पुरुषोंके हृदय दूसरोंकी वृद्धि होनेपर ईर्ष्यासहित होते हैं ॥२२॥ अथवा दुष्ट अहंकारसे घिरा हुआ कोई मेरे ही घरका

१ अपमृत्युना । २ गतव्यम् मर्त्यव्यमित्यर्थः । ३ जेतव्यपक्षः ल०, द० । ४ चक्रिणे । ५ विचार्यम् । ६ व्यक्ता-भिप्राया । ७ कुटुम्बी । ८ भुक्तिक्षेत्रे । ९ सपिण्ड । 'सपिण्डास्तु सनाभय' इत्यभिधानात् । नामिसंबन्धी-त्यर्थः । १० आत्मवर्गं भवः ।

स्वल्पेक्ष्य लघोया<sup>१</sup> नप्युच्छेद्यो लघु<sup>२</sup> तादृशः । क्षुद्रो रेगुत्तिवाक्षिस्थो रज्यरिस्त्येजिनः ॥२४॥  
 बलादुद्वर्गीयो हि क्षोदीयानपि<sup>३</sup> कण्टकः । अनुदृतः पदस्थोऽसौ मवेत्पाडाकरो भृगम् ॥२५॥  
 चक्रं नाम परं दैवं रत्नानामिदमग्रिमम् । गतिस्वललनमेतस्य न विना कारणान् मवेत् ॥२६॥  
 ततो बाल्यमिदं कार्यं यच्चक्षणार्थं सूचितम् । सूचितं तलु राज्यार्थे<sup>४</sup> विवृतिर्नल्पकागता ॥२७॥  
 तदत्र कारणं चिन्त्य त्वया धीमन्निदन्तर्या । अनिरूपितं कार्यार्थं नेह नामुत्र सिद्ध्यः ॥२८॥  
 त्वर्या<sup>५</sup> कार्यविज्ञानं तिष्ठन्<sup>६</sup> त्रिव्यचक्षुषि । तमसां छेदने कोऽप्यः प्रमवेदंशुमालिनः ॥२९॥  
 निवेद्य कार्यमित्यस्मै दैवज्ञाय<sup>७</sup> सितार्थरः । विरराम प्रशुः प्रायः प्रभवो मितमाषिण ॥३०॥  
 ततः प्रमन्नगम्भीरपदालकारकोमलाम् । मारती अरतेजस्य प्रबोधायेति सोऽजवीन् ॥३१॥  
 अग्नि माधुर्यमस्त्योजस्तदस्ति पदसौष्टवम् । अस्थर्यानुगमोऽन्यत्किं<sup>८</sup> यदास्ति त्वद्वचोमये<sup>९</sup> ॥३२॥  
 शास्त्रज्ञा वयमेकान्ता नमिज्ञाः कार्ययुक्तिषु । शास्त्रप्रयोगवित् कोऽन्यस्त्वत्समो राजनीतिषु ॥३३॥  
 त्वमादिराजो राजर्षिस्तद्विद्यास्त्वं<sup>१०</sup> द्रुपक्रमम्<sup>११</sup> । तद्विदस्तन्प्रयुज्जाना न जिहीमः कथं वयम् ॥३४॥

मनुष्य मन्त्र नहीं हो रहा है, जान पड़ता है यह चक्र उसीका अहंकार दूर करनेके लिए ब्रह्म हो रहा है ॥२३॥ अब अत्यन्त छोटा भी हो तो भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, द्वेष करने-वाला छोटा होनेपर भी भीष्म ही उच्छेद करने योग्य है क्योंकि आँखमे पड़ी हुई धूलिकी कणिकाके समान उपेक्षा किया हुआ छोटा अब भी पीडा देनेवाला हो जाता है ॥२४॥ काँटा यदि अत्यन्त छोटा हो तो भी उसे जबरदस्ती निकाल डालना चाहिए क्योंकि पैरमे लगा हुआ काँटा यदि निकाला नहीं जायेगा तो वह अत्यन्त दुःखका देनेवाला हो सकता है ॥२५॥ यह चक्ररत्न उत्तम देवरूप है और रत्नोंमे मुख्य रत्न है इसकी गतिका स्वलन विना किसी कारण-के नहीं हो सकता है ॥२६॥ इसलिए हे आर्य, इस चक्रने जो कार्य सूचित किया है वह कुछ छोटा नहीं है क्योंकि यह राज्यका उत्तम अंग है इसमे किसी अल्पकारणसे विकार नहीं हो सकता है ॥२७॥ इसलिए हे बुद्धिमान् पुरोहित, आप इस चक्ररत्नके रकनेमे क्या कारण है इसका अच्छी तरह विचार कीजिए क्योंकि विना विचार किये हुए कार्योंकी सिद्धि न तो इस लोकमे होती है और न परलोक ही मे होती है ॥२८॥ आप दिव्य नेत्र है इसलिए इस कार्य-का ज्ञान आपमें ही रहता है अर्थात् आप ही चक्ररत्नके रकनेका कारण जान सकते हैं क्योंकि अन्धकारको नष्ट करनेमे सूर्यके सिवाय और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥२९॥ इस प्रकार महाराज भरत थोड़े ही अक्षरोके द्वारा इस निमित्तज्ञानीके लिए अपना कार्य निवेदन कर चुप हो रहे सो ठीक ही है क्योंकि प्रभु लोग प्रायः थोड़े ही बोलते हैं ॥३०॥ तदनन्तर निमित्त-ज्ञानो पुरोहित भरतेश्वरको समझानेके लिए प्रसन्न तथा गम्भीर पद और अलंकारोसे कोमल वचन कहने लगा ॥३१॥ जो माधुर्य, जो ओज, जो पदोका सुन्दर विन्यास और जो अर्थकी सरलता आपके वचनोमें नहीं है वह क्या किसी दूसरी जगह है ? अर्थात् नहीं है ॥३२॥ हम लोग तो केवल शास्त्रको जाननेवाले हैं कार्य करनेकी युक्तियोंमें अभिज्ञ नहीं हैं परन्तु राजनीतिमे शास्त्रके प्रयोगको जाननेवाला आपके समान दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है ॥३३॥ आप राजाओमे प्रथम राजा हैं और राजाओमें ऋषिके समान श्रेष्ठ होनेसे राजर्षि हैं यह राजविद्या केवल आपसे ही उत्पन्न हुई है इसलिए उसे जाननेवाले हम लोग

१ नोपेक्षणीयः । २ अतिगहनं लघुः । ३ क्षीघ्रम् । ४ पीडां करोति । ५ अतिचयेन ध्रुवः । ६ सुदुर्चितः । ७ चक्रं । ८ प्रतीयमानस्वरूपतया । ९ अविचारितः । १० निश्चितं भवति । ११ नैमित्तिकायः । १२ व्यक्तं प०, ल० । १३ तव वचन-प्रपञ्चे । १४ राजविद्या । १५ त्वदुपक्रमात् ल० । त्वया पूर्वं प्रवर्तितं कार्यविज्ञानम् ।

तथापि त्वत्कृतोऽस्मासु सत्कारोऽनन्यगोचरः । तनोति गौरवं लोके ततः स्मो चक्रमुद्यता ॥३५॥  
 इत्यनुश्रुतमस्माभिर्देव दैवज्ञशासनम् । नास्ति चक्रस्य विधान्तिः सावज्जेपे दिशां जये ॥३६॥  
 ज्वलद्भिः करालं वो जैत्रमस्त्रमिदं ततः । संस्तम्भितमिवातवर्ध<sup>१</sup> पुरद्वारि विलम्बते ॥३७॥  
 अरिर्मित्रमरेमित्रं मित्रमित्रमिति श्रुतिः । श्रुतिमात्रे स्थिता देव प्रजास्त्वय्यनुशासति ॥३८॥  
 तथाप्यस्त्येव जेतव्य पक्षः कोऽपि तवाधुना । योऽन्तर्गृहे कृतोत्थानः क्रूरो रोग इवोदरे ॥३९॥  
 वहिर्मण्डलमेवासीत् परिक्रान्तमिदं त्वया । अन्तर्मण्डलसंशुद्धिर्मनाग्राधापि जायते ॥४०॥  
 जितजेतव्यपक्षस्य न नम्रा भ्रातरस्तव । व्युत्थिताश्च<sup>२</sup> सजातीय विघाताय न नु प्रभोः ॥४१॥  
 स्वपक्षैरेव तेजस्वी महानप्युपरुद्धयते<sup>३</sup> । प्रत्यर्कमर्ककान्तेन<sup>४</sup> ज्वलतेदमुदाहृतम् ॥४२॥  
 चित्रलोऽपि सजातीयो लब्ध्वा तीक्ष्णं प्रतिष्कसम्<sup>५</sup> । दण्डः परस्वधस्येव<sup>६</sup> निवर्हयति<sup>७</sup> पार्थिवम्<sup>८</sup> ॥४३॥  
 भ्रातरोऽभी तवाजय्या बलिनो मानशालिनः ।<sup>९</sup> यवीयांस्तेषु धीरेषु धीरो बाहुवली बली ॥४४॥  
<sup>१०</sup> एकाञ्चशतसंख्यास्ते<sup>११</sup> सोदर्या वीर्यशालिनः । प्रभोरादिगुरोर्नान्यं प्रणमाम इति स्थिता ॥४५॥

आपके ही सामने उसका प्रयोग करते हुए क्यों न लज्जित हों ॥३४॥ तथापि आपके द्वारा किया हुआ हमारा असाधारण सत्कार लोकमें हमारे गौरवको बढ़ा रहा है इसलिये ही मैं कुछ कहनेके लिए तैयार हुआ हूँ ॥३५॥ हे देव, हम लोगोंने निमित्तज्ञानियोका ऐसा उपदेश सुना है कि जबतक दिनिवजय करना कुछ भी बाकी रहता है तबतक चक्ररत्न विश्राम नहीं लेता अर्थात् चक्रवर्तीकी इच्छाके विरुद्ध कभी भी नहीं रुकता है ॥३६॥ जो जलती हुई ज्वालाजो-से भयंकर है ऐसा वह आपका विजयी शस्त्र नगरके द्वारपर गुप्त रीतिसे रोके हुएके समान अटक-कर रह गया है ॥३७॥ हे देव, आपके प्रजाका शासन करते हुए शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, और मित्रका मित्र ये शब्द केवल शास्त्रमें ही रह गये हैं अर्थात् व्यवहारमें न आपका कोई मित्र है और न कोई शत्रु ही है सब आपके सेवक है ॥३८॥ तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है और वह उदरमें किसी भयंकर रोगके समाप्त आपके घरमें ही प्रकट हुआ है ॥३९॥ आपके द्वारा यह बाह्यमण्डल ही आक्रान्त — पराजित हुआ है परन्तु अन्तर्मण्डलकी विशुद्धता तो अब भी कुछ नहीं हुई है । भावार्थ — यद्यपि आपने बाहरके लोगोंको जीत लिया है तथापि आपके घरके लोग अब भी आपके अनुकूल नहीं है ॥४०॥ यद्यपि आपने समस्त शत्रु पक्षको जीत लिया है तथापि आपके भाई आपके प्रति नम्र नहीं है—उन्होंने आपके लिए नमस्कार नहीं किया है । वे आपके विरुद्ध खड़े हुए हैं और सजातीय होनेके कारण आपके द्वारा विघात करने योग्य भी नहीं है ॥४१॥ तेजस्वी पुरुष बढ़ा होनेपर भी अपने सजातीय लोगोंके द्वारा रोका जाता है यह बात सूर्यके सम्मुख जलते हुए सूर्यकान्त मणिके उदाहरणसे स्पष्ट है ॥४२॥ सजातीय पुरुष निर्बल होनेपर भी किसी बलवान् पुरुषका आश्रय पाकर राजा-को उस-प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार निर्बल दण्ड कुल्हाड़ीका तीक्ष्ण आश्रय पाकर अपने सजातीय वृक्ष आदिको नष्ट कर देता है ॥४३॥ ये आपके बलवान् तथा अभिमानी भाई अजेय हैं और इनमें भी अतिशय युवा धीर वीर तथा बलवान् बाहुवली मुख्य हैं ॥४४॥ आपके ये नित्यानने भाई बड़े बलशाली हैं, हम लोग भगवान् आदिनाथको छोड़कर और

१ मित्रिणशास्त्रम् । २ —मिवात्यर्थं स०, इ०, अ० । —मिवाव्यक्तं प०, ल० । ३ विरुद्धाचरणः । ४ बाध्यते ।

५ सूर्यकान्तपाषाणेन । ६ उदाहरणं कृतम् । ७ प्रतिश्रयम् प०, ल० । सहायम् । ८ परजो । 'परशुस्व

परस्वध' इत्यभिधानात् । ९ नाशयति ( लूणं बर्हं हिंसायाम् ) । १० पृथिव्या भवम् । वृक्षं नृपं च ।

११ कनिष्ठ । 'जघन्यजे स्युः कनिष्ठयवीयोऽवजानुजा' इत्यभिधानात् । १२ एकोन—ल०, द०, इ०, प० ।

१३ बाहुबलिना रहितेन सह इयं संख्या, वृषभसेनेन प्रागेव दीक्षावग्रहणात् ।

तदत्रे<sup>१</sup> प्रतिकर्त्तव्यास्तु चक्रधर त्वया । ऋणघ्नाग्निशत्रूणां शेषं नोपेक्षते कृती ॥४६॥  
 राजन् राजन्वती भूयात् त्वयैवेयं वसुंधरा । माभूद्वाजवती<sup>२</sup> तेषां भूमा द्वैराज्यदुःस्थिता<sup>३</sup> ॥४७॥  
 त्वयि राजनि राजोक्तिर्देवं नाम्नन्न राजते । सिंहे स्थिते मृगेन्द्रोक्तिं हरिणा विभ्रुयुः कथम् ॥४८॥  
 देव त्वामनुवर्तन्तां आतरो भूतमत्सराः । ज्येष्ठस्य कालमुख्यस्य श्लाघोक्तमनुवर्तनम् ॥४९॥  
 तच्छासनहरां गत्वा सोपायमुपजप्य<sup>४</sup> तान् । त्वदाज्ञानुवशान् कुर्याद्विगुह्यं ब्रूयुरन्यथा ॥५०॥  
 मिथ्यामदोद्धतः कोऽपि नोपेयाद्यदि ते वशम् । स नाशयेद्भूतात्मानमात्मगुह्यं<sup>५</sup> च राजकम् ॥५१॥  
 राज्यं कुलकलत्रं च नेष्टं साधारणं<sup>६</sup> द्वयम् । मुदुक्ते सार्द्धं परैर्यस्तन्न<sup>७</sup> नरः पशुरेव सः ॥५२॥  
 किमत्र बहुनोक्तेन त्वामेत्य प्रणमन्तु ते । यान्तु वा शरणं तेव त्रातारं जगतां जिनम् ॥५३॥  
 न तृतीय गतिस्तेषामेवैषां<sup>८</sup> द्वितयी गतिः<sup>९</sup> । प्रविगन्तु त्वदास्थानं वनं वामी भृगोः समम् ॥५४॥  
 स्वकुलान्पुरुषुकानीव<sup>१०</sup> दहन्त्यननुवर्तनैः । अनुवर्तीनि तान्येव नेत्रस्यानन्दश्रु परम्<sup>११</sup> ॥५५॥

किसीको प्रणाम नहीं करेगे ऐसा वे निश्चय कर बैठे हैं ॥४५॥ इसलिए हे चक्रधर, आपको इस विषयमें शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिए क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ऋण, धाव, अग्नि और शत्रुके वाकी रहे हुए थोड़े भी अशकी उपेक्षा नहीं करते हैं ॥४६॥ हे राजन्, यह पृथिवी केवल आपके द्वारा ही राजन्वती अर्थात् उत्तम राजासे पालन की जानेवाली हो, आपके भाइयो-के अधिक होनेसे अनेक राजाओंके सम्बन्धसे जिसकी स्थिति विगड़ गयी है ऐसी होकर राजवती अर्थात् अनेक साधारण राजाओंसे पालन की जानेवाली न हो । भावार्थ—जिस पृथिवीका शासक, उत्तम हो वह राजन्वती कहलाती है और जिसका शासक अच्छा न हो, नाममात्रका ही हो वह राजवती कहलाती है । पृथिवीपर अनेक राजाओंका राज्य होनेसे उसकी स्थिति छिन्न-भिन्न हो जाती है इसलिए एक आप हो इस रत्नमयी वसुन्धराके शासक हो, आपके अनेक भाइयों, यह विभक्त न होने पावे ॥४७॥ हे देव, आपके राजा रहते हुए राजा यह शब्द किसी दूसरी जगह सुशोभित नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि सिंहके रहते हुए हरिण मृगेन्द्र शब्दको किस प्रकार धारण कर सकते हैं ? ॥४८॥ हे देव, आपके भूईं ईर्ष्या छोड़कर आपके अनुकूल रहे क्योंकि आप उन सबमें बड़े हैं और इस कालमें मुख्य हैं इसलिए उनका आपके अनुकूल रहना शास्त्रमें कहा हुआ है ॥४९॥ आपके दूत जावे और युक्तिके साथ बातचीत कर उन्हें आपके आज्ञाकारी बनावे, यदि वे इस प्रकार आज्ञाकारी न हो तो विग्रह कर (विगड़कर) अन्य प्रकार भी बातचीत करे ॥५०॥ मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर यदि कोई आपके वश नहीं होगा तो खेद है कि वह अपने-आपको तथा अपने अधीन रहनेवाले राजाओंके समूहका नाग करावेगा ॥५१॥ राज्य और कुलवती स्त्रियाँ ये दोनों ही पदार्थ साधारण नहीं हैं, इनका उपभोग एक ही पुरुष कर सकता है । जो पुरुष इन दोनोंका अन्य पुरुषोंके साथ उपभोग करता है वह नर नहीं है पशु ही है ॥५२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है या तो वे आकर आपको प्रणाम करे या जगत्की रक्षा करनेवाले जिनेन्द्रदेवकी शरणको प्राप्त हो ॥५३॥ आपके उन भाइयोंकी तीसरी गति नहीं है, इनके ये ही दो मार्ग हैं कि या तो वे आपके शिबिरमें प्रवेश करे या भृगोके साथ वनमें प्रवेश करे ॥५४॥ सजातीय लोग परस्परके विरुद्ध आचरणसे अंगारेके

१ कारणत् । २ कुत्सितराजवती । 'सुरास्ति देशे राजन्वान् स्यात्ततोऽप्यत्र राजन्वात्' इत्यभिधानात् । ३ द्वयो राज्ञो राज्येन दु स्थिता । ४ त्वच्छाशन-द०, ल० । दूता । ५ उक्त्वा । ६ विवाद कृत्वा । ७ आत्मना स्वीकरणीयम् । ८ सर्वेषामनुभवनीयम् । ९ द्वयम् । १०-मेघेषा ल० । ११ उपाय । १२ स्वगोत्राणि । तव भ्रातर इत्यर्थः । १३ पर अ०, इ०, स० ।



प्रशान्तमत्सराः शान्तास्त्वां नत्वा नम्रमौलयः । सोदर्याः सुखमेधन्तां ध्वत्पसादाभिकाङ्क्षिणः ॥५६॥  
 इति शासति शास्त्रज्ञे पुरोधसि सुमेधसि । प्रतिपद्यापि तत्कार्यं चक्री चुक्रोध तत्क्षणम् ॥५७॥  
 आरुष्टकलुषां दृष्टिं क्षिपन्दिक्षिव दिग्बलिम् । सधूमासिन् कोपान्तेः शिखां भ्रुकुटिसुक्षिपन् ॥५८॥  
 आत्मा<sup>१</sup> पङ्कतामर्षविषवेगमिवोद्भमन् । चाक्कलेनो<sup>२</sup>च्छलन् रोषाद् वसापे पस्वा गिरः ॥५९॥  
 किं किमात्य<sup>३</sup> दुरात्मानो आतरः प्रणतान् माम् । पश्य मद्दण्डचण्डोदकापातात्तान्<sup>४</sup> शङ्कसात्कृतान् ॥६०॥  
 अदृष्टमश्रुतं कृत्यमिदं वैरमकारणम् । अवध्याः किल कुरुषत्वादिति<sup>५</sup> तेषां मनीषितम् ॥६१॥  
 यौवलोम्मावृजस्तेषां मटवातोऽस्ति<sup>६</sup> दुर्मदः<sup>७</sup> । ज्वलच्चक्रामितापेन स्वेदस्तस्य प्रतिक्रिया ॥६२॥  
 अकरा<sup>८</sup> भोक्तुमिच्छन्ति<sup>९</sup> गुरुदत्तामिमान्तके<sup>१०</sup> । तर्हि<sup>११</sup> मटावलेपेन<sup>१२</sup> सुक्तिं ते श्रावयन्तु<sup>१३</sup> मे ॥६३॥  
 प्रतिशय्यानिपातेन<sup>१४</sup> सुक्तिं ते साधयन्तु वा । शिताच्छकण्डकोत्संगपतिताङ्गारणाङ्गणे ॥६४॥  
 क्व वयं जितजेतव्या भोक्तव्ये<sup>१५</sup> संगताः क्व ते । तथापि<sup>१६</sup> सविभागोऽस्तु तेषां मदनुवर्तने ॥६५॥

समान जलते रहते हैं और वे ही लोग परस्परमें अनुकूल रहकर नेत्रोंके लिए अतिशय आनन्द रूप होते हैं ॥५५॥ इसलिए ये आपके भाई मात्सर्य छोड़कर शान्त हो मस्तक झुकाकर आपको नमस्कार करे और आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हुए सुखसे बुद्धिकी प्राप्त होते रहें ॥५६॥ इस प्रकार शास्त्रके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरोहितके कह चुकनेपर चक्रवर्ती भरतने उसीके कहे अनुसार कार्य करना स्वीकार कर उसी क्षण क्रोध किया ॥५७॥ जो क्रोधसे कलुषित हुई अपनी दृष्टिको दिशाओंके लिए बलि देते हुएके समान सब दिशाओंमें फेक रहे है, क्रोधरूपी अग्निकी धूमसहित शिखाके समान भ्रुकुटियां ऊँची चढ़ा रहे हैं, भाईरूपी मूलधनपर किये हुए क्रोधरूपी विषके वेगको जो वचनोके छलसे उगल रहे है और जो क्रोधसे उछल रहे है ऐसे महाराज भरत नीचे लिखे अनुसार कठोर वचन कहने लगे ॥५८-५९॥ हे पुरोहित, क्या कहा ? क्या कहा ? वे दुष्ट भाई मुझे प्रणाम नहीं करते है, अच्छा तो तू उन्हें मेरे दण्डरूपी प्रचण्ड उल्कापातसे टुकड़े किया हुआ देख ॥६०॥ उनका यह कार्य न तो कभी देखा गया है, न सुना गया है, उनका यह वैर बिना कारण ही किधा हुआ है, उनका खयाल है कि हम लोग एक कुलमें उत्पन्न होनेके कारण अवध्य है ॥६१॥ उन्हें यौवनके उन्मादसे उत्पन्न हुआ योद्धा होनेका कठिन वायुरोग हो रहा है इसलिए जलते हुए चक्रके सन्तापसे पसीना आना ही उसका प्रतिकार-उपाय है ॥६२॥ वे लोग पूज्य पिताजीके द्वारा दी हुई पृथिवीको बिना कर दिये ही भोगना चाहते है परन्तु केवल योद्धापनेके अहकारसे क्या होता है ? अब या तो वे लोगोको सुनावे कि भरत ही इस पृथिवीका उपभोग करनेवाला है हम सब उसके अधीन है या युद्धके मैदानमें तीक्ष्ण शस्त्ररूपी काँटोके ऊपर जिनका शरीर पड़ा हुआ है ऐसे वे भाई प्रतिशय्या-दूसरी शय्या अर्थात् रणशय्यापर पड़कर उसका उपभोग प्राप्त करें । भावार्थ-जीते-जो उन्हें इस पृथिवीका उपभोग प्राप्त नहीं हो सकता ॥६३-६४॥ जिसने जीतने योग्य समस्त लोगोकी जीत लिया है ऐसा कहाँ तो मैं, और मेरे उपभोग करने योग्य क्षेत्रमें स्थित कहाँ वे लोग ? तथापि मेरे आज्ञानुसार चलनेपर उनका भी विभाग ( हिस्सा )

- १ 'भाण्ड भपणमात्रेऽपि भाण्डमूला वणिग्घने । नदीमात्रे तुरगाणा भूषणे भावनेऽपि च' । २ उत्पत्त । ३ वदसि । ४ क्षण्ड । ५ कुले भवा कुल्यास्तोषा भाव तस्मात् । ६ वय मटा इति गर्व । ७ दुर्निवारः । ८ अबलिम् । 'भागधेय करो बलिः' इत्यभिधानात् । ९ भूमिम् । १० कुसिताः । ११ तर्हि । १२ मटवैर्लेप । १३ साधयन्तिवत्यर्थ । १४ पूर्व शय्यायाः प्रतिशय्या-अन्य शय्यातस्या निपातेन सरण राप्त्या इत्यर्थः । १५ वृत्तिकेने । १६ सम्पत्क्षेत्रादिविभाग ।

न भोक्तुमन्यथाकारं<sup>१</sup> मही तेभ्यो ददाम्यहम् । कथंकारमिदं<sup>२</sup> चक्रं विश्रमं यात्वतज्जये<sup>३</sup> ॥६६॥  
 इदं महदनाख्येभ्यं<sup>४</sup> यथाज्ञो बन्धुवत्सलः । स बाहुबलिसाह्यार्थं<sup>५</sup> भजते विकृतिं कुर्या ॥६७॥  
 अबाहुबलिनानेन<sup>६</sup> राजकेन नतेन किम् । नगरेण गारेणैव सुक्तेनापोदनेन किम् ॥६८॥  
 किं किंकरीः करालास्त्रप्रतिनिर्जितं शाश्वतैः । अनाज्ञावशमेतस्मिन् नवविक्रमवालिनि<sup>७</sup> ॥६९॥  
 किं वा सुरमन्दिरमिहृदमटारमटीरसैः<sup>८</sup> । सयं वमसमां स्पृष्ट्वा तस्मिन्कुर्वन्ति गतिं ते ॥७०॥  
 इति जल्पति संरम्भाच्च<sup>९</sup> क्रयाणावुपक्रमम्<sup>१०</sup> । तस्योपचक्रमे कर्त्तुं पुनरित्यं पुरोहितः ॥७१॥  
 जितजेतव्यतां देव घोषयन्नपि किं मुधा । जितोऽसि क्रोधवेगेन प्राग्जय्यो वनिनां हि सः ॥७२॥  
 बालास्ते बालसावेन<sup>११</sup> बिलं<sup>१२</sup> सन्त्वपयेऽप्यलम् । देवे जितारिषद्वर्गे न तमः<sup>१३</sup> स्थातुमर्हति ॥७३॥  
 क्रोधान्धतमसे मग्नं यो नात्मान समुद्धरेत् । स कृत्यसंशयद्वैधात्रो<sup>१४</sup> चरीतुमर्हन्तराम् ॥७४॥  
 किं तरो स विजानाति कार्याकार्यमनात्मवित् । यः स्वान्तःप्रमवान् जेतुमरीक्ष प्रमवेद्यभुः ॥७५॥  
 तद्देव विरमासुभ्यात् संरम्भादपकारिणः । जितात्मानो जयन्ति क्षमा क्षमया हि जिगीवसः ॥७६॥

हो सकता है ॥६५॥ और किसी तरह उनके उपभोगके लिए मैं उन्हें यह पृथिवी नहीं दे सकता हूँ । उन्हें जीते बिना यह चक्ररत्न किस प्रकार विश्राम ले सकता है ? ॥६६॥ यह बड़ी निन्दाकी बात है कि जो अतिशय बुद्धिमान् है, भाइयोमें प्रेम रखनेवाला है, और कार्यकुशल है वह बाहुबली भी विकारको प्राप्त हो रहा है ॥६७॥ बाहुबलीको छोड़कर अन्य सब राज-पुत्रोंने नमस्कार भी किया तो उससे क्या लाभ है और पौदनपुरके बिना बिषके समान इस नगरका उपभोग भी किया तो क्या हुआ ॥६८॥ जो नवीन पराक्रमसे शोभायमान बाहुबली हमारी आज्ञाके बग नहीं हुआ तो भयंकर शास्त्रोसे शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाले सेवकोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥६९॥ अथवा अहंकारी बाहुबली जब इस प्रकार मेरे साथ अयोग्य ईर्ष्या कर रहा है तब अतिशय धूर्वीरत्नारूप रसको धारण करनेवाले मेरे इन देवरूप योद्धाओंसे क्या प्रयोजन है ? ॥७०॥ इस प्रकार जब चक्रवर्ती क्रोधसे बहुत बड़-बड़कर बातचीत करने लगे तब पुरोहितने उन्हें शान्त कर उपायपूर्वक कार्य प्रारम्भ करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार उद्योग किया ॥७१॥ हे देव, मैंने जीतने योग्य सबको जीत लिया है ऐसी घोषणा करते हुए भी आप क्रोधके वेगसे व्यर्थ ही क्यों जीते गये ? जितेन्द्रिय पुरुषोंको तो क्रोधका वेग पहले ही जीतना चाहिए ॥७२॥ वे आपके भाई बालक हैं इसलिए अपने बालस्वभावसे कुमारगंभी भी अपने इच्छानुसार क्रीड़ा कर सकते हैं परन्तु जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छहों अन्तरंग शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे आपने यह अन्धकार ठहरनेके योग्य नहीं है अर्थात् आपको क्रोध नहीं करना चाहिए ॥७३॥ जो मनुष्य क्रोधरूपी गाढ़ अन्धकारमें डूबे हुए अपने आत्माका उद्धार नहीं करता वह कार्यके संशयरूपी द्विविधासे पार होनेके लिए समर्थ नहीं है । भावार्थ — क्रोधसे कार्यकी सिद्धि होनेमें सदा सन्देह बना रहता है ॥७४॥ जो राजा अपने अन्तरगसे उत्पन्न होनेवाले शत्रुओंको जीतनेके लिए समर्थ नहीं है वह अपने आत्माको नहीं जाननेवाला कार्य और अकार्यको कैसे जान सकता है ? ॥७५॥ इसलिए हे देव, अपकार करनेवाले इस क्रोधसे दूर रहिए क्योंकि जीतकी इच्छा रखनेवाले जिते-

१ अन्यथा । २ कथम् । ३ तेषां जयाभावे । ४ अवाच्यम् । ५ बाहुबलिनानाम् । ६ बाहुबलिकुमाररहितेन । ७ गरलेनेव । ८ पौदनपुररहितेन । ९ तजित — ल०, द० । १० बाहुबलिनि । ११ अधिकभयानकरवर्गः । १२ क्रोधात् । १३ युद्धारम्भम् । १४ बालत्वेन । १५ गतिता भूत्वा वर्तन्त इत्यर्थः । १६ अज्ञानम् । १७ कार्यमवेहद्वैविध्यात् ।

त्रितितेन्द्रियवर्गाणां सुश्रुतश्रुतसंपदाम् । परलोकजिगीषूणां क्षमा साधनमुत्तमम् ॥७७॥  
 लेखसंधे च कार्येऽस्मिन् विफलोऽतिपरिश्रमः । तुणाङ्कुरे नखच्छेदे कः<sup>१</sup> परस्वधमुदरेत् ॥७८॥  
 ततस्तिष्ठक्षमाणेन<sup>२</sup> साध्वो भ्रातृगणस्त्वया । स्योपचारं प्रयुक्तेन वचोहरगणेन सः ॥७९॥  
 अग्रेव च प्रहेतव्याः समं लेखैर्वचोहराः । गत्वा द्रव्युद्ध च तानेत<sup>३</sup> चक्रिणं मज्जताग्रजम् ॥८०॥  
 कल्याणोक्तहसेवेव तत्सेवासभीष्टदायिनी । गुल्फलोऽग्रजश्चक्षी स भान्यः<sup>४</sup> सर्वथापि वः ॥८१॥  
 विदूरस्यैर्न शुष्माभिरैश्वर्यं तस्य राजते । तारागणैरनासन्नैरिव बिम्बं निशंपते ॥८२॥  
 साम्राज्यं नास्य तोषाय बद्धमवदसिर्विना भवेत् । सहस्रोऽर्थं हि बन्धूनामधिराज्यं सतां मुदे ॥८३॥  
 इदं<sup>५</sup> वाचिकमन्यतु लेखायादिवधार्यताम् । इति सोपायनैर्लेखैः प्रत्याख्यास्तं मनस्विनः ॥८४॥  
 यशस्यं मिदमेवार्थं कार्यं श्रेयस्यमेव च । चिन्त्यमुत्तरकार्यं च साम्ना तेज्ज्वलेशु वै ॥८५॥  
 बिम्बयता जननिर्वादादनुष्ठेयमिदं त्वया । स्थायुर्कं<sup>६</sup> हि यशो लोके<sup>७</sup> गन्धर्वो ननु संपदः ॥८६॥  
 इति तद्वचनाच्चक्षी वृत्तिभारमयीं जहौ । अनुवर्तनसाध्या हि महतां चित्तवृत्तयः ॥८७॥  
 आस्तां सुज्ज्वली तावद् यत्नसाध्वो<sup>८</sup> महाबलः । क्षेपैरेव परीक्षिष्ये भ्रातृमिस्तद् द्विजिह्वाम्<sup>९</sup> ॥८८॥

न्द्रिय पुरुष केवल क्षमाके द्वारा ही पृथिवीको जीतते है ॥७७॥ जिन्होंने इन्द्रियोके समूहको जीत लिया है, शास्त्ररूपी सम्पदाका अच्छी तरह श्रवण किया है और जो परलोकको जीतने की इच्छा रखते है ऐसे पुरुषोंके लिए सबसे उत्कृष्ट साधन क्षमा ही है ॥७८॥ जो लेख लिखकर भी किया जा सकता है ऐसे इस कार्यमें अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है क्योंकि जो तुणका अकुर नखसे तोड़ा जा सकता है उसके लिए भला कौन कुल्हाड़ी उठाता है ॥७८॥ इसलिये आपको शान्त रहकर भेटसहित भेजे हुए दूतोंके द्वारा ही यह भाइयोंका समूह वश करना चाहिए ॥७९॥ आज ही आपको पत्रसहित दूत भेजना चाहिए, वे जाकर उनसे कहे कि चलो और अपने बड़े भाईकी सेवा करो ॥८०॥ उनकी सेवा कल्पवृक्षकी, सेवाके समान आपके सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली होगी। वह आपका बड़ा भाई पित्तके तुल्य है, चक्रवर्ती है और सब तरहसे आप लोगोंके द्वारा पूज्य है ॥८१॥ जिस प्रकार दूर रहनेवाले तारागणोंसे चन्द्रमाका बिम्ब सुशोभित नहीं होता है उसी प्रकार दूर रहनेवाले आप लोगोंसे उनका ऐश्वर्य सुशोभित नहीं होता है ॥८२॥ आप लोगोंके बिना यह राज्य उनके लिए सन्तोष देनेवाला नहीं हो सकता क्योंकि जिसका उपभोग भाइयोंके साथ-साथ किया जाता है वही साम्राज्य सज्जन पुरुषोंको आनन्द देनेवाला होता है ॥८३॥ 'यह मौखिक सन्देश है, बाकी समाचार पत्रसे मालूम कीजिए' इस प्रकार भेटसहित पत्रोंके द्वारा उन प्रतापी भाइयोंको विश्वास दिलाना चाहिए ॥८४॥ हे आर्य, आपके लिए यही कार्य वश देनेवाला है और यही कल्याण करनेवाला है यदि वे इस तरह शान्तिसे वश न हों तो फिर आपके कार्यका विचार करना चाहिए ॥८५॥ आपको लोकापवादसे डरते हुए यही कार्य करना चाहिए क्योंकि लोकमें यश ही स्थिर रहनेवाला है, सम्पत्तियाँ तो नष्ट हो जानेवाली है ॥८६॥ इस प्रकार पुरोहितके वचनोसे चक्रवर्ती अपनी क्रोधपूर्ण वृत्ति छोड़ दी सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी चित्तकी वृत्ति अनुकूल वचन कहनेसे ही ठीक हो जाती है ॥८७॥ इस समय जो प्रयत्नसे वश नहीं किया जा सकता ऐसा महाबलवान् बाहुबली दूर रहे पहले क्षेप भाइयोंके द्वारा ही

१ परशुम् । २ सहमानेन । ३ आयच्छत । ४ पूज्य । ५ सदेशवाक् । 'सदेशवाग् वाचिक स्याद्' इत्यभिधानात् ।  
 ६ विश्वास्या । ७ यशस्करम् । ८ श्रेयस्करम् । ९ जनापवादात् । १० स्थिरतरम् । ११ गमनशीला  
 १२ यत्र साध्या महाभुजः अ०, प०, स०, इ०, ल० । १३ बाहुबलिनः कुटिलताम् ।

इति निर्धार्य कार्यज्ञान् कार्ययुक्तौ विविक्तयोः । प्राहिणोत्स निःसृष्टार्थान् दूताननुजसंनिधिम् ॥८९॥  
 गत्वा च ते यथोद्देशं दृष्ट्वा तांस्तान्यथोचितम् । जगुः संदेमर्माश्रय तन्म्यो दूता यथास्थितम् ॥९०॥  
 अथ ते सह संभूय कृतकार्यनिवेदनात् । दूतानित्यूचुरारुन्धप्रभुत्वमवकर्कशाः ॥९१॥  
 यदुक्तमादिराजेन तत्सत्यं नोऽभिसंमतम् । गुरोरसंनयौ पूज्यौ ज्यायान्भ्राताऽनुजैरिति ॥९२॥  
 प्रत्यक्षो गुरुरस्माकं प्रतप्येष विश्वदृक् । स नः प्रमाणमैश्वर्यं तद्विद्वानभिर्दं हि नः ॥९३॥  
 तदत्र गुरुपादाब्जा तन्त्रो न स्वैरिणो वयम् । न देयं भरतेक्षेन नादेयमिह किंचन ॥९४॥  
 यत्तु नः संविभागायमिदमामन्त्रणं कृतम् । चक्रिणा तेन सुग्रीवा प्रीणार्थं वयमागताम् ॥९५॥  
 इति सत्कृत्य तान्दूतान् सम्मानैः प्रभुवत्पमौ । विहितोपायनाः सद्यः प्रतिलेखैर्न्यसर्जयन् ॥९६॥  
 दूतसात्कृतसन्मानाः प्रभुसात्कृतवीचिकाः । गुरुसात्कृत्य तत्कार्यं प्रापुस्ते गुरुसंनिधिम् ॥९७॥  
 गत्वा च गुरुमद्राक्षुर्मितोचितपरिच्छदाः । महागिरिमिवोचुर्ग कैलासशिखरालयम् ॥९८॥  
 प्रणिपत्य विधानेन प्रपूज्य च यथाविधि । व्यजिज्ञपन्निदं वाक्यं कुमारो मारविद्विषम् ॥९९॥  
 धन्वतः स्मो लब्धज्ञानमानस्स्वत्तः प्राप्ताः परां श्रियम् । त्वत्पसादपिणो देव त्वत्तो नान्यमुपास्महे ॥१००॥

उनकी कुटिलताकी परीक्षा करूँगा । इस प्रकार निश्चय कर कार्य करनेमें जिसकी बुद्धि कभी भी मोहित नहीं होती ऐसे चक्रवर्तिन कार्यके जाननेवाले निःसृष्टार्थ दूतोंको अपने भाइयोंके समीप भेजा ॥८८-८९॥ उन दूतोंने भरतके आज्ञानुसार जाकर उनके योग्यरीतिसे दर्शन किये और उनके लिए चक्रवर्तीका सन्देश सुनाया ॥९०॥ तदनन्तर-प्राप्त हुए ऐश्वर्यके मदसे जो कठोर हो रहे हैं ऐसे वे सब भाई दूतोंके द्वारा कार्यका निवेदन हो चुकनेपर परस्परमें मिलकर उनसे इस प्रकार वचन कहने लगे ॥९१॥ कि जो आदिराजा भरतने कहा है वह सच है और हम लोगोको स्वीकार है क्योंकि पिताके न होनेपर बड़ा भाई ही छोटे भाइयोंके द्वारा पूज्य होता है ॥९२॥ परन्तु समस्त संसारको जानने-देखनेवाले हमारे पिता प्रत्यक्ष विराजमान है वे ही हमको प्रमाण है, यह हमारा ऐश्वर्य उन्हीका दिया हुआ है ॥९३॥ इसलिए हम लोग इस विषयमें पिताजीके चरणकमलोकी आज्ञाके अधीन हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं । इस ससारमें हमें भरतेश्वरसे न तो कुछ लेना है और न कुछ देना है ॥९४॥ तथा चक्रवर्तीने हिस्सा देनेके लिए जो हम सबको आमन्त्रण दिया है अर्थात् बुलाया है उससे हम लोग बहुत सन्तुष्ट हुए हैं और गले तक तृप्त हो गये हैं ॥९५॥ इस प्रकार राजाओंकी तरह योग्य सम्मानोसे उन दूतोंका सत्कार कर तथा भरतके लिए उपहार देकर और बदलेके पत्र लिखकर उन राजकुमारोंने दूतोंको ग्रीष्म ही बिदा कर दिया ॥९६॥ इस प्रकार जिन्होंने दूतोंका सम्मान कर भरतके लिए योग्य उत्तर दिया है ऐसे वे सब राजकुमार, पूज्य पिताजीका दिया हुआ कार्य उन्हीको सौंपनेके लिए उनके समीप पहुँचे ॥९७॥ जिनके पास परिमित तथा योग्य सामग्री है ऐसे उन राजकुमारोंने किसी महापर्वतके समान ऊँचे और कैलासके शिखरपर विद्यमान पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके जाकर दर्शन किये ॥९८॥ उन राजकुमारोंने विधिपूर्वक प्रणाम किया, विधिपूर्वक पूजा की और फिर कामदेवको नष्ट करनेवाले भगवान्से नीचे लिखे वचन कहे ॥९९॥ हे देव, हम लोगोंने आपसे ही जन्म पाया है, आपसे ही यह उत्कृष्ट विभूति पायी है और अब भी आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हैं, हम लोग आपको छोड़कर और किसीकी उपासना नहीं

१ न्यस्तार्थान् । असकृत्संपादितप्रयोजनानित्यर्थ । २ कुमार । ३ अस्माकम् । ४ प्रकाशते । ५ प्रथमा । ६ स्वेच्छाचारिण । ७ संतोषिता । ८ तृप्ता । ९ कन्वरपर्यन्तम् । १० कृतप्राभूता । ११ दूतानामायत्तीकृत । १२ भरतायत्तीकृतसदृशा । १३ भरतकृतकार्यम् । १४ परिकरा । १५ कैलासशिखरमालयो यस्य । १६ आराधयामः ।

इत्याकर्ण्य विमोर्वर्क्यं परं निर्वदमागता । महाप्रावाज्यमास्थाप्य<sup>१</sup> निष्कान्तास्ते गृहाहनम्<sup>२</sup> ॥१२५॥  
 निर्दिष्टां गुरुणा साक्षाद्दीक्षां नवचधूमिव । नवा इव वराः प्राप्य रेखस्ते युवपार्थिवाः ॥१२६॥  
 या कचग्रहपूर्वेण<sup>३</sup> प्रणये नातिमृमिगौ । तथा पाणिगृहीत्येव दीक्षया ते धृष्टिं दधुः ॥१२७॥  
 तपस्तीव्रमथासाद्य ते चकासुर्नृपर्षयः । स्वतेजोऽसृद्विचासा<sup>४</sup> ग्रीष्ममर्काशनो यथा ॥१२८॥  
 तेऽतितीव्रेस्तपोयोगैस्तनूभूतां तनुं दधुः । तपोलक्ष्म्या समुत्कीर्णांमिव दीप्तां तपोगुणैः ॥१२९॥  
 स्थिताः सामयिके वृत्ते<sup>५</sup> जिनकल्पविशेषिते । ते तेषिरे तपस्तीव्रं ज्ञानशुद्धयुपवृ<sup>६</sup>हितम् ॥१३०॥  
 वैराग्यस्य परा<sup>७</sup> कोटीमास्वास्ते युगेधराः । स्वसाचक्रुस्तपोलक्ष्मी राज्यलक्ष्म्यामनुसुकाः ॥१३१॥  
 तपोलक्ष्म्या परिष्वक्ता<sup>८</sup> युक्तिलक्ष्म्यां कृतस्मृताः । ज्ञानसंपत्त्यसक्तास्ते राजलक्ष्मीं विलस्मरुः ॥१३२॥  
 द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धमधीत्यैते महाधियः । तपो मानवात्मानमलंचक्रुः प्रकृष्टया ॥१३३॥  
 स्वाध्यायेन मनोरोधस्ततोऽक्षाणां विनिर्जयः । इत्याकलय्य ते धीराः स्वाध्यायधियमादधुः ॥१३४॥  
 आचारांगेन निःशेषं साध्याचारमवेदिषुः ।<sup>९</sup> क्यशुद्धिमतो<sup>१०</sup> रेखुरतिक्रमो<sup>११</sup> दिवर्जिताश्च ॥१३५॥

प्रकार जिसकी सब सामग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपस्वी राज्य ही उत्कृष्ट राज्य है ॥१२४॥  
 इस प्रकार भगवान् के वचन सुनकर वे सब राजकुमार परम वैराग्यको प्राप्त हुए और महादीक्षा धारण कर घरसे वनके लिए निकल पड़े ॥१२५॥ साक्षात् भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई दीक्षाको नयी स्त्रीके समान पाकर वे तरुण राजकुमार नये बरके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१२६॥ उनकी वह दीक्षा किसी विवाहिता स्त्रीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार विवाहिता स्त्री कचग्रह अर्थात् केश पकड़कर बड़े प्रणय अर्थात् प्रेमसे समीप आती है उसी प्रकार वह दीक्षा भी कचग्रह अर्थात् केशलोच कर बड़े प्रणय अर्थात् शुद्ध नयसे उनके समीप आयी हुई थी इस प्रकार विवाहिता स्त्रीके समान सुशोभित होनेवाली दीक्षासे वे राजकुमार अन्तःकरणमें सुखको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ अथानन्तर जिन्होंने अपने तेजसे समस्त दिशाओको रोक लिया है ऐसे वे राजर्षि तीव्र तपस्वरुण धारण कर ग्रीष्म ऋतुके सूर्यकी किरणोंके समान अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥१२८॥ वे राजर्षि जिस शरीरको धारण किये हुए थे वह तीव्र तपस्वरुणसे क्रुश होनेपर भी तपके गुणोंसे अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो तपस्वी लक्ष्मीके द्वारा उकेरा ही गया हो ॥१२९॥ वे लोग जिनकल्प दिग्म्बर मुद्रासे विशिष्ट सामायिक चारित्र्यमें स्थित हुए और ज्ञानकी विशुद्धिसे बड़ा हुआ तीव्र तपस्वरुण करने लगे ॥१३०॥ वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त हुए उन तरुण राजर्षियोंने राज्यलक्ष्मीसे इच्छा छोड़कर तपस्वी लक्ष्मीको अपने वश किया था ॥१३१॥ वे राजकुमार तपस्वी लक्ष्मीके द्वारा आलिंगित हो रहे थे, मुक्तिरूपी लक्ष्मीमें उनकी इच्छा लग रही थी और ज्ञानरूपी सम्पदामें आसक्त हो रहे थे । इस प्रकार वे राज्यलक्ष्मीको विलकुल ही भूल गये थे ॥१३२॥ उन महाबुद्धिमानोंने द्वादशाङ्गरूप श्रुतस्कन्धका अध्ययन कर तपको उत्कृष्ट भावनासे अपने आत्माको अलंकृत किया था ॥१३३॥ स्वाध्याय करनेसे मनका निरोध होता है और मनका निरोध होनेसे इन्द्रियोंका नियन्त्रण होता है यही समझकर उन धीर-वीर मुनियोंने स्वाध्यायमे अपनी बुद्धि लगायी थी ॥१३४॥ उन्होंने आचारांगे

१ आश्रित्य । २ वन प्रति गृहाभिप्लव्णान्ता-निर्गता । ३ प्रकृष्टनयेन स्नेहेन । ४ सीमातिक्रान्ता । ५ तस्या पाणिद्वयी प्राप्य सुखमन्तरुपागताः प०, ल० । पत्नी । ६ संतोषम् । ७ सकलदिश । ८ वीणमकाल प्राप्य । ९ चारित्र्ये । १० काष्ठा-म०, अ०, प०, द०, स०, इ०, ल० । ११ कालिङ्गता । १२ चारित्र्यशुद्धिम् । १३ आचाराङ्गपरिज्ञानात् । १४ अतीचार ।

ज्ञात्वा सूत्रकृत<sup>१</sup> सूक्तं निखिलं सूत्रतोऽर्थतः । धर्मक्रियासमाधाने ते उच्युः सूत्रधारताम् ॥१३६॥  
 स्थानाध्ययनं सध्यायशतैर्गम्भीरमन्विषत् । विगाह्य उत्तरखानामयुस्ते मेदमक्षसा ॥१३७॥  
 समवायाख्यमङ्गं ते समधीत्य सुमेधसः । द्रव्यादिविषयं सम्यक् समवायं मसुस्तत ॥१३८॥  
 स्वभ्यस्तात्प्रश्नमादृष्ट्वा व्याख्याप्रज्ञसिंजितात् । साध्ववादीधरन् धीराः प्रश्नार्थान् विविधानमी ॥१३९॥  
 ज्ञातुधर्मकथां सम्यक् बुद्ध्वा बोद्धुनबोधयन् । धर्म्या कथामसंमोहाच्च ये यथोक्तं महर्षिणा ॥१४०॥  
 तेऽधीत्योपासकाध्यायमङ्गं सप्तममुजितम् । निखिलं श्रावकाचारं श्रोतृभ्यः ससुपादिशन् ॥१४१॥  
 तथान्तकृद्दशद्वयात् मुनीनन्तकृतो दश<sup>२</sup> । तीर्थं प्रति विदामासुः सोढासहोपसर्गकान् ॥१४२॥  
 अनुत्तरविमानोपपादिकादश तादृशान् । शमिनो नवमादृष्ट्वा विदांचकुर्विदांवरान् ॥१४३॥  
 प्रश्नव्याकरणस्त्रयसुपादाय शरीरिणाम् । सुखदुःखादिप्रसंगिं व्याचक्रुस्ते समाहिताः ॥१४४॥  
 विपाकसूत्रनिर्ज्ञातसदसत्कर्मपद्वक्तयः । बद्धकक्षास्तदुच्छिन्नौ<sup>३</sup> तपश्चक्रुस्तन्निद्राव् ॥१४५॥  
 दृष्टिबादेन निर्ज्ञातदृष्टिभेदा जिनागमे । ते तेन परमां शक्तिं परं संवेगमाश्रिताः ॥१४६॥  
 तदन्तर्गतं<sup>४</sup> निःशेषश्रुतस्त्वावधारिणः । चतुर्दशमहाविद्यास्थानान्यधैपत क्रमात् ॥१४७॥

द्वारा मुनियोगा समस्त आचरण जान लिया था इसीलिए वे अतिचाररहित चर्याकी विशुद्धता-  
 को प्राप्त हुए थे ॥१३५॥ वे शब्द और अर्थसहित समस्त सूत्रकृताङ्गको जानकर धर्मक्रियाओं-  
 के धारण करनेमें सूत्रधारपना अर्थात् मुख्यताको धारण कर रहे थे ॥१३६॥ जो सैकड़ों  
 अध्यायोसे समुद्रके समान गम्भीर हैं ऐसे स्थानाध्ययन नामके तीसरे अङ्का अध्ययन कर उन्होंने  
 तत्त्वरूपी रत्नोके मेद शीघ्र ही जान लिये थे ॥१३७॥ समीचीन बुद्धिको धारण करनेवाले  
 उन राजकुमारोंने समवाय नामके चौथे अङ्का अच्छी तरह अध्ययन कर द्रव्य आदिके समूह-  
 को जान लिया था ॥१३८॥ अच्छी तरह अभ्यास किये हुए व्याख्याप्रज्ञासि नामके पाँचवे  
 अङ्गसे उन धीर-धीर राजकुमारोंने अनेक प्रकारके प्रश्न-उत्तर जान लिये थे ॥१३९॥  
 वे धर्मकथा नामके छठे अङ्गको जानकर और उसका अच्छी तरह अवगम कर महर्षि भगवान्  
 वृषभदेवके द्वारा कही हुई धर्मकथाएँ अज्ञानी लोगोको बिना किसी त्रुटिके ठीक-ठीक बतलाते  
 थे ॥१४०॥ अतिशय श्रेष्ठ उपसकाध्ययन नामके सातवे अङ्का अध्ययन कर उन्होंने श्रोताओंके  
 लिए समस्त श्रावकाचारका उपदेश दिया था ॥१४१॥ उन्होंने अन्तःकृद्दश नामके आठवे अङ्गसे  
 प्रत्येक तीर्थकरके तीर्थमें असह्य उपसर्गोंको जीतकर मुक्त होनेवाले दश अन्तःकृत मुनियो-  
 का वृत्तान्त जान लिया था ॥१४२॥ जाननेवालोमें श्रेष्ठ उन राजकुमारोंने अनुत्तरविमा-  
 नीपपादिक नामके नौवे अङ्गसे प्रत्येक तीर्थकरके तीर्थमें असह्य उपसर्ग जीतकर अनुत्तर  
 विमानोमे उत्पन्न होनेवाले दश-दश मुनियोगा हाल जान लिया था ॥१४३॥ वे स्थिर चित्त-  
 वाले मुनिराज प्रश्नव्याकरण नामके दशवे अङ्गसे प्रश्न समझकर जीवोंके सुख-दुःख आदिका  
 वर्णन करने लगे ॥१४४॥ विपाकसूत्र नामके ग्यारहवे अङ्गसे जिन्होंने कर्मोंकी शुभ-अशुभ  
 समस्त प्रकृतिर्या जान ली है ऐसे वे मुनि कर्मोंका नाश करनेके लिए तत्पर हो प्रमाद छोड़कर  
 तीव्र तपश्चरण करते थे ॥१४५॥ दृष्टिवाद नामके बारहवे अङ्गसे जिन्होंने समस्त दृष्टिके  
 भेद जान लिये हैं ऐसे वे राजकुमार परम संवेगको प्राप्त होकर जैनशास्त्रोमें उल्लूक भक्ति  
 करने लगे थे ॥१४६॥ उस बारहवे अङ्गके अन्तर्गत समस्त श्रुतज्ञानके रहस्यका निश्चय  
 करनेवाले उन मुनियोमें क्रमसे चौदह महाविद्याओंके स्थान अर्थात् चौदह पूर्वोंका भी अध्ययन

१ अङ्गम् । २ अङ्गम् । ३ समूहम् । 'समवायश्चयो गण' इत्यभिधानात् । ४ अवधारयन्ति स्म । ५ ज्ञात्वा  
 ल०, द० । ६ यथोक्ता ल०, द० । ७ ससारविनाशकारिणः । ८ दश प्रकारान् । ९ तीर्थकर-प्रवर्तनकाल-  
 मुद्दिश्य । १० तदुच्छिष्ट्यै अ०, इ०, स० । ११ द्वादशाङ्गान्तर्गत ।

ततोऽस्मी श्रुतनिःशेषश्रुताथाः श्रुतचक्षुषः । श्रुतार्थभावनोक्तर्षाद् ददुः शुद्धिं तपोविधौ ॥१४८॥  
 वाग्देव्या सममालापां मया मानसनास्तम् । इतीर्ष्यतीव्र संतापं व्यधचैषु तपःक्रिया ॥१४९॥  
 तनुतापमसह्यं ते सहमाना मनस्विनः । बाह्यमाध्यात्मिकं चोग्रं तपः सुचिरमाचरन् ॥१५०॥  
 ग्रीष्मःकंकरसंतापं सहमानाः सुदुःसहम् । ते भञ्जरातपस्थानमारुढगिरिमस्त्रकाः ॥१५१॥  
 शिलातलेषु तसेषु निवेशितपद्भ्याः । प्रलम्बितमुञ्जास्तस्थुर्गिर्यग्रप्रावगोचरं ॥१५२॥  
 तसपांसुचिता भूमिर्दावदग्धा वनस्थली । याता जलागयाः शोषं दिगो धूमान्धकारिताः ॥१५३॥  
 इत्यत्युग्रतरं ग्रीष्मं संप्लुष्टं गिरिकानवे । तस्थुरातपयोगेन ते सोढजस्तपाः ॥१५४॥  
 मेघान्धकारिता शेषदिक्चक्रे जलदागमे । योगिनो गमयन्ति स्म तरुमूलेषु शर्वरीः ॥१५५॥  
 सुसलस्थूलधाराभिर्घर्षन्सु जलवाहिषु । निशामनैर्गुरव्यव्या वापिकीं ते महर्षयः ॥१५६॥  
 ध्यानगमं गृह्णात स्या छत्तिप्रावारसंभृताः । सहन्ते स्म महासखास्ते घनावनदुर्दिनम् ॥१५७॥  
 ते हिमानी<sup>१</sup> परिच्छिष्टां तनुयष्टिं हिमागमे । दधु<sup>२</sup> रभ्यवकाशेषु<sup>३</sup> गथाना मानसास्थिताः ॥१५८॥  
<sup>४</sup>अनग्रमुपिता<sup>५</sup> दध्न नञ्जास्तेऽनग्निसेविनः । छत्तिसंवर्तितं<sup>६</sup> रगंः सेहिरं हिममास्तान् ॥१५९॥

किया था ॥१४७॥ तदनन्तर जिन्होंने समस्त श्रुतके अर्थोंका श्रवण किया है और श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे वे मुनि श्रुतज्ञानकी भावनाके उत्कर्षसे तपश्चरणमे बिगुड़ता धारण करने लगे ॥१४८॥ ये लोग सरस्वती देवीके साथ तो बातचीत करते हैं और मेरे साथ निरन्तर मौन धारण करते हैं इस प्रकार ईर्ष्या करती हुईके समान तपश्चरणकी क्रिया उन्हें बहुत संताप देती थी ॥१४९॥ असह्य कायक्लेश सहन करते हुए वे तेजस्वी मुनि अतिशय कठिन अन्तरंग और बाह्य दोनों प्रकारका तप चिरकाल तक करते रहे ॥१५०॥ ग्रीष्मऋतुमें पर्वतोंके शिखरपर आरुढ़ होकर अत्यन्त असह्य सूर्यकी किरणोंके संतापको सहन करते हुए वे आतापन योगको प्राप्त हुए थे अर्थात् धूपमें बैठकर तपस्या करते थे ॥१५१॥ पर्वतोंके अग्रभागकी चट्टानोंकी तपी हुई जिलाओंपर दोनों पैर रखकर तथा दोनों भुजाएँ लटका कर खड़े होते थे ॥१५२॥ जिस ग्रीष्मऋतुमें पृथिवी तपी हुई धूलिसे व्याप्त हो रही है, वनके सब प्रदेग दावानलसे जल गये हैं, तालाव सूख गये हैं और दिनाएँ धूँसे अन्धकारपूर्ण हो रही हैं इस प्रकारके अत्यन्त कठिन और जिसमें पर्वतोंके वन जल गये हैं ऐसी ग्रीष्मऋतुमें तीव्र संताप सहन करते हुए वे मुनिराज आतापन योग धारण कर खड़े होते थे ॥१५३-१५४॥ जिसमे समस्त दिशाओंका समूह वादलोके छा जानेसे अन्धकारयुक्त हो गया है ऐसी वर्षाऋतु-मे वे योगी वृक्षोंके नीचे ही अपनी रात्रियाँ बिता देते थे ॥१५५॥ जब बादल मूसलके समान मोटी-मोटी धाराओंसे पानी बरसाते थे तब वे महर्षि वर्षाऋतुकी उन रात्रियोंको निश्चल होकर व्यतीत करते थे ॥१५६॥ ध्यानरूपी गर्भगृहके भीतर स्थित और धैर्यरूपी ओढनी-को ओढ़े हुए वे महाबलवान् मुनि वादलोंसे ढके हुए दुर्दिनोंको सहन करते थे ॥१५७॥ गीत-ऋतुके दिनोमे मान धारण कर खुले आकाशमें शयन करते हुए वे मुनि बहुत भारी बर्फसे अत्यन्त दुःखी हुई अपने शरीरको लकड़ीके समान निश्चल धारण करते थे ॥१५८॥ वे मुनि नग्न होकर भी कभी अग्निसेवन नहीं करते थे, वस्त्रोंसे सहित हुएके समान सदा निर्द्वन्द्व रहते थे

१ पर्वतशिखरपापाणप्रदेहे । २ मंदग्ध । ३ प्रवृद्धतपा । ४ मेघेषु । ५ नयन्ति स्म । ६ निश्चला निर्भया इत्यर्थ । ७ वर्षाकालसर्वान्विनीम् । ८ वासगृहम् । ९ धैर्यकम्बलपरिवेष्टिता । १० हिमघंहति । ११ - प्राव - प०, ल० । १२ तरुलतागुल्मगुहादिरहितप्रवलवायुसहितप्रदेहेषु । १३ अनन्य यथा भवति तथा सावरणमिवेत्यर्थ । १४ स्थिता । १५ धैर्यकवचित्तं ।

हेमनीपु<sup>१</sup> त्रियामासु स्थगितास्ते<sup>२</sup> हिमोक्तयैः । प्रावारितै<sup>३</sup> रिवान्नैः स्वैर्धाराः स्वैरमशेर ॥ १६० ॥  
 त्रिकालविषयं योगमास्थायैव<sup>४</sup> दुस्त्वहम् । सुचिरं धारयन्ति स्म धीरास्ते दृढयोगतः ॥ १६१ ॥  
 दधानास्ते तपस्तापमन्तर्दोषं दुरासदम् । रेजुस्तरङ्गितैरङ्गैः प्रायोऽनुकृतवार्द्धयः ॥ १६२ ॥  
 ते स्वमुक्तोद्दिष्टं भूयो वैचक्षण्यं भोगपरिच्छदम् । निमुक्तमाल्यनिःसारं मन्यमाना मनीषिणः ॥ १६३ ॥  
 फेनोर्मिहिमसन्ध्याश्रयं जीवितमङ्गिनाम् । मन्वाना दृढमासक्तिं मेजुस्ते पथि श्लाघते ॥ १६४ ॥  
 संसारावासनिर्विण्णा गृहावासाद्विनिःसृताः । जैने मार्गे विमुक्त्यङ्गे ते परां धृतिमादधुः ॥ १६५ ॥  
 इतोऽन्यदुत्तरं<sup>५</sup> नास्तीत्यारूढदृढभावनाः । तेऽमी मनोवचःकायैः श्रद्धागुरुस्थासनम् ॥ १६६ ॥  
 तेऽनुरक्ता जिनप्रोक्ते सूक्ते धर्मे सनातने । उत्तिष्ठन्ते स्म सुक्तरथं वदकक्षया मुमुक्षवः ॥ १६७ ॥  
 संवेगजनितश्रद्धाः श्रुद्धे वर्त्मन्यनुचरे । दुरापां नावयामासुस्ते महाव्रतभावनाम् ॥ १६८ ॥  
 अहिंसा सत्यमस्येयं ब्रह्मचर्यं विमुक्तताम्<sup>६</sup> । राज्यभोजनवध्वाग्निं व्रतान्येतान्यभावयन् ॥ १६९ ॥  
 यावज्जीवं व्रतेष्वेव ते दृढीकृतसंगराः । त्रिविधेन<sup>७</sup> प्रतिक्रान्तदोषाः क्षुद्धिं परां दधुः ॥ १७० ॥  
 स्वार्थमभिनिरुक्ता निर्मला<sup>८</sup> निष्परिग्रहाः । मार्गमाराधयन्तं ग्युत्सुष्टतनुयुष्टयः ॥ १७१ ॥

और धैर्यरूपी कवचसे ढके हुए अंगोसे शीतल पवनको सहन करते थे ॥ १६५ ॥ शीतश्रुतुकी रात्रियोमे बर्फके समूहसे ढके हुए वे धीर-वीर मुनिराज स्वतन्त्रतापूर्वक इस प्रकार शयन करते थे मानो उनके अंग वस्त्रसे ही ढके हो ॥ १६० ॥ इस प्रकार वे धीर-वीर मुनि तीनों काल-सम्बन्धी कठिन योग लेकर अपने धैर्यगुणके योगसे उन्हें चिर काल तक धारण करते थे ॥ १६१ ॥ अन्तरगमे वैदीप्यमान और अतिशय कठिन तपके तेजको धारण करते हुए वे मुनि तरंगोके समान अपने अंगोसे ऐसे जान पड़ते थे मानो समुद्रका ही अनुकरण कर रहे हो ॥ १६२ ॥ वे बुद्धिमान् अपने-द्वारा उपभोग कर छोड़ी हुई भोगसामग्रीको भोगमें आयी हुई मालाके समान सारहीन मानते हुए फिर उसकी इच्छा नहीं करते थे ॥ १६३ ॥ वे प्राणियोके जीवनको फेन, ओस अथवा सन्ध्याकालके बादलोके समान चंचल मानते हुए अविनाशी भोक्षमार्गमें दृढता-के साथ आसक्तिको प्राप्त हुए थे ॥ १६४ ॥ ससारके निवाससे विरक्त हुए और घरके आवास-से छूटे हुए वे मुनिराज भोक्षके कारणभूत जितेन्द्रदेवके मार्गमें परम सन्तोष धारण करते थे ॥ १६५ ॥ इससे बढ़कर और कोई शासन नहीं है इस प्रकारकी मजबूत भावनाएँ जिन्हें प्राप्त हो रही हैं ऐसे वे राजर्षि मन वचन कायसे भगवान् के शासनका श्रद्धान करते थे ॥ १६६ ॥ जितेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए और अनादिसे चले आये यथार्थ जैनधर्ममें अनुरक्त हुए वे भोक्षामिलापी मुनिराज भोक्षके लिए कमर कसकर खड़े हुए थे ॥ १६७ ॥ संवेग होनेसे जिन्हें बुद्ध और सर्वश्रेष्ठ भोक्षमार्गमें श्रद्धान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे मुनि कठिनाईसे प्राप्त होने योग्य महाव्रतकी भावनाओका निरन्तर चिन्तन किया करते थे ॥ १६८ ॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग और रात्रिभोजनत्याग इन छह महाव्रतोका वे निरन्तर पालन करते थे ॥ १६९ ॥ जिन्होंने ऊपर कहे हुए छह व्रतोकी जीवनपर्यन्तके लिए दृढप्रतिज्ञा धारण की है और मन, वचन तथा कायसे उन व्रतोके समस्त दोष दूर कर दिये हैं ऐसे वे मुनिराज परम विशुद्धिको धारण कर रहे थे ॥ १७० ॥ जिन्होंने सब प्रकारके आरम्भ छोड़ दिये हैं, जो ममता-रहित हैं, परिग्रहरहित हैं और शरीररूप लकड़ीसे भी जिन्होंने ममत्व छोड़ दिया है ऐसे वे

१ हिमानीपु ल०, प० । हेमन्तसंवन्धिनीपु । २ आच्छादितैः । ३ हिमोच्चयस्थगितान्तत्वात् प्रावरणान्वि-  
 तैरिव । ४ प्रतिज्ञा कृत्वा । ५ गुरुशासनात् । ६ अधिकम् । ७ निःपरिग्रहात् । ८ दृढीकृतप्रतिज्ञा ।  
 ९ मनोवाचकायने । १० प्रतिक्रमणरूपेण निरस्तः । ११ निर्ममा ल०, इ०, अ०, स०, प०, द० ।



सत्रोपविधिनिर्मुक्ता युक्ता धर्मे जिनोदिते । नैच्छन् वालाग्रमात्रं च द्विधास्तत्<sup>२</sup> परिग्रहम् ॥१०२॥  
 निर्मुच्छास्ते<sup>३</sup> स्वदेहेऽपि धर्मवर्त्मनि सुस्थिताः । संतोषभावनापास्ततृष्णाः सन्तो विजहिरं<sup>४</sup> ॥१०३॥  
 धमन्ति स्मानिकेतास्ते<sup>५</sup> यत्रास्तं<sup>६</sup> मानुमानितः<sup>७</sup> । तत्रैकत्र कचिदेगे नैस्संन्य परमास्थिताः<sup>८</sup> ॥१०४॥  
 त्रिविक्रैकान्तमेवित्वाद्<sup>९</sup> आम्रमेवेकाहवासिनः<sup>१०</sup> । पुरंष्वपि न पञ्चाहात्परं तस्थुर्दुर्पर्ययः<sup>११</sup> ॥१०५॥  
 शून्यागारमग्नानादित्रिविकालयगोचराः<sup>१२</sup> । ते वीरवसतीर्मेजुस्त्रिभवाः सप्तभिर्मयः<sup>१३</sup> ॥१०६॥  
 तेऽभ्यन्तन्महासत्त्वाः पाकसत्त्वैरधिष्ठाताः । गिर्यग्रकन्दारण्यवसतीः प्रतिवासरम्<sup>१४</sup> ॥१०७॥  
 सिंहश्वकृपादूल्गतस्त्वदि<sup>१५</sup> निषेविते । वनान्ते नै वसन्ति स्म तदारसितभीषण<sup>१६</sup> ॥१०८॥  
 स्फुरत्पुरुषपादूल्गजितप्रतिनिःस्वर्गः । आगुञ्जत्पर्वतग्रान्तं<sup>१७</sup> तं स्म तिष्ठन्त्यसाध्वसाः<sup>१८</sup> ॥१०९॥  
 कण्ठीरवकिंशोराणां<sup>१९</sup> कठोरं<sup>२०</sup> कण्ठनिःस्वर्गः । प्रोच्चादिनि<sup>२१</sup> वने ते स्म निवसन्त्यस्तमीतयः<sup>२२</sup> ॥११०॥  
 नृत्यत्कन्धर्पयन्तं<sup>२३</sup> संचरद्वाकिर्नराणाः । प्रचदकौशिकिष्वानिर्हो<sup>२४</sup> पान्तकाननाः<sup>२५</sup> ॥१११॥  
 गिचानाम<sup>२६</sup> गिर्वैभानिराहृद्वासिलिखितुसा । महापितृवनोद्देशा निशास्वेभिः<sup>२७</sup> सिषेविरं<sup>२८</sup> ॥११२॥

मुनि जिनन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए मोक्षमार्गकी आराधना करते थे ॥१७१॥ सब प्रकारके परिग्रहसे रहित होकर जिनन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए धर्मका आचरण करते हुए वे राजकुमार बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके कहे हुए परिग्रहोंमेंसे बालकी नाकके बराबर भी किसी परिग्रहकी चाह नहीं करते थे ॥१७२॥ जिन्हें अपने गरीरमें भी ममत्व नहीं है, जो धर्मके मार्गमें स्थित हैं और सन्तोषकी भावनासे जिन्होंने तृष्णाको दूर कर दिया है ऐसे वे उत्तम मुनिराज सब जगह विहार करते थे ॥१७३॥ परिग्रह-त्याग व्रतको उत्कृष्ट रूपसे पालन करने-वाले वे गृहरहित मुनिराज जहाँ सूर्य डूब जाता था वही किसी एक स्थानमें ठहर जाते थे ॥१७४॥ वे राजपि एकान्त और पवित्र स्थानमें रहना पसन्द करते थे इसलिए गाँवोंमें एक दिन रहते थे और नगरोंमें पाँच दिनसे अधिक नहीं रहते थे ॥१७५॥ वे मुनि सात भयोंसे रहित होकर-  
 गून्धगूह अथवा भ्रमण आदि एकान्त-स्थानोंमें वीरताके साथ निवास करते थे ॥१७६॥ वे महाबलवान् राजकुमार सिंह आदि दुष्ट जीवोंसे भरो हुई पर्वतोंकी गुफाओं और जंगलोंमें ही प्रतिदिन निवास करना अच्छा समझते थे ॥१७७॥ सिंह, रीछ, भेड़िया, व्याघ्र, चीता आदिसे भरे हुए और उन्हींके शब्दोंसे भयकर वनके बीचमें वे मुनिराज निवास करते थे ॥१७८॥ चारों ओर फैलते हुए व्याघ्रकी गर्जनाकी प्रतिध्वनियोंसे गुँजते हुए पर्वतके किनारों-पर वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥१७९॥ सिंहोंके बच्चोंकी कठोर कण्ठगर्जनासे शब्दायमान वनमें मुनिराज भयंरहित होकर निवास करते थे ॥१८०॥ जहाँ नाचते हुए गिररहित घड़ोंके समीप डाकिनियोंके समूह फिर रहे हैं, जिनके समीपके वन उल्लुओंके प्रचण्ड शब्दोंसे भर रहे हैं और जहाँ शृगालोंके अमंगलरूप शब्दोंसे सब दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं ऐसी वड़ी-वड़ी भ्रमणभूमियोंमें रात्रिके समय वे मुनिराज निवास करते थे ॥१८१-१८२॥

१ स्थिता प०, ल० । २ बाह्याभ्यन्तररूपेण द्विधा प्रोक्तम् । ३ निर्मोहा । ४ विहरन्ति स्म । ५ अनगारा । ६ आदित्य । ७ प्राया । ८ वचिद्विनियतप्रदेशे । ९ आश्रिताः । १० विषुद्धविजयप्रदेशेषु स्यान्तुं प्रियत्वादिति भावः । ११ एकदिवसवासिनः । १२ निवसन्ति स्म । १३ एकाक्षप्रदेशो गोचरविषयो येषां ते । १४ ऋक्ष-मल्लक-शृङ्ग-ईहामृगपादूल्गपितरक्षुमृगादि । १५ तेषां सिंहादीनाम् आराधनं यज्जरे । १६ वनतपर्वतसानुमध्यं । १७ सिंहवासानाम् । १८ कटिनी प०, ल०, द० । १९ ध्वनिं कुर्वति । २० समीप । २१ प्रचण्ड ल०, द० । २२ कृतशूकनिनादव्याप्त । २३ जम्बुकानाम् । २४ अमङ्गलं । २५ तपोधनः । २६ सेव्यते स्म ।

सिंहा इव नृसिंहास्ते<sup>१</sup> तस्थुरित्तिगुहाश्रयाः । जिनोक्त्यनुगतैः स्वान्तैरनुद्भिः<sup>२</sup> समाहिताः ॥ १८३ ॥  
पाकसत्त्वं शताकीर्णं वनभूमिं मयानकाम्<sup>३</sup> । तेऽध्यवात्सुस्तं मित्रासु<sup>४</sup> निगासु ध्यानमास्थिताः ॥ १८४ ॥  
न्यपेवन्त वनोद्देगान् निषेव्यान्वनटन्तिभिः । ते तद्वन्ताग्रनिर्मितरुस्थपुटितान्तरान् ॥ १८५ ॥  
वनेषु वनमातङ्गद्वृंहितप्रतिमादिनीः । दरीस्तेऽध्यूयु<sup>५</sup> राखुराक्रान्ताः करिगुभिः<sup>६</sup> ॥ १८६ ॥  
स्वाध्याययोगसंस्का न स्वपन्ति स्म रात्रिषु । सूत्रार्थभावनेषुक्ता जागरूकाः<sup>७</sup> सदा यमी ॥ १८७ ॥  
पल्लव्हेन निषण्णास्ते वीरासनजुषोऽथवा<sup>८</sup> । शयाना बैकपाशेन शर्वरीत्यवाहयन्<sup>९</sup> ॥ १८८ ॥  
त्यक्तोपधिभरा धीरा व्युत्सृष्टाङ्गा निरम्बराः । नैर्किचन्यविशुद्धास्ते मुक्तिमार्गममार्गयन् ॥ १८९ ॥  
निव्यपेक्षा निराकाङ्क्षा वायुवीथ्यनुगाग्निनः<sup>१०</sup> । व्यहरन् वसुधामेनां सत्रामनगराकराम् ॥ १९० ॥  
विहरन्तो मही कृत्स्नां ते कस्याप्यनभिद्रुहः<sup>११</sup> । मातृकल्पा दयालुत्वात्पुत्रकल्पेषु देहिषु ॥ १९१ ॥  
जीवाजीवविभागज्ञा ज्ञानोद्योतस्फुरद्दृष्टाः । सावद्यं परिजहृस्ते प्रासुकावसथाशनाः<sup>१२</sup> ॥ १९२ ॥  
स्याद्यत्किंचिच्च सावद्यं तत्सर्वं त्रिविधेन ते । रत्नत्रितयशुद्धयर्थं थावज्जीवमवर्जयन् ॥ १९३ ॥  
असाम् हरितकायाश्च पृथिव्यप्पवनानलान् । जीवकायानपाथेभ्यस्ते<sup>१३</sup> स्म रक्षन्ति यवतः ॥ १९४ ॥

सिंहके समान निर्भय, सब पुरुषोमे श्रेष्ठ और पर्वतोकी गुफाओमे ठहरनेवाले वे मुनिराज जिनन्द्र-  
देवके उपदेशके अनुसार चलनेवाले खेदरहित चित्तसे शान्त होकर निवास करते थे ॥ १८३ ॥  
वे मुनिराज अँघेरी रातोके समय सैकड़ों दुष्ट जीवोंसे भरी हुई भयंकर वनकी भूमियोंमे ध्यान  
धारण कर निवास करते थे ॥ १८४ ॥ जो जंगली हाथियोंके द्वारा सेवन करने योग्य है तथा  
जिनके मध्यभाग हाथियोंके दाँतोके अग्रभागसे टूटे हुए वृक्षोंसे ऊँचे नीचे हो रहे हैं ऐसे वन-  
के प्रदेशोंमे वे महामुनि निवास करते थे ॥ १८५ ॥ जिनमे जगली हाथियोंकी गर्जनाकी  
प्रतिध्वनि हो रही है और उस प्रतिध्वनिसे कुपित हुए सिंहासे जो भर रही है ऐसी वनकी  
गुफाओमे वे मुनि निवास करते थे ॥ १८६ ॥ वे मुनिराज स्वाध्याय और ध्यानमें आसक्त  
होकर रात्रियोंमे भी नहीं सोते थे, किन्तु सूत्रोंके अर्थके चिन्तनमें तत्पर होकर सदा जागते  
रहते थे ॥ १८७ ॥ वे मुनिराज पर्यंकासनसे बैठकर, वीरासनसे बैठकर अथवा एक करवट-  
से ही सोकर रात्रियाँ बिता देते थे ॥ १८८ ॥ जिन्होंने परिग्रहका भार छोड़ दिया है, शरीरसे  
ममत्व दूर कर दिया है, जो वस्त्ररहित है और परिग्रहत्यागसे जो अत्यन्त विशुद्ध है ऐसे वे  
धीर-वीर मुनि मोक्षका मार्ग ही खोजते रहते थे ॥ १८९ ॥ किसीकी अपेक्षा न करनेवाले, आकां-  
क्षाओंसे रहित और आकाशकी तरह निर्लेप वे मुनिराज गाँव और नगरोंके समूहसे भरी हुई  
इस पृथिवीपर विहार करते थे ॥ १९० ॥ समस्त पृथिवीपर विहार करते हुए और किसी  
भी जीवसे द्रोह नहीं करते हुए वे मुनि दयालु होनेसे समस्त प्राणियोंको पुत्रके तुल्य मानते  
थे और उनके साथ माताके समान व्यवहार करते थे ॥ १९१ ॥ वे जीव और अजीवके विभाग-  
को जाननेवाले थे, ज्ञानके प्रकाशसे उनके नेत्र देदीप्यमान हो रहे थे अथवा ज्ञानका प्रकाश  
ही उनका स्फुरायमान नेत्र था, वे प्रासुक अर्थात् जीवरहित स्थानमें ही निवास करते थे और  
उनका भोजन भी प्रासुक ही था, इस प्रकार उन्होंने समस्त सावद्य भोगका परिहार कर दिया  
था ॥ १९२ ॥ उन मुनियोंने रत्नत्रयकी विगुद्धिके लिए, संसारमे जितने सावद्य ( पापारम्भ-  
सहित ) कार्य हैं उनका जीवन पर्यन्तके लिए त्याग कर दिया था ॥ १९३ ॥ वे त्रसकाय, वनस्पति

१ पुरुषश्रेष्ठा । २ अखेदितैः । ३ क्रूरमृग । ४ भयकराम् । ५ निवसन्ति स्म । ६ अन्वकावतोषु 'तमिन्ना  
तामसी रात्रि' इत्यभिधानात् । ७ आश्रिता । ८ निम्नोन्नतमध्यान् । ९ अविवसन्ति स्म । १० सिंह ।  
११ जागरणशीलाः । १२ वा । १३ नयन्ति स्म । १४ वायुवन्नि.परिग्रहा इत्यर्थः । १५ अथातुकाः ।  
१६ निरवधान्तसाहाराः । १७ अपसार्य ।

अदीनमनसः शान्ताः परमोपेक्षयान्विताः । सुकिंश्याष्ठ्यास्त्रिभिर्गुप्ताः कामभोगेष्वविरमिताः ॥१९५॥  
 जिनाज्ञानुगताः शश्वत्संसारोद्विग्नमानसाः । गर्भवासं जरामृत्युपरिवर्तनभीरवः ॥१९६॥  
 श्रुतज्ञानदशो दृष्टपरमार्था विचक्षणः । ज्ञानदीपिकया साक्षाच्चक्रुते पदमक्षरम् ॥१९७॥  
 ते चिरं भावयन्ति स्म सन्मार्गं सुकित्साधनम् । परदत्तविशुद्धाभोजिनः पाण्यमन्नकाः ॥१९८॥  
 शङ्किताभिहतैर्दिष्टं क्रयक्रीतादि लक्षणम् । सूत्रे<sup>१</sup> निषिद्धमाहारं नैच्छन्प्राणान्त्ययेऽपि ते ॥१९९॥  
 भिक्षां नियतवेलायां गृहपल्लव्यनतिक्रमान् । शुद्धाभाददिरे धीरा न निवृत्तौ<sup>२</sup> समाहिताः ॥२००॥  
 शीतमुष्णं विद्वद्भ्यं च क्षिप्रं सलवणं न वा । तनुस्थित्यर्थमाहारमाजहुस्ते<sup>३</sup> गतरघृहाः ॥२०१॥  
 अक्षन्नक्षणमात्रं ते प्राणघृत्यै<sup>४</sup> विपज्जुः<sup>५</sup> । धर्मार्थमेव<sup>६</sup> च प्राणान् धारयन्ति स्म केवलम् ॥२०२॥  
 न तुप्यन्ति स्म ते लब्धौ<sup>७</sup> व्यपीदन्नाप्यलब्धितः । अन्यमानास्तपोलाममधिकं धृतकल्मषाः ॥२०३॥

काय, पृथिवीकाय, जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय इन छह कायके जीवोंकी वडे यत्न-  
 से रक्षा करते थे ॥१९४॥ उन मुनियोंका हृदय दीनतासे रहित था, वे अत्यन्त शान्त थे,  
 प०म उपेक्षासे सहित थे, मोक्ष प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था, तीन गुप्तियोंके धारक थे  
 और काम भोगोंमें कभी आश्चर्य नहीं करते थे ॥१९५॥ वे सदा जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अनु-  
 सार चला करते थे, उनका हृदय संसारसे उदासीन रहा करता था और वे गर्भमें निवास करना,  
 वृद्धापा और मृत्यु इन तीनोंके परिवर्तनसे सदा भयभीत रहते थे ॥१९६॥ श्रुतज्ञान ही जिनके  
 नेत्र हैं और जो परमार्थको अच्छी तरह जानते हैं ऐसे वे चतुर मुनिराज ज्ञानरूपी दीपिका-  
 के द्वारा अविनाशी परमात्मपदका साक्षात्कार करते थे ॥१९७॥ जो दूसरेके द्वारा दिये हुए  
 विशुद्ध अन्नका भोजन करते हैं तथा हाथ ही जिनके पात्र हैं ऐसे वे मुनिराज मोक्षके कारणस्वरूप  
 समीचीन मार्गका निरन्तर चिन्तन करते रहते थे ॥१९८॥ शङ्कित अर्थात् जिसमें ऐसी  
 शंका हो जावे कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध, अभिहत अर्थात् जो किसी दूसरेके यहाँसे लाया  
 गया हो, उद्दिष्ट अर्थात् जो खासकर अपने लिए तैयार किया गया हो, और क्रयक्रीत अर्थात्  
 जो कीमत देकर बाजारसे खरीदा गया हो इत्यादि आहार जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके लिए निषिद्ध  
 बताया है । वे मुनिराज प्राण जानेपर भी ऐसा निषिद्ध आहार लेनेकी इच्छा नहीं करते  
 थे ॥१९९॥ मुनियोंकी वृत्तिमें सदा सावधान रहनेवाले वे धीर-वीर मुनि धरोंकी पंक्तियोंका  
 उल्लंघन न करते हुए निश्चित समयमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते थे ॥२००॥ जिनकी लालसा  
 नष्ट हो चुकी है ऐसे वे मुनिराज शरीरकी स्थितिके लिए ठण्डा, गरम, खूखा, चिकना, नमक-  
 सहित अथवा बिना नमकका जैसा कुछ प्राप्त होता था वैसा ही आहार ग्रहण करते थे ॥२०१॥  
 वे मुनि प्राण धारण करनेके लिए अक्षन्नक्षण मात्र ही आहार लेते थे और केवल धर्मसाधन  
 करनेके लिए ही प्राण धारण करते थे । भावार्थ — जिस प्रकार गाड़ी ओंगनेके लिए थोड़ी-  
 सी चिकनाईकी आवश्यकता होती है भले ही वह चिकनाई किसी भी पदार्थकी हो इसी प्रकार  
 शरीररूपी गाड़ीको ठीक-ठीक चलानेके लिए कुछ आहारकी आवश्यकता होती है भले ही  
 वह सरस या नीरस कैसा ही हो । अल्प आहार लेकर मुनिराज शरीरको स्थिर रखते हैं और  
 उससे संयम धारण कर मोक्षकी प्राप्ति करते हैं वे मुनिराज भी ऐसा ही करते थे ॥२०२॥  
 वे पापरहित मुनिराज, आहार मिल जानेपर सन्तुष्ट नहीं होते थे और नहीं मिलनेपर तपश्चरण

१ सुवतसाध्या ७०, ५०, ६०, ८० । मुनितसाध्या ८० । २ जन्म । ३ पाणिपालकाः ६०, ८०, ८०, ६० ।  
 पाणिपुटभाजना । ४ स्पूलतण्डुलाशनादिक दत्त्वा स्वीकृत कलमीदनादिक । ५ आत्मानमुद्दिश्य । ६ पणादिकं  
 दत्त्वा स्वीकृतम् । ७ परमागमे । ८ निषेधितम् । ९ यत्साचारे । १० आददुः । ११ प्राणधारणार्थम् ।  
 १२ भुञ्जते स्म । १३ धर्म-निमित्तम् । १४ लाभे सति ।

स्तुतिं निन्दां सुखं दुःखं तथा मानं<sup>१</sup> विमाननाम्<sup>२</sup> । समभावेन तेषामप्यन् सर्वत्र समदर्शिनः ॥२०४॥  
 वाच्यमस्वैमारथाय चरन्तो गोचरायिनः । निर्यान्ति स्माप्यलाभेन नामज्जन् मौनसंगरम्<sup>३</sup> ॥२०५॥  
 महोपवासस्नानाद्वा यत्नते स्म तनुस्थिताः । तत्राप्यशुद्धसाहारं<sup>४</sup> नैषिषुर्मनसाऽप्यमी ॥२०६॥  
 गोचराग्रगतां<sup>५</sup> योग्यं भुक्त्वात्ममविलम्बितम्<sup>६</sup> । प्रत्याख्याय पुनर्वीरा निर्ययुस्ते तपोवनम् ॥२०७॥  
 तपस्तापतनुभूततनवोऽपि मुनीश्वराः । अनुबद्धात्तपोयोगाच्च<sup>७</sup> चेष्टुर्द्वसंगराः<sup>८</sup> ॥२०८॥  
 तीव्रं तपस्यतां<sup>९</sup> तेषां गात्रेषु श्रुथताऽभवत् । प्रतिज्ञा या तु सद्धान्यसिद्धावस्थितिलैव सा ॥२०९॥  
 नाभूत्परिपहैर्गङ्गस्तेषां चिरमुपोपुषाम् । गताः परिपहा एव भक्तं तान् जेतुमक्षमाः ॥२१०॥  
 तपस्तनूपात्तापादं<sup>१०</sup> भूतेषां पराद्युतिः । निष्ठसस्य सुवर्णस्य दीप्तिर्नन्वतिरेकिणी<sup>११</sup> ॥२११॥  
 तपोऽसितसदीसाद्वास्तेऽन्तःशुद्धिं परां दधुः । तस्मात् तनुमूषायां शुद्धघत्यात्मा हि हेमवत् ॥२१२॥  
 स्वगस्थिमाग्रवेहास्ते ध्यानशुद्धिमधुस्तारम् । सर्वं हि परिक्रमैर्द<sup>१२</sup> बाह्यमध्यात्मशुद्धये ॥२१३॥  
 योगजा सिद्धयस्तेषामणिमानिगुणद्वये । प्रादुरासन्विशुद्धं हि तपः सूते महत्फलम् ॥२१४॥

रूपी अधिक लाभ समझते हुए विपाद नहीं करते थे ॥२०३॥ सब पदार्थों में समान दृष्टि रखने-  
 वाले वे मुनि स्तुति, निन्दा, सुख, दुःख तथा मान-अपमान सभीको समान रूपसे देखते थे ॥२०४॥  
 वे मुनि मौन धारण करके ईर्ष्यासमितिके गमन करते हुए आहारके लिए जाते थे और आहार  
 न मिलनेपर भी मौनव्रतकी प्रतिज्ञा भग नहीं करते थे ॥२०५॥ अनेक महोपवास करनेसे  
 जिनका शरीर स्नान हो गया है ऐसे वे मुनिराज केवल शरीरकी स्थितिके लिए ही प्रयत्न करते  
 थे परन्तु अशुद्ध आहारकी मनसे भी कभी इच्छा नहीं करते थे ॥२०६॥ गोचरीवृत्तिके धारण  
 करनेवालोंमें मुख्य वे धीर-वीर मुनिराज क्षीघ्र ही योग्य अन्नका भोजन कर तथा आगेके लिए  
 प्रत्याख्यान कर तपोवनके लिए चले जाते थे ॥२०७॥ यद्यपि तपश्चरणके सन्तापसे उनका  
 शरीर कृण हो गया था तथापि दृढप्रतिज्ञाको धारण करनेवाले वे मुनिराज प्रारम्भ किये हुए  
 तपसे विराम नहीं लेते थे ॥२०८॥ तीव्र तपस्या करनेवाले उन मुनियोंके शरीरमें यद्यपि  
 शिथिलता आ गयी थी तथापि समीचीन ध्यानकी सिद्धिके लिए जो उनकी प्रतिज्ञा थी वह शिथिल  
 नहीं हुई थी ॥२०९॥ चिरकाल तक उपवास करनेवाले उन मुनियोंका परीषहोंके द्वारा  
 पराजय नहीं हो सका था बल्कि परीषह ही उन्हें जीतनेके लिए असमर्थ होकर स्वय पराजय-  
 को प्राप्त हो गये थे ॥२१०॥ तपरूपी अग्निके सन्तापसे उनके शरीरकी कान्ति बहुत ही  
 उत्कृष्ट हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि तपे हुए सुवर्णकी दीप्ति बढ ही जाती है ॥२११॥  
 तपश्चरणरूपी अग्निके सन्ताप होकर जिनके शरीर अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे वे मुनि-  
 राज अन्तरगती परम विशुद्धिको धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि शरीररूपी मूसा  
 (साँवा) तपाये जानेपर आत्मा सुवर्णके समान शुद्ध हो ही जाती है ॥२१२॥ यद्यपि उनके  
 शरीरमें केवल चमड़ा और हड्डी ही रह गयी थी तथापि वे ध्यानकी उत्कृष्ट विशुद्धता धारण  
 कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उपवास आदि समस्त बाह्य साधन केवल आत्मशुद्धिके लिए  
 ही है ॥२१३॥ योगके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धिर्थां उन मुनियों-  
 के प्रकट हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि विशुद्ध तपबहुत बड़े-बड़े फल उत्पन्न करता है ॥२१४॥

१ पूजाम् । २ अवज्ञाम् । ३ मौनित्वम् । ४ गोचार । ५ मौनप्रतिज्ञाम् । ६ इच्छा न चक्र ।  
 ७ गोचारभिक्षाना मुश्नता गता । ८ क्षीघ्रम् । ९ प्रत्याख्यानं गृहीत्वा । १० - नारयम्,-  
 ध०, स०, इ० प०, द० । ११ दृढप्रतिज्ञा । १२ तपः कुर्वताम् । १३ तपोऽग्निजनितमंतापाद् ।  
 १४ न व्यतिरेकिणी ल०, द० । १५ अनन्तानादि ।

तपोमयः प्रणीतोऽग्निः कर्माण्याहुतयोऽभवन् । विधिगास्ते सुयज्वानो मन्त्रः स्वार्थंमुवं वचः ॥२१५॥  
 महाप्वरं पतिर्देवो वृषसो दक्षिणां दद्यात् । फलं कामितसंसिद्धिरपवर्गः क्रियावधिः ॥२१६॥  
 इतीमामार्षभीमिष्टिं ममिसंधाय तेऽञ्जसा । प्रावीवृत्तं ननुचानां स्तपोयज्ञमनुत्तरम् ॥२१७॥  
 इत्यमूमनगाराणां पतं स्तंगीर्षं मावनाम् । ते तथा निर्वहन्ति स्म निसर्गोऽर्थं महीयसाम् ॥२१८॥  
 किमत्र बहुना भर्मक्रिया यावत्यविच्छ्रुता । तां कृत्स्नां ते स्वसाञ्चक्रुस्त्यफराजन्यविक्रियाः ॥२१९॥

### वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं पुराणपुरुषादधिगम्य बोधिं

तत्तीर्थमानससरःप्रियराजहंसाः ।

ये राज्यभूमिमवधूय विधूतमोहाः

प्राप्ताजिपुर्भरतराजमनन्तुकामाः ॥२२०॥

ते पौरवा मुनिवराः पुरुषैर्यसारा

धीरानगरचरितेषु कृतावधानाः ।

योगीश्वरा गतमार्गमनुप्रपन्नाः

शं नो दिक्षम्बखिललोकाहितैकतानाः ॥२२१॥

जिसमे तपश्चरण ही सस्कारकी हुई अग्नि थी, कर्म ही आहुति अर्थात् होम करने योग्य द्रव्य थे, विधिविधानको जाननेवाले वे मुनि ही होम करनेवाले थे । श्री जिनन्द्रदेवके वचन ही मन्त्र थे, भगवान् वृषभदेव ही यज्ञके स्वामी थे; दया ही दक्षिणा थी, इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होना ही फल था और मोक्षप्राप्त होना ही कार्यकी अन्तिम अवधि थी । इस प्रकार भगवान् ऋषभ-देवके द्वारा कहे हुए यज्ञका सकल्प कर उन तपस्त्रियोने तपरूपी श्रेष्ठ यज्ञकी प्रवृत्ति चलायी थी ॥२१५-२१७॥ इस तरह वे मुनि, मुनियोकी उत्कृष्ट भावनाकी प्रतिज्ञा कर उसका अच्छी तरह निर्वाह करते थे सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोका यह स्वभाव ही है ॥२१८॥ इस विषयमे बहुत कहनेसे क्या लाभ है उन सब मुनियोने राज्यअवस्थामे होनेवाले समस्त विकार भावोको छोडकर अनादि कालसे जितनी भी वास्तविक क्रियाएँ चली आती थी उन सबको अपने अधीन कर लिया था ॥२१९॥

इस प्रकार पुराणपुरुष भगवान् आदिनाथसे रत्नत्रयकी प्राप्ति कर जो उनके तीर्थ-रूपी मानससरोवरके प्रिय राजहंस हुए थे, जिन्होने राज्यभूमिका परित्याग कर सब प्रकार-का मोह छोड़ दिया था, जो भरतराजको नमस्कार नहीं करनेकी इच्छासे ही दीक्षित हुए थे, उत्कृष्ट वैर्य ही जिनका बल था, जो धीर-वीर मुनियोके आचरण करनेमे सदा सावधान रहते थे, जो योगिराज भगवान् वृषभदेवके द्वारा अगीकार किये हुए मार्गका पालन करते थे और जो

१ संस्कृताग्नि 'प्रणीत संस्कृतानल' इत्यभिधानात् । २ तपोधना । ३ महायज्ञ । ४ होमान्ते याचकादीना देयद्रव्यम् । ५ क्रियावसान । ६ ऋषभसवन्धिनीम् । ७ यजनम् । ८ चक्रम् । ९ प्रवचने साङ्गे अधीतिन । 'अनूचान प्रवचने साङ्गेऽधोतो' इत्यभिधानात् । १० प्रतिज्ञा कृत्वा । ११ संवहन्ति स्म स०, ल० । १२ त्यक्तवराजसमूहविकारा । १३ त्यक्त्वैत्यर्थः । १४ नमस्कारं न कर्तुकामा । १५ पुरो सबन्धिनः । १६ यस्याचारेण । १७ अक्षीकृत्य । १८ सुखम् । १९ वो प०, स०, ल० । न. अस्माकम् । २० जनहितेऽन्यमृत्युः ।

गार्दूलचिक्रीडितम्

नत्वा विश्वसृजं चराचरगुरुं देवं<sup>१</sup> दिवीशार्चितं

नान्यस्य प्रणतिं ब्रजाम इति ये दीक्षां परां सञ्चिताः ।

ते नः सन्तु तपोविभूतिमुचितां स्वीकृत्य मुक्तिश्चियां

बद्धेच्छावृषमात्मना जिनजुषाम<sup>२</sup> ग्रेसराः श्रेयसे ॥२२२॥

स श्रीमान् भरतेश्वरः<sup>३</sup> प्रणिधिमिर्यान्प्रहृतां नानयत्

संभोक्तुं निखिलां विभज्य वसुधां सार्द्धं च यैर्नोऽशकत्<sup>४</sup> ।

निर्वाणाय पितृषमं जिनवृष ये शिश्रियुः<sup>५</sup> श्रेयसे

ते नो मानधना हरन्तु दुरितं निर्दग्धकर्मण्यनाः ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भरतराजानुजदीक्षावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३४॥

■

समस्त लोकका हित करनेवाले थे ऐसे वे भगवान् वृषभदेवके पुत्र तुम सबका कल्याण करे ॥२२०-२२१॥ अस और स्थावर जीवोंके गुरु तथा इन्द्रोंके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर अब हम किसी दूसरेको प्रणाम नहीं करेंगे ऐसा विचार कर जिन्होंने उत्कृष्ट दीक्षा धारण की थी, जिन्होंने योग्य तपश्चरणरूपी विभूतिको स्वीकार कर मोक्षरूपी लक्ष्मीके प्रति अपनी इच्छा प्रकट की थी और जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करनेवालोंमें सबसे मुख्य हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवके पुत्र हम सबके कल्याणके लिए हो ॥२२२॥ वह प्रसिद्ध श्रीमान् भरत अपने दूतोंके द्वारा जिन्हे नम्रता प्राप्त नहीं करा सका और न विभाग कर जिनके साथ समस्त पृथिवीका उपभोग ही कर सका तथा जिन्होंने निर्वाणके लिए अपने पिता श्री जिनेन्द्रदेवका आश्रय लिया ऐसे अभिमानरूपी धनको धारण करनेवाले और कर्मरूपी ईधनको जलानेवाले वे मुनिराज हम सब लोगोंके पापोंका नाश करे ॥२२३॥

इस प्रकार आर्पणामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षण महापुराण

संग्रहके भाषानुवादमें भरतराजके छोटे भाइयोंकी दीक्षाका वर्णन

करनेवाला चौतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

■

१ इन्द्र । २ जिन जुपन्ते सेवन्त इति जिनजुष तेषाम् । ३ चरं । 'प्रणिधि प्रार्थने चरे' इत्यभिधानात् ।

४ समर्थो नाभूत् । ५ आययन्ति स्म ।

## पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरस्यासीत् किञ्चित् चिन्ताकुलं मनः । दोर्बलिन्यनुनेतव्ये<sup>२</sup> यूनि दोर्दृपंशालिनि ॥१॥  
 अहो भ्रातृगणोऽस्माकं नाभिनन्दति<sup>३</sup> नन्दधुम्<sup>४</sup> । सनाभित्वादवध्यत्वं मन्यमानोऽयमात्मनः<sup>५</sup> ॥२॥  
 अवध्यं शतमित्यास्था नूनं भ्रातृशतस्य मे । यत्ता<sup>६</sup> प्रणामविमुखं गतवन्नः<sup>७</sup> प्रतीपताम्<sup>८</sup> ॥३॥  
 न तथाऽस्मादृशां खेदो भवत्यप्रणते द्विपि । दुर्गर्विते यथा ज्ञातिवर्गोऽन्तर्गहवर्तिनि ॥४॥  
 सुखैरनिष्टबागवहिदीपितैरतिधूमिताः । दहन्यलालवच्च स्वाः<sup>९</sup> प्रातिकूल्यानि लेखिताः ॥५॥  
 प्रतीपवृत्तयः<sup>१०</sup> कामं सन्तु बान्ये कुमारकाः । बाल्यात् प्रभृति वैऽस्माभिः स्वातन्त्र्येणोपलालिताः ॥६॥  
 युवा तु दोर्बली प्राज्ञः क्रमज्ञः प्रश्रयी<sup>११</sup> पटुः । कथं नाम गतोऽस्मासु विक्रिया<sup>१२</sup> सुजनोऽपि सन् ॥७॥  
 कथं च सोऽनुनेतव्यो<sup>१३</sup> बली मानधनोऽधुना । जयाङ्गं यस्य दोर्दृपः स्थाप्यते रणमुहूर्ति ॥८॥  
 सोऽयं भुजबली बाहुबलशाली मदोद्धतः । महागिब गजो माधनू दुर्ग्रहोऽनुनयैर्विना ॥९॥  
 न स सामान्यसंदेशैः प्रह्वीभवति दुर्मदी । ग्रहो दुष्ट इवाविष्टो<sup>१४</sup> मन्त्रविद्याचणैर्विना<sup>१५</sup> ॥१०॥

अथानन्तर भुजाओंके गर्वसे शोभायमान युवा बाहुबलीको वश करनेके लिए चक्रवर्ती-  
 का मन कुछ चिन्तासे आकुल हुआ ॥१॥ वह विचारने लगा कि यह हमारे भाइयोंका समूह  
 एक ही कुलमें उत्पन्न होनेसे अपने-आपको अवध्य मानता हुआ हमारे आनन्दका अभिनन्दन  
 नहीं करता है अर्थात् हमारे आनन्द-वैभवसे ईर्ष्या रखता है ॥२॥ हमारे भाइयोंके समूहका  
 यह विश्वास है कि हम सौ भाई अवध्य है इसीलिए ये प्रणाम करनेसे विमुख होकर मेरे शत्रु  
 हो रहे हैं ॥३॥ किसी शत्रुके प्रणाम न करनेपर मुझे वैसा खेद नहीं होता जैसा कि घरके  
 भीतर रहनेवाले मिथ्याभिमानी भाइयोंके प्रणाम नहीं करनेसे हो रहा है ॥४॥ अनिष्ट वचन-  
 रूपी अग्निसे उदीपित हुए मुखोंसे जो अत्यन्त धूमसहित हो रहे हैं और जो प्रतिकूलतारूपी  
 वायुसे प्रेरित हो रहे हैं ऐसे ये मेरे निजी भाई अलातचक्रकी तरह मुझे जला रहे हैं ॥५॥ जिन्हें  
 हमने बालकपनसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक खिला-पिलाकर बड़ा किया है ऐसे अन्य कुमार यदि  
 मेरे विरुद्ध आचरण करनेवाले हो तो खुशीसे हों परन्तु बाहुबली तरुण, बुद्धिमान्, परिपाटी-  
 को जाननेवाला, विनयी, चतुर और सज्जन होकर भी मेरे विषयमे विकारको कैसे प्राप्त हो  
 गया ? ॥६-७॥ जो अतिशय बलवान् है, मानरूपी धनसे युवत है, और विजयका अंग  
 स्वरूप जिसकी भुजाओंका बल युद्धके अग्रभागमें बड़ा प्रवासनीय गिना जाता है ऐसे इस बाहुबलीको  
 इस समय किस प्रकार अपने अनुकूल बनाना चाहिए ॥८॥ जो भुजाओंके बलसे शोभायमान  
 है और अभिमानरूपी मदसे उद्धत हो रहा है ऐसा यह बाहुबली किराी मदोन्मत्त बड़े हाथीके  
 समान अनुनय अर्थात् शान्तिसूचक कोमल वचनोंके बिना वश नहीं हो सकता ॥९॥ यह  
 अहंकारी बाहुबली सामान्य सन्देशोंसे वश नहीं हो सकता क्योंकि शरीरमें घुसा हुआ दुष्ट पिशाच

१ बाहुबलिकुमारे । २ कथीकुटुं योग्ये सति । ३ नाभिवर्द्धयति । ४ आनन्दम् । ५ भ्रातृगणः । ६ बहुजन  
 एकपुरुषेणावध्य इति बुद्ध्या । ७ भ्रातृगणस्य पं०, ल०, द० । ८ यस्मात् कारणात् । ९ प्राप्तम् ।  
 १० प्रतिकूलत्वम् । ११ बान्धवा । १२ प्रतिकूलवर्तना । १३ विनयवान् । १४ विकारम् । १५ रवीकार्यम् ।  
 १६ प्रवेक्षितः । १७ प्रतीतिः । समर्थैरित्यर्थः ।

शेषक्षत्रिययूनां च तस्य चास्त्यन्तरं<sup>१</sup> महत् । मृगसामान्यं मानायैर्वर्तुं<sup>२</sup> किं शक्यते हरिः ॥११॥  
 सोऽभेदो नीतिबुद्धत्वाद् दण्डसाध्यो न विक्रयी । नैष सामप्रयोगस्य विषयो विकृताशयः ॥१२॥  
 ज्वलत्येव स तेजस्वी स्नेहेनोपकृतोऽपि सन् । धृताहुतिप्रसेकेन यथेष्टाविर्मखानिलः<sup>३</sup> ॥१३॥  
 स्वभावपुरुषे चास्मिन् प्रयुक्तं साम नार्थक्यम् । वपुषि द्विरदस्येव योजितं<sup>४</sup> त्वच्यमौषधम् ॥१४॥  
 प्रायो व्याख्यात एवास्थ मावः शोषैः कुमारकैः । मृदाशविमुलैस्त्वक्पराज्यमोगैर्वनोन्मुखैः<sup>५</sup> ॥१५॥  
 भूयोऽप्यनुनयैरस्य परीक्षिष्यामहे सतम्<sup>६</sup> । तथाप्यग्रणते तस्मिन् विधेयं चिन्त्यमुत्तरम् ॥१६॥  
 शातिन्याजनिगूढान्तर्विक्रियो<sup>७</sup> निष्पत्तिक्रियः । सोऽन्तर्ग्रहोत्थितो वह्निरिवाशेषं दहेत् कुलम्<sup>८</sup> ॥१७॥  
 अन्तःप्रकृतिजः<sup>९</sup> कोपो विधाताय प्रयोर्मतः । तस्मात्प्राप्तसंघट्टजन्मा वह्निर्यथा गिरः ॥१८॥  
 तदास्तु प्रतिकर्तव्यं स बली वक्रतां श्रितः । क्रूरे ग्राह इवामुप्तिन् प्रशान्ते शान्तिरेव नः ॥१९॥  
 इति निश्चित्य कार्यञ्च दूतं मन्त्रविचारदम् । तत्पान्तं प्राहिणीचक्री निसृष्टार्थतयाऽन्वितम्<sup>१०</sup> ॥२०॥

मन्त्रविद्यामे चतुर पुरुषोके बिना बश नहीं हो सकता ॥१०॥ शेष क्षत्रिय युवाओमे और बाहुबलीमें बड़ा भारी अन्तर है, साधारण हरिण यदि पाशसे पकड़ लिया जाता है तो क्या उससे सिंह भी पकड़ा जा सकता है ? अर्थात् नहीं । भावार्थ—हरिण और सिंहमे जितना अन्तर है उतना ही अन्तर अन्य कुमारो तथा बाहुबलीमे है ॥११॥ वह नीतिमें चतुर होनेसे अमेद्य है, अर्थात् फोड़ा नहीं जा सकता, पराक्रमी है इसलिए युद्धमें भी बश नहीं किया जा सकता और उसका आशय अत्यन्त विकारयुक्त हो रहा है इसलिए उसके साथ शान्तिका भी प्रयोग नहीं किया जा सकता । भावार्थ—उसके साथ भेद, दण्ड और साम तीनों ही उपायोसे काम लेना व्यर्थ है ॥१२॥ जिस प्रकार यज्ञकी अग्नि घीकी आहुति पड़नेसे और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार वह तेजस्वी बाहुबली स्नेह अर्थात् प्रेमसे उपकृत होकर और भी अधिक प्रज्वलित हो रहा है—क्रोधित हो रहा है ॥१३॥ जिस प्रकार हाथीके शरीरपर लगायी हुई चमड़ाको कोमल करनेवाली ओषधि कुछ काम नहीं करती उसी प्रकार स्वभावसे ही कठोर रहनेवाले इस बाहुबलीके विषयमे साम उपायका प्रयोग करना भी कुछ काम नहीं देगा ॥१४॥ जो मेरी आज्ञासे विमुख हैं, जिन्होंने राज्यभोग छोड़ दिये हैं और जो वनमे जानेके लिए उन्मुख हैं ऐसे बाकी समस्त राजकुमारोने इसका अभिप्राय प्रायः प्रकट ही कर दिया है ॥१५॥ यद्यपि यह सब है तथापि फिर भी कोमल वचनोके द्वारा उसकी परीक्षा करेंगे । यदि ऐसा करनेपर भी नम्रीभूत नहीं हुआ तो फिर आगे क्या करना चाहिए इसका विचार करना चाहिए ॥१६॥ भाईपनेके कपटसे जिसके अन्तरगमें विकार छिपा हुआ है और जिसका कोई प्रतिकार नहीं है ऐसा यह बाहुबली घरके भीतर उठी हुई अग्निके समान समस्त कुलको भस्म कर देगा ॥१७॥ जिस प्रकार वृक्षोकी शाखाओके अग्रभागकी रगड़से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वतका विधात करनेवाली होती है उसी प्रकार भाई आदि अन्तरंग प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ प्रकोप राजाका विधात करनेवाला होता है ॥१८॥ यह बलवान् बाहुबली इस समय प्रतिकूलताको प्राप्त हो रहा है इसलिए इसका शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिए क्योंकि क्रूर ग्रहेके समान<sup>१</sup> इसके शान्त हो जानेपर ही मुझे शान्ति हो सकती है ॥१९॥ ऐसा निश्चय कर चक्रवर्तीने कार्यको जाननेवाले, मन्त्र करनेमे चतुर तथा निःसृष्टार्थतासे सहित

१ भेद । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्विभेदतादर्थ्ये' इत्यभिधानात् । २ सामान्यं कृत्वा । ३ जाट । 'आनायं पुंसि जाल स्यात्' इत्यभिधानात् । ४ यज्ञाग्नि । ५ कार्यकारी न । ६ त्वचे हितम् । ७ मम शासनम् । ८ वनाभिमुखे । ९ अभिप्राय । १० अन्तर्गूढविकार । ११ गृह गौरवम् । १२ स्वधनं जान । १३ असकृत् संपादितप्रयोजनतया ।



उचितं युग्यमारुहो वयसा नातिकर्कशः । अनुद्धतेन वेषेण प्रतस्ये स तदन्तिकम् ॥२१॥  
 आत्मनेव द्वितीयं क्षिप्रधेनानुगतो द्रुतम् । निजानुजीविलोकेन हस्तक्षम्वलं वाहिना ॥२२॥  
 सोऽन्वीषं वक्ति चेदेवमहं ब्रूयामकथनः । विगृह्य यदि स ब्रूयाद् विरुहं विग्रहं घटे ॥२३॥  
 सधि च पणवन्धं<sup>१०</sup> च कुप्यात् सोऽन्तरमेव नः । विक्रम्ये<sup>११</sup> क्षिप्रमेप्यामि<sup>१२</sup> विजिगीषावसंगते<sup>१३</sup> ॥२४॥  
 गुणयक्षिति संपत्तिविपत्ती स्वान्यपक्षयोः । स्वयं निगृहमन्त्रत्वादनिमैद्योऽन्यमन्त्रिभिः ॥२५॥  
 मन्त्रभेदमयाद् गृहं स्वपक्षेः<sup>१४</sup> प्रयाणके । युद्धापसारभूमीश्च<sup>१५</sup> स पश्यन् दूरमत्यगात्<sup>१६</sup> ॥२६॥  
 क्रमेण देशान् सिन्धुश्च<sup>१७</sup> देशसंधीश्च<sup>१८</sup> सोऽतियन्<sup>१९</sup> । प्रापत् संख्यातरात्रैस्तत् पुरं पोदनसाह्वयम् ॥२७॥  
 बहिःपुरमथासाद्य रम्याः सस्यवतीसुवः । पक्ष्मालिवनोद्देशान् स पश्यन् प्राप दन्दश्रुम्<sup>२०</sup> ॥२८॥  
 पश्यन् स्तम्बकरिस्तम्बान्<sup>२१</sup> प्रभूतफलं शालिनः । कृत्तरक्षान् जनैर्यत्वात् स मेने स्वाथिनं<sup>२२</sup> जनम् ॥२९॥  
 सकुटुम्बिभिः<sup>२३</sup> रक्षात्रै<sup>२४</sup> नृत्यक्षिरमिनन्दितान् । कैदारलाव<sup>२५</sup> संवर्षत्<sup>२६</sup> रथघोषान्यशामयत्<sup>२७</sup> ॥३०॥

द्रुतको बाहुबलीके समीप भेजा । भावार्थ—जिस द्रुतके ऊपर कार्य सिद्ध करनेका सब भार सौप दिया जाता है वह नि सृष्टार्थ द्रुत कहलाता है । यह द्रुत स्वामीके उद्देश्यकी रक्षा करता हुआ प्रसंगानुसार कार्य करता है । चक्रवर्ती भरतने ऐसा ही द्रुत बाहुबलीके पास भेजा था ॥२०॥ जो उमरमें न तो बहुत छोटा था और न बहुत बड़ा ही था ऐसा वह द्रुत अपने योग्य रथपर सवार होकर नम्रताके वेषसे बाहुबलीके समीप चला ॥२१॥ जिसने मार्गमें काम आने-वाली भोजन आदिकी समस्त सामग्री अपने साथ ले रखी है और जो प्रेम करनेवाला है ऐसे अपने ही समान एक सेवकसे अनुगत होकर वह द्रुत वहाँसे शीघ्र ही चला ॥२२॥ वह द्रुत मार्गमें विचार करता जाता था कि यदि वह अनुकूल वोलेंगा तो मैं भी अपनी प्रशंसा किये बिना ही अनुकूल वोलूँगा और यदि वह विरुद्ध होकर युद्धकी बात करेगा तो मैं युद्ध नहीं होनेके लिए उद्योग करूँगा ॥२३॥ यदि वह सन्धि अथवा पणवन्ध ( कुछ भेट देना आदि ) करना चाहेगा तो मेरा यह अन्तरंग ही है अर्थात् मैं भी यही चाहता हूँ, इसके सिवाय यदि वह चक्रवर्तीको जीतनेको इच्छा करेगा तो मैं भी कुछ पराक्रम दिखाकर शीघ्र वापस लौट आऊँगा ॥२४॥ इस प्रकार जो अपने पक्षकी सम्पत्ति और दूसरेके पक्षकी विपत्तिका विचार करता जाता था, जो अपने मन्त्रको छिपाकर रखनेसे दूसरे मन्त्रियोंके द्वारा कभी फोड़ा नहीं जा सकता था और जो मन्त्रभेदके डरसे पडावपर किसी एकान्त स्थानमें गुप्त रीतिसे शयन करता था ऐसा वह द्रुत युद्ध करने तथा उससे निकलनेकी भूमियोंको देखता हुआ बहुत दूर निकल गया ॥२५-२६॥ क्रम-क्रमसे अनेक देश, नदी और देशोंकी सीमाओंका उल्लंघन करता हुआ वह द्रुत बाहुबली-के पोदनपुर नामक नगरमें जा पहुँचा ॥२७॥ नगरके बाहर धानोसे युक्त मनोंहर पृथिवी-को पाकर और पके हुए चावलोके खेतोंको देखता हुआ वह द्रुत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुआ था ॥२८॥ जो बहुत-से फलोसे शोभायमान है और किसानोंके द्वारा बड़े यत्नसे जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धानके गुच्छोंको देखते हुए द्रुतने मनुष्योंको बड़ा स्वार्थी समझा था ॥२९॥ जो खेतोंको देखकर आनन्दसे नाच रहे हैं और खेत काटनेके लिए जिन्होंने हँसिया ऊँचे उठा रखे

१ वाहनम् । 'सर्वं स्याद् वाहनं धानं युग्यं पथं च धोरणम्' इत्यभिधानात् । २ अनुचरजनेन । ३ पाथेय । ४ अनुकूलम् । ५ अनुकूलवृत्त्या । ६ अचलाधमान । — सकच्छन् ल० । ७ कलहं कृत्वा । ८ नाशम् । ९ करीमि । १० निष्कप्रतिभम् । प्रासूतमित्यर्थः । ११ विक्रम कृत्वा । १२ आगच्छामि । १३ सधि न गते सति । १४ ध्यान । १५ युद्धापसारणयोग्यभूमि । १६ दूर-मत्यागात् ल०, प०, अ०, स० । १७ नदी । १८ देश-सीमन् । १९ अतीत्य गच्छन् । २० आनन्दम् । २१ ब्रीहियुच्छान् । 'धान्यं ब्रीहिं स्तम्बकरिं स्तम्बो गुच्छस्तूपादितः' इत्यभिधानात् । २२ बहल । २३ निजप्रयोजनवन्तम् । २४ कृषीवलैः । २५ उद्गतलविवं । २६ छेदन । २७ समर्प । २८ अमृणोत् ।

अचिच्छुक्रमुखाकृष्टकणाः<sup>१</sup> कणिशमङ्गरीः । शालिग्रहेषु<sup>२</sup> सोऽपश्यद् विटैर्मुक्ता इव स्त्रियः ॥३१॥  
 सुगन्धिकलमामोदसंवादि<sup>३</sup> मसि<sup>४</sup> तानिलैः । वासयन्तीदिशः शालिकण्ठिनीरवर्तन्तिताः ॥३२॥  
 पीनस्तनटोदसगगलदधर्माभ्युविन्दुमिः । मुक्तालकारजां लक्ष्मीं घटयन्तीनिजोरसि ॥३३॥  
 सरजोऽञ्जवरजःशोणसीमन्तरुचिरैः कंचैः । चूडामावध्वतीः स्वैरग्रन्थितोत्पलदामकैः ॥३४॥  
 दधतीरातपह्वान्तमुखपर्यन्तसंगिनीः । लावण्यस्येव कणिकाः श्रमघमाम्बुविप्रुषः ॥३५॥  
 शुक्रान् शुक्रच्छदच्छायैरुचिराद्गीस्तनांशुकैः । छोखुवतीः कलकानां सोऽपश्यच्छालिगोपिकाः ॥३६॥  
 भ्रमद्यात्रकुटीरयन्त्रचीत्करिरिभ्रुवाटकान् । फूत्तुर्वत इवाद्वाक्षीदतिपीडामयेन सः ॥३७॥  
 उपक्षेत्रं<sup>५</sup> च गोधेर्म्महोभोमरमन्थराः । वात्सकेनोत्सुका स्तन्यं<sup>६</sup> क्षरतीनिचचाय<sup>७</sup> सः ॥३८॥  
 इति रम्यान् पुरस्यास्य सीमान्तान् स विलोकयन् । मेने कृतार्थमात्मानं लब्धवतइर्शनोत्सवश्च ॥३९॥  
 उपशल्पमुब<sup>८</sup> । कुल्याप्रणालीप्रसूतोदकाः । शालीक्षुजीरकक्षेत्रैर्वृतास्तस्य<sup>९</sup> मनोऽहरन् ॥४०॥  
 बापीकूपतडागैश्च सारामैरम्बुजाकरैः । पुरस्यास्य बहिर्देशास्तेनादृश्यन्त हारिणः ॥४१॥  
 पुरगोपुरसुलङ्घ्य स निचायन् वणिकपथान् । तत्र<sup>१०</sup> पूगीकृतान् मेने रत्नराशौस्त्रिधीनिव ॥४२॥

हैं ऐसे कुटुम्बसहित किसानोंके द्वारा प्रशंसनीय, खेत काटनेके संघर्षके लिए बजती हुई तुरईके शब्दोंको भी वह दूत सुन रहा था ॥३०॥ कहीं धानके खेतोंमें वह दूत जिनके कुछ दाने तोताओं ने अपने मुखसे खींच लिये हैं ऐसी बालोंके समूह इस प्रकार देखता था मानो विट पुरुषोंके द्वारा भोगी हुई स्त्रियाँ ही हों ॥३१॥ जो सुगन्धित धानको सुगन्धिके समान सुवासित अपनी स्वासकी वायुसे दशो दिशाओंको सुगन्धित कर रही थी, जिन्होंने धानकी बालोंसे अपने कानोंके आभूषण बनाये थे, जो अपने वक्ष स्थलपर स्थूल स्तनतटके समीपमें गिरती हुई पसीनेकी बूँदोंसे मोतियोंके अलंकारसे उत्पन्न होनेवाली शोभाको धारण कर रही थी, जो परागसहित कमलकी रजसे भरे हुए माँगसे सुन्दर तथा अच्छी तरह गुँथी हुई नीलकमलकी मालाओंसे सुशोभित केशोंसे चोटियाँ बाँधे हुई थी, जो घामसे दुःखी हुए मुखपर लगी हुई सौन्दर्यके छोटे-छोटे टुकड़ोंके समान पसीनेकी बूँदोंको धारण कर रही थी, जिनके शरीर तोतेके पखोंके समान कान्तिवाली-हरी-हरी चोलियोंसे सुशोभित हो रहे थे, और जो मनोहर गन्ध करती हुई छो-छो करके तोताओंको उड़ा रही थी ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ उस दूतने देखी ॥३२-३६॥ जो चलते हुए कोल्हूओंके चीत्कार शब्दोंके बहाने अत्यन्त पीडासे मानो रो ही रहे थे ऐसे ईखके खेत उस दूतने देखे ॥३७॥ खेतोंके समीप ही, बड़े भारी स्तनके भारसे जो धीरे-धीरे चल रही हैं, जो बछड़ोंके समूहसे उत्कण्ठित हो रही हैं और जो दूध द्वारा रही हैं ऐसी नवीन प्रसूता गायें भी उसने देखी ॥३८॥ इस प्रकार इस नगरके मनोहर सीमाप्रदेशोंको देखता हुआ और उन्हें देखकर आनन्द प्राप्त करता हुआ वह दूत अपने आपको कृतार्थ मानने लगा ॥३९॥ जिनके चारों ओर नहरकी नालियोंसे पानी फैला हुआ है और जो धान ईख और ज़ीरेके खेतोंसे घिरी हुई है ऐसी उस नगरके बाहरकी पृथिवियाँ उस दूतका मन हरण कर रही थी ॥४०॥ बावडी, कुएँ, तालाब, बगीचे और कमलोंके समूहोंसे उस नगरके बाहरके प्रदेश उस दूतको बहुत ही मनोहर दिखाई दे रहे थे ॥४१॥ नगरके गोपुरद्वारको

१ धान्यावा । २ केदारपु । ३ परित्षर्षि । ४ उच्छ्वास । ५ शिखाम् । 'शिखा चूडा त्रेशपाश' इत्यभिधानात् । ६ इक्षुयन्त्रमूह । ७ क्षेत्रसमीपे । ८ गोनवसुतिकाः । 'बेनुः स्यान्नवप्रसूतिका' इत्यभिधानात् । ९ महापीनशरमन्दगमना । १० क्षीरम् । ११ ददर्श । 'चायम् पूजानिजामनयो' । १२ प्रागन्तभूमि । 'ग्रामान्तमुपशल्प्य स्याद्' इत्यभिधानात् । १३ दूतस्य । १४ वृद्धीकृतान् । 'पूतः नमृकवृद्धयो' इत्यभिधानात् । पूज्जीकृतानित्यर्थ । पूज्जीकृतान् ल० । पूज्जीकृतान् अ०, प०, न०, इ० ।

नृपोपायनवाजीमलालमदज्जलविलम् । कृतच्छटमिवालोक्त्य सोऽभ्यनन्दनृपाङ्गणम् ॥४३॥  
 स निवेदितवृत्तान्तो महादौवारपालकैः । नृपं नृपासनासीनमुपासी<sup>३</sup> दद्व वचोहरः ॥४४॥  
 पृथुवक्षस्तं तुङ्गमुकुटोदग्रशृङ्गकम् । जयलक्ष्मीविलासिन्याः क्रीडाशैलमिवैककम् ॥४५॥  
 ललाटपट्टमारुदपट्टवन्धं सुविस्तृतम् । जयश्रिय इवोद्गाहपट्टं दधत्सुचकैः ॥४६॥  
 दधानं तुलितशेषराजन्यकयशोधनम् । तुलाण्डमिवोददभूमारं भुजदण्डकम् ॥४७॥  
 मुखेन पङ्कजच्छायां नेत्राभ्यामुत्पलश्रियम् । दधानसर्पयना सन्नविजातिमजलाशयम् ॥४८॥  
 विभ्राणमतिविस्तीर्णं मनो वक्षश्च यद्वह्यम् । वाग्देवीकमलावत्योर्गतं नित्यावकाशताम् ॥४९॥  
 रक्षाद्वृत्तिपरिक्षेपं गुणग्रामं<sup>६</sup> महाफलम् । निवेशयन्तमात्माङ्गे मनःसु च महीयसाम् ॥५०॥  
 स्फुरदामरण्योद्योतच्छयाना निखिला दिशः । प्रतापज्वलनेनेव लिम्पन्तमलघीयसा ॥५१॥  
 मुखेन चन्द्रकान्तेन<sup>७</sup> पद्मरागेण<sup>८</sup> चारुणा । चरणेन विराजन्तं बज्रसारेण<sup>९</sup> वर्मणा ॥५२॥

उल्लंघन कर बाजारके मार्गोंको देखता हुआ वह दूत वहाँ इकट्ठी की हुई रत्नोंकी राशियोंकी निधियोंके समान मानने लगा ॥४२॥ जो राजाकी भेंटमें आये हुए चोड़े और हाथियोंकी लार तथा मज्जलसे कीचडसहित हो रहा था और उससे ऐसा मालूम होता था मानो उसपर जल ही छीटा गया हो ऐसे राजाके आँगनको देखकर वह दूत बहुत ही प्रसन्न हो रहा था ॥४३॥ जिसने मुख्य-मुख्य द्वारपालोंके द्वारा अपना वृत्तान्त कहला भेजा है ऐसा वह दूत राजसिंहासन-पर बैठे हुए महाराज बाहुबलीके समीप जा पहुँचा ॥४४॥ वहाँ जाकर उसने महाराज बाहु-बलीको देखा, उनका वक्ष स्थल किनारेके समान चौड़ा था, वे स्वयं ऊँचे थे और उनका मुकुट शिखरके समान उन्नत था इसलिए वे विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीके क्रीड़ा करनेके लिए एक अद्वितीय पर्वतके समान जान पड़ते थे—जिसपर यह बंधा हुआ है ऐसे लम्बे-चौड़े ललाटपट्टको धारण करते हुए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो विजयलक्ष्मीका उत्कृष्ट विवाहपट्ट ही धारण कर रहे हों । वे बाहुबली स्वामी, जिसने समस्त राजाओंका यशरूपी धन तोल लिया है और जिसने समस्त पृथिवीका भार उठा रखा है ऐसे तराजूके दण्डके समान भुजदण्डको धारण कर रहे थे—यद्यपि वे मुखसे कमलकी और नेत्रोंसे उत्पलकी शोभा धारण कर रहे थे तथापि उनके सपीप न तो विजाति अर्थात् पक्षियोंकी जातियाँ थी और न वे स्वयं जलाशय अर्थात् सरोवर ही थे । भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है इसलिए विरोधका परिहार इस प्रकार करना चाहिए कि वे यद्यपि मुख और नेत्रोंसे कमल तथा उत्पलकी शोभा धारण करते थे तथापि उनके पास विजाति अर्थात् वर्णसंकर लोगोंका निवास नहीं था और न वे स्वयं जलाशय अर्थात् जड़ आशयवाले मूर्ख ही थे । वे बाहुबली जिनपर क्रमसे सरस्वती देवी और लक्ष्मीदेवीका निरन्तर निवास रहता था ऐसे अत्यन्त विस्तृत ( उदार और लम्बे चौड़े ) मन और वक्ष स्थलको धारण कर रहे थे—वे, प्रजाकी रक्षाके कारण तथा बड़े-बड़े फल देनेवाले गुणोंके समूहको अपने शरीरमें धारण कर रहे थे और अन्य महापुरुषोंके मनमें धारण कराते थे—वे अपने देदीप्यमान आभूषणोंकी कान्तिके छलसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने विशाल प्रतापरूपी अग्निसे समस्त दिशाओंको लिप्त ही कर रहे हों । वे चन्द्रकान्त मणिके समान मुखसे, पद्मराग मणिके समान सुन्दर चरणोंसे और बज्रके समान सुदृढ़ अपने

१ परनृपैः । प्रामृतीकृतम् । २ कर्दमितम् । ३ उपागमम् । ४ सानुम् । ५ अनासन्नहीनजातिम् । पक्षे पक्षिजातिम् । ६ अमन्दबुद्धिम् । ७ सरस्वतीलक्ष्यम् । ८ गुणसमूहम् । निगम ( गीत ) मिति ध्वनि । ९ चन्द्रवत् कान्तेन । १० चन्द्रकान्तशिलयेति ध्वनि । ११ पद्मवदग्नेन । पद्मरागरत्नेनेति ध्वनि । १२ वज्रवत् स्थिरावयवेन । बज्रान्त सारेणेति ध्वनि ।

हरिन्मणिसयस्तम्मसिचैकं हरितस्विषम् । लोकावष्टम्भमाधातुं<sup>१</sup> सृष्टमाद्येन वेधसा<sup>२</sup> ॥५३॥  
<sup>३</sup>सर्वज्ञसंगतं तेजो दधानं क्षात्रमूर्जितम् । नूनं<sup>४</sup> तेजोमयैरेव घटितं परमाणुभिः ॥५४॥  
 तमित्यालोकयन् दूराद् धाम्नः पुञ्जमिवोच्छ्लिखन् । चचाल प्रणिधिः<sup>५</sup> किञ्चित् प्रणिधानां शिषीशितुः ॥५५॥  
 प्रणमंश्चरणान्येव दधद्वरानतं शिरः । ससत्कारं कुमारेण नातिदूरे न्यवेशि सः ॥५६॥  
 तः शासनहरं जिष्णोर्निविष्टसुवितासने । कुमारो निजगाढेति स्मितंशून्यं विप्वगाकिरन् ॥५७॥  
 चिराच्चक्रधरस्याद्य वयं<sup>६</sup> चिन्त्यत्वमागताः । भद्रं भद्रं<sup>७</sup> जगद्गुरुर्वदुचिन्त्यस्य चक्रिणः ॥५८॥  
 विश्वक्षेत्रजयोद्योगमद्यापि न समापयन्<sup>८</sup> । स कचिद्<sup>९</sup> भूभुजां मर्तुः कुन्ती दक्षिणो भुजः ॥५९॥  
 श्रुता विश्वदिशः सिद्धा जिताश्च निखिला नृपाः । कर्तव्यशेषमस्य<sup>१०</sup> य किमस्ति वद नास्ति वा ॥६०॥  
 इति प्रशान्तमोजसिञ्च वचःनारं मिताश्रयम् । वदन् कुमारो दूतस्य वचनावसरं<sup>११</sup> न्यधात् ॥६१॥  
 अयोपाचक्रमं वन्तु वचो हारिं<sup>१२</sup> वचोहरः । वागर्थविषयं संपिण्ड्य<sup>१३</sup> दर्शयन् दशनांशुभिः<sup>१४</sup> ॥६२॥  
 त्वद्वचः<sup>१५</sup> संमुखीनेऽस्मिन् कार्यं सुन्यकमीक्ष्यते । असंस्कृतोऽपि<sup>१६</sup> यत्रार्थं प्रत्यक्षयति<sup>१७</sup> सादृशः<sup>१८</sup> ॥६३॥  
 वयं वचोहरा नाम प्रभोः शासनहारिणः । गुणदोषविचारेषु मन्दास्तच्छन्दवर्तिनः<sup>१९</sup> ॥६४॥

शरीरसे बहुत ही अधिक सुसोभित हो रहे थे । उनकी कान्ति हरे रगकी थी इसलिए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके द्वारा लोकको सहारा देनेके लिए बनाया हुआ हरित मणियोका एक खम्भा ही हो । समस्त शरीरमे फैले हुए अतिशय श्रेष्ठ क्षात्रतेज-को धारण करते हुए महाराज बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो तेजस्वरूप परमाणुओसे ही उनकी रचना हुई हो । जिसकी ज्वाला ऊपरकी ओर उठ रही है ऐसे तेजके पुंजके समान महाराज बाहुबलीको दूरसे देखता हुआ वह चक्रवर्तीका दूत अपने ध्यानसे कुछ विचलित-सा हो गया अर्थात् घबड़ा-सा गया ॥४५-५५॥ दूरसे ही झुके हुए शिरको धारण करनेवाले उस दूतने जाकर कुमारके चरणोमे प्रणाम किया और कुमारने भी उसे सत्कारके साथ अपने समीप ही बैठाया ॥५६॥ कुमार बाहुबली अपने मन्द हास्यकी किरणोको चारो ओर फैलाते हुए योग्य आसनपर बैठे हुए उस भरतके दूतसे इस प्रकार कहने लगे ॥५७॥ कि आज चक्रवर्ती-ने बहुत दिनमे हम लोगोका स्मरण किया, हे भद्र, जो समस्त पृथिवीके स्वामी है और जिन्हें बहुत लोगोकी चिन्ता रहती है ऐसे चक्रवर्तीकी कुशल तो है न ? ॥५८॥ जिसने समस्त क्षत्रियोको जीतनेका उद्योग आज तक भी समाप्त नहीं किया है ऐसे राजाधिराज भरतेश्वर-की वह प्रसिद्ध बाहिनी भुजा कुशल है न ? ॥५९॥ सुना है कि भरतने समस्त दिशाएँ बश कर ली हैं और समस्त राजाओको जीत लिया है । हे दूत, कहो अब भी उनको कुछ कार्य बाकी रहा है या नहीं ? ॥६०॥ इस प्रकार जो अत्यन्त शान्त हैं, तेजस्वी हैं, साररूप हैं, और जिनमे थोड़े अक्षर हैं ऐसे वचन कहकर कुमारने दूतको कहनेके लिए अवसर दिया ॥६१॥

तदनन्तर दाँतोकी किरणोसे शब्द और अर्थ दोनोको मिलाकर दिखलाता हुआ दूत मनोहर वचन कहनेके लिए तैयार हुआ ॥६२॥ वह कहने लगा कि हे प्रभो, आपके इस वचन-रूपी दर्पणमे आगेका कार्य स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है क्योंकि उसका अर्थ मुख-जैसा मूर्ख भी प्रत्यक्ष जान लेता है ॥६३॥ हे नाथ, हम लोग तो दूत हैं केवल स्वामीका समाचार ले जाने-

१ आधारम् । २ आदिब्रह्मणेत्यर्थ । ३ सप्ताङ्ग अथवा सर्वशरीर । ४ इव । ५ धाम्ना तेजसा । ६ चर । ७ गुणदोषविचारानुस्मरण प्रणिधानम्, उत्समात् । अग्निप्रायादित्यर्थ । ८ चिन्तितु योग्याश्चिन्त्या तेषा भाव चिन्तयन्तम् । ९ कुशलम् । १० क्षेत्र-इ० । ११ सम्पूर्णं न कुर्वन् । १२ किम् । १३ वचनस्यावसरम् । १४ मनीषाम् । १५ पिण्डीकृत्य । १६ दन्तकान्तिभिः । १७ तव वाग्दर्पणे । १८ संस्काररहित । १९ प्रत्यक्ष करोति । २० भद्विध । २१ चक्रिणश्चरितिन । - च्छन्दचारिण ल०, द० ।

ततश्चक्रधरेणायं यदादिष्टं<sup>१</sup> प्रियोचितम् । प्रयोक्तृगौरवादेव तद्वाह्यं साप्ससाधु वा ॥६५॥  
 गुरोर्वचनमादेयमविकल्प्येति<sup>२</sup> आ श्रुतिः । तत्प्राप्त्यादेमुप्याह्रा संविधेया त्वयाधुना ॥६६॥  
 ऐश्वर्याक<sup>३</sup> प्रथमो राज्ञो सरतो भवदग्रजः । परिक्रान्ता मही कृत्स्ना येन नामयताऽमरान् ॥६७॥  
 गङ्गाद्वारं समुलङ्घय यो रथेनाप्रतिष्कशः<sup>४</sup> । चलदाविद्धकलोलं मकरोन्मकरालयम् ॥६८॥  
 शरव्याजः प्रतापाग्निज्वलन्त्यस्य जलेऽम्बुधेः । पपौ न केवलं वाह्निं मानं च त्रिदिवीकसाम् ॥६९॥  
 मा नाम प्रणतिं यस्य ब्राजिषुर्बुसदः कथम् । आकृष्टाः शरपासेन प्राध्वकृत्य<sup>५</sup> गले बलात् ॥७०॥  
 शरव्यमकरोधस्य शरपातो महाम्बुधौ । प्रसभं भगधावासं क्रान्तद्वादशयोजनः ॥७१॥

विजयार्द्धाचले यस्य विजयो घोषितोऽमरैः । जयतो विजयार्द्धं शरेणामोघपातिना ॥७२॥

कृतमालादयो देवा गता यस्य विधेयताम्<sup>६</sup> । कृतमस्योमयश्रेणीनं<sup>७</sup> भोगजयवर्णनैः ॥७३॥

गुहामुखमपध्वान्तं<sup>८</sup> व्यतीत्य जयसाधनैः । उत्तरां विजयार्द्धद्वितीयं व्यगाहत तां महीम् ॥७४॥

म्लेच्छानिच्छितोऽप्याज्ञां प्रच्छाद्य<sup>९</sup> जयसाधनैः । सेनान्या यो जयं प्राप बलादाच्छिद्यं<sup>१०</sup> तद्धनम् ॥७५॥

वाले हैं हम लोग सदा स्वामीके अभिप्रायके अनुसार चलते हैं तथा गुण और दोषोंका विचार करनेमें भी असमर्थ हैं ॥६४॥ इसीलिए हे आर्य, चक्रवर्तीने जो प्रिय और उचित आज्ञा दी है वह अच्छी हो या बुरी, केवल कहनेवालेके गौरवसे ही स्वीकार करने योग्य है ॥६५॥ गुरुके वचन बिना किसी तर्क-वितर्कके मान लेना चाहिए यह जो शास्त्रका वचन है उसे प्रमाण मानकर इस समय आपको चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकार कर लेनी चाहिए ॥६६॥ वह भरत इक्ष्वाकुवशमे उत्पन्न हुआ है अथवा इक्ष्वाकु अर्थात् भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, राजाजोमे प्रथम है, आपका बड़ा भाई है और इसके सिवाय देवोंसे भी नमस्कार कराते हुए उसने समस्त पृथिवी अपने वश कर ली है ॥६७॥ उसने गंगाद्वारको उल्लंघन कर अकेले ही रथपर बैठकर समुद्रको जिसकी चंचल लहरे एक दूसरेसे टकरा रही है ऐसा कर दिया ॥६८॥ बाणके बहाने-से इसकी प्रतापरूपी अग्नि समुद्रके जलमें भी प्रचलित रहती है, उस अग्निने केवल समुद्र-को ही नहीं पिया है किन्तु देवोंका मान भी पी डाला है ॥६९॥ भला, देव लोग उसे कैसे न नमस्कार करेंगे ? क्योंकि उसने बाणरूपी जालसे गलेमें बाँधकर उन्हें जबरदस्ती अपनी ओर खींच लिया था ॥७०॥ वारह योजन दूर तक जानेवाले उसके बाणने महासागरमें रहनेवाले मागधदेवके निवासस्थानको भी जबरदस्ती अपना निशाना बनाया था ॥७१॥ व्यर्थ न जाने-वाले बाणके द्वारा विजयार्ध पर्वतके स्वामी विजयार्धदेवको जीतनेवाले उस भरतकी विजय-घोषणा देवोंने भी की थी ॥७२॥ कृतमाल आदि देव उसकी अधीनता प्राप्त कर चुके हैं और उत्तर दक्षिण दोनों श्रेणियोंके विद्याधरोने भी उसकी जयघोषणा की है ॥७३॥ जिसका अन्ध-कार दूर कर दिया गया है ऐसे गुफाके दरवाजेकी अपनी विजयी सेनाके साथ उल्लंघन कर उसने विजयार्ध पर्वतकी उत्तर दिशाकी भूमिपर भी अपना अधिकार कर लिया है ॥७४॥ म्लेच्छ लोग यद्यपि उसकी आज्ञा नहीं मानना चाहते थे तथापि उसने सेनापतिके द्वारा अपनी

१ उपदेशितम् । २ भेदमकृत्वा । ३ इक्ष्वाको सकाशात् संजातः । ४ असहाय । ५ परस्परताडितः । अथवा कुटिल । 'आविद्ध कुटिल भुग्न वल्लित वक्रम्' इत्यभिधानात् । ६ अगु । मादुयोगादडभावः । ७ बन्धनं कृत्वा । 'प्राघ्व बन्धे' इति सूत्रेण तिसंज्ञाया 'तिदुस्त्वत्याहक्षन्त्यस्त तत्पुरुष' इति समासः, 'समासे को नञ् प्य' इति क्त्वाप्रत्ययस्य प्यादेशः । ८ लक्ष्यम् । ९ विनयग्राहिताम् । 'विनेयो विनयग्राही' इत्यभिधानात् । १० पर्याप्तम् । ११ श्रेणीभोगैर्जयवर्णनम् द०, इ० । श्रेणिभोगैर्जयवर्णनं, ल० । १२ अपगताधिकारं कृत्वा । १३ सवेष्टम् । १४ बलादाकृत्यम् ।

कृतोऽभिषेको यस्यारादभ्येत्य सुरसत्तमैः । यस्याचलेन्द्रकूटेषु स्थलपञ्चायितं यशः ॥७६॥  
 रत्नावैः पयुपासतां<sup>१</sup> य स्वधुन्यधिदेवते<sup>२</sup> । वृषमाद्रितटे येन टङ्कोत्कीर्णं कृतं यशः ॥७७॥  
 घटदासीकृता लक्ष्मीः सुराः किङ्करा गताः । यस्य स्वाधीनरत्नस्य निधयः सुवृत्ते धनम् ॥७८॥  
 स यस्य जयसैन्यानि विजित्य निखिला दिग्ग । अगन्ति स्माखिलाभ्यो धितटान्तवनभूमिषु ॥७९॥  
 स्वामायुष्मन् जयन्मान्यो मानयन् कुशलाशिषा । समादिशन्ति चक्राङ्कां यथश्चधिराजताम् ॥८०॥  
 मदीयं राज्यमाक्रान्तनिखिलद्वीपसागरम् । राजतेऽस्मद्विग्रहात्रा न बाहुबलिना विना ॥८१॥  
 ताः संपदस्तदैश्वर्यं ते भोगाः स परिच्छद् । ये समं बन्धुभिर्मुक्ताः सविमक्तसुरोदयैः ॥८२॥  
 अन्यच्च नमिताशेषनृसुरासुरखेचरम् । नाधिराज्य विभाल्यस्य प्रणामविमुखे स्वयि ॥८३॥  
 न दुनोति मनस्वीर्न रिपुरग्रणतस्तथा । बन्धुरग्रणमन् गर्वाद् दुर्विदग्धो यथा प्रमुग्ध ॥८४॥  
<sup>३</sup>तदुपेत्य प्रणामेन पूज्यतां प्रभुरक्षमी । प्रभुप्रणतिरेवेष्टा प्रसूतिर्ननु संपदाम् ॥८५॥  
 अवन्ध्यशासनस्यास्य शासनं<sup>४</sup> ये विमन्वते<sup>५</sup> । शासनं<sup>६</sup> द्विषतां तेषां चक्रमप्रतिशासनम् ॥८६॥  
 प्रचण्डदण्डनिर्यातं निपातपरिखण्डितान् । तदाज्ञाखण्डनन्यग्रान् पश्यन्तान्<sup>७</sup> मण्डलाधिपान् ॥८७॥

सेनासे हराकर और जवरदस्ती उनका धन छीनकर उनपर विजय प्राप्त की है ॥७५॥ अच्छे-  
 अच्छे देवोंने आकर उसका अभिषेक किया है और उसका निर्मल यश बड़े-बड़े पर्वतोंके शिखरों-  
 पर स्थलकमलोकें समान सुशोभित हो रहा है ॥७६॥ गंगा-सिन्धु दोनों नदियोंके देवताओं-  
 ने रत्नोंके अर्घों के द्वारा उसकी पूजा की है तथा वृषभाचलके तटपर उसने अपना यश टांकीसे  
 उधेरकर लिखा है ॥७७॥ उसने लक्ष्मीको घटदासी अर्थात् पानी भरनेवाली दासीके समान  
 किया है, देव उसके सेवक हो रहे हैं, समस्त रत्न उसके स्वाधीन हैं और निधियाँ उसे धन प्रदान  
 करती रहती हैं ॥७८॥ और उसकी विजयी सेनाओंने समस्त दिशाओंको जीतकर  
 सब समुद्रोंके किनारेके वनोंकी भूमिमें भ्रमण किया है ॥७९॥ हे आयुष्मन्, जगत्में माननीय  
 वही महाराज भरत अपने चक्रवर्तीपनेको प्रसिद्ध करते हुए कल्याण करनेवाले आशीर्वादसे  
 आपका सम्मान कर आज्ञा कर रहे हैं ॥८०॥ कि समस्त द्वीप और समुद्रों तक फैला हुआ, यह  
 हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुबलीके बिना शोभा नहीं देता है ॥८१॥ सम्पत्तियाँ वही  
 हैं, ऐश्वर्य वही है, भोग वही है और सामग्री वही है जिसे भाई लोग सुखके उदयको बाँटते हुए  
 साथ-साथ उपभोग करें ॥८२॥ दूसरी एक बात यह है कि आपके प्रणाम करनेसे विमुख  
 रहनेपर जिसमें समस्त मनुष्य, देव, धरणेन्द्र और विद्याधर नमस्कार करते हैं ऐसा उनका  
 चक्रवर्तीपना भी सुशोभित नहीं होता है ॥८३॥ प्रणाम नहीं करनेवाला शत्रु स्वामीके मनको  
 उतना अधिक दुखी नहीं करता है जितना कि अपनेको झूठमूठ चतुर माननेवाला और  
 अभिमानसे प्रणाम नहीं करनेवाला भाई करता है ॥८४॥ इसलिए आप किसी अपराधकी  
 क्षमा नहीं करनेवाले महाराज भरतके समीप जाकर प्रणामके द्वारा उनका सत्कार कीजिए  
 क्योंकि स्वामीको प्रणाम करना अनेक सम्पदाओंको उत्पन्न करनेवाला है और यही सबको  
 इष्ट है ॥८५॥ जिसकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती ऐसे उस भरतकी आज्ञाका जो कोई  
 भी उल्लंघन करते हैं उन शत्रुओंका शासन करनेवाला उसका वह चक्ररत्न है जिसपर स्वयं  
 किसीका शासन नहीं चल सकता ॥८६॥ आप भरतकी आज्ञाका खण्डन करनेसे व्याकुल  
 हुए इन मण्डलाधिपति राजाओंको देखिए जो भयकर दण्डरूपी वज्रके गिरनेसे खण्ड-खण्ड

१ अपूजयताम् । २ गंगासिन्धु देव्यौ । ३ पूजयन् । ४ चक्रिण । ५ तत्कारणात् । ६ आज्ञाम् । ७ अवज्ञा  
 कुर्वन्ति । ८ शिक्षकम् । ९ दण्डरत्नाणि । १० पश्यन्तान् ब०, अ०, प०, द०, स०, इ० ।

तदेत्य द्रुतमायुष्मेन् पूरयास्य मनोरथम् । युवयोस्सु सांगत्याद मंगलं निम्निलं जगत् ॥८८॥  
 इति तद्वचनस्थान्ते कृत्नमन्दस्मितो युवा । धीरं वचो गर्भारार्यमाचक्षते विचक्षणः ॥८९॥  
 साधूर्कं साधुवृत्तत्वं त्वया वदयता प्रभोः । वाचस्पत्यं तदेवंधं पोषकं स्वमतस्य यत् ॥९०॥  
 सामं दृग्गयना नाम भेददण्डा विशेषतः । प्रयुज्जानेन साध्येऽर्थे स्वातन्त्र्यं वृणितं त्वया ॥९१॥  
 स्वतन्त्रस्य प्रभोः सत्यं स त्वमन्तश्चरश्चरः । अन्यथा कथमेवास्व व्यनक्ष्यन्तर्गतं यनम् ॥९२॥  
 'निस्पृष्टाथयताऽस्मान्' निर्दिष्टस्त्वं निर्धात्रिणा । विनिष्टोऽग्नि न वैनिष्टं परममत्सृगाद्वज्रम् ॥९३॥  
 अयं खलु खलाचरो यद्वलाकारदर्शनम् । स्वगुणोत्कीर्तनं दोषोद्भावनं च परेषु यत् ॥९४॥  
 विवृणोति खलोऽन्येषां दोषान् स्वांश्च गुणान् स्वयम् । संवृणोति च दोषान् स्वान् परकीयान् गुणानपि ॥९५॥  
 अनिराकृतसंतापां सुमनोभिः<sup>१०</sup> समुज्जिताम् । फलहीनां श्रयत्यज्ञः<sup>११</sup> खलतां<sup>१२</sup> खलतामिव<sup>१३</sup> ॥९६॥  
 सतामसंभतां विष्वगाचितां विरमैः फलैः । मन्थे दुःखलतामिनां खलतां लोकतापिनीम् ॥९७॥  
 सांप्रदानं<sup>१४</sup> सामादौ प्रयुक्तमपि बाध्यने । पराम्यां भेददण्डाभ्यां न्याय्यं<sup>१५</sup> विप्रतिपेक्षिनि<sup>१६</sup> ॥९८॥

हो रहे हैं ॥८७॥ इसलिए हे दोषायु कुमार, आप जोब्र ही चलकर इसके मनोरथ पूर्ण कीजिए । आप दोनों भाइयोंके मिलापसे यह समस्त संसार मिलकर रहेगा ॥८८॥ इस प्रकार उस दूतके - कह चुकनेके बाद चतुर और जवान बाहुवली कुमार कुछ मन्द-मन्द हँसकर गम्भीर अर्थसे भरे हुए धीर वीर वचन कहने लगे ॥८९॥ वे बोले कि हे दूत, अपने स्वामी-की साधु वृत्तिको प्रकट करते हुए तूने सब सच कहा है क्योंकि जो अपने मतकी पुष्टि करने-वाला हो वही कहना ठीक होता है ॥९०॥ साम अर्थात् गान्ति दिखलाते हुए तूने विशेषकर भेद और दण्ड भी दिखला दिये हैं तथा उनका प्रयोग करते हुए तूने यह भी बतला दिया कि तू अपना अर्थ सिद्ध करनेमें कितना स्वतन्त्र है ? ॥९१॥ इस प्रकार कहनेवाला तू सचमुच ही अपने स्वतन्त्र स्वामीका अन्तरंग दूत है, यदि ऐसा न होता तो तू उसके हृदयगत अभि-प्रायको कैसे प्रकट कर सकता था ॥९२॥ चक्रवर्तिनि तुझपर समस्त कार्यभार सौंपकर मेरे पास भेजा है, यद्यपि तू चतुर है तथापि इस प्रकार दूसरेका मर्मछेदन करना चतुराई नहीं है ॥९३॥ अपनी जबरदस्ती दिखलाना वास्तवमें दुष्टोंका काम है तथा अपने गुणोंका वर्णन करना और दूसरोंमें दोष प्रकट करना भी दुष्टोंका ही काम है ॥९४॥ दुष्ट पुरुष, दूसरेके दोष और अपने गुणोंका स्वयं वर्णन किया करते हैं तथा अपने दोष और दूसरेके गुणोंको छिपाते रहते हैं ॥९५॥ खलता अर्थात् दुष्टता खलता अर्थात् आकाशकी बेलके समान है क्योंकि जिस प्रकार आकाशकी बेलसे किसीका सन्ताप दूर नहीं होता उसी प्रकार दुष्टतासे किसीका सन्ताप दूर नहीं होता, जिस प्रकार आकाशकी बेल सुमन अर्थात् फूलोसे गून्थ होती है उसी प्रकार दुष्टता भी सुमन अर्थात् विद्वान् पुरुषोसे गून्थ होती है और जिस प्रकार आकाशकी बेल फलरहित होती है उसी प्रकार दुष्टता भी फलरहित होती है अर्थात् उससे किसीको कुछ लाभ नहीं होता, ऐसी इस दुष्टताका केवल मूल लोभ ही आश्रय लेते हैं ॥९६॥ जो सज्जन पुरुषोंको इष्ट नहीं है, जो सब ओरसे विरस अर्थात् नीरस अथवा विद्वेषरूपी फलोंसे व्याप्त है तथा लोगोंको सन्ताप देनेवाली है ऐसी इस खलता-दुष्टताको मैं दुःखलता अर्थात् दुःखकी बेल ही समझता हूँ ॥९७॥ यदि न्यायपूर्ण विरोध करनेवाले पुरुषके विषय-

१ तत् कारणात् । २ वचः । ३ यान्तिम् । ४ परब्रह्मकरणादिप्रयोजने । ५ हृदये वर्तमान । ६ यवतं शरीरम् । ७ बुद्धिम् । ८ असङ्कल्पपादितप्रयोजनतया । ९ नियुक्त । १० कुसुमे । ११ शोभनहृदयैव । १२ श्रयत्यज्ञः । ल०, द० । १३ दुर्जनत्वम् । १४ आकाशलतामिव । १५ दानसहितम् । १६ न्यायान्विते पुरुषे । १७ भेददण्डाभ्यां विकारं गच्छति सति ।

यथा<sup>१</sup> विषयमेवैषामुपायानां नियोजनम् । सिद्धयङ्गं तद्विपर्यासः<sup>२</sup> फलिष्यति परामयम् ॥९८॥  
 नैकान्तसामनं साम समाज्जातं सहोष्मणि<sup>३</sup> । स्निग्धेऽपि हि जने तसे सर्पिषीवाम्बुसेवनम् ॥१००॥  
 उपप्रदानमप्येवं प्रार्थ<sup>४</sup> मन्ये सहौजसि । समित्सहस्रदानेऽपि दीप्तस्याग्नेः कुतः शमः ॥१०१॥  
 लोहस्थेवोपतप्तस्य<sup>५</sup> मृदुता न मनस्विनः । दण्डोऽप्यनुनयग्राह्यो सासजे न मृगद्विषि<sup>६</sup> ॥१०२॥  
 ततो<sup>७</sup> व्यत्यासयन्नेना<sup>८</sup> नुपायाननुपायवित् । स्वर्थं प्रयोगवैगुण्यात् सीदत्येव न मादयः<sup>९</sup> ॥१०३॥

मे पहले कुछ देनेके विधानके साथ सामका प्रयोग किया जावे और बादमे भेद तथा दण्ड उपाय काममे लाये जावे तो उनके-द्वारा पहले प्रयोगमें लाया हुआ साम उपाय बाधित हो जाता है । भावार्थ—यदि न्यायवान् विरोधीके लिए पहले कुछ देनेका प्रलोभन देकर साम अर्थात् शान्ति-का प्रयोग किया जावे और बादमे उसीके लिए भेद तथा दण्डकी धमकी दी जावे तो ऐसा करने-से उसका पहले प्रयोग किया हुआ साम उपाय व्यर्थ हो जाता है क्योंकि न्यायवाद् विरोधी उसकी कूटनीतिको सहज ही समझ जाता है ॥९८॥ साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारो उपायोंका यथायोग्य स्थानमे नियोग करना कार्यसिद्धिका कारण है और विपरीत नियोग करना पराभवका कारण है । भावार्थ — जो जिसके योग्य है उसके साथ वही उपाय काममे लानेसे सफलता प्राप्त होती है और विरुद्ध उपाय काममे लानेसे तिरस्कार प्राप्त होता है ॥९९॥ प्रतापशाली पुरुषके साथ साम अर्थात् शान्तिका प्रयोग करना एकान्तरूपसे शान्ति करनेवाला नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रतापशाली मनुष्य स्निग्ध अर्थात् स्नेही होनेपर भी यदि क्रोधसे उत्तप्त हो जावे तो उसके साथ शान्तिका प्रयोग करना स्निग्ध अर्थात् चिकने किन्तु गरम धीमे पानी सीचनेके समान है । भावार्थ — जिस प्रकार गरम धीमे पानी डालनेसे वह शान्त नहीं होता बल्कि और भी अधिक चटपटाने लगता है उसी प्रकार क्रोधी मनुष्य शान्तिके व्यवहारसे शान्त नहीं होता बल्कि और भी अधिक बड़बड़ाने लगता है ॥१००॥ इसी प्रकार अतिशय प्रतापशाली पुरुषको कुछ देनेका विधान करना भी मैं नि सार समझता हूँ क्योंकि हजारो समिधाएँ ( लकड़ियाँ ) देनेपर भी प्रज्वलित अग्नि कैसे शान्त हो सकती है । ॥१०१॥ जिस प्रकार लोहा तपानेसे नरम नहीं होता उसी प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट देनेसे नरम नहीं होता इसलिए उसके साथ दण्डका प्रयोग करना निरर्थक है क्योंकि अनुनय विनय कर पकड़ने योग्य हाथीपर ही दण्ड चल सकता है सिंहपर नहीं । विणेप—लोहा गरम अवस्था-मे नरम हो जाता है इसलिए यहाँ लोहाका उदाहरण व्यतिरेकरूपसे मानकर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि जिस प्रकार तपा हुआ लोहा नरम हो जाता है उस प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट-मे पड़कर नरम नहीं होता इसलिए उसपर दण्डका प्रयोग करना व्यर्थ है । अरे, दण्ड भी प्रेम पुचकार कर पकड़ने योग्य हाथीपर ही चल सकता है न कि सिंहपर भी ॥१०२॥ इसलिए इन साम दान आदि उपायोका विपरीत प्रयोग करनेवाले और इसलिए ही उपाय न जाननेवाले आप जैसे लोग इन चारो उपायोके प्रयोगका ज्ञान न होनेसे स्वयं दुःखी होते हैं ॥१०३॥

१ सामभेदादि योग्यपुरुषमनतिक्रमः । २ वचननियोजनम् । ३ सप्रतापे । ४ एतत्सदृशम् । ५ इन्धनसमूहः ।

६ उपतप्तस्य लोहस्य यथा मृदुतास्ति तथा उपतप्तस्य मनस्विनो मृदुता नास्तीत्यर्थः । ७ सिंहः । ८ वैपरीत्येन योग्यम् । ९ शेतानु-ल०, द०, अ०, प०, स० । समाधीन् । १० भवादृश द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० ।



सात्राऽपि दुःकां साध्या वषमिद्युषसंहते । तत्रांसेकं प्रयुज्जानो व्यक्तं सुरवायते भवान् ॥१०४॥  
 वषसाधिकं हृथ्यत्र न ज्ञाध्या भरताधिपः । जरथपि गत्रः क्रमां गाहते किं हरेः शिशाः ॥१०५॥  
 प्रणयः प्रथयथेति संगनेपु सनामिपु । तंप्नेवासंगनेप्वज्जं तद्द्वयस्य हता गतिः ॥१०६॥  
 ज्येष्ठः प्रणम्य हृथ्येतत्क्रामसस्त्रन्यदा मद्रा । मुन्ध्यारीपित्तखड्गस्य प्रणाम इति वः क्रमः ॥१०७॥  
 दूत नो दूयते चित्तमन्योत्सेकानुवर्गने<sup>१०</sup> । तेजस्वी भानुरैवैकः किमन्योऽप्यस्यतः परम्<sup>११</sup> ॥१०८॥  
 राजोक्तिर्मयि तस्मिन्<sup>१२</sup> सञ्चिम्कताऽदिवेधसा<sup>१३</sup> । राजराजः<sup>१४</sup> स हृथ्यथ स्फोटो गण्डस्य<sup>१५</sup> मूर्धनि<sup>१६</sup> ॥१०९॥  
 कामं स राजराजोऽस्तु<sup>१७</sup> रत्नैर्वातोऽतिगृभुताम् । बयं राजा न हृथ्येव सौराज्ये<sup>१८</sup> स्वे<sup>१९</sup> व्यवस्थितः ॥११०॥  
 बालानिव<sup>२०</sup> छलादस्मान् आहूय प्रणम्य<sup>२१</sup> च । पिण्डीखण्ड<sup>२२</sup> ह्वानाति महीखण्डस्तद्वित्तः<sup>२३</sup> ॥१११॥  
 स्वदोहूमफलं श्लाघ्यं यत्किञ्चन मनस्विनाम् । न<sup>२४</sup> चानुरन्तमप्यैव्यं<sup>२५</sup> परभूलतिकाफलम् ॥११२॥

हे दूत, हम लोग शान्तिसे भी बधा नहीं किये जा सकते यह निश्चय होनेपर भी आप हमारे साथ अहंकारका प्रयोग कर रहे है, इससे स्पष्ट मालूम होता है कि आप मूर्ख है ॥१०४॥ भरतेश्वर उमरमें वड़े है इतने ही से के प्रचंसनीय नहीं कहे जा सकते क्योंकि हाथी बूढा होनेपर भी क्या सिंहके बच्चेकी बराबरी कर सकता है ? ॥१०५॥ हे दूत, प्रेम और विनय ये दोनों परस्पर मिले हुए कुटुम्बी लोगोमें ही सम्भव हो सकते है, यदि उन्ही कुटुम्बियोंमें विरोध हो जावे तो उन दोनों ही की गति नष्ट हो जाती है । भावार्थ—जबतक कुटुम्बियोंमें परस्पर मेल रहता है तबतक प्रेम और विनय दोनों ही रहते है और ज्यों ही उनमें परस्पर विरोध हुआ त्यों ही दोनों नष्ट हो जाते है ॥१०६॥ बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समयमें अच्छी तरह हमेना हो सकती है परन्तु जिसने मस्तकपर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है ? ॥१०७॥ हे दूत, दूसरेके अहंकारके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे हमारा चित्त दुःखी होता है, क्योंकि संसारमें एक सूर्य ही तेजस्वी है । क्या उससे अधिक और भी कोई तेजस्वी है ॥१०८॥ आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने 'राजा' यह शब्द मेरे लिए और भरतके लिए—दोनोंके लिए दिया है, परन्तु आज भरत 'राजराज' हो गया है सो यह कपोल-के ऊपर उठे हुए गूमड़ेके समान व्यर्थ है ॥१०९॥ अथवा रत्नोके द्वारा अत्यन्त लोभको प्राप्त हुआ वह भरत अपने इच्छानुसार भले ही 'राजराज' रहा जावे, हम अपने धर्मराज्यमें स्थिर रहकर राजा ही बने रहेंगे ॥११०॥ वह भरत बालकोंके समान छलसे हम लोगोको धुलाकर और प्रणाम कराकर कुछ पृथिवी देना चाहता है तो उसका दिया हुआ पृथिवीका टुकड़ा खलीके टुकड़ेके समान तुच्छ मालूम होता है ॥१११॥ तेजस्वी मनुष्योंके लिए जो कुछ थोड़ा-बहुत अपनी भुजारूपी वृक्षका फल प्राप्त होता है वही प्रणसनीय है, उनके लिए दूसरेकी भीह-रूपी लताका फल अर्थात् भीहके इजारेसे प्राप्त हुआ चार समुद्रपर्यन्त पृथिवीका ऐश्वर्य भी

१ विरति गते सति । २ तत्र तूष्णी स्थिते पुसि । उत्प्रेक साहसम्, गर्वमित्यर्थः । ३ समानताम् । ४ प्राप्नोति । ५ स्नेहः । ६ विनयः । ७ भो । ८ प्रणयप्रथयस्य । ९ अस्माकम् । १० वर्ततेः ल०, द०, अ०, प०, स० । ११ भानोः सकाशादन्य । १२ भरते । १३ आदिब्रह्मणा । १४ भरतेश्वरपक्षे राजा प्रभूणा राजा राजराज, राजा यक्षाणा राजा राजराज. लोभोजित इति ध्वनिः । भुजबलिपक्षे तिला यगतय. पद्मगुणाः चतुर्धायाः सप्ताङ्गराज्यानि एतैर्गुणै राजन्त इति राजानः । १५ पिटकः । 'विस्फोट. पिटकस्त्रिगु' इत्यभिधानात् । १६ गलगण्डस्य । 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात् । १७ उपरीत्यर्थः । १८ कुबेर इति इत्यभिधानात् । १९ सुराज्यव्यापारे । २० आत्मीये । २१ बलादिव द० । २२ न्याजात् । २३ नमस्कारयित्वा । २४ पिण्याकषाकलः । २५ मरतेन दत्तः । २६ चत्वारो दिगन्तो यस्य तत् । २७ प्रभुत्वम् ।

पराजोपहतां लक्ष्मीं यो वान्त्रे<sup>१</sup> पार्थिवोऽपि सन् । सोऽपार्थयति<sup>२</sup> तामुक्तिं<sup>३</sup> संप्रोक्तिमिव द्रुण्डुभः<sup>४</sup> ॥११३॥  
 परावमानमलिनां भूतिं<sup>५</sup> घते नृपोऽपि यः । नृपशोस्तस्य<sup>६</sup> नन्वेव भारो राज्यपरिच्छदः<sup>७</sup> ॥११४॥  
 मानमङ्गाजितैर्मोर्गैः प्राणान्धर्त्तुमीहते । तस्य भग्नरदस्येव द्विरदस्य कुलो मिदं<sup>८</sup> ॥११५॥  
 छत्रमङ्गाद्विनाप्यस्य<sup>९</sup> छायाभङ्गोऽनिलक्ष्यते । यो मानमङ्गाभारेण विमर्त्येव नत शिरः<sup>१०</sup> ॥११६॥  
 सुनयोऽपि समानाश्चेत् त्यक्तभोगपरिच्छदाः । को नाम राज्यभोगार्थां पुमानुज्ज्ञैत् समानताम्<sup>११</sup> ॥११७॥  
 वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम् । कुलामिसानिनः पुंसो न पराज्जाविधेयता<sup>१२</sup> ॥११८॥  
 मानमेवाभिरक्षन्तु धीराः प्राणैः प्रणथैः । नन्वलंकुरुते विश्वं शश्वन्मानार्जितं ययः<sup>१३</sup> ॥११९॥  
 'चारु चक्रधरस्यायं त्वयाऽत्युक्तः'<sup>१४</sup> पराक्रमः । कुतो यतोऽर्थवाद्भोऽर्थ<sup>१५</sup> स्तुतिनिन्दापरायणः<sup>१६</sup> ॥१२०॥  
 वयोमिः पोषयन्त्येव पण्डिताः परिपश्यन्वि<sup>१७</sup> । प्रक्रान्तायां<sup>१८</sup> स्तुता, विष्ट, सिद्धो ग्रामभृगो<sup>१९</sup> ननु ॥१२१॥  
 इदं वाचनिकं कृत्स्नं स्वदुर्गं प्रतिप्राति नः । कास्य दिग्विजयारम्भः क्व चनोच्छनं<sup>२०</sup> सुश्रुता ॥१२२॥

प्रशसनीय नहीं है ॥११२॥ जिस प्रकार पनया सौंप 'सर्प' इस शब्दको निरर्थक करता है उसी प्रकार जो मनुष्य राजा होकर भी दूसरेकी आज्ञासे उपहृत हुई लक्ष्मीको धारण करता है वह 'राजा' इस शब्दको निरर्थक करता है ॥११३॥ जो पुरुष राजा होकर भी दूसरेके अपमानसे मलिन हुई विभूतिको धारण करता है निश्चयसे उस मनुष्यरूपी पणुके लिए यह राज्यकी समस्त सामग्री भारके समान है ॥११४॥ जिसके दाँत टूट गये हैं ऐसे हाथीके समान जो पुरुष मानभंग होनेपर प्राप्त हुए भोगोपभोगोसे प्राण धारण करना चाहता है उस पुरुषमें और पशुमें भेद कैसे हो सकता है ? ॥११५॥ जो राजा मानभगके भारसे झुके हुए शिरको धारण करता है उसकी छायाका नाश छत्रभग होनेके बिना ही हो जाता है । भावार्थ — यहाँ छाया शब्दके दो अर्थ हैं अनातप और कान्ति । जब छत्रभंग होता है तभी छाया अर्थात् अनातपका नाश होता है परन्तु यहाँपर छत्रभगके बिना ही छायाके नाशका वर्णन किया गया है इसलिए विरोध मालूम होता है परन्तु छत्र भगके बिना ही उनकी छाया अर्थात् कान्तिका नाश हो जाता है, ऐसा अर्थ करनेसे उसका परिहार हो जाता है ॥११६॥ जिन्होंने भोगोपभोगकी सब सामग्री छोड़ दी है ऐसे मुनि भी जब अभिमान (आत्मगौरव) से सहित होते हैं तब फिर राज्य भोगनेकी इच्छा करनेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो अभिमानको छोड़ देगा ? ॥११७॥ वनमें निवास करना अच्छा है और प्राणोंको छोड़ देना भी अच्छा है किन्तु अपने कुलका अभिमान रखनेवाले पुरुषको दूसरेकी आज्ञाके अधीन रहना अच्छा नहीं है ॥११८॥ वीर वीर पुरुषको चाहिए कि वे इन नश्वर प्राणोंके द्वारा अभिमानकी ही रक्षा करे क्योंकि अभिमान के साथ कमाया हुआ यश इस ससारको सदा सुशोभित करता रहता है ॥११९॥ तूने जो बहुत कुछ बढ़ाकर चक्रवर्तिके पराक्रमका वर्णन किया है सो ठीक है क्योंकि तेरा यह सब कहना स्तुति निन्दासे तत्पर है अर्थात् स्तुतिरूप होकर भी निन्दाको सूचित करनेवाला है ॥१२०॥ पण्डित लोग नि सार वस्तुको भी अपने वचनोसे पुष्ट किया ही करते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्तुति प्रारम्भ करनेपर कुत्तेको भी सिंह कहना पड़ता है ॥१२१॥ हे दूत, तेरे द्वारा कहा

१ अपगतार्थ करोति । २ पार्थिवत्वात् । ३ राज्ञि । 'समी राजिल्लुण्डुभी' इत्यभिधानात् । ४ सपदम् । ५ मनुजानुद् । ६ भेद । ७ तेजोहानि । ८ अभिमानान्विता । ९ साभिमानिताम् । १० अधीनता । ११ वरं ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । १२ अतिक्रम्योक्त । १३ सत्यवाद अथवा असत्यारोपमर्थवादः । १४ स्तुतिरूपोऽर्थवाद् निन्दारूपोऽर्थवादश्चेति द्वये तत्पर । १५ अतिनिस्सारवत्स्वपि । १६ प्रारम्भितायां सत्याम् । १७ सारमेय । १८ घनापनयन ।

द्वयचक्रचरी<sup>१</sup> वृत्तिं कल्लि<sup>२</sup> निशामिवाहरे । दीनतायाः परं केटि<sup>३</sup> प्रसुरातोनिस्त्वया ॥१२३॥  
 मयं द्विविजये चरौ जिनवातमगमिनि । प्रत्येयमिदमेतन्नु<sup>४</sup> चिन्त्यन्ते<sup>५</sup> वतु त्वया ॥१२४॥  
 न किं न दुर्गन्थायां सुखां नोपेयितोऽव्या ! प्रवृत्ते जलनायायां<sup>६</sup> शरणां मन्त्राचर<sup>७</sup> ॥१२५॥  
 इत्यचक्रारिजान्ति<sup>८</sup> द्व्येनाथमिदमिवा । वदन् पाथिवानेय सकलालाभे वन ॥१२६॥  
 आगः<sup>९</sup> पगानातन्वद स्वयमेव कल्लिकिः । चिं कल्लिक्येन कल्लि<sup>१०</sup> कुल्लुगमपि ॥१२७॥  
 नृपालाकर्तये दुरान्मन्त्रेणैव योऽर्जितः । शाल्ये क्रियतेनस्य पाल्ये लज्जया विना ॥१२८॥  
 हुनोति नो सुखं वुत काजनेऽस्य यदाह्वः । दोलायिन्<sup>११</sup> जले मस्य वरं ह्येवकल्लेनवा ॥१२९॥  
 यथाऽनमसंदायं अश्रुप्रेग रक्षतः । निगमन्तो<sup>१२</sup> निर्वाहं भूमौ बहवो निधनं<sup>१३</sup> राजाः ॥१३०॥  
 रत्नेः किमस्ति वा कृत्यं चान्यरविमिनां<sup>१४</sup> सुवन् । न यस्मिन् यत्कृते याति केवलं दिवं नृपाः १३१

हुआ यह समस्त कार्य हम लोगोंको केवल वचनाइन्दर ही जान पड़ता है क्योंकि वहाँ तो इतना दिविजयका प्रारम्भ करना और कहाँ वन इकट्ठा करनेमें तत्पर होना ? ॥१२२॥ जिस प्रकार निजुक चक्र धारण कर निजा मर्गता हुआ अतिशय दीनताको प्राप्त होता है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी वृत्ति धारण कर निजाके समान कर वसूल करता हुआ उसी स्वामी भरत तरे द्वारा दीनताको परम सीमाको प्राप्त करा दिया गया है ॥१२३॥ यह ठीक है कि चक्रवर्तीने दिविजयके समय देवोंको भी जीत लिया है परन्तु यह बात केवल विष्वास करने योग्य है अन्यथा तू यहाँ इतना तां विचार कर कि जलस्तन्मन करनेमें प्रवृत्त हुए तरे स्वामी भरतने जब बाग छोड़ा था तब वह क्या उर्मकी धय्यापर नहीं सोया था अथवा उसने उपवास नहीं किया था ॥१२४-१२५॥ जिस प्रकार कुन्हार आयति अर्थात् लम्बाईसे घोभायमान डण्डेके द्वारा चक्रको घुमाता हुआ पाथिव अर्थात् मिट्टीके घट बनाता है उसी प्रकार भरत भी आयति अर्थात् सुन्दर भविष्यमें घोभायमान डण्ड ( दण्डरत्न ) से चक्र ( चक्ररत्न ) को घुमाता हुआ पाथिव अर्थात् पृथिवीके स्वामी राजाओंको वश करता फिरता है, इसलिये कहना पड़ता है कि कुन्हार यह राजा कुन्हारके समान आचरण करता है ॥१२६॥ वह भरत पापकी छलिको उड़ाता हुआ स्वयं कलङ्कित हुआ है और कुलीन मनुष्योंके कुलको भी सदाके लिए कलङ्कित कर रहा है ॥१२७॥ हे वृत्त, प्रयोगमें लाये हुए मन्त्र-तन्त्रोंके द्वारा वरसे ही अनेक राजाओंको कुलीनवाले इन भरतका पराक्रम तू लज्जाके विना कितना वर्णन कर रहा है ? ॥१२८॥ हे वृत्त, जिस समय तू इनके युद्धकी प्रशंसा करता है उस समय हम लोगोंको बहुत दुःख होता है क्योंकि उस समय म्लेच्छोंकी सेनाके द्वारा भरतकी सेना पानीमें हिडोले झूल रही थी अर्थात् हिडोलेके समान कैम रही थी ॥१२९॥ अद्विष्टपुत्रको तो जिते कोई हूण न कर सके ऐसे यक्षरुपी बनकी ही रक्षा करना चाहिए क्योंकि इस पृथिवीमें निविजयोंको गाड़कर रखनेवाले अनेक लोग मर चुके हैं । भावार्थ-अमरता यक्षसे ही प्राप्त होती है ॥१३०॥ अथवा जो गन् एक हाथ पृथिवी तक भी साथ नहीं जाते और जितने लिए राजा लोग केवल मृत्युको ही प्राप्त होते हैं ऐसे रत्नोंसे क्या निकल सकता है ? ॥१३१॥

१ चक्रमेयं बाह्ये ना चासी चरी च चक्रचरी ताम् । चक्रचरनंश्चिन्त्यम् । चक्रचरी ल०, द०, ल०, प०, म०, ड० । २ चरन् । ३ परमप्रकर्षम् । ४ अथयं कृत्या निशाल्यन् । ५ वक्ष्यमाणम् । ६ अमररत्ने । ७ समुद्रवस्तुमनस्यमायाम् । ८ दण्डरत्नं संप्रेत वा । ९ नृगम् । १० कुलीनविचारश्च । ११ नृगिणम् । १२ परागम् । १३ अश्रुवरेणम् । १४ पानपराक्रमेणम् । इत्यभिधानम् । १५ मृत्युनाम् । कुल्लुगमपि ल० । १६ निमिषम् । १७ विनाशम् । १८ हस्तनिशाम् । अस्मिन्नि निजनिमित्तं मुक्तिम् । इत्यभिधानम् । १९ गत्यन्तरागमनेन सह न याति ।

तुलापुरुष एवायं यो नाम निखिलैर्नृपैः । तुलितो रत्न<sup>१</sup>पुञ्जेन वत नैथर्यमीदृशम् ॥१३२॥  
 भुवं स्वगुरुणा दत्तामाचिच्छित्तं नो मुवम् । प्रत्याख्येयस्वमुत्तुङ्ग्य गुञ्जोरस्य<sup>२</sup> किमौषधम् ॥१३३॥  
 दूत तातवितीर्णा नो महीमेनां कुलोचिताम् । भानृजायामिवाऽऽदिस्तो नस्य लज्जा भवत्पतेः ॥१३४॥  
 देयमन्यत् स्वतन्त्रेण यथाकामं जिगं पुणा । मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्षमातलं च मुजाजितम् ॥१३५॥  
 भूयस्त दलमाल<sup>३</sup>प्य स वा युद्धं महीतलम् । चिरमेकातपत्रादिकमहं वा मुजविक्रमी ॥१३६॥  
 कृतं दृष्ट्वा मटालापर्यसिद्धिर्बहिष्कृतैः । मङ्गग्रामनिकपे व्यक्तिः पौरुषस्य ममास्य च ॥१३७॥  
 ततः समरसंग्रेहे यद्वा तद्वाऽऽप्नु नौ द्वयोः । नीरं कमिदमेकं नो बवो हरं<sup>४</sup> बवोहरं<sup>५</sup> ॥१३८॥  
 इत्याविष्कृतमानेन कुमारेण बवोहरः । द्रुतं विसर्जितोऽगच्छन्<sup>६</sup> पतिं मन्त्राहयेत्<sup>७</sup> परम् ॥१३९॥  
 तदा मुकुटसंबद्धाहुच्छलमणिकोटिभिः<sup>८</sup> । कृतोत्सुकं<sup>९</sup> शतक्षेपैः द्वौ सस्ये महीजिभिः ॥१४०॥  
 क्षणं समरसंवृष्टिपिशुनो मयमकटैः<sup>१०</sup> । श्रूयते स्म मटालापौ बले भुजबलीसितुः ॥१४१॥  
 चिरान् समरमंसदं स्वामिनोऽयमभूद्विह । किं वयं स्वामिसत्कारादृन्णीमवितुं क्षमाः ॥१४२॥

जो समस्त राजाओके द्वारा रत्नोकी राशिसे तोला गया है ऐसा यह भरत एक प्रकारका तुला-  
 पुरुष है खेद है कि ऐसा ऐश्वर्य नहीं होता ॥१३२॥ अवश्य ही वह भरत अपने पूज्य पिता  
 श्री भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई हमारी पृथिवीको छीनना चाहता है सो इस लोभीका  
 प्रत्याख्यान अर्थात् तिरस्कार करनेके सिवाय और कुछ उपाय नहीं है ॥१३३॥ हे दूत,  
 पिताजीके द्वारा दी हुई यह हमारे ही कुलकी पृथिवी भरतके लिए भाईकी स्त्रीके समान है  
 अब वह उसे ही लेना चाहता है सो तेरे ऐसे स्वामीको क्या लज्जा नहीं आती ? ॥१३४॥ जो  
 मनुष्य स्वतन्त्र है और इच्छानुसार वस्तुओंको जीतनेकी इच्छा रखते हैं वे अपने कुलकी स्त्रियों  
 और भुजाओसे कमायी हुई पृथिवीको छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते हैं ॥१३५॥ इसलिए  
 बार-बार कहना व्यर्थ है, एक छत्रसे चिह्नित इस पृथिवीको वह भरत ही चिरकाल तक उपभोग  
 करे अथवा भुजाओमें पराक्रम रखनेवाला मैं ही उपभोग करूँ । भावार्थ—मुझे पराजित किये  
 बिना वह इस पृथिवीका उपभोग नहीं कर सकता ॥१३६॥ जो प्रयोजनकी सिद्धिसे रहित है  
 ऐसे शूरीरताके इन व्यर्थ वचनोसे क्या लाभ है ? अब तो युद्धरूपी कसौटीपर ही मेरा और  
 भरतका पराक्रम प्रकट होना चाहिए ॥१३७॥ इसलिए हे दूत, तू यह हमारा सन्देशरहित एक  
 वचन ले जा अर्थात् जाकर भरतसे कह दे कि अब तो हम दोनोंका जो कुछ होना होगा वह  
 युद्धकी भीड़में ही होगा ॥१३८॥ इस प्रकार अभिमान प्रकट करनेवाले कुमार बाहुबलीने उस  
 दूतको यह कहकर शीघ्र ही विदा कर दिया कि जा और अपने स्वामी को युद्धके लिए जल्दी  
 तैयार कर ॥१३९॥ उस समय जिनके मुकुटोके संघर्षणसे करोड़ों मणि उछल-उछलकर इधर-  
 उधर पड़ रहे हैं और उन मणियोंसे जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो अग्निके सैकड़ों फुल्लिगोकी  
 ही इधर-उधर फैला रहे हों ऐसे राजा लोग उठ खड़े हुए ॥१४०॥ उसी क्षण अनेक योद्धाओंसे  
 भरी हुई महाराज बाहुबलीकी सेनामें युद्धकी भीड़को सूचित करनेवाला योद्धा लोगोका  
 परस्परका आलाप सुनाई देने लगा था ॥१४१॥ इस समय स्वामीके यह युद्धकी तैयारी बहुत  
 दिनमें हुई है, क्या अब हम लोग स्वामीके सत्कारसे उन्मत्त (ऋणमुक्त) हो सकेंगे ? भावार्थ—  
 स्वामीने आजतक पालन-पोषण कर जो हम लोगोका महान् सत्कार किया है क्या उसका बदला

१ रत्नार्थम् । २ छेत्तुमिच्छति ३ निराकरणीयत्वम् । 'प्रत्याख्यातो निराकृतः' इत्यभिधानात् । हेयत्वमित्यर्थः ।  
 (हेयत्वमेव औषधमित्यर्थः) । ४ लुब्धस्य । ५ अनुजकलत्रम् । ६ आवातुमिच्छो । ७ तत् कारणात् । ८ बहु-  
 प्रलापरत्वम् । ९ नि सन्देशम् । १० स्वीकृषुः । ११ भो दूत । १२ गच्छ पतिं द०, ल०, । १३ सचरद् कुश ।  
 १४ रत्नसमूहः । १५ अलात । १६ भट्टमूहः ।

पोषयन्ति महीपाला मृत्यान्वसरं प्रति । न चेद्वसरः सार्यः<sup>१</sup> किमेतिष्ठन्मानुषैः ॥१४३॥  
 कलेवरमिदं त्याज्यमर्जनीयं यशोधनम् । जयध्रीर्विजये लभ्या नात्योदको रणोत्सव ॥१४४॥  
 मन्दातपगरच्छाये प्रत्यङ्गैर्वाणज्वरैः<sup>२</sup> । लप्स्यामहे कदा नाम विभ्रमं<sup>३</sup> रणमण्डपे ॥१४५॥  
 प्रत्यनीककृतानेकयूह<sup>४</sup> निर्मिद्य सायकैः । शरश्यामसंवाधमध्याशिपे कदा न्हमम् ॥१४६॥  
 कर्णतालानिलाधूति विधूतसमरश्रमः । गजस्कन्धे निर्धाडामि<sup>५</sup> कदाहं क्षणमूर्धितः ॥१४७॥  
 दन्तिदन्ता<sup>६</sup> र्गलप्रतोद्गलदन्त्रं स्तलद्वचाः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणां कदाहं लक्ष्यतां मजे ॥१४८॥  
 गजदन्तान्तरालम्विस्वान्मालावरत्रया<sup>७</sup> । कर्हि<sup>८</sup> दोलामिवारोप्य तुलयासि जयश्रियम् ॥१४९॥  
 द्रुवाणैरिति सङ्ग्रामरसिकैर्दम्भदैर्भटैः । शस्त्राणि ससिरस्त्राणि सज्जान्वासन् बले बले ॥१५०॥  
 ततः कृतमयं भूयो मटभुकुटितजितैः । पलायितमिव काऽपि<sup>९</sup> परिच्छित्तिमगादहः<sup>१०</sup> ॥१५१॥  
<sup>११</sup> अथोरुप्यद्भटानीकनेत्रच्छायापिर्वातं ह्वम् । दधान इव तिग्मांशुगर्सीदारकमण्डलः ॥१५२॥  
<sup>१२</sup> क्षणमस्ताचलप्रस्थकाननभ्रमाजपल्लवैः । सद्गालोहितच्छाया ददशैःकान्धुसंस्तरैः<sup>१३</sup> ॥१५३॥

हम कुछ दे सकेंगे ? ॥१४२॥ राजा लोग किसी खास अवसरके लिए हो सेवक लोगोंका पालन-पोषण करते हैं, यदि वह अवसर नहीं साधा गया अर्थात् अवसर पड़नेपर स्वामीका कार्य सिद्ध नहीं किया गया तो फिर तृणसे बने हुए इन पुरुषोंसे क्या लाभ है ? भावार्थ—जो पुरुष अवसर पड़नेपर स्वामीका साथ नहीं देते वे घास-फूसके बने हुए पुरुषोंके समान सर्वथा सारहीन हैं ॥१४३॥ अब यह शरीर छोड़ना चाहिए, यशरूपी धन कमाना चाहिए और विजय लाभकर जयलक्ष्मी प्राप्त करनी चाहिए, यह युद्धका उत्सव कुछ थोड़ा फल देनेवाला नहीं है ॥१४४॥ हम लोग, घाबोंसे जर्जर हुए शरीरके प्रत्येक अंगोंसे, जिसमें घामको मन्द करनेवाली वाणोंकी छाया पड़ रही है ऐसे युद्धके मण्डपमें कब विश्राम करेंगे ? ॥१४५॥ कोई कहता था कि मैं कब अपने वाणोंसे शत्रुओंकी सेनाके द्वारा किये हुए अनेक व्यूहोंको छेदकर बिना किसी उपद्रवके वाणोंकी शय्यापर शयन करूँगा ॥१४६॥ कोई कहता था कि मैं कब युद्धमें क्षण-भरके लिए मूर्छित होकर हाथीके कानरूपी ताड़पत्रकी वायुके चलनेसे जिसके युद्धका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसा होता हुआ हाथीके कन्धेपर बैठूँगा ? ॥१४७॥ हाथीके दाँतरूपी अर्गलोंमें परोये जानेसे जिसकी अँतड़ियाँ निकल रही हैं तथा जिसके मुखसे दूटे-फूटे शब्द निकल रहे हैं ऐसा होता हुआ मैं कब जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका निशाना बन सकूँगा ? भावार्थ—वह दिन कब होगा जब कि मैं मरता हुआ भी विजय प्राप्त करूँगा ? ॥१४८॥ कोई कहता था कि हाथियोंके दाँतोंके बीचमें लटकती हुई अपनी अँतड़ियोंके समूहरूपी मजबूत रस्तीपर झूलके समान विजयलक्ष्मीको बैठकर मैं कब उसे तोलूँगा ? ॥१४९॥ इस प्रकार कहते हुए युद्धके प्रेमी बड़े-बड़े योद्धाओंने प्रत्येक सेनामें अपने-अपने शस्त्र तथा गिरकी रक्षा करनेवाली टोपियाँ संभाल लीं ॥१५०॥

तदनन्तर दिन समाप्त हो गया सो ऐसा मालूम होता था मानो योद्धाओंकी भौहोंके तिरस्कारसे भयभीत होकर कहीं भाग ही गया हो ॥१५१॥ अथानन्तर सूर्यका मण्डल लाल हो गया मानो उसने क्रोधित हुए योद्धाओंकी सेनाके नेत्रोंकी छायाके द्वारा दी हुई लाल कान्ति ही धारण की हो ॥१५२॥ उस समय क्षण-भरके लिए सूर्यकी किरणोंका समूह अस्ताचल

१ न गम्यश्चेत् । २ विभ्रामं ल०, द०, अ०, प०, सं० । ३ शत्रुकुलवेगारचनाम् । ४ अवजून । ५ निपण्णे भवामि । 'कदाकहाँ' इति भविष्यदर्थे लट् । ६ परिष । ७ सौदगमद्वय-ट० । निर्वन्नतः । ८ निजपुरीतद्-मालद्वय्या । 'दूला कक्षा वरना स्याद्' इत्यभिधानात् । ९ कदा । १० विनासम् । ११ दिवसः । १२ अयाक्षय्य-ल० । १३ सानु । १४ रविकिरणसमूहः ।

कैरिग्यग्रसंलग्नैः भानुरालक्ष्यत क्षणम् । पातनीत्या करालग्नैः<sup>१</sup> करालम्बमिवाश्रयन् ॥ १५४ ॥  
 पतन्तं वारुणी<sup>२</sup> संगत् परिलुप्तविभावसुम्<sup>३</sup> । जालम्बतं<sup>४</sup> वतास्ताद्विमानुं<sup>५</sup> विभ्यदिदेनसः<sup>६</sup> ॥ १५५ ॥  
 गतो नु दिनमन्वेष्टुं<sup>७</sup> प्रविष्टो नु रसावलम् । तिरोहितो नु शृङ्गाग्रैस्ताद्वै नैश्चि मासुमान् ॥ १५६ ॥  
 विघटय्य तमो नैशं<sup>८</sup> कैरःक्रम्य मृश्रुत्<sup>९</sup> । दिवावसाने पर्यास्थिदहो<sup>१०</sup> रविर्नृशुक<sup>११</sup> ॥ १५७ ॥  
 तिर्यङ्मण्डलगत्थैव<sup>१२</sup> शरवद् मानुरथं भ्रमन् ।<sup>१३</sup> विप्रकर्षाज्जनैर्मूर्धैरग्राहीव<sup>१४</sup> पतजवः ॥ १५८ ॥  
 व्यसनेऽस्मिन्<sup>१५</sup> दिनेग्रस्य शुचैव परिपोडिताः । विच्छायानि मुखान्युद्गु<sup>१६</sup> स्वमोरुद्धा दिग्दग्नाः ॥ १५९ ॥

के गिखरपर लगे हुए वनके वृक्षोंकी कोपलोकें समान कुछ-कुछ लाल रंगका दिखाई दे रहा था ॥ १५३ ॥ उस समय वह सूर्य अस्ताचलके शिखरपर लगे हुए किरणोंसे क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ता था मानो नीचे गिरनेके भयसे अपने किरणरूपी हाथोंसे किसीके हाथका सहारा ही ले रहा हो ॥ १५४ ॥ जो सूर्य वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा ( पक्षमे मदिरा ) के समागमसे पतित हो रहा है और जिसका कान्तिरूपी धन नष्ट हो गया है ऐसे सूर्यको मानो पापसे डरते हुए ही अस्ताचलने आलम्बन नहीं दिया था । भावार्थ — वारुणी शब्दके दो अर्थ होते हैं मदिरा और पश्चिम दिशा । पश्चिम दिशामें पहुँचकर सूर्य प्राकृतिक रूपसे नीचेकी ओर ढलने लगता है । यहाँ कविने इसी प्राकृतिक दृश्यमें श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा अलंकारकी पुट देकर उसे और भी सुन्दर बना दिया है । वारुणी अर्थात् मदिराके समागमसे मनुष्य अपवित्र हो जाता है उसका स्पर्श करना भी पाप समझा जाने लगता है, सूर्य भी वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा ( पक्षमें मदिरा ) के समागमसे मानो अपवित्र हो गया था । उसका स्पर्श करनेसे कहीं मैं भी पापी न हो जाऊँ इस भयसे अस्ताचलने उसे सहारा नहीं दिया — गिरते हुएको हस्तालम्बन देकर गिरनेसे नहीं बचाया । सूर्य डूब गया ॥ १५५ ॥ उस समय सूर्य दिखाई नहीं देता था सो ऐसा जान पड़ता था मानो बीते हुए दिनको खोजनेके लिए गया हो, अथवा पाताललोकमें घुस गया हो अथवा अस्ताचलके शिखरोंके अग्रभागसे छिप गया हो ॥ १५६ ॥ जिस प्रकार कोई बीर पुरुष दारिद्र्यरूपी अन्धकारको नष्ट कर और अपने कर अर्थात् टैक्स-द्वारा भूभूत् अर्थात् राजाओंपर आक्रमण कर दिन अर्थात् भाग्यके अन्तमें अर्नशुक अर्थात् विना वस्त्रके योही चला जाता है उसी प्रकार सूर्य रात्रिसम्बन्धी अन्धकारको नष्ट कर तथा कर अर्थात् किरणोंसे भूभूत् अर्थात् पर्वतोपर आक्रमण कर दिनके अन्तमें अर्नशुक अर्थात् किरणोंके विना योही चला गया — अस्त हो गया, यह कितने दुःखकी बात है । ॥ १५७ ॥ यह सूर्य तो मेरे पर्वतके चारों ओर गोलाकार तिरछी गतिसे निरन्तर घूमता रहता है तथापि दूर होनेसे दिखाई नहीं देता इसलिए मूर्ख पुरुषोंको नीचे गिरता हुआ-सा जान पड़ता है ॥ १५८ ॥ सूर्यकी इस विपत्तिके समय मानो शोकसे पीड़ित हुई दिशारूपी स्त्रियाँ अन्धकारसे भर जानेके कारण कान्तिरहित मुख धारण कर रही थी । भावार्थ — पत्तिकी विपत्तिके समय जिस प्रकार कुलवती स्त्रियोंके मुख शोकसे कान्तिहीन हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्यकी विपत्तिके समय दिशारूपी स्त्रियोंके मुख शोकसे कान्तिहीन हो गये थे । अन्धकार छा जानेसे दिशाओंकी

१ विस्तृताग्रै । 'करालो दन्तुरे तुङ्गे विशाळे विकृतेऽपि च' इत्यभिधानात् । २ वरुणसवन्विदिकर्मणात् । मद्यसंगति ध्वनिः । ३ कान्तिरेव धनं यस्य । पक्षे विभा व वसु च विभावमुनो, परिप्लुते विभावमुनो यस्य तम् । ४ न धरति स्म । ५ पापात् । ६ शवेपणाय । ७ निशासंबन्धि । ८ पर्वतानाम् । नृगञ्च । ९ दिवासान्ते । भाग्यावसाने च । दिवाव — ल०, द० । १० पतितवान् । ११ कान्तिरहितः, वस्त्ररहित इति ध्वनिः । १२ मेरुप्रदक्षिणरूपतिर्यग्गन्धिभ्रमनेन । १३ दुरात् । १४ स्वीकृतः । १५ विपदि । १६ धरन्ति स्म ।

पद्मिन्यो म्लानपद्मास्त्या दिरेककल्यास्तैः । भोचम्य इव संवृता त्रिचोतादिसन्निधः ॥१६०॥

मध्यातपनतान्यामन् कनान्यस्तमर्हानृतः । परीयार्त्ताव दावाग्निमिलयादिक्रालया ॥१६१॥

अनुरक्तपि संधेयं परित्यक्ता विवस्त्रता । प्रविष्टवाग्निमारुच्छविरालम्ब्यताम् ॥१६२॥

शरीराकाशवाराग्निविद्वनोद्यानराजिवन् । रुक्मे दिग्नि वस्त्रां संध्यामिन्दूरसञ्चरिः ॥१६३॥

चक्रवाकीनमस्तापदीपनीं तु हुताग्निः । प्रप्रेषे पश्चिमाग्नान्ते संध्यारागो अपात्यः ॥१६४॥

सांध्यो रागः स्फुल्लं दिक्षु क्षणैश्चि प्रियागमे । नाग्निर्नामो मनोरमः कृत्स्नो दुर्लभैर्दृक् ॥१६५॥

घृणरात्रांशुको संध्यास्तुल्यः कीर्तिनाधिपः । तुहुमेने सर्गो लोकः कृतामुसरगानिव ॥१६६॥

चक्रवाकीं घृणोक्तमस्तुयान्तीं कृतस्त्वनाम् । निजहावेव चक्राह्वो नियति को तु लब्धयेव ॥१६७॥

रजः किमराधोऽयं कालस्य नियतेः क्षिप्तु । स्याद्भूमिधुनान्यास्तन् विदुःशानि यतो नियः ॥१६८॥

घनं तमो विनाकिर्णं स्यान्नेने निखिला विद्वान् । विना ऐकस्त्रिना प्रायस्तमो रुक्मे तु संतनम् ॥१६९॥

तमोऽवगुण्डिता रजे रजनीं तारकातता । विनिलवपना नास्त्वन्मोक्षिक्वान्निवारिका ॥१७०॥

शोभा जाती रही थी ॥१५९॥ कमलिनियंके कमलरूपी मुख मुखी गये थे जिससे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो मूर्धका विभाग होनेसे भ्रमरोंके कक्षालनक शब्दोंके वहने रदन करती हुई गोक हो कर रही हों ॥१६०॥ सायंकालके लाल-लाल प्रकाशसे व्याप्त हुए अस्ताचलके वन ऐसे जान पड़ने थे मानो अत्यन्त भयंकर दावानलकी गिखासे ही घिर गये हों ॥१६१॥ यद्यपि यह संध्या अनुरक्त अर्थात् प्रेम करनेवाली ( पक्षमें लाल ) थी तथापि मूर्धने उसे छोड़ दिया था इसलिए ही वह लाल रंगकी संध्या आकाशमें ऐसी जान पड़ती थी मानो उज्जने अग्निमें ही प्रवेश किया हो । भावार्थ — पतिव्रता स्त्रियाँ पतियोंके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विगुह्यताका परिचय देनेके लिए सीताके समान अग्निमें प्रवेश करती हैं वहाँपर कबिते भी समासोक्ति अलंकारका आश्रय लेकर संध्यारूपी स्त्रीको सूर्यरूपी पतिके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विगुह्यता — सच्चरित्रताका परिचय देनेके लिए संध्या कालकी लालिना रूपी अग्निमें प्रवेश करायी है ॥१६२॥ सिन्दूरके समान श्रेष्ठ कान्तिको धारण करनेवाली वह संध्या बीरे-बीरे पश्चिम दिशामें ऐसी नुद्योभित हो रही थी मानो आकाशरूपी समुद्रमें मूर्धोके गंगाचौकी पवित्र हो हो ॥१६३॥ जबकि फूलके सनान लाल-लाल वह संध्याकालकी लाली पश्चिम दिशाके अन्तमें ऐसी फैल रही थी मानो चक्रवर्तिके मनके उन्तापको बढ़ाने-वाली अग्नि हो हो ॥१६४॥ समस्त दिशाओंमें फैलती हुई संध्याकालकी लाली क्षण-भरके लिए ऐसी दिखाई देनी थी मानो पतियोंके आनेपर मान करनेवाली स्त्रियोंके मनका समस्त अनुराग ही एक जगह इकट्ठा हुआ हो ॥१६५॥ लाल किरणरूपी वस्त्र धारण कर मूर्धरूपी पतिके पीछे-पीछे जाती हुई संध्याको लोग पतिके साथ मरनेवाली सीतोंके सनान बहुत कुछ मानते थे ॥१६६॥ चक्रवाने बड़ी उत्कण्ठासे अपने पीछे-पीछे आती हुई और शब्द करती हुई चक्रवाकी आदित्य छोड़ ही दिया था सो ठीक ही है क्योंकि निवर्ति अर्थात् ईश्वर नियन्त्रक उत्कर्षण कान कर सकता है ? ॥१६७॥ उस समय चक्रवा चक्रवर्तिके छोड़े परस्परमें गिड़गिड़ गये थे — अलग-अलग हो गये थे, तो यह क्या सूर्यका अपराध है ? अथवा कालका अपराध है ? अथवा भाग्यका ही अपराध है ? ॥१६८॥ मूर्धके बिना सब दिशाओंमें गाड़ अन्धकार फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वीके बिना प्रायः सब और अन्धकार ही भर जाता है ॥१६९॥ अन्धकारसे घिरी हुई और ताराओंसे व्याप्त हुई वह रात्रि ऐसी नुद्योभित हो रही

१ लहोपनकारी । २ संध्यारागः ल०, ८० । ३ प्रसवेत् । ४ समरगणम् । कनिष्ठश्रेष्ठं कुर्वतीमित्यर्थः ।

५ मूर्धवे । ६ चक्राङ्को ल०, ८०, ८०, ८०, ८० । ७ व्याप्नोति । ८ समजाच्छादित । ९ देशा ।

ततान्धतमसे लोके जनैरन्मीलितेक्षणैः । नादृश्यत पुरः किंचिन् मिथ्यात्वेनेव दूषितैः ॥१७१॥  
 प्रसह्य<sup>१</sup> तमसा रुढो लोकोऽन्तःस्थीकुलीभवन् । दष्टिवैषत्यं दष्टेर्न<sup>२</sup> बहु मेने शयालुताम्<sup>३</sup> ॥१७२॥  
 दीपिका रचिता रेजुः प्रतिवेशम् स्फुरस्त्रिषः । घनान्धतमसोभेदे प्रकृत्सा<sup>४</sup> इव सूचिकाः ॥१७३॥  
 तमो विधूय दूरेण जगदानन्दिभिः करैः । उदियाय शशी लोकं क्षीरेण क्षालयन्निव ॥१७४॥  
 अखण्डमनुरागेण निजं मण्डलमुद्वहन् । सुराजेव कृतानन्दमुदगाद् विधुरस्करः ॥१७५॥  
 दृष्ट्वेवाकृष्टहरिणं हरिं हरिणलान्छनम् । तिमिरौघः प्रदुद्राव करिष्युसदृग् महान् ॥१७६॥  
 तततारावली रेजे ज्योःस्नापूरः सुधाछवेः । सज्जद्वुद इवाकाशसिन्धोरोधः परिक्षरन् ॥१७७॥  
 १ सपोल इवाग्निश्छन् शशी तिमिरशैवलम् । तारा सहचरीक्रान्तं विजगाह<sup>५</sup> नमःसरः ॥१७८॥  
 तमो निःशेषमुदधूय जगदाप्लावयन् करैः । प्रालेयांशुस्तदा विश्वं सुधामयमिवातनौत् ॥१७९॥  
 तमो वूरं विधूयाऽपि बिधुरातीव कलङ्कवान् । निसर्गजं तमो नूनं महताऽपि सुदुस्त्यजम् ॥१८०॥

यी मानो नील वस्त्र पहने हुई और चमकीले मोतियोके आभूषण धारण क्रिये हुई कोई अभि-  
 सारिणी स्त्री ही हो ॥१७०॥ जिस प्रकार मिथ्या दर्शनसे दूषित पुरुषोको कुछ भी दिखाई नहीं  
 देता — पदार्थके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार गाढ़ अन्धकारसे भरे हुए  
 लोकमें पुरुषोको आँख खोलनेपर भी सामनेकी कुछ भी वस्तु दिखाई नहीं देती थी ॥१७१॥  
 जबरदस्ती अन्धकारसे घिरे हुए लोग भीतर ही भीतर व्याकुल हो रहे थे और उनकी दृष्टि भी  
 कुछ काम नहीं देती थी इसलिए उन्होंने सोना ही अच्छा समझा था ॥१७२॥ घर-घरमें लगाये  
 हुए प्रकाशमान दीपक ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो अत्यन्त गाढ़ अन्धकारको भेदन  
 करनेके लिए बहुत-सी सुझाँ ही तैयार की गयी हो ॥१७३॥ इतने ही में जगत्को आन-  
 न्दित करनेवाली किरणोंसे अन्धकारको दूरसे ही नष्ट कर चन्द्रमा इस प्रकार उदय हुआ  
 मानो लोकको दूधसे नहला ही रहा हो ॥१७४॥ वह चन्द्रमा किसी उत्तम राजाके समान  
 संसारको आनन्दित करता हुआ उदय हुआ था, क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा अनुराग  
 अर्थात् प्रेमसे अपने अखण्ड ( सम्पूर्ण ) मण्डल अर्थात् देशको धारण करता है उसी प्रकार वह  
 चन्द्रमा भी अनुराग अर्थात् लालिमासे अपने अखण्डमण्डल अर्थात् प्रतिबिम्बको धारण कर रहा  
 था और उत्तम राजा जिस प्रकार चारो ओर अपना कर अर्थात् टैक्स फैलाता है उसी प्रकार  
 वह चन्द्रमा भी चारो ओर अपने कर अर्थात् किरण फैला रहा था ॥१७५॥ हरिणके चिह्न-  
 वाले चन्द्रमाको देखकर अन्धकारका समूह बड़ा होनेपर भी इस प्रकार भाग गया था जिस प्रकार  
 कि हरिणको पकड़े हुए सिंहको देखकर हाथियोंका बड़ा भारी झुण्ड भाग जाता है ॥१७६॥  
 जिसमें ताराओंकी पङ्क्ति फैली हुई है ऐसा चन्द्रमाकी चाँदनीका समूह उस समय ऐसा  
 अच्छा जान पड़ता था मानो बुदबुदोसहित ऊपरसे पड़ता हुआ आकाशरूपी समुद्रका प्रवाह  
 ही हो ॥१७७॥ हँसके बच्चेके समान वह चन्द्रमा अन्धकाररूपी गैवालको खोजता हुआ  
 तारेरूपी हस्तिधोसे भरे हुए आकाशरूपी सरोवरमें अवगाहन कर रहा था — इधर-उधर  
 घूम रहा था ॥१७८॥ समस्त अन्धकारको नष्ट कर जगत्को किरणोंसे भरते हुए चन्द्रमाने  
 उस समय यह समस्त संसार अमृतमय बना दिया था ॥१७९॥ अन्धकारको दूर करके भी  
 वह चन्द्रमा कलकी बन रहा था सो ठीक ही है क्योंकि स्वाभाविक अन्धकार बड़े पुरुषोंसे छूटना

१ हठात् । २ नेत्रविफलत्वदर्शनात् । ३ जयनशीलताम् । ४ घनावतमसोद्भेदे ट० । निविडान्धकारभेदेने ।  
 ५ कृता । ६ इवाग्निष्ठात् ल०, द०, प० । ७ विवेश ।



मिदमेव करः स्पृष्टा दिगस्तिमिरमेदिमिः । शर्वदंष्ट्र इवालोक्कमानेनुः निमिरत्विषा ॥१८१॥  
 इति प्रदोषसमये वाति प्रस्त्रष्टनाम् । सौधोत्संगमुद्यो मेजुः पुरस्त्रयः सह कामिभिः ॥१८२॥  
 चन्द्रनद्वसिकाङ्ग्यः क्षत्रिण्यः सावर्तसिकाः । लसदाभरणा रेजुस्तन्यः कल्पलता इव ॥१८३॥  
 इन्दुपादः समुत्कर्षमगात्मकरकेतनः । नदोद्वानिवोद्रेलो मनोवृत्तिषु कामिनाम् ॥१८४॥  
 रमणा रमणीयाश्च चन्द्रपादाः सचन्द्रनाः । मदींश्च मदनारम्भमातन्वन् रमणीजन ॥१८५॥  
 मगशङ्करजेशास्त्रैस्तज्यश्चिखिलं जगत् । नृपवल्लभिकावासान्मनोभूय्यपेणयन् ॥१८६॥  
 नास्त्रादि मदिरा स्त्रैर् नाजत्रे न करेऽर्पिता । केवलं मदनवेनात्तस्थो मेजुस्तन्याम् ॥१८७॥  
 उष्णगंगगिनी मर्तुः काश्चिन्मद्विवृण्णित । कामिनी मोहनाश्रेण ज्ञानद्वेज रजिता ॥१८८॥  
 सखीवचनमुल्लङ्घ्य भङ्गस्वा मानं निरर्गला । प्रयान्ती रमणावासं काप्यनङ्गेन धीरिता ॥१८९॥  
 शंफलीवचनैर्दूना काश्चिन् पर्यश्रुलोचना । चक्राङ्गव खर्ग तपे नायाति प्राणवल्लभे ॥१९०॥  
 शून्यगानस्वर्नैः । श्रीगामलिज्याकलङ्कृतैः । पूर्वरंगमिवानङ्गे रचयामास कामिनाम् ॥१९१॥

भी कंठिन है ॥१८०॥ जिस प्रकार वैद्यके द्वारा तिमिर रोगको नष्ट करनेवाले हार्थांसि स्पर्श की हुई आँखें बीरे-बीरे अपना प्रकाश फैलाने लगती हैं उसी प्रकार चन्द्रमाके द्वारा अन्धकार-को नष्ट करनेवाली किरणोंसि स्पर्श की हुई दिनाएँ बीरे-बीरे अपना प्रकाश फैलाने लगी थीं ॥१८१॥ इस प्रकार जिसमें तारागण स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं ऐना सार्यकालका समय होनेपर सब स्त्रियाँ अपने-अपने पतियोंके साथ महलोंकी छ्नाँपर जा पहुँचीं ॥१८२॥ जिनके समस्त शरीरपर बिसे हुए चन्द्रनका लेप लगा हुआ है, जो मालाएँ धारण किये हुई हैं, कानोंमें आभूषण पहने हैं और जिनके समस्त आभरण देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी वे स्त्रियाँ कल्पलताओंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥१८३॥ उस समय चन्द्रमाकी किरणोंनि जिस प्रकार समुद्र लहराता हुआ वृद्धिको प्राप्त होने लगता है उसी प्रकार कामी मनुष्योंके मनमें काम उड्डेलित होता हुआ बढ़ रहा था ॥१८४॥ सुन्दर पति, चन्द्रमाकी किरणें और चन्दन सहित मद्य वे सब मिलकर स्त्रियोंमें कामकी उत्पत्ति कर रहे थे ॥१८५॥ चन्द्रमाकी किरणेंरूपी विजयी दस्त्रोंके द्वारा समस्त जगत्को तिरस्कृत करता हुआ कामदेव राजाकी स्त्रियोंके निवासस्थानमें भी सेनासहित जा पहुँचा था ॥१८६॥ तरुण स्त्रियोंने न तो मदिराका स्वाद लिया, न इच्छा-नुसार उसे सूँवा और न हाथमें ही लिया, केवल कामदेवके आवेगसे ही उत्कण्ठाको प्राप्त हो गयीं, अर्थात् कामसे विह्वल हो उठीं ॥१८७॥ पतिकी गोदमें बँठी हुई और मदसे झूमती हुई कोई स्त्री कामदेवके द्वारा मोहन अस्त्रसे ताड़ित की गयी थी ॥१८८॥ कामदेवसे प्रेरित हुई कोई स्त्री सखीके वचन उल्लंघन कर तथा मान छोड़कर स्वतन्त्र हो अपने पतिके निवासस्थानको जा रही थी ॥१८९॥ कोई स्त्री पतिके न आनेपर वापस लौटी हुई दूतोंके वचनोंसे दुःखी होकर आँखांसि आँसू छोड़ रही थी और चक्रवीके समान अत्यन्त विह्वल हो रही थी - तड़प रही थी ॥१९०॥ गून्ध हृदयसे गये हुए स्त्रियोंके मुन्दर गीतोंसे तथा भ्रमरपंक्तिसे मनोहर झंकारोंसे कामदेव कामी पुरुषोंके लिए पूर्वरंग अर्थात् नाटकके प्रारम्भमें होनेवाला एक अंग विशेष ही मानो बना रहा था । भावार्थ - उस समय स्त्रियाँ पतियोंकी प्राप्तिके लिए बेसुध होकर गा रही थीं और उड़ते हुए भ्रमरोंकी गुंजार फैल रही थी जिससे ऐसा मान्य होता था मानो कामदेवरूपी नट कामक्रीडारूप नाटकके पहले होनेवाले संगीत विशेष ही दिखला रहा हो । नाटकके पहले जो मंगल-संगीत होता है उसे पूर्वरंग कहते हैं ॥१९१॥

१ मालभारिणः । २ श्रियत्माः । ३ मद्यश्च ल० । ४ सेनया सहान्धममयन् । ५ उत्कण्ठताम् । ६ प्रतिक्रिय-रहिता । ७ वैयं नीता । ८ चित्तसंगोहनहेतुगीतविशेषः । ९ कल्पविनोदः ।

‘गोत्रस्खलनसंवृद्धं मन्युमन्यामनन्यजः’<sup>१</sup> । नोपैक्षिष्ट प्रियोत्संगमनयन्नवसंगताम्<sup>२</sup> ॥१९२॥  
 नेन्दुपादैर्यति लेभे नोशीरैर्न<sup>३</sup> जलाद्व्या<sup>४</sup> । खण्डिता<sup>५</sup> मानिनी काचिदन्तस्तपे बलीयसि ॥१९३॥  
 काचिदुत्तापिभिर्वाणैस्तपिताऽपि मनोभुवा । नितस्त्रिनी प्रलीकारं नैच्छद्वैर्याविलम्बिनी ॥१९४॥  
 अनुरक्तया दूरं नीतया प्रणयोचिताम् । भूमिं यूनाऽन्यथा सोढः संदेशः<sup>६</sup> पशुधाक्षरः ॥१९५॥  
 आलि<sup>७</sup> त्वं मालिक<sup>८</sup> ब्रूहि गतः किञ्च विलक्षताम्<sup>९</sup> । प्रियानामा<sup>१०</sup> क्षरैः क्षीणैः मोहान्मन्यवतारितैः ॥  
 यथा तव हृतं चेतस्तथा लज्जाऽन्यद्वारि किम् । येन निरूप<sup>११</sup> मृयोऽपि प्रणयोऽस्मासु तन्यते ॥१९७॥  
 सैवानुवर्तनीयो ते सुभगं<sup>१२</sup> मन्यमानिनी । अस्थाने योजिता प्रीतिर्जायतेऽनुशयाय<sup>१३</sup> ते<sup>१४</sup> ॥१९८॥  
 इति प्राणप्रियां कांचि<sup>१५</sup> संदिशन्ती<sup>१६</sup> सखीजने । युवा साडरमन्येत्य नानुनिन्ये<sup>१७</sup> न मानिनीम् ॥१९९॥  
 चन्द्रपादास्तपन्तीव चन्दनं दहतीव माम् । संशुष्यत इवाऽमीभिः कामाग्निर्व्यजनानिलैः ॥२००॥

गोत्रस्खलन अर्थात्-भूलसे किसी दूसरी स्त्रीका नाम ले देनेसे जिसका क्रोध बढ़ रहा है ऐसी किसी अन्य नवीन व्याही हुई स्त्रीकी भी कामदेवने उपेक्षा नहीं की थी किन्तु उसे भी पतिके समीप पहुँचा दिया था । भावार्थ—प्रौढा स्त्रियोंकी अपेक्षा नवोढा स्त्रियोमे अधिक-मान और लज्जा रहा करती है परन्तु उस चन्द्रोदयके समय वे भी कामसे उन्मत्त हो सब मान और लज्जा भूलकर पतियोंके पास जा पहुँची थी ॥१९२॥ जिस किसी स्त्रीका पति वचन देकर भी अन्य स्त्रीके पास चला गया था ऐसी अभिमानिनी खण्डिता स्त्रीके मनका सन्ताप इतना अधिक बढ़ गया था कि उसे न तो चन्द्रमाकी किरणोसे सन्तोष मिलता था, न उशोर (खस) से और न पंखेसे ही ॥१९३॥ धीरज धारण करनेवाली कोई स्त्री कामदेवके द्वारा अत्यन्त पीड़ा देनेवाले वाणोसे दुःखी होकर भी उसका प्रतीकार नहीं करना चाहती थी । भावार्थ—अपने वैयंगुणसे कामपीड़ाको चुपचाप सहन कर रही थी ॥१९४॥ कोई तरुण पुरुष प्रेमसे भरी हुई अपनी अन्य स्त्रीको प्रेम करने योग्य किसी दूर स्थानमे ले गया था, वहाँ वह उसके कठोर अक्षरोसे भरे हुए सन्देशको चुपचाप सहन कर रही थी ॥१९५॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि हे सखि, सच कह कि क्या वह भ्रमसे मेरे विषयमे कहे हुए और अत्यन्त क्षीण अपनी प्रियाके नामके अक्षरोसे कुछ चकित हुआ था ? ॥१९६॥ कोई स्त्री अपने अपराधी पतिसे कह रही थी कि हे निर्लज्ज, जिसने तेरा चित्त हरण किया है क्या उसने तेरी लज्जा भी छीन ली है ? क्योंकि तू फिर भी मुझपर प्रेम करना चाहता है ॥१९७॥ कोई स्त्री पतिको ताना दे रही थी कि आप अपने आपको बड़ा सीमात्यशाली समझते हैं इसलिए जाइए उसी मान करनेवाली स्त्रीकी सेवा कीजिए क्योंकि अयोग्य स्थानमे की गयी प्रीति आपके सन्तापके लिए ही होगी । भावार्थ—मुझसे प्रेम करनेपर आपको सन्ताप होगा इसलिए अपनी उसी प्रेयसीके पास जाइए ॥१९८॥ इस प्रकार सखियोंके लिए सन्देश देती हुई किसी अहंकार करनेवाली प्यारी स्त्रीको उसका तरुण पति आकर बड़े आदरके साथ नहीं मना रहा था क्या ? अर्थात् अवश्य ही मना रहा था ॥१९९॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि ये चन्द्रमाकी किरणें मुझे सन्ताप दे रही हैं, यह चन्दन जला-सा रहा है और यह पंखीकी हवा मेरी कामाग्निको बढ़ा

१ नामस्खलन । २ प्रवृद्धक्रोधात् । ३ काम । ४ नववधूमित्यर्थ । ५ लामज्जक । ‘मूलेऽप्योशीरमस्त्रियाम्’ । ‘अभय नलदं ज्यममृणाल जलाद्यम् । लामज्जक लघुलभमवदाहेष्टकापथे ।’ इत्यभिधानात् । ६ व्यजनेन । ७ विद्युता । ८ सवानम् ( वायामुद्गम् ) । ९ वाचिकम् । १० नो सखि । ११ अनृतम् । १२ विस्मयान्विताम् । १३ दिव्यै । १४ निर्लज्ज । १५ अहं सुसंगति मन्यमाना रामा । १६ पशुवात्तापाम् । १७ तव । १८ सज-ल्यस्त्रीम् । वचन प्रेयस्तीम् । १९ न्येऽप्य ल०, द० । अनुनयं नाकरोदिति न । ( अपि तु करोत्येव ) ।

तमानयानुनीयेह नय मां वा तदन्तिकम् । त्वदधीना मम प्राणाः प्राणैरे बहुबलम् ॥२०१॥  
 इत्यनङ्गातुरा काचित् संदिग्धन्ती सखीं मिथः । मुनोपरोधमात्रलेपि पत्या प्रत्यग्रखण्डिता ॥२०२॥  
 राज्ये मनोमवस्थास्मिन् स्वैरं रंरभ्यतामिति । कामिनीकलकांचीभिरुदघोपीव घोषणा ॥२०३॥  
 कर्णोत्पलानिलीनालिकुलकोलाहलस्वनैः । उपजेपं किमु स्त्रीणां कर्णजाहं मनोसुवा ॥२०४॥  
 स्तनाङ्गारासमर्दी परिर्मोऽतिनिर्दयः । वधूधे कामिवृन्देपु रमसश्च कचग्रहः ॥२०५॥  
 आरक्तकलुषा दृष्टिमुखमापाटलाधरम् । रतान्ते कामिनामासीत् सीत्कृतं वाऽसकृत्कृतम् ॥२०६॥  
 पुष्पसमर्दसुरभीरास्त्वजघनांशुकाम् । संभोगावसर्ता गय्या मिथुनान्यधिगेरत् ॥२०७॥  
 कैश्चिद् वीरमर्दमैविरणास्मकृतोत्सवैः । प्रियोपरोधान्मन्दच्छैरप्यासेवि रतोत्सवः ॥२०८॥  
 केचित् कील्यङ्गनासंगमुखसंगकृतस्पृहाः । प्रियाङ्गनापरिष्वङ्गमङ्गीचक्रुर्न मानिनः ॥२०९॥  
 निजितारिमर्दसौग्या प्रिया मास्माभिरभ्यथा । इति जातिमटाः केचिन्ने भञ्जं शयनान्यपि ॥२१०॥  
 शरतलपगतानलपसुखसंकल्पतः परे । नाभ्यनन्दन् प्रियातद्वरमनल्पेच्छा भटोत्तमाः ॥२११॥  
 स्वकामिनीभिरारब्धवीरालापैर्मर्दः परैः । विमाचरी विभाताऽपि सा नावेदि रणोन्मुखैः ॥२१२॥

सी रही है ॥२००॥ इसलिए मनाकर या तो उन्हें यहाँ ले आ या मुझे ही उनके पास ले चल, यह ठीक है कि प्राणपतिके अनेक स्त्रियाँ हैं इसलिए उन्हें मेरी परवाह नहीं है किन्तु मेरे प्राण तो उन्हींके अधीन हैं ॥२०१॥ इस प्रकार कामदेवसे पीड़ित होकर कोई स्त्री अपनी सखीसे सन्देश कह ही रही थी कि इतनेमें उस नवीन विरहिणी स्त्रीको पास ही छिपे हुए उसके पतिने दोनों भुजाओंसे पकड़कर परस्पर आलिंगन किया ॥२०२॥ उस समय मनोहर गन्ध करती हुई स्त्रियोकी करधनियाँ मानो यही घोषणा कर रही थी कि आप लोग कामदेवके इस राज्यमें इच्छानुसार क्रीड़ा करो ॥२०३॥ उन स्त्रियोके कर्णफूलके कमलोंमें छिपे हुए भ्रमरोके समूह कोलाहल कर रहे थे और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेव स्त्रियोके कानोंके समीप लगकर कुछ गुप्त बातें ही कर रहा हो ॥२०४॥ उस समय कामी लोगोके समूहमें स्त्रियोके स्तनोपर लगे हुए लेपको मर्दन करनेवाला और अत्यन्त निर्दय आलिंगन बढ़ रहा था तथा वेगपूर्वक केशोंकी पकड़ा-पकड़ी भी बढ़ रही थी ॥२०५॥ सम्भोगके बाद कामी लोगोके नेत्र कुछ-कुछ लाल और कलुषित हो गये थे, मुख कुछ-कुछ गुलाबी अधरोसे युक्त हो गया था तथा उससे सो-सी शब्द भी बार-बार हो रहा था ॥२०६॥ सम्भोग-क्रियाके समाप्त होनेपर स्त्री और पुरुष दोनों ही उन शय्याओपर सो गये जो कि फूलोंके सम्मर्दसे सुगन्धित हो रही थी और जिनपर खुलकर अधोवस्त्र पड़े हुए थे ॥२०७॥ जिन्हे होनेवाले युद्धके प्रारम्भमें बड़ा आनन्द आ रहा था ऐसे कितने ही गूरवीर योद्धाओंने इच्छा न रहते हुए भी अपनी प्यारी स्त्रियोके आग्रहसे सम्भोग सुखका अनुभव किया था ॥२०८॥ कीर्तिरूपी स्त्रीके समागमसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें जिनकी इच्छा लग रही है ऐसे कितने ही मानी योद्धाओंने अपनी प्यारी स्त्रियोका आलिंगन स्वीकार नहीं किया था ॥२०९॥ 'जब हम लोग गन्धके योद्धाओंको जीत लेगे तभी प्रियाका उपभोग करेंगे अन्यथा नहीं' ऐसी प्रतिज्ञा कर कितने ही स्वाभाविक गूरवीर शय्याओपर ही नहीं गये थे ॥२१०॥ बड़ी-बड़ी इच्छाओंको धारण करनेवाले कितने ही उत्तम गूरवीरोने बाणोंकी शय्यापर सोनेसे प्राप्त हुए भारी सुखका संकल्प किया था इसलिए ही उन्होंने प्यारी स्त्रियोकी शय्यापर सोना अच्छा नहीं समझा था ॥२११॥ जिन्होंने अपनी स्त्रियोके साथ अनेक गूरवीरोकी कथाएँ कहना प्रारम्भ किया है ऐसे युद्धके

१ बहुस्त्रीके सति । २ रहसि । ३ नूतनविभूषिता । ४ रहो वभापे । भेदकुमन्त्रः सूचितः । ५ कर्णफूल । ६ ईषदक्ष्ण । ७ सुरतावसाने । नास्माभि-लं०, द०, अ०, प०, स०, इ० । ९ प्रभातापि ।

केचिद्गणरसासक्तमनेतोऽपि पुरः स्थितम् । कान्तासंगरसं स्वैरं भेजुः समरसा मयाः ॥२१३॥  
 प्रहारकर्कशो दृष्टदशनच्छदिनष्टुरः । रतास्मो रणारम्भनिर्विशेषो न्यपेवि तैः ॥२१४॥  
 रतापुवर्तनैर्गाढपरिरम्भैर्मुखापणैः । मनांसि कामिनां जहुः कामिन्यस्ताः स्मरातुराः ॥२१५॥  
 दृगद्धवीक्षितैः सान्ताहसिर्मन्मनजक्षितैः<sup>२</sup> । अकाण्डरूपितैश्चण्डैर्विवृतैरसमभ्रुभिः<sup>३</sup> ॥२१६॥  
 तासामकृतकर्त्तव्यहर्षैः कृतकैतवैः । रसिकोऽभूद् रतास्म संभोगान्तेषु कामिनाम् ॥२१७॥  
 तेषां निधुवनारम्भमतिभूभिगतं तदा । संप्रष्टुमसहन्तीव पर्यवर्ततं सा निशा ॥२१८॥  
 अलं वत चिरं रंखा दम्पती ताम्यथो युवाम् । लम्बितेन्दुमुखी तस्थौ इतीवापरदिग्बधूः ॥२१९॥  
 विघटय्य रथाङ्गानां मिथुनानि मिथोऽञ्जुमान् । तापेन तत्कृतेनेव<sup>४</sup> परितोऽभ्युदियाथ सः ॥२२०॥  
 तावदासीद् दिनारम्भो गतं नैशं तमो लयम् । सहस्राङ्गुर्दिशं प्राचीं परिरेभं करोत्करैः ॥२२१॥  
 किष्णैस्तस्मैरेव तमः शार्वरसुदृष्टम् । तरणे, करणीयं तु दिनश्रीपरिस्मरम्<sup>५</sup> ॥२२२॥  
 कोकान्तानुरागेण समं पद्माकरे श्रियम् । पुष्पलुप्यांशुसुखच्छन्नं<sup>६</sup> मुष्णात्कौमुदी श्रियम् ॥२२३॥

सन्मुख हुए अन्य योद्धा लोगोको सबेरा होते हुए भी वंह रात जान नही पड़ी थी । भावार्थ — कथाएँ कहते-कहते रात्रि समाप्त हो गयी, सबेरा हो गया फिर भी उन्हें मालूम नही हुआ ॥२१२॥ युद्ध और संभोगमें एक-सा आनन्द माननेवाले कितने ही योद्धाओंका चित्त यद्यपि युद्ध-के रसमें आसक्त हो रहा था तथापि उन्होंने सामने प्राप्त हुए स्त्रीसंभोगके रसका भी इच्छा-नुसार उपभोग किया था ॥२१३॥ उन योद्धाओंने रणके प्रारम्भके समान ही संभोगका प्रारम्भ किया था, क्योंकि जिस प्रकार रणका प्रारम्भ परस्परके प्रहारो ( चोटो ) से कठोर होता है उसी प्रकार संभोगका प्रारम्भ भी परस्परके प्रहारो अर्थात् कचग्रह, नखक्षत आदिसे कठोर था, और जिस प्रकार रणका प्रारम्भ होंठ चबाये जानेसे निर्दय होता है उसी प्रकार संभोगका प्रारम्भ भी होठोके चूम्बन आदिसे निर्दय था ॥२१४॥ कामसे पीड़ित हुई कितनी ही स्त्रियाँ पतियोका गाढ आलिंगन कर, चुम्बनके लिए उन्हें अपना मुख देकर और उनके साथ संभोगकर उनका मन हरण कर रही थी ॥२१५॥ आधी नजरसे देखना, भीतर-ही-भीतर हँसते हुए अत्यक्त शब्द कहना, असमयमें रूस जाना, बड़ी तेजीके साथ करवट बदलना, भीहोको आड़ी तिरछी चलाना और स्वाभाविक स्नेहसे भरा हुआ झूठा छल-कपट दिखाना आदि स्त्रियों-के अनेक व्यापारोसे संभोगका एक दौर समाप्त हो जानेपर भी कामी पुरुषोका पुनः संभोग प्रारम्भ हो रहा था और बड़ा ही रसीला था ॥२१६-२१७॥ उस समय वह रात्रि पोदन-पुरके स्त्री-पुरुषोके उस बड़े हुए संभोगको देख नही सकी थी इसलिए ही मानो उलट, पड़ी थी अर्थात् समाप्त हो चुकी थी — प्रातः कालके रूपमें बदल गयी थी ॥२१८॥ जिसका चन्द्रमा-रूपी मुख नीचेकी ओर लटक रहा है ऐसी पश्चिम दिशाशुपी स्त्री मानो यही कहती हुई खड़ी थी कि हे स्त्री पुरुषो, रहने दो, बहुत देर तक क्रीड़ा कर चुके, नही तो तुम दोनो ही दुःख पाओगे ॥२१९॥ सूर्यने सायंकालके समय चकवा-चकवियोको परस्पर अलग-अलग किया था इसी सन्तापसे व्याप्त हुआ मानो वह फिरसे उदय होने लगा ॥२२०॥ इतनेमें ही दिनका प्रारम्भ हुआ, रात्रिका अन्धकार विलीन हो गया और सूर्यने अपनी किरणोके समूहसे पूर्व-दिशाका आलिंगन किया ॥२२१॥ रात्रिका अन्धकार तो सूर्यकी लाल किरणोसे ही नष्ट हो गया था अब तो सूर्यको केवल दिनरूपी लक्ष्मीका आलिंगन करना बाकी रह गया था ॥२२२॥ सूर्य चकवियोके अनुरागके साथ-ही-साथ कमलोकी गोभा बड़ा रहा था और उदय

१ गाढ परि ल० । २ अन्यक्तभाषणः । ३ विषमभ्रुभिः । ४ प्रलयं गता । ५ ताम्यता ल० । ६ विघटन-कृतेन । ७ व्याप्तः । ८ आलिङ्गन चकार । ९ आलिङ्गनम् । १० —रुद्गच्छन् ल०, द० ।

तमः कवाटमुद्धाव्य दिव्यखानि प्रकाशयन् । जगदुद्धादिताक्षं<sup>१</sup> वा व्यधादुष्णकरं करैः ॥२२४॥  
 प्रातस्तारामयोत्थाय पद्माकरपरिग्रहम् । तन्वन् भानुः प्रतापेन जिगीषीवृत्तिमन्वगात्<sup>२</sup> ॥२२५॥  
 सुकण्ठा पेटुरस्युच्चैः प्रभोः प्राबोधिकास्तदा । स्वयं प्रबुद्धमप्येनं प्रबोधेनं युयुक्षयः<sup>३</sup> ॥२२६॥

हरिणीच्छन्दः

अशिशिरकरो लोकानन्दी जनैरमिनन्दितो  
 बहुभक्तकं तेजस्तन्वच्चितोऽयमुदप्यति ।  
 नृवर जगतामुद्योताय त्वमप्युदयोचितं  
 विधिमनुसरन् शय्योत्संगं जहीहि मुदे श्रियः ॥२२७॥  
 कतरकतमे<sup>४</sup> नाक्रान्तास्त्रे<sup>५</sup> बलैर्बलशालिनो  
 भुजबलमिदं लोकः प्रायो न वेत्ति तवालयकः ।  
 भरतपतिना सार्द्धं युद्धे जयाप कृतोद्यमो  
 नृपवर भवान् सूयाद् भर्ता नृवीरजयश्रियः ॥२२८॥  
 रविरविश्रुलानश्रुन्<sup>६</sup> जातानिवाश्रमशाखिनां  
 तुहिनकणिकपातानाञ्छुं प्रसृज्य करोत्करैः ।  
 अयमुदपति प्रासानन्दैरितोऽम्बुजिनीवनैः  
 उदयसमये प्रत्युद्यतो<sup>७</sup> धृतावर्मिवाऽम्बुजैः ॥२२९॥

होते ही चाँदनीकी शोभाको भी चुराता जाता था - नष्ट करता जाता था ॥२२३॥ सूर्यने अपने किरणरूपी हाथोंसे अन्धकाररूपी किवाड़ खोलकर दिशाओंके मुँह प्रकाशित कर दिये थे और समस्त जगत् नेत्र खोल दिये थे ॥२२४॥ वह सूर्य विजयकी इच्छा करनेवाले किसी राजाकी वृत्तिका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाला राजा बड़े सबेरे उठकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् लक्ष्मीका हाथ स्वीकार करता है उसी प्रकार सूर्य भी बड़े सबेरे उदय होकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् कमलोंके समूहको स्वीकार कर रहा था - अपने तेजसे उन्हें विकसित कर रहा था ॥२२५॥ यद्यपि उस समय महाराज बाहुबली स्वयं जाग गये थे तथापि उन्हें जगानेका उद्योग करते हुए सुन्दर कण्ठवाले बन्दीजन जोर-जोरसे नीचे लिखे हुए मंगलपाठ पढ़ रहे थे ॥२२६॥ हे पुरुषोत्तम, जो लोगोको आनन्द देनेवाला है और लोग जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा यह सूर्य सब लोगोको अच्छा लगनेवाले तेजको फैलाता हुआ इधर पूर्व दिशासे उदय हो रहा है इसलिए आप भी जगत्को प्रकाशित और लक्ष्मीको आनन्दित करनेके लिए सूर्योदयके समय होनेवाली योग्य क्रियाओंको करते हुए शय्याका मध्यभाग छोड़िए ॥२२७॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, आपकी सेनाओंने कितने-कितने बलशाली राजाओंपर आक्रमण नहीं किया है, ये छोटे-छोटे लोग प्रायः आपकी भुजाओंके बलको जानते भी नहीं हैं । हे नरवीर, आपने भरतेस्वरके साथ युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिए उद्यम किया है इसलिए विजयलक्ष्मीके स्वामी आप ही हों ॥२२८॥ हे देव, वगीचेके वृक्षोपर पड़ी हुई ओसकी बूँदोंको निरन्तर पड़ते हुए आँसुओंके समान अपनी किरणोंके समूहसे शीघ्र ही पोछता हुआ यह सूर्य उदय हो रहा है और उदय होते समय ऐसा जान पड़ता है मानो कमलिनियोंके वन जिन्हें आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे कमलोंके द्वारा अर्घ्य लेकर उसकी

१. विवृतनेत्रम् । २. अतिशयप्रातः काले । ३. अनुकरोति स्म । ४. प्रबोधन - द०, ल० । ५. योवतुमिच्छव ।

६. अनुगच्छन् । ७. के के । ८. तव । ९. नश्वराता - द० । १०. -कापाता - ल०, द० । ११. प्रतिगृहीत ।

अयमनुसरन् कोकः कान्तां तटान्तरशायिनी-

मचिरलगलद्वाप्पव्याजादिवोत्सज्जतीं शुचम् ।

विशति विसिनीपत्रच्छन्नां सरोजसरस्तट्यी

सरसिजरजःकीर्णौ पक्षौ विधूय शनैः शनैः ॥२३०॥

जरठविसिनीकन्दच्छायासुषस्तरलास्त्रिष-

स्तुहिनकिरणो दिक्पर्यन्तादयं प्रतिसंहरन् ।

अनुकुमुदिनीपण्ड तन्वन् करानमृतद्वयुतो

द्रव्यति परिष्वङ्गासंगं वियोगमथादिव ॥२३१॥

तिमिरकरिणां यूथं भित्वा तद्वत्परिच्छुता-

मिष तनुमयं बिभ्रच्छोणां निशाकरकेसरी ।

वनमिष नमः क्लान्त्वाऽस्ताद्रेगुहागहनान्यतः

अयति निपतं निद्रासंगाद् विजिह्विततारकः ॥२३२॥

सरति सरसीतीरं हंसः ससारसकृजितं

अटिति घटते कोकद्वन्द्वं विशापमिवाधुना ।

पतति पततां वृन्दं बिभ्रन् ह्रस्वेषु कृतास्तं

गतमिव जगत्प्रत्यापति समुद्यति भास्वति ॥२३३॥

उदयशित्तरिमावश्रेणीसरोरुहराभिगी

गगनजलधरातन्वानां प्रवालवनश्रियम् ।

दिगिभवदने सिन्दूरश्रीरलककपाटला

प्रसरतितरोऽसन्ध्यादीसिर्दिगाननमण्डनी ॥२३४॥

अगवानी ही कर रहे हो ॥२२९॥ इधर देखिए, जो दूसरे किनारेपर सो रही है और निरन्तर बहते हुए आँसुओके बहानेसे जो मानो शोक ही छोड़ रही है ऐसी अपनी स्त्री चकवीके पीछे-पीछे जाता हुआ यह चकवा कमलके परागसे भरे हुए अपने दोनों पंखोंको झटकाकर कमल-नियोके पत्तोंसे ढके हुए कमलसरोवरके तटपर धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा है ॥२३०॥ यह चन्द्रमा पके हुए मृणालकी कान्तिको चुरानेवाली अपनी कान्तिको सब दिशाओके अन्तसे खींच रहा है तथा अमृत वरसानेवाली अपनी किरणोंको प्रत्येक कुमुदनियोके समूहपर फैलाता हुआ वियोगके डरसे ही मानो उनके साथ आलिङ्गनके सम्बन्धको दृढ़ कर रहा है ॥२३१॥ जो अन्धकाररूपी हाथियोंके समूहको भेदन कर उनके रक्तसे ही तर हुएके समान लाल-लाल दिखनेवाले शरीर ( मण्डल ) को धारण कर रहा है तथा नीद आ जानेसे जिसकी नक्षत्ररूपी आँखोंकी पुतलियाँ तिरोहित अथवा कुटिल हो रही हैं ऐसा यह चन्द्रमारूपी सिंह वनके समान आकाशको उल्लघन कर अब अस्ताचलकी गुहारूप एकान्त स्थानका निश्चित रूपसे आश्रय ले रहा है ॥२३२॥ सूर्य उदय होते ही हंस, सारस पक्षियोंकी बोलीसे सहित सरोवरके किनारे-पर जा रहे हैं, चकवा चकवियोंके जोड़े परस्परमें इस प्रकार मिल रहे हैं मानो अब उनका शाप ही दूर हो गया हो, पक्षियोंके समूह चारों ओर शब्द करते हुए वृक्षोंपर पड़ रहे हैं और यह जगत् फिरसे अपने पहले रूपको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता है ॥२३३॥ उदयाचलकी चट्टानोंपर पैदा होनेवाले कमलके समान लाल तथा आकाशरूपी समुद्रमें मूँगाके वनकी

१ अभिनिवेशात् । २ वक्रिततारक । ३ अक्ष कनौनिकेति ध्वनि । ४ विगतचापम् । आक्रोशमित्यर्थ । ५ आश्रयति । ६ पक्षिणाम् । ७ कृतसमन्ताद् ध्वनिः । कृतारव ल० । ८ पूर्वस्थितिम् । ९ उदिते सति । १० आदित्ये । ११ मण्डयतीति मण्डनी ।

कमलमलिनी नालं<sup>१</sup> वेणुं<sup>२</sup> वत प्रविकस्वरं  
 गतसंख्यतां बालार्कस्य प्रसारिभिरंशुभिः ।  
 परिगतमिव<sup>३</sup> प्रादुप्यन्तिः कणैरनिलाविषां  
 नियतविपदं भिग् न्यामूर्ध्वं विवेकपराङ्मुखीम् ॥ २३५ ॥  
 उपनततरुनाधुन्वाना विलोकितषट्पदाः  
 कृतपरिचया वीचीचक्रैः सरोरुसु सरोरुहाम् ।  
 रतिपरिमलानाकर्षन्तः सरोजरजो जडाः<sup>४</sup>  
 प्रतिदिशममी मन्दं वान्ति प्रगोतनमास्ताः ॥ २३६ ॥

मालिनीच्छन्दः

नृपवर जिनभर्तुर्मङ्गलैरिभिरिष्टैः  
 प्रकटितजयघोषैस्त्वं विबुध्यस्व भूयः ।  
 भवति निखिलविघ्नप्रशान्तिर्गतस्ते  
 रणशिरसि जयश्रीकामिनी काञ्चुकस्य ॥ २३७ ॥  
 जयति दिविजनाथैः प्राप्तपूजर्द्धिरहं  
 धुतदुरितपरागो वीतरागोऽपरागः<sup>५</sup> ।  
 कृतमतिशतयुगं प्रज्वलन्मौलिरत्न-  
 च्छुरितरुचिरौचिर्मञ्जरीपिञ्जराङ्घ्रिः ॥ २३८ ॥

शोभा फैलाती हुई, दिशारूपी हाथियोंके मुखपर सिन्दूरके समान दिखनेवाली, महावरके समान गुलाबी और दिशाओंके मुखोंको अलंकृत करनेवाली यह प्रभात-सन्ध्याकी कान्ति चारों ओर बड़ी तेजीसे फैल रही है ॥ २३४ ॥ हे नाथ, यह खिला हुआ कमल लाल सूर्यकी फैलने-वाली किरणोंसे लाल-लाल हो रहा है और ऐसा मालूम होता है मानो अग्निके फैलते हुए फुल्लिगों-से व्याप्त ही हो रहा हो तथा इसी भयसे यह भ्रमरी उसमें प्रवेश करनेके लिए समर्थ नहीं हो रही है । आचार्य कहते हैं कि जिसमें आपत्ति सदा निश्चित रहती है और जो विवेकसे पराङ्मुख है ऐसी मूर्खताको धिक्कार है ॥ २३५ ॥ हे राजन्, जो उपवनके वृक्षोंको हिला रहा है, भ्रमरों-को बचल कर रहा है, जिसने कमलोंके तालाबमें लहरोके साथ परिचय प्राप्त किया है, जो स्त्री-मुखोंके संभोगकी सुगन्धको खींच रहा है और जो कमलोंके परागसे भारी हो रहा है ऐसा यह प्रातःकालका वायु सब दिशाओंमें धीरे-धीरे बह रहा है ॥ २३६ ॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, जिनमें जय-जयकी घोषणा प्रकट रूपसे की गयी है ऐसे जिनेन्द्र भगवान्के इन इष्ट मंगलोंसे आप फिरसे जग जाइए क्योंकि इन्हीं मंगलोंके द्वारा रणके अग्रभागमें विजयलक्ष्मी रूपी स्त्रीको चाहने-वाले आपके समस्त विघ्नोंकी अच्छी तरह शान्ति होगी ॥ २३७ ॥

अनेक इन्द्रोंके द्वारा जिन्हे पूजाकी ऋद्धि प्राप्त हुई है, जिन्होंने पापरूपी धूल नष्ट कर डाली है, जो वीतराग है — जिन्होंने रागद्वेष नष्ट कर दिये हैं और नमस्कार करते हुए इन्द्रोंके देदीप्य-मात्र मुकुटके रत्नोंसे मिली हुई सुन्दर किरणोंकी मंजरीसे जिनके चरण कुछ-कुछ पीले हो

१. असमर्थः । २. प्रवेशाय । ३. व्याप्तम् । ४. सुरतसमये दम्पत्यनुभुक्तकस्तूरीकूपरादिपरिमलान् । ५. मन्दा ।  
 ६. प्रातःकाले भव । ७. वीतरागद्वेषः । ८. इन्द्र । ९. व्याप्त ।

जयति जयविलास. सूच्यते यस्य पौष्पै-

रलिकुलतरुर्न निर्जितान्नमुक्तैः ।

<sup>१</sup> अनुपदयुगमस्त्रैर्महशोकादिवाचि-

पुक्तकरुणनिनादैः सोऽयमाद्यो जिनेन्द्र. ॥२३९॥

जयति जितमनोमूर्धुरिधामा<sup>२</sup> स्वयम्भू-

जिनपतिरपराग.<sup>३</sup> क्षालिताग पराग. ।

सुरमुकुटविट्कोट<sup>४</sup> पादाङ्गुली-<sup>५</sup>

जगद् जगद्गाराग्रान्तविश्रान्तबोध. ॥२४०॥

जयति मदनबाणैरक्षतात्मापि योऽधात्<sup>६</sup>

त्रिसुवनजयलक्ष्मीकामिनी वक्षसि स्वे ।

स्वयमवृत्त च मुक्तिप्रयत्नी यं विरूपा<sup>७</sup>

प्यनवर्म सुखताति तन्वती सोऽयमर्हन् ॥२४१॥

जयति समरभेरीभैरवारावभीमं

वलमरचि न क्लृप्तकण्डकोटकण्डम् ।

भुक्तुटिकुटिलमास्थं येन नाकारि बोधैः

मनसिजरिपुष्पाते सोऽयमाद्यो जिनेन्द्रः<sup>८</sup> ॥२४२॥

स जयति जिनराजो बुद्धिमान्<sup>९</sup> प्रभावः

प्रभुरभिभवितुं यं<sup>१०</sup> नागकन्मारवीरः ।

विभिन्नविजयदूराखण्डवर्षाऽपि<sup>११</sup> गर्व

न हृदि हृदिशयोऽधात् यन्<sup>१२</sup> कुण्डोत्थार्यः<sup>१३</sup> ॥२४३॥

रहे हैं ऐसे श्री अर्हन्तदेव सदा जयवन्त रहे ॥२३८॥ जिनके भीतर भ्रमरोंके समूह गुंजार कर रहे हैं और उनसे जो ऐसे मालूम होते हैं मानो अपनी पराजयके शोकसे रोते हुए कामदेवके करुण क्रन्दनको ही प्रकट कर रहें हो तथा उसी हारे हुए कामदेवने अपने पुष्परूपी शस्त्र भगवान्के चरण-युगलके सामने डाल रखे हों ऐसे पुष्पीके समूहसे जिनके विजयकी लीला सूचित होती है वे प्रथम जिनेन्द्र श्री वृषभदेव जयवन्त हो ॥२३९॥ जिन्होंने कामदेवको जीत लिया है, जिनका तेज अपार है, जो स्वयंभू है, जिनपति है, वीतराग है, जिन्होंने पापरूपी धूलि धो डाली है, जिनके चरणकमलोकी शोभा देव लोगोंने अपने मुकुटके अग्रभागपर धारण कर रखी है और जिनका ज्ञान लोक-अलोकरूपी घरके अन्त तक फैला हुआ है ऐसे श्री प्रथम जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहे ॥२४०॥ जिनकी आत्मा कामदेवके बाणोंसे धायल नहीं हुई है तथापि जिन्होंने तीनों लोकोंकी जयलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अपने वक्ष-स्थलपर धारण किया है और मुक्तिरूपी स्त्रीने जिन्हे स्वयं वर बनाया इसके सिवाय वह मुक्तिरूपी स्त्री विरूपा अर्थात् कुरुपा (पक्षमें आकाररहित) होकर भी जिनके लिए उत्कृष्ट सुख-समूहको बढ़ा रही है वे अर्हन्तदेव सदा जयवन्त हों ॥२४१॥ जिन्होंने जगद्विजयी कामदेवरूपी सन्तुको नष्ट करनेके लिए न तो युद्धके नगाड़ोंके मयंकर शब्दोंसे भीषण तथा शब्द करते हुए धनुषोंसे युक्त सेना ही रची और न अपना मुँह ही भीहोंसे टेढ़ा किया वे प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२४२॥ जो सब जगत्के स्वामी है, कामदेवरूपी योद्धा भी जिन्हे जीतने-

१ पदयुगसमीपे । २ वहलतेजा । ३ अपगतराग । ४ वलम्बा धृत । ५ लोकालोकाग्रान्त । ६ धारयति स्म । ७ अमूर्तापि, कुरुपापीति ध्वनि । ८ अप्रमितसुखपरम्पराम् । ९ जिनेन्द्र ल०, द० । १० अचिन्त्य । ११ समयो ना भूत् । १२ अत्यर्थः । १३ सर्वज्ञे । १४ मन्द । 'कुण्डो मन्द. क्रियासु च' इत्यभिधानात् ।



जयति तस्मिन्को दुन्दुभिः पुष्पवर्ष  
 चमरिरुहसमेतं विष्टरं सैहमुद्धम् ।  
 वचनमसममुच्चैरातपत्रं च तेजः  
 त्रिभुवनजयचिह्नं यस्य सार्वो जिनोऽसौ ॥२४४॥  
 जयति जननतापच्छेदि यस्य क्रमाब्जं  
 विपुलफलदमाराधनाकीन्द्रभृङ्गम् ।  
 समुपनतजनानां ग्रीणनं कल्पवृक्ष-  
 स्थितिमतनुमहिम्ना सोऽवतात्तीर्यकृद्गः ॥२४५॥  
 नृवर भरतराज्योऽप्यूर्जितस्यास्य युष्मद्-  
 भुजपरिघयुगस्य प्राप्नुयात्तैव कक्षासम् ।  
 भुजबलमिदमास्तां दृष्टिमात्रेऽपि कस्ते  
 रणनिषकगतस्य स्थातुमीशः क्षितीशः ॥२४६॥  
 तदलमधिप कालक्षेपयोगेन विद्रां  
 जहिहि महति कृत्ये जागरुकस्त्वमेधि ।  
 सपदि च जयलक्ष्मीं प्राप्य भूयोऽपि देवं  
 जिनमचनम् भक्त्या शासितारं जयाय ॥२४७॥  
 हरिणीच्छन्दः  
 इति समुचितैस्त्वैरुच्चावचैर्जयमङ्गलैः  
 सुघटितपदैर्भूयोऽमीभिर्जयाय विबोधितः ।  
 शयनममुचभिद्रापायात् स पाथिवकुञ्जरः  
 सुरगज इवोत्संगं गङ्गाप्रतीरभुवः शनैः ॥२४८॥

के लिए समर्थ नहीं हो सका तथा जिनके सामने, देवोंको जीतनेसे जिसका अहंकार बढ़ गया है ऐसा कामदेव भी शस्त्र और सामर्थ्यके कुण्ठित हो जानेसे हृदयमें अहंकार धारण नहीं कर सका ऐसे अचिन्त्य प्रभावके चारक वे प्रसिद्ध जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहे ॥२४३॥ अशोक वृक्ष, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, चमर, उत्तम सिंहासन, अनुपम वचन, ऊँचा छत्र और भामण्डल ये आठ प्रातिहार्य जिनके तीनों लोकोको जीतनेके चिह्न हैं वे सबका हित करनेवाले श्री वृषभ-जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहे ॥२४४॥ जिनके चरणकमल जन्मरूप सन्तापको नष्ट करनेवाले हैं, स्वर्ग मोक्ष आदि बड़े-बड़े फल देनेवाले हैं, दूरसे नमस्कार करते हुए इन्द्र ही जिनके भ्रमर हैं और जो शरणमें आये हुए लोगोको कल्पवृक्षके समान सन्तुष्ट करनेवाले हैं ऐसे वे तीर्थकर भगवान् सदा विजयी हो और अपने विशाल माहात्म्यसे तुम सबकी रक्षा करे ॥२४५॥ हे पुरुषोत्तम, महाराज भरत भी आपके दोनों भुजारूपी अर्गलदण्डोंकी तुलना नहीं प्राप्त कर सकते हैं, अथवा भुजाओंका बल तो दूर रहे, जब आप युद्धके निकट जा पहुँचते हैं तब आपके देखने मात्रसे ही ऐसा कौन राजा है जो आपके सामने खड़ा रहनेके लिए समर्थ हो सके ॥२४६॥ इसलिए हे अधीश्वर, समय व्यतीत करना व्यर्थ है, निद्रा छोड़िए, इस महान् कार्यमें सदा जागरूक रहिए और शीघ्र ही विजयलक्ष्मीको पाकर अन्य सब जगह विजय प्राप्त करनेके लिए सवपर शासन करनेवाले देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवको भक्तिपूर्वक फिरसे नमस्कार कीजिए ॥२४७॥ इस प्रकार जिनमें अच्छे-अच्छे पदोंकी योजना की गयी है ऐसे अनेक प्रकारके

१ प्रशस्तम् । २ प्रभामण्डलम् । ३ सर्वहितम् । ४ समानताम् । ५ तत् कारणात् । ६ जागरणशीलम् । ७ भव । ८ नमस्कुर्व । ९ नानाप्रकारम् ।



## षट्त्रिंशत्तमं पर्व

अथ दूतवचनचपडमस्ताघातवृणितः । प्रचवाल बलाम्भोधिजिष्णोराख्य रोद्री<sup>१</sup> ॥१॥  
 साङ्ग्रामिक्यो<sup>२</sup> महाभयस्तदा धीरं प्रदध्नुः ।<sup>३</sup> यद्वानैः माध्वसं भेजुः<sup>४</sup> खड्गव्यग्रा नमश्चराः ॥२॥  
 बलानि प्रविभक्तानि<sup>५</sup> निधीशस्य विनिर्ययुः । पुरः पादात्मर्थायमाराराचार्व<sup>६</sup> हास्तिकम् ॥३॥  
 रथकट्यापरिक्षेपो<sup>७</sup> बलस्थोभयपञ्चयोः । अग्रतः पृष्ठतश्चामीदूष्वं च खचरामरा ॥४॥  
 पङ्क्त्यवलसामग्र्या सम्पन्नः पार्थिवैरमा<sup>८</sup> । प्रतस्थे भरताधीशो निजानुजजिगीयथा ॥५॥  
 महान् राजघटाबन्धो<sup>९</sup> रेजे सजयकेतनः । गिरीणामिव संघात संचारी सह शास्त्रिभिः<sup>१०</sup> ॥६॥  
<sup>११</sup> इच्छोतन्मवजलासारमिकभूमिमंदद्विपैः<sup>१२</sup> । प्रतस्थे रुद्धदिक्चक्रैः सैलैरिव सनिभैः<sup>१३</sup> ॥७॥  
 जयस्तन्धरमा रेजुस्तुङ्गाः शृङ्गारिताङ्गकाः । सान्द्रसंघातपक्रान्ताश्चलन्त इव भूधराः ॥८॥  
 चमूततुङ्गा रेजुः सज्जाः<sup>१४</sup> सजयकेतनाः । कुलशैला इवायाताः प्रभोः स्वबलदर्शने<sup>१५</sup> ॥९॥  
 गजस्कन्धगता<sup>१६</sup> रेजुर्धृता विष्टताङ्कुशाः । प्रदीप्तोद्भटनेपथ्या<sup>१७</sup> दर्पाः संपिण्डिता इव ॥१०॥

अथानन्तर-दूतके वचनरूपी तेज वायुके आघातसे प्रेरित हुआ चक्रवर्तीका सेना रूपी समुद्र आकाश और पृथिवीकी रोकता हुआ चलने लगा ॥१॥ उस समय युद्धकी सूचना करनेवाले बड़े-बड़े नगाड़े गम्भीर शब्दोंसे वज रहे थे और उनके शब्दोंसे तलवार उठानेमें व्यग्र हुए विद्याधर भयभीत हो रहे थे ॥२॥ चक्रवर्तीकी सेनाएँ अलग-अलग विभागोंमें विभक्त होकर चल रही थी, सबसे आगे पैदल सैनिकोंका समूह था, उससे कुछ दूरपर घोड़ोंका समूह था और उससे कुछ दूर हटकर हाथियोंका समूह था ॥३॥ सेनाके दोनों ओर रथोंके समूह थे तथा आगे पीछे और ऊपर विद्याधर तथा देव चल रहे थे ॥४॥ इस प्रकार छह प्रकारकी सेना-सामग्रीसे सम्पन्न हुए महाराज भरतेश्वरने अपने छोटे भाईको जीतनेकी इच्छासे अनेक राजाओंके साथ प्रस्थान किया ॥५॥ उस समय विजय-पताकाओंसे सहित बड़े-बड़े हाथियोंके समूह ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वृक्षोंके साथ-साथ चलते हुए पर्वतोंके समूह ही हों ॥६॥ जिनसे झरते हुए मदजलकी वृष्टिसे समस्त भूमि सींची गयी है और जिन्होंने सब दिशाएँ रोक ली है ऐसे मदोन्मत्त हाथियोंके साथ चक्रवर्ती भरत चल रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे मालूम होते थे मानो झरनेसे सहित पर्वत ही हों ॥७॥ जिनके समस्त गरीरपर शृंगार किया गया हो और जो बहुत ऊँचे हैं ऐसे वे विजयके हाथी ऐसे सुशोभित होते थे मानो सन्ध्याकालकी सवन धूपसे व्याप्त हुए चलते-फिरते पर्वत ही हों ॥८॥ जो सब प्रकारसे सजाये गये हैं और जिनपर विजय-पताकाएँ फहरा रही हैं ऐसे वे सेनाके हाथी इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो महाराज भरतको अपना बल दिखानेके लिए कुलाचल ही आये हों ॥९॥ जिन्होंने देदीप्यमान तथा वीररसके योग्य वेष धारण किया है, और जिन्होंने अंकुश हाथमें ले रखा है ऐसे हाथियोंके कन्धोंपर बैठे हुए महावत लोग ऐसे जान पड़ते थे मानो एक जगह

१ चापापुथिग्यो । २ युद्धदेतव । ३ सुध्वानै लं । ४ आयुधस्वीकारव्याकुलाः । ५ संकरमकृत्वा प्रविभा-  
 जितानि । ६ समीपे । ७ रथसमूहपरिवृत्ति । ८ उभयपार्श्वयोरित्यर्थः, मूलवैतनिकयो, मूल कारणं पुष्टं  
 प्राप्ता । वैतनेन जीवन्तो वैतनिकाः । ९ सह । १० आसमूह । ११ वृक्ष । १२ खवत् । १३ वेगवद्वर्ष ।  
 'धारासपात आसार' । १४ सन्नद्धीकृताः । १५ निजबलदर्शने । १६ गंजारोहका । १७ वीररसालकारा ।

कौशेयकैर्निशाता<sup>१</sup> ग्रथाराग्रैः सादिनो<sup>२</sup> वसुः । मूर्त्तिभूय भुजोपाग्रलम्बैर्वा<sup>३</sup> स्वं पराक्रमैः ॥११॥  
धन्विनः शरनाराच<sup>४</sup> मंथनेषुधयो<sup>५</sup> वसुः । त्रनक्षमात्वा महाशाखाः कोटरस्यैरिवाहिभिः ॥१२॥  
रथिनो रथकव्यासु संश्रुतोचितहेतयः । मट्टग्रामवार्धितरणे<sup>६</sup> प्रस्थितानाविका<sup>७</sup> इव ॥१३॥  
मटा इत्थुरस<sup>८</sup> भेजुः सगिरम्भतनुत्रका<sup>९</sup> । मसुखातनिशातासिपाणय<sup>१०</sup> पाट्रभ्रम<sup>११</sup> ॥१४॥  
पुस्फुरः<sup>१२</sup> स्फुरदन्त्रावा मटाः संदंशिताः<sup>१३</sup> परे । औत्पानिका<sup>१४</sup> इवानालाः मोल्का मेवाः समुत्थिताः ॥१५॥  
करवालं कालाग्रं करे कृत्वा मट्टेभ्यः । पश्यन् मुखरम् तन्मिन्<sup>१५</sup> स्वर्गार्थं परिवर्जितवान् ॥१६॥  
कराग्रविभ्रनं खड्गं तुलयन् कोऽप्यमाद् भरः । प्रमिभिन्सुरिवानेन<sup>१६</sup> स्वामिमत्कारगौरवम् ॥१७॥  
महामुकुटवद्धानां साधनानि<sup>१७</sup> प्रतस्थिरे । पादातहास्तिकाश्चरयकट्यापरिच्छदः<sup>१८</sup> ॥१८॥  
वभुमकुटवद्वास्ते रत्नाद्युत्पन्नमौलयः । सलीलालोकपालानामंशा<sup>१९</sup> भुवमिवागताः ॥१९॥  
परिवेष्ट्य निर्ययन्ते<sup>२०</sup> पार्थिवा पृथिवींश्चम् । दूरान् स्ववलमामग्रीं दुर्जयम्नो यथायथम् ॥२०॥  
<sup>२१</sup>प्रत्यग्रसमरारम्भमंश्रवोद्भ्रान्तचेतनः । <sup>२२</sup>मटीराश्यामयामानुमंडाः<sup>२३</sup> प्रत्याय्य धीरिनः<sup>२४</sup> ॥२१॥

इकट्ठा हुआ अभिमान ही हो ॥१०॥ घुडसवार लोग, जिनकी आगेकी धारका अग्रभाग बहुत तेज है ऐसी तलवारोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो उनके पराक्रम ही मूर्तिमान् होकर उनकी भुजाओंके अग्रभाग अर्थात् हाथोंमें आ लगे हों ॥११॥ जिनके तरकस अनेक प्रकारके धाणोंसे भरे हुए हैं ऐसे धनुर्धारी लोग इस प्रकार जान पड़ते थे मानो बड़ी-बड़ी शाखावाले वनके वृक्ष कोटोमें रहनेवाले सर्पोंसे ही सुशोभित हो रहे हो ॥१२॥ जिन्होंने रथोंके समूहमें युद्धके योग्य सब गस्त्र भर लिये हैं ऐसे रथोपर बैठनेवाले योद्धा लोग इस प्रकार चल रहे थे मानो युद्धरूपी समुद्रको पार करनेके लिए नाव चलानेवाले खेवटिया ही हों ॥१३॥ जिन्होंने गिरपर टोप और शरीरपर कवच धारण किया है तथा हाथमें पैनी तलवार ऊँची उठा रखी है ऐसे कितने ही योद्धा लोग हाथियोंके पैरोकी रक्षा करनेके लिए उनके सामने चल रहे थे ॥१४॥ जिनके हाथोंमें शस्त्रोंके समूह चमक रहे हैं और जो लोहेके कवच पहने हुए हैं ऐसे कितने ही योद्धा ऐसे देदीप्यमान हो रहे थे मानो किसी उत्पातको सूचित करनेवाले उल्कासहित काले काले मेघ ही उठ रहे हो ॥१५॥ कोई अन्य योद्धा पैनी धारवाली तलवार हाथमें लेकर उसमें अपने मुखका रंग देखता हुआ अपने पराक्रमका परिज्ञान प्राप्त कर रहा था ॥१६॥ कोई अन्य योद्धा हाथके अग्र भागपर रखी हुई तलवारको तोलता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह उससे अपने स्वामीके आदर-सत्कारका गौरव ही तोलना चाहता हो ॥१७॥ पैदल सेना, हाथियोंके समूह, घुडसवार और रथोंके समूह आदि सामग्रीके साथ-साथ महामुकुटवद् राजाओंकी सेनाएँ भी चल रही थी ॥१८॥ रत्नोंकी किरणोंसे जिनके मुकुट ऊँचे उठ रहे हैं ऐसे वे मुकुटवद् राजा इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो लीलासहित लोकपालोंके अंश ही पृथ्वीपर आ गये हों ॥१९॥ अनेक राजा लोग महाराज भरतको घेरकर चल रहे थे और दूरसे ही अपनी सेनाकी सामग्री यथायोग्यरूपसे दिखलाते जाते थे ॥२०॥ नवीन

१ निशित । २ अन्वारोहा । 'अन्वारोहास्तु सादिन' इत्यभिधानात् । ३ इव । ४ प्रक्षेडनास्तु नाराचाः । ५ इषुभिः तूणीर । 'तूणीपासइषुतूणीरनिपङ्गा इषुभिर्दयो' । तूण्यामित्यभिधानात् । संभूतेषुवच. ल०, व०, अ०, प०, स०, इ० । ६ समरयमुद्रोत्तरणार्थम् । ७ कर्णवाराः । 'कर्णवारस्तु नाविकः' इत्यभिधानात् । ८ हस्तिमुखम् । ९ कवच । १० पादरक्षाार्थम् । ११ स्फुरन्ति स्म । १२ कवचित्ताः । 'सनद्धो वसितः सज्जो दशितो व्युदकण्टक' इत्यभिधानात् । १३ उत्पातहेतवः । १४ स्वं शौर्यम् ल० । १५ बुबुबे । १६ प्रमातुमिच्छः । प्रतिभिस्तु - द०, ल०, प०, इ०, अ०, स० । १७ खड्गैः सह । १८ बलानि । १९ परिकरैः । २० कैवल्लो-कपाला इत्यर्थः । २१ निर्ययुः । २२ नूतनरणारम्भमंश्रवणादुद्भ्रान्तचेतो यासां तास्ताः । २३ मट्टोपित । २४ दिव्याय । २५ धीरवचनैः ।

भूरणवस्तवाश्रीयसुरोद्धृताः खलङ्घिनः<sup>१</sup> । क्षणविजितसंग्रेशाः<sup>२</sup> प्रचक्रुरमरादृगनाः ॥२२॥  
 रज.संतमसे रुद्रत्रिक्रके व्योमलङ्घिनि । चक्रोद्योतो नृणां चक्रे दृगः स्वविपयोन्मुखाः ॥२३॥  
 समुद्रमटरमप्रायः<sup>३</sup> मटालापैर्महीश्वराः । प्रयाणके धृतिं प्रापुर्जनजलपैर्यादृशैः ॥२४॥  
 रणभूमिं प्रसाध्यारा<sup>४</sup> स्थितो बाहुवली नृपः । अयं च नृपयार्दूलः प्रस्थितो निनिन्यन्त्रगः ॥२५॥  
 न विन्त किञ्च खल्वत्र स्याद् आत्रोरनयोरिति । प्रायो न शान्तये युद्धमानयोरनुजीविनाम्<sup>५</sup> ॥२६॥  
 विरूपकसिद्धं<sup>६</sup> युद्धमारब्धं भरतेशिना । ऐश्वर्यसदृश्वराः स्वैरिणः प्रमवोऽश्वराः<sup>७</sup> ॥२७॥  
 इमं मकुट्यवहाः किं नैनौ वारयितुं क्षमाः । येऽमी समग्रमामग्रया<sup>८</sup> सङ्ग्रामयितुमागताः ॥२८॥  
 अहो महानुभावोऽयं कुमारो युजविक्रमी । क्रुद्धे चक्रधरेऽप्येवं यो योद्धुं संमुखं स्थितः ॥२९॥  
 १३ अथवा तन्त्रभूयस्त्व<sup>९</sup> न जयाद्गं मनस्विनः । ननु सिंहो जयत्येकः महितानपि<sup>१०</sup> दन्तिनः ॥३०॥  
 अयं च चक्रभृद् देवो नेष्टः सामान्यमानुषः । योऽभिरक्षयः सहस्रेण प्रणत्राणां सुधाभुजाम्<sup>११</sup> ॥३१॥  
 १४ तन्मा भूदनयोर्युद्धं जनसक्षयकारणम् । कुर्वन्तु देवताः शान्तिं यदि सन्निहिता इमाः ॥३२॥  
 इति माध्यस्थ्यदृश्यैकं<sup>१२</sup> जनाः श्लाघ्यं वचो जगुः । पक्षपातहताः केचित् स्वपक्षोत्कर्षमुज्जगुः ॥३३॥

युद्धका प्रारम्भ मुनकर जिनके चित्त व्याकुल हो रहे है ऐसी स्थियोंको वीर योद्धा वड़ी धीरताके साथ समझाकर आश्वासन दे रहे थे ॥२१॥ उस समय घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई और अक्राणको उल्लघन करनेवाली पृथिवीकी घूल क्षण-भरके लिए देवागनाओंके देखनेमें भी बाधा कर रही थी ॥२२॥ समस्त दिगाओंको व्याप्त करनेवाले और आकाशको उल्लघन करनेवाले उस बल्लिसे उत्पन्न हुए अन्धकारमें चक्ररत्नका प्रकाश ही मनुष्योंके नेत्रोंको अपना-अपना विषय ग्रहण करनेके सम्मुख कर रहा था ॥२३॥ राजा लोग रास्तेमें अत्यन्त उत्कट वीररससे भरे हुए योद्धाओंके परस्परके वार्तालापसे तथा इसी प्रकारके अन्य लोगोंकी वात-चीतसे ही उत्साहित हो रहे थे ॥२४॥ उधर राजा बाहुवली रणभूमिको दूरसे ही युद्धके योग्य बनाकर ठहरे हुए है और इधर राजाओंमें सिंहके समान तेजस्वी महाराज भरत भी यन्त्रणा-रहित ( उच्छृंखल ) होकर उनके सम्मुख जा रहे हैं ॥२५॥ नही मालूम इस युद्धमें इन दोनों भाइयोंका क्या होगा ? प्रायः कर इनका यह युद्ध सेवकोंकी शान्तिके लिए नहीं है । भावार्थ - इस युद्धमें सेवकोंका कल्याण दिखाई नहीं देता है ॥२६॥ भरतेश्वरने यह युद्ध बहुत ही अयोग्य प्रारम्भ किया है सो ठीक ही है क्योंकि जो ऐश्वर्यके मदसे रोके नहीं जा सकते ऐसे प्रभु लोग स्वच्छाचारी ही होते है ॥२७॥ जो ये मूकुटवद्ध राजा समस्त सामग्रीके साथ युद्ध करनेके लिए आये हुए हैं वे क्या इन दोनोंको नहीं रोक सकते हैं ? ॥२८॥ अहो, भुजाओंका पराक्रम रखनेवाला यह कुमार बाहुवली भी महाप्रतापी है जो कि चक्रवर्तिके कुपित होनेपर भी इस प्रकार युद्धके लिए सम्मुख खड़ा हुआ है ॥२९॥ अथवा गूरवीर लोगोको सामग्रीकी अधिकता विजयका कारण नहीं है क्योंकि एक ही सिंह झुण्डके झुण्ड हाथियोंको जीत लेता है ॥३०॥ नमस्कार करते हुए हजारो देव जिसकी रक्षा करते है ऐसा यह चक्रको धारण करने-वाला भरत भी साधारण पुरुष नहीं है ॥३१॥ इसलिए जो अनेक लोगोके विनाशका कारण है ऐसा इन दोनोंका युद्ध नहीं हो तो अच्छा है, यदि देव लोग यहाँ समीपमें ही तो वे इस युद्धकी शान्ति करे ॥३२॥ इस प्रकार कितने ही लोग मध्यस्थ भावसे प्रशंसनीय वचन कह रहे थे

१ आकाशलङ्घिनः । २ राजाओंका । ३ रजोऽन्धकारः । ४ वीररसबहुलः । ५ अलङ्घ्यता । ६ समीप । ७ नृपश्रेष्ठ भरत इत्यर्थः । ८ निरङ्कुशः । ९ मटानाम् । १० कष्टम् । ११ - यो यत् ल० । १२ युद्ध-कारणमित् । १३ तथाहि । १४ सेनाबाहुल्यम् । १५ संयुक्तान् । १६ देवानाम् । १७ तत् कारणम् । १८ अन्ये ।

एवं<sup>१</sup> प्रायज्जनापैर्महीनाया विनोदिताः । द्रुतं<sup>२</sup> प्राप्नुस्तमुद्देशं यत्र वीराग्रणीरसौ<sup>३</sup> ॥३३॥  
 दोर्दपं<sup>४</sup> विग्राग्न्यास्य दुर्विलङ्घ्यमरातिभिः । त्रेषु प्रतिमयाः प्रायस्तस्मिन्नासन्नसंनिधौ<sup>५</sup> ॥३४॥  
 इत्यभ्यर्णं बले जिष्णोर्वलं मुजवलीशिनः । जलमध्वेरिवाधुस्यद् वीरध्वाननिद्वदिक<sup>६</sup> ॥३५॥  
 अथोमयबले धीराः संनद्धराजवाजयः<sup>७</sup> । वलान्यारचयामासुरन्योऽन्यं प्रयुयुस्तथा<sup>८</sup> ॥३६॥  
 तावच्च मन्त्रिणो मुख्या संप्रधायिवदक्षितिः । शान्तये नैनयोर्युद्धं<sup>९</sup> ग्रहयोः क्रूरयोरिव ॥३७॥  
 चरमाणधरावेतौ नानयोः कान्चन क्षतिः । क्षयो जन्तस्य पक्षस्य<sup>१०</sup> व्याजेनानेन<sup>११</sup> जृम्भितः ॥३८॥  
 इति निश्चित्य मन्त्रज्ञा भीत्वा भूथो जनक्षयात् । तयोरनुमतिं लब्ध्वा धर्म्यं रणमधोपयन्<sup>१२</sup> ॥३९॥  
 अकारणरणेनालं जनसंहारकारिणा । महानेव<sup>१३</sup> मधर्मश्च गर्गायाश्च यशोवध<sup>१४</sup> ॥४०॥  
 बलोरुर्ध्वपरीक्षेयमन्यथाऽप्युपपद्यते<sup>१५</sup> । तदस्तु युवयोरिव मिथो युद्धं त्रिधात्मकम् ॥४१॥  
 भूभङ्गे<sup>१६</sup> चिना भङ्गः सोढव्यो युवयोरिव । विजयश्च विनोत्सेकां<sup>१७</sup> धर्मो ह्येव तनामिषु ॥४२॥  
 इत्युक्तौ पार्थिवैः सर्वैः सोपरोधैश्च मन्त्रिभिः । तौ कृच्छ्वात् प्रत्यपत्सतां<sup>१८</sup> तदर्थं युद्धमुद्धतौ ॥४३॥

और कितने ही पक्षपातसे प्रेरित होकर अपने ही पक्षकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ ३३ ॥ प्रायः लोगोंके इसी प्रकारके बचनोसे मन बहलाते हुए राजा लोग शीघ्र ही उस स्थानपर जा पहुँचे जहाँ वीरशिरोमणि कुमार बाहुबली पहलेसे बिराजमान था ॥ ३४ ॥ बाहुबलीके समीप पहुँचते ही भरतके योद्धा, जिसका गन्तु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते ऐसा बाहुबलीकी भुजाओका दर्प देखकर प्रायः कुछ डर गये ॥ ३५ ॥ इस प्रकार चक्रवर्ती भरतकी सेनाके समीप पहुँचनेपर वीरोके शब्दोसे दिशाओको भरनेवाली बाहुबलीकी सेना समुद्रके जलके समान क्षोभको प्राप्त हुई ॥ ३६ ॥

अथानन्तर — दोनों ही सेनाओमें जो गूरवीर लेश थे वे परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे अपने हाथी घोड़े आदि सजाकर सेनाकी रचना करने लगे — अनेक प्रकारके व्यूह आदि बनाने लगे ॥ ३७ ॥ इतनेमें ही दोनों ओरके मुख्य-मुख्य मन्त्री विचारकर इस प्रकार कहने लगे कि क्रूरग्रहोके समान इन दोनोंका युद्ध शान्तिके लिए नहीं है ॥ ३८ ॥ क्योंकि ये दोनों ही चरम शरीरी हैं, इनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, केवल इनके युद्धके बहानेसे दोनों ही पक्षके लोगोंका क्षय होगा ॥ ३९ ॥ इस प्रकार निश्चय कर तथा भारी मनुष्योंके संहारसे डरकर मन्त्रियोने दोनोंकी आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करनेकी घोषणा कर दी ॥ ४० ॥ उन्होंने कहा कि मनुष्योंका संहार करनेवाले इस कारणहीन युद्धसे कोई लाभ नहीं है क्योंकि इसके करनेसे बड़ा भारी अधर्म होगा और यशका भी बहुत विधात होगा ॥ ४१ ॥ यह बलके उत्कर्षकी परीक्षा अन्य प्रकारसे भी हो सकती है इसलिए तुम दोनोंका ही परस्पर तीन प्रकारका युद्ध हो ॥ ४२ ॥ इस युद्धमें जो पराजय हो वह तुम दोनोंको भीहके चढ़ाये बिना ही — सरलतासे सहन कर लेना चाहिए तथा जो विजय हो वह भी अहंकारके बिना तुम दोनोंको सहन करना चाहिए क्योंकि भाई भाइयोंका यही धर्म है ॥ ४३ ॥ इस प्रकार जब समस्त राजाओ और मन्त्रियोने बड़े आग्रह-के साथ कहा तब कहीं बड़ी कठिनतासे उद्धत हुए उन दोनों भाइयोने वैसा युद्ध करना स्वीकार

१ एवमाद्यै । २ प्राप्ता ल०, प०, द० । ३ भुजवली स्थित । ४ विचार्य । ५ बाहुवलिनि । ६ अत्यामने सति । ७ भरतस्य । ८ वीरा ल०, द०, अ०, प०, स०, द० । ९ वाजिन अ०, स०, द० । १० प्रकट्ठेण बोद्धुमिच्छया । ११ नावयो — ल० । १२ सहायस्य । १३ युद्धच्छेदेन । १४ एवं मति । युद्धे सतीत्यर्थ । १५ कीर्तिनाथ । १६ घटते इत्यर्थ । १७ तत् कारणात् । १८ क्रोधाभावेनेत्यर्थ । १९ गर्वाभावादित्यर्थ । २० अनुमेनाते ।

जलदृष्टिनियुद्धे<sup>१</sup> योऽनयोजयमाप्स्यति । स जयश्रीविलासिन्याः पतिरस्तु स्वयंवृतः ॥४५॥  
 इत्युद्योष्य कृतानन्दमानन्दिन्या गभीरया । मेधां चमूषधानानां<sup>२</sup> न्यधुरेकत्र संनिधिम<sup>३</sup> ॥४६॥  
 नृपा भरतगृह्या ये तानेकत्र न्यवेशयन् । ये बाहुबलिगृह्याश्च पार्थिवास्तानलोऽन्यतः ॥४७॥  
 मध्ये महीभृतां तेषां रेतसुस्तौ नृपौ स्थितौ । गतौ निवधनीलाद्री कुतश्चिद्वै<sup>४</sup> संनिधिम<sup>५</sup> ॥४८॥  
 तथोभुजबली रेजे गह्वरावसच्छविः । जम्बूद्वीप इवोत्तुङ्गः सशृङ्गोऽसितं मूर्धजः ॥४९॥  
 रराज राजराजोऽपि तिरीटोदग्रविग्रहः । सचूलिक इवाद्भीन्ः तप्तवामीकरच्छविः ॥५०॥  
 दधन्दीरतरां दण्डिं निर्निमेषामनुद्गटाम्<sup>६</sup> । दृष्टियुद्धे जयं प्राप प्रसभं<sup>७</sup> भुजविक्रमी ॥५१॥  
 विनिवार्य कृतक्षोभमनिवार्यं बलार्णवम् । मर्यादया यंबीथांसं<sup>८</sup> जयेनायोजयवृषाः ॥५२॥  
 सरसीजलमाराढीं<sup>९</sup> जलयुद्धे मदोद्धतौ । दिग्गजाविव तौ दीर्घैर्व्यालु<sup>१०</sup> क्षीमासमुत्सृजैः ॥५३॥  
 अधिवक्षस्तरं जिष्णो रेजुरच्छा जलच्छटा । शैलमर्तुरिवोत्सङ्गसगिम्भः<sup>११</sup> कृतयोऽम्भसाम् ॥५४॥  
 जलौघो भरतेशेन सुफो दोर्वलशालिनः । प्राशोऽप्राप्य दूरेण मुखमारात् समापतत् ॥५५॥

किया ॥४४॥ 'इन दोनोंके बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुमे जो विजय प्राप्त करेगा वही विजय-लक्ष्मीका स्वयं स्वीकार किया हुआ पति हो, इस प्रकार सबको आनन्द देनेवाली गम्भीर मेरियोंके द्वारा जिसमे सबको हर्ष हो इस रीतिसे घोषणा कर मन्त्री लोगोंने सेनाके मुख्य-मुख्य पुरुषोंको एक जगह इकट्ठा किया ॥४५-४६॥ जो भरतके पक्षवाले राजा थे उन्हें एक ओर बैठाया और जो बाहुबलीके पक्षके थे उन्हें दूसरी ओर बैठाया ॥४७॥ उन सब राजाओंके बीचमें बैठे हुए भरत और बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी कारणसे निषध और नीलपर्वत ही पास-पास आ गये हो ॥४८॥ उन दोनोंमें नीलमणिके समान सुन्दर छविको धारण करता हुआ और काले-काले केशोंसे सुशोभित कुमार बाहुबली ऐसा जान पड़ता था मानो भ्रमरोंसे सहित ऊँचा जम्बूवृक्ष ही हो ॥४९॥ इसी प्रकार मुकुटसे जिसका शरीर ऊँचा हो रहा है और जो तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाला है ऐसा राज-राजेश्वर भरत भी इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो चूलिकासहित गिरिराज - सुमेरु ही हो ॥५०॥ अत्यन्त धीर तथा पलकोंके सचारसे रहित शाप्ट दृष्टिको धारण करते हुए कुमार बाहुबलीने दृष्टियुद्धमें बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर ली ॥५१॥ हर्षसे क्षोभ मचाते हुए बाहुबलीके दुर्निवार सेनारूपी समुद्रको रोककर राजाओंने बड़ी मर्यादाके साथ कुमार बाहुबलीको विजयसे युक्त किया अर्थात् दृष्टियुद्धमें उनकी विजय स्वीकार की ॥५२॥ तदनन्तर मदोन्मत्त दिग्गजोंके समान अभिमानसे उद्धत हुए वे दोनों भाई जलयुद्ध करनेके लिए सरोवरके जलमें प्रविष्ट हुए और अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओंसे एक दूसरेपर पानी उछालने लगे ॥ ५३ ॥ चक्रवर्ती भरतके वक्ष स्थलपर बाहुबलीके द्वारा छोड़ी हुई जलकी उज्ज्वल छटाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो सुमेरुपर्वतके मध्यभागमें जलका प्रवाह ही पड़ रहा हो । ॥५४॥ भरतेश्वरके द्वारा छोड़ा हुआ जलका प्रवाह अत्यन्त ऊँचे बाहुबलीके मुखको दूर छोड़कर दूरसे ही नीचे जा पड़ा ॥ भवार्थ - भरतेश्वरने भी बाहुबलीके ऊपर पानी फेंका था परन्तु बाहुबलीके ऊँचे होनेके कारण वह पानी उनके मुख तक नहीं पहुँच सका, दूरसे ही नीचे जा पड़ा । भरतका शरीर पाँच-सी धनुष ऊँचा था और बाहुबलीका पाँच-सी पच्चीस

१ जलयुद्धदृष्टियुद्धबाहुयुद्धे । 'नियुद्धं बाहुयुद्धे' इत्यभिधानात् । २ चक्रः । ३ कारणत् । ४ सम्मेलनमित्यर्थः । ५ तथोम्ये । ६ नीलकेशः । ७ शान्ताम् । ८ शीघ्रम् । ९ अनुजम् । 'जयन्त्ये स्तुः कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजा' इत्यभिधानात् । १० प्रविष्टौ । ११ परस्पर जलसेचनं चक्रत् । १२ प्रवाहो । १३ उन्नतस्य ।

भरतेशः किलात्रापि न यदाप जयं तदा । नलैर्मुजवलीशस्य यूयोऽप्युदोषितो जयः ॥५६॥  
 निवृद्धस्य संगीयं<sup>१</sup> नृसिंहौ सिंहविक्रमौ । घीरावाविष्कृतस्पद्धौ<sup>२</sup> तौ रत्नमन्तरतः<sup>३</sup> ॥५७॥  
 वल्गितास्कोटितैश्चिः<sup>४</sup> धरणैर्वन्ध पीलितैः । दोर्दपशालिनोरासीद् बाहुयुद्धं तयोर्महत् ॥५८॥  
 ज्वलन्मुकुटभाचक्रो हेलयोद्धमि<sup>५</sup>तः सुना । लीलामलातचक्रस्य<sup>६</sup> चक्रो भजे क्षणं भ्रमन् ॥५९॥  
 यवीयान् नृपशार्दूलं ज्यायांसं<sup>७</sup> जितमास्तम् । जित्वाऽपि नानयद् भूमिं प्रमुरित्येव गौरवात् ॥६०॥  
 मुजोपरोधमुदधत् स तं धत्ते स्म दोर्वली । हिमाद्रिमिव नीलाद्रिमिहाकटकमास्वरम् ॥६१॥  
 तदा कलकलश्चक्रं पश्यैर्मुजवली शिवः । नृपैर्मन्तरगुहैस्तु लब्धया नमितं शिरः ॥६२॥  
 समक्षमीक्षमाणेषु पार्थिवेषु भवेध्वपि । परां विमानतां<sup>८</sup> प्राप्य ययौ चक्रो विलक्षताम्<sup>९</sup> ॥६३॥  
 बद्धभुकुटिलुद्धान्तरधिरारुणलीचनः । क्षणं दुरीक्षतां भजे चक्रो प्रज्वलितः क्रुधा ॥६४॥  
 क्रोधान्धेन तदा दध्ने कर्तुमस्य पराजयम् । चक्रमुत्कृत्तनिः<sup>१०</sup> शेषद्विषचक्रं निधीशिना ॥६५॥  
 आध्यात्मसात्रसेत्वारोदः<sup>११</sup> कृत्वा प्रदक्षिणाम् । अवध्यस्यास्य<sup>१२</sup> पर्यन्तं<sup>१३</sup> तस्थौ मन्द्रीकृतातपम् ॥६६॥

घनुष । इसलिए बाहुवलीके द्वारा छोड़ा हुआ पानी भरतके मुख तथा वक्षस्थलपर पड़ता था परन्तु भरतके द्वारा छोड़ा हुआ पानी बीचमें ही रह जाता था — बाहुवलीके मुख तक नहीं पहुँच पाता था ॥५५॥ इस प्रकार जब भरतेश्वरने इस जलयुद्धमें भी विजय प्राप्त नहीं की तब बाहुवलीकी सेनाओंने फिरसे अपनी विजयकी घोषणा कर दी ॥५६॥ अथानन्तर सिंहके समान पराक्रमको धारण करनेवाले धीरवीर तथा परस्पर स्पर्धा करनेवाले वे दोनों नर-शार्दूल — श्रेष्ठ पुरुष बाहुयुद्धकी प्रतिज्ञा कर रंगभूमिमें आ उतरे ॥५७॥ अपनी-अपनी भुजाओंके अहंकारसे सुबोभित उन दोनों भाइयोंका, अनेक प्रकारसे हाथ हिलाने, ताल ठोकने, पैतरा बदलने और भुजाओंके व्यायाम आदिसे बड़ा भारी बाहु युद्ध ( मल्ल युद्ध ) हुआ ॥५८॥ जिसके मुकुटकी दीप्तिका समूह अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसे भरतको बाहुवलीने लीला मात्रमें ही घुमा दिया और उस समय घूमते हुए चक्रवर्तिने क्षण-भरके लिए अलातचक्रकी लीला धारण की थी ॥५९॥ बाहुवलीने राजाओंमें श्रेष्ठ, बड़े तथा भरत क्षेत्रको जीतनेवाले भरत-को जीतकर भी 'ये बड़े हैं' सी गौरवसे उन्हें पृथिवीपर नहीं पटका ॥६०॥ किन्तु भुजाओंसे पकड़कर ऊँचा उठाकर कन्धेपर धारण कर लिया । उस समय भरतेश्वरको कन्धेपर धारण करते हुए बाहुवली ऐसे जान पड़ते थे मानो नीलगिरिने बड़े-बड़े शिखरोंसे देदीप्यमान हिमवाद् पर्वतको ही धारण कर रखा हो ॥६१॥ उस समय बाहुवलीके पक्षवाले राजाओंने बड़ा कोला-हल मचाया और भरतके पक्षके लोगोंने लज्जासे अपना शिर झुका लिया ॥६२॥ दोनों पक्षके राजाओंके साक्षात् देखते हुए चक्रवर्ती भरतका अत्यन्त अपमान हुआ था इसलिए वे भारी लज्जा और आश्चर्यकी प्राप्त हुए ॥६३॥ जिसने माँहे बढ़ा ली है, जिसकी रक्तके समान लाल-लाल आँखें इधर-उधर फिर रही हैं और जो क्रोधसे ऐसा जलने लगा कि उसे कोई क्षण-भर के लिए भी दुर्निरीक्ष्य हो गया अर्थात् वह क्रोधसे ऐसा जलने लगा कि उसे कोई क्षण-भर नहीं देख सकता था ॥६४॥ उस समय क्रोधसे अन्धे हुए निधियोंके स्वामी भरतने बाहुवलीकी पराजय करनेके लिए समस्त शत्रुओंके समूहको उखाड़कर फेंकनेवाले चक्ररत्नका स्मरण किया ॥६५॥ स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरतके समीप आया, भरतने बाहुवलीपर चलाया

१ बाहुयुद्धम् । २ प्रतिज्ञा कृत्वा । ३ प्रविष्टावित्यर्थः । ४ वल्गनभुजास्फालनं । वलिता — प०, इ० । ५ पदाधारिणि । ६ बाहुबन्ध । ७ काष्ठाग्निभ्रमणस्य । ८ अनुजं । ९ ज्येष्ठम् । १० बाहुरीडनं यथा भवति तथा । ११ परिभवम् । १२ विस्मयान्वितम् । १३ उच्छिन्नः । — मुक्षित — ल०, द० । १४ स्मृतः । १५ एतच्चक्रम् । १६ भुजवलि । १७ समीपे ।



कृतं<sup>१</sup> कृतं बतानेन साहसेनेति धिक्कृतः । तदा महत्तमैश्वरी जगामानुशयं<sup>२</sup> परम् ॥ ६७ ॥  
 कृतापदान इत्युचैः करेण तुल्यचूपम् । सोऽवतीयांसतो<sup>३</sup> धीरोऽनिच्छा<sup>४</sup> भूमिमापित<sup>५</sup> ॥ ६८ ॥  
 सस्कृतः स जयागलमभ्येत्य नृपसत्तमैः । मेने सोत्कर्षमात्मानं तदा भुजबली प्रभुः ॥ ६९ ॥  
 अचिन्तयच्च किन्नाम कृते राज्यस्य भक्षिनः । लज्जाकरो विधिर्मात्रा ज्येष्ठेनायमनुष्ठितः<sup>६</sup> ॥ ७० ॥  
 विपाककटुसाम्राज्यं क्षणध्वंसि विगस्तिदम् । दुस्त्यजं त्यजदपेतदङ्गिभिर्दुष्कलत्रवत् ॥ ७१ ॥  
 अहो विषयसौख्यानां वैरुध्यम्<sup>७</sup> प्रकारिता । मङ्गुरत्वमरुच्यत्वं<sup>८</sup> सक्तैर्नाश्विव्यते<sup>९</sup> जनैः ॥ ७२ ॥  
 को नाम मतिमानीप्सेद् विषयान् वेषदाहणान् । वेषां वशागतो जन्तुर्थात्यनर्थपरम्पराम् ॥ ७३ ॥  
 वरं विषं यदेकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा । विषयास्तु पुनर्ध्वन्ति हन्त जन्तूननन्तम् ॥ ७४ ॥  
 आपातमात्रं<sup>१०</sup> रम्याणां विपाककटुकात्मनाम् । विषयाणां कृतं<sup>११</sup> नाशो<sup>१२</sup> यात्यनर्थानपार्थक्यम् ॥ ७५ ॥

परन्तु उनके अवध्य होनेसे वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो उन्हींके पास जा ठहरा । भावार्थ — देवोपनीत शस्त्र कुटुम्बके लोगोंपर सफल नहीं होते, बाहुबली भरतेश्वरके एकपितृक भाई थे इसलिए भरतका चक्र बाहुबलीपर सफल नहीं हो सका, उसका तेज फीका पड़ गया और वह प्रदक्षिणा देकर बाहुबलीके समीप ही ठहर गया ॥६६॥ उस समय बड़े-बड़े राजाओंने चक्रवर्तीको धिक्कार दिया और दुःखके साथ कहा कि 'बस-बस' 'यह साहस रहने दो' — वन्द करो, यह सुनकर चक्रवर्ती और भी अधिक सन्तापको प्राप्त हुए ॥६७॥ आपने खूब पराक्रम दिखाया, इस प्रकार उच्च स्वरसे कहकर धीर-वीर बाहुबलीने पहले तो भरतराजको हाथोंसे तोला और फिर कन्धेसे उतारकर नीचे जमीनपर रख दिया अथवा ( धीरो अनिच्छा<sup>४</sup> ऐसा पदच्छेद-करनेपर ) उच्च स्थानपर विराजमान किया ॥६८॥ अनेक अच्छे-अच्छे राजाओंने समीप आकर महाराज बाहुबलीके विजयकी प्रशंसा करते हुए उनका सत्कार किया और बाहुबलीने भी उस समय अपने आपको उत्कृष्ट अनुभव किया ॥६९॥ साथ ही साथ वे यह भी चिन्तन करने लगे कि देखो, हमारे बड़े भाईने इस नश्वर राज्यके लिए यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है ॥७०॥ यह साम्राज्य फलकालमें बहुत दुःख देनेवाला है, और क्षणभंगुर है इसलिए इसे धिक्कार हो, यह व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चली जाती है, उसी प्रकार यह साम्राज्य भी एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चला जाता है । यह राज्य प्राणियोंको छोड़ देता है परन्तु अविषेकी प्राणी इसे नहीं छोड़ते यह दुःखकी बात है ॥७१॥ अहा, विषयोंमें आसक्त हुए पुरुष, इन विषयजनित सुखोंका निन्दन, अपकार, क्षणभंगुरता और नीरसपनेको कभी नहीं सोचते है ॥७२॥ जिनके वशमें पड़े हुए प्राणी अनेक दुःखोंकी परम्पराको प्राप्त होते है ऐसे विषके समान भयंकर विषयोंको कौन बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त करना चाहिगा ? ॥७३॥ विष खा लेना कही अच्छा है क्योंकि वह एक ही भवमें प्राणीको मारता है अथवा नहीं भी मारता है परन्तु विषय सुवन करना अच्छा नहीं है क्योंकि ये विषय प्राणियोंको अनन्त बार फिर-फिरसे मारते हैं ॥७४॥ जो प्रारम्भ कालमें तो मनोहर मालूम होते हैं परन्तु फलकाल-

१ अलमलम् । २ पश्चात्तापम् । ३ कृतपराक्रमस्त्वमिति । कृतापदान — अ०, ल० । ४ भुजशिखरात् । 'स्कन्धो भुजशिरोऽधोऽस्त्री' इत्यभिधानात् । ५ अवस्थाम् । ६ — मापत् ५०, ल० । ७ निमित्तम् । ८ विनश्वरस्थ । ९ — मृष्टितः ५०, ल० । १० परिणमन । ११ कृत्स्नत्वम् । १२ विनश्वरत्वम् । १३ आसक्तिः । १४ न मृष्यते । न विचार्यत इत्यर्थः । १५ अनुभवनकाल । १६ निमित्तम् । १७ पुमान् ।

अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिण ।<sup>१</sup> किंपाक्पाकविषमान् विषयान् कः कृती भवेत् ॥७६॥  
 शल्यप्रहारदीप्ताग्निवज्राशनिं महोरगाः । न तथोद्वेजकाः<sup>२</sup> पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः ॥७७॥  
 महात्विजैरौघसंग्राममीमारण्यसर्दिगिरीन् । भोगार्थिनो भजन्त्यज्ञा धनलाम् धनयाया ॥७८॥  
 दीर्घदोषांतनिर्घातं निर्घोषविषमीकृते । यादसां यादसां<sup>३</sup> पत्न्यौ चरन्ति विषयार्थिनः ॥७९॥  
 समापतच्छ्रद्धान्तिरुद्धगगनाङ्गणम् । रणाङ्गणं विशान्त्यस्तमियो भोगैर्विलोभिताः ॥८०॥  
 चरन्ति वनसानुष्यां यत्र सत्रासलोचनाः । ताः पर्यटन्त्यरण्यानीर्भोगाक्षोपहृता जडाः ॥८१॥  
 सरितो विषमावर्तमोषणा ग्राहसंकुलाः ।<sup>४</sup> तित्तीर्षन्ति वताविष्टा<sup>५</sup> विषमैर्विषयग्रहैः ॥८२॥  
 आरोहन्ति दुरारोहान् गिरीनपथमियोऽङ्गिनः<sup>६</sup> । रसायनरसज्ञानं<sup>७</sup> बलवाद्विमोहिताः ॥८३॥  
 अनिष्टवर्तित्वेयमालङ्घितं बलाजरा । कुर्वन्ती-पलितव्याजाद् रमसेन कचग्रहम् ॥८४॥  
<sup>८</sup> भोगोऽव्युत्सुकः प्रायो न च वेद<sup>९</sup> हिताहितम् । सुप्तस्य जरसा जन्तोर्मृतस्य च किमनन्तरम्<sup>१०</sup> ॥८५॥  
<sup>११</sup> प्रसङ्ग पातयन् भूमौ गात्रेषु कृतवेषधुः<sup>१२</sup> । जरापातो<sup>१३</sup> नृणां कष्टो ज्वरः क्षीत ह्रवोऽन्नघ्नः ॥८६॥

मे कइवे ( दु ख देनेवाले ) जान पड़ते हैं ऐसे विषयोंके लिए यह अज्ञ प्राणी क्या व्यर्थ ही अनेक दुःखोंको प्राप्त नहीं होता है ? ॥७५॥ जो प्रारम्भ कालमे तो अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं और अन्तमे प्राणोका अपहरण करते हैं ऐसे किंपाक फल (विषफल) के समान विषम इन विषयों-को कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ? ॥७६॥ ये विषयरूपी शत्रु प्राणियोंको जैसा उद्वेग करते हैं वैसा उद्वेग शस्त्रोका प्रहार, प्रज्वलित अग्नि, वज्र, बिजली और बड़े-बड़े सर्प भी नहीं कर सकते हैं ॥७७॥ भोगोंकी इच्छा करनेवाले मूर्ख पुरुष धन पानेकी इच्छासे बड़े-बड़े समुद्र, प्रचण्ड युद्ध, भयंकर वन, नदी और पर्वतोंमें प्रवेश करते हैं ॥७८॥ विषयोंकी चाह रखनेवाले पुरुष जलचर जीवोंकी लम्बी-लम्बी मुजाबके आघातसे उत्पन्न हुए वज्रपात-जैसे कठोर शब्दोंसे क्षुब्ध हुए समुद्रमे भी जाकर संचार करते हैं ॥७९॥ भोगोसे लुभाये हुए पुरुष, चारों ओरसे पड़ते हुए बाणोंके समूहसे जहाँ आकाशरूपी आंगन भर गया है ऐसे युद्धके मैदानमे भी निर्भय होकर प्रवेश कर जाते हैं ॥८०॥ जिनमें वनचर लोग भी भयसहित नेत्रोंसे संचार करते हैं ऐसे भयंकर बड़े-बड़े वनोमे भी भोगोंकी आशासे पीडित हुए मूर्ख मनुष्य घूमा करते हैं ॥८१॥ कितने दु खकी बात है कि विषयरूपी विषम ग्रहोसे जकड़े हुए कितने ही लोग, ऊँची-नीची भँवरोसे भयंकर और भगरमच्छोसे भरी हुई नदियोंको भी पार करना चाहते हैं ॥८२॥ रसायन तथा रस आदिके ज्ञानका उपदेश देनेवाले भूतोंके द्वारा मोहित होकर उद्योग करनेवाले कितने ही पुरुष कठिनाईसे चढ़ने योग्य पर्वतोपर भी चढ़ जाते हैं ॥८३॥ यह जरा सफेद-बालोंके वृहानेसे वेगपूर्वक केशोंकी पकड़ती हुई अनिष्ट स्त्रीके समान जवरदस्ती आलिंगन करती है ॥८४॥ जो प्राणी भोगोंमें अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है वह हित और अहितको नहीं जानता तथा जिसे वृद्धावस्थाने घेर लिया है उसमे और मरे हुएमे क्या अन्तर है ? अर्थात् वेकार होनेसे वृद्ध मनुष्य भी मरे हुएके समान है ॥८५॥ यह बुढ़ापा मनुष्यको क्षीतज्वरके समान अनेक कष्ट देनेवाला है क्योंकि जिस प्रकार क्षीतज्वर उत्पन्न होते ही जवरदस्ती जमीनपर

१ भूमोरपक्वफल । २ वज्ररूपाशनि । ३ भयंकराः । ४ धनलाभवाञ्छया । ५ अशनिः । ६ जलजन्तूनाम् ।  
 'यादासं जलजन्तव' इत्यभिधानात् । यादसां पत्न्यौ समुद्रे । 'रसायनो जलनिधिरादपतिरप्यपतिः'  
 इत्यभिधानात् । ७ वनेचरः । ८ भयसहिताः । ९ तरोमुत्तिष्ठन्ति । १० भस्ता इत्यर्थः । ११-पथमिदं निग-  
 लं, प०, अ०, ६० । १२ पलितस्तम्भोपसिद्धरसज्ञानाज्जातबलवादान्मोहिता । १३ भोक्तुं योग्यवस्तुपु ।  
 १४ न जानाति । १५ भेदः । १६ बलाकारेण । १७ कम्पः । १८ प्राप्तिः ।

अङ्गसादं<sup>१</sup> मतिभ्रंषं<sup>२</sup> वाचामस्फुटतामपि । जरा सुरा च निर्विष्टा<sup>३</sup> षटयत्याहु देहिनाम् ॥८७॥

कालव्यालगजेनेदमायुरालानकं बलात् । चाल्यते यद्वलाघानं जीवितालम्बनं नृणाम् ॥८८॥

शरीरबलमेतच्च गजकर्णवदस्थिरम् । रोगा<sup>४</sup> खपहतं चेदं<sup>५</sup> जरद्वेहकुटीरकम् ॥८९॥

इत्यश्वाश्वतमभ्येतद् राज्यादि भरतेश्वरः । शाश्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः ॥९०॥

चिरमाकलयश्वेवमग्रजस्यानुदात्तताम्<sup>६</sup> । न्याजहतैर्नमुद्दिश्य गिरः प्रपूरुषाक्षराः ॥९१॥

शृणु भोः नृपसार्दूल क्षणं<sup>७</sup> बैलक्ष्यमुत्सृज । मुञ्चतेदं<sup>८</sup> त्वयाऽलम्बि दुरीहमतिसाहसम् ॥९२॥

अभेद्ये मम देहादौ त्वया चक्रं<sup>९</sup> नियोजितम् । विद्वयकिंचित्करं<sup>१०</sup> वाज्रे नैले वज्रमिवापतत् ॥९३॥

अन्यन्न आतृमाण्डानि भङ्क्त्वा राज्यं यदीप्सितम्<sup>११</sup> । त्वया धर्मो यशश्चैव<sup>१२</sup> तेन<sup>१३</sup> पेशलमजितम् ॥९४॥

चक्रभृत्तरतः ऋष्टुः सुसुराद्यस्य शोऽग्रणीः । कुलस्योद्धारकः सोऽभूदिति<sup>१४</sup> दाऽस्थायि च त्वया ॥९५॥

जितां च सचतैवाद्य<sup>१५</sup> अत्पापोपहतामिमाम् । मन्यसेऽनन्यभोगीनां<sup>१६</sup> नृपश्रियमनश्चरीम् ॥९६॥

प्रेयसीयं तबैवास्तु राज्यश्रीयां त्वयाऽदृता । नोचितैषा ममायुष्मन् बन्धो<sup>१७</sup> न हि सतां मुदे ॥९७॥

पटक देता है उसी प्रकार बुढापा भी जबरदस्ती जमीनपर पटक देता है और जिस प्रकार शीतज्वर शरीरमें कम्पन पैदा कर देता है, उसी प्रकार बुढापा भी शरीरमें कम्पन पैदा कर देता है ॥८६॥ शरीरमें प्रविष्ट हुई तथा उपभोगमें आयी हुई जरा और मदिरा दोनों ही लोगोंके शरीरको शिथिल कर देती है, उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर देती हैं और वचनोंमें अस्पष्टता ला देती है ॥८७॥ जिसके बलका सहारा मनुष्योंके जीवनका आलम्बन है ऐसा यह आयुरुूपी खम्भा कालरूपी दुष्ट हाथीके द्वारा जबरदस्ती उखाड़ दिया जाता है ॥८८॥ यह शरीरका बल हाथीके कानके समान चंचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी झोंपड़ा रोगरूपी चूहोंके द्वारा नष्ट किया हुआ है ॥८९॥ इस प्रकार यह राज्यादि सब विनस्वर है, फिर भी मोहके उदयसे जिसकी चेतना नष्ट हो गयी है ऐसा भरत इन्हें नित्य मानता है यह कितने दुःखकी बात है ? ॥९०॥ इस प्रकार बड़े भाईकी नीचताका चिरकाल तक विचार करते हुए बाहुबलीने भरतको उद्देश्य कर नीचे लिखे अनुसार कठोर अक्षरोंवाली वाणी कही ॥९१॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, क्षण-भरके लिए अपनी लज्जा या झेंप छोड़, मैं कहता हूँ सों सुन । तूने मोहित होकर ही इस न करने योग्य बड़े भारी साहसका सहारा लिया है ॥९२॥ जो कभी भिद नहीं सकता । ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वतपर तूने चक्र चलाया है सो तेरा यह चक्र वज्रके बने हुए पर्वतपर पड़ते हुए वज्रके समान व्यर्थ है ऐसा निश्चयसे समझ ॥९३॥ दूसरी बात यह है कि जो तूने भाईरूप भरतनोंको तोड़कर राज्य प्राप्त करना चाहा है सो उससे तूने बहुत ही अच्छा धर्म और यशका उपार्जन किया है ॥९४॥ तूने अपनी यह स्तुति भी स्थापित कर दी कि चक्रवर्ती भरत आदिब्रह्मा भगवान् नृपभदेवका ज्येष्ठ पुत्र था तथा वह अपने कुलका उद्धारक हुआ था ॥९५॥ हे भरत, आज तूने जिसे जीता है और जो पापसे भरी हुई है ऐसी इस राज्य-लक्ष्मीको तू एक अपने ही द्वारा उपभोग करने योग्य तथा अविनाशी सुमङ्गता है ॥९६॥ जिसका तूने आदर किया है ऐसी यह राज्यलक्ष्मी अब तुझे ही प्रिय रहे, हे आयुष्मन्, अब यह मेरे योग्य नहीं है क्योंकि बन्धन सज्जन पुरुषोंके आनन्दके लिए नहीं होता है । भावार्थ — यह लक्ष्मी स्वयं एक प्रकारका बन्धन है अथवा कर्म बन्धकों कारण है इसलिए सज्जन पुरुष इसे

१ अश्रमम् । २ भ्रंशम् । ३ अनुश्रुता । ४ मुषिक । ५ जीर्ण । ६ निष्कृष्टताम् । ७ विस्मयान्वितत्वम् । ८ मुह्य-  
तीति मुह्यन् तेन । ९ न किंचित्कृत । किमपि कर्तुमसमर्थ इत्यर्थः । १० राज्याभिलषेण । ११ प्रशस्तम् ।  
१२ स्तुति । १३ यस्मात् कारणात् । १४ अनन्यभोगायिताम् । १५ बन्धकारणपरिग्रह ।

द्विपां कःकैरेतां फलिनीमपि ते श्रियम् । करेणापि स्पृशेद् धीमान् लतां कण्टकिनीं च कः ॥९८॥  
 विषकण्टकजालीव त्याज्यैषा सर्वथाऽपि नः । निष्कण्टकां तपोलक्ष्मीं स्वाधीनां कर्तुमिच्छताम् ॥९९॥  
 मृग्यतां<sup>१</sup> च तदस्माभिः कृतमागो<sup>२</sup> यदीदृशम् । प्रच्युतो विनयात् सोऽहं स्वं चापलमदीदृशम् ॥१००॥  
 इत्युच्चरद् गिरामोषो<sup>३</sup> सुखाद् बाहुबलीगितुः । ध्वनिरुदादिवाऽऽतस्तं<sup>४</sup> जिष्णोराह्लादयन्मनः ॥१०१॥  
 हा दुष्ट<sup>५</sup> कृतमित्युच्चैरात्मानं स विगर्हयन् । अन्ववातस पापेन कर्मणा स्वेन चक्राद् ॥१०२॥  
 प्रयुक्तानुनयं भूयो मनुमन्त्यं स धीरयन् । न्यवृत्तञ्च स्वसंकल्पाद् हो स्वैर्यं मनस्विनाम् ॥१०३॥  
 महाबलिनि निक्षिसराज्यर्द्धिः स स्वनन्दने । दीक्षामुपादधे जैनी गुरोराधयन् पदम् ॥१०४॥  
 दीक्षावल्या परित्वकं स्यन्तासेषपरिच्छदः । स रेजे सलतः<sup>६</sup> पन्नमोक्षक्षामं<sup>७</sup> हव द्रुम ॥१०५॥  
 गुरोरनुमतेऽधीतो<sup>८</sup> दधदेकविहारिताम् । प्रतिमायोगमावर्षं<sup>९</sup> मातस्ये किल संवृतः<sup>१०</sup> ॥१०६॥  
 स<sup>११</sup> शंसितम्रतोऽमाश्वान्<sup>१२</sup> वनवल्लीततान्तिक । वल्मीकान्प्रनि मपत् संपरासीद् भयानकः<sup>१३</sup> ॥१०७॥  
 श्वसदाविम्वज्जोग<sup>१४</sup> भुजङ्गसिद्धिमुज्जितैः । विबाहुर्विरोपाद्भिः<sup>१५</sup> स रेजे वेष्टितोऽभितः ॥१०८॥

कभी नहीं चाहते ॥९७॥ यद्यपि यह तेरी लक्ष्मी फलवती है तथापि अनेक प्रकारके कांटोसे —  
 विपत्तिमोसे दूषित है । भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो कांटवाली लताको हाथसे छुयेगा भी ॥९८॥ अब हम कण्टकरहित तपस्वी लक्ष्मीको अपने अधीन करना चाहते हैं इसलिए यह राज्यलक्ष्मी हम लोगके लिए विषके कांटोकी थोपीके समान सर्वथा त्याज्य है ॥९९॥ अतएव जो मैने यह ऐसा अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिए । मैं विनयसे च्युत हो गया था अर्थात् मैने आपकी विनय नहीं की सो इसमें मैं अपनी चंचलता ही समझता हूँ ॥१००॥ जिस प्रकार मेषसे निकलती हुई गर्जना सन्तप्त मनुष्योंको आनन्दित कर देती है उसी प्रकार महाराज बाहुबलीके मुखसे निकलते हुए वाणीके समूहने चक्रवर्ती भरतके सन्तप्त मनको कुछ-कुछ आनन्दित कर दिया था ॥१०१॥ 'हा मैने बहुत ही दुष्टताका कार्य किया है' इस प्रकार जोर-जोरसे अपनी निन्दा करता हुआ चक्रवर्ती अपने पाप कर्मसे बहुत ही सन्तप्त हुआ ॥१०२॥ जिसमें अनेक प्रकारके अनुनय-विनयका प्रयोग किया गया है इस रीतिसे अन्तिम कुलकर महाराज भरतको बार-बार प्रसन्न करता हुआ बाहुबली अपने संकल्पसे पीछे नहीं हटा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुषोंकी स्थिरता भी आश्चर्यजनक होती है ॥१०३॥ उसने अपने पुत्र महाबलीको राज्यलक्ष्मी सीप दी और स्वयं गुरुदेवके चरणोंकी आराधना करते हुए जैनी दीक्षा धारण कर ली ॥१०४॥ जिसने समस्त परिग्रह छोड़ दिया है तथा जो दीक्षा रूपी लतासे आलिङ्गित हो रहा है ऐसा वह बाहुबली उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो पत्तोंके गिर जानेसे कुछ लतायुक्त कोई वृक्ष ही हो ॥१०५॥ गुरुकी आज्ञामें रहकर शास्त्रोंका अध्ययन करनेमें कुशल तथा एक विहारिपण धारण करनेवाले जितेन्द्रिय बाहुबलीने एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया अर्थात् एक ही जगह एक ही आसनसे खड़े रहनेका नियम लिया ॥१०६॥ जिन्होंने प्रशसनीय व्रत धारण किये हैं, जो कभी भोजन नहीं करते, और जिनके समीपका प्रदेश वनकी लताओंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे वे बाहुबली वामीके छिद्रोंसे निकलते हुए सर्पोंसे बहुत ही भयानक हो रहे थे ॥१०७॥ जिनके फंसा प्रकट हो रहे हैं ऐसे फूँकारते हुए सर्पके बन्धोकी उल्ल-कूदसे चारों ओरसे घिरे हुए वे बाहुबली ऐसे सुबोभित

१ कम्प्यताम् । २ अपराध । ३ भूशमपश्यम् । ४ प्रवाह । ५ भरतस्य । ६ दुष्पुटं । ७ निन्दा । 'निन्दायां दुष्पुटं प्रशसने ।' इत्यभिधानात् । ८ निजवैराग्यादित्यर्थः । ९ आलिङ्गित । १० लतया सहितः । ११ पथमोचनकृश । १२ अधीतवान् । १३ वर्षावधि । १४ निमृत । १५ स्तुत । १६ उपवासी । १७ भयंकर । १८ उच्छ्वसत् । १९ फण । २० अडिग्रसमीपे ।

दधानः स्फुटोऽप्यन्तलम्बिनीः केशवल्लीः । सोऽन्वगादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ॥१०६॥  
 माधवीलतया गाढमुपगृहः<sup>३</sup> प्रफुल्लया । शाखाबाहुभिरावेष्टय सधौच्यैर्व<sup>४</sup> सहासया<sup>५</sup> ॥१०७॥  
 विद्याधरी करालुन<sup>६</sup> पल्लवा सा किलाशुषत् । पादयोः कामिनीवास्य<sup>७</sup> सामि नम्राऽनुनेष्यती<sup>८</sup> ॥१०८॥  
 रेजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन् । कामीर्व<sup>९</sup> मुक्तिरामिन्यां स्पृहयालुः कुश्रीमवन् ॥१०९॥  
 तपस्तनूनपात्ताप<sup>१०</sup> संतप्तस्यास्य केवलम् । शरीरमशुषन्नोर्ध्वशोषं<sup>११</sup> कर्माप्यशर्मदम् ॥११०॥  
 तीव्रं तपस्यतोऽप्यस्य नासीत् काश्चिदुपप्लवः । अचिन्त्यं महतां वैर्यं येनाग्रान्ति<sup>१२</sup> न विक्रियाम् ॥१११॥  
 सर्वसहः<sup>१३</sup> क्षमाभारं प्रदान्तः शीतलं जलम् । मिःसंगाः पवनं दीप्तः<sup>१४</sup> स जिगाय हुताशनम् ॥११२॥  
 क्षुधं पिपासां शीतोष्णं सदर्शनमशकद्वयम् । मार्गाच्यवनसंसिद्धयै<sup>१५</sup> द्वन्द्वानि सहते स्म सः ॥११३॥  
 स नाग्न्यं<sup>१६</sup> परमं बिभ्रन्नाभेदीन्द्रियधूर्तकैः । ब्रह्मचर्यस्य<sup>१७</sup> सा<sup>१८</sup> गुप्तिर्नाग्न्यं नाम परं तपः ॥११४॥  
 रतिं चारत्सिमप्येष द्वितयं स्म तितिक्षते<sup>१९</sup> । न रत्नरतिबाधा हि विषयानभिषङ्गिणः<sup>२०</sup> ॥११५॥

हो रहे थे मानो उनके चरणोंके समीप विषके अंकुरे ही लग रहे हों ॥१०८॥ कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओंको धारण करनेवाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सपोंके समूहको धारण करनेवाले हरिचन्दन वृक्षका अनुकरण कर रहे थे ॥१०९॥ फूली हुई वासन्ती-लता अपनी शाखारूपी भुजाओंके द्वारा उनका गाढ आलिंगन कर रही थी और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओंसे उनका आलिंगन कर रही हो ॥११०॥ जिसके कोमल पते विद्याधरियोंने अपने हाथसे तोड़ लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणोंपर पड़कर सूख गयी थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नम्र होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरोंपर पड़ी हो ॥१११॥ ऐसी अवस्था होनेपर भी वे कठिन तपस्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कुश हो गया था और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो मुक्तिरूपी स्त्रीकी इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो ॥११२॥ तपरूपी अग्निके सन्तापसे सन्तप्त हुए बाहुबलीका केवल शरीर ही खड़े-खड़े नहीं सूख गया था किन्तु दुःख देनेवाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे ॥११३॥ तीव्र तपस्या करते हुए बाहुबलीके कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषोंका वैर्य अचिन्त्य होता है जिससे कि वे कभी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥११४॥ वे सब बाधाओंको सहन कर लेते थे, अत्यन्त शान्त थे, परिग्रह रहित थे और अतिशय वेदीप्यमान थे इसलिए उन्होंने अपने गुणोंसे पृथ्वी, जल, वायु, और अग्निको जीत लिया था ॥११५॥ वे मार्गसे न्युत न होनेके लिए भूख, प्यास, शीत, गरमी, तथा ड़ास, मच्छर आदि परीषहोंके दुःख सहन करते थे ॥११६॥ उत्कृष्ट नाग्न्यं व्रतको धारण करते हुए बाहुबली इन्द्रियरूपी धूर्तोंके द्वारा नहीं भेदन किये जा सके थे । ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट रूपसे रक्षा करना ही नाग्न्यं व्रत है और यही उत्तम तप है । भावार्थ — वे यद्यपि नग्न रहते थे तथापि इन्द्रियरूप धूर्त उन्हें विकृत नहीं कर सके थे ॥११७॥ वे रति और अरति इन दोनों परिषहोंको भी सहन करते थे अर्थात् रागके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे राग नहीं करते थे और द्वेषके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे द्वेष नहीं करते थे सो ठीक ही है क्योंकि विषयों-

१ भुजशिखर । २ अनुकरोति स्म । ३ आलिङ्गितः । ४ सख्या । ५ सहाराया अ०, स०, इ०, ल० । ६ छेदित । ७ ईषद् । ८ अनुनयं कुर्वती । ९ अग्नि । १० 'उद्ध्व्यात् पुं शुष' इति गमप्रत्ययान्तः । उद्ध्वर्णभूतं शरीरमित्यर्थः । ११ वैर्यं । १२ सकलपरीषहोपसर्गं सहमान । १३ भृशरमित्यर्थः । १४ तपोविशेषेण दीप्तः । १५ परीषद् । १६ अन्तस्त्वम् । १७ प्रसिद्धा । १८ रक्षा । १९ सहते स्म । २० विषयवाञ्छारहितस्त्वम् ।

नास्यासीद् स्त्रीकृता बाधा भोगनिर्वेदमायुषः<sup>१</sup> । शरीरमनुचि खैर<sup>२</sup> पश्यतश्चर्मपुत्रिकाम् ॥११९॥  
स्थितश्चर्या निषद्यां च शय्यां चासौ दहेत्या । मनसाऽनभि सधित्सुपा नृच्छयनासनम् ॥१२०॥  
स सेह वधमाक्रोशं परमार्थविदां वरः । शरीरके स्वयं त्याज्ये निःस्पृहोऽनभिनन्दयुः<sup>३</sup> ॥१२१॥  
याचित्रियेण नास्येष्टा विघ्वाणेन तनुस्थितिः । तेन वाचयमो भूत्वा याच्नावाधामसौ द सः ॥१२२॥  
जह्मं मलं तुणस्पर्शं सोऽतोदो<sup>४</sup> षोत्तमक्षमः । न्युत्पृष्टतनुसंस्कारो निर्विशेषसुखासुरः<sup>५</sup> ॥१२३॥  
रोगस्यायतनं<sup>६</sup> देहमाध्यायन्<sup>७</sup> धीरधीरसौ । विविधातद्भूजां बाधां सहते स्म सुदुःसहाम् ॥१२४॥  
प्रज्ञापरिपहं प्राज्ञो ज्ञानं गर्वमुत्सृजन् । आसर्वज्ञं<sup>८</sup> तदुत्कर्षात् स ससाह<sup>९</sup> ससाहसः ॥१२५॥  
स सत्कारपुरस्कारे नासीज्जातु समुत्सुकः । पुरस्कृतो मुदं नागात् सत्कृतो न स्म तुष्यति ॥१२६॥  
परीषद्मलामं च संतुष्टो जयति स्म सः । अज्ञानादर्शनीकृता बाधासीद्वाप्त्य योगिनः ॥१२७॥

की इच्छा न रखनेवाले पुरुषको रति तथा अरतिकी बाधा नहीं होती ॥११८॥ भोगोसे विरक्त हुए तथा स्त्रियोके अपवित्र शरीरको चमड़ेकी पुतलीके समान देखते हुए उन बाहुबली महाराजको स्त्रियोके द्वारा की हुई कोई बाधा नहीं हुई थी अर्थात् वे अच्छी तरह स्त्रीपरिपह सहन करते थे ॥११९॥ वे हमेशा खड़े रहते थे और जूता तथा शयन आदिकी मनसे भी इच्छा नहीं करते थे इसलिए उन्होंने चर्या, निषद्या और शय्या परिषहको लीला मात्रमे ही जीत लिया था ॥१२०॥ जो स्वयं नष्ट हो जानेवाले शरीरमें निःस्पृह रहते हैं और न उसमें कोई आनन्द ही मानते हैं ऐसे परमार्थके जाननेवालोमे श्रेष्ठ बाहुबली महाराज वध और आक्रोश परिषहको भी सहन करते थे ॥१२१॥ याचनासे प्राप्त हुए भोजनके द्वारा शरीरकी स्थिति रखना उन्हें इष्ट नहीं था इसलिए वे मौन रहकर याचना परिषहकी बाधाको सहन करते थे ॥१२२॥ जिन्होंने उत्तम क्षमा धारण की है, शरीरका संस्कार छोड़ दिया है और जिन्हें सुख तथा दुःख दोनों ही समान हैं ऐसे उन मुनिराजने स्वेद मल तथा तुण स्पर्श परिषहको भी सहन किया था ॥१२३॥ 'यह शरीर रोगोका घर है' इस प्रकार चिन्तन करते ही वे धीर-वीर बुद्धिके धारक बाहुबली बड़ी कठिनातसे सहन करनेके योग्य रोगोसे उत्पन्न हुई बाधाको भी सहन करते थे ॥१२४॥ ज्ञानका उत्कर्ष सर्वज्ञ होने तक है अर्थात् जबतक सर्वज्ञ न हो जावे तबतक ज्ञान घटता बढ़ता रहता है इसलिए ज्ञानसे उत्पन्न हुए अहंकारका त्याग करते हुए अतिशय बुद्धिमान् और साहसी वे मुनिराज प्रज्ञा परिषहको सहन करते थे । भावार्थ — केवलज्ञान होनेके पहले सभीका ज्ञान अपूर्ण रहता है 'ऐसा विचार कर वे कभी ज्ञानका गर्व नहीं करते थे ॥१२५॥ वे अपने सत्कार पुरस्कारमे कभी उत्कण्ठित नहीं होते थे । यदि किसीने उन्हें अपने कार्यमे अगुआ बनाया तो वे हर्षित नहीं होते थे और किसीने उनका सत्कार किया तो सन्तुष्ट नहीं होते थे । भावार्थ — अपने कार्यमे किसीको अगुआ बनाना पुरस्कार कहलाता है तथा स्वयं आये हुएका सम्मान करना सत्कार कहलाता है । वे मुनिराज सत्कार पुरस्कार दोनोंमे ही निरुत्सुक रहते थे — उन्होंने सत्कार पुरस्कार परिषह अच्छी तरह सहन किया था ॥१२६॥ सदा सन्तुष्ट रहनेवाले बाहुबलीजीने अलाभ परिषहको जीता था तथा अज्ञान और अदर्शनसे उत्पन्न होनेवाली बाधाएँ भी उन मुनिराजको नहीं हुई थी ॥१२७॥

१ निर्वेद गतस्य । —मीयुष ५०, ६०, ६० । २ स्त्रीसबन्धि । ३ अभिसंधानमकुर्वन् । ४ पादत्राण । 'पाद-  
स्नानं स्त्री' इत्यभिधानात् । ५ आनन्दरहित । ६ याचनया निवृत्तेन । ७ भोजनेन । ८ तेन कारणेन ।  
९ भोनी भूत्वा । १० धृत । ११ समानसुखदुःखः । १२ गृहम् । १३ स्मरन् । १४ ज्ञानोत्कर्षात् । उपर्यपरि  
केवलज्ञानादित्यर्थः । १५ सहते स्म ।

परीपहजयादस्य त्रिपुला निर्जराऽभवत् । कर्मणां निर्जरोपायः परीपहजयः परः ॥१२८॥  
 क्रोधं तितिक्षया<sup>१</sup> मानमुत्सेकं<sup>२</sup> परिचर्जनैः । मायासृज्यता लोभं संतोषेण जिगाथ सः ॥१२९॥  
<sup>३</sup>पञ्चेन्द्रियाण्यनायासात् सोऽजयजितमन्मथः । विपयेन्वनदीसस्य कामानेः क्षमनं तपः ॥१३०॥  
 आहारमयस्त्रे<sup>४</sup> च समैथुनपरिग्रहे । अनङ्गविजयादेताः संज्ञाः क्षपयति स्म सः ॥१३१॥  
 इत्यन्तरङ्गशत्रूणां स भक्तश्च<sup>५</sup> प्रसरं मुहुः । जयति स्माऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मविद् विदिताखिलः ॥१३२॥  
 धृतं च समितिः सर्वाः सम्यग्निन्द्रियरोधनम् । अचेलतां च केङ्गानां प्रतिलुञ्जनमंग<sup>६</sup> ॥१३३॥  
 आचक्ष्यकेव्संवाधमस्नानं क्षितिदायिताम् । अदन्तधावनं स्थित्वा शुक्तिं भक्तं च नासकृत्<sup>७</sup> ॥१३४॥  
 प्राहुर्मूल्युणानेतान् तथोत्तरगुणाः परं । तेषां माराधने यत्नं सोऽनघाततनुर्मुनिः ॥१३५॥  
<sup>१०</sup>एतेष्वहापयन्<sup>९</sup> काचिद् अतशुद्धिं परां श्रित<sup>८</sup> । सोऽर्दीपि किंर्णभास्वानिव दीप्तस्तपोऽशुभिः ॥१३६॥  
 गौरवैस्त्रिभिरनुक्तः परां निःसङ्घतां गतः ।<sup>११</sup>धर्मदंशमिरासदृष्टाढ्यां<sup>१०</sup>श्चमुनुक्तिवर्मनि ॥१३७॥  
 गुप्तित्रयमर्थो<sup>१३</sup> गुप्तिं श्रितो ज्ञानासिमासुरः । संवर्मितः<sup>१४</sup> समितिभिः स भेजे विजिगीषुताम् ॥१३८॥

इस प्रकार परिपहोके जीतनेसे उनके बहुत बड़ी कर्मोंकी निर्जरा हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि परिपहोको जीतना ही कर्मोंकी निर्जरा करनेका श्रेष्ठ उपाय है ॥१२८॥ उन्होंने क्षमासे क्रोधको, अहंकारके त्यागसे मानको, सरलतासे मायाको और सन्तोषसे लोभको जीता था ॥१२९॥ कामदेवको जीतनेकाले उन मुनिराजने पाँच इन्द्रियोको अनायास ही जीत लिया था सो ठीक ही है क्योंकि विषयरूपी ईधनसे जलती हुई कामरूपी अग्निको जमन करनेवाला तपश्चरण ही है । भावार्थ—इन्द्रियोको वश करना तप है और यह तभी हो सकता है जब कामरूपी अग्निको जीत लिया जावे ॥१३०॥ उन्होंने कामको जीत लेनेसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओंको नष्ट किया था ॥१३१॥ इस प्रकार अन्तरंग शत्रुओंके प्रसारको बार-बार नष्ट करते हुए उन आत्मज्ञानी तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाले मुनिराजने अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माको जीत लिया था ॥१३२॥ पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियदमन, वस्त्र परित्याग, केशोंका लोच करना, छह आवश्यकोंमें कभी बाधा नहीं होना, स्नान नहीं करना, पृथिवीपर सोना, दाँतोंनही करना, खड़े होकर भोजन करना और दिनमें एक बार आहार लेना, इन्हे अट्टाईस मूलगुण कहते हैं । इनके सिवाय चौरासी लाख उत्तर गुण भी हैं, वे महामुनि उन सबके पालन करनेमें प्रयत्न करते थे ॥१३३—१३५॥ इनमें कुछ भी नहीं छोड़ते हुए अर्थात् सर्वका पूर्ण रीतिसे पालन करते हुए वे मुनिराज व्रतोंकी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हुए थे तथा जिस प्रकार देदीप्यमान किरणोंसे सूर्य प्रकाशमान होता है उसी प्रकार वे भी तपकी देदीप्यमान किरणोंसे प्रकाशमान हो रहे थे ॥१३६॥ वे रसगौरव, गन्ध गौरव, और श्रद्धागौरव इन तीनोंसे सहित थे, अत्यन्त निःश्लथ्य थे और दण्डधर्मोंके द्वारा उन्हें भोक्षमार्गमें अत्यन्त दृढता प्राप्त हो गयी थी ॥१३७॥ वे मुनिराज किसी विजिगीषु अर्थात् शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा किसी दुर्ग आदि सुरक्षित स्थानका आश्रय लेता है; तलवारसे देदीप्यमान होता है और कवच पहने रहता है उसी प्रकार उन मुनिराजने भी तीन गुप्तिरूपी दुर्गोंका आश्रय ले रखा था, वे भी ज्ञानरूपी तलवारसे देदीप्यमान हो रहे थे और पाँच समितिरूप कवच पहन रखा था । भावार्थ — यथार्थमें वे कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते थे

१ क्षमया । २ गर्ग । ३ त०, वं०, अ०, स०, इ०, प०, द० पुस्तकसंमतोज्ज्वलम् । ४ ल० पुस्तके १२९-१३० श्लोकयोर्ब्यतिक्रमोऽस्ति । ५ समूहम् । ६ जातसकलपदार्थः । ७ प्रतिज्ञाम् । ८ एकमुत्तमिदम् । ९ मूलोत्तर-गुणानाम् । १० महान् । ११ प्रोक्तगुणेषु । १२ हानिमकुर्वन् । १३ उत्तमक्षमादिभिः । १४ रक्षाम् । १५ कवचित् ।

कषायत्तत्कौर्गास्य हृतं रत्नत्रयं धनम् । सततं जागरूकस्य भूयो भूयोऽप्रमाद्यतः ॥ १३६॥  
 वाचयमस्य<sup>१</sup>, तस्यासीन्न जातु विकथादरः । नाभिन्नतेन्द्रियैरस्य मनोदुर्गं सुरसंयुतम् ॥ १३७॥  
 मनोऽगारं महत्स्यस्य बोधिता ज्ञानदीपिका । व्यदीपि तत्<sup>२</sup> एवासन्न विज्ञेऽर्था ध्येयतापदे ॥ १३८॥  
 मतिश्रुताभ्यां निःशेषमर्थतत्त्वं विचिन्ततः<sup>३</sup> । करामलकवद् विषं तस्य विस्फटंतामगात् ॥ १३९॥  
 परीषहजयैर्दासी विजितेन्द्रियशात्रवः । कषायशत्रूनुच्छेद्य स तपो राज्यमन्मूत् ॥ १४०॥  
 योगजाश्चर्द्धयस्तस्य प्रादुरासंस्तपोवलात् । यतोऽस्याविरमूच्छक्तिलैलोक्यक्षोमणं प्रति ॥ १४१॥  
 चतुर्भेदेषु बोधेऽस्य ससुक्लर्षस्तदोदभूत्<sup>४</sup> । तत्तदावरणीयानां क्षयोपशममृज्जमतः ॥ १४२॥  
 मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठवृद्ध्यादयोऽभवन् । श्रुतज्ञानेन<sup>५</sup> विशाङ्गपूर्ववित्त्वादिविस्तरः ॥ १४३॥  
 परमावधिसुल्लङ्घ्य स सर्वावधिसासदत् । मनःपर्ययबोधै<sup>६</sup> च संप्रापद् विपुलां<sup>७</sup> मतिम् ॥ १४४॥  
 ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी । ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरोः ॥ १४५॥

॥ १३८॥ कषायरूपी चोरोके द्वारा उनका रत्नत्रयरूपी धन नहीं चुराया गया था क्योंकि वे सदा जागते रहते थे और बार-बार प्रमादरहित होते रहते थे । भावार्थ — लोकमें भी देखा जाता है कि जो मनुष्य सदा जागता रहता है और कभी प्रमाद नहीं करता उसकी चोरी नहीं होती । भगवान् बाहुबली अपने परिणामोके शोधमें निरन्तर लवलीन रहते थे और प्रमादको पासमें भी नहीं आने देते थे इसलिए कषायरूपी चोर उनके रत्नत्रयरूपी धनको नहीं चुरा सके थे ॥ १३९॥ वे सदा मीन रहते थे इसलिए कभी उनका विकथाओंमें आदर नहीं होता था । और उनका मनरूपी दुर्ग अत्यन्त सुरक्षित था इसलिए वह इन्द्रियोंके द्वारा नहीं तोड़ा जा सका था । भावार्थ — वे कभी विकथाएँ नहीं करते थे और पाँचो इन्द्रियों तथा मनको वशमें रखते थे ॥ १४०॥ उनके मनरूपी विशाल घरमें सदा ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान रहता था इसलिए ही समस्त पदार्थ उनके ध्येयकोटिमें थे अर्थात् ध्यान करने योग्य थे । भावार्थ — पदार्थोंका ध्यान करनेके लिए उनका ज्ञान होना आवश्यक है, मुनिराज बाहुबलीको सब पदार्थोंका ज्ञान था इसलिए सभी पदार्थ उनके ध्यान करने योग्य थे ॥ १४१॥ वे मति और श्रुत ज्ञानके द्वारा ससारके समस्त पदार्थोंका चिन्तन करते रहते थे इसलिए उन्हें यह जगत् हाथपर रखे हुए आँवलेके समान अत्यन्त स्पष्ट था ॥ १४२॥ जो परिषहोको जीत लेनेसे देदीप्यमान हो रहे हैं और जिन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे वे बाहुबली कषायरूपी शत्रुओंको छेदकर तपरूपी राज्यका अनुभव कर रहे थे ॥ १४३॥ तपश्चरणका बल पाकर उन मुनिराजके योगके निमित्तसे होनेवाली ऐसी अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हुई थी जिनसे कि उनके तीनों लोकोमें क्षोभ पैदा करनेकी शक्ति प्रकट हो गयी थी ॥ १४४॥ उस समय उनके मतिज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षमोपशमसे मतिज्ञान आदि बारो प्रकारके ज्ञानोंमें वृद्धि हो गयी थी ॥ १४५॥ मतिज्ञानकी वृद्धि होनेसे उनके कोष्ठवृद्धि आदि ऋद्धियाँ प्रकट हो गयी थी और श्रुत ज्ञानके बढ़नेसे समस्त अंगो तथा पूर्वोक्त ज्ञानने आदिकी शक्तिका विस्तार हो गया था ॥ १४६॥ वे अवधिज्ञानमें परमावधिको उल्लंघन कर सर्वावधिको प्राप्त हुए थे तथा मन पर्यय ज्ञानमें विपुलमति मन पर्यय ज्ञानको प्राप्त हुए थे ॥ १४७॥ उन मुनिराजके ज्ञानकी शुद्धि होनेसे तपकी शुद्धि भी बहुत अधिक हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार किसी बड़े वृक्षके ठहरनेमें मूल कारण उसकी जड़ है उसी प्रकार तपके ठहरने आदिमें मूल कारण ज्ञान है ॥ १४८॥

१ मीनव्रतः । २ ज्ञानदीपिकाया सकाशात् । ३ चिन्तयतः । ४ लभेति स्म । ५ द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्ववदित्व-  
 तन्निष्पन्नादिविस्तरः । ६ बोधि प०, ल० । ७ विपुलमतिमन पर्ययज्ञानम् ।



तपसोऽग्रेण चोद्यतपसा चातिकर्षितः<sup>१</sup> । स दीप्ततपसाऽत्यन्तं दिदीपे<sup>२</sup> दीप्तिमानिव ॥१४९॥  
 सोऽतप्यत तपस्तप्तं तपो धोरं महच्च यत् । तथोत्तराण्यपि प्राप्तसमुत्कर्षाण्यनुक्रमात् ॥१५०॥  
 तपोभिरङ्गनैरेभिः स बभौ मुनिसत्तमः । धनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गमस्तिमान् ॥१५१॥  
 विक्रियाऽष्टतयी चित्रं प्रादुरासीत्तपोबलात् ।<sup>३</sup> विक्रियां निखिलां हित्वा सीमन्स्य तपस्यतः<sup>४</sup> ॥१५२॥  
 प्रासौषधार्द्धैरस्यासीत् संनिधिर्जगते हितः ।<sup>५</sup> आमर्शोऽश्वेलं जह्लाबैः<sup>६</sup> प्राणिनामुपकारिणः ॥१५३॥  
<sup>७</sup> अनाशुपोऽपि तस्यासीद्<sup>८</sup> रसर्द्धिः शक्तिमात्रतः । तपोबलसमुद्भूता दलद्विरपि पत्रये ॥१५४॥  
 अक्षीणावसथः<sup>९</sup> सोऽभूत्तथाऽक्षीणं महाशनः (नसः)<sup>१०</sup> । सूते हि फलैर्मक्षीणं तपोऽक्षू<sup>११</sup> णमुपासितम् ॥१५५॥  
 निर्द्वन्द्ववृत्तिरध्यात्ममिति निर्जित्य जित्वरः । ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदां वरः ॥१५६॥  
 क्षमामथोत्तमां भजे परं मार्दवमार्जवम् । सत्त्वं शौचं तपस्त्वागावार्किचन्यं च संयमम् ॥१५७॥  
 ब्रह्मचर्यं च धर्मस्य ध्यानस्यैता हि भावनाः ।<sup>१२</sup> योगसिद्धौ परां<sup>१३</sup> सिद्धिमामनन्तीह योगिनः ॥१५८॥

वे महामुनि उग्र, और महाउग्र तपसे अत्यन्त कृश हो गये थे तथा दीप्त नामक तपसे सूर्यके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१४९॥ उन्होंने तप्तघोर और महाघोर नामके तपश्चरण किये थे तथा इनके सिवाय उत्तर तप भी उनके खूब बढ़ गये थे ॥१५०॥ इन बढ़े-बढ़े तपोसे वे उत्तम मुनिराज ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघोंके आवरणसे निकला हुआ सूर्य ही अपनी किरणोंसे सुशोभित हो रहा हो ॥१५१॥ यद्यपि वे मुनिराज समस्त प्रकारकी विक्रिया अर्थात् विकार भावोंको छोड़कर कठिन तपस्या करते थे तथापि आश्चर्यकी बात है कि उनके तपके बलसे आठ प्रकारकी विक्रिया प्रकट हो गयी थी । भावार्थ — रागद्वेष आदि विकार भावोंको छोड़कर कठिन तपस्या करनेवाले उन बाहुबली महाराजके अणिमा, महिमा, गरिमा, लक्षिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व यह आठ प्रकारकी विक्रिया ऋद्धि प्रकट हुई थी ॥१५२॥ जिन्हें अनेक प्रकारकी औषध ऋद्धि प्राप्त है और जो आमर्श, श्वेल तथा जल्ल आदिके द्वारा प्राणियोंका उपकार करते हैं ऐसे उन मुनिराजकी समीपता जगत्का कल्याण करनेवाली थी । भावार्थ — उनके समीप रहनेवाले लोगोंके समस्त रोग नष्ट हो जाते थे ॥१५३॥ यद्यपि वे आहार नहीं लेते थे तथापि शक्ति मात्रसे ही उनके रसऋद्धि प्रकट हुई थी और तपश्चरणके बलसे प्रकट हुई उनकी बल ऋद्धि भी विस्तार पा रही थी । भावार्थ — भोजन करनेवाले मुनिराजके ही रसऋद्धिका उपयोग हो सकता है परन्तु वे भोजन नहीं करते थे इसलिए उनके शक्तिमात्रसे रसऋद्धिका सद्भाव बतलाया है ॥१५४॥ वे मुनिराज अक्षीणसंवास तथा अक्षीणमहानस ऋद्धिको भी धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि पूर्ण रीतिसे पालन किया हुआ तप अक्षीण फल उत्पन्न करता है ॥१५५॥ विकल्परहित चित्तकी वृत्ति धारण करना ही अध्यत्म है ऐसा निश्चय कर योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उन जितेन्द्रिय योगिराजने मनको जीतकर उसे ध्यानके अभ्यासमें लगाया ॥१५६॥ उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमार्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मध्यानकी भावनाएँ हैं । इस लोकमें योगकी सिद्धि होनेपर ही उत्कृष्ट सिद्धि — सफलता — मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ऐसा योगी लोग मानते हैं ॥१५७-१५८॥

१ कृशीकृतः । २ रविः । ३ मेघः । ४ तरणि । ५ अष्टप्रकाराः । ६ विकारम् । ७ तप कुर्वतः । ८ छद्दि । ९ निष्ठोवन । १० स्वेदोत्पमलाब्धः । ११ अनशनव्रतिनः । १२ अमृतसर्वादि । १३ आलय । १४ महत् । १५ 'तं' पुस्तके 'महानसः', पाठः सुपाठः इति टिप्पणे लिखितम् । १६ अन्योन्यम् । १७ ध्याननिष्पन्ने सति । १८ मुक्तिम् ।

अनित्यात्राणसंसारकत्वाभ्यन्त्याभ्युपगच्छताम् । निर्जरास्त्रयसरो<sup>१</sup> घलोकस्थित्युत्पत्तिन्तन्म् ॥१५९॥  
 धर्मस्याख्याततां बोधेदुर्लभत्वं च लक्षयन् । सोऽनुप्रेक्षाविधिं<sup>२</sup> दध्यौ विशुद्धं द्वादशात्मन्म् ॥१६०॥  
<sup>३</sup>आज्ञापायौ विपाकं च संस्थानं चानुजिन्तयन् । सध्यानममजद् धर्म्यं कर्माशान् परिशतयन् ॥१६१॥  
 दीपिकायामिदमुप्यं ध्यानदीक्षौ निरीक्षिताः । क्षणं विशेषाः कर्मांशाः कज्जलांशा इवामितः ॥१६२॥  
 तद्देहीसिप्रसरो दिक्षुखेपु परिस्फुरन् । तद्वयं गारुडग्रावच्छायाततं विवातनीत् ॥१६३॥  
 तत्त्वदोषान्तविश्रान्ता विस्त्वा<sup>४</sup> मृगजातयः । ववाधिरे<sup>५</sup> मृगैर्नान्यैः क्रूरैरक्रूरतां श्रितैः ॥१६४॥  
 विरोधिनाऽप्यमी मुक्तविरोधं स्वैरमासिताः । तस्योपाद्भीमसिंहाद्याः शशसुवैमवं मुनेः ॥१६५॥  
 'जरजम्बूकमाप्राय मस्तके<sup>६</sup> व्याघ्रधेनुका । स्वज्ञाननिर्विशेषं<sup>७</sup> तामपीप्यत्<sup>८</sup> स्तन्यमात्मनः ॥१६६॥  
 करिणो हरिणारानीनन्वीयुः सह यूथपैः । स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः ॥१६७॥  
 कलमान्<sup>९</sup> कलमाद्धारसुखरात्रं नखरैः खरैः । कण्ठीरवः दृष्टवान् कण्ठे नाम्न्यनन्दिं<sup>१०</sup> न यूथपैः ॥१६८॥  
 करिण्यो विसिनीपत्रपुटैः पानीधमानयत् । तद्योगपीठपर्यन्तमुवः सम्मार्जनैच्छया ॥१६९॥  
<sup>११</sup>गुप्फरैः<sup>१२</sup> गुप्फरोदस्तैर्न्यस्तैरधिपदद्वयम् । स्तम्भेरमा मुनिं मेखुरहो शमकरं तपः ॥१७०॥  
 उपाधि भोगिनां<sup>१३</sup> भोगैर्विनीलैर्व्यरचन्मुनिः । विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः ॥१७१॥

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आसूव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि  
 दुर्लभ और धर्माख्यातत्व इन बारह भावनाओंका उन्होंने विगुह चित्तसे चिन्तन किया था  
 ॥१५९-१६०॥ वे आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तन करते हुए तथा कर्मोंके  
 अंशोंको क्षीण करते हुए धर्मध्यान धारण करते थे ॥१६१॥ जिस प्रकार दीपिकाके प्रज्व-  
 लित होनेपर उसके चारों ओर कज्जलके अंश दिखाई देते हैं उसी प्रकार उनकी ध्यानरूपी  
 दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारों ओर क्षणभर नष्ट हुए कर्मोंके अंश दिखाई देते थे  
 ॥१६२॥ सब दिशाओंमें फैलता हुआ उनके शरीरकी दीप्तिका समूह उस वनको नीलमणि-  
 की कान्तिसे व्याप्त हुआ-सा बना रहा था ॥१६३॥ उनके चरणोंके समीप विश्राम करनेवाले  
 मृग आदि पशु सदा विस्वस्त अर्थात् निर्भय रहते थे, उन्हें सिंह आदि दुष्ट जीव कभी बाधा नहीं  
 पहुँचाते थे क्योंकि वे स्वयं वहाँ आकर अक्रूर अर्थात् शान्त हो जाते थे ॥१६४॥ उनके चरणों-  
 के समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्परका वैर-भाव छोड़कर इच्छानुसार उठते-  
 बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराजके ऐश्वर्यको सूचित करते थे ॥१६५॥ हालकी व्याघ्री  
 हुई सिंही भैंसेके बच्चेका मस्तक सूँघकर उसे अपने बच्चेके समान अपना दूध पिला रही थी  
 ॥१६६॥ हाथी अपने झुण्डके मुखियोंके साथ-साथ सिंहोंके पीछे-पीछे जा रहे थे और स्तन-  
 के पीनेमें उत्सुक हुए सिंहके बच्चे हथिनियोंके समीप पहुँच रहे थे ॥१६७॥ बालकपनके  
 कारण मधुर शब्द करते हुए हथिनियोंके बच्चोंको सिंह अपने पैंने नाखूनसे उनकी गरदनपर  
 स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंहको हाथियोंके सरदार बहुत ही अच्छा समझ  
 रहे थे - उसका अभिनन्दन कर रहे थे ॥१६८॥ उन मुनिराजके ध्यान करनेके आसनके  
 समीपकी भूमिको साफ करनेकी इच्छासे हथिनियाँ कमलिनीके पत्तोंका दोना बनाकर उनमें  
 भर-भरकर पानी ला रही थी ॥१६९॥ हाथी अपने झुंडके अग्रभागसे उठाकर लाये हुए  
 कमल उनके दोनों चरणोंपर रख देते थे और इस तरह वे उनकी उपासना करते थे । अहा,

१ संवर । २ व्यापति स्म । ३ आज्ञाविचयाप्रायविचयी । ४ कृशीकुर्वन् । ५ व्याप्तम् । ६ निश्चलाः ।  
 ७ विरोधा. ल०, प०, अ०, स०, द०, । ८ जरजम्बुक ल०, इ० । जरत् वृद्ध । ९ नवप्रभूतग्याघ्री ।  
 १० समानम् । ११ पाययति स्म । १२ स्तनक्षीरम् । १३ मनोज्ञ-ध्वनिनिर्विशेषम् । १४ द्वौ मत्रौ पूर्वमर्थं  
 गमयत, अभ्यनन्दौदित्यर्थः । १५ कमलः । १६ करग्रोद्धत । १७ सर्पिणा शरीरैः ।

फणमाश्रोद्गता रन्ध्राद्<sup>१</sup> फणिनः शितवीज्युत्तम् । कृताः कुचलयैरर्षा मुनेरिव पदान्तिके ॥१७२॥  
 रेजुर्वनलता नम्रैः शाखाग्रैः कुसुमोज्ज्वलैः । सुनिं भजन्त्यो भक्त्येव पुष्पाघनैरतिपूर्वकम् ॥१७३॥  
 शशद्विकसिकुसुमैः शाखाग्रैरनिलाहतैः । वसुर्वनदुमास्तोषाभिर्नृत्सव<sup>२</sup> इवासकृत् ॥१७४॥  
 कलैरलिरुतोद्गानैः<sup>३</sup> फणिनो ननुतुः किल । उत्फणाः फणरत्नांशुदीप्तै<sup>४</sup> भोगै<sup>५</sup> विवर्तितैः ॥१७५॥  
 पुंस्कोकिलकलालापडिण्डिमानुगतैल्यैः<sup>६</sup> । चक्षुःश्रवस्तु पश्यत्सु तद्वद्विषोऽनटिषु<sup>७</sup> सुहृ<sup>८</sup> ॥१७६॥  
 महिम्ना शमिनः<sup>९</sup> शान्तमित्यभूत्तच्च काननम् । धत्ते हि महतां योगः<sup>१०</sup> शममप्यशमाध्मसु<sup>११</sup> ॥१७७॥  
 शान्तस्वधैर्नदन्ति स्म वनान्तेऽस्मिन् शकुन्तयः । घोषयन्त इवात्यन्तं<sup>१२</sup> शान्तमेतत्तपोवनम् ॥१७८॥  
 तपोबुभावाद्दस्यैवं प्रशान्तेऽस्मिन् वनाश्रये । विनिपात<sup>१३</sup> कुतोऽप्यासीत् कस्यापि न कथञ्चन ॥१७९॥  
<sup>१४</sup> महसास्य तपोयोगजस्मितेन महीधसा । बभूवुर्हृत्तहृद्धान्ताः तिर्यञ्चोऽप्यनभिदुहः<sup>१५</sup> ॥१८०॥  
 गतिस्खलनतो ज्ञात्वा योगस्थं तं मुनीश्वरम् । अंसकृत्पूजयामासुरवतीर्य नमश्चराः ॥१८१॥  
 महिम्नास्य तपोवीर्यजनितेनालधीयसा । सुदुरासनकम्पोऽमृजतमूर्ध्ना सुधाशितानाम् ॥१८२॥

तपश्चरण कैसी शान्ति उत्पन्न करनेवाला है, ॥१७०॥ वे मुनिराज चरणोंके समीप आये हुए सर्पोंके काले फणाओसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पूजाके लिए नीलकमलोकी मालाएँ ही बनाकर रखी हों ॥१७१॥ बामीके छिद्रोंसे जिन्होंने केवल फणा ही बाहर निकाले है ऐसे काले सर्प उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो मुनिराजके चरणोंके समीप किसीने नील-कमलोंका अर्घ्य ही बनाकर रखा हो ॥१७२॥ वनकी लताएँ फूलोंसे उज्ज्वल तथा नीचेको झुकी हुई छोटी छोटी डालियोंसे ऐसी अच्छी सुशोभित हो रहीं थी मानो फूलोंका अर्घ्य लेकर भक्तिसे नमस्कार करती हुई मुनिराजकी सेवा ही कर रही हों ॥१७३॥ वनके वृक्ष, जिनपर सदा फूल खिले रहते हैं और जो वायुसे हिल रहे हैं ऐसे शाखाओंके अग्रभागसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सन्तोषसे बार-बार नृत्य ही करना चाहते हों ॥१७४॥ जिनके फणा ऊँचे उठ रहे हैं ऐसे सर्प, भ्रमरोके शब्दरूपी सुन्दर गानेके साथ-साथ फणाओंपर लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे दीदीप्यमान अपने फणाओंको घुमा-घुमाकर नृत्य कर रहे थे ॥१७५॥ मोर, कोकिलोंके सुन्दर शब्दरूपी डिण्डिम बाजेके अनुसार होनेवाले लयके साथ-साथ सर्पोंके देखते रहते भी बार-बार नृत्य कर रहे थे ॥१७६॥ इस प्रकार अतिशय शान्त रहनेवाले उन मुनिराजके माहात्म्यसे वह वन भी शान्त हो गया था सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोंका संयोग क्रूर जीवोंमें भी शान्ति उत्पन्न कर देता है ॥१७७॥ इस वनमें अनेक पक्षी शान्त शब्दोंसे चहक रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इस बातकी घोषणा ही कर रहे हों कि यह तपोवन अत्यन्त शान्त है ॥१७८॥ उन मुनिराजके तपके प्रभावसे यह वनका आश्रम ऐसा शान्त हो गया था कि यहाँके किसी भी जीवको किसीके भी द्वारा कुछ भी उपद्रव नहीं होता था ॥१७९॥ तपके सम्बन्धसे बड़े हुए मुनिराजके बड़े भारी तेजसे तिर्यंचोंके भी हृदयका अन्धकार दूर हो गया था और अब वे परस्परमें किसीसे द्रोह नहीं करते थे — अहिंसक हो गये थे ॥१८०॥ विद्याधर लोग गति भंग हो जानेसे उनका सद्भाव जान लेते थे और विमानसे उतरकर ध्यानमें बैठे हुए उन मुनिराजकी बार-बार पूजा करते थे ॥१८१॥ तपकी शक्तिसे उत्पन्न हुए मुनिराजके बड़े भारी माहात्म्यसे जिनके भस्तक झुके हुए हैं ऐसे देवोंके आसन भी बार-बार कम्पाय-

१ वल्मीकविलात् । २ कृष्णाः । ३ नतितुमिच्छवः । ४-दुगोत्तं ल० । ५ दीप्य-इ०, ल० । ६ शरीरं । ७ तालनिबद्धैः । ८ सर्पेषु । ९ कुण्डली गुडपाचक्षुःश्रवाः काकोदरः फणी इत्यभिधानात् । १० सर्पद्विप । सयूरा इत्यर्थः । ११ नटन्ति स्म । १२ यते । १३ संयोगः । १४ क्रूरस्वरूपेषु । १५ अत्यन्तप्रसन्नम् । १६ वाधेत्यर्थः । १७ तेजसा । १८ अहिंसका ।

विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः । बलीरुद्वेष्टयामासु<sup>१</sup> मुनेः सर्वाङ्गसंगिनीः ॥१८३॥  
 इत्युपाकृते<sup>२</sup> सद्धानवलोकिततपोबलः । स लेख्याद्युद्धिमास्कन्दन्<sup>३</sup> शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत् ॥१८४॥  
 वस्तरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः । स भेजे परमज्योतिः केवलाल्यं बदधरम् ॥१८५॥  
 संछिद्ये भस्ताधीशः सोऽस्मत्तं इति यत्किल । ह्यस्य<sup>४</sup> हार्दं<sup>५</sup> तेनासीत् तत्पूजाऽपेक्षि<sup>६</sup> केवलम् ॥१८६॥  
 केवलार्कोदयात् प्राक्च पश्चाच्च विधिवद् व्यधात् । सपर्या भस्ताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः ॥१८७॥  
<sup>१</sup>स्वागाः प्रमार्जनायैज्या <sup>२</sup>प्राक्तनी भरतेशिनः । <sup>३</sup>पाश्चात्याऽत्यायताऽपीज्या <sup>४</sup>केवलोत्पत्तिमन्वभूत् ॥  
 या कृता भरतेशेन महेश्या स्वाभुजमनन । प्राप्तकेवलवोधस्य को हि तद्वर्णने क्षमः ॥१८९॥  
<sup>५</sup>स्वजन्मानुगमो<sup>७</sup> ऽस्त्येको धर्मरागस्तथाऽपरः । जन्मान्तरानुबन्धश्च<sup>८</sup> प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः ॥१९०॥  
<sup>९</sup>हृत्प्रेक्षोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः । तेषां तु सर्वसामग्री कां न पुष्पाति सत्क्रियाम् ॥१९१॥  
 सामात्यः समहीपाळः<sup>१०</sup> सान्तःपुरपुरोहितः । तं बाहुबलियोगीन्द्रं प्रणनामाधिराट् मुदा ॥१९२॥

मान होने लगते थे ॥१८२॥ कभी-कभी क्रीडाके हेतुसे आयी हुई विद्याधरियाँ उनके सर्व शरीर-  
 पर लगी हुई लताओको हटा जाती थी ॥१८३॥ इस प्रकार धारण किये हुए समीचीनधर्म-  
 ध्यानके बलसे जिनके तपकी शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनि लेख्याकी विशुद्धिको प्राप्त होते  
 हुए शुक्लध्यानके सम्मुख हुए ॥१८४॥ एक वर्षका उपवास समाप्त होनेपर भरतेश्वरने  
 आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली कभी नष्ट नहीं होनेवाली केवलज्ञानरूपी  
 उत्कृष्ट ज्योतिको प्राप्त हुए । भावार्थ — दीक्षा लेते समय बाहुबलीने एक वर्षका उपवास किया  
 था । जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ उसी दिन भरतने आकर उनकी पूजा की और  
 पूजा करते ही उन्हें अविनाशी उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥१८५॥ वह भरतेश्वर  
 मुक्तसे सकलेशको प्राप्त हुआ है अर्थात् भेरे निमित्तसे उसे दुःख पहुँचा है यह विचार बाहुबलीके  
 हृदयमें विद्यमान रहता था, इसलिए केवलज्ञानने भरतकी पूजाकी अपेक्षा की थी । भावार्थ —  
 भरतके पूजा करते ही बाहुबलीका हृदय शल्यरहित हो गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान  
 भी प्राप्त हो गया ॥१८६॥ प्रसन्न है बुद्धि जिसकी ऐसे सम्राट् भरतने केवलज्ञानरूपी सूर्यके  
 उदय होनेके पहले और पीछे—दोनों ही समय विधिपूर्वक उन मुनिराजकी पूजा की थी ॥१८७॥  
 भरतेश्वरने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करनेके  
 लिए की थी और केवलज्ञान होनेके बाद जो बड़ी भारी पूजा की थी वह केवलज्ञानकी उत्पत्ति-  
 का अनुभव करनेके लिए की थी ॥१८८॥ जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे अपने छोटे  
 भाई बाहुबलीकी भरतेश्वरने जो बड़ी भारी पूजा की थी उसका वर्णन करनेमें कौन समर्थ  
 हो सकता है ? ॥१८९॥ प्रथम तो बाहुबली भरतके छोटे भाई थे, दूसरे भरतको धर्मका  
 प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनोंका अन्य अनेक जन्मोंसे सम्बन्ध था, और चौथे उन दोनोंमें बड़ा  
 भारी प्रेम था इस प्रकार इन चारोंमेंसे एक-एक भी भक्तिकी अधिकताको बढ़ानेवाले हैं, यदि  
 यह सब सामग्री एक साथ मिल जाये तो वह कौन-सी उत्तम क्रियाको पुष्ट नहीं कर सकती  
 अर्थात् उससे कौन-सा अच्छा कार्य नहीं हो सकता ? ॥१९०—१९१॥ सम्राट् भरतेश्वरने

१ मोचयामासु । २ प्रकटीभूत । ३ गच्छन् । ४ मत् । ५ भुजबलिनः । ६ स्नेह । 'प्रेया ना प्रियता हार्दं  
 प्रेम स्नेह' इत्यभिधानात् । ७ हार्दं । ८ भरतपूजापेक्षि । ९ केवलज्ञानम् । १० निजापराधनिवारणार्थां ।  
 ११ प्राग्भवा । १२ पश्चाद्भवा । १३ अत्यधिका । १४ निबन्धननैत । १५ अनुगमनम् । उद्योत्पत्तिरित्यर्थः ।  
 १६ — नुबद्धश्च व०, अ०, स०, प०, इ० । १७ एकैकमपि । १८ महोपाले सहितः ।  
 २८

किमत्र बहुना रवैः कृतोऽञ्जः स्वर्णदीपजलम् । पाथं स्वाग्निं दद्यात्स्वहोत्रेभ्यः च मूर्तिकैः ॥१९३॥

हविः पावृषपिण्डेन धूपो देवद्रुमार्जकैः । पुण्यार्चा पारिजातादिमुगगन्धुमनश्चरैः ॥१९४॥

सरवा निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः । पूजां स्वसर्गमित्यर्थं रत्नैश्च निरवर्तयन् ॥१९५॥

मुराश्रासनकम्पेन ज्ञानतकैरुलोदयाः । चक्षुस्तस्य परामिज्यां भवाध्वरपुरमुराः ॥१९६॥

वधुर्नन्दं स्वस्थानवत्तननुब्रूवः । तदा मुगन्धयो ज्ञानाः स्वर्जुनीर्मात्रिगहाराः ॥१९७॥

मन्दं पयोमुचां मार्गे द्रव्यनुष्ठं सुरानकाः । पुण्यात्कृतो दिवाऽप्यतन् कल्याणकहर्षमवः ॥१९८॥

रवातपन्नमस्योर्ध्वनिर्मितं सुरगिरिसिन्धुः । परार्धमग्निनिर्मागमनाद् दिव्यं च विहरत् ॥१९९॥

स्वर्गं व्यधूपतात्योर्ध्वैः पान्तर्ध्वज्जालरोम्भः । समावन्निश्च तद्योग्य पश्ये प्रथितोदया ॥२००॥

सुरैरिष्यचित्तं प्रासेकैवल्यैः च योगिराट् । व्यद्युत्सुमुनिभिर्मुष्टैः जगद्वाहुनिराश्रितः ॥२०१॥

घातिकर्मसंयोज्यमुद्रहृत् परमेष्ठितान् । विजहार महौ कृत्वा मोक्षमियन्तः मुवाक्षितान् ॥२०२॥

इयं स विभविद्विष्टं प्रीणयत् स्वचोऽन्यतः । कैलासनचञ्चं प्रायण पूनं संनिधिनो गुरोः ॥२०३॥

मन्त्रियोंके साथ, राजाओंके साथ और अन्तःपुरकी समस्त स्त्रियों तथा पुरोहितके साथ उन बाहुवली मुनिराजको बड़े हृषसे नमस्कार किया था ॥१९२॥ इस विषयमें अधिक कहाँक कहा जावे, संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि उसने रत्नोंका अर्थ बनाया था, गंगाके जलकी जलवाग दी थी, रत्नोंकी ज्योतिके दीपक चढ़ाये थे, मोतियोंसे अलतकी पूजा की थी, अमृतके पिण्डने नैवेद्य अर्पित किया था, कल्पवृक्षके टुकड़ों ( चूर्णों ) से धूपकी पूजा की थी, पारिजात आदि देववृक्षोंके फूलोंके समूहसे पुष्पोंकी अर्चा की थी, और फलोंके स्थानपर रत्नों-सहित समस्त निविद्यां चढ़ा दी थी इस प्रकार उसने रत्नमयी पूजा की थी ॥१९३-१९५॥ वासन कम्पाद्यमान होनेसे जिन्हें बाहुवलीके कैवल्यज्ञान उत्पन्न होनेका बोध हुआ है ऐसे इन्द्र आदि देवोंने आकर उनकी उत्कृष्ट पूजा की ॥१९६॥ उस समय स्वर्गके जगन्नेके वृक्षोंको हिलाने-में चतुर तथा गंगा नदीकी बँदोंको हरण करनेवाला सुगन्धित वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥१९७॥ देवोंके नगाड़े आकाशमें गम्भीरतासे बज रहे थे और कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुआ फूलों-का समूह आकाशमें पड़ रहा था ॥१९८॥ उनके ऊपर देवस्त्री कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ रत्नोंका छत्र मुशोभित हो रहा था और नीचे बहुमूल्य मणियोंका वना हुआ दिव्य सिंहासन वैदीप्यमान हो रहा था ॥१९९॥ उनके दोनों ओर ऊँचाईपर चमरोंका समूह स्वयं डुल रहा था तथा जिसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है ऐसी उनके योग्य सभाभूमि अर्थात् गन्धकुटी भी बनायी गयी थी ॥२००॥ इस प्रकार देवोंने जिनकी पूजा की है और जिन्हें कैवल्यज्ञानस्वी क्रुद्धि प्राप्त हुई है ऐसे वे योगिराज अनेक मुनियोंने विरे हुए इस प्रकार मुशोभित हो रहे थे मानो नक्षत्रों-से घिरा हुआ चन्द्रमा ही हो ॥२०१॥ जो घातियाकनैके अर्थसे उत्पन्न हुई अहंता परमेष्ठी-की अवस्थाको वारण कर रहे हैं तथा इसीलिए देव लोग जिनकी उपासना करते हैं ऐसे भगवान् बाहुवलीने समस्त पृथिवीमें विहार किया ॥२०२॥ इस प्रकार समस्त पदार्थोंको ज्ञाननेवाले बाहुवली अपने वचनस्वी अमृतके द्वारा समस्त संसारको मन्त्रित करते हुए, पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके सामीप्यसे पवित्र हुए कैलास पर्वतपर जा पहुँचे ॥२०३॥

## मालिनी

सकलनृपसमाजे<sup>१</sup> दृष्टिमह्यन्वयुद्धे-

त्रिजितभरतकीर्तियः प्रवन्नाज मुन्यै ।

तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं

चरमतनुषराणांमग्रणीः सोऽवताद् वः ॥२०४॥

भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्व<sup>२</sup> लक्ष्मस्त्य

यमिनमभिसरन्ती क्षत्रियाणां समक्षम् ।

चिरतरमव<sup>३</sup> धूतापन्नपापा<sup>४</sup> त्रमासी-

दधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद् दोर्वली वः ॥२०५॥

स जयति जयलक्ष्मीसंगं भाशामवन्ध्यां

विद्वदधिकधामा संनिधौ पार्थिवानाम् ।

सकलजगद्गारव्यासकीर्तिस्तपस्या-

ममजत यशसे यः सूतुराद्यस्य धातुः ॥२०६॥

जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य

प्रथितममवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे ।

भरतनृपतिनामा<sup>५</sup> यस्य नामाक्षराणि

स्मृतिपथमुपयान्ति प्राणिवृन्दं पुनन्ति ॥२०७॥

जयति भुजगवक्त्रोद्गन्धनिर्घन्द्गराक्षिः<sup>६</sup>

प्रशममसकृदापत् प्राप्य पादौ यदीयौ ।

सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रो-

द्व्यथितविततवीरुद्वेष्टितो दोर्वलीशः ॥२०८॥

जिन्होने समस्त राजाओंकी सभामें दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध और जलयुद्धके द्वारा भरतकी समस्त कीर्ति जीत ली थी, जिन्होने बड़े भारी राज्यके भारको तृणके समान तुच्छ समझकर मुक्ति प्राप्त करनेके लिए दीक्षा धारण की थी और जो चरमशरीरियोमें सबसे मुख्य थे ऐसे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करे ॥२०४॥ सब क्षत्रियोके सामने भरतकी विजयलक्ष्मी देदीप्यमान चक्रकी मूर्तिके बहानेसे जिन बाहुबलीके समीप गयी थी परन्तु जिनके द्वारा सदाके लिए तिरस्कृत होकर लज्जाका पात्र हुई थी और जिन्होने अपने पिताका मार्ग (मुनिमार्ग) स्वीकृत किया था वे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करे ॥२०५॥ जो अनेक राजाओंके सामने सफल हुई जयलक्ष्मीके समागमकी आशाको धारण कर रहे थे, सबसे अधिक तेजस्वी थे, जिनकी कीर्ति समस्त जगत्स्वी घरमें व्याप्त थी और जिन्होने वास्तविक यशके लिए तप धारण किया था वे आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र सदा जयवन्त हो ॥२०६॥ जिनकी भुजाओंका बल क्षत्रियोके सामने भरतराजके साथ हुए मल्लयुद्धमें प्रसिद्ध हुआ था, और जिनके नामके अक्षर स्मरणमें आते ही प्राणियोके समूहको पवित्र कर देते हैं वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हो ॥२०७॥ जिनके चरणोंको पाकर सर्पोंके मुँहके उच्छ्वाससे निकलती हुई विषकी अग्नि बार-बार शान्त हो जाती थी, जो समस्त लोकमें मान्य हैं, और जिनके शरीरपर फैली हुई लताओंकी विद्याधरियां अपने हाथोंके अग्रभागसे हटा देती थी वे बाहुबली स्वामी

१ समजे । २ भूष ज्वलत् । ३ भुजबलिना अवधीरता । ४ लज्जाभाजनम् । ५ सगवाञ्छाम् । ६ तप इत्यर्थः । ७ सह । ८ वगतानि भूत्वा । ९ विपाणि ।

जयति भरतराजप्रांशुमौल्यग्रलो-

पल्लुलितनखेन्दुः स्रष्टुराद्यस्य सूनुः ।

भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्वं

घटिवलकलितो यो योगभृन्नैव भजे ॥२०९॥

<sup>१</sup>शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लम्बमानैः

<sup>२</sup>पिहितभुजविटङ्को मू<sup>३</sup>धैर्वैल्लि<sup>३</sup>ताग्रैः ।

जलधरपरिरोधध्यामयुद्धं च भूधः

श्रियमपुषदन्नां दोर्बला यः स नोऽन्यात् ॥२१०॥

स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीतं<sup>४</sup>

वपुरचल इवोच्चैर्विभ्रदाविर्बभूव ।

नषघनसलिलौघैर्यथा धौतोऽन्दकाले<sup>५</sup>

खरघ्नि<sup>६</sup>किरणानप्युष्णकाले विपेहे<sup>७</sup> ॥२११॥

जगति<sup>८</sup>जयिनमेनं योगिनं योगिवर्य-

रधिगतमहिमानं मानितं<sup>९</sup>माननीयैः ।

स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा<sup>१०</sup>

भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम् ॥२१२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भुजबलिजलमल्लघटियुद्धविजयदीक्षाकेवलौत्पत्तिवर्णनं नाम पटत्रिंशत्तमं पर्व ॥२६॥

सदा जयवन्त हो ॥२०८॥ भरतराजके ऊँचे मुकुटके अग्र भागमें लगे हुए रत्नोंसे जिनके चरण-  
के नखरूपी चन्द्रमा अत्यन्त चमक रहे थे, जो धैर्य और बलसे सहित थे तथा जो इसलिए ही  
क्षोभको प्राप्त हुए सर्पोंके समूहसे कभी आकुलताको प्राप्त नहीं हुए थे वे आदि ब्रह्मा भगवान्  
वृषभदेवके पुत्र बाहुबली योगिराज सदा जयवन्त रहें ॥२०९॥ भ्रमरोंके समूहके समान काले,  
भुजाओं तक लटकते हुए तथा जिनका अग्रभाग टेढ़ा हो रहा है ऐसे मस्तकके बालोंसे जिनकी  
भुजाओंका अग्रभाग ढक गया है और इसलिए ही जो मेघोंके आवरणसे मलिन शिखरवाले  
पर्वतकी पूर्ण क्षोभाको पुष्ट कर रहे हैं वे भगवान् बाहुबली हम सबकी रक्षा करे ॥२१०॥  
जो शीतकालमें बर्फसे ढके हुए ऊँचे शरीरको धारण करते हुए पर्वतके समान प्रकट होते थे,  
वर्षाऋतुमें नवीन मेघोंके जलके समूहसे प्रक्षालित होते थे - भीगते रहते थे और ग्रीष्मकालमें  
सूर्यकी किरणोंको सहन करते थे वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हो ॥२११॥ जिन्होंने  
अन्तरंग-बहिरंग शत्रुओपर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े-बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा  
जान सकते हैं, और जो पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजनीय हैं ऐसे इन योगिराज बाहुबलीको  
जो पुरुष अपने हृदयमें स्मरण करता है उसका अन्तरात्मा शान्त हो जाता है और वह शीघ्र  
ही जिनेन्द्रभगवान्की अजय्य ( जिसे कोई जीत न सके ) विजयलक्ष्मी - मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त  
होता है ॥२१२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके

भाषानुवादमें बाहुबलीका जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध और नेत्र-युद्धमें विजय प्राप्त करना,

दीक्षा धारण करना, और केवलज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन

करनेवाला छत्तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

१ कुण्ड । २ आच्छादितबाहुबली । ३ वक्र । 'अविरुद्ध कुटिल भुग्न वेल्लित वक्रमित्यपि' इत्यभिधानात् ।

४ हिमसंहतिवेष्टितम् । 'हिमानी हिमसंहति' इत्यभिधानात् । ५ प्रावृट्काले । ६ सूर्य । ७ सहति स्म ।

८ जयशीलम् । ९ पूजितम् । १० उपशान्तचित्त ।

## सप्तत्रिंशत्तमं पर्व

अथ निर्वर्तिताशेषदिग्जयो भरतेश्वरः । पुरं साकेजमुत्केतुं प्राविशत् परया श्रिया ॥१॥  
 'तत्रास्य' नृपशार्दूलैरभिषेकः कृतो मुदा । 'चातुरन्तजयश्रीस्ते प्रथतां भुवनेष्विति ॥२॥  
 तमभ्यपिञ्चनं पौराश्च सान्तःपुरपुरोभसः । चिरायुः पृथिवीराज्यं क्रियाद् देव भवानिति ॥३॥  
 राज्याभिषेचने भर्तृयौ विधिवृषभेक्षिनः । स सर्वोऽत्रापि तीर्थमनुसं आरादिः कृतो नृपैः ॥४॥  
 'तथाऽभिषिक्तस्तेनैव विधिनाऽलंकृतोऽभिराट् । तथैव जयघोषादिः प्रयुक्तः सामरैर्नृपैः ॥५॥  
 तथैव सत्कृता विश्वे पार्थिवाः ससनाभयः । तथैव तर्पितो लोकः परया दानसंपदा ॥६॥  
 'तथाऽवनन् महाघोषा' नान्दीघोषा महानकाः । प्रक्षुभ्यद्विनिर्घोषो येषां घोषैरथः कृतः ॥७॥  
 आनन्दिन्यो महाभेर्यस्त्वथैवाभिहृता मुहुः । संगीतविधिराज्यः तथा प्रमदमण्डपे ॥८॥  
 सूर्याभिषिक्तैः प्रासाभिषेकस्यास्याजलि घृतिः । मेराविवाभिषिक्तस्य नाकीन्द्रैरादिवेधसः ॥९॥  
 गङ्गासिन्धु सरिदेभ्यो साक्षतैस्तीर्थचारिभिः । 'अभ्यौक्षिष्टां समभ्येत्य रक्षभृद्भारसंभृतैः ॥१०॥  
 कृताभिषेकमेतं च नृपासनमधिष्ठितम् । 'गणवद्भामरा भेजुः प्रणजैर्मणिमौलिभिः ॥११॥

अथानन्तर जिसने समस्त दिग्विजय समाप्त कर लिया है ऐसे भरतेश्वरने जिसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे अयोध्यानगरमें बड़े वैभवके साथ प्रवेश किया ॥१॥ चतुरंग विजयसे उत्पन्न हुई आपकी लक्ष्मी ससारमे अतिशय वृद्धि और प्रसिद्धिको प्राप्त होती रहे यही विचार कर बड़े-बड़े राजाओने उस अयोध्या नगरमे हर्षके साथ महाराज भरतका अभिषेक किया था ॥२॥ हे देव, आप दीर्घजीवी होते हुए चिरकाल तक पृथिवीका राज्य करें, इस प्रकार कहते हुए अन्तःपुर तथा पुरोहितके साथ नगरके लोगोंने उनका अभिषेक किया था ॥३॥ जो विधि भगवान् वृषभदेवके राज्याभिषेकके समय हुई थी, तीर्थोंका जल इकट्ठा करना आदि वह सब विधि महाराज भरतके अभिषेकके समय भी राजाओने की थी ॥४॥ देवोंके साथ-साथ राजाओने भगवान् वृषभदेवके समान ही भरतेश्वरका अभिषेक किया था, उसी प्रकार आभूषण पहनाये थे और उसी प्रकार जयघोषणा आदि की ॥५॥ उसी प्रकार परिवारके लोगोंके साथ-साथ राजाओका सत्कार किया गया था, और उसी प्रकार दानमे दी हुई सम्पत्तिसे सब लोग सन्तुष्ट किये गये थे ॥६॥ जिनके शब्दोने क्षोभित हुए समुद्रके शब्दको भी तिरस्कृत कर दिया था ऐसे बड़े-बड़े शब्दोवाले मांगलिक नगाड़े उसी प्रकार बजाये गये थे ॥७॥ उसी प्रकार आनन्दकी महामेरियाँ बार-बार बजायी जा रही थी और आनन्दमण्डपमें संगीतकी विधि भी उसी प्रकार प्रारम्भ की गयी थी ॥८॥ मेरु पर्वतपर इन्द्रोके द्वारा अभिषेक किये हुए आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवकी जैसी कान्ति हुई थी उसी प्रकार राजाओके द्वारा अभिषेकको प्राप्त हुए महाराज भरतकी भी हुई थी ॥९॥ गंगा-सिन्धु नदियोंकी अधिष्ठात्री गंगा-सिन्धु नामकी देवियोंने आकर रत्नोंके भूंगारोंमें भरे हुए अक्षत सहित तीर्थजलसे भरतका अभिषेक किया था ॥१०॥ जिनका अभिषेक समाप्त हो चुका और जो राजसिंहासनपर बैठे हुए हैं ऐसे महाराज भरतकी अनेक गणवद्भदेव अपने मणिमयी मुकुटोंको नवा-नवाकर

१ साकेजपुर्याम् । २ चक्रिणः । ३ चतुर्दिक्षु भवा जयलक्ष्मीः । चातुरङ्ग-ल०, अ०, प०, स०, ड० । ४ कुरु । ५ समूह । ६ यथा वृषभोऽभिषिक्तः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । ७ प्रथममङ्गलरवाः । ८ अभिषेकं चक्रतुः । ९ अङ्गरक्षदेवा ।



हिमवद्विजयाधेनौ भागधाद्याश्च देवताः । खेचराश्चामयश्रेण्यास्तं नमुनं प्रमौलयः ॥१२॥  
 सोऽभिपिक्तोऽपि नोऽसिक्तो वसूव वृषसत्तमैः । महतां हि मनोवृत्तिर्नोऽस्यै परिरक्षिमणौ ॥१३॥  
 चामरैर्वीज्यमानोऽपि न निवृत्तिमगाद् विभुः । आनृष्वसंविक्ता श्रीरिणीहानुग्रयानुगः ॥१४॥  
 दौर्बल्यैर्भ्रातृमंधपान् नास्य तेजो विकर्षितम् । प्रत्युक्तोऽर्पिहृद्रे वा वृष्टस्य निकषाण्डे ॥१५॥  
 निष्कण्टकमिति प्राप्य साम्राज्यं भरताधिपः । त्रयो भास्वानिवाद्रिक्प्रतापः शुद्धमण्डलः ॥१६॥  
 क्षेमैकतानतां भेजुः प्रजास्तस्मिन् सुराजनि । योगक्षेमौ वितन्वाने मन्त्रानाः स्वां सनाथताम् ॥१७॥  
 यथात्वं संविमज्यामी मंभुक्ता निधयोऽमुना । संभोगः संविभागश्च फलमर्याजेन द्वयम् ॥१८॥  
 रथान्यपि यथाकामं निविष्टानि निर्वाणिना । त्वानि ननु तान्येव यानि यान्युपयोगिनाम् ॥१९॥  
 मनुश्चक्रभृतामाद्यः षट्खण्डभरताधिपः । राजराजोऽगिराद् मन्त्रादित्यस्योद्भाषितं अग्रः ॥२०॥  
 नेन्दुनो वृषभेयस्य भरतः शातमानुरः । इत्यन्य रोदसी व्याप शुभ्रा कीर्तिरमशरी ॥२१॥  
 कौडक् परिच्छदस्तस्य विमयश्चक्रवर्तिनः । इति प्रभवनादस्य विमवादेनकीर्तनम् ॥२२॥  
 गलन्मदजलास्तस्य गजाः सुरगजोपमाः । लम्बाश्चतुर्गोविन्दै रद्वैर्द्वैः सुकशिरैः ॥२३॥

सेवा कर रहे थे ॥११॥ हिमवान् और विजयार्थ पर्वतके अवीश्वर हिमवान् तथा विजयार्थ-  
 मागध आदि अन्य अनेक देव, और उत्तर-दक्षिण श्रेणीके विद्यावर अपने मस्तक झुका-  
 झुकाकर उन्हें नमस्कार कर रहे थे ॥१२॥ अनेक अच्छे-अच्छे राजाओंके द्वारा अभिषिक्त  
 होनेपर भी उन्हें कुछ भी अहंकार नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी मनोवृत्ति  
 अहंकारका स्पर्श नहीं करती ॥१३॥ यद्यपि उनके ऊपर चमर डुलाये जा रहे थे तथापि वे  
 उससे सन्तोषको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि उन्हें निरन्तर इस बातका पछतावा हो रहा था  
 कि मैंने अपनी विभूति भाइयोंको नहीं बँट पायी ॥१४॥ भाई वाहुवलीके संघर्षसे उनका  
 तेज कुछ कम नहीं हुआ था किन्तु कसीटीपर विसे हुए सोनेके समान अधिक ही हो गया था  
 ॥१५॥ इस प्रकार निष्कण्टक राज्यको पाकर महाराज भरत उस सूर्यके समान देदीप्यमान  
 हो रहे थे जिसका कि प्रताप बढ़ रहा है और मण्डल अत्यन्त धृष्ट है ॥१६॥ योग ( अप्राप्त  
 वस्तुकी प्राप्ति करना ) और क्षेम ( प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ) को फलानेवाले उन उत्तम  
 राजा भरतके विद्यमान रहते हुए प्रजा अपने आपको सनाथ समझती हुई कुशल मंगलको प्राप्त  
 होती रहती थी ॥१७॥ महाराज भरतने निधियोका यथायोग्य विभाग कर उनका उपभोग  
 किया था सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं सम्भोग करना और दूसरेको विभाग कर देना ये दो  
 ही धन कमानेके मुख्य फल हैं ॥१८॥ निधियोंके स्वामी भरतने रत्नोंका भी इच्छानुसार  
 उपभोग किया था सो ठीक ही है क्योंकि वास्तवमें रत्न बहो हैं जो उपयोगमें आवें ॥१९॥  
 यह सोलहवाँ मनु है, चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती है, षट् खण्ड भरतका स्वामी है, राजराजेश्वर  
 है, अगिराद् है और सम्राट् है इस प्रकार उसका यग उद्घोषित हो रहा था ॥२०॥ वह  
 भरत भगवान् वृषभदेवका पुत्र है और इसकी माताके सो पुत्र हैं इस प्रकार इसकी कभी नष्ट  
 नहीं होनेवाली उज्ज्वल कीर्ति आकाश तथा पृथिवीमें व्याप्त हो रही थी ॥२१॥ उस चक्रवर्ती-  
 का परिवार कितना था ? और विभूति कितनी थी ? राजा श्रेणिकके इस प्रश्नका उत्तर  
 देनेके लिए गौतमस्वामी उसकी विभूतिका इस प्रकार वर्णन करने लगे ॥२२॥ महाराज  
 भरतके, जिनके गण्डस्थलसे मदहरी जल झर रहा है, और जो जड़े हुए सुमज्जित दाँतोंसे मुणो-

दिव्यरत्नविनिर्माणरथास्तावन्त<sup>१</sup> एव हि । मनोवायुजवाः सूर्यरथप्रस्पर्धिरहसः<sup>२</sup> ॥२४॥  
 कोटयोऽष्टादशस्थानां भूजलाम्बरचारिणाम् । यत्खुराग्राणि घोटानि पूर्वैस्त्रिपथगा<sup>३</sup> जलैः ॥२५॥  
 चतुर्भिर्धिकाशीतिः कोटयोऽस्य पदातयः । येषां सुमत्समदं निरुद्धं<sup>४</sup> पुरुषव्रतम्<sup>५</sup> ॥२६॥  
 वज्रास्थिवन्धनं<sup>६</sup> वाघ्रैर्वलवैर्वेष्टितं वपुः । वज्रनाराचनिर्मिन्नम<sup>७</sup> भेद्यमभवत् प्रभोः ॥२७॥  
 समसुप्रविभक्तान्<sup>८</sup> चतुरस्रं<sup>९</sup> सुसंहतिं<sup>१०</sup> । वपुः सुन्दरमस्यासीत् संस्थानेनादिना विभोः ॥२८॥  
 निष्ठकनकच्छायं सञ्चतुःषष्टिलक्षणम् । रुरुवे व्यञ्जवैस्तस्य निसर्गसुभगं वपुः ॥२९॥  
 शरीरं यच्च यावच्च जलं षट्खण्डभूभुजाम् । ततोऽधिकत्वं तस्य बलमासीद् बलीयसः ॥३०॥  
 शासनं तस्य चक्राङ्गमासिन्धोरनिवारितम् । शिरोभिरुद्धमारुद्धविक्रमैः पृथिवीश्वरैः<sup>११</sup> ॥३१॥  
 द्वात्रिंशन्मौलिवद्धानां सहस्राणि महीक्षिताम्<sup>१२</sup> । कुलाचलैरिवाद्भीमैः स रेजे यैः परिप्लुतः ॥३२॥  
 तावन्त्येव सहस्राणि देशानां सुनिवेशिताम् । यैरलङ्कृतनाभाभि चक्रमृत्क्षेत्रमायतम् ॥३३॥  
<sup>१३</sup> कलामिजात्पयसंपञ्चा देव्यस्तावद्यमास्मृताः । रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः ॥३४॥  
 म्लेच्छराजादिभिर्दृष्टास्तावन्त्यो भूपबल्लभाः । अप्सरःसंकथाः क्षोणी यकामिरवतारिताः ॥३५॥  
 अजरुद्धाश्च तावन्त्यस्तन्त्यः कोमलविग्रहाः । मदनोद्दीपनैर्यसां दृष्टिवाणैर्जितं जगत् ॥३६॥

भित है ऐसे ऐरावत हाथीके समान चौरासी लाख हाथी थे ॥२३॥ जिनका वेग मन और वायुके समान है अथवा जिनकी तेज जाल सूर्यके साथ स्पर्धा करनेवाली है ऐसे दिव्य रत्नोके बने हुए उतने ही अर्थात् चौरासी लाख ही रथ थे ॥२४॥ जिनके खुरोके अग्रभाग पवित्र गंगा-जलसे धुले हुए हैं और जो पृथिवी, जल तथा आकाशमें समान रूपसे चल सकते हैं ऐसे अठारह करोड़ घोड़े हैं ॥२५॥ अनेक योद्धाओंके मर्दन करनेमें जिनका पुरुषार्थ प्रसिद्ध है ऐसे चौरासी करोड़ पैदल सिपाही थे ॥२६॥ महाराज भरतका शरीर वज्रकी हड्डियोंके बन्धन और वज्रके ही वेष्टनसे वेष्टित था, वज्रमय कीलोंसे कीलित था और अमेद्य अर्थात् भेदन करने योग्य नहीं था । भावार्थ — उनका शरीर वज्रवृषभनाराचसंहननका धारक था ॥२७॥ उनका शरीर चतुरस्र था — चारो ओरसे मनोहर था, उसके अंगोपांगोंका विभाग समानरूपसे हुआ था, अंगोंकी मिलावट भी ठीक थी और समचतुरस्र नामके प्रथम संहननसे अत्यन्त सुन्दर था ॥२८॥ जिसकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी और जिसपर चौसठ लक्षण थे ऐसा उसका स्वभावसे ही सुन्दर शरीर तिल आदि व्यञ्जनोसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥२९॥ छहों खण्डके राजाओंका जो और जितना कुछ शारीरिक बल था उससे कहीं अधिक बल उस बलवान् भरतके शरीरमें था ॥३०॥ जिसका चक्र ही चिह्न है और समुद्रपर्यन्त जिसे कोई नहीं रोक सकता ऐसे उसके शासनको बड़े-बड़े पराक्रमको धारण करनेवाले राजालोग अपने शिरपर धारण करते थे ॥३१॥ उनके बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा थे, उन राजाओंसे वेष्टित हुए महाराज भरत कुलाचलोसे घिरे हुए सुमेरु पर्वतके समान सुशोभित होते थे ॥३२॥ महाराज भरतके अच्छी-अच्छी रचनावाले बत्तीस हजार ही देश थे और उन सबसे सुशोभित हुआ चक्रवर्तीका लम्बा-चौड़ा क्षेत्र बहुत ही अच्छा जान पड़ता था ॥३३॥ उनके उतनी ही अर्थात् बत्तीस हजार ही देवियां थी जो कि उच्च कुल और जातिसे सम्पन्न थी तथा रूप लावण्य और कान्तिकी शुद्ध खानिके समान जान पड़ती थी ॥३४॥ इनके सिवाय जिन्होंने पृथिवीपर अप्सराओंकी कथाओंको उतार लिया था ऐसी म्लेच्छ राजा आदिकोंके द्वारा दी हुई बत्तीस हजार प्रिय रानियां थी ॥३५॥ इसी प्रकार जिनका शरीर अत्यन्त कोमल था और कामको उत्तेजित करने-

१ चतुरशीतिलक्षा एव । २ वेगा । ३ गङ्गा । ४ प्रसिद्धम् । ५ पौरुषम् । ६ वन्धनैर्वा — ङ० । ७ कीलितम् । ८ मनोज्ञम् । ९ सुसंहतम् । १० भूभुजाम् । ११ कुलजात्यभि-सं० ।

नन्वांशुः सुनोदेदंगरैः पाणिगुहैः । नान्मन्यो सुप्रभावाभिमतः कल्पनाश्रयम् ॥३७॥  
 नानावज्रदन्तमन्योऽङ्गैश्च विक्रामिभिः । अश्विन्य इव ता रेनुनदनावामुमिकाः ॥३८॥  
 मन्त्रे पाशगणि गात्रगणि तासां कामप्रहोष्ठिर्गौ । पद्मचन्द्रमन्त्रादेयं दूतां प्रमोऽतिवर्तिनाम् ॥३९॥  
 शङ्खे निधानशशाङ्कालानासां मनोसुवः । यत्रोराहृतेऽन्यैः स्वैरविच्यन्त कामिनः शनैः ॥४०॥  
 मन्त्रं महेतुर्वा जहै तासां मन्दबन्धिनः । कामन्यागैहिनःश्रेयोऽधार्मावावृत्तदृष्टौ ॥४१॥  
 कटां कुटी ननोजन्य काञ्चोपात्तकृताश्रुभिः । नाभिरासां गर्भोऽका कृषिका चित्रजन्मनः ॥४२॥  
 मनांसुवोऽतिवृद्धस्य मन्त्रेऽवधृष्टम् अष्टिका । गेमराजिः स्मर्ता तासां कामवक्रकण्डौ ॥४३॥  
 कामशशाङ्गो वाहू निर्गयांश्चामकामला । कामस्योच्छ्रवसिने कष्टः सुकण्ठसां मनोदरः ॥४४॥  
 सुखं रविमुत्तमाग्रमुत्तं सुखवन्द्यम् । वैराग्यस्यसंगस्य तासां च दशनच्छदः ॥४५॥  
 इतिशाल्याः शरास्तसां कर्माणां लक्षणां गर्वा । कृत्वर्गं वतुर्वादिर्जिगीषाः प्रुणवन्धिनः ॥४६॥  
 ललाटान्मंगमनसां मन्त्रे बाह्यालिका स्थाप्य । अतस्तुर्गोष्ठं भोगकन्दुक्चारिणः ॥४७॥  
 १३ अलकाः कामकृष्णाङ्गैः शिखरः १४ परिपुञ्जिताः । कुञ्जिताः केवलहृत्वा मन्दमन्त्रे वापुगः १५ ॥४८॥

बाले जिनके नेत्ररूपी बापोंसि यह समस्त संसार जीता गया था ऐसी वर्नास हजार रानियाँ और भी उनके अन्तःपुरमें थीं ॥३९॥ वे छियानव हजार रानियाँ नखाँकी किण्वरूपी फूलों-के खिलनेसे, कुछ-कुछ लाल हृदयोरूपी पल्लवोंसि और भुशारूपी झाझाओंसि कल्पलताकी गोभा वारण कर रही थीं ॥३९॥ कामदेवके निधाम करनेकी भूमित्वरूप वे रानियाँ स्ननरूपी कमलोंकी बोड़ियोंसि और त्रिलो हृत् मुखरूपी कमलोंसि कल्पलिनियोंके समान मुद्योमिन हो रही थीं ॥३९॥ मैं समझता हूँ कि उन रानियोंके शरीर कामरूपी पिशाचकी उन्नतिके पाद थे क्योंकि उनके आवरणके बराने ही यह कामदेव सबको उल्लंघन करनेवाली विद्या अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥३९॥ अबवा मुझे यह भी शंका होती है कि उन रानियोंके नख, कामदेवके बाण पैसे कालेके पापाण थे क्योंकि वह उन्हींपर बिमकर पड़े किये हुए बापोंसि कामी लोगों-पर प्रहार किया करता था ॥४०॥ यह भी मन्त्र है कि उनकी जंघाएँ, कामदेवरूपी वतुर्वागके बड़े-बड़े तरकस थे और ऊर्ध्वदण्ड ( वृद्धांति ऊपरका भाग ) कामदेवके चढ़नेकी नैर्माके समान थे ॥४१॥ करवनीरूपी कोठमें बिरी हुई उनकी कमर, कामदेवकी कुटीके समान थी और उनकी नाभि कामदेवकी गहरी कृषिका ( कुहवाँ ) के समान जान पड़ती थी ॥४२॥ मैं मानता हूँ कि उनकी रोमराजि कामदेवरूपी अश्वत्थ वृद्ध पुत्रके सहारेकी लकड़ी थी और उनके स्तन कामदेवके रत्न रखनेके पिठारे थे ॥४३॥ शिरीषके फूलके समान काम उनको दोनों भुजाएँ कामदेवके पायके समान लम्बी थीं और अच्छे कण्ठवाली उन रानियोंका मनोहर कण्ठ कामदेवके उच्छ्रवामके समान था ॥४४॥ उनकी मुख रति ( प्रीति ) रूपी मुखका प्रबल भवन था और उनके होंठ वैराग्यरसकी प्राप्तिके मुखवस्त्रन अर्थात् द्वार बन्द करनेवाले कपाट थे ॥४५॥ उन रानियोंके नेत्रोंके कटाक्ष विजयकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बागोंके समान थे, कामके अन्तर्भाग उसके लब्ध अर्थात् निधानोंके समान थे और मोहलक्ष्मी लता वपुषकी लकड़ीके समान थी ॥४६॥ मैं समझता हूँ कि उन रानियोंके ललाटका वित्तार इष्टभोग रूपी गेन्द्रे खेलनेवाले कामदेवरूपी राजाके खेलनेका मानो मैदान ही हो ॥४७॥ उनके

१ जङ्गी । २ चङ्गी करोति । ३ प्राप्य । ४ सृष्टी इत्यर्थः । ५ आचार । ६ जीवितम् । ७ प्रकृतशाम् । ८ पीताम् । ९ पीताहो मुद्रावचनमस्य यद् इत्यभिधानम् । १० रदनच्छदः-रङ्ग । १० सिन्धुः । सिन्धुराजो निज्यां पुमान् । ११ इष्टभोग एव कन्दुक । १२ कृष्णकृत्तला । 'अलकावृषपङ्कजम्' इत्यभिधानम् । १३ शवकाः । 'पृथुकः शवकः सिन्धुः' इत्यभिधानम् । १४ मृगवन्धनी ।

इत्यनङ्गमयां सृष्टिं तन्वानाः स्वाङ्गसंगिनीम् । मनोऽस्य<sup>१</sup> जगुहुः कान्ताः कान्तैः स्वैः कामचेष्टितैः ॥४६॥  
 तासां मृदुकरस्पर्शैः प्रेमस्निग्धैश्च वीक्षितैः । महती द्युतिरस्यासीद्विपरिवारिणो मन्मथैः<sup>२</sup> ॥४७॥  
 स्मितेष्वासां द्रोहिणो<sup>३</sup> हसितेषु विकल्परः । फलितः<sup>४</sup> परिस्मेषु<sup>५</sup> रसिकोऽभूद्रवद्रुमः ॥४८॥  
 भ्रूक्षेपयन्त्रपाषाणैः दक्षेपक्षेपणीकृतैः । बद्धदुर्गणस्तासां स्मरोऽभूत् सकचग्रहः ॥४९॥  
 खरः प्रणयगर्भेषु कोपेष्वनुनये मृदुः । स्तब्धो न्यलीकमानेषु मुग्धः प्रणयकैतवे ॥५०॥  
 निर्दयः परिस्मेषु सालुन्नानो सुखार्पणे । प्रतिपत्तिषु संमूढः पटुः कर्णचष्टिते ॥५१॥  
 संकल्लेष्वाहितोत्कर्षो मन्दः<sup>६</sup> प्रत्यग्रसंगमे । प्रारम्भे रसिको दीप्तः प्रान्ते कर्णकातरः<sup>७</sup> ॥५२॥  
 ह्युच्चावचता<sup>८</sup> भेजे तासां द्रीप्तः स मन्मथः । प्राप्यो भिन्नरस कामः कामिनां हृदयगमः ॥५३॥  
 प्रकासमधुरानित्यं कामाभू<sup>९</sup> कामातिरेकिणः । स तामिनिर्विशेषं रमे<sup>१०</sup> चपुष्मानिव मन्मथः ॥५४॥  
 ताश्च तच्चिह्नहारिण्यस्तत्क्षण्यः प्रणयोद्भुराः । वभूवुः प्राप्तसाम्राज्या इव<sup>११</sup> रत्युत्सवश्रियः ॥५५॥

इकट्ठे हुए आगेके सुन्दर बाल कामदेवरूपी काले सर्पके वच्चोके समान जान पड़ते थे तथा कुछ-कुछ टेढ़ी हुई केशरूपी लताएँ कामदेवके जालके समान जान पड़ती थी ॥४८॥ इस प्रकार अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली काममयी रचनाको प्रकट करती हुई वे रानियाँ अपनी सुन्दर कामकी चेष्टाओंसे महाराज भरतका मन हरण करती थी ॥४९॥ उनके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, प्रेमपूर्ण सरस अवलोकनसे, और अव्यक्त मधुर शब्दोंसे इसे बहुत ही सन्तोष होता था ॥५०॥ रससे भरा हुआ सुरतरुणी वृक्ष इन रानियोंके मन्द-मन्द हँसनेपर कुछ खिल जाता था, जोरसे हँसनेपर पूर्णरूपसे खिल जाता था और आलिंगन करनेपर फलोसे युक्त हो जाता था ॥५१॥ भीहोंके चलानेरूप यन्त्रोंसे फेंके हुए पत्थरोंके द्वारा तथा दृष्टियोंके फेकनेरूपी यन्त्र विशेषों ( गुथनों ) के द्वारा उन स्त्रियोंका बहुत प्रकारका किलेबन्दीका युद्ध होता था और कामदेव उसमें सबकी चोटी पकड़नेवाला था । भावार्थ — कामदेव उन स्त्रियोंसे अनेक प्रकारकी चेष्टा कराता था ॥५२॥ कामदेव इनके प्रेमपूर्ण क्रोधके समय कठोर हो जाता था, अनुनय करने अर्थात् पतिके द्वारा मनाये जानेपर कोमल हो जाता था, झूठा अभिमान करनेपर उद्दण्ड हो जाता था, प्रेमपूर्ण कपट करते समय भोला या अनजान हो जाता था, आलिंगनके समय निर्दय हो जाता था, चुम्बनके लिए मुख प्रदान करते समय आज्ञा देनेवाला हो जाता था, स्वीकार करते समय विचार मूढ़ हो जाता था, हाव-भाव आदि चेष्टाओंके समय अत्यन्त चतुर हो जाता था, संकल्प करते समय उत्कर्षको धारण करनेवाला हो जाता था, नवीन समागमके समय लज्जासे कुछ मन्द हो जाता था, सम्भोग प्रारम्भ करते समय अत्यन्त रसिक हो जाता था और सम्भोगके अन्तमें कर्णासे कातर हो जाता था । इस प्रकार उन रानियोंका अत्यन्त प्रज्वलित हुआ कामदेव ऊँच-नीची अवस्थाको प्राप्त होता था अर्थात् घटता-बढ़ता रहता था सो ठीक ही है जो काम प्रायः भिन्न-भिन्न रसोंसे भरा रहता है वही कामी पुरुषोंको सुन्दर मालूम होता है ॥५३-५६॥ इस प्रकार वह चक्रवर्ती उन रानियोंके साथ अत्यन्त मधुर तथा इच्छाओंसे भी अधिक भोगोंको भोगता हुआ शरीरधारी कामदेवके समान<sup>११</sup> क्रीड़ा करता था ॥५७॥ भरतके चित्तको हरण करनेवाली और प्रेमसे भरी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थी मानो साम्राज्यको प्राप्त हुई रत्युत्सवरूपी लक्ष्मी ही हो ॥५८॥ उनकी

१ भरतस्य । २ अव्यक्त । ३ ईपट्टिकसित । ४ फलित ल० । ५ आलिङ्गनेषु । ६ दुर्गद्वन्द्वः । ७ नव । ८ कर्णरसानुर । ९ नानालकारताम् । १० मनोरथवृद्धिकरान् । ११ मूर्तिमान् । १२ रत्युत्सवे श्रिय ल० ।

नाटकानां सहस्राणि द्वात्रिंशत्यमितानि च । सातोद्यानि सगेयानि यानि रम्याणि भूमिभिः ॥५९॥  
 द्वासप्ततिः सहस्राणि पुरामिन्द्रपुराश्रियम् । स्वर्गलोक इवामाति नृलोको यैरलंकृतः ॥६०॥  
 ग्रामकोटयश्च विज्ञेया विभोः षण्णवतिप्रभाः । नन्दनोद्देशजिवर्धे<sup>३</sup> यासामारामभूमयः ॥६१॥  
 द्रोणामुखसहस्राणि नवतिर्नव चैव हि । धनधान्यसमृद्धीनामधिष्ठानानि यानि चैव ॥६२॥  
 पत्तनानां सहस्राणि चत्वारिंशत्तथाऽष्ट च । रत्नाकरा इवामान्ति येषामुद्भा<sup>४</sup> वणिकपथाः ॥६३॥  
 षोडशैव सहस्राणि खेटानां पुनिमा मत्वा । प्राकारगोपुराट्टाल<sup>५</sup> खातवप्रादिशोभिनाम् ॥६४॥  
 भवेयुरन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशत्यमामिताः । कुमानुषजनाकीर्णा यैऽर्णवस्य खिलायिताः ॥६५॥  
 सवाहानां सहस्राणि संख्यातानि<sup>६</sup> चतुर्दश । वहन्ति यानि लोकस्य शोभक्षेमविधाविधिम्<sup>७</sup> ॥६६॥  
 स्थालीनां कोटिरेकोक्ता रन्ध्र<sup>८</sup> या नियोजिता । पक्वन्नी स्थालीबिलीयानां<sup>९</sup> तण्डुलानां महानसे ॥६७॥  
<sup>१०</sup> कोटीशतसहस्रं स्याद्वलानां कुटिदैः<sup>११</sup> समम् ।<sup>१२</sup> कर्मान्तिकर्षणे यस्य विनियोगो निरन्तरः ॥६८॥  
 तिस्रोऽस्य<sup>१३</sup> ब्रजकोट्यः स्युर्गोकुलैः शश्वदाकुलाः । यत्र मन्थरवाकृष्टास्तिष्ठन्ति स्माध्वनाः क्षणम् ॥६९॥  
<sup>१४</sup> कुक्षिवासशतान्यस्य सप्तैवोक्तानि कोविदैः ।<sup>१५</sup> प्रत्यन्तवासिनो यत्र न्यवासुः<sup>१६</sup> कृतसंश्रयाः ॥७०॥

विभूतिमें बत्तीस हजार नाटक थे जो कि भूमियोसे मनोहर थे और अच्छे-अच्छे बाँजो तथा गानोसे सहित थे ॥५९॥ इन्द्रके नगर समान शोभा धारण करनेवाले ऐसे बहुततर हजार नगर थे जिनसे अलंकृत हुआ यह नरलोक स्वर्गलोकके समान जान पड़ता था ॥६०॥ उस चक्रवर्तिकी ऐसे छियानवे करोड़ गाँव थे कि जिनके बगीचोंकी शोभा नन्दन वनको भी जीत रही थी । ॥६१॥ जो धन-धान्यकी समृद्धियोके स्थान थे ऐसे निन्यानवे हजार द्रोणामुख अर्थात् बन्दरगाह थे ॥६२॥ जिनके प्रचसनीय बाजार रत्नाकर अर्थात् समुद्रके समान सुशोभित हो रहे थे ऐसे अठतालीस हजार पत्तन थे ॥६३॥ जो कोट, कोटके प्रमुख दरवाजे, अटारियाँ, परिखाएँ और परकोटा आदिसे शोभायमान हैं ऐसे सोलह हजार खेट थे ॥६४॥ जो कुभोग-भूमि या मनुष्योसे व्याप्त थे तथा समुद्रके सारभूत पदार्थके समान जान पड़ते थे ऐसे छप्पन अन्तरद्वीप थे ॥६५॥ जो लोगोके योग अर्थात् नवीन वस्तुओंकी प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त हुई वस्तुओंकी रक्षा करना आदिकी समस्त व्यवस्थाओंको धारण करते थे तथा जिनके चारो ओर परिखा थी ऐसे चौदह हजार संवाह थे\* ॥६६॥ पकानेके काम आनेवाले एक करोड़ हण्डे थे जो कि पाकशालामें अपने भीतर डाले हुए बहुत-से चावलोंको पकानेवाले थे ॥६७॥ फसल आनेके बाद जो निरन्तर खेतोको जोतनेमे लगाये जाते हैं और जिनके साथ बीज बोनेकी नाली लगी हुई है ऐसे एक लाख करोड़ हल थे ॥६८॥ दही मथनेके शब्दोसे आकर्षित हुए पथिक लोग जहाँ क्षण-भरके लिए ठहर जाते हैं और जो निरन्तर गायोके समूहसे भरी रहती है ऐसी तीन करोड़ ब्रज अर्थात् गौशालाएँ थी ॥६९॥ जहाँ आश्रय पाकर समीपवर्ती लोग आकर ठहरते थे ऐसे कुक्षिवासोकी सख्या पण्डित लोगोंने सात-सौ

१ वैष । २ पुराणम् । ३ जयशीला । ४ नवाधिकनवति । ५ प्रशस्ता । ६ बूलिकुट्टिम । ७ अप्रतिहत-स्थानायिता । ८ द्वे खिलाप्रहते समे इत्यभिधानात् । ८ सखातानि - ल० । ९ विधानप्रकारम् । १० पचने । ११ पचनकरी । १२ स्थालीबिलमर्हन्तीति स्थालीबिलीयास्तेषाम् । पचनाह्वताम् इत्यर्थः । १३ कोटीनां लक्षम् । १४ कुलिपै द०, अ०, प०, स०, इ० । कुलिमै ल० । कुटिभै ट० । १५ आसन्नफलविषयक्षेत्रकर्षणे । १६ गोस्थानकम् । 'ब्रजो गोष्ठाध्वन्द्वेषु' इत्यभिधानात् । १७ रत्नानां क्रयविक्रयस्थान । १८ म्लेच्छाः । १९ निवसन्ति स्म । \* पहाडोपर बसनेवाले नगर संवाह कहलाते हैं । † जहाँ रत्नोका व्यापार होता है उन्हें कुक्षिवास कहते हैं ।

दुर्गादेवी सहस्राणि तस्याष्टाविंशतिर्मता ।<sup>१</sup> वनधन्वाननिम्नादिविभागैर्या विमायिताः ॥७१॥  
 म्लेच्छराजसहस्राणि तस्याष्टदशसंख्यथा ।<sup>२</sup> रत्नानामुद्धवक्षेत्रं यैः समन्तादधिष्ठितम् ॥७२॥  
 कालाख्यश्च महाकालो नैस्सर्प्यः पाण्डुकाङ्क्षया । पद्ममाणवपिङ्गवज्ज सर्वरत्नपदादिकाः ॥७३॥  
 निधयो नव तस्यासन् प्रतीतैरिति नामभिः । यैरयं गृह्यतावा<sup>३</sup> निश्चिन्तोऽमृतिधोश्चरः ॥७४॥  
 निधिः पुण्यनिधेरस्य कालाख्यः प्रथमो मतः । यतो<sup>४</sup> लौकिकशब्दादिवादीनां प्रभवोऽन्यहम् ॥७५॥  
 इन्द्रियार्था मनोज्ञा ये बीणावंशानकादयः । तान् प्रसूते यथाकालं निधिरेष विशेषतः ॥७६॥  
 असिमप्यादिषट्कर्मसाधनद्रव्यसंपदः । यतः शश्वत् प्रसूयन्ते महाकालो निधिः स वै ॥७७॥  
 शय्यासनालयादीनां नैःसर्प्यन् प्रभवो निधिः । पाण्डुकाङ्क्षान्यसंभूतिः षडस्तोत्तरिण्यतः ॥७८॥  
 पट्टांशुकदुकूलदिवस्त्राणां प्रभवो यतः । स पद्माख्यो निधिः पद्मागर्भाविर्मायितोऽद्युतः ॥७९॥  
 विद्याभरणभेदानामुद्भवः पिङ्गलाग्निः । माणवानांतिशास्त्राणां शस्त्राणां च समुद्भवः ॥८०॥  
 शङ्खात् प्रदक्षिणावर्त्तात् सौवर्णां सृष्टिसुत्सुजन् । स शङ्खनिधिरुमेद्धं<sup>५</sup> दुर्कमरोचिर्जिताकंसकं ॥८१॥  
 सर्वरत्नाम्महानीलनीलरूपूलो<sup>६</sup> पलादयः । प्रादुःसन्ति<sup>७</sup> मणिच्छायारचितेन्द्रायुधत्विषः ॥८२॥  
 रत्नानि द्विसयान्यस्य जीवाजीवविभागतः ।<sup>८</sup> इमान्नाणैश्चर्यसंमोगसाधनानि द्युतदृश ॥८३॥

बतलामी है ॥७०॥ अट्टाईस हजार ऐसे सधन वन थे जो कि निर्जल प्रदेश और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी विभागोंमें विभक्त थे ॥७१॥ जिनके चारो ओर रत्नोंके उत्पन्न होनेके क्षेत्र अर्थात् खाने विद्यमान है ऐसे अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे ॥७२॥ महाराज भरतके काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिङ्ग, शङ्ख और सर्वरत्न इन प्रसिद्ध नामोंसे युक्त ऐसी नी निधियाँ थी कि जिनसे चक्रवर्ती घरकी आजीविकाके विषयमें विलकुल निश्चिन्त रहते थे ॥७३-७४॥ पुण्यकी निधिस्वरूप महाराज भरतके पहली काल नामकी निधि थी जिससे प्रत्येक दिन लौकिक शब्द अर्थात् व्याकरण आदिके शास्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥७५॥ तथा बीणा, बाँसुरी, नगाड़े आदि जो-जो इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषय थे उन्हें भी यह निधि समया-नुसार विशेष रीतिसे उत्पन्न करती रहती थी ॥७६॥ जिससे असि, मपी आदि छह कर्मोंके साधनभूत द्रव्य और सपदाएँ-निरन्तर उत्पन्न होती रहती थी वह महाकाल नामकी दूसरी निधि थी ॥७७॥ शय्या, आसन तथा मकान आदिकी उत्पत्ति नैसर्प्य नामकी निधिसे होती थी । पाण्डुक निधिसे घान्योंकी उत्पत्ति होती थी । इसके सिवाय छह रसोंकी उत्पत्ति भी इसी निधिसे होती थी ॥७८॥ जिससे रेशमी सूती आदि सब तरहके वस्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती है और जो कमलके भीतरी भागोंसे उत्पन्न हुएके समान प्रकाशमान है ऐसी पद्म नामकी निधि अत्यन्त देदीप्यमान थी ॥७९॥ पिङ्गल नामकी निधिसे अनेक प्रकारके दिव्य आभरण उत्पन्न होते रहते थे और माणव नामकी निधिसे नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकारके शास्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥८०॥ जो अपने प्रदक्षिणावर्त्त नामके शंखसे सुवर्णकी सृष्टि उत्पन्न करती थी और जिसने उछलती हुई सुवर्ण-जैसी कान्तिसे सूर्यकी किरणोंको जीत लिया है ऐसी शङ्ख नामकी निधि थी ॥८१॥ जिसके मणियोंकी कान्तिसे इन्द्रधनुषकी शोभा प्रकट हो रही है ऐसी सर्वरत्न नामकी निधिसे महानील, नील तथा पद्मराग आदि अनेक तरहके रत्न प्रकट होते थे ॥८२॥ इनके सिवाय भरत महाराजके जीव और अजीवके भेदसे दो विभागोंमें बँटे हुए चौदह रत्न भी थे जो कि पृथिवीकी रक्षा और ऐश्वर्यके उपभोग करनेके साधन थे ॥८३॥

१ मरुभूमि । 'समानो मरुधन्वानी' इत्यभिधानात् । २ धन्वजिन्मानिन्माद्रि-द० । वनधन्वननमाद्रि-ल० ।

३ कुशिवारम् । ४ म्लेच्छराजै । ५ पिङ्ग पिङ्गल । अज कमल । ६ व्यापारे । ७ कालनिधे । ८ जययन् ।

९ उच्चलत् । १० पद्मराग । ११ प्रकटीभवन्ति । १२ पृथ्वीरक्षा ।

चक्रातपत्रदण्डासिमण्यश्चर्म काकिणी । चमगृहपतीभाशयोपित्तसपुरोधसः ॥८४॥  
 'चक्रासिदण्डरागिनि सच्छत्राण्ययुधालयात् । जातानि मणिचर्मभिर्वा काकिणी श्रीगृहोदरे ॥८५॥  
 खीरलगाजयाजीनां प्रमथो रौप्यशैलतः । रत्नान्यन्यानि साकेताज्जिरे निधिभिः समम् ॥८६॥  
 निधीनां सह रत्नानां गुणान् को नाम वर्णयेत् । यैरावर्जितमूर्जरिषे हृद्यं चागवर्जितः ॥८७॥  
 भजे पटननुजानिष्टान् भोगान् पद्मेन्द्रियोचितान् । खीरनसारं धिरतर्द्धिं निधानं सुमण्यपदम् ॥८८॥  
 कान्तारतमभूतस्य सुभद्रेत्यनुपहृतम् । भद्रिकांस्तं प्रकृत्यैव जात्या विष्णाधरान्वया ॥८९॥  
 शिरीषसुकुसाराङ्गी चणकच्छदसच्छविः । वकुलामोदनिःशामा पाटला पाटलाधराः ॥९०॥  
 प्रबुद्धपद्मसौभ्यारया नीलोत्पलदलेक्षणा । सुभूरलिकुलानीलगुदुक्षितमूर्धजा ॥९१॥  
 तन्दूरी वराहो वासोऽरुणिधिहरतनी । मृदुवाहुलता साऽभून्मदनामेरिवारिणः ॥९२॥  
 तत्कर्मो नृपुरामञ्जुजितैर्मुखरीकुलैः । मदनद्विरदस्यैव तेनतुर्जगदिष्टिसम् ॥९३॥  
 निःश्रेणीकृत्य तज्जने सत्कृद्भारनन्धनाम् । पायगोदारवशाऽनर्जतच्छोणी नृनमानय ॥९४॥

चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न थे और सेनापति, गृह-  
 पति, हाथी, घोड़ा, रत्नो, शिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे ॥८४॥ चक्र, दण्ड,  
 असि और छत्र ये चार रत्न आयुधघालालामें उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये तीन  
 रत्न श्रीगृहमें प्रकट हुए थे ॥८५॥ रत्नो, हाथी और घोड़ाकी उत्पत्ति विजयाग्रह शैलपर हुई थी  
 तथा अन्य रत्न निधियोके साथ-साथ अयोध्यामें ही उत्पन्न हुए थे ॥८६॥ जिनके द्वारा सेवन  
 किया हुआ चक्रवर्तीका हृदय अतिशय बलिष्ठ हो रहा था उन निधियों और रत्नोंका वर्णन कौन  
 कर सकता है ? ॥८७॥ वह चक्रवर्ती स्त्रीरत्नके साथ-साथ छहों ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले  
 पंचेन्द्रियोंके योग्य भोगोंका उपभोग करता था सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री ही समस्त सुख  
 सम्पदाओंका भण्डार है ॥८८॥ महाराज भरतके रोगादि उपद्रवोंसे रहित सुभद्रा नागकी  
 स्त्रीरत्न थी, वह सुभद्रा रवभावेसे ही भद्रा अर्थात् कल्याणरूप थी और जातिसे विद्याधरोंके  
 वंशकी थी ॥८९॥ उसके समस्त अंग धिरीपके फूलके रामान कोमल थे, कांति चणपाकी  
 कलीके समान थी, पद्मासोच्छ्वास बगीली ( मीलथी ) के फूलके समान सुगन्धित था, अधर  
 गुलाबके फूलके समान कुछ-कुछ लाल थे, मुख प्रफुल्लित कमलके रामान सुन्दर था, नेत्र नील  
 कमलके दलके समान थे, भीहें अच्छी थी, केश भ्रमरोके समूहके समान काले, कोमल और  
 कुछ-कुछ टेढ़े थे, उदर वृक्ष था, नितम्ब सुन्दर थे, जाँघें मनोहर थी, स्तन कठोर थे और गुर्जा-  
 रूपी लताएँ कोमल थीं, इस प्रकार वह सुभद्रा कामरूपी अग्निको उत्पन्न करनेके लिए अरजिके  
 समान थी । भावार्थ — जिस प्रकार अरणि नामकी लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार  
 उस सुभद्रासे दर्शकोंके मनमें कामाग्नि उत्पन्न हो उठती थी ॥९०-९२॥ तूपुरोंकी मनोहर  
 शंकारसे वाचालित हुए उसके दोनों चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी हाथीके विजय-  
 के नगाड़े ही बजा रहे हो ॥९३॥ ऐसा मालूम होता था मानो कामदेव अपने निवारगृहपर  
 पहुँचनेकी इच्छासे उस सुभद्राकी दोनों जंघाओंको नसेनी बनाकर जिसमें उत्तम ऊर ही

१ चक्रदण्डासि-ल०, द०, अ०, प०, स०, ह० । २ उत्पत्तिः । ३ रत्नसहितानाम् । ४ रत्ननिधिभिः । ५ धवी-  
 कृतम् । ६ सहायः । ७ स्त्रीरत्नम् । ८ स्थानम् । ९ रोगादिभिरपीडितम् । १० गङ्गलुगतिः । ११ रवभावेन ।  
 १२ चणककुसुमदलः । १३ कुबेराक्षी । १४ ईषदक्षः । १५ उत्तमगतिरवा । "वराहोद्धार भक्तकाशिशुभ्रमा  
 वरवर्णिनी" इत्यभिधानात् । १६ मनोहर । १७ अग्निगन्धनकाष्ठम् । १८ सुभद्राचरणी । १९ कटिम् । "कटो  
 ना श्रोणिफलकं कटिः श्रोणिः ककुद्गती" इत्यभिधानात् ।

निःसृत्य नाभिवर्षमीकात् कामकृष्णभुजंगमः । रोमावलीछलेनास्या यथौ कुचकरण्डकौ<sup>१</sup> ॥९५॥  
निर्मोकमिव कामाहः दधानोर्द्धं<sup>२</sup> स्तनोभुजम् । भुजगोमिव तद्वर्त्य<sup>३</sup> सैकामेकावलीमघात् ॥९६॥  
वज्रे हारलतां कण्ठलयां सा नाभिलम्बिनीम् । मन्त्ररक्षामिवानङ्गप्रथितां कामदीपिनीम् ॥९७॥  
हाराक्रान्तस्तनान्मोगा सा स्म धत्ते परं श्रियम् । सीतेव<sup>४</sup> यमकादिरूपकप्रवाहा सरिदुत्तमा ॥९८॥  
वाहू तस्या जितानङ्गपार्श्वौ लक्ष्मीमुद्वहतु<sup>५</sup> । कामचक्रद्रुमस्थेव प्ररोहौ दोषभूषणौ ॥९९॥  
रेजे करतलं तस्याः सूक्ष्मरंखामिरावतम् । जयरंखा इवाविभ्रद्वन्द्वस्त्रीनिर्जयाजिताः ॥१००॥  
मुखमुद्गु तत्तद्व्यस्तरलापाङ्गमात्रमौ । सगरं समहेप्त्वास्<sup>६</sup> जयागारमिवातनो<sup>७</sup> ॥१०१॥  
वन्धनमस्या, शशाङ्कस्य कान्ति जिला स्वशोभया । दधे तु<sup>८</sup> भूपाताकाङ्कं कर्णार्भ्यां जयपत्रदम् ॥१०२॥  
<sup>११</sup>हमपत्राङ्गितौ तन्म्याः<sup>१२</sup> कणौ लालामवापतुः । स्वर्वधुनिर्जयायेव कृतपद्मावलम्बनौ ॥१०३॥  
कपोलाबुज्ज्वलौ तस्या दधतुर्दर्पणश्रियम् । द्रष्टुकामस्य कामस्य<sup>१३</sup> स्वा दशा दशधा स्थिताः ॥१०४॥  
<sup>१४</sup>मध्येचक्षुरधीराक्ष्या नासिकाऽभाम्मुखोन्मुखौ<sup>१५</sup> । तदामोदमिवाघ्रातुं कृतयत्ना कृतहृत्मान् ॥१०५॥  
कृत्वा श्रोतृपद्<sup>१६</sup> कणौ तन्नेत्रे विभ्रमैर्मियः । कृतस्पष्टे इवामातौ पुष्पत्राणे<sup>१७</sup> समापतौ ॥१०६॥

दरवाजेके बन्धन है ऐसे उसके नितम्बोंपर जा पहुँचा हो ॥९४॥ रोमावलीके छलसे कामदेव-  
रूपी काला सर्प उसकी नाभिरूपी बामीसे निकलकर उसके स्तनरूपी पिटांरोके समीप जा  
पहुँचा था ॥९५॥ वह सुभद्रा कामरूपी सर्पकी काँचलीके समान सुन्दर स्तनवस्त्र  
( चोली ) धारण करती थी और उस कामरूप सर्पको सन्तुष्ट करनेके लिए सर्पिणीके समान  
श्रेष्ठ एकावली हारको धारण करती थी ॥९६॥ वह कण्ठमें पड़ी हुई, नाभि तक लटकती हुई  
और कामको उद्दीपित करनेवाली जिस हाररूपी लताको धारण कर रही थी वह ऐसी मालूम  
होती थी मानो कामदेवके द्वारा गूँथा हुआ और मन्त्रोसे मन्त्रित हुआ रक्षाका डोरा ही हो ।  
॥९७॥ जिसके स्तनोका मध्यभाग हारसे व्याप्त हो रहा है ऐसी वह सुभद्रा इस प्रकारकी  
उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही थी मानो जिसका प्रवाह दोनों ओरके यमक पर्वतोंको स्पर्श कर  
रहा है ऐसी उत्तम सीता नदी ही हो ॥९८॥ कामदेवके पावको जीतनेवाली तथा देदीप्यमान  
आभूषणोसे सुशोभित उसकी दोनों भुजाएँ ऐसी शोभा धारण कर रही थी मानो कामरूपी  
कल्पवृक्षके दो अकूरे ही हो ॥९९॥ सूक्ष्म रेखाओंसे व्याप्त हुआ उसका करतल ऐसा सुशो-  
भित हो रहा था मानो अन्य स्त्रियोंके पराजयसे उत्पन्न हुई विजयकी रेखाएँ ही धारण कर  
रहा हो ॥१००॥ जिसकी भौहें ऊपरको उठी हुई हैं और जिसमें चञ्चल कटाक्ष हो रहे हैं ऐसा  
उस कृशोदरीका मुख ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाण और महाधनुषसे सहित कामदेव-  
की आयुधशाला ही हो ॥१०१॥ उसका मुख अपनी शोभाके द्वारा चन्द्रमाकी कान्तिको जीत-  
कर क्या कानोके बहानेसे भौहरूपी पताकाके चिह्नसहित विजयपत्र ( जीतका प्रमाणपत्र )  
ही धारण कर रहा था ॥१०२॥ सोनेके पत्रोसे चिह्नित उसके दोनों कान ऐसी शोभा धारण  
कर रहे थे मानो उन्होंने देवानाओंको जीतनेके लिए कागज-पत्र ही ले रखे हो ॥१०३॥  
उसके दोनों उज्ज्वल कपोल ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी दश प्रकारकी अवस्थाओंको  
देखनेको इच्छा करनेवाले कामदेवके दर्पणकी शोभा ही धारण कर रहे हों ॥१०४॥ उस चञ्चल  
लोचनवाली सुभद्राकी नाक आँखोंके बीचमें मुँहकी ओर झुकी हुई थी और उससे

१-करण्डकम् द०, ल०, इ०, अ० प०, स० । २ प्रशस्तम् । ३ कामाह सतोपाय । ४ मुख्याम् । ५ सीता-  
नदी । ६ ददाति स्म । ७ महाचापसहितम् । ८ अस्त्रशालाम् । ९ अनङ्गस्य । १० इव । ११ कर्णपत्र ।  
१२ तस्या ल०, द० । १३ आत्मीया । १४ चक्षुषोर्मध्ये । १५ मुखस्याभिमुखौ । १६ श्रोतृवगस्याने ।  
१७ कामे समापतौ सति ।



अभूत् कान्तिश्चक्रोराद्या ललाटे लुलितालके । हेमपट्टान्तसंलग्ननीलोत्पलविडम्बिनी ॥१०७॥  
 तस्या विनीलविश्वस्तकवरीवन्धवन्धुरम् । केशपाशमनङ्गस्य मन्थे पाशं प्रसारितम् ॥१०८॥  
 इत्यस्या रूपमुद्गतसौष्टवं त्रिजगज्जयि । मत्त्वानङ्गस्तदङ्गेषु सन्निधानं व्यधात् ध्रुवम् ॥१०९॥  
 तद्रूपालोकनोक्षुब्धस्तद्गात्रस्पर्शनोत्सुकः । तन्मुखामोदमाजिघ्रन् रसयश्चासक्तुन्मुखम् ॥११०॥  
 तदङ्गयकलनिकाणश्रुतिसंसक्तकर्णकः । तद्गात्रविपुलायाम् स रेमे सुखनिवृत्तः ॥१११॥  
 पञ्च वाणाननङ्गस्य बदन्येतान् कुण्ठिताम् । पुष्पयुसंस्थां लोके प्रसिद्धयैव यत्ता प्रथाम् ॥११२॥  
 धनुर्लतां मनोजस्य प्राहुः पुष्पमयीं जडाः । सुकुमास्तरं स्त्रैणं<sup>१</sup> वपुरवातनोधनुः ॥११३॥  
 पञ्चवाणाननङ्गस्य नियच्छन्ति कुतो<sup>२</sup> जडाः । यदेव कामिनां हारिं तद्वत् कामदीपनम् ॥११४॥  
 स्मितमालोकितां हासो जलितं मदमन्मनम् । कामाङ्गमिदमेवान्यत् कैतवं तस्य<sup>३</sup> बोधकम् ॥११५॥  
 आरूढयौवनोन्माणा स्तनावस्था हिमागमे । रोम्णां<sup>४</sup> हृषितमस्याङ्गे शिशिरौत्थं विनिन्युत्<sup>५</sup> ॥११६॥  
 हिमानिलैः कुचोत्कम्पमाहितं<sup>६</sup> सा हृतबलमैः । प्रेयस्करतलस्पर्शैरपनिन्यु<sup>७</sup> ऽङ्गशायिनी ॥११७॥

वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कौतुहलसे मुँहका सुगन्ध सूँघनेके लिए प्रयत्न ही कर रही हो ॥१०५॥ उसके दोनों नेत्र ऐसे सुगोभित हो रहे थे मानो कामदेवके सभापति रहते हुए कानो-को साक्षी बनाकर परस्परमे हाव-भावके द्वारा स्पर्धा ही कर रहे हो ॥१०६॥ जिसपर काली-काली अलके बिखर रही हैं ऐसे चकोरके समान नेत्रवाली उस सुभद्राके ललाटपर जो कान्ति थी वह सुवर्णके पटियेपर लटकती हुई नीलकमलकी मालाके समान बहुत ही सुन्दर जान पड़ती थी ॥१०७॥ अत्यन्त काले और नीचेकी ओर लटकते हुए कवरीके बन्धनसे सुगोभित उसके केशपाश ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो फैला हुआ कामदेवका पाश ही हो ॥१०८॥ इस प्रकार जिसकी उत्तमता प्रकट है ऐसे उस सुभद्राके रूपको तीनों जगत्का जीतनेवाला जानकर ही मानो कामदेवने उसके प्रत्येक अंगोंमें अपना निवासस्थान बनाया था ॥१०९॥ उसका रूप देखनेके लिए जो सदा चञ्चुओंको ऊपर उठाये रहता है, उसके शरीरका स्पर्श करनेके लिए जो सदा उत्कण्ठित बना रहता है, जो बार-बार उसके मुखकी सुगन्ध सूँघा करता है, बार-बार उसके मुखका स्वाद लिया करता है और उसके संगीतके सुन्दर शब्दोंके सुननेमें जिसके कान सदा तल्लीन रहते हैं ऐसा वह चक्रवर्ती उस सुभद्राके शरीररूपी बड़े बगीचेमें मुखसे सन्तुष्ट होकर क्रीड़ा किया करता था ॥११०-१११॥ कविलोग, जिनका कहीं प्रतिबन्ध नहीं होता ऐसी सुभद्राका रूप, कोमल स्पर्श, मुखकी सुगन्ध, ओठोंका रस और संगीतमय सुन्दर शब्द इन पाँचको ही कामदेवके पाँच वाण बतलाते हैं । लोकमें जो कामदेवके पाँचों वाणोंकी चर्चा है वह रुढ़ि मात्रसे ही प्रसिद्ध हो गयी है ॥११२॥ मूर्ख लोग कहते हैं कि कामदेवका धनुष फूलोका है परन्तु वास्तवमें स्त्रियोंका अत्यन्त कोमल शरीर ही उसका धनुष है ॥११३॥ न जाने क्यों मूर्ख लोग कामदेवको पाँच वाण ही प्रदान करते हैं अर्थात् उसके पाँच वाण बतलाते हैं क्योंकि जो कुछ भी कामी लोगोके चित्तको हरण करनेवाला है वह सभी कामको उत्तेजित करनेवाला कामदेवका वाण है । भावार्थ — कामदेवके अनेक वाण हैं ॥११४॥ स्त्रियोका मन्द हास्य, तिरछी चितवन, जोरसे हँसना और कामके आवेशसे अस्पष्ट बोलना यही सब कामदेवके अंग हैं इनके सिवाय जो उनका कपट है वह इन्हीं सबका पोषण करनेवाला है ॥११५॥ जो जवानोंके कारण गर्म हो रहे हैं ऐसे सुभद्राके दोनों स्तन हेमन्तऋतुमें ठण्डसे उठे हुए भरतके शरीरके रोमांचको दूर करते थे ॥११६॥ गोदमे शयन करनेवाली सुभद्रा शीतलवायुके

१ गलित । २ सुखतुष्य । ३ तद्रूपदीन् । ४ अमन्दान् । ५ स्त्रिया इदम् । ६ नियमयन्ति । ७ किं कारणम् ।  
 ८ मदेनाव्यक्तमापिणम् । ९ कामस्य । १० रोमाञ्चम् । 'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यभिधानात् । ११ नाश  
 चक्रतुरित्यर्थः । १२ कृतम् । १३ प्रियतमहस्ततल । १४ अपहरति स्म ।

साशोककलिकां चूतमञ्जरीं कर्णसंविनीम् । दधती<sup>१</sup> चम्पकप्रोक्तः<sup>२</sup> केशान्तैः साऽरुचन्मधौ ॥११८॥  
मधौ<sup>३</sup> मधुमदारफलोचनामास्वलद्वगतिम् । बहु मेने प्रियः कान्तां मूर्तामिव मद्भ्रियम् ॥११९॥  
कलैरलिकुलकाणैः सान्ध्यपुष्टविकृतैः । मधुर मधुरभ्यष्टौ<sup>४</sup> तुष्टयेवासु<sup>५</sup> विश्राम्यतिम् ॥१२०॥  
कलकण्ठीकलकाणमूर्छितैरलिद्रक्तैः । व्यज्यते स्म स्मराकाण्डावस्कन्दो<sup>६</sup> दिण्डिमायितैः ॥१२१॥  
पुण्यचूतवनोद्गन्धितफुल्लमलकरः । पश्ये सुरमिर्मासः<sup>७</sup> सुरमीकृतदिग्मुखः ॥१२२॥  
हृतालिकुलअंकारः संचरन्मलयानिलः । अनङ्गचपतेरासीद् घोषयन्निव आसनम् ॥१२३॥  
संभारुणां कलामिन्दोमेंने लोको जगद्भसः<sup>८</sup> । करालमिव रक्तान्तं<sup>९</sup> दंष्ट्रां मदुरक्षसः ॥१२४॥  
उन्मत्तकोकिले काले तस्मिन्नुन्मत्तपट्पदे । नातुन्मत्तो जनः कोऽपि सुक्त्वानङ्गं<sup>१०</sup> हुवो मुनीन् ॥१२५॥  
सायमुदगाहनिर्णिकं<sup>११</sup> रङ्गैस्तुहिनशीतलैः । औष्मं मदनतापार्तं सास्याङ्गं<sup>१२</sup> निरवापयत् ॥१२६॥  
चन्दनद्रवससिक्तसुन्दराङ्गलतां प्रियाम् । परिभ्य<sup>१३</sup> दंडं दोभ्यां स लेभे गात्रनिर्वृतिम्<sup>१४</sup> ॥१२७॥  
मदनज्वरतापार्तं तीव्रग्रीष्मोष्मिनःसहाम्<sup>१५</sup> । स तां निर्वापयामास स्वाङ्गस्पर्शसुखाम्बुभिः ॥१२८॥

द्वारा उत्पन्न हुई स्तनोकी कैंपकैंपीको क्लेश दूर करनेवाले प्रिय पतिके करतलके स्पर्शसे दूर करती थी ॥११७॥ अशोकवृक्षकी कलीके साथ-साथ कानोंमें लगी हुई आमकी मंजरीको धारण करती हुई वह सुभद्रा वसन्तऋतुमें चम्पाके फूलोंसे गुंथी हुई चोटीसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी ॥११८॥ वसन्तऋतुमें मधुके मदसे जिसकी आँखें कुछ-कुछ लाल हो रही हैं और जिसकी गति कुछ-कुछ लडखडा रही है — स्खलित हो रही है ऐसी उस सुभद्राको भरत महाराज मूर्तिमती मदकी शोभाके समान बहुत कुछ मानते थे ॥११९॥ वह वसन्तऋतु सन्तुष्ट होकर भ्रमरोकी सुन्दर झकार और कोकिलाओकी कमनोय कूकसे मानो राजा भरतकी सुन्दर स्तुति ही करता था ॥१२०॥ कोयलोंने सुन्दर शब्दोंसे मिली हुई भ्रमरोकी झकारसे ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवने नगाढोंके साथ अकस्मात् आक्रमण ही किया हो — छापा ही मारा हो ॥१२१॥ फूले हुए आमके बनोसे जो अत्यन्त सुगन्धित हो रहा है, जिसमें कमलोंके समूह फूले हुए हैं और जिसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी हैं ऐसा वह वसन्तका चैत्र मास चारों ओर फैल रहा था ॥१२२॥ भ्रमरसमूहकी झंकारको हरण करनेवाला, चारों ओर फिरता हुआ मलयसमीर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी राजाके शासनकी घोषणा ही कर रहा हो ॥१२३॥ उस समय सन्ध्याकालकी लालीसे कुछ लाल हुई चन्द्रमाकी कलाको लोग ऐसा मानते थे मानो जगत्को निगलनेवाले कामदेवरूपी राक्षसकी रक्तसे भीगी हुई भयंकर डाँढ ही हो ॥१२४॥ जिसमें कोयल और भ्रमर सभी उन्मत्त हो जाते हैं ऐसे उस वसन्तके समय कामदेवके साथ द्रोह करनेवाले मुनियोको छोड़कर और कोई ऐसा मनुष्य नहीं था जो उन्मत्त न हुआ हो ॥१२५॥ सायकालके समय जलमें अवगाहन करनेसे जो स्वच्छ किये गये हैं और जो बर्फके समान शीतल हैं ऐसे अपने समस्त अंगोंसे वह सुभद्रा ग्रीष्मकालमें कामके सन्तापसे सन्तप्त हुए भरतके शरीरको शान्त करती थी ॥१२६॥ जिसकी शरीररूपी सुन्दर लतापर बिसे हुए चन्दनका लेप किया गया है ऐसी अपनी प्रिया सुभद्राको भरत महाराज दोनों हाथोंसे गाढ आलिप्त कर अपना शरीर शान्त करते थे ॥१२७॥ जो कामज्वरके सन्तापसे पीड़ित हो रही है और जिसे ग्रीष्मकालकी तीव्र गरमी बिल्कुल ही सहन

१ वज्जनी ल० । २ खचित । ३ वसन्ते । ४ स्तीति स्म । ५ तोपेनैव । ६ कोकिला । ७ मिश्रिते । ८ प्रकटीक्रियते स्म । ९ कामकालघाटी । १० पुष्पीभवत् । पुष्पचूत-इ०, अ०, प०, स०, द०, ल० । ११ वसन्त । १२ आज्ञाम् । १३ लोकभक्षकस्य । १४ स्विरेलिप्त्याम् । १५ कामघातकान् । १६ संध्याकाल-जलप्रवेशशुद्धे । १७ उष्ण परिहृत्य शीत्यं चकारेत्यर्थः । १८ आलिङ्ग्य । १९ शरीरमुखम् । २० अमहमानाम् ।

उत्फुल्लमल्लिकामोदवाहिभिर्गन्ध<sup>१</sup>वाहिभिः । स<sup>२</sup>सायंग्रातिकैर्मैत्रे<sup>३</sup> रतिसुखाहरैः<sup>३</sup> ॥१२९॥  
 उत्फुल्लपाटलोद्वान्धि मल्लिकामालमारिणीम्<sup>४</sup> । उप<sup>५</sup>गृह्य<sup>५</sup> प्रियां प्रेम्णा<sup>५</sup> नैदायी<sup>५</sup> सोऽनयश्चिन्ताम् ॥१३०॥  
 सा घनस्तनितव्याज्वात् तर्जितेव मनोमुखा । मुञ्जोपपीडमाश्लिष्य<sup>६</sup> शिष्ये पत्या तपात्यये<sup>६</sup> ॥१३१॥  
 नवाश्वकुलुषाः पूरा ध्वनिरुन्मदकेकिनाम् । कदम्बामोदिनो वाताः कामिनां<sup>७</sup> धृतयेऽभवन् ॥१३२॥  
 आरुढकालिकां पश्यन् बलाकामालमारिणीम् । घनाली पथिकः साश्रुर्दृशो मेनेऽन्धकारिताः ॥१३३॥  
 धारारजुमिरानदा वागुरेव<sup>८</sup> प्रसातिता । रोधाय पथिकैणानां<sup>९</sup> लुब्धकेनेव हृदुवा ॥१३४॥  
 कृतावधिः प्रिथो नागादगाच्च जलदागमः । इत्युदीक्ष्य<sup>१०</sup> घनात्<sup>१०</sup> काचिद् हृदि शून्याऽभवत् सती ॥१३५॥  
 विमिन्दन्<sup>११</sup> केतकीसूचीस्तत्पांसूनाकिरन्मरत् । पान्थानां दृष्टिरोधाय धूलिक्षेपमिवाकरोत् ॥१३६॥  
 इत्यभ्यर्णतमे तस्मिन् काले जलदमालिनि । स वासभवने रम्ये प्रियामरमयन्मुहुः ॥१३७॥  
 आकृष्टनिचुलामोदं<sup>१२</sup> तद्वन्मामोदमाहरन् । तस्याः स्तनतटोत्संगे सौऽनैवीद्<sup>१३</sup> वार्धिकीं<sup>१३</sup> निशाम् ॥१३८॥  
 स रमे शरदारम्भे विहरन् कान्तया समम् । बनेष्वभिनवोद्भिन्नसप्तच्छदसुगान्विषु ॥१३९॥

नहीं हो सकती ऐसी उस सुभद्राको महाराज भरत अपने शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी जलसे शान्त करते थे ॥१२८॥ खिली हुई मालतीकी सुगन्धको धारण करनेवाले तथा रतिसमयमें सुख पहुँचानेवाले सायंकाल और प्रातःकालकी वायुके द्वारा चक्रवर्ती भरत बहुत ही अधिक सन्तोष प्राप्त करते थे ॥१२९॥ फूले हुए गुलाबकी सुगन्धयुक्त मालतीकी मालाओको धारण करनेवाली उस सुभद्राको आलिंगन कर महाराज भरत वड़े प्रेमसे प्रीप्सुकालकी रात व्यतीत करते थे ॥१३०॥ वर्षाऋतुमें मेघोंकी गर्जनाके वहानेसे मानो कामदेवने जिसे चुड़की दिखाकर भयभीत किया है ऐसी वह सुभद्रा भुजाओसे आलिंगन कर पतिके साथ शयन करती थी ॥१३१॥ उस वर्षाऋतुमें नये जलसे मलिन हुए नदियोंके प्रवाह, उन्मत्त मयूरोके शब्द और कदम्बके फूलोंकी सुगन्धसे युक्त वायु ये सब कामी लोगोंके सन्तोषके लिए थे ॥१३२॥ जिसपर कालिमा छायी हुई है और जो बगुलाओंकी पंक्तिको धारण कर रही है ऐसी मेघमालाको देखते हुए पथिक आँसू डालते हुए दिशाओंको अन्धकारपूर्ण मानते थे ॥१३३॥ उस वर्षाऋतुमें जो जलकी धाराएँ पड़ती थी उनसे रस्सियोंके समान व्याप्त हुई यह पृथिवी ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी शिकारीने पथिकरूपी हिरणोको रोकनेके लिए जाल ही फैलाया हो ॥१३४॥ जो आनेकी अवधि करके गया था ऐसा पति अबतक नहीं आया और यह वर्षा ऋतु आ गयी इस प्रकार बादलोंको देखकर कोई पतिव्रता स्त्री अपने हृदयमें शून्य हो रही थी अर्थात् चिन्तासे उसकी विचारशक्ति नष्ट हो गयी थी ॥१३५॥ केतकीकी बौड़ियोंको भेदन करता हुआ और जंकी धूलको चारों ओर विखेरता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता था मानो पथिकोंकी दृष्टि रोकनेके लिए धूल ही उड़ा रहा हो ॥१३६॥ इस प्रकार उस वर्षाकालमें जब बादलोंके समूह अत्यन्त निकट आ जाते थे तब चक्रवर्ती भरत अपने मनोहर महलमें प्रिया सुभद्राको बार-बार प्रसन्न करता था—उसके साथ क्रीडा करता था ॥१३७॥ जिसने पानीमें उत्पन्न होनेवाले वेतकी सुगन्धि खींच ली है ऐसे उस सुभद्राके मुखकी सुगन्धको ग्रहण करता हुआ चक्रवर्ती उसके स्तनतटके समीप हो वर्षाऋतुकी रात्रि व्यतीत करता था ॥१३८॥ शरदऋतु-

१ पनने । २ सध्याकालप्रभातकालभेदे । ३ रतिसुखकरैरित्यर्थ । ४ विभ्रतीम् । ५ आलिङ्ग्य । उपगृह्य व०, प०, द० । उपगृह्य अ०, ल०, स० । ६ निदाघसंभविनीम् । ७ भुजाभ्यां पीडयित्वा । ८ वर्षाकाले । ९ मंतोपाय । १० मृगवन्विनी । ११ पान्थमृमाणाम् । १२ आलोक्य । १३ घनान्तस्तेषु प्रेषितमर्तुका द० । १४ अग्रान् । १५ हिज्जुल । 'निचुलो हिज्जुलोऽवुज्ज' इत्यभिधानात् । १६ वर्षाकालसंभविनीम् ।

स कान्तां रमयामास हारज्योत्स्नाञ्चितस्तनीम् । शारदीं निर्विशन् ज्योत्स्नां सौधोत्सङ्गेषु हारिषु ॥१४०॥  
 सोत्पलां<sup>१</sup> कुञ्जकैटव्यां<sup>२</sup> मालां चूडान्तलम्बिनीम् । बाला पत्युररःसंगान्मेने बहूतिश्रियम्<sup>३</sup> ॥१४१॥  
 इति सोलहमेवास्यां प्रथयन् प्रेमनिघ्नताम् । स रमे रतिसाद्रतो<sup>४</sup> भोगाद्द्वैदशधोदितैः ॥१४२॥  
 सरत्ना निधयो दिव्याः<sup>५</sup> पुरं शय्यासनं चमूः । नाट्यं समाजनं<sup>६</sup> भोज्यं वाहनं चेति तानि वै ॥१४३॥  
 दशाङ्गमिति भोगाङ्गं निर्विशन् स्वाशितं<sup>७</sup> भवम् । म चिरं पालयामास भुवमेकोष्णवारणाम्<sup>८</sup> ॥१४४॥  
 पोडशास्य सहस्राणि गणवद्दामराः प्रभोः । ये युक्ता छतमिक्षिंशा निधिरत्नात्मरक्षणे ॥१४५॥  
 क्षितिसारं<sup>९</sup> इति स्यातः प्रकारोऽस्य गृहावृत्तिः । गोपुरं सर्वतोभद्रं प्रोल्लसद्गततोरणम् ॥१४६॥  
 नन्दावर्तो निवेशोऽस्य शिविरस्थालधीयसः । प्रासादो वैजयन्ताख्यो यः सर्वत्र सुखावहः ॥१४७॥  
 दिक्स्वस्तिका सभाभूमिः परार्ध्यमणिकुट्टिमा । तस्य चट्टमणी<sup>१०</sup> यष्टिः<sup>११</sup> सुविधिर्मणिनिर्मिता ॥१४८॥  
 गिरिकूटकमित्यासीत् सौधं दिगवलोकने<sup>१२</sup> । वर्धमानकमित्यन्यत्<sup>१३</sup> प्रेक्षागृहमभूद् विभोः ॥१४९॥  
 घर्मान्तोऽस्य<sup>१४</sup> महानासीद् धारागृहसमाह्वयः । गृहकूटकमित्युच्चैर्वर्षावालः प्रभोरभूत् ॥१५०॥  
 पुष्करावर्त्यमिष्यं च हर्षमस्य सुधासितम् । कुबेरकान्तमित्यासीद् भाण्डागारं यदक्षयम् ॥१५१॥

के प्रारम्भमें वह चक्रवर्ती, जिनमें नवीन खिले हुए सप्तच्छद वृक्षोंकी सुगन्ध फैल रही है ऐसे वनोमें अपनी स्त्रीके साथ बिहार करता हुआ क्रीडा करता था ॥१३९॥ राजभवनकी मनोहर छतोंपर शरद्भक्तुकी चांदनीका उपभोग करता हुआ वह चक्रवर्ती हारकी कान्तिसे जिसके स्तन सुशोभित हो रहे हैं ऐसी प्रिया सुभद्राको प्रसन्न करता था - उसके साथ क्रीडा करता था ॥१४०॥ जब कभी रानी सुभद्रा पतिके वक्ष स्थलपर लेट जाती थी उस समय उसकी चोटीके अन्त भागसे लटकती हुई नील कमलयुक्त भद्रतरणीके फूलोसे गुम्फित मालाको वह रतिकी लक्ष्मीके समान मानती थी ॥१४१॥ इस प्रकार इस सुभद्रादेवीमें प्रेमकी प्रवणताको अच्छी तरह प्रकट करता हुआ और रतिमुखके अधीन हुआ वह चक्रवर्ती दश प्रकारके कहे हुए भोगोके साधनोसे क्रीडा करता था ॥१४२॥ रत्नसहित नौ निधियाँ, रानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, बरतन, भोजन और सवारी ये दश भोगके साधन कहलाते हैं ॥१४३॥ इस प्रकार अपनेको तृप्त करनेवाले दश प्रकारके भोगके साधनोका उपभोग करते हुए महाराज भरतने चिरकाल तक जिसपर एक ही छत्र है ऐसी पृथिवीका पालन किया ॥१४४॥ चक्रवर्ती भरतके ऐसे सोलह हजार गणवद्ध देव थे जो कि तलवार धारण कर निधि, रत्न और स्वयं उनकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहते थे ॥१४५॥ उनके घरको घेरे हुए क्षितिसार नामका कोट था और वैदीयमान रत्नोके तोरणोसे युक्त सर्वतोभद्र नामका गोपुर था ॥१४६॥ उनकी बड़ी भारी छावनीके ठहरनेका स्थान नन्दावर्त नामका था और जो सब ऋतुओमें सुख देनेवाला है ऐसा वैजयन्त नामका महल था ॥१४७॥ बहुमूल्य मणियोसे जड़ी हुई दिक्स्वस्तिका नामकी सभाभूमि थी और टहलनेके समय हाथमें लेनेके लिए मणियोंकी वनी हुई सुविधि नामकी लकड़ी थी ॥१४८॥ सब दिशाएँ देखनेके लिए गिरिकूटक नामका राजमहल था और उन्हीं चक्रवर्तीके नृत्य देखनेके लिए वर्धमानक नामकी नृत्यशाला थी ॥१४९॥ उस चक्रवर्तीके गरभीको नष्ट करनेवाला धारागृह नामका बड़ा भारी स्थान था और वर्षाऋतुमें निवास करनेके लिए बहुत ऊँचा गृहकूटक नामका महल था ॥१५०॥ चूसासे सफेद हुआ पुष्करावर्त नामका

१ 'कुञ्जिका' भद्रतरणी वृक्षपत्रातिकेशरा । महासहा इति-धन्वन्तरि । २ रजिताम् । ३ रतिश्रीसमानामिति । 'पत्युररस्यस्य स्थिता सजिघ्रति स्म सा' पं०, लं० । ४ स्नेहाधीनताम् । ५ रत्यधीन । ६ देव्य दं०, लं०, पं० । ७ याजनसहितम् । ८ स्वस्य तृप्तिजनकम् । ९ सुचिर लं० । १० एकच्छत्रम् । ११ क्षितिनार इति नामा । १२ आलिङ्ग्यभूमिः, आन्दोलनभूमिरित्यर्थ । १३ सुविधिनामा । १४ दिशावलोकार्थम् । १५ नृत्तदर्शनगृहम् । १६ घर्मान्तसन्नाम् ।

वसुधारकमित्यासीत् कोष्ठागारं महाव्ययम् । जीमूतनामधेयं च मन्जनागारमूर्जितम् ॥१५२॥  
 रत्नमालाऽतिरोचिष्णुर्वसुधास्यावतंसिका । देवरम्भेति रम्या सा मता दृप्यकुटी<sup>१</sup> पृथुः ॥१५३॥  
 मिहव्राह्मिण्यमूर्च्छस्या सिंहैरूढा मयानकैः । मिहासनमयोऽस्योच्चैर्गुणैर्नाम्नाऽप्यनुत्तरम् ॥१५४॥  
 चामराण्युपमानं<sup>२</sup> व्यतीत्यानुपमान्यभार्य<sup>३</sup> । विजयाद्भुक्तमारुणं वितीर्णानि निधीशिते ॥१५५॥  
 भास्वत्सूर्यप्रभं तस्य बभूवातपवारणम् । पराभ्यंरत्ननिर्माणं जितसूर्यगतप्रभम् ॥१५६॥  
 नाम्ना विद्युत्प्रभे चास्य रुचिरे मणिकुण्डले । जित्वा ये<sup>४</sup> नैद्युती<sup>५</sup> दीप्तिं रुचाते स्फुरत्विपी ॥१५७॥  
 रत्नांशुजटिलास्तस्य पादुका विपमोचिका<sup>६</sup> । परेषां पदसंस्पृश्याद् भुञ्जन्त्यो विपमृद्वपणम् ॥१५८॥  
 अभेद्याख्यमभूत्तस्य तनुत्राण प्रभास्वरम् । द्विषतां शरनारासैर्यदभेयं महाहवे ॥१५९॥  
 रथोऽजितजय्यो नाम्ना जयलक्ष्मीभरोद्भवः । यत्र क्षात्राणि जैत्राणि दिव्यान्यासञ्चनेकशः ॥१६०॥  
 वज्रपाकण्डाशनिप्रख्यज्याघाताऽकम्पिताखिलम् । जितदैत्यामरं तस्य वज्रकाण्डमभूद्भुजुः ॥१६१॥  
 अमोघपातास्तस्याख्यं नामोघाख्या महोपवः । यैरसाध्यजये चक्री कृतच्छाद्यो रणाङ्गणे ॥१६२॥  
 प्रचण्डा वज्रतुण्डाख्या क्षकिरस्थारिखण्डिनी । बभूव वज्रनिर्माणाख्या वज्रजयेऽपि था ॥१६३॥  
 कुन्तः सिंहदटको नाम यः सिंहनखरांकुरैः । स्पर्धते स्म निशाताग्रो मणिदण्डप्रमण्डनः ॥१६४॥

खास महल था और कुबेरकान्त नामका भाण्डारगृह था जो कभी खाली नहीं होता था ॥१५१॥  
 वसुधारक नामका बड़ा भारी अटूट कोठार था और जीमूत नामका बड़ा भारी स्नानगृह था ॥१५२॥ उस चक्रवर्तिक अवतंसिका नामकी अत्यन्त देदीप्यमान रत्नोकी माला थी और देवरम्या नामकी बहुत बड़ी सुन्दर चाँदनी थी ॥१५३॥ भयंकर सिंहोके द्वारा धारण की हुई सिंहवाहिनी नामकी शय्या थी और गुण तथा नाम दोनोंसे अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट बहुत ऊँचा सिंहासन था ॥१५४॥ जो विजयार्धकुमारके द्वारा निधियोके स्वामी चक्रवर्तिके लिए समर्पित किये गये थे ऐसे अनुपमान नामके उनके चमर उपमाको उल्लंघन कर अत्यन्त सुगोभित हो रहे थे ॥१५५॥ उस चक्रवर्तिके बहुमूल्य रत्नोंसे बना हुआ और सैकड़ों सूर्यकी प्रभाकी जीतने-वाला सूर्यप्रभ नामका अतिगय देदीप्यमान छत्र था ॥१५६॥ उनके देदीप्यमान कान्तिके धारक विद्युत्प्रभ नामके दो ऐसे सुन्दर कुण्डल थे जो कि विजलीकी दीप्तिको पराजित कर सुगोभित हो रहे थे ॥१५७॥ महाराज भरतके रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त हुई विपमोचिका नामकी ऐसी खड़ाऊँ थी जो कि दूसरेके पैरका स्पर्श होते ही भयंकर विप छोड़ने लगती थी ॥१५८॥ उनके अमेघ नामका कवच था जो कि अत्यन्त देदीप्यमान था और महायुद्धमे शत्रुओंके तीक्ष्ण बाणोंसे भी भेदन नहीं किया जा सकता था ॥१५९॥ विजयलक्ष्मीके भारको धारण करनेवाला अजितजय नामका रथ था जिसपर शत्रुओंको जीतनेवाले अनेक दिव्य शस्त्र रखे रहते थे ॥१६०॥ असमयमे होनेवाले प्रचण्ड वज्रपातके समान जिसकी प्रत्येकके आघातसे समस्त संसारका कँप जाता था और जिसने देव, दानव — सभीको जीत लिया था ऐसा वज्रकाण्ड नामका धनुष उस चक्रवर्तिके पास था ॥१६१॥ जो कभी व्यर्थ नहीं पड़ते ऐसे उसके अमोघ नामके बड़े-बड़े बाण थे । इन बाणोंके द्वारा ही चक्रवर्ती जिसमें विजय पाना असाध्य हो ऐसे युद्धस्थलमे प्रवांसा प्राप्त करता था ॥१६२॥ राजा भरतके शत्रुओंको खण्डित करनेवाली वज्रतुण्डा नामकी शक्ति थी, जो कि वज्रकी बनी हुई थी और इन्द्रको भी जीतनेमे प्रशसनीय थी ॥१६३॥ जिसकी नोक बहुत तेज थी, जो मणियोंके बने हुए ढण्डके अग्रभागपर सुगोभित

१. पटकुटी । २. उपमाप्रमाणम् । ३. गान्ति स्म । ४. कुण्डले । ५. विद्युत्संबन्धिनीम् । ६. विपमोचिकासंज्ञाः । ७. महाशरैः । ८. मणिमयवज्रपात्रं मण्डनम् अलंकारो यस्य ।

तस्यासि<sup>१</sup> पुत्रिका दीप्रा रत्नानदस्फुरत्सरः<sup>२</sup> । लोहवाहिन्यभूत्नाम्ना जयश्रीदर्पणायिता ॥१६५॥  
 कणपोऽस्य<sup>३</sup> मनोवेगो जयश्रीप्रणयावहः । द्विषकुलकुलक्ष्मा प्रदलने योऽज्ञानीयितः ॥१६६॥  
 सौनन्दका<sup>४</sup> यमस्याभूदसिरत्नं स्फुरद्भुति । यस्मिन् करतलारूढे दोलारूढमिवाखिलम् ॥१६७॥  
 प्रादुर्भूतमुखं खेटं विमोर्भूतमुखाङ्कितम् । स्फुरताऽऽजीमुखे येन द्विषां सत्युसुखायितम् ॥१६८॥  
 चक्ररत्नसमूहजिष्णोर्द्विषक्राक्रमणक्षमम् । नास्मा सुदर्शनं दीप्र यद्दुर्दर्शमरातिभिः ॥१६९॥  
 प्रचण्डश्चण्डवेगाख्यो दण्डोऽभुजक्रिणः । प्रयुः । स यस्य विनियोगोऽभूद् विलकण्टकशोधने ॥१७०॥  
 नास्मा वज्रमर्थं दिव्यं चर्मरत्नमभूद् विमोः । तद्वलं बद्धलाघानाक्षिस्तीर्णं<sup>५</sup> जलविप्लवात् ॥१७१॥  
 सणिश्चूडामणिनाम चिन्तारत्नमनुचरम् । जगच्चूडामणेरस्य चित्तं येनानुरजितम् ॥१७२॥  
 सा चिन्ताजननीत्यस्य काकिणी भास्वराऽभवत् । या रूप्याद्रिगुहाभ्वान्तविनिर्मेदकदीपिका ॥१७३॥  
 चमूपतिरयोऽप्याख्यो नुरत्नमभवत् प्रभोः । समरेऽरिजयाक्षस्य रोदसी न्यानको यशः ॥१७४॥  
 बुद्धिसागरनामास्य पुरोधाः पुरुर्धारभूत् । धर्म्या क्रिया यदायसा प्रतीकारोऽपि दैविके ॥१७५॥  
 सुधीर्गृहपतिर्नास्मा कामवृष्टिरभीष्टद् । न्ययोर्पञ्चयचिन्तायां नियुक्तो यो निर्धोशिनः<sup>६</sup> ॥१७६॥

हो रहा था और जो सिंहके नाखूनोके साथ स्पर्धा करता था ऐसा उनका सिंहाटक नामका भाला था ॥१६४॥ जो अत्यन्त देदीप्यमान थी, जिसकी रत्नोसे जड़ी हुई मूठ बहुत ही चमक रही थी, और जो विजयलक्ष्मीके दर्पणके समान जान पड़ती थी ऐसी लोहवाहिनी नामकी उनकी छुरी थी ॥१६५॥ मनोवेग नामका एक कणपं (अस्त्रविशेष) था जो कि विजयलक्ष्मीपर प्रेम करनेवाला था और शत्रुओके वंशरूपी कुलाचलोको खण्डित करनेके लिए वज्रके समान था ॥१६६॥ भरतके सौनन्दक नामकी श्रेष्ठ तलवार थी जिसकी कान्ति अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जिसे हाथमे लेते ही यह समस्त जगत् झूलामे बैठे हुएके समान काँप उठता था ॥१६७॥ उनके भूतोके मुखोसे चिह्नित भूतमुख नामका खेट ( अस्त्रविशेष ) था, जो कि युद्धके प्रारम्भमे चमकता हुआ शत्रुओके लिए मृत्युके मुखके समान जान पड़ता था ॥१६८॥ उन विजयी चक्रवर्तीके सुदर्शन नामका चक्र था, जो कि समस्त दिशाओपर आक्रमण करनेमे समर्थ था, देदीप्यमान था और जो शत्रुओके द्वारा देखा भी नहीं जा सकता था ॥१६९॥ जिसका नियोग गुफाके कटि वगैरह शोधनेमे था ऐसा चण्डवेग नामका बहुत भारी प्रचण्ड ( भयकर ) दण्ड उस चक्रवर्तीके था ॥१७०॥ भरतेश्वर महाराजके वज्रमय चर्मरत्न था, वह चर्मरत्न, कि जिसके बलसे उनकी सेना जलके उपद्रवसे पार हुई थी - वही थी ॥१७१॥ उनके चूडामणि नामका वह उत्तम चिन्तामणि रत्न था जिसने कि जगत्के चूडामणि-स्वरूप महाराज भरतका चित्त अनुरक्त कर लिया था ॥१७२॥ चिन्ताजननी नामकी वह काकिणी थी जो कि अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जो विजयार्थ पर्वतकी गुफाओका अन्धकार दूर करनेके लिए मुख्य दीपिकाके समान थी ॥१७३॥ उन प्रभुके अयोध्य नामका सेनापति था जो कि मनुष्योमे रत्न था और युद्धमे शत्रुओको जीतनेसे जिसका यश आकाश और पृथिवीके बीच व्याप्त हो गया था ॥१७४॥ समस्त धार्मिक क्रियाएँ जिसके अधीन थी और दैविक उपद्रव होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जिसके आश्रित था ऐसा बुद्धिसागर नामका महा-बुद्धिमान् पुरोहित था ॥१७५॥ उनके कामवृष्टि नामका गृहपति रत्न था, जो कि अत्यन्त बुद्धिमान् था, इच्छानुसार सामग्री देनेवाला था तथा जो चक्रवर्तीके छोटे-बड़े सभी खर्चोकी

१ क्षुरिका । 'स्याच्छब्दो चासिपुत्री च क्षुरिका चासिचैनुका ।' इत्यभिधानात् । २ मुष्टि । 'त्सर क्षुद्रादि-मुष्टि स्पाद्' इत्यभिधानात् । ३ कणवोऽस्य ल० । ४ पर्वत । ५ निस्तरणमकरोत् । ६ आय । ७ चक्रिण ।

रत्नं स्वपतिरप्यस्य वास्तु विद्यापदात्तधीः । नाम्ना महमुक्तोऽनैकप्रासादघटने पटुः ॥ १७७ ॥  
 शैलोदयो महानस्य<sup>१</sup> यागहस्तीक्ष्णरन्मदः । भद्रो गिरिचरः<sup>२</sup> शुभ्रो नाम्ना विजयपर्वतः ॥ १७८ ॥  
 पवनस्य जयन् वेगं हयोऽस्य पवनजयः । विजयाद्वंगुहोत्सङ्गं हेलया यो व्यलङ्घयत् ॥ १७९ ॥  
 प्रागुक्तवर्णनं चास्य स्त्रीरत्नं रूढनामकम् । स्वभावमधुरं हृद्यं रसायनमिवापरम् ॥ १८० ॥  
 रत्नान्येतानि दिव्यानि बभूवुश्चक्रवर्तिनः । देवताकृतरक्षाणि यान्यलङ्घयानि विद्विषाम् ॥ १८१ ॥  
 आनन्दिन्योऽब्धिनिर्घोषा भेर्योऽस्य द्वादशामवन् । द्विपट्वयोजनमापूर्य स्वेध्वनैर्याः प्रदध्वन्तुः ॥ १८२ ॥  
 आसन् विजयघोषाख्याः पटहा द्वादशापरं । गृहकेकिमिरुद्धीवैः सानन्दं श्रुतनिःस्वनाः ॥ १८३ ॥  
 गम्भीरावर्त्तनामानः शङ्खा गम्भीरनिःस्वनाः । चतुर्विंशतिरस्यासन् शुभाः पुण्याब्धिसंभवाः ॥ १८४ ॥  
 कटका रत्ननिर्माणा विभोर्वीराङ्गदाह्वयाः । रंजुः प्रकोष्ठमावेष्टय तद्धिद्वलयविभ्रमाः ॥ १८५ ॥  
 पताकाकोटयोऽस्यापटवत्सारिश्वात्मा मताः । समुद्रेद्धोलि<sup>३</sup> तोल्येद्धुर्दशुकोन्मृष्टखाङ्गणाः ॥ १८६ ॥  
 महाकल्याणकं नाम दिव्याशनमभूद् विभोः । कल्याणाङ्गस्य<sup>४</sup> येनास्य तृतिपुट्टीवलान्विते ॥ १८७ ॥  
 भक्षाश्चासुतगर्भाख्या रूच्यास्वादाः सुगन्धयः । नान्यै<sup>५</sup> जरयितुं शक्ता यान् गरिष्ठरसोक्तान् ॥ १८८ ॥  
 स्वाद्यं<sup>६</sup> चासुतकल्याणं हृद्यास्वादं सुसंस्कृतम् । रसायनरसं दिव्यं पानकं चामृताह्वयम् ॥ १८९ ॥

चिन्तासे नियुक्त था । ॥ १७६ ॥ । मकान बनानेकी विद्यामे जिसकी बुद्धि प्रवेश पाये हुई है और जो अनेक राजभवनोंके बनानेमें चतुर है ऐसा भद्रमुख नामका उनका शिलाघटरत्न ( इजीनियर ) था ॥ १७७ ॥ जो पर्वतके समान ऊँचा था, बहुत बड़ा था, पूज्य था, जिससे मद झर रहा था, भद्र जातिका था और जिसका गर्जन उत्तम था ऐसा विजयपर्वत नामका सफेद हाथी था ॥ १७८ ॥ जिसने विजयाद्यपर्वतकी गुफाके मध्यभागको लीलामात्रमे उल्लंघन कर दिया था ऐसा वायुके वेगको जीतनेवाला पवनजय नामका घोड़ा था ॥ १७९ ॥ और जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं, जिसका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो स्वभावसे ही मधुर है और जो किसी अन्य रसायनके समान हृदयको आनन्द देनेवाला है ऐसा सुभद्रा नामका स्त्रीरत्न था ॥ १८० ॥ इस प्रकार चक्रवर्तिके ये दिव्य रत्न थे जिनकी देव लोग रक्षा किया करते थे, और जिन्हे शत्रु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते थे ॥ १८१ ॥ उस चक्रवर्तिके समुद्रके समान गम्भीर आवाजवाली आनन्दिनी नामकी बारह भेरियां थी जो अपनी आवाजको बारह योजन दूर तक फैलाकर बजती थी ॥ १८२ ॥ इनके सिवाय बारह नगाड़े और थे जिनकी आवाज घरके मयूर ऊँची गरदन कर बड़े आनन्दके साथ सुना करते थे ॥ १८३ ॥ जिनकी आवाज अतिशय गम्भीर है, जो शुभ है, और पुण्यरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुए हैं ऐसे गम्भीरावर्त्त नामके चौबीस शख थे ॥ १८४ ॥ उस प्रभुके रत्नोके बने हुए वीरागद नामके कड़े थे जो कि हाथकी कलाईको घेरकर सुशोभित हो रहे थे, और जिनकी कान्ति बिजलीके कड़ोके समान थी ॥ १८५ ॥ वायुके झंकोरेसे उड़ते हुए कपडोसे जिन्होंने आकाशरूपी आँगनको झाडकर साफ कर दिया है ऐसी उसकी अडतालीस करोड़ पताकाएँ थी ॥ १८६ ॥ महाराज भरतके महाकल्याण नामका दिव्य भोजन था जिससे कि कल्याणमय शरीरको धारण करनेवाले उनके बलसहित तृप्ति और पुष्टि दोनों ही होती थी ॥ १८७ ॥ जो अत्यन्त गरिष्ठ रससे उत्कट है, जिन्हे कोई अन्य पंचा नहीं संकता तथा जो रुचिकर, स्वादिष्ट और सुगन्धित है ऐसे उसके अमृतगर्म नामके भक्ष्य अर्थात् खाने योग्य मोदक आदि पदार्थ थे ॥ १८८ ॥ जिनका स्वाद हृदयको अच्छा

१ वास्तुविद्यास्थाने स्वीकृतबुद्धिः । २ पूज्य । ३ गिरिवर ल०, प० । ४ चलनेनोच्चलत् । ५ आहारेण । ६ पुरुषाः । ७ जीर्णकर्तुम् । ८ अतिगुह्य । ९ क्रमुकवाडिमादि । “भोदनाद्यशन, स्वाद्यं ताम्रदूलादि, जलादिकम् । पेय, स्वाद्यमपूषाद्यं, त्याज्यान्येतानि शक्तिकैः ।”

- पुण्यकृततरोरासन् फलान्येतानि चक्रिणः । यान्यनन्योपमोग्यानि भोगाङ्गान्यतुलानि वै ॥११०॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग्रूपसंपदनीदृशी । पुण्याद् विना कुतस्तादृगमेधं गात्रबन्धनम् ॥१११॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग्निधिरत्तर्द्धिरुज्जिता । पुण्याद् विना कुतस्तादृगिमाश्वदिपरिच्छदः ॥११२॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृगन्तःपुरमहोदयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् दशाङ्गो भोगसंभवः ॥११३॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृगाश्वद्वीपाधिखल्विनी । पुण्याद् विना कुतस्तादृगजयश्रीर्जित्वरी दिशाम् ॥११४॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृगप्रतापः प्रणतामरः । पुण्याद् विना कुतस्तादृगुद्योगो लङ्घितार्णवः ॥११५॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक् प्राभवं त्रिजगज्जयि । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् नगराजजयोत्सवः ॥११६॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक् सत्कारस्तत्कृतोऽधिकः । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् सरिरिदृग्यभिषेचनम् ॥११७॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक् खचराचलनिर्जयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृगप्रजलामोऽन्यदुर्लभः ॥११८॥  
 पुण्याद् विना कुतस्तादृगा यतिर्मरतेऽशिले । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् कीर्तिर्विक्ततल्विनी ॥११९॥  
 ततः पुण्योदयोद्भूता मत्वा चक्रभूतः श्रियम् । चिनुष्वं भो बुधाः पुण्यं यत्पुण्यं सुखसंपदाम् ॥२००॥

लगनेवाला है और मसाले वगैरहसे जिनका संस्कार किया गया है ऐसे अमृतकल्प नामके उनके स्वाद्य पदार्थ थे तथा रसायनके समान रसीला अमृत नामका दिव्य पानक अर्थात् पीने योग्य पदार्थ था ॥१८९॥ चक्रवर्तीके ये सब भोगोपभोगके साधन उसके पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल थे, उन्हें अन्य कोई नहीं भोग सकता था और वे संसारसे अपनी बरावरी नहीं रखते थे ॥१९०॥ पुण्यके बिना चक्रवर्तीके समान अनुपम रूपसम्पदा कैसे मिल सकती है ? पुण्यके बिना वैसा अश्वेद शरीरका बन्धन कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना अतिशय उत्कृष्ट निधि और रत्नोकी ऋद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके बिना वैसे हाथी, घोड़े आदिका परिवार कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना वैसे अन्तःपुरका वैभव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना दस प्रकारके भोगोपभोग कहाँ मिल सकते हैं ? पुण्यके बिना द्वीप और समुद्रोंको उल्लंघन करनेवाली वैसी आज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके बिना दिशाओंको जीतनेवाली वैसी विजयलक्ष्मी कहाँ मिल सकती है ? पुण्यके बिना देवताओंको भी नम्र करनेवाला वैसा प्रताप कहाँ प्राप्त हो सकता है ? पुण्यके बिना समुद्रको उल्लंघन करनेवाला वैसा उद्योग कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना तीनों लोकोको जीतनेवाला वैसा प्रभाव कहाँ हो सकता है ? पुण्यके बिना वैसा हिमवान् पर्वतको विजय करनेका उत्सव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना हिमवान् देवके द्वारा किया हुआ वैसा अधिक सत्कार कहाँ मिल सकता है ? बिना पुण्यके नदियोंकी अधिष्ठात्री देवियोंके द्वारा किया हुआ वैसा अभिषेक कहाँ हो सकता है ? पुण्यके बिना विजयार्थ पर्वतको जीतना कैसे हो सकता है ? पुण्यके बिना अन्य मनुष्योंको दुर्लभ वैसे रत्नोका लाम कहाँ हो सकता है ? पुण्यके बिना समस्त भरतक्षेत्रमें वैसा सुन्दर विस्तार कैसे हो सकता है ? और पुण्यके बिना दिशाओंके किनारेको उल्लंघन करनेवाली वैसी कीर्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए हे पण्डित जन, चक्रवर्तीकी विभूतिको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर उस पुण्यका सचय करो जो कि समस्त सुख और सम्पदाओंकी दुकानके समान

१ हिमवद्भूमि । २ हिमवज्जगत्सुरकृत । ३ गङ्गासिन्धुदेवी । ४ धनागम प्रभावो वा । ५ लम्बिनी इ० । ६ तत् कारणात् ।



## शार्दूलविक्रीडितम्

इत्याविष्कृतसंपदो विजयिनस्तस्याखिलक्षमाभृतां

स्त्रीतामप्रतिशानां प्रथयतः षट्खण्डराज्यश्रियम् ।

कालोऽनल्पतरोऽप्यगात् क्षण इव प्राक्पुण्यकर्मोदया-

हुद्भूतैः प्रमदावहैः षट्पुत्रैर्मौगैरतिस्वादुभिः ॥ २०१ ॥

नानारत्ननिधानदेशविलसत्संपत्तिगुर्वीमिमां

साम्राज्यश्रियमेकमोगनियतां<sup>१</sup> कृत्वाऽखिलां पालयन् ।

योऽभून्नैव किलाकुलः कुलवधूमेकामिवाङ्गस्थितां

सोऽयं चक्रधरोऽमुनक्<sup>२</sup> सुवममूमेकातपत्रां चिरम् ॥ २०२ ॥

यस्मान्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खण्डभूषा<sup>३</sup> मही

येना<sup>४</sup> सेतुहिमाद्रिरक्षितमिदं क्षेत्रं कृतारिक्षयम् ।

यस्याविर्निधिरत्नसंपदुचिता लक्ष्मीरःशाधिनी

स श्रीमान् भरतेश्वरो निधिसुजामग्रेसरोऽभूत् प्रभुः ॥ २०३ ॥

यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचिद्

ध्येयो योगिजनस्य यश्च न तरां ध्याता स्वयं कस्यचित् ।

यो नन्तूनपि<sup>५</sup> नेतुमुन्नतिमलं<sup>६</sup> नन्तव्यपक्षे<sup>७</sup> स्थितः

स श्रीमान् जयताज्जगत्त्रयगुरुर्देवः पुरुः पावनः ॥ २०४ ॥

है ॥ १९१-२०० ॥ इस प्रकार जिसने सम्पदाएँ प्रकट की हैं, जिसने समस्त राजाओंको जीत लिया है, और जो दूसरेके शासनसे रहित अपने छह खण्डकी विस्तृत राज्यलक्ष्मीको निरन्तर फैलाता रहता है ऐसे उस चक्रवर्ती भरतका बड़ा भारी समय पूर्व पुण्यकर्मके उदयेसे उत्पन्न हुए, सब तरहका आनन्द देनेवाले और अत्यन्त स्वादिष्ट छोहो ऋतुओंके भोगोंके द्वारा क्षण-भरके समान व्यतीत हो गया था ॥ २०१ ॥ अनेकों रत्नों, निधियों और देशोंसे सुशोभित हुई सम्पत्तिके द्वारा जो भारी गौरवको प्राप्त हो रही है ऐसी इस समस्त साम्राज्यलक्ष्मीको एक अपने ही उपभोग करनेके योग्य बनाकर उसका पालन करता हुआ जो चक्रवर्ती गोदमे बैठी हुई कुलवधूकी रक्षा करते हुएके समान कभी व्याकुल नहीं हुआ वह भरत एक छत्रवाली इस पृथिवीका चिरकाल तक पालन करता रहा था ॥ २०२ ॥ छह खण्डोंसे विभूषित पृथिवी जिसके नामसे भरतभूमि नामको प्राप्त हुई, जिसने दक्षिण समुद्रसे लेकर हिमवात् पर्वत तकके इस क्षेत्रमें शत्रुओंका क्षय कर उसकी रक्षा की, तथा प्रकट हुई निधि और रत्न आदि सम्पदाओंसे योग्य लक्ष्मी जिसके वक्ष स्थलपर शयन करती थी वह प्रभु - श्रीमान् भरतेश्वर निधियोंके स्वामी अर्थात् चक्रवर्तियोगे प्रथम और मुख्य चक्रवर्ती हुआ था ॥ २०३ ॥ जो तीनों जगत्के जीवोंके द्वारा स्तुति करनेके योग्य है परन्तु जो स्वयं किसीकी स्तुति नहीं करते, बड़े-बड़े योगी लोग जिनका ध्यान करते हैं परन्तु जो किसीका ध्यान नहीं करते, जो नमस्कार करनेवालोंको भी उन्नत स्थानपर ले जानेके लिए समर्थ हैं परन्तु स्वयं नमस्कार करने योग्य पक्षमें स्थित हैं अर्थात् किसीको नमस्कार नहीं करते, वे तीनों जगत्के गुरु अत्यन्त पवित्र श्रीमान् भगवान्

१ निधि । २ आत्मनः एकस्यैव भोगनियताम् । ३ पालयति स्म । ४ षट्खण्डालकारा । ५ दक्षिणसमुद्रात् प्रारम्भ हिमवदगिरिपर्यन्तम् । ६ नमनशीलान् । ७ समर्थः । ८ नमनयोग्यपक्षे । स्वयं कस्यापि नन्ता नेत्यर्थः ।

यं नत्वा पुनरानमन्ति न परं स्तुत्वा च यं नापरं

मव्याः संस्तुवते श्रयन्ति न परं यं संश्रिताः श्रेयसे ।

यं सत्कृत्य कृतादरं कृतधियः सत्कुर्वन्ते नापरं

स श्रीमान् वृषभो जिनो भवमयास्त्रायातां तीर्थकृत् ॥२०५॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपटिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भरतेश्वराभ्युदयवर्णने नाम सप्तत्रिंशत्तमं पर्व ॥३७॥



वृषभदेव सदा जयवन्त रहे ॥२०४॥ भव्य लोग जिन्हे नमस्कार कर फिर किसी अन्यको नमस्कार नहीं करते, जिनकी स्तुति कर फिर किसी अन्यकी स्तुति नहीं करते, जिनका आश्रय लेकर कल्याणके लिए फिर किसी अन्यका आश्रय नहीं लेते, और बुद्धिमान् लोग जिनका सवने आदर किया है ऐसे जिनका सत्कार कर फिर किसी अन्यका सत्कार नहीं करते वे श्रीमान् वृषभ जिनेन्द्र तीर्थकर हम सबकी संसारके भयसे रक्षा करे ॥२०५॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपटिलक्षण महापुराणमंग्रहके भाषानुवादमें भरतेश्वरके वैभवका वर्णन करनेवाला यह सैतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



## अष्टत्रिंशत्तमं पर्व

जयन्त्यखिल वाङ्मार्गगामिन्यः सुकयोर्हताम् । धृतान्वनमसा दीप्ता यास्त्रिषोऽंशुमतामिव ॥१॥  
 य जीयान् वृषभो मोहविषसुसमिदं जवान् । पटविद्ये<sup>२</sup> यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठपत ॥२॥  
 तं नन्वा परमं ज्योतिर्वृषमं वीरमन्वतः । द्विजन्मनामथोयति वश्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥३॥  
 भरतो भारनं वष<sup>३</sup> निजित्य सह पार्थिवैः । पृथया वर्षसहस्रैस्तु दिग्भां निववृते जयान् ॥४॥  
 कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत । परार्थे संपदास्माकां सोपयोगा कथं भवेत् ॥५॥  
 महामहमहं कृत्वा जितेन्द्रस्य महोदयम् । प्रीणयामि जगद्भिन्नं विष्वग्<sup>४</sup> विघ्राणयन् धनम् ॥६॥  
 नानगारा वसून्त्यस्मत् प्रतिगृह्णन्ति निःस्पृहाः । मगारः क्वनमः पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभिः ॥७॥  
<sup>५</sup>येऽणुव्रतधरा धीरा धीर्या गृहमेधिनाम् । तर्पणीया हि तेऽस्मानिरीप्सितैर्वनुवाहनैः ॥८॥  
 इति निश्चित्य राजेन्द्रः सत्कृतुमुचितानिमान् । परीक्षिषुपुराह्वानं तदा सर्वान् महामुजः ॥९॥  
 सदाचारनिर्जैरिष्टैरनुजाविभि रन्विताः । अद्यात्मद्रुत्सवे यूयमायातेति<sup>६</sup> पृथक् पृथक् ॥१०॥  
 हरितैरङ्गुरैः पुष्पैः फलैश्चाकर्णमङ्गणम् । सन्नाड्यकीर्तयेत्तयो परीक्षायै स्ववेम्नि ॥११॥  
 तेष्वन्नता विना संगाम् प्राविशन् नृपमन्दिरम् । तानेकतः समुत्थाय जेषानाह्वययत् प्रभुः ॥१२॥

जो समस्त भाषाओंमें परिणत होनेवाली है, जिसने अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर दिया है और जो सूर्यकी किरणोंके समान देदीप्यमान है वह अरहन्त भगवान्की सुन्दर वाणी सदा जयवन्त हो ॥१॥ गारुडी विद्याके समान जिनकी विद्याने मोहरूपी विषसे मोये हुए इस समस्त संसारको बहुत गीघ्र जगा दिया वे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहे ॥२॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक, मैं उन परमज्योतिस्वरूप भगवान् वृषभदेव तथा भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार कर अब यहाँसे द्विजोंकी उत्पत्ति कहता हूँ सो सुनो ॥३॥ भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओंके साथ भारतवर्षकी जीतकर साठ हजार वर्षमें दिग्विजयसे वापस लौटे ॥४॥ जब वे सब कार्य कर चुके तब उनके चित्तमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरेके उपकारमें मेरी इस सम्पदाका उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? ॥५॥ मैं श्री जितेन्द्रदेवका बड़े ऐश्वर्यके साथ महामह नामका यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसारको सन्तुष्ट करूँ ? ॥६॥ सदा निःस्पृह रहनेवाले मुनि तो हम लोगसे धन लेते नहीं हैं परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्तिके द्वारा पूजा करनेके योग्य है ॥७॥ जो अणु व्रतको धारण करनेवाले हैं, धीर वीर हैं और गृहस्थोंमें मुख्य हैं ऐसे पुत्र ही हम लोगोंके द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदिक वाहनोके द्वारा तर्पण करनेके योग्य हैं ॥८॥ इस प्रकार निश्चय कर सत्कार करनेके योग्य व्यक्तियोंकी परीक्षा करनेकी इच्छासे राजादेव्यर भरतने उस समय समस्त राजाओंको बुलाया ॥९॥ और सबके पास खदर मेज दी कि आप लोग अपने-अपने सदाचारी इष्ट मित्र तथा नौकर-चाकर आदिके साथ आज हमारे उत्सवमें अलग-अलग आवे ॥१०॥ इधर चक्रवर्तीने उन सबकी परीक्षा करनेके लिए अपने वस्त्रके आँगनमें हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये ॥११॥ उन लोगोंमें जो अन्नदी दे दे

१ सर्वभाषात्मिका इत्यर्थः । २ गारुडविद्या । ३ क्षेत्रम् । ४ वितरन् । ५ कञ्चन । ६ अपज्ज्ञा- ८० । ७ दुरीणा । ८ परीक्षितुमिच्छे । ९ भूतैः । १० आगच्छत । ११ विचारान् प्रतिबन्धाद् वा ।

ते तु स्वव्रतसिद्धयर्थमीहमाना<sup>१</sup> महन्त्रयाः । चैपुः<sup>२</sup> प्रवेशनं तावद् यावदाद्रिकुराः पथि ॥१३॥  
 सधान्यैर्हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपाङ्गणम् । निश्चक्रमुः<sup>३</sup> कृपालुत्वात् केचित् सावयमीरवः ॥१४॥  
 कृतानुबन्धना<sup>४</sup> भूयश्चक्रिणः किल तेऽन्तिकम् । प्रासुकेन<sup>५</sup> पथाऽन्धेन भेजुः क्रान्त्वा नृपाङ्गणम् ॥१५॥  
 प्राक् केन हेतुना यूयं नापाताः पुनरागताः । केन व्रतेति पृष्टास्ते प्रत्यमापन्त चक्रिणम् ॥१६॥  
 प्रवालपत्रपुष्पाङ्गैः पर्वणि व्यपरोपणम्<sup>६</sup> । न कल्पतेऽथ तज्जानां<sup>७</sup> जन्तूनां नो<sup>८</sup> जन्मिदुहाम्<sup>९</sup> ॥१७॥  
 सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु । निगोता इति सर्वजं<sup>१०</sup> देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥१८॥  
 तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमथत्वे<sup>११</sup> खट्वदृष्टाङ्गणम् । कृत्वापहारमाद्रिद्रिः<sup>१२</sup> फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥१९॥  
 इति तद्वचनात् सर्वाभूः सोऽभिनन्द्य दृढव्रतान् । पूजयामास लक्ष्मीमान्<sup>१३</sup> दानमानादिसकृत्तैः ॥२०॥  
 तेषां कृतानि विद्वानि सूत्रे पश्चाद्वाञ्छितैः ।<sup>१४</sup> उपात्तैर्ब्रह्मसूत्राद्वैरकाद्येकादशान्तकैः ॥२१॥  
 गुणभूमिकृताद् भेदात्<sup>१५</sup> कलुसयज्ञोपवीतिनाम्<sup>१६</sup> । सत्कारः क्रियते स्मैषाममवताश्च बहिः कृताः ॥२२॥  
 अथ ते कृतसन्मानाः चक्रिणा व्रतधारिणः । मजन्ति स्म परं दाक्ष्यं<sup>१७</sup> लोकक्षैणानपूजयत् ॥२३॥  
 इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः ससुपादिशत् ॥२४॥

बिना किसी सोच-विचारके राजमन्दिरमें घुस आये । राजा भरतने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी वचे हुए लोगोंको बुलाया ॥१२॥ परन्तु बड़े-बड़े कुलमें उत्पन्न हुए और अपने व्रतकी सिद्धिके लिए चेष्टा करनेवाले उन लोगोंने जबतक मार्गमें हरे अकूर है तबतक उसमें प्रवेग करनेकी इच्छा नहीं की ॥१३॥ पापसे डरनेवाले कितने ही लोग दयालु होनेके कारण हरे घान्पोसे भरे हुए राजाके आँगनको उल्लघ्न किये बिना ही वापस लौटने लगे ॥१४॥ परन्तु जब चक्रवर्तिनी उनसे बहुत ही आग्रह किया तब वे दूसरे प्रासुक मार्गसे राजाके आँगनको लाँघ-कर उनके पास पहुँचे ॥१५॥ आप लोग पहले किस कारणसे नहीं आये थे, और अब किस कारणसे आये हैं ? ऐसा जब चक्रवर्तिनी उनसे पूछा तब उन्होंने नीचे लिखे अनुसार उत्तर दिया ॥१६॥ आज पर्वके दिन कोपल, पत्ते तथा पुष्प आदिका विघात नहीं किया जाता और न जो अपना कुछ विगाड़ करते हैं ऐसे उन कोपल आदिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका भी विनाश किया जाता है ॥१७॥ हे देव, हरे अकुर आदिमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ-देवके वचन हमलोगोंने सुने हैं ॥१८॥ इसलिए जिसमें गीले-गीले फल, पुष्प और अंकुर आदिसे शोभा की गयी है ऐसा आपके घरका आँगन आज हम लोगोंने नहीं खूँदा है ॥१९॥ इस प्रकार उनके वचनोसे प्रभावित हुए सम्पत्तिशाली भरतने व्रतोमें दृढ़ रहनेवाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान मान आदि सत्कारसे सन्मानित किया ॥२०॥ पञ्च नामकी निधिसे प्राप्त हुए एकसे लेकर ग्यारह तककी सख्यावाले ब्रह्मसूत्र नामके सूत्रसे (व्रतसूत्रसे) उन सबके चित्त किये ॥२१॥ प्रतिमाओंके द्वारा किये हुए भेदके अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं ऐसे इन सबका भरतने सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन्हें वेसे ही जाने दिया ॥२२॥ अथानन्तर चक्रवर्तिनी जिनका सन्मान किया है ऐसे व्रत धारण करनेवाले वे लोग अपने-अपने व्रतोमें और भी दृढताको प्राप्त हो गये तथा अन्य लोग भी उनकी पूजा आदि करने लगे ॥२३॥ भरतने उन्हें उपासकाध्ययनागसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और

१ चेष्टमाना । २ नेच्छन्ति स्म । ३ निर्गता । ४ निर्वन्वा । ५ मार्गेण । ६ हिसनम् । ७ प्रवालपत्रपुष्पादि-  
 जातानाम् । ८ अस्माकम् । ९ अहिषकानाम् । १० सर्वत्रस्येदम् । ११ इदानीम् । १२ नितरामार्गैः ।  
 १३ वस्त्रविशानसद्वचनादिपूजामत्कारैः । १४ स्वीकृतं । १५ दार्शनिकादिगुणनिन्यविहितत् ।  
 १६ कृत । १७ जन ।

कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्विरन्ववोचदनुक्रमम् ॥२५॥  
 प्रोक्ता पूजार्हतामित्या सा चतुर्धा सदाचर्नम्<sup>१</sup> । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥२६॥  
 तत्र नित्यमहो नाम शश्वजिनगृहं प्रति । स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥२७॥  
 चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्माणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाचर्नम् ॥२८॥  
 या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी । स च नित्यमहो ज्यो यथा शक्यपकल्पितः ॥२९॥  
 महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥३०॥  
 दत्त्वा<sup>३</sup> किमिच्छकं दानं सन्नाद्धमिर्थः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽर्थं जगदाशाप्रपूरणः ॥३१॥  
 आष्टाह्निको महः सार्वजनिको<sup>४</sup> खड्ग एव सः । महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरगजैः कृतो महः ॥३२॥  
 बलिखपनमित्यन्यद्विस्त्रिंश्यासेवया समम् । उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥३३॥  
 पूर्वविधिविधानेन या महेश्या जिनेशिनाम् । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम्<sup>५</sup> ॥३४॥  
 वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्थात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः<sup>६</sup> । चतुर्धा वणिता दत्तिर्दयापात्रसमान्वयैः ॥३५॥  
 सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिहृन्देऽभयप्रदा । विशुद्धयनुगता सेयं दयादत्तिर्मता वृधैः ॥३६॥  
 महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरःसरम्<sup>७</sup> । प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥३७॥

तपका उपदेश दिया ॥२४॥ यह इनका कुलधर्म है ऐसा विचार कर राजर्षि भरतने उस समय अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदिका वर्णन किया ॥२५॥ वे कहने लगे कि अर्हन्त भगवान्की पूजा नित्य करनी चाहिए, वह पूजा चार प्रकारकी है सदाचर्न, चतुर्मुख, कल्पद्रुप और आष्टाह्निक ॥२६॥ इन चारों पूजाओंमेंसे प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालयमें श्री जिनैन्द्रदेवकी पूजा करना सदाचर्न अर्थात् नित्यमह कहलाता है ॥२७॥ अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम खेत आदिका दान देना भी सदाचर्न ( नित्यमह ) कहलाता है ॥२८॥ इसके सिवाय अपनी शक्तिके अनुसार नित्य दान देते हुए महामुनियोकी जो पूजा की जाती है उसे भी नित्यमह समझना चाहिए ॥२९॥ महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिए । इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है ॥३०॥ जो चक्रवर्तियोंके द्वारा किमिच्छक ( भूहर्मांगा ) दान देकर किया जाता है और जिसमें जगत्के समस्त जीवोंकी आशाएँ पूर्ण की जाती है वह कल्पद्रुप नामका यज्ञ कहलाता है । भावार्थ — जिस यज्ञमें कल्पवृक्षके समान सबकी इच्छाएँ पूर्ण की जावे उसे कल्पद्रुम यज्ञ कहते हैं, यह यज्ञ चक्रवर्ती ही कर सकते हैं ॥३१॥ चौथा आष्टाह्निक यज्ञ है जिसे सब लोग करते हैं और जो जगत्में अत्यन्त प्रसिद्ध है । इसके सिवाय एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है ॥३२॥ बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, तीनों सन्ध्याओंमें उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब उन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं ॥३३॥ इस प्रकारकी विधिसे जो जिनैन्द्रदेवकी महापूजा की जाती है उसे विधिके जाननेवाले आचार्य इज्या नामकी प्रथमभूति कहते हैं ॥३४॥ विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती आदिका करना वार्ता कहलाती है तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्यदत्ति ये चार प्रकारकी दत्ति कही गयी हैं ॥३५॥

अनुग्रह करने योग्य प्राणियोंके समूहपर दयापूर्वक मन वचन कायकी शुद्धिके साथ उनके भय दूर करनेको पण्डित लोग दयादत्ति मानते हैं ॥३६॥ महातपस्वी मुनियोंके लिए

१ - ता नित्या सा ल० । २ नित्यमह । 'अर्चा पूजा च नित्यमह' । ३ भवतः किमिष्टमिति प्रश्नपूर्वक तदभिवाञ्छितस्य दानम् । ४ सर्वजने भवः । ५ प्रथमकल्पे भवाम् । षट्कर्मसु प्रथमोक्तमित्यर्थः । ६ अनुष्ठानम् ।

७ पूजास्थानविधिपूर्वकम् ।

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियासमन्व्रतादिभिः । निस्तारकोत्तमायेह श्रुहेमाग्रतिसर्जनम् ॥३८॥  
 समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते<sup>३</sup> । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता<sup>४</sup> श्रद्धयाऽन्विता ॥३९॥  
 आत्मान्धयप्रतिघातं सूनवे यदशेषतः । समं समयवित्ताभ्यां<sup>५</sup> स्ववर्गास्त्यागिसर्जनम् ॥४०॥  
 सैषा सकलदत्तिः स्थात् स्वाध्यायः श्रुतसावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥४१॥  
 विमुद्रा वृत्तिरेषां षट्त्वथीष्टा द्विजन्मनाम् । योऽतिक्रमेदिमां सोऽज्ञो नात्रैव न गुणद्विजः<sup>६</sup> ॥४२॥  
 तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् । तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव स ॥४३॥  
 अपापोपहतां वृत्तिः स्यादेषां जातिरुत्तमा । दत्तीज्याधीतिं मुख्यत्वाद् व्रतमुद्रया सुसंस्कृता<sup>७</sup> ॥४४॥  
 मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोऽस्य । वृत्तिभेदाहिताह्नेदानातुर्विध्यमिहास्तुते<sup>८</sup> ॥४५॥  
 ब्राह्मण व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थजनान्धारयात् शूद्रा<sup>९</sup> न्यगृह्णन्ति श्रयात् ॥४६॥  
 तप श्रुताभ्यामेवातो<sup>१०</sup> जातिसंस्कार इत्यते । असंस्कृतस्तु यस्याभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ॥४७॥  
 द्विजातो हि द्विजस्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः । क्रियासमन्व्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥४८॥  
 तदेषां जातिसंस्कारं द्रव्यसिति सोऽधिराट् । स प्रोवाच द्विजन्मभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ॥४९॥

सत्कारपूर्वक पङ्गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं ॥३७॥ क्रिया, मन्त्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है तथा जो संसारसमुद्रसे पार कर देनेवाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिए पृथिवी सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्रके लिए समान बुद्धिसे श्रद्धाके साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति कहलाता है ॥३८-३९॥ अपने वंशकी प्रतिष्ठाके लिए पुत्रको समस्त कुलपद्धति तथा धनके साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करनेको सकलदत्ति कहते हैं । शास्त्रोंकी भावना ( चिन्तन ) करना स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम है ॥४०-४१॥ यह ऊपर कही हुई छह प्रकारकी विमुद्रा वृत्ति इन द्विजोंके करने योग्य है । जो इनका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नाममात्रसे ही द्विज है, गुणसे द्विज नहीं है ॥४२॥ तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं, जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है ॥४३॥ इन लोगोंकी आजीविका पापरहित है इसलिए इनकी जाति उत्तम कहलाती है तथा दान, पूजा, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोंकी शुद्धि होनेसे वह उत्तम जाति और भी सुसंस्कृत हो गयी है ॥४४॥ यद्यपि जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण वह चार प्रकारकी हो गयी है ॥४५॥ व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शास्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय देनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते हैं ॥४६॥ इसलिए द्विज जातिका संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्यासे ही माना जाता है परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्यासे जिसका संस्कार नहीं हुआ है वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ॥४७॥ जो एक बार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते हैं परन्तु जो क्रिया और मन्त्र दोनोंसे ही रहित है वह केवल नामको धारण करनेवाला द्विज है ॥४८॥ इसलिए इन द्विजोंकी जातिके संस्कारको दृढ़ करते हुए सम्राट् भरतेश्वरने द्विजोंके लिए नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके संमस्त भेद कहे ॥४९॥

१ ससारसागरोत्तारक । २ दानम् । ३ मध्यमत्वं गते । ४ प्रवृत्त्या ल० । ५ सद्वर्धनान्ध्याम् । ६ गुणद्विजः ल०, अ०, प०, स०, इ० । ७ स्वाध्याय । ८ सुसंस्कृता सती । ९ वर्तन । १० नीचवृत्ति । ११ अतः कारणात् ।

ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽज्ञाताः श्रावकाध्यायसंग्रहे । संदृष्टिमिरनुष्ठेया महोदकाः शुभावहाः ॥५०॥  
 गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधां बुधैर्मताः ॥५१॥  
 आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशज्ज्ञेया गर्भान्वयक्रियाः । चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥५२॥  
 कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञेयः समुचितः । तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूयते<sup>२</sup> ॥५३॥  
 अज्ञाना<sup>३</sup> सप्तमादद्वाद दुस्तरादर्णवादपि । श्लोकैरष्टामिच्छेप्यं<sup>४</sup> प्राप्तं ज्ञानलवं मया ॥५४॥  
 आधानं प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मादः प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्याननिषद्याः प्राशनं तथा ॥५५॥  
 व्युष्टिश्च<sup>५</sup> केशवापश्च लिपिसंस्थानसंग्रहः । उपनीतिर्नैतं चर्या व्रतावतरणं तथा ॥५६॥  
 विवाहो वर्णलामश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्यं जिनरूपता ॥५७॥  
 मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्त्वस्य भावना । गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥५८॥  
 स्वगुरुस्थानसंग्रहः सन्तिर्निस्संगत्वात्मभावना । योगनिर्वाणसंप्राप्तिर्योगनिर्वाणसाधनम् ॥५९॥  
 इन्द्रोपपादामिषेकौ विधिदानं सुखोदयः । इन्द्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥६०॥  
 मन्दरेन्द्रामिषेकश्च गुरुपूजोपलम्भनम् । यौवराज्यं स्वराज्यं च चक्रलामो दिशां जयः ॥६१॥  
 चक्रामिषेकसाञ्ज्ये निष्क्रान्तिर्योगसंग्रहः । आर्हन्त्यं तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥६२॥  
 अथः पञ्चाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भाधानाद्विनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥६३॥  
 अवतारो वृत्तलामः स्थानलामो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्यापयोगिता ॥६४॥  
 ह्युष्टुष्टिभिरष्टामिषपनीत्यादयः क्रियाः । चत्वारिंशल्लभाम्युक्तास्ताः सुर्वदीक्षान्वयक्रियाः ॥६५॥

उन्होंने कहा कि श्रावकाध्याय संग्रहमें वे क्रियाएँ तीन प्रकारकी कही गयी हैं, सम्यग्दृष्टि पुरुषोको उन क्रियाओका पालन अवश्य करना चाहिए क्योंकि वे सभी उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली हैं ॥५०॥ गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया इस प्रकार विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियाएँ मानी हैं ॥५१॥ गर्भान्वय क्रियाएँ, आधान आदि तिरपन जानना चाहिए और दीक्षान्वय क्रियाएँ अडतालीस समझना चाहिए ॥५२॥ इनके सिवाय उस विषयके जानकार विद्वानोंने कर्त्रन्वय क्रियाएँ सात संग्रह की हैं । अब आगे यथाक्रमसे उन क्रियाओंका नाम निर्देश किया जाता है ॥५३॥ जो समुद्रसे भी दुस्तर है ऐसे बारह अंगोंमें सातवे अंग (उपासकाध्ययनाग) से जो कुछ मुझे ज्ञानका अंश प्राप्त हुआ है उसे मैं नीचे लिखे हुए आठ श्लोकोसे प्रकट करता हूँ ॥५४॥ १ आधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ बहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपि संस्थानसंग्रह, १४ उपनीति, १५ व्रतचर्या, १६ व्रतावतरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाम, १९ कुलचर्या, २० गृहीशिता, २१ प्रशान्ति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्यं, २४ जिनरूपता, २५ मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६ तीर्थकृत्त्वभावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगम, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरुस्थानसंग्रह, ३० नि सगत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसंप्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इन्द्रोपपाद, ३४ अमिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इन्द्रत्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४० मन्दरेन्द्रामिषेक, ४१ गुरुपूजोपलम्भन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज्य, ४४ चक्रलाम, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्रामिषेक, ४७ साञ्ज्य, ४८ निष्क्रान्ति, ४९ योगसंग्रह, ५० आर्हन्त्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग और ५३ अग्रनिर्वृति । परमागम-में ये गर्भसे लेकर निर्वाणपर्यन्त तिरपन क्रियाएँ मानी गयी हैं ॥५५-६३॥ १ अवतार, २ वृत्तलाम, ३ स्थानलाम, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या और ८ उपयोगिता १ नामसंकीर्तन । २ अनुवादयते । ३ -द्वादशाङ्गानाम् मध्ये । ४ उपासकाध्ययनात् । ५ उद्देश करिष्ये इत्थं । ६ अभ्युपगम । ७ गर्भान्वयक्रियासु आदौ त्रयोदशक्रिया मुक्त्वा शेषा उपनीत्यादयः ।

तास्तु कर्त्तव्या ज्ञेया या प्राप्याः पुण्यकर्तुमि । फलरूपतया वृत्ताः<sup>१</sup> सन्मार्गाराधनस्य वै ॥६६॥  
 सज्जातिः सद्गृहित्वं च परिब्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्प्रान्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥६७॥  
 स्थानाच्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये । अर्हद्वागमृतास्वादात् प्रतिलब्धानि देहिनाम् ॥६८॥  
 क्रियाकल्पोऽयमाज्ञातो बहुभेदो महर्षिभिः । सक्षेपतस्तु तल्लक्ष्म वक्ष्ये संक्षेप्यं विस्तरम् ॥६९॥  
 आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः । पत्नीसुतमती स्मार्ता पुरस्कृत्याहंदिज्यथा ॥७०॥  
 तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम् । जिनार्चामभितः<sup>२</sup> स्थाप्यं सर्वं पुण्याग्निमिच्छिभिः ॥७१॥  
 त्रयोऽंशयोऽर्हद्वागमृच्छेपकेवलनिर्वृती । ये हुतास्ते प्रणेतव्याः सिद्धाचविद्युपाश्रयाः ॥७२॥  
 तेष्वर्हद्विज्याशेषांसैराहुतिमन्त्रपूर्विका । विधेया अचिमिर्द्रव्यैः पुंसुत्रोत्पत्तिकाम्यथा<sup>३</sup> ॥७३॥  
 तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यन्तेऽन्वत्र पर्वणि<sup>४</sup> । सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागतः ॥७४॥  
 विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां<sup>५</sup> सतो जिवैः । अन्यामोहादतस्तज्जैः प्रयोज्यास्तं<sup>६</sup> उपासकैः ॥७५॥  
 गर्भाधानक्रियामेतां प्रयुज्यादौ यथाविधि । सन्तानार्थं विना शगाद् दम्पतिभ्यां<sup>७</sup> न्यवेयताम् ॥७६॥  
 इति गर्भाधानम् ।

इन कहो हुई आठ क्रियाओंके साथ उपनीति नामकी चौदहवी क्रियासे तिरपनवी निर्वाण ( अग्र-  
 निर्वृति ) क्रिया तककी चालीस क्रियाएँ मिलाकर कुल अठतालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती  
 हैं ॥ ६४-६५ ॥ कर्त्तव्य क्रियाएँ वे हैं जो कि पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं  
 और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फलस्वरूप प्रवृत्त होती हैं ॥ ६६ ॥ १ सज्जाति,  
 २ सद्गृहित्व, ३ परिब्राज्य, ४ सुरेन्द्रता, ५ साम्प्रान्य, ६ परमार्हन्त्य और ७ परमनिर्वाण ये सात  
 स्थान तीनों लोकमें उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातो ही अर्हन्त भगवान्के वचनरूपी अमृतके  
 आस्वादनसे जीवोंको प्राप्त हो सकते हैं ॥ ६७-६८ ॥ महर्षियोने इन क्रियाओंका समूह  
 अनेक प्रकारका माना - अनेक प्रकारसे क्रियाओंका वर्णन किया है परन्तु मैं यहाँ विस्तार छोड़-  
 कर सक्षेपसे ही उनके लक्षण कहता हूँ ॥ ६९ ॥ चतुर्थ स्नानके द्वारा शुद्ध हुई रजस्वला पत्नी-  
 को आगे कर गर्भाधानके पहले अर्हन्तदेवकी पूजाके द्वारा मन्त्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है  
 उसे आधान क्रिया कहते हैं ॥ ७० ॥ इस आधान क्रियाकी पूजामें जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाके  
 दाहिनी ओर तीन चक्र, बायी ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करे ॥ ७१ ॥  
 अर्हन्त भगवान् ( तीर्थंकर ) के निर्वाणके समय, गणधरदेवोंके निर्वाणके समय और सामान्य  
 कैवल्योके निर्वाणके समय जिन अग्नियोंमें होम किया गया था ऐसी तीन प्रकारकी पवित्र  
 अग्नियाँ सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप ही तैयार करनी चाहिए ॥ ७२ ॥ प्रथम ही अर्हन्त देवकी  
 पूजा कर चुकनेके बाद शेष बचे हुए पवित्र द्रव्यसे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मन्त्रपूर्वक उन  
 तीन अग्नियोंमें आहुति करनी चाहिए ॥ ७३ ॥ उन आहुतियोंके मन्त्र आगेके पर्वमें शास्त्रा-  
 नुसार कहे जावेंगे । वे पीठिका मन्त्र, जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके हैं ॥ ७४ ॥  
 श्रीजिनेन्द्रदेवने इन्हीं मन्त्रोंका प्रयोग समस्त क्रियाओंमें बतलाया है इसलिए उस विषयके जान-  
 कार श्रावकोंको व्यामोह ( प्रमाद ) छोड़कर उन मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिए ॥ ७५ ॥ इस  
 प्रकार कही हुई इस गर्भाधानकी क्रियाको पहले विधिपूर्वक करके फिर स्त्री-गुरुष दोनोको विष-  
 यानुरागके विना केवल सन्तानके लिए समागम करना चाहिए ॥ ७६ ॥ इस प्रकार यह गर्भा-  
 धान क्रियाकी विधि समाप्त हुई ।

१ प्रवर्तिता । २ क्रियालक्षणम् । ३ वर्जयित्वा । ४ तत्र आदानक्रियायाम् । तत्रार्चनविधौ ल० ।  
 ५ जिनविम्वस्य समन्तत । ६ संस्कार्याः । ७ सिद्धप्रतिमाश्रितित्यर्थेदेविसमीपाश्रिता । ८ अनियु । ९ वीच्छया ।  
 १० सर्गे । ११ मन्त्राणाम् । १२ मन्त्रा । १३ विवीयताम् ल० । व्यवीयताम् द० । अभिगम्यताम् ।



गर्भाधानात् परं मासे तृतीये संप्रवर्तते । प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥७७॥

तत्रापि पूर्ववन्मन्त्रपूर्वा पूजा जिनेशिन्याम् । द्वारि तोरणविन्धासः पूर्णकुम्भौ च संमतौ ॥७८॥

तदादि प्रत्यहं भेरीशब्दो घण्टाध्वनान्वितः । यथाविभवमेवैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिमिः ॥७९॥

इति प्रीतिः ।

आधानात् पञ्चमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते । या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥८०॥

तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽहंस्वसन्निधौ । कार्यो मन्त्रविधानज्ञैः साक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥८१॥

इति सुप्रीतिः ।

एतित्स्तु सप्तमे मासि कार्या तद्वत्क्रियादरैः । गृहमेधिमिरन्यग्रमनोभिर्गर्भवृद्धये ॥८२॥

इति एतिः ।

नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदो नाम क्रियाविधिः । तद्वदेवाहृतैः कार्यो गर्भपुष्ट्यै द्विजोत्तमैः ॥८३॥

तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो मङ्गल्यं च प्रसाधनम् । रक्षासूत्रविधानं च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥८४॥

इति मोदः ।

प्रियोद्भवः प्रसूतायां जातकर्मविधिः स्मृतः । जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५॥

अवान्तरविशेषोऽत्र क्रियामन्त्रादिलक्षणः । मृगार्थं समस्त्यसौ ज्ञेयो मूलोपासकसुव्रतः ॥८६॥

इति प्रियोद्भवः ।

गर्भाधानके बाद तीसरे माहमे प्रीति नामकी क्रिया होती है जिसे सन्तुष्ट हुए द्विज लोग करते हैं ॥ ७७ ॥ इस क्रियामें भी पहलेकी क्रियाके समान मन्त्रपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिए, दरवाजेपर तोरण बाँधना चाहिए तथा दो पूर्ण कलश स्थापना करना चाहिए ॥ ७८ ॥ उस दिनसे लेकर गृहस्थोंको प्रतिदिन अपने वैभवके अनुसार घण्टा और नगाड़े बजवाने चाहिए ॥ ७९ ॥ यह दूसरी प्रीति क्रिया है ।

गर्भाधानसे पाँचवें माहमे सुप्रीति क्रिया की जाती है जो कि प्रसन्न हुए उत्तम श्रावकोंके द्वारा की जाती है ॥ ८० ॥ इस क्रियामें भी मन्त्र और क्रियाओंको जाननेवाले श्रावकोंको अग्नि तथा देवताकी साक्षी कर अर्हन्त भगवान्की प्रतिमाके समीप पहले कहीं हुई समस्त विधि करनी चाहिए ॥ ८१ ॥ यह तीसरी सुप्रीति नामकी क्रिया है ।

जिनका आदर किया गया है और जिनका चित्त व्याकुल नहीं है ऐसे गृहस्थोंको गर्भकी वृद्धिके लिए गर्भसे सातवे महीनेमें पिछली क्रियाओंके समान ही धृति नामकी क्रिया करनी चाहिए ॥ ८२ ॥ यह चौथी धृति नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर नौवे महीनेके निकट रहनेपर मोद नामकी क्रिया की जाती है यह क्रिया भी पिछली क्रियाओंके समान आदरयुक्त उत्तम द्विजोंके द्वारा गर्भकी पुष्टिके लिए की जाती है ॥ ८३ ॥ इस क्रियामे उत्तम द्विजोंको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिकाबन्ध करना चाहिए अर्थात् मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लिखना चाहिए, मंगलमय आभूषणादि पहनाना चाहिए और रक्षाके लिए कंकणसूत्र आदि बाँधनेकी विधि करनी चाहिए ॥ ८४ ॥ यह पाँचवी मोदक्रिया है ।

तदनन्तर प्रसूति होनेपर प्रियोद्भव नामकी क्रिया की जाती है, इसका दूसरा नाम जातकर्म विधि भी है । यह क्रिया जिनेन्द्र भगवान्का स्मरण कर विधिपूर्वक करनी चाहिए ॥ ८५ ॥ इस क्रियामे क्रिया मन्त्र आदि अवान्तर विशेष कार्य बहुत भारी है इसलिए इसका पूर्ण ज्ञान मूलभूत उपासकाध्ययनाङ्गसे प्राप्त करना चाहिए ॥ ८६ ॥ यह छठी प्रियोद्भव क्रिया है ।

१ स्वनान्वित. ल० । २ गात्रेषु बीजाक्षराणां मन्त्रपूर्वकं न्यासः । ३ शोभनम् । ४ अलङ्कारः । ५ रक्षार्थं कङ्कणसूत्रबन्धनविधानम् । ६ प्रसूतायां सत्याम् । ७ महान् ।

द्वादशाहात् परं नामकर्म जन्मदिनान्तमवस्य । अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥८७॥  
यथाविमवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनम् । शस्तं च नामधेयं तत् स्थाप्यमन्त्रयद्विद्वत् ॥८८॥  
अष्टोत्तरसहस्राद् वा जिननामकदम्बकान् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्त्रयत शुभम् ॥८९॥

इति नामकर्म ।

बहिर्यानं ततो द्वित्रैसां लिखितुरैकः<sup>१</sup> । यथानुकूलमिष्टेऽङ्गि कार्यं त्र्यांस्त्रिंशद्वैः<sup>२</sup> ॥९०॥  
ततः प्रभृत्यभीष्टं हि शिष्योः प्रसववेत्तनः<sup>३</sup> । वहिःप्रणयनं मात्रा धान्युत्सङ्गगतस्य वा ॥९१॥  
तत्र बन्धुजनादर्धलाभो यः पारितोषिकः<sup>४</sup> । स तस्योत्तरकालेऽप्यौ धनं पित्र्यं यदाप्स्यति ॥९२॥

इति बहिर्यानम् ।

ततः परं निषद्यास्य क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योग्ये तत्प<sup>५</sup> आस्तीर्णे<sup>६</sup> कृतमङ्गलसंक्रियौ ॥९३॥  
सिद्धार्चनादिकः सर्वो विधिः पूर्वघट्टनं<sup>७</sup> च । यतो दिव्यासनार्हस्त्वमस्य स्यादुत्तरोत्तरम् ॥९४॥

इति निषद्या ।

जन्मदिनसे बारह दिनके बाद, जो दिन माता पिता और पुत्रके अनुकूल हो, सुख देनेवाला हो उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥८७॥ इस क्रियामें अपने वैभवके अनुसार अर्हन्तदेव और ऋषियोंकी पूजा करनी चाहिए, द्विजोका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिए तथा जो वंशकी वृद्धि करनेवाला हो ऐसा कोई उत्तम नाम बालकका रखना चाहिए ॥८८॥ अथवा जिनेन्द्रदेवके एक हजार आठ नामोंके समूहसे घटपत्रकी विधिसे कोई एक शुभ नाम ग्रहण कर लेना चाहिए । भावार्थ — भगवान्के एक हजार आठ नामोंके एक हजार आठ कागजके टुकड़ोपर अष्टगन्धसे सुवर्ण अथवा अनारकी कलमसे लिखकर उनकी गोली बना लेवे और पीले वस्त्र तथा नारियल आदिसे ढके हुए एक घड़ेमें भर देवे, कागजके एक टुकड़ेपर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर उसकी गोली बना लेवे इसी प्रकार एक हजार सात कोरे टुकड़ोकी गोलियाँ बनाकर इन सबको एक दूसरे घड़ेमें भर देवे, अनन्तर किसी अबोध कन्या या बालकसे दोनों घड़ोंमेंसे एक-एक गोली निकलवाता जावे । जिस नामकी गोलीके साथ नाम ऐसा लिखी हुई गोली निकले वही नाम बालकका रखना चाहिए । यह घटपत्र विधि कहलाती है ॥८९॥ यह सातवी नामकर्म क्रिया है ।

तदनन्तर दो-तीन अथवा तीन-चार माहके बाद किसी शुभ दिन तुरही आदि मांगलिक वाजोंके साथ-साथ अपनी अनुकूलताके अनुसार बहिर्यान क्रिया करनी चाहिए ॥९०॥ जिस दिन यह क्रिया की जावे उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदमे बैठे हुए बालकका प्रभूति-गृहसे वाहर ले जाना शास्त्रसम्मत है ॥९१॥ उस क्रियाके करते समय बालकको भाई बान्धव आदिसे पारितोषिक — भेटरूपसे जो कुछ धनकी प्राप्ति हो उसे इकट्ठा कर, जब वह पुत्र पिताके धनका अधिकारी हो तब उसके लिए सौप देवे ॥९२॥ यह आठवी बहिर्यान क्रिया है ।

तदनन्तर, जिसके समीप मङ्गलद्रव्य रखे हुए हैं और जो बालकके योग्य हैं ऐसे विछाये हुए आसनपर उस बालककी निषद्या क्रिया की जाती है अर्थात् उसे उत्तम आसनपर बैठा लेते हैं ॥९३॥ इस क्रियामे सिद्ध भगवान्की पूजा करना आदि सब विधि पहलेके समान ही करनी चाहिए जिससे इस बालककी उत्तरोत्तर दिव्य आसनपर बैठनेकी योग्यता होती रहे ॥९४॥ यह नौवी निषद्या क्रिया है ।

१ द्वौ वा त्रयो वा द्विजास्तौ । २ अथवा । ३ प्रसववेत्तन सकाशात् । ४ पारितोषे भव । ५ अय्यायाम् । ६ विस्तीर्णे । ७ निषद्याक्रियायाम् । ८ निषद्याक्रियायाः ।

गते सासृष्ट्यन्वे<sup>१</sup> च जन्माद्यर्थे<sup>२</sup> यथाक्रमम् । अक्षप्राशनमाश्रावं पुत्राविधिपुरःसरम् ॥९५॥

इति अक्षप्राशनम् ।

ततोऽस्य हायने<sup>३</sup> पूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्षेनपर्यायशब्दाच्चा यथाश्रुतम् ॥९६॥

अश्रापि पूर्ववद्वा<sup>४</sup>नैर्ना पूजा च पूर्ववत् । इष्टवन्वसमाह्वानं समासादिश्च<sup>५</sup> लक्ष्यताम् ॥९७॥

इति व्युष्टिः ।

केनवापस्तु केनानां शुभेऽङ्घ्रि व्यपगतम्<sup>६</sup> । शौरेण कर्मणा देवगुणपूजापुरःसरम् ॥९८॥

गन्धोदकादिभिर्वा<sup>७</sup> कृत्वा केनान् योषाभनोचिषान् । मौण्ड्यमस्य विवेकं स्यात् मन्त्रं<sup>८</sup> स्वात्मनोचिषदं

अपनोदकधौनाहमनुलिप्तं मसृपगम्<sup>९</sup> । प्रणमय<sup>१०</sup> सुनीन् पश्चाद् योजयेद् बन्धुनाशिपां<sup>११</sup> ॥१००॥

चौलान्यया प्रतीतिं कृतपुण्याहमङ्गला । क्रियास्यामाद्यो लोको यत्र प्रपन्था सुदा ॥१०१॥

इति केनवापः ।

ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरद्वयने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाशा लिपिसंन्याससंग्रहः ॥१०२॥

यथाविनयमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य मणोऽवर्ती<sup>१२</sup> गृहवर्ती ॥१०३॥

इति लिपिसंन्याससंग्रहः ।

क्रियोपनीविर्नामास्य वर्षे गमाष्टमे मता । यत्रावर्तनकेशस्य मौर्त्ता मवतवन्वना ॥१०४॥

ज्व क्रम-क्रमसे सात-आठ माह व्यतीत हो जायें तब अर्हन्त भगवान्की पूजा आदि कर बालकको अन्न खिलाना चाहिए ॥९५॥ यह दसवीं अक्षप्राशन क्रिया है ।

तदनन्तर एक वर्ष पूर्ण होनेपर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है इस क्रियाका दूसरा नाम शास्त्रानुसार वर्षवर्षन है ॥९६॥ इस क्रियामें भी पहले ही के समान दान देना चाहिए, जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनी चाहिए, इष्टबन्धुओंको बुलाना चाहिए और सबको भोजन कराना चाहिए ॥९७॥ यह ग्यास्त्ववीं व्युष्टि क्रिया है ।

तदनन्तर, किन्नी शून दिन देव और गृहकी पूजाके साथ-साथ औरकर्म अर्थात् उत्तरासे बालकके बाल बनवाना केनवाप क्रिया कहलाती है ॥९८॥ प्रथम ही बालोंको गन्धोदकसे नीला कर उनपर पूजाके बत्ते हुए शेष अक्षत रखे और फिर चोटी सहित अथवा अपनी कुलपद्धतिके अनुसार उसका मुण्डन करना चाहिए ॥९९॥ फिर स्नान करानेके लिए लंबे हुए जलसे जिसका नमस्त शरीर साफ कर दिया गया है, जिसपर लेप लगाया गया है और जिसे उत्तम आभूषण पहनाये गये हैं ऐसे उन बालकसे मुनियोंको नमस्कार करवें, पश्चात् सब भाई, बन्धु उसे आशीर्वादसे युक्त करें ॥१००॥ इस क्रियामें पुण्याहमंगल क्रिया जाना है और यह चौल क्रिया नामसे प्रसिद्ध है इस क्रियामें आदरको प्राप्त हुए लोग बड़े-हल्के प्रवृत्त होते हैं ॥१०१॥ यह केनवाप नामकी बारहवीं क्रिया है ।

तदनन्तर पाँचवें वर्षमें बालकको सर्वप्रथम अक्षरोंका वर्णन करानेके लिए लिपिसंन्यास नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१०२॥ इस क्रियामें भी अपने वैभवके अनुसार पूजा आदिकी सामग्री जुटानी चाहिए और अव्ययन करानेमें कुशल व्रता गृहस्थको ही उस बालकके अव्यापकके पदपर नियुक्त करना चाहिए ॥१०३॥ यह तेरहवीं लिपिसंन्यास क्रिया है ।

गमसे आठवें वर्षमें बालककी उपनीति ( यज्ञोपवीत धारण ) क्रिया होती है । इस क्रियामें केनोका मुण्डन, व्रतवन्वन तथा मौज्जीबन्वनकी क्रियाएँ की

१ सृष्टाष्टमात्र । २ जन्मदिनात् प्रारभ्य । ३ संवत्सरे । 'मन्वत्सरे वसन्तेऽङ्घ्रौ हायनीऽङ्घ्रौ ग्रन्थं स्यात् इत्यभिधानात् । ४ शास्त्रानुसारेण । ५ तथापि लं । ६ न्हिनोन्मादि । ७ अपनयनम् । ८ कृत्वा नहिदम् । शिखामहिमिष्यते । ९ बानधोचिषम् लं । १० चान्नयोचिषम् लं । ११ अलंकारदृष्टादिभ्यम् । १२ मुनिन्यासमनं कारयित्वा । १३ बन्धुसमूहकृताशीर्वन्तेन । १४ अवीतवत् ।

कृतार्हत्पूजनस्यास्य मौञ्जीबन्धो जिनालये । गुरुसाक्षिविधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम् ॥१०५॥  
 शिखी सितांशुकः स्रान्तवर्सा निवेषविक्रियः<sup>२</sup> । व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं<sup>३</sup> तदोक्तो ब्रह्मचर्यसा<sup>४</sup> ॥१०६॥  
 चरणोचितमन्यच्च<sup>५</sup> नामधेयं तदस्य<sup>६</sup> वै । वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥१०७॥  
 सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्या<sup>७</sup> नियोग इति केवलम् । तदग्रं देवसात्कृत्य<sup>८</sup> ततोऽञ्जं योग्यमाहरेत्<sup>९</sup> ॥१०८॥  
 इत्युपनीतिः ।

व्रतचर्यामती<sup>१०</sup> वक्ष्ये क्रियामस्योपविभ्रतः । कट्यूरुरगिरोलिङ्गमनूचानवतोचितम् ॥१०९॥  
 कटीलिङ्गं भवेदस्य मौञ्जीबन्धात्त्रिमिगुणैः । रत्नत्रितयशुद्धयङ्गं तद्धि चिह्नं द्विजात्मनाम् ॥११०॥  
 तस्यैष्टमूलिङ्गं<sup>११</sup> च सुचोतसितशाटकम्<sup>१२</sup> । आहृतानां कुलं पूर्वं विशालं चेति सूचने ॥१११॥  
 उरोलिङ्गमन्यास्य स्याद् अथितं सप्तमिगुणैः । यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकम् ॥११२॥  
 शिरोलिङ्गं च तस्यैष्टं परं औण्डव्यमनाविलम्<sup>१३</sup> । मौण्डव्यं मनोवच कायगतमस्योपवृंहयत् ॥११३॥  
 एवंप्रायेण<sup>१४</sup> लिङ्गेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम् । स्थूलहिंसाविरत्यादि ब्रह्मचर्योपवृंहितम् ॥११४॥  
 वृन्तकाष्टप्रहो नास्य न ताम्बूलं न चाञ्जनम् । न हरिद्राक्षिभिः चान्नं शुद्धचान्नं दिनं प्रति ॥११५॥

जाती है ॥१०४॥ प्रथम ही जिनालयमें जाकर जिसने अर्हन्तदेवकी पूजा की है ऐसे उस बालककी व्रत देकर उसका मौञ्जीबन्धन करना चाहिए अर्थात् उसकी कमरमें मौंजकी रस्सी बाँधनी चाहिए ॥१०५॥ जो चोटी रखाये हुए है, जिसकी सफेद धोती और सफेद कुपट्टा है, जो वेष और विकारोंसे रहित है, तथा जो व्रतके चित्तस्वरूप यज्ञोपवीत सूत्रको धारण कर रहा है ऐसा वह बालक उस समय ब्रह्मचारी कहलाता है ॥१०६॥ उस समय उसके आचरणके योग्य और भी नाम रखे जा सकते हैं । उस समय बड़े वैभवशाली राजपुत्रको छोड़कर सबको भिक्षावृत्तिसे ही निर्वाह करना चाहिए और राजपुत्रको भी अन्तः-पुरसे जाकर माता आदिसे किसी पात्रमें भिक्षा माँगनी चाहिए, क्योंकि उस समय भिक्षा लेने-का यह नियोग ही है । भिक्षामे जो कुछ प्राप्त हो उसका अग्रभाग श्री अरहन्तदेवको समर्पण कर बाकी वचे हुए योग्य अन्नका स्वयं भोजन करना चाहिए ॥१०७-१०८॥ यह चौदहवीं उपनीति क्रिया है ।

अथानन्तर ब्रह्मचर्य व्रतके योग्य कमर, जाँघ, वक्षःस्थल और शिरके चित्तको धारण करनेवाले इस ब्रह्मचारी बालककी व्रतचर्या नामकी क्रियाका वर्णन करते हैं ॥१०९॥ तीन लरकी मौंजकी रस्सी बाँधनेसे कमरका चित्त होता है, यह मौंजीबन्धन रत्न-त्रयकी विशुद्धिका अंग है और द्विज लोगोका एक चित्त है ॥११०॥ अत्यन्त धुली हुई सफेद धोती उसकी जाँघका चित्त है, वह धोती यह सूचित करती है कि अरहन्त भगवान्का कुल पवित्र और विशाल है ॥१११॥ उसके वक्षःस्थलका चित्त सात लरका गुंथा हुआ यज्ञोपवीत है, यह यज्ञोपवीत सात परमस्थानोका सूचक है ॥११२॥ उसके शिरका चित्त स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डन है जो कि उसके मन, वचन, कायके मुण्डनको बढ़ानेवाला है । भावार्थ - गिर मुण्डनसे मन, वचन, काय पवित्र रहते हैं ॥११३॥ प्रायः इस प्रकारके चित्तोंसे विबुद्ध और ब्रह्मचर्यसे बड़े हुए स्थूल हिंसाका त्याग (अहिंसाणु व्रत) आदि व्रत उसे धारण करना चाहिए ॥११४॥ इस ब्रह्मचारीको वृक्षकी दातौन नहीं करनी चाहिए, न पान खाना चाहिए, न अंजन लगाना चाहिए और न हल्दी आदि लगाकर स्नान करना चाहिए, उसे प्रतिदिन केवल

१ अन्तर्वस्त्रेण सहित । २ वेपविकाररहितः । ३ यज्ञसूत्रम् । ४ वर्तनायोग्यम् । ५ तदास्य ल० । ६ राजन्यः । ७ पात्रे भिक्षां प्रार्थयेदित्यर्थः । ८ भिक्षात्रम् । ९ देवस्य चर्यं समर्थम् । १० शेषाञ्जं भुञ्जीत । ११ -महं ल० । १२ ब्रह्मचर्यव्रत । १३ धवलवस्त्रम् । १४ उष्णीपादिरहितम् । १५ एवं प्रकारेण ।

न<sup>१</sup> खट्वाशयनं तस्य नान्याङ्गपरिघट्टनम् । भूमौ केवलमेकाकी शयति व्रतशुद्धये ॥११६॥  
 यावद् विद्यासमाप्तिः स्यात् तावदस्येदं व्रतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत् स्याद् तन्मूलं गृहमेधिनाम् ११७  
 सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात् । विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८॥  
 शब्दविद्याऽर्थशास्त्रादि<sup>२</sup> चाध्येयं नास्य दुप्यति । सुसंस्कारप्रबोधाय<sup>३</sup> वैशात्यख्यातयेऽपि च ॥११९॥  
 ज्योतिर्ज्ञानमथच्छन्दोज्ञानं<sup>४</sup> ज्ञानं च शाकुनम् । संख्याज्ञानमितिदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥१२०॥  
 इति व्रतचर्या ।  
 ततोऽस्याधीतविद्यस्य<sup>५</sup> व्रतवृत्त्यवतारणम् । विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके<sup>६</sup> व्रते ॥१२१॥  
 मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम् ॥१२२॥  
 व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनम्<sup>७</sup> । वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात् परम् ॥१२३॥  
 कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम् । वस्त्राभरणमाभ्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया ॥१२४॥  
 शङ्खोपजीविवर्गश्चेद्<sup>८</sup> धारयेच्छस्त्रमप्यदः ।<sup>९</sup> स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तदग्रहः ॥१२५॥  
 भोगब्रह्मव्रतादेवमवलीर्णो मवेत्तदा । कामब्रह्मव्रतं<sup>१०</sup> त्वस्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा<sup>११</sup> ॥१२६॥  
 इति व्रतावतरणम् ।

जलसे शुद्ध स्नान करना चाहिए ॥११५॥ उसे खाट अथवा पर्लंगपर नहीं सोना चाहिए, दूसरेके शरीरसे अपना शरीर नहीं रगड़ना चाहिए, और व्रतको विशुद्ध रखनेके लिए अकेला पृथिवीपर सोना चाहिए ॥११६॥ जबतक विद्या समाप्त न-हो तबतक उसे यह व्रत धारण करना चाहिए और विद्या समाप्त होनेपर वे व्रत धारण करना चाहिए जो कि गृहस्थोंके मूलगुण कहलाते हैं ॥११७॥ सबसे पहले इस ब्रह्मचारीको गुरुके मुखसे श्रावकाचार पढ़ना चाहिए और फिर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढ़ना चाहिए ॥११८॥ उत्तम संस्कारोंको जागृत करनेके लिए और विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिए इसे व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्रका भी अभ्यास करना चाहिए क्योंकि आचार-विषयक ज्ञान होनेपर इनके अध्ययन करनेमें कोई दोष नहीं है ॥११९॥ इसके बाद ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, शाकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदिका भी उसे विशेषरूपसे अध्ययन करना चाहिए ॥१२०॥ यह पन्द्रहवीं व्रतचर्या क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याओंका अध्ययन कर लिया है ऐसे उस ब्रह्मचारीकी व्रतावतरण क्रिया होती है । इस क्रियामें वह साधारण व्रतोंका तो पालन करता ही है परन्तु अध्ययनके समय जो विशेष व्रत ले रखे थे उनका परित्याग कर देता है । ॥१२१॥ इस क्रियाके बाद उसके मधुत्याग, मासत्याग, पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग और हिंसा आदि पाँच स्थूल पापोंका त्याग, ये सदा काल अर्थात् जीवन पर्यन्त रहनेवाले व्रत रह जाते हैं ॥१२२॥ यह व्रतावतरण क्रिया गुरुकी साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्की पूजा कर बारह अथवा सोलह वर्ष बाद करनी चाहिए ॥१२३॥ पहले द्विजोंका सत्कार कर फिर व्रतावतरण करना उचित है और व्रतावतरणके बाद गुरुकी आज्ञासे वस्त्र, आभूषण और माला आदिका ग्रहण करना उचित है ॥१२४॥ इसके बाद यदि वह शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय वर्गका है तो वह अपनी आज्ञाधिकारी रक्षाके लिए शस्त्र भी धारण कर सकता है अथवा केवल शोभाके लिए भी शस्त्र ग्रहण किया जा सकता है ॥१२५॥ इस प्रकार इस क्रियामें यद्यपि वह भोगोप-भोगोके ब्रह्मव्रतका अर्थात् ताम्बूल आदिके त्यागका अवतरण (परित्याग) कर देता है तथापि

१ मञ्चक । २ नीतिशास्त्र । ३ दृष्यते ल०, द० । ४ वाएश । ५ ज्योतिःशास्त्रम् । ६ छन्द शास्त्रम् । ७ गणितशास्त्रम् । ८ वृत्ति जीवन । ९ साधारण । १० कृताराधनम् । ११ वगैरे भव । १२ निजजीवन । १३ चास्य ल० । १४ वक्ष्यमाणा, वैवाहिकी ।

ततोऽस्य<sup>१</sup> गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया । वैवाहिके<sup>२</sup> कुले कन्यासुचितां परिण्यतः ॥१२७॥  
 सिद्धार्चनविधिं सम्यक् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः । कृताभिन्नयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षितां<sup>३</sup> क्रियाम् ॥१२८॥  
 पुण्याश्रमे<sup>४</sup> कचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तर्थाः । दुग्धप्लवोः परया भृत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥१२९॥  
 वेदां<sup>५</sup> प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयस्यैककर्म । ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥१३०॥  
 पाणिग्रहणटीक्षायां नियुक्त तद्भूषणम् । आससाहं<sup>६</sup> चरेद् ब्रह्मन्तं देवाग्रिसाक्षिकम् ॥१३१॥  
 क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमि तीर्थभूमीर्विहृत्य च । स्वगृहं प्रविशेद् भृत्या परया तद्भूषणम् ॥१३२॥  
 विमुक्तकङ्कणं पश्चात् स्वगृहे गयनीयकम् । अधिशय्य यथाकालं योगाङ्गैरुपललितम् ॥१३३॥  
 सन्तानार्थभूतावेव कामसेवां मियो भजेत् । शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं<sup>७</sup> क्रमोऽशक्तोऽन्यथा ॥१३४॥  
 इति विवाहक्रिया ।  
 एवं कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमनुतिष्ठतः । स्वधर्मानितिष्ठत्यर्थं वर्णलामभयो<sup>८</sup> भवे ॥१३५॥  
 जन्मार्थोऽप्ययं तावदस्वतन्त्रो गुरोर्गृहे । ततः स्वातन्त्र्यसिद्धयर्थं वर्णलामोऽस्य वर्णितः ॥१३६॥  
 गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसंपदः । पृथक्कृतालयस्यास्यैव वृत्तिवर्णाक्षिरूप्यते ॥१३७॥  
 तदापि पूर्ववत्सिद्धप्रतिमानर्चनप्रतः<sup>९</sup> । कृत्वाऽस्थोपासकान्<sup>१०</sup> सुरत्यान् साक्षीकृत्यापयेंद् धनम् ॥१३८॥

जब तक उसके आगेकी क्रिया नहीं होती तब तक वह कामपरित्यागरूप ब्रह्मव्रतका पालन करता रहता है ॥१२६॥ यह सोलहवीं व्रतावतरण क्रिया है ।

तदनन्तर विवाहके योग्य कुलमें उत्पन्न हुई कन्याके साथ जो विवाह करना चाहता है ऐसे उस पुरुषकी गुरुकी आज्ञासे वैवाहिकी क्रिया की जाती है ॥१२७॥ उत्तम द्विजोको चाहिए कि वे सबसे पहले अच्छी तरह सिद्ध भगवान्की पूजा करे और फिर तीनों अग्नियोकी पूजा कर उनकी साक्षीपूर्वक उस वैवाहिकी ( विवाह सम्बन्धी ) क्रियाको करे ॥१२८॥ किसी पवित्र स्थानमें बड़ी विभूतिके साथ सिद्ध भगवान्की प्रतिमाके सामने बधू-वरका विवाहोत्सव करना चाहिए ॥१२९॥ वेदीमें जो तीन, दो अथवा एक अग्नि उत्पन्न की थी उसकी प्रदक्षिणाएँ देकर बधू-वरको समीप ही बैठना चाहिए ॥१३०॥ विवाहकी दीक्षामें नियुक्त हुए बधू और वरको देव और अग्निकी साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए ॥१३१॥ फिर अपने योग्य किसी देगमें भ्रमण कर अथवा तीर्थभूमिमें विहारकर वर और बधू बड़ी विभूतिके साथ अपने घरमें प्रवेश करे ॥१३२॥ तदनन्तर जिनका कंकण छोड़ दिया है, ऐसे वर और बधू अपने घरमें समयानुसार भोगोपभोगके साधनसे सुगोमित शय्यापर शयन कर केवल सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमें ही परस्पर काम-सेवन करें । काम-सेवनका यह क्रम काल तथा शक्तिकी अपेक्षा रखता है इसलिए शक्तिहीन पुरुषोंके लिए इससे विपरीत क्रम समझना चाहिए अर्थात् उन्हें ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिए ॥१३३-१३४॥ यह सत्रहवीं विवाह-क्रिया है ।

इस प्रकार जिसका विवाह किया जा चुका है और जो गार्हस्थ्यधर्मका पालन कर रहा है ऐसा पुरुष अपने धर्मका उल्लंघन न करे इसलिए उसके अर्थ वर्णलाभ क्रियाको कहते हैं ॥१३५॥ यद्यपि उसका विवाह हो चुका है तथापि वह जबतक पिताके घर रहता है तबतक अस्वतन्त्र ही है इसलिए उसको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिए यह वर्णलाभकी क्रिया कही गयी है ॥१३६॥ पिताकी आज्ञासे जिसे धनधान्य आदि सम्पदाएँ प्राप्त हो चुकी हैं और मकान भी जिसे अलग मिल चुका है ऐसे पुरुषकी स्वतन्त्र आजीविका करने लगनेको वर्णलाभ कहते हैं ॥१३७॥ इस क्रियाके समय भी पहलेके समान सिद्ध प्रतिमाओंका पूजन

१ भिरनुमतात् । २ विवाहोचिते । ३ साक्षि ता ल० । ४ पवित्रप्रदेशे । ५ संकृतम् । ६ नृपतिविवर्णनम् । ७ सन्तानार्थम् ऋतुकाले कामसेवाक्रम । ८ -मती ल० । ९ विवाहित । १० आदी । ११ कृत्वाप्तोप-न० ।

धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन् स्वगृहे पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणः ॥१३९॥  
 यथाऽस्मिन्पितृत्वेन धनेनास्माभिरर्जितम् । यशो धर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मानुपाज्य ॥१४०॥  
 इत्येवमनुगिष्यैर्न वर्णलाभे नियोजयेत् । सदार. सोऽपि तं धर्मं तथानुष्ठानमर्हति ॥१४१॥

इति वर्णलाभक्रिया ।

लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्यते । सा त्विन्यादृत्तिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपञ्चिता ॥१४२॥  
 विशुद्धा वृत्तिरस्यार्थपदकमानुप्रवर्तनम् । गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४३॥

इति कुलचर्याक्रिया ।

कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मो दाढ्यमथोद्ग्रहन् । गृहस्थाचार्यमावेन संश्रयेत् स गृहीणिनाम् ॥१४४॥  
 ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत् स्वां गृहीणिताम् । शुभवृत्तिक्रियामन्त्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः ॥१४५॥  
 अनन्यतद्वशैरभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वशुचिर्न नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीणिताम् ॥१४६॥  
 वर्णोत्तमो महोदेव. सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको ग्रामपतिः मानार्हश्चेति मानितः ॥१४७॥

इति गृहीणिता ।

सोऽनुरूपं ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षसम् । तन्नारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशान्तिमतः श्रयेत् ॥१४८॥

कर पिता अन्य मुख्य धावकोको साक्षी कर उनके सामने पुत्रको धन अर्पण करे तथा यह कहे कि यह धन लेकर तुम इस अपने घरमें पृथक् रूपसे रहो । तुम्हें दान पूजा आदि समस्त गृहस्थधर्म पालन करते रहना चाहिए । जिस प्रकार हमारे पिताके द्वारा दिये हुए धनसे मैंने यश और धर्मका अर्जन किया है उसी प्रकार तुम भी यश और धर्मका अर्जन करो । इस प्रकार पुत्रको समझाकर पिता उसे वर्णलाभमें नियुक्त करे और सदाचारका पालन करता हुआ वह पुत्र भी पिताके धर्मका पालन करनेके लिए समर्थ होता है ॥१३८-१४१॥ यह अठारहवीं वर्णलाभ क्रिया है ।

जिसे वर्णलाभ प्राप्त हो चुका है ऐसे पुत्रके लिए कुलचर्या क्रिया कही जाती है और पूजा, दत्ति तथा आजीविका करना आदि सब जिसके लक्षण हैं ऐसी कुलचर्या क्रियाका पहले विस्तारके साथ वर्णन कर चुके हैं ॥१४२॥ निर्दोषरूपसे आजीविका करना तथा आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कार्य करना यही गृहस्थोकी कुलचर्या कहलाती है और यही उनका कुलधर्म माना जाता है ॥१४३॥ यह उन्नीसवीं कुलचर्या क्रिया है ।

तदनन्तर कुलचर्याको प्राप्त हुआ वह पुरुष धर्ममें दृढताको धारण करता हुआ गृहस्थाचार्यरूपसे गृहीणिताको स्वीकार करे अर्थात् गृहस्थोका स्वामी बने ॥१४४॥ फिर उसे आपको उत्तम वर्ण मानकर आपसे गृहीणिता स्थापित करनी चाहिए । जो दूसरे गृहस्थोमें न पायी जावे ऐसी शुभ वृत्ति, क्रिया, मन्त्र, विवाह तथा आगे कही जानेवाली क्रियाएँ, शास्त्र-ज्ञान और चारित्र्य आदिकी क्रियाओंसे अपने-आपको उन्नत करता हुआ वह गृहीण अर्थात् गृहस्थोंके स्वामी होनेके योग्य होता है ॥१४५-१४६॥ उस समय वर्णोत्तम, महोदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इत्यादि कहकर लोगोको उसका सत्कार करना चाहिए ॥१४७॥ यह बीसवीं गृहीणिता क्रिया है ।

तदनन्तर वह गृहस्थाचार्य अपना भार संभालनेमें समर्थ योग्य पुत्रको पाकर उसे अपनी

विषयेष्वनभिषङ्गो<sup>१</sup> नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ॥१४९॥

इति प्रशान्तिः ।

ततः कृतार्थमात्मानं मन्यमानो गृहाश्रमे । यदोद्यतो गृहत्यागे तदाऽस्यैष क्रियाविधिः ॥१५०॥  
सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहुय संमत्वा<sup>२</sup> । तत्साक्षिं सन्ने सर्वं निवेद्यतो गृहं त्यजेत् ॥१५१॥  
कुलक्रमस्तत्रा तात संपास्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो<sup>३</sup> द्रव्यं त्वयेत्थं विनियोग्यताम् ॥१५२॥  
एकोऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः संविभागाय भवेत्त्वत्सहजन्मनाम् ॥१५३॥  
पुत्र्यश्च संविभागाहार्तः समं पुत्रैः समसैकैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्ततिं नोऽनुपालय ॥१५४॥  
श्रुतवृत्तिक्रियामन्त्रविधिज्ञस्त्वमतन्निद्रतः । प्रपालय<sup>४</sup> कुलान्नाथं गुरुं देवांश्च पूजयन् ॥१५५॥  
इत्येवमनुशिष्य स्रज्येष्ठः सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षामुपादातुं द्विजः स्वं गृहमुत्तृजेत् ॥१५६॥

इति गृहत्यागः ।

त्यक्तागारस्य सन्दृष्टेः प्रशान्तस्य गृहीशिनः । प्राग्दीक्षापयिकात्<sup>५</sup> कालादिकशाटकधारिणः ॥१५७॥

यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रति धार्यते । दीक्षाध्वं नाम तज्ज्ञेयं क्रियाजातं<sup>६</sup> द्विजन्मनः ॥१५८॥

इति दीक्षाध्वम् ।

त्यक्तेलादिसंरास्य जैनो दीक्षामुपेयुषः<sup>६</sup> । धारणं जातरूपस्य यत्तत् स्याज्जिनरूपता ॥१५९॥

गृहस्थीका भार सौप दे और आप स्वयं उत्तम शान्तिका आश्रय ले ॥१४८॥ विषयोमे आसक्त नहीं होना, नित्य स्वाध्याय करनेमें तत्पर रहना तथा नाना प्रकारके उपवास आदि करते रहना प्रशान्त वृत्ति कहलाती है ॥१४९॥ यह इक्कीसवीं प्रशान्ति क्रिया है ।

तदनन्तर गृहस्थाश्रममें अपने-आपको कृतार्थ मानता हुआ जब वह गृहत्याग करनेके लिए उद्यत होता है तब उसके यह गृहत्याग नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१५०॥ इस क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवान्का पूजन कर समस्त इष्टजनोको बुलाना चाहिए और फिर उनकी साक्षीपूर्वक पुत्रके लिए सब कुछ सौंपकर गृहत्याग कर देना चाहिए ॥१५१॥ गृहत्याग करते समय ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर उससे इस प्रकार कहना चाहिए कि पुत्र, हमारे पीछे यह कुलकर्म तुम्हारे द्वारा पालन करने योग्य है । मैंने जो अपने धनके तीन भाग किये हैं उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना चाहिए कि उनमेंसे एक भाग तो वर्मकार्यमें खर्च करना चाहिए, दूसरा भाग अपने घर खर्चके लिए रखना चाहिए और तीसरा भाग अपने भाइयोंमें बाँट देनेके लिए है । पुत्रोके समान पुत्रियोंके लिए भी दरावर भाग देना चाहिए । हे पुत्र, तू कुलका बड़ा होकर मेरी सब सन्तानका पालन कर । तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मन्त्र और विधिको जाननेवाला है इसलिए आलस्यरहित होकर देव और गुरुओंकी पूजा करता हुआ अपने कुलधर्मका पालन कर । इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश देकर वह द्विज निराकुल होवे और फिर दीक्षा ग्रहण करनेके लिए अपना घर छोड़ दे ॥१५२-१५६॥ यह बाईसवीं गृहत्याग नामकी क्रिया है ।

जिसने घर छोड़ दिया है, जो सम्यग्दृष्टि है, प्रशान्त है, गृहस्थोंका स्वामी है और दीक्षाधारण करनेके समयके कुछ पहले जिसने एक वस्त्र धारण किया है उसके दीक्षाग्रहण करनेके पहले जो कुछ आचरण किये जाते हैं उन आचरणों अथवा क्रियाओंके समूहको द्विजकी दीक्षाध्व क्रिया कहते हैं ॥१५७-१५८॥ यह तेईसवीं दीक्षाध्व क्रिया है ।

जिसने वस्त्र आदि सब परिग्रह छोड़ दिये हैं और जो जिनदीक्षाको प्राप्त करना चाहता है ऐसे पुरुषका दिग्मन्वरूप धारण करना जिनरूपता नामकी क्रिया कहलाती है ॥१५९॥

१ निष्प्रम । २ अस्माकम् । ३ कुलपरम्पराम् । ४ दीक्षास्वीकारात् प्राक् । ५ क्रियासमूहः । ६ गतस्य ।



अशक्यधारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् । जैनं निस्संगतामुख्यं रूपं धीरनिपेक्ष्यते ॥१६०॥

इति जिनरूपता ।

कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः पारणाविधौ । मौनाध्ययनवृत्तत्वमिष्टमाश्रुतनिष्ठितैः ॥१६१॥

बाधयमो विनीतात्मा विशुद्धकरणत्रयः । सोऽधीयीत श्रुतं कृत्स्नमामूलम् गुरुसन्निधौ ॥१६२॥

श्रुतं हि विधिनानेन भव्यात्ममिरुपासितम् । योग्यतामिह पुष्पाति पत्रापि प्रसीदति ॥१६३॥

इति मौनाध्ययनवृत्तत्वम् ।

ततोऽर्धाताखिलाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तरः । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकुत्वस्य भावनाम् ॥१६४॥

सा तु षोडशधाऽऽज्ञाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्धचादिलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता ॥१६५॥

इति तीर्थकुट्टावना ।

ततोऽस्य विदितान्नेषवेद्यस्य त्रिजितात्मनः । गुरुस्थानाभ्युपगमः २ मतो गुर्वनुग्रहात् ॥१६६॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः स्वगुरोरसिंसमतः । विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥१६७॥

गुरुस्थानाभ्युपगमः ।

ततः सुविहितस्यास्य युक्तस्य गणपोषणः । गणोपग्रहणं नाम त्रियाज्ञाता महर्षिभिः ॥१६८॥

जिनका आत्मा कातर है ऐसे पुरुषको जिनरूप ( दिगम्बररूप ) का धारण करना कठिन है इसलिए जिसमे परिग्रह त्यागकी मुख्यता है ऐसा यह जितेन्द्रदेवका रूप धीरवीर मनुष्योके द्वारा ही धारण किया जाता है ॥१६०॥ यह चौबीसवो जिनरूपता किया है ।

जिसने दीक्षा लेकर उपवास किया है और जो पारणकी विधिमे अर्थात् विधिपूर्वक आहार लेनेमे प्रवृत्त होता है ऐसे साधुका शास्त्रकी समाप्ति पर्यन्त जो मौन रहकर अध्ययन करनेमें प्रवृत्ति होती है उसे मौनाध्ययनवृत्तत्व कहते हैं ॥१६१॥ जिसने मौन धारण किया है, जिसका आत्मा विनय युक्त है, और मन, वचन, काय शुद्ध है ऐसे साधुको गुरुके समीपमें प्रारम्भसे लेकर समस्त शास्त्रोका अध्ययन करना चाहिए ॥१६२॥ क्योंकि इस विधिसे भव्यजीवोके द्वारा उपासना किया हुआ शास्त्र इस लोकमे उनकी योग्यता बढ़ाता है और परलोकमें प्रसन्न रखता है ॥१६३॥ यह पच्चीसवी मौनाध्ययनवृत्तत्व किया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त आचार शास्त्रका अध्ययन किया है तथा अन्य शास्त्रोके अध्ययनसे जिसने समस्त श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त किया है और जिसका आचरण विशुद्ध है ऐसा साधु तीर्थकर पदकी भावनाओका अभ्यास करे ॥१६४॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि रखना आदि जिसके लक्षण है, जो महान् ऐश्वर्यको देनेवाली है तथा पहले जिनका विस्तारके साथ वर्णन किया जा चुका है ऐसी भावनाएँ सोलह मानी गयी हैं ॥१६५॥ यह छब्बीसवी तीर्थ-कुट्टावना नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याएँ जान ली है और जिसने अपने अन्त करणको वश कर लिया है ऐसे साधुका गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करना शास्त्रसम्मत है ॥१६६॥ जो ज्ञान विज्ञान करके सम्पन्न है, अपने गुरुको इष्ट है अर्थात् जिसे गुरु अपना पद प्रदान करना योग्य समझते हैं, जो विनयवान् और धर्मात्मा है वह साधु गुरुका पद प्राप्त करनेके योग्य है ॥१६७॥ यह सत्ताईसवी गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है ॥

तदनन्तर जो सदाचारका पालन करता है गण अर्थात् समस्त मुनिसवके पोषण

१ श्रुतसमाप्तिपर्यन्तम् । २ मौनी । ३ अध्ययनं कुर्यात् । लिङ् । ४ -विद्यस्य ल०, द०, प० । ५ ज्ञान मोक्ष-शास्त्र । विज्ञान शिल्पशास्त्र । ६ सदाचारस्य ।

श्रावकानार्थिकासंघं श्राविकाः संश्रतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्नेव गणपोषणमाचरेत् ॥१६९॥  
श्रुताधिभ्यः श्रुतं दद्याद् दीक्षार्थिन्यश्च दीक्षणम् । धर्माधिभ्योऽपि सद्धर्मं स गन्धर्वं प्रतिपादयेत् ॥१७०॥  
सद्वृत्तान् धारयन् सुरिसद्वृत्तान्निवारयन् । शोधयन् कृतादागोमलत्वं स विभृयाद् गणम् ॥१७१॥

इति गणोपग्रहणम् ।

गणपोषणमित्यादिपूर्वज्ञाचार्यसत्तमः । ततोऽयं स्वगुरुस्थानसक्रान्तो यत्नवान् भवेत् ॥१७२॥  
अधीतविद्यं तद्विद्यैराहतं मुनिसत्तमैः । योग्यं शिष्यमथाहूय तस्मै स्वं मारमर्पयेत् ॥१७३॥  
गुरोरनुमताद् सोऽपि गुरुस्थातमधिष्ठितः । गुरुवृत्तौ स्वयं तिष्ठन् वर्तयेदखिलं गणम् ॥१७४॥

इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ।

तत्रारोप्य मरं कृत्स्नं काले कस्मिंश्चिद्व्ययः । कुयदिकविहारी स निःसगत्वात्मभावनाम् ॥१७५॥  
निःसगद्वृत्तिरेकाकी विहरन् स महातपाः । चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥  
अपि राग समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतानं संश्रयान्मुद्धि तदाऽश्रयेत् ॥१७७॥

इति निःसगत्वात्मभावना ।

कृत्वैवमात्मसंस्कारं ततः सल्लेखनोद्यतः । कृतात्मछुद्धिरध्यात्मं योगनिर्वाणमानुष्यात् ॥१७८॥

करनेमे जो तत्पर रहता है उसको महर्षियोने गणोपग्रहण नामकी किया मानी है ॥१६८॥  
इस आचार्यको चाहिए कि वह मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओंको समीचीन मार्गमें लगाता हुआ अच्छी तरह संघका पोषण करे ॥१६९॥ उसे यह भी चाहिए कि वह शास्त्र अध्ययनकी इच्छा करनेवालोको दीक्षा देवे और धर्मात्मा जीवोके लिए धर्मका प्रतिपादन करे ॥१७०॥ वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोको प्रेरित करे, दुराचारियोको दूर हटावे और किये हुए स्वकीय अपराधरूपी मलको शोधता हुआ अपने आश्रित गणकी रक्षा करे ॥१७१॥ यह अट्टाईसवी गणोपग्रहण किया है ।

तदनन्तर इस प्रकार संघका पालन करता हुआ वह उत्तम आचार्य अपने गुरुका स्थान प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न सहित हो ॥१७२॥ जिसने समस्त विद्याएँ पढ ली है और उन विद्याओंके जानकार उत्तम-उत्तम मुनि जिसका आदर करते हैं ऐसे योग्य शिष्यको बुलाकर उसके लिए अपना भार सौंप दे ॥१७३॥ गुरुकी अनुमतिसे वह शिष्य श्री गुरुके स्थानपर अधिष्ठित होता हुआ उनके समस्त आचरणोका स्वयं पालन करे और समस्त संघको पालन करावे ॥१७४॥ यह उन्तीसवी स्वगुरु-स्थानावाप्ति क्रिया है ।

इस प्रकार सुयोग्य शिष्यपर समस्त भार सौंपकर जो किसी कालमें दुःखी नहीं होता है ऐसा साधु अकेला विहार करता हुआ 'मेरा आत्मा सब प्रकारके परिग्रहसे रहित है' इस प्रकारकी भावना करे ॥१७५॥ जिसकी वृत्ति समस्त परिग्रहसे रहित है, जो अकेला ही विहार करता है, महातपस्वी है और जो केवल अपने आत्माका ही संस्कार करना चाहता है उसे किसी अन्य पदार्थका संस्कार नहीं करना चाहिए अर्थात् अपने आत्माको छोड़कर किसी अन्य साधु या गृहस्थके सुधारकी चिन्तामें नहीं पड़ना चाहिए ॥१७६॥ शिष्य पुस्तक आदि सब पदार्थोंमें राग छोड़कर और निर्ममत्वभावनामें एकाग्र बुद्धि लगाकर उस समय उसे चारित्र्यकी शुद्धि धारण करनी चाहिए ॥१७७॥ यह तीसवी निःसङ्गत्वात्मभावना क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार अपने आत्माका संस्कार कर जो सल्लेखना धारण करनेके लिए उद्यत हुआ है और जिसने सब प्रकारसे आत्माकी शुद्धि कर ली है ऐसा

योगो ध्यानं<sup>१</sup> तदर्थो यो यत्नः संवेगपूर्वकः । तमाहुर्योगनिर्वाणसंप्राप्तं परमं तपः ॥१७६॥

कृत्वा परिकरं योग्यं तनुशोधनपूर्वकम् । शरीरं कर्शयेद्दोषैः समं रागादिभिस्तदा ॥१८०॥

तदेतद्योगनिर्वाणं संन्यासे पूर्वभावना<sup>२</sup> । जीविताशां मृत्तीच्छां च हित्वा<sup>३</sup> भग्यात्मलब्धये ॥१८१॥

रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च संशयम् । अनात्मीयेषु चात्मीयसंकल्पाद् विरेक्तदा ॥१८२॥

नाहं देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारणम् । तत्त्वस्थेत्यनुद्दिष्टो भवेदन्यत्वभावनाम् ॥१८३॥

अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमनाः सम्यगेकत्वमपि भावयेत् ॥१८४॥

यत्तिमाधाय लोकाग्रं नित्यानन्तसुखास्पदे । भावयेद् योगनिर्वाणं स योगी योगसिद्धये ॥१८५॥

इति निर्वाणसंप्राप्तिः ।

ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगीन्द्रो योगनिर्वाणसाधनाथोद्यतो भवेत् ॥१८६॥

उत्तमार्थे<sup>४</sup> कृतस्थानः<sup>५</sup> संन्यस्ततनुद्वधीः । ध्यायन् मनोवचः काथान्<sup>६</sup> बहिर्भूतान् स्वकान्<sup>७</sup> स्वतः ॥१८७॥

प्रणिधाय<sup>८</sup> मनोवृत्तिं पदेषु<sup>९</sup> परमेष्ठिनाम् । जीवितान्ते स्वसात्कुर्याद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८८॥

योगः समाधिनिर्वाणं तत्कृता चित्तिनिवृत्तिः<sup>१०</sup> । तेनेष्टं साधनं यत्तद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८९॥

इति योगनिर्वाणसाधनम् ।

पुरुष योगनिर्वाण क्रियाको प्राप्त हो ॥१७८॥ योग नाम ध्यानका है उसके लिए जो संवेग-पूर्वक प्रयत्न किया जाता है उस परम तपको योगनिर्वाण संप्राप्ति कहते हैं ॥१७९॥ प्रथम ही शरीरको शुद्ध कर सल्लेखनाके योग्य आचरण करना चाहिए और फिर रागादि दोषोंके साथ शरीरको कृश करना चाहिए ॥१८०॥ जीवित रहनेकी आशा और मरनेकी इच्छा छोड़कर 'यह भग्य है' इस प्रकारका सुयश प्राप्त करनेके लिए संन्यास धारण करनेके पहले भावना की जाती है वह योगनिर्वाण कहलाता है ॥१८१॥ उस समय रागद्वेष छोड़कर कल्याणकी प्राप्तिमें प्रयत्न करना चाहिए और जो पदार्थ आत्माके नहीं है, उनमें 'यह मेरे हैं' इस संकल्पका त्याग कर देना चाहिए ॥१८२॥ न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न इन तीनोंका कारण ही हूँ । इस प्रकार तीनोंके विषयमें उद्विग्न न होकर अन्यत्वं भावनाका चिन्तन करना चाहिए ॥१८३॥ इस संसारमें मैं अकेला हूँ न मेरा कोई है और न मैं भी किसीका हूँ, इस प्रकार उदार चित्त होकर एकत्वभावनाका अच्छी तरह चिन्तन करना चाहिए ॥१८४॥ जो नित्य और अनन्त सुखका स्थान है ऐसे लोकके अग्रभाग अर्थात् मोक्षस्थानमें बुद्धि लगाकर उस योगीको योग ( ध्यान ) की सिद्धिके लिए योग निर्वाण क्रियाकी भावना करनी चाहिए । भावार्थ-सल्लेखनामें बैठे हुए साधुको संसारके अन्य पदार्थोंका चिन्तन न कर एक मोक्षका ही चिन्तन करना चाहिए ॥१८५॥ यह इकतीसवीं योगनिर्वाणसंप्राप्ति क्रिया है ।

तदनन्तर—समस्त आहार और शरीरको छोड़ता हुआ वह योगिराज योगनिर्वाण साधनके लिए उद्यत हो ॥१८६॥ जिसने उत्तम अर्थात् मोक्षपदार्थमें आदर बुद्धि की है, शरीरसे भ्रमत्व छोड़ दिया है और जिसकी बुद्धि उत्तम है ऐसा वह साधु अपने मन, वचन, कायको अपने आत्मासे भिन्न अनुभव करता हुआ अपने मनकी प्रवृत्ति पंचपरमेष्ठियोंके चरणोंमें लगावे और इस प्रकार जीवनके अन्तमें योगनिर्वाण साधनको अपने अधीन करे—स्वीकार करे ॥१८७—१८८॥ योग नाम समाधिक है उस समाधिके द्वारा चित्तको जो आनन्द होता है उसे निर्वाण कहते हैं, चूँकि यह योगनिर्वाण इष्ट पदार्थोंका साधन है—इसलिए इसे योगनिर्वाण साधन कहते हैं ॥१८९॥ यह वत्तीसवीं योगनिर्वाण साधन क्रिया है ।

१ तद् ध्यानम् अर्थः प्रयोजनं यत्नः । २ प्रथमभावना । ३ भग्याङ्कल-ल०, द० । ४ संशयदे ज०, प०, स० । देहमनोवाक्यस्य । ५ संन्यासे । ६ कृतादरः । ७ हिरुभूतात्मकान् न्वतः । ८ पृथग्भूतस्वरूपकान् । ९ एकाग्रं कृत्वा । १० पञ्चपदेषु । १० चित्ताह्लादः ।

तथा योग समावाय कृतप्राणविसर्जनः । इन्द्रोपपादमाप्नोति गते<sup>१</sup> पुण्ये पुरोगताम्<sup>२</sup> ॥१९०॥  
 इन्द्राः स्युद्धिदशाधीनास्तेषुत्पादस्तपोवलात् । यः स इन्द्रोपपादः स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम् ॥१९१॥  
 ततोऽसौ दिव्यशक्त्यायां क्षणादापूर्णयौवनः । परमानन्दसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥१९२॥  
 अणिमाद्रिमिरश्रमिद्युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजान्तरदिव्यसङ्ख्याभिभूषणभूषितः ॥१९३॥  
 दिव्यानुभावस<sup>३</sup> भूतप्रभावं परमुद्वहन् । वोढुष्यते तदाऽस्मीयमेन्द्रं दिव्यावधिविषया ॥१९४॥

इति इन्द्रोपपादक्रिया ।

पर्याप्तमात्र एवायं<sup>४</sup> प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनस्त्रिंशभिषेकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥१९५॥  
 दिव्यसंगीतगादित्रयमङ्गलोद्गीतिनिःस्वनैः । विचित्रैश्चापसरोनृत्तैर्निर्द्वैतेन्द्राभिषेचनः ॥१९६॥  
 ति (कि)रीटमुद्वहन् दीप्तं स्वसाभ्यान्नेकलान्छनम् । सुरकोटिमिरारूढप्रमदैर्जयकारितः ॥१९७॥  
 सङ्घो सद्दंशुको दीप्तो भूषितो दिव्यभूषणैः । ऐन्द्रविष्टरमारूढो महानेव सहीपते ॥१९८॥

इति इन्द्राभिषेकः ।

ततोऽयमानतानेतान् सत्कृत्य सुरसत्तमान् । पद्मे पुस्थापयन् स्वेषु विधिदाने प्रवर्त्तते ॥१९९॥  
 “स्वविमानद्विदानेन प्रीणितैर्विभुजैर्बृहत् । सोऽनुभुङ्क्ते चिरं कालं सुकुली सुखसामरम्” ॥२००॥  
 तदेतद्विधिदानेन्द्रसुखोदयविकल्पितम् । क्रियाद्वयं समाभ्यात् स्वलोकप्रभवोचितम् ॥२०१॥

इति विधिदानसुखोदयो ।

ऊपर लिखे अनुसार योगोका समाधान कर अर्थात् मन, वचन, कायको स्थिर कर जिसने प्राणोका परित्याग किया है ऐसा साधु पुण्यके आगे-आगे चलनेपर इन्द्रोपपाद क्रियाको प्राप्त होता है ॥१९०॥ देवोंके स्वामी इन्द्र कहलाते हैं, तपश्चरणके बलसे उन इन्द्रोंमें जन्म लेना इन्द्रोपपाद कहलाता है । वह इन्द्रोपपादक्रिया अर्हत्प्राणीत-मोक्षमार्गका सेवन करनेवाले जीवोंके ही होती है ॥१९१॥ तदनन्तर वह इन्द्र उसी उपपाद शक्त्यापर क्षण-भरमें पूर्णयौवन हो जाता है और दिव्य तेजसे वेदीप्यमान होता हुआ परमानन्दमे निमग्न हो जाता है ॥१९२॥ वह अणिमा महिमा आदि आठ असाधारण गुणोंसे सहित होता है और साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, दिव्यमाला, तथा मणिमय आभूषणोंसे सुशोभित होता है । दिव्य माहात्म्यसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट प्रभावको धारण करता हुआ वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जान लेता है कि मैं इन्द्रपदमे उत्पन्न हुआ हूँ ॥१९३-१९४॥ यह इन्द्रोपपाद नामकी तैतीसवी क्रिया है ।

पर्याप्तक होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान हो गया है ऐसे इन्द्रका फिर उत्तमदेव लोग इन्द्राभिषेक करते हैं ॥१९५॥ दिव्य संगीत, दिव्य बाजे, दिव्य मंगलगीतोंके शब्द और अप्सराओंके विचित्र नृत्योंसे जिसका इन्द्राभिषेक सम्पन्न हुआ है, जो अपने साम्राज्यके मुख्य चिह्नस्वरूप वेदीप्यमान मुकुटको धारण कर रहा है, हर्षको प्राप्त हुए करोड़ों देव जिसका अयजयकार कर रहे हैं, जो उत्तम मालाएँ और वस्त्र धारण किये हुए हैं तथा वेदीप्यमान वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित है ऐसा वह इन्द्र इन्द्रके पदपर आरूढ़ होकर अत्यन्त पूजाको प्राप्त होता है ॥१९६-१९८॥ यह चौतीसवी इन्द्राभिषेक क्रिया है ।

तदनन्तर नम्रीभूत हुए इन उत्तम-उत्तम देवोंको अपने-अपने पदपर नियुक्त करता हुआ वह इन्द्र विधिदान क्रियामे प्रवृत्त होता है ॥१९९॥ अपने-अपने विमानोंकी श्रद्धा देनेसे सन्तुष्ट हुए देवोंसे घिरा हुआ वह पुण्यात्मा इन्द्र चिरकाल तक देवोंके सुखोंका अनुभव करता है ॥२००॥

१ गते सति । २ अग्रेसरत्वम् । ३ संभूतं ल०, द० । ४ इन्द्रः । ५ निजविमानैश्चर्यवितरणेन । ६ अमरसवन्नि ।

प्रोक्तास्त्वि द्रोपपादामिषेकदानं सुखोदयाः । इन्द्रत्यागाख्यमनुा संप्रवक्ष्ये क्रियान्तरम् ॥२०२॥  
 किञ्चिन्मात्रावशिष्टायां स्वस्थामायुःस्थितौ सुरेत् । बुद्ध्या स्वर्गाचतारं स्वं सोऽनुशास्यमरानिति २०३  
 भो भोः सुधाशाना यूयमस्माभिः पालिताश्चिरम् । केचित् पित्रीयिताः<sup>३</sup> केचित् पुत्रप्रीत्योपलालिताः ॥२०४॥  
 पुरोधोमन्यमात्यानां पुत्रे केचिन्नियोजिताः । वयस्यपीठं मदीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥२०५॥  
 स्वप्राणनिर्विशेषं च<sup>४</sup> केचित् त्राणाय संमताः । केचिन्मान्यपदे दृष्टाः पालकाः<sup>५</sup> स्वर्निवासिनाम् ॥२०६॥  
 केचिन्ममूरस्थाने<sup>६</sup> केचिन् स्वजनास्थया । प्रजासामान्यमन्ये च केचिन्नातुचराः पृथक् ॥२०७॥  
 केचित् परिजनस्थाने केचिन्नान्तःपुरे चराः । काश्चिद् बलमिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥२०८॥  
 इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु दर्शिता । स्वामिमन्त्रिश्च युष्माभिर्मन्यसाधारणी ज्ञता ॥२०९॥  
 सासंप्रतं स्वर्गभोगेषु गतो मन्देच्छतामहम् । प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीरथ भूलोकगोचरा ॥२१०॥  
 युष्मत्साक्षि ततः<sup>७</sup> क्लृप्तं स्वशस्त्राज्यं मन्योज्ञतम् । यश्चान्यो मत्समो भावी तस्मै सर्वं समर्पितम् ॥२११॥  
 इत्यनुत्सुकतां तेषु भावयन्ननुशिष्यं तान् । कुर्वन्निन्द्रपदत्यागं स व्यथां नैति<sup>८</sup> धीरधीः ॥२१२॥  
 इन्द्रत्यागक्रिया सैषा तत्त्वभोगाविसर्जनम् । धीरास्त्यजन्त्यनायासादैशं तादृशमप्यहो ॥२१३॥

इति इन्द्रत्यागः ।

इस प्रकार स्वर्गलोकमें उत्पन्न होनेके योग्य ये विधिदान और इन्द्र सुखोदय नामकी दो क्रियाएँ मानी गयी है ॥२०१॥ ये पैतृसबी और छत्तीसवीं विधिदान तथा सुखोदय क्रियाएँ हैं ।

इस प्रकार इन्द्रोपपाद, इन्द्रामिषेक, विधिदान और सुखोदय ये इन्द्र सम्बन्धी चार क्रियाएँ कही । अब इन्द्रत्याग नामकी पृथक् क्रियाका निरूपण करता हूँ ॥२०२॥ इन्द्र जब अपनी आयुकी स्थिति थोड़ी रहनेपर अपना स्वर्गसे च्युत होना जान लेता है तब वह देवोंको इस प्रकार उपदेश देता है ॥२०३॥ कि भो देवो, मैंने चिरकालसे आपका पालन किया है, कितने ही देवोंको मैंने पिताके समान माना है, कितने ही देवोंको पुत्रके समान बड़े प्रेमसे खिलाया है, कितने ही को पुरोहित, मन्त्री और अमात्यके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने ही को मैंने मित्र और पीठमर्दके समान देखा है । कितने ही देवोंको अपने प्राणोंके समान मानकर उन्हें अपनी रक्षाके लिए नियुक्त किया है, कितने ही को देवोंकी रक्षाके लिए सम्मानयोग्य पद पर देखा है, कितने ही को सेनापतिके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने ही को अपने परिवारके लोग समझा है, कितने ही को सामान्य प्रजाजन् माना है, कितने हीको सेवक माना है, कितने हीको परिजनके स्थानपर और कितने ही को अन्तःपुरमें रहनेवाले प्रतीहारी आदिके स्थानपर नियुक्त किया है । कितनी ही देवियोंको बलभिका बनाया है और कितनी ही देवियोंको महादेवी पदपर नियुक्त किया है, इस प्रकार मैंने आप लोगोंपर असाधारण प्रेम दिखलाया है और आप लोगोंने भी हमपर असाधारण प्रेम धारण किया है ॥२०४-२०९॥ इस समय स्वर्गके भोगोंमें मेरी इच्छा मन्द हो गयी है और निश्चय ही पृथिवी लोककी लक्ष्मी आज मेरे निकट आ रही है ॥२१०॥ इसलिए आज तुम सबकी साक्षीपूर्वक मैं स्वर्गका यह समस्त साम्राज्य छोड़ रहा हूँ और मेरे पीछे मेरे समान जो दूसरा इन्द्र होनेवाला है उसके लिए यह समस्त सामग्री समर्पित करता हूँ ॥२११॥ इस प्रकार उन सब देवोंमें अपनी अनुत्कण्ठा अर्थात् उदासीनताका अनुभव करता हुआ इन्द्र उन सबके लिए शिक्षा दे और धीरवीर बुद्धिका धारक हो, इन्द्र पदका त्याग कर दुःखी न हो ॥२१२॥ इस तरह जो स्वर्गके भोगोंका त्याग करता है वह इन्द्रत्याग क्रिया है । यह भी एक

१ विधिदान । २ स्वराट् प०, ल० । ३ पिता, इवाचरिता । ४ कामाचार्य । ५ समान यथा भवति तथा । ६ लोकपाला इत्यर्थः । ७ सेनापति । ८ तत कारणात् । ९ उपशिष्य । १० न गच्छति ।

अवतारक्रियाऽन्यऽन्या ततः संपरिवर्तते । कृताहंत्पूजनस्यान्ते स्वर्गादिवतरिष्यतः ॥२१४॥  
 'सोऽयं नृजन्मसंप्राप्त्या सिद्धिं' द्रागमिलापुक । चेतः सिद्धनमस्याया<sup>१</sup> समाचरत् सुराधिराट् ॥२१५॥  
 शुभैः षोडशभिः स्वमैः संसूचितमहोदयः । तदा स्वर्गावताराख्यां कल्याणीमश्नुते क्रियाम् ॥२१६॥

इति इन्द्रावतारः ।

ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगुहोपमे । जनयित्र्या<sup>२</sup> महादेव्या श्रीदेवीमिर्विशोभिते ॥२१७॥  
 हिरण्यद्विष्टं धनदे प्राक् पण्मासान् प्रवर्षति । 'अन्वायाऽन्यामिवानन्दात् स्वर्गसंपदि भूतलम् ॥२१८॥  
 अमृतशसने<sup>३</sup> मन्दमावाति व्याससौरभे<sup>४</sup> । भूदेव्या इव निःश्वासे प्रकलसे पवनामरैः<sup>५</sup> ॥२१९॥  
 दुन्दुभिध्वनिते मन्त्रसुस्थिते पथि वार्ष्णिचाम् । अकालस्तनिताशङ्कामातन्वति शिखण्डिनाम् ॥२२०॥  
 मन्दारलज्जममृनिमामोदाहृतषट्पदाम् । मुञ्चत्सु गुह्यकाख्येषु<sup>६</sup> निकायेष्वमृताशिनाम् ॥२२१॥  
 देवीपुष्पचरन्तीषु देवी भुवनमातरम् । लक्ष्म्या समं<sup>७</sup> समागत्य श्रीह्रीं धीष्टतिकीर्तिषु ॥२२२॥  
 कस्मिंश्चिद् सुकृतावासे<sup>८</sup> पुण्ये राजर्षिमन्दिरे । हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मताम् ॥२२३॥  
 हिरण्यसूचितोत्कृष्टजन्यत्वात् स तथाश्रुतिम्<sup>९</sup> । विभ्राणां तां क्रियां घत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिवोधभृत् ॥२२४॥  
 इति हिरण्यजन्मता ।

आश्चर्यकी बात है कि धीरवीर पुरुष स्वर्गके वैसे ऐश्वर्यकी भी बिना किसी कष्टके छोड़ देते हैं ॥२१३॥ इस प्रकार यह सैतीसवीं इन्द्रत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर—जो इन्द्र आयुके अन्तमे अरहन्तदेवका पूजन कर स्वर्गसे अवतार लेना चाहता है उसके आगेकी अवतार नामकी क्रिया होती है ॥२१४॥ मैं मनुष्य-जन्म पाकर बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त किया चाहता हूँ यही विचार कर वह इन्द्र अपना चित्त सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार करनेमे लगाता है ॥२१५॥ गुप्त सोलह स्वप्नोके द्वारा जिसने अपना बड़ा भारी अभ्युदय — माहात्म्य सूचित किया है ऐसा वह इन्द्र उस समय कल्याण करनेवाली स्वर्गावतार नामकी क्रियाको प्राप्त होता है ॥२१६॥ यह अठतीसवीं इन्द्रावतार क्रिया है ।

तदनन्तर — वे माता महादेवीके श्री आदि देवियोंके द्वारा बुद्ध किये हुए रत्नमय गर्भागारके समान गर्भमे अवतार लेते हैं ॥२१७॥ गर्भमे आनेके छह महीने पहलेसे जब कुबेर घरपर रत्नोकी वर्षा करने लगता है और वह रत्नोकी वर्षा ऐसी जान पड़ती है मानो आनन्दसे स्वर्गकी सम्पदा ही भगवान्‌के साथ-साथ पृथिवीतलपर आ रही हो, जब अमृतके समान सुख देनेवाली वायु मन्द-मन्द बहकर सब दिशाओमे फैल रही हो तथा ऐसी जान पड़ती हो मानो पवनकुमार देवोके द्वारा निर्माण किया हुआ पृथिवीरूपी देवोका निःश्वास ही हो, जब आकाशमे उठी हुई — फैली हुई दुन्दुभि बाजोकी गम्भीर आवाज मयूरोको असमय<sup>१</sup> मे होनेवाली मेघगर्जनाकी शका उत्पन्न कर रही हो, जब गुह्यक नामके देवोके समूह कभी म्लान न होनेवाली और सुगन्धिके कारण भ्रमरोको अपनी ओर खींचनेवाली कल्पवृक्षके फूलों-की मालाओको बरसा रहे हो । और जब श्री, ह्री, वृद्धि, धृति और कीर्ति नामकी देवियाँ लक्ष्मी-के साथ आकर स्वयं जगन्माता महादेवीकी सेवा कर रही हो उस समय पुण्यके निवासभूत किसी पवित्र राजमन्दिरमे वे हिरण्यगर्भ भगवान् हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हैं ॥२१८—२२३॥ जो गर्भमे स्थित रहते हुए भी तीन ज्ञानको धारण करनेवाले हैं ऐसे भगवान्, हिरण्य

१ शोऽह ल० । २ इति । ३ नमस्कारे । ४ समाहित कुशले । ५ गच्छति । ६ जनन्या । 'जनयित्रौ प्रसूयता जननी' इत्यभिधानात् । ७ श्रीह्रीं वृत्त्यादिभि । ८ सहजगच्छत्याम् । ९ अमृतवदाह्लादकरमास्ते । १० ग्याप्तमास्ते ल० । ११ वायुकुमार । १२ देवभेदेषु । १३ स्वयं ल० । १४ पुण्यस्थाने । १५ हिरण्यो-त्कृष्टजन्मताभिधानम् ।

विश्वेश्वरा जगन्माता महादेवी महासती । पूज्या सुमङ्गला चेति धत्ते रूढिं जिनाम्बिका ॥२२५॥

कुलाद्रिनिलया देव्यः श्रीह्रीघीघृतिर्कीर्तयः । समं लक्ष्म्या षडेताश्च संमता जिनमातृकाः ॥२२६॥

जन्मानन्तरमायातैः सुरेन्द्रैर्मैरुमूर्दजि । योऽभिषेकविधिः क्षीरपयोधेः शुचिर्मिर्जलैः ॥२२७॥

मन्दरेन्द्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिनः । सा पुनः सुप्रतीतत्वाद् भूयो नेह प्रतन्यते ॥२२८॥

इति मन्दरेन्द्राभिषेकः ।

ततो विद्योपदेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयंभुवः । गिष्यमावव्यतिक्रान्तिं गुरुपूजोपलम्भनम् ॥२२९॥

तदेन्द्राः पूजयन्त्येनं त्रावारं त्रिजगद्गुरुम् । अशिक्षितोऽपि देवत्वं संमतोऽसीति विस्मिताः ॥२३०॥

इति गुरुपूजनम् ।

ततः कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलम्भनम् । पट्टेन चोऽभिषेकश्च तदास्य स्यान्महौजसः ॥२३१॥

इति यौवराज्यम् ।

स्वराज्यमधि राज्योऽभिषिक्तस्यास्य क्षितीश्वरः । शासतः साणवांसनां श्रितिमप्रलिङ्गसनाम् ॥२३२॥

इति स्वराज्यम् ।

चक्रलामो भवेदस्य निधिरत्नसमुद्भवे । निजप्रकृतिभिः पूजा सामिपेकाऽधिराडिति ॥२३३॥

इति चक्रलामः ।

अर्थात् सुवर्णकी वपसि जन्मकी उत्कृष्टता सूचित होनेके कारण हिरण्योत्कृष्ट जन्म इस सार्थक नामकी धारण करनेवाली क्रियाको धारण करते हैं ॥२२४॥ यह उनतालीसवी हिरण्योत्कृष्ट-जन्मता क्रिया है ।

उस समय वह भगवान्की माता विश्वेश्वरी, जगन्माता, महादेवी, महासती, पूज्या और सुमङ्गला इत्यादि नामोको धारण करती है ॥२२५॥ कुलाचलोपर रहनेवाली श्री, ह्री, बुद्धि, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी ये छह देवियाँ जिनमातृका अर्थात् जिनमाताकी सेवा करनेवाली कहलाती हैं ॥२२६॥ जन्मके अनन्तर आये हुए इन्द्रोके द्वारा मेरु पर्वतके मस्तक पर क्षीरसागरके पवित्र जलसे भगवान्का जो अभिषेक किया जाता है वह उन परमेष्ठिकी मन्दराभिषेक किया है । वह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है इसलिए यहाँ उसका फिरसे विस्तार नहीं किया जाता है ॥२२७-२२८॥ यह चालीसवी मन्दराभिषेक क्रिया है ।

तदनन्तर स्वतन्त्र और स्वयम्भू रहनेवाले भगवान्के विद्याओको उपदेश होता है । वे शिष्यभावके बिना ही गुरुकी पूजाको प्राप्त होते हैं अर्थात् किसीके शिष्य हुए बिना ही सबके गुरु कहलाने लगते हैं ॥२२९॥ उस समय इन्द्र लोग आकर हे देव, आप अशिक्षित होनेपर भी सबको मान्य है इस प्रकार आश्चर्यको प्राप्त होते हुए सबकी रक्षा करनेवाले और तीनों जगत्के गुरु भगवान्की पूजा करते हैं ॥२३०॥ यह इक्तालीसवी गुरुपूजन क्रिया है ।

तदनन्तर कुमारकाल आनेपर उन्हें युवराजपदकी प्राप्ति होती है, उस समय महा-प्रतापवान् उन भगवान्के राज्यपट्ट बाँधा जाता है और अभिषेक किया जाता है ॥२३१॥ यह बयालीसवी यौवराज्य क्रिया है ।

तत्पश्चात् समस्त राजाओने राजाधिराज (सम्राट्)के पदपर जिनका अभिषेक किया है और जो दूसरेके शासनसे रहित इस समुद्र पर्यन्तकी पृथिवीका शासन करते हैं ऐसे उन भगवान्के स्वराज्यकी प्राप्ति होती है ॥२३२॥ यह तैतालीसवी स्वराज्य क्रिया है ।

इसके बाद निधियो और रत्नोकी प्राप्ति होनेपर उन्हें चक्रूकी प्राप्ति होती है उस समय

१ विश्वेश्वरी ल० । २ गिष्यत्वाभाव । ३ गुरुपूजाप्राप्ति । स्वस्य स्वयमेव गुरुरिति भाव । ४ पूजयन्त्येत ल०, द० । ५ रक्षत । ६ आत्मीयप्रजापरिवारै ।

दिशाजयः स विजेष्यो योऽस्य दिग्विजयोद्यमः । चक्ररत्नं पुरस्कृत्य जयतः सार्णवां महीम् ॥२३४॥

इति दिशाजयः ।

सिद्धदिग्विजयस्यास्य स्वपुरातुप्रवेशने । क्रिया चक्राभिषेकाद्वा साऽधुना संप्रकीर्त्यते ॥२३५॥

चक्ररत्नं पुरोधाया प्रविष्ट. स्वं निकेतनम् । पारार्थ्यविमवोपेतं स्वर्विमानपहासि यत् ॥२३६॥

तत्र क्षणमिवास्तीने<sup>१</sup> रम्ये प्रमदमण्डपं । चामरैर्वीज्यमानोऽयं सनिर्द्धर इचाद्रिराट् ॥२३७॥

संपूज्य निधिरत्नानि<sup>२</sup> कृतचक्रमहोत्सवः । दत्त्वा किमिच्छकं दानं मान्यान्<sup>३</sup> संमान्य पार्थिवान् ॥२३८॥

ततोऽभिषेकसामोति पार्थिवैर्महितान्वयैः । नान्दीतुर्येषु गम्भीरं प्रध्वनत्सु सहस्रश ॥२३९॥

यथावदभिषिक्तस्य तिरीटारोपणं ततः । क्रियते पार्थिवैर्मूर्खैश्चतुर्भिः प्रथितान्वयैः ॥२४०॥

महाभिषेकसामग्र्या कृतचक्राभिषेचनः । कुतमङ्गलनेपथ्यः<sup>४</sup> पार्थिवैः प्रणतोऽमितः ॥२४१॥

तिरीटं स्फुटरत्नांशु जटिलीकृतदिसुदृक्<sup>५</sup> । दधानश्चक्रसाभ्राज्यककुटं<sup>६</sup> नृपपुङ्गवा. ॥२४२॥

रत्नांशुच्छुरितं<sup>७</sup> विभ्रत् कर्णाभ्यां कुण्डलद्वयम् । यद्वाग्देव्याः समाक्रीडारथं चक्रद्वयायितम् ॥२४३॥

तारालितरलस्यूलमुक्ताफलसुरोगृहे । धारयन् हारमाण्डमिव मङ्गलतोरणम् ॥२४४॥

समस्त प्रजा उन्हें राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेकसहित पूजा करती है ॥२३३॥ यह चक्रलाभ नामकी चौवालीसवी क्रिया है ।

तदनन्तर चक्ररत्नको आगे कर समुद्रसहित समस्त पृथिवीको जीतनेवाले उन भगवान्का जो दिशाओको जीतनेके लिए उद्योग करना है वह दिशाजय कहलाता है ॥२३४॥ यह दिशाजय नामकी पैतालीसवी क्रिया है ।

जब भगवान् दिग्विजय पूर्ण कर अपने नगरमें प्रवेश करने लगते हैं तब उनके चक्राभिषेक नामकी क्रिया होती है । अब इस समय उसी क्रियाका वर्णन किया जाता है ॥२३५॥ वे भगवान् चक्ररत्नको आगे कर अपने उस राजभवनमें प्रवेश करते हैं जो कि बहुमूल्य वैभवसे सहित होता है और स्वर्गके विमानोंकी हँसी करता है ॥२३६॥ वहाँपर वे मनोहर आनन्दमण्डपमें क्षण-भर विराजमान होते हैं । उस समय उनपर चमर ढुलाये जाते हैं जिससे वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो निर्द्धरनोसहित सुमेरु पर्वत ही हों ॥२३७॥ उस समय वे निधियों और रत्नोंकी पूजा कर चक्र प्राप्त होनेका बड़ा भारी उत्सव करते हैं, किमिच्छक दान देते हैं और माननीय राजाओंका सन्मान करते हैं ॥ २३८॥ तदनन्तर तुरही आदि हजारों मागलिक वाजोंके गम्भीर शब्द करते रहनेपर वे उत्तम-उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए राजाओंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते हैं ॥२३९॥ तदनन्तर — विधिपूर्वक जिनका अभिषेक किया गया है ऐसे उन भगवान्के मस्तकपर प्रसिद्ध प्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न हुए मुख्य चार राजाओंके द्वारा मुकुट रखा जाता है ॥२४०॥ इस प्रकार महाभिषेककी सामग्रीसे जिनका चक्राभिषेक किया गया है, जिन्होंने मागलिक वेष धारण किया है, जिन्हें चारों ओरसे राजा लोग नमस्कार कर रहे हैं, जो देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले तथा चक्रवर्तिक साम्राज्यके चिह्नस्वरूप मुकुटको धारण कर रहे हैं, राजाओंमें श्रेष्ठ है, जो अपने दोनों कानोंमें रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त तथा सरस्वतीके क्रीडारथके पहियोंकी शोभा देनेवाले दो कुण्डलोंको धारण कर रहे हैं, जो वक्षस्थल-रूपी घरके सामने खड़े किये हुए मागलिकतोरणके समान सुशोभित होनेवाले और ताराओंकी

१ क्षणपर्यन्तमेव । २ विहितचक्रपूजन । ३ संपूज्य । ४ अलंकार । ५ चिह्नं प्रधानं वा । ६ प्राधाने राजलङ्घे च नृपाङ्गो ककुवोऽस्त्रियामित्यभिधानात् । ७ क्रीडानिमित्तस्पन्दन ।



विलसद्महासूत्रेण प्रविभक्ततनूतः । तटनिर्झरसंपातरम्यमूर्तिरिवाद्रिपः ॥२४५॥  
 सद्रत्नकटकं प्रोचैः शिखरं भुजयोर्युगम् । द्वाधिमश्लाघि विभ्राणः<sup>१</sup> कुलक्षमाप्रद्वयायितम् ॥२४६॥  
 कटिमण्डलसंसक्तलसत्काञ्चीपरिच्छदः । महाद्वीप इवोपान्तरत्नवेदीपरिष्कृतः<sup>२</sup> ॥२४७॥  
 मन्दारकुसुमामोदलशालिकुलझङ्कृतैः । किमप्यारब्धसंगीतमिव शेखरमुद्वहन् ॥२४८॥  
 तलकालोचितमन्यच्च दधनमङ्गलभूषणम् । स तदा लक्ष्यते साक्षात्तस्याः पुञ्ज इवोच्छिखः ॥ ४९॥  
 प्रीताश्राभिष्टुचन्येन तदामी नृपसत्तमाः । विश्वंजयो द्विशां जेता दिव्यमूर्तिर्मवानिति ॥२५०॥  
 पौराः प्रकृतिमुल्याश्च कृतपादाभिपेचनाः । तत्कर्मार्चनमादाय कुर्वन्ति स्वशिरोष्ठतम् ॥२५१॥  
 श्रीदेव्यश्च सरिरेष्ट्यो<sup>३</sup> देव्यो विश्वेश्वरा अपि । समुपेत्य नियोगैः स्वैस्त्वदैर्न पृथुपासते ॥२५२॥

इति चक्राभिषेकः ।

चक्राभिषेक इत्येकः समाख्यातः क्रियाविधिः । तदनन्तरमस्य स्थात् साम्राज्याख्यं क्रियान्तरम् ॥२५३॥  
 अपरेष्टुर्दिनारम्भे धृतपुण्यप्रसाधनः<sup>४</sup> । मध्ये महानृपसमं<sup>५</sup> नृपासनमधिष्ठितः ॥२५४॥  
 दीप्तैः प्रकीर्णकघ्रातैः स्वर्धुनीसीकरोज्ज्वलैः । वारनारीकराधूतैर्वाज्यमानः समन्ततः ॥२५५॥  
 सेवागताः पृथिव्यादिदेवताकैः<sup>६</sup> परिष्कृतः । धृतिप्रशान्तदीप्त्योजो निर्मलत्वोपमा<sup>७</sup> दिभिः ॥२५६॥

पवित्रतः समान चचल तथा बड़े-बड़े मोतियोंसे युक्त हार धारण किये हुए है, शोभायमान यज्ञो-  
 पवीतसे जिनके शरीरकी उच्चता प्रकट हो रही है और इसी कारण जो तटपर पड़ते हुए  
 निर्झरनोसे सुन्दर आकारवाले सुमेरु पर्वतके समान जान पड़ते हैं, जो रत्नोंके कटक अर्थात् कडो  
 ( पक्षमे रत्नमय मध्यभाग ) से सहित, ऊँचे-ऊँचे शिखरों अर्थात् कन्धों ( पक्षमें चौटियों ) से  
 युक्त, लम्बाईसे सुशोभित और इसलिए ही दो कुलाचलोके समान आचरण करनेवाली दो  
 भुजाओंको धारण कर रहे हैं, जिनकी कमरपर देदीप्यमान करधनी सटी हुई है और उससे जो  
 ऐसे जान पड़ते हैं मानो चारों ओरसे रत्नमयी वेदीके द्वारा घिरा हुआ कोई महाद्वीप ही हो, जो  
 मन्दार वृक्षके फूलोंकी सुगन्धिके कारण आकर लगे हुए भ्रमरोंके समूहकी झकारोसे कुछ गाते  
 हुएके समान सुशोभित होनेवाले शेखरको धारण कर रहे हैं तथा उस कालके योग्य अन्य-अन्य  
 मांगलिक आभूषण धारण किये हुए हैं ऐसे वे भगवान् उस समय ऐसे जान पड़ते हैं मानो  
 जिसकी शिक्षा ऊँची उठ रही है ऐसा साक्षात् लक्ष्मीका पुत्र ही हो ॥२४१-२४९॥ उस समय  
 अन्य उत्तम-उत्तम राजा लोग सन्तुष्ट होकर उनकी इस प्रकार स्तुति करते हैं कि आपने समस्त  
 संसारको जीत लिया है, आप दिशाओंको जीतनेवाले हैं और दिव्यमूर्ति हैं ॥२५०॥ नगरनिवासी  
 लोग तथा मन्त्री आदि मुख्य-मुख्य पुरुष उनके चरणोंके अभिषेक करते हैं और उनका चरणोदक  
 लेकर अपने-अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥२५१॥ श्री ह्रीं आदि देवियाँ, गंगा सिन्धु  
 आदि देवियाँ तथा विष्वेस्वरा आदि देवियाँ अपने-अपने नियोगोंके अनुसार आकर उस समय  
 उनकी उपासना करती हैं ॥२५२॥ यह चक्राभिषेक नामकी छियालीसवी क्रिया है ।

इस प्रकार उनकी यह एक चक्राभिषेक नामकी क्रिया कही । अब इसके बाद साम्राज्य  
 नामकी दूसरी क्रिया कहते हैं ॥२५३॥ दूसरे दिन प्रातः कालके समय जिन्होंने पवित्र आभूषण धारण  
 किये हैं, जो बड़े-बड़े राजाओंकी सभाके बीचमें राजसिंहासनपर विराजमान हैं, जिनपर देदीप्यमान  
 गंगा नदीके जलके छोटोके समान उज्ज्वल और गणिकाओंके हाथसे हिलाये हुए चमर चारों  
 ओरसे ढुल्लाय जा रहे हैं, जो धृति, शान्ति, दीप्ति, ओज और निर्मलताको उत्पन्न करनेवाले

१ देवैर्न श्लाघि । २ परिवेष्टित । ३ ईषद् । ४ गङ्गादेव्यादयः । ५ पवित्रालंकार । ६ महानृपसभायाः मध्ये ।  
 ७ पृथिव्यप्तेजोवायुगगनाधिदेवताविक्रियाशरीरैः इत्यर्थः । ८ भूषितः । ९ बलम् । 'ओजो दीप्ती बले'  
 इत्यभिधानात् । १० उत्पादकैः ।

तान् प्रजानुग्रहे नित्यं समानानेन योजयन् । संमानदानविश्रम्भैः<sup>३</sup> प्रकृतीरनुरञ्जयन् ॥२५७॥  
 पार्थिवान् प्रणतान् यूयं न्यायैः पालयत प्रजाः । अन्यायेषु<sup>४</sup> प्रवृत्ताश्चेद् वृत्तिलोपो<sup>५</sup> ध्रुवं हि वः ॥२५८॥  
 न्यायश्च द्वितयो दुष्टसिग्रहः शिष्टपालनम् । सोऽयं सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेऽर्थरः ॥२५९॥  
 दिव्यास्त्रदेवताश्चमुराराध्याः स्युर्विधानतः । तामिस्तु सुप्रसन्नाभिरवश्यं<sup>६</sup> मानुको जयः ॥२६०॥  
 राजवृत्तिमिमां सन्यक् पालयन् रतन्द्रितैः । प्रजासु वर्तितव्यं भो भवन्निन्द्यायवर्त्मना ॥२६१॥  
 पालयेच्च इमं धर्मं सं धर्मविजयी भवेत् । क्ष्मां जयेद् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायर्जाविकः ॥२६२॥  
 इहैव<sup>७</sup> स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः । असुग्राभ्युदयावाप्तिः क्रमात् त्रैलोक्यनिर्जयः ॥२६३॥  
 इति भूयोऽनु शिष्यैतान् प्रजापालनसंविधौ । स्वयं च<sup>८</sup> पालयत्येतान् योगक्षेमानुचिन्तनैः ॥२६४॥  
 तदिदं तस्य साम्राज्यं नाम धर्म्यं क्रियान्तरम् । येनानुपालितेनायमिहासुत्रं च नन्दति ॥२६५॥

इति साम्राज्यम् ।

एवं प्रजाः प्रजापालनपि पालयतश्चिरम् । काले कस्मिंश्चिदुत्पन्नयोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ॥२६६॥

पृथिवी आदि देवताओंके अंशसे अर्थात् उनके वैक्रियिक शरीरसे हैं, जो उन देवताओंको समाधानपूर्वक निरन्तर प्रजाके उपकार करनेमें लगा रहे हैं और आदर सत्कार, दान तथा विद्वान् आदिसे जो मन्त्री आदि प्रमुख कार्यकर्ताओंको आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज नमस्कार करते हुए राजाओंको इस प्रकार शिक्षा देते हैं कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो, यदि अन्यायमें प्रवृत्ति रखोगे तो अवश्य ही तुम्हारी वृत्तिका लोप हो जावेगा ॥२५४-२५८॥ न्याय दो प्रकारका है - एक दुष्टोका निग्रह करना और दूसरा शिष्ट पुरुषोंका पालन करना । यह क्षत्रियोका सनातन धर्म है । राजाओंको इसकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिए ॥२५९॥ ये दिव्य अस्त्रोंके अधिष्ठाता देव भी विधिपूर्वक आराधना करने योग्य हैं क्योंकि इनके प्रसन्न होनेपर युद्धमें विजय अवश्य ही होती है ॥२६०॥ इस राजवृत्तिका अच्छी तरह पालन करते हुए आप लोग आलस्य छोड़कर प्रजाके साथ न्याय-मार्गसे बर्ताव करो ॥२६१॥ जो राजा इस धर्मका पालन करता है- वह धर्मविजयी होता है क्योंकि जिसने अपना आत्मा जीत लिया है तथा न्यायपूर्वक जिसकी आजीविका है ऐसा क्षत्रिय ही पृथिवीको जीत सकता है ॥२६२॥ इस प्रकार न्यायपूर्वक बर्ताव करनेसे इस संसारमें यशका लाभ होता है, महान् वैभवके साथ साथ पृथिवीकी प्राप्ति होती है, और परलोकमें अभ्युदय अर्थात् स्वर्गकी प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे वह तीनो लोकोंको जीत लेता है अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लेता है ॥२६३॥ इस प्रकार वे महाराज प्रजापालनकी रीतियोंके विषयमें उन राजाओंको बार-बार शिक्षा देते हैं तथा योग और क्षेमका बार-बार चिन्तन करते हुए उनका स्वयं पालन करते हैं ॥२६४॥ इस प्रकार यह उनकी धर्मसहित साम्राज्य नामकी वह क्रिया है जिसके कि पालन करनेसे यह जीव इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें समृद्धिको प्राप्त होता है ॥२६५॥ यह सैता-लीसवी साम्राज्य क्रिया है ।

इस प्रकार बहुत दिन तक प्रजा और राजाओंका पालन करते हुए उन महाराजके किसी समय भेदविज्ञान उत्पन्न होनेपर दीक्षा ग्रहण करनेके लिए उद्यम होने लगता है ॥२६६॥

१ पृथिव्यादिदेवताशान् । २ स्नेहै विद्वान्मैर्वा । ३ प्रवृत्तिश्चेत् ५०, ८०, ६० ४ निजनिजराज्यलोपो भवति । ५ नियमेन भवति । ६ एवं सति । ७ शिक्षा कृत्वा । ८ पालयत्येतान् ८०, ५०, ६० । ९ साम्राज्य-नामक्रियान्तरेण ।

संपा निष्क्रान्तिरस्येष्टा क्रिया राज्याद् विरज्यतः । लौकान्तिकामरैर्युयो वोधितस्य समागतैः ॥२६७॥  
 कृतराज्यार्पणो ज्येष्ठे सूनौ<sup>१</sup> पार्थिवसाक्षिकम् । संतानपालने चास्य करोतीत्यनुगामनम् ॥२६८॥  
 त्वया न्यायधनेनाङ्ग भवितव्यं प्रजाधृतौ । प्रजा कामदुष्टा भैरुमता न्यायेन योजिता ॥२६९॥  
 राजवृत्तमिदं विद्धि अन्यन्यायेन धनार्जनम् । वर्धनं रक्षणं चास्य तीर्थं च प्रतिपादनम् ॥२७०॥  
 प्रजानां पालनार्थं च मतं मत्पुत्रपालनम् । मतिर्हिनाहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥२७१॥  
 ततः<sup>२</sup> कृतेन्द्रियजयो वृद्धसंयोगसंपदा । धर्मार्थं ग्राह्यविज्ञानात् प्रज्ञां संस्कर्तुमर्हसि ॥२७२॥  
 अन्यथा विमत्तिर्भूयो<sup>३</sup> युक्तायुक्तानभिज्ञकः । अन्यथाऽन्यैः प्रणेत्य<sup>४</sup> स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धतैः ॥२७३॥  
 कुलानुपालने चायं महान्तं यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्दृष्टैर्दूष्येन कुलम् ॥२७४॥  
 तथायमात्मरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षितं हि भवेत् सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ॥२७५॥  
 अपायो हि सपत्नेभ्यो<sup>५</sup> नृपस्थारक्षितात्मनः । आत्मानुजीविवर्गाच्च मुदलुब्धविमानितात्<sup>६</sup> ॥२७६॥  
<sup>१</sup> तस्माद् रसदतीक्ष्णादीनपायानरियोजितात्<sup>७</sup> । परिहृत्य निर्जरिष्टैः स्वं प्रयत्नेन पालयेत् ॥२७७॥  
 स्यात् समञ्जसद्वैतत्वमप्यस्यात्माभिरक्षणे<sup>८</sup> । असमञ्जसवृत्ता हि निर्जरप्यभिभूयते ॥२७८॥

जो राज्यसे विरक्त हो रहे हैं और आये हुए लौकान्तिक देव जिन्हें बार-बार प्रबोधित कर रहे हैं ऐसे उन भगवान्‌की यह निष्क्रान्त नामकी क्रिया कही जाती है ॥२६७॥ वे समस्त राजाओंकी साक्षीपूर्वक अपने वड़े पुत्रके लिए राज्य सौंप देते हैं और संतान-पालन करनेके लिए उसे इस प्रकार शिक्षा देते हैं ॥२६८॥ हे पुत्र, तुझे प्रजाके पालन करनेमें न्यायरूप धनसे मुक्त होना चाहिए अर्थात् तू न्यायकी ही धन समझ, क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु गायके समान मानी गयी है ॥२६९॥ हे पुत्र, तू इसे ही राजवृत्त अर्थात् राजाओंका कर्तव्य समझ कि न्यायपूर्वक धन क्रमाना, उसकी वृद्धि करना, रक्षा करना तथा तीर्थस्थान अथवा योग्य पात्रोंका देना ॥२७०॥ प्रजाका पालन करनेके लिए सबसे अपनी बुद्धिकी रक्षा करनी चाहिए, इस लोक और परलोक दोनों लोकसम्बन्धी पदार्थोंके विषयमें हित तथा अहितका ज्ञान होना ही मति कहलाती है ॥२७१॥ इसलिए वृद्ध मनुष्योंकी संगतिरूपी सम्पदासे इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर तुम धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके ज्ञानसे अपनी बुद्धिको सुसंस्कृत बनानेके योग्य हो अर्थात् बुद्धिके अच्छे संस्कार बनाने ॥२७२॥ यदि राजा इससे विपरीत प्रवृत्ति करेगा तो वह हित तथा अहितका जानकार न होनेसे बुद्धिभ्रष्ट हो जावेगा और ऐसी दशामें वह मिथ्याज्ञानके अंश मात्रसे उद्धत हुए अन्य कुमार्गगामियोंके बराब हो जावेगा ॥२७३॥ राजाओंको अपने कुलकी मर्यादा पालन करने के लिए बहुत भारी प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि जिसे अपनी कुलमर्यादाका ज्ञान नहीं है वह अपने दुराचारीसे कुलको दूषित कर सकता है ॥२७४॥ इसके सिवाय राजाको अपनी रक्षा करनेमें भी सदा यत्न करते रहना चाहिए क्योंकि अपने आपके सुरक्षित रहनेपर ही अन्य सब कुछ सुरक्षित रह सकता है ॥२७५॥ जिसने अपने आपकी रक्षा नहीं की है ऐसे राजाका शत्रुओंसे तथा क्रोधी, लोभी और अपमानित हुए अपने ही सेवकोंसे बिनाग हो जाता है ॥२७६॥ इसलिए शत्रुओंके द्वारा किये हुए प्रारम्भमे सरल किन्तु फलकालमे कठिन अपायोका परिहार कर अपने इष्ट वर्गोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥२७७॥ इसके सिवाय

१ प्रजापती निमित्तम् । २ धनस्य । ३ पात्रे । ४ निजवृद्धिरक्षणम् । ५ तत् कारणात् । ६ नीतिग्राह्य । ७ भूयो इ०, प०, स० । ८ वक्ष्य । ९ दायामेभ्यः शत्रुभ्यो वा । १० तिरस्कृतात् । ११ तस्मात् कारणात् । १२ रसतामसादं कुर्वतामकटुकादीन् रसनकाले अनुभवनकाले स्वादुरसप्रदानं विपाककाले कटुकानिग्रह्य । १३ आत्मरक्षानिमित्तम् । - त्मादिरक्षणे अ०, प०, द० ।

समञ्जसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमे क्षिता<sup>१</sup> । आनुशंस्यमवाग्दण्डपारुष्यादिविशेषितम् ॥२७९॥  
 ततो जितारिषद्वर्गः स्वां वृत्तिं पालयन्निमाम् । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेत्य<sup>२</sup> चेह च नन्दति ॥२८०॥  
 समं समञ्जसत्वेन कुलमत्यात्मपालनम् । प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिताम् ॥२८१॥  
 ततः क्षात्रमिमं धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये यमो धर्मं विजयं च<sup>३</sup> त्वमानुहि ॥२८२॥  
 प्रशातधीः समुपबवोधिरित्यनुशिष्य तम्<sup>४</sup> । परिनिष्कान्तिकदयाणे सुरेन्द्रैरभिपूजितः ॥२८३॥  
 महादानमथो दत्त्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिनिष्कामति गृहाद् वनम्<sup>५</sup> ॥२८४॥  
 धौरेयैः पार्थिवैः किञ्चित् समुत्थिसां महीतलात् । स्कन्धाधिरोगितां शूयः सुरेन्द्रैर्मक्तिभिर्भरैः ॥२८५॥  
 आरूढः शिबिकां दिव्यां दीसरत्नविनिर्मिताम् । विमानवसतिं मानोरिवाऽऽयातां महीतलम् ॥२८६॥  
 पुरस्सरेषु निःशेषनिरुद्धव्योमवीथिषु । सुरासुरेषु तन्वत्सु सन्दिग्धार्कप्रभं नमः ॥२८७॥  
 अस्थितेषु संप्रीत्या पार्थिवेषु ससंभ्रमम् । कुमारमग्रतः कृत्वा प्रासराज्यं नवोदयम् ॥२८८॥  
 अनुयायिनि तत्प्रायादिव मन्दीमभवद्भुतौ । निषीनां सह रत्नानां सन्दीपेऽभ्यर्णसंक्षये ॥२८९॥

राजाको अपनी तथा प्रजाको रक्षा करनेमें समजसवृत्ति अर्थात् पक्षपातरहित होना चाहिए क्योंकि जो राजा असमजसवृत्ति होता है, वह अपने ही लोगोके द्वारा अपमानित होने लगता है ॥२७८॥ समस्त प्रजाको समान रूपसे देखना अर्थात् किसीके साथ पक्षपात नहीं करना ही राजाका समजसत्व गुण कहलाता है। उस समजसत्व गुणमें क्रूरता या घातकपना नहीं होना चाहिए और न कठोर वचन तथा दण्डकी कठिनता ही होनी चाहिए ॥२७९॥ इस प्रकार जो राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरंग शत्रुओको जीतकर अपनी इस वृत्तिका पालन करता हुआ स्वकीय राज्यमें स्थिर रहता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोमें समृद्धिवान् होता है ॥२८०॥ पक्षपातरहित होकर सबको एक समान देखना, कुलकी समर्यादाकी रक्षा करना, बुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका पालन करना यह सब राजाओंकी वृत्ति कहलाती है ॥२८१॥ इसलिए हैं पुत्र, ऊपर कहे हुए इस क्षात्रधर्मकी रक्षा करता हुआ तू राज्यमें स्थिर रहकर अपना यश, धर्म और विजय प्राप्त कर ॥२८२॥ जिनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त है और जिन्हें भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भगवान् ऊपर लिखे अनुसार पुत्रको शिक्षा देकर दीक्षाकल्याणके लिए इन्द्रोके द्वारा पूजित होते हैं ॥२८३॥ अथानन्तर महादान देकर साम्राज्यपदको छोड़ते हुए वे राजाधिराज राजर्षि घरसे वनके लिए निकलते हैं ॥२८४॥ प्रथम ही मुख्य-मुख्य राजा लोग जिसे पृथिवीतलसे उठाकर कन्धेपर रखकर कुछ दूर ले जाते हैं और फिर भवितसे भरें हुए देव लोग जिसे अपने कन्धोंपर रखते हैं, जो देदीप्यमान रत्नोसे बनी हुई है और जो पृथिवीतलपर आये हुए सूर्यके विमानके समान जान पड़ती है ऐसी दिव्य पालकीपर वे भगवान् सवार होते हैं ॥२८५-२८६॥ जिस समय समस्त आकाश-मार्गको रोकते हुए और अपनी कान्तिसे आकाशमें सूर्यकी प्रभाका सन्देह फैलाते हुए सुर और असुर आगे चलते हैं, जिसे राज्य प्राप्त हुआ है और जिसका नवीन उदय प्रकट हुआ है ऐसे कुमारको आगे कर बड़े प्रेम और सम्भ्रमके साथ जब समस्त राजा लोग भगवान्के समीप खड़े होते हैं, जिनका भगवान्के समीप रहना छूट चुका है और भगवान्के छोड़ देनेसे ही मानो जिनकी कान्ति मन्द पड़ गयी है ऐसे निषि और रत्नोंका समूह जब उनके पीछे-पीछे आता है, जिसने बायुके वेगसे उड़ती हुई ध्वजाओंके समूहसे आकाशको व्याप्त

१ समदक्षितम् । २ अनुवासस्य भावः । अवातुकत्वमित्यर्थः । ३ भवान्तरे । ४ ततः कारणात् । ५ स्वमानुहि ५०, ६० । ६ पुत्रम् । ७ दीक्षावनम् । ८ अन्तःस्थितेषु ल० ।

सैन्ये च कृतसन्नाहे शनैः समनुगच्छति । मरुद्वतध्वजव्रतनिरुद्धपवनाध्वनि ॥२६०॥  
 ध्वनन्तु सुरतृणेषु नृत्यत्यप्सरसां गणे । गायन्तीषु कलकाणं किनरीषु च मङ्गलम् ॥२६१॥  
 भगवानभिनिष्क्रान्तः पुण्ये<sup>१</sup> कस्मिंश्चिदाश्रमे<sup>२</sup> । स्थितः शिलातले स्वस्मिंश्चेतसीवातिविस्तृते ॥२६२॥  
 निर्वाणदीक्षयात्मानं योजयन्ब्रह्मोदयः । सुराधिपैः कृतानन्दमर्षितः परयेज्यया ॥२६३॥  
 योऽत्र शोषो<sup>३</sup> विधिर्युक्तः केषापूजादिलक्षणः । प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रान्तो वृषभेशिनः ॥२६४॥  
 इति निष्क्रान्तिः ।

परिनिष्क्रान्तिरेषा स्यात् क्रिया निर्वाणदायिनी । अतः परं भवेदस्य सुसुक्ष्मोयोगसंमहः ॥२६५॥  
 यदायं त्यक्तवाह्यान्तस्संगो<sup>४</sup> निःसंगमाचरेत् । सुदुश्चरं तपोयोगं जिनकल्पमनुत्तरम् ॥२६६॥  
 तदाऽस्य क्षपकश्रेणीमारूढस्थोचिते पदे<sup>५</sup> । शुक्लध्यानाग्निर्दग्धघातिकर्मघनादवेः ॥२६७॥  
 प्रादुर्भवति निःशेषवह्निर्न्तर्मलक्षयात् । केवलस्थं परं ज्योतिर्लोकलोकप्रकाशकम् ॥२६८॥  
 तदेतस्सिद्धसाध्यस्य प्रापुषः<sup>६</sup> परमं महः । योगसंमह इत्याख्यामनुष्यचे क्रियान्तरम् ॥२६९॥  
 ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृत्तव्यो महः । महिमातिशयः सोऽयमाज्ञातो योगसंमहः ॥३००॥  
 इति योगसंमहः ।

ततोऽस्य केवलस्थो<sup>७</sup> पूजितस्यामरेचरैः । बहिर्विभूतिरुद्धता प्रातिहार्यादिलक्षणा ॥३०१॥

कर-लिया है ऐसी सेना अपनी विशेष रचना बनाकर जिस समय धीरे-धीरे उनके पीछे चलने लगती है तथा जिस समय देवोंके तुरही आदि बाजे बजते हैं, अप्सराओंका समूह नृत्य करता है और-किन्नरी देवियां मनोहर शब्दोंसे मंगलगीत गाती हैं, उस समय वे भगवान् किसी पवित्र आश्रममें अपने चित्तके समान विस्तृत शिलातलपर विराजमान होकर दीक्षा लेते हैं । इस प्रकार जिनका उदय आश्चर्य करनेवाला है और जो निर्वाणदीक्षाके द्वारा अपने आपको युक्त कर रहे हैं ऐसे भगवान्की इन्द्र लोग उत्कृष्ट सामग्रीके द्वारा आनन्दके साथ पूजा करते हैं ॥२८७-२९३॥- इस क्रियामें केश लोंच करना, भगवान्की पूजा करना आदि जो भी कार्य अवशिष्ट रह गया है उस सबका भगवान् वृषभदेवकी दीक्षाके समय वर्णन किया जा चुका है ॥२९४॥ इस प्रकार यह अडतालीसवी निष्क्रान्ति क्रिया है ।

यह निर्वाणको देनेवाली परिनिष्क्रान्ति नामकी क्रिया है । अब इसके आगे मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन भगवान्के योगसंमह नामकी क्रिया होती है ॥२९५॥ जब वे भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर निष्परिग्रह अवस्थाको प्राप्त होते हैं और अत्यन्त कठिन तथा सर्वश्रेष्ठ जिनकल्प नामके तपोयोगको धारण करते हैं तब क्षपक श्रेणीपर आरूढ हुए और योग्य पद अर्थात् गुणस्थानमें जाकर शुक्लध्यानरूपी अग्निसे घातियामर्करूपी सघन वनको जला देनेवाले उन भगवान्के समस्त बाह्य और अन्तरंग मलके नष्ट हो जानेसे लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट होती है ॥२९६-२९८॥ इस प्रकार जिनके समस्त कार्य सिद्ध हो चुके हैं और जिन्हें उत्कृष्ट तेज प्राप्त हुआ है ऐसे भगवान्के यह एक भिन्न क्रिया होती है जो कि 'योगसम्मह' इस नामको धारण करती है ॥२९९॥ ज्ञान और ध्यानके संयोगको योग कहते हैं और उस योगसे जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है वह योगसम्मह कहलाता है ॥३००॥ यह योगसम्मह नामकी उनचासवी क्रिया है ।

तदनन्तर केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर इन्द्रोंने जिनकी पूजा की है ऐसे उन भगवान्के

१ पवित्रे । २ प्रदेशे । ३ विधिमुक्त-४०, ल० । ४ नै सम्य-४०, ल०, प० । ५ सुदुर्धर प०, ल०, द० । ६ गुणस्थाने । ७ मतवत । प्रापुषः ४० । प्रायुष ल० ।

प्रातिहार्यार्थकं दिव्यं गगौ द्वादशधोदितः । स्तूपहर्थावली सालबलयः केतुमालिका ॥३०२॥

इत्यादि कामिमां, भूतिमद्गुणसुपविभ्रतः । स्थादाहर्हन्त्यमिति ख्यातं क्रियान्तरं मनन्तरम् ॥३०३॥

इति आहर्हन्त्यक्रिया ।

विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सरः । प्रपञ्चितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥३०४॥

इति विहारक्रिया ।

ततः पार्यसम्पत्त्यै धर्ममार्गोपदेशने । कृततीर्थविहारस्य योगत्यागः परा क्रिया ॥३०५॥

विहारस्योपसंहारः संहतिश्च सभावनेः । वृत्तिश्च योगरोधार्था योगत्यागः स उच्यते ॥३०६॥

यच्च दण्डकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियान्तरम् । तदन्तर्भूतमेवादस्ततो न पृथगुच्यते ॥३०७॥

इति योगत्यागक्रिया ।

ततो निरुद्धमिः शेषयोगस्यास्य जिनेमिनः । प्रासौलैश्यवस्थस्य प्रक्षीणा चातिकर्मणः ॥३०८॥

क्रियाप्रतिवृत्तिर्नाम परनिर्वाणमापुषः । स्वभावजनितामूर्ध्वं प्रज्यामास्कन्धतो मता ॥३०९॥

इति अग्रनिवृत्तिः ।

इति निर्वाणपर्यन्ताः क्रिया गर्मादिकाः सदा । मन्वात्ममिरजुल्लेयास्त्रिषञ्चाशत्समुच्चयाद् ॥३१०॥

यथोक्तविधिर्नामः स्युरनुदेया द्विजन्मभिः । योऽप्यन्तर्गतो भेदस्तं वच्युत्तरपर्वणि ॥३११॥

प्रातिहार्यं आदि बाह्य विभूति प्रकट होती है ॥३०१॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्य, बारह दिव्य सभा, स्तूप, मकानोकी-पकितियाँ, कोटका घेरा और पताकाओकी पंक्ति इत्यादि अद्भुत विभूति-को धारण करनेवाले उन भगवान्‌के आहर्हन्त्य नामकी एक भिन्न क्रिया कही गयी है ॥३०२-३०३॥ यह आहर्हन्त्य नामकी पचासवी क्रिया है ।

धर्मचक्रको आगे कर जो भगवान्‌का विहार होता है वह विहार नामकी क्रिया है । यह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है और पहले ही इसका विस्तारके साथ निरूपण किया जा चुका है इसलिए फिरसे यहाँ नहीं कहते हैं ॥३०४॥ यह इत्यावनवी विहारक्रिया है ।

तदनन्तर धर्ममार्गके उपदेशके द्वारा परोपकार करनेके लिए जिन्होंने तीर्थ विहार किया है ऐसे भगवान्‌के योगत्याग नामकी उत्कृष्ट क्रिया होती है ॥३०५॥ जिसमें विहार करना समाप्त हो जावे, सभाभूमि (समवसरण) विषट जावे, और योगनिरोध करनेके लिए अपनी वृत्ति करनी पड़े उसे योगत्याग कहते हैं ॥३०६॥ दण्ड, कपाट आदि रूपसे प्रसिद्ध जो केवलिसमुद्धात नामकी क्रिया है वह इसी योगत्याग क्रियामें अन्तर्भूत हो जाती है इसलिए अलगसे उसका वर्णन नहीं किया है ॥३०७॥ यह वावनवी योगत्याग नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिनके समस्त योगोका निरोध हो चुका है, जो जिनोके स्वामी हैं, जिन्हें शीलके ईश्वरपनेकी अवस्था प्राप्त हुई है, जिनके अघातिथा कर्म नष्ट हो चुके हैं जो स्वभावसे उत्पन्न हुई ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हुए हैं और जो उत्कृष्ट मोक्षस्थानपर पहुँच गये हैं ऐसे भगवान्‌के अग्रनिवृत्ति नामकी क्रिया मानी गयी है ॥३०८-३०९॥ यह त्रिरेपनवी अग्रनिवृत्ति नामकी क्रिया है ।

इस प्रकार गर्भसे लेकर निर्वाण पर्यन्त जो सब मिलाकर त्रिरेपन क्रियाएँ हैं भव्य पुरुषोको सदा उनका पालन करना चाहिए ॥३१०॥ द्विज लोगोको ऊपर कही हुई विधिके अनुसार इन क्रियाओका पालन करना चाहिए । इन क्रियाओके जो भी अन्तर्गत भेद

१ धृतमार्गोप-५० । २ यत्र दण्ड-५०, ल० । ३ योगत्यागान्तर्भूतम् । ४ शैलेक्षितावस्थस्य । ५ -मायुषः ५०, ६०, ५०, ६० । ६ ऊर्ध्वगमनम् । ७ गच्छत ८ समुच्चया ल० । ९ त्रिपञ्चाशत्क्रियासु ।

इत्युच्चैर्भरताधिपः स्वसमये संस्थापयन् तान् द्विजान्

संप्रोवाच कृती सतां बहुमता गर्भान्वयोत्थाः क्रियाः ।

गर्भाद्याः पग्निनिवृत्तिप्रगमनप्रान्तास्त्रिपञ्चाशतं

प्रारम्भेऽथ पुनः प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाख्याः क्रियाः ॥३१२॥

यस्त्वेताः द्विजसत्तमैरभिमतं गर्भादिकाः सत्क्रियाः

श्रुत्वा सम्यगधीत्यभाषितमतिज्ञैर्नैश्वरे दर्शने ।

सामग्रीमुचितां स्वतश्च परतः सम्पादयन्नाचरेद्

मन्यात्मा स समग्रधीस्त्रिजगति चूडामणित्वं भजेत् ॥३१३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

द्विजोत्पत्ति-गर्भान्वयवर्णनं नाम अष्टत्रिंशत्तमं पर्व ॥३८॥



हैं उनका आगेके पर्वमें निरूपण करेगे ॥३११॥ इस प्रकार पुण्यवान् भरत महाराजने उन द्विजोंको अपने धर्ममें स्थापित करते हुए गर्भसे लेकर निर्वाणगमन पर्यन्तकी तिरेपन गर्भान्वय क्रियाएँ कही और उनके बाद कहने योग्य जो दीक्षान्वय-क्रियाएँ थी उनका कहना प्रारम्भ किया ॥३१२॥ उत्तम-उत्तम द्विजोंको भाननीय इन गर्भाधानादि समीचीन क्रियाओंको सुनकर तथा अच्छी तरह पढ़कर जी जिनेन्द्र भगवान्के दर्शनमें अपनी बुद्धि लगाता है और योग्य सामग्री प्राप्त कर दूसरोसे आचरण कराता हुआ स्वयं भी इनका आचरण करता है वह भव्य पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर तीनों लोकोंके चूडामणिपनेको प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर तीनों लोकोंके अग्रभागपर विराजमान होता है ॥३१३॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहे

भाषानुवादमें द्विजोकी उत्पत्ति तथा गर्भान्वय क्रियाओंका वर्णन

करनेवाला अष्टतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ



## एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथाब्रवीद् द्विजन्मभ्यो<sup>१</sup> मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः । यास्ता<sup>२</sup> निःश्रेयसोर्दकद्वचत्वारिंशदथाष्ट च ॥१॥  
 श्रूयतां भी द्विजन्मानो वक्ष्ये नैःश्रेयसीः<sup>३</sup> क्रियाः । अवतारादिनिर्वाणपर्यन्ता दीक्षितोचिताः ॥२॥  
 व्रताविकरणं दीक्षा द्विधाश्रातं च तद्व्रतम् । महाच्छाणु च दोषाणां<sup>४</sup> कृत्स्नदेशनिवृत्तितः ॥३॥  
 महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाशानोविर्वर्जितम् । विरसिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुवत् मयम् ॥४॥  
 तदुन्मुखस्य<sup>५</sup> या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता । तामन्विता क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ॥५॥  
 तस्यास्तु भेदसद्व्यथानं प्राग्निर्णीतं षडष्टकम्<sup>६</sup> । क्रियते तद्विकल्पानामधुना लक्ष्मवर्णनम् ॥६॥  
 तत्रावतारसंज्ञा स्यादाद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भग्न्ये सम्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥७॥  
 स तु संसृत्य योगीन्द्रं युक्ताचारं महाधिषम् । गृहस्थाचार्यमथवा पृच्छतीति विचक्षणः ॥८॥  
 भूत पूयं महाप्रज्ञा<sup>७</sup> मह्यं धर्ममवाचिलम्<sup>८</sup> । प्रायो मतानि तीर्थ्यानां<sup>९</sup> हेवानि प्रतिभान्ति मे ॥९॥  
<sup>१३</sup> श्रौतान्पि हि वाक्यानि संमतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि<sup>१४</sup> दुःप्रणीतानि तान्यपि<sup>१५</sup> ॥१०॥

अथानन्तर—सोलहवे मनु महाराज भरत उन द्विजों के लिए मोक्ष-फल देनेवाली अङ्ग-  
 तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहने लगे ॥१॥ वे बोले कि हे द्विजो, मैं अवतारसे लेकर निर्वाण  
 पर्यन्तकी मोक्ष देनेवाली दीक्षान्वय क्रियाओंको कहता हूँ सो तुम लोग सुनो ॥२॥ व्रतोंका  
 धारण करना दीक्षा है और वे व्रत हिंसादि दोषोंके पूर्ण तथा एकदेश त्याग करनेकी अपेक्षा  
 महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥३॥ सूक्ष्म अथवा स्थूल — सभी  
 प्रकारके हिंसादि पापोंका त्याग करना महाव्रत कहलाता है और स्थूल हिंसादि दोषोंसे  
 निवृत्त होनेको अणुव्रत कहते हैं ॥४॥ उन व्रतोंके ग्रहण करनेके लिए सन्मुख पुरुषकी जो  
 प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाली जो क्रियाएँ हैं वे दीक्षान्वय  
 क्रियाएँ कहलाती हैं ॥५॥ उस दीक्षान्वय क्रियाके भेद अङ्गतालीस हैं जिनका कि निर्णय  
 पहले किया जा चुका है । अब इस समय उन भेदोंके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है ॥६॥ उन  
 दीक्षान्वय क्रियाओंमें पहली अवतार नामकी क्रिया है जब मिथ्यात्वसे दूषित हुआ कोई भव्य  
 पुरुष समीचीन मार्गोंको ग्रहण करनेके सन्मुख होता है तब यह क्रिया की जाती है ॥७॥ प्रथम  
 ही वह चतुर भव्य पुरुष योग्य आचरणवाले महाबुद्धिमत् मुनिराजके समीप जाकर अथवा  
 किसी गृहस्थाचार्यके समीप पहुँचकर उनसे इस प्रकार पूछता है कि ॥८॥ महाबुद्धिमत्, आप  
 मेरे लिए निर्दोष धर्म कहिए क्योंकि मुझे अन्य लोगोंके मत प्रायः दुष्ट मालूम होते हैं ॥९॥  
 धार्मिक क्रियाओंके करनेमें जो बंदोंके वाक्य माने गये हैं वे भी विचारको सहन नहीं कर सकते  
 अर्थात् विचार करनेपर वे निःसार जान पड़ते हैं, वास्तवमें वे वाक्य दुष्ट पुरुषोंके वनाये हुए

१ भरतः । २ नि श्रेयसं मोक्ष उदकं उत्तरफलं यासु ताः । ३ मोक्षहेतुः । नि श्रेयसी ल० । ४ व्रताधि-  
 करण प०, द०, ल० । ५ सकलनिवृत्त्येकदेशनिवृत्तिः । ६ तन्महाणुव्रताभिमुख्यः । ७ दीक्षाम् । ८ अणुव्रतम् ।  
 ९ पण्णापट्टक पडष्टकम् अष्टोत्तरचत्वारिंशत् इत्यर्थः । १० महाप्रज्ञा ल०, द० । ११ निर्दोषम् । १२ हेवानि  
 प्रतिभाति माम् इ०, स०, अ० । हतानि प्रतिभाति माम् ल०, द० । १३ वेदसम्बन्धीनि । 'श्रुति स्त्री वेद  
 आम्नातः' इत्यभिधानात् । १४ दुष्टैः कथितानि । १५ प्रसिद्धान्यपि । तानि वै ल० ।



इति पृष्टयते तस्मै व्याचष्टे स<sup>१</sup> विदावरः । तथ्यं युक्तिपथं धर्मं विचारपरिनिष्ठितम् ॥११॥  
 विद्धि<sup>२</sup> सत्योद्यमासीयं वचः श्रेयोऽनुशासनम् । अनासोपज्ञमन्यतु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥१२॥  
 विरागाः सर्ववित् सार्वः सूक्तसूनुतपूतवाक् । आसः सन्मार्गादेशी यस्तदाभासास्ततोऽपरे<sup>३</sup> ॥१३॥  
 रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्यनुवर्तिभिः<sup>४</sup> । काङ्क्ष्यता विजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतैः ॥१४॥  
 प्रकृष्टो यो गुणैरेभिश्चक्रिकल्या<sup>५</sup> विपादिषु । स आप्तः स च सर्वज्ञः स लोकपरमेश्वरः ॥१५॥  
 ततः श्रेयोऽर्थिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकम् । अद्याहतमनालोढपूर्वं सर्वज्ञमानिभिः ॥१६॥  
<sup>६</sup>हेत्वाज्ञायुक्तमहैतं<sup>७</sup> दीप्तं गम्भीरशासनम् । अल्पाक्षरमसन्दिग्धं वाक्यं स्वायम्भुवं विदुः ॥१७॥  
<sup>८</sup>इतश्च<sup>९</sup> तत्प्रमाणं स्यात् श्रुतमन्त्रक्रियादयः । पदार्थाः सुस्थितास्तत्र<sup>१०</sup> यतो नान्यमतोचिता ॥१८॥  
 यथाक्रममतो ब्रूमस्तान्पदार्थात्<sup>११</sup> प्रपञ्चतः । यैः<sup>१२</sup> सनि-कृप्यमाणाः<sup>१३</sup> स्युर्दुःस्थिताः परसूक्तयः<sup>१४</sup> ॥१९॥  
 वेदः पुराणं स्मृतयः चारित्र्यं च क्रियाविधिः । मन्त्राश्च देवतालिङ्गमाहाराश्च<sup>१५</sup> श्रुद्ध्यः ॥२०॥  
 पदेऽर्था<sup>१६</sup> यत्र तत्त्वेन प्रणीताः परमर्षिणा । स धर्मः स च सन्मार्गः तदाभासाः स्युरन्यथा ॥२१॥

है ॥१०॥ इस प्रकार पूछनेवाले उस भव्य पुरुषके लिए महाज्ञानी मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्य सत्य, विचारसे परिपूर्ण तथा मोक्षके मार्गस्वरूप धर्मका व्याख्यान करते है ॥११॥ वे कहते है - हे भव्य, मोक्षका उपदेश देनेवाले आप्तके वचनको ही तू सत्य वचन मान और इसके विपरीत जो वचन आप्तका कहा हुआ नहीं है उसेकेवल वाणीका मल ही समझ ॥१२॥ जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, सबका कल्याण करनेवाला है, जिसके वचन समीचीन, सत्य और पवित्र है, तथा जो उत्कृष्ट - मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला है वह आप्त कहालाता है, इनसे भिन्न सभी आप्ताभास है अर्थात् आप्त न होनेपर भी आप्तके समान मालूम होते है ॥१३॥ जो रूप, तेज, गुण-स्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, सुन्दरता, विजय, ज्ञान, दृष्टि, वीर्य और सुखामृत इन गुणोंसे चक्रवर्ती तथा इन्द्रादिकोसे भी उत्कृष्ट है वही आप्त है, सर्वज्ञ है और समस्त लोकोंका परमेश्वर है ॥१४-१५॥ इसलिए जो आप्तका कहा हुआ है, जिसका कोई खण्डन नहीं कर सकता और अपने-आपको सर्वज्ञ माननेवाले पुरुष जिसका स्पर्श भी नहीं कर सके है ऐसा जैन मत है । कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके लिए कल्याणकारण है ॥१६॥ जो युक्ति तथा आगमसे युक्त है, अनुपम है, देदीप्यमान है, जिसका शासन गम्भीर है, जो अल्पाक्षरवाला है और जिसके पढ़नेसे किसी प्रकारका सन्देह नहीं होता ऐसा वाक्य ही अरहन्त भगवान्का कहा हुआ कहालाता है ॥१७॥ चूँकि अरहन्तदेवके मतमें अन्य मतोंमें नहीं पाये जानेवाले शास्त्र, मन्त्र तथा क्रिया आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निरूपण किया गया है इसलिए वह प्रमाणभूत है ॥१८॥ हे वत्स, मैं यथाक्रमसे विस्तारके साथ अपदार्थोंका निरूपण करता हूँ क्योंकि उन पदार्थोंके समीप आनेपर अन्य मतोंके वचन दुष्ट जान पड़ते हैं ॥१९॥ जिसमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र्य, क्रियाओंकी विधि, मन्त्र, देवता, लिङ्ग और आहार आदिकी बुद्धि इन पदार्थोंका यथार्थ रीतिसे परमर्षियोंने निरूपण किया है वही धर्म है और वही समीचीन मार्ग है । इसके

१ योगीन्द्रः । २ सत्यवचनम् । ३ एवविचलक्षणादन्ये । ४ लक्ष्यद्विदत्तिभिः अ०, प०, द०, स०, इ०, ल० ।  
 ५ कान्तता अ०, प०, इ०, स०, द०, ल० । आदरणीयता । ६ इन्द्र । ७ तत् कारणात् । ८ पूर्वस्मिन्ननालीढमस्पृष्टम् । ९ युक्त्यागमपरमागमाभ्यां कलितः । १० अद्वितीयम् । ११ आप्तवचनतः । १२ मतम् । १३ मते । १४ विस्तरतः । १५ पदार्थः । १६ निर्धर्षण क्रियमाणा । समीप गम्यमाना वा । १७ कुतार्थ्य-सूचका । १८ पदार्थाः ।

श्रुत सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषम् । हिंसोपदेमि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥२१॥  
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद् वधनिषेधि यत् । वधोपदेशि यत्तु ज्ञेयं धृतप्रणेतृकम् ॥२३॥  
सावधविरतिवृत्तमार्थपदकर्मलक्षणम् । चातुराग्रभ्यवृत्तं तु परोक्षमसदृजम् ॥२४॥  
क्रियागर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ताः परोदिताः । आधानादिस्मृशानान्ताः न ताः सम्यक्क्रिया मताः ॥२५॥  
मन्त्रास्त एव धर्म्याः स्युर्ये क्रियासु नियोजिताः । दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥२६॥  
विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवः । क्रूरास्तु देवता ह्येया यासां स्याद् वृत्तिरामिषैः ॥२७॥  
निर्वाणसाधनं यत् स्यात्तल्लिङ्गं जिनदेशितम् । षण्णाजिनादिचिह्नं तु कुलिङ्गं तदि वैकृतम् ॥२८॥  
स्यान्निरामिषमोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा । सर्वङ्कषास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिषमोजिनः ॥२९॥  
अहिंसाशुद्धिरयां स्याद् ये निःसङ्गा द्रव्यालवः । रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥३०॥  
कामशुद्धिमता त्रेषां चिकामा ये जितेन्द्रियाः । मन्तुशब्दं स्वदारेषु नोषाः सर्वं विडम्बकाः ॥३१॥  
इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठिनम् । स एवास्सदुक्तो<sup>१०</sup> धर्मः श्रेयो हितार्थिनाम् ॥३२॥

सिवाय सब धर्माभास तथा मार्गाभास हैं ॥२०-२१॥ जिसके बारह अंग हैं, जो निर्दोष हैं और जिसमें श्रेष्ठ आचरणोका विधान है ऐसा शास्त्र ही वेद कहलाता है, जो हिंसाका उपदेश देनेवाला वाक्य है वह वेद नहीं है उसे तो यमराजका वाक्य ही समझना चाहिए ॥२२॥ पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है जो हिंसाका निषेध करनेवाला है । इसके विपरीत जो पुराण अथवा धर्मशास्त्र हिंसाका उपदेश देते हैं उन्हें धूर्तोंका बनाया हुआ समझना चाहिए ॥२३॥ पापारम्भके कार्योंसे विरक्त होना चारित्र कहलाता है । वह चारित्र आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मरूप है । इसके सिवाय अन्य लोगोंने जो ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमोंका चारित्र निरूपण किया है वह वास्तवमें बुरा है ॥२४॥ कियाएँ जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यन्त पहले कही जा चुकी हैं वे ही समझनी चाहिए, इनके सिवाय गर्भसे मरणपर्यन्त जो कियाएँ अन्य लोगोंने कही हैं वे ठीक नहीं मानी जा सकती ॥२५॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओंमें उपयुक्त होते हैं वे ही मन्त्र धार्मिक मन्त्र कहलाते हैं किन्तु जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें प्रयुक्त होते हैं उन्हें यहाँ दुर्मन्त्र अर्थात् छोटे मन्त्र समझना चाहिए ॥२६॥ शान्तिको करनेवाले तीर्थ-कर आदि ही देवता हैं । इनके सिवाय जिनकी मांससे वृत्ति है वे दुष्ट देवता छोड़ने योग्य हैं ॥२७॥ जो साक्षात् मोक्षका कारण है ऐसा जिनैन्द्रदेवका कहा हुआ निर्ग्रन्थपना ही सच्चा लिङ्ग है । इसके सिवाय मृगचर्म आदिको चिह्न बनाना यह कुलिङ्गियोका बनाया हुआ कुलिङ्ग है ॥२८॥ मांसरहित भोजन करना आहार-विषयक शुद्धि कहलाती है । जो मांसभोजी हैं उन्हें सर्व-घाती समझना चाहिए ॥२९॥ अहिंसा शुद्धि उनके होती है जो परिग्रहरहित हैं और दयालु हैं, परन्तु जो पशुओंकी हिंसा करनेमें तत्पर रहते हैं वे दुष्ट अभिप्रायवाले शुद्ध नहीं हैं ॥३०॥ जो कामरहित जितेन्द्रिय मुनि हैं उन्हींके कामशुद्धि मानी जाती है अथवा जो गृहस्थ अपनी स्त्रियोंमें सत्तोष रखते हैं उनके भी कामशुद्धि मानी जाती है परन्तु इनके सिवाय जो अन्य लोग हैं वे केवल विडम्बना करनेवाले हैं ॥३१॥ इस प्रकार विचार करनेपर जिसका मत शुद्ध हो वही आप्त कहला सकता है और उसीके द्वारा कहा हुआ धर्म हित चाहनेवाले लोगोंको कल्याणकारी हो सकता है ॥३२॥ वह भव्य उन उत्तम उपदेशकसे इस प्रकारका उपदेश

१ यमस्य वचनम् । २ धर्मशास्त्रम् । ३ इत्यावातादित्स्वाध्यायसयमतपोरूप । ४ ब्रह्मचर्यादिचतुराश्रमे भेदः । ५ निश्चयेन । ६ पुरोदिता द०, ल०, अ०, प०, इ० । ७ षण्णाजिन । ८ तद्विषयं कृतम् प०, ल०, द० । ९ सकलविनाशका इत्यर्थः । १० तत्प्रोक्त ।

श्रुत्वेति देशनां तस्माद् भव्योऽसौ देशिकोत्तमात् । सन्मार्गे मतिमाधत्ते दुर्भागंरतिमुत्सृजन् ॥३३॥  
गुरुर्जनयिता<sup>१</sup> तत्त्वज्ञान गर्भः सुसंस्कृतः । तद्वा तन्नावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना<sup>२</sup> ॥३४॥  
अवतारक्रियाऽस्यैषा गर्भाधानवदिष्यते । यतो<sup>३</sup> जन्मपरिप्राप्तिः उभयत्र<sup>४</sup> न विद्यते ॥३५॥

इत्यवतारक्रिया ।  
ततोऽस्य वृत्तलामः स्यात् तदैव गुरुपादयोः । प्रणतस्य व्रतव्रातं<sup>५</sup> विधानेनोपनेदुर्ध्वं ॥३६॥

इति वृत्तलामः ।

ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरःसरः । स्थानलामो भवेदस्य<sup>६</sup> तत्रायमुचितो विधिः ॥३७॥  
जिनालये शुचौ रङ्गे पञ्चमण्डलं लिखेत् । विलिखेद् वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥३८॥  
इलक्षेण पिष्टचूर्णेन<sup>७</sup> सलिलालोहितेन वा । वर्तनं<sup>८</sup> मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रव्येण वा ॥३९॥  
तस्मिन्मण्डले पञ्चे जैने वाऽऽस्थानमण्डले । विधिना लिखिते तज्जैर्विषयविरचितार्चने ॥४०॥  
जिनार्चमिमुखं सूरिविधिनैर्न निवेशयेत् । तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥४१॥  
<sup>१</sup>पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्टवैनमधिमस्तकम्<sup>१</sup> । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषा च लम्भयेत्<sup>२</sup> ॥४२॥  
ततः पञ्चनमस्कारपदान्यस्मा उपादिशेत्<sup>३</sup> । मन्त्रोऽयमखिलात्<sup>४</sup> पापास्वा<sup>५</sup> पुनीतादितीरयन्<sup>६</sup> ॥४३॥  
कृत्वा विधिमिमं पश्चात् पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात् सोऽपि संश्रितः स्वगृहं ब्रजेत् ॥४४॥

इति स्थानलामः ।

सुनकर मिथ्यामार्गमें प्रेम छोड़ता हुआ समीचीन मार्गमें अपनी बुद्धि लगाता है ॥३३॥ उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है । वह भव्य पुरुष धर्म रूप जन्मके द्वारा उस तत्त्वज्ञानरूपी गर्भमें अवतीर्ण होता है ॥३४॥ इसकी यह क्रिया गर्भाधानक्रियाके समान मानी जाती है क्योंकि जन्मकी प्राप्ति दोनों ही क्रियाओंमें नहीं है ॥३५॥ इस प्रकार यह पहली अवतारक्रिया है ।

तदनन्तर—उसी समय गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतोके समूहको प्राप्त होते हुए उस भव्यके वृत्तलाम नामकी दूसरी क्रिया होती है ॥३६॥ यह वृत्तलाम नामकी दूसरी क्रिया है ।

तत्पश्चात् जिसने उपवास किया है ऐसे उस भव्यके पूजाकी विधिपूर्वक स्थानलाम नामकी तीसरी क्रिया होती है । इस क्रियामें यह विधि करना उचित है ॥३७॥ जिनालयमें किसी पवित्र स्थानपर आठ पांखुरीका कमल बनावे अथवा गोलाकार समवसरणके मण्डलकी रचना करे ॥३८॥ इस कमल अथवा समवसरणके मण्डलकी रचना पानी मिले हुए महीन चूर्णसे अथवा घिसे हुए चन्दन आदिसे करनी चाहिए ॥३९॥ उस विषयके जानकार विद्वानोंके द्वारा लिखे हुए उस अष्टदलकमल अथवा जिनेन्द्र भगवान्के समवसरणमण्डलकी जब सम्पूर्ण पूजा हो चुके तब आचार्य उस भव्य पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सन्मुख बैठाने और बार-बार उसके मस्तकको स्पर्श करता हुआ कहे कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है ॥४०-४१॥ पञ्चमुष्टिकी रीतिसे उसके मस्तकका स्पर्श करे तथा 'तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ' इस प्रकार कहकर उससे पूजाके बचे हुए शेषाक्षत ग्रहण करावे ॥४२॥ तत्पश्चात् 'यह मन्त्र तुझे समस्त पापोंसे पवित्र करे' इस प्रकार कहता हुआ उसे पञ्च नमस्कार मन्त्रका उपदेश करे ॥४३॥ यह विधि करके आचार्य उसे

१ पिता । २ धर्म एवं जन्म तेन । ३ यस्मात् कारणात् । ४ गर्भाधानावतारयोः । ५ व्रतविरचणशास्त्रोक्त-विधिना । ६ उपगतस्य । ७ स्थानलामे । ८ जलग्निश्रितेन वा । ९ उद्धरणम् । १० पञ्चगुह्यमुद्राविधानेन । ११ मूर्ध्नि । १२ प्रापयेत् । १३ अस्मै उपदेशं कुर्यात् । १४ दुष्कृतात् अपसार्य । १५ पवित्र कुर्यात् । १६ ब्रुवन् ।

<sup>१</sup> निर्दिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्यान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद् विनिःसारयतो गृहात् ॥४५॥

इयन्तं कालमज्ञानात् पूजिताः स्थ<sup>२</sup> कृतादरम् । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥४६॥

<sup>३</sup> ततोऽपष्ट<sup>४</sup> पितृनालमन्यत्र स्वैरमास्यताम् । इति प्रकाशमेवैतान् नीत्वाऽन्यत्र कचिच्छयेत् ॥४७॥

गणग्रहः स एष स्यात् प्राक्तनं देवताङ्गणम् । विसृज्याचर्यतः शान्ता देवताः समयोजिताः ॥४८॥

इति ग्रहणक्रिया ।

पूजाराध्याख्या ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा । पूजोपवाससप्तया शृण्वतोऽङ्गार्थसंग्रहम् ॥४९॥

इति पूजाराध्यक्रिया ।

ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी । शृण्वतः पूर्व<sup>५</sup> विद्यानामर्थ संग्रहचारिणः ॥५०॥

इति पुण्ययज्ञक्रिया ।

तथाऽस्य दृढचर्या स्यात् क्रिया स्वसमयश्रुतम् । निष्ठाप्य<sup>६</sup> शृण्वतो ग्रन्थान् बाह्यान्तर्यांश्च कौश्वर्य ॥५१॥

इति दृढचर्याक्रिया ।

दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । <sup>७</sup> पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ॥५२॥

इति उपयोगिताक्रिया ।

पारणाके लिए विदा करे और वह भव्य भी गुरुके अनुग्रहसे सन्तुष्ट होता हुआ अपने घर जावे ॥४४॥ यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है ।

जिसके लिए स्थानलाभकी क्रियाका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा भव्य पुरुष जब मिथ्यादेवताओंको अपने घरसे बाहर निकालता है तब उसके गणग्रह नामकी क्रिया होती है ॥४५॥ उस समय वह उन देवताओंसे कहता है कि 'मैंने अपने अज्ञानसे इतने दिन तक आदरके साथ आपकी पूजा की परन्तु अब अपने ही मतके देवताओंकी पूजा कहेगा इसलिए क्रोध करना व्यर्थ है । आप अपनी इच्छानुसार किसी दूसरी जगह रहिए ।' इस प्रकार प्रकट रूपसे उन देवताओंको ले जाकर किसी अन्य स्थानपर छोड़ दे ॥४६-४७॥ इस प्रकार पहले देवताओंका विसर्जन कर अपने मतके शान्त देवताओंकी पूजा करते हुए उस भव्यके यह गणग्रह नामकी चौथी क्रिया होती है ॥४८॥ यह चौथी गणग्रह क्रिया है ।

तदनन्तर पूजा और उपवासरूप सम्पत्तिके साथ-साथ अंगोंके अर्थसमूहको सुननेवाले उस भव्यके पूजाराध्या नामकी प्रसिद्ध क्रिया होती है । भावार्थ—जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा उपवास आदि करते हुए द्वादशांगका अर्थ सुनना पूजाराध्य क्रिया कहलाती है ॥४९॥ यह पाँचवी पूजाराध्य क्रिया है ।

तदनन्तर साधर्मि पुरुषोंके साथ-साथ चौदह पूर्वविद्याओंका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यको बढ़ानेवाली पुण्ययज्ञा नामकी मित्र क्रिया होती है ॥५०॥ यह छठी पुण्ययज्ञा क्रिया है ।

इस प्रकार अपने मतके शास्त्र समाप्त कर अन्य मतके ग्रन्थों अथवा अन्य किन्हीं दूसरे विषयोंको सुननेवाले उस भव्यके दृढचर्या नामकी क्रिया होती है ॥५१॥ यह दृढचर्या नामकी सातवी क्रिया है ।

तदनन्तर जिसके व्रत दृढ हो चुके हैं ऐसे पुरुषके उपयोगिता नामकी क्रिया होती है ।

<sup>१</sup> उपदेशित । <sup>२</sup> भव्य । <sup>३</sup> तत् कारणात् । <sup>४</sup> ईर्ष्या क्रोधेन वा । <sup>५</sup> प्रकटं यथा भवति तथा । <sup>६</sup> निजमत ।

<sup>७</sup> द्वादशाङ्गसंवन्धिद्रव्यसंग्रहादिकम् । <sup>८</sup> चतुर्दशविद्यानां संवन्धनम् । <sup>९</sup> सहाव्यागिसहितस्य । 'एकवह्ना-प्राचारा मियः सग्रहाचारिणः ।' इत्यभिधानात् । <sup>१०</sup> संपूर्णमौल्य । <sup>११</sup> पर्वोपवासरान्नावित्यर्थः ।

क्रियाकलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपविभ्रतः । उपनीतिरनुचानयोग्यलिङ्गग्रहो भवेत् ॥५३॥  
 उपनीतिर्हि वेषस्थ वृत्तस्थ समयस्थ च । देवतागुरुसाक्षि स्याद् विधिवत्प्रतिपालनम् ॥५४॥  
 शुक्लवस्त्रोपवीतादिधारणं वेष उच्यते । आर्यषट्कर्मजीवित्वं वृत्तमस्य प्रचक्ष्यते ॥५५॥  
 जैनोपासकदीक्षा स्यात् समयः समयोचितम् । दधतो गौत्रजात्यादि नामान्तरमतः परम् ॥५६॥  
 इत्युपनीतिक्रिया ।  
 ततोऽयमुपनीतः सन् व्रतचर्या समाश्रयेत् । सूत्रमौपासकं सम्यगभ्यस्य ग्रन्थतोऽर्थतः ॥५७॥  
 इति व्रतचर्याक्रिया ।  
 व्रतावतारणं तस्य भूयो भूषादिसंग्रहः । भवेदधीतविद्यस्य यथावद्गुरुसंनिधौ ॥५८॥  
 इति व्रतावतरणक्रिया ।  
 विवाहस्तु भवेदस्य नियुञ्जानस्य दीक्षया । सुवर्तोचितया सम्यक् स्वां धर्मसहचारिणीम् ॥५९॥  
 पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः सर्वोऽस्य संमतः । सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः संस्कारमिच्छतः ॥६०॥  
 इति विवाहक्रिया ।

पर्वके दिन उपवासके अन्तमें अर्थात् रात्रिके समय प्रतिमायोग धारण करना उपयोगिता क्रिया कहलाती है ॥५२॥ यह उपयोगिता नामकी आठवीं क्रिया है ।

अपर कहे हुए क्रियाओंके समूहसे शुद्धिको धारण करनेवाले उस भव्यके उत्कृष्ट पुरुषोंके योग्य चिह्नको धारण करनेरूप उपनीति क्रिया होती है ॥५३॥ देवता और गुरुकी साक्षीपूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष, सदाचार और समयकी रक्षा करना उपनीति क्रिया कहलाती है ॥५४॥ सफेद वस्त्र और यज्ञोपवीत आदि धारण करना वेष कहलाता है, आर्योंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मोंके करनेको वृत्त कहते हैं और इसके बाद अपने शास्त्रके अनुसार गौत्र जाति आदिके दूसरे नाम धारण करनेवाले पुरुषके जो जैन श्रावककी दीक्षा है उसे समय कहते हैं ॥५५-५६॥ यह उपनीति नामकी नौवी क्रिया है ।

तदनन्तर यज्ञोपवीतसे युक्त हुआ भव्य पुरुष शब्द और अर्थ दोनोंसे अच्छी तरह उपासकाध्ययनके सूत्रोंका अभ्यास कर व्रतचर्या नामकी क्रियाको धारण करे । भावार्थ-यज्ञोपवीत धारण कर उपासकाध्ययनांग ( श्रावकाचार ) का अच्छी तरहसे अभ्यास करते हुए व्रतादि धारण करना व्रतचर्या नामकी क्रिया है ॥५७॥ यह दसवी व्रतचर्या क्रिया है ।

जिसने समस्त विद्याएँ पढ़ ली है ऐसा श्रावक जब गुरुके समीप विधिके अनुसार फिरसे आभूषण आदि ग्रहण करता है तब उसके व्रतावतरण नामकी क्रिया होती है ॥५८॥ यह व्रतावतरण नामकी ग्यारहवी क्रिया है ।

जब वह भव्य अपनी पत्नीको उत्तम व्रतोंके योग्य श्रावककी दीक्षासे युक्त करता है तब उसके विवाह नामकी क्रिया होती है ॥५९॥ अपनी पत्नीके संस्कार चाहनेवाले उस भव्यके उसी स्त्रीके साथ फिरसे विवाह संस्कार होता है और उस संस्कारमें सिद्ध भगवान्की पूजाको आदि लेकर पहले कही हुई समस्त विधि करनी चाहिए ॥६०॥ यह बारहवी विवाहक्रिया है ।

१ क्रियासमूहेन । २ प्रवचने साङ्गोऽधीती । ३ यज्ञोपवीत । 'उपवीतं यज्ञसूत्रं प्रोदधृतं दक्षिणे करे' । ४ व्रतावतरणम् ल० । ५ धर्मपत्नीम् । ६ गर्भान्वयक्रियासु प्रोक्त । ७ जिनदर्शनस्वीकारात् प्राप्तिविवाहितभार्यायाः ।

वर्णलामस्ततोऽस्य स्यात् संबन्ध<sup>१</sup> सविधित्तः<sup>२</sup> ।<sup>३</sup> समानाजीविमिलन्व<sup>४</sup> वर्णैरन्यैरुपासकैः ॥६१॥  
 चतुरः श्रावकयेष्टानाह्वय कृतसत्क्रियान् । तान् द्रव्यादस्यनुग्राह्यो भवद्भिः स्वसमीकृतः<sup>५</sup> ॥६२॥  
 यूय निस्तारका देवब्राह्मणा लोकपूजिताः । अहं च कृतदीक्षोऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥६३॥  
 मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनाम् । दत्तान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजनम् ॥६४॥  
 अयोनिर्भव जन्म लब्ध्वाहं गुर्वनुग्रहात् । चिरभाविमुत्सृज्य प्राप्नो वृत्तमभावितम् ॥६५॥  
 व्रतसिद्धयर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् । कृतविद्यश्च जातोऽस्मि<sup>६</sup> स्वधीतोपासकश्रुतः<sup>७</sup> ॥६६॥  
 व्रतावतरणस्थान्ते<sup>८</sup> स्त्रीकृताभरणोऽस्यहम् । पत्नी च संस्कृताऽऽत्मीया कृतपाणिग्रहा पुनः ॥६७॥  
 एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो ममोचितः । सुलभः सोऽपि शुष्माकमनुजानात् सधर्मणाम् ॥६८॥  
 इत्युन्नास्ते च तं सत्यमेवमस्तु समञ्जसम्<sup>९</sup> । त्वयोक्तं श्लाघ्यमेवैतत् कोऽन्यस्त्वत्सदृशो द्विजः ॥६९॥  
 शुष्मादृशालभते तु मिथ्यादृष्टिमिष्यमा । समानाजीविभिः कर्तुं संबन्धोऽभिमतो हि नः ॥७०॥  
 इत्युक्तवन् समानास्य वर्णलाभेन युज्यते । विधिवत् सोऽपि त लब्ध्वा याति तत्समकक्षताम् ॥७१॥  
 इति वर्णलामक्रिया ।  
 वर्णलामोऽयमुचिष्टः कुलचर्याऽधुनोच्यते । आर्यवृत्तकर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥७२॥  
 इति कुलचर्या ।

तदनन्तर — जिन्हें वर्णलाम हो चुका है और जो अपने समान ही आजीविका करते हैं ऐसे अन्य श्रावकोके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्य पुरुषके वर्ण-  
 लाभ नामकी क्रिया होती है ॥६१॥ इस क्रियाके करते समय वह भव्य चार बड़े-बड़े श्रावकोको  
 आदर-सत्कार कर बुलावे और उनसे कहे कि आप लोग मुझे अपने समान बनाकर मेरा  
 अनुग्रह कीजिए ॥६२॥ आप लोग संसारसे पार करनेवाले देव ब्राह्मण हैं, ससारमे पूज्य हैं  
 और मेने भी दीक्षा लेकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये हैं ॥६३॥ मेने गृहस्थोके सम्पूर्ण धर्मका  
 आचरण किया है, दान भी दिये हैं और गुरुओका पूजन भी किया है ॥६४॥ मेने गुरुके  
 अनुग्रहसे योनिके बिना ही उत्पन्न होनेवाला जन्म धारण किया है, और चिरकालसे पालन  
 किये हुए मिथ्याधर्मको छोड़कर जिसका पहले कभी चिन्तन भी नहीं किया था ऐसा सम्यक्  
 चारित्र्य धारण किया है ॥६५॥ व्रतोकी सिद्धिके लिए ही मेने इस समय यज्ञोपवीत धारण  
 किया है और श्रावकाचारके प्ररूपक श्रुतका अच्छी तरह अध्ययन कर विद्वान् भी हो गया हूँ  
 ॥६६॥ व्रतावतरण क्रियाके बाद ही मेने आभूषण स्वीकार किये हुए हैं, मेने अपनी पत्नीके  
 भी संस्कार किये हैं और उसके साथ दुबारा विवाहसंस्कार भी किया है ॥६७॥ इस प्रकार व्रत  
 धारण करनेवाले मुझको वर्णलामकी प्राप्ति होना उचित है और वह भी आप साधर्म्यी पुरुषोकी  
 आज्ञासे सहज ही प्राप्त हो सकती है ॥६८॥ इस प्रकार कह चुकनेपर वे श्रावक कहे कि ठीक है,  
 ऐसा ही होगा, तुमने जो कुछ कहा है वह सब प्रथमनीय है, तुम्हारे समान और दूसरा द्विज कौन  
 है ? ॥६९॥ आप-जैसे पुरुषोके न मिलनेपर हम लोगोको समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियों-  
 के साथ भी सम्बन्ध करना पड़ता है ॥७०॥ इस प्रकार कहकर वे श्रावक उसे आश्वासन दे  
 और वर्णलामसे युक्त करावे तथा वह भव्य भी विधिपूर्वक वर्णलामको पाकर उन सब श्रावको-  
 की समानताको प्राप्त होता है ॥७१॥ यह तेरहवी वर्णलाम नामकी क्रिया है ।

यह वर्णलाम क्रिया कह चुके । अब कुलचर्या क्रिया कही जाती है । आर्य पुरुषोके करने

१ कर्मोपदानादानादिसम्बन्धम् । २ सविधातुमिच्छत । ३ सद्धार्यपट्टकर्मदिव्यवृत्तिभिः । ४ निबन्धनैः ।  
 ५ चतुःस्रयान् । ६ युष्मत्सदृशोऽकृत । ७ चिरकालसंस्कारितम् । ८ पूर्वस्मिन्-  
 भावितम् । सद्बृत्तमित्यर्थः । ९ संपूर्णविद्य । १० सुष्ठुवचीत । ११-सकन्नत ल०, द० । १२ सावधी-  
 कृतकचिद्व्रतावतारणावसाने । १३ इष्टम् ।

विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसंपत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥७३॥

प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुतिस्मृतिपुराणविद् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तः तदा धत्ते गृहीशिताम् ॥७४॥

इति गृहीशिताक्रिया ।

ततः पूर्ववदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभावनाः समुपेयुषः ॥७५॥

इति प्रशान्तताक्रिया ।

• गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहवासाद् विरज्यतः । योग्यं स्रुजं यथान्यायमनुशिष्यं गृहोज्झनम् ॥७६॥

इति गृहत्यागक्रिया ।

त्यक्तागारस्य तस्यावस्तपोवनमुपेयुषः । एकशाटकधारित्वं प्राग्बहीक्षाद्यमिष्यते ॥७७॥

इति दीक्षाद्यक्रिया ।

ततोऽस्य जिनरूपत्वमिष्यते त्यक्तवाससः । धारणं जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिनः ॥७८॥

इति जिनरूपता ।

क्रियाशेषास्तु निःशेषा प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपद्याः स्युर्न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ॥७९॥

यस्वेतास्तस्त्वतो ज्ञात्वा भव्यः समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणमचिरात्सुखसाहवन् ॥८०॥

इति दीक्षान्वयक्रिया ।

योग्य देवपूजा आदि छह कार्योंमें पूर्ण प्रवृत्ति रखना कुलचर्या कहलाती है ॥७२॥ यह कुलचर्या नामकी चौदहवी क्रिया है ।

ऊपर कहे हुए चारित्रसे विशुद्ध हुआ श्रावक गृहीशिता क्रियाको प्राप्त होता है । जो सम्यक्चारित्र और अध्ययनरूपी सम्पत्तिसे परपुरुषोंका उपकार करनेमें समर्थ है, जो प्रायश्चित्तकी विधिका जानकार है, श्रुति, स्मृति और पुराणका जाननेवाला है ऐसा भव्य गृहस्थाचार्य पदको प्राप्त होकर गृहीशिता नामकी क्रियाको धारण करता है ॥७३-७४॥ यह गृहीशिता नामकी पन्द्रहवी क्रिया है ।

तदनन्तर नाना प्रकारके उपवास आदिकी भावनाओंको प्राप्त होनेवाले उस भव्यके पहलेके समान ही प्रशान्तता नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७५॥ यह सोलहवी प्रशान्तता क्रिया है ।

तत्पश्चात् जब वह घरके निवाससे विरक्त होकर योग्य पुत्रको नीतिके अनुसार शिक्षा देकर घर छोड़ देता है तब उसके गृहत्याग नामकी क्रिया होती है ॥७६॥ यह सत्रहवी गृहत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर जो घर छोड़कर तपोवनमें चला गया है ऐसे भव्य पुरुषका पहलेके समान एक वस्त्र धारण करना यह दीक्षाद्य नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७७॥ यह दीक्षाद्य नामकी अठारहवी क्रिया है ।

इसके बाद जब वह गृहस्थ वस्त्र छोड़कर किन्हीं योग्य आचरणवाले मुनिराजसे दिग्भ्रमर रूप धारण करता है तब उसके जिनरूपता नामकी क्रिया कही जाती है ॥७८॥ यह उन्नीसवी जिनरूपता क्रिया है ।

इनके सिवाय जो कुछ क्रियाएँ बाकी रह गयी हैं वे सब जिस प्रकार गर्भान्वय क्रियाओंमें कही गयी हैं उसी प्रकार प्रतिपादन करने योग्य हैं । इनमें और उनमें कोई भेद नहीं है ॥७९॥ जो भव्य इन क्रियाओंको यथार्थरूपसे जानकर उनका पालन करता है वह सुखके अधीन होता हुआ बहुत शीघ्र निर्वाणको प्राप्त होता है ॥८०॥ इस प्रकार यह दीक्षान्वय क्रियाओंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि द्विजाः<sup>१</sup> कर्त्रन्वयक्रियाः । याः<sup>२</sup> प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयुर्मन्यदेहितः ॥८१॥  
तत्र सजातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी । या सा<sup>३</sup> वासन्नमन्यस्य नृजन्मोपागमं भवेत् ॥८२॥  
स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्यये । विबुद्धं लभते जन्म सैषा सजातिरित्यते ॥८३॥  
विबुद्धकुलजात्यादिसप्तसजातिरुच्यते ।<sup>४</sup> उदितोदितवंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥८४॥  
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिमाप्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥८५॥  
विबुद्धिरुमयस्यास्य सजातिरनुवर्णिता । यद्यासौ<sup>५</sup> सुलभा<sup>६</sup> बोधिरयलोप नतैर्गुणैः ॥८६॥  
सज्जन्मप्रतिलग्मोऽयमार्यावर्तं<sup>७</sup> विशेषतः । सत्यां देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७॥  
शरीरजन्मना सैषा सजातिरुपवर्णिता ।<sup>८</sup> दृष्टन्मूला यतः<sup>९</sup> सर्वाः पुंसांमिष्टार्थसिद्धयः ॥८८॥  
संस्कारजन्मना चान्या सजातिरनुकीर्यते ।<sup>१०</sup> यामासाद्य द्विजन्मत्व मन्यात्मा समुपाश्रुते ॥८९॥  
विबुद्धाकरसंभूतो मणिः संस्कारयोगतः । चात्युत्कर्षं यथाऽऽस्त्वैव<sup>११</sup> क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥९०॥  
<sup>१२</sup> सुवर्णपातुरथवा बुद्धवेदासाद्य संस्कृत्याम् । यथा तथैव मन्यात्मा बुद्धचत्यासादितक्रिय ॥९१॥  
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम् । यदाय लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥९२॥

अथानन्तर—हे द्विजो, मैं आगे उन कर्त्रन्वय क्रियाओंको कहता हूँ जो कि अल्पसंख्यकी भव्य प्राणी ही के हो सकती हैं ॥८१॥ उन कर्त्रन्वय क्रियाओंमें कल्याण करनेवाली सबसे पहली क्रिया सजाति है जो कि किसी निकट भव्यको मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर होती है ॥८२॥ मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर जब वह दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंशमें विबुद्ध जन्म धारण करता है तब उसके यह सजाति नामकी क्रिया होती है ॥८३॥ विबुद्ध कुल और विबुद्ध जातिरूपी सम्पदा सजाति कहलाती है । इस सजातिसे ही पुण्यवान् मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम उत्तम वंशोंको प्राप्त होता है ॥८४॥ पिताके वंशकी जो बुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माताके वंशकी बुद्धि जाति कहलाती है ॥८५॥ कुल और जाति इन दोनोंकी विबुद्धि को सजाति कहते हैं, इस सजातिके प्राप्त होनेपर बिना प्रयत्नके सहज ही प्राप्त हुए गुणोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है ॥८६॥ आर्यखण्डकी विशेषतासे सजातित्वकी प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्री मिलनेपर प्राणियोंके अनेक प्रकारके कल्याण उत्पन्न करती है । भावार्थ—यदि आर्यखण्डके विबुद्ध वंशोंमें जन्म हो और शरीर आदि योग्य सामग्रीका सुयोग प्राप्त हो तो अनेक कल्याणोंकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है ॥८७॥ यह सजाति उत्तम शरीरके जन्मसे ही वर्णन की गयी है क्योंकि पुरुषोंके समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिका मूलकारण यही एक सजाति है ॥८८॥ संस्काररूप जन्मसे जो सजातिका वर्णन किया जाता है वह दूसरी ही सजाति है उसे पाकर भव्य जीव द्विजन्मपनेको प्राप्त होता है ॥८९॥ जिस प्रकार विबुद्ध ज्ञानमें उत्पन्न हुआ रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार क्रियाओं और मन्त्रोंसे सुसंस्कारको प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हो जाता है ॥९०॥ अथवा जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम संस्कारको पाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भव्य जीव उत्तम क्रियाओंको पाकर बुद्ध हो जाता है ॥९१॥ वह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है, सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिस समय वह पुण्यवान् भव्य साक्षात् सर्वज्ञ देवके मुखसे उस उत्तम ज्ञान-

१ शो द्विजा । २ प्रत्यासन्नमोक्षस्य । ३ सा वासन्न — ल० । ४ उत्तरोत्तराभ्युदयवदन्वयत्वम् । ५ यत् सजाति प्राप्ती सधाम् । ६ रत्नत्रयप्राप्तिः । ७ उपागतं । ८ सजातिपरिप्राप्तिः । ९ आर्यखण्डः । 'आर्यावर्तं पुण्यभूमि' इत्यभिधानात् । १० एषा सजातिर्मूलं कारणं यासां ता । ११ यत् कारणात् । १२ संस्कारजन्मसजातिम् । १३ उत्कर्षं याति । १४ सुवर्णपाषाणम् ।



तदैव परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो भवेद् द्विजन्मेनि व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥६३॥  
 व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मन्त्रपुरःसरम् । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितम् ॥६४॥  
 यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकम् । सूत्रमौपासिकं तु स्याद् भावरूढैस्त्रिभिर्गुणैः ॥६५॥  
 यदैव लब्धसंस्कारः परं ब्रह्माधिगच्छति । तदनमभिनन्द्याशीर्वचोभिर्गोपनायकाः ॥६६॥  
 लम्भयन्पुचितां शेषां जैर्नां पुष्पैरथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं परम् ॥६७॥  
 अथोपनिषत्संभवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवम् । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिमागमवेत् ॥६८॥  
 ततोऽधिगतसज्जातिः सदगृह्णित्वमसौ भजेत् । गृहमेधीभवन्नार्यपट्कर्मण्यनुपालयन् ॥६९॥  
 यदुक्तं गृहचर्यायामनुष्ठानं विष्णुद्विमत् । तदासविहितं कृत्स्नमतन्द्रालुः ससाचरेत् ॥७०॥  
 जिनेन्द्रालुः सजन्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं द्विजसत्तमः ॥७१॥  
 तमेन धर्मसाङ्गतं स्थापन्ते धार्मिका जनाः । परं तेज ह्यब्रह्मवतीर्णं महीतलम् ॥७२॥  
 स यजन् याजयन् धीमान् यजमानैरुपासितः । अघ्यापयन्नधीयानो वेदवेदाङ्गविस्तरम् ॥

को प्राप्त करता है उस समय वह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और व्रत तथा शीलसे विभूषित होकर द्विज कहलाता है ॥६२-६३॥ सर्वज्ञ देवकी आज्ञा-को प्रधान माननेवाला वह द्विज जो मन्त्रपूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतोंका चिह्न है, वह सूत्र द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥६४॥ तीन लरका जो यज्ञोपवीत है वह उसका द्रव्यसूत्र है और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी गुणोंसे बना हुआ जो श्रावकका सूत्र है वह उसका भावसूत्र है ॥६५॥ जिस समय वह भव्य जीव संस्कारोंको पाकर परम ब्रह्मको प्राप्त होता है उस समय आचार्य लोग आशीर्वदरूप वचनोंसे उसकी प्रणसा कर उसे पुष्प अथवा अक्षतोंसे जिनेन्द्र भगवान्की आशिषिका ग्रहण कराते हैं अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजासे बचे हुए पुष्प अथवा अक्षत उसके चार आदि अगोंपर रखवाते हैं क्योंकि यह एक प्रकारका स्थिरीकरण है और धर्ममें अत्यन्त उत्साह बढ़ानेवाला है ॥६६-६७॥ इस प्रकार जब यह भव्य जीव बिना योनिके प्राप्त हुए दिव्यज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न होनेवाले उत्कृष्ट जन्मको प्राप्त होता है तब वह सज्जातिको धारण करनेवाला समझा जाता है ॥६८॥ यह सज्जाति नामकी पहली क्रिया है ।

तदनन्तर जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य सदगृह्णित्व क्रियाको प्राप्त होता है इस प्रकार जो सदगृह्णित्व होता हुआ आर्य पुरुषोंके करने योग्य छह कर्मोंका पालन करता है, गृहस्थ अवस्थामे करने योग्य जो-जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं अरहन्त भगवान्के द्वारा कहे हुए उन उन समस्त आचरणोंका जो आलस्य-रहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणधरदेवने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज - आत्मतेजको धारण करता है ॥६९-७०॥ उस समय धर्मस्वरूप हुए उस भव्यकी अन्य धर्मात्मा लोग यह कहते हुए प्रणसा करते हैं कि तू पृथिवीतलपर अवतीर्ण हुआ उत्कृष्ट ब्रह्मतेजके समान है ॥७०२॥ पूजा करनेवाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं, जो स्वयं पूजन करता है, और दूसरोंसे भी कराता

१ यज्ञसूत्रम् । २ उपासकाचारसंज्ञित्वि । ३ मनसा विकल्पिते । ४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्ये । उपलब्धि-उपयोगसंस्कारैर्वा । ५ परमज्ञानम्, परमतपो वा । ६ आचार्या । ७ प्रापयन्ति । ८ प्रवर्तनम् । ९ ममाचरन् द०, अ०, ल०, प०, इ०, स० । १० वृत्ताध्ययनमपत्तिम् । 'स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनद्वि' इत्यभिधानात् । ११ ज्ञानसर्वव्युत्कृष्टतेज इव । १२ यजनं कुर्वन् । १३ यजनं कारयन् । १४ पूजाकारकं । १५ आराधितः । १६ अध्ययनं कारयन् । १७ आगम - आगमाङ्गम् ।

सृष्टशत्रुपि मही नैव सृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्वादिहैवाम्यर्चितैर्गुणैः ॥१०४॥  
 नाणिमा महिर्मावास्थ गरिर्मेव न लावचम् । प्राप्तिः प्राकान्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५॥  
 गुणैरिभिरुपाख्यमहिमा देवसान्द्रवम्<sup>३</sup> । विभ्रल्लोकाविगं धाम सङ्ग्रामेव महीयते ॥१०६॥  
 धर्मैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन् रूमावयत्यसौ ॥१०७॥  
 अथ जातिमदावेशात् कश्चिदेवं द्विजव्रुवः । मृयादेवं किमथैव देवभूय<sup>४</sup> गतो भवान् ॥१०८॥  
 त्वमासुप्यायण<sup>५</sup> किञ्च किन्ते<sup>६</sup> ऽम्बाऽमुष्य पुत्रिका<sup>७</sup> । येनैवमुन्नसो<sup>८</sup> भूत्वा यास्यसत्कृत्य मद्रिधान् ॥१०९॥  
 जातिः सैव कुलं तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतनः<sup>९</sup> । तथापि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान् ॥११०॥  
 देवतातिथिपित्रसिकार्येष्वप्रयतो<sup>१०</sup> भवान् । गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥१११॥  
 दीक्षां जैनी प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यरूपं पादुचारी महौ सृष्टशत्रु ॥११२॥  
 इत्युपाख्यसंरम्भसु<sup>११</sup> पालब्धः<sup>१२</sup> स केनचित् । दृष्टात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिष्वेगलैः<sup>१३</sup> ॥११३॥  
 श्रूयतां मो द्विजंसम्य त्वयाऽस्मद्विष्यसंभवः<sup>१४</sup> । जिनो<sup>१५</sup> जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः ॥११४॥

है, जो वेद और वेदांगके विस्तारको स्वयं पढ़ता है तथा दूसरोंको भी पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथिवीका स्पर्ण करता है तथापि पृथिवीसम्बन्धी दोष जिसका स्पर्ण नहीं कर सकते हैं, जो अपने प्रगंसनीय गुणोंसे इसी पर्यायमें देवपर्यायको प्राप्त होता है, जिसके अणिमा ऋद्धि अर्थात् छोटापन नहीं है किन्तु महिमा अर्थात् बड़प्पन है, जिसके गरिमा ऋद्धि है परन्तु लविमा नहीं है, जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओंके गुण विद्यमान हैं, उपर्युक्त गुणोंसे जिसकी महिमा बढ़ रही है, जो देवरूप हो रहा है और लोकको उल्लंघन करनेवाला उच्छृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य पृथिवीपर पूजित होता है ॥१०३-१०६॥ सत्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्मसम्बन्धी आचरणोंसे वह अपनेमें प्रगंसनीय देवब्राह्मणपनेकी सम्भावना करता है अर्थात् उत्तम आचरणोंसे अपने आपको देवब्राह्मणके समान उत्तम बना देता है ॥१०७॥

यदि अपनेको झूठमूठ ही द्विज माननेवाला कोई पुरुष अपनी जातिके अहंकारके आवेग-से इस देवब्राह्मणसे कहे कि आप क्या आज ही देवपनेको प्राप्त हो गये हैं ? ॥१०८॥ क्या तू अमुक पुरुषका पुत्र नहीं है ? और क्या तेरी माता अमुक पुरुषकी पुत्री नहीं है ? जिससे कि तू इस तरह नाक ऊँची कर मेरे ऐसे पुरुषोंका सत्कार किये बिना ही जाता है ? ॥१०९॥ यद्यपि तेरी जाति वही है, कुल वही है और तू भी वही है जो कि सवेरेके समय था तथापि तू अपने आपको देवतारूप मानता है ॥११०॥ यद्यपि तू देवता, अतिथि, पितृगण और अन्निके कार्यमें निपुण है तथापि गुरु, द्विज और देवोंको प्रणाम करनेसे विमुख है ॥१११॥ जैनी दीक्षा धारण करनेसे तुझे कौन-सा अतिशय प्राप्त हो गया है ? क्योंकि तू अब भी मनुष्य ही है और पृथिवीको स्पर्ण करता हुआ पैरोंसे ही चलता है ॥११२॥ इस प्रकार क्रोध धारण कर यदि कोई उलाहना दे तो उसके लिए युक्तिते भरे हुए वचनोंसे इस प्रकार उत्तर दे ॥११३॥ है अपने आपको द्विज माननेवाले, तू मेरा दिव्य जन्म सुन, श्री जिनेन्द्रदेव ही मेरा पिता है और

१ रत्नत्रयादिगुणलामः । २ प्रकर्षेणासमन्तात् सकलाभिलषणीयत्वम् । ३ देवादीनम् । देव साद्भवम् ल०, द०, इ० । देवसाद्भवेत् अ०, प०, स० । ४ देवत्वम् । ५ कुलीन । 'प्रसिद्धपितृवृत्तपन्न आमुष्यायण उच्यते ।' ६ तव । ७ कुलीना पुत्री । ८ येन कारणेन । ९ उद्यतनासिकः । १० प्राग्भवः । ११ अन्वप्राकृतो ल०, द० । १२ स्वीकृतक्रोध यथा भवति तथा । १३ दूषित । १४ पटुनि । १५ अस्माकं देवोत्पत्तिः । १६ पिता ।

१ तत्रार्हती त्रिधा<sup>१</sup> भिन्नां शक्तिं त्रैगुण्यसंश्रिताम्<sup>२</sup> । स्वसात्कृत्य समुद्भूता वयं संस्कारजन्मना ॥११५॥  
 अयोनिर्संभवास्तेन देवा एव न मानुषाः । वयं वयमिवान्येऽपि सन्ति चेद् ब्रूहि तद्विधान्<sup>३</sup> ॥११६॥  
 स्वायम्भुवान्मुखाज्जातास्ततो देवद्विजा वयम् । मतचित्त्वं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम्<sup>४</sup> ॥११७॥  
 पापसूत्रानुगा यूथं न द्विजा सूत्रकण्ठकाः<sup>५</sup> । सन्मार्गकण्ठकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥११८॥  
 शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मतम् । जन्माद्भिनां सृष्टिश्रैवं द्विधान्नाता जिनागमे ॥११९॥  
 देहान्तरपरिप्राप्तिः पूर्वदेहपरिक्षयाद् । शरीरजन्म विज्ञेयं देहभाजां भवान्तरे ॥१२०॥  
 तथालब्धात्मलाभस्य पुनः संस्कारयोगतः । द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम् ॥१२१॥  
 शरीरमरणं स्वायुरन्ते देहविसर्जनम् । संस्कारमरणं प्राप्तव्रतं स्यागः समुज्जनम् ॥१२२॥  
 १ यतोऽयं लब्धसंस्कारो विजहासि प्रगेतनम्<sup>६</sup> । मिथ्यादर्शनपर्यायं ततस्तेन<sup>७</sup> सृष्टौ भवेत् ॥१२३॥  
 तत्र<sup>८</sup> संस्कारजन्मेदमपापोपहतं परम् । जातं नो<sup>९</sup> गुर्वनुज्ञानादतो<sup>१०</sup> देवद्विजा वयम् ॥१२४॥  
 इत्यामनो गुणोत्कर्षं ख्यापयन्मयावत्सर्गना । गृहमेधी भवेत् प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरम् ॥१२५॥  
 भूयोऽपि संप्रवक्ष्यामि ब्राह्मणान् सत्क्रियोवितान् । जातिवादावलेपस्य<sup>११</sup> निरासार्थमतः परम् ॥१२६॥

ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है ॥११४॥ उस गर्भमें उपलब्धि, उपयोग और संस्कार इन तीन गुणोंके आश्रित रहनेवाली जो अरहन्तदेवसम्बन्धिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ये तीन भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं उन्हें अपने अधीन कर हम संस्काररूपी जन्मसे उत्पन्न हुए हैं ॥११५॥ हम लोग बिना योनिसे उत्पन्न हुए हैं इसलिए देव ही है मनुष्य नहीं है, हमारे समान जो और भी है उन्हें भी तू देवब्राह्मण कह ॥११६॥ हम लोग स्वयम्भूके मुखसे उत्पन्न हुए हैं इसलिए देवब्राह्मण है और हमारे व्रतोंका चित्त शास्त्रोमे कहा यह पवित्र सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत है ॥११७॥ आप लोग तो गलेमें सूत्र धारण कर समीचीन मार्गमें तीक्ष्ण कण्ठक बनते हुए पापरूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले हैं, केवल मलसे दूषित हैं, द्विज नहीं हैं ॥११८॥ जीवोंका जन्म दो प्रकारका है एक तो शरीरजन्म और दूसरा संस्कार-जन्म । इसी प्रकार जैनशास्त्रोंमें जीवोंका मरण भी दो प्रकारका माना गया है ॥११९॥ पहले शरीरका क्षय हो जानेसे दूसरी पर्यायमें जो दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है उसे जीवोका शरीरजन्म जानना चाहिए । ॥१२०॥ इसी प्रकार संस्कारयोगसे जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष-को जो द्विजपनेकी प्राप्ति होना है वह संस्कारज अर्थात् संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है ॥१२१॥ अपनी आयुके अन्तमें शरीरका परित्याग करना शरीरमरण है तथा व्रती पुरुष-का पापोंका परित्याग करना संस्कारमरण है ॥१२२॥ इस प्रकार जिसे सब संस्कार प्राप्त हुए हैं ऐसा जीव मिथ्यादर्शनरूप पहलेके पर्यायको छोड़ देता है इसलिए वह एक तरहसे मरा हुआ ही कहलाता है ॥१२३॥ उन दोनों जन्मोंमें-से जो पापसे दूषित नहीं है ऐसा संस्कारसे उत्पन्न हुआ यह उत्कृष्ट जन्म गुरुकी आज्ञानुसार मुझे प्राप्त हुआ है इसलिए मैं देवद्विज या देवब्राह्मण कहलाता हूँ ॥१२४॥ इस प्रकार न्यायमार्गसे अपने आत्माके गुणोंका उत्कर्ष प्रकट करता हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ सद्गृहित्व अवस्थाको पाकर सद्गृहस्थ होता है ॥१२५॥ उत्तम क्रियाओंके करने योग्य ब्राह्मणोंसे उनके जातिवादका अहंकार दूर करनेके लिए इसके

१ ज्ञानगर्भे । २ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणीति त्रिप्रकारे । ३ उपलब्ध्युपयोगसंस्कारात्मता गताम् । ४ अयोनि-संभवप्रकारान् । अयोनिः संभवसदृशानित्यर्थः । ५ आगमप्रोक्तम् । ६ सूत्रमात्रमेव कण्ठे येषां ते । ७ यस्मात् कारणात् । ८ प्राक्तनम् । ९ मिथ्यादर्शनव्यजनरूपेणेत्यर्थः । १० शरीरजन्मसंस्कारजन्मनोः । ११ अस्माकम् । १२ गुरोरनुज्ञायाः । १३ गर्वस्य । १४ निराकरणाय ।

ब्रह्मोऽप्यमिषे<sup>१</sup> ब्रह्म भा. समुदाहृता. । ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान् परमेष्ठौ जिनोत्तमः ॥१२७॥  
 स ह्यादिपरमब्रह्मा जिनैन्द्रो गुणवृंहणात् । परं ब्रह्म यदायत्तमागमन्ति मुनीश्वराः ॥१२८॥  
 जैनाजिनधरो ब्रह्मा जटाकूर्चदिलक्षणः । यः कामगर्दभो<sup>२</sup> भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्चसात्<sup>३</sup> ॥१२९॥  
 त्रिन्यमूतेजिनेन्द्रस्य ज्ञानगर्भादिनाविलात्<sup>४</sup> । समासादितजन्मानो द्विजन्मानस्ततो मता ॥१३०॥  
 'वर्णोन्त.पातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमा' । व्रतमन्त्रादिसंस्कारसमारोपितगौरवाः ॥१३१॥  
 वर्णोत्तमानिमान् विश्व. क्षान्तिमौचपरायणान् । संतुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यानक्रिष्टाचारभूषणान् ॥१३२॥  
 'क्रिष्टाचारा. परे नैव ब्राह्मणा द्विजमानिनः । पापारम्भरता गन्धदाहृत्य' पञ्चचातिनः ॥१३३॥  
 सर्वमधर्म्यं<sup>५</sup> धर्ममभ्युपेत्य पञ्चस्रताम्<sup>६</sup> । का नाम गतिरेषां स्यात् पापशास्त्रोपजीविनाम् ॥१३४॥  
 चोदनालक्षणं<sup>७</sup> धर्ममधर्मं प्रतिजानते<sup>८</sup> । ये तेभ्यः कर्मचाण्डालान् पश्यामो नापरां सुवि ॥१३५॥  
 पार्थिवैर्दण्ठनीयाश्च लुण्ठकाः<sup>९</sup> पापपण्डिताः । तेऽमी धर्मं लुप्यां वाह्या ये निग्नन्त्यष्टुणाः<sup>१०</sup> पश्यान् ॥१३६॥  
 'पशुहत्यासमारम्भात् क्रव्यादभ्योऽपि' निष्कृपाः । यद्युच्छ्रिति<sup>११</sup> सुशान्त्येते हन्तैर्व धार्मिका हताः ॥१३७॥

आगे फिर भी कुछ कहता हूँ ॥१२६॥ जो ब्रह्माको सन्तान है, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं और स्वयम्भू, भगवान्, परमेष्ठो तथा जिनैन्द्रदेव ब्रह्मा कहलाते हैं । भावार्थ — जो जिनैन्द्र भगवान्-का उपदेश सुनकर उनकी शिष्य-परम्परामें प्रविष्ट हुए हैं वे ब्राह्मण कहलाते हैं ॥१२७॥ श्रीजिनैन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा हैं क्योंकि वे ही गुणोंको बढ़ानेवाले हैं और उक्त ब्रह्म अर्थात् ज्ञान भी उन्हींके अधीन है ऐसा मुनियोंके ईश्वर मानते हैं ॥१२८॥ जो मृगचर्म धारण करता है, जटा, दाढ़ी आदि चिह्नोंसे युक्त है तथा कामके वश गधा होकर जो ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता ॥१२९॥ इसलिए जिन्होंने दिव्य-मूर्तिके धारक श्री जिनैन्द्रदेवके निर्मल ज्ञानरूपी गर्भसे जन्म प्राप्त किया है वे ही द्विज कहलाते हैं ॥१३०॥ व्रत, मन्त्र तथा संस्कारोंसे जिन्हें गौरव प्राप्त हुआ है ऐसे इन उत्तम द्विजोंको वर्णोंके अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए अर्थात् ये वर्णोत्तम हैं ॥१३१॥ जो क्षमा और शौच गुणोंके धारण करनेमें सदा तत्पर हैं, सन्तुष्ट रहते हैं, जिन्हें विशेषता प्राप्त हुई है और निर्दोष आचरण हो जिनका आभूषण है ऐसे इन द्विजोंको सब वर्णोंमें उत्तम मानते हैं ॥१३२॥ इनके सिवाय जो मलिन आचारोंके धारक हैं, अपनेको झूठमूठ द्विज मानते हैं, पापका आरम्भ करनेमें सदा तत्पर रहते हैं और हठपूर्वक पशुओंका घात करते हैं वे ब्राह्मण नहीं हो सकते ॥१३३॥ जो समस्त हिसामय धर्म स्वीकार कर पशुओंका घात करते हैं ऐसे पापशास्त्रोंसे आजीविका करनेवाले इन ब्राह्मणोंकी न जाने कौन-सी गति होगी ? ॥१३४॥ जो अधर्म स्वरूप वेदमें कहे हुए प्रेरणात्मक धर्मोंको धर्म मानते हैं मैं उनके सिवाय इस पृथिवीपर और किसीकी कर्म चाण्डाल नहीं देखता हूँ अर्थात् वेदमें कहे हुए धर्मोंको माननेवाले सबसे बढ़कर कर्म चाण्डाल हैं ॥१३५॥ जो निर्दय होकर पशुओंका घात करते हैं वे पापरूप कार्योंमें पण्डित हैं, लुटेरे हैं, और धर्मत्यागी लोगोंसे वाह्य हैं; ऐसे पुरुष राजाओंके द्वारा दण्डनीय होते हैं ॥१३६॥ पशुओंकी हिंसा करनेके उद्योगसे जो राक्षसोंसे भी अधिक निर्दय हैं यदि ऐसे पुरुष ही उक्तव्रतोंको प्राप्त होते हों तब

१ परमपदे स्थित । २ कामाद् गर्दभाकारमुख इत्यर्थ । ३ अध्ययनसपत्ते । ४ अकलुपात् । ५ वर्णमात्र-  
 चतिन इत्यर्थ । ६ दुष्ट । ७ हठात्, साक्षात् वा । ८ हिसामयम् । ९ हिंसां कुर्वताम् । १० वेदोन्तलक्षणम् ।  
 ११ प्रतिज्ञा कुर्वते । १२ चोरा । १३ नि कृपा । १४ पशुहृन्ननशारम्भात् । १५ राक्षसेभ्यः । 'राक्षस कोणप-  
 क्रव्यात् क्रव्यादोऽप्यप आचार' इत्यभिधानात् । १६ उन्नतिम् ।

मलिनाचरितां ह्येते कृष्णवर्णं द्विजमुवाः । जैनास्तु निर्मलाचाराः शुक्लवर्णं मता बुधैः ॥१३८॥  
 ३ श्रुतिस्मृतिपुरावृत्तवृत्तमन्त्रक्रियाश्रिता । देवतालिङ्गकामान्तकृता शुद्धिर्द्विजन्मनाम् ॥१३९॥  
 ये विशुद्धतरां वृत्तिं तत्कृतां समुपाश्रिताः । ते शुक्लवर्णं बोधव्याः शेषाः शुद्धेः बहिः कृता ॥१४०॥  
 तच्छुद्धयशुद्धीं बोधन्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः । न्यायो दयाद्रवृत्तित्वमन्यायः प्राणिसारणम् ॥१४१॥  
 विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः । वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ॥१४२॥  
 स्यादाकारकां च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम् । हिंसादोषोऽनुसंगी स्याज्जनानां च द्विजन्मनाम् ॥१४३॥  
 इत्यत्र ब्रूमहे सत्यं मत्स्यसावद्यसंगतिः । तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥१४४॥  
 अपि चैषां विशुद्धयङ्गं पक्षधर्यां च साधनम् । इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृणमहे ॥१४५॥  
 तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम् । मैत्रीप्रमोदकाख्यमाध्यस्थैरुपबृंहितम् ॥१४६॥  
 चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्धयर्थमेव वा । औषधाहारकल्पण्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥१४७॥  
 तत्राकामकृते<sup>१</sup> शुद्धिः प्रायश्चित्तेर्विधीयते । पश्चाच्चात्मात्मन्य<sup>२</sup> सूतो ध्यवस्थाप्य गृहोऽजनम् ॥१४८॥

तो दुःखके साथ कहना पड़ेगा कि बेचारे धर्मात्मा लोग व्यर्थ ही नष्ट हुए ॥१३७॥ ये द्विज लोग मलिन आचारका पालन करते हैं और झूठमूठ ही अपनेको द्विज कहते हैं इसलिये विद्वान् लोग इन्हें कृष्णवर्ण अर्थात् पापियोंके समूहमें गमित करते हैं और जैन लोग निर्मल आचारका पालन करते हैं इसलिये इन्हें शुक्लवर्ण अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें शामिल करते हैं ॥१३८॥ द्विज लोगोकी शुद्धि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मन्त्र और क्रियाओंके आश्रित है तथा देवताओंके चिह्न धारण करने और कामका नाश करनेसे भी होती है ॥१३९॥ जो श्रुति स्मृति आदिके द्वारा की हुई अत्यन्त विशुद्ध वृत्तिको धारण करते हैं उन्हें शुक्लवर्ण अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें समझना चाहिए और जो इनसे शेष बचते हैं उन्हें शुद्धिसे बाहर समझना चाहिए अर्थात् वे महा अशुद्ध हैं ॥१४०॥ उनकी शुद्धि और अशुद्धि, न्याय और अन्यायरूप प्रवृत्तिसे जाननी चाहिए । दयासे कोमल परिणाम होना न्याय है और प्राणियोका मारना अन्याय है ॥१४१॥ इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं । वे ही द्विज हैं । ये ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम हैं और जगत्पूज्य हैं ॥१४२॥

अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो अस्मि मषी आदि छह कर्मोंसे आजीविका करनेवाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसाका दोष लग सकता है परन्तु इस विषयमें हम यह कहते हैं कि आपने जो कहा है वह ठीक है, आजीविकाके लिए छह कर्म करनेवाले जैन गृहस्थोंके थोड़ी-सी हिंसाकी संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रोंमें उन दोषोंकी शुद्धि भी तो दिखलायी गयी है ॥१४३-१४४॥ उनकी विशुद्धिके अंग तीन हैं पक्ष, चर्या और साधन । अब मैं यहाँ इन्ही तीनका वर्णन करता हूँ ॥१४५॥ उन तीनोंमेंसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनियोका पक्ष कहलाता है ॥१४६॥ किसी देवताके लिए, किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिए अथवा किसी औषध या भोजन बनवानेके लिए मैं किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है ॥१४७॥ इस प्रतिज्ञामें यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमादसे दोष लग जावे तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि

१ पाप । २ पुण्य । ३ आगम । ४ धर्मसंहिता । ५ पुराण । ६ श्रुतिस्मृत्यादिकृताम् । ७ जैनद्विजोत्तरयोः शुद्धयशुद्धि । ८ वर्णमार्गवर्तितः । ९ शङ्का । १० 'हिंसादोषोऽनुसंगी स्यात्' इत्यत्र । ११ सत्यमित्यङ्गीकारे । १२ चेष्टिते । व्यापारे इत्यर्थः । १३ प्रमादजनिते दोषे । १४ - चात्मात्मन्य द०, ल०, इ०, अ०, प०, स० ।

चर्यया गृहिणा प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम् । वेदाहारहितत्यागाद् यानशुद्धात्मशोधनम् ॥१४९॥  
 त्रिष्वेतेषु न संपन्नो वधेनार्हद्विजन्मनाम् । इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तमेषाणां स्याज्जिराकृतिः ॥१५०॥  
 चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादाहर्ते मते । चातुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुन्दरम् ॥१५१॥  
 ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥१५२॥  
 ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन सान्तर्मदाः । धृतिविधाः । अन्यर्थास्त्वमोत्या तु नात्रैतेषां प्रपञ्चना ॥१५३॥  
 सद्गृहित्वमिदं ज्ञेयं पुनरात्मोपबृंहणम् । पारिव्राज्यमितो वक्ष्ये सुविशुद्धं क्रियान्तरम् ॥१५४॥  
 इति सद्गृहित्वम् ।

गाहस्थ्यमनुपार्येवं गृहचामाद् विरज्यते । यरीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्ष्यते ॥१५५॥  
 पारिव्राज्यं परिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणम् । तत्र निर्ममता-वृत्त्या जातरूपस्य धारणम् ॥१५६॥  
 प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलक्षणं ग्रहाणकं । निर्ग्रन्थाचार्यसाश्रित्य दीक्षा ब्राह्मणं सुमुक्षुणा ॥१५७॥  
 विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्गुरुत्स्य वपुष्मतः । दीक्षायोग्यत्वमाज्ञात सुमुखस्य सुमेधसः ॥१५८॥  
 ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽश्वरं ॥१५९॥

की जाती है तथा अन्तमे अपना सब कुटुम्ब पुत्रके लिए सौपकर घरका परित्याग किया जाता है ॥१४८॥ यह गृहस्थ लोगोकी चर्या कही, अब आगे साधन कहते हैं । आयुके अन्त समयमे शरीर आहार और समस्त प्रकारकी चेष्टाओका परित्याग कर ध्यानकी शुद्धिसे जो आत्माको शुद्ध करना है उसे साधन कहते हैं ॥१४९॥ अरहन्तदेवको माननेवाले द्विजोका पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोंमे हिसाके साथ स्पर्श भी नहीं होता, इस प्रकार अपने ऊपर ठहराये हुए दोषोका निराकरण हो सकता है ॥१५०॥ चारो आश्रमोकी शुद्धता भी श्री अर्हन्तदेवके मतमे ही है । अन्य लोगोने जो चार आश्रम माने हैं वे विचार किये बिना ही सुन्दर हैं अर्थात् जबतक उनका विचार नहीं किया गया है तभीतक सुन्दर हैं ॥१५१॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोके चार आश्रम हैं जो कि उत्तरोत्तर अधिक विगुद्ध होनेसे प्राप्त होते हैं ॥१५२॥ ये चारो ही आश्रम अपने-अपने अन्तर्मेदोसे सहित होकर अनेक प्रकारके हो जाते हैं, उनका विस्तारके साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए परन्तु ग्रन्थ बड़ जानेके भयसे यहाँ उनका विस्तार नहीं लिखा है ॥१५३॥ इस प्रकार गुणोके द्वारा अपने आत्माकी वृद्धि करना यह सद्गृहित्व क्रिया है । अब इसके आगे अत्यन्त विगुद्ध पारिव्राज्य नामकी तीसरी क्रियाका निरूपण करेंगे ॥१५४॥ यह दूसरी सद्गृहित्व क्रिया है ।

इस प्रकार गृहस्थधर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होते हुए पुरुषका जो दीक्षा ग्रहण करना है उसे पारिव्राज्य कहते हैं ॥१५५॥ परिव्राट्का जो निर्वाणदीक्षारूप भाव है उसे पारिव्राज्य कहते हैं, इस पारिव्राज्य क्रियामे ममत्व भाव छोडकर दिग्म्बररूप धारण करना पड़ता है ॥१५६॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहोके अन्तमे निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥१५७॥ जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य माना गया है ॥१५८॥ जिस दिन ग्रहोका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य-चन्द्रमापर परिवेष ( मण्डल ) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहोका उदय हो, आकाश मेघपटलसे ढका हुआ हो, नष्ट मास अथवा अधिक

१ चेष्टा । २ चतुराश्रमत्वम् । ३ नानाप्रकारा । ४ विरचित गच्छतः । ५ मुहूर्त । ६ ग्रहाचारकं । ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७ चन्द्रादिग्रहणे ।

नष्टाधिसादिनयोः संक्रान्तौ हानिमत्तिथौ । दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः ॥१६०॥  
 संप्रदायमनाहत्य यस्त्विमं दीक्षयेदधीः । स साधुभिर्विहिः कार्यो ब्रुवात्प्रासादनारतः ॥१६१॥  
 तत्र सूत्रपदान्याहुर्योगीन्द्राः सप्तविंशतिम् । यैर्निर्गतैर्मवेत्साक्षात् पारिव्राज्यस्य लक्षणम् ॥१६२॥  
 जातिमूर्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सुन्दराङ्गता । प्रभामण्डलचक्राणि तयामिषवनायते ॥१६३॥  
 सिंहासनोपधाने च छत्रचामरवोपणः । अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावागहने ॥१६४॥  
 क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञा सभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च । आपाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥१६५॥  
 जात्यादिकानिमात्रं सप्तविंशतिं परमं छिनाम् । गुणानाहुर्मज्जेदीक्षां स्वेष्टु ॥१६६॥  
 जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभवेद्वैतां क्रमौ । यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जातिं चतुष्टयीम् ॥  
 जातिरैन्द्री भवेद्विद्या चक्रिणां विजयाश्रिता । परमा जातिराहं स्ये स्वात्मोत्था सिद्धिर्मायुषाम् ॥१६७॥

मासका दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा अयतिथिका दिन हो उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्योके लिए दीक्षाकी विधि नहीं करना चाहते हैं अर्थात् उस दिन किसी शिष्यको नवीन दीक्षा नहीं देते हैं ॥१५९-१६०॥ जो मन्दबुद्धि आचार्य इस सम्प्रदायका अनादर कर नवीन शिष्यको दीक्षा दे देता है वह बृद्ध पुरुषोके उल्लंघन करनेमें तत्पर होनेसे अन्य साधुओके द्वारा बहिष्कार कर देने योग्य है । भावार्थ — जो आचार्य असमयमें ही शिष्यको दीक्षा दे देता है वह बृद्ध आचार्योकी मान्यताको उल्लंघन करता है इसलिए साधुओको चाहिए कि वे ऐसे आचार्यको अपने संघसे बाहर कर दे ॥१६१॥ मुनिराज इस पारिव्रज्य क्रियामें उन सत्ताईस सूत्र पदोंका निरूपण करते हैं जिनका कि निर्णय होनेपर पारिव्रज्यका साक्षात् लक्षण प्रकट होता है ॥१६२॥ जाति, मूर्ति, उसमें रहनेवाले लक्षण, शरीरकी सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥१६३-१६५॥ ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद परमेश्वरके गुण कहलाते हैं । उस भव्य पुरुषको अपने जाति आदि गुणोंसे आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिए । भावार्थ — ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेश्वरमें होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेनेवाले शिष्यमें भी यथासम्भव रूपसे होते हैं परन्तु शिष्यको अपने जाति आदि गुणोंका सम्मान नहीं कर परमेश्वरके ही जाति आदि गुणोंका सम्मान करना चाहिए । क्योंकि ऐसा करनेसे वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणोंसे बचकर अपने-आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है ॥१६६॥ स्वयं उत्तम जातिवाला होनेपर भी अहंकाररहित होकर अरहन्तदेवके चरणोंकी सेवा करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे वह भव्य दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार जातियोंको प्राप्त होता है ॥१६७॥ इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियोंके विजयाश्रिता, अरहन्तदेवके परमा और मोक्षको प्राप्त हुए जीवोंके अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाली स्वा-

१ नष्टमासस्याधिकमासस्य दिनयोः । २ असंपूर्णतिथौ । ३ संपूर्णमत्तयः । ४ आभ्यासम् ( परम्परा ) ।  
 ५ दीक्षा स्वीकृता । ६ ब्रुवातिक्रमणं तत्परः । ७ पारिव्राज्ये । ८ निश्चित । ९ प्रत्यक्षम् । १० मूर्तिस्थितम् ।  
 तत्रत्यं ल० । ११ अभिषेकश्च अभिषेको नाथता च स्वामित्वं च । १२ आत्मीयेषु । १३ जात्यादिषु ।  
 १४ अर्गादित । १५ चरणी । १६ अन्यान्तरे । १७ उत्पत्तौ सत्याम् । १८ दिव्यजातिविजयजाति । परमजातिः  
 स्वात्मोत्थजातिरिति । १९ इन्द्रस्य इयम् ।

मूर्त्यादिऽपि<sup>१</sup> नेत्रव्या कल्पनेयं चतुष्टयी । पुराणैरसंमोहात् कचिच्च<sup>२</sup> त्रितयी सता ॥१६९॥  
 कर्गयेनृत्तिमात्मीयां रत्नमूर्त्तयः शरीरिणाम् । तपोऽधितिच्छेद् दिव्यादिमूर्त्तैरासमना मुनिः ॥१७०॥  
 स्वलक्षणमनिर्देश्य<sup>३</sup> सम्प्रमानो जिनेशिनाम् । लक्षणान्यमिसंवायं तपस्यैव कृतलक्षणः ॥१७१॥  
 स्थापयन्<sup>४</sup> स्वाङ्गमौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरन् । वाञ्छन्दिव्यादिसौन्दर्यमनिवार्यपरम्परम् ॥१७२॥  
 मलीमसाङ्गो व्युत्पद्यतवकायप्रभवप्रभम् । प्रभोः प्रभा मुनिष्ययिन् भवेत् क्षिप्रं प्रमास्वरः ॥१७३॥  
 एवं मणिस्नेहं दीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन् । तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवल्लभोऽञ्जलः ॥१७४॥  
 त्यक्त्वाऽस्त्रं वस्त्रं गच्छाणि<sup>५</sup> प्राक्तनानि प्रगान्तिभाक् । जिनसाराभ्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥  
 त्यक्त्वाऽदिसंस्कारः सशित्य ज्ञातक<sup>६</sup> जिनम् । मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्मानिरेचनम् ॥१७६॥  
 एवं<sup>७</sup> स्वाभ्यन्तरेहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम् । सेविता सेवनीयत्वमेष्ट्येष जगज्जनैः ॥१७७॥  
 स्वोचितासनभेदान् त्यागान्यकाम्यरो मुनिः । सैहं चिद्वरमभ्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥१७८॥  
 स्वोपधानाधनादस्य योऽभून्निरूप्य<sup>८</sup> धिर्भुवि । शयानः स्थण्डिले बाहुभ्यामार्पितगिरस्तटः ॥१७९॥

जाति होती है ॥१६८॥ इन चारोंकी कल्पना मूर्ति आदिमें कर लेनी चाहिए, अपात्/जिस प्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदिके भी समझ लेना चाहिए । परन्तु पुराणोंको जाननेवाले आचार्य मोहरहित होनेसे किसी-किसी जगह तीन ही भेदोंको कल्पना करते हैं । भावार्थ — सिद्धोमें स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं ॥१६९॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कुश करना चाहिए तथा अन्य जीवोंके शरीरोंकी रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिए ॥१७०॥ इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करनेवाला वह पुरुष अपने लक्षणोंको निर्देश करनेके अयोग्य मानता हुआ जिनैन्द्रदेवके लक्षणोंका चिन्तन कर तपश्चरण करे ॥१७१॥ जिनकी परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्यों की इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीरके सौन्दर्यको मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥१७२॥ जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाली प्रभाका त्याग कर दिया है और जो अर्हन्तदेवकी प्रभाका ध्यान करता है ऐसा साधु गीघ्र ही देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्यप्रभा आदि प्रभावोंको प्राप्त करता है ॥१७३॥ जो मुनि अपने मणि और तेलके दीपक आदिका तेज छोड़कर तेजोमय जिनैन्द्र भगवान्की आराधना करता है वह प्रभामण्डलसे उज्ज्वल हो उठता है ॥१७४॥ जो पहलेके अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदिको छोड़कर अत्यन्त शान्त होता हुआ जिनैन्द्रभगवान्की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्रका अधिपति होता है ॥१७५॥ जो मुनि स्नान आदिका संस्कार छोड़कर केवली जिनैन्द्रका आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तन करता है वह मेरुपर्वतके मस्तकपर उत्कृष्ट जन्मानिपेकको प्राप्त होता है ॥१७६॥ जो मुनि अपने इस लोक-सम्बन्धी स्वामीपनेको छोड़कर परमस्वामी श्रीजिनैन्द्रदेवकी सेवा करता है वह जगत्के जीवोंके द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत्के सब जीव उसकी सेवा करते हैं ॥१७७॥ जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनोके भेदोंका त्याग कर दिग्गम्बर हो जाता है वह सिंहासनपर आरूढ होकर तीर्थोंको प्रसिद्ध करनेवाला अर्थात् तीर्थ कर होता है ॥१७८॥ जो मुनि अपने तकिया आदिका अनादर कर परिग्रह-

१ दिव्यमूर्तिविजयमूर्ति परममूर्ति स्वात्मोत्थमूर्तिरिति एवमुत्तरवापि थोजनीयम् । २ सिद्धादौ । ३ नामसंकीर्तन कर्तुमयोग्यमिति । ४ ध्यात्वा । ५ गुणं प्रतीत । 'गुणं प्रतीते तु कृतलक्षणहितलक्षणो' इत्यभिधानात् । ६ स्नानं कुर्वन् । ७ जिनस्य । ८ तैलाम्यङ्गन । ९ दिव्यास्त्र । १० -अपस्त्र-ट० । करमुक्त । ११ सामान्यस्त्र । १२ प्रकृष्टज्ञानातिशयम् । १३ स्वामित्वम् । १४ निबोधवर्हसानादि । 'उपधानं तपवर्हम्' इत्यभिधानात् । १५ नि परिग्रहः ।



स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽसक्तियः । देवैर्विरचितं दीप्रमास्कन्दल्युपधानकम् ॥१८०॥  
 त्यक्तगीतातपत्राणं सकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुद्रासिरत्नैस्त्रासते स्वयम् ॥१८१॥  
 विविधव्यजनं त्यागादनुष्ठिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यये ॥१८२॥  
 उज्जितानकसगीतघोषः कृत्वा तपोविधिम् । स्याद् बुद्बुद्भुमिनिर्घोषैर्बुद्ध्यमाणज्योदयः ॥१८३॥  
 उद्यानादिद्वितां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहादुःखम् ॥१८४॥  
 स्व स्वापणैयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामिव । स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥१८५॥  
 गृहशोभां कृताश्रयां दूरीकृत्य तपस्यतः । श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगताम् ॥१८६॥  
 तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठत । त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनम् ॥१८७॥  
 क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात् १० क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः । स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रमैश्वर्यमस्योपजायते ॥१८८॥  
 आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानथम् । प्राप्नोति परमाभाज्ञां सुरासुरशिरोहृताम् ॥१८९॥  
 स्वामिष्टभृत्यवन्त्नादिसमाहुत्सृष्टवानथम् । परमासपदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्समाः ॥१९०॥

रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथिवीके ऊँचे-नीचे प्रदेशपर गायन करता है वह महाभ्युदय ( स्वर्गादिकी विभूति ) को पाकर जिन हो जाता है, उस समय सब लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं और वह देवोंके द्वारा बने हुए देदीप्यमान तक्षिकाको प्राप्त होता है ॥१७९-१८०॥ जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रहका त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नोंसे युक्त तीन छत्रोंसे सुशोभित होता है ॥१८१॥ अनेक प्रकारके पखाओके त्यागसे जिसने तपश्चरणकी विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्रपर्यायमें चौसठ चमरोसे बीजित होता है अर्थात् उसपर चौसठ चमर ढुलाये जाते हैं ॥१८२॥ जो मुनि नगाडे तथा सगीत आदिकी घोषणाका त्याग कर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्गके दुन्दुभियोंके गम्भीर शब्दोंसे घोषित किया जाता है ॥१८३॥ चूँकि पहले उसने अपने उद्यान आदिके द्वारा की हुई छायाका परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिए ही अब उसे ( अरहन्त अवस्थामे ) महाअशोक वृक्षकी प्राप्ति होती है ॥१८४॥ जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्वभावको प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजेपर खड़ी हुई निधियोंसे सेवित होता है अर्थात् समवसरण भूमिसे निधियाँ दरवाजेपर खड़े रहकर उसकी सेवा करती हैं ॥१८५॥ जिसकी रक्षा सब ओरसे की गयी थी ऐसी घरकी शोभाको छोड़कर इसने तपश्चरण किया था इसीलिए श्रीमण्डपकी शोभा अपने-आप इसके सामने आती है ॥१८६॥ जो तप करनेके लिए सघन वनमें निवास करता है उसे तीनों जगत्के जीवोंके लिए स्थान दे सकनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रखा जाता है जिसमें तीनों लोकोंके समस्त जीव सुखसे स्थान पा सकते हैं ॥१८७॥ जो क्षेत्र मकान आदिका परित्याग कर शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगत्के क्षेत्रको अपने अधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१८८॥ जो मुनि अज्ञा देनेका अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसे मुर और असुरोंके द्वारा शिरपर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं ॥१८९॥ जो यह मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदिकी सभाका परित्याग करता है इसलिए उत्कृष्ट अरहन्त पदकी प्राप्ति होनेपर

१ उपवर्हम् । २ छत्र । ३ चामर । ४ अर्हत्पर्यायि सति । ५ बुद्बुद्भुमि । ६ धनम् । ७ 'द्रव्यं वृत्तं स्वापणैयं रिक्त्य दूष्य धनं वसु' इत्यभिधानात् । ८ निर्ममत्वं गत । ९ अत्रेसरताम् । १० प्रवेशनात् । १० आत्मस्वरूपत्वम् । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यभिधानात् ।

स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः । स्तुतिनिन्दासमो भूयः कीर्त्यने भुवनेश्वरैः ॥१६१॥  
 वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं यतोऽनुष्ठितवांस्तपः । ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैर्निन्द्यगुणसंनिधिः ॥१६२॥  
 तपोऽयमनुपान्तकः<sup>३</sup> पाठचारी विवाहनः । कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति<sup>४</sup> ॥१६३॥  
 चागुप्तो हितवान्गुप्त्या यतोऽयं तपसि स्थितः । ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात् प्रीणयन्त्यखिलां समाम् ॥  
 'अनाश्रयित्वाहारपारणोऽतसं यत्तपः'<sup>५</sup> । तदस्य दिव्यविजयं परमासुततृप्तयः ॥१६४॥  
 त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिरं यतः । ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानन्दं<sup>६</sup> भजेत् ॥१६५॥  
 किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधम् । त्यजेन्मुनिरमंकल्पं तत्तत्सुतेऽस्य तत्तपः<sup>७</sup> ॥१६६॥  
 प्राप्नोत्यर्कं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणोः फलम् । यतोऽहंजातिमूर्त्यादिप्राप्तिं सैषाऽनुवर्णिता ॥१६७॥  
 जैनैश्वरी परमाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् । तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदाज्ञसम्<sup>८</sup> ॥१६८॥  
 अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिवाधितम् । पारिव्राज्यं परित्यज्य ग्राह्यं<sup>९</sup> चैवमनुत्तरम्<sup>१०</sup> ॥२००॥  
 इति पारिव्राज्यम् ।

वह तीनो लोकोकी सभा अर्थात् समवसरण भूमिमे विराजमान होता है ॥१९०॥ जो सब प्रकारकी इच्छाओका परित्याग कर अपने गुणोकी प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दामे समान भाव रखता है वह तीनो लोकोके इन्द्रोके द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं ॥१९१॥ इस मुनिने वन्दना करने योग्य अर्हन्त-देवकी वन्दना कर तपश्चरण किया था इसीलिए यह वन्दना करने योग्य पूज्य पुरुषोके द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणोका भाण्डार हुआ है ॥१९२॥ जो जूता और सवारीका परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलोके मध्यमे चरण रखनेके योग्य होता है अर्थात् अर्हन्त अवस्थामे देव लोग उसके चरणोके नीचे कमलोकी रचना करते हैं ॥१९३॥ चूँकि यह मुनि वचनगुप्तिको धारण कर अथवा हित मित वचनरूप भापासमितिका पालन कर तपश्चरणमे स्थित हुआ था इसलिए ही इसे समस्त सभाको सन्तुष्ट करनेवाली दिव्य ध्वनि प्राप्त हुई है ॥१९४॥ इस मुनिने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएँ कर तप तपा था इसलिए ही इसे दिव्यतृप्ति, विजय-तृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारो ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं ॥१९५॥ यह मुनि काम जनित सुखको छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरणमे स्थिर रहा था इसलिए ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्दको प्राप्त हुआ है ॥१९६॥ इस विषयमे बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? सक्षेपमे इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि सकलपरहित होकर जिस प्रकारकी जिस-जिस वस्तुका परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिए वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है ॥१९७॥ जिस तपश्चरणरूपी चिन्तामणिका फल उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अर्हन्तदेवकी जाति तथा मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्राज्य नामकी क्रियाका वर्णन किया ॥१९८॥ जो आगममे कही हुई जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसीके वास्तविक पारिव्राज्य होता है ॥१९९॥ अनेक प्रकारके वचनोके जालमे निबद्ध तथा युक्तिसे वाधित अन्य लोगोके पारिव्राज्य

१ यस्मात् कारणात् । २ गणवरादिभिः । ३ पादत्राणरहित । ४ पादन्यासस्य योग्यो भवति । ५ अनशनव्रती । ६ अकरोत् । ७ यत् कारणात् । ८ दिव्यतृप्तिविजयतृप्तिपरमतृप्त्यमृततृप्तयः । ९ आनन्दम् । १० प्रसिद्ध तपः । ११ पारमार्थिकम् । १२ अर्हत्सर्वान्धि पारिव्राज्यम् । १३ -मनुत्तमम् ल० ।

या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयाय<sup>१</sup> । सैवा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता ॥२०१॥

इति सुरेन्द्रता ।

साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसरम् । निधिरत्नसमुद्भूतं भोग्यपत्परम्परम् ॥२०२॥

इति साम्राज्यम् ।

आर्हन्त्यमहंतो भावो कर्म चेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गवतारादिमहाकल्याणसंपदः ॥२०३॥

याऽन्यो दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणपदाम् । तदाहन्त्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यभोगकाणम् ॥२०४॥

इत्याहन्त्यम् ।

भवधन्धनमुक्तस्य यावस्था परमात्मनः । परिनिर्वृत्तिरिष्टा सा परं निर्वाणमित्यपि ॥२०५॥

कृत्स्नकर्ममलापायात् संसृद्धिर्याऽन्तरात्मनः । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा 'नाभावो न शुणोच्छिदा'<sup>२</sup> ॥

इति निर्वृत्तिः ।

इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्त्तव्यक्रियाः । ससैताः परमस्थानसंगतिर्यत्र योगिनारम् ॥२०७॥

योऽनुतिष्ठत्यतन्द्राब्धुः क्रिया श्रोतस्त्रिभोदिताः । सोऽधिगच्छेत् परं धाम यत्संप्राप्तौ परं शिवम्<sup>३</sup> ॥२०८॥

### पुष्पिताग्रावृत्तम्

जिनमतविहितं पुराणधर्मं य इममनुस्मरति क्रियानिबन्धम् ।

अनुचरति च पुण्यधीः स भव्यो भवभयबन्धननाशु निर्वृतिनाति ॥२०९॥

को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्राज्यको ग्रहण करना चाहिए ॥२००॥ यह तीसरी पारिव्राज्य क्रिया है ।

पारिव्राज्यके फलका उदय होनेसे जो सुरेन्द्र पदकी प्राप्ति होती है वही यह सुरेन्द्रता नामकी क्रिया है इसका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥२०१॥ यह चौथी सुरेन्द्रता क्रिया है ।

जिसमें चक्ररत्नके साथ-साथ निधियों और रत्नोंसे उत्पन्न हुए भोगोपभोगरूपी संपदाओंकी परम्परा प्राप्त होती है ऐसा चक्रवर्तीका बड़ा भारी राज्य साम्राज्य कहलाता है ॥२०२॥ यह पाँचवीं साम्राज्यक्रिया है ।

अहंत् परमेष्ठिका भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं । इस क्रियामें स्वर्गवतार आदि महाकल्याणकरूप संपदाओंकी प्राप्ति होती है ॥२०३॥ स्वर्गसे अवतीर्ण हुए अर्हन्त परमेष्ठिको जो पंचकल्याणकरूप संपदाओंकी प्राप्ति होती है उसे आर्हन्त्य क्रिया जानना चाहिए, यह आर्हन्त्यक्रिया तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ उत्पन्न करनेवाली है ॥२०४॥ यह छठी आर्हन्त्यक्रिया है ।

ससारके बन्धनसे मुक्त हुए परमात्माकी जो अवस्था होती है उसे परिनिर्वृति कहते हैं । इसका दूसरा नाम परनिर्वाण भी है ॥२०५॥ समस्त कर्मरूपी मलके नष्ट हो जानेसे जो अन्तरात्माकी शुद्धि होती है उसे सिद्धि कहते हैं, यह सिद्धि अपने आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप है अभाव-रूप नहीं है और न ज्ञान आदि गुणोंके नाशरूप ही है ॥२०६॥ यह सातवीं परिनिर्वृति क्रिया है ।

इस प्रकार आगमके अनुसार ये सात कर्त्तव्य क्रियाएँ कही गयी हैं, इन क्रियाओंका पालन करनेसे योगियोंको परम स्थानकी प्राप्ति होती है ॥२०७॥ जो भव्य आलस्य छोड़कर निरूपण की हुई इन तीन प्रकारकी क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह उस परमधाम (मोक्ष) को प्राप्त होता है जिसके प्राप्त होनेपर उसे उत्कृष्ट सुख मिल जाता है ॥२०८॥ पवित्र बुद्धिको धारण करने

१ फलोदये प० । २ तुच्छाभावरूपो न । ३ 'बुद्धिसुखदुःखादिनयानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तमोक्ष' इति मतप्रवक्तो मोक्षो न । ४ सुखम् ।

परमजिनपदानुरक्तधी-

मज्जति पुमान् य इमं क्रियाविधिम् ।

स सुतनिखिलकर्मबन्धनो

जननजरामरणान्तं कृद् भवेत् ॥२१०॥

शादूलविक्रीडितम्

मन्यात्मा समवाप्य आत्तिमुचितां जातस्ततः सद्गृही

पारिव्राज्यमनुत्तरं गुह्यमतादासाद्य यागे दिवम् ।

तत्रैन्द्रो श्रियमासवान् पुनरतश्च्युत्वा गजश्चक्रितां

प्रासाद्दैन्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्वतो निर्द्वैतिम् ॥२११॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे  
दीक्षाकर्तृन्वयक्रियावर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३६॥



वालां जो भव्य पुरुष उक्त क्रियाओसहित जिनमतमे कहे हुए इस पुराणके धर्मका अथवा प्राचीन धर्मका स्मरण करता है और उसीके अनुसार आचरण करता है वह संसारसम्बन्धी भयके बन्धनोको शीघ्र ही तोड़ देता है-नष्ट कर देता है ॥२०६॥ जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्कृष्ट जिनेन्द्रभगवान्‌के चरणकमलोमे अनुरागको प्राप्त हो रही है ऐसा जो पुरुष इन क्रियाओंकी विधिका सेवन करता है वह समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ जन्म, बुढ़ापा और मरणका अन्त करनेवाला होता है ॥२१०॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जातिको पाकर सद्गृहस्थ होता है फिर गुरुकी आज्ञासे उत्कृष्ट पारिव्राज्यको प्राप्त कर स्वर्ग जाता है, वहाँ उसे इन्द्रकी लक्ष्मी प्राप्त होती है, तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर चक्रवर्ती पदको प्राप्त होता है, फिर अरहन्त पदको प्राप्त होकर उत्कृष्ट महिमाका धारक होता है और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त होता है ॥२११॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके आपानुवादमें दीक्षान्वय और कर्तृन्वय क्रियाओंका वर्णन करनेवाला उनतार्ले सर्वा पर्व समाप्त हुआ ।



## चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथातः संप्रवक्ष्यामि क्रियासूत्रचूलिकाम्<sup>१</sup> । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणां<sup>२</sup> तिसृणामपि ॥१॥  
 तत्रादौ तावदुत्पत्त्ये<sup>३</sup> क्रियाकल्पप्रवृत्त्यर्थे<sup>४</sup> । मन्त्रोद्धारं क्रियासिद्धिर्मन्त्राधीना हि योगिनाम् ॥२॥  
 आधानादि क्रियारम्भे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणिच्छत्राणि चक्राणां त्रयं त्रींश्च हविर्भुजः<sup>५</sup> ॥३॥  
 मध्येवेदि जिनेन्द्रार्चाः स्थापयेच्च यथाविधि । मन्त्रवक्ष्योऽथमाज्ञातस्तत्र तत्पूजनाविधौ<sup>६</sup> ॥४॥  
 नमोऽन्तो नीरजशब्दश्चतुर्थ्यन्तोऽत्र पठ्यताम् । जलेन भूमिबन्धार्थं<sup>७</sup> परा शुद्धिस्तु तत्फलम्<sup>८</sup> ॥५॥  
 ( नीरजसे नमः )  
 दर्पाक्षरणसंयन्धस्ततः पश्चादुदीर्यताम् । विप्रोपशान्तये दर्पमथनाय नमः पदम् ॥६॥  
 ( दर्पमथनाय नमः )

गन्धप्रदानमन्त्रश्च शीलगन्धाय वै नमः । ( शीलगन्धाय नमः )  
 पुष्पप्रदानमन्त्रोऽपि विमलाय नमः पदम् ॥७॥ ( विमलार्थ नमः )

अथानन्तर-आगे इन क्रियाओंकी उत्तरचूलिकाका कथन करेगे जिससे कि इन तीन क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥१॥ इस उत्तरचूलिकामें भी सबसे पहले क्रियाकल्प अर्थात् क्रियाओंके समूहकी सिद्धिके लिए मन्त्रोंका उद्धार करूँगा अर्थात् मन्त्रोंकी रचना आदिका निरूपण करूँगा सो ठीक ही है क्योंकि मुनियोंके कार्यकी सिद्धि भी मन्त्रोंके ही अधीन होती है ॥२॥ आधानादि क्रियाओंके प्रारम्भमे सबसे पहले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्निर्था स्थापित करना चाहिए ॥३॥ और वेदीके मध्य भागमे विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा विराजमान करनी चाहिए । उक्त क्रियाओंके प्रारम्भमें उन छत्र, चक्र, अग्नि तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाकी जो पूजा की जाती है वह मन्त्रकल्प कहलाता है ॥४॥ इन क्रियाओंके करते समय जलसे भूमि शुद्ध करनेके लिए जिसके अन्तमे नम शब्द लगा हुआ है ऐसे नीरजत् शब्दको चतुर्थीके एकवचनका रूप पढ़ना चाहिए अर्थात् 'नीरजसे नमः' ( कर्मरूप धूलिसे रहित जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार हो ) यह मन्त्र बोलना चाहिए । इस मन्त्रका फल उत्कृष्ट विशुद्धि होना है ॥५॥ तदनन्तर ङामका आसन ग्रहण करना चाहिए और उसके बाद विघ्नोको शान्त करने के लिए 'दर्पमथनाय नमः' ( अहंकारको नष्ट करनेवाले भगवान्को नमस्कार हो ) इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए ॥६॥ गन्ध समर्पण करनेका मन्त्र है 'शीलगन्धाय नमः' ( शील रूप सुगन्ध धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ) । तथा पुष्प देनेका मन्त्र है 'विमलाय

१ उपरितनाश यत् चूलिकायाम् । २ गमन्त्रियादीनाम् । ३ वक्ष्ये । ४ क्रियाकलापकरणार्थम् । ५ अग्नीन् ।  
 ६ वेदिमध्ये । ७ भगवानादिक्रियारम्भे । ८ छत्रत्रयादिपूजन । ९ भूमिभोगार्थं भूमिसेवनार्थमित्यर्थः ।  
 १० जलसेवनफलम् ।

कुर्यादक्षतपूर्वार्थमक्षताय नमः पदम् । ( अक्षताय नमः )  
 धूपाय<sup>१</sup> श्रुतधूपाय नमः पद्युदाहरेत् ॥८॥ ( श्रुतधूपाय नमः )  
 ज्ञानोद्योताय पूर्व च दीपदाने नमः पदम् । ( ज्ञानोद्योताय नमः )  
 मन्त्रः परमसिद्धाय नमः इत्यष्टतोद्भूतो<sup>२</sup> ॥९॥ ( परमसिद्धाय नमः )  
 मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावजगतीतलम् । ततोऽन्वक्<sup>३</sup> पीठिकामन्त्रः पठनीयो द्विजोत्तमैः ॥१०॥  
 पीठिकामन्त्रः -  
 सत्यजातपदं पूर्व चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । ततोऽर्हज्जातशब्दश्च तदन्तस्तत्परो<sup>४</sup> मतः ॥११॥  
 ततः परमजाताय नम इत्यपरं पदम् । ततोऽनुपमजाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥१२॥  
 ततश्च स्वप्रधानाय नम इत्युत्तरो ध्वनिः<sup>५</sup> । अचलाय नमः शब्दादक्षयाय नमः परम् ॥१३॥  
 अव्याबाधपदं चान्यदन्तज्ञानशब्दनम् । अनन्तदर्शनानन्तवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥१४॥  
 अनन्तसुखशब्दश्च नीरजःशब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽमेघाजरभ्रवी ॥१५॥

नम' ( कर्ममलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्को लिए नमस्कार हो ) ॥७॥ अक्षतसे पूजा करनेके लिए 'अक्षताय नम' ( क्षयरहित जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो ) यह मन्त्र बोले और धूपसे पूजा करते समय 'श्रुतधूपाय नमः' ( प्रसिद्ध वासनावाले भगवान्को नमस्कार हो ) इस मन्त्र-का उच्चारण करे ॥८॥ दीप चढाते समय 'ज्ञानोद्योताय नमः' ( ज्ञानरूप उद्योत-प्रकाश ) को धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो ) यह मन्त्र पढे और अमृत अर्थात् नैवेद्य चढाते समय 'परमसिद्धाय नम' ( उत्कृष्ट सिद्धभगवान्को नमस्कार हो ) ऐसा मन्त्र बोले ॥९॥ इस प्रकार इन मन्त्रोंसे विधिपूर्वक भूमिका सत्कार कर उसके बाद उन उत्तम द्विजोंको पीठिका मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१०॥ पीठिका मन्त्र इस प्रकार है - सबसे पहले, जिसके आगे 'नम' शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति अन्तमें है ऐसे सत्यजात शब्दका उच्चारण करना चाहिए अर्थात् 'सत्यजाताय नम' ( सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो ) बोलना चाहिए, उसके बाद चतुर्थ्यन्त अर्हज्जात शब्दके आगे 'नमः' पद लगाकर 'अर्हज्जाताय नम' ( प्रशसनीय जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो ) यह मन्त्र बोले ॥११॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' ( उत्कृष्ट जन्मग्रहण करनेवाले अर्हन्तदेवको नमस्कार हो ) बोलना चाहिए और उसके बाद 'अनुपमजाताय नम' ( उपमा-रहित जन्म धारण करनेवाले जिनेन्द्रको नमस्कार हो ) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१२॥ इसके बाद 'स्वप्रधानाय नम' ( अपने-आप ही प्रधान अवस्थाको प्राप्त होनेवाले जिनराजको नमस्कार हो ) यह मन्त्र बोले और उसके पश्चात् 'अचलाय नमः' ( स्वरूपमे निश्चल रहनेवाले वीतराग-को नमस्कार हो ) तथा 'अक्षयाय नमः' ( कभी नष्ट न होनेवाले भगवान्को नमस्कार हो ) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१३॥ इसी प्रकार 'अव्याबाधाय नमः' ( बाधाओंसे रहित परमेश्वर-को नमस्कार हो ), 'अनन्तज्ञानाय नमः' ( अनन्तज्ञानको धारण करनेवाले जिनराजको नमस्कार हो ), 'अनन्तदर्शनाय नमः' ( अनन्तदर्शन-केवल दर्शनको धारण करनेवाले जिनेन्द्र-देवको नमस्कार हो ), 'अनन्तवीर्याय नमः' ( अनन्त बलके धारक अर्हन्तदेवको नमस्कार हो ) 'अनन्तसुखाय नमः' ( अनन्तसुखके भाण्डार जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो ), 'नीरजसे

ततोऽमराप्रमेथोर्का<sup>१</sup> सागर्भावासशब्दने<sup>२</sup> । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्ती परमादिर्धनध्वनिः<sup>३</sup> ॥१६॥

पृथक्पृथगिमे<sup>४</sup> शब्दास्तेदन्तास्तत्परा<sup>५</sup> मताः । उत्तराण्यनुसंधाय पदान्त्रिभिः पदैर्वदन् ॥१७॥

आदौ परमकाष्ठेति योगरूपाय वाक्परम् । नमःशब्दमुदीर्यन्ते मन्त्रविन्मन्त्रमुदरेत् ॥१८॥

लोकाग्रवासिनेशब्दात्परः कार्यो नमो नमः । एवं परमसिद्धेभ्योऽर्हत्सिद्धेभ्य इत्यपि ॥१९॥

एवं केवलसिद्धेभ्यः पदाद् भूयोऽन्तकृत्यदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परम्परपादापि<sup>६</sup> ॥२०॥

अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेवं<sup>७</sup> पदात्परम् । अनाद्यनुपमादिभ्यः सिद्धेभ्यश्च नमो नमः ॥२१॥

नम ' ( कर्मरूपी धूलिसे रहित जिनराजको नमस्कार हो ), 'निर्मलाय नम.' ( कर्मरूप मलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो ) 'अच्छेद्याय नम' ( जिनका कोई छेदन नहीं कर सके ऐसे जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ), 'अमेद्याय नमः' ( जो किसी तरह भिद नहीं सके ऐसे अरहन्त-को नमस्कार हो ), 'अजराय नम.' ( जो बुढ़ापासे रहित है उसे नमस्कार हो ), 'अमराय नम.' ( जो मरणसे रहित है उसे नमस्कार हो ), 'अप्रमेयाय नम.' ( जो प्रमाणसे रहित है—छद्मस्थ पुरुषके ज्ञानसे अगम्य है, उसे नमस्कार हो ), 'अगर्भवासाय नम.' ( जो जन्म-मरणसे रहित होनेके कारण किसीके गर्भमें निवास नहीं करते ऐसे जिनराजको नमस्कार हो ), अक्षोभ्याय नम.' ( जिन्हें कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता ऐसे भगवान्को नमस्कार हो ), 'अविलीनाय नम' ( जो कभी विलीन—नष्ट नहीं होते उन परमात्माको नमस्कार हो ) और 'परमधनाय नम' ( जो उत्कृष्ट धनरूप है—उन्हें नमस्कार हो ) इन अव्यावाध आदि शब्दोंके आगे चतुर्थी-विभक्ति तथा नम शब्द लगाकर ऊपर लिखे अनुसार अव्यावाधाय नमः आदि मन्त्र पदोंका उच्चारण करना चाहिए ॥१४—१७॥ तदनन्तर मन्त्रको जाननेवाला द्विज जिसके आदिमें 'परमकाष्ठ' है और अन्तमें योगरूपाय है ऐसे शब्दका उच्चारण कर उसके आगे 'नमः' पद लगाता हुआ 'परमकाष्ठयोगाय नम' ( जिनका योग उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त हो रहा है ऐसे जिनेन्द्रको नमस्कार हो ) इस मन्त्रका उद्धार करे ॥१८॥ फिर लोकाग्रवासिने शब्दके आगे 'नमो नम.' लगाना चाहिए इसी प्रकार परम सिद्धेभ्यः और अर्हत्सिद्धेभ्यः शब्दोंके आगे भी नमो नमः शब्दका प्रयोग करना चाहिए अर्थात् क्रमसे 'लोकाग्रवासिने नमो नमः' ( लोकके अग्रभाग-पर निवास करनेवाले सिद्ध परमेष्टीको बार-बार नमस्कार हो ) 'परमसिद्धेभ्यो नमो नमः' ( परम सिद्धभगवान्को बार-बार नमस्कार हो ) और 'अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नम.' ( जिन्होंने अरहन्त अवस्थाके बाद सिद्ध अवस्था प्राप्त की है ऐसे सिद्ध महाराजको बार-बार नमस्कार हो ) इन मन्त्रोंका उच्चारण करना चाहिए ॥१९॥ इसी प्रकार 'केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः' ( केवली सिद्धोंको नमस्कार हो ) 'अन्त कृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः' ( अन्तकृत केवली होकर सिद्ध होनेवालोंको नमस्कार हो ), 'परम्परसिद्धेभ्यो नम.' ( परम्परासे हुए सिद्धोंको नमस्कार हो ) 'अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नम.' ( अनादि कालसे हुए परम सिद्धोंको नमस्कार हो ), और 'अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नम.' ( अनादिकालसे हुए उपमाराहित सिद्धोंको नमस्कार हो ) इन मन्त्र पदोंका उच्चारण कर नीचे लिखे पद पढ़ना चाहिए । इन नीचे लिखे शब्दोंको सम्बोधनरूपसे दो-दो बार बोलना चाहिए । प्रथम ही हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे आसन्नभग्य

१ अमराप्रमेयशब्दी । २ सागर्भावासशब्दसहिते । ३ परमधनशब्दः । ४ अव्यावाधपदमित्यादयः । ५ चतुर्थ्यन्ताः ।

६ नम शब्दपराः । ७ परम्परशब्दात् । ८ सिद्धेभ्य इति पदात् ।

इति मन्त्रपदान्युक्त्वा पदानीमान्यतः पठेत् । द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्र्य<sup>१</sup> वक्तव्यं सम्यग्दृष्टिपदं ततः ॥२२॥  
आसन्नमव्यग्रदृश्च द्विर्वाच्यस्तद्वदेव<sup>२</sup> हि । निर्वाणादिश्च पूजार्हः स्वाहान्तोऽम्नीन्द्र इत्यपि ॥२३॥  
काश्यमन्त्रः

**काश्यपमन्त्रः**

ततः स्वकाम्यसिद्ध्यर्थमिदं<sup>३</sup> पदमुदाहरेत् । सेत्राफलं घट्परमस्थानं भवतु तत्परम्<sup>४</sup> ॥२६॥

अपमृत्युविनाशनं भवत्वन्त<sup>४</sup> पदं भवेत्<sup>५</sup> । भवत्वन्तमतो वाच्यं समाधिमरणाक्षरम्<sup>६</sup> ॥ २५॥

चूर्णिः 'सत्यजाताय नमः, अर्हजाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नम, स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षय्याय नमः, अग्राधाराय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तदर्शनाय नमः, अनन्त-वीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीलजसे नमः, निर्मलाय नमः, अद्वेष्टाय नमः, अपेक्षाय नमः, अजराय नम, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भजात्राय नम, अश्लोभ्याय नमः, अविलीनाय नम. परमधनाय नम, परमकाष्ठयोगरूपाय नमः, लोकप्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नम, अर्हस्तिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः, अस्तकृतसिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमः. अतादिपरम्पर-सिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नमव्य आसन्नमव्य निर्वाणपूजाहं निर्वाणपूजाहं अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं पट्परमस्थानं भवतु, आमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमेरणं भवतु ।

पीठिकामन्त्र एष स्यात् पदैरेभिः समुच्चितैः । जातिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्रमात् ॥ २६ ॥

सत्यजन्मपदं तान्तमादौ<sup>१</sup> शरणमप्यतः । प्रपद्यामीति वाच्यं स्यादहजन्मपदं तथा ॥२५॥

हे आसन्नभव्य, हे निर्वाणपूजाह, हे निर्वाणपूजाह, और फिर अग्नीन्द्र स्वाहा इस प्रकार उच्चारण करना चाहिए ( इन सबका अर्थ यह है कि हे सम्पददृष्टि, हे निकटभव्य, हे निर्वाण कल्याणकी पूजा करने योग्य, अग्निकुमार देवोके इन्द्र, तेरे लिए यह हवि समर्पित करता हूँ ) ॥२०-२३॥ ( अब इसके आगे काम्य मन्त्र लिखते हैं ) । तदनन्तर अपनी इष्ट-सिद्धिके लिए नीचे लिखे पदका उच्चारण करना चाहिए 'सेवाफल षट्परमस्थान भवतु, अप-मृत्युविनाशन भवतु, समाधिमरणं भवतु' अर्थात् मुझे सेवाके फलस्वरूप छह परम स्थानोंकी प्राप्ति हो, अपमृत्युका नाश हो और समाधिमरण प्राप्त हो ॥२४-२५॥ ऊपर कहे हुए सब मन्त्रोंका सग्रह इस प्रकार है :

सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्व-  
प्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्त-  
दर्शनाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय  
नमः, अमेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षो-  
भ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने  
नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हसिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्त-  
कृतसिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनु-  
पमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नमध्य आसन्नमध्य निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह  
अनीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युं विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

इस प्रकार इन समस्त पदोंके द्वारा यह पीठिका मन्त्र कहा, अब इसके आगे शास्त्रोंके अनुसार अनुक्रमसे जातिमन्त्र कहते हैं ॥२६॥ तान्त अर्थात् पञ्चविभक्त्यन्त सत्यजन्म पदके आगे शरण और उसके आगे प्रपद्यामि शब्द कहना अर्थात् 'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' ( मैं

१ सवीधनं कृत्वा । २ आमन्त्रणं कृत्वेत्यर्थः । ३ अयोष्टम् । ४ तस्मादुपरि । ५ भवतुशब्दोन्ते यस्य तत् ।

६ पठेत् द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । ७ समाधिमरणपदम् । ८ आगमानतिक्रमेण । ९ नान्तमिति पाठः, नकार अन्ते यस्य तत् ।



अहंस्मानृपदं<sup>१</sup> तद्वत्स्वन्तमहंस्सुताक्षरम् । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मनः ॥२८॥

रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामीत्यतः परम् । बोद्धव्यन्तं<sup>२</sup> च ततः सम्यग्दृष्टिं<sup>३</sup> द्वित्वेन<sup>४</sup> योजयेत् ॥२९॥

ज्ञानमूर्तिपदं तद्वत्सरस्वतिपदं तथा । स्वाहान्तमन्त्रे वक्तव्यं काम्यमन्त्रत्वं पूर्ववत् ॥३०॥

चूणिः — सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अहंजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अहंस्मात् शरणं प्रपद्यामि, अहंस्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु ।

जातिमन्त्रोऽयमन्त्रातो<sup>५</sup> जाति रंस्कारकारणम् । मन्त्रं निस्तारकादि च यथास्मायमिती श्रुते ॥३१॥

निस्तारकमन्त्रः

स्वाहान्तं सत्यजाताय पद्मादावनुसृष्टम् । तद्वन्तमहंज्जातायपदं स्यात्तदनन्तरम् ॥३२॥

ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेद् द्विजः । स्यादग्रामयत्ये स्वाहा पदं तस्मादनन्तरम् ॥३३॥

अनादिश्रोत्रियायेति श्रूयात् स्वाहापदं ततः । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वयम् ॥३४॥

सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवका शरण लेता हूँ ), इस प्रकार कहना चाहिए । इसके बाद 'अहंजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' ( मैं अरहन्त पदके योग्य जन्म धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ ) 'अहंस्मात् शरणं प्रपद्यामि' ( अहन्तदेवकी माताका शरण लेता हूँ, ) 'अहंस्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि' ( अरहन्तदेवके पुत्रका शरण लेता हूँ ), 'अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि' ( अनादि ज्ञानको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ ), अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' ( उपमारहित जन्मको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ ) और 'रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि' ( रत्नत्रयका शरण ग्रहण करता हूँ ) ये मन्त्र बोलना चाहिए । तदनन्तर सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्ति और सरस्वती पदका दो-दो बार उच्चारण कर अन्तमे स्वाहा शब्द बोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, सरस्वति, सरस्वति, स्वाहा ( हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते हे ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति, मैं तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ ) यह मन्त्र कहना चाहिए और फिर काम्य मन्त्र पहलेके समान ही पढना चाहिए ॥२७-३०॥ ऊपर कहे हुए पीठिका मन्त्रोका संग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अहंजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अहंस्मात् शरणं प्रपद्यामि, अहंस्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्ते ज्ञानमूर्ते, सरस्वति सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।'

ये मन्त्र जातिसंस्कारका कारण होनेसे जाति मन्त्र कहलाते हैं अब इसके आगे निस्तारक मन्त्र कहते हैं ॥३१॥ सबसे पहले 'सत्यजाताय स्वाहा' ( सत्यरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिए मैं हवि समर्पण करता हूँ ) इस मन्त्रका स्मरण किया गया है फिर 'अहंज्जाताय स्वाहा' ( अरहन्तरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिए मैं हवि समर्पित करता हूँ ) यह मन्त्र बोलना चाहिए और इसके बाद षट्कर्मणे स्वाहा ( देवपूजा आदि छह कर्म करनेवालेके लिए हवि समर्पित करता हूँ ), इस मन्त्रका द्विजको उच्चारण करना चाहिए । फिर 'ग्रामयत्ये स्वाहा' ( ग्रामयतिके लिए समर्पण करता हूँ ), यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥३२-३३॥ फिर

१ तु शब्द अन्ते यस्य तत् । २ संबुद्धयन्तम् । ३ सम्यग्दृष्टिपदम् । ४ द्वि कृत्वा योजयेदित्यर्थ । ५ षट्परमस्थानेत्यादि । ६ प्रोक्तः । ७ स्वाहान्तम् ।

स्यादेवब्राह्मणायेति स्वाहेत्यन्तमतः पदम् । सुब्राह्मणाय स्वाहान्तः । स्वाहान्ताऽनुपमाय गी॥ ३१॥

सम्यग्दृष्टिपदं चैव तथा निधिपतिश्रुतिम् । ब्रूयाद् वैश्रवणोक्तिं च द्विः स्वाहेति ततः परम् ॥ ३६॥

काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात् पूर्वजन्ममन्त्रविद् द्विजः । ऋषिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुति ॥ ३७॥

चूर्णिः — सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, पट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादि-  
श्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय  
स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु,  
अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

ऋषिमन्त्रः

प्रथमं सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । गृह्णीयादर्हज्जाताय नमः शब्दं ततः परम् ॥ ३८॥

निर्ग्रन्थाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्व च नमः पदमनन्तरम् ॥ ३९॥

त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यतः । ततो विविधयोगाय नम इत्यनुपपद्यताम् ॥ ४०॥

विविधार्थिपदं चास्मान्नमः शब्देन योजितम् । ततोऽङ्गधरपूर्वं च पठेत् पूर्वधरध्वनिम् ॥ ४१॥

‘अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा’ ( अनादिकालीन श्रुतके अध्येताको समर्पण करता हूँ ), यह मन्त्र-  
पद बोलना चाहिए । तदनन्तर इसी प्रकार ‘स्नातकाय स्वाहा’ और ‘श्रावकाय स्वाहा’ ये दो  
मन्त्र पढ़ना चाहिए ( केवली अरहन्त और श्रावकके लिए समर्पण करता हूँ ) ॥ ३४॥ इसके  
बाद ‘देवब्राह्मणाय स्वाहा’ ( देवब्राह्मणके लिए समर्पण करता हूँ ), ‘सुब्राह्मणाय स्वाहा’  
( सुब्राह्मणके लिए समर्पण करता हूँ ), और ‘अनुपमाय स्वाहा’ ( उपमारहित भगवान्के  
लिए हवि समर्पित करता हूँ ), ये शब्द बोलना चाहिए ॥ ३५॥ तदनन्तर सम्यग्दृष्टि, निधि-  
पति और वैश्रवण शब्दको दो-दो बार कहकर अन्तमे स्वाहा शब्दका प्रयोग करना चाहिए  
अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा ( हे सम्यग्दृष्टि  
हे निधियोके अधिपति, हे कुबेर, मैं तुम्हे हवि समर्पित करता हूँ ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥ ३६॥  
इसके बाद मन्त्रोको जाननेवाला द्विज पहलेके समान काम्यमन्त्र बोले । अब इसके आगे  
उपासकाध्ययन-शास्त्रके अनुसार ऋषिमन्त्र कहता हूँ ॥ ३७॥ जातिमन्त्रोंका संग्रह इस  
प्रकार है :

‘सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, पट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादि-  
श्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय  
स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा,  
सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

ऋषिमन्त्र—प्रथम ही ‘सत्यजाताय नमः’ ( सत्यजन्मको धारण करनेवालेको नमस्कार  
हो ) यह पद बोलना चाहिए और उसके बाद ‘अर्हज्जाताय नमः’ ( अरहन्त रूप जन्मको धारण  
करनेवालेके लिए नमस्कार हो ) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥ ३८॥ तदनन्तर  
‘निर्ग्रन्थाय नमः’ ( परिग्रहरहितके लिए नमस्कार हो ), ‘वीतरागाय नमः’ ( रागद्वेषरहित जिनेन्द्र  
देवको नमस्कार हो ), ‘महाव्रताय नमः’ ( महाव्रत धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो ),  
‘त्रिगुप्ताय नमः’ ( तीनो गुप्तियोंको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो ), ‘महायोगाय नमः’  
( महायोगको धारण करनेवाले ध्वनियोंको नमस्कार हो ) और ‘विविधयोगाय नमः’ ( अनेक  
प्रकारके योगोंको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो ) ये मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥ ३९-४०॥  
फिर नमः शब्दके साथ चतुर्थी विभक्त्यन्त विविधार्थि शब्दका पाठ करना चाहिए अर्थात् ‘विवि-

नमः शब्दपरौ चेतौ चतुर्थस्यावबुध्यते । ततो गणधरायेति पदं युक्तनमः पदम् ॥४२॥

परमर्षिभ्य इत्यस्मात्परं वाच्यं नमो नमः । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीरयेत् ॥४३॥

सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विरुदाहरेत् । ततो भूपतिशब्दश्च नगरोपपदः पतिः ॥४४॥

द्विर्वाच्यौ ताविसौ शब्दौ बोध्यन्तौ मन्त्रवेदिभिः । मन्त्रबोधोऽप्यर्थं तस्मादनन्तरमुदीर्यताम् ॥४५॥

कालश्रमणशब्दं च द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्रये ततः । स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्बोधाभ्यानि चोदरेत् ॥४६॥

चूर्णिः—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधधर्म्ये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं पदपरमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

मुनिमन्त्रोऽयमात्मातो मुनिमिस्तत्त्वदक्षिभिः । वक्ष्ये सुरेन्द्रमन्त्रं च यथा स्माहार्षभो<sup>१</sup> श्रुतिः ॥४७॥

प्रथमं सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः स्वादुर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥४८॥

धर्म्ये नमः' ( अनेक ऋद्धियोको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो ) ऐसा उच्चारण करना चाहिए । इसी प्रकार जिनके आगे नमः शब्द लगा हुआ है ऐसे चतुर्थ्यन्त अंगधर और पूर्वधर शब्दोंका पाठ करना चाहिए अर्थात् 'अङ्गधराय नमः' ( अंगोंके जाननेवालेको नमस्कार हो ) और 'पूर्वधराय नमः' ( पूर्वोंके जाननेवालेको नमस्कार हो ) ये मन्त्र बोलना चाहिए । तदनन्तर 'गणधराय नमः' ( गणधरको नमस्कार हो ) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥४१-४२॥ फिर परमर्षिभ्यः शब्दके आगे नमो नमः का उच्चारण करना चाहिए अर्थात् 'परमर्षिभ्यो नमो नमः' ( परम ऋषियोंको बार-बार नमस्कार हो ) यह मन्त्र बोलना चाहिए और इसके बाद 'अनुपमजाताय नमो नमः' ( उपमारहित जन्मधारण करनेवालेको बार-बार नमस्कार हो ) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिए ॥४३॥ फिर अन्तमे सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिए । और इसी प्रकार मन्त्रोंको जाननेवाले द्विजोंको सम्बोधनान्त भूपति और नगरपति शब्दका भी दो-दो बार उच्चारण करना चाहिए । तदनन्तर आगे कहा जानेवाला मन्त्रका अवशिष्ट अंश भी बोलना चाहिए । कालश्रमण शब्दको सम्बोधन विभक्तिमे दो बार कहकर उसके आगे स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और फिर यह सब कह चुकनेके बाद पहलेके समान काम्यमन्त्र पठना चाहिए ॥४४-४६॥ इन सब ऋषिमन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है ।

'सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधधर्म्ये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं पदपरमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

तत्त्वोंके जाननेवाले मुनियोंके द्वारा ये ऊपर लिखे हुए मन्त्र मुनिमन्त्र अथवा ऋषिमन्त्र माने गये हैं । अब इनके आगे भगवान् ऋषभदेवकी श्रुतिने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार मैं सुरेन्द्र मन्त्रोंको कहता हूँ ॥४७॥

प्रथम ही मैं 'सत्यजाताय स्वाहा' ( सत्यजन्म लेनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ ) यह पद पठना चाहिए, फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' ( अरहन्तके योग्य जन्म लेनेवालेको हवि

ततश्च दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत् । ततो दिव्यार्च्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥४९॥  
 द्रुयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदन्तत्म् । सौधर्माय पदं चास्मात्स्वाहोक्त्यन्तमुत्सरत् ॥५०॥  
 कल्पाधिपतये स्वाहापदं वाच्यमतः परम् । भूयोऽप्यनुचरायार्तिं स्वाहाशब्दमुदीर्येत् ॥५१॥  
 ततः परम्परेन्द्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदम् । संपठेद्दहमिन्द्राय स्वाहेत्येतदन्तरम् ॥५२॥  
 ततः परमार्हताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्त्रितम् ॥५३॥  
 सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं हिरुदीरयेत् । तथा कहरपतिं चापि दिव्यमूर्तिं च संपठेत् ॥५४॥  
 द्विर्वाच्यं वज्रनामेति तव स्वाहेति संहरेत् । पूर्ववत् काम्यमन्त्रोऽपि पाब्धोऽस्यान्ते त्रिभिः पदैः ॥५५॥

चूर्णिः—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हजाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कहरपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं पटपरमस्थानं भवतु, अपष्टुष्टुविनाशनं भवतु, समाधि-मरण भवतु ।

समर्पण करता हूँ ) यह उत्कृष्ट पद पढ़ना चाहिए ॥४८॥ फिर 'दिव्यजाताय स्वाहा' ( जिसका जन्म दिव्यरूप है उसे हवि समर्पण करता हूँ ) ऐसा उच्चारण करना चाहिए और फिर 'दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा' ( दिव्य तेज स्वरूप जन्म धारण करनेवालेके लिए हवि समर्पण करता हूँ ) यह पद पढ़ना चाहिए ॥४९॥ तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' ( धर्मचक्रको धुरीके स्वामी जिनेंद्र-देवको समर्पण करता हूँ ) यह पद बोलना चाहिए और इसके बाद 'सौधर्माय स्वाहा' ( सौधर्म-के लिए समर्पण करता हूँ ) इस मन्त्रका स्मरण करना चाहिए ॥५०॥ फिर 'कल्पाधिपतये स्वाहा' ( स्वर्गके अधिपतिके लिए समर्पण करता हूँ ) यह मन्त्र कहना चाहिए और उसके बाद 'अनुचराय स्वाहा' ( इन्द्रके अनुचरोके लिए समर्पण करता हूँ ) यह गव्द बोलना चाहिए ॥५१॥ फिर 'परम्परेन्द्राय स्वाहा' ( परम्परासे होनेवाले इन्द्रके लिए समर्पण करता हूँ ) इस पदका उच्चारण करे और उसके अनन्तर 'अहमिन्द्राय स्वाहा' ( अहमिन्द्रके लिए समर्पण करता हूँ ) यह मन्त्र अच्छी तरह पढे ॥५२॥ फिर 'परमार्हताय स्वाहा' ( अरहन्तदेवके परम-उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ ) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए और उसके पश्चात् 'अनुपमाय स्वाहा' ( उपमार्हितके लिए समर्पण करता हूँ ) यह पद बोलना चाहिए ॥५३॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिए तथा सम्बोधनान्त कल्पपति और दिव्यमूर्ति शब्दको भी दो-दो बार पढ़ना चाहिए इसी प्रकार सम्बोधनान्त वज्रनामन् शब्द-को भी दो बार बोलकर स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और अन्तमे तीन-तीन पदोंके द्वारा पहलेके समान काम्य मन्त्र पढ़ना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा ( हे सम्यग्दृष्टि, हे स्वर्गके अधिपति, हे दिव्य-मूर्तिको धारण करनेवाले, हे वज्रनाम, मैं तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ ) यह बोलकर काम्य मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥५४-५५॥

ऊपर कहे हुए सुरेन्द्र मन्त्रोका संग्रह इस प्रकार है,

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हजाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्प-पते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं पटपरमस्थानं भवतु

१ सम्यग् द्रुयात् । २ पटपरमस्थानेत्यादिभि ।

सुरेन्द्रमन्त्र एषः स्यात् सुरेन्द्रस्यानुत्पणम् । मन्त्रं परमराजादि वक्ष्यामीतो यथाश्रुतम् ॥५६॥  
 प्रागत्र सत्यजाताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततः स्यादहंजाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥५७॥  
 ततश्चानुपमेन्द्राय स्वाहेत्येतत्पदं मतम् । विजयाचार्यदिजाताय पदं स्वाहान्तमन्वतः ॥५८॥  
 ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः परमराजाय स्वाहेत्येतदुदाहरेत् ॥५९॥  
 परमार्हताय स्वाहा पदमस्मात्परं पठेत् । स्वाहान्तमनुपायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्ममिः ॥६०॥  
 सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं हिरुदीरयेत् । उग्रतेजः पदं चैव दिशाञ्जयपदं तथा ॥६१॥  
 नेम्यादिविजयं चैव कुर्यात् स्वाहापदोत्तरम् । काम्यमन्त्रं च तं ब्रूयात् प्राग्बद्धं पदैस्त्रिभिः ॥६२॥  
 चूर्णिः—सत्यजाताय स्वाहा, अहंजाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयाचार्यजाताय स्वाहा,  
 नेमिनाथाय स्वाहा, परमराजाय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे  
 उग्रतेजः उग्रतेजः दिशाञ्जय दिशाञ्जय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु,  
 अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

मन्त्रः परमराजादिर्मतोऽयं परमेष्ठिनाम् । परं मन्त्रमिती वक्ष्ये यथाऽऽह परमा श्रुतिः ॥६३॥

अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

यह सुरेन्द्रको सन्तुष्ट करनेवाला सुरेन्द्र मन्त्र कहा । अब आगे शास्त्रोंके अनुसार परम-  
 राजादि मन्त्र कहते हैं ॥५६॥ इन मन्त्रोंमें सर्वप्रथम 'सत्यजाताय स्वाहा' ( सत्य जन्म धारण  
 करनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ ) यह पद पढ़ना चाहिए, फिर 'अहंजाताय स्वाहा' ( अरहन्त  
 पदके योग्य जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ ) यह उत्कृष्ट पद पढ़ना चाहिए ॥५७॥ इसके  
 बाद 'अनुपमेन्द्राय स्वाहा' ( उपमारहित इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीके लिए समर्पण करता हूँ ) यह  
 पद कहना चाहिए । तदनन्तर 'विजयाचार्यजाताय स्वाहा' ( विजयरूप तथा तेज-पूर्ण जन्मको  
 धारण करनेवालेके लिए समर्पण करता हूँ ) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥५८॥ इसके  
 पश्चात् 'नेमिनाथाय स्वाहा' ( धर्मरूप रथके प्रवर्तकको समर्पण करता हूँ ) यह पद पढ़ना  
 चाहिए और उसके बाद 'परमजाताय स्वाहा' ( उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ ) यह  
 पद बोलना चाहिए ॥५९॥ फिर 'परमार्हताय स्वाहा' ( उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ )  
 यह पद पढ़ना चाहिए और इसके बाद द्विजोंको 'अनुपमाय स्वाहा' ( उपमारहितके लिए समर्पण  
 करता हूँ ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥६०॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार  
 उच्चारण करना चाहिए तथा इसी प्रकार सम्बोधनान्त उग्रतेजः पद, दिशाञ्जय पद और  
 नेमिविजय पदको दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और अन्तमें  
 पहलेके समान तीन-तीन पदोंसे काम्य मन्त्र बोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे  
 उग्रतेज उग्रतेज दिशाञ्जय दिशाञ्जय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा ( हे सम्यग्दृष्टि, हे प्रचण्ड  
 प्रतापके धारक, हे दिशाओंको जीतनेवाले, हे नेमिविजय, मैं तुम्हें हवि समर्पण करता हूँ ) यह  
 मन्त्र बोलकर काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिए ॥६१-६२॥

परमराजादि मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजाताय स्वाहा, अहंजाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयाचार्यजाताय स्वाहा,  
 नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे  
 सम्यग्दृष्टे, उग्रतेजः उग्रतेजः, दिशाञ्जय दिशाञ्जय, नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्-  
 परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

ये मन्त्र परमराजादि मन्त्र माने गये हैं । अब यहाँसे आगे जिस प्रकार परम शास्त्रमे

तत्रादौ सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । वाच्यं ततोऽर्हज्जाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६४॥  
 ततः परमजाताय नमः पदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दं च चतुर्व्यन्तं नमः परम् ॥६५॥  
 ततः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नम इत्युभयं वाच्यं पदमध्यात्मदर्शिमिः ॥६६॥  
 परमादिगुणायैति पदं चान्यन्नमोयुतम् । परमस्थानशब्दश्च चतुर्व्यन्तो नमोऽन्वितः ॥६७॥  
 उदाहार्यं क्रमं ज्ञात्वा ततः परमयोगिने । नमः परमभाग्याय नम इत्युभयं पदम् ॥६८॥  
 परमहिंपदं चान्यच्चतुर्व्यन्तं नमः परम् । स्यात्परमप्रसादाय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६९॥  
 स्यात्परमकाङ्क्षिताय नम इत्यत उत्तरम् । स्यात्परमविजयाय नमः इत्युत्तरं वचः ॥७०॥  
 स्यात्परमविज्ञानाय नमो वाक्तदनन्तरम् । स्यात्परमदर्शनाय नमः पदमतः परम् ॥७१॥  
 ततः परमवीर्याय पदं चास्मात्क्रमः परम् । परमादिसुखायैति पदमस्मादनन्तरम् ॥७२॥  
 सर्वज्ञाय नमोवाच्यमर्हते नम इत्यपि । नमो नमः पदं चास्मात्स्यात्परं परमेश्वरे ॥७३॥  
 परमादिपदोश्च इत्यस्माच्च नमो नमः । सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विः प्रयुज्यताम् ॥७४॥

कहा है उसी प्रकार परमेश्वरीके उत्कृष्ट मन्त्र कहता हूँ ॥६३॥ उन परमेश्वरी मन्त्रोमें सबसे पहले 'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिए और उसके बाद 'अर्हज्जाताय नमः' (अरहन्तके योग्य जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिए ॥६४॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद कहना चाहिए और इसके बाद चतुर्थी विभक्त्यन्त परमार्हत शब्दके आगे नम पद लगाकर 'परमार्हताय नमः' (उत्कृष्ट जिनधर्मके धारकके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥६५॥ तत्पश्चात् अध्यात्म शास्त्रको जाननेवाले द्विजोको 'परमरूपाय नमः' (उत्कृष्ट निरर्थन्यरूपको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) और 'परमतेजसे नमः' (उत्तम तेजको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) ये दो मन्त्र बोलना चाहिए ॥६६॥ फिर नमः शब्दके साथ परमगुणाय यह पद अर्थात् 'परमगुणाय नमः' (उत्कृष्ट गुणवालेके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए और उसके अनन्तर नम शब्दसे सहित चतुर्थी विभक्त्यन्त परमस्थान शब्द अर्थात् 'परमस्थानाय नमः' (मोक्षरूप उत्तमस्थानवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिए ॥६७॥ इसके पश्चात् क्रमको जानकर 'परमयोगिने नमः' (परम योगीके लिए नमस्कार हो) और 'परमभाग्याय नमः' (उत्कृष्ट भाग्यशालीको नमस्कार हो) ये दोनों पद बोलना चाहिए ॥६८॥ तदनन्तर जिसके आगे नम शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति जिसके अन्तमें है ऐसा परमार्द्ध पद अर्थात् 'परमर्द्धये नमः' (उत्तम ऋद्धियोके धारकके लिए नमस्कार हो) और 'परमप्रसादाय नमः' (उत्कृष्ट प्रसन्नताको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) ये दो मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥६९॥ फिर 'परमकाक्षिताय नमः' [उत्कृष्ट आत्मानन्दकी इच्छा करनेवालेके लिए नमस्कार हो] और 'परमविजयाय नमः' [कर्मरूप शत्रुओपर उत्कृष्ट विजय पानेवालेके लिए नमस्कार हो] ये दो मन्त्र बोलना चाहिए ॥७०॥ तदनन्तर 'परमविज्ञानाय नमः' [उत्कृष्ट ज्ञानवालेके लिए नमस्कार हो] और उसके बाद 'परमदर्शनाय नमः' [परम दर्शनके धारकके लिए नमस्कार हो] यह पद पढ़ना चाहिए ॥७१॥ इसके पश्चात् 'परमवीर्याय नमः' (अनन्त बलशालीके लिए नमस्कार हो) और फिर 'परमसुखाय नमः' [परम सुखके धारकको नमस्कार हो] ये मन्त्र कहना चाहिए ॥७२॥ इसके अनन्तर 'सर्वज्ञाय नमः' [ससारके समस्त पदार्थोंको जाननेवालेके लिए नमस्कार हो] 'अर्हते नमः' [अरहन्तदेवके लिए नमस्कार हो], और फिर 'परमेश्वरे नमो नमः' (परमेश्वरीके लिए बार-बार नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिए ॥७३॥ तदनन्तर 'परमेश्वरे नमो नमः' (उत्कृष्ट नेताके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र

द्विः स्ना<sup>२</sup> त्रिलोकविजयधर्ममूर्तिपदे ततः । धर्मनेमिपदं वाच्यं द्विः स्वाहेति ततः परम् ॥७५॥

काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्वंचद्विधिवद्विजः । काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मन्त्राः स्मृता दुष्टैः ॥७६॥

चूर्णिः-सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमद्वये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाक्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं पदपरमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

एते तु पीठिकामन्त्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः । एतैः सिद्धान्तं कुर्याद्वा नादिक्रियाविधौ ॥७७॥

क्रियामन्त्रास्त एते स्मृताधानादिक्रियाविधौ । सूत्रे गणधरोद्धार्यं यान्ति साधनमन्त्रताम् ॥७८॥

संख्यास्त्रिगुणैश्च देवपूजने नित्यकर्मणि । भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥७९॥

सिद्धार्चास्तनिधौ मन्त्रान् जपेद्व्योत्तरं गतम् । गन्धपुष्पाक्षताघ्रादि निवेदनपुरःसरम् ॥८०॥

सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभिः कर्म समाचरेत् । शुक्लवासाः शुचिर्यज्ञोपवीत्यन्यग्रमानसः ॥८१॥

कहना चाहिए और उसके बाद सम्बोधनात् त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार प्रयोग करना चाहिए ॥७४॥ तथा इसी प्रकार त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ति और धर्मनेमि शब्दको भी दो-दो बार उच्चारण कर अन्तमे स्वाहा पद बोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा ( हे सम्यग्दृष्टि, हे तीनो लोकको विजय करनेवाले, हे धर्ममूर्ति और हे धर्मके प्रवर्तक, मैं तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥७५॥ तत्पश्चात् द्विजोको पहलेके समान विधिपूर्वक काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिए क्योंकि विद्वान् लोग सब मन्त्रोंसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होना ही मुख्य फल मानते हैं ॥७६॥

परमेष्ठी मन्त्रोका संग्रह इस प्रकार है :

सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमद्वये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाक्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं पदपरमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ब्राह्मणोको ये ऊपर लिखे हुए सात पीठिका मन्त्र जानना चाहिए और गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमे इनसे सिद्धपूजन करना चाहिए ॥७७॥ गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमे ये मन्त्र क्रियामन्त्र कहलाते हैं और गणधरोके द्वारा कहे हुए सूत्रमे ये ही साधन मन्त्रपत्रको प्राप्त हो जाते हैं ॥७८॥ विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मन्त्र संख्याओंके समय तोनों अग्नियोमें देवपूजनरूप नित्य कर्म करते समय आहुति मन्त्र कहलाते हैं ॥७९॥ सिद्ध भगवान्को प्रतिमाके सामने पहले गन्ध, पुष्प, अक्षत और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ बार उक्त मन्त्रोका जप करना चाहिए ॥८०॥ तदनन्तर जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गयी हैं, जो





गर्भाधानमन्त्रः—

सज्जातिभागी भव सद्गृहिभागी भवेति च । पद्मद्वयसुदीर्यादौ पदानिमान्यतः पठेत् ॥९१॥

आदौ मुनीन्द्रभागीति भवेत्यन्ते पद वदेत् । सुरेन्द्रभागी परमराज्यभागीति च द्वयम् ॥९३॥

आर्हन्त्यभागी भवेति पदमस्मादनन्तरम् । ततः परमनिर्वाणभागी भव पदं भवेत् ॥९४॥

आधाने मन्त्र पृथ स्यात् पूर्वमन्त्रपुरःसरः<sup>१</sup> । विनियोगश्च मन्त्राणां यथास्मान् प्रदर्शितः ॥९५॥

चूर्णिः—सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्य-  
भागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव, ( आधानमन्त्रः )

स्थाप्रीतिमन्त्रस्त्रैलोक्यनाथो भवपदादिकः । त्रैकाक्षरज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्यथम् ॥९६॥

चूर्णिः—त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैलोक्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव, ( प्रीतिमन्त्रः ) ?

<sup>३</sup>मन्त्रोऽवतारकल्याण भागी भवपदादिकः । सुप्रीतो मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणवाक्परः ॥९७॥

भागीभव पदोपेतस्ततो निष्क्रान्तिकाक्परः । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ॥९८॥

ततश्चार्हन्त्यकल्याणभागी भव पदान्वितः । ततः परमनिर्वाणकल्याणपदसंगतः ॥९९॥

गर्भाधानके मन्त्र — प्रथम ही 'सज्जातिभागी भव' (उत्तम जातिको धारण करनेवाला हो) और सद्गृहिभागी भव' (उत्तम गृहस्थ अवस्थाको प्राप्त होओ) इन दो पदोंका उच्चारण कर पश्चात् नीचे लिखे पद पढ़ना चाहिए ॥९२॥ पहले 'मुनीन्द्रभागी भव' (महामुनिका पद प्राप्त करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिए और फिर 'सुरेन्द्रभागी भव' ( इन्द्र पदका भोक्ता हो) तथा 'परमराज्यभागी भव' ( उत्कृष्ट राज्यका उपभोग करनेवाला हो) इन दो पदोंका उच्चारण करना चाहिए ॥९३॥ तदनन्तर 'आर्हन्त्यभागी भव' ( अरहन्त पदका प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए और फिर 'परमनिर्वाणभागी भव' ( परम निर्वाण पदको प्राप्त करनेवाला हो ), यह पद कहना चाहिए ॥९४॥ गर्भाधानकी क्रियामें पहलेके मन्त्रोंके साथ-साथ यह मन्त्र काममें लाना चाहिए इस प्रकार यह आम्नायके अनुसार मन्त्रोंका विनियोगका क्रम दिखलाया है ॥९५॥

गर्भाधानके समय काम आनेवाले विशेष मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है :

सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्य-  
भागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव ।

अब प्रीतिमन्त्र कहते हैं — 'त्रैलोक्यनाथो भव' ( तीनों लोकोंके अधिपति होओ ) 'त्रैकाल्यज्ञानी भव' ( तीनों कालका ज्ञाननेवाला हो ) और 'त्रिरत्नस्वामी भव' ( रत्नत्रय-  
का स्वामी हो ) ये तीन प्रीतिक्रियाके मन्त्र हैं ॥९६॥

संग्रह — 'त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव' ।

अब सुप्रीति क्रियाके मन्त्र कहते हैं—सुप्रीति क्रियामें 'अवतारकल्याणभागी भव' ( गर्भ-  
कल्याणकको प्राप्त करनेवाला हो ), 'मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव,' ( सुमेरु पर्वतपर इन्द्रके द्वारा जन्माभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो ), 'निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव' ( निष्क्रमण कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो ), 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' ( अरहन्त अवस्था — केवलज्ञानकल्याणकको प्राप्त करनेवाला हो ), और 'परमनिर्वाणकल्याणभागी भव' [ उत्कृष्ट निर्वाण कल्याणकको

१ गर्भाधाने । २ पीठिकामन्त्रादिपुरःसरः । ३ अवतारादिकल्याणादिपरमनिर्वाणपदान्तानां सर्वपदानाम् । मन्त्र इति पदं विशेष्यपदं भवति ।

भागी भवपदान्तश्च क्रमाद्वाच्यो मनीषिभिः । धृतिमन्त्रमितो<sup>१</sup> वक्ष्ये प्रीत्या शृणुत सो द्विजाः ॥१००॥

चूर्णिः—अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव, ( सुप्रीतिमन्त्रः ) ।

धृतिक्रियामन्त्रः—

आधानमन्त्र एवात्र<sup>२</sup> सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाक्रमं वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चन ॥१०१॥

चूर्णिः—सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यपद्दातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव, ( धृतिक्रियामन्त्रः ) ।

मोदक्रियामन्त्रः—

मन्त्रो मोदक्रियायां च मतोऽर्थं मुनिसत्तमैः । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पदं वदेत् ॥१०२॥

ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पदं पठेत् । ततो वैवाहिकल्याणभागी भव पदं मत्सु ॥१०३॥

ततो मुनीन्द्रकल्याणभागी भव पदं स्मृतम् । पुनः सुरेन्द्रकल्याणभागी भव पदात्परम् ॥१०४॥

मन्दराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादिवर्ध्याणपदसंयुतम् ॥१०५॥

प्राप्त करनेवाला हो ) ये मन्त्र विद्वानोको अनुक्रमसे बोलना चाहिए । अब आगे धृतिमन्त्र कहते हैं सो हे द्विजो, उन्हें तुम प्रीतिपूर्वक सुनो ॥१७—१००॥

संग्रह—‘अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव’ ।

धृतिक्रियाके मन्त्र—गर्भाधान क्रियाके मन्त्रोमे सब जगह दातृ शब्द लगा देनेसे धृति क्रियाके मन्त्र हो जाते हैं, विद्वानोंको अनुक्रमसे उन्हीका प्रयोग करना चाहिए, आधान क्रियाके मन्त्रोसे इन मन्त्रोमे और कुछ भेद नहीं है । भावार्थ—‘सज्जातिदातृभागी भव’ ( सज्जाति-उत्तम जातिको देनेवाला हो ), ‘सद्गृहिदातृभागी भव’ ( सद्गृहस्थपदका देनेवाला हो ), ‘मुनीन्द्र-दातृभागी भव’ ( महामुनिपदका देनेवाला हो ), ‘सुरेन्द्रदातृभागी भव’ ( सुरेन्द्रपदको देनेवाला हो ), ‘परमराज्यदातृभागी भव’ ( उत्तमराज्य-चक्रवर्तीके पदका देनेवाला हो ), आर्हन्त्यदातृ-भागी भव’ ( अरहन्त पदका देनेवाला हो ) तथा ‘परमनिर्वाणदातृभागी भव’ ( उत्कृष्ट निर्वाण पदका देनेवाला हो ) धृति क्रियामे इन मन्त्रोका पाठ करना चाहिए ॥१०१॥

संग्रह—‘सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्र-दातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव’ ।

अब मोदक्रियाके मन्त्र कहते हैं — उत्तम मुनियोने मोदक्रियाके मन्त्र इस प्रकार माने हैं सबसे पहले ‘सज्जातिकल्याणभागी भव’ ( सज्जातिके कल्याणको धारण करनेवाला हो ) यह पद बोलना चाहिए, फिर सद्गृहिकल्याणभागी भव ( उत्तम गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो ) यह पद पठना चाहिए, तदनन्तर ‘वैवाहिकल्याणभागी भव’ ( विवाहके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो ) इस पदका उच्चारण करना चाहिए, फिर ‘मुनीन्द्रकल्याणभागी भव’ ( महामुनि पदके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो ) यह मन्त्र बोलना चाहिए, इसके बाद ‘सुरेन्द्रकल्याणभागी भव’ ॥१०२॥ [ इन्द्र पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो ], यह पद कहना चाहिए, फिर ‘मन्दराभिषेककल्याणभागी भव’ [ सुमेरु पर्वतपर अभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो ] यह मन्त्र पठना चाहिए, अनन्तर ‘यौवराज्यकल्याणभागी भव’ [ युवराज पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो ] यह पद कहना चाहिए, तत्पश्चात् मन्त्रोके प्रयोग करनेमें विद्वान् लोगोको - ‘महाराज्यकल्याणभागी भव’ [ महाराज पदके कल्याणका उपभोगता हो ] यह

१ मतो ल० । मथो द० । २ धृतिक्रियाम् ।

मार्गाभ्रवपदं चाद्यं मन्त्रयोगविशारदैः । स्थानमहाराज्यकल्याणभागी भव पदं परम् ॥१०६॥

भूयः परमराज्यादिक्रियाणोपहितं<sup>१</sup> मतम् । मागी भवेत्यैवाहन्त्यकल्याणेन च योजितम् ॥१०७॥

चूर्णिः—सजातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहिकल्याणभागी भव, मुनीन्द्र-  
कल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिपेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव,  
महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आहन्त्यकल्याणभागी भव, (मोदक्रिया मन्त्रः) ।

प्रियोद्भवमन्त्रः—

प्रियोद्भवे च मन्त्रोऽयं सिद्धार्चनपुरस्सरम् । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥१०८॥

विजयायेत्यैवाहन्त्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मन्त्राक्षरैरभिः स्वाहान्तः परमतो द्विजः ॥१०९॥

चूर्णिः—दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आहन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा ।

(प्रियोद्भवमन्त्रः) ।

जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयमेतेनाभिमंसादितः । सिद्धाभिपेकगन्धाम्बुसंमिक्तं शिरसि स्थितम् ॥११०॥

कुलजातिवधोरूपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्टिता ॥१११॥

सम्यग्दृष्टिस्तवाभ्येत्यमतस्त्वमपि पुत्रकः । संप्रीतिमाप्नुहि त्रीणि प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥११२॥

इत्यङ्गानि स्युगेन्द्रस्य प्रायः सारूप्ययोगतः<sup>२</sup> । तत्राद्या<sup>३</sup> आत्मसंकल्पं<sup>४</sup> ततः सूकमिदं पठेत् ॥११३॥

मन्त्र बोलना चाहिए, फिर 'परमराज्यकल्याणभागी भव' (परमराज्यके कल्याणको प्राप्त हो) यह पद पढ़ना चाहिए और उसके बाद 'आहन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥१०३-१०७॥

संग्रह—'सजातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहिकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिपेककल्याणभागी भव, यौवराज्य-  
कल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आहन्त्यकल्याण-  
भागी भव' ।

अब प्रियोद्भव मन्त्र कहते हैं — प्रियोद्भव क्रियामें सिद्ध भगवान्की पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मन्त्रोंका पाठ करना चाहिए —

'दिव्यनेमिविजयाय', 'परमनेमिविजयाय', और 'आहन्त्यनेमिविजयाय'—इन मन्त्रा-  
क्षरोंके साथ द्विजोंको अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करना अभीष्ट है अर्थात् 'दिव्यनेमिविजयाय  
स्वाहा' (दिव्यनेमिके द्वारा कर्मरूप शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवालेके लिए हवि समर्पण  
करता हूँ), परमनेमिविजयाय स्वाहा' (परमनेमिके द्वारा विजय प्राप्त करनेवालेके लिए  
समर्पण करता हूँ) और 'आहन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' (अरहन्त, अवस्थारूप नेमिके द्वारा  
कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवके लिए समर्पण करता हूँ) ये तीन मन्त्र बोलना चाहिए  
॥१०८-१०९॥

संग्रह—'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आहन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' ।

अब जन्म संस्कारके मन्त्र कहते हैं — प्रथम ही सिद्ध भगवान्के अभिपेकके गन्धोदकसे  
सिंचन किये हुए बालकको यह मन्त्र पढ़कर शिरपर स्पर्श करना चाहिए और कहना चाहिए कि  
यह तेरी माता कुल, जाति, अवस्था, रूप आदि गुणोंसे सहित है, शीलवती है, सन्तानवती  
है, भाग्यवती है, अवैधव्यसे युक्त है, सौम्यजान्तमूर्तिये सहित है और सम्यग्दृष्टि है इसलिए  
हे पुत्र, इस माताके सम्बन्धसे तू भी अनुक्रमसे दिव्य चक्र, विजयचक्र और परमचक्र तीनों  
चक्रोंको पाकर संप्रीतिको प्राप्त हो ॥११०-११२॥ इस प्रकार आशीर्वाद देकर पिता

१ सहितम् । २ कुलजात्यादियथायोगगुणैर्विष्ठितः । ३ दिव्यचक्रविजयचक्रपरमचक्राणि । ४ समानरूप-  
संबन्धात् । ५ बालके । ६ विधाय । ७ निजजन्मकल्पम् ।

अत्रादङ्गात्समवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः<sup>१</sup> शतम् ॥११४॥  
 श्रीराज्यममृतं<sup>२</sup> पूर्तं नामावावर्त्य<sup>३</sup> युक्तिभिः<sup>४</sup> । घातिजयो मवेत्यस्य<sup>५</sup> हासयेवाभिनालकम्<sup>६</sup> ॥११५॥  
 श्रीदेव्यो जातं ते जातं क्रियां कुर्वन्त्विति ब्रुवन् । तत्तनुं चूर्णवासेन<sup>७</sup> शनैस्सदृशं यत्नतः ॥११६॥  
 त्वं मन्दरामिषेकार्हां भवेति स्नपयेत्ततः । गन्धाम्बुभिश्चिरं जीव्या<sup>८</sup> इत्याशास्याक्षतं क्षिपेत् ॥११७॥  
 नद्यात्कर्ममलं कृत्स्नमित्यास्येऽस्य<sup>९</sup> सनासिके । घृतमौषधसंसिद्धमाव<sup>१०</sup> पेन्मात्रया<sup>११</sup> द्विजः ॥११८॥  
 ततो विश्वेशरास्तन्यभागी<sup>१२</sup> भूया इतोऽस्य<sup>१३</sup> । मातुस्तनमुपामन्य वदनेऽस्य समासजेत्<sup>१४</sup> ॥११९॥  
 प्राग्वर्णितमथानन्दं प्रीतिदानपुर-सरम् । विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयेत्<sup>१५</sup> ॥१२०॥  
 जरायुपटलं चास्य नाभिनालसमायुतम् । शुचौ भूमौ निखातायां विक्षिपेन्मन्त्रमापठन् ॥१२१॥  
 सम्यग्दृष्टिपदं औष्ये सर्वमातेति चापरम् । वसुंधरापदं चैव स्वाहान्तं द्विरुदाहरेत् ॥१२२॥  
 चूर्णि-सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमात<sup>१६</sup> सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा ।  
 मन्त्रेणानेन संमन्य भूमौ लोदकमक्षतम् । क्षिपन्वा गर्भमलं<sup>१७</sup> न्यस्तपद्मरत्नतले क्षिपेत् ॥१२३॥

उसके समस्त अंगोंका स्पर्श करे और फिर प्रायः अपने समान होनेसे उसमें अपना सकल्प कर अर्थात् यह मे ही हूँ ऐसा आरोप कर नीचे लिखे हुए सुभाषित पढ़े ॥११३॥ हे पुत्र, तू मेरे अंग अंगसे उत्पन्न हुआ है और मेरे हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिए तू पुत्र नामको धारण करनेवाला मेरा आत्मा ही है । तू सैकड़ों वर्षों तक जीवित रह ॥११४॥ तदनन्तर दूध और घीरूपी पवित्र अमृत उसकी नाभिपर डालकर 'घातिजयो भव' (तू घातिया कर्मोंको जीतने-वाला हो) यह मन्त्र पढ़कर युक्तसे उसकी नाभिका नाल काटना चाहिए ॥११५॥ तत्पश्चात् 'हे जात, श्रीदेव्य ते जातक्रिया कुर्वन्तु' अर्थात् हे पुत्र, श्री, ह्री आदि देवियाँ तेरी जन्मक्रियाका उत्सव करे यह कहते हुए धीरे-धीरे यत्नपूर्वक सुगन्धित चूर्णसे उस बालकके शरीरपर उबटन करे । फिर 'त्वं मन्दरामिषेकार्हां भव' अर्थात् तू मेरे पर्वतपर अभिषेक करने योग्य हो यह मन्त्र पढ़कर सुगन्धित जलसे उसे स्नान करावे और फिर 'चिरं जीव्या' अर्थात् तू चिरकाल तक जीवित रह इस प्रकार आशीर्वाद देकर उसपर अक्षत डाले ॥११६-११७॥ इसके अनन्तर द्विज, 'नद्यात् कर्ममलं कृत्स्नम्'—अर्थात् तेरे ममस्त कर्ममल नष्ट हो जावे यह मन्त्र पढ़कर उसके मुख और नाकमें, औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्राके अनुसार छोड़े ॥११८॥ तत्पश्चात् 'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूयाः' अर्थात् तू तीर्थंकरकी माताके स्तनका पान करने-वाला हो-ऐसा कहता हुआ माताके स्तनको मन्त्रित कर उसे बालकके मुहमें लगा दे ॥११९॥ तदनन्तर जिस प्रकार पहले वर्णन कर चुके हैं उसी प्रकार प्रीतिपूर्वक दान देते हुए उत्सव कर विधिपूर्वक जातकर्म अथवा जन्मकालकी क्रिया समाप्त करनी चाहिए ॥१२०॥ उसके जरायु पटलको नाभिकी नालके साथ-साथ किसी पवित्र जमीनको खोदकर मन्त्र पढ़ते हुए गाड़ देना-चाहिए ॥१२१॥ उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद, सर्वमाता-पद और वसुन्धरा पदको दो-दो बार कहकर अन्तमें स्वाहा शब्द कहना चाहिए । अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमात सर्वमात वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा (सम्यग्दृष्टि, सर्वकी माता पृथ्वीमे यह समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रसे मन्त्रित कर उस भूमिमें जल और अक्षत डालकर पाँच प्रकारके रत्नोंके नीचे गर्भका वह मल रख देना चाहिए और फिर कभी 'त्वत्पुत्रा इव

१ बहुसंख्यसंख्या । २ क्षीराज्यरूपममृतम् । ३ सिकत्वा । ४ युक्तितः ल० । भक्तितः व० ।  
 ५ बालस्य । ६ हृत्स्व कुर्यात् । ७ क्षिप्यादित्यर्थः । ८ पुत्रं जातकर्म । ९ परिमलचूर्णेन । १० जीव ।  
 ११ वक्त्रे । १२ आश्विज्येष्ठ, क्षिपेद् वा । १३ किञ्चित् परिमाणेन । १४ जिनजननीस्तन्यगानभागी भव । १५ ब्रुवन् । १६ संयोजयेत् । १७ संप्रापयेत् । १८ जरायुपटलम् ।

त्वत्पुत्रा<sup>१</sup> इव मत्पुत्रा भूयासुचिरजीविनः । ह्युदाहृत्य सस्याहं तत्क्षेप्तव्यं महीतले ॥१२४॥  
 क्षीरवृक्षोपशास्त्रामिषहृत्य<sup>२</sup> च भूतलम् । स्नाप्या तत्रास्य माताऽसौ सुखोऽगैर्मन्त्रितैर्जलैः ॥१२५॥  
 सम्यग्दृष्टिर्दं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत् । पद्मासन्नमयेनि तद्वद् विस्वेष्वरेत्यपि<sup>३</sup> ॥१२६॥  
 तत ऊर्जितपुण्येति जिनमातृपदं तथा । स्वाहान्तो मन्त्र एष स्थान्मातुः सुस्नानसंविधौ ॥१२७॥  
 चूर्णिः—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नमये आसन्नमये विश्वेश्वरे विश्वेश्वरे ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये  
 जिनमातः जिनमातः स्वाहा ।

यथा जिनास्त्रिका पुत्रकल्याणान्धमिपश्यति । तथेयमपि मत्पत्नीत्यात्थयेयं<sup>४</sup> विधिं मजेत् ॥१२८॥  
 तृतीयेऽहनि चानन्तज्ञानदर्शी भवेत्यसुम्<sup>५</sup> । आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशि ताराङ्कितं नभः ॥१२९॥  
 पुण्याहपोषणापूर्वं कुर्याद् दानं च अकितः । यथायोग्यं विद्ध्यच्च सर्वस्यास्यवोपणात् ॥१३०॥  
 जातकर्मविधिः सोऽयमास्नातः पूर्वसूरिभिः । यथायोगमनुष्ठेयः सोऽद्यत्वेऽपि द्विजोत्तमैः ॥१३१॥  
 नामकर्मविधाने च मन्त्रोऽयमनुकीर्यते । सिद्धार्जनविधौ स न मन्त्राः प्रागनुवर्णिता ॥१३२॥  
 ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिकम् । पद्वितयमुच्चार्य मन्त्रोऽत्र परिवर्त्यताम् ॥१३३॥  
 चूर्णिः—‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी  
 भव’ ।

मत्पुत्रा चिरजीविनो भूयासु<sup>१</sup> ( हे पृथ्वी तेरे पुत्र-कुलपर्वतोके समान मेरे पुत्र भी चिरजीवी  
 हो ) यह कहकर धान्य उत्पन्न होनेके योग्य खेतमें जमीनपर वह मल डाल देना चाहिए  
 ॥१२२-१२४॥ तदनन्तर क्षीर वृक्षकी डालियोसे पृथिवीको सुशोभित कर उसपर उस  
 पुत्रकी माताको बिठाकर मन्त्रित किये हुए सुहाते गरम जलसे स्नान कराना चाहिए ॥१२५॥  
 माताको स्नान करानेका मन्त्र यह है — प्रथम ही सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदको दो बार कहना  
 चाहिए फिर आसन्नभव्या, विस्वेश्वरी, अर्जितपुण्या, और जिनमाता इन पदोंको भी सम्बोध-  
 नान्त कर दो-दो बार बोलना चाहिए और अन्तमें स्वाहा शब्द पढ़ना चाहिए । भावार्थ —  
 सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विस्वेश्वरि विस्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये  
 जिनमात जिनमात स्वाहा ( हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभव्य, हे सबकी स्वामिनी, हे अत्यन्त  
 पुण्य संवय करनेवाली, जिनमाता तू कल्याण करनेवाली हो ) यह मन्त्र पुत्रकी माताको स्नान  
 कराते समय बोलना चाहिए ॥१२६-१२७॥ जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी माता पुत्रके कल्याणोंको  
 देखती है उसी प्रकार यह मेरी पत्नी भी देखे ऐसी श्रद्धासे यह स्नानकी विधि करनी चाहिए  
 ॥१२८॥ तीसरे दिन रातके समय ‘अनन्तज्ञानदर्शी भव’ ( तू अनन्तज्ञानको देखनेवाला हो )  
 यह मन्त्र पढ़कर उस पुत्रको गोदीमें उठाकर ताराओंसे सुशोभित आकाश दिखाना चाहिए  
 ॥१२९॥ उसी दिन पुण्याहवाचनके साथ-साथ शक्तिके अनुसार दान करना चाहिए और  
 जितना बन सके उतना सब जीवोंके अभयकी घोषणा करनी चाहिए ॥१३०॥ इस प्रकार  
 पूर्वविचार्योने यह जन्मोत्सवकी विधि मानी है — कही है । उत्तम द्विजको आज भी इसका यथा-  
 योग्य रीतिसे अनुष्ठान करना चाहिए ॥१३१॥

अब आगे नामकर्म करते समय जिन मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हें कहते हैं—इस विधिमें  
 सिद्ध भगवान्की पूजा करनेके लिए जिन सात पीठिका मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हें पहले ही  
 कह चुके हैं । उनके आगे ‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव’ आदि तीनों पदोंका उच्चारण कर  
 मन्त्र परिवर्तित कर लेना चाहिए अर्थात् ‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव’ ( एक हजार आठ  
 दिव्य नामोंका पानेवाला हो ), ‘विजयाष्टसहस्रनामभागी भव’ ( विजयरूप एक हजार आठ

शेषो विधिस्तु निःशेषः प्रागुक्तो नोच्यते पुनः । बहिर्यानि क्रियामन्त्रः ततोऽयमनु गम्यताम् ॥ १३४ ॥

बहिर्यानि क्रिया —

तत्रोपनयनिष्क्रान्तिभागी भव पदात्परम् । भवेद् वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः ॥ १३५ ॥

क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं वदेत् । ततः सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं स्मृतम् ॥ १३६ ॥

मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः । यौवराज्यमहाराज्यपदे भागी भवान्ति ॥ १३७ ॥

निष्क्रान्तिपदमध्ये स्तोत्रं परराज्यपदं तथा । आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव शिखापदम् ॥ १३८ ॥

पदैरभिरथं मन्त्रस्तद्विद्विजुज्यताम् । प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामन्त्र उत्तरः ॥ १३९ ॥

चूर्णिः—उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्र-  
निष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्ति-  
भागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव, ( बहिर्यानिमन्त्र )

निषद्या —

दिव्यसिंहासनपद्माद् भागो भव पद भवेत् । एव विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥ १४० ॥

नामोका धारक हो और 'परमाष्टसहस्रनामभागी भव' ( अत्यन्त उत्तम एक हजार आठ नामोका पानेवाला हो ) ये मन्त्र पढ़ना चाहिए ।

सग्रह—'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव' ॥ १३२—१३३ ॥ बाकीकी समस्त विधि पहले कही जा चुकी है इसलिए दुबारा नहीं कहते हैं । अब आगे बहिर्यानि क्रियाके मन्त्र नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिए ॥ १३४ ॥

सबसे पहले 'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव', ( तू यज्ञोपवीतके लिए निकलनेवाला हो ) यह पद बोलना चाहिए और फिर 'वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव' ( विवाहके लिए बाहर निकलने-  
वाला हो ) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥ १३५ ॥ तदनन्तर अनुक्रमसे 'मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' ( मुनिपदके लिए निकलनेवाला हो ) यह मन्त्र कहना चाहिए और उसके बाद 'सुरेन्द्र-  
निष्क्रान्तिभागी भव' ( सुरेन्द्र पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो ) यह पद बोलना चाहिए ॥ १३६ ॥ तत्पश्चात् 'मन्दरेन्द्राभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव' ( सुमेरुपर्वतपर अभिषेकके लिए निकलनेवाला हो ) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिए और फिर 'यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' ( युवराज पदके लिए निकलनेवाला हो ) यह मन्त्र कहना चाहिए ॥ १३७ ॥ तदनन्तर 'महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' ( महाराज पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो ) यह पद बोलना चाहिए और उसके बाद 'परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' ( चक्रवर्तीका उत्कृष्ट राज्य पानेके लिए निकलनेवाला हो ) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए और इसके अनन्तर 'आर्हन्त्यराज्य-  
भागी भव' ( अरहन्त पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो ) यह मन्त्र कहना चाहिए ॥ १३८ ॥ इस प्रकार मन्त्रोंको जानेवाले द्विजोंको इन उपर्युक्त पदोंके द्वारा मन्त्रोंका जाप करना चाहिए । बाकी समस्त विधि पहले कह चुके हैं अब आगे निषद्या मन्त्र कहते हैं ॥ १३९ ॥

संग्रह—'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव ।

निषद्यामन्त्र —'दिव्यसिंहासनभागी भव' ( दिव्य सिंहासनका भोजना हो — इन्द्रके

चूर्णिः—दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव ( इति निषद्यामन्त्रः ) ।

अन्नप्राशनक्रिया—

प्राशनेऽपि तथा मन्त्रं पदैस्त्रिमिरुदाहरत् । तानि स्युर्दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥१४१॥

भागी भव पदेनान्ते चुक्तेनानुगतानि तु । पदैरभिरर्थं मन्त्रः प्रयोज्यः प्राशनं वृषे ॥१४२॥

चूर्णिः—त्रिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव ।

व्युष्टिः—

व्युष्टिक्रियाश्रितं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतम् । तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनवाग्युतम् ॥१४३॥

भागी भव पदं ज्ञेयमादौ शेषपदाष्टके । वैवाहनिष्ठमन्त्रेण मुनिजन्मपदेन च ॥१४४॥

सुरेन्द्रजन्मना मन्दरामिषेकपदेन च । यौवराज्यमहाराज्यपदाम्भ्यामप्यनुक्रमत् ॥१४५॥

परमार्हन्त्यराज्याद्यां वर्षवर्धनसंयुतम् । भागी भव पदं योज्यं ततो मन्त्रोऽयमुद्धवेन ॥१४६॥

चूर्णिः—उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दरामिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, ( व्युष्टिक्रियामन्त्रः ) भासनपर वैठनेवाला हो ) 'विजयसिंहासनभागी भव' ( चक्रवर्तिक विजयोल्लसित सिंहासनपर वैठनेवाला हो ) और 'परमसिंहासनभागी भव' ( तीर्थ करके उत्कृष्ट सिंहासनपर वैठनेवाला हो ) ये तीन मन्त्र कहना चाहिए ॥१४०॥

संग्रह—'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव' ।

अब अन्नप्राशन क्रियाके मन्त्र कहते हैं — अन्नप्राशन क्रियाके समय तीन पदोंके द्वारा मन्त्र कहने चाहिए और वे पद दिव्यामृत, विजयामृत और अक्षीणामृत इनके अन्तमें भागी भव ये योग्य पद लगाकर बगाने चाहिए । विद्वानोंको अन्नप्राशन क्रियामें इन पदोंके द्वारा मन्त्रका प्रयोग करना चाहिए । भावार्थ — इस क्रियामें निम्नलिखित मन्त्र पढ़ने चाहिए—'दिव्यामृतभागी भव' ( दिव्य अमृतका भोग करनेवाला हो ), 'विजयामृतभागी भव' ( विजयरूप अमृतका उपभोक्ता हो ) और 'अक्षीणामृतभागी भव' ( अक्षीण अमृतका भोक्ता हो ) ॥१४१—१४२॥

संग्रह — 'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव' ।

अब यहुँसि आगे शास्त्रानुसार व्युष्टि क्रियाके मन्त्र कहते हैं — सबसे पहले 'उपनयन' के आगे 'जन्मवर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' पद लगाना चाहिए और फिर अनुक्रमसे वैवाह-निष्ठ, मुनीन्द्रजन्म, सुरेन्द्रजन्म, मन्दरामिषेक, यौवराज्य, महाराज्य, परमराज्य और आर्हन्त्य-राज्य इन शेष आठ पदोंके साथ 'वर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' यह पद लगाना चाहिए । ऐसा करनेसे व्युष्टिक्रियाके सब मन्त्र बन जावेगे । भावार्थ — व्युष्टिक्रियामें निम्नलिखित मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिए — 'उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव' ( यज्ञोपवीतरूप जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो ) 'वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव' ( विवाह क्रियाके वर्षका वर्धक हो ), 'मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी' ( मुनि पद धारण करनेवाले वर्षकी वृद्धिसे युक्त हो ), 'सुरेन्द्र-जन्मवर्षवर्द्धनभागी भव' ( इन्द्र जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो ), 'मन्दरामिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव' ( सुमेरु पर्वतपर होनेवाले अमिषेककी वर्ष वृद्धि करनेवाला हो ), 'यौवराज्यवर्षवर्द्धन-भागी भव' ( युवराज पदकी वर्षवृद्धि करनेवाला हो ), 'महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव' ( महाराज पदकी वर्षवृद्धिका उपभोक्ता हो ) 'परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव' ( चक्रवर्तिक उत्कृष्ट राज्य

चौलकर्म -

चौलकर्मण्यथो मन्त्रः स्थापनयनादिकम् । मुण्डभागी भवान्तं च पदमादावनुस्सृतम् ॥१४८॥

ततो निर्ग्रन्थमुण्डादिभागी भवपदं परम् । ततो निष्क्रान्तिमुण्डादिभागी भवपदं परम् ॥१४८॥

स्थापनयनादिशकेशभागी भवेत्यतः । परमेन्द्रपदादिश्च केशभागी भवध्वनिः ॥१४९॥

परमार्हन्त्यराज्यादिकेशभागीति वाङ्मयम् । भवेत्यन्तपदोपेतं मन्त्रोऽस्मिन्स्थापितपदम् ॥१५०॥

गिखामेतेन मन्त्रेण स्थापयेद्विधिवद् द्विजः । ततो मन्त्रोऽयमाज्ञातो लिपिसंस्थानसंग्रहे ॥१५१॥

चूर्णि-उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्र-  
केशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव । ( इति चौलक्रियामन्त्रः )

शब्दपारभागी भव अर्थपारभागी भव । पदं शब्दार्थसंवन्धपारभागी भवेत्यपि ॥१५२॥

चूर्णि-शब्दपारभागी ( भागी ) भव, अर्थपारभागी ( भागी ) भव, शब्दार्थपारभागी ( भागी )  
भव, ( लिपिसंस्थानमन्त्रः )

उपनीतिक्रियामन्त्र स्मरन्तीति द्विजोत्तमा । परमनिस्तारकादिलिङ्गभागी भवेत्यतः ॥१५३॥

की वर्षवृद्धि करनेवाला हो ) और 'आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' ( अरहन्त पदवीरूपी राज्य-  
के वर्षका बढ़ानेवाला हो ) ॥१४३-१४६॥

संग्रह - 'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्म-  
वर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मन्दरामिषैकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्य-  
वर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्य-  
राज्यवर्षवर्धनभागी भव' ।

अब चौलक्रियाके मन्त्र कहते हैं - जिसके आदिमें उपनयन शब्द है और अन्तमें 'मुण्ड-  
भागी भव' शब्द है ऐसा पहला मन्त्र जानना चाहिए अर्थात् 'उपनयनमुण्डभागी भव' ( उपनयन  
क्रियामें मुण्डन करनेवाला हो ) यह चौलक्रियाका पहला मन्त्र है ॥१४७॥ फिर 'निर्ग्रन्थ-  
मुण्डभागी भव' ( निर्ग्रन्थ दीक्षा लेते समय मुण्डन करनेवाला हो ) यह दूसरा मन्त्र है और उसके  
बाद 'निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव' ( मुनि अवस्थामें केशलोच करनेवाला हो ) यह तीसरा मन्त्र  
है ॥१४८॥ तदनन्तर 'परमनिस्तारककेशभागी भव' ( ससारसे पार उतारनेवाले आचार्यके  
केशको प्राप्त हो ) यह चौथा मन्त्र है और उसके पश्चात् 'परमेन्द्रकेशभागी भव' ( इन्द्र पदके  
केशको धारण करनेवाला हो ) यह पाँचवाँ मन्त्र बोलना चाहिए ॥१४९॥ इसके बाद  
'परमराज्यकेशभागी भव' ( चक्रवर्तीके केशको प्राप्त हो ) यह छठा मन्त्र है और 'आर्हन्त्य-  
राज्यकेशभागी भव' ( अरहन्त अवस्थामें केशको धारण करनेवाला हो ) यह सातवाँ मन्त्र  
बोलना चाहिए । द्विजोको इन मन्त्रोंसे विधिपूर्वक चोटी रखवाना चाहिए । अब आगे लिपि-  
संस्थानके मन्त्र कहते हैं ॥१५०-१५१॥

संग्रह-उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव,  
परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्य-  
केशभागी भव' ।

लिपिसंस्थानके मन्त्र-'शब्दपारभागी भव' ( शब्दोका पारभागी हो ), 'अर्थपारभागी  
भागी भव' ( सम्पूर्ण अर्थका जाननेवाला हो ) और 'शब्दार्थसंवन्धपारभागी भव' ( शब्द  
तथा अर्थ दोनोंके सम्बन्धका पारभागी हो ) ये पद लिपिसंस्थानके समय कहने चाहिए ॥१५२॥

संग्रह-'शब्दपारभागी भव, अर्थपारभागी भव, शब्दार्थपारभागी भव' ।

उत्तम द्विज नीचे लिखे हुए मन्त्रोंको उपनीति क्रियाके मन्त्ररूपमें स्मरण करने हैं -



युक्तं परमर्षिलिङ्गेन सागीभवपदं भवेत् । परमेन्द्रादिलिङ्गादिभागी भवपदं परम् ॥ १५४ ॥

एवं परमराज्यादि परमार्हन्त्यादि च क्रमात् । युक्तं परमनिर्वाणपदेन च शिखापदम् ॥ १५५ ॥

चूर्णिः—परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्य-  
लिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव ( इत्युपनीतिक्रियामन्त्रः )

मन्त्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादितः । निर्विकारेण वक्षेण कुर्यादेवं सवाससम् ॥ १५६ ॥

कौपीनाच्छादनं चैनं मन्त्रवर्तसेन कारयेत् । मौञ्जीबन्धमतः कुर्यादनुवदत्रिमलकम् ॥ १५७ ॥

सूत्रं गणधरैर्द्वधं व्रतचिह्नं नियोजयेत् । मन्त्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्थाप्यौ द्विजः ॥ १५८ ॥

जात्येव ब्राह्मणः पूर्वमिदानीं व्रतसंस्कृतः । द्विजो तो द्विज इत्येवं रुढिमास्तिधनुते गुणैः ॥ १५९ ॥

देयान्यणुवतान्यस्मै गुरुसाक्षि यथाविधिः । गुणशीलानुगैश्चैनं संस्कुर्याद् व्रतजातकैः ॥ १६० ॥

ततोऽतिबालविद्यादीर्षिं योगादस्य निर्दिशेत् । दत्तोपासकाध्ययनं नामापि चरणोचितम् ॥ १६१ ॥

ततोऽयं कृतसंस्कारं सिद्धान्चनपुरःसरम् । यथाविधानमाचार्यपूजां कुर्यादतः परम् ॥ १६२ ॥

तस्मिन्दिने प्रविष्टस्य भिक्षार्थं जातिवेस्मसु । योऽर्थलाभः स देयः श्यादुपाध्यायस्य सादरम् ॥ १६३ ॥

सबसे पहले 'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव' ( तू उत्कृष्ट आचार्यके चिह्नको धारण करनेवाला हो ), फिर 'परमर्षिलिङ्गभागी भव' ( परमऋषियोके चिह्नको धारण करनेवाला हो ) और 'परमेन्द्रलिङ्गभागी भव' ( परम इन्द्रपदके चिह्नको धारण करनेवाला हो ) ये मन्त्र बोलना चाहिए । इसी प्रकार अनुक्रमसे परम राज्य, परमार्हन्त्य और परम निर्वाण पदको 'लिङ्गभागी भव' पदसे युक्त कर 'परमराज्यलिङ्गभागी भव' ( परमराज्यके चिह्नको धारण करनेवाला हो ), 'परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव' ( उत्कृष्ट अरहन्तदेवके चिह्नको धारण करनेवाला हो ) और 'परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' ( परमनिर्वाणके चिह्नको धारण करनेवाला हो ) ये मन्त्र बना लेना चाहिए ॥ १५३-१५५ ॥

संग्रह—'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' ।

इन मन्त्रोंसे प्रथम ही शिष्यका संस्कार कर उसे विकाररहित वस्त्रके द्वारा वस्त्रसहित करना चाहिए अर्थात् साधारण वस्त्र पहनाना चाहिए ॥ १५६ ॥ इसे वस्त्रके भीतर लँगोटी देनी चाहिए और उसपर तीन लड़की बनी हुई मौंजकी रस्सी बांधनी चाहिए ॥ १५७ ॥ तदनन्तर गणधरदेवके द्वारा कहा हुआ, व्रतोका चिह्नस्वरूप और मन्त्रोंसे पवित्र किया हुआ सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत धारण कराना चाहिए । यज्ञोपवीत धारण करनेपर वह बालक द्विज कहलाने लगता है ॥ १५८ ॥ पहले तो वह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण था और अब व्रतोसे संस्कृत होकर दूसरी बार उत्पन्न हुआ है इसलिए दो बार उत्पन्न होनेरूप गुणोंसे वह द्विज ऐसी रुढिको प्राप्त होता है ॥ १५९ ॥ उस समय उस पुत्रके लिए विधिके अनुसार गुरुकी साक्षीपूर्वक अनुव्रत देना चाहिए और गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत रूपशौलसे सहित व्रतोंके समूहसे उसका संस्कार करना चाहिए । भावार्थ — उसे पाँच ऋणव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार व्रत और शील देकर उसके संस्कार अच्छे बनाना चाहिए ॥ १६० ॥ तदनन्तर गुरु उसे उपासकाध्ययन पढ़ाकर और चारित्रिके योग्य उसका नाम रखकर अतिबाल विद्या आदिका नियोगरूपसे उपदेश दे ॥ १६१ ॥ इसके बाद जिसका संस्कार किया जा चुका है ऐसा वह पुत्र सिद्ध भगवान् की पूजा कर फिर विधिके अनुसार अपने आचार्यकी पूजा करे ॥ १६२ ॥ उस दिन उस पुत्रको

शेषो विधिस्तु प्राक्प्रोक्तः तमनूनं समाचरेत् । यावत्सोऽधीतविधः सन् भजेत् सत्रह्यचारिताम् ॥१६४॥  
अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात् । स्याद्यज्ञोपासकाभ्यायः समासेनानु संहतः ॥१६५॥  
शिरोलिङ्गसुरोलिङ्ग लिङ्गकट्यूरुसंश्रितम् । लिङ्गमस्थोपनीतस्य प्रागनिर्णीतं चतुर्विधम् ॥१६६॥  
तत्तु स्यादसिद्ध्या वा मय्या कृप्या वणित्यथा । यथास्व वर्तमानानां सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम् ॥१६७॥  
कुतश्चित् कारणाद् अयस्य कुल संप्राप्तवृषणम् । सोऽपि राजात्रिममस्या गोपयेत् स्वं यदा कुलम् ॥१६८॥  
तदास्थोपनयाह्वं पुत्रपौत्रादिसन्तती । न निषिद्धं हि दीक्षाहं कुले चेदस्य पूर्ववा ॥१६९॥  
अदीक्षाहं कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिर्ममतः ॥१७०॥  
तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम् । एकजाटकधारित्व संन्यासमरणावधि ॥१७१॥  
स्यान्निरासिषमोजित्वं कुलस्त्रासेवनव्रतम् । अनारम्भभवोत्सर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम् ॥१७२॥  
इति शुद्धतरां वृत्ति व्रतपूतानुपेयिवान् । यो द्विजस्तस्य संपूर्णो व्रतचर्याविधिः स्मृतः ॥१७३॥  
उगाधिकारास्तस्योक्ताः सूत्रेणौपासिकेन हि । जगन्मयाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रवक्ष्यमहं ॥१७४॥

अपनी जाति या कुटुम्बके लोगोके घरमे प्रवेश कर भिक्षा मांगना चाहिए और उस भिक्षामे जो कुछ अर्थका लाभ हो उसे आदर सहित उपाध्यायके लिए सौंप देना चाहिए ॥१६३॥ बाकीकी सब विधि पहले कही जा चुकी है । उसे पूर्णरूपसे करना चाहिए । इसके सिवाय वह जबतक विद्या पढता रहे तबतक उसे ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना चाहिए ॥१६४॥

अथानन्तर जिसमे उपासकाध्ययनका सक्षेपसे सग्रह किया है ऐसी इसकी व्रतचर्या-को अनुक्रमसे कहता हूँ ॥१६५॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है ऐसे बालकके लिए शिरका चिह्न ( मुण्डन ), वक्ष स्थलका चिह्न-यज्ञोपवीत, कमरका चिह्न - मूँजकी रस्सी और जाँघका चिह्न - सफेद धोती ये चार प्रकारके चिह्न धारण करना चाहिए । इनका निर्णय पहले हो चुका है ॥१६६॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार तलवार आदि गस्त्रोके द्वारा, स्याही अर्थात् लेखनकलाके द्वारा, खेती और व्यापारके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं ऐसे सद्दृष्टि द्विजोको वह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए ॥१६७॥ जिसके कुलमे किसी कारणसे दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदिकी सम्मतिसे अपने कुलको शुद्ध कर लेता है तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हो तो उसके पुत्र पौत्र आदि सन्ततिके लिए यज्ञोपवीत धारण करनेकी योग्यताका कही निषेध नहीं है । भावार्थ-यदि दीक्षा धारण करने योग्य कुलमे किसी कारणसे दोष लग जावे तो राजा आदिकी सम्मतिसे उसकी शुद्धि हो सकती है और उस कुलके पुरुषको यज्ञोपवीत भी दिया जा सकता है । न केवल उसी पुरुषको किन्तु उसके पुत्र पौत्र आदि सन्तानके लिए भी यज्ञोपवीत देनेका कही निषेध नहीं है ॥१६८-१६९॥ जो दीक्षाके अयोग्य कुलमे उत्पन्न हुए हैं तथा नाचना गाना आदि विद्या और जाल्पसे अपनी आजीविका करते हैं ऐसे पुरुषोको यज्ञोपवीत आदि संस्कारोकी आज्ञा नहीं है ॥१७०॥ किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न हो सकता है कि वे संन्यासमरण पर्यन्त एक धोती पहने ॥१७१॥ यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषोको मास-रहित भोजन करना चाहिए, अपनी विवाहिता कुलस्त्रीका सेवन करना चाहिए, अनारम्भी हिंसाका त्याग करना चाहिए और अमक्ष्य तथा अपेय पदार्थका परित्याग करना चाहिए ॥१७२॥ इस प्रकार जो द्विज व्रतोसे पवित्र हुई अत्यन्त शुद्ध वृत्तिको धारण करता है उसके व्रतचर्याको पूर्ण विधि समझनी चाहिए ॥१७३॥ अब उन द्विजोके लिए उपासकाध्ययन सूत्रमे जो दश

१ संगृहीत । २ जीवताम् । ३ मासरहितभोजित्वम् । ४ आरम्भजनितवध गिद्रापान्यवधम्याग ।

तत्रातिवालविद्याऽत्रा कुलावधिरनन्तरम् । वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्ट्यधिकारिणा ॥१७५॥  
 व्यवहारंशिताऽस्या स्यादवध्यत्वमदण्ड्यता । मानार्हता प्रजामवन्धान्तरं चेत्यनुक्रमत् ॥१७६॥  
 दशाधिकारिवस्तुनि स्युरुपासकसंग्रहे । तानीमानि यथोद्देशं संक्षेपेण विवृण्वहे ॥१७७॥  
 यादयाद्यभृतिं या विद्याशिक्षोद्योगाद् द्विजन्मनः । प्रोक्तातिवालविद्येति सा क्रिया द्विजमंसता ॥१७८॥  
 तस्यामसत्यां मूढात्मा हेयाद्यानमिन्नकः । मिथ्याश्रुतिं प्रपद्येत द्विजन्मान्यैः प्रतारितः ॥१७९॥  
 वास्य एव ततोऽभ्यस्येद् द्विजन्मौपासिकां श्रुतिम् । स तथा प्राप्तसंस्कारः स्वपरोत्तारको भवेत् ॥१८०॥  
 कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः । तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां मजेत् ॥१८१॥  
 वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्ववधिव्यमस्य वै । तेनार्थं श्लाघ्यतामेति स्वपरोद्धारणक्षमः ॥१८२॥  
 वर्णोत्तमत्वं यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता । अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोषयेन्न परानपि ॥१८३॥  
 ततोऽयं शुद्धिकामः सन् सेवेतान् कुलिङ्गिनम् । कुब्रह्म वा ततस्तज्ज्ञानं दोषान् प्राप्नोष्यसंशयम् ॥१८४॥  
 प्रजानाहंस्वमस्पृष्टं पात्रत्वं गुणगौरवान् । गुणाधिकोऽहि लोकेऽस्मिन् पूज्यः स्याद्व्योक्तपूजितः ॥१८५॥  
 ततो गुणकृता स्वस्मिन् पात्रतां द्रष्टुयेद्विजः । तदभावे विमान्यत्वाद् द्वियतेऽस्य धनं नृपैः ॥१८६॥

अधिकार कहे हैं उन्हें यथाक्रमसे नामके अनुसार कहता हूँ ॥१७४॥ उन दश अधिकारोमे पहला अतिवाल विद्या, दूसरा कुलावधि, तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पाँचवाँ सृष्ट्यधिकारिता, छठा व्यवहारंशिता, सातवाँ अवध्यत्व, आठवाँ अदण्ड्यता, नौवाँ मानार्हता और दशवाँ प्रजामवन्धान्तर है । उपासकसंग्रहमें अनुक्रमसे ये दश अधिकारवस्तुएँ बतलायी गयी हैं । उन्हीं अधिकार वस्तुओंका उनके नामके अनुसार यहाँ संक्षेपसे कुछ विवरण करता हूँ । ॥१७५-१७७॥ द्विजोको जो बाल्य अवस्थासे ही लेकर विद्या सिखलानेका उद्योग किया जाता है उसे अतिवालविद्या कहते हैं, यह विद्या द्विजोको अत्यन्त इष्ट है ॥१७८॥ इस अतिवाल विद्याके अभावमे द्विज मूर्ख रह जाता है उसे हेय उपादेयका ज्ञान नहीं हो पाता और वह अपनेको झूठमूठ द्विज माननेवाले पुरुषोके द्वारा ठगाया जाकर मिथ्या शास्त्रके अध्ययनमें लग जाता है ॥१७९॥ इसलिए द्विजोको उचित है कि वे बाल्य अवस्थामें ही श्रावकाचारके शास्त्रोंका अभ्यास करे क्योंकि उपासकाचारके शास्त्रोके द्वारा जिसे अच्छे संस्कार प्राप्त हो जाते हैं वह निज और परको तारनेवाला हो जाता है ॥१८०॥ अपने कुलके आचारकी रक्षा करना द्विजोंकी कुलावधि क्रिया कहलाती है । कुलके आचारकी रक्षा न होनेपर पुरुषकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है ॥१८१॥ समस्त वर्णोंमें श्रेष्ठ होना ही इसकी वर्णोत्तम क्रिया है, इस वर्णोत्तम क्रियासे ही यह प्रशंसाको प्राप्त होता है और निज तथा परका उद्धार करनेमें समर्थ होता है ॥१८२॥ यदि इसके वर्णोत्तम क्रिया नहीं है अर्थात् इसका वर्ण उत्तम नहीं है तो इसके उत्कृष्टता नहीं हो सकती और जो उत्कृष्ट नहीं है वह न तो अपने-आपको शुद्ध कर सकता है और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकता है ॥१८३॥ जो स्वयं उत्कृष्ट नहीं है ऐसे द्विजको अपनी शुद्धिकी इच्छासे अन्य कुलिङ्गियो अथवा कुब्रह्मकी सेवा करनी पड़ती है और ऐसी दशामें वह नि सन्देह उन लोगोमे उत्पन्न हुए दोषोको प्राप्त होता है । भावार्थ—सदा ऐसे ही कार्य करना चाहिए जिससे वर्णकी उत्तमतामे बाधा न आवे ॥१८४॥ गुणोंका गौरव होनेसे दान देनेके योग्य पात्रता भी इन्हीं द्विजोमे होती है क्योंकि जो गुणोसे अधिक होता है वह संसारमे सब लोगोके द्वारा पूजित होनेवाले लोगोके द्वारा भी पूजा जाता है ॥१८५॥ इसलिए द्विजोंको चाहिए कि वे अपने-आपमे गुणो-

१ यो विद्याशिक्षोद्योगो द्विजन्मनः द०, ल०, अ०, स०, इ० । २ द्विजन्मान्यै द० । ३ व्रजेत् द०, ल० । ४ कुत्सितव्रह्माणम् । ५ कुलिङ्गकुब्रह्मसेवनात् ।

रक्षयः सृष्ट्यधिकारोऽपि द्विजैस्त्वत्तमसृष्टिभिः । असदृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विद्वतः ॥१८०॥  
 अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्दृष्टेन<sup>१</sup> कुदृष्टयः । लोकं तृपांश्च संमोह्य नयन्त्युत्पद्यमानिताम् ॥१८१॥  
 सृष्ट्यन्तरमतो दूरमपास्य नयतत्त्ववित् । अनादिश्रुतिर्यैः सृष्टां धर्मसृष्टि प्रभावयेत् ॥१८२॥  
 तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी । तां<sup>२</sup> संश्रिताद्भूपानेव<sup>३</sup> सृष्टिहेतुः प्रकाशयेत् ॥१८३॥  
 अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्नाः स्युर्दुर्पोत्तमाः । ततो नैश्वर्यमेवां स्यात्तत्त्वस्थाश्च स्युरार्हताः ॥१८४॥  
 व्यवहारेक्षितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि । स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिम् ॥१८५॥  
 तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति । अशुद्धः परतः शुद्धिसर्मापसन्न्यक्कृतो<sup>४</sup> भवेत् ॥१८६॥  
 स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः । ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षात्मान्यतो<sup>५</sup> नधमर्हति ॥१८७॥  
 सर्वं प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः । गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां नधेऽपि द्वाधात्मता<sup>६</sup> मता ॥१८८॥  
 तस्माद्बध्यतामेव पोषयेद् धार्मिके जने । धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्यो यन्नाभिभूयते ॥१८९॥  
 तदभावे च बध्यस्त्वमयसृच्छति सर्वतः । एवं च सति धर्मस्य नश्येत् प्रमाण्यमर्हताम् ॥१९०॥

के द्वारा की हुई पात्रताको हट कर अर्थात् गुणी पात्र बने क्योंकि पात्रताके अभावमे मान्यता नहीं रहती और मान्यताके न होनेसे राजा लोग भी धन हरण कर लेते हैं ॥१८६॥ जिनकी सृष्टि उत्तम है ऐसे द्विजोंको मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा की हुई सृष्टिको दूसरे ही छोड़कर अपनी सृष्टिके अधिकारोकी रक्षा करनी चाहिए ॥१८७॥ अन्यथा मिथ्यादृष्टि लोग अपने दूषित सृष्टिवादसे लोगोंको और राजाओंको मोहित कर कुमार्गगामी बना देते ॥१८८॥ इसलिए नय और तत्त्वोंको जाननेवाले द्विजोंको चाहिए कि मिथ्यादृष्टियोंकी अन्यसृष्टिको दूसरे ही छोड़कर अनादिश्रुतियोंके द्वारा रची हुई धर्मसृष्टिकी ही प्रभावना करे ॥१८९॥ तथा इस धर्मसृष्टिका आश्रय लेनेवाले राजाओंसे ऐसा कहे कि तीर्थकरोके द्वारा रची हुई यह सृष्टि अनादिकालसे चली आयी है । भावार्थ — यह धर्मसृष्टि तीर्थकरोके द्वारा रची हुई है और अनादि कालसे चली आ रही है इसलिए आप भी इसकी रक्षा कीजिए ॥१९०॥ यदि द्विज राजाओंसे ऐसा नहीं कहेंगे तो वे अन्य लोगोंके द्वारा की हुई सृष्टिको मानने लगेंगे जिससे उनका ऐश्वर्य नहीं रह सकेगा तथा अरहन्तके मतको माननेवाले लोग भी उसी धर्मको मानने लगेंगे ॥१९१॥ परमाण्यमका आश्रय लेनेवाले द्विजोंको जो प्रायश्चित्त आदि कार्योंमे स्वतन्त्रता है उसे ही व्यवहारेक्षिता कहते हैं ॥१९२॥ व्यवहारेक्षिताके अभावमे द्विज न अपने आपको शुद्ध कर सकेगा और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकेगा तथा स्वयं अशुद्ध होनेपर यदि दूसरेसे अपनी शुद्धि करना चाहे तो वह कभी कृती नहीं हो सकेगा ॥१९३॥ जिसका अन्त कारण स्थिर है ऐसा उत्तम द्विज अवध्याधिकारमे भी स्थित रहता है अर्थात् अवध्य है क्योंकि ब्राह्मण गुणोंकी अधिकताके कारण किसी दूसरेके द्वारा बध करने योग्य नहीं होता ॥१९४॥ सब प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए और विशेषकर ब्राह्मणोंको नहीं मारना चाहिए । इस प्रकार गुणोंकी अधिकता और हीनतासे हिंसा मे दो भेद माने गये हैं ॥१९५॥ इसलिए यह धार्मिक जनोमे अपनी अवध्यताको पृष्ट करे । यथार्थमे वह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो इस धर्ममे स्थित रहकर किसीसे तिरस्कृत नहीं हो पाता ॥१९६॥ यदि वह अपनी अवध्यताको पृष्ट न करेगा तो सब लोगोंसे बध्य हो जावेगा अर्थात् सब लोग उसे मारने लगेंगे और ऐसा होनेपर अर्हन्तदेवके धर्मकी

१ असमीक्षितेन कुदृष्टान्तेन वा । २ तां धर्मसृष्टिं प्रकाशयेदित्यर्थः । ३ आत्मानमाश्रितः । अथवा पूर्व तां संश्रिता बोधयेत् तदवश्यक्यर्थम् । ४ -सकृतो ल० । -सकृतो द० । ५ नृपादेः सकाशात् । ६ द्विरूपता (दृष्टिग्रहविष्टप्रतिपालनता) ।

ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः । स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ॥१९८॥  
 स्याद्दण्डवत्समप्येवमस्य धर्मो स्थिरात्मनः । धर्मस्यो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रस्थापने प्रभुः ॥१९९॥  
 'तद्धर्मस्यो' यमाम्नायं<sup>३</sup> मावयन् धर्मदर्शिमिः<sup>४</sup> । अधर्मस्येषु दण्डस्य प्रणेतृ धार्मिको नृपः ॥२००॥  
 परिहार्यं यथा देवगुरुद्वयं हितार्थिभिः । ब्रह्मस्त्वं च तथाभूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ॥२०१॥  
 युक्त्यानया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वमी । अदण्डव्यपक्षे स्वात्मानं स्थापयेद्दण्डधारिणाम् ॥२०२॥  
 अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्याद्दण्डयोग्योऽयं यथैतरेः । ततश्च निस्स्वतो प्राप्नो नेहामुत्र च नन्दति ॥२०३॥  
 मान्यत्वमस्य संघते मानार्हत्वं सुमावितम् । गुणाधिको हि मान्यः स्याद् वन्द्यः पूज्यश्च सत्तमैः ॥२०४॥  
 असत्यस्मिन्नमान्यत्वमस्य स्यात् संमतैर्जनैः । ततश्च स्थानमानादिलाभाभावात् पदच्युतिः ॥२०५॥  
 तस्माद्यं 'गुणैर्बलादात्मन्यारोप्यतां द्विजैः' । यत्तश्च ज्ञानवृत्तादिसंपत्तिः सोऽर्ज्यतां नृपैः<sup>५</sup> ॥२०६॥  
 स्यात् प्रजान्तरसंबन्धे<sup>६</sup> स्वोन्नतेरपरिच्युतिः । याऽस्य सोऽप्रा प्रजासंबन्धान्तरं नामतो गुणः ॥२०७॥  
 यथा कालायसाविद्धे<sup>७</sup> स्वर्णं याति विवर्णताम् । न तथाऽस्यान्यसंबन्धे रत्नगुणोत्कर्षविप्लवः ॥२०८॥

प्रामाणिकता नष्ट हो जावेगी ॥१९७॥ इसलिए सब प्रकारके प्रयत्नोंसे सनातनधर्मकी रक्षा करनी चाहिए । क्योंकि अच्छी तरह रक्षा किया हुआ धर्म ही चराचर पदार्थोंसे भरे हुए संसारमें उसकी रक्षा कर सकता है ॥१९८॥ इसी प्रकार धर्ममें जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसे इस द्विजको अपने अदण्डव्यवस्थाका भी अधिकार है क्योंकि धर्ममें स्थिर रहनेवाला मनुष्य ही दूसरेके लिए दण्ड देनेमें समर्थ हो सकता है ॥१९९॥ इसलिए धर्मदर्शी लोगोके द्वारा दिखलायी हुई धर्मात्मा जनोकी आम्नायका विचार करता हुआ ही धार्मिक राजा अधर्मी जनोको दण्ड देता है ॥२००॥ जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले पुरुषोके द्वारा देवब्रह्म और गुरुब्रह्म त्याग करने योग्य है उसी प्रकार ब्राह्मणका घन भी त्याग करने योग्य है । इसलिए ही द्विज दण्ड देनेके योग्य नहीं है ॥२०१॥ इस युक्तिसे अपनेमें अधिक गुणोका आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय दण्ड देनेवाले राजा आदिके समक्ष अपने आपको अदण्डव्य अर्थात् दण्ड न देने योग्य पक्षमें ही स्थापित करता है । भावार्थ—वह अपने आपमें इतने अधिक गुण प्राप्त कर लेता है कि जिससे उसे कोई दण्ड नहीं दे सकते ॥२०२॥ इस अधिकारके अभावमें अन्य पुरुषोके समान ब्राह्मण भी दण्डित किया जाने लगेगा जिससे वह दरिद्र हो जावेगा और दरिद्र होनेसे न तो इस लोकमें सुखी हो सकेगा और न परलोकमें ही ॥२०३॥ यह ब्राह्मण जो अच्छी तरह सन्मानके योग्य होता है वही इसका मान्यत्व अधिकार है सो ठीक ही है क्योंकि जो गुणोसे अधिक होता है अर्थात् जिसमें अधिक गुण पाये जाते हैं वही पुरुषोके द्वारा सन्मान करने योग्य, वन्दना करने योग्य और पूजा करने योग्य होता है ॥२०४॥ इस अधिकारके न होनेसे उत्तम पुरुष इसका सन्मान नहीं करेगे और उसके स्थान मान लाभ आदिका अभाव होनेके कारण वह अपने पदसे च्युत हो जावेगा । इसलिए द्विजको चाहिए कि वह यह गुण ( मान्यत्व गुण ) बड़े यत्नसे अपने आपमें आरोपित करे क्योंकि ज्ञान चारित्र्य आदि सम्पदाएँ ही उसका यत्न है इसलिए राजाओको उसकी पूजा करनी चाहिए ॥२०५-२०६॥ प्रजान्तर अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जो अपनी उन्नतिसे च्युत नहीं होना है वह इसका प्रजासम्बन्धान्तर नामका गुण है ॥२०७॥ जिस प्रकार काले लोहके साथ मिला हुआ सुवर्ण

१ तत्कारणात् । २ धर्मसंवन्धिनम् । ३ आगमम् । ४ धर्माचार्यमत्तात् दण्डं करोतीति तात्पर्यम् । ५ धारिणम् अ०, प०, इ०, सं० । ६ अमान्यत्वात् । ७ पूर्वस्थितस्य स्थानमानादिलाभस्याभावात् । ८ गुणो द० । ९ द्विज ल० । १० सोऽज्ज्ञतां न तै. द० । ११ सवन्धे सति । १२ अयोयुक्तम् ।

किन्तु प्रजान्तरं स्वेन संबद्धं स्वगुणानयम् । प्रापयत्यचिरादेव लोहघातुं यथा रसः ॥२०६॥  
 उतो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः । 'येनार्थ' स्वगुणैरन्यानात्मसात्कर्तुमर्हति ॥२१०॥  
 असत्यस्मिन् गुणेऽन्यस्मात् प्राप्नुयात् स्वगुणच्युतिम् । सत्येवंगुणवचास्य निष्कृत्यं द्विजन्मनः ॥२११॥  
 असोऽतिवालविद्यार्थीत्रियोगान् दशधोदितान् । यथाहंभात्मसात्कर्तुं द्विजः स्यादोक्तसंमतः ॥२१२॥  
 गुणेष्वेव विशेषोऽन्यो यो वाच्यो बहुविस्तरः । स उपासकसिद्धान्तादधिगम्यः प्रपञ्चत ॥२१३॥  
 'क्रियामन्त्रानुपह्वेन व्रतचर्याक्रियाविधौ' । दक्षाधिकारा व्याख्याताः सदृष्टैराहता द्विजं ॥२१४॥  
 क्रियामन्त्रास्त्वह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः । सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामन्त्रस्त्वयः ॥२१५॥  
 ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः । तत औत्सर्गिकानेताम् मन्त्रान् मन्त्रविदो विदुः ॥२१६॥  
 विशेषविषया मन्त्राः क्रियासुक्तासु दक्षिताः । इतः प्रभृति चाभ्युह्यास्ते यथाज्ञायसप्रज्ञैः ॥२१७॥  
 मन्त्रानिमान् यथायोगं यः क्रियासु नियोजयेत् । स लोके संसर्ति याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥२१८॥  
 क्रियामन्त्रविहीनास्तु प्रयोक्तृणां न सिद्धये । यथा सुकृतसंवाहाः सेनाध्यक्षा विनायकाः ॥२१९॥

विवर्णताको प्राप्त हो जाता है उस प्रकार अन्य पुरुषोके साथ सम्बन्ध होनेपर इस ब्राह्मणके अपने गुणोके उत्कर्षमें कुछ बाधा नहीं आती है । भावार्थ—लोहेके सम्बन्धसे सुवर्णमें तो खराबी आ जाती है परन्तु उत्तम द्विजमें अन्य लोगोके सम्बन्धसे खराबी नहीं आती ॥२०८॥ किन्तु जिस प्रकार रसायन अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोहेको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है ॥२०९॥ इसलिए कहना चाहिए कि यह प्रजासम्बन्धान्तर गुण, धर्मकी प्रभावनाको बढ़ानेवाला सबसे बड़ा गुण है क्योंकि इसीके द्वारा यह द्विज अपने गुणोंसे अन्य लोगोको अपने आधीन कर सकता है ॥२१०॥ इस गुणके न रहनेपर ब्राह्मण अन्य लोगोके सम्बन्धसे अपने गुणोंकी हानि कर सकता है और ऐसा होनेपर इसकी गुणवत्ता ही नष्ट हो जावेगी ॥२११॥ इसलिए जो अतिवालविद्या आदि दश प्रकारके नियोग निरूपण किये हैं उन्हें यथायोग्य रीतिसे स्वीकार करनेवाला द्विज ही सब लोगोको मान्य हो सकता है ॥२१२॥ इन गुणोंमें अन्य विशेष गुण बहुत विस्तारके साथ विवेचन करनेके योग्य हैं उन्हें उपासकाध्ययन-शास्त्रसे विस्तारपूर्वक समझ लेना चाहिए ॥२१३॥ इस प्रकार, व्रतचर्या क्रियाकी विधिका वर्णन करते समय उस क्रियाके योग्य मन्त्रोंके प्रसंगसे उत्तम आचरणवाले द्विजोंके द्वारा माननीय दश अधिकारोका निरूपण किया ॥२१४॥ इस प्रकरणमें जिनका वर्णन पहले कर चुके हैं उन्हें क्रियामन्त्र जानना चाहिए और जो सात पीठिकामन्त्र इस नामसे प्रसिद्ध हैं उन्हें सामान्यविषयक समझना चाहिए अर्थात् वे मन्त्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं ॥२१५॥ वे साधारण मन्त्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं इसलिए मन्त्रोंके जाननेवाले विद्वान् उन्हें औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य मन्त्र कहते हैं ॥२१६॥ इनके सिवाय जो विशेष मन्त्र हैं वे ऊपर कही हुई क्रियाओंमें दिखला दिये गये हैं । अब व्रतचर्यासे आगेके जो मन्त्र हैं वे द्विजोंको अपनी आम्नाय ( शास्त्र परम्परा ) के अनुसार समझ लेना चाहिए ॥२१७॥ जो इन मन्त्रोंको क्रियाओंमें यथायोग्य रूपसे काममें लाता है वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज लोकमें सम्मानको प्राप्त होता है ॥२१८॥ जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र धारण कर तैयार हुए मुख्य-मुख्य योद्धा

१ प्रजान्तरसम्बन्धेन । २ द्विजः । ३ संबन्धेन । नयेदित्यर्थः । ४ अधिकारान् । ५ क्रियाणां मन्त्रा क्रियामन्त्रा-  
 स्तेषामनुपह्वेन योगस्तेन । ६ पूर्वोक्तव्रतचर्याक्रियाविधाने । ७ साधारणान् । ८ यद्यनुक्तिः । 'योगमन्त्रहो-  
 नाप्यन्यसंगतिर्युक्तिर्यु' इत्यधिकारानात् । ९ सुविहितकवचाः । १० स्वाभिरहिताः ।

ततो विधिसमुं सम्यगवगम्य कृतागमैः<sup>१</sup> । विधानेन प्रयोक्तव्याः क्रियामन्त्रपुरस्कृताः ॥२२०॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो

धर्मक्रियासु<sup>२</sup> कृतधीर्नृपलोकसाक्षि ।

तान् सुव्रतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक्

धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम् ॥२२१॥

भालिनी

इति भरतनरेन्द्रात् प्राप्तसत्कारयोगा

<sup>३</sup>व्रतपरिचयचारुदारवृत्ताः श्रुताख्याः ।

जिनवृषसमतानु<sup>४</sup>व्रज्यथा पूज्यमानाः

जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः ख्यातिमीयुः ॥२२२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

वृत्तस्थान<sup>५</sup> य तान् विधाय समवानिष्वाकुचूडामणिः<sup>६</sup>

जैने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान् संमानयन् प्रत्यहम् ।

रवं मेने कृत्स्नं सुदा<sup>७</sup> परिगतं<sup>८</sup> स्वां सृष्टिसुचैः कृतां

पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

द्विजोत्पत्तौ-क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४०॥

■

सेनापतिके विना कुछ भी नहीं कर सकते उसी प्रकार मन्त्रोसे रहित क्रियाएँ भी प्रयोग करने-वाले पुरुषोकी कुछ भी सिद्धि नहीं कर सकती ॥२१९॥ इसलिए शास्त्रोका अभ्यास करनेवाले द्विजोको यह सब विधि अच्छी तरह जानकर मन्त्रोच्चारणके साथ-साथ सब क्रियाएँ विधि-पूर्वक करनी चाहए ॥२२०॥ इस प्रकार जिसने धर्मके द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक क्रियाओमे तृपुण है और जिसे धर्म प्रिय है ऐसे भरतक्षेत्रके अधिपति महाराज भरतने राजा लोगोकी सक्षीपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजोको अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मणवर्णकी सृष्टि की अर्थात् ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की ॥२२१॥ इस प्रकार महाराज भरतसे जिन्हें सत्कारका योग प्राप्त हुआ है, व्रतोके परिचयसे जिनका चारित्र सुन्दर और उदार हो गया है, जो शास्त्रोके अर्थोको जाननेवाले हैं और श्री वृषभ जिनेन्द्रके मतानुसार धारण की हुई दोक्षासे जो पूजित हो रहे हैं ऐसे वे ब्राह्मण ससारमे बहुत ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुए और खूब ही उनका आदर-सन्मान किया गया ॥२२२॥ तदनन्तर इक्ष्वाकुकुलचूडामणि महाराज भरत जैनमार्गमे अच्छी तरह स्थित रहनेवाले उन ब्राह्मणोको सदाचारमे स्थिर कर प्रतिदिन उनका सन्मान करते हुए अपने आपको धन्य मानने लगे सो ठीक ही है क्योंकि आनन्दसे युक्त तथा उत्कृष्टताको प्राप्त हुई अपनी सृष्टिको देखता हुआ ऐसा कौन पुण्यवान् पुरुष है जो अपने आपको कृतकृत्य न माने ॥२२३॥

इस प्रकार आर्पणामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके

भाषानुवादमे द्विजोकी उत्पत्तिमे क्रियामन्त्रोका वर्णन करनेवाला

यह वालीसर्वा पर्व समाप्त हुआ ।

१ सपूर्णशास्त्र । २ सपूर्णबुद्धि । ३ व्रताभ्यास । ४ श्रुतार्थाः द०, ल० । ५ मतानुगमनेन । ६ चारित्रपद गतान् । ७ पूज्य । ८ सतोषेण सह । ९ समन्वितामित्यर्थः ।

## एकचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधर<sup>१</sup> काले व्यतिक्रान्ते क्रियत्यपि । स्वप्नान्यशामयत्<sup>२</sup> कांश्चिदेकदाऽदभुतदर्शनात् ॥१॥  
तत्स्वप्नदर्शनात् किंचिदुत्प्रेत इव चेतसा । प्रबुद्धः सहसा तेषां फलानीति व्यतिकथयत् ॥२॥  
असत्फला इमे स्वप्नाः प्रायेण प्रतिमान्ति<sup>३</sup> मायम् । मन्ये दूरफलांश्चैवान् पुरावर्त्य<sup>४</sup> फलप्रदान् ॥३॥  
कुतश्चिद् भगवत्पथं प्रतपत्यादिभर्तारि । पजानां कथमेवैवंविधोपप्लवसंभवः ॥४॥  
तत्<sup>५</sup> कृतयुगस्यास्य<sup>६</sup> व्यतिक्रान्तौ कदाचन । फलमेते प्रदास्यन्ति नूनमेतः प्रकर्षतः ॥५॥  
युगान्तविप्लवोदकास्त एतेऽनिष्टशंसिनः । स्वप्नाः प्रजाप्रजापालसाधारणफलोदयाः ॥६॥  
यद्वचनं त्राकैविम्बोत्थविक्रियाजनितं फलम् । जगत्साधारणं तद्वत् सदसचास्मदीक्षितम् ॥७॥  
इतीदमनुमानं नः स्थूलार्थानुप्रचिन्तनम् । सूक्ष्मतत्त्वप्रतीतिस्तु प्रत्यक्षज्ञानगोचरा<sup>७</sup> ॥८॥  
केवलाकादिते नान्य संशयध्वान्तमेदकृत् । को हि नाम तमो<sup>८</sup> नैशं हन्यादन्यत्र भास्करात् ॥९॥  
तत्त्वादशो<sup>९</sup> स्थिते देवे को नामास्मन्प्रतिभ्रमः । तत्त्वादशो<sup>१०</sup> करामर्शात् कं पश्येन्मुखसौष्टवम् ॥१०॥  
तद्वत् सगवद्वचनमङ्गलादर्शदर्शनात् । युक्ता नस्तत्त्वनिर्णयि<sup>११</sup> स्वप्नामां क्षान्तिकर्म च ॥११॥  
अपि चास्मदुपमै<sup>१२</sup> यद् द्विलोकस्थ सर्वजम् । गत्वा तदपि विज्ञाप्यं भगवत्सादसविधौ ॥१२॥

अथानन्तर-किंतना ही काल बीत जानेपर एक दिन चक्रवर्ती भरतने अद्भुत फल  
दिखानेवाले कुछ स्वप्न देखे ॥ १ ॥ उन स्वप्नोके देखनेसे जिन्हें चित्तमे कुछ खेद-सा उत्पन्न  
हुआ है ऐसे वे भरत अचानक जाग पड़े और उन स्वप्नोके फलका इस प्रकार विचार करने  
लगे ॥ २ ॥ कि ये स्वप्न मुझे प्राय वुरे फल देनेवाले जान पड़ते हैं तथा साथमे यह भी जान  
पड़ता है कि ये स्वप्न कुछ दूर आगेके पचम कालमे फल देनेवाले होंगे ॥३॥ क्योंकि इस समय  
भगवान् वृषभदेवके प्रकाशमान रहते हुए प्रजाको इस प्रकारका उपद्रव होना कैसे सम्भव हो  
सकता है ? ॥४॥ इसलिए कदाचित् इस कृतयुग ( चतुर्थकाल ) के व्यतीत हो जानेपर जब  
पापकी अधिकता होने लगेगी तब ये स्वप्न अपना फल देगे ॥५॥ युगके अन्तमे विप्लव फैलाना  
ही जिनका फल है ऐसे ये स्वप्न अनिष्टको सूचित करनेवाले हैं और राजा तथा प्रजा दोनोंको  
समान फल देनेवाले हैं ॥६॥ जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्यके बिम्बसे उत्पन्न होनेवाली विक्रियासे  
प्रकट हुआ फल जगत्के जीवोको समानरूपसे उठाने पड़ते हैं उसी प्रकार मेरे द्वारा देखे हुए  
स्वप्नोके फल भी समस्त जीवोको सामान्यरूपसे उठाने पड़ेंगे ॥७॥ इस प्रकार हमारा यह  
अनुमान केवल स्थूल पदार्थका चिन्तन करनेवाला है, सूक्ष्म तत्त्वकी प्रतीति प्रत्यक्ष ज्ञानसे  
ही हो सकती है ॥८॥ केवलज्ञानरूपी सूर्यको छोड़कर और कोई पदार्थ सशयरूपी अन्धकार  
को भेदन करनेवाला नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यको छोड़कर ऐसा कौन है जो रात्रिका  
अन्धकार नष्ट कर सके ॥९॥ तत्त्वोका वास्तविक स्वरूप दिखलानेवाले भगवान् वृषभदेवके  
रहते हुए मुझे बुद्धिका भ्रम क्यों होना चाहिए, भला दर्पणके रहते हुए ऐसा कौन पुरुष है जो  
हाथके स्पर्शसे मुखकी सुन्दरता देखे ? ॥१०-११॥ इसलिए इस विषयमे भगवान्के मुखरूपी भगल

१ ददर्श । २ मय प्रकाशान्ते । ३ पश्चाद्भाषिकाके । पञ्चमकाले इत्यर्थ । ४ प्रकाशमाने सति । ५ तस्मात्  
कारणात् । ६ चतुर्थकालस्य । ७ पाप । ८ युगस्य चतुर्थकालस्यान्ते विप्लव एव उदकं उत्तरफलं येषां ते ।  
९ मयेक्षितम् । १० केवलज्ञानविषया । ११ निशासवन्वि । १२ दर्पणे विद्यमाने सति । १३ तत् कारणात् ।  
१४ स्वरूपनिर्णय । १५ मया प्रथमोपपन्नम् ।



द्रष्टव्या गुरवो नित्यं प्रष्टव्याश्च हिताहितम् । महोज्यथा च यष्टव्याः<sup>१</sup> सिद्धानामिष्टमीदृशम् ॥१३॥  
 इत्यात्मगतमालोच्य शय्योत्संगान् परार्द्धयतः । प्रातस्तारां समुत्थाय कृतप्राभातिकक्रियः ॥१४॥  
 ततः<sup>२</sup> क्षणमिव स्थित्वा महास्थाने नृपैवृतः । वन्दनामक्तये गन्तुमुद्यतोऽभूद् विशांपतिः ॥१५॥  
 घृतः परिमितैरेव मौलिबद्धैरनृत्थितैः<sup>३</sup> । प्रतस्थे वन्दनाहेतोर्विश्रुत्या परयान्वितः ॥१६॥  
 ततः क्षेपीय<sup>४</sup> एवासौ गत्वा सैनैः परिष्कृतः । सम्राट् प्राप तमुद्देशं<sup>५</sup> यत्रास्ते स्म जगद्गुरुः ॥१७॥  
 दूरादेव जिनास्थानभूमिं पश्यन्विधीश्वरः । प्रणनाम चलन्मौलिघटिताञ्जलिक्लृप्तमलः ॥१८॥  
 स तां प्रदक्षिणीकृत्य बहिर्भागे सदा<sup>६</sup>ऽवनिम् । प्रविवेश विशामीशः क्रान्त्वा कक्षाः पृथग्विधाः<sup>७</sup> ॥१९॥  
 मानस्तम्भमहाचैत्यद्वु मसिद्धार्थपादपार्श्वं । प्रेक्षमाणो व्यतीयाय स्तूपार्थावर्चितपूजितान् ॥२०॥  
 चतुष्टयीं वनश्रेणीं ध्वजान् हर्म्यावलीमपि । तत्र तन्नेत्रमाणोऽसौ तां तां कक्षामलङ्घयत् ॥२१॥  
 प्रतिकर्षं सुरस्त्रीणां गौतमृतैश्च हारिभिः । रज्यमानमनोवृत्तिस्तन्नास्यासीद् परा द्युतिः ॥२२॥  
 ततः प्राविशदुत्तुङ्गनोपुरद्वारचर्मणा । गणैरधुवितां भूमिं श्रीमण्डपपरिष्कृताम् ॥२३॥  
 त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलामतः । सोऽधिरुह्य परीचायं<sup>८</sup> धर्मचक्राणि पूजयन् ॥२४॥

दर्पणको देखकर ही मुझे स्वप्नोंके यथार्थ रहस्यका निर्णय करना उचित है और वही छोटे स्वप्नोका शान्तिकर्म करना भी उचित है ॥ १२ ॥ इसके सिवाय मैंने जो ब्राह्मण लोगोकी नवीन सृष्टि की है उसे भी भगवान्‌के चरणोंके समीप जाकर निवेदन करना चाहिए ॥ १३ ॥ फिर अच्छे पुष्पोंका यह कर्तव्य भी है कि वे प्रतिदिन गुरुओंके दर्शन करें, उनसे अपना हित-अहित पूछा करे और बड़े वैभवसे उनकी पूजा किया करे ॥ १४ ॥ इस प्रकार मनसे विचारकर महाराज भरतने बड़े सबेरे बहुमूल्य शय्यासे उठकर प्रातः कालकी समस्त क्रियाएँ की और फिर थोड़ी देर तक सभामे बैठकर अनेक राजाओंके साथ भगवान्‌की वन्दना की तथा भक्तिके अर्थ जानेके लिए उद्यम किया ॥ १५ ॥ जो साथ ही साथ उठकर खड़े हुए कुछ परिमित मुकुटबद्ध राजा-ओंसे घिरे हुए हैं और उल्लूक विभूतिसे सहित हैं ऐसे महाराज भरतने वन्दनाके लिए प्रस्थान किया ॥ १६ ॥ तदनन्तर सेना सहित सम्राट् भरत शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये जहाँ जगद्गुरु भगवान् विराजमान थे ॥ १७ ॥ दूरसे ही भगवान्‌के समवसरणकी भूमिको देखते हुए निधियोंके स्वामी भरतने नञ्जीभूत मस्तकपर कमलकी बौड़ीके समान जोड़े हुए दोनों हाथ रखकर नमस्कार किया ॥ १८ ॥ उन महाराजने पहले उस समवसरण भूमिके बाहरी भागकी प्रदक्षिणा दी और फिर अनेक प्रकारकी कक्षाओंका उल्लघन कर भीतर प्रवेश किया ॥ १९ ॥ मानस्तम्भ, महाचैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष और पूजाकी सामग्रीसे पूजित स्तूपोंको देखते हुए उन सबको उल्लघन करते गये ॥ २० ॥ अपने-अपने निश्चित स्थानोपर चारों प्रकारकी वनकी पक्षियों, ध्वजाओं और हर्म्यावलीको देखते हुए उन्होंने उन कक्षाओंका उल्लघन किया ॥ २१ ॥ समवसरणकी प्रत्येक कक्षामे होनेवाले देवागनाओंके मनोहर गीत और नृत्योंसे जिनके चित्तकी वृत्ति अनुरक्त हो रही है ऐसे महाराज भरतको बहुत ही सन्तोष हो रहा था ॥ २२ ॥ तदनन्तर बहुत ऊँचे गोपुर दरवाजोंके मार्गसे उन्होंने जहाँ गणधरदेव विराजमान थे और जो श्रीमण्डपसे सुशोभित हो रही थी ऐसी सभाभूमिमे प्रवेश किया ॥ २३ ॥ वहाँपर तीन कटनीवाले पीठकी प्रथम कटनीपर चढ़कर धर्मचक्रकी पूजा करते हुए प्रदक्षिणा दी ॥ २४ ॥ तदनन्तर चक्रवर्ती दूसरी कटनीपर महाध्वजाओंकी पूजा कर तीनों जगत्‌की लक्ष्मीको तिरस्कृत करनेवाली गन्ध-

१ यजनीयाः । २ क्षणपर्यन्तम् । ३ सहोत्थितैः । ४ अतिवायेन क्षिप्रम् । ५ प्रवेशम् । ६ सभाभूमिम् । ७ नानाप्रकारा । ८ पार्थिवान् ल०, म० । ९ प्रदक्षिणा चक्रे ।

मेखलायां द्वितीयस्यां<sup>१</sup> वरिवस्थन् महाध्वजाम् । प्रापद् गन्धकुटीं चक्री न्य<sup>२</sup>कृतत्रिजगच्छिद्यम् ॥ २५॥  
 देवदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरैर्दितम् । भगवन्तमथालोक्य प्राणमद<sup>३</sup> सक्तिनिर्मरः ॥ २६॥  
 स्तुत्वा स्तुतिमिरीशानमभ्यर्च्य च यथाविधि । निषसाद<sup>४</sup> यथास्थानं धर्माभूतपिपासितः<sup>५</sup> ॥ २७॥  
 भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपङ्कजे । विबुद्धिपरिणामाद्भवधिज्ञानसुदृढौ ॥ २८॥  
 पीत्वाऽथो धर्मपीयूषं परां तृप्तिमवापिवान् । स्वसनोगतमित्युच्चैर्भगवन्तं न्यजिज्ञपत् ॥ २९॥  
 मया सृष्टा द्विजन्मानः श्रावकाचारबुद्धवः । त्वद्गीतोपासकाध्यायसूत्रमार्गानुगामिनः ॥ ३०॥  
 एकाद्येकादशान्तानि<sup>६</sup> दत्तान्येभ्यो मया विभो । व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिनिर्मागतः ॥ ३१॥  
 विश्वस्य धर्मसंगतय<sup>७</sup> त्वयि साक्षात्पणेतरी । स्थिते मयातिवालिङ्ग्यादि<sup>८</sup> दमाचरितं विभो ॥ ३२॥  
 दोषः कोऽत्र गुणः कोऽत्र किमेतत् सम्प्रत<sup>९</sup> न वा । दोषायमानमिति मे मनः स्यापय निश्चितौ<sup>१०</sup> ॥ ३३॥  
 अपि चाद्य मया स्वप्ना निशान्ते षोडशेक्षिताः । प्रायोऽनिष्टफलाश्चैते मया देवान्मिक्षिताः ॥ ३४॥  
 यथाष्टसुपन्थये<sup>११</sup> तानिमान् परमेश्वरः । यथास्वं तत्फलान्धर्मस्मर्यतीतिविषय<sup>१२</sup> नय ॥ ३५॥  
 सिद्धो ह्येन्द्रपोतश्च तुरगः करिभारवृत्<sup>१३</sup> । छापा वृक्षलतागुल्मशुष्कपत्रोपमोगिनः<sup>१४</sup> ॥ ३६॥  
 शाखाशृङ्गा द्विपस्कन्धमरुकाः कौशिकाः<sup>१५</sup> खगैः<sup>१६</sup> विहितोपद्रवा ध्वाटुभैः<sup>१७</sup> प्रमयाश्च<sup>१८</sup> प्रमोदिनः ॥ ३७॥

कुटीके पास जा पहुँचे ॥ २५॥ वहाँपर भक्तसे भरे हुए भरतने देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध और विद्याधर आदिके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको देखकर उन्हें नमस्कार किया ॥ २६॥ महा-  
 राज भरत उन भगवान्की अनेक स्तोत्रोंके द्वारा स्तुति कर और विधिपूर्वक पूजा कर धर्मरूप  
 अमृतके पीनेकी इच्छा करते हुए योग्य स्थानपर जा बैठे ॥ २७॥ भक्तिपूर्वक भगवान्के चरण-  
 कमलोको प्रणाम करते हुए भरतके परिणाम इतने अधिक विशुद्ध हो गये थे कि उनके उसी  
 समय अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया ॥ २८॥ तदनन्तर धर्मरूपी अमृतका पान कर वे बहुत ही सन्तुष्ट  
 हुए और उच्च स्वरसे अपने हृदयका अभिप्राय भगवान्से इस प्रकार निवेदन करने लगे ॥ २९॥  
 कि हे भगवन्, मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्याय सूत्रके मार्गपर चलनेवाले तथा  
 श्रावकाचारमें निपुण ब्राह्मण निर्माण किये हैं अर्थात् ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की है ॥ ३०॥ हे  
 विभो, मैंने इन्हें ग्यारह प्रतिमाओंके विभागसे व्रतोंके चिह्न स्वरूप एकसे लेकर ग्यारह तक  
 यकोपवीत दिये हैं ॥ ३१॥ हे प्रभो, समस्त धर्मरूपी सृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले आपके  
 विद्यमान रहते हुए भी मैंने अपनी बड़ी मूर्खतासे यह काम किया है ॥ ३२॥ हे देव, इन ब्राह्मणों-  
 की रचनामें दोष क्या है ? गुण क्या है ? और इनकी यह रचना योग्य हुई अथवा नहीं ?  
 इस प्रकार झूलके समान झूलते हुए मेरे चित्तको किसी निश्चयमें स्थिर कीजिए अर्थात् गुण,  
 दोष, योग्य अथवा अयोग्यका निश्चय कर मेरा मन स्थिर कीजिए ॥ ३३॥ इसके सिवाय हे  
 देव, आज मैंने रात्रिके अन्तिमभागमें सोलह स्वप्न देखे हैं और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि  
 ये स्वप्न प्रायः अनिष्ट फल देनेवाले हैं ॥ ३४॥ हे परमेश्वर, वे स्वप्न मैंने जिस प्रकार देखे हैं  
 उसी प्रकार उपस्थित करता हूँ । उनका जैसा कुछ फल हो उसे मेरी प्रतीतिका विषय करा  
 दीजिए ॥ ३५॥ (१) सिंह, (२) सिंहका वच्चा, (३) हाथीके भारको धारण करनेवाला घोड़ा  
 (४) वृक्ष, लता और झाड़ियोंके सूखे पत्ते खानेवाले वक्रे, (५) हाथीके स्कन्धपर बैठे हुए

१ पूजयन् । २ अघ कृत । ३ नमस्करोति स्म । ४ निविष्टवान् । ५ पातुमिच्छामित् सन् । ६ कारणम् ।  
 ७ प्रतीता । ८ द्वादशाङ्गानि ल०, म० । ९ सुष्टे । १० मूर्खत्वेन । 'अज्ञे भूदयथाजातमूर्खवैवेयवालिङ्गा'  
 इत्यमरः । ११ युक्तम् । १२ निश्चये । १३ विज्ञापयामि । १४ ज्ञानम् । १५ करिणो भार विभक्ति ।  
 १६ भक्षिणः । १७ उलूका । १८ काक । 'काके तु करटारिष्टवलिगुष्टमकृन्प्रजा । ध्वाड्वाधमपोपपरभृद्वलि-  
 भृग्वामसा अपि ॥' इत्यभिधानात् । १९ भूता ।

शुक्लमर्थं तडागं च पर्यन्तप्रचुरोदकम् । पांशुभूसरितो रत्नराशिः श्रव्य<sup>२</sup> भुगर्हितः<sup>३</sup> ॥३८॥  
 तारुण्यशाली वृषभः शीतोऽग्नः परिवेषयुक् । मिथोऽङ्गीकृतसाङ्गत्वा<sup>४</sup> पुङ्गवौ सङ्गलच्छियौ ॥३९॥  
 रविराशावधूरत्नवत्सोऽन्दैस्तिरोहितः । संशुष्कस्तरुच्छायो जीर्णपर्णसमुच्चयः ॥४०॥  
 षोडशैतेऽष्टा यामिन्यो दृष्टाः स्वप्ना विदो वर । फलविप्रतिपत्तिं<sup>५</sup> मे तद्गतां त्वमपाकुरु ॥४१॥  
 इति तत्फलविज्ञाननिपुणोऽप्यवधिविपा । समाजनप्रबोधार्थं पप्रच्छ निधिराट् जिनम् ॥४२॥  
 'तत्प्रभावसितावित्थं व्याचष्टे स्म जगद्गुरुः । वचनामृतसंसेकैः प्रीणयन्नितिलं सद्' ॥४३॥  
 भगवद्विष्यवागर्थं शुश्रूषावर्हितं<sup>६</sup> तदा । ध्यानोपगमिवाभूत्तत्सदश्विग्रतं नु वा ॥४४॥  
 साधु वत्स कृतं साधु धार्मिकद्विजपूजनम् । किन्तु दोषानुषङ्गोऽत्र कोऽप्यरितं स निशम्यताम् ॥४५॥  
 आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः । ते तावदुचिताचारा यावत्कृतं युगस्थितिः ॥४६॥  
 ततः 'कलियुगेऽभ्यर्णं'<sup>७</sup> जातिनादावलेपतः<sup>८</sup> । अष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते<sup>९</sup> सन्मार्गप्रत्यनीकताम्<sup>१०</sup> ॥४७॥  
 तेऽमी जातिमदाविष्टा बर्णं लोकाधिका इति । 'पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयन्ति'<sup>११</sup> भनाशया ॥४८॥  
 सत्कारलाभसंवृद्धगर्वा<sup>१२</sup> मिथ्यामदोद्धताः । जनान् प्रतारयिष्यन्ति<sup>१३</sup> स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुतीः<sup>१४</sup> ॥४९॥

वानर, (६) कौशा आदि पक्षियोंके द्वारा उपद्रव किये हुए उलूक, (७) आनन्द करते हुए भूत, (८) जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है और किनारोपर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाव, (९) धूलिसे घूसरित रत्नोकी राशि, (१०) जिसकी पूजा की जा रही है ऐसा नैवेद्यको खानेवाला कुत्ता, (११) जवान बैल, (१२) मण्डलसे युक्त चन्द्रमा, (१३) जो परस्परमें मिल रहे हैं और जिनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल, (१४) जो दिशारूपी स्त्रीरत्नोके-से बने हुए आभूषणके समान है तथा जो मेघोंसे आच्छादित हो रहा है ऐसा सूर्य, (१५) छाया रहित सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तोका समूह । हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, आज मैंने रात्रिके समय ये सोलह स्वप्न देखे हैं । हे नाथ, इनके फलके विषयमें जो मुझे सन्देह है, उसे दूर कर दीजिए ॥३६-४१॥ यद्यपि निधियोंके अधिपति महाराज भरत अपने अवधिज्ञानके द्वारा उन स्वप्नोंका फल जाननेमें निपुण थे तथापि सभाके लोगोंको समझानेके लिए उन्होंने भगवान्से इस प्रकार पूछा था ॥४२॥ भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव अपने वचनरूपी अमृतके सिंचनसे समस्त सभाको सन्तुष्ट करते हुए इस प्रकार व्याख्यान करने लगे ॥४३॥ उस समय भगवान्की दिव्य ध्वनिके अर्थको सुननेकी इच्छासे सावधान हुई वह सभा ऐसी जान पड़ती थी मान्ती ध्यानमें भग्न हो रही हो अथवा चित्रकी बनी हुई हो ॥४४॥ वे कहने लगे कि हे वत्स, तूने जो धर्मतमा द्विजोंकी पूजा की है सो बहुत अच्छा किया है परन्तु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥४५॥ हे आयुष्मन्, तूने जो गृहस्थोंकी रचना की है सो जबतक कृतयुग अर्थात् चतुर्थ-कालकी स्थिति रहेगी तबतक तो ये उचित आचारका पालन करते रहेगे परन्तु जब कलियुग निकट आ जायगा तब ये जातिवादके अभिमानसे सदाचारसे अष्ट होकर समीचीन मोक्ष-मार्गके विरोधी बन जावेगे ॥४६॥ पंचम कालमें ये लोग, हम सब लोगोंमें बड़े हैं, इस प्रकार जतिके मदसे युक्त होकर केवल धनकी आशासे छोटे-छोटे शास्त्रोंके द्वारा लोगोंको मोहित करते रहेगे ॥४७॥ सत्कारके लाभसे-जिनका गर्व बढ़ रहा है और जो मिथ्या मदसे उद्धत हो रहे हैं ऐसे ये ब्राह्मण लोग स्वयं मिथ्या शास्त्रोंको बना-बनाकर लोगोंको ठगा करेगे ॥४८॥ जिनकी चेतना पापसे दूषित हो रही है ऐसे ये मिथ्यादृष्टि लोग इतने समय

१ ईषत्पाण्डुरितः । २ वरभुक् । ३ पूजित । ४ संबेहम् । ५ तस्य प्रभावसाने । ६ अवबानपरम् । ७ योग । ८ चतुर्थकाल । ९ पञ्चमकाले । १० समीपे सति । ११ गर्वत । १२ यास्यन्ति । १३ प्रतिकूलताम् । १४ पञ्चम-काले । १५ 'पुरायावतोल्लङ्घित भविष्यत्यर्थे लङ् । १६ वञ्चयिष्यन्ति । १७ दुःशास्त्राणि ।

त इमे कालपर्यन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दशः । धर्मद्वु हो<sup>१</sup> भविष्यन्ति पापोपहतचेतनाः ॥५०॥  
 सत्त्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः । प्रवृत्तिलक्षणं<sup>२</sup> धर्मं दोषविष्यन्त्यधार्मिकाः ॥५१॥  
 अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः । चोदनालक्षणं धर्मं पोषयिष्यन्त्यमी वत ॥५२॥  
 पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः । चत्स्यंयुगे प्रवत्स्यन्ति सन्मार्गं परेण्यिनः<sup>३</sup> ॥५३॥  
 द्विजातिजनं तस्मान्नाद्य यद्यपि दोषकृत् । स्यादोषवीजमायत्यां<sup>४</sup> कुपाखण्डप्रवर्तनात् ॥५४॥  
 इति कालान्तरे दोषवीजमप्येतदञ्जसा । नाहुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्ट्यनतिक्रमात् ॥५५॥  
 यथाज्ञमुपयुक्तं सत् क्वचित्कस्थायि दोषकृत् । तथाऽप्यपरिहार्यं तद् बुवैर्नहुगुणास्थया ॥५६॥  
 तथेदमपि सन्तव्यमद्यत्वे गुणवत्तया । पुंसामाज्ञयवैषम्यात् पश्चाद् यद्यपि दोषकृत् ॥५७॥  
 इदमेवं गतं हन्त यच्च ते स्वप्नदर्शनम् । तदप्येष्ट्यं<sup>५</sup> युगे धर्मस्थितिहासस्य सूचनम् ॥५८॥  
 ते च स्वप्नाद्विधाऽऽज्ञाताः स्वस्थास्वस्थालगोचराः । समैस्तु धातुभिः स्वस्था विषमैरितरे मताः ॥५९॥  
 तथाः स्युः स्वस्थ संदष्टाः मिथ्यास्वप्ना विपययात् । जगज्जीवितमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शनम् ॥६०॥  
 स्वप्नात् द्वैतमस्त्यन्यदोषदैवसमुद्भवम् । दोषप्रकोपजा मिथ्यातथ्याः स्युर्देवसम्भवाः ॥६१॥

तक विकारभावको प्राप्त होकर धर्मके द्रोही बन जायेगे ॥५०॥ जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर है तथा मधु और मासका भोजन जिन्हे प्रिय है ऐसे ये अधर्मी ब्राह्मण हिंसारूप धर्मकी घोषणा करेंगे ॥५१॥ खेद है कि दुष्ट आशयवाले ये ब्राह्मण अहिंसारूप धर्मकी दूषित कर वेदमें कहे हुए हिंसारूप धर्मको पुष्ट करेंगे ॥५२॥ पापका समर्थन करनेवाले, शास्त्रको जाननेवाले अथवा पापके चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले और प्राणियोंके मारनेमें सदा तत्पर रहनेवाले ये धूर्तब्राह्मण आगामी युग अर्थात् पंचम कालमें समीचीन मार्गके विरोधी हो जावेगे ॥५३॥ इसलिए यह ब्राह्मणोंकी रचना यद्यपि आज दोष उत्पन्न करनेवाली नहीं है तथापि आगामी कालमें छोटे पाखण्ड मतोंकी प्रवृत्ति करनेसे दोषका बीजरूप है ॥५४॥ इस प्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी सृष्टि कालान्तरमें दोषका बीजरूप है तथापि धर्म सृष्टिका उल्लंघन न हो इसलिए इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नहीं है ॥५५॥ जिस प्रकार खायी हुआ अन्न यद्यपि कही किसीको दोष उत्पन्न कर देता है तथापि अनेक गुणोंकी आस्थासे विद्वान् लोग उसे छोड़ नहीं सकते उसी प्रकार यद्यपि ये पुरुषोंके अभिप्रायोंकी विपमतासे आगामी कालमें दोष उत्पन्न करनेवाले हो जावेगे तथापि इस समय इन्हे गुणवात् ही मानना चाहिए ॥५६-५७॥ इस प्रकार यह तेरी ब्राह्मण रचनाका उत्तर तो हो चुका, अब तूने जो स्वप्न देखे है, खेद है, कि वे भी आगामी युग ( पंचम काल ) में धर्मकी स्थितिके ह्रासको सूचित करनेवाले हैं ॥५८॥ वे स्वप्न दो प्रकारके माने गये हैं एक अपनी स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले और दूसरे अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले । जो धातुओंकी समानता रहते हुए दिखते हैं वे स्वस्थ अवस्थाके कहलाते हैं और जो धातुओंकी विपमता-न्यूनाधिकता रहते हुए दिखते हैं वे अस्वस्थ अवस्थाके कहलाते हैं ॥५९॥ स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न सत्य होते हैं और अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न असत्य हुआ करते हैं इस प्रकार स्वप्नोंके फलका विचार करनेमें यह जगत्प्रसिद्ध बात है ऐसा तू समझ ॥६०॥ स्वप्नोंके और भी दो भेद हैं एक दोषसे उत्पन्न होनेवाले और दूसरे दैवसे उत्पन्न होनेवाले । उनमें दोषोंके प्रकोप-

१ धर्मधातिनः । २ चोदनालक्षणम् । ३ भावि । ४ प्रतिकूलः । ५ सृष्टिः । ६ उत्तरकालः । 'उत्तर काल आयति।' इत्यभिधानात् । ७ भविष्यद्युगे । ८ विचारणम् ।

कल्याणाङ्गस्त्वमेकान्ताद् देवताधिष्ठितश्च यत्<sup>१</sup> । न मिथ्या तदिमे स्वप्नाः फलमेधा<sup>२</sup> निबोध मे<sup>३</sup> ॥६२॥  
 दृष्टाः स्वप्ने मृगाधीक्षा ये त्रयोविंशतिप्रभाः । निस्सपत्नां विहृत्येमां क्षमां क्षमाभृत्कृतमाश्रिताः<sup>४</sup> ॥६३॥  
 तत्फलं सन्मतिं मुक्त्वा शेषतीर्थकरोद्ध्ये । दुर्नयानामनुद्भूतिख्यापनं लक्ष्यतां स्फुटम् ॥६४॥  
 पुनरेकाकिनः सिंहपोतस्यान्वक्<sup>५</sup> मृगेश्वरणात् । मवेयुः सन्मतेस्तीर्थं साजुषङ्गाः<sup>६</sup> कुलिङ्गिनः ॥६५॥  
 करीन्द्रभारनिर्मुग्रपृष्ठस्याश्वस्य वीक्षणात् । कृत्स्नान् तपोगुणान्बोद्धुं नालं दुष्पमसाधवः ॥६६॥  
 मूलोत्तरगुणेष्वत्तसङ्गराः कैचनालसाः । मक्ष्यन्ते मूलत कैचित्तेषु यास्यन्ति मन्दतश्च ॥६७॥  
 निध्यानादजयूथस्य शुष्कपत्रोपयोगिनः । थान्यसद्वृत्ततां त्यक्तसदाचाराः पुरा नराः ॥६८॥  
 करीन्द्रकम्बराखण्डास्त्रासृगविलोकनात् । आदिशत्रान्वयोच्छित्तौ क्षमां<sup>७</sup> पास्यन्त्यकुलीनकाः ॥६९॥  
 काकैरुलूकसंवाधदर्शनाद्धर्मकांक्षया । मुक्त्वा जैनान्मुनीनन्यमतस्यानन्वियुर्जनाः ॥७०॥  
 प्रभृत्स्यतां प्रभृतानां भूतानामीक्षणात् प्रजाः । मजेयुर्नामकर्माद्यैर्व्यन्तराजं देवतास्थया<sup>८</sup> ॥७१॥  
 शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितिक्षणात् । प्रच्युत्यार्यनिवासात् स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु<sup>९</sup> ॥७२॥  
 पांशुभूसररत्नौघनिध्यानादद्विसप्तमाः । नैव प्रादुर्भविष्यन्ति मुनयः पञ्चमे युगे ॥७३॥  
 शुनोर्विषतस्य सत्कारैश्च समाजनदर्शनात् । गुणवत्प्राप्तसत्कारमाप्स्यन्त्यव्रतिनो द्विजाः ॥७४॥

से उत्पन्न होनेवाले झूठ होते हैं और देवसे उत्पन्न होनेवाले सच्चे होते हैं ॥६१॥ हे कल्याणरूप, चूँकि तू अवश्य ही देवताओसे अधिष्ठित है इसलिए तेरे ये स्वप्न मिथ्या नहीं हैं । तू इनका फल मुझसे समझ ॥६२॥ तूने जो स्वप्नमें इस पृथ्वीपर अकेले विहार कर पर्वतके शिखरपर चढ़े हुए तेईस सिंह देखे हैं उसका स्पष्ट फल यही समझ कि श्रीमहावीर स्वामीको छोड़कर शेष तेईस तीर्थ<sup>१</sup>करोके समयमें दुष्ट नयोकी उत्पत्ति नहीं होगी । इस स्वप्नका फल यही बतलाता है ॥६३-६४॥ तदनन्तर दूसरे स्वप्नमें अकेले सिंहके बच्चेके पीछे चलते हुए हरिणोंका समूह देखनेसे यह प्रकट होता है कि श्री महावीर स्वामीके तीर्थमें परिग्रहको धारण करनेवाले बहुत-से कुलिङ्गी हो जायेंगे ॥६५॥ बड़े हाथीके उठाने योग्य बोझसे जिसकी पीठ झुक गयी है ऐसे घोड़ेके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचम कालके साधु तपश्चरणके समस्त गुणोंको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकेंगे ॥६६॥ कोई मूलगुण और उत्तरगुणोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करनेमें आलसी हो जायेंगे, कोई उन्हें मूलसे ही भग कर देगे और कोई उनमें मन्दता या उदासीनताको प्राप्त हो जायेंगे ॥६७॥ सूखे पत्ते खानेवाले बकरीका समूह देखनेसे यह मालूम होता है कि आगामी कालमें मनुष्य सदाचारको छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे ॥६८॥ गजेन्द्रके कन्धेपर चढ़े हुए बानरोके देखनेसे जान पड़ता है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायेंगे और नीच कुलवाले पृथ्वीका पालन करेंगे ॥६९॥ कौबोके द्वारा उलूकको त्रास दिया जाना देखनेसे प्रकट होता है कि मनुष्य धर्मकी इच्छासे जैनमुनियोंको छोड़कर अन्य मतके साधुओंके समीप जायेंगे ॥७०॥ नाचते हुए बहुत-से भूतोंके देखनेसे मालूम होता है कि प्रजाके लोग नामकर्म आदि कारणोंसे व्यन्तरोको देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे ॥७१॥ जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है ऐसे तालाबके चारो ओर पानी भरा हुआ देखनेसे प्रकट होता है कि धर्म आर्यखण्डसे हटकर प्रत्यन्तवासी-म्लेच्छ खण्डमें ही रह जायेगा ॥७२॥ घूलसे मलिन हुए रत्नोंकी राशिके देखनेसे यह जान पड़ता है कि पंचम-कालमें ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे ॥७३॥ आदर-सत्कारसे जिसकी पूजा की

१ यस्मात् कारणात् । २ जानीहि । ३ मम सकाशात् । ४ -मास्थिता ट० । ५ अनुगच्छत् । ६ सपरिग्रहा । ७ दर्शनात् । ८ पालयिष्यन्ति । ९ भूरीणाम् । १० देवबुद्ध्या । ११ म्लेच्छदेवेषु 'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात् ।'

तरुणस्य वृषस्योच्चैर्नदतो<sup>१</sup> विहृतीक्षणात् । तरुणस्य एव श्रासण्ये स्थास्यन्ति न दसान्तरे ॥७५॥  
 परिवेषोपरकस्य<sup>२</sup> श्वेतमानोनिशामनात्<sup>३</sup> । नोत्पत्त्यते<sup>४</sup> तपोऽस्तु समनःपर्ययोऽवधिः ॥७६॥  
 अन्योन्यं सह संभूय वृषयोगंमनेक्षणात् । वत्स्यन्ति<sup>५</sup> मुनयः साहचर्यान्नैकविहारिणः ॥७७॥  
 घनावरणरुदस्य दर्शनार्दंशुमालिनः । केवलाक्रोदयः प्रायो<sup>६</sup> न भवेत् पञ्चमे ध्रुवे ॥७८॥  
 पुंसां स्त्रीणां च चारित्र्यवृत्तिः शुष्कद्र मेक्षणात् । महौपधिरसोच्छेदो जीर्णपर्णावलोकनात् ॥७९॥  
 स्वमानेचंफलवेतान् विद्धि दूरविपाकिन्<sup>७</sup> । नाद्य दोषस्ततः कोऽपि फलमेधां युगान्तरे ॥८०॥  
 इति स्वमफलान्यस्माद् ब्रुवा वत्स यथा तथा । धर्मं मर्ति दृढं धत्स्व विश्विष्णोपशान्तये ॥८१॥  
 इत्याकर्ण्य गुरोर्वचिषं स वर्णाश्रमपालकः । सन्नेहकर्मभाषायात् स प्रसन्नमयान्मनः ॥८२॥  
 भूयो भूयः प्रणम्येशं समापृच्छथ पुनः पुनः । पुनराववृत्ते कृच्छ्रात् स प्रीतो गुर्वनुग्रहात् ॥८३॥  
 ततः प्रविश्य साकेतपुरमावदुत्तोरणम् । केतुमालाकुलं पौरैः सानन्दमभिनन्दिनः ॥८४॥  
 शान्तिक्रियामरुच्यके दुःस्वमानिष्टशान्तये । जिनामिषेकसत्यान्नदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥८५॥  
 गोवोहैः<sup>८</sup> प्लावित्वा घात्री पूजिताश्च महर्षयः । महादानानि वृक्षानि प्रीणितः प्रणयी जनः ॥८६॥  
 निर्मापितास्ततो घण्टा जिनिस्त्रैरलंकृताः । परार्परैरनिर्माणाः संवदा हेमरज्जुभिः ॥८७॥

गयी है ऐसे कुत्तेको नैवेद्य खाते हुए देखनेसे मालूम होता है कि व्रतरहित ब्राह्मण गुणी पात्रोके समान सत्कार पायेगे ॥७४॥ ऊँचे स्वरसे शब्द करते हुए तरुण बैलका विहार देखनेसे सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामें नहीं ॥७५॥ परिमण्डलसे घिरे हुए चन्द्रमाके देखनेसे यह जान पड़ता है कि पंचमकालके मुनियोंमें अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान नहीं होगा ॥७६॥ परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलोके देखनेसे यह सूचित होता है कि पंचमकालमें मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करनेवाले नहीं होंगे ॥७७॥ मेघोके आवरणसे ढके हुए सूर्यके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचमकालमें प्रायः केवल-ज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होगा ॥७८॥ सूखा वृक्ष देखनेसे सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषोंका चारित्र्य भ्रष्ट हो जायेगा और जीर्ण पत्तोंके देखनेसे मालूम होता है कि महाआपधियोंका रस नष्ट हो जायेगा ॥७९॥ ऐसा फल देनेवाले इन स्वप्नोंको तू दूरविपाकी अर्थात् बहुत समय बाद फल देनेवाले समझ इसलिए इनसे इस समय कोई दोष नहीं होगा, इनका फल पंचमकालमें होगा ॥८०॥ हे वत्स, इस प्रकार मुझसे इन स्वप्नोंका यथार्थ फल जानकर तू समस्त विष्णोकी शान्तिके लिए धर्ममें अपनी बुद्धि कर ॥८१॥ वर्णाश्रमकी रक्षा करनेवाले भरतने गुरुदेवके उपर्युक्त वचन सुनकर सन्नेहरूपी कीचड़के नाश होनेसे अपना चित्त निर्मल किया ॥८२॥ वे भगवान्को बार-बार प्रणाम कर तथा बार-बार उनसे पूछकर गुरुदेवके अनुग्रहसे प्रसन्न होते हुए बड़ी कठिनाईसे वहाँसे लौटे ॥८३॥ तदनन्तर नगरके लोग आनन्दके साथ जिनका अभिनन्दन कर रहे हैं ऐसे उन महाराज भरतने जिसमें जगह-जगह तोरण बाँधे गये हैं और जो पताकाजोकी पत्तियोंसे भरा हुआ है ऐसे अयोध्या नगरमें प्रवेग कर छोटे स्वप्नोंसे होनेवाले अनिष्टकी शान्तिके लिए जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करना, उत्तम पात्रको दान देना आदि पुण्य क्रियाओंसे शान्ति कर्म किया ॥८४-८५॥ उन्होंने गायके द्वेषसे पृथिवीका सिंचन किया, महर्षियोंकी पूजा की, बड़े-बड़े दान दिये और प्रेमीजनोंको सन्तुष्ट किया ॥८६॥ तदनन्तर उन्होंने बहुमूल्य रत्नोंसे बने हुए, सुवर्णकी रस्सियोंसे बँधे हुए और जिनेन्द्रदेवकी प्रति-

१ घनतः । २ विहरण । ३ चन्द्रस्य । ४ दर्शनात् । ५ नोदेव्यति । ६ भूयम् । ७ दूरोदयान् । ८ गोक्षी । ९ वन्यु ।

लग्नित्वाश्च पुरद्वारि<sup>१</sup> ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः । राजवेदमहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमत् ॥८८॥  
 यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः । तदा मौल्यग्रलक्ष्मिरस्य स्यादहंता स्मृतिः ॥८९॥  
 स्मृत्वा ततोऽहंदर्चनां मत्स्या कृत्वाभिनन्दनाम् । पूजयत्यभिनिष्कामम् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥९०॥  
 रेडुः सूत्रेषु संशोक्ता घण्टास्ताः परमेष्ठिनाम् ।<sup>२</sup>सदर्थचटिताष्टीका ग्रन्थानामिव पेशलाः ॥९१॥  
 लोकचूडामणेश्चैव मौलिलग्न्या विरंजिते । पादच्छाया जिनस्येव घण्टास्ता लोकसंमताः ॥९२॥  
 शततोरणविन्यासे स्थापितास्ता निर्धोशिता । दृष्ट्वाहं द्वन्द्वनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्तदादरः ॥९३॥  
 पौरैर्जनैरतः स्वेपु<sup>३</sup> वेदमतोरणदामसु । यथाविभवमावद्धा घण्टास्ता सपरिच्छदाः ॥९४॥  
 आदिराजकृतां सृष्टिं प्रजास्तां बहुमनिरै । प्रत्यगारं यतोऽद्यापि लक्ष्या बन्दनमालिकाः ॥९५॥  
 बन्दनार्थं कृता माला यतस्ता मरुतेक्षिता । ततो बन्दनमालाख्यां प्राप्य रुद्धिं गताः मित्रौ ॥९६॥  
 धर्मशीले महीपाले यन्ति तच्छीलतां<sup>४</sup> प्रजाः । अताच्छील्यमतच्छीलै<sup>५</sup> यथा राजा तथा प्रजाः ॥९७॥  
 तदा कालानुभावेन प्राचो धर्मप्रिया नराः । साधीयः साधुवृत्तेऽस्मिन् स्वामिन्यासन् हितै रताः ॥९८॥  
 सुकालश्च सुराजा च समं सन्निहितं द्वयम् । ततो धर्मप्रिया जाताः प्रजास्तदनुरोधतः ॥९९॥

माओसे सजे हुए बहुत-से घण्टे बनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौबीस घण्टे बाहरके दरवाजेपर, राजभवन-  
 के महाद्वारपर और गोपुर दरवाजोंपर अनुक्रमसे टँगा दिये ॥८७-८८॥ जब वे चक्रवर्ती  
 उन दरवाजोसे बाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते तब मुकुटके अग्रभागपर लगे हुए  
 घण्टाओसे उन्हें चौबीस तीर्थकरोंका स्मरण हो आता था । तदनन्तर स्मरण कर उन  
 अरहन्तदेवकी प्रतिमाओंको वे नमस्कार करते थे इस प्रकार पुण्यरूप वृद्धिको धारण करनेवाले  
 महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरहन्तदेवकी पूजा करते थे ॥८९-९०॥  
 सूत्र अर्थात् रस्सियोसे सम्बन्ध रखनेवाले वे परमेश्वियोंके घण्टा ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो  
 उत्तम-उत्तम अर्थोसे भरी हुई और सूत्र अर्थात् आगम वाक्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली ग्रन्थोंकी  
 सुन्दर टीकाएँ ही हो ॥९१॥ महाराज भरत स्वयं तीनों लोकोके चूडामणि थे उनके मस्तक-  
 पर लगे हुए वे लोकप्रिय घण्टा ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी छाया ही  
 हो ॥९२॥ निधियोंके स्वामी भरतने अहन्तदेवकी बन्दनाके लिए जो घण्टा रत्नोंके तोरणों-  
 की रचनासे स्थापित किये थे उन्हें देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे थे अर्थात्  
 अपने-अपने दरवाजेके तोरणोंकी रचनामें घण्टा लगवाने लगे थे । उसी समयसे नगरवासी  
 लोगोंने भी अपने-अपने घरकी तोरणमालाओंमें अपने-अपने वैभवके अनुसार जिनप्रतिमा  
 आदि सामग्रीसे युक्त घण्टा बांधे थे ॥९३-९४॥ उस समय प्रथम राजा भरतकी वनायी हुई  
 इस सृष्टिको प्रजाके लोगोंने बहुत माना था, यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घरपर बन्दन  
 मालाएँ दिखाई देती हैं ॥९५॥ चूँकि भरतेश्वरने वे मालाएँ अरहन्तदेवकी बन्दनाके लिए  
 बनवायी थी इसलिए ही वे बन्दनमाला नाम पाकर पृथिवीमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुई है ॥९६॥  
 यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है और राजा धर्मात्मा नहीं होता है  
 तो प्रजा भी धर्मात्मा नहीं होती है, यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती  
 है ॥९७॥ उस समय कालके प्रभावसे प्रायः सभी लोग धर्मप्रिय थे सो ठीक ही है क्योंकि  
 सदाचारी भरतके राजा रहते हुए सब लोग अपना हित करनेमें लगे हुए थे ॥९८॥ उस समय  
 अच्छा राजा और अच्छी प्रजा दोनों ही एक साथ मिल गये थे इसलिए राजाके अनुरोधसे प्रजा

१ वहिर्द्वारि ल०, म०, व० । २ रत्नादिसम्यगर्थः । ३ तोरणमालासु । ४ जिनविभ्वादिपरिकरसहिताः ।

५ धर्मशीलताम् । ६ अवर्गत्वम् । ७ अधर्मशीले सति ।

एष धर्मप्रियः सम्राट् धर्मस्थानभिनन्दति । मत्वेति निखिलो लोकस्तदा धर्मे रतिं व्यधात् ॥१००॥  
 स धर्मविजयी सम्राट् सद्वृत्तः क्षुचिरुत्तितः । प्रकृतिष्वनुरक्तासु व्यधात् धर्मक्रियादरम् ॥१०१॥  
 भरतोऽभिरतो<sup>१</sup> धर्मं वयं तदनुजीविनः । इति तद्वृत्तमन्वीर्यमौलिबद्धा महीक्षितः ॥१०२॥  
 सोऽयं साधितकार्मायश्चक्री चक्रानुमावतः । चरिताद्द्वये तस्मिन् भजे धर्मकतानताम् ॥१०३॥  
 दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाज्ञातो गृहमेधिनाम् ॥१०४॥  
 ददौ दानमसौ सद्भ्यो मुनिभ्यो विहितादरम् । समेतो नवभिः पुण्यैः गुणैः सप्तभिरन्वितः ॥१०५॥  
 सोऽद्वाद् विशुद्धमाहारं यथायोगं च मेषजम् । प्राणिभ्योऽभयदानं च दानस्यैतावती गतिः ॥१०६॥  
 जिनेषु भक्तिमातन्व्यस्तत्पूजायां दृष्टिं दधौ । पूज्यानां पूजनाल्लोके पूज्यत्वमिति भावयन् ॥१०७॥  
 चैत्यचैत्यालयादीनां निर्माणपुरस्सरम् । स चक्र परमामिष्यो कल्पवृक्षपृथुप्रथाम् ॥१०८॥  
 शीलानुपालने यत्नो मनस्यस्य विभोरभूत् । शीलं हि रक्षितं यत्नादात्मानमनुरक्षति ॥१०९॥  
 व्रतानुपालनं शीलव्रतान्पुन्यगारिणाम् । स्थूलहिंसाविरत्यादिलक्षणानि च लक्षणैः ॥११०॥  
 सभावनानि तान्येष यथायोगं प्रपालयन् । प्रजानां पालकः सोऽभूद् धीरशो गृहमेधिनाम् ॥१११॥  
 पर्वोपवासमास्थाप्य<sup>२</sup> विनागारे समाहितः । कुर्वन् सामयिकं सोऽध्यान्मुनिवृत्तं च तत्क्षणम्<sup>३</sup> ॥११२॥

धर्मप्रिय हो गयी थी ॥९९॥ यह सम्राट् स्वयं धर्मप्रिय है और धर्मत्मा लोगोका सम्मान करता है यही मानकर उस समय लोग धर्ममें प्रीति करने लगे थे ॥१००॥ वह चक्रवर्ती धर्मविजयी था, सदाचारी था, पवित्र था और बलिष्ठ था इसलिए ही वह अपनेपर प्रेम रखनेवाली प्रजामें धार्मिक क्रियाओंका आदर करता था अर्थात् प्रजाको धार्मिक क्रियाएँ करनेका उपदेश देता था ॥१०१॥ 'भरत धर्ममें तत्पर है और हम लोग उसके सेवक हैं' यही समझकर मुकुटबद्ध राजा उनके आचरणका अनुसरण करते थे । भावार्थ—अपने राजाको धर्मत्मा जानकर आश्रित राजा भी धर्मत्मा बन गये थे ॥१०२॥ चक्रके प्रभावसे अर्थ और काम दोनों ही जिनके स्वाधीन हो रहे हैं ऐसे चक्रवर्ती भरत अर्थ और कामकी सफलता होनेपर केवल धर्ममें ही एकाग्रताको प्राप्त हो रहे थे ॥१०३॥ दान देना, पूजा करना, शील पालन करना और पर्वके दिन उपवास करना यह गृहस्थोका चार प्रकारका धर्म माना गया है ॥१०४॥ नव प्रकारके पुण्य और सात गुणोसे सहित भरत उत्तम मुनियोके लिए बड़े आदरके साथ दान देते थे ॥१०५॥ वे विशुद्ध आहार, योग्यतानुसार औषधि और समस्त प्राणियोके लिए अभय दान देते थे सो ठीक ही है क्योंकि दानकी यही तीन गति है ॥१०६॥ संसारमें पूज्य पुरुषोकी पूजा करनेसे पूज्यपना स्वयं प्राप्त हो जाता है ऐसा विचार करते हुए महाराज भरत जिनेन्द्रदेवमें अपनी भक्ति बढ़ाते हुए उनकी पूजा करनेमें बहुत ही संतोष धारण करते थे ॥१०७॥ उन्होंने अनेक जिनविम्ब और जिनमन्दिरोंकी रचना कराकर कल्पवृक्ष नामका बहुत बड़ा यज्ञ (पूजन) किया था ॥१०८॥ उनके मनमें शीलकी रक्षा करनेका प्रयत्न सदा विद्यमान रहता था सो ठीक ही है क्योंकि प्रयत्नपूर्वक रक्षा किया हुआ शील आत्माकी रक्षा करता है ॥१०९॥ व्रतोका पालन करना शील कहलाता है और स्थूलहिंसाका त्याग करना ( अहिंसाणु व्रत ) आदि जो गृहस्थोंके व्रत हैं वे लक्षणोके साथ पहले कहे जा चुके हैं ॥११०॥ उन व्रतोको भावनाओं सहित यथायोग्य रीतिसे पालन करते हुए प्रजापालक महाराज भरत गृहस्थोंमें मुख्य गिने जाते थे ॥१११॥ वे पर्वके दिन उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर चित्तको स्थिर कर सामायिक करते

१ प्रजापरिवारेषु । २ भरतो निरतो ल०, म० । ईशानोऽभिरतो अ०, स० । ३ अनुगच्छति स्म । ४ नृपाः । ५ स्वाधीन—अ०, म०, स० । ६ धर्मं अनन्यवर्तिताम् । 'एकतान अनन्यवृत्तिः' इत्यभिधानात् । ७ उपवास । ८ कथित । ९ मैत्रीप्रमोदादिभावनासहितानि । १० प्रतिज्ञा कृत्वा । —माध्याय ल०, प० । ११ सामायिककालपर्यन्तम् ।



जिनानुस्मरणे तस्य समाधानमुपेयुषः । नैथिल्याद् गात्रवन्वस्य<sup>१</sup> स्वस्त्याभरणान्यहो ॥११३॥  
 तथापि बहुचिन्तस्य धर्मचिन्ताऽभवद् दृढा । धर्मेहि चिन्तिते सर्वं चिन्त्यं स्यादनुचिन्तितम् ॥११४॥  
 तस्याखिलाः क्रियारम्भा धर्मचिन्तापुरस्सराः । जाता जातमहोदकपुण्यपाकौत्थसंपदः ॥११५॥  
 प्रातरुन्मीलिताक्षः सन् सन्ध्यारागाशुणा दिशः । स मेनेऽहृत्पदाम्भोजरागेणवानुरञ्जितः ॥११६॥  
 प्रातरुन्तमुद्रतनैशान्धतमसं<sup>२</sup> रविम् । भगवत्केवलकस्य प्रसिध्निवन्मसंत सः ॥११७॥  
 प्रभातमस्तौदूतप्रवृद्धं कमलाकरात् । हृदि सोऽघाजिनालापकलापानिव शीतलान् ॥११८॥  
 धार्मिकस्यास्य कामार्थचिन्ताऽभूदानुषङ्गिकी<sup>३</sup> । तात्पर्यं त्वमवद्वमं कृत्स्नश्रेयोऽनुबन्धिनि ॥११९॥  
 प्रातरुत्थाय धर्मस्यैः कृतधर्मानुचिन्तनः । ततोऽर्थकामसंपत्तिं सहामात्यैरूपयत् ॥१२०॥  
 तत्प्रादुरितमात्रोऽसौ संपूज्य गुरुदैवतम् । कृतमङ्गलनेपथ्यो<sup>४</sup> धर्मासनमधिष्ठितः ॥१२१॥  
 प्रजानां सदसद्वृत्तचिन्तनैः क्षणमासितः । तत आयुक्तकान्<sup>५</sup> स्वेपु नियोगेगवन्भद्राद् विभुः ॥१२२॥  
 नृपासनमथाध्यास्य महादर्शनमध्यगः<sup>६</sup> । नृपान् संभावयामास सेवावसरकल्क्षिणः ॥१२३॥  
 काश्चिदालोकैः काश्चिस्मिन्नैराभापणैः परान् । काश्चित्समानदानाद्यैस्तर्पयामास पार्थिवान् ॥१२४॥

हुए जिनमन्दिरमे ही रहते थे और उस समय ठीक मुनियोंका आचरण धारण करते थे ॥११३॥  
 जिनेन्द्रदेवका स्मरण करनेमें वे समाधानको प्राप्त हो रहे थे — उनका चित्त स्थिर हो रहा था और आश्चर्य है कि शरीरके बन्धन शिथिल होनेसे उनके आभूषण भी निकल पड़े थे ॥११४॥ यद्यपि उन्हें बहुत पदार्थोंकी चिन्ता करनी पड़ती थी तथापि उनके धर्मकी चिन्ता अत्यन्त दृढ़ थी सो ठीक ही है क्योंकि धर्मकी चिन्ता करनेपर चिन्ता करने योग्य समस्त पदार्थोंका चिन्तन अपने आप हो जाता है ॥११४॥ वड़े भारी फल देनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे जिन्हे अनेक सम्पदाएँ प्राप्त हुई हैं ऐसे भरतकी समस्त क्रियाओका प्रारम्भ धर्मके चिन्तनपूर्वक ही होता था अर्थात् महाराज भरत समस्त कार्योंके प्रारम्भमे धर्मका चिन्तन करते थे ॥११५॥ वे प्रातःकाल आँख खोलकर जब समस्त दिशाओंको सबेरेकी लालिमासे लाल-लाल देखते थे तब ऐसा मानते थे मानो ये दिशाएँ जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंकी लालिमासे ही लाल-लाल हो गयी हैं ॥११६॥ जिसने रात्रिका गाढ़ अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे सूर्यको प्रातःकालके समय उदय होता हुआ देखकर वे ऐसा समझकर उठते थे मानो यह भगवान्के केवलज्ञानका प्रतिबिम्ब ही हो ॥११७॥ प्रातःकालकी वायुके चलनेसे खिले हुए कमलोंके समूहको वे अपने हृदयमें जिनेन्द्र भगवान्की दिव्यध्वनिके समूहके समान शीतल समझते थे ॥११८॥ वे बहुत ही धर्मात्मा थे, उनके काम और अर्थकी चिन्ता गौण रहती थी तथा उनका मुख्य तात्पर्य सब प्रकारका कल्याण करनेवाले धर्ममें ही रहता था ॥११९॥ वे सबेरे उठकर पहले धर्मात्मा पुरुषोके साथ धर्मका चिन्तन करते थे और फिर मन्त्रियोंके साथ अर्थ तथा कामरूप सम्पदाओका विचार करते थे ॥१२०॥ वे श्यासे उठते ही देव और गुरुओंकी पूजा करते थे और फिर मागलिक वेप धारण कर धर्मासनपर आरूढ़ होते थे ॥१२१॥ वहाँ प्रजाके सदाचार और असदाचारका विचार करते हुए वे क्षण-भर ठहरते थे तदनन्तर अधिकारियोंको अपने-अपने कामपर नियुक्त करते थे अर्थात् अपना-अपना कार्य करनेकी आज्ञा देते थे ॥१२२॥ इसके बाद सभाभवनके बीचमें जाकर राजसिंहासनपर विराजमान होते तथा सेवाके लिए अवसर चाहनेवाले राजाओका सम्मान करते थे ॥१२३॥ वे कितने ही राजाओको दर्शनसे, कितनों ही को मुसकानसे,

१ गलितानि । २ निशासवन्वि । ३ विकसित । ४ अमुक्या । ५ धर्मस्यैः सह । ६ विवाशमकरोत् ।  
 ७ मङ्गलालंकारः । ८ आसनमण्डलविशेषम् । ९ तत्परान् । १० समादर्शन-अं, सं । ११ सभासदन-पं, लं, मं । महद्दर्शनं येषां ते महादर्शनास्तेषां मध्यगः । सम्भजनमध्यगवर्ती सन्नित्यर्थः ।

तत्रोपायनसंपत्त्या समायातान् महत्तमान्<sup>१</sup> । वचोहरांश्च<sup>२</sup> संमान्य कृतकार्यान् व्यसर्जयत् ॥१२५॥  
 कलाविदश्च नृत्यादिद्वजैः समुपस्थितान् ।<sup>३</sup> पारितोषिकदानेन सहता समतर्पयत् ॥१२६॥  
 ततो विमज्जितास्थानः श्रोत्राथ नृपविष्टरात् । स्वेच्छाविहारमकरोद् विनोदः सुकुमारकैः<sup>४</sup> ॥१२७॥  
 ततो मध्यदिनेऽभ्यर्चनं कृतमज्जनसंविधिः । तनुस्थितिं स निर्वर्त्य निरविशत्<sup>५</sup> प्रसाधनम्<sup>६</sup> ॥१२८॥  
 चामरोत्क्षेपताम्बूलदानसंवाहनादिभिः । परिचेरुत्थैर्न परिवाराङ्गनाः स्वतः ॥१२९॥  
 ततो मुक्तोत्तरास्थाने स्थितः कतिपयैर्नृपैः । समं<sup>७</sup> विदग्धमण्डल्या विद्यागोष्ठीरमावयत् ॥१३०॥  
 तत्र बारविलासिन्यो नृपवल्लभिकाश्च तम् । परिवन्नुस्यारुढतास्थ्यमदकर्मदा<sup>८</sup> ॥१३१॥  
<sup>९</sup> तासामालापसंज्ञापपरिहासकथादिभिः । सुखासिकामसौ भजे योगाङ्गैश्च मुहूर्तकम् ॥१३२॥  
 ततस्तुषारवशेषेऽङ्घ्रि पर्यटन्मणिकुट्टिमे । वीक्षते स्म परां शोभामभिलो राजवेश्मनः ॥१३३॥  
 समर्मसंविदं<sup>१०</sup> कश्चित् समालम्ब्यसंपीडकं<sup>११</sup> । परिक्रामक्षितश्चेतो<sup>१२</sup> रेजे सुरकुमारवत् ॥१३४॥  
 रज्ज्यामपि यत्कृत्यमुचितं चक्रवर्तिनः । तदाचरन् सुखेनैष<sup>१३</sup> त्रियामामव्यवाहयत् ॥१३५॥  
 कदाचिदुचितं<sup>१४</sup> वेलं नियोग इति केवलम् । मन्त्रधामास मन्त्रज्ञैः कृतकार्यैर्ऽपि चक्रमुत् ॥१३६॥  
 तन्प्राबायगता चिन्ता नास्यासीद् विजितक्षितेः । तन्त्रं<sup>१५</sup> चिन्तैव नम्रस्य स्वतन्त्रप्रेमह भारते ॥१३७॥

कितनो ही को वार्तालिपसे; कितनो ही को सम्मानसे और कितनो ही को दान आदिसे सन्तुष्ट करते थे ॥१२४॥ वे वहाँपर भेट ले-लेकर आये हुए बड़े-बड़े पुरुषों तथा दूतोंको सम्मानित कर और उनका कार्य पूरा कर उन्हें विदा करते थे ॥१२५॥ नृत्य आदि दिखानेके लिए आये हुए कलाओंके जाननेवाले पुरुषोंको बड़े-बड़े पारितोषिक देकर सन्तुष्ट करते थे ॥१२६॥ तदनन्तर सभा विसर्जन करते और राजसिंहासनसे उठकर कोमल क्रीड़ाओंके साथ-साथ अपनी इच्छानुसार विहार करते थे ॥१२७॥ तत्पश्चात् दोपहरका समय निकट आनेपर स्नान आदि करके भोजन करते और फिर अलंकार धारण करते थे ॥१२८॥ उस समय परिवारकी स्त्रियाँ स्वयं आकर चमर ढोलना, पान देना और पैर दावना आदिके द्वारा उनकी सेवा करती थीं ॥१२९॥ तदनन्तर भोजनके बाद बैठने योग्य भवनमें कुछ राजाओंके साथ बैठकर चतुर लोगोंकी मण्डलीके साथ-साथ विद्याकी चर्चा करते थे ॥१३०॥ वहाँ जवानोंके मदसे जिन्हे उड्डण्डता प्राप्त हो रही है ऐसी वेश्याएँ और प्रियरानियाँ आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेती थीं ॥१३१॥ उनके आभाषण, परस्परकी बातचीत और हास्यपूर्ण कथा आदि भोगोंके साधनसे वे वहाँ कुछ देर तक सुखसे बैठते थे ॥१३२॥ इसके बाद जब दिनका चौथाई भाग शेष रह जाता था तब मणियोंसे जड़ी हुई जमीनपर टहलते हुए वे चारों ओर राजमहलकी उत्तम शोभा देखते थे ॥१३३॥ कभी वे क्रीड़ासचिव अर्थात् क्रीडामे सहायता देनेवाले लोगोंके कन्धोंपर हाथ रखकर इधर-उधर घूमते हुए देवकुमारोंके समान सुशोभित होते थे ॥१३४॥ रातमें भी चक्रवर्तिकी योग्य जो कार्य थे उन्हें करते हुए वे सुखसे रात्रि व्यतीत करते थे ॥१३५॥ यद्यपि वे चक्रवर्ती कृतकृत्य हो चुके थे अर्थात् विजय आदिका समस्त कार्य पूर्ण कर चुके थे तथापि केवल नियोग समझकर कभी-कभी उचित समयपर मन्त्रियोंके साथ सलाह करते थे ॥१३६॥ जिन्होंने

१ महत्तमान् । २ वृत्तान् । ३ पारितोषे भव । ४ मृदुभिः । ५ मध्याह्ने । ६ अन्धभवत् । ७ अनुलेपनम् । वस्त्र-  
 मात्याभरणानि । 'आकल्पवेशी नेपथ्यं प्रतिर्कम् प्रसाधनम्' । ८ पादमर्दन । ९ परिचर्या चक्रिरे । १० भोज-  
 नान्ते स्थातु योग्यास्थाने । ११ विद्वत्समूहेन । १२ मिथोभाषण । 'संज्ञापो भाषणं मिथ' । इत्यभिधानात् ।  
 १३ सुखस्थलम् । १४ क्रीडासहाय । 'क्रीडा लीला च नर्म च' इत्यभिधानात् । १५ वंसो भुजगिर एव पीठस्त-  
 स्मिन् । १६ इतस्तत् । १७ रात्रिं नयति स्म । १८ उचितकालपर्यन्तम् । १९ स्वराष्ट्रचिन्ताम् । अथवा  
 शस्त्रचिन्ताम् । 'तन्त्र' प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छेदे' इत्यभिधानात् ।

तेन<sup>१</sup> पाद्गुण्यमभ्यस्तमपरिज्ञानहानये । शासतोऽस्याविपत्तां क्षमां कृतं<sup>२</sup> संध्यादिचर्चया<sup>३</sup> ॥१३८॥  
 राजविद्याश्चतस्रोऽभूः कदाचिच्च कृतक्षणः<sup>४</sup> । व्याचल्यौ<sup>५</sup> राजपुत्रेभ्यः ख्यातये स विचक्षणः ॥१३९॥  
 कदाचिन्निधिरत्नानामकरोत्स निरोक्षणम् । भाण्डागारपदे तानि तस्य तन्त्रं पदेऽपि च ॥१४०॥  
 कदाचिद्धर्मशास्त्रेषु याः स्युर्विप्रतिपत्तयः । निराचकार<sup>६</sup> ताः कृत्स्नाः ख्यापयन्<sup>७</sup> विश्वविन्मतम्<sup>८</sup> ॥१४१॥  
 आसौपज्ञेषु तत्त्वेषु कांश्चित् संजातसंशयान् । ततोऽपाकृत्य संशोतेस्तत्त्व<sup>९</sup> निरीणनयत्<sup>१०</sup> ॥१४२॥  
 तथाऽसावर्थशास्त्रार्थं<sup>११</sup> कामनीतौ च पुष्कलम् । प्रावीण्यं प्रथयामास यथात्र न परः कुतौ<sup>१२</sup> ॥१४३॥  
 हस्तितन्त्रेऽश्वतन्त्रे च दृष्ट्वा स्वातन्त्र्यमीक्षितुः । मूलतन्त्रस्थं<sup>१३</sup> कर्ताऽयमित्यास्थां<sup>१४</sup> तद्विद्वामभूत् ॥  
 आयुर्वेदे स दीर्घायुरायुर्वेदो नु मूर्तिमान् । इति लोको विरारेकं<sup>१५</sup> ज्ञातये स्म निधीशिनम् ॥१४५॥  
 सोऽधीती<sup>१६</sup> पदविद्यायां स कृती<sup>१७</sup> बाणलंकृतौ<sup>१८</sup> । स छन्दसांप्रतिच्छन्द<sup>१९</sup> इत्यासीत् संमतः सताम् ॥१४६॥  
 तदुपज्ञं निमित्तानि शाकुनं<sup>२०</sup> तदुपक्रमम्<sup>२१</sup> । तत्सर्गो<sup>२२</sup> ज्योतिषो<sup>२३</sup> ज्ञानं तन्मतं तेन<sup>२४</sup> तत्त्रयम्<sup>२५</sup> ॥१४७॥

समस्त पृथिवी जीत ली है और जो इस भरतक्षेत्रमे स्वतन्त्र है ऐसे उन भरतको अपने तथा परराष्ट्रकी कुछ भी चिन्ता थी, यदि चिन्ता नहीं थी, तो केवल तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्रकी ही चिन्ता थी ॥१३७॥ उन्होने अपना अज्ञान नष्ट करनेके लिए ही छह गुणोंका अभ्यास किया था क्योंकि जब वे शत्रुरहित पृथिवीका पालन करते थे तब उन्हें सन्धि विग्रह आदिकी चर्चा क्या प्रयोजन था ॥१३८॥ अतिशय विद्वान् महाराज भरत केवल प्रसिद्धिके लिए ही कभी-कभी बड़े उत्साहके साथ राजपुत्रोंके लिए आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार राजविद्याओंका व्याख्यान करते थे ॥१३९॥ वे कभी-कभी निधियों और रत्नोंका भी निरीक्षण करते थे । क्योंकि निधियों और रत्नोंमेंसे कुछ तो उनके भाण्डारमें थे और कुछ उनकी सेनामें थे ॥१४०॥ कभी-कभी वे सर्वज्ञदेवका मत प्रकट करते हुए धर्मशास्त्रमे जो कुछ विवाद थे उन सबका निराकरण करते थे ॥१४१॥ भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए तत्त्वोंमे जिन किन्हींको सन्देह उत्पन्न होता था उन्हें वे उस सन्देहसे हटाकर तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय करते थे ॥१४२॥ इसी प्रकार वे अर्थशास्त्रके अर्थमें और कामशास्त्रमें अपना पूर्ण चातुर्य इस तरह प्रकट करते थे कि फिर इस संसारमें उनके समान दूसरा चतुर नहीं रह जाता था ॥१४३॥ हस्तितन्त्र और अश्वतन्त्रमे महाराज भरतकी स्वतन्त्रता देखकर उन शास्त्रोंके जाननेवाले लोगोंको यही विश्वास हो जाता था कि इन सबके मूल शास्त्रोंके कर्ता यही है ॥१४४॥ आयुर्वेद के विषयमें तो सब लोग निधियोंके स्वामी भरतकी बिना किसी शकाके यही प्रशंसा करते थे कि यह दीर्घायु क्या मूर्तिमान् आयुर्वेद ही है अर्थात् आयुर्वेदने ही क्या भरतका शरीर धारण किया है ॥१४५॥ इसी प्रकार सज्जन लोग यह भी मानते थे कि वे व्याकरण-विद्यामें कुशल है, शब्दालंकारमे निपुण है, और छन्दशास्त्रके प्रतिबिम्ब हैं ॥१४६॥ निमित्तशास्त्र सबसे पहले उन्हींके बनाये हुए है, शकुनशास्त्र उन्हींके कहे हुए है और ज्योतिष शास्त्रका ज्ञान उन्हीं-

१ चक्रिणा । २ पर्याप्तम् । अलमित्यर्थ । ३ सन्धिविग्रहभावादिविचारेण । ४ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चतस्रो राजविद्याः । ५ कृतोत्साहः । ६ वदति स्म । ७ सैन्यस्थाने परिग्रहे वभूवुरित्यर्थ । ८ विसवादाः । ९ निराकृतवान् । १० प्रकटीकुर्वन् । ११ सर्वज्ञमतम् । १२ सहायात् । १३ निर्णयमकारयत् । १४ नीति-शास्त्रार्थः । १५ कुशलः । १६ गजशास्त्रे । १७ मूलशास्त्रस्य । १८ इति बुद्धिः । १९ वैद्यशास्त्रे । २० नि-शङ्कम् । २१ व्याकरणशास्त्रमनीतवान् । २२ कुशलः । २३ शब्दालंकारे । २४ प्रतिनिधिः । २५ तदुपज्ञनिमित्तानि ल०, म० । तेन प्रथमोक्तम् । २६ शकुनशास्त्रम् । २७ तेन प्रथममुपक्रान्तम् । २८ तस्य भरतस्य सृष्टिः । २९ ज्योतिषशास्त्रम् । ३०, तेन कारणेन । ३१ निमित्तादिवयम् ।

स निमित्तं<sup>१</sup> निमित्तानां<sup>२</sup> तन्त्रे मन्त्रे सशक्तुने<sup>३</sup> । दैवज्ञाने<sup>४</sup> परं दैवमित्यभूत्संमतोऽधिकम्<sup>५</sup> ॥१४८॥  
 तत्संभूतौ समुद्भूतमभूत् पुरुषलक्षणम् । उदाहरणमन्यत्र लक्षितं येन तत्तनोः ॥१४९॥  
 अन्येष्वपि कलाशास्त्रसंग्रहेषु कृतागमाः<sup>६</sup> । तमेवादर्थं<sup>७</sup> मालोक्य संग्रथायाद् व्यरसिषुः<sup>८</sup> ॥१५०॥  
 येनास्य सहजा प्रज्ञा पूर्वजन्मानुषद्विणी<sup>९</sup> । तेनैषा विश्वविद्यासु जाता परिणतिः परा ॥१५१॥  
 इत्थं सर्वेषु शास्त्रेषु कलासु सकलासु च । लोके स संमतिं प्राप्य तद्विद्यानां मतोऽभवत् ॥१५२॥  
 किमत्र बहुनोक्तं प्रज्ञापारमितो मनुः । दृष्टस्य लोकवृत्तस्य स भजे सूत्रधारताम् ॥१५३॥  
 राजसिद्धान्ततत्त्वज्ञो<sup>१०</sup> धर्मशास्त्रार्थतत्त्वविद् । परिख्यातः कलाज्ञाने सोऽभून्मूर्ध्नि सुमेधसाम् ॥१५४॥  
 इत्यादिराज<sup>११</sup> तत्सन्नादहो राजर्षिनायकम्<sup>१२</sup> । तत्सार्वभौममित्यस्य दिगासूच्छलितं यगः ॥१५५॥

### मालिनी

इति<sup>१५</sup> सकलकलानामेकमोकः<sup>१६</sup> स चक्री  
 कृतमतिमिरज्य<sup>१७</sup> संगतं संविचित्सन् ।  
 बुधसदसि<sup>१८</sup> सरस्यान्<sup>१९</sup> बौधयन् विश्वविद्या  
 ज्यवृणुत<sup>२०</sup> बुधचक्रीसुच्छलकीर्तिकेतुः<sup>२१</sup> ॥१५६॥

की सृष्टि है इसलिए उक्त तीनो शास्त्र उन्हीके मत है ऐसा समझना चाहिए ॥१४७॥ वे निमित्त शास्त्रोके निमित्त हैं, और तन्त्र, मन्त्र, शकुन तथा ज्योतिष शास्त्रमें उत्तम अधिष्ठाता देव है इस प्रकार सब लोगोमें अधिक मान्यताको प्राप्त हुए थे ॥१४८॥ महाराज भरतके उत्पन्न होनेपर पुरुषके सब लक्षण उत्पन्न हुए थे इसलिए दूसरी जगह उनके शरीरके उदाहरण ही देखे जाते थे ॥१४९॥ शास्त्रोके जाननेवाले पुरुष ऊपर कहे हुए शास्त्रोके सिवाय अन्य कला-शास्त्रोके संग्रहमें भी भरतको ही दर्पणके समान देखकर सगयके अशोसे विरत होते थे अर्थात् अपने-अपने संशय दूर करते थे ॥१५०॥ चूँकि उनकी स्वाभाविक बुद्धि पूर्वजन्मसे सम्पर्क रखने-वाली थी इसलिए ही उनकी समस्त विद्याओंमें उत्तम प्रगति हुई थी ॥१५१॥ इस प्रकार समस्त शास्त्र और समस्त कलाओंमें प्रतिष्ठा पाकर वे भरत उन विद्याओंके जाननेवालोंमें मान्य हुए थे ॥१५२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? इतना कहना ही पर्याप्त है कि बुद्धिके पारगामी कुलकर भरत समस्त लोकाचारके सूत्रधार हो रहे थे ॥१५३॥ वे राज-शास्त्रके तत्त्वोंको जानते थे, धर्मशास्त्रके जानकार थे, और कलाओंके ज्ञानमें प्रसिद्ध थे । इस प्रकार उत्तम विद्वानोंके मस्तकपर सुगोभित हो रहे थे अर्थात् सवमें श्रेष्ठ थे ॥१५४॥ अहो, इनका प्रथम राज्य कैसा आश्चर्य करनेवाला है, यह सन्नाद हैं, राजपियोमें मुख्य हैं, इनका सार्वभौम पद भी आश्चर्यजनक है इस प्रकार उनका यग समस्त दिशाओंमें उछल रहा था ॥१५५॥ इस प्रकार जो समस्त कलाओंका एकमात्र स्थान है, जो बुद्धिमान् पुरुषोंके साथ अविनाशी मित्रता करना चाहता है और 'यह विद्वानोंमें चक्रवर्ती है अथवा विद्वान् चक्रवर्ती है' इस प्रकार जिसकी कीर्तिरूपी पताका फहरा रही है ऐसा वह चक्रवर्ती भरत विद्वानोंकी सभामें समस्त विद्याओंका उपदेन देता हुआ समस्त विद्याओंका व्याख्यान करता था ॥१५६॥

१ कारणम् । २ निमित्तशास्त्राणाम् । ३ ज्योतिष शास्त्रे । ४ न मतोऽधिकम् ड० । स गतोऽधिकम् ल०, म० ।  
 ५ संपूर्णशास्त्रम् । ६ मुकुटम् । ७ विरमन्ति स्म । ८ कारणेन । ९ अनुमन्विनी । १० नृपविद्यान्वत्पत्र ।  
 ११ आदिराजस्य प्रथा । १२ राजर्षिनायकस्य प्रथा । १३ सर्वभूमीनाम् प्रकाश । १४ मुञ्च । १५ गृह् ।  
 १६ अविनाशी । १७ सदसि योग्यान् । १८ विवरणमकरोत् । १९ विद्वज्जन ।

जिनविहितमनूनं संस्मरन् धर्ममार्गं  
 स्वयमधिगततत्त्वो बोधयन् मार्गमन्यान् ।  
 कृतमतिरखिलां क्षमां पालयजिःसपत्नां  
 चिरमरमत भोगैर्यूरिसरैः स सम्राट् ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

लक्ष्मीवाग्बनितासमागमसुखस्यैकाधिपत्यं दधत्  
 दूरोत्सारितदुर्णयः प्रशमिनीं तेजस्वितामुद्वहन् ।  
 मयाथोपार्जितवित्तकामघटनः शास्त्रे च शास्त्रे कृती  
 राजर्षिः परमोदयो जिनशुपा<sup>१</sup>मग्रसरः सोऽभवत् ॥१५८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे  
 भरतराजस्वप्नदर्शनतत्फलोपवर्णनं नाम एकचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४१॥

जिसने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जिसकी बुद्धि परिपक्व है ऐसा सम्राट् भरत, जिनेन्द्रदेवके कहे हुए न्यूनतारहित धर्ममार्गका स्मरण करता हुआ तथा वही मार्ग अन्य लोगोंको समझाता हुआ और शत्रुरहित सम्पूर्ण पृथिवीका पालन करता हुआ सारपूर्ण भोगोंके द्वारा चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा था ॥१५७॥ जो लक्ष्मी और सरस्वतीके समागमसे उत्पन्न हुए सुखके एक स्वामित्वको धारण कर रहा है, जिसने समस्त दुष्ट नय दूर हटा दिये हैं, जो शान्तियुक्त तेजस्वीपनेको धारण कर रहा है, जिसने न्यायपूर्वक कमाये हुए धनसे कामका संयोग प्राप्त किया है, जो शास्त्र औऱ शास्त्र दोनोंमें ही निपुण है, राजर्षि है और जिसका अभ्युदय अतिशय उत्कृष्ट है ऐसा वह भरत जिनेन्द्रदेवकी सेवा करनेवालोंमें अग्रेसर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ था ॥१५८॥

इस प्रकार आर्पणामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके आषाढुवादे भरतराजके स्वप्न तथा उनके फलका वर्णन करनेवाला इकतालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

## द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व

<sup>१</sup>मथ्येसभमयान्मेषुर्निविष्टो हरिविष्टरे । क्षात्रं<sup>२</sup> वृचसुपादिक्षत्संहितान्<sup>३</sup> पार्थिवान्<sup>४</sup> प्रति ॥१॥  
 श्रूयतां भो महात्मानः सर्वे<sup>५</sup> क्षत्रियपुङ्गवाः । क्षत्रत्राणे नियुक्ताः स्थै<sup>६</sup> यूयमाद्येन वेधसा ॥२॥  
 तत्त्राणे च नियुक्तानां वृत्तं चः पञ्चधोदितम् । तन्निशम्य<sup>७</sup> यथाज्ञायं प्रवर्तयं प्रजाहिते ॥३॥  
 तच्चेदं कुलमत्यात्मप्रजानामनुपालनम् । समञ्जसत्वं चेत्येवमुद्दिष्टं पञ्चमेदमाक ॥४॥  
 कुलानुपालनं तत्र कुलाज्ञायानुरक्षणम् । कुलोचितसमाचारपरिरक्षणलक्षणम् ॥५॥  
 क्षत्रियाणां कुलाज्ञायः कीदृशश्चेन्नियम्यताम्<sup>८</sup> । आद्येन वेधसा सृष्टः सर्गाज्यं क्षत्रपूर्वकः<sup>९</sup> ॥६॥  
 स चैव सारतं<sup>१०</sup> धर्मसवतीर्णो दिवोऽग्रतः । पुरा<sup>११</sup> भवे समाराध्य रत्नत्रितयमूर्जितम् ॥७॥  
 द्विरष्टौ भावनास्तत्र तीर्थकृत्वोपपादिनीः । भावयित्वा शुभोदकां शुलोकाग्रमभिहितः<sup>१२</sup> ॥८॥  
 तेनास्मिन् भारते वर्षे धर्मतीर्थप्रवर्तने । ततः<sup>१३</sup> कृतावतारेण क्षात्रसर्गाः प्रवर्तितः ॥९॥  
 तत्कर्म कर्मभूमिवाद्यत्वे द्वितयी प्रजा । कर्तव्या<sup>१४</sup> रक्षणीयैका प्रजान्या रक्षणोद्यता ॥१०॥  
 रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तद्वन्वयाः । सोऽम्बवोऽनादिसंतत्या वीजवृक्षवदिष्यते ॥११॥

अथानन्तर—किसी एक दिन सभाके बीचमे सिंहासनपर बैठे हुए भरत इकट्ठे हुए राजाओके प्रति क्षात्रधर्मका उपदेश देने लगे ॥१॥ वे कहते लगे कि हे समस्त क्षत्रियोमें श्रेष्ठ महात्माओ, आप लोगोंको आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया है ॥२॥ दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त हुए आप लोगोंका धर्म पाँच प्रकारका कहा है उसे सुनकर तुम लोग शास्त्रके अनुसार प्रजाका हित करनेमें प्रवृत्त होओ ॥३॥ वह तुम्हारा धर्म कुलका पालन करना, बुद्धिका पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजाकी रक्षा करना और समजसपना इस प्रकार पाँच भेदवाला कहा गया है ॥४॥ उनमें-से अपने कुल-म्नायकी रक्षा करना और कुलके योग्य आचरणकी रक्षा करना कुल-पालन कहलाता है ॥५॥ अब क्षत्रियोका कुलाम्नाय कैसा है ? सो सुनिए । आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने क्षत्रपूर्वक ही इस सृष्टिकी रचना की है अर्थात् सबसे पहले क्षत्रियवर्णकी रचना की है ॥६॥ जिन्होंने पहले भवमें अतिशय श्रेष्ठ रत्नत्रयकी आराधना कर तथा तीर्थ कर पद प्राप्त करानेवाली और शुभ फल देनेवाली सोलह- भावनाओका चिन्तन कर स्वर्गलोकके सबसे ऊपर अर्थात् सर्वार्थसिद्धिमें निवास किया था वे ही भगवान् सर्वार्थसिद्धिसे आकर इस भारतवर्षमें अवतीर्ण हुए है ॥७-८॥ जिसमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनी है ऐसे इस भारतवर्षमें सर्वार्थसिद्धिसे अवतार लेकर उन्होंने क्षत्रियोकी सृष्टि प्रवृत्त की है ॥९॥ वह क्षत्रियोकी सृष्टि किस प्रकार प्रवृत्त हुई थी ? इसका समाधान यह है कि आज कर्मभूमि होनेसे प्रजा दो प्रकारकी पायी जाती है । उनमें एक प्रजा तो वह है जिसकी रक्षा करनी चाहिए और दूसरी वह है जो रक्षा करनेमें तत्पर है ॥१०॥ जो प्रजाकी रक्षा करनेमें तत्पर है उसीकी वंशपरम्पराको क्षत्रिय कहते है यद्यपि यह वंश अनादिकालकी सन्ततिसे वीज वृक्षके समान अनादि कालका है तथापि

१ सभामध्ये । २ निविष्टो ल०, म० । ३ क्षत्रियसवन्धि । ४ मिलितान् । ५ सर्व-प०, ल०, म० । ६ भव प० । ७ श्रुत्वा । ८ श्रूयताम् । ९ क्षत्रशब्द । १० क्षेत्रम् । ११ पूर्वस्मिन् । १२ आश्रित । १३ कृतावतारेण ३०, स०, म० । १४ रक्षितुं योग्या ।

विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया । तेषां समुचिताचारः प्रजायै न्यायवृत्तिता ॥१२॥  
 स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यायसमर्जनम् । रक्षणं वर्षनं वात्य पात्रे च विनियोजनम् ॥१३॥  
 सैषा चतुष्टयी वृत्तिन्यायः सन्निरुदीरितः<sup>१</sup> । जैनधर्मानुवृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः ॥१४॥  
 दिव्यमूर्तैरुत्पद्य जिनान्दुःपाद्यजिनाम् । रत्नत्रयं तु<sup>२</sup> तद्योनिर्नृपास्तस्मादयोनिजाः ॥१५॥  
 ततो सहास्रशोऽप्यत्र नृपा लोकोत्तमा मताः । पथिस्थिताः स्वयं धर्मं स्थापयन्तः परानपि ॥१६॥  
 तैस्तु सर्वप्रयत्नेन कार्यं स्वान्वयरक्षणम् । तत्पालनं कथं कार्यमिति वेत्तदन्तः<sup>३</sup> ॥१७॥  
 स्वयं महान्प्रयत्नेन महिम्नि क्षत्रियाः स्थिताः । धर्मस्थिता न शोपादि<sup>४</sup> प्राज्ञैः तैः परलिङ्गिनाम् ॥१८॥  
 तच्छोपादिग्रहे दोषः कक्षेन्माहात्म्यविच्युतिः । अपाया बहुवचसास्मिन्नतरतत्परिवर्जनम् ॥१९॥  
 माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत् कृत्वाऽन्यस्य शिरोनतिम् । ततः<sup>५</sup> शोपाद्युपादाने स्यान्निकृष्टत्वमात्मनः ॥२०॥  
 प्रह्विपद् परपाण्डो विपुष्यपि निक्षिपेत् । यद्यस्य मूर्ध्नि नन्वेवं स्यादुपायो महीपतेः ॥२१॥  
 वशीकरणपुष्पाणि निक्षिपेद्यदि मोहने<sup>६</sup> । ततोऽयं मूढवचस्त्विदमेयादन्यवक्ष्यताम् ॥२२॥  
 तच्छोपाशीर्वाचः<sup>७</sup> शान्तिवचनाद्यन्यलिङ्गिनाम्<sup>८</sup> । पार्थिवैः पश्चित्तन्वं भवेन्न्यक्<sup>९</sup> कुलताऽन्यथा<sup>१०</sup> ॥२३॥

विशेषता इतनी है कि क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे उसकी सृष्टि होती है । तथा प्रजाके लिए न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है ॥११-१२॥ धर्मका उल्लंघन न कर धनका कमाना, रक्षा करना, बढ़ाना और योग्य पात्रमें दान देना ही उन क्षत्रियोंका न्याय कहलाता है ॥१३॥ इस चार प्रकारकी प्रवृत्तिको सज्जन पुरुषोंने क्षत्रियोंका न्याय कहा है तथा जैनधर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना संसारमें सबसे उत्तम न्याय माना गया है ॥१४॥ दिव्य-मूर्तिको धारण करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्पन्न होकर तीर्थं करोको उत्पन्न करनेवाला जो रत्नत्रय है वही क्षत्रियोंकी योनि है अर्थात् क्षत्रिय पदकी प्राप्ति रत्नत्रयके प्रतापसे ही होती है । यही कारण है कि क्षत्रिय लोग अयोनिज अर्थात् बिना योनिके उत्पन्न हुए कहलाते हैं ॥१५॥ इसलिये बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए राजा लोग लोकोत्तम पुरुष माने गये हैं । ये लोग स्वयं धर्ममार्गमें स्थित रहते हैं तथा अन्य लोगोको भी स्थित रखते हैं ॥१६॥ उन क्षत्रियोंको सर्वप्रकारके प्रयत्नोंसे अपने वंशकी रक्षा करनी चाहिए । वह वंशकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए यदि तुम लोग यह जानना चाहते हो तो मैं आगे कहता हूँ ॥१७॥ बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न होनेसे क्षत्रिय लोग स्वयं बड़प्पनमें स्थिर हैं इसलिये उन्हें अन्यमतियोंके धर्ममें श्रद्धा रखकर उनके शोषाहत आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥१८॥ उनके शोषाहत आदिके ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? कदाचित् कोई यह कहे तो उसका उत्तर यह है कि उससे अपने महत्त्वका नाश होता है और अनेक विघ्न या अनिष्ट आते हैं इसलिये उनका परित्याग ही कर देना चाहिए ॥१९॥ अन्य मतावलम्बियोंको शिरोनति करनेसे अपने महत्त्वका नाश हो जाता है इसलिये उनके शोषाहत आदि लेनेसे अपनी निकृष्टता हो सकती है ॥२०॥ सम्भव है द्वेष करनेवाला कोई पाखण्डी राजाके शिरपर विपुष्प रख दे तो इस प्रकार भी उसका नाश हो सकता है ॥२१॥ यह भी हो सकता है कि कोई वशीकरण करनेके लिए इसके शिरपर वशीकरण पुष्प रख दे तो फिर यह राजा पागलके समान आचरण करता हुआ दूसरोंकी वक्ष्यताको प्राप्त हो जावेगा ॥२२॥ इसलिये राजाओंको अन्यमतियोंके शोषाहत, आशीर्वाद और शान्तिवचन

१ भरतक्षेत्रावसपिण्डुत्सर्पणीकाल । २-रुद्राहृतः ब०, ल०, म० । ३ क्षत्रियाणामुत्पत्तिस्थानम् । ४ तस्मात् कारणात् । ५ अनुकथ्यते ।-दन्वच्यते प०, ल०, म० । ६ शोषाहतत्वानोदकादिकम् । ७ अयलिङ्गिनः । ८ शोपादिदातुः सकाशात् । ९ मोहने निमित्तं । १० तत् कारणात् । ११ शान्तिमन्त्रपुण्याहवाचनादि । १२ नीचकुलता । १३ तच्छोपादिस्वीकारप्रकारेण ।

जैनास्तु पार्थिवास्तेषामहंत्वादौपसेविनाम् । तच्छेषानुमतिर्न्यास्या यतः पापक्षयो भवेत् ॥२४॥  
 रत्नत्रितयमूर्तिश्चादादिश्च त्रियवंशजाः । जिनाः सनामयोऽसीषाम् तस्त्वच्छेषधारणम् ॥२५॥  
 यथा हि कुलपुत्राणां माल्यं गुरुक्षिरोद्धृतम् । मान्यमेवं जिनेन्द्राङ्घ्रिस्पर्शान्माह्वादिभूषितम् ॥२६॥  
 कथं मुनिजनादेशं<sup>१</sup> शेषोपादानमित्यपि । नाशङ्क्यं तत्सजातीयैः राजपरमर्षयः ॥२७॥  
 अशत्रियाश्च वृक्षस्था क्षत्रिया एव दीक्षिताः । यतो रत्नत्रयाय च जन्मना तेऽपि तद्गुणाः ॥२८॥  
 ततः स्थितमिदं जैनाममतादन्यमतस्थिताः । क्षत्रियाणां न शेषादिप्रदानेऽधिकृता इति ॥२९॥  
 कुलानुपालने यत्नमतः कुर्वन्तु पार्थिवाः । अन्यथाऽन्यैः प्रतार्यन् पुराणाभासदेशनात् ॥३०॥  
 कुलानुपालनं प्रोक्तं वक्ष्ये मत्पुत्रपालनम् । सतिर्हि चाहितज्ञानमात्रिकासुत्रिकार्थयोः ॥३१॥  
 तत्पालनं कथं स्याच्चेदविद्यापरिचर्जनात् । मिथ्याज्ञानमविद्या स्यादतत्त्वे तत्त्वभावना ॥३२॥  
 आक्षेपज्ञं भवेत्तत्त्वमासौ दोषावृत्ति<sup>२</sup> क्षयात् । तस्मात्तन्मतसमन्वयेन मोक्षमपासितुम् ॥३३॥

आदिका परित्याग कर देना चाहिए अन्यथा उनके कुलमे हीनता हो सकती है ॥२३॥ राजा लोग जैन हैं इसलिए अरहन्तदेवके चरणोकी सेवा करनेवाले उन राजाओको अरहन्तदेवके शेषाक्षत आदि ग्रहण करनेकी अनुमति देना न्याययुक्त ही है क्योंकि उससे उनके पापका क्षय होता है ॥२४॥ रत्नत्रयकी मूर्तिरूप होनेसे आदि क्षत्रिय श्री वृषभदेवके वंशमें उत्पन्न हुए जिनेन्द्रदेव इन राजाओके एक ही गोत्रके भार्ही-बन्धु हैं इसलिए भी इन्हे उनके शेषाक्षत आदि धारण करना चाहिए । भावार्थ—रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे जिस प्रकार अन्य तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते हैं उसी प्रकार ये राजा लोग भी रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते हैं । एक वंशमें उत्पन्न होनेसे ये सब परस्परमे एक गोत्रवाले भार्ही-बन्धु ठहरते हैं इसलिए राजाओको अपने एकगोत्री जिनेन्द्रदेवके शेषाक्षत आदिका ग्रहण करना उचित ही है ॥२५॥ जिस प्रकार कुलपुत्रोको गुरुदेवके शिरपर धारण की हुई माला मान्य होती है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवके चरणोके स्पर्शसे शुशोभित हुई माला आदि भी राजाओको मान्य होनी चाहिए ॥२६॥ कदाचित् कोई यह कहे कि राजाओको मुनियोसे शेषाक्षत आदि किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए तो उनकी यह सिका ठीक नहीं है क्योंकि राजर्षि और परमर्षि दोनों ही सजातीय हैं ॥२७॥ जो क्षत्रिय नहीं हैं वे भी दीक्षा लेकर यदि सम्यक्चारित्र धारण कर लेते हैं तो क्षत्रिय ही हो जाते हैं इसलिए रत्नत्रयके अधीन जन्म होनेसे मुनिराजे भी राजाओके समान क्षत्रिय माने जाते हैं ॥२८॥ उपर्युक्त उल्लेखसे यह बात निश्चित हो चुकी कि जैन मतसे भिन्न मतवाले लोग क्षत्रियोको शेषाक्षत आदि देनेके अधिकारी नहीं हैं ॥२९॥ इसलिए राजा लोगोको अपने कुलकी रक्षा करनेमें सदा यत्न करते रहना चाहिए अन्यथा अन्य मतावलम्बी लोग झूठे पुराणोका उपदेश देकर उन्हें ठग लेंगे ॥३०॥ इस प्रकार क्षत्रियोका कुलानुपालन ( कुलके आम्नायकी रक्षा करना ) नामका पहला धर्म कह चुके अब दूसरा मत्पुत्रपालन ( बुद्धिकी रक्षा करना ) नामका धर्म कहते हैं । इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थोके हित-अहितका ज्ञान होना बुद्धि कहलाती है ॥३१॥ उस बुद्धिका पालन किस प्रकार हो सकता है ? यदि यह जानना चाही तो उसका उत्तर यह है कि अविद्याका नाश करनेसे ही उसका पालन होता है । मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते हैं और अतत्त्वोमें तत्त्वबुद्धि होना मिथ्या ज्ञान कहलाता है ॥३२॥ जो अरहन्तदेवका कहा हुआ हो वही तत्त्व

१ तत् ल०, म० । २ क्षत्रियाणाम् । ३ भूपणम् । ४ क्षत्रियाणाम् । ५ तत्समानजातिप्रथा । ६ मुनयः । ७ जिनगुणा । ८ प्रतिष्ठितम् । ९ वञ्चेरन् । १० आवरण ।



राजविद्यापरिज्ञानादेहिकेऽर्थे दृढा मतिः । धर्मशास्त्रपरिज्ञानान्मतिलोके कदाचित् ॥३३॥  
 क्षत्रियापत्तौ यं सुत्याद्यं येऽभूवन् परमर्षयः । ते महादेवशब्दाभिधेया माहात्म्ययोगतः ॥३४॥  
 आदिक्षत्रियवृत्तस्थाः पार्थिवा ये महान्वयाः । महत्त्वानुगतास्तेऽपि महादेवप्रथां गताः ॥३५॥  
 तद्देवश्च महादेवो महाभिजनं योगतः । महद्भिः परिणीतत्वात् प्रसूतेऽयं महात्मनाम् ॥३६॥  
 इत्येवमास्थिते पक्षे जैनैरन्यसत्ताश्रयी । यदि कश्चित् प्रतिग्रथान्मिथ्यात्वोपहृताश्रयः ॥३७॥  
 त्रयमेव महादेवा जगत्तिस्तारका वयम् । नास्मादासां परोऽस्त्यासो मतं नास्मन्मतात्परम् ॥३८॥  
 इत्यत्र ब्रूमहे नैतत्सारं संसारवारिधेः । यः समुत्तरणोपायः स मार्गो जिनदेवितः ॥३९॥  
 आतोऽहंन्वीतदोषत्वादासम्मन्यास्ततोऽपरे । तेषु बागात्मभाग्यातिशयानामविभावनात् ॥४०॥  
 बागाद्यतिशयोपेतः सार्वः सर्वार्थदर्शिनः । स्यादासः परमेष्ठी च परमात्मा सनातनः ॥४१॥  
 स धारातिशयो ज्ञेयो येनाथं विश्रुत्क्रमात् । वचसैकेन दिव्येन प्रीणयत्यखिलां सत्ताम् ॥४२॥  
 तथाऽऽत्मातिशयोऽप्यस्य दोषावरणसंक्षयात् । अनन्तज्ञानहरवीर्यसुखातिशयसंनिधिः ॥४३॥  
 प्रातिहार्यमयी भूतिरुद्भूतिश्च समाधनेः । गणाश्च द्वादशोत्प्रेयः स्याद्भाग्यातिशयोऽर्हत् ॥४४॥

हो सकता है और अरहन्त भी वही हो सकता है जो जानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय कर्मका क्षय कर चुका हो । इसलिए अपने मनका मल दूर करनेके लिए अरहन्तदेवके मतका अभ्यास करना चाहिए ॥३३॥ राजविद्याका परिज्ञान होनेसे इस लोक सम्बन्धी पदार्थों-मे बुद्धि दृढ़ हो जाती है और धर्मशास्त्रका परिज्ञान होनेसे इस लोक तथा परलोक दोनों लोक सम्बन्धी पदार्थोंमे दृढ़ हो जाती है ॥३४॥ जो क्षत्रिय तीर्थ उत्पन्न कर परमर्षि हो गये हैं वे अपने माहात्म्यके योगसे महादेव कहलाते हैं ॥३५॥ बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए जो राजा लोग आदिक्षत्रिय-भगवान् वृषभदेवके चारित्र्यमे स्थिर रहते हैं वे भी माहात्म्यके योगसे महादेव इस प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥३६॥ ऐसे पुरुषोंकी स्त्रियां भी बड़े पुरुषोंके साथ सम्बन्ध होनेसे, बड़े पुरुषोंके द्वारा विवाहित होनेसे और महापुरुषोंको उत्पन्न करनेसे महादेवियां कहलाती हैं ॥३७॥ इस प्रकार जैनियोंके द्वारा अपना पक्ष स्थिर कर लेनेपर मिथ्यादर्शनसे जिसका हृदय नष्ट हो रहा है ऐसा कोई अन्यमतावलम्बी पुरुष यदि कहे कि हम ही महादेव हैं, ससारसे तारनेवाले भी हम ही हैं, हमारे देवके सिवाय अन्य कोई देव नहीं है और हमारे धर्मके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है ॥३८-३९॥ परन्तु इस विषयमें हम यही कहते हैं कि उसका यह कहना सारपूर्ण नहीं है क्योंकि संसारसमुद्रसे तिरनेका जो उपाय है वह जितेन्द्रदेवका कहा हुआ मार्ग ही है ॥४०॥ रागद्वेष आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण एक अर्हन्तदेव ही आप्त है उनके सिवाय जो अन्य देव हैं वे सब आप्तस्मन्य हैं अर्थात् झूठमूठ ही अपनेको आप्त मानते हैं क्योंकि उनमें वाणी, आत्मा और भाग्यके अतिशयका कुछ भी निश्चय नहीं है ॥४१॥ जितेन्द्र भगवान् वाणी आदिके अतिशयसे सहित है, सबका हित करनेवाले हैं, समस्त पदार्थोंको साक्षात् देखनेवाले हैं, परमेष्ठी, है, परमात्मा है और सनातन है इसलिए वे ही आप्त हो सकते हैं ॥४२॥ भगवान् अरहन्तदेव अपनी जिस एक दिव्य वाणीके द्वारा समस्त सत्ताको सन्तुष्ट करते हैं वही उनकी वाणीका अतिशय जानना चाहिए ॥४३॥ इसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्श-नावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मके अत्यन्त क्षय हो जानेसे जो उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बलकी समीपता प्रकट होती है वही उनके आत्माका अतिशय है ॥४४॥ तथा आठ प्रातिहार्यरूप विभूति प्राप्त होना, समवसरणभूमिकी रचना होना

१ प्रवचनम् । २ नृगमास्तेऽपि प०, अ०, स०, इ०, ल०, म० । ३ महाकुल । ४ विवाहितत्वात् ।

५ प्रतिज्ञाते । ६ अस्माकमाप्तात् । ७ न्याय्यम् । ८ अनिश्चयात् । ९ परमवस्थः ।

वागाद्यतिशयैरभिरन्वितोऽनन्यगोचरैः । भगवाञ्छितार्थोऽर्हन् परमेष्ठी जगद्गुरुः ॥४६॥  
 न च तादन्विधः कश्चित् पुमानस्ति भवान्तरे । ततोऽन्ययोगो व्यावृत्त्या सिद्धमासत्त्वमर्हति ॥४७॥  
 इत्यासाद्युक्तं क्षात्रमिमं धर्ममनुस्मरन् । भवान्तरादनासीयात् स्वान्वयं विनिवर्तयेत् ॥४८॥  
 वृत्तादनात्मनीनाद्धीः स्यादेवमनुरक्षिता । तद्वक्षणञ्च संरक्षेत् क्षत्रियः क्षितिमक्षताम् ॥४९॥  
 उत्कृष्टैर्वायतत्त्वस्य भूयोऽप्याविश्विकीर्षया । निदर्शनानि त्रीण्यत्र वक्ष्यामस्तान्यनुक्रमात् ॥५०॥  
 व्यक्तये पुरुषार्थस्य स्यात् पुरुषनिदर्शनम् । तथा निगलदृष्टान्तः स संसारिनिदर्शनः ॥५१॥  
 ज्ञेयः पुरुषदृष्टान्तो नाम मुक्ततरात्मनो । यश्चिदर्शनभावेन मुक्त्यमुक्त्योः समर्थनम् ॥५२॥  
 संसारीन्द्रियविज्ञानद्वयीत्युक्तचारताः । तन्वावासौ च निर्वेष्टुं यतते सुखलिप्सया ॥५३॥  
 मुक्तस्तु न तथा किन्तु गुणैरुक्तरीतिन्द्रियैः । परं सौख्यं स्वसाद्भूतमनुमुदत्ते निरन्तरम् ॥५४॥  
 तत्रैन्द्रियकविज्ञानः स्वल्पज्ञानसया स्वयम् । परं शास्त्रोपयोगाय श्रयति ज्ञानवित्तकर्म ॥५५॥  
 तथैन्द्रियकवृत्तिः आत्मावर्गभागदर्शनः । अर्थानां विप्रकृष्टानां मवेत् संदर्शनोत्सुकः ॥५६॥  
 तथैन्द्रियविधीष्य सहाय्योपक्षयेऽस्ति तम् । कार्यं घटयितुं बाण्डेत् स्वयं तत्साधनाक्षमः ॥५७॥  
 तत्रैन्द्रियसुखी कामभोगैरत्यन्तमुन्मत्तः । बाण्डेत् सुखं पराधीनमिन्द्रियार्थानुवर्ततः ॥५८॥

और बारह सभाएँ होना यह सब अरहन्तदेवके भाग्यका अतिशय है ॥४५॥ जो किन्हीं दूसरोंमें न पाये जानेवाले इन वाणी आदिके अतिशयोक्ते सहित है तथा कृतकृत्य है ऐसे भगवान् अरहन्त परमेष्ठी ही जगद्गुरु है ॥४६॥ अन्य किसी भी मतमें ऐसा-अरहन्तदेवके समान कोई पुरुष नहीं है इसलिए अन्य योगकी व्यावृत्ति होनेसे अरहन्तदेवमें ही आप्तपना सिद्ध होता है ॥४७॥ इस प्रकार आप्तके द्वारा कहे हुए इस क्षात्रधर्मका स्मरण करते हुए क्षत्रियोकी अनाप्त पुरुषोके द्वारा कहे हुए अन्य मतोंसे अपने वंशको पृथक् करना चाहिए ॥४८॥ इस प्रकार जिनमें आत्माका हित नहीं है ऐसे आचरणसे अपनी बुद्धिकी रक्षा की जा सकती है और बुद्धिकी रक्षासे ही क्षत्रिय अखण्ड पृथिवीकी रक्षा कर सकता है ॥४९॥ ऊपर जो पदार्थका स्वरूप कहा है उसीको फिर भी प्रकट करनेकी इच्छासे यहाँपर क्रमानुसार तीन उदाहरण कहते हैं ॥५०॥ अपना पुरुषार्थ प्रकट करनेके लिए पहला पुरुषका दृष्टान्त है, दूसरा निगल अर्थात् बेड़ीका दृष्टान्त है और तीसरा संसारी जीवोका दृष्टान्त है ॥५१॥ जिस उदाहरणसे भुक्त और कर्मबन्ध सहित जीवोके मोक्ष और बन्ध दोनों अवस्थाओंका समर्थन किया जावे उसे पुरुषका दृष्टान्त अथवा उदाहरण जानना चाहिए ॥५२॥ यह संसारी जीव सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे इन्द्रियोसे उत्पन्न हुए ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख और सुन्दरताको शरीररूपी घरमें ही अनुभव करनेका प्रयत्न करता है ॥५३॥ परन्तु भुक्त जीव ऐसा नहीं करता वह तो ऊपर कहे हुए अतीन्द्रिय गुणोंसे अपने स्वाधीन हुए परम सुखका निरन्तर अनुभव करता रहता है ॥५४॥ इनमेंसे ऐन्द्रियिक ज्ञानवाला संसारी जीव स्वयं अल्पज्ञानी होनेसे शास्त्रोका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ज्ञानका चिन्तन करनेवाले अन्य पुरुषोका आश्रय लेता है ॥५५॥ इसी प्रकार जिसके इन्द्रियोसे देखनेकी शक्ति है ऐसा पुरुष अपने समीपवर्ती कुछ पदार्थोंको ही देख सकता है इसलिए वह दूरवर्ती पदार्थोंको देखनेके लिए सदा उत्कण्ठित होता रहता है ॥५६॥ जिसके इन्द्रियोसे उत्पन्न हुआ वीर्य है वह किसी दृष्ट कार्यको स्वयं करनेमें असमर्थ होकर उसे दूसरेकी सहायताकी अपेक्षासे करना चाहता है ॥५७॥ तथा जिसके इन्द्रियजनित सुख है ऐसा पुरुष काम भोगादिकोसे

१ अत्येषु वागाद्यतिशययोगाभावात् । २ जिते । ३ आप्ताभावप्रोक्तात् । ४ अनात्महितादपसार्यं । ५ देहा-  
 लयी । ६ अनुभवितुम् । ७ इन्द्रियानिन्द्रियज्ञानिनोर्मध्ये । ८-चित्तकम् प० । चित्तकम् ल०, म० । ९ इन्द्रिय-  
 जनितदर्शनशक्तिमान् । १० वस्तुनि द्विधाप्रविभक्ते आसन्नभाषदर्शन । ११ दूरवर्तिनाम् । १२ समुत्कण्ठः ।  
 १३ विषयबाण्ड्या ।

तथैन्द्रियिकसौन्दर्यः स्नानमाल्यानुलेपनैः । विभूषणैश्च सौन्दर्यं संस्कृतमिलन्यति ॥५९॥  
 दोषधातुमलस्थानं देहमैन्द्रियिकं बहन् । पुमान्विष्ण्वान्मैपज्यतद्रक्षास्वाकुलो<sup>२</sup> मवेत् ॥६०॥  
 दोषान्पश्यंश्चात्मादीन् देहातस्तज्जिहासया<sup>३</sup> । प्रेक्षाकारी तपः कर्तुं प्रयस्यति यदा कदा ॥६१॥  
 स्वीकुर्वन्निन्द्रियावासं<sup>४</sup> सुखमायुश्च तद्गतम् । आवासान्तरमन्विच्छेत् प्रेक्षमाणः<sup>५</sup> प्रणवन्म ॥६२॥  
 यस्वतीन्द्रियविज्ञानद्वयी<sup>६</sup> सुखसंततिः । शरीरावाससौन्दर्यैः स्वात्मभूतैरधिष्ठितः ॥६३॥  
 तस्थोक्तदोषसंस्पर्शो<sup>७</sup> मवेन्नैव कदाचन ।<sup>८</sup> तद्दानासस्ततो<sup>९</sup> ज्ञेयः स्वादानासस्वतद्गुणः ॥६४॥  
 स्फुटीकरणमस्यैव<sup>१०</sup> वाक्यार्थस्याधुनोच्यते । यतोऽनाविष्कृतं तत्त्वं तत्त्वतो<sup>११</sup> नावबुध्यते ॥६५॥  
 तद्यथाऽतीन्द्रियज्ञानः शास्त्रार्थ<sup>१२</sup> न परं श्रयेत् । शास्ता स्वयं त्रिकालज्ञः केवलमललोचनः ॥६६॥  
 तथाऽतीन्द्रियद्वयार्थो<sup>१३</sup> स्यादपूर्वार्थदर्शने । तेनादृष्टं न वै किंचिद्युगपद्विद्वद्वचना ॥६७॥  
 क्षायिकानन्तवीर्यं नान्यसाचि<sup>१४</sup> व्यमीक्षते । कृतकृत्यः स्वयं प्रासलोकाग्रशिलालयः ॥६८॥

अत्यन्त उत्कण्ठित होता हुआ इन्द्रियोके विषयोंकी तृष्णासे पराधीन सुखकी इच्छा करता है ॥५८॥ इसी प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाली सुन्दरतासे युक्त पुरुष स्नान, माला, विलेपन और आभूषण आदिसे अपनी सुन्दरताका संस्कार करना चाहता है । भावार्थ—आभूषण आदि धारण कर अपने शरीरकी सुन्दरता बढ़ाना चाहता है—॥५९॥ दोष, धातु और मलके स्थान स्वरूप इस इन्द्रिजनित शरीरको धारण करता हुआ पुरुष भोजन और औषधि आदिके द्वारा उसकी रक्षा करनेमें सदा व्याकुल रहता है ॥६०॥ जन्म मरण आदि अनेक दोषोंकी देखता हुआ और शरीरसे दुःखी हुआ कोई विचारवान् पुरुष जब उसे छोड़नेकी इच्छासे तप करनेका प्रयास करता है तब वह इन्द्रियोंके निवास स्वरूप शरीरको, उससे सम्बन्ध रखनेवाले सुख और आयुको भी स्वीकार करता है और अन्तमें उसे भी नष्ट होता हुआ देखकर दूसरे ऐन्द्रियिक निवासकी इच्छा करता है । भावार्थ—तपश्चरण करनेका इच्छुक पुरुष यद्यपि शरीरको हेय समझकर छोड़ना चाहता है परन्तु साधन समझकर उसे स्वीकार करता है और जबतक दृष्ट-मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक प्रथम शरीरके जर्जर हो जानेपर द्वितीय शरीरकी इच्छा करता रहता है ॥६१—६२॥ परन्तु जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय बल और अतीन्द्रिय सुखकी सन्तान है और जो अपने आत्मस्वरूप शरीर, आवास तथा सुन्दरता आदिसे सहित है उसके ऊपर कहे हुए दोषोंका स्पर्श कभी नहीं होता है, इसलिए जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, वीर्य और सुखकी सन्तान है उसे ही आप्त जानना चाहिए और जिसके उक्त गुण नहीं है उसे अनाप्त समझना चाहिए ॥६३—६४॥ अब आगे इसी वाक्यार्थका स्पष्टीकरण करते हैं क्योंकि जबतक किसी पदार्थका स्पष्टीकरण नहीं हो जाता है तबतक उसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है ॥६५॥ जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान है ऐसा पुरुष किसी दूसरे शास्त्रके अर्थका आश्रय नहीं लेता, किन्तु केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंको धारण करनेवाला और तीनों कालोंके सब पदार्थोंको जाननेवाला वह स्वयं सबको उपदेश देता है ॥६६॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय दर्शन है ऐसा जीव कभी अपूर्व पदार्थके देखनेकी इच्छा नहीं करता क्योंकि जो एक साथ समस्त पदार्थोंको देखता है उसका न देखा हुआ कोई पदार्थ भी तो नहीं है ॥६७॥ जिसके क्षायिक अनन्तवीर्य है वह पुरुष भी किसी अन्य जीवकी सहायता नहीं चाहता किन्तु

१ आहार । २ देहरक्षणम् । ३ उत्पत्त्यादीन् । ४ शरीरपीडित । ५ तत्प्रागेच्छया । ६ समीच्यकारी । ७ प्रयत्न करोति । ८ इन्द्रियसुखहेतुप्रासादिकम् । ९ विचारयन् । १० स्पृशन्म् । ११ अतीन्द्रियविज्ञान-दिमान् । १२ तत् कारणात् । १३ अतीन्द्रियेत्यादिलोकद्वयार्थस्य । १४ निश्चयेन । १५ शास्त्रनिमित्तम् । १६ अन्यसहायत्वम् ।

अतीन्द्रियसुखोऽप्यात्मा स्यान्नोर्गैरुत्सुको न वै । भोग्यवस्तुगता चिन्ता जायते नास्य ज्ञान्तः ॥६६॥  
 प्राप्तातीन्द्रियसौन्दर्यो नेच्छेन्नानादिसंक्रियाम् । स्नातको नित्यशुद्धात्मा बहिरन्तर्मलक्षयात् ॥७०॥  
 अतीन्द्रियात्मदेहश्च नाहारादीनपेक्षते । क्षुब्ध्याधिबिषयशस्त्रादिवाधातीततनुः स वै ॥७१॥  
 भवेच्च न तपःकामो वीतजातिजरामृतिः । नावासान्तरमन्विच्छेद्वात्मवासे च सुस्थितः ॥७२॥  
 स एवमखिलैर्दुर्षुङ्को युक्तोऽखिलैर्गुणैः । परमात्मा परं ज्योतिः परमेष्ठिति गीयते ॥७३॥  
 कामरूपित्वमाप्तस्य लक्षणं चेन्न साम्प्रतम् । सराग<sup>१</sup> कामरूपी स्यादकृतार्थञ्च मोऽज्ञसा ॥७४॥  
 प्रकृतिस्थेन रूपेण प्राप्तुं यो नालमोप्सितम् । स वैकृतेन रूपेण कामरूपी कथं सुखी ॥७५॥

इति पुरुषनिर्दर्शनम् ।

निगलस्थो यथा नेष्टं गन्तुं देशमलंताम् । कर्मबन्धनवद्गोऽपि नेष्टं धाम<sup>२</sup> तथेययात् ॥७६॥  
 यथेह बन्धनान्मुक्तः परं स्वातन्त्र्यमृच्छति । कर्मबन्धनमुक्तोऽपि तथोपाच्छेत्<sup>३</sup> स्वतन्त्रताम् ॥७७॥  
 निगलस्थो विपाशञ्च स एवैकं पुमान्यथा । कर्मवदो विमुक्तश्च स एवात्मा मतस्तथा ॥७८॥

इति निगलनिर्दर्शनम् ।

मुक्तेतरात्मनोऽर्थक्यं द्वयमेतन्निर्दिशितम्<sup>४</sup> । तद्दृढीकरणायेष्टं<sup>५</sup> सत्संसारनिर्दर्शनम् ॥७९॥

वह स्वयं कृतकृत्य होकर लोकके अग्र निखरपर सिद्धालयमें जा पहुँचता है ॥६८॥ इसी प्रकार अतीन्द्रिय मुखको धारण करनेवाला पुरुष भी भोगोसे उत्कण्ठित नहीं होता, क्योंकि उसे भोग करने योग्य वस्तुओंकी चिन्ता ही कभी नहीं होती है ॥६९॥ जिसे अतीन्द्रिय सौन्दर्य प्राप्त हुआ है वह भी कभी स्नान आदि क्रियाओंको इच्छा नहीं करता, क्योंकि बहिरंग और अन्तरंग मलका क्षय हो जानेसे वह स्वयं स्नातक कहलाता है और उसका आत्मा निरन्तर गुद्ध रहता है ॥७०॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय आत्मा ही गरीर है वह आहार आदिकी अपेक्षा नहीं करता क्योंकि उसका आत्मारूप शरीर क्षुधा, व्याधि, विष और गस्त्र आदिकी बाधासे रहित होता है ॥७१॥ जिसके जन्म, जरा और मरण नष्ट हो चुके हैं वह कभी तपकी इच्छा नहीं करता तथा जो आत्मारूपी घरमें सुखसे स्थित रहता है वह कभी दूसरे आवासकी इच्छा नहीं करता ॥७२॥ इस प्रकार जो समस्त दोषोसे रहित है, समस्त गुणोसे सहित है, परमात्मा है और उच्छिष्ट ज्योति स्वरूप है वही परमेष्ठो कहलाता है ॥७३॥ कदाचित् आप यह कहें कि कामरूपित्व अर्थात् इच्छानुसार अनेक अवतार धारण करना आप्तका लक्षण है तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कामरूपी होता है वह अवश्य ही रागसहित तथा अकृतकृत्य होता है ॥७४॥ जो स्वाभाविक रूपसे अपना इष्ट प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं है वह कामरूपी विकृत रूपसे कैसे सुखी हो सकता है ? ॥७५॥ यह पुरुषका उदाहरण कहा, अब निगलका उदाहरण कहते हैं ।

जिस प्रकार निगल अर्थात् बेड़ीमें बँधा हुआ जीव अपने इष्ट स्थानपर जानेके लिए समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार कर्मरूप बन्धनसे बँधा हुआ जीव भी अपने इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकता ॥७६॥ जिस प्रकार इस लोकमें बन्धनसे छूटा हुआ पुरुष परम स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्मबन्धनसे छूटा हुआ पुरुष भी स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ और जिस प्रकार बेड़ीसे बँधा हुआ तथा बेड़ीसे छूटा हुआ पुरुष एक ही माना जाता है उसी प्रकार कर्मोंसे बँधा हुआ तथा कर्मोंसे छूटा हुआ पुरुष भी एक ही माना जाता है ॥७८॥ यह निगलका उदाहरण है, इस प्रकार मुक्त और संसारी आत्माओंको प्रकट करनेके लिए ये दो

१ मुक्तम् । २ स्वभावस्थानम् । ३ अशक्त । ४ विकारनेन । ५ शृङ्खलाबन्धनस्यः । ६ स्थानम् । ७ गच्छेत् । ८ गच्छेत् । ९ - दर्शनम् प०, न०, म० । १० पुरुषार्थवृद्धिकरणाया ।

यत्संसारिणमात्मानमूरीकृत्यान्वतन्त्रताम् ।<sup>१</sup> तस्थोपदेशे मुक्तस्य स्वातन्त्र्योपनिर्द्धानम् ॥८०॥  
 मतः संसारिण्यन्तः सोऽयमासीयदर्शने<sup>२</sup> । मुक्तात्मनां भवेदेवं<sup>३</sup> स्वातन्त्र्यं प्रकटीकृतम् ॥८१॥  
 तद्यथा संसृता वैही न स्वतन्त्रः कथंचन । कर्मबन्धवशीभावाज्जीवत्यन्याश्रितश्च यत् ॥८२॥  
 ततः परप्रधानत्वमस्यैव<sup>४</sup> प्रतिपादितम् । स्याच्चलत्वं च पुंसोऽस्य वेदनासहनादिभिः<sup>५</sup> ॥८३॥  
 वेदनाभ्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यताम् । क्षयवत्त्वं<sup>६</sup> च देवादिभवे<sup>७</sup> लब्धद्विसंक्षयात् ॥८४॥  
 वाध्यत्वं ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य नै । अन्तवच्चास्य<sup>८</sup> विज्ञानमक्षबोधः<sup>९</sup> परिक्षयी<sup>१०</sup> ॥८५॥  
 अन्तवद्दर्शनं चास्य स्याद्विन्द्रियिकदर्शनम् । वीर्यं च तद्विधं तस्य शरीरत्रलमल्पकम् ॥८६॥  
 स्यादस्य<sup>११</sup> सुखमप्येवमप्रायमिन्द्रियगोचरम् । रजस्वलत्वमप्यस्य स्यात्कर्मसौ कलङ्कनम् ॥८७॥  
 भवेत् कर्ममलावेशादत एव मलीमसः । छेद्यत्वं चास्य गात्राणां द्विधाभावेन खण्डनम् ॥८८॥  
 मुद्गराद्यभिघातेन भेद्यत्वं स्याद् विदारणम् । जरावत्त्वं वयोहाणिः प्राणत्यागो, नृतिर्मता ॥८९॥  
 प्रमेयत्वं<sup>१२</sup> परिच्छिन्नदेहमात्रावरुद्धता । गर्भवासोऽर्भकत्वेन जनन्युदरदुःस्थितिः ॥९०॥

उदाहरण कहे, अब उक्त कथनको दृढ करनेके लिए संसारी जीवोका उदाहरण कहना चाहिए ॥७९॥ संसारी जीवोंको लेकर जो उनकी परतन्त्रताका कथन करना है उनकी उसी परतन्त्रता-  
 के उपदेशमे मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रताका उदाहरण हो जाता है । भावार्थ—संसारी जीवोकी परतन्त्रताका वर्णन करनेसे मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रताका वर्णन अपने आप हो जाता है क्योंकि संसारी जीवोंकी परतन्त्रताका अभाव होना ही मुक्त जीवोकी स्वतन्त्रता है ॥८०॥ अरहन्त देवके मतमें संसारीका उदाहरण वही माना गया है कि जिसमें मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रता प्रकट हो सके ॥८१॥ आगे इसी उदाहरणको स्पष्ट करते हैं—संसारमे यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि कर्मबन्धनके बश होनेसे यह जीव अन्यके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥८२॥ यह संसारी जीवकी परतन्त्रता बतलायी, इसी प्रकार सुख-दुःख आदिकी वेदनाओंके सहनेसे इस पुरुषमें चंचलता भी होती है ॥८३॥ सुख-दुःख आदिकी वेदनाओंसे जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे चंचलता समझना चाहिए और देव आदिकी पर्यायमे प्राप्त हुई ऋद्धियोका जो क्षय होता है उससे इस जीवके क्षयपना ( नश्वरता ) जानना चाहिए ॥८४॥ इस जीवको जो ताड़ना तथा अनिष्ट वचनोंकी प्राप्ति होती है वही इसकी बाध्यता है और इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान क्षय होनेवाला है इसलिए वह अन्तसहित है ॥८५॥ इसका दर्शन भी इन्द्रियोसे उत्पन्न होता है इसलिए वह भी अन्तसहित है और इसका वीर्य भी वैसा ही है अर्थात् अन्तसहित है क्योंकि इसके शरीरका बल अत्यन्त अल्प है ॥८६॥ इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाला इसका सुख भी प्रायः ऐसा ही है तथा कर्मोंके अशोसे जो कलंकित हो रहा है वही इसका मेलापन है ॥८७॥ कर्मरूपी मलके सम्बन्धसे मलिन भी है और शरीरके दो-बो टुकड़े होनेसे इसमें छेद्यत्व अर्थात् छिन्न-भिन्न होनेकी शक्ति भी है ॥८८॥ मुद्गर आदिके प्रहारेसे इसका शरीर विदीर्ण हो जाता है इसलिए इसमें भेद्यत्व भी है, जो इसकी अवस्था कम होती जाती है वही इसका बुढ़ापा है, और जो प्राणोका परित्याग होता है वह इसकी मृत्यु है ॥८९॥ यह जो परिमित

१ पराधीनत्वमिति यत् । २ परतन्त्रस्य । ३ सर्वज्ञमते । ४ एवं च सति । ५ यत् कारणात् । ६ संसारिणः । ७ वेदनाभवनानिभि । ८ लक्षणम् इ० । ९ क्षयोऽस्यास्तीति क्षयवान् तस्य भाव क्षयवत्त्वम् । १० देवादिभवे ट० । देवाधित्वे । ११ अन्तोऽस्यास्तीति अन्तवत् । १२ इन्द्रियज्ञानम् । १३ स्वयं परिक्षयित्वादिनि हेतुगमित-विशेषणमेतत् । एवमुत् रोत्तराजि योज्यम् । १४ एवंविधम् । अन्तवदित्यर्थः । १५ धूलिवूनरत्त्वम् । १६ प्रमातुं योग्यत्वम् । १७ परिमित ।

अथवा कर्मनो कर्मगर्भेऽस्य परिवर्तनम् । गर्भवासो विलीनत्वं स्याद् देहान्तरसंक्रमः ॥९१॥  
 क्षुभितत्वं च संक्षोभः क्रोधाद्यादिचेतसः । भवेद् विविधयोगोऽस्य नानायोगिण्यु संक्रमः ॥९२॥  
 संसारावास एवोऽस्य चतुर्गतिविवर्तनम् । प्रतिजन्मान्यथाभावो ज्ञानादीनामसिद्धता ॥९३॥  
 सुखासुखं बलाहारौ देहावासी च देहिनाम् । विवर्तन्ते तथा ज्ञानं दृक्शक्तीं च रजोऽप्यहम् ॥९४॥  
 पुनर्प्रायास्तु ये आवाः संसारिणु विनश्वराः । मुक्तात्मनां न सन्त्येते भावास्तेषां ह्यनश्वराः ॥९५॥  
 मुक्तात्मनां भवेद् भावः स्वप्रधानत्वमग्रिमम् । प्रतिलब्धात्मलामत्वात् परद्रव्यानपेक्षणम् ॥९६॥  
 वेदमाभिमवाभावादुचलत्वं गभीरता । स्यादक्षयत्वमक्षय्यं क्षायिकातिशयोदयः ॥९७॥  
 अव्याबाधत्वमस्येष्टं जीवाजीवैर्बाध्यता । भवेदनन्तज्ञानत्वं विज्ञेयार्थक्रिमवोधनम् ॥९८॥  
 अनन्तदर्शनत्वं च विश्वतत्त्वा क्रमेक्षणम् । योज्यैरप्रतिघातोऽस्य सा मतानन्तवीर्यता ॥९९॥  
 भोग्येष्ट्यर्थेऽनौत्सुक्यमनन्तसुखता मता । नीरजस्वं भवेदस्थ व्यपायः पुण्यपापयोः ॥१००॥  
 निर्मलत्वं तु तस्येष्टं बहिरन्तर्मलच्युतिः । स्वभावविमलोऽनादिसिद्धो वास्तीह कश्चन ॥१०१॥  
 योऽस्य जीवधनाकारपरिणामो मलक्षयात् । तदच्छेद्यत्वाम्नातममेद्यत्वं च तत्कृतम् ॥१०२॥  
 अक्षरत्वं च मुक्तस्य क्षरणाभावतो मतम् । अप्रमेयत्वमालोच्यैर्गुणैरुद्धरेमेयता ॥१०३॥

शरीरमे वका रहता है वह इसका प्रमेयपना है और जो वालक होकर माताके पेटमें दु खसे रहता है वह इसका गर्भवास है ॥९०॥ अथवा कर्म नो कर्मरूपी गर्भमें जो इसका परिवर्तन होता रहता है इसका गर्भवास है और एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जो संक्रमण करना है वह विलीनता है ॥९१॥ क्रोध आदिसे आक्रान्त चित्तमें जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह इसका क्षुभितपना है, और नाना योगिनियोंमें परिभ्रमण करना इसका विविध योग कहलाता है ॥९२॥ चारों गतियोंमें परिवर्तन करते रहना इस जीवका संसारावास कहलाता है और प्रत्येक जन्ममें ज्ञानादि गुणोंका अन्य-अन्य रूप होते रहना असिद्धता कहलाती है ॥९३॥ कर्मरूपी रजसे युक्त रहनेवाले इन संसारी जीवोंके जिस प्रकार सुख-दुःख, बल, अंहार, शरीर और घर बदलते रहते हैं उसी प्रकार उनके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य भी बदलते रहते हैं ॥९४॥ इस प्रकार संसारी जीवोंके जो विनश्वरभाव है वे मुक्त जीवोंके नहीं हैं, उनके सब भाव अविनश्वर हैं ॥९५॥ मुक्त जीवोंके उन भावोंमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे परद्रव्यकी अपेक्षासे रहित जो सर्वश्रेष्ठ स्वतन्त्रपना है वही पहला भाव है ॥९६॥ सुख दुःख आदिकी वेदनासे होनेवाले परभावका अभाव होनेसे जो अर्चचलता होती है वही उनकी गम्भीरता है और कर्मोंके क्षयसे जो अति-शयोकी प्राप्ति होती है वही उनका अविनाशी अक्षयपना है ॥९७॥ किसी भी जीव अथवा अजीवसे इन्हे बाधा नहीं पहुँचती यही इनका अव्याबाधपना है और संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानते हैं यही इनका अनन्तज्ञानीपन है ॥९८॥ समस्त तत्वोंको एक साथ देखना ही इनका अनन्तदर्शनपन है और अन्य पदार्थोंके द्वारा प्रतिघातका न होना अनन्तवीर्यपना है ॥९९॥ भोग करने योग्य पदार्थोंमें उत्कण्ठा न होना अनन्तसुखपना माना जाता है और पुण्य तथा पापका अभाव हो जाना नीरजसपन कहलाता है ॥१००॥ बहिरंग और अन्तरंग भलका नाश होना ही इसका निर्मलपना कहलाता है क्योंकि इस संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो स्वभावसे ही निर्मल हो और अनादि कालसे सिद्ध हो ॥१०१॥ कर्मरूपी मलके नाश होनेसे जो जीवके प्रदेशोका घनाकार परिणमन होता है वही इसका अच्छेद्यपना है और उसी कर्मरूपी मलके नाश होनेसे इसके असेद्यपना माना जाता है ॥१०२॥ मुक्त जीवका

१ दृक् च शक्तित्वं दृक्शक्ती । २ कर्मफलभावात् । ३ एवमादयः । ४ स्वभावः । ५ चेतनाचेतन । ६ युगपत् । ७ परिणमनम् ।

वहिरन्तर्मलापायादुगर्मवसर्तिर्मता । कर्मनोकर्मविश्लेषात् स्यादगौरवलाघवम् ॥ १०४ ॥  
 तादवस्थ<sup>२</sup> गुणैरुद्दे<sup>३</sup> रक्षोभ्यत्वमतो भवेत् । अविलीनत्वमात्मीयैर्गुणैरप्यवष्टुता<sup>४</sup> ॥ १०५ ॥  
 प्राग्देहाकारमूर्तित्वं यदस्याहेयमक्षरम् । साऽमीष्टा परमा काष्ठा योगरूपत्वमात्मनः ॥ १०६ ॥  
 लोकाप्रवासखैलोक्यशिखरे शाश्वती स्थितिः । अक्षोषपुरुषार्थानां निष्ठा<sup>५</sup> परमसिद्धता ॥ १०७ ॥  
 यः समग्रैर्गुणैर्मिर्ज्ञानादिमिरलंकृत । किं तस्य कृतकृत्यस्य परद्रव्योपसर्पणैः ॥ १०८ ॥  
 एष संसारिदृष्टान्तो व्यतिरेकेण<sup>६</sup> साधयेत् । परमात्मानमात्मानं प्रभुमप्रतिशासनम् ॥ १०९ ॥  
 त्रिभिर्निर्दशनैर्मिराविष्कृतमहोदयः । स आसस्तन्मते धीरैराधेया मतिरात्मनः ॥ ११० ॥  
 एवं हि क्षत्रियश्रेष्ठो भवेद् दृष्टपरम्परः । मतान्तरेषु दौःस्थित्यं नावयन्नपत्तिभिः ॥ १११ ॥  
 दिगन्तरेभ्यो व्यावर्त्य प्रबुद्धां मतिमात्मनः । सन्मार्गे<sup>७</sup> स्थापयन्नेवं कुर्यान्मत्यनुपालनम् ॥ ११२ ॥  
 आत्रिकामुत्रिकापायात् परिरक्षणमात्मनः । आत्मानुपालनं नाम तदिदानीं विद्युष्महं ॥ ११३ ॥  
 आत्रिकापायसंरक्षा सुप्रतीतैव धीमताम् । विषशाखाद्यपायानां परिरक्षणलक्षणा ॥ ११४ ॥

कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता इसलिए इसमें अक्षरता अर्थात् अविनाशीपन है और आत्मासे उत्पन्न हुए श्रेष्ठ युगोसे इसका प्रमाण नहीं किया जा सकता इसलिए इसमें अप्रमेय-पना है ॥ १०३ ॥ वहिरग और अन्तरग मलका नाश हो जानेसे इसका गर्भावास नहीं माना जाता है और कर्म तथा नोकर्मका नाश हो जानेसे इसमें गुप्ता और लघुता भी नहीं होती है ॥ १०४ ॥ यह आत्मासे उत्पन्न हुए प्रशसनीय गुणोसे अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है इसलिए इसमें अक्षोभ्यपना है और आत्माके गुणोसे कभी रहित नहीं होता इसलिए अविलीनपना है ॥ १०५ ॥ जो कभी न छूटने योग्य और कभी न नष्ट होने योग्य पहलेके शरीरके आकार इसकी मूर्ति रहती है वही इसकी परम हृद् है और वही इसकी योगरूपता है ॥ १०६ ॥ तीनों लोकोंके शिखरपर जो इसकी सदा रहनेवाली स्थिति है वही इसका लोकाप्रवास गुण है और जो समस्त पुरुषार्थोंकी पूर्णता है वही इसकी परमसिद्धता है ॥ १०७ ॥ इस प्रकार जो इन ज्ञान आदि समस्त गुणोसे अलंकृत है उस कृतकृत्य हुए मुक्त, जीवको अन्य द्रव्योंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १०८ ॥ यह संसारी जीवका दृष्टान्त व्यतिरेक रूपसे आत्माको, जिसपर किसीका शासन नहीं है और जो प्रभुरूप है ऐसा परमात्मा सिद्ध करता है । भावार्थ—इस संसारी जीवके उदाहरणसे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा ही परमात्मा हो जाता है ॥ १०९ ॥ इस प्रकार इन तीन उदाहरणोसे जिसका महोदय प्रकट हो रहा है वही आप्त है, उसी आप्तके मतमें धीर-वीर पुरुषोंको अपनी बुद्धि लगानी चाहिए ॥ ११० ॥ इस तरह जिसने सब परम्परा देख ली है, और जो अन्य मतोंमें युक्तियोंसे दुष्टताका चिन्तन करता है वही सब क्षत्रियोमें श्रेष्ठ कहलाता है ॥ १११ ॥ क्षत्रियोको चाहिए कि वह अपनी जागृत बुद्धिको अन्य दिशाओं अर्थात् मतोंसे हटाकर समीचीन मार्गमें लगाता हुआ उसकी रक्षा करे ॥ ११२ ॥ इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायोंसे आत्माकी रक्षा करना आत्माका पालन करना कहलाता है । अब आगे इसी आत्माके पालनका वर्णन करते हैं ॥ ११३ ॥ विष शस्त्र आदि अपायोंसे अपनी रक्षा करना ही जिसका लक्षण है ऐसी इस लोकसम्बन्धी अपायोंसे

१ अगुरुलघुत्वम् । २ स्वरूपावस्थानम् । ३ न केवलं देहादिभिः । ज्ञानादिगुणैरपि । ४ अत्यक्तता । —रप्यप-  
 वृत्ता । 'अपवृत्ता' इति पाठे अपवर्तनत्वं गुणगुणीभावराहित्यम् । ५ निष्पत्तिः । परिसमाप्तिरित्यर्थः ।  
 ६ व्यतिरेकिदृष्टान्तेन । ७ एवं कृते सति । ८—नैव इ०, ल०, म० ।

तत आमुत्रिकापायरक्षाविचिरनृयते । तद्रक्षणं च धर्मेण धर्मो ह्यापव्यतिक्रिया ॥११५॥  
 धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो धर्मोऽमीष्टफलप्रदः । धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दधुः ॥११६॥  
 तस्माद्धर्मैकतानः सन् कुषदिप्यव्यतिक्रियाम् । एवं हि रक्षितोऽपायाद् भवेदात्मा भवान्तरे ॥११७॥  
 बह्वायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम् । यत्र पुत्राः ससोदर्या वैराग्यन्ते<sup>१</sup> निरन्तरम् ॥११८॥  
 अपि चात्र मनःखेदबहुले का सुरासिका<sup>२</sup> । मनसो निर्द्विंति सौख्यमुशन्तीह विचक्षणाः ॥११९॥  
 राज्ये न सुखलेशोऽपि दुरन्ते दुरितावहे । सर्वतः शङ्कमानस्य प्रत्युत्तानासुखं महत् ॥१२०॥  
 ततो राज्यमिदं हेयमपथ्यमिव मेपजम् । उपादेयं तु विद्वद्भिस्तपः पथ्यमिवाशनम् ॥१२१॥  
 इति प्रागेव निर्विद्यं राज्ये भोगं त्यजेत् सुधीः । तथा त्यक्तुमशक्तोऽन्ते त्यजेद् राज्यपरिच्छदम् ॥१२२॥  
 कालज्ञानिभिरादिष्टे निर्णोति स्वयमेव वा । जीवितान्ते तनुत्यागमतिं दध्यादतः सुधीः ॥१२३॥  
 त्यागो हि परमो धर्मस्त्वाग एव परं तपः । त्यागादिह यशोलाभः परब्राम्हण्युदयो महान् ॥१२४॥  
 मत्वेति तनुमाहारं राज्यं च सपरिच्छदम् । त्यजेदाद्यतनै<sup>३</sup> पुण्ये<sup>४</sup> पूजाविधिपुरस्सरम् ॥१२५॥

होनेवाली रक्षा तो विद्वान् पुरुषोको विदित ही है । ॥११४॥ इसलिए अब परलोक सम्बन्धी अपायोंसे होनेवाली रक्षाकी विधि कहते हैं । परलोक सम्बन्धी अपायोंसे रक्षा धर्मके द्वारा ही हो सकती है क्योंकि धर्म ही समस्त आपत्तियोंका प्रतिकार है—उनसे बचनेका उपाय है ॥११५॥ धर्म ही अपायोंसे रक्षा करता है, धर्म ही मनचाहा फल देनेवाला है, धर्म ही परलोक-मे कल्याण करनेवाला है और धर्मसे ही इस लोकमें आनन्द प्राप्त होता है ॥११६॥ इसलिए धर्ममें एकचित्त होकर भविष्यत् कालमें आनेवाली विपत्तियोंका प्रतिकार करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे ही आत्माकी दूसरे भवमें विपत्तिसे रक्षा हो सकती है ॥११७॥ जिस राज्यके लिए पुत्र तथा सगे भाई आदि भी निरन्तर शत्रुता किया करते हैं और जिसमें बहुत अपाय है ऐसा यह राज्य बुद्धिमान् पुरुषोको अवश्य ही छोड़ देना चाहिए ॥११८॥ एक बात यह भी है कि जिसमें मानसिक खेदकी बहुलता है ऐसे इस राज्यमें सुखपूर्वक कैसे रहा जा सकता है क्योंकि इस ससारमें पण्डितजन मनुकी निराकुलताको ही सुख कहते हैं ॥११९॥ जिसका अन्त अच्छा नहीं है और जिसमें निरन्तर पाप उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे इस राज्यमें सुखका लेश भी नहीं है बल्कि सब ओरसे शक्ति रहनेवाले पुरुषको इस राज्यमें बड़ा भारी दुःख बना रहता है ॥१२०॥ इसलिए विद्वान् पुरुषोको अपथ्य औषधिके समान इस राज्यका त्याग कर देना चाहिए और पथ्य भोजनके समान तप ग्रहण करना चाहिए ॥१२१॥ इस तरह बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वह राज्यके विषयमें पहलेसे ही विरक्त होकर भोगोपभोगका त्याग कर दे, यदि वह इस प्रकार त्याग करनेके लिए समर्थ न हो तो कमसे कम अन्त समय उसे राज्यके आडम्बरका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए ॥१२२॥ इसलिए यदि कालको जाननेवाला निमित्तज्ञानी अपने जीवनका अन्त समय बतला दे अथवा अपने आप ही उसका निर्णय हो जावे तो बुद्धिमान् क्षत्रियको चाहिए कि वह उस समयसे शरीर परित्यागकी बुद्धि धारण करे अर्थात् सल्लेखना धारण करनेमें बुद्धि लगावे ॥१२३॥ क्योंकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्यागसे ही इस लोकमें कीर्तिकी प्राप्ति होती है और त्यागसे ही परलोकमें महान् ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१२४॥ ऐसा मानकर क्षत्रियको किसी पवित्र स्थानमें रहकर पूजा आदिकी विधि करके शरीर आहार और चमर छत्र आदि उपकरणोंसे सहित राज्यका परित्याग कर देना

१ अत अ०, स०, म०, ल० । २ एकोदरे जाता । ३ वैर कुर्वन्ति । ४ सुखास्यता । ५ पुन किमिति चेत् । ६ वैराग्यपरो भूत्वा । ७ आवासे । ८ पवित्रे ।



गुरुसाक्षि तथा त्यक्तदेहाहारस्य तस्य वै । परीषहजयायचा सिद्धिरिष्टा महात्मनः ॥१२६॥  
 ततो ध्यायेदनुप्रेक्षाः कृत्वा जेतुं परीषहान् । विनाऽनुप्रेक्षणैश्चित्तसमाधानं हि दुर्लभम् ॥१२७॥  
 प्राणमावितमेवाहं भावयामि न भावितम् । भावयामीति भावेन भावयेत्तत्त्वभावनाम् ॥१२८॥  
 समुत्सृजेदनात्मीयं शरीरादिपरिग्रहम् । आत्मीयं तु स्वसात्कृत्याद् रत्नत्रयमनुत्तरम् ॥१२९॥  
 मनोव्याक्षेपरक्षाय<sup>३</sup> व्यायचित्ति स धीरधीः । प्राणान् विसर्जयेदन्ते संस्मरन् परमेष्ठिनाम् ॥१३०॥  
 तथा विसर्जितप्राणः प्रणिधानपरायणः । शिथिलिकृत्य कर्माणि शुभां गतिमयाप्नुते ॥१३१॥  
 तस्मिन्नेव भवे शक्तः कृत्वा कर्मपरिक्षयम् । सिद्धिमाप्नोत्यक्षकस्तु त्रिदिवाग्रमवाप्नुयात् ॥१३२॥  
 ततश्च्युतः परिप्राप्तमानुष्यः परमं तपः । कृत्वान्ते निर्द्वैतिं याति निर्द्वैताखिलवन्धनः ॥१३३॥  
 क्षत्रियो यस्त्वनात्मज्ञः कुर्यात्त्रायानुपालनम् । विषदास्त्रादिमिस्तस्य दुष्टं तिष्ठुर्वसाविनी ॥१३४॥  
 दुर्धृतश्च दुरन्तेऽस्मिन् भवावर्तं दुरुचरे । पतित्वाऽमुत्र दुःखानां दुर्गती भाजनं भवेत् ॥१३५॥  
 ततो मतिमताऽऽत्मीयविनिपातानुरक्षणे । विधेयोऽस्मिन् महायत्नो लोकद्वयहितावहे ॥१३६॥  
 कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने । राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञां मौलो ह्ययं गुणः ॥१३७॥

चाहिए ॥१२५॥ इस प्रकार जिसने गुरुकी साक्षीपूर्वक शरीर और आहारका त्याग कर दिया है ऐसे महात्मा पुरुषको इष्टसिद्धि परीषहोंके विजय करनेके अधीन होता है अर्थात् जो परीषह सहन करता है उसीके इष्टकी सिद्धि होती है ॥१२६॥ इसलिए निपुण पुरुषको परीषह जीतनेके लिए अनुप्रेक्षाओका चिन्तन करना चाहिए क्योंकि अनुप्रेक्षाओंके चिन्तन किये बिना चित्तका समाधान कठिन है ॥१२७॥ जिसका पहले कमी चिन्तन नहीं किया था ऐसे सम्यक्त्व आदिका चिन्तन करता हूँ और जिसका पहले चिन्तन किया था ऐसे मिथ्यात्व आदि-का चिन्तन नहीं करता इस प्रकारके भावोंसे तत्त्वोंकी भावनाओका चिन्तन करना चाहिए ॥१२८॥ जो आत्माके नहीं है ऐसे शरीर आदि परिग्रहका त्याग कर देना चाहिए और जो आत्मा-के है ऐसे सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रयका ग्रहण करना चाहिए ॥१२९॥ धीर वीर बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषको मनकी चंचलता नष्ट करनेके लिए इस प्रकार ध्यान करते हुए और पंचपरमेष्ठियोंका स्मरण करते हुए आयुके अन्तमें प्राणत्याग करना चाहिए ॥१३०॥ जो पुत्र ध्यानमें तत्पर रहकर ऊपर लिखे अनुसार प्राणत्याग करता है वह कर्मोंको शिथिल कर शुभ गतिको प्राप्त होता है ॥१३१॥ जो समर्थ है वह उसी भवमें कर्मोंका क्षय कर मोक्षको प्राप्त होता है और जो असमर्थ है वह स्वर्गके अग्रभाग अर्थात् सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है ॥१३२॥ वह वहाँसे च्युत हो मनुष्यपर्याय प्राप्त कर और परम तपश्चरण कर आयुके अन्तमें समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ निर्वाणको प्राप्त होता है ॥१३३॥ आत्माका स्वरूप न जाननेवाला जो क्षत्रिय अपने आत्माकी रक्षा नहीं करता है उसकी विष, शस्त्र आदिसे अवश्य ही अपमृत्यु होती है ॥१३४॥ और अपमृत्युसे मरा हुआ प्राणी दुःखदायी तथा कठिनाईसे पार होने योग्य इस संसाररूप आवर्तमें पड़कर परलोकमें दुर्गतिर्योके दुःखका पात्र होता है ॥१३५॥ इसलिए बुद्धि-मान् क्षत्रियोंको दोनों लोकोंमें हित करनेवाले, आत्माके इस विघ्नबाधाओंसे रक्षा करनेमें महा-प्रयत्न करना चाहिए ॥१३६॥ इस प्रकार जिसने आत्माकी रक्षाकी है ऐसे राजाको प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि यह राजाओका मौलिक गुण है ॥१३७॥

१ सम्यक्त्वादिकम् । २ मिथ्यात्वादिकम् । ३ मानसवाधाया नाशार्थम् । ४ एकाग्रतां गत । ५-मुपाप्नुते  
 अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ६ प्रजापालनयत्नः ।

कथं च पालनीयास्ताः प्रजाश्चेत्तत्प्रपञ्चतः<sup>१</sup> । पुष्टं गोपालदृष्टान्तं मूरीकृत्य विवृणमहे ॥१३८॥  
 गोपालको यथा यत्नाद् गाः संरक्षत्यतन्द्रितः<sup>२</sup> । क्षमापालश्च प्रथत्नेन तथा रक्षेज्जिज्ञाः प्रजाः ॥१३९॥  
 तद्यथा यदि गौः कश्चिदपराधी स्वगोकुले । तमद्गच्छेदनायुग्रदण्डेस्तीव्रमयोजयन्<sup>३</sup> ॥१४०॥  
 पालयेदनु रूपेण दण्डेनैव नियन्त्रयन्<sup>४</sup> । यथा गोपस्तथा भूपः प्रजाः स्वाः प्रतिपालयेत्<sup>५</sup> ॥१४१॥  
 तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिस्तीव्रमुद्ग्रेजयेज्जिज्ञाः । ततो विरक्तप्रकृतिं जहुरेनमः प्रजाः ॥१४२॥  
 यथा गोपालको मौलं पशुवर्गं स्वगोकुले । पोषयन्नेव पुष्टः स्याद् गोपोषं<sup>६</sup> प्राज्यगोधनः<sup>७</sup> ॥१४३॥  
 तथैव नृपतिमौलं<sup>८</sup> तन्त्रमात्मीयसेकतः<sup>९</sup> । पोषयन्पुष्टिमाप्नोति स्वे परस्मिन्श्च मण्डले ॥१४४॥  
 पुष्टो मौलेन तन्त्रेण यो हि पार्थिवकुञ्जरः । स जयेत् पृथिवीमेनां सागरान्तामयत्नतः ॥१४५॥  
 प्रमत्तचरणं किञ्चिद् गोद्वज्यं<sup>१०</sup> नेत् प्रमादतः । गोपालस्तस्य सघनं कुर्याद् बन्धाद्युपक्रमैः ॥१४६॥  
 बद्धाय च तृणाद्यस्मै इत्या दाढ्यं नियोजयेत् । उपद्रवान्तरेऽप्येवमाहु कुप्यति प्रतिक्रियाम् ॥१४७॥  
 यथा तथा नरेन्द्रोऽपि स्वबले अणितं भटम् । प्रतिकुर्वद्<sup>११</sup> निपगवर्गान्नियोज्यौषधर्मपदा ॥१४८॥  
 दृढीकृतस्य चात्प्योद्<sup>१२</sup> जीवनादि<sup>१३</sup> प्रविन्त्येत<sup>१४</sup> । सत्त्वं मृत्यवर्गोऽस्य शयदाप्नोति नन्दयुग्मं<sup>१५</sup> ॥१४९॥

उस प्रजाका किस प्रकार पालन करना चाहिए यदि आप यह जानना चाहते हैं तो हम ग्वालिये-  
 का सुदृढ़ उदाहरण लेकर विस्तारके साथ उसका वर्णन करते हैं ॥१३८॥ जिस प्रकार ग्वालिया  
 आलस्यरहित होकर बड़े प्रयत्नसे अपनी गायोंकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको बड़े  
 प्रयत्नसे अपनी प्रजाकी रक्षा करना चाहिए ॥१३९॥ आगे इसीका खुलासा करते हैं—यदि  
 अपनी गायोके समूहमें कोई गाय अपराध करती है तो वह ग्वालिया उसे अंगछेदन आदि कठोर  
 दण्ड नहीं देता हुआ अनुरूप दण्डसे नियन्त्रण कर जिस प्रकार उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार  
 राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिए ॥१४०—१४१॥ यह निश्चय है कि कठोर  
 दण्ड देनेवाला राजा अपनी प्रजाको अधिक उद्धिग्न कर देता है इसलिए प्रजा ऐसे राजाको  
 छोड़ देती है तथा मन्त्री आदि प्रकृतिजन भी ऐसे राजासे विरक्त हो जाते हैं ॥१४२॥ जिस  
 प्रकार ग्वालिया अपनी गायोके समूहमें मुख्य पशुओके समूहकी रक्षा करता हुआ पुष्ट अर्थात्  
 सम्पत्तिशाली होता है क्योंकि गायोकी रक्षा करके ही यह मनुष्य विशाल गोधनका स्वामी  
 हो सकता है, उसी प्रकार राजा भी अपने मुख्य वर्गकी मुख्य रूपसे रक्षा करता हुआ अपने और  
 दूसरेके राज्यमें पुष्टिको प्राप्त होता है ॥१४३—१४४॥ जो श्रेष्ठ राजा अपने-अपने मुख्य बलसे  
 पुष्ट होता है वह इस समुद्रान्त पृथिवीको बिना किसी यत्नके जीत लेता है ॥१४५॥ यदि  
 कदाचित् प्रमादसे किसी गायका पैर टूट जाय तो ग्वालिया उसे बाँधना आदि उपायोसे उस  
 पैरको जोड़ता है, गायको बाँधकर रखता है—बैँधी हुई गायके लिए घास देता है और उसके पैर-  
 को मजबूत करनेमें प्रयत्न करता है तथा इसी प्रकार उन पशुओपर अन्य उपद्रवोके आनेपर  
 भी वह शीघ्र ही उनका प्रतिकार करता है ॥१४६—१४७॥ जिस प्रकार अपने आश्रित गायों-  
 की रक्षा करनेके लिए ग्वालिया प्रयत्न करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह अपनी  
 सेनामें घायल हुए योद्धाको उत्तम वैद्यसे औषधिरूप सम्पदा दिलाकर उसकी विपत्तिका प्रतिकार  
 करे अर्थात् उसकी रक्षा करे ॥१४८॥ और वह वीर जब अच्छा हो जावे तो राजाको उसकी  
 उत्तम आजीविका कर देनेका विचार करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे भृत्यवर्ग सदा

१ प्रपञ्चनम् ल०, म० । प्रपञ्चते अ०, स० । २ समूहम् । ३ स्वीकृत्य । ४ अनालस्य । ५ दोगी ।  
 ६ सयोजनमकुर्वन् । ७ नियमयन् । ८ उद्वेगं कुप्यति । ९ त्यक्तानुरागप्रजापरिवारवन्तम् । १० गा पोषयन्तीति  
 गोपोपस्तम् । ११ बहुगोत्रम् । १२ बलम् । १३ एकस्मिन् स्थाने । १४ गोधनम् । १५ प्रतिकारं कुप्यति ।  
 १६ वैद्यश्रेष्ठत् । १७ अधिकम् । १८ जीवितादिकम् । १९ आनन्दम् ।

यथैव खलु गोपालो संध्यस्थिचलने गवास् । तदस्थि स्थापयन् प्राग्वत् कुर्याद्योग्यां प्रतिक्रियाम् ॥१५०॥  
 तथा नृपोऽपि संप्रामे श्रुत्यमुख्ये व्यसौ<sup>१</sup> सति । तत्पदे पुत्रमेवास्य आचरं वा नियोजयेत् ॥१५१॥  
 सति चैवं कृतज्ञोऽयं नृप इत्यनुरक्तताम् । उपैति श्रुत्यचर्गोऽस्मिन्<sup>२</sup> भवेच्च भुवयोधनः<sup>३</sup> ॥१५२॥  
 यथा खल्वपि गोपालः कृमिदृष्टे गवाङ्गणे । तद्योग्यमौषधं दत्वा करोत्यस्य प्रतिक्रियाम् ॥१५३॥  
 तथैव पृथिवीपालो दुर्विधं<sup>४</sup> स्वानुजीविनम् । विमनस्कं विदित्वैनं सौचित्यै<sup>५</sup> संनियोजयेत् ॥१५४॥  
 विरक्तो ह्यानुजीवी स्यादलब्धोचितजीवनः<sup>६</sup> । प्रभोर्विमानं<sup>७</sup> नाचैवं तस्मान्नैनं विरुक्षयेत्<sup>८</sup> ॥१५५॥  
 तदौगल्यं<sup>९</sup> ब्रणस्थानकृमिसंभवसज्जिमम् । विदित्वा तत्पतीकारमाशु कुर्याद्विज्ञां पतिः ॥१५६॥  
 बहुनापि न दत्तेन सौचित्यमनुजीविनाम् । उचितात् स्वामिसन्मानाद् यथैषां जायते धृतिः ॥१५७॥  
 गोपालको यथा यूथे स्वे महोक्षं<sup>१०</sup> मरक्षमम् । ज्ञात्वास्य नरयकर्मादि विदध्याद् बात्रपुष्टये ॥१५८॥  
 तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वे योद्धारं<sup>११</sup> मत्सत्तमम् । ज्ञात्वाैनं जीवनं प्राप्यं दत्त्वा संमानयेत् कृती ॥१५९॥  
 कृतापदानं<sup>१२</sup> तद्योग्यैः सत्कारैः प्रीणयन् प्रभुः । न मुच्यतेऽनुरक्तैः स्वैरनुजीविमिरन्वहम् ॥१६०॥  
 यथा च गोपी गोयूथं कण्टकोपलवर्जिते । शीतातपादिबाषाभिरुज्जिते चारयन्<sup>१३</sup> वने ॥१६१॥

आनन्दको प्राप्त होते रहते हैं-सन्तुष्ट बने रहते हैं ॥१४९॥ जिस प्रकार ग्वालिया सन्धिस्थानसे गायोंकी हड्डीके विचलित हो जानेपर उस हड्डीको वहीं पैठालता हुआ उसका योग्य प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी युद्धमे किसी मुख्य भृत्यके मर जानेपर उसके पदपर उसके पुत्र अथवा भाईको नियुक्त करना चाहिए ॥१५०-१५१॥ ऐसा करनेसे भृत्य लोग 'यह राजा बड़ा कृतज्ञ है' ऐसा मानकर उसपर अनुराग करने लगेंगे और अवसर पड़नेपर निरन्तर युद्ध करनेवाले बन जायेंगे ॥१५२॥ कदाचित् गायोंके समूहको कोई कीड़ा काट लेता है तो जिस प्रकार ग्वालिया योग्य औषधि देकर उसका प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह अपने सेवकको दरिद्र अथवा खेदखिन्न जानकर उसके चित्तको सन्तुष्ट करे ॥१५३-१५४॥ क्योंकि जिस सेवकको उचित आजीविका प्राप्त नहीं है वह अपने स्वामीके इस प्रकारके अपमानसे विरक्त हो जायेगा इसलिये राजाको चाहिए कि वह कभी अपने सेवकको विरक्त न करे ॥१५५॥ सेवककी दरिद्रताको धावके स्थानमें कीड़े उत्पन्न होनेके समान जानकर राजाको शीघ्र ही उसका प्रतिकार करना चाहिए ॥१५६॥ सेवकोंको अपने स्वामीसे उचित सन्मान पाकर जैसा सन्तोष होता है वैसा सन्तोष बहुत धन देनेपर भी नहीं होता है ॥१५७॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओंके झुण्डमें किसी बड़े बैलको अधिक भार धारण करनेमें समर्थ जानकर उसके शरीरकी पुष्टिके लिए नस्य कर्म आदि करता है अर्थात् उसकी नाकमें तेल डालता है और उसे खली आदि खिलाता है उसी प्रकार चतुर राजाको भी चाहिए कि वह अपनी सेनामें किसी योद्धाको अत्यन्त उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सन्मानित करे ॥१५८-१५९॥ जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर पुरुषको उसके योग्य सत्कारोसे सन्तुष्ट रखता है उसके भृत्य उसपर सदा अनुरक्त रहते हैं और कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते हैं ॥१६०॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओंके समूहको कांटे और पथरोसे रहित तथा शीत और गरमी आदिकी बाधासे शून्य वनमें चराता हुआ बड़े प्रयत्नसे उसका

१ विगतप्राणे । २ नृपे । ३ योद्धा । युद्धकारीत्यर्थ । ४ दरिद्रम् । ५ निजभृत्यम् । ६ बोधनचित्तत्वे । ७ विरक्तो-  
 ज्ञथानुजीवी । ८ जीवित । ९ अवमाननात् । १० कर्कश न कुप्यति । स्नेहहितमित्यर्थ । ११ विमनस्कत्वम् ।  
 १२ महान्तमनद्बाहम् । १३ कृतपराक्रमम् । १४ भक्षण कारणम् ।

पोषयत्यनियन्त्रेण तथा भूषोऽप्यविप्लवे । देशे स्वानुगतं<sup>१</sup> लोकं स्थापयित्वाऽभिरक्षतुं ॥१६२॥  
 राज्यद्विपरिवर्तयुं जनोऽयं पीडयतेऽन्यथा<sup>२</sup> । चौरैर्दमिरैर्कन्यैरपि प्रत्यन्तनायकैः<sup>३</sup> ॥१६३॥  
<sup>४</sup>प्रसह्य च तथाभूतान् वृत्तिच्छेदेन योजयेत् । कण्टकोद्धरणैव प्रजानां क्षेमधारणम् ॥१६४॥  
 यथैव गोपः संजातं वत्सं मात्रासहायुकम् (जुगम्) । दिनमेकमवस्थाप्य ततोऽप्येयुर्दयार्द्रधीः ॥१६५॥  
 विधाय चरणे तस्य शनैर्बन्धनसञ्चिधिम् । नामिनालं पुनर्गमनालं नापास्य यत्नतः ॥१६६॥  
 जन्तुसंभवशङ्कायां प्रतीकारं विधाय च । क्षीरोपयोगदानावैवर्द्धयेत् प्रतिवासरम् ॥१६७॥  
 भूषोऽप्येवमुपासन्नं वृत्तये<sup>५</sup> स्वमुपासितुम्<sup>६</sup> । यथाऽनुरूपैः संमानैः स्वीकुर्यात्पुनर्जीविनम् ॥१६८॥  
 स्वीकृतस्य च तस्योद्दजीवनादिप्रचिन्तया । योगक्षेमं प्रयुज्जीत कृतकलेशस्य सादरम् ॥१६९॥  
 यथैव खलु गोपालः पशून् क्रेतुं<sup>७</sup> समुद्यतः । क्षीराबलोकंकायैस्त्वान् परीक्ष्य गुणवत्तमान्<sup>८</sup> ॥१७०॥  
 क्रीणाति शकुनादीनामवधारणतत्परः । कुलपुत्रान्भूषोऽप्येव क्रीणीयात् सुपरीक्षितान् ॥१७१॥  
 क्रीतांश्च वृत्तिमूल्यान् तान् यथावसरं प्रभुः । कुल्येषु<sup>९</sup> विनियुज्जीत भृत्यैः सार्धं फलं हि तत् ॥१७२॥  
<sup>१०</sup>यद्बद्धं प्रतिभूः कश्चिद् यो क्रये प्रतिगृह्यते । बलबाहू प्रतिभूस्तद्बद्धाहो<sup>११</sup> भृत्योपसंग्रहे ॥१७३॥  
<sup>१२</sup>याममात्रावशिष्टायां रात्राभुत्थाय यत्नतः । चारयित्वाचिते देशे याः प्रभूतन्त्रणेवके ॥१७४॥

पोषण करता है उसी प्रकार राजाको भी अपने सेवक लोगोको किसी उपद्रवहीन स्थानमे रखकर उनकी रक्षा करनी चाहिए ॥१६१-१६२॥ यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्य आदिका परिवर्तन होनेपर चोर, डाकू तथा समीपवर्ती अन्य राजा लोग उसके इन सेवकोको पीड़ा देने लगेंगे ॥१६३॥ राजाको चाहिए कि वह ऐसे चोर डाकू आदिकी आजीविका जबरन नष्ट कर दे क्योंकि काँटोको दूर कर देनेसे ही प्रजाका कल्याण हो सकता है ॥१६४॥ जिस प्रकार ग्वाला हालके उत्पन्न हुए वच्चेको एक दिन तक माताके साथ रखता है, दूसरे दिन दयावृद्धिसे मुक्त होँ उसके पैरमे धीरेसे रस्सी बाँधकर खूँटीसे बाँधता है, उसकी जरायु तथा नाभिके नालको बड़े यत्नसे दूर करता है, कोड़े उत्पन्न होनेकी शंका होनेपर उसका प्रतीकार करता है, और दूध पिलाना आदि उपायोसे उसे प्रतिदिन बढ़ाता है ॥१६५-१६७॥ उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह आजीविकाके अर्थ अपनी सेवा करनेके लिए आये हुए सेवकको उसके योग्य आदर सम्मानसे स्वीकृत करे और जिन्हे स्वीकृत कर लिया है तथा जो अपने लिए क्लेश सहन करते हैं ऐसे उन सेवकोकी प्रशस्त आजीविका आदिका विचार कर उनके साथ योग और क्षेमका प्रयोग करना चाहिए अर्थात् जो वस्तु उनके पास नहीं है वह उन्हें देनी चाहिए और जो वस्तु उनके पास है उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥१६८-१६९॥ जिस प्रकार शकुन आदि के निश्चय करनेमे तत्पर रहनेवाला ग्वाला जब पशुओको खरीदनेके लिए तैयार होता है तब वह दूध देलना आदि उपायोसे परीक्षा कर उनमेसे अत्यन्त गुणी पशुओको खरीदता है उसी प्रकार राजाको भी परीक्षा किये हुए उच्चकुलीन पुत्रोको खरीदना चाहिए ॥१७०-१७१॥ और आजीविकाके मूल्यसे खरीदे हुए उन सेवकोको समयानुसार योग्य कार्यमे लगा देना चाहिए क्योंकि वह कार्यरूपी फल सेवकोके द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है ॥१७२॥ जिस प्रकार पशुओके खरीदनेमे किसीको जामिनदार बनाया जाता है उसी प्रकार सेवकोका संग्रह करनेमें भी किसी बलवान् पुरुषको जामिनदार बनाना चाहिए ॥१७३॥ जिस प्रकार ग्वाला रात्रिके

१ मूलवल्गुम् । २ -रसयत् ल०, म० । ३ परिवर्तयत्य ल०, म० । राज्यादि मुक्त्वा राज्यान्तरप्राप्तियु । ४ अरक्षणप्रकारेण । ५ घातीकारं युद्धकारिभिर्वा । ६ भ्लेच्छमायकै । ७ हृद्यत्कारेण । ८ वत्सस्य । ९ जरायुना । १० जोवनाय । ११ सेवा कर्तुम् । १२ क्रयणाय । १३ अतिगयेन गुणवतः । १४ कार्येषु । १५ यथैव ल०, म० । १६ वरकः । १७ प्रहुर । १८ असमित्वा ।

प्रातस्तत्रासथानीय वस्त्रपीतावशिष्टकम् । पथो दोग्धि यथा गोपो नवनीतादिलिप्सया ॥१७५॥  
 तथा भूपोऽप्यतन्द्रालुर्भक्ष्यक्रमेषु कारयेत् । कृषिं कर्मान्तिकैर्वाजप्रदानाद्यैरुपक्रमैः ॥१७६॥  
 देवोऽपि कारयेत् कृत्स्ने कृषिं सम्यक्कृषीवलैः । धान्यानां संग्रहार्थं च न्याय्यमंशं ततो हरेत् ॥१७७॥  
 सत्येवं पुष्टतन्त्रः स्याद् भाण्डागारदिसंपदा । पुष्टो देगश्च तस्यैवं स्याद् धान्यैराशितम्भैः ॥१७८॥  
 स्वदेशे वाक्षरम्लेच्छाद् प्रजावाधाविधायिनः । कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसारकुर्यादुपक्रमैः ॥१७९॥  
 विक्रियां न भजन्त्येते प्रशुणा कृतसत्क्रियाः । प्रमोरलव्घतमाना विक्रियन्ते हि तेऽन्वहस् ॥१८०॥  
 ये केचिच्चाक्षरम्लेच्छाः स्वदेशे प्रचरिण्यवः । तेऽपि कर्षकसामान्यं कर्तव्याः करदा नृपैः ॥१८१॥  
 ताम्प्राहुरक्षरम्लेच्छाः येऽसी वेदोपजीविनः । अधर्माक्षरसंपाठैर्लोकन्यामोहकारिणः ॥१८२॥  
 यतोऽक्षरकृतं गर्वमविद्याबलतस्तके । वहन्त्यतोऽक्षरम्लेच्छाः पापसूत्रोपजीविनः ॥१८३॥  
 म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मासाशनेऽपि च । बलात्परस्वहरणं निर्द्वैतं त्वमिति स्मृतम् ॥१८४॥  
 सोऽस्त्यसीषां च यद्देवशास्त्रार्थमधमद्विजाः । तादृशं बहुमन्यन्ते जातिवादावलेपतः ॥१८५॥  
 प्रजासामान्यतैर्बैषां मता वा स्यान्निकृष्टता । ततो न मान्यताऽस्त्येषां द्विजा मान्याः स्युरार्हताः ॥१८६॥

प्रहरमात्र शेष रहनेपर उठकर जहाँ बहुत-सा घास और पानी होता है ऐसे किसी योग्य स्थानमें गायोको बड़े प्रयत्नसे चराता है तथा बड़े सबेरे ही वापिस लाकर वछड़ेके पीनेसे बाकी बचे हुए दूधको मक्खन आदि प्राप्त करनेकी इच्छासे दुह लेता है उसी प्रकार राजाको भी आलस्य-रहित होकर अपने आधीन ग्रामोंमें वीज देना आदि साधनों-द्वारा किसानोंसे खेती कराना चाहिए ॥१७४-१७६॥ राजाको चाहिए कि वह अपने समस्त देशमें किसानों-द्वारा भली भाँति खेती करावे और धान्यका संग्रह करनेके लिए उनसे न्यायपूर्ण उचित अंश लेवे ॥१७७॥ ऐसा होनेसे उसके भांडार आदिमें बहुत सी सम्पत्ति इकट्ठी हो जावेगी और उससे उसका बल बढ़ जावेगा तथा सन्तुष्ट करनेवाले उन धान्योंसे उसका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली हो जावेगा ॥१७८॥ अपने आश्रित स्थानोंमें प्रजाको दुःख देनेवाले जो अक्षरम्लेच्छ अर्थात् वेदसे आजीविका करनेवाले हैं उन्हें कुलशुद्धि प्रदान करना आदि उपायोंसे अपने आधीन करना चाहिए ॥१७९॥ अपने राजासे सत्कार पाकर वे अक्षरम्लेच्छ फिर उपद्रव नहीं करेंगे । यदि राजाओंसे उन्हें सम्मान प्राप्त नहीं होगा तो वे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ उपद्रव करते ही रहेंगे ॥१८०॥ और जो कितने ही अक्षरम्लेच्छ अपने ही देशमें सत्कार करते हो उनसे भी राजाओं-को सामान्य किसानोंकी तरह कर अवश्य लेना चाहिए ॥१८१॥ जो वेद पढ़कर अपनी आजीविका करते हैं और अधर्म करनेवाले अक्षरोंके पाठसे लोगोंको ठगा करते हैं उन्हें अक्षरम्लेच्छ कहते हैं ॥१८२॥ चूँकि वे अज्ञानके बलसे अक्षरों-द्वारा उत्पन्न हुए अहंकारको धारण करते हैं इसलिए पापसूत्रोंसे आजीविका करनेवाले वे अक्षरम्लेच्छ कहलाते हैं ॥१८३॥ हिंसा और मांस खानेमें प्रेम करना, बलपूर्वक दूसरेका धन हरण करना और धूर्तता करना (स्वेच्छा-चार करना) यही म्लेच्छोंका आचार माना गया है ॥१८४॥ चूँकि यह सब आचरण इनमें हैं और जातिके अभिमानसे ये नीच द्विज हिंसा आदिको प्ररूपित करनेवाले वेद शास्त्रके अर्थको बहुत कुछ मानते हैं इसलिए इन्हें सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिए अथवा उससे भी कुछ निकृष्ट मानना चाहिए । इन सब कारणोंसे इनकी कुछ भी मान्यता नहीं रह जाती

१ आरम्भग्रामेभित्यर्थः । २ कृषीवलमृत्यैः । ३ कृषीबलेभ्यः । ४ स्वीकृषात् । ५ तृप्तिकरं । ६ प्रदेशे अ०, सं०, ल०, म० । ७ कृषीवलसामान्यं यथा भवति तथा । ८ अज्ञानबलात् । ९ कुत्सितास्ते । १० यत् कारणात् । ११ हिंसनादिप्रकारम् । १२ गर्वतः । १३ प्रजासामान्यत्वमेव । १४ प्रजाम् ।

वयं निस्तारका देवद्राहणा लोकसंमतः । धान्यसागमतो राज्ञे न दक्ष इति चेन्मतम् ॥१८७॥  
 वैशिष्ट्यं किदृकृतं शेषवर्णभ्यो भवतामिह । न जातिमात्राद् वैशिष्ट्यं जातिभेदाप्रतीतितः ॥१८८॥  
 गुणतोऽपि न वैशिष्ट्यमस्ति वो नामधारकाः । व्रतिनो ब्राह्मणा जैना ये त एव गुणाधिकाः ॥१८९॥  
 निर्धत्ता निर्मस्रकारा निर्धृणाः पशुघातिनः । म्लेच्छाचारपरा यूयं न स्थाने धार्मिका द्विजाः ॥१९०॥  
 तस्मादन्ते कुरु म्लेच्छा इव तेऽभी महीसुखाम् । प्रजासामान्यधान्यांशदानाद्यैरविशेषिताः ॥१९१॥  
 किमत्र बहुतोक्तेन जैनान्मुक्त्वा द्विजोत्तमान् । नान्ये मान्या नरेन्द्राणां प्रजासामान्यजीविकाः ॥१९२॥  
 अन्यच्च गोधनं गोषो व्याघ्रचौरासुप्रक्रमात् । यथा रक्षत्यतन्द्रालुर्भूपोऽप्येवं निजाः प्रजाः ॥१९३॥  
 यथा च गोकुलं गोमिन्याघाते संदिदृक्षया । सोपचारमुपैत्यैनं तोषयेद् धनसम्पदा<sup>१</sup> ॥१९४॥  
 भूपोऽप्येवं बली कश्चित् स्वराष्ट्रं यद्यभिद्रवेत् । तदा वृद्धः समालोच्य संदध्यात्<sup>२</sup> षण्वन्धतः<sup>३</sup> ॥१९५॥  
 जनक्षयाय संग्रामो बहुपायो दुरुत्तरः । तस्मादुपप्रदानाद्यैः<sup>४</sup> सधेयोऽरिर्विलाधिकः ॥१९६॥  
 इति गोपालदृष्टान्तमूरीकृत्य नरेश्वरः । प्रजानां पालने यत्नं<sup>५</sup> विदध्यान्नयवर्जना ॥१९७॥

है, जो द्विज अरहन्त भगवान्को भक्त हैं वही मान्य गिने जाते हैं ॥१८५-१८६॥ “हम ही लोगोको संसार-सागरसे तारनेवाले हैं, हम ही देव ब्राह्मण हैं और हम ही लोकसम्मत हैं अर्थात् सभी लोग हम ही को मानते हैं इसलिए हम राजाको धान्यका उचित अंश नहीं देते” इस प्रकार यदि वे द्विज कहे तो उनसे पूछना चाहिए कि आप लोगोमे अन्य वर्णवालोसे विशेषता क्यों है ? कदाचित् यह कहो कि हम जातिकी अपेक्षा विशिष्ट हैं तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जातिकी अपेक्षा विशिष्टता अनुभवमें नहीं आती है, कदाचित् यह कहो कि गुणकी अपेक्षा विशिष्टता है सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आपलोग केवल नामके धारण करनेवाले हो, जो व्रतको धारण करनेवाले जैन ब्राह्मण हैं वे ही गुणोसे अधिक हैं । आप लोग व्रतरहित, नमस्कार करनेके अयोग्य, दयाहीन, पशुओका घात करनेवाले और म्लेच्छो-के आचरण करनेमे तत्पर हो इसलिए आप लोग धर्मात्मा द्विज नहीं हो सकते । इन सब कारणों-से राजाओकी चाहिए कि वे इन द्विजोको म्लेच्छोके समान समझें और उनसे सामान्य प्रजाकी तरह ही धान्यका योग्य अंश ग्रहण करें । अथवा इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? जैनधर्मको धारण करनेवाले उत्तम द्विजोको छोड़कर प्रजाके समान आजीविका करनेवाले अन्य द्विज राजाओके पूज्य नहीं हैं ॥१८७-१८९॥

जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर अपने गोधनकी व्याघ्र चोर आदि उपद्रवोसे रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिए ॥१९१॥ जिस प्रकार ग्वाला उन पशुओके देखनेकी इच्छासे राजाके आनेपर भेट लेकर उसके समीप जाता है और धन सम्पदाके द्वारा उसे सन्तुष्ट करता है उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्यके सन्मुख आवे तो वृद्ध लोगोके साथ विचार कर उसे कुछ देकर उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिए । चूँकि युद्ध बहुतसे लोगोके विनाशका कारण है, उसमें बहुतसी हानियाँ होती हैं और उसका भविष्य भी बुरा होता है अतः कुछ देकर वलवान् जत्रुके साथ सन्धि कर लेना ही ठीक है ॥१९४-१९६॥ इस प्रकार राजाको ग्वालाका दृष्टान्त स्वीकार कर नीतिमांसे

१ न भवय । २ -सुपद्रवात् ७०, म०, प० । ३ गोमती । गोमान् गोमीत्यभिधानात् । गोमत्या- म०, ल०, प० । ४ क्षीरघृतादिविक्रमाज्जातधनसमृद्ध्या । ५ अमिगच्छेत् । ६ सन्धानं कुर्यात् । ७ निष्कप्रदाना-दित्यर्थः । ८ उचितवस्तुवाहनप्रदानाद्यैः । ९ सन्धिं कर्तुं योग्य । १० कुर्यात् ।

प्रजानुपालनं प्रोक्तं पार्थिवस्य जितात्मनः । समञ्जसत्त्वमधुना वक्ष्यामस्तद्गुणान्वरम् ॥१६८॥  
 राजा चित्तं समाधाय यत्कुर्याद् दुष्टनिग्रहम् । शिष्टानुपालनं चैव तत्सामञ्जस्यमुच्यते ॥१६९॥  
 द्विषन्तमथवा पुत्रं निगृह्णन्निग्रहोचितम् । अपक्षपातितो दुष्टमिष्टं चेच्छन्ननागसम् ॥२००॥  
 मध्यस्थवृत्तिरेवं यः समदर्शा समञ्जसः । समञ्जसत्वं तद्भावः प्रजास्वविषमेक्षिता ॥२०१॥  
 गुणेनैतेन शिष्टानां पालनं न्यायजीविनाम् । दुष्टानां निग्रहं चैव रूपः कुर्यात् कृतागसाम् ॥२०२॥  
 दुष्टा हिंसादिदोषेषु निरताः पापकारिणः । शिष्टास्तु क्षान्तिशौचादिगुणैर्वर्मपरा नराः ॥२०३॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं मनुः सकलचक्रभृदादिराजः

तान् क्षत्रियान् नियमयन् पथि सुप्रणीतैः ।

उच्चावचैर्गुणैर्मतैरुचितैर्वचोभिः

शास्ति स्म वृत्तमखिलं पृथिवीश्वराणाम् ॥२०४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैर्मरुतेशिनानुकथित सर्वैर्यमुर्वाह्वराः

क्षान् धर्ममनुप्रवण सुदिताः स्वां वृत्तिमन्वैयहः ।

योगक्षेमपथेषु तेषु सहिताः सर्वे च वर्णाश्रमाः

स्वे स्वे वर्त्मनि सुस्थिता धृतिमधुर्मोत्सवैः प्रत्यहम् ॥२०५॥

प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिए ॥१६७॥ इस प्रकार इन्द्रियोको जीतनेवाले राजाका प्रजापालन नामका गुण कहा । अब समञ्जसत्त्व नामका अन्य गुण कहते हैं ॥१६८॥

राजा अपने चित्तका समाधान कर जो दुष्ट पुरुषोका निग्रह और शिष्ट पुरुषोका पालन करता है वही उसका समञ्जसत्त्व गुण कहलाता है ॥१६९॥ जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनोका निग्रह करता है, जिसे किसीका पक्षपात नहीं है, जो दुष्ट और मित्र, सभी-को निरपराध बनानेकी इच्छा करता है और इस प्रकार मध्यस्थ रहकर जो सबपर समान दृष्टि रखता है वह समञ्जस कहलाता है तथा प्रजाओको विषम दृष्टिसे नहीं देखना अर्थात् सबपर समान दृष्टि रखना ही राजाका समञ्जसत्त्व गुण है ॥२००-२०१॥ इस समञ्जसत्त्व गुणसे ही राजाको न्यायपूर्वक आजोविका करनेवाले शिष्ट पुरुषोका पालन और अपराध करनेवाले दुष्ट पुरुषोका निग्रह करना चाहिए ॥२०२॥ जो पुरुष हिंसा आदि दोषोमें तत्पर रहकर पाप करते हैं वे दुष्ट कहलाते हैं और जो क्षमा, सतोष आदि गुणोके द्वारा धर्म धारण करनेमें तत्पर रहते हैं वे शिष्ट कहलाते हैं ॥२०३॥ इस प्रकार सोलहवें मनु तथा समस्त चक्रवर्तियोंमें प्रथम राजा महाराज भरतने उन क्षत्रियोको भगवत्प्रणीत मार्गमें नियुक्त करते हुए, अपने पिता श्री वृषभदेवको इष्ट ऊँचे नीचे योग्य वचनोसे राजाओके समस्त आचारका उपदेश दिया ॥२०४॥

इस प्रकार भरतेश्वरने जिसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया है ऐसे सबका हित करने-वाले, क्षत्रियोके उत्कृष्ट धर्मको स्वीकार कर सब राजा लोग प्रसन्न हो अपने अपने आचरणोका पालन करने लगे और उन राजाओके योग ( नवीन वस्तुकी प्राप्ति ) तथा क्षेम ( प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा ) में प्रवृत्त रहनेपर अपना हित चाहनेवाले सब वर्णाश्रमोके लोग अपने-अपने

१ पक्षपातरहितः । २ अपराधरहितम् । ३ समञ्जसत्त्वसदभावः अ०, प०, स०, ल०, म० । ४ सुष्ठु प्रोक्ते । ५ सर्वेभ्यो हितम् । ६ अनुजगम् । ७ गतौ लुङि । ह्लादित्वात् शप स्लुपि द्विभवे, क्षेत्रुंसिति उत्तरशृङ्गा-रस्य अकारादेशे, पूर्वशृङ्गारस्य इत्वे, पुनर्यदोऽपि च कृते, 'एयरु' इति सिद्धिः । ७ उर्वीश्वरेण । ८ हितेन सहिता ।

जातिक्षत्रियवृत्तमविततरं रवत्रयाविष्कृतं  
तीर्थक्षत्रियवृत्तमप्यनुजगौ यच्चक्रिणामग्रणीः ।  
तत्सर्वं भगवाच्चिपाय भगवान् वाचस्पतिगौतमो  
'व्याचक्ष्यावखिलार्थतत्त्वविषयां जैनी श्रुतिं ख्यापयन्' ॥२०६॥  
बन्दादोभरताधिपस्य जगतां भर्तुः क्रमौ वेधसः  
तस्यानुस्मरतो गुणान् प्रणमतस्तं देवमार्घं जिनम् ।  
तस्यैवोपचितिं<sup>३</sup> सुरासुरगुरोर्मन्त्र्या मुहुस्तन्वतः  
कालोऽनल्पतरः सुसाद् व्यतिगतो<sup>४</sup> नित्योत्सवैः समृतः<sup>५</sup> ॥२०७॥

भन्दाक्रान्ता

जैनीमित्र्यां वितन्वन्नियतमनुदिनं प्रीणयन्नर्थिसार्थं  
शास्त्रद्विधम्भरेश्वरवनिवृतलसन्मौलिभिः सेच्यमानः ।  
इमां कृत्स्नासापयोधेरपि<sup>६</sup> च हिमवतः पालयन्निस्सपत्नां  
रम्यैः स्वेच्छाचिन्होदैर्निरविशं दधिराद् भोगसारं दणाङ्गम् ॥२०८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपटिलक्षणमहापुराणसंग्रहे  
भरतराजवर्णाश्रमस्थितिप्रतिपादनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४२॥\*



मार्गमे स्थिर रहकर प्रतिदिन धर्मोत्सव करते हुए सन्तोष धारण करने लगे ॥२०५॥ चक्र-  
वर्तियोमे अग्रेसर महाराज भरतने जो अत्यन्त उत्कृष्ट जातिक्षत्रियोका चरित्र तथा रत्नत्रयसे  
प्रकट हुआ तीर्थक्षत्रियोका चरित्र कहा था वह सब, समस्त पदार्थोके स्वरूपको विषय करने-  
वाले जैन शास्त्रोकी प्रकट करते हुए वाचस्पति ( श्रुतकेवली ) भगवान् गौतम गणधरने मगध  
देशके अधिपति श्रेणिकके लिए निरूपण किया ॥२०६॥ तीनों लोकोके स्वामी भगवान्  
वृषभदेवके चरणोंकी बन्दना करनेवाले, उन्हीं परब्रह्मके गुणोंका स्मरण करनेवाले, उन्हीं  
प्रथम जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करनेवाले और सुर तथा असुरोके गुरु उन्हीं भगवान् वृषभदेवकी  
भक्तिपूर्वक बार-बार पूजा करनेवाले भरतेश्वरका निरन्तर होनेवाले उत्सवोसे भरा हुआ  
भारी समय सुखसे व्यतीत हो गया ॥२०७॥ जो नियमित रूपसे प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान्-  
की पूजा करता है, जो प्रतिदिन याचकोके समूहको सन्तुष्ट करता है, पृथिवीपर झुके हुए मुकुटों-  
से सुशोभित होनेवाले राजा लोग जिसकी निरन्तर सेवा करते हैं और जो हिमवान् पर्वतसे  
लेकर समुद्रपर्यन्तकी शत्रुरहित समस्त पृथिवीका पालन करता है ऐसा वह सम्राट् भरत अपनी  
इच्छानुसार क्रीड़ाओके द्वारा दश प्रकारके उत्तम भोगोका उपभोग करता था ॥२०८॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपटिलक्षण महापुराणसंग्रहके  
हिन्दी भाषानुवादमें भरतराजकी वर्णाश्रमकी रीतिका प्रतिपादन  
करनेवाला बयालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥४२॥



१ उवाच । २ प्रकटीकुर्वन् । ३ पूजाम् । ४ व्यतिक्रान्त । ५ सम्प्रेषित । ६ समुद्रादारम्भ हिमवत्पर्यन्तम् ।  
७ शब्दभूत । ८ दिव्यपुरल्लनिधिसेनाभाजनशयनासनवाहननाट्यादीनि दसाङ्गानि यस्य स तम् ।  
\* ल० म० इ० प० पुस्तकेषु निर्माकित पाठोऽधिको दृश्यते । त० व० अ० स० पुस्तकेष्वेव पाठो न दृश्यते ।



## अनुष्टुप्

वृषभाय नमोऽशेषस्थितिप्रभवहेतवे । त्रिकालगोचरान्तप्रमेयाक्रान्तमूर्तये ॥१॥

नमः सकलकल्याणपथनिर्माणहेतवे । आदिदेवाय संसारसागरोच्चारसेतवे ॥२॥

## पृथ्वीच्छन्दः

जयन्ति जितमृत्यवो विपुलवीर्यभाजो जिना जगत्प्रमदहेतवो विषदमन्दकन्दच्छिदः ॥

सुरासुरशिरःस्फुरितरागरत्नावलीविलम्बिकिरणोत्कारुणितचारुपादद्वयाः ॥३॥

कृतिर्महाकवेर्मंगवतः श्रीजिनसेनाचार्यस्येति ।

## वसन्ततिलका

धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनश्चरितमत्र महापुराणे ।

यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्दनिर्घट्टासि न हरन्ति मनांसि केषाम् ॥४॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते महापुराणे

आद्यं खण्डं समाप्तिमगमत् ।

जो समस्त मर्यादाकी उत्पत्तिके कारण है और जिनकी केवलज्ञानरूपी मूर्ति त्रिकाल-विषयक अनन्त प्रदार्थसे व्याप्त है उन वृषभदेवके लिए नमस्कार हो ॥१॥ जो सब कल्याणोके मार्गकी रचनाके कारण है और जो ससाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिए पुलके समान है ऐसे प्रथम तीर्थ कर भगवान् वृषभदेवको नमस्कार हो ॥२॥ जिन्होंने मृत्युको जीत लिया है, जो अनन्त बलको धारण करनेवाले हैं, जो जगत्के आनन्दके कारण हैं, जो विपत्तियोंकी बहुत भारी जड़को काटनेवाले हैं, और सुर तथा असुरोके मस्तकपर चमकते हुए पद्मराग-मणियोंकी पवित्रसे निकलती हुई किरणोंके समूहसे जिनके दोनों सुन्दर चरणकमल कुछ-कुछ लाल हो रहे हैं ऐसे जिनैन्द्रदेव सदा जयवन्त हो ॥३॥

( इस प्रकार महाकवि भगवान् जिनसेनाचार्यकी कृति समाप्त हुई )

इस महापुराणमें धर्मका निरूपण है, मोक्ष पद अथवा मोक्षमार्गका कथन है, उत्तम कविता है और तीर्थ कर भगवान्का चरित है अथवा इस प्रकार समझना चाहिए कि कवियोंमें श्रेष्ठ श्री जिनसेनके मुखकमलसे निकले हुए वचन किसके मनको हरण नहीं करते हैं ? ॥४॥

( इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणका प्रथम खण्ड समाप्त हुआ )

# आदिपुराणम्

[ उत्तरखण्डम् ]

## त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व

धियं तनोतु स श्रीमाच्च वृषभो वृषभध्वजः । यस्यैकस्य<sup>१</sup> गनेर्मुक्तमार्गश्चित्रं<sup>२</sup> महानभूत् ॥१॥  
विक्रमं कर्मचक्रस्य<sup>३</sup> यशक्राम्यर्चितक्रमः । आक्रम्य धर्मचक्रेण चक्रे त्रैलोक्यचक्रिताम् ॥२॥  
योऽस्मिंश्चतुर्थकालादौ<sup>४</sup> दिनादौ वा<sup>५</sup> दिवाक्रमः । जगदुद्योतयामास प्रोदराच्छद्वाग्गमस्तिभिः ॥३॥  
मष्टमष्टादशाम्भोधिकोटीकोटीषु कालयोः । निर्वाणमार्गं निर्दिश्य<sup>६</sup> येन सिद्धाश्च<sup>७</sup> वर्द्धिताः ॥४॥  
तीर्थकुत्सु<sup>८</sup> स्वतः<sup>९</sup> प्राग्यो<sup>१०</sup> नामादानपरामवः<sup>११</sup> । यस्मिं<sup>१२</sup> अष्टदशज्ञासौ स्वसूनुमिव चक्रिषु ॥५॥  
येन<sup>१३</sup> प्रकाशिते<sup>१४</sup> युक्तेर्मार्गेऽस्मिन्नपरेषु तत्<sup>१५</sup> । प्रकाशितप्रकाशोक्तवैयर्थ्यं तीर्थकृत्वमभूत् ॥६॥

अथानन्तर, जिनकी ध्वजामे वृषभका चिह्न है और सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि जिन एकके जानेसे ही बहुत बड़ा मोक्षका मार्ग बन गया ऐसे अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री वृषभदेव सबका कल्याण करे ॥१॥ जिनके चरणकमलकी इन्द्र स्वयं पूजा करता है और जिन्होंने धर्मचक्रके द्वारा कर्मसमूहके पराक्रमपर आक्रमण कर तीनों लोकोंका चक्रवर्तीपना प्राप्त किया है ॥२॥ दिनके प्रारम्भमे सूर्यकी तरह इस \*चतुर्थकालके प्रारम्भमें उदय होकर जिन्होंने फैलती हुई अपनी वाणीरूपी किरणोंसे समस्त जगत्को प्रकाशित किया है अर्थात् दिव्य ध्वनिके-द्वारा समस्त तत्त्वोंका उपदेश दिया है ॥३॥ उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी कालके अठारह कोडी सागर तक जो मोक्षका मार्ग नष्ट हो रहा था उसका निर्देश कर जिन्होंने सिद्धोंकी सख्या बढ़ायी है । ॥४॥ जिस प्रकार चक्रवर्तियोंमें अपने पुत्र भरत चक्रवर्तीको उसके पहले किसी अन्य चक्रवर्तीका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव नहीं छू सका था उसी प्रकार तीर्थ-करोमें अपने पहले किसी अन्य तीर्थ करका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव जिन्हें छू भी नहीं सका था । भावार्थ—जिस प्रकार भरत इस युगके समस्त चक्रवर्तियोंमें पहले चक्रवर्ती थे उसी प्रकार जो इस युगके समस्त तीर्थ करोमें पहले तीर्थ कर थे ॥५॥ जिनके द्वारा इस मोक्षमार्गके प्रकाशित किये जानेपर अन्य तीर्थ करोमें प्रकाशित हुए मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके कारण उपदेशकी व्यर्थता हुई थी । भावार्थ—इस समय जो मोक्षका मार्ग चल रहा है उसका उपदेश सबसे पहले भगवान् वृषभदेवने ही दिया था उनके पीछे होनेवाले अन्य तीर्थ करोंने भी उसी मार्गका उपदेश दिया है इसलिए उनका उपदेश पुनरुक्त होनेके कारण व्यर्थ-सा जान पड़ता

१ गमनात् । २ मुक्तिमार्ग—प०, ल०, म० । ३ कर्मराजसैन्यस्य । ४ जित्वा । ५ चतुर्थकालस्यादौ । ६ इव । ७ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः । ८ उपदेशं कृत्वा । ९ अजितादिषु । १० आत्मनः पुत्रजिनात् । ११ पूर्वस्मिन् काले । १२ सामदानपरामव इति पाठस्य ल० पुस्तके सकेत । गामदानपरामव इति पाठस्य 'द०' पुस्तके सकेत । अदानपरामव—आहारादिदानाभाव इति परामव । नामदानपरामव इति पाठे कीर्तिदानयोरभाव इति परामवः । १३ चतुर्थकालस्यादौ । १४ वृषभेण । १५ चतुर्थकालादौ । १६ मोक्षमार्गप्रकाशनम् । १७ प्रकाशितस्य प्रकाशने प्रोक्तवैयर्थ्यम् ।

\* भगवान् वृषभदेव तृतीय कालके अन्तमें उत्पन्न हुए और तृतीय कालमें ही मोक्ष पधारे हैं इसलिए आचार्य गुणभद्रने चतुर्थकालके आदिमें होना किस दृष्टिसे लिखा है यह विचारणीय है ।

युगमारं<sup>१</sup> वह्नोःकश्चिन्नं धर्मरथं प्रथुम् । व्रतशीलगुणापूर्णं चित्रे वर्नयति स्म च ॥३॥  
 तमेकमक्षरं<sup>२</sup> ध्यात्वा न्यक्तमेकमिवाक्षरम्<sup>३</sup> । वक्ष्ये सर्वमिदं लब्ध्वाणि<sup>४</sup> तत्पुराणस्य<sup>५</sup> चूलिकाम् ॥४॥  
 स्वोक्ते<sup>६</sup> प्रयुक्ताः सर्वे नो रसागुणमिव नै । जेहादिहै<sup>७</sup> तदुत्सृष्टान्<sup>८</sup> मत्स्या<sup>९</sup> तानुपयुज्यते ॥५॥  
 गगादीन् दूतस्थस्यैवा शृङ्गारादिरमोक्तिभिः । पुगणकारकाः शुद्धबोधाः शुद्धा सुसुभवः ॥६॥  
 निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वमासी महात्मनिः<sup>१०</sup> । तच्छेपे यत्नमानानां प्राप्तदृष्ट्ये<sup>११</sup> नः श्रमः ॥६॥  
 पुगणे प्रादुर्गद्गार्थे सत्यप्रफलप्रालिनि । वक्ष्यामि पल्लवानां कर्णं कुर्वन् नै दुषाः ॥७॥  
 अर्थं<sup>१२</sup> गुत्तमिरवाप्त्य<sup>१३</sup> पूर्व निष्पादितं परं<sup>१४</sup> । परं<sup>१५</sup> निष्पाद्यमानं सच्छन्दैव शान्तिसुन्दरम् ॥८॥  
 इक्ष्वांशिस्य पूर्वार्द्धमवानावि<sup>१६</sup> रसावहन् । यथा तथास्तु<sup>१७</sup> निष्पत्तिरिति प्रारम्भ्यते नया ॥९॥  
 अन्तर्निवर्त्य<sup>१८</sup> मयि प्राप्तिं धर्मोऽयमिति गृह्यताम् । चाटुर्के<sup>१९</sup> स्वादुःमिच्छन्ति न भोक्तारस्तु<sup>२०</sup> भोजनम् ॥१०॥

है ॥६॥ और आश्चर्य है कि जिन्होंने अकेले ही बहुत काल तक इस अवनपिणी युगके भारको ( पलमें जुवारीके बोझको ) धारण करते हुए व्रत, शील आदि गुणोंसे भरे हुए बड़े भारी धर्म-रथको चलाया था ॥७॥ ऐसे उन अद्वितीय अविनाशी भगवान् वृषभदेवको एक प्रसिद्ध ओम् अक्षरके समान ध्यान कर तथा पूर्वशास्त्रोंका विचार कर इस महापुराणकी चूलिका कहता हूँ ॥८॥ हमारे गुरु जिनसेनाचार्यने हमारे स्नेहसे अपने द्वारा कहे हुए पुराणमें सब रस कहे हैं इसलिए उनकी भक्तिसे छोड़े गये रसोंका ही हम आगे इस ग्रन्थमें उपयोग करेगे ॥९॥ राग आदिको दूरसे ही छोड़कर शृंगार आदि रसोंका निरूपण कर पुराणोंकी रचना करने-वाले शुद्ध जानी, पवित्र और मोक्षको इच्छा करनेवाले होते हैं ॥१०॥ इस पुराणका समस्त मार तो महात्मा जिनसेनाचार्यने पूर्ण ही कर दिया है अब उसके बाकी बचे हुए अंशमें प्रयत्न करनेवाले हम लोगोंका परिश्रम ऐसा समझना चाहिए जैसा कि किसी मकानके किसी बचे हुए भागको पूर्ण करनेके लिए थोड़ा-सा परिश्रम करना पड़ा हो ॥११॥ यह पुराणरूपी वृक्ष वृद्ध और अर्थसे प्रादुर्भूत है तथा उत्तम-उत्तम पत्ते और फलोंसे सुशोभित हो रहा है इसमें मेरे वचन नवीन पत्तोंके समान हैं इसलिए विद्वान् लोग उन्हें अवश्य ही अपने कर्णोंपर धारण करें । भावार्थ—जिस प्रकार वृक्षके नये पत्तोंको लोग अपने कानोंपर धारण करते हैं उसी प्रकार विद्वान् लोग हमारे इन वचनोंको भी अपने कानोंमें धारण करे अर्थात् स्नेहसे श्रवण करे ॥१२॥ इस पुराणका पूर्व भाग गुरु अर्थात् जिनसेनाचार्य अथवा दीर्घ वर्णोंसे बना हुआ है और उत्तर भाग पर अर्थात् गुहसे भिन्न मिष्य (गुणभद्र) अथवा लघु वर्णोंके द्वारा बनाया जाता है इसलिए क्या वह छन्दके समान मुन्दर नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा । भावार्थ—जिस प्रकार गुरु और लघु वर्णोंसे बना हुआ छन्द अत्यन्त मुन्दर होता है उसी प्रकार गुरु और मिष्यके द्वारा बना हुआ यह पुराण भी अत्यन्त मुन्दर होगा ॥१३॥ 'जिस प्रकार डेलका पूर्वार्ध भाग ही रसीला होता है उसी प्रकार इस पुराणका भी पूर्वार्ध भाग ही रसीला हो' यह विचार कर मैं इसके उत्तरभागकी रचना प्रारम्भ करता हूँ ॥१४॥ मुझमें प्रौढ़ता ( योग्यता ) की खोज न कर इसे केवल धर्म समझकर ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि भोजन करनेवाले प्रिय वचन

१ चतुर्यकालवुरम् । २ दण्डभेदं च । ३ निबन्धनम् । ४ पूर्वोक्तगाथायां । ५ पुराण-पुराणस्य । ६ अग्रम् । ७ आत्मना प्रणीते पुराणे । ८ अस्माकम् । ९ नवि प्रेम्ण । १० उत्तरपुराणे । ११ तज्जिनसेनाचार्येणावरोपितान् (प्रणीतानेव) । १२ रसान् । १३ महात्मक. व० । १४ निर्मितप्रासादावरोपे यत्मानानामिव । १५ जिनसेनाचार्य । छन्दः पक्षे गुर्वक्षरं । १६ पुराणस्य । १७ अस्मदादिभिः । पक्षे लघ्वक्षरैः अल्पाक्षरैः । १८ अपराद्धम् । १९ उक्तात्युक्तादिछन्दोभेदवत् । २० निश्चितम् । २१ निष्ठा । २२ अविमृश्य । २३ प्रियवचने ।

अथवाऽ<sup>१</sup> भवेदस्य विरसं नेति निश्चयः । धर्माग्रं ननु केनापि नादग्निं विरसं कश्चित् ॥ १६ ॥  
 गुरुणासेव माहात्म्यं<sup>२</sup> यद्यपि स्वादु मद्बुधः । तरुणां हि प्रभावेण<sup>३</sup> यत्फलं स्वादु जायते ॥ १७ ॥  
 निर्वाणन्ति हृदयाद् वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः । तं<sup>४</sup> तत्र संस्करिष्यन्ते तत्र मेऽन्न परिश्रमः ॥ १८ ॥  
 इदं शुश्रूष्वो<sup>५</sup> भव्याः कथितोऽर्थो जिनेश्वरैः । तत्स्वामिधायकाः शब्दास्तत्र निन्दाऽन्न वर्तते ॥ १९ ॥  
 दोषान् गुणान् गुणी गुरुन् गुणान् दोषांस्तु दोषवान् । सदसज्ज्ञानयोश्चित्रमत्र माहात्म्यमीदृशम् ॥ २० ॥  
 गुणिनां गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः । असदोषसमादानाद् दोषवान् दुर्जनोऽद्भुतम् ॥ २१ ॥  
 सज्जने दुर्जनः कोपं कामं कर्तुमिहार्हति । उद्वैरिणामनाथानां गुणानामाश्रयो यतः<sup>६</sup> ॥ २२ ॥  
 यथा<sup>७</sup> ईशानुगमहन्ति सदा स्तोतुं कवीश्वराः । तथा निन्दितुमस्वानुवृत्तं कुक्कवयोऽपि माम् ॥ २३ ॥  
 कविरेव कवेर्वेत्ति कामं काव्यपरिश्रमम् । वन्ध्या स्तनंधयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः ॥ २४ ॥  
 गृहाणोहास्ति चेष्टो स्वं धनं न निविध्यते । खलासि प्रार्थितो भूयस्त्वं गुणाच्च ममाग्रहीः ॥ २५ ॥

कहनेपर ही स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा नहीं करते । भावार्थ — जिस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुष प्रिय वचनोकी अपेक्षा न कर स्वादिष्ट भोजनका ही विचार करते हैं उसी प्रकार धर्मात्मा लोग मेरी योग्यताकी अपेक्षा न कर केवल धर्मका ही विचार करे — धर्म समझकर ही इसे ग्रहण करे ॥ १५ ॥ अथवा इस पुराणका अग्रभाग भी नीरस नहीं होगा यह निश्चय है क्योंकि धर्मका अग्रभाग कही किसी पुरुषने नीरस नहीं देखा है ॥ १६ ॥ यदि मेरे वचन स्वादिष्ट हों तो इसमें गुरुओका ही माहात्म्य समझना चाहिए क्योंकि जो फल मीठे होते हैं वह वृक्षोका ही प्रभाव समझना चाहिए ॥ १७ ॥ चूँकि वचन हृदयसे निकलते हैं और मेरे हृदयमे गुरु विद्यमान हैं इसलिए वे मेरे वचनोमे अवश्य ही संस्कार करेंगे अर्थात् उन्हें सुधार लेगे अतः मुझे इस ग्रन्थके बनानेमे कुछ भी परिश्रम नहीं होगा ॥ १८ ॥ इस पुराणको सुननेकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव हैं, इसका अर्थ जिनेन्द्रदेवने कहा है और उसके कहनेवाले शब्द हैं इसलिए इसमे निन्दा ( दोष ) नहीं है ॥ १९ ॥ गुणी लोग दोषोको भी गुणरूपसे ग्रहण करते हैं और दोषी लोग गुणोको भी दोषरूपसे ग्रहण करते हैं, इस संसारमे सम्म्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका यह ऐसा ही विचित्र माहात्म्य है ॥ २० ॥ सज्जन पुरुष गुणी लोगोंके गुण ग्रहण कर गुणी हो यह ठीक है परन्तु दुष्ट पुरुष अविद्यमान दोषोको ग्रहण कर दोषी हो जाते हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥ २१ ॥ इस संसारमे दुर्जन पुरुष सज्जनोपर इच्छानुसार क्रोध करनेके योग्य हैं क्योंकि वे उन दुष्टोके शत्रु स्वरूप, अनाथ गुणोके आश्रयभूत हैं । भावार्थ — चूँकि सज्जनोने दुर्जनोके शत्रुभूत, अनाथ गुणोको आश्रय दिया है इसलिए वे सज्जनोपर यदि क्रोध करते हैं तो उचित ही है ॥ २२ ॥ जिस प्रकार कवीश्वर लोग अपने अनुकूल चलनेवालेकी सदा स्तुति करनेके योग्य होते हैं उसी प्रकार कवि भी अपने अनुकूल नहीं चलनेवाले मेरी निन्दा करनेके योग्य हैं । भावार्थ — उत्तम कवियोके मार्गपर चलनेके कारण जहाँ वे मेरी प्रशंसा करेंगे वहाँ कुक्कवियोके मार्गपर न चलनेके कारण वे मेरी निन्दा भी करेंगे ॥ २३ ॥ कवि ही कविके काव्य करनेके परिश्रमको अच्छी तरह जान सकता है, जिस प्रकार वन्ध्या स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेकी वेदनाको नहीं जानती उसी प्रकार अकवि कविके परिश्रमको नहीं जान सकता ॥ २४ ॥ रे दुष्ट, यदि मेरे इस ग्रन्थमें दोष हो तो उन्हें तू ग्रहण कर, क्योंकि वह तेरा ही धन है उसके लिए तुझे रुकावट नहीं है, परन्तु

१ उत्तरार्द्धम् । २ यद्यपि प०, ल०, म० । ३ प्रभावोऽसौ अ०, प०, इ०, त०, ल०, म० । ४ गुरु । ५ श्रोतुमिच्छव । ६ तत् कारणात् । ७ दुर्जनद्वेषिणाम् । ८ सज्जनः । आचारः । ९ यतः कारणात् । १० निजानुवर्तिनम् ।

गुणागुणानभिज्ञान कृता निन्दाऽथवा स्तुतिः । जात्यन्धस्येव घृष्टस्य रूपे हासाय केवलम् ॥ २६ ॥  
 अथवा सोऽनभिज्ञेऽपि निन्दतु स्तौतु वा कृतिम् । विदग्धपरिहासानामन्यथा कास्तु विश्रमः ॥ २७ ॥  
 गणयन्ति महान्तः किं क्षुद्रोपद्रवमल्पवत् । दाहं तृणाग्निना तूलं पत्युस्तापोऽपि नाम्भसाम् ॥ २८ ॥  
 काष्ठजोऽपि दहत्यग्निः काष्ठं तं तत्तु बद्धयेत् । प्रदीपायितमेताभ्यां<sup>२</sup> सदसद्भावमासने ॥ २९ ॥  
 स्तुतिनिन्दे कृतिं श्रुत्वा करोतु गुणदोषयोः । ते<sup>३</sup> तस्य क्लृप्तः कीर्तिमकर्तुरपि सत्कृतेः ॥ ३० ॥  
 सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः । कर्णं दुस्संस्कृतं प्राप्य तुदन्ति हृदयं मृशम् ॥ ३१ ॥  
 प्रवृत्तेर्यं कृतिं कृत्वा गुरुन् पूर्वकवीश्वरान् । भाविनोद्यतनाश्चास्यां<sup>४</sup> विदधुः शुद्ध्यनुग्रहम् ॥ ३२ ॥  
 मतिर्मे केवलं सूते कृतिं राज्ञीव तत्सुताम् । धियस्तां वर्तयिष्यन्ति धात्रीकल्पाः कवीश्वरानाम् ॥ ३३ ॥  
 इदं बुधा ग्रहीष्यन्ति मा गृहीषुः पृथग्जनाः । किमतीत्यानि रत्नानि<sup>५</sup> श्रीणम्यकृतपुण्यकाः ॥ ३४ ॥  
 हृदि धर्ममहारत्नमागमागमोधिर्लभवम् । कौस्तुभादधिकं मत्वा दधातु पुरुषोत्तमः<sup>६</sup> ॥ ३५ ॥

मैं तुझसे यह फिर भी प्रार्थना करता हूँ कि तू मेरे गुणोंका ग्रहण मत कर । भावार्थ — दुर्जनोके द्वारा दोष ग्रहण किये जानेपर रचना निर्दोष हो जावेगी और निर्दोष होनेसे सबको खचिकर होगी परन्तु गुण ग्रहण किये जानेपर वह निर्गुण हो जानेसे किसीको खचिकर नहीं होगी अतः यहाँ आचार्यने दुर्जन पुरुषसे कहा है कि तू मेरी इस रचनाके दोष ग्रहण कर क्योंकि वह तेरा धन है परन्तु गुणोंपर हाथ नहीं लगाना ॥ २५ ॥ जिस प्रकार जन्मके अन्धे किसी घृष्ट पुरुषके द्वारा की हुई किसीके रूपकी स्तुति या निन्दा उसकी हँसीके लिए होती है उसी प्रकार गुण और दोषोके विषयमें अज्ञानकार पुरुषके द्वारा की हुई स्तुति या निन्दा केवल उसकी हँसीके लिए होती है ॥ २६ ॥ अथवा वह अज्ञानकार मनुष्य भी मेरी रचनाकी निन्दा या स्तुति करे क्योंकि ऐसा न करनेसे चतुर पुरुषोंको हास्यका स्थान कहाँ प्राप्त होगा । भावार्थ — जो मनुष्य उस विषयका जानकार न होकर भी किसीकी निन्दा या स्तुति करता है चतुर मनुष्य उसकी हँसी ही करते हैं ॥ २७ ॥ महापुरुष क्या तुच्छ मनुष्योंके समान छोटे-छोटे उपद्रवोंको गिना करते हैं ? अर्थात् नहीं । तृणकी आगसे रई जल सकती है परन्तु उससे समुद्रके जलको सन्ताप नहीं हो सकता ॥ २८ ॥ काठसे उत्पन्न हुई अग्नि काठको जला देती है परन्तु काठ उसे बढ़ाता ही है, ये दोनों उदाहरण अच्छे और बुरे भावोंको प्रकट करनेके विषयमें दीपकके समान आचरण करते हैं ॥ २९ ॥ दुष्ट पुरुष मेरी रचनाको सुनकर गुणोंकी स्तुति और दोषोंकी निन्दा करे क्योंकि यद्यपि वे उत्तम रचना करना नहीं जानते तथापि मेरी रचनाकी स्तुति अथवा निन्दा ही उनकी कीर्तिको करनेवाली होगी ॥ ३० ॥ उत्तम कविके वचन ठीक अर्जुनके वाणोंके समान होते हैं क्योंकि जिस प्रकार अर्जुनके वाण काममें लानेपर छोटे संस्कारवाले कर्ण ( कर्ण नामका राजा ) को पाकर उसके हृदयको दुःख पहुँचाते थे उसी प्रकार उत्तम कविके वचन काममें लानेपर छोटे संस्कारवाले कर्ण ( श्रवण इन्द्रिय ) को पाकर हृदयको अत्यन्त दुःख पहुँचाते हैं ॥ ३१ ॥ पहलेके कवीश्वरोंको गुरु मानकर ही यह रचना की गयी है इसलिए जो कवि आज विद्यमान हैं अथवा आगे होंगे वे सब इसे शुद्ध करनेकी कृपा करे ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार रानी किसी उत्तम कन्याको केवल उत्पन्न करती है उसका पालन-पोषण धाय करती है उसी प्रकार मेरी बुद्धि इस रचनाको केवल उत्पन्न कर रही है इसका पालन-पोषण धायके समान कवीश्वरोंकी बुद्धि ही करेगी ॥ ३३ ॥ मेरे इस काव्यको पण्डितजन ही ग्रहण करेंगे अन्य मूर्ख लोग भले ही ग्रहण न करे क्योंकि जिन्होंने पुण्य नहीं किया है ऐसे दरिद्र पुरुष क्या अमूल्य रत्नोंको खरीद सकते हैं ? अर्थात् नहीं ॥ ३४ ॥ पुरुषोत्तम ( नारायण अथवा उत्तम मनुष्य ) आगमरूपी

१ काष्ठम् । २ अनिकाष्ठाभ्याम् । ३ स्तुतिनिन्दे । ४ कृतेः । ५ आवदति । ६ कृष्ण इति ध्वनिः ।

श्रोत्रपात्राजलिं कृत्वा पीत्वा धर्मरसायनम् । अजरामरतां प्राप्तुमुपयुज्यमिदं<sup>१</sup> बुधाः ॥३६॥  
 नूनं पुण्यं पुराणाब्धेर्मध्यमध्यासितं मया । तत्सुभाषितरत्नानि संचितानिचि विनिश्चितः ॥३७॥  
 सुदूरपाश्र्गमीरमिति नात्र मयं मम । पुरोगा गुरवः सन्ति प्रद्याः सर्वत्र दुर्लभाः ॥३८॥  
 पुराणस्यास्य संसिद्धिर्नाम स्वेनैव सूचिता । निर्वक्ष्याम्यत्र नो वेत्ति ततो नास्त्यहमाकुलः ॥३९॥  
 पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा भुवम् । मवाब्धे पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥४०॥  
 अर्थो मनसि जिह्वाग्रे शब्दः<sup>२</sup> सालंकृतिस्तयोः<sup>३</sup> । अतः पुराणसंसिद्धेर्नास्ति कालविलम्बनम् ॥४१॥  
 आकरेणिव रत्नानामुहानां नाशये क्षयः । विचित्रालंकृतीः<sup>४</sup> कर्तुं दौर्गत्यं किं कवेः कृतीः<sup>५</sup> ॥४२॥  
 विचित्रपदविन्यासा रसिका सर्वसुन्दरा<sup>६</sup> । कृतिः सालंकृतिर्न स्यात् कस्येयं कामसिद्धये ॥४३॥  
 संचितस्यैनसो हन्त्री<sup>७</sup> नियन्त्री चागमिष्यतः । आमन्त्रिणी<sup>८</sup> च पुण्यानां ध्यातव्येयं कृतिः श्रुता ॥४४॥

समुद्रसे उत्पन्न हुए इस धर्मरूपी महारत्नको कौस्तुभ मणिले भी अधिक मानकर अपने हृदयमें धारण करे ॥३५॥ पण्डितजन कामरूपी पात्रकी अजलि बना इस धर्मरूपी रसायनको पीकर अजर अमरपना प्राप्त करनेके लिए उद्यम करे ॥३६॥ मुझे यह निश्चय है कि मैंने अवश्य ही इस पुराणरूपी समुद्रके पवित्र मध्यभागमें अधिष्ठान किया है और उससे सुभाषित-रूपी रत्नोका संचय किया है ॥३७॥ यह पुराणरूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, इसका किनारा बहुत दूर है इस विषयका मुझे कुछ भी भय नहीं है क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबमें श्रेष्ठ गुरु जिनसेनाचार्य मेरे आगे हैं ॥३८॥ इस पुराणकी सिद्धि अपने महापुराण इस नामसे ही सूचित है इसलिए मैं इसे कह सकूँगा अथवा इसमें निर्वाह पा सकूँगा या नहीं इसकी मुझे कुछ भी आकुलता नहीं है ॥३९॥ जिनसेनाचार्यके अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्गका आलम्बन कर अवश्य ही संसाररूपी समुद्रसे पार होनेकी इच्छा करते हैं फिर इस पुराणके पार होनेकी बात तो कहना ही क्या है ? भावार्थ—जिनसेनाचार्यके द्वारा बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करनेसे जब संसाररूपी समुद्रका पार भी प्राप्त किया जा सकता है तब पुराणका पार (अन्त) प्राप्त करना क्या कठिन है ? ॥४०॥ अर्थ मनमें है, शब्द जिह्वाके अग्रभागपर है और उन दोनोंके अलंकार प्रसिद्ध हैं ही अतः इस पुराणकी सिद्धि (पूर्ति) होनेमें समयका विलम्ब नहीं है अर्थात् इसकी रचना शीघ्र ही पूर्ण होगी ॥४१॥ जिस प्रकार खानिमें रत्नोकी कमी नहीं है उसी प्रकार जिसके मनमें तर्क अथवा पदार्थोकी कमी नहीं है फिर भला जिसमें अनेक प्रकारके अलंकार हैं ऐसे काव्यके बनानेवाले कविको दरिद्रता किस बातकी है ? ॥४२॥ मेरी यह रचना अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार सुन्दर स्त्री विचित्र पदव्यासा अर्थात् अनेक प्रकारसे चरण रखनेवाली होती है उसी प्रकार यह रचना भी विचित्र पदव्यासा अर्थात् अनेक प्रकारके सुबन्त तिङन्त रूप पद रखनेवाली है, जिस प्रकार सुन्दर स्त्री रसिका अर्थात् रसीली होती है उसी प्रकार यह रचना भी रसिका अर्थात् अनेक रसोंसे भरी हुई है, और जिस प्रकार सुन्दर स्त्री सालंकारा अर्थात् कटक कुण्डल आदि आभूषणोंसे सहित होती है उसी प्रकार यह रचना भी सालंकारा अर्थात् उपमा रूपक आदि अलंकारोंसे सहित है । इस प्रकार मेरी यह रचना सुन्दरी स्त्रीके समान भला जिसके मनोरथकी सिद्धिके लिए न होगी ? भावार्थ—इसके पढ़नेसे सबके मनोरथ पूर्ण होंगे ॥४३॥ यह शुभ रचना पहलेके सचित पापोंको नष्ट

१ उपयुज्यम्वम् । २ प्रसिद्धा । ३ अलंकारश्च जिह्वाग्रे वर्तते । ४ चन्द्राययो । ५ लङ्कृते कर्तुर्दौर्गत्य अ०, प०, ल०, म० । —लङ्कृते कर्तुं दौर्गत्य इ०, स० । ६ कृते अ०, प०, ल०, म०, इ०, स० । ७ —सुन्दरी ल०, म० । ८ विनाशिनी । ९ प्रतिपेदी । १० आमन्त्रिणी स० ।

संस्कृतानां<sup>१</sup> हिते<sup>२</sup> प्रीतिः प्राकृतानां<sup>३</sup> प्रियं<sup>४</sup> प्रियम्<sup>५</sup> । एतद्धितं<sup>६</sup> प्रियं चातः सर्वान् सन्तोषयत्यलम् ॥४५॥  
इदं निष्पन्नमेवात्र स्थितमेवायुगान्तरम् । इत्याविर्भावितोत्साहः प्रस्तुते<sup>७</sup> प्रस्तुतां कथाम् ॥४६॥

इति पीठिका ।

अथातः श्रेणिकः पीत्वा पुरोः<sup>८</sup> सुचरितामृतम् । आसिस्वादिपुः<sup>९</sup> शेषं<sup>१०</sup> हस्तलभमिवोत्सुकः ॥४७॥  
समुत्थाय सभामध्ये प्राञ्जलिः प्रणतो भनाक्<sup>११</sup> । पुनर्विज्ञापयामास गौतमं गणनायकम् ॥४८॥  
स्वप्नसादाच्छ्रुतं सम्यक्पुराणं परमं पुरोः । निवृत्तोऽसौ यथास्थान्ते तथाहं चातिनिवृत्तः<sup>१२</sup> ॥४९॥  
किंल तस्मिन् जयो नाम तीर्थेऽभूत् पार्थिवाग्रणीः ।<sup>१३</sup> यस्याद्यापि जितार्कस्य प्रतापः प्रथते क्षितौ ॥५०॥  
यस्य दिग्विजये मेघकुमारविजये स्वयम् । वीरपटं समुद्धृत्य बबन्ध भरतेश्वरः ॥५१॥  
पुरस्तीर्थकृतां पूर्वदक्षिणां भरतेश्वरः । दानतीर्थकृतां श्रेयान् किलासौ<sup>१४</sup> च स्वयंवरे ॥५२॥  
अर्ककीर्तिं पुरोः पौत्रं<sup>१५</sup> संगरे कृतसंगरः<sup>१६</sup> । जिप्त्वा निगलयामास<sup>१७</sup> किलैकाकी सहेलया ॥५३॥  
सेनान्तो वृषभः कुम्भो रथान्तो दृढसंज्ञकः । धनुरन्तः शतो देवशर्मा भावान्तदेवमाक् ॥५४॥  
नन्दनः सोमदत्ताहः सूरदत्तो गुणैर्गुरुः । वायुशर्मा यशोबाहुर्देवाग्निश्चाग्निदेवमाक् ॥५५॥  
अग्निगुप्तोऽथ मित्राग्निर्हलश्च समहीधरः । महेन्द्रो वसुदेवश्च ततः पञ्चाद्वसुधरः ॥५६॥

करनेवाली है, आनेवाले पापोंको रोकनेवाली है और पुण्योंको बुलानेवाली है इसलिए इसका सदा ध्यान करते रहना चाहिए ॥४४॥ उत्तम मनुष्योंकी हितमें प्रीति होती है और साधारण मनुष्योंको जो इष्ट है वही प्रिय होता है, यह पुराण हितरूप भी है और प्रिय भी है अतः सभी-को अच्छी तरह सन्तुष्ट करता है ॥४५॥ यह तैयार हुआ पुराण अवश्य ही इस संसारमें युगान्तर तक स्थिर रहेगा इस प्रकार जिसे उत्साह प्रकट हुआ है ऐसा मैं अब प्रकृत कथाका प्रारम्भ करता हूँ ॥४६॥ ( इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई । )

अथानन्तर—राजा श्रेणिक भगवान् वृषभदेवके उत्तम चरितरूपी अमृतको पीकर हाथमें लगे हुए की तरह उसके शेष भागको भी आस्वादन करनेकी इच्छा करता हुआ अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठा ॥४७॥ उसने सभाके बीचमें खड़े होकर हाथ जोड़े, कुछ शिर झुकाकर नमस्कार किया और फिर गौतम गणधरसे इस प्रकार प्रार्थना की कि हे भगवान्, मैंने आपके प्रसादसे श्री वृषभदेवका यह उत्कृष्ट पुराण अच्छी तरह श्रवण किया है । जिस प्रकार भगवद् वृषभदेव इस पुराणके अन्तमें निर्वाणको प्राप्त होकर सुखी हुए है उसी प्रकार मैं भी इसे सुनकर अत्यन्त सुखी हुआ हूँ । ऐसा सुना जाता है कि भगवान् वृषभदेवके तीर्थमें सब राजाओंमें श्रेष्ठ जयकुमार नामका वह राजा हुआ था, जिसने अर्ककीर्तिको भी जीता था और जिसका प्रताप आज भी पृथिवीपर प्रसिद्ध है । दिग्विजयके समय मेघकुमारको जीत लेनेपर जिसके लिए स्वयं महाराज भरतने वीरपट्ट निकालकर बाँधा था, जिस प्रकार तीर्थं करोमे वृषभदेव, चक्रवर्तियोंमें सम्राट् भरत और दान तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालोंमें राजा श्रेयांस सर्वप्रथम हुए हैं उसी प्रकार जो स्वयवरकी विधि चलानेमें सर्वप्रथम हुआ है, जिसने युद्धमें प्रतिज्ञा कर श्री वृषभदेवके पोते अर्ककीर्तिको अकेले ही लीलामात्रमें जीतकर बाँध लिया था तथा वृषभसेन १, कुम्भ २, दूदरथ ३, शतधनु ४, देवशर्मा ५, देवभाव ६, नन्दन ७, सोमदत्त ८, गुणोसे श्रेष्ठ सूरदत्त ९, वायुशर्मा १०, यशोबाहु ११, देवाग्नि १२, अग्निदेव १३, अग्निगुप्त १४, मित्रानि १५, हलभूत् १६,

१ उत्तमपुरुषाणाम् । २ परिणमनसुखावधे । ३ साधारणानाम् । ४ आपातरमणीयम् । अनुभवनकाले सुन्दर-मित्यर्थः । ५ इष्टम् । ६ पुराणम् । ७ प्रारम्भे । ८ वृषभस्य । ९ आस्वादिपुत्तुमिच्छुः । १० हस्तालम्—अ०, ५०, ल०, म० । ११ ईश्वत् । १२ अतिसुखी । १३ जयस्य । १४ जयकुमारः । १५ नष्टारम् । १६ कृत-प्रतिज्ञः । १७ बबन्ध ।

अचलो मेरुसंज्ञश्च ततो मेरुधनाह्वयः । मेरुभूतिर्यशोयज्ञप्रान्तसर्वाभिधानकौ ॥५७॥  
 सर्वगुप्तः प्रियप्रान्तसर्वो देवान्तसर्ववाक् । सर्वादिविजयो गुप्तो विजयादिस्त्वतः परः ॥५८॥  
 विजयमित्रो विजयिलोऽपराजितसञ्जकः । वसुमित्रः सविज्ञादिसेनः सेनान्तसाधुवाक् ॥५९॥  
 देवान्तसत्यः सत्यान्तदेवो गुप्तास्तसत्यवाक् । सत्यमित्रः सतां ज्येष्ठः संमिलो निर्मलो गुणैः ॥६०॥  
 विनीतः सवरो गुप्तो मुन्यादिसुनिदत्तवाक् । मुनियज्ञो मुनिदेवप्रान्तो यज्ञान्तगुप्तवाक् ॥६१॥  
 मित्रयज्ञः स्वयम्भूश्च देवदत्तान्तगौः अगौ । मगादिफल्गुः फल्ग्वन्तगुप्तो मित्रादिफल्गुकः ॥६२॥  
 प्रजापतिः सर्वसन्धो वरुणो धनपालकः । मघवान् राक्षन्ततेजो महावीरो महारथः ॥६३॥  
 विशालाक्षो महाबालः शुचिसालस्ततः परः । वज्रश्च वज्रसारश्च चन्द्रचूलसमाह्वयः ॥६४॥  
 जयो महारसः कच्छमहाकच्छावतुच्छकौ । नमिर्विनमिरन्यौ च बलातिबलसञ्जकौ ॥६५॥  
 बलान्तमद्रो नन्दी च महाभागी परस्ततः । मित्रान्तनन्दी देवान्तकामोऽनुपमलक्षण ॥६६॥  
 चतुर्भिरधिकाशीतिरिति शृणुर्गणाधिपा । एते सप्तद्विसंयुक्ताः सर्वे वैद्यजुवादिनः ॥६७॥  
 स एवासीद् गृहत्यागादेवेज्वप्युदितोदितः । एकसप्ततिं संस्थानसंप्राप्तगणनो गणौ ॥६८॥  
 पुराण तस्यैव ब्रूहि महत्तन्नास्ति कौतुकम् । भव्यचातकवृन्दस्य प्रघर्णे भगवानिति ॥६९॥  
 ततः स्वस्य समालक्ष्य गणार्थीशादनुग्रहम् । अलङ्कार स्वस्थानमिद्विज्ञा हि धीधनाः ॥७०॥  
 यत्पण्डुमिष्टमस्माभिः पृष्टं शिष्टं स्वयैव तत् । चेतो जिह्वा त्वमस्माकमित्यस्तावीर् सत्ता च तन् ॥७१॥

प्रसिद्ध महीधर १७, महेन्द्र १८, वसुदेव १९, उसके अनन्तर वसुध्वर २०, अचल २१, मेरु २२, तदनन्तर मेरुधन २३, मेरुभूति २४, सर्वयज्ञ २५, सर्वयज्ञ २६, सर्वगुप्त २७, सर्वप्रिय २८, सर्वदेव २९, सर्वविजय ३०, विजयगुप्त ३१, फिर विजयमित्र ३२, विजयिल ३३, अपराजित ३४, वसुमित्र ३५, प्रसिद्ध विश्वसेन ३६, साधुसेन ३७, सत्यदेव ३८, देवसत्य ३९, सत्यगुप्त ४०, सप्तपुरुषोमे श्रेष्ठ सत्यमित्र ४१, गुणोसे युक्त निर्मल ४२, विनीत ४३, संवर ४४, मुनिगुप्त ४५, मुनिदत्त ४६, मुनियज्ञ ४७, मुनिदेव ४८, गुप्तयज्ञ ४९, मित्रयज्ञ ५०, स्वयम्भू ५१, भगदेव ५२, भगदत्त ५३, भगफल्गु ५४, गुप्तफल्गु ५५, मित्रफल्गु ५६, प्रजापति ५७, सर्वसध ५८, वरुण ५९, धनपालक ६०, मघवान् ६१, तेजोराशि ६२, महावीर ६३, महारथ ६४, विशालाक्ष ६५, महाबाल ६६, शुचिशाल ६७, फिर वज्र ६८, वज्रसार ६९, चन्द्रचूल ७०, जय ७१, महारस ७२, अतिशय श्रेष्ठ कच्छ ७३, महाकच्छ ७४, नमि ७५, विनमि ७६, बल ७७, अतिबल ७८, भद्रबल ७९, नन्दी ८०, फिर महाभागी ८१, नन्दिमित्र ८२, कामदेव ८३ और अनुपम ८४ । इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके ये ८४ गणधर थे, ये सभी सातो ऋद्धियोसे सहित थे और सर्वज्ञ देवके अनुरूप थे । इन चौरासी गणधरोमे जो घरका त्याग कर अत्यन्त प्रभावशाली, गुणवान् और इकहत्तरवी सख्याको प्राप्त करनेवाला अर्थात् इकहत्तरवाँ गणधर हुआ था, उन्ही जयकुमारका पुराण सुने कहिए क्योंकि उसमें बहुत भारी कौतुक है । आप भव्यजीवरूपी चातक पक्षियोंके समूहके लिए उत्तम भेघके समान हैं ॥ ४८-६९ ॥

तदनन्तर गणधरदेवसे अपना अनुग्रह जानकर राजा श्रेणिक अपने स्थानको अलङ्कृत करने लगा अर्थात् अपने स्थानपर जा बैठे सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष सकेतको जाननेवाले होते हैं ॥ ७० ॥ 'हे शिष्ट' जिसे हम लोग पूछना चाहते थे वही तूने पूछा है इसलिए

१ सर्वयज्ञा सर्वयज्ञा । २ देवदत्तभगदत्तौ । ३ सर्वज्ञमुदृशः । ४ पर्यम्भुदयवान् । प्रतिख्यात इत्यर्थः । ५ एतेषु चतुरशीतिगणधरदेवैरेकैकसप्ततिसंख्या प्राप्तगणना । ६ गुणी ८०, म० । ७ जयस्य । ८ प्रकृष्टमेव इति विज्ञापयामास । ९ ज्ञात्वैत्यर्थः । १० स्तुतिमकरोत् ।



गणी तेनेति संप्रष्टः प्रष्टुत्तस्तदनुग्रहे । नार्थिनो विमुक्तान् सन्तः कुर्वन्ते तद्धि तद्वतम् ॥७२॥

शृणु श्रेणिक संप्रदन्स्त्वयात्रावसरे कृतः । नाराचयन्ति<sup>१</sup> कान्वाते<sup>२</sup> सन्तोऽवसरवेदिनः ॥७३॥

कथामुखम्

इह जन्ममति द्वीपे दक्षिणे सरते महान् । वर्णाश्रमसमाकीर्णो देशोऽस्ति कुरुजाङ्गलः ॥७४॥

धर्मार्थकाममोक्षाणामेको लोकेऽयमाकरः । भाति स्वर्गं इव स्वर्गं विमानं<sup>३</sup> वाऽमरोशितुः ॥७५॥

हास्तिनाख्यं पुरं तत्र विचित्रं सर्वसंपदा । संभव<sup>४</sup> सृष्यद्वाढौ<sup>५</sup> लक्ष्म्याः<sup>६</sup> कुलगृहायितम् ॥७६॥

पतिः पतिर्वा ताराणामस्य सोमप्रभोऽम्भवत् । कुर्वन्<sup>७</sup> कुवल्याङ्गा<sup>८</sup> सत्करैः स्वैर्बुधाश्रयः ॥७७॥

तस्य लक्ष्मीमनाक्षिप्य<sup>९</sup> वक्षःस्थलनिवासिनी । लक्ष्मीरियं द्वितीयेति प्रेक्ष्या<sup>१०</sup> लक्ष्मीवती सती<sup>११</sup> ॥७८॥

तथोर्जयोऽम्भवत् सूनुः प्रज्ञाविक्रमयोरिव । तन्वञ्जाजन्मनः<sup>१२</sup> कीर्तिं लक्ष्मीमिव गुणाजिताम् ॥७९॥

सुताश्चतुर्दशास्यान्ये जजिरे विजयादयः । गुणैर्मन्त्रं<sup>१३</sup> ज्यतिक्रान्ताः संख्याया<sup>१४</sup> सद्योऽपि ते ॥८०॥

प्रष्टुद्वनिजचेतोमिस्तैः पञ्चदशभिर्दृग्भ्यम् । कान्तैः कलाविद्यैर्बैर्वा<sup>१५</sup> राजराजो रराज सः ॥८१॥

तू ही हमारा मन है और तू ही मेरी जीभ है' इस प्रकार समस्त सभाने उसकी प्रशंसा की थी ॥ ७१ ॥ राजा श्रेणिकके द्वारा इस प्रकार पूछे गये गौतम गणधर उसका अनुग्रह करनेके लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष याचकोंको विमुख नहीं करते, निश्चयसे यही उनका व्रत है ॥ ७२ ॥ गौतम स्वामी कहने लगे कि हे श्रेणिक ! सुन, तूने यह प्रश्न अच्छे अवसरपर किया है अथवा यह ठीक है कि अवसरको जाननेवाले सत्पुरुष अन्तमे किसको वश नहीं कर लेते ॥ ७३ ॥

इस जन्म द्वीपके दक्षिण भरतक्षेत्रमें वर्ण और आश्रमसे भरा हुआ कुरुजांगल नामका बड़ा भारी देश है ॥ ७४ ॥ संसारमे यह देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो पुरुषार्थोंकी एक खान है । तथा यह देश स्वर्गके समान है अथवा स्वर्गमें भी इन्द्रके विमानके समान है ॥ ७५ ॥ उस देशमे हस्तिनापुर नामका एक नगर है जो कि सब प्रकारकी सम्पदाओंसे बड़ा ही विचित्र है तथा जो समुद्रमें लक्ष्मीकी उत्पत्तिको झूठा सिद्ध करता हुआ उसके कुलगृहके समान जान पड़ता है ॥ ७६ ॥ उस नगरका राजा सोमप्रभ था जो कि ठीक चन्द्रमाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने उत्तम कर अर्थात् किरणोंसे कुवलय अर्थात् कुमुदोंको आनन्दित-विकसित करता हुआ बुध अर्थात् बुध ग्रहके आश्रित रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने उत्तम कर अर्थात् टैक्ससे कुवलय अर्थात् महीमण्डलको आनन्दित करता हुआ बुध-अर्थात् विद्वानोंके आश्रयमे रहता था ॥७७॥ उस राजाकी लक्ष्मीवती नामकी अत्यन्त सुन्दरी पतिव्रता स्त्री थी जो कि ऐसी जान पड़ती थी मानो उसकी लक्ष्मीका तिरस्कार न कर वक्ष स्थलपर निवास करनेवाली दूसरी ही लक्ष्मी हो ॥ ७८ ॥ जिस प्रकार बुद्धि और पराक्रम-से जय अर्थात् विजय उत्पन्न होती है उसी प्रकार उन लक्ष्मीमती और सोमप्रभके जय अर्थात् जयकुमार नामका पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि जन्मसे ही गुणोंद्वारा उपार्जन की हुई लक्ष्मी और कीर्तिको विस्तृत कर रहा था ॥ ७९ ॥ राजा सोमप्रभके विजयको आदि लेकर और भी चौदह पुत्र उपपन्न हुए थे जो कि संख्यामे समान होनेपर भी गुणोंके द्वारा कुलकरोंको उल्लंघन कर रहे थे ॥ ८० ॥ जिस प्रकार अतिशय सुन्दर विशेष कलाओंसे चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी

१ स्वाधीनान् कुर्वन्ति । २ कान्तैरे अ०, स० । कान्वाते ल०, म० । ३ इव । ४ उत्पत्तिम् । ५ अनृतं कुर्वन् ।

६ अयं लक्ष्मीशब्दः सम्भवं कुलगृहायितमित्युभत्रापि योजनीयः । ७ कुवलयानन्द कैरवानन्द च । ८ विद्वज्ज-नाश्रयः । सोमसुताश्रयश्च । ९ तिरस्कारमकृत्वा । १० दर्शनीया । ११ पतिव्रता । १२ जननकालात् प्रारम्भः ।

— जन्मत ल०, म० । १३ मनुषिं समाना अपि । १४ वा राजा राजा इत्यपि पाठः । चन्द्र इव ।

राजा राजप्रभो<sup>१</sup> लक्ष्मीमती देवी प्रियानुजः । श्रेयान् ज्यायान् जयः पुत्रस्तद्वाज्यं पूज्यते न कैः ॥८२॥  
 स पुत्रविटपादोप<sup>२</sup> सोमकल्पादृषिप्रश्निरम् । भोग्यः संभृतपुण्यानां स्वस्य चाभुत्तदभुतम् ॥८३॥  
 अथान्यदा जगत्कामभोगवधून् विभुप्रभ<sup>३</sup> । अनित्याञ्जुचिदुत्खान्यान्मत्वा याथात्म्यवीक्षणः<sup>४</sup> ॥८४॥  
 विरज्य राज्यं संयोज्य<sup>५</sup> धुपे शौर्योन्जिते जये । अजयौदार्यवो यदिप्राज्यराज्यसमुत्सुकः<sup>६</sup> ॥८५॥  
 अभ्येत्य वृषसाम्बाश<sup>७</sup> दीक्षित्वा मोक्षमन्वभूत् । श्रेयसां<sup>८</sup> सह<sup>९</sup> नार्पत्यमनुजेन यथा पुरा<sup>१०</sup> ॥८६॥  
 पितु पदमधिष्ठाय<sup>११</sup> जयोऽस्तापि<sup>१२</sup> महीं महान् । महतोऽनुभवन् भोगान् संविमन्यानुजैः समम्<sup>१३</sup> ॥८७॥  
 एकदाऽयं विहारार्यं बाह्योद्यानसुपागतः । तत्रासीनं समालोक्य शीलमुप्त<sup>१४</sup> महासुनिम् ॥८८॥  
 त्रिपरीत्य नमस्कृत्य तुत्वा भक्तिभरान्वितः । श्रुत्वा धर्मं तमापृच्छ्य प्रीत्या प्रत्यविशत् पुरीम् ॥८९॥  
 तस्मिन् वने वसन्नागमिधुनं सह भूमुखा । श्रुत्वा धर्मं सुधां मत्वा पपौ प्रीत्या वयारसम् ॥९०॥  
 कदाचित् प्राबुद्धारम्भे प्रचण्डाशनिताडितः । सुत्वाऽसौ शान्तिमादाय नागो नागामरोऽभवत् ॥९१॥

प्रकार अपने तेजको बढ़ानेवाले, अतिशय सुन्दर और विशेष कलाओको धारण करनेवाले उन पन्त्रह पुत्रोसे राजाधिराज सोमप्रभ सुशोभित हो रहे थे ॥८१॥ जिस राज्यका राजा सोमप्रभ था, लक्ष्मीमती रानी थी, प्रिय छोटा भाई श्रेयांस था और बड़ा राजपुत्र जयकुमार था भला वह राज्य किसके द्वारा पूज्य नहीं होता ? ॥८२॥ जिसपर पुत्ररूपी शाखाओका विस्तार है ऐसा वह राजा सोमप्रभरूपी कल्पवृक्ष, पुण्य सचय करनेवाले अन्य पुरुषोको तथा स्वयं अपने-आपको भोग्य था यह आश्चर्यकी बात है । भावार्थ—पुत्रो-द्वारा वह स्वयं सुखी था तथा अन्य सब लोग भी उनसे सुख पाते थे ॥८३॥

अथानन्तर किसी समय, पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले राजा सोमप्रभ संसार, शरीर, भोग और भाइयोको क्रमश अनित्य, अपवित्र, दुःखस्वरूप और अपनेसे भिन्न मानकर विरक्त हुए तथा कभी नष्ट न होनेवाले अनन्त वीर्य आदि गुणोसे श्रेष्ठ मोक्षरूपी राज्यके पानमें उत्सुक हो, शूरवीर तथा धुरन्धर जयकुमारको राज्य सौंपकर भगवान् वृषभदेवके समीप गये और वहाँ अपने छोटे भाई श्रेयासके साथ दीक्षा लेकर मोक्षमुखका अनुभव करने लगे । जिस प्रकार वे पहिले यहाँ अपने छोटे भाईके साथ राज्यसुखका उपभोग करते थे उसी प्रकार मोक्षमें भी अपने छोटे भाईके साथ वहाँका सुख उपभोग करने लगे । भावार्थ—दोनों भाई मोक्षको प्राप्त हुए ॥८४—८६॥ इधर श्रेष्ठ जयकुमार पिताके पदपर आसीन होकर पृथिवीका पालन करने लगा । और अपने बड़े भारी भोगोपभोगोको वाँटकर छोटे भाइयोके साथ-साथ उनका अनुभव करने लगा ॥८७॥ एक दिन वह जयकुमार क्रीडा करनेके लिए नगरके बाहर किसी उद्यानमे गया । उसने वहाँ विराजमान शीलगुप्त नामके महामुनिके दर्शन कर उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दी, बड़ी भारी भक्तिके साथ-साथ नमस्कार किया, स्तुति की, प्रीतिपूर्वक धर्म सुना और फिर उनसे आज्ञा लेकर नगरको वापिस लौटा ॥८८—८९॥ उसी वनमें साँपोका एक जोड़ा रहता था उसने भी राजाके साथ-साथ धर्म श्रवणकर उसे अमृत मान बड़े प्रेमसे दयारूपी रसका पान किया था ॥९०॥ किसी समय वर्षाऋतुके प्रारम्भमे प्रचण्ड बज्रके पड़नेमे उस जोड़ेमें-का वह सर्प शान्तिधारण कर मरा जिससे नागकुमार जातिका देव हुआ ॥९१॥

१ सोमप्रभ । २ शास्त्रातिशय । ३ सोमप्रभ । ४ यथात्मस्वरूपदर्शी । ५ धुरन्धरे । ६ अश्वरथ । ७ महत्त्व । ८ प्रकृष्टराज्योत्कृष्ट इत्यर्थः । ९ समीपम् । १० निजानुजेन । ११ नृपतिवत् । १२ राज्यकाले दया । १३ आश्रित्य । १४ पालयति स्म । १५ सह ल०, म० । १६ —गुप्तमहा—ल०, म० ।

अन्येद्यस्मिमारह्य पुनस्तद्वनमापतत् । नागी<sup>२</sup> श्रुतवर्ती<sup>३</sup> धर्म राजाऽत्रैव सहात्मना ॥१२॥  
 वीक्ष्य काकोदरेणामा जातकीपो विजातिना । लीलानीलोत्पलेनाहर्<sup>४</sup> दम्पती तौ धिगित्यसौ ॥१३॥  
 पलायमानौ पाषाणैः काटैर्लोढैः पदातयः । अघ्नन्<sup>५</sup> सर्वं न को वाऽत्र दुश्चरित्राय कुप्यति ॥१४॥  
 पापः स तद्वयैर्भूत्वा वेदनाकुलधीस्तदा । नाम्नाऽजायत गङ्गायां कालीति जलदेवता ॥१५॥  
 संजातानुशया साऽपि हृत्वा धर्मं हृदि स्थिरम् । भूत्वा प्रिया स्वनागस्य<sup>६</sup> राज्ञा<sup>७</sup> स्वमृत्तिमब्रवीत् ॥१६॥  
 नागामरोऽपि तां पश्यन् कोपादेवममन्यत । दर्पितेन<sup>१०</sup> खलेनैषा वराकी<sup>११</sup> हा हा वृथा ॥१७॥  
 विधवेति विवेदाधीर्नेदक्षं मामिमं धवम्<sup>१२</sup> ।<sup>१३</sup> न तत्प्राणान् हरे यावद् भुजङ्गा केन वाऽस्यहम् ॥१८॥  
 इत्यतोऽसौ<sup>१४</sup> दिदृक्षुस्तं जयं तद्गृहमासदत् । न सहन्ते ननु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम् ॥१९॥  
<sup>१५</sup> वासगेहे जयो राज्ञौ श्रीमत्याः<sup>१६</sup> कौतुकं प्रिये । मृण्वेकं दृष्टमित्याख्यत् तद्भुजङ्गविचेष्टितम् ॥२०॥  
<sup>१७</sup> आभिजात्यं बभौ रूपं विद्यां वृत्तं यगः श्रियम् । विभुत्वं विक्रमं कान्तिसैहिकं पारलौकिकम् ॥२१॥  
 प्रीतिमप्रीतिमादेयमनादेयं कृपां त्रपाम् । हानिं वृद्धिं गुणान् दोषान् गणयन्ति न योषितः ॥२२॥  
 धर्मः कामश्च<sup>१८</sup> सञ्जयो वित्तनायं तु सत्ययः । क्रीणन्त्यर्थं<sup>१९</sup> स्त्रियस्ताभ्यां<sup>२०</sup> धिक् तासां बृद्धगुणुवाह<sup>२१</sup> ॥२३॥

किसी दूसरे दिन वही राजा जयकुमार हाथीपर सवार होकर फिर उसी वनमें गया और वहाँ अपने साथ-साथ मुनिराजसे धर्म श्रवण करनेवाली सर्पिणीको काकोदर नामके किसी विजातीय सर्पके साथ देखकर बहुत ही कुपित हुआ तथा उन दोनों सर्प सर्पिणीको धिक्कार देकर क्रीड़ाके नील कमलसे उन्हें दोनोंका ताड़न किया ॥१२-१३॥ वे दोनों वहाँसे भागे किन्तु पैदल चलने-वाले सेनाके सभी लोग भागते हुए उन दोनोंको लकड़ी तथा डेलोंसे मारने लगे सो उचित ही है क्योंकि इस संसारमें दुराचारी पुरुषोंपर कौन क्रोध नहीं करता है ? ॥१४॥ उन धावोंके द्वारा दुःखसे व्याकुल हुआ वह पापी सर्प उसी समय मरकर गंगा नदीमें काली नामका जल-देवता हुआ ॥१५॥ जिसे भारो पश्चात्ताप हो रहा है ऐसी वह सर्पिणी हृदयमें निश्चल धर्मको धारण कर मरी और मरकर अपने पहलेके पति नागकुमारदेवकी स्त्री हुई । वहाँ जाकर उसने उसे राजाके द्वारा अपने मरणकी सूचना दी ॥१६॥ वह नागकुमार देव भी उसे देखकर क्रोधसे ऐसा मानने लगा कि इस दुष्ट राजाने अहंकारसे इस बेचारी सर्पिणीको व्यर्थ ही मार दिया ॥१७॥ उस मूर्खने इसे विधवा जाना, यह न जाना कि इसका मेरा जैसा पति है इसलिए मैं जबतक उसका प्राण हरण न करूँ तबतक सर्प ( नागकुमार ) कैसे कहला सकता हूँ ? ऐसा सोचता हुआ वह नागकुमार जयकुमारको काटनेकी इच्छासे शीघ्र ही उसके घर आया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यञ्च भी स्त्रियोका पराभव सहन नहीं कर सकते हैं ॥१८-१९॥ जयकुमार राज्ञिके समय शयनागारमें अपनी रानी श्रीमतीसे कह रहा था कि हे प्रिये, आज मैंने एक कौतुक देखा है उसे सुन, ऐसा कहकर उसने उस सर्पिणीकी सब कुचेष्टाएँ कही ॥२०॥ इसी प्रकरणमें वह कहने लगा कि देखो, स्त्रियाँ कुलीनता, अवस्था, रूप, विद्या, चारित्र्य, यश, लक्ष्मी, प्रभुता, पराक्रम, कान्ति, इहलोक-परलोक, प्रीति, अप्रीति, ग्रहण करने योग्य, ग्रहण न करने योग्य, दया, लज्जा, हानि, वृद्धि, गुण और दोषको कुछ भी नहीं गिनती हैं ॥२१-२२॥ धनके द्वारा धर्म और कामका संचय करना चाहिए यह तो

१ आगच्छत् । २ सर्पिणीम् । ३ आकण्ठितवतीम् । ४ अन्यजातिसर्पेण सह कामक्रोधा कुर्वतीम् । ५ ताडयति स्म । ६ क्षन्ति स्म । ७ कोप करोति । ८ निजभर्तृचरनागामरस्य । ९ नृपेण जातनिजमरणम् । १० जयेन । ११ अगतिका । १२ पतिम् । १३ उत्प्राणात् हरे ल०, म०, अ० । १४ दंष्ट्रिमुमिच्छुः । १५ शय्यागृहे । 'ऊपन्ति शयनस्थानं वासागारं विचारद.' इति हलायुध । १६ निजप्रियाया । १७ कुलजत्वम् । १८ सचेतु योग्य । १९ धर्मकामाभ्याम् । २० समृद्धाभिलाषिताम् ।

वृश्चिकस्य विषं पश्वान् पञ्चगस्य विषं पुरः । योषितां दूषितेच्छानां<sup>१</sup> विश्वतो विषमं विषम् ॥१०४॥  
 सत्याभासैर्नतैः स्त्रीणां वञ्जिता ये न धीषणाः<sup>२</sup> । दुःश्रुतीनामिवैताभ्यो मुक्तास्ते मुक्तिवह्मणाः ॥१०५॥  
 तासां किमुच्यते कोपः प्रसादोऽपि भयंकरः । हन्त्यधीकान्<sup>३</sup> प्रविश्यान्तराणाधसरितां यथा ॥१०६॥  
<sup>४</sup>जालकैरिन्द्रजालेन<sup>५</sup> वञ्चया ग्राम्या<sup>६</sup> हि मायया । तामि<sup>७</sup> सेन्द्रो<sup>८</sup> गुह्यं<sup>९</sup> न्यस्तन्मायामातार<sup>१०</sup> स्त्रियः ॥  
 ता. श्रयन्ते गुणाज्ञैव जागभीत्या यदि श्रिताः । तिष्ठन्ति न चिरं प्रान्ते नश्यन्त्यपि च ते स्थिताः ॥१०८॥  
 दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः । तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः ॥१०९॥  
 निर्गुणान् गुणिनो गन्तुं गुणिनः खलु निर्गुणान् ।<sup>११</sup> नाशकन् परमात्माऽपि मन्थन्ते तां<sup>१२</sup> हि हेलेया ॥  
 मोक्षो गुणमयो नित्यो<sup>१३</sup> दोषमयः स्त्रियश्चलाः । तासां नेच्छन्ति निर्वाणमन एवाससुक्तिषु ॥१११॥  
 लक्ष्मीः सरस्वती कीर्तिमुक्तिस्त्वमिति विश्रुताः । दुर्लभास्तासु बह्विषु कल्पवल्ह्य इव प्रिये ॥११२॥  
 इत्येतच्चाह तच्छ्रुत्वा तं<sup>१४</sup> जिवांसुरहिस्तदा । पापिना चिन्तितं पापं यथा पापापलापतः<sup>१५</sup> ॥११३॥

समीचीन मार्ग है परन्तु स्त्रियाँ धर्म और कामसे धन खरीदती हैं अतः उनकी इस बड़ी हुई लोलुपताको धिक्कार हो ॥१०३॥ विष विच्छूके पीछे (पूँछपर) और साँपके आगे (मुँहमें) रहता है परन्तु जिनकी इच्छाएँ दुष्ट हैं ऐसी स्त्रियोंके सभी ओर विषम विष भरा रहता है ॥१०४॥ छोटी श्रुतियोंके समान इन स्त्रियोंके सत्याभास (ऊपरसे सत्य दिखानेवाले परन्तु वास्तवमें झूठे) नमस्कारोसे जो बुद्धिमान् नहीं ठगे जाते हैं—इनसे बचे रहते हैं वे ही मुक्तिरूपी स्त्रीके वल्लभ होते हैं । भावार्थ—जिस प्रकार कुशास्त्रोसे न ठगाये जाकर उनसे सदा बचे रहनेवाले पुरुष मुक्त होते हैं उसी प्रकार इन स्त्रियोंके हावभाव आदिसे ठगाये जाकर उनसे बचे रहनेवाले—दूर रहनेवाले पुरुष ही मुक्त होते हैं ॥१०५॥ जिन स्त्रियोंकी प्रसन्नता ही भयंकर है उनके क्रोधका क्या कहना है । जिस प्रकार गहरी नदियोंकी निर्मलता मूर्ख लोगोंको भीतर प्रविष्ट कर मार देती है उसी प्रकार स्त्रियोंकी प्रसन्नता भी मूर्ख पुरुषोंको अपने अधीन कर नष्ट कर देती है ॥१०६॥ इन्द्रजाल करनेवाले अपने इन्द्रजाल अथवा मायासे मूर्ख ग्रामीण पुरुषोंको ही ठगा करते हैं परन्तु स्त्रियाँ इन्द्र सहित बृहस्पतिकी भी ठग लेती हैं इसलिए स्त्रियाँ मायाचारकी माताएँ कही जाती हैं ॥१०७॥ प्रथम तो गुण स्त्रियोंका आश्रय लेते ही नहीं हैं यदि कदाचित् आश्रयके अभावमें अपना नाश होनेके भयसे आश्रय लेते भी हैं तो अधिक समय तक नहीं ठहरते और कदाचित् कुछ समयके लिए ठहर भी जाते हैं तो अन्तमें अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं ॥१०८॥ दोषोका तो पूछना ही क्या है ? वे तो स्त्रीस्वरूप ही हैं अथवा दोषोक्ती उत्पत्ति स्त्रियोमें है अथवा दोषोसे स्त्रियोंकी उत्पत्ति होती है इस बातका निश्चय इस ससारमें किसीको भी नहीं हुआ है ॥१०९॥ निर्गुणोंको गुणी और गुणियोंको निर्गुण माननेके लिए परमात्मा भी समर्थ नहीं है परन्तु स्त्रियाँ ऐसा अनायास ही मान लेती हैं ॥११०॥ मोक्ष गुण स्वरूप और नित्य है परन्तु स्त्रियाँ दोषस्वरूप और चंचल हैं मानो इसलिए अरहन्तदेवके शास्त्रोंमें उनका मोक्ष होना नहीं माना गया है ॥१११॥ हे प्रिये, जिस प्रकार लताओंमें कल्पलता दुर्लभ है उसी प्रकार स्त्रियोमें लक्ष्मी, सरस्वती, कीर्ति, मुक्ति और तू ये प्रसिद्ध स्त्रियाँ अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥११२॥ यह सब जयकुमारने अपनी स्त्रीसे कहा, उसे सुनकर जयकुमारको

१ दुष्टवाञ्छानाम् । २ दुष्टशास्त्राणाम् । ३ प्रवेश कारयित्वा । ४ वञ्चकै । ५ इन्द्रजालसंज्ञातया माययेति सवन्धः । ६ परीक्षाशास्त्रवहिर्मुता । ७ स्त्रीभि । ८ इन्द्रजालादिदेवताभूतेन्द्रसहित । ९ तदिन्द्रमन्त्री बृहस्पतिः । १० तत् कारणात् । ११ नामवत् । १२ स्त्रियः । १३ दोषवत्य—ल०, म० । १४ हन्तुमिच्छ । १५ पापिण्डाया निह्नुवात् । 'अपलापस्तु निह्नुव' इत्यभिधानात् ।

अर्थानामपि वाग्भूयो विचार्या कार्यवेदिभिः । वर्ज्यायाः किं पुनर्नार्याः कामिनां का विचारणा ॥११४॥  
 भवेऽस्मिन्नेव भव्योऽर्थं भविष्यति भवान्तकः । तच्चास्य भयमन्येभ्यो भयमेतद्दयैषिणाम् ॥११५॥  
 अहं कुतः कुतो धर्मः संसर्गादस्य सोऽप्यभूत् । ममेह मुक्तिपर्यन्तो नान्यत् सत्संगमाद्वितम् ॥११६॥  
 इत्यनुध्याय निःकोपः कृतवेदी जयं स्वयम् । रत्नैरनर्थैः संपूज्य स्वप्रपञ्चं निगद्य च ॥११७॥  
 मां स्वकार्ये स्मरेत्युक्त्वा स्वावासं प्रत्यसौ यतः । हन्ताऽप्युर्जितपुण्यानां भवत्यभ्युदयवहः ॥११८॥  
 स चक्रिणा सहोक्रम्य दिक्चक्रं व्यक्तचक्रमाः । क्रमान्ध्रियम्य<sup>३</sup> व्यायामं<sup>४</sup> संयमीव शमं श्रितः ॥११९॥  
 ज्वलत्प्रतापः सौम्योऽपि निर्गुणोऽपि<sup>५</sup> गुणाकरः । सुसर्वाङ्गोऽप्यनङ्गामः सुखेन स्वपुरे स्थितः ॥१२०॥  
 अथ देशोऽस्ति विस्तीर्णः काशिस्तत्रैव<sup>६</sup> विश्रुतः । पिण्डीभूता मयात्काललुण्ठकादिव<sup>७</sup> भोगभूः ॥१२१॥  
 तदापि खलु विद्यन्ते कल्पवल्लीपरिष्कृताः । हुमाः कल्पद्रुमाभासाश्चिन्तास्तत्र क्वचित् क्वचित् ॥१२२॥  
 तत्रैवाभीष्टमावर्ज्यं<sup>८</sup> यत्तत्रै<sup>९</sup>वानुभूयते । स<sup>१०</sup> तज्जेतेति निःशङ्कं शङ्के स्वर्गापवर्गयोः ॥१२३॥

मारनेकी इच्छा करनेवाला वह नागकुमार अपने मनमें कहने लगा कि देखो उस स्त्रीके पाप छिपानेसे ही मुझ पापीने इस पापका चिन्तवन किया है ॥११३॥ कार्यके जाननेवाले पुरुषोको सज्जनोके वचनोंपर भी एक बार पुनः विचार करना चाहिए फिर त्याग करने योग्य स्त्रियोंके वचनोंकी तो बात ही क्या है ? उनपर तो अवश्य ही विचार करना चाहिए परन्तु कामी जनोंको यह विचार कहाँ हो सकता है ? ॥११४॥ यह भव्य जीव इसी भवमें ससारका नाश करनेवाला होगा, इसलिए इसे अन्य लोगोंसे कुछ भय होनेवाला नहीं है बल्कि जो इसे भय देना चाहते हैं उन्हें ही यह भय है ॥११५॥ मैं कहाँ ? और यह धर्म कहाँ ? यह धर्म भी मुझे इसीके संसर्गसे प्राप्त हुआ है इसलिए इस संसारमें मुझे मोक्ष प्राप्त होने तक सज्जनोके समागमके सिवाय अन्य कुछ कल्याण करनेवाला नहीं है ॥११६॥ ऐसा विचारकर वह नागकुमार क्रोधरहित हुआ, उपकारको जानकर उसने अमूल्य रत्नोंसे स्वयं जयकुमारकी पूजा की, उसे मारने आदिके जो विचार हुए थे वे सब उससे कहे और अपने कार्यमें मुझे स्मरण करना इस प्रकार कहकर वह अपने स्थानको लौट गया सो ठीक ही है क्योंकि जिसका पुण्य तेज है उसका मारनेवाला भी कल्याण करनेवाला हो जाता है ॥११७-११८॥ व्यक्त पराक्रमको धारण करनेवाला वह जयकुमार चक्रवर्ती भरत महाराजके साथ-साथ सब दिशाओपर आक्रमण कर और अनुक्रमसे इधर-उधरका फिरना बन्द कर संयमीके समान शान्तभावका आश्रय करने लगा ॥११९॥ जो सौम्य होनेपर भी प्रज्वलित प्रतापका धारक था, निर्गुण ( गुणरहित, पक्षमें सबमें मुख्य ) होकर भी गुणाकर ( गुणोंकी खानि ) था और सुसर्वाङ्ग ( जिसके सब अङ्ग सुन्दर हैं ऐसा ) होकर भी अङ्गाम ( शरीररहित, पक्षमें कामदेवके समान कान्तिवाला ) था ऐसा वह जयकुमार सुखसे अपने नगरमें निवास करता था ॥१२०॥

अथानन्तर—इसी भरतक्षेत्रमें एक प्रसिद्ध और बहुत बड़ा काशी नामका देश है जो कि ऐसा विदित होता है मानो कालरूपी लुटेरेके भयसे भोगभूमि ही आकर एक जगह एकत्रित हो गयी हो ॥१२१॥ वहाँपर कहीं-कहीं उस समय भी कल्पलताओसे घिरे हुए कल्पवृक्षोके समान अनेक प्रकारके वृक्ष विद्यमान थे ॥१२२॥ चूँकि अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर उनका उपभोग उसी देशमें किया जाता था इसलिए मैं ऐसा समझता हूँ कि वह काशी देश

१ कुतः । २ घातकः । ३ निन्द्य । विविधव्यापारमिति शेषः । त्यक्त्वा विविधव्यापारमित्यर्थः । ४ विविध-  
 गमनम् । ५ अप्रधानरहितोऽपि । “गुणोऽप्रधाने रूपादौ भौर्व्यां शूके वृकोदरे । शुभे सत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादि-  
 हरितादिषु” इत्यभिधानात् । ६ भरतक्षेत्रे । ७ दुःकालचोरात् सञ्जातात् । ८ स्वीकृत्य । ९ यस्मात् कारणात् ।  
 १० देशे । ११ देशः । १२ तस्मात् कारणात् ।

वाराणसी पुरी तत्र जित्वा तामामरिं पुरीम् ।<sup>१</sup> अमानैस्तद्विमानानि स्वसौधैरिव<sup>२</sup> साऽहसीत्<sup>३</sup> ॥१२४॥  
 प्राक् समुचितदुष्कर्म न<sup>४</sup> तत्रोत्पत्तुमर्हति । प्रमादादपि तज्जोऽपि स्यात् किं पापी मनस्यपि ॥१२५॥  
 एवं भवत्रयश्रेयःसूचनी धर्मवर्त्मनि । विनेयान् जिनविद्येव<sup>५</sup> साऽन्वस्थानं प्यवीवृत्त<sup>६</sup> ॥१२६॥  
 मान्मैव कम्पितारातिस्तस्याः पतिरकम्पनः । विनीत<sup>७</sup> इव विद्यायाः स्वामिप्रेतार्यसंपद<sup>८</sup> ॥१२७॥  
 पुरोपाजितपुण्यस्य बद्धने रक्षणे श्रियः । न नीतिः<sup>९</sup> किन्तु कामे च धर्मे चास्योपयोगिनी ॥१२८॥  
 न हर्ता केवलं दाता न हन्ता पाति केवलम् । सर्वास्त<sup>१०</sup> स्यालयामास स<sup>११</sup> धर्मविजयी प्रजाः ॥१२९॥  
 पारमात्म्ये पदे पूज्यो भरतेन यथा पुरुः । गृहाश्रमे तथा सोऽपि सा तस्य कुलवृद्धता ॥१३०॥  
 तस्यासीत्सुप्रभादेवी जीतांशोर्वा प्रभा तथा । सुसुदे कुमुदाबोधं विदधत् स कलाश्रयः ॥१३१॥  
 न लक्ष्मीरपि तत्पत्नी सती सा सुप्रजा<sup>१२</sup> यथा । सत्पला इव सहस्रस्यः पुत्रवत्यः श्रियः प्रियाः ॥१३२॥

नि सन्देह स्वर्ग और मोक्षको जीतनेवाला था ॥ १२३ ॥ उस काशीदेशमें एक वाराणसी ( बनारस ) नामकी नगरी थी जो कि अपने अपरिमित राजभवनोंसे अमरपुरीको जीतकर उसके विमानोकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी ॥ १२४ ॥ जिसने पूर्वजन्ममें पापकर्मोंका संघय किया है ऐसा जीव उस वाराणसी नगरीमें उत्पन्न होने योग्य नहीं था । तथा उसमें उत्पन्न हुआ जीव प्रमादसे भी क्या कभी मनमें भी पापी हो सकता था ? अर्थात् नहीं ॥ १२५ ॥

इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी तीनों भवोंके कल्याणको सूचित करने-वाली वह नगरी जिनवाणीके समान दूसरी जगह रहनेवाले शिष्य लोगोंको भी धर्ममार्गमें प्रवृत्त कराती थी ॥१२६॥ जिस प्रकार विनयी मनुष्य विद्याका स्वामी होता है उसी प्रकार अपने नामसे ही जन्मोको कम्पित कर देनेवाला राजा अकम्पन उस नगरीका स्वामी था । जिस प्रकार विद्या अपने अभिलषित पदार्थोंको देनेवाली होती है उसी प्रकार वह नगरी भी अभिलषित पदार्थोंको देनेवाली थी ॥१२७॥ पूर्व जन्ममें पुण्य उपाजर्जन करनेवाले उस राजा-की नीति केवल लक्ष्मीके बढ़ाने और उसकी रक्षा करनेमें ही काम नहीं आती थी किन्तु धर्म और कामके विषयमें भी उसका उपयोग होता था ॥१२८॥ वह राजा केवल प्रजासे कर वसूल ही नहीं करता था किन्तु उसे कुछ देता भी था और केवल दण्ड ही नहीं देता था किन्तु रक्षा भी करता था । इस प्रकार धर्म-द्वारा विजय प्राप्त करनेवाला वह राजा समस्त प्रजाका पालन करता था ॥१२९॥ राजा अकम्पनके कुलका बड़प्पन यही था कि भरतमहाराज परमात्म-पदमें जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवको पूज्य मानते थे उसी प्रकार गृहस्थाश्रममें उसे पूज्य मानते थे ॥ १३० ॥ उसके सुप्रभा नामकी देवी थी जो कि चन्द्रमाकी प्रभाके समान थी । जिस प्रकार चन्द्रमा अनेक कलाओका आश्रय हो अपनी प्रभासे कुमुदाबोध अर्थात् कुमुदिनियोंका विकास करता हुआ प्रसन्न ( निर्मल ) रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अनेक कलाओं-विद्याओका आश्रय हो अपनी सुप्रभा देवीसे कुमुदाबोध अर्थात् पृथिवीके समस्त जीवोंके आनन्दका विकास करता हुआ प्रसन्न रहता था ॥१३१॥ उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाली वह पतिव्रता सुप्रभादेवी जिस प्रकार राजाको आनन्दित करती थी उस प्रकार लक्ष्मी भी उसे आनन्दित नहीं कर सकती थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार अच्छे फल देनेवाली उत्तम लताएँ प्रिय

१ प्रमाणातीत । २ पुरी । ३ हसति स्म । ४ नभर्याम् । ५ दिव्यभाषेव । ६ नगरी । ७ देशान्तरस्थान् ।  
 ८ वर्तयति स्म । ९ विनेयपर । १० निजाभीष्टार्थसम्पद् यस्यां सा तस्या । ११ नयनं करणम् । १२ तत् कारणात् । १३ अकम्पनः । १४ गोमनाः प्रजा अपत्यानि यस्याः सा सुप्रजा । सत्पुत्रवतीत्यर्थः ।

तस्यां तन्नाथवंशाग्रगण्यस्वेवांशवो रवेः । प्राच्यां दीप्यासदिवक्त्राः सहस्रममवन् सुताः ॥१३३॥  
 हेमाङ्गदसुकेतुश्रीसुकान्ताद्याङ्गैः स तैः । वेष्टितः संव्यदीपिष्ठ अक्रः सामानिकैरिव ॥१३४॥  
 हिमवत्पद्मयोगाङ्गासिन्धु इव ततस्तथोः<sup>२</sup> । सुते सुलोचना लक्ष्मीमती चास्तां सुलक्षणे ॥१३५॥  
 सुलोचनाऽस्तौ बालेव लक्ष्मीः सर्वमनोरमा । कलागुणैरभासिष्ठ चन्द्रिकेव प्रवर्द्धिता ॥१३६॥  
 सुमत्याख्याऽमलाः शुक्लनिशोवावर्द्धयत् कलाः । धात्री शशाङ्करेखायास्तस्याः सातिमनोहराः ॥१३७॥  
 अभूद् रागी स्वयं रागस्तं क्रमाब्जं समाश्रितः । रागाय कस्य वा न स्यात् स्वीचितस्थानसंश्रयः ॥१३८॥  
 नखेन्दुचन्द्रिका तस्याः शश्वत्कुवलयं किल । विश्वमाह्लादय चित्रमनुवृत्त्यां क्रमाब्जयोः ॥१३९॥  
 रेञ्जुरंगुलयस्तस्याः क्रमयोर्नखरोचिषा । इयन्त इति मद्देशाः स्मरेणेव निवेष्टिताः ॥१४०॥  
 नताशेषो जयः स्नेहाद् मंसीचे<sup>१०</sup> ततस्तथोः । या श्रीः क्रमाब्जयोस्तस्याः सा किमस्ति सरोरुहे ॥१४१॥

होती है उसी प्रकार उत्तम पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्रियाँ भी प्रिय होती हैं ॥ १३२ ॥ जिस प्रकार पूर्व दिशासे अपनी कान्तिके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उस सुप्रभादेवीसे नाथवंशके अग्रगण्य राजा अकम्पनके अपनी दीप्ति अथवा तेजके द्वारा दिशाओंको वश करनेवाले हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ १३३ ॥ हेमाङ्गद, सुकेतुश्री और सुकान्त आदि उन पुत्रोंसे घिरा हुआ वह राजा ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि सामानिक देवोंसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥ १३४ ॥ जिस प्रकार हिमवान् पर्वत और पद्म नामकी सरसीसे गंगा और सिन्धु ये दो नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके सुलोचना तथा लक्ष्मीमती ये उत्तम लक्षणवाली कन्याएँ उत्पन्न हुई थी ॥ १३५ ॥ वह बालिका सुलोचना लक्ष्मीके समान सबके मनको आनन्दित करनेवाली थी और अपने कलारूपी गुणोंके द्वारा चाँदनीके समान वृद्धिको प्राप्त होती हुई सुशोभित हो रही थी ॥ १३६ ॥ जिस प्रकार शुक्ल पक्षकी रात्रि चन्द्रमाकी रेखाओंकी अत्यन्त मनोहर कलाओंको बढ़ाती है उसी प्रकार सुमित्रा नामकी धाय उस सुलोचनाकी अतिशय मनोहर कलाओंको बढ़ाती थी—उसके शरीरका लालन-पालन करती थी ॥ १३७ ॥ राग अर्थात् लालिमा उस सुलोचनाके चरण-कमलोंका आश्रय पाकर स्वयं रागी अर्थात् राग करनेवाला अथवा लाल गुणसे युक्त हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि अपने योग्य स्थानका आश्रय किसके रागके लिए नहीं होता ? ॥ १३८ ॥ आश्चर्य है कि उसके नखरूपी चन्द्रमाकी चाँदनी दोनों चरण-कमलोंके अनुकूल रहकर भी समस्त कुवलय अर्थात् कुमुदिनियोंको अथवा पृथ्वीमण्डलके आनन्दको निरन्तर विकसित करती रहती थी । भावार्थ — चाँदनी कभी कमलोंके अनुकूल नहीं रहती, वह उन्हें निमीलित कर देती है परन्तु सुलोचनाके नखरूपी चन्द्रमाकी चाँदनी उसके चरणकमलोंके अनुकूल रहकर भी कुवलय — नीलकमल ( पक्षमे महीमण्डल ) को विकसित करती थी यह आश्चर्यकी बात थी ॥ १३९ ॥ उसके दोनों पैरोंकी अँगुलियाँ नखोंकी किरणोंसे ऐसी अच्छी जान पड़ती थी मानो मेरे वेग इतने ही हैं यही समझकर कामदेवने ही स्थापन की हों । भावार्थ—\*अभिलाषा, चिन्ता आदि कामके दश वेग हैं और दोनों पैरोंकी अँगुलियाँ भी दश हैं इसलिए वे ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवने अपने वेगोंकी सख्या बतलानेके लिए ही उन्हें स्थापित किया हो ॥ १४० ॥ जिसे सब लोग नमस्कार करते हैं ऐसा जयकुमार भी जिन्हें

१ तेजसा । २ अकम्पनसुप्रभयोः । ३ अरुणगुण । ४ सुलोचनाचरण । ५ मोदति स्म । ६ अनुकूलवृत्त्या । ७ मम सदृशवस्था । ८ जयकुमारः । ९ नमस्करोति स्म । १० क्रमाब्जे ।

\* “अभिलाषादिचिन्तास्मृतिगुणकथनोद्देशप्रलापाश्च ।

उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मूर्तिरिति दशाश्च कामदशाः ॥”—साहित्यदर्पणे ।

न स्थूले न कुशे न रज्जु न चक्रे न च सदृक्ते<sup>१</sup> । विकटे<sup>२</sup> न च तज्जहृष्ये गोमांस्यैवैनयोरसौ<sup>३</sup> ॥१४२॥  
 काञ्चीस्थानं<sup>४</sup> तदालोक्येवोरु स्थूले सुसङ्गते । कायगर्भगृहद्वारस्त्वमयथाहृती कृते ॥१४३॥  
 वेदिकेव मनोजस्य शिरो वा<sup>५</sup> स्मरदन्तिन । सानुर्वान्नङ्गशैलस्य शुभ्रमेऽस्याः कटीतटम् ॥१४४॥  
 कृत्वा कृशं भृशं मध्यं वदं मङ्गमयादिव । रज्जुभिस्तिष्ठमिर्घात्रा<sup>६</sup> वलिभिर्गाढमावभौ ॥१४५॥  
 नाभिकूपप्रवृत्तास्या<sup>७</sup> रसमार्गसमुद्गता । श्यामा शाड्वलमालेव<sup>८</sup> रोमराजिर्व्यराजत ॥१४६॥  
 भिक्षौ युक्तौ मृदूस्तब्धौ<sup>९</sup> उरगौ सन्तापहारिणौ । स्तनौ विरूढधर्माणौ स्याद्वाहस्थितिमूहतुः ॥१४७॥  
 सहवक्षोनिवासिन्ध्या समाश्लिष्य जयः श्रिया । स्वीकृतो यदि चेत्ताम्या<sup>१०</sup> वर्ण्यते तदशुभो कथम् ॥१४८॥  
 वीरलक्ष्मीपरिप्लवजयदक्षिणबाहुना । सचामेन<sup>११</sup> परिप्लवकं<sup>१२</sup> स्तम्भस्थस्य कोपमा ॥१४९॥  
 निःकृष्य<sup>१३</sup> पेशलै<sup>१४</sup> श्लक्ष्णौ तत्कपोलौ विलेसतुः<sup>१५</sup> । कान्तौ क्लमदन्ताभौ जयवक्त्राब्जदर्पणौ<sup>१६</sup> ॥१५०॥  
 वटविम्बप्रबालादिनोपमेयमपीष्यते<sup>१७</sup> । अधरस्यातिदूरत्वाद् वर्णाकाररसादिभिः ॥१५१॥

वहे स्नेहसे नमस्कार करेगा ऐसे उसके दोनो चरणकमलमें जो शोभा थी वह क्या कमलमें हो सकती है ? अर्थात् नहीं ॥१४१॥ उसकी दोनों जंघाएँ न स्थूल थी, न कृश थी, न सीधी थी, न टेढ़ी थी, न मिली हुई थी और न दूर-दूर ही थी । उसकी दोनों जंघाओंकी शोभा निराली ही थी ॥१४२॥ उसके करघनी पहननेके स्थान—नितम्बस्थलको देखकर ही मानो स्थूल, परस्परमें मिले हुए और कामदेवके गर्भगृहसम्बन्धी दरवाजेसे खम्भोंकी लकड़ीके समान दोनो ऊँच बनाये गये थे ॥१४३॥ उसका नितम्ब प्रदेश ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो कामदेवकी वेदी ही हो अथवा कामदेवरूपी हाथीका शिर ही हो अथवा कामदेवरूपी पर्वतका शिखर ही हो ॥१४४॥ उसका मध्यभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो विधातोंने उसे पहले तो अत्यन्त कृश बनाया हो और फिर टूट जानेके भयसे त्रिवलीरूपी तीन रस्सियोंसे मजबूत बाँध दिया हो ॥१४५॥ नाभिरूपी कुँसे निकली हुई उसकी रोमराजि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जलमार्गसे निकली हुई हरी-हरी छोटी घासकी पङ्क्ति ही हो ॥१४६॥ उसके स्तन भिन्न-भिन्न होकर भी ( स्थूल होनेके कारण ) एक दूसरेसे मिले हुए थे, कोमल होकर भी ( उभ्रत होनेके कारण ) कठोर थे, और उष्ण होकर भी ( आक्लादजनक होनेके कारण ) संतापको दूर करनेवाले थे, इस प्रकार विरूढ धर्मोंको धारण करनेवाले उसके दोनो स्तन स्याद्वादकी स्थितिको धारण कर रहे थे ॥१४७॥ चूँकि उसकी दोनो भुजाओंने वक्षस्थलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीके साथ आलिङ्गन कर जयकुमारको स्वीकृत किया है इसलिए उनका वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ? ॥१४८॥ उसका कण्ठ वीर लक्ष्मीसे सुशोभित जय-कुमारके बाये और बाये दोनो हाथोंसे आलिङ्गनको प्राप्त हुआ था अतः उसकी उपमा क्या हो सकती है । भावार्थ—उसकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? अर्थात् किसीके साथ नहीं— वह अनुपम था ॥१४९॥ हाथोंके वच्चेके दाँतकी आभाको धारण करनेवाले उसके निष्कृप, कोमल और चिकने दोनो कपोल ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो जयकुमारका मुखकमल देखनेके लिए सुन्दर दर्पण ही हो ॥१५०॥ वटकी कोपल, विम्बी फल और मूँगा आदि पदार्थ, वर्ण, आकार और रस आदिमें ओठोंसे बहुत दूर है अर्थात् उसके ओठोंके समान न तो

१ सङ्कोर्ण । २ विशाले । ३ विलक्षणैव । ४ कटितटम् । ५ आलोक्य । ६ इव । ७ ब्रह्मणा । ८ सुलोचनाया । ९ जलमार्ग । १० हरितपङ्क्ति । 'शाड्वल शादहरिते' इत्यभिधानात् । आद्वल-ल०, म०, अ० । ११ कठिनौ । १२ सुलोचनाभुजाम्याम् । १३ वागसुजवह्नितेन । १४ आलिङ्गित । १५ जनसन्तापहेतुत्वात् । १६ कोमलौ । १७ रजतु । १८ जयकुमारमुख । १९ अपिगन्धात् केवल-मुपमान न ।



चित्ताः सिताः समाः स्निग्धा दन्ता कान्ताः प्रभान्विताः । अन्तःकरोति तद्वक्त्रं तानेव कथमन्यथा ॥१५२॥  
 कृताः कृता समुत्तुङ्गा स्वादमानास्यसौरभम् । मध्येवक्त्रं किमप्यास्ते न सती यदि नासिका ॥१५३॥  
 कर्णान्तगामिनी नेत्रे वृद्धे नररूपमे । सोमवंश्यस्य कः क्षेपः पद्मोत्पलजये तयोः ॥१५४॥  
 तत्कर्णविव कर्णेषु कृतपुष्पौ प्रियाज्ञया ॥ तलोमालापगीतानां १ पात्रे २ प्रागेव तौ यतः ॥१५५॥  
 तद्भ्रूशरासनः ३ कामस्तत्कटाक्षशरावलिः ४ । स्वरूपेणाजित ५ मत्वा जयं ६ मन्ये व्यजेष्ट सः ॥१५६॥  
 तस्यालालाटिको ७ नैकः कामो वीराग्रणीः स्वयम् । जयोऽपि नोन्नतिः कस्माल्ललाटस्य श्रितश्रियः ॥१५७॥  
 शृद्धवस्तनवः स्निग्धाः कृष्णास्तस्याः सकुम्बिताः । कामिनां केवलं कालवालन्यालाः १ शिरोरुहाः ॥१५८॥  
 भाति तस्याः पुरोभागो भूषितो नयनादिभिः । सुखं ६ इव पादचात्यो १ जामाति स्वयमेव सः ॥१५९॥  
 ये तस्यास्तनुनिर्माणं वेधसां साधनीकृताः २ । अणवस्तुण्वच्छास्त एव परमाणवः ३ ॥१६०॥

इनका वर्ण है, न आकार है और न रस ही है इसलिए ही उसके ओठोको इनमेंसे किसीकी भी उपमा नहीं दी सकती थी ॥१५१॥ अवश्य ही उसके दाँत एक दूसरेसे मिले हुए थे—छिद्ररहित थे, सफेद थे, समान थे, चिकने थे, सुन्दर थे, और चमकीले थे, यदि ऐसा न होता तो सुलोचनाका मुख उन्हे भीतर ही क्यों करता ? ॥१५२॥ मुखकी सुगन्धिका स्वाद लेती हुई उसकी नाक यदि इतनी अच्छी नहीं होती तो वह इतनी ऊँची क्यों बनाई जाती ? तथा मुखके बीचमे कैसे ठहर सकती ? ॥१५३॥ अर्जुनके बाणके समान कर्णके ( राजा कर्ण अथवा कानके ) समीप तक जानेवाले उसके दोनों नेत्र अत्यन्त विशाल थे, उन्होंने लाल कमल और नीलकमल दोनोंको जीत लिया था फिर भला सोमवंश अर्थात् चन्द्रमापर कौन-सा आक्षेप बाकी रह गया था अथवा सोमवंश अर्थात् जयकुमारपर कौन-सा क्षेप अर्थात् कटाक्ष करना बाकी रह गया था ? ॥१५४॥ उसके कान ही सब कानोमे अधिक पुण्यवान् थे क्योंकि वे पहलेसे ही अपने प्रिय-जयकुमारकी आज्ञासे उनके प्रेमसम्भाषण और गीतोके पात्र हो गये थे ॥१५५॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि कामदेवने जयकुमारको अपने रूपसे अजैय मानकर सुलोचनाकी भौहुरूपी धनुष और उसीके कटाक्षरूपी बाणोके समूहसे ही उसे जीता था ॥१५६॥ उस सुलोचनाका सेवक अकेला कामदेव ही नहीं था किन्तु वीरशिरोमणि जयकुमार भी स्वयं उसका सेवक था, फिर भला शोभाको धारण करनेवाले उसके ललाटकी उन्नति-उच्चता अथवा उत्तमता क्यों न होती ? ॥१५७॥ कोमल, बारीक, चिकने, काले और कुछ-कुछ टेढ़े उसके शिरके बाल कामी पुरुषोको केवल काले साँपोके बच्चोके समान जान पड़ते थे ॥१५८॥ उस सुलोचनाका आगेका भाग नेत्र आदिसे विभूषित होकर सुशोभित हो रहा था और पिछला भाग किसी सुन्दर वस्तुके समान अपने-आप ही सुशोभित हो रहा था ॥१५९॥ विधाताने उसका शरीर बनानेमे जिन अणुओको साधन बनाया था यथार्थमें वे ही अणु परमाणु अर्थात्

१ निखिलद्रा इत्यर्थः । २ उक्तगुणा न सन्ति चेत् । ३ किञ्चिन्मिदं निर्मिता इत्येव पृच्छति । ४ यदि सती प्रशस्ता नासिका न स्यात् तर्हि मध्येवक्त्रं मुखमध्ये किं वस्तु अध्यास्ते । नासिका भुवत्वा न किमपि अधिवसितुं योग्यमित्यर्थः । ५ ध्वनी कर्णराजस्य विनाशे वर्तमाने । ६ वृद्धे किं न भवत, भवत एव । ७ वंशस्य ल०, म०, अ० । जयकुमारस्य । ध्वनी अर्जुनस्य । ८ तिरस्कारः । ९ नेत्रयो । १० जयकुमार-प्रसिद्ध्या । ११—लापनीताना अ०, म०, ल० । १२ भाजनम् । १३ तस्या भ्रूवावेव शरासनं यस्य । १४—टाक्षशूरावलि ल० । बाणसमूहः । १५ आत्मीयस्वरूपेण । १६ भावदर्शी सेवक । 'लालाटिक प्रभोर्भावदर्शी कार्याक्षमश्च यः' इत्यभिधानात् । न सेवको भवति चेत् । १७ कृष्णबालभुजङ्गा । १८ मनोज्ञपदार्थ इव । १९ पृष्ठभावः । २०. उपादानकारणीकृताः । २१ व्यर्था इत्यर्थः । २२ उत्कृष्टाणवः ।

अतिवृद्धः क्षयासन्नः स्पष्टलक्ष्माहिगोचरः<sup>१</sup> । पूर्णः शेषोऽप्यसंपूर्णः<sup>२</sup> न तद्वक्त्रोपमो विधुः ॥१६१॥  
 न पञ्चाक्ष पुरा लक्ष्मीवोधी<sup>३</sup> पद्मे क्षणे क्षणे । वक्तव्यन्यां गृह्णती शोभां सा स्याद्वाद्दं तदानने ॥१६२॥  
 तन्द्रे सीमकरोत्सवा पद्मे शीतकराहता । लक्ष्मीः साऽन्यैव तद्वक्त्रे जयलक्ष्मीकरप्रहान् ॥१६३॥  
 रात्राविन्दुर्दिवाम्भोजं क्षयीन्दुग्लानिवारिजम् । पूर्णमेव विकारस्येव तद्वक्त्रं मात्यहर्दिवम् ॥१६४॥  
 'लक्ष्मीस्तस्येक्षितुस्तेन' वीक्षितस्यापि निश्चिता । किं पद्मे तादृशं येन<sup>४</sup> तद्वक्त्रमुपमीयते<sup>५</sup> ॥१६५॥  
 कुमार्यां त्रिजगज्जेता जितः पुण्यशरासनः<sup>६</sup> । स वीरः कः परो लोके यो न जय्योऽग्रतोऽनया<sup>७</sup> ॥१६६॥  
 कुमार्यैव जितः कामो वीरः पञ्चाक्षयो जितः । स्त्रीसृष्टिः कियती नाम विजयेऽस्याः सहश्रिया ॥१६७॥

उत्कृष्ट अणु थे और उनसे बाकी बचे हुए अणु तुणके समान तुच्छ थे ॥१६०॥ चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नहीं था क्योंकि यदि पूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते हैं तो वह बहुत बृद्ध अर्थात् बड़ा है, उसका क्षय निकट है, कलंक उसका स्पष्ट दिखलाई देता है और राहु उसे दवा देता है । यदि अपूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते हैं तो वह स्वयं अपूर्ण है—अधूरा है । भावार्थ—उसका मुख तरुण, अविनश्वर, निष्कलक और पूर्ण था इसलिए पूर्ण अथवा अपूर्ण कोई भी चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नहीं था ॥१६१॥ यदि कमलकी उपमा दी जावे सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कमलमे विकसित होनेके पहले लक्ष्मी नहीं थी और न पीछे रहती है वह तो क्षण-क्षणमे विकसित होती रहती है परन्तु उसके मुखपर-की लक्ष्मी एक विलक्षण शोभाको ग्रहण करती हुई स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी । भावार्थ—उसके मुखकी शोभा सदा एक-सी रहकर भी क्षण-क्षणमे विलक्षण शोभा धारण करती थी इसलिए कमलकी शोभासे कही अच्छी थी और इस प्रकार स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी क्योंकि जिस प्रकार स्याद्वाद द्रव्यार्थिक नयसे एकरूप रहकर भी पर्यायार्थिक नयसे नवीन-नवीन रूपको प्रकट करता है उसी प्रकार उसके मुखकी लक्ष्मी भी सामान्यतया एकरूप रहकर भी प्रतिक्षण विलक्षण शोभा धारण करती हुई अनेकरूप प्रकट करती थी ॥१६२॥ चन्द्रमाकी शोभा सूर्यसे नष्ट हो जाती है और कमलकी शोभा चन्द्रमासे नष्ट हो जाती है परन्तु उसके मुखकी शोभा जयकुमारकी लक्ष्मीका हस्त ग्रहण करनेसे विलक्षण ही हो रही थी ॥१६३॥ चन्द्रमा रातमे सुशोभित होता है और कमल दिनमे प्रफुल्लित रहता है, चन्द्रमाका क्षय हो जाता है और कमल मुसुरा जाता है परन्तु उसका मुख पूर्ण ही था, विकसित ही था और रात-दिन सुशोभित ही रहता था ॥१६४॥ सुलोचनाके मुखको जो देखता था उसकी शोभा बढ़ जाती थी और सुलोचनाका मुख जिसे देखता था उसकी शोभा भी निश्चित रूपसे बढ़ जाती थी । कमलमे क्या ऐसा गुण है जिसमे कि उसे सुलोचनाके मुखकी उपमा दी जा सके ? ॥१६५॥ उसने कुमारी अवस्थामे ही तीनो जगत्की जीतनेवाला कामदेव जीत लिया था फिर भला संसारमे ऐसा दूसरा कौन वीर था जो आगे युवावस्थामे उसके द्वारा न जीता जाये ? ॥१६६॥ इसने कुमारी अवस्थामे कामदेवको जीत लिया था और तरुण अवस्थामे जयकुमारकी जीता था फिर भला इसके जीतनेके लिए

१ राहुगोचर । ( विषय ) । २ कलाशेषोऽपि । कलाहीन इत्यर्थः । बालचन्द्रोऽपि । ३ विकामगोन्ता । ४ लक्ष्मी । ५ हता । ६ जयस्य लक्ष्मी । ७ —त्यहर्निशम् अ०, प०, म०, ड०, ल०, म० । ८ धर्मस्य । ९ वक्त्रेण । १० येन धर्मेण सह । ११ तादृश धर्मं पक्षे किमस्ति ? नास्तीत्यर्थः । वीक्षितस्यापि अपिशब्दात् तद्वर्णं न दृष्टोऽस्ति । यद्यपि दृष्टव्यं तस्य पदस्थितधर्मस्य लक्ष्मीः शोभा तेन नह तद्वक्त्रेण नह ईक्षितु वीक्षमाणस्य जनस्य निश्चिता स्यात् । १२ पुण्यशरासनो जित इत्यनेन कमपि पुनर्न नेच्छति इत्यर्थः । १३ योवने ।

मृगाङ्गस्य कलङ्कोऽर्थं मन्येऽहं कन्यायाऽनया । स्वकान्त्या निर्जितस्याभूद् रोगराजैश्च चिन्तया<sup>२</sup> ॥१६॥  
 सार्धं कुवलयेनेन्दुः सह लक्ष्म्या सरोरुहम् । तद्वक्त्रेण जितं व्यक्तं किमन्यक्षेह जीयते ॥१६॥  
 जलाब्जं जलवासेन स्थलाब्जं सूर्यरश्मिभिः । प्राप्तुं तद्वक्त्रजां शोभां मन्येऽद्यापि तपस्यति<sup>३</sup> ॥१७॥  
 शनैर्बालेन्दुरेखेव सा<sup>४</sup> कलाभिरवर्द्धत । वृद्धास्तस्याः प्रवृद्धाया विधुभिः स्पर्धितो<sup>५</sup> गुणाः ॥१७१॥  
 इति संपूर्णसर्वाङ्गशोभां शुद्धान्ववायजाम्<sup>६</sup> । स्मरो<sup>७</sup> जयमयाद्वैतं<sup>८</sup> न<sup>९</sup> तदाऽप्यकरोत् करे<sup>१०</sup> ॥१७२॥  
 कारयन्ती जिनेन्द्रार्चाश्रित्रा<sup>११</sup> सणिमयीर्वहूः । तासां<sup>१२</sup> हिरण्मयान्येव विद्रोपकरणान्यपि ॥१७३॥  
 तद्यतिष्ठाभिषेकान्ते महापूजाः प्रकुर्वती । मुहुः स्तुतिभिरर्थ्याभिः<sup>१३</sup> स्तुवती भक्तितोऽर्हतः<sup>१४</sup> ॥१७४॥  
 ददती पात्रदानानि मानयन्ती<sup>१५</sup> महामुनीन् । शृण्वती धर्ममाकर्ण्य भावयन्ती मुहुर्मुहुः ॥१७५॥  
 आसागमपदार्थाश्च प्राप्तसम्पत्स्त्वशुद्धिका । अथ फाल्गुननन्दीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेशिनाम् ॥१७६॥  
 विधायामष्टाङ्गिकीं पूजामभ्यर्च्यार्चा यथाविधि । कृतोपवासा तन्वङ्गी शेषा<sup>१६</sup> दातुमुपागता ॥१७७॥  
 नृपं सिंहासनासीनं सोऽप्युरथाय कृताञ्जलिः । तत्तत्शेषामादाय<sup>१७</sup> निधाय शिरसि स्वयम् ॥१७८॥

लक्ष्मीके साथ-साथ कितनी-सी स्त्रियोकी सृष्टि बाकी रही थी ? भावार्थ—इसने लक्ष्मी आदि उत्तम-उत्तम स्त्रियोको जीत लिया था ॥१६७॥ चन्द्रमाके बीच जो यह कलक दिखता है उसे मैं ऐसा मानता हूँ कि इस कन्याने अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया है इसीलिए मानो उसे चिन्ताके कारण क्षयरोग हो गया हो ॥१६८॥ उस सुलोचनाके मुखने चन्द्रमाके साथ कुवलय अर्थात् कुमुदको जीत लिया था और लक्ष्मीके साथ-साथ कमलको भी जीत लिया था फिर भला इस संसारमें और रह ही क्या जाता है जो उसके मुखके द्वारा जीता न जा सके ॥१६९॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि उसके मुखकी शोभा प्राप्त करनेके लिए जलकमल जलमें रहकर और स्थलकमल सूर्यकी किरणोके द्वारा आजतक तपस्या कर रहा है ॥१७०॥ वह सुलोचना द्वितीयाके चन्द्रमाकी रेखाके समान कलाओके द्वारा धीरे-धीरे बढ़ती थी और ज्यो-ज्यो बढ़ती जाती थी त्यों-त्यों चन्द्रमाकी कान्तिके साथ स्पर्धा करनेवाले उसके गुण भी बढ़ते जाते थे ॥१७१॥ इस प्रकार जो समस्त अंगोंकी शोभासे परिपूर्ण है और शुद्ध वंशमें जिसकी उत्पत्ति हुई है ऐसी उस सुलोचनाको कामदेव जयकुमारके भयसे युवावस्थामें भी अपने हाथमें नहीं कर सका था ॥१७२॥

उस सुलोचनाने श्री जिनेन्द्रदेवकी अनेक प्रकारकी रत्नमयी बहुत-सी प्रतिमाएँ बनवायी थी और उनके सब उपकरण भी सुवर्ण हीके बनवाये थे । प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी अभिषेक हो जानेके बाद वह उन प्रतिमाओकी महापूजा करती थी, अर्थपूर्ण स्तुतियोके द्वारा श्री अर्हन्त-देवकी भक्तिपूर्वक स्तुति करती थी, पात्र दान देती थी, महामुनियोका सम्मान करती थी, धर्मको सुनती थी तथा धर्मको सुनकर आप्त आगम और पदार्थोका वार-बार चिन्तन करती हुई सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको प्राप्त करती थी । अथानन्तर—फाल्गुन महीनेकी अष्टाङ्गिकामे उसने भक्तिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेवकी अष्टाङ्गिकी पूजा की, विधिपूर्वक प्रतिमाओकी पूजा की, उपवास किया और वह कृशागी पूजाके शेषाक्षत देनेके लिए सिंहासनपर बैठे हुए राजा अकम्पनके

१ क्षयव्याधिः । २ मनोदुःखेन । ३ तपश्चरति । ४ अवयवै । ५ विधुभास्पर्धिनो ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ६ शुद्धवंशजातात् । ७ जयकुमारमयादिव । ८ सुलोचनाम् । ९ यौवनकालेऽपि । १० करग्रहणं नाकरोत् । तस्याः कामविकारो नाभुदित्यर्थः । ११ प्रतिमा । १२ प्रतिमानाम् । १३ सर्वद्युवताभिः । १४ अर्हद्देवान् । १५ पूजयन्ती । १६ शेषान् ल०, म० । १७ —नादाय ल०, म० ।

उपवासपरिश्रान्ता पुत्रिके त्वं प्रयाहि<sup>१</sup> ते<sup>२</sup> । शरणं<sup>३</sup> पारणाकाल इति कन्यां न्यसजयत् ॥१७९॥  
 तं विलोक्य महीपालो बालामापूर्णयौवनाम् । निर्विकारां सचिन्तः सन् तस्याः<sup>४</sup> परिणयोत्सवे ॥१८०॥  
 शुभे श्रुतार्थसिद्धार्थसर्वार्थसुमतिश्रुतीन् । कोष्ठादिभक्तिभेदान्वा<sup>५</sup> दिने व्याहृत्य मन्त्रिणः ॥१८१॥  
 वृणते सर्वभूपालाः कन्यां नः कुलजीवितम् । द्रुत कस्मै प्रदास्यामो विमृश्येमां सुलोचनाम् ॥१८२॥  
 इत्यप्राक्षीत्तदा प्राह श्रुतार्थः श्रुतसागरः । अत्र सद्बन्धुसर्वधो जामाताऽत्र महान्वयः ॥१८३॥  
 सर्वस्वस्य व्ययोऽत्राथ<sup>६</sup> जन्मराज्यफलं च नः । ततः संचित्यमेवेत्तत् कार्यं नयविशारदैः ॥१८४॥  
 बन्धवः स्युर्नृपाः सर्वे संयन्धश्चक्रवर्तिना । इक्ष्वाकुवंशवत्पुत्र्यो मवर्द्धशश्च जायते ॥१८५॥  
 कुलरूपवयोविद्यावृत्तश्रीपौरुषादिकम् । यद्वरेषु समन्वेद्य<sup>७</sup> सर्वं तच्च<sup>८</sup> पिण्डितम् ॥१८६॥  
 ततो नास्त्यत्र नष्टचर्यं<sup>९</sup> दिगन्तव्यासकीर्तये । जिताकर्मूतये देया कन्यै<sup>१०</sup> चेत्यर्ककीर्तये ॥१८७॥  
 सिद्धार्थोऽत्राह तत्सर्वमस्ति<sup>११</sup> किं च पुराविदः<sup>१२</sup> । कनीयसोऽपि<sup>१३</sup> संबन्धं नेच्छन्ति ज्यायसा सह<sup>१४</sup> ॥  
 ततः प्रतीतभूपालपुत्रा वरगुणान्विताः । प्रमञ्जनो रथचरो बलिर्वज्रायुबाह्वयः ॥१८८॥

पास गयी । राजाने भी उठकर और हाथ जोड़कर उसके विये हुए घोषाक्षत लेकर स्वयं अपने मस्तकपर रखे तथा यह कहकर कन्याको विदा किया कि हे पुत्रि, तू उपवाससे खिन्न हो रही है, अब घर जा, यह तेरे पारणाका समय है ॥१७३-१७९॥ राजा पूर्ण यौवनको प्राप्त हुई उस विकारग्रन्थ कन्याको देखकर उसके विवाहोत्सवकी चिन्ता करने लगा ॥१८०॥ उसने किसी शुभ दिनको कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी और सम्भिन्नश्रोतु इन चारो बुद्धि ऋद्धियो-के समान श्रुतार्थ, सिद्धार्थ, सर्वार्थ और सुमंति नामके मन्त्रियोंको बुलाया ॥१८१॥ और पूछा कि हमारे कुलके प्राणस्वरूप इस कन्याके लिए सभी राजा लोग प्रार्थना करते हैं इस-लिए तुम लोग विचार कर कहो कि यह कन्या किसको दी जाय ? ॥१८२॥ इस प्रकार पूछनेपर शास्त्रोका समुद्र श्रुतार्थ नामका मन्त्री बोला कि इस विवाहमें सज्जन बन्धुगोका समा-गम होना चाहिए, जमाई बड़े कुलका होना चाहिए, इस विवाहमें बहुत-सा धन खर्च होगा और हम लोगोको अपने जन्म तथा राज्यका फल मिलेगा इसलिए नीतिनिपुण पुरुषोको इस कार्यका अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥१८३-१८४॥ यदि यह सम्बन्ध चक्रवर्तिकी साथ किया जाय तो सब राजा अपने बन्धु हो सकते हैं और आपका वंश भी इक्ष्वाकु वंशकी तरह पूज्य हो सकता है ॥१८५॥ कुल, रूप, वय, विद्या, चारित्र, शोभा और पौरुष आदि जो जो गुण वरोमें खोजना चाहिए वे उसमें इकट्ठे हो गये हैं । इसलिए इसमें कुछ चर्चकी आवश्यकता नहीं है जिसकी कीर्ति सब दिशाओमें फैल रही है और जिसने अपने तेजसे सूर्यके प्रति-बिम्बोकी भी जीत लिया है ऐसे चक्रवर्तिकी पुत्र अर्ककीर्तिकी लिए यह कन्या दी जाय ॥१८६-१८७॥ इसी समय सिद्धार्थ मन्त्री कहने लगा कि आपका यह सब कहना ठीक है परन्तु पूर्व व्यवहारको जाननेवाले छोटे लोगोका बड़ोके साथ सम्बन्ध होना भी अच्छा नहीं समझते हैं ॥१८८॥ इसलिए वरके गुणोसे सहित प्रमजन, रथवर, बलि, वज्रायुध, भेषेण्वर (जयकुमार) और भीमभुज आदि अनेक प्रसिद्ध राजपुत्र हैं जो एकसे एक बढ़कर वैभवशाली हैं तथा चतुर

१ गच्छ । २ तव । ३ गृहम् । 'शरणं गृहसिन्धो' इत्यभिधानात् । ४ विवाह । ५ नामवेयान् । ६ कोष्ठबुद्धि-बीजबुद्धिपदानुसारिसम्भिन्नश्रोतुभेदानिव । ७ वृण्वते ल०, म०, प०, स०, इ० । प्रार्थयन्ते । ८ विचार्यं । ९ वृण्वति स्म । १० धनस्य । ११ अथ वा जन्मन फलं राज्यस्य फलम् । १२ मुख्यम् । १३ अर्ककीर्ती । १४ विचार्यम् । १५ इति प्राहेति संबन्ध । १६ -मस्तु ल०, म०, प० । १७ पूर्ववेदिन । १८ अल्पस्य । १९ महता सह । ज्यायसा ल०, व० ।

मेघस्वरो भीमभुजस्तथाऽन्वेऽप्युदितोदिताः<sup>१</sup> । कृतिनो बहवः सन्ति तेषु<sup>२</sup> यत्राशयोत्सवः ॥ १९० ॥  
 शिष्टान् पृष्ट्वा च<sup>३</sup> दैवज्ञाञ्जिरीक्ष्य शकुनानि च । स हितः<sup>४</sup> समसंबन्धस्तस्मै कन्येति दीयताम् ॥ १९१ ॥  
 श्रुत्वा सर्वार्थवित्सर्वं सर्वार्थः प्रत्युवाच<sup>५</sup> तत् । भूमिगोचरसंबन्धः स नः प्रागपि विद्यते ॥ १९२ ॥  
 अपूर्वलाभः श्लाघ्यश्च विद्याधरसमाश्रयः । विचार्य तत्र कस्मैचिद्देयेयमिति निश्चितम् ॥ १९३ ॥  
 सुमतिस्तं निशम्यार्थं<sup>६</sup> युक्तानामाह युक्तवित् । न युक्तं वक्तुमप्येतत्<sup>७</sup> सर्ववैरानुबन्धकृत् ॥ १९४ ॥  
 किं भूमिगोचरोऽप्यस्या वरो नास्तीति चेत्तसि । चक्रिणोऽपि भवेत्किंचिद् वैरस्यं प्रस्तुतश्रुतेः<sup>८</sup> ॥ १९५ ॥  
 दृष्टः सम्यगुपायोऽयं मयाऽत्रैकोऽविरोधकः । श्रुतः<sup>९</sup> पूर्वपुराणेषु स्वयंवरविधिर्वरः ॥ १९६ ॥  
 संप्रत्यक्षम्नोपक्रमं<sup>१०</sup> तदस्वायुगावधि<sup>११</sup> । पुस्तपुत्रवत्सृष्टि<sup>१२</sup> ख्यातिरस्यापि जायताम् ॥ १९७ ॥  
 दीयतां कृतपुण्याय कस्मैचिद् कन्यका स्वयम् । वेधसा<sup>१३</sup> विप्रियं<sup>१४</sup> नोऽमा मामूद्भूभृत्सु<sup>१५</sup> केनचित् ॥  
 इत्येवमुक्तं तत्सर्वैः संमतं सहभूभुजा । नहि मत्सरिणः सन्तो न्यायमार्गानुसारिणः ॥ १९८ ॥  
 ताम्<sup>१६</sup> संपूज्य निःसर्ज्याभूद्<sup>१७</sup> भूभृत्<sup>१८</sup> तत्कार्यतत्परः । स्वयमेव गृहं गत्वा सर्वं तत्संविधानकम्<sup>१९</sup> ॥ २०० ॥

हे उनमें जिसके लिए अपना चित्त प्रसन्न हो उसके लिए शिष्ट जन तथा ज्योतिषियोसे पूछकर और उत्तम शकुन देखकर कन्या देनी चाहिए क्योंकि बराबरीवालेके साथ सम्बन्ध करना ही कल्याणकारी हो सकता है ॥ १८६-१९१ ॥ यह सब सुनकर समस्त विषयोको जानने-वाला सर्वार्थ नामका मन्त्री बोला कि भूमिगोचरियोके साथ तो हम लोगका सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है, हाँ, विद्याधरोके साथ सम्बन्ध करना हम लोगके लिए अपूर्व लाभ है तथा प्रशंसनीय भी है इसलिए विचारकर विद्याधरोमें ही किसीको यह कन्या देनी चाहिए ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥ १९२-१९३ ॥ तदनन्तर वहाँपर एकत्रित हुए सब लोगोका अभिप्राय जानकर योग्य बातको जाननेवाला सुमति नामका मन्त्री बोला कि यह सब कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ये सभी बातें शत्रुता उत्पन्न करनेवाली है ॥ १९४ ॥ विद्याधरको कन्या दी है यह सुननेसे चक्रवर्तीके चित्तमे भी 'क्या भूमिगोचरियोमे इसके योग्य कोई वर नहीं है' यह सोचकर कुछ बुरा लगेगा ॥ १९५ ॥ इस विषयमे किसीसे विरोध नहीं करनेवाला एक अच्छा उपाय मैने सोचा है और वह यह है कि प्राचीन पुराणोमे स्वयंवरकी उत्तम विधि सुनी जाती है । यदि इस समय सर्वप्रथम अकम्पन महाराजके द्वारा उस विधिकी प्रारम्भ किया जाय तो भगवान् वृषभदेव और उनके पुत्र सम्राट् भरतके समान संसारमे इनकी प्रसिद्धि भी युगके अन्त तक हो जाय ॥ १९६-१९७ ॥ इसलिए यह कन्या स्वयंवरमें जिसे स्वीकार करे ऐसे किसी पुण्य-वाली राजकुमारको देनी चाहिए । ऐसा करनेसे हम लोगका आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेव अथवा युगव्यवस्थापक सम्राट् भरतसे कुछ विरोध नहीं होगा, और न राजाओंका भी परस्परमे किसी-के साथ कुछ वैर होगा ॥ १९८ ॥ इस प्रकार सुमति नामके मन्त्रीके द्वारा कही सब बातें राजाके साथ-साथ सबने स्वीकृत की सो ठीक ही है क्योंकि नीतिमार्गपर चलनेवाले पुरुष भात्सर्य नहीं करते ॥ १९९ ॥ तदवन्तर राजाने सन्मान कर मन्त्रियोको बिदा किया और स्वयं

१ उपर्युपर्यन्मुदयवन्त । २ पुंसि । ३ चित्तोत्सवोऽस्ति । ४ ज्योतिष्कान् । ५ अस्माभिः सह सबन्ध-संबन्धवान् वा । ६ तम् ०, ५०, ५०, ५०, ५०, ५० । ७ भूचर । ८ अभिप्रायम् । ९ मिलितानाम् । श्रुतार्थादीनाम् । १० सर्व वैरा - ५०, ५० । ११ विवाहवार्ताश्रवणात् । १२ पूर्वस्मिन् श्रुत । १३ अकम्प-नेन प्रक्रमोपक्रान्तम् । १४ स्वयंवरनिर्माणम् । १५ पुरुजित्भरतराजवत् । १६ लघु ८० । स्वयंवरस्य लघुता इति प्रसिद्धिः । सृष्टिरिति पाठे स्वयंवरस्य सृष्टिप्रसिद्धिः । १७ ब्रह्मणा । 'लघुता प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृष्टिविधिः' इत्यभिधानात् । १८ विरुद्धम् । अप्रियमित्यर्थः । १९ नृपेषु । २० मन्त्रिण । २१ अकम्पनः । २२ स्वयंवरकार्यं । २३ प्रस्तुतं कृत्यम् ।

निवेद्य सुप्रमायाश्च हृष्टो हेमाङ्गदस्य<sup>२</sup> च । वृद्धैः कुलक्रमायातैरालोच्य च सनामिमिः ॥२०१॥  
 अत्रैकेषां<sup>३</sup> निसृष्टार्थान्<sup>४</sup> मितार्थानपराय<sup>५</sup> प्रति । परेषां<sup>६</sup> श्राश्रुतान्त-स्थपन्नाय<sup>७</sup> शासनहारिणः<sup>८</sup> ॥२०२॥  
 स दानमानैः संपूज्य निवेद्यैतत्प्रयोजनम्<sup>९</sup> । समानेतुं महीपालाद् सर्वत्रिकं<sup>१०</sup> समादिशत् ॥२०३॥  
 ज्ञात्वा तदाशु तद्वन्धुर्विचित्राह्नदसंज्ञकः<sup>११</sup> । सौधर्मकल्यादागत्य देवोऽवधिविलोचनः<sup>१२</sup> ॥२०४॥  
 अकम्पनमहाराजमालोक्य वयमागताः । सुलोचनायाः पुण्यायाः<sup>१३</sup> स्वयंवरमवेक्षितुम् ॥२०५॥  
 इत्युक्त्वोपपुरे<sup>१४</sup> योग्ये रम्ये राजाभिसंमत ।<sup>१५</sup> ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे प्रचीरे<sup>१६</sup> वरवास्तुनि<sup>१७</sup> ॥२०६॥  
 प्राङ्मुखं सर्वतोमद्रं मङ्गलद्रव्यसम्भृतम् । विवाहमण्डपोपेतं प्रासादं बहुभूमिकम्<sup>१८</sup> ॥२०७॥  
<sup>१९</sup> चित्रप्रतीलीप्राकारपरिकर्मगृहावृतम् । मास्वरं मणिममार्ग्यां<sup>२०</sup> विधाय विधिवत् सुधीः ॥२०८॥  
<sup>२१</sup> परीत्य विशुद्धोऽरु सुविस्मक्तमहीतलम् । चतुरस्रं चतुर्दशालङ्गोपुरसंयुतम्<sup>२२</sup> ॥२०९॥  
 रत्नतोरणलंकीर्णकैतुमालाविलासितम् । हृदय्वाग्रनिर्भासि भस्मकुम्भामिगोभितम्<sup>२३</sup> ॥२१०॥  
 स्थूलनीलोत्पलावदस्फुरद्दीप्तिधरातलम् । विचित्रनेत्रविस्तीर्णवितानाति<sup>२४</sup> विराजितम् ॥२११॥

कार्य करनेमें जुट गया । उसने सबसे पहले घर जाकर ऊपर लिखे हुए समाचार सुप्रमादेवी और हेमांगद नामके ज्येष्ठ पुत्रको कह सुनाये तथा कुलपरम्परासे आये हुए वृद्ध पुरुषों और सगोत्री बन्धुओंके साथ पूर्वापर विचार किया ॥२००-२०१॥ कितने ही राजाओंके पास निसृष्टार्थ अर्थात् स्वयं विचार कर कार्य करनेवाले दूत भेजे, कितनों ही के पास मितार्थ अर्थात् कहे हुए परिमित समाचार सुनानेवाले दूत भेजे और कितनों ही के पास उपहारके भीतर रखे हुए पत्रको ले जानेवाले दूत भेजे । इस प्रकार दान और सन्मानके द्वारा पूजित कर तथा स्वयं-वरका प्रयोजन बतलाकर राजाने भूपालोंको बुलानेके लिए सभी दिशाओंमें अपने दूत भेजे ॥२०२-२०३॥ यह सब समाचार जानकर अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको चारण करनेवाला विचित्रागद नामका देव जो कि पूर्वभवमें राजा अकम्पनका भाई था सौधर्म स्वर्गसे आया और अकम्पन महाराजके दर्शन कर कहने लगा कि मैं पुण्यवती सुलोचनाका स्वयंवर देखनेके लिए आया हूँ ॥२०४-२०५॥ ऐसा कहकर उसने राजाकी आज्ञानुसार नगरके समीप ब्रह्मस्थानसे उत्तरदिशाकी ओर अत्यन्त शान्त, उत्कृष्ट, योग्य और रमणीय स्थानमें एक सर्वतोभद्र नामका राजभवन बनाया जिसका मुख पूर्व दिशाकी ओर था, जो मंगलद्रव्योसे भरा हुआ था, विवाहमण्डपसे सहित तथा कई खण्डका था ॥२०६-२०७॥ वह राजभवन अनेक प्रकारकी गलियों, कोटों तथा शृंगार करनेके घरोसे घिरा हुआ था, देदीप्यमान था और मणियों तथा सुवर्णसे बना हुआ था । इस प्रकार उस बुद्धिमान् देवने विधिपूर्वक राजभवनकी रचना कर उसके चारों ओर स्वयंवरका महाभवन बनाया था जो कि विशुद्ध था, बड़ा था, जिसका पृथ्वीभाग अलग-अलग विभागोंमें विभक्त था, जो चौकोर था, जिसमें चार दरवाजे थे, जो कोट तथा गोपुरद्वारोंसे सुशोभित था, रत्नोंके तोरणोंसे मिली हुई पताकाओंकी पक्तियोंसे शोभायमान हो रहा था, देदीप्यमान शिखरोंके अग्रभागपर चमकते हुए सुवर्णके कलशोंसे अलंकृत

- १ सुप्रमायाश्च अ०, प० । २ निजज्येष्ठपुत्रस्य । ३ केपाचित्रपाणाम् । ४ स्वयमेव विचारितकार्यान् । ५ परिमितकार्यार्थान् । ६ उपायन । ७ वचोहरान् । -पद्मशासन-ल० । ८ स्वयंवरकार्यम् । ९ स्वयंवर-विशाम् । १० अकम्पनस्य मित्रम् । ११ पवित्राया । १२ पुरसमीपे । १३ पदविन्यासाच्चिचित्तमव्यभिचाराद्युत्तरे । १४ अश्वत्थमीरे । १५ वरवास्तुदेवो । 'वेक्ष्य भूवस्तुरस्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । १६ -भूमिपम् ल०, म० । १७ गोपुररथा वा । १८ शृङ्गारगृह । १९ 'भर्म' स्वर्गं हाटक जातकुम्भम्' इत्यभिधानपाठादन्तः । २० सर्वतोभद्र परिवेष्टव्य । २१ द्वारं शाल-ल०, म०, अ०, प०, स०, ह० । २२ कनककलज । २३ वस्त्रविशेष ।

भोगोपभोगयोगोऽसर्ववस्तुसमाचितम् । यथास्थानगतायेपरलकाञ्जननिर्मितम् ॥२१२॥  
 सुदा निष्पाद्यामास स्वयंवरमहागृहम् । न सांध्यन्ति केऽभीष्टं पुंसां शुभविपाकतः ॥२१३॥  
 तं निरीक्ष्य क्षितेर्मर्त्ता लक्ष्मीलीलागृहवितम् । नासीत् स्वाङ्गे स संतोषात् सन्मित्रात् किञ्च जायते ॥  
 अथ प्रादुरभूत् कालः सुरभिर्मन्त्रमन्मथः । सुदं मदं च संचिन्वन् कामिषु भ्रमरेषु च ॥२१४॥  
 वयौ मन्दं गजोद्वृष्टचन्दनद्रवसारभृत् । पलालवज्रसंसर्गापह्वलौ मलयानिलः ॥२१५॥  
 मलयानिलमाखेटुं संचिन्धनमुपागतम् । लताहुमाः सुगन्धानां प्रसारणमिवाद्भुः ॥२१६॥  
 यमसंविन्धिदन्त्यागं रविर्भीत इवाकरोन् । मदेन कोकिलाः काले कूजन्ति स्म निरंकुशम् ॥२१७॥  
 'पुष्पमातृवसासा नः' शाखा न स्पृशतेति तान् । अलीन् वांसं निषिध्यन्तश्चम्पकाश्चलपल्लवः ॥२१८॥  
 वसन्तश्रीविद्योगो वा सगोकोऽशोकभूरुहः । सपुष्पपल्लवौ नाम सार्धं तत्संगमाद् व्यधात् ॥२१९॥  
 मूलस्कन्धाग्रमध्येषु चूतावैरिव मन्सरात् । सुरभीणि प्रसृजानि सुरभिश्च<sup>१३</sup> तदा दधे ॥२२०॥

था, जिसका धरातल वड़े-वड़े नीलमणियोसे जड़ा हुआ होनेके कारण जगमगा रहा था, जो नेत्र जातिके वस्त्रोसे वने हुए वड़े-वड़े चन्दोवोसे सुशोभित था, भोग उपभोगके योग्य समस्त वड़ी-वड़ी वस्तुओंसे भरा हुआ था और योग्य स्थानपर लगाये हुए सब प्रकारके रत्नों तथा सुवर्णसे बना हुआ था । इस प्रकारका स्वयंवरका यह महाभवन उस देवने वड़ी प्रसन्नतासे बनाया था सो ठीक ही है क्योंकि पुष्पोदयसे पुष्पोंके अभीष्ट अर्थको कौन-कौन सिद्ध नहीं करते हैं अर्थात् सभी करते हैं ॥२०८-२१३॥ लक्ष्मीके लीलागृहके समान उस स्वयंवर भवनको देखकर राजा अकम्पन सन्तोषसे अपने गरीरमे नहीं समा रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम मित्रोसे क्या नहीं होता है ? अर्थात् सभी कुछ होता है ॥२१४॥-

अथानन्तर-कामको उन्मत्त करनेवाले तथा कामी लोगों और भ्रमरोंसे क्रमशः आनन्द और मदको बढ़ानेवाले वसन्तऋतुका प्रारम्भ हुआ ॥२१५॥ हाथियोके द्वारा घिसे हुए चन्दन-वृक्षोंके निष्यन्दरूपी सारको धारण करनेवाला तथा इलायची और लवंगके संसर्गसे कुछ-कुछ पीला हुआ मलयपर्वतका वायु धीरे-धीरे बहने लगा ॥२१६॥ उस समय लताओं और वृक्षोंकी जो-शाखाएँ फैल रही थी उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो समीप आये हुए अपने सम्बन्धी मलयानिलका आलिंगन करनेके लिए ही भुजारूप शाखाएँ फैला रहे हों ॥२१७॥ उस समय सूर्यने मानो डरकर ही यम सम्बन्धी-दक्षिण दिशाका त्याग कर दिया था अर्थात् उत्तरायण हो गया था और कोयले मदसे निरंकुश होकर मधुर शब्द कर रही थी ॥२१८॥ 'ये हमारी शाखाएँ आर्तव अर्थात् वसन्त ऋतुमें उत्पन्न होनेवाले अथवा- रजस्वला अवस्थामें प्रकट होनेवाले पुष्पको प्राप्त हो रही हैं-धारण कर रही हैं इसलिए इन्हें मत छुओ' यही कहते हुए मानो चम्पाके वृक्ष अपने हिलते हुए पल्लवोंके द्वारा भ्रमरोंको बहोपर निवास करनेका निषेध कर रहे थे ॥२१९॥ जो वसन्त ऋतुरूपी लक्ष्मीके वियोगमे सगोक था अर्थात् शोक धारण कर रहा था ऐसा अगोकका वृक्ष उस वसन्त ऋतुके सम्बन्धसे फूल और पल्लवोंसे सहित हो अपना अशोक नाम सार्थक कर रहा था ॥२२०॥ उस समय चमेलोने आम आदि वृक्षोंके साथ इष्यौ

१ संभूतम् । २ प्रदेगमनतिक्रम्य । ३ शुभकर्मोदयात् । ४ हर्षेण निजगरीरे न समावित्यर्थ । नामात् ल०, म०, अ०, स०, प०, ड० । ५ वसन्तः । 'वसन्ते पुष्पसमय सुरभिर्ग्रीष्म-उष्णकः ।' इत्यभिधानात् । ६ पदवैकल्यवान् । ७ आलिङ्गनाय । ८ करप्रसारणमिव । ९ चक्रिरे । १० ऋतुं पुष्पोत्पत्तिनिमित्तमूतकाल-विशेषं रजोराप्तिनिमित्तं कालविकल्पं च । ११ अस्माकम् । १२ वियोगे ल० । १३ सल्लकीतरुः । "गमिनी गजमस्या तु सुवहा सुरभी रसा । महेक्षणा कुन्दुकी सल्लकी ह्लादिनीति च" इत्यभिधानात् ।

- ॥०॥ आकृष्टदिग्गजालीनि<sup>१</sup> वकुलानि वने वने । हानौ<sup>२</sup> गुणाधिकान्यासंस्तुलितानि<sup>३</sup> कुलोद्गतैः<sup>४</sup> ॥२२२॥  
 कोडनासक्तकान्ताभिर्वाध्यमानाः सगीतिभिः । आन्दोलः स्तम्भसंभूतैः समाक्रोशश्चि<sup>५</sup> स्वनैः ॥२२३॥  
 सुन्दरेष्वपि कुन्देषु मधुपा मन्दतृषयः । माधवीमधुपानेन मुदा मधुरमास्वत्<sup>६</sup> ॥२२४॥  
 भवेद्द्वयत्र<sup>७</sup>, कामस्य रूपविन्तादि<sup>८</sup> साधनम् । कालैकसाधनः<sup>९</sup> सोऽस्मिन्ना<sup>१०</sup> वनस्पति<sup>११</sup> जृम्भते<sup>१२</sup> ॥२२५॥  
 नरविद्याधराधीना<sup>१३</sup> गत्वा<sup>१४</sup> तत्कालसाधनात् । दूताः स्वयंवराणां सर्वास्तान् समवोधयन् ॥२२६॥  
 ॥१॥ प्रप्तौ नानानकध्वानप्रोल्कणैकतदिग्निपाः । निजाङ्गनानाम्मोजपरिस्थाननिविधायिनः ॥२२७॥  
 ॥२॥ विद्यद्विभूतिमाक्रम्य विमानैर्गतमानकैः<sup>१५</sup> । सद्यो विद्याधराधीना द्योतमानदिगाननाः ॥२२८॥  
 सुलोचनाभिधाकृष्टि<sup>१६</sup> विद्याकृष्टाः समापत्तन्<sup>१७</sup> । कामिनां न पराकृष्टि<sup>१८</sup> विद्यासुक्त्वेप्सितस्त्रियः ॥२२९॥

होनेके कारण ही मानो जड़, स्कन्ध, मध्यभाग और ऊपर-सभी जगह सुगन्धित फूल धारण किये थे ॥२२१॥ जिन्होंने दिग्गजोंके भ्रमरोको भी अपनी ओर खींच लिया है और जो उच्च-कुलमें उत्पन्न हुए, वड़े पुंसोंके समान हैं ऐसे मौलश्रीके वृक्ष प्रत्येक वनमें अपनी हानि होनेपर भी गुणोंकी अधिकता ही धारण कर रहे थे । भावार्थ-जिस प्रकार कुलीन मनुष्य हानि होनेपर भी अपना गुण नहीं छोड़ते हैं उसी प्रकार मौलश्रीके वृक्ष भी भ्रमरों-द्वारा उसका पान किया जाना रूप हानिके होनेपर भी अपना सुगन्धिरूप गुण नहीं छोड़ रहे थे ॥२२२॥ जो गीत गा रही है तथा खेलनेमें लगी हुई है ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ जो झूला झूल रही थी और उनके झूलनेसे जो उनके खम्भोंसे चूँ चूँ शब्द हो रहा था उनसे वे झूले ऐसे जान पड़ते थे मानो उन स्त्रियोंके द्वारा पीड़ित होकर ही चिल्ला रहे हो ॥२२३॥ जिन्हें कुन्दके सुन्दर फूलोंपर अच्छी तृप्ति मिली हुई है ऐसे भ्रमर माधवी ( मधुकामिनी ) लताका रस पीकर आनन्दसे मधुर शब्द कर रहे थे ॥२२४॥ वसन्तको छोड़कर अन्य ऋतुओंमें अच्छा रूप होना आदि भी कामदेवके साधन हो सकते हैं परन्तु इस वसन्तऋतुमें एक समय ही जिसका साधन है ऐसा यह काम वनस्पतियों तक फैल जाता है । भावार्थ-अन्य ऋतुओंमें सौन्दर्य आदिसे भी कामकी उद्भूति हो सकती है, परन्तु वसन्तऋतुमें कामकी उद्भूतिका कारण समय ही है । उस समय सौन्दर्य आदिका अभाव होनेपर भी केवल समयकी उत्तेजनासे कामकी उद्भूति देखी जाती है और उसका क्षेत्र केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रहता किन्तु वनस्पतियों तकमें फैल जाता है ॥२२५॥ उस वसन्तऋतुकी सहायतासे उन दूतोंने भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके पास जाकर उन सबको, स्वयंवरके समाचार बतलाये ॥२२६॥

तदनन्तर अनेक नगाड़ोंके शब्दोंसे दिग्गजोंके कान खड़े करनेवाले, अपनी स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंको म्लान करनेवाले, सब दिगाओंके मुखको प्रकाशित करनेवाले और सुलोचना इस नामरूपी आर्कापिणी विद्यासे आर्कापित हुए अनेक विद्याधरोंके अधिपति अपने अनेक विमानोंसे आकाशके विस्तारको कम करते हुए बहुत शीघ्र या पहुँचे सो ठीक ही है क्योंकि कामी लोगोंको अपनी अभीष्ट स्त्रियोंको छोड़कर और कोई उत्तम आर्कापिणी विद्या नहीं है ॥२२७-२२९॥

१ आकृष्टा दिग्गजगणवत्कृत्यो यैस्तानि । २ पुष्पाभोदत्यागे सति । ३ गुणगुणाधिकानि । उपकारादिगुणाधिकानि । ४ सदृशोक्तानि । ५ विशुद्धवंशोद्भूत । ६ आक्रोश चक्रिरे । ७ ध्वनन्ति स्म । ८ अन्तस्मिन् काले । ९ स्त्रीपुंसा रूपधनभूषणादि । १० काल एक एव सावन यस्य स । ११ वसन्तकाले । १२ वनस्पतिपर्वतम् । १३ वदन्ते । १४ वसन्तकाल । १५ आकाशविस्तृतिम् । १६ अपरिच्छिन्नप्रमाणक । अपरिमितिरित्यर्थः । १७ वतमानकैः ल०, म० । १८ सुलोचनानामैव आकर्षणविद्या तया आकृष्टा आर्कापिता । १९ आगच्छन्ति स्म । १९ आकर्षणविद्या ।



अभिगम्य<sup>१</sup> नृपः<sup>२</sup> क्षिप्रं स्वयमाविष्कृतोत्सवः । चेतः सौलोचन<sup>३</sup> बैतान् ग्रीतान् प्रावेशयत्पुरम् ॥२३०॥  
 स्वगेहादिषु संप्रीत्या समुद्रद्वीपस्रवध्वजः । अकम्पनिभिराविष्कृतादरैः परिचारितः ॥२३१॥  
 सांशुकर्मभियोद्यन्तमर्ककीर्तिं सहायुजम् । अकम्पननृपोऽभ्येत्य<sup>४</sup> भरतं<sup>५</sup> वाऽनयत्पुरम् ॥२३२॥  
 स्वादरेणैव<sup>६</sup> संसिद्धिं भाविनीं तस्य सूचयन् । नाथवंशायणीमैवस्वरं चानेतुमभ्ययात् ॥२३३॥  
 ततो महीभृतः सर्वे त्रिसमुद्रान्तरस्थिताः । पूरा इव पयोरानि प्रापुः स्कीतीकृतश्रियः ॥२३४॥  
 स्वयमर्घपथं गत्वा केषांचित् सर्वसंपदा । केषांचिद् गमयित्वाऽन्यान् मान्यान् हेमाङ्गदादिकान् ॥२३५॥  
 ये ये यथा यथा प्राप्ताः पुरीस्तां स्तांस्तथा तथा । आह्वयन्तीं पताकाभिर्वीच्छ्रिताभिरवीक्षितवत् ॥२३६॥  
 तदा तं राजगेहस्थं नरविद्याधराभिषेः । वृत्तं सुलोचनाऽकार्पात् पितरं जितचक्रिणम् ॥२३७॥  
 वाराणसी जितायोध्या<sup>१०</sup> स्वनाम्नस्तां<sup>९</sup> निराकरोत् । कन्यारत्नात् परं<sup>११</sup> नान्यदित्यन्नाहुः प्रभृत्त्यतः २३८  
 तान् स्वयं वंशालायामर्ककीर्तिपुरस्सरान् । निवेद्य प्रीणयामास कृताभ्यागतसत्क्रियः ॥२३९॥

अनेक उत्सवोको प्रकट करनेवाले राजा अकम्पनने स्वयं ही बहुत शीघ्र उन राजाओंकी अगवानी की और प्रसन्न हुए उन राजाओंको सुलोचनाके चित्तके समान वाराणसी नगरीमें प्रवेश कराया ॥२३०॥ जिसने बड़े प्रेमसे अपने घर आदिमें उत्सवकी ध्वजाएँ बैधायी है और आदरको प्रकट करनेवाले हेमागद आदि पुत्र जिसके साथ हैं ऐसे राजा अकम्पनने किरणों सहित उदय होते हुए सूर्यके समान अपने छोटे भाइयों सहित आये हुए अर्ककीर्तिकी अगवानी कर उसे महाराज भरतके समान नगरमें प्रवेश कराया ॥२३१-२३२॥ इसी प्रकार अपने आदरसे ही मानो उसकी आगे होनेवाली सिद्धिकी सूचित करता हुआ नाथवंशका अग्रणी राजा अकम्पन जयकुमारको लेनेके लिए उसके सामने गया ॥२३३॥ तदनन्तर जिस प्रकार पूर समुद्रकी ओर जाता है उसी प्रकार तीनों ( पूर्व, पश्चिम, दक्षिण ) समुद्रोंके बीचके रहनेवाले सब राजा लोग अपनी अपनी शोभा बढ़ाते हुए वाराणसी आ पहुँचे ॥२३४॥ राजा अकम्पन कितने ही राजाओंके सामने तो अपनी सब विभूतिके साथ स्वयं आधी दूर तक गया था और कितनों ही के सामने उसने मान्य हेमागद आदिको भेजा था ॥२३५॥ जो राजा जिस-जिस प्रकारसे आ रहे थे उन्हें उसी-उसी प्रकारसे उसने, अपनी फहराती हुई पताकाओंसे जो मानो बुला ही रही हों ऐसी बनारस नगरीमें प्रवेश कराया था ॥२३६॥ उस समय सुलोचनाने राजमहलमें विराजमान तथा भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंसे घिरे हुए अपने पिताको चक्रवर्तीको भी जीतनेवाला बना दिया था । भावार्थ—महलमें इकट्ठे हुए अनेक राजाओंसे राजा अकम्पन चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था ॥२३७॥ उस समय अयोध्याको भी जीतनेवाली वाराणसी नगरी अपने नामसे ही उसका तिरस्कार कर रही थी । क्योंकि उस स्वयंवरके समयसे ही लेकर इस संसारमें कन्यारत्नके सिवाय और कोई उत्तम रत्न नहीं है, यह बात प्रसिद्ध हुई है । भावार्थ—कदाचित् कोई कहे कि चक्रवर्तीकी राजधानी होनेसे चौदह रत्न अयोध्यामें ही रहते हैं इसलिए वही उत्कृष्ट नगरी हो सकती है न कि वाराणसी भी; तो इसका उत्तर यह है कि संसारमें सर्वोत्कृष्ट रत्न कन्यारत्न है जो कि उस समय वाराणसीमें ही रह रहा था अतः उत्कृष्ट रत्नका निवास होनेसे वाराणसीने अयोध्याका तिरस्कार कर दिया था ॥२३८॥ अतिथियोंका सत्कार

१ अभिमुखं गत्वा । २ अकम्पनः । ३ सुलोचनाचित्तमिव । ४ अकम्पनस्यापत्यैः । ५ अभिमुखं गत्वा । ६ भरतमिव । ७ अकम्पनस्यादरेण । ८ वृद्धीकृत । ९ प्रावेशयत् । १० अयोध्याभिधानात् । ११ अयोध्यावितम् । अथवा योद्धुमशक्या अयोध्या एतल्लक्षणं तदा तस्या अयोध्याया नास्तीति भावः । १२ उत्कृष्टम् ।

पुरोपार्जितसद्धर्मात् सर्वमेतत्ततः<sup>१</sup> पुरा<sup>२</sup> । धर्म एव समभ्यर्च्य इति संचित्य विद्वर<sup>३</sup> ॥ २४० ॥  
 कृत्वा जैनेश्वरीं पूजां दीनानाथवनीपकान्<sup>४</sup> । अनर्थिनः<sup>५</sup> समर्थ्यांश्च<sup>६</sup> सर्वव्यागोत्सवोद्यतः ॥ २४१ ॥  
 तां लक्ष्मीमक्षयां मत्वा सफलं चाप्यसद्व्ययाम् । स तदाभूत् क्षत्रेकैकमोग्यः क्षितिगिवात्मनः ॥ २४२ ॥  
 एवं विहिततत्पूजः<sup>७</sup> प्रकृतार्थ<sup>८</sup> प्रचक्रमे । प्रारम्भाः सिद्धिमायान्ति पूज्यपूजापुरस्तराः<sup>९</sup> ॥ २४३ ॥  
 आरुफलिता तदा भेरी विबाहोत्सवशंसिनी । व्याजोत्<sup>१०</sup> प्रमोदः प्राक् चैतः पश्चात् कर्णेषु तद्भवनि ॥  
 पुष्पोपहारिभूमागानृत्यत्केतुनमस्तला । निजिताम्बिमहातूर्यध्वानाध्मातदिगन्तरा ॥ २४५ ॥  
 विशोभितमहावीथिदेशा प्रोद्वद्धतोरणा । पुनर्नवसुधाक्षोदधवलीकृतसौधिका<sup>१२</sup> ॥ २४६ ॥  
 रजिताञ्जनसन्नेत्रा मालाभारिशिरोरुहा । संस्कृतभ्रूलतोपेता सविशेषललाटिका<sup>१३</sup> ॥ २४७ ॥  
<sup>१४</sup> मणिकुण्डलमारेण प्रलम्बध्रुवणोज्ज्वला । सचित्रकैरविम्बस्तपन्नचित्रकपोलिका<sup>१५</sup> ॥ २४८ ॥  
 ताम्बूलरससरगाद् द्विगुणारुणितधरा । सुक्कामरणमाभारमासिवन्धुरकण्डिका<sup>१६</sup> ॥ २४९ ॥  
 सचन्दनरसरुहाररवक्षःकुचाञ्जिता<sup>१७</sup> । महामणिमयूखातिमास्वदभ्रुजलतावता ॥ २५० ॥

करनेवाले राजा अकम्पनने उन अर्ककीर्ति आदि राजाओको स्वयंवरगालामें ठहराकर प्रसन्न किया था ॥ २३९ ॥ यह सब पहले उपार्जन किये हुए समीचीन धर्मसे ही होता है इसलिये सबसे पहले धर्म ही पूजा करनेके योग्य है ऐसा विचार कर विद्वानोमें श्रेष्ठ राजा अकम्पन श्री जिनैन्द्र-देवकी पूजा कर तथा दीन, अनाथ और याचकोको अयाचक बनाकर सबका त्याग करनेरूप उत्सवके लिए शीघ्र ही तैयार हो गया । वह अच्छे कामोमें खर्च की हुई लक्ष्मीको क्षयरहित और सफल मानने लगा तथा जिस प्रकार उसकी पृथिवी उसके उपभोग करनेके योग्य थी उसी प्रकार उस समय वह समस्त पृथिवीके उपभोग करने योग्य हो गया था । भावार्थ—पृथिवीके सब लोग उसके राज्यका उपभोग करने लगे थे ॥ २४०—२४२ ॥ इस प्रकार उसने जिनैन्द्रदेवकी पूजा कर अपना प्रकृत कार्य प्रारम्भ किया सो ठीक ही है क्योंकि पूज्य पुरुषोंकी पूजापूर्वक किये हुए कार्य अवश्य ही सफलताको प्राप्त होते हैं ॥ २४३ ॥ उसी समय विवाहके उत्सवको सूचित करनेवाली भेरी बज उठी सो पहले सबके चित्तमें आनन्द छा गया और पीछे भेरीकी आवाज कानोमें व्याप्त हुई ॥ २४४ ॥ उस समय वहाँ पृथिवीपर जहाँ-तहाँ फूलोंके उपहार पड़े हुए थे, आकाशमें पताकाएँ नृत्य कर रही थी, समुद्रकी गर्जनाको जीतनेवाले बड़े-बड़े नगाड़ोंसे दिशाएँ शब्दायमान हो रही थी, वहाँकी बड़ी-बड़ी गलियाँ गुरु की गयी थी, उनमें तोरण बाँधे गये थे और बड़े-बड़े महल नये चूनाके चूने पुनः सफेद किये गये थे ॥ २४५—२४६ ॥ वहाँकी स्त्रियोके उत्तम नेत्र कज्जलसे रगे हुए थे, शिरके केन मालाओकी धारण कर रहे थे, भौरूपी लताएँ संस्कार की हुई थी, उनके ललाटपर सुन्दर तिलक लगा हुआ था, उज्ज्वल कर्ण मणियोंके बने हुए कुण्डलोंके भारसे कुछ-कुछ नीचेकी ओर झुक रहे थे, कपोलोंपर हाथसे बनायी हुई पत्ररचनाके चित्र बने हुए थे, पानके रसके सम्बन्धसे उनके ओठोंकी लाली दूनी हो गयी थी, उनके कण्ठ मोतियोंके आभूषणोंकी कान्तिके भारसे बहुत ही सुगोभित हो रहे थे, उनका वक्ष स्थल चन्दनका लेप, बड़ा हार और स्तनोसे शोभायमान हो रहा था, उनकी भुजा-रूपी लताएँ बड़े-बड़े मणियोंकी किरणोंसे देदीप्यमान हो रही थी, उनका विशाल नितम्बस्थल

१ वत. कारणात् । २ पूर्वम् । ३ विदां वर । ४ याचकान् । ५ अनिच्छन् । ६ प्रकाश्य । ७ सर्वजनस्य । ८ कृत-जिनपूज । ९ प्रकृतकार्यम् । १० पूज्याना पूजा पुरस्तरा येषु ते । ११ प्रसरति स्म । १२ नूतनसुधाक्षोदधवली-कृतहर्म्या । १३ तिलकसहितमालस्थला । १४ रत्नकर्णवेष्टन । १५ प्रशस्तचित्रिकाजनचित्रिमकारिकापत्रादि-विविधरचनावद्गण्डमण्डला । १६ मनोज्ञग्रीवा । १७ प्रशस्तश्रीपद्मवर्द्धमकलितचक्षुसास्फुरणहार्गान्वितकुचाम्ना च पूजिता । १८ मयूखाभा 'त'० पुस्तकं विहाय सर्वत्र ।

रशनारञ्जुविभ्राजिसुविशालकटीतटी । मणिनूपुरनिर्घोषमर्लिताञ्जकमाञ्जिका ॥ २५१ ॥  
 जितामरपुरीशोमा सौन्दर्यात् सा पुरी तदा । प्रसाधनमयं<sup>१</sup> कायमं<sup>२</sup> त्रिताचिन्त्यवैभवम् ॥ २५२ ॥  
 उत्सवो राजगृहस्य नगरेणैव वर्णितः । अगाधो यदि पर्यन्तो मध्यमग्वे<sup>३</sup> किमुच्यते ॥ २५३ ॥  
 न चित्रं तत्र<sup>४</sup> मञ्जिती<sup>५</sup> सौत्सवोऽन्तर्बहिश्च तत् । तद्वत्स्वभूषया यस्मात्<sup>६</sup> कुट्याद्यपि विचेतनम् ॥ २५४ ॥  
 भोक्तृभूषणं न भोगाद्ग<sup>७</sup> न गोक्या भोगवर्जितः । तत्र सज्जितोऽनङ्गो लक्ष्मीश्राविष्कृतोदया ॥ २५५ ॥  
 पश्य पुण्यस्य माहात्म्यमिहापीति<sup>८</sup> तदुत्सवम्<sup>९</sup> । विलोक्य कृतधर्माणः<sup>१०</sup> पुरस्थात् बहु मेनिरे ॥ २५६ ॥  
<sup>११</sup> उदसुन्वन् फलं मत्वा धर्मस्य मुनयोऽपि तत् । धर्माधर्मफलालोकात् स्वभावः स हि तादृशम् ॥ २५७ ॥  
 कन्यागृहात्तदा कन्यामन्यां वा कमलालयाम्<sup>१२</sup> । पुरोभूय<sup>१३</sup> पुरन्त्यस्तामीपलज्जात्तसाध्वसाम्<sup>१४</sup> ॥  
 विवाहविधिवेदन्यः कृततत्कालसत्क्रियाम् । समानीय भवैवशा<sup>१५</sup> महातर्करवान्विताम् ॥ २५८ ॥  
 सर्वमङ्गलसंपूर्णं सुकालम्<sup>१६</sup> यभूषिते । चतुःकाञ्चनसुस्तम्भे भूरितलसुररुचिषि ॥ २५९ ॥  
 प्रमोदात् सुप्रभादंशाद्<sup>१७</sup> विवाहोत्सवमण्डपे । कलधौतमये पटे<sup>१८</sup> निवेश्य प्रादुर्भूय<sup>१९</sup> सुखम् ॥ २६० ॥

करधनीरूपी रज्जुसे सुशोभित हो रहा था, और उनके चरणकमल मणिमयी नूपुरोंकी झनकारसे कमलोका तिरस्कार कर रहे थे ॥ २४७-२५१ ॥ इस प्रकार अपनी सुन्दरतासे स्वर्गपुरीकी शोभाको जीतनेवाली वह नगरी उस समय अचिन्त्य वैभवशाली अलंकारमय शरीरको धारण कर रही थी ॥ २५२ ॥ राजमहलका उत्सव तो नगर ही कह रहा था क्योंकि समुद्रके किनारेका भाग ही जब अगाध है तब उसके बीचका क्या पूछना है ? भावार्थ—जब नगरमें ही भारी उत्सव हो रहा था तब राजमहलके उत्सवका क्या पूछना था ? ॥ २५३ ॥ वहाँके सचेतन प्राणी अन्तरंग और बहिरंग सब जगह उत्सव मना रहे थे इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि वहाँकी दीवाले आदि अचेतन पदार्थ भी तो अपने अलंकारों-द्वारा सचेतन प्राणियोंके समान ही उत्सव मना रहे थे । भावार्थ—दीवाले आदि अचेतन पदार्थ भी अलंकारोंसे सुशोभित किये गये थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उल्लाससे अलंकार धारण कर स्वयं ही उत्सव मना रहे हों ॥ २५४ ॥ वहाँपर भोगोपभोगका कोई भी पदार्थ भोक्तासे रहित नहीं था और न कोई भोक्ता भी भोगोपभोगके पदार्थसे रहित था, वहाँपर कामदेव सदा समीप ही रहता था और लक्ष्मी उदयरूप रहती थी ॥ २५५ ॥ इस जन्ममें ही पुण्यका माहात्म्य देखो ऐसा सोचते हुए कितने ही धर्मात्मा लोग वहाँका उत्सव देखकर उस नगरके रहनेवाले लोगोंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देख रहे थे ॥ २५६ ॥ मुनि लोग भी उसे धर्मका फल मानकर प्रसन्न हुए थे सो ठीक है क्योंकि धर्मका फल देखकर प्रसन्न होना धर्मात्मा लोगोंका स्वभाव है और अधर्मका फल देखकर प्रसन्न होना अधर्मात्मा लोगोंका स्वभाव है ॥ २५७ ॥ उसी समय विवाहकी विधिको जाननेवाली सौभाग्यवती स्त्रियाँ, जिसने तात्कालिक सत्क्रियाएँ की है, जो लज्जासे कुछ भयभीत हो रही है, जिसके आगे बड़े-बड़े नगाड़ोंके शब्द हो रहे हैं, ज्योतिष शास्त्रको जाननेवाले अनेक विद्वान् जिसके साथ हैं और जो दूसरी लक्ष्मीके समान जान पड़ती है ऐसी उस कन्याको उसके सामने जाकर उसके घरसे सब प्रकारके मंगल द्रव्योंसे भरे हुए, मोतियोंके आभूषणोंसे सुशोभित, सुवर्णके बने हुए चार उत्तम खम्भोंसे युक्त और अनेक रत्नोंकी कान्तिसे जगमगाते हुए

१ अलंकारस्वरूपम् । २ विभक्ति इयम् । ३-मग्वी ल० । ४ पुण्याम् । ५ चेतनवान् । ६ उत्सववत् । ७ यस्मात् कारणात् । ८ लक्ष्मिचन्दनादि । ९ नगरे । १० अस्मिन् जन्मन्यपि । किं पुनस्तत्तज्जन्मनीत्यपि शब्दार्थः । ११ तत्पुरोत्सवम् । १२ कृतपुण्या । १३ उत्सवं प्राप्ता । उदास्तन्वत् ल० । १४ लक्ष्मीम् । १५ पुरस्कृत्य । १६ कुटुम्बिभ्यः । 'स्यात् कुटुम्बिनी पुरन्ध्री' इत्यभिधानात् । पुरं पोष्यबहुजनसमूहं वत्त इति पुरन्ध्री । पुत्रादि-पोष्यवर्गशालिन्याः स्त्रिया नाम । १७ लज्जया स्वीकृतम् । १८ ज्योतिष्कसहिता । १९ माला । २० सुप्रभासमाहा-देवीनिरूपणात् । २१ फलकम् ।

कलसैर्मुखविद्यस्तवित्वसप्लवधैः । असिषिच्य विबुद्धास्तुपूर्णाः स्वर्णमयैः शनैः ॥ २६२ ॥  
 कृतमङ्गलनेपथ्यां नीत्वा नित्यमनोहरम्<sup>२</sup> । पूजयित्वाऽर्हतां भक्त्या सर्वकल्याणकारिणः ॥ २६३ ॥  
 सिद्धशेषां<sup>३</sup> समादाय क्षिप्त्वा शिरसि साक्षिभम् । स्थिताः प्रतीक्ष्य<sup>४</sup> सङ्गं<sup>५</sup> तत्रावृत्त्याहितादरम् ॥ २६४ ॥  
 इतो महान्शसन्देशान्<sup>६</sup> नरखेचरनायकाः । श्वास्ते प्रसाधितान्<sup>७</sup> कृत्वा प्रसाधनविदस्तदा ॥ २६५ ॥  
 निजोचितवासनाहृदाः प्रहृष्टा श्रीसमुज्ज्वलाः । चलन्नाभरसपत्न्या कान्त्या चामरसन्निभाः ॥ २६६ ॥  
 कुमारा<sup>८</sup> निर्जितः कामः प्राक् स्वमेव<sup>९</sup> विद्वत्<sup>१०</sup> किम् । समागस्त<sup>११</sup> पुनर्वेतुमिति<sup>१२</sup> शङ्काविधायिनः<sup>१३</sup> ॥  
 कंचिदेक<sup>१४</sup> वृणीतेऽसाविति<sup>१५</sup> ज्ञात्वाऽप्यहंयव<sup>१६</sup> । जेतुं सर्वेऽपि तां तस्थुः<sup>१७</sup> आग्रा हि महती नृणाम् ॥  
 केरलीकठिनोत्तुङ्गकुचकोटिविलङ्घन<sup>१८</sup> - । श्रमापानीतसामर्थ्यात् परिक्षीणपरिक्रमम्<sup>१९</sup> ॥ २६९ ॥  
 माघमन्मलयमातङ्गकटकण्डूविनोदनात्<sup>२०</sup> । क्षतचन्दननिष्यन्दसाम्द्र<sup>२१</sup> सौगन्ध्यवन्धुरम् ॥ २७० ॥  
 कावेरीवारिजास्वादप्रहृष्टाण्डजनिर्मर<sup>२२</sup> । श्रीढोच्छलजलस्थूलकणमुक्तातिभूषणम् ॥ २७१ ॥  
 दक्षिणानिलमापल्ल<sup>२३</sup> कोक्कटानलदीपनम् । कोकिलाकिकलालापैर्वाचालमनुकूलयन् ॥ २७२ ॥

बिवाहोत्सव मण्डपमें बड़े हर्षके साथ महारानी सुप्रभाकी आभासे आयी और पूर्व दिशाकी ओर मुख कर मुखपूर्वक सोनेके पाटपर बिठा दिया । तदनन्तर मुखपर रखे हुए गोभायमान पल्लवोको धारण करनेवाले तथा विबुद्ध जलसे भरे हुए सुवर्णमय शुभ कलशोसे उसका अभिषेक किया । फिर मागलिक वस्त्राभूषणोंको धारण करनेवाली कन्याको नित्यमनोहर तामक चैत्यालयमें ले जाकर वहाँ उससे सबका कल्याण करनेवाले श्री अर्हन्तदेवकी पूजा करायी । उसके बाद सिद्ध शेषाक्षत लेकर आशीर्वादपूर्वक उसके शिरपर रखे और इतना सब कर चुकनेके बाद वे स्त्रियाँ उसका आदर-सत्कार करती हुई शुभ लग्नकी प्रतीक्षामें उसे घेरकर वहीं ठहर गयी ॥ २५८-२६४ ॥ इधर महाराज अकम्पनके सन्देशसे, सजावटको जाननेवाले वे सब भूमिगोचरी और विद्याधरोके अधिपति अपने-आपको सजाकर अपने-अपने योग्य आसनो-पर जा बैठे । वे प्रकृष्ट शोभासे उज्ज्वल थे, ढुलते हुए चमरोकी सम्पत्ति और कान्तिते देवोंके समान जान पड़ते थे और ऐसी शका उत्पन्न कर रहे थे मानो इस कुमारीने पहले ही कामदेवको जीत लिया था इसलिए वह कामदेव ही अपने बहुत-से रूप धारण कर उसे जीतनेके लिए पुनः आया हो ॥ २६५-२६७ ॥ यह सुलोचना किसी एकको ही स्वीकार करेगी, ऐसा जानकर भी वे सब राजा लोग अहंकार करते हुए उसे जीतनेके लिए वहाँ बैठे थे सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्योंकी आशा बहुत ही बड़ी होती है ॥ २६८ ॥ जो स्त्रियोंके मखके कुरलो तथा नूपुरोंकी क्षणकारसे सुशोभित बाये पैरोंके द्वारा वृक्षोंको भी कामी बना रहा है, जो वाँये हाथमें फूलोंका धनुष धारण कर दूसरे हाथसे आमकी मंजरीको खूब फिरा रहा है, जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है और जिसने वसन्त ऋतुरूपी सेवकके द्वारा फूलरूपी समस्त शस्त्र बुला लिये हैं, ऐसा कामदेव, केरल देशकी स्त्रियोंके कठिन और ऊँचे करोड़ों कुचोंको उल्लंघन करनेसे उत्पन्न हुई थकावटके कारण जिसकी धूमनेकी शक्ति क्षीण हो गयी है अर्थात् जो धीरे-धीरे चल रहा है, मलय पर्वतके

१ शुभे अ०, प०, स०, म०, ल०, इ० । २ नित्यमनोहरनाम चैत्यालयम् । ३ - जेप ल० । ४ प्रतीक्षा कृत्वा । ५ चैत्यालये । ६ कृतादरं यथा भवति तथा । ७ अकम्पनवाचिकात् । ८ बलङ्कृतान् । ९ प्रनिद्ध । १० आत्मानम् । ११ राजकुमाररूपेण वैकुण्ठिण कृत्वा । १२ सङ्गतवान् । १३ सुलोचना जेतुम् । १४ प्रेक्षकाणां शङ्का कुर्वाणाः । १५ अनिदिष्टं कंचिदेकं पुरुषम् । १६ स्वीकरोति । १७ अहंकारवन्तः । 'अहंकारवानहंयुः' इत्यभिधानात् । १८ निजोचितवासनाहृदाः सन्तस्तस्थुरिति सम्बन्ध । १९ केरलस्थी । २० श्रमापनीतसामर्थ्यम् । २१ लङ्घनाज्जातश्रमेणपसावितसामर्थ्येन परिक्षीणमनम् । २२ मलयाचलोत्पन्नकरिकपोलकण्डूयापनयनम् । २३ द्रवप्रलवण । २४ विरहोन्मादमिदमुत्पादनम् ।

योषितां मधूगण्डपैर्नुरारावरञ्जितैः । कुर्वन् वामाङ्घ्रिमिश्रचालमङ्घ्रिपानपि कामुकान् ॥२७६॥  
 कौसुमं<sup>२</sup> धनुरादाय<sup>३</sup> वामेनारुढविक्रमः । चूतसूतं<sup>४</sup> कण्ठोच्चैः परेण<sup>५</sup> परिवर्तयन्<sup>६</sup> ॥२७७॥ —  
 वसन्तानुचरानीतनिःशेषकुसुमायुधः । जित्वा तदाखिलान् देशानप्यायात्<sup>७</sup> कुसुमायुधः ॥२७८॥  
 तदा पुरात् समगत्य कृत्वा जितपुरन्दरः । समाविर्भूतसाम्राज्यो राज्यचिह्नपुरस्सरः ॥२७९॥  
 स्वलक्ष्मीव्याप्तसर्वांशः सुप्रभासहितः पतिः<sup>८</sup> । स्वस्थात्<sup>९</sup> स्वयंवरागारं स्तोचितं<sup>१०</sup> स्वजनिव्रतः ॥२८०॥  
 चित्रं<sup>११</sup> महेन्द्रदत्ताख्यो देवदत्तं<sup>१२</sup> रथं पृथुम् । सञ्जीकृतं समारोप्य कन्यामायात्तु कञ्चुकी ॥२८१॥  
 समस्तवलसन्दोहं सय्यक् सञ्चाह<sup>१३</sup> सानुजः । हेमाङ्गदो वितानङ्गः प्रीत्याऽथात् परित्रो रथम् ॥२८२॥  
 तूर्यध्वानाहतिप्रेङ्ख<sup>१४</sup> दिकन्याकर्णपूरिका । संछन्नच्छत्रनिश्छिद्रच्छायाच्छादितमास्करा ॥२८३॥  
 लक्ष्मीः पुरीमिवायोध्यां चक्रिदिग्विजयागमे । आलौ<sup>१५</sup> प्रविश्य राजन्यलोचनाचर्या सुलोचना ॥२८४॥  
 सर्वतोभद्रमारुह्य कञ्चुकीप्रेरिता नृपान् । न्ययिञ्छल्लोचनैर्लोलैर्लोलोत्पलदुर्लैरिव ॥२८५॥  
 चातका<sup>१६</sup> वाऽब्जदृष्ट्या<sup>१७</sup> ते तद्दृष्ट्या तुष्टिमागमन् । आह्लादः कस्य चान स्यादोप्यतार्थसमागमे ॥२८६॥

मदोन्मत्त हाथियोके गण्डस्थलोंकी खाज खुजलानेसे टूटे हुए चन्दन वृक्षोके निष्यन्दकी घनी सुगन्धिसे जो व्याप्त हो रहा है, कावेरी नदीके कमलोके आस्वादसे हर्षित हुए पक्षियोंकी अलङ्घ्य क्रीडासे उछलती हुई जलकी बड़ी-बड़ी बूँदें ही जिसके मोतियोंके आभूषण है, जो विरहरूपी तीव्र अग्निको प्रज्वलित करनेवाला है और कोयल तथा भ्रमरोके मनोहर शब्दोंसे जो वाद्यालित हो रहा है ऐसे दक्षिणके वायुको अनुकूल करता हुआ सब देशोंको जीतकर उस समय वहाँ आ पहुँचा था ॥२८६॥—२७५॥ उसी समय, जिसने अपनी शोभासे इन्द्रको भी जीत लिया है, जिसका साम्राज्य प्रकट है, ध्वजा आदि राज्यके चिह्न जिसके आगे-आगे चल रहे हैं, अपनी शोभासे जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, सुप्रभा रानी जिसके साथ है, और जो अपने कुटुम्बीजनोसे घिरा हुआ अर्थात् परिवारके लोग जिसके साथ-साथ चल रहे हैं ऐसा पुण्यवान् राजा अकम्पन नगरसे आकर स्वयंवर मण्डपमें अपने योग्य स्थानपर आ विराजमान हुआ ॥२७६॥—२७७॥ उसी समय महेन्द्रदत्त नामका कञ्चुकी चित्राङ्गदेवके द्वारा दिये हुए, आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले बहुत बड़े अलङ्कृत रथपर कन्याको बैठाकर लाया ॥२७८॥ कामको जीतनेवाला हेमाङ्गद अपने छोटे भाइयोसहित, समस्त सेनाके समूहको अच्छी तरह सजाकर बड़े प्रेमसे कन्याके रथके चारों ओर चल रहा था ॥२७९॥ जिसके आगे-आगे वजनेवाले नगाड़ोंके शब्दोंके आघातसे दिशारूपी कन्याओंके कर्णपूर हिल रहे थे, जिसपर अच्छी तरह लगे हुए छत्रकी छिद्ररहित छायासे सूर्य भी ढँक गया था, और जो राजाओंके नेत्रोंसे पूजी जा रही थी अर्थात् समस्त राजा लोग जिसे अपने नेत्रोंसे देख रहे थे ऐसी सुलोचनाने, चक्रवर्ती-के दिग्विजयसे लौटनेपर जिस प्रकार लक्ष्मी अयोध्यामें प्रवेश करती हैं उसी प्रकार स्वयंवर-शालामें प्रवेश किया और वहाँ वह सर्वतोभद्र नामका महलपर चढ़कर कञ्चुकीके द्वारा प्रेरित हो नीलकमलके दलके समान अपने चंचल नेत्रोंके द्वारा राजाओंको सीचने लगी ॥२८०॥—२८२॥ जिस प्रकार चातक पक्षी मेघोंके बरसनेसे सन्तुष्ट होती है उसी प्रकार सब राजा लोग सुलोचनाके देखनेसे ही सन्तुष्ट हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि अपने अभीष्ट पदार्थके समागम

१ अत्यर्थम् । २ कुसुमनिर्मितम् । ३ बाणहस्तेन । ४ माकन्दप्रसूतम् । ५ दक्षिणकरणे । ६ परिभ्रमयन् । ७ वसन्त एवानुचरो भूत्यस्तेन समानीत । ८ आजगाम । ९ अकम्पन । १० सुखेन स्थितवत । ११ निजोचितस्थाने । १२ आश्चर्ययुक्तम् । १३ विचित्राङ्गदेवेन वितोर्मम् । १४ सञ्चल्य कृत्वा । १५ चलत् । १६ स्वयंवरशालाम् । १७ सिञ्चति स्म । अयोजयदित्यर्थः । १८ इव । १९ नृपाः ।

स्वसौभाग्यवशात् सर्वान् साऽप्यालोचयामुपचराम् । नृणाञ्च तद्योषिणां पुंसां शौर्यं वा निजितद्विधाम् ॥  
ततः कञ्चुकिनिर्देशाद् बाला लीलाविलोकितैः<sup>१</sup> । आकृष्य हृदयं तेषां तत्सौधात् समवातरत्<sup>२</sup> ॥ २८५ ॥  
यस्यै यत्र गता स्यादृक् सा तत्रैव कीलिता । तत्तेऽस्याभवच्छायां खिन्ना वा तदनीक्षकाः ॥ २८६ ॥  
किङ्किणीकृतमन्कारारावमयं रथं ततः । व्यूढं<sup>३</sup> रुद्धं<sup>४</sup> हयैः स्वर्णकर्णचामरशोभिभिः ॥ २८७ ॥  
उत्पतन्निपतत्केतुवाहुं नीरूपरूपिणाम्<sup>५</sup> । साक्षात्पङ्कवाह्मणैः<sup>६</sup> कुर्वन्त्वमिव सन्ततम् ॥ २८८ ॥  
पुनरभ्यास्य<sup>७</sup> हृज्जन्मविद्येव<sup>८</sup> हृदयप्रिया । मुक्ताभूषाप्रभामध्ये शारदीय तद्विल्लता ॥ २८९ ॥  
वीज्यमाना विधुरस्पर्द्धिहंसासामलचामरैः<sup>९</sup> । जनानां दृष्टिदोषान् वा पुनर्विद्वरतो मुहुः ॥ २९० ॥  
अवधूतः<sup>१०</sup> पुरानङ्गः सप्रति स्वीकृतोऽनया । प्रयोजनवशात् प्रातैः सास्तोऽपि<sup>११</sup> परिगृह्यते ॥ २९१ ॥  
अस्याग्रह इवामङ्गः सद्यः सर्वाङ्गसङ्गतः । विचारमकरोत् स्वैरं भूयो अनेनवचनजम् ॥ २९२ ॥  
साङ्गो<sup>१२</sup> यथेतयाऽचैवमेकीभावं ब्रजामि किम् । इत्यनङ्गोऽप्यनङ्गत्वं स्वं मन्ये<sup>१३</sup> साध्वदुष्यत ॥ २९३ ॥  
लक्ष्मीः सा सर्वभोग्याऽभूद् रत्तिव्यङ्गेन<sup>१४</sup> भुज्यते । जितानङ्गविमानेषा न्यक्कृत्य<sup>१५</sup> जयमाप्स्यति ॥ २९४ ॥

हीनेपर किस आनन्द नहीं होता है ? ॥ २८३ ॥ वह सुलोचना भी अपने सौभाग्यके वशसे आये हुए समस्त राजाओंको देखकर अत्यन्त सतुष्ट हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार शत्रुओं-को जीतनेवाले पुरुषोंका बुरबोरपना प्रशंसनीय होता है उसी प्रकार स्त्रियोंका सौभाग्य भी प्रशंसनीय होता है ॥ २८४ ॥ तदनन्तर वह सुलोचना लीलापूर्वक अवलोकनके द्वारा उन राजाओंका हृदय अपनी ओर आकर्षित कर कचुकीके कहनेसे उस महलसे नीचे उतरी ॥ २८५ ॥ जिसकी दृष्टि उसके शरीरपर जहाँ पड़ गयी थी वह मानो वही कीलित सी हो गयी थी तथा उसके नीचे उतर आनेपर वे राजा लोग उसे न देखकर बहुत ही खेदखिन्न हुए थे ॥ २८६ ॥ तदनन्तर, जो कामदेवकी विद्याके समान सबके हृदयको प्रिय है, जो मोतियोंके आभूषणोंकी कान्तिके बीचमें शरदन्दुकी विजलीकी लताके समान जान पड़ती है और जिसपर मानो मनुष्योंकी दृष्टिके दोषोंको दूरसे ही दूर करते हुए, तथा चन्द्रमाके साथ स्पर्धा करनेवाले और हंसोंके पखोंके समान निर्मल चमर बार-बार दुराये जा रहे हैं ऐसी वह सुलोचना, जो छोटी-छोटी घटियोंके रुग्ण गुण्डोंसे रमणीय है, कानोंके समीप लगे हुए सोनेके चमरोसे शोभायमान बड़े-ऊँचे घोड़े जिसमें जुते हुए हैं, नीचे-ऊपरको उड़ती हुई ध्वजाएँ ही जिसकी भुजाएँ हैं और जो उन उड़ती हुई ध्वजाओंसे ऐसा जान पड़ता है मानो कुरूप मनुष्यका साक्षात् निरन्तर निरा-करण ही कर रहा हो और मुख्य ( सुन्दर ) मनुष्योंको साक्षात् बुला रहा ही हो' ऐसे रथपर सवार हुई ॥ २८७-२९० ॥ सुलोचनाने कामदेवका पहले तो तिरस्कार किया था परन्तु अब उसे स्वीकृत किया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष हटाये हुएको भी अपने प्रयोजनके वश फिर स्वीकार कर लेते हैं ॥ २९१ ॥ पिशाचके समान शीघ्र ही इसके सब अंगोमें प्रविष्ट हुआ कामदेव अपनी इच्छानुसार बार-बार भीह नेत्र और मुखमें उत्पन्न होनेवाले विकारोंको प्रकट कर रहा था ॥ २९२ ॥ यदि मैं शरीरसहित होता तो क्या इस तरह इस सुलोचनाके साथ एकीभावको प्राप्त हो सकता ? अर्थात् इसके शरीरमें प्रवेश कर पाता ? ऐसा विचार करता हुआ कामदेव मानो अपने शरीररहितपनेको ही अच्छा समझता था ॥ २९३ ॥ वह

१ अवलोकने । २ अवतरति स्म । ३ यस्मिन्नवयवे । ४ ते तस्या-लं । तत् कारणात् । ५ अवतरणं कुर्वन्त्यां स्याम् । ६ ता कन्यकामीक्षमाणा न वमवुरित्यर्थ । ७ घृतम् । ८ प्रसिद्धे । ९ रूपहीनानां रूपवता च । १० क्रमेण निराकरणं चाह्वान-च । ११ एवविधं रथमभ्यास्येति सम्बन्ध । १२ कामविधा । १३ सरालपक्ष । १४ निराकृत । १५ प्रतिक्षिप्त । १६ सशरीर । १७ सिद्धिमिति । १८ अनङ्गेन विकलाङ्गेनेति ध्वनिः । १९ निराकृत्य । २० विजय जयकुमार च ।

वरग्रहेण लक्ष्मीवान् स्थाञ्ज वा वारिधेशुवः<sup>१</sup> ।<sup>२</sup> अस्याः करग्रहो यस्य तस्य लक्ष्मीः करे स्थिता ॥२९५॥  
 लावण्यमम्बुधौ पुंसु<sup>३</sup> स्त्रीष्वस्यामेव संभृचम्<sup>४</sup> ।<sup>५</sup> यत्प्राप्ताः सतिः<sup>६</sup> सर्वास्तिमेतां सर्वपार्थिवाः ॥२९६॥  
 समस्तनेत्रसंपीतमन्यस्या वर्धतेतराम् । लावण्यमम्बुधिसंस्थिताः श्रिया बहुतु तत्कथम् ॥२९७॥  
 रत्नाकरत्वदुर्गवमम्बुधिः श्रयते वृथा । कन्यारत्नमिदं<sup>७</sup> यत्र<sup>८</sup> तयोरेतद्<sup>९</sup> विराजते ॥२९८॥

प्रसिद्ध लक्ष्मी सबके द्वारा उपभोग करने योग्य है और रति शरीररहित कामदेवके द्वारा भोगी जाती है परन्तु यह सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय अर्थात् विजय अथवा जयकुमारको प्राप्त होगी । भावार्थ — संसारमे दो ही प्रसिद्ध स्त्रियाँ है एक लक्ष्मी और दूसरी रति । इनमेंसे लक्ष्मी तो सर्वपुरुषोंके द्वारा उपभोग योग्य होनेके कारण पुँश्चलीके समान निन्द्य है और रति शरीररहित पिशाच ( पक्षमे कामदेव ) के द्वारा उपभोग योग्य होनेसे दूषित है परन्तु यह सुलोचना अपनी शोभासे कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय—जीत ( पक्षमे जयकुमार ) को प्राप्त होगी अर्थात् यह सुलोचना लक्ष्मी और रतिसे भी श्रेष्ठ है ॥ २९४ ॥ समुद्रपर्यन्त इस पृथिवीका करग्रह अर्थात् टैक्स वसूल करनेसे कोई पुरुष लक्ष्मीवान् हो अथवा नहीं भी हो परन्तु जिसके इस सुलोचनाका करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण होगा लक्ष्मी उसके हाथमे ही स्थित समक्षनी चाहिए ॥ २९५ ॥ पुरुषोमे लावण्य ( खारापन ) समुद्रमे है और स्त्रियोंमें लावण्य ( सौन्दर्य ) इसी सुलोचनामे भरा हुआ है यही कारण है कि सब नदियाँ समुद्रके पास पहुँची है और सब राजा लोग इसके भरा हुआ है यही कारण है कि सब नदियाँ समुद्रके पास पहुँची है और सब राजा लोग इसके समीप आ पहुँचे है । भावार्थ—लावण्य शब्दके दो अर्थ है — एक खारापन और दूसरा सौन्दर्य । यहाँ कविने दोनोमे शाब्दिक अमेद मानकर निरूपण किया है । श्लोकका भाव यह है — लावण्य पुरुषोंमें भी होता है और स्त्रियोंमें भी परन्तु उसके स्थान दोनोमे नियत है । पुरुषका लावण्य समुद्रमें नियत है और स्त्रीका लावण्य सुलोचनामें । पुरुषके लावण्यके प्रति स्त्रियोंका आकर्षण रहता है और स्त्रियोंके लावण्यके प्रति पुरुषका आकर्षण रहता है । यही कारण है कि नदीरूपी स्त्रियाँ आकर्षित होकर समुद्रके पास पहुँची है और सब राजा लोग ( पुरुष ) सुलोचनाके प्रति आकर्षित होकर उसके समीप आ पहुँचे है ॥ २९६ ॥ इसका लावण्य सबके नेत्रोंके द्वारा पिया जानेपर भी बढ़ता ही जाता है परन्तु समुद्रको तो लक्ष्मीने छोड़ दिया है इसलिए वह उसे कैसे धारण कर सकता है ? भावार्थ — ऊपरके श्लोकमे लावण्यके दो स्थान बतलाये थे — एक समुद्र और दूसरा सुलोचना । परन्तु यहाँ लावण्य शब्दका केवल सौन्दर्य अर्थ हृदयमें रखकर कवि समुद्रमे उसका अभाव बतला रहे है । यहाँ कवि लावण्य उस पदार्थको कह रहे है जिसकी निरन्तर वृद्धि ही होती रहे और जिसे देखकर दर्शक उसे कभी छोड़ना न चाहे । कविका मनोगत लावण्य सुलोचनामे ही था क्योंकि उसे देखकर नेत्र कभी उसे छोड़ना नहीं चाहते थे और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती थी । समुद्रमे लावण्यका होना कविको दृष्ट नहीं है क्योंकि उसे लक्ष्मीने छोड़ दिया है यदि उसमें वास्तवमे लावण्य होता तो उसे लक्ष्मी क्यों छोड़ती ? ( लक्ष्मी-द्वारा समुद्रका छोड़ा जाना कविसम्प्रदायमे प्रसिद्ध है । ) ॥२९७॥ समुद्र अपने रत्नाकरपनेका खोटा अहंकार व्यर्थ ही धारण करता है क्योंकि जिनके यह कन्यारूपी रत्न है उन्ही राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके यह रत्नाकरपना सुशोभित होता है ॥२९८॥

१ लक्ष्म्या । २ सुलोचनाया । ३ पुरुषेषु । ४ परिपूर्णम् । ५ यत् कारणात् । ६ दत्तं समुद्रम् । एताम् सुलोचनाम् । ७ लावण्यम् । ८ ययो । ९ अकम्पनसुप्रभयो । १० रत्नाकरत्वम् ।

इति स्तुताभसौभाग्यभास्य<sup>१</sup>रूपादिसंभृता । जनैः स्वयंवरगारमागमद् गोमिनीवै सा ॥३९९॥  
<sup>२</sup>परिभूतिर्द्विधा सात्रं भाविनी<sup>३</sup> केति वा तदा । प्रीतिशोकान्तरे केचिद् रत्नं राजकमन्वभूत् ॥३००॥  
 स्थित्वा महेन्द्रदत्तोऽपि<sup>४</sup> रत्नमालाधरो धुरि<sup>५</sup> । रथं प्रचोदयामास प्रतिविद्याधराधिपान् ॥३०१॥  
 दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्नेमैश्च विनमैः सुतौ । पतिः सुमतिरेषोऽयमितः सुविनमिः श्रियः ॥३०२॥  
 अन्येऽपि च खगाधीना विद्याविक्रमशालिनः । पतिं वृणीष्व त्वं चैषु स्वेच्छामेकत्र पूरय ॥३०३॥  
 इति कञ्चुकिनिर्दिष्टं नामादाय पृथक् पृथक् । कर्णेकृत्यात्ययात्<sup>६</sup> सर्वान् रुचिश्चित्रा हि देहिनाम् ॥३०४॥  
 पश्चात् सर्वाग्निरौघैषा कञ्चुत्तु विवरीपते<sup>७</sup> । तथैवेति खगास्तस्थुः किं वाशानावलम्बते ॥३०५॥  
 पश्चाज्ज<sup>८</sup>ग्लुमुंखलज्जानि तद्वथाद्य व्यकसन्पुर । रवेरिवोदये राज्ञां संसृतेः स्थितिरिदृशी ॥३०६॥  
<sup>९</sup>इद्याद्वाऽदुदुक्<sup>१०</sup> श्रिनममिभूमि<sup>११</sup> चरं रथः । कञ्चुकी कथयामास नाममिस्तान्नृपांस्तदा ॥३०७॥  
 निराहृत्यार्कं स्यादीन् साऽज्जेया जयभागमत् । हिरवा शेषाद् हुमांश्चूतं मयौ मधुरकी यथा ॥३०८॥  
 गृहीतप्रग्रहस्तत्र<sup>१२</sup> कञ्चुकीचित्तचित्ता । वचो व्यापारयामास जयव्यावर्णनं प्रति ॥३०९॥

इस प्रकार लोग जिसकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे अपने सौभाग्य, भाग्य और रूप आदिसे भरी हुई वह सुलोचना लक्ष्मीके समान स्वयंवर भवनमें जा पहुँची ॥३९९॥ इस संसारमें पराभूति दो प्रकारकी है—एक पराभूति अर्थात् उत्कृष्ट सम्पद् और दूसरी पराभूति अर्थात् पराभव—तिरस्कार, सो इन दोनोंमें न जाने कौन सी पराभूति अथवा पराभूति होनेवाली है ऐसा विचार करता हुआ राजाओका समूह उस समय प्रेम और शोकके बीच किसी अव्यक्त रसका अनुभव कर रहा था ॥३००॥

रत्नोकी मालाको धारण करनेवाला महेन्द्रदत्त नामका कंचुकी भी धुरापर बैठकर विद्याधर राजाओकी ओर रथ चलाने लगा ॥३०१॥ और सुलोचनासे कहने लगा कि ये विजयार्थकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीके राजा नमि और विनमिके पुत्र हैं । यह लक्ष्मीका स्वामी सुनमि है और यह इस ओर सुविनमि है ॥३०२॥ विद्या और पराक्रमसे शोभायमान ये और भी अनेक विद्याधरोके अधिपति विराजमान हैं इनमेंसे तू किसी एकको बर अर्थात् पतिरूपसे स्वीकार कर और एक हीमें अपनी इच्छा पूर्ण कर ॥३०३॥ इस प्रकार कंचुकीने अलग-अलग नाम लेकर कुछ कहा था उसे कानमें डालकर—सुनकर वह सबको छोड़ती हुई आगे चली सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोंकी रुचि अनेक प्रकारकी होती है ॥३०४॥ यह कन्या सबको देखकर बादमें किसीको वरना चाहती है यह विचारकर विद्याधर लोग व्योके त्यों बैठे रहे सो ठीक ही है क्योंकि आशा किसका आश्रय नहीं लेती है ? ॥३०५॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल विकसित हो जाते हैं और अस्त होनेसे मुरझा जाते हैं उसी प्रकार राजाओके मुखरूपी कमल सुलोचनाके रथ सामने आनेसे पहले तो प्रफुल्लित हुए किन्तु रथके चले जानेपर बादमें मुरझा गये थे सो ठीक ही है क्योंकि संसारकी स्थिति ही ऐसी है ॥३०६॥ तदनन्तर वह रथ विद्याधरोकी ऊँची भूमिसे नीचे भूमिगोचरियोंकी ओर उतरा, उस समय वह कंचुकी नाम ले लेकर राजाओका निरूपण करता जाता था ॥३०७॥ जिस प्रकार वसन्तऋतुमें कोयल सब वृक्षोंको छोड़कर आमके पास पहुँचती है उसी प्रकार वह अजेय सुलोचना अर्ककीति आदि राजाओको छोड़कर जयकुमारके पास जा पहुँची ॥३०८॥ उसी समय चित्तकी

१ पुण्य । २ लक्ष्मी । ३ अवज्ञा सम्पच्च । पराभूति—ल०, म०, अ०, प०, स०, इ० । ४ अवज्ञासम्पदो । ५ भविष्यत् । ६ कंचुकी । ७ रथमुखे । ८ निजवाञ्छाम् । ९ अतिक्रान्तवती । १० वरितुमिच्छति । ११ स्नानान्यभवनम् । १२ उन्नतप्रदेशात् । १३ अगमत् । १४ भूचराणामभिमुखम् । १५ घृताश्वरज्जुः ।



प्रदीपः स्वकुलस्थायं प्रभुः सोमप्रभात्मजः । श्रीमानुत्साहभेदेर्वा<sup>१</sup> जयोऽयमनुजैर्दुतः ॥३१०॥  
 न रूपमस्य व्यावर्ण्यं तदैतदतिमं मथम्<sup>२</sup> । स<sup>३</sup> दर्पणोऽर्पणीयः किं करकङ्कणदर्शने ॥३११॥  
 जित्वा मेघकुमारान्बानुचरे भरते सुरान् । सिंहनादः कृतोऽनेन जिततन्मेघनिस्त्वनः<sup>४</sup> ॥३१२॥  
 वीरपटं<sup>५</sup> प्रध्वंसास्य स्वभुजाभ्यां समुद्धतम् । न्यधाधि निधिनाथेन हृष्टा मेघस्वरामिषा ॥३१३॥  
 आत्मसम्यग्गुणैर्बुधैः समेतश्चाभिगामिकैः<sup>६</sup> । प्रज्ञोत्साहविशेषैश्च ततोऽयमुदितोदितः ॥३१४॥  
 चित्रं जगत्त्रयस्यास्य गुणाः संख्यं सांप्रतम्<sup>७</sup> । न्यावृताः<sup>८</sup> सर्वमावेन<sup>९</sup> तव भावानुरञ्जने<sup>१०</sup> ॥३१५॥  
 अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य चतस्रः सन्ति योषितः । श्रीः कीर्तिर्वीरलक्ष्मीश्च चाग्देवी चातिवल्लभाः ॥३१६॥  
 जितमेघकुमारोऽयमेकः प्राक् त्वजयेऽधुना । व्युत्तयैर्य इवालक्ष्यै<sup>११</sup> यत्सहायीकृतः स्मरः ॥३१७॥  
 बलिनोर्बुधयोर्मध्ये वर्तमानो जिगीषतोः<sup>१२</sup> । द्वैधीभावः<sup>१३</sup> समापन्नः पादुगुण्यनिपुणः स्मरः ॥३१८॥  
 कीर्तिः कुबलथाह्लादी पञ्चाह्लादी प्रभाऽस्य हि । सूर्याचन्द्रमसौ तस्मादनेन हतक्षत्तिकौ ॥३१९॥

बातको जाननेवाला कचुकी घोड़ोकी रास पकड़कर जयकुमारका वर्णन करनेके लिए अपने वचनोको व्यापृत करने लगा अर्थात् जयकुमारके गुणोका वर्णन करने लगा ॥३०६॥ उसने कहा कि यह श्रीमान् स्वामी जयकुमार है, यह अपने कुलका दीपक है, महाराज सोमप्रभका पुत्र है और उत्साहके भेदोके समान अपने छोटे भाइयोसे आवृत है-घिरा हुआ है ॥३१०॥ काम-देवको तिरस्कृत करनेवाला इसका यह रूप तो वर्णन करने योग्य ही नहीं है क्योंकि हाथका कण देखनेके लिए क्या दर्पण दिया जाता है ? ॥३११॥ इसने उत्तर भरतक्षेत्रमें मेघकुमार नामके देवोको जीतकर उन देवोके कृत्रिम बादलोंकी गर्जनाको जीतनेवाला सिंहनाद किया था ॥३१२॥ उस समय निधियोके स्वामी महाराज भरतने हर्षित होकर अपनी भुजाओ-द्वारा धारण किया जानेवाला वीरपट्ट इसे बाँधा था और मेघस्वर इसका नाम रखा था ॥३१३॥ यह आत्माके समीचीन गुणोसे युक्त है तथा आदरणीय उत्तम पुरुषोके साथ सदा संगति रखता है इसलिए बुद्धि और विशेष उत्साहोके द्वारा यह श्रेष्ठोमें भी श्रेष्ठ गिना जाता है ॥३१४॥ यह भी आश्चर्यकी बात है कि इसके गुण तीनों लोकोंको प्रसन्न कर अब तेरे अन्तःकरणको अनुरक्त करनेके लिए पूर्ण रूपसे लीटे है । भावार्थ-इसने अपने गुणोसे तीनों लोकोंके जीवोको प्रसन्न किया है और अब तुझे भी प्रसन्न करना चाहता है ॥३१५॥ यदि इसमें दोष है तो यही एक, कि इसके निम्नलिखित चार स्त्रियाँ हैं, श्री, कीर्ति, वीरलक्ष्मी और सरस्वती । ये चारो ही स्त्रियाँ इसे अत्यन्त प्रिय हैं ॥३१६॥ जिसने पहले अकेले ही मेघकुमारको जीत लिया था ऐसा यह जयकुमार इस समय तुझे जीतनेके लिए धैर्यरहित-सा हो रहा है अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानो इसका धैर्य छूट रहा हो यही कारण है अब इसने कामदेवको अपना सहायक बनाया है ॥३१७॥ एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले तुम दोनो बलवानोके बीचमें पड़ा हुआ ग्रह सन्धि विग्रह आदि लहो गुणोमें निपुण कामदेव द्वैधीभावको प्राप्त हो रहा है अर्थात् कभी उसका आश्रय लेता है और कभी तेरा ॥३१८॥ इसकी कीर्ति तो कुब-लय अर्थात् रात्रिमें खिलनेवाले कमलोको ( पक्षमें महीमण्डलोको ) आनन्दित करती है और प्रभा पक्ष अर्थात् दिनमें खिलनेवाले कमलोको ( पक्षमें पञ्चा-लक्ष्मीको ) विकसित

१ शक्तिविशेषः । २ दृश्यमानम् । ३ अतिक्रान्तमन्मथम् । ४ प्रसिद्धः । ५ निजितमेघकुमारधनध्वनिः । ६ बुधस्यास्य लः । ७ अभिमगार्हः । आदरणीयैरित्यर्थः । ८ तत् कारणात् । ९ आत्मस्यनुरक्त विधाय । १० अधुना । ११ व्यापारमकुर्वन् । १२ सकलस्वरूपेण । १३ चित्तानुरञ्जने । 'भावः सत्ता स्वभाववि-  
 प्रायचेष्टात्मजन्मु' इत्यभिधानात् । १४ दर्शनीय । १५ यत् कारणात् । १६ परस्परं जेतुमिच्छतोः ।  
 १७ उभयावलम्बनत्वम् ।

कीर्तिर्वहिर्द्वरा लक्ष्मीरतिवृद्धा सरस्वती । जीर्णतरापि शान्तैव<sup>१</sup> लक्ष्यते क्षतविद्विषः<sup>२</sup> ॥३२०॥  
 ततस्त्वयि चयोरूपशीलादिगुणभाज्यलम् । प्रीतिर्लतेव दृक्पुष्पा प्रवृद्धस्य फलिज्यति ॥३२१॥  
 युवाभ्यां निर्जितः कामः संप्रत्यभ्यन्तरीकृतः । स<sup>३</sup> वामपञ्चायामुदरिर्विश्रम्भितो<sup>४</sup> ऽव्यरिः ॥३२२॥  
 निष्ठुरं जृम्भतेऽमुष्मिन् भूयारिरपि स्मरः । मत्वेव त्वां स्त्रियं भूयो भटेषु भटमत्सरः ॥३२३॥  
 विरथातविजयः श्रीमान् यानमात्रेण<sup>५</sup> निर्जितः । त्वथाऽयमत एवात्र जयो न्यायागतस्तव ॥३२४॥  
 प्राध्वंकृत्य<sup>६</sup> गले रत्नमालया दृक्शरैर्विजितम् । जयलक्ष्मीस्तवैवास्तु तत्त्वमेनं<sup>७</sup> करे कुरु ॥३२५॥  
 इति तस्य वचः श्रुत्वा स्मरपाङ्गुण्यवेदिनः । गनैर्विगलितम्रीडां लोललीलावलोकनः ॥३२६॥  
 तदा जन्मान्तरस्नेहश्चाक्षुषी<sup>८</sup> सुन्दराकृतिः । कुन्दमासा<sup>९</sup> गुणास्तस्य आवणा<sup>१०</sup> पुष्पसायकः ॥३२७॥

करती है इसलिए इसने सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको शक्तिरहित कर दिया ॥३१६॥ समस्त शत्रुओंको नष्ट करनेवाले इस जयकुमारकी कीर्ति तो सदा बाहर रहती है, लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है, सरस्वती जीर्ण है और वीर लक्ष्मी शान्त-सी दिखती है इसलिए दृष्टिरूपी पुष्पोसे युक्त और खूब बड़ी हुई इसकी प्रीतिरूपी लता वय, रूप, शील आदि गुणोंसे सहित तुझमें ही अच्छी तरह फलीभूत होगी । भावार्थ—३१६ वे श्लोकमें बतलाया था कि इसके चार प्रिय स्त्रियाँ है कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती और वीरलक्ष्मी परन्तु उनसे तुझे सपत्नीजन्य दुःखका अनुभव नहीं करना पड़ेगा । क्योंकि कीर्ति नामकी स्त्री तो सदा बाहर ही घूमती रहती है—अन्त पुरमें उसका प्रवेश नहीं हो पाता ( पक्षमें उसकी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है ), लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है—वृद्धावस्था युक्त है ( पक्षमें बड़ी हुई है ), सरस्वती भी जीर्ण अर्थात् वृद्धावस्थाके कारण शिथिल शरीर हो रही है ( पक्षमें परिपक्व है ) इसलिए इन तीनोंपर उसका खास प्रेम नहीं रहता । अब रह जाती है वीरलक्ष्मी, यद्यपि वह तरुण है और सदा उसके पास रहती है परन्तु अत्यन्त शान्त है—शृंगार आदिकी ओर उसका आकर्षण नहीं है ( पक्षमें क्षमायुक्त गूरवीरता है ) इसलिए इन चारोंसे राजाकी प्रीति हटकर तुझपर ही आरुढ़ होगी क्योंकि तू वय, रूप, शील आदि गुणोंसे सहित है ॥३२०—३२१॥ तुम दोनोंने पहले जिस कामदेवको जीतकर दूर हटाया था उसे अब अपने अन्तःकरणमें बैठा लिया है, अथवा खास विज्वासपात्र बना लिया है परन्तु अब वही कामदेव तुम दोनोंका पराजय करनेके लिए तैयार हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुका कितना ही विज्वास क्यों न किया जाय वह अन्तमें शत्रु ही रहता है ॥३२२॥ यद्यपि यह कामदेव तुम दोनोंका शत्रु है तथापि तुझे स्त्री मानकर इसी एकपर बड़ी निष्ठुरताके साथ अपना प्रभाव बढा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि योद्धाओंकी ईर्ष्या योद्धाओंपर ही होती है । भावार्थ—वह तुझे स्त्री समझ कायर मानकर अधिक दुःखी नहीं करता है परन्तु जयकुमारपर अपना पूरा प्रभाव डाल रहा है ॥३२३॥ जिसका विजय सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्रीमान् जय-कुमारको तूने यान अर्थात् आगमन ( पक्षमें युद्धके लिए किये हुए प्रस्थान ) मात्रके द्वारा जीत लिया है इसलिए इस जगह न्यायसे तेरी ही विजय हुई है ॥३२४॥ तू अपने दृष्टिरूपी बाणोंके द्वारा जीते हुए इस जयकुमारको रत्नोंकी मालासे गलेमें बाँधकर अपने हाथमें कर, विजय-लक्ष्मी तेरी ही हो ॥३२५॥ इस प्रकार कामदेवके सन्धि विग्रह आदि छह गुणोंको जाननेवाले कवियोंके वचन सुनकर धीरे-धीरे जिसकी लज्जा छूटती जा रही है, जिसकी लीला-पूर्ण दृष्टि बड़ी चंचल है तथा उस समय जन्मान्तरका स्नेह नेत्रोंके द्वारा देखी

१ वीरलक्ष्मी । २ जयकुमारस्य । ३ वां युवयो वामपञ्चायामा — ल० । ४ विज्वासित । ५ जये । ६ गमन-मात्रेण । ७ वन्द्यहेतुकमानुकूल्य कृत्वा, बद्धवैत्यर्थः । ८ तत् कारणात् । ९ लज्जा । १० चक्षुषा कृत्यमाणा । ११ कुन्दवद् भासमाना । १२ श्रवणज्ञानविषया । श्रवणहिता वा ।

इत्येभिः स्यन्दनादेवा<sup>१</sup> समुत्प्लिष्यावरोषिता । रत्नमालां समादाय कन्या कञ्चुकिनः करात् ॥३२८॥  
 अवध्नाद् बन्धुरां तस्य<sup>२</sup> कण्ठेऽतिप्रेमनिभरा । सा त्रय्यकात् समाध्यास्य वक्षोलक्ष्मीरिवापरा ॥३२९॥  
 सहसा सर्वतूर्याणामुदतिष्ठन्महाध्वनिः । आद्ययन्त्रिव दिक्कन्याः कन्यासामान्यमुत्सवम् ॥३३०॥  
 वक्त्रवारिजवासिन्यां नरविद्याधरेक्षिनाम् । श्रिया जयमुखाम्भोजमाश्रितं वां तदात्यन्तात् ॥३३१॥  
 गताशां वारयो म्लानमुखाम्बाक्षुत्पलश्रियः । खभूचरचूपाः कष्टमासन् शुक्लसरस्समाः ॥३३२॥

मालिनीच्छन्दः

अभिमतफलसिद्ध्या वर्द्धमानप्रमोदो निजदुहिं<sup>१</sup> वृसमेतं प्राक् पुरोधाय<sup>२</sup> पूज्यम् ।  
 जयमभरतहं वा<sup>३</sup> कल्पवल्लीसनाथं<sup>४</sup> नगरमविशदुच्चैर्नयवंशाधिनाथः ॥३३३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

आद्योऽयं<sup>१</sup> महिते स्वयंवरविधौ<sup>२</sup> यज्ञोग्यसौभाग्यभाग  
<sup>३</sup>यस्माद्वाजस्यगेन्द्रवक्त्रवनजश्रीवारयोविद्वृतः ।

मालामानगुणा<sup>१</sup> यतोऽस्य<sup>२</sup> शरणे मन्दारमालागते<sup>३</sup>  
<sup>४</sup>तत्कृशावधिवी<sup>५</sup> धमस्य<sup>६</sup> चिपुलं विश्वं<sup>७</sup> यशो न्यस्तुते<sup>८</sup> ॥३३४॥

वसन्ततिलका

भास्वद्यभाप्रसरणप्रतिबुद्धपद्मः<sup>१</sup> प्रासोदयः प्रतिविधाय<sup>२</sup> परप्रभावम्<sup>३</sup> ।

<sup>४</sup>वन्धुप्रजाकुमुदबन्धुरचिन्त्यकान्तिर्भाति स्म मानुशशिरोर्विजयी जयोऽयम् ॥३३५॥

हुई जयकुमारकी सुन्दर आकृति, कुन्दके फूलके, समान सुने हुए उसके गुण और कामदेव इन सबने उठाकर जिसे रखसे नीचे उतारा है ऐसी कन्या सुलोचनाने कंचुकीके हाथसे रत्नमाला लेकर तथा अतिशय प्रेममें निमग्न होकर, वह मनोहरमाला उस जयकुमारके गलेमें डाल दी । उस समय वह माला जयकुमारके वक्षस्थलपर अधिरूढ़ हो दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥३२६-३२९॥ उस समय अकस्मात् सब बाजोंकी बड़ी भारी आवाज ऐसी उठी थी मानो दिशारूपी कन्याओके लिए सुलोचनाका असाधारण उत्सव ही सुना रही हो ॥३३०॥ उस समय जयकुमारका मुखरूपी कमल बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओके मुखरूपी कमलोपर निवास करनेवाली लक्ष्मी उसी एकके मुखपर आ गयी हो ॥३३१॥ जिनका आशारूपी जल नष्ट हो गया है और जिनके मुखरूपी कमल तथा नेत्ररूपी उत्पलोकी शोभा म्लान हो गयी है ऐसे भूमिगोचरी और विद्याधर राजा सूखे सरोवरके समान बड़े ही दुखी हो रहे थे ॥३३२॥ अभीष्ट फलकी सिद्धि होनेसे जिसका आनन्द बढ़ रहा है ऐसा उत्कृष्ट नाथवंशका अधिपति राजा अकम्पन, कल्पलतासे सहित कल्पवृक्षके समान पुत्रीसे युक्त पूज्य जयकुमारको आगे कर अपने उत्कृष्ट नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥३३३॥ चूँकि भाग्य और सौभाग्यको प्राप्त होनेवाला यह जयकुमार स्वयंवरकी सम्माननीय विधिमें सबसे पहला था, भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके मुखकमलोकी शोभारूपी वीरागनाओसे घिरा हुआ था और अम्लानगुणोवाली माला उसकी शरणमें आकर कल्पवृक्षोंकी मालाके समान आचरण करने लगी थी, अतएव उसका बहुत बड़ा निर्मल यश कल्पान्तकाल तक समस्त संसारमें व्याप्त रहेगा ॥३३४॥ जिसकी देदीप्यमान प्रभाके प्रसारसे कमल खिल उठते थे, दूसरो ( शत्रुयो अथवा नक्षत्र आदिको ) के प्रभावका तिरस्कार कर जिसका उदय हुआ था और जो भाईबन्धु तथा प्रजारूपी कुमुदोको

१ समुद्रतय । २ मुखकमलनिवासिनी । ३ गतास्यवारण. ट० । विगतमुखरसा । ४ पुत्री । ५ अग्रे कृत्वा । ६ इव । ७ सहितम् । ८ आद्येऽयं इ०, प०, अ०, स० । ९ यत् कारणात् । भाग्य पुण्य । १० यस्मात् कारणात् । ११ यस्मात् कारणात् । १२ जयस्य । १३ परित्राणे, गुहे । १४ तस्मात् कारणात् । १५ कल्पपर्यन्तम् । १६ निर्मलम् । १७ जगत् । १८ व्याप्नोति । १९ प्रबुद्धलक्ष्मीः । विकसितकमल । २० निराकृत्य । २१ शत्रुसामर्थ्यम् । नक्षत्रादिसमुद्भवार्थं च । २२ बन्धववत् प्रजास्य बन्धुप्रजा, बन्धुप्रजा एव कुमुदानि तेषां बन्धुवचन्द्र ।

मालिनी

प्रियद्रुहितरमेना<sup>१</sup> नाथवंशाग्ररेन्दोरमुपु<sup>२</sup>पनयति स्म स्पष्टसौभाग्यलक्ष्मीः ।

ज्वलितमहसमन्यां वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं कथयति नयतीति<sup>३</sup> प्रातिमज्ञानमुच्चैः ॥३३६॥

शार्दूलचिक्रीडितम्

पुतपुण्यभयं सुरूपमहिमा सौभाग्यलक्ष्मीरियं जातोऽस्मिन् जनकः स योऽस्य जनिका<sup>४</sup> सैवास्य या सुप्रजा<sup>५</sup> ॥

पूज्योऽयं जगदेकमङ्गलं मणिश्चूडामणिः श्रीभृतामित्युक्तिर्जयमागुजयं प्रति जनैर्जातोत्सवैर्जक्षिता ॥३३७॥

मालिनी

कुवलयपरिवोर्धं संदधानः समन्तात् सततविततदीप्तिः सुप्रविष्टः<sup>६</sup> प्रसन्नः ।

परिणतिनिजशोभेणार्कमाक्रम्य दिक्षु प्रथितपृथुलकीर्त्या बद्धमानो जयः स्ताल<sup>७</sup> ॥३३८॥

इति समुपगता श्रीः सर्वकल्याणभाजं जिनपतिमत्तमास्त्वापुण्यभाजं जय तम् ।

तदुरुक्तसुग्राध्वं हे बुधाः श्रद्धाधानाः परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमहन्द्वयूच्या ॥ ३३९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणप्रथमे

स्वयंवरमालारोपणकल्याणकं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४३॥

■

प्रफुल्लित करनेके लिए बन्धुके समान था और जिसकी कान्ति अचिन्त्य थी ऐसा सूर्य और चन्द्रमाको जीतनेवाला वह जयकुमार अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३३५॥ जिसकी सौभाग्य-रूपी लक्ष्मी स्पष्ट प्रकट हो रही है ऐसे उस जयकुमारने नाथवशरूपी आकाशके चन्द्रमा स्वरूप राजा अकम्पनकी प्रिय पुत्री सुलोचनाको विवाहा था सो ठीक ही है क्योंकि प्रतिभागाली मनुष्योंका उत्कृष्ट ज्ञान यही कहता है कि देदीप्यमान प्रतापके धारक पुष्पको ही अनोखी वीर-लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है ॥३३६॥ उस समय जिन्हे आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे लोगों-के द्वारा, जयकुमारके प्रति उसकी विजयको सूचित करनेवाली निम्नप्रकार वातचीत हो रही थी कि इस संसारमे यही पुण्य है, यही उत्तम रूपकी महिमा है, यही सौभाग्यकी लक्ष्मी है, जिसके यह उत्पन्न हुआ है वही पिता है, जिसने इसे उत्पन्न किया है वही उत्तम सन्तानवती माता है, यही लक्ष्मीवान् पुरुषोमे चूडामणि स्वरूप है और ससारका कल्याण करनेवाले रत्नके समान यही एक पूज्य है ॥३३७॥ जो चारो ओरसे कुवलय अर्थात् पृथ्वीमण्डल ( पक्षमे रात्रि विकासी कमलो ) को प्रसन्न अथवा प्रफुल्लित करता रहता है, जिसकी कान्ति सदा फैली रहती है, जिसकी प्रतिष्ठा उत्तम है और जो सदा प्रसन्न रहता है ऐसा यह ( चन्द्रमाका सादृश्य धारण करनेवाला ) जयकुमार अपने परिपक्व प्रतापसे सूर्यपर भी आक्रमण कर दिशाओमे फैली हुई बड़ी भारी कीर्तिसे सदा बढता रहे ॥३३८॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के मतकी उपासना करनेसे बहुत भारी पुण्यका उपार्जन करनेवाले और सब प्रकारके कल्याणोको प्राप्त होनेवाले जयकुमारको लक्ष्मी प्राप्त हुई थी इसलिए हे श्रद्धावन्त विद्वान् पुरुषो, तुम लोग भी निराकुल होकर परम दयालु सर्वोत्कृष्ट जिनेन्द्र-देवके दोनो चरणकमलोकी उपासना करो ॥३३९॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके

हिन्दी भाषानुवादमे सुलोचनाके स्वयंवरका वर्णन करनेवाला

यह तैतालीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

■

१ पुत्रीम् । २ अमृप-त०, ३०, अ०, प०, स० । ३ जगद्गुमारम् । ४ प्रतिभैव प्रातिभ तच्च तद्ज्ञान च । प्रतिपुष्पममृद्भूतप्रतिमाज्ञानमित्यर्थः । ५ लोके । ६ माता । ७ सुपुत्रवती । ८ मङ्गलदर्पणः । ९ मुत्सर्व-वान् । १० भूयात् ।

## चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ दुर्मर्षणो नाम दुष्टस्तस्या सहिष्णुकः । सर्वाणुदीपयन् पापी सोऽर्ककीर्त्यनुजीवकः ॥१॥  
 अकम्पनः खलः क्षुद्रो वृथैश्वर्यमदोद्धतः । मृषा युष्मान् समाहूय श्लाघमानः स्वसंपदम् ॥२॥  
 पूर्वमेव समालोच्य मालामासञ्जयजये । परामूर्तिं विधित्सुर्वै स्थायिनीमायुगान्तरम् ॥३॥  
 इति ब्रवाणः संप्राप्य सन्नीढं चक्रिणः सुतम् । इह पदस्वपडरतानां स्वामिनौ त्वं पिता च ते ॥४॥  
 रत्नं रतेषु कन्यैव तत्राप्येपेयं कम्पिका । तत्त्वां स्वगृहमानीय दौष्ट्यं पश्यास्य दुर्मतेः ॥५॥  
 जयो नामात्र कस्तस्मै दत्तवान् मृत्युचोदितः । तेनागतोऽस्मि दैर्घ्यं तदेतत् सोढुमक्षमः ॥६॥  
 प्राकृतोऽपि न लोढव्यः प्राकृतैरपि किं पुनः । स्वादृशैः स्त्रीसमुद्भूतो मानभङ्गो मनस्विभिः ॥७॥  
 तदादिश ११३ दिशाम्यस्मै पदं वैवस्वतास्पदम् १३ । दिशाम्यादेशमात्रेण १४ समालां तेऽपि कन्यकाम् ॥८॥  
 इत्यसाध्वी १५ क्षुधं भर्तुः स्ववाचैवासृजत् खलः । सदसत्कार्यनिर्वृत्तौ १६ शक्तिः सदसतो १७ समा ॥९॥  
 तद्वचःपवनं १८ प्रौढक्रोधधूमध्वजाखणः १९ । भ्रमद्विलोचनाद्धारः २० क्रुद्धासिसुरसन्निभः ॥१०॥

अथानन्तर—दुर्मर्षण नामका एक दुष्ट पुरुष राजकुमार अर्ककीर्तिका सेवक था । वह जयकुमारके उस वैभवको नहीं सहन कर सका इसलिए उस पापीने सब राजाओंको इस प्रकार उत्तेजित किया । वह कहने लगा कि अकम्पन दुष्ट है, नीच है, झूठमूठके ऐश्वर्यके मदसे उद्धत हो रहा है, अपनी सम्पदाओंकी प्रशंसा करते हुए उसने व्यर्थ ही आप लोगोंको बुलाया है । वह तुम लोगोंका दूसरे युग तक स्थिर रहनेवाला अपमान करना चाहता है इसलिए उसने पहले-से सोच-विचारकर जयकुमारके गलेमें माला डलवायी है, इस प्रकार कहता हुआ वह दुर्मर्षण लज्जित हुए चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके पास आया और कहने लगा कि इन छहों खण्डोंमें उत्पन्न हुए रत्नोके दो ही स्वामी हैं एक तू और दूसरा तेरा पिता ॥१-४॥ रत्नोमे कन्या ही रत्न है और कन्याओमे भी यह सुलोचना ही उत्तम रत्न है इसलिए ही अकम्पनने तुझे अपने घर बुलाकर तेरा तिरस्कार किया है, जरा इस दुष्टकी दुष्टताको तो देखो ॥ ५ ॥ भला, जय-कुमार है कौन ? जिसके लिए मृत्युसे प्रेरित हुए अकम्पनने अपनी पुत्री दी है । मे यह दुराचार सहन करनेके लिए असमर्थ हूँ इसलिए ही आपके पास आया हूँ ॥ ६ ॥ जब कि नीच लोग भी छोटे-छोटे मानभंगको नहीं सहन कर पाते हैं तब भला आप-जैसे तेजस्वी पुरुष स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मानभग कैसे सहन कर सके ? ॥ ७ ॥ इसलिए मुझे आज्ञा दीजिए मैं आपकी आज्ञा-मात्रसे ही इस अकम्पनको यमराजका स्थान दे सकता हूँ और माला सहित वह कन्या आपके लिए दे सकता हूँ ॥८॥ इस प्रकार उस दुष्टने अपने वचनोंसे ही अपने स्वामीको दुष्ट क्रोध उत्पन्न करा दिया सो ठीक ही है क्योंकि अच्छा और बुरा कार्य करनेके लिए सज्जन तथा दुर्जनों-की एक-सी शक्ति रहती है ॥ ९ ॥ उस दुर्मर्षणके वचनरूपी वायुसे बढी हुई क्रोधरूपी अग्निसे

१ तमसहमाणः । २ कोपाग्निं प्रज्वलयन् । ३ परिभूतिम् । ४ कन्यारत्नेष्वपि । ५ ता त्वा त०, व० । ६ दुष्ट-त्वम् । ७ तेन कारणेन । ८ प्रकृते भवः परामर्शोऽपि । अथवा तुच्छकार्यमपि । ९ नीचैरपि । नष्टस्वयंप्रभवं-रित्यर्थः । १० तत् कारणात् । ११ आदेशं देहि । १२ ददामि । १३ यमपुरम् । 'कालो दण्डधरः धाढदेवो वैवस्वतोऽज्जक' इत्यभिधानात् । १४ निरूपणमात्रेण । १५ अशुभाम् । १६ निषक्तौ । १७ सज्जनदुर्जनयो । १८ प्रबुद्ध । 'प्रबुद्धं प्रौढमेधितमित्यभिधानात् । १९ अग्निः । २० कुपिताग्निः कुमारसदृश । क्रुद्धा - ल०, म० ।

उज्जगारं जलस्थूलविस्फुल्लिङ्गोपमा गिरः । अर्ककीर्तिर्द्विपोऽजोपान् विषधुरिव<sup>१</sup> वाचया ॥११॥  
 गामधिक्षिप्य<sup>२</sup> कन्येयं येन दत्ता दुरात्मवा । तेन प्रागेव मूटेन दत्तः स्वस्मे जलाजलिः ॥१२॥  
 अतिक्रान्तं<sup>३</sup> रथे तस्मिन् प्रोत्थितः क्रोधपावकः । सर्वं किञ्च को दाह इत्यजानन्नहं स्थितः ॥१३॥  
 १० नान्नाभिसन्धिदो मूढो मन्यते स्वमकम्पनम् । क्रुद्धे मयि न वेत्तीति कम्पते सधरा धरा<sup>४</sup> ॥१४॥  
 ११ मत्प्रदुग्धवारिवातानि<sup>५</sup> रास्तां तावदगोचरः । सहरन्त्यखिलान् शत्रून् बलवेलेव<sup>६</sup> हेलया ॥१५॥  
 १२ प्रस्तुद्युक्तगणैन्दुर्बुधविपुलाटवो । मत्क्रोधप्रस्तुतद्रुहिमस्मिताऽस्मिन्<sup>७</sup> रोक्ष्यति<sup>८</sup> ॥१६॥  
 १३ वीरपट्टस्तदा सोढो भुवो<sup>९</sup> भर्तुर्मयाम्भया । कथमद्य<sup>१०</sup> सहे मालां सर्वसामान्यलोपिनीम् ॥१७॥  
 १४ सद्यः कुसुमाग्नानमालेवास्वायुगावधि । जयलक्ष्म्या सहायैवो<sup>११</sup> हरेयं<sup>१२</sup> जयवक्षसः ॥१८॥  
 १५ जलदानं पेलवान्<sup>१३</sup> जित्वा मरुत्मानविलायिनः<sup>१४</sup> । अद्य पद्यामि दस्य जयस्य जयमाहवे ॥१९॥  
 १६ हति<sup>१५</sup> निर्मिन्नमर्यादः कार्याकार्यनिमूढधीः । अनिवार्यां विनिर्जित्य कालान्तजलधिष्वनिम् ॥२०॥  
 १७ अनलस्यानिलो वाऽस्य<sup>१६</sup> साहाय्यमगमस्तदा । केऽपि पापक्रियारम्भे सुलभाः मामवाधिकाः<sup>१७</sup> ॥२१॥

जो लाल-लाल हो रहा है, जिसके नेत्ररूपी अगारे धूम रहे हैं, और क्रोधसे जो अग्निकुमार देवोंके समान जान पड़ता है ऐसा वह अर्ककीर्ति अपने वचनोसे ही समस्त शत्रुओंको जलानेकी इच्छा करता हुआ ही मानो जलते हुए बड़े-बड़े फुल्लिङ्गोंके समान वचन उगलने लगा ॥१०-११॥ वह बोला जिस दुष्टने मेरा अपमान कर यह कन्या दी है उस मूर्खने अपने लिए पहले ही जला-जलि दे रखी है ॥१२॥ उस समय कन्याका रथ आगे निकलते ही मेरी क्रोधरूपी अग्नि भड़क उठी थी परन्तु जलने योग्य कीन है ? यह नहीं जानता हुआ मैं चुप बैठा रहा था ॥१३॥ केवल नामसे ठगाया हुआ वह मूर्ख अपने आपको अकम्पन मानता है परन्तु वह यह नहीं जानता कि मेरे क्रुपित होनेपर पर्वतों सहित पृथिवी भी कँपने लगती है ॥१४॥ मेरे तलवाररूपी जलकी धाराका विषय तो दूर ही रहे मेरी सेनारूपी लहर ही समस्त शत्रुओंको अलायास ही नष्ट कर देती है ॥१५॥ बहुत बड़े और सुखे हुए नाथवंश तथा चन्द्रवशरूपी दुष्ट बाँसोकी बड़ी भारी अटवी मेरे क्रोधरूपी प्रज्वलित अग्निसे भस्म हो जायगी और फिर इस संसारमे कभी नहीं उग सकेगी ॥१६॥ उस समय पृथिवीके अधिपति चक्रवर्ती महाराजने जयकुमारको जो वीरपट्ट बाँधा था उसे तो मैंने उनके डरसे सह लिया था परन्तु आज अपने सब सौभाग्यको नष्ट करनेवाली इस वरमालाको कैसे सह सकता हूँ ? ॥१७॥ मेरे यशरूपी फूलोंकी अम्लान माला ही इस युगके अन्त तक विद्यमान रहे । इस मालाकी तो मैं जयलक्ष्मीके साथ-साथ जयकुमारके वक्षस्थलसे आज ही हरण किये लेता हूँ ॥१८॥ केवल वायुमात्रसे विलीन हो जानेवाले कोमल मेघोंको जीतकर अहंकारको प्राप्त हुए जयकुमारकी जीत आज मैं युद्धमे देखूँगा ॥१९॥ इस प्रकार जिसने मर्यादा तोड़ दी है, कार्य अकार्यके करनेमें जिसकी बुद्धि विचाररहित हो रही है और जो किसीसे निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे अर्ककीर्तिने उस समय अपने शब्दोंसे प्रलयकालके समुद्रकी गर्जनाको भी जीत लिया था और जिस प्रकार अग्नि-को भड़कानेके लिए वायु सहायक होता है उसी प्रकार उसका क्रोध भड़कानेके लिए कितने

१ उवाच । २ दधुमिच्छु । ३ तिरस्कृत्य । ४ मामुल्लङ्घ्य गते । ५ कन्यासहस्यन्दने । ६ अकम्पन इति नाम्ना । ७ वञ्चित । ८ क्रुद्धे ल० । ९ पर्वतसहिता भूमि । 'महीध्रे शिखरिदमाभूद्वह्यंघरपर्वता' इत्यभिधानात् । १० अस्मदायुधधाराजल । ११ वारिधाराणि प०, ल० । १२ सेनावेला । १३ प्रवृद्धनिस्सारदुष्ट-नाथवंशसौमवशविजालविपिन इत्यर्थ । १४ अस्मिन् लोके । १५ न जनिष्यते । १६ चक्रिण । १७ सहायि । १८ अस्मत्कीर्ति । १९ मालाम् । २० स्वीकृत्यम् । २१ मुहूर्त्तम् । २२ विनाशिन । २३ इति उज्जगारेति सन्वन्ध । २४ सहायता । २५ समवार्थ सहायता प्राप्ता ।

तदा सर्वोपधाशुद्धौ<sup>१</sup> मन्त्री जानपदादिभिः<sup>२</sup> । अनवद्यमतिर्नाम लक्षितो मन्त्रिलक्षणैः ॥२२॥  
 धर्म्यमर्थ्यं यशस्सारं ससौष्टवमनिष्टुरम् । सुविचार्यं वचो न्याय्यं पथ्यं प्रोक्तं प्रचक्रमे ॥२३॥  
 मही व्योम शशी सूर्यः सरिदीशोऽनिलोऽनलः । त्वं त्वत्पिता घनाः कालो जगत्क्षेमविधायिनः<sup>३</sup> ॥२४॥  
 विपर्यासे विपर्येति<sup>४</sup> भवतामनुवर्तमात् । वर्तते-सृष्टिरेषा<sup>५</sup> हि व्यक्तं शुष्मासु<sup>६</sup> तिष्ठते ॥२५॥  
 गुणाः क्षमादयः<sup>७</sup> सर्वे व्यस्तास्तेषु क्षमादिषु<sup>८</sup> । समस्तास्ते जगद्वृद्धयै<sup>९</sup> चक्रिणि त्वयि च स्थिताः २६  
 च्यवन्ते<sup>१०</sup> स्वस्थितेः काले कचित्तेऽपि क्षमादयः । न स कालोऽस्ति यः कर्ता प्रच्युतेयुवयोः<sup>११</sup> स्थितेः ॥२७॥  
 सृष्टिः पितामहेनेयं<sup>१२</sup> सृष्टेना<sup>१३</sup> तत्समर्पिताम्<sup>१४</sup> । पाति सन्नाट्<sup>१५</sup> पिता तेऽद्य<sup>१६</sup> तस्यास्त्वमनुपालकः २८  
 दैवमानुषबाधाभ्यः क्षतिः कस्यापि या क्षितौ । ममैवेयेमिति स्मृत्वा समाधेया<sup>१७</sup> त्वयैव सा<sup>१८</sup> ॥२९॥  
 क्षतात् त्रायत इत्यासीत् क्षत्र्योऽयं भरतेश्वरः । सुतस्तस्यौरसो<sup>२०</sup> ज्येष्ठः क्षत्रियस्त्व<sup>२१</sup> तदादिमः ॥३०॥  
 त्वत्तो न्यायाः प्रवर्तन्ते नूतना ये पुरातनाः । तेऽपि त्वत्पालिता एव भवन्त्यत्र पुरातनाः ॥३१॥

ही राजा लोग उसके सहायक हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि पापक्रियाओके प्रारम्भमे सहायता देनेवाले सुलभ होते हैं ॥२०-२१॥ उस समय जो सब उपधाओसे शुद्ध है तथा जनपद आदि मन्त्रियोके लक्षणोसे सहित है ऐसा निर्दोषबुद्धिका धारक अनवद्यमति नामका मन्त्री अच्छी तरह विचारकर धर्मयुक्त, अर्थपूर्ण, यशके सारभूत, उत्तम; कठोरतारहित, न्यायरूप और हितकारी वचन कहने लगा ॥२२-२३॥ उसने कहा कि पृथिवी, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र, वायु, अग्नि, तू, तेरा पिता, मेघ और काल ये सब पदार्थ ससारमे कल्याण करनेवाले हैं ॥२४॥ आप लोगोमे उलट-पुलट होनेसे यह संसारकी सृष्टि उलट-पुलट हो जाती है और आपके अनुकूल रहनेसे अच्छी तरह विद्यमान रहती है इससे स्पष्ट है कि यह सृष्टि आप लोगोपर ही अवलम्बित है ॥२५॥ क्षमा आदि गुण अलग-अलग तो पृथिवी आदिमे भी रहते हैं परन्तु इकट्ठे होकर ससारका कल्याण करनेके लिए चक्रवर्तीमे और तुझमें ही रहते हैं ॥२६॥ पृथिवी आदि पदार्थ किसी समय अपनी मर्यादासे च्युत भी हो जाते हैं परन्तु ऐसा कोई समय नहीं है जो तुम दोनोको अपनी मर्यादासे च्युत कर सके ॥२७॥ तुम्हारे पितामह भगवान् वृषभदेवने इस कर्मभूमिरूपी सृष्टिकी रचना की थी, उनके द्वारा सौपी हुई इस पृथिवीका पालन इस समय तुम्हारे पिता भरत महाराज कर रहे हैं और उनके बाद इसका पालन करनेवाले तुम ही हो ॥२८॥ इस पृथिवीमे यदि किसीकी भी दैव या मनुष्यकृत उपद्रवोसे कुछ हानि होती हो तो 'यह मेरी' ही है ऐसा समझकर आपको ही उसका समाधान करना चाहिए ॥२९॥ जो क्षत अर्थात् संकटसे रक्षा करे उसे क्षत्र कहते हैं, भरतेश्वर सबकी रक्षा करते हैं इसलिए वे क्षत्र हैं और तुम उनके सबसे बड़े औरस पुत्र हो इसलिए तुम सबसे पहले क्षत्रिय हो ॥३०॥ इस ससारमे नवीन न्याय तुमसे ही प्रवृत्त होते हैं और जो पुरातन अर्थात् प्राचीन है वे तुम्हारे द्वारा पालित होकर ही पुरातन कहलाते हैं । भावार्थ—आपसे नवीन न्याय मार्गकी प्रवृत्ति

१ धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा तथा शुद्धः । 'उपधा धर्माद्यैस्त्वरीक्षणम्' इत्यभिधानात् ।  
 २ जनपदभवन्पुत्रजनादिभिः । ३ लोकस्य क्षेमकारिणः । ४ विपर्यासमेति । ५ जगत्सृष्टिः । ६ शुष्मासु  
 महीप्रभृतिषु प्रकाशते । ७ क्षान्त्यवगाहनसंहानसंतापहरणप्रकाशनादिगुणाः । ८ विकलाः । एकैकस्मिन्नेकैकश  
 एवेत्यर्थः । ९ पृथिव्याकाशादिषु । १० जगद्वृद्धौ ५०, ८०, ८० । ११ प्रच्युता भवन्ति । १२ भरतार्क-  
 कीर्यो । १३ पितृपित्रा आदिब्रह्मणा । 'पितामह पितृपिता' इत्यभिधानात् । १४ सृष्टा ता ४०, ८० ।  
 सृष्टयैतां ६०, ८०, ८० । १५ आदिब्रह्मणा विस्तीर्णम् । १६ चक्री । १७ सुष्टे । १८ निवर्तनीया ।  
 १९ क्षतिः । २० उरसि भवः । साक्षात्सुतः न दत्तपुत्र । २१ सत्राज्जात ।

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः । विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो<sup>१</sup> हि स्वयंवरः ॥३२॥  
यदि स्यात् सर्वसंप्राप्त्या कन्यका पुण्यभाजनम् । अविरोधो<sup>२</sup> व्यधाय्यत्र दैवायचो विविजुषैः ॥३३॥  
मये महाकुलीनेषु<sup>३</sup> कचिदेकमनीप्सितम् । सलक्ष्मीकमलक्ष्मीकं गुणितं गुणदुर्गतम् ॥३४॥  
विरूपं रूपिणं चापि वृणीतेऽस्तौ विधेर्वशात् । न तत्र मत्सरः कार्यः नैषैर्न्यायोऽयमीदृशः ॥३५॥  
लक्ष्यते यदि केनापि न्यायो रक्ष्यस्त्वयैव सः । नेदं तनोचितं क्वापि पाता स्यात्पारिपान्यिकः ॥३६॥  
भवत्कुलाचलस्योगौ नाथसोमान्वयौ पुरा । मेरोर्निषधनीली वा सत्यक्षा<sup>४</sup> पुरुषा कुतौ ॥३७॥  
सकलक्षत्रियज्येष्ठः पूज्योऽयं राजराजवत् । अकम्पनमहाराजो राज्ञश्च ज्योतिषां गणैः ॥३८॥  
निर्विदोष<sup>५</sup> पुरोरेनं मन्यते भरतेश्वरः । पूज्यातिलङ्घनं प्राङ्मुख्य<sup>६</sup> त्राजुभावनहम् ॥३९॥  
पश्य तादृश एवात्र सोमवंशोऽपि कथ्यते । धर्मतीर्थं भवद्दंशाद् दानतीर्थं<sup>७</sup> ततो यतः<sup>८</sup> ॥४०॥  
पुरस्तरणमात्रेण श्लाघ्यं चक्रं विभो<sup>९</sup> विभोः<sup>१०</sup> । प्रायो दुस्साधसंसिद्धौ श्लाघते जयमेव सः<sup>११</sup> ॥४१॥  
<sup>१२</sup> एतस्य सिंगये सर्वेऽष्टमेवेह पौरुषम् । अनेन<sup>१३</sup> वः कृतः प्रेषः<sup>१४</sup> स्मर्तव्यो ननु स त्वया ॥४२॥  
ज्ञात्वा<sup>१५</sup> संभाव्यगौर्यांसि स मान्यो मर्त्यभिर्भटः । दृष्टसारः स्वसाध्यैः<sup>१६</sup> साधितार्थः किमुच्यते ॥४३॥

चलती है और पुराने न्यायमार्गकी रक्षा होती है ॥ ३१ ॥ विवाहविधिके सब भेदोंमें यह स्वयं-  
वर ही श्रेष्ठ है । श्रुतियों और स्मृतियोंमें कहा गया यह स्वयंवर ही सनातन ( प्राचीन ) मार्ग  
है ॥ ३२ ॥ यदि पुण्यके पात्र स्वरूप किसी एक कन्याकी याचना सब मनुष्य करने लग जाये तो  
उस समय परस्परका विरोध दूर करनेके लिए विद्वानोंने केवल भाग्यके अधीन होनेवाली इस  
स्वयंवर विधिका विधान किया है ॥ ३३ ॥ बड़े-बड़े कुलोमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके मध्यमें वह  
कन्या भाग्यवश अपनी इच्छानुसार किसी एकको स्वीकार करती है चाहे वह लक्ष्मीसहित हो  
या लक्ष्मीरहित, गुणवान् हो या निर्गुण, सुरुप हो या कुरूप । अन्य लोगोको इसमें ईर्ष्या नहीं  
करनी चाहिए क्योंकि यह ऐसा ही न्याय है ॥ ३४-३५ ॥ यदि किसीके द्वारा इस न्यायका  
उल्लंघन किया जाय तो तुम्हें ही इसकी रक्षा करनी चाहिए इसलिए यह सब तुम्हारे लिए  
उचित नहीं है । क्या कभी रक्षक भी चोर या शत्रु होता है ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार निषध और  
नील कुलाचल मेरुपर्वतके उत्तम पक्ष हैं, उसी प्रकार भगवान् आदिनाथने पहले नाथवंश और  
चन्द्रवंश दोनों ही आपके कुलरूपी पर्वतके उत्तम पक्ष अर्थात् सहायक बनाये थे ॥ ३७ ॥ जिस  
प्रकार चन्द्रमा समस्त ज्योतिषी देवोंके समूहके द्वारा पूज्य है उसी प्रकार समस्त अत्रियोंमें  
वड़े महाराज अकम्पन भी भरत चक्रवर्तीके समान सबके द्वारा पूज्य है ॥ ३८ ॥ महाराज भरत  
इन अकम्पनको भगवान् वृषभदेवके समान ही मानते हैं इसलिए तुम्हें भी इनके प्रति नम्रताका  
अवहार करना चाहिए क्योंकि पूज्य पुरुषोका उल्लंघन करना दोनों लोकोंमें अकल्याण करने-  
वाला कहा गया है ॥ ३९ ॥ और देखो यह सोमवंश भी नाथवंशके समान ही कहा जाता है ।  
भ्योंकि जिस प्रकार तुम्हारे वंशसे धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति हुई है उसी प्रकार सोमवंशसे दानतीर्थकी  
प्रवृत्ति हुई है ॥ ४० ॥ चक्रवर्तीका चक्ररत्न आगे-आगे चलने मात्रसे प्रगसनीय अवश्य है  
परन्तु कठिनाईसे सिद्ध होने योग्य कार्योंमें वे प्रायः जयकुमारकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ ४१ ॥  
दिग्विजयके समय इसका पुरुषार्थ संसारमें सबने देखा था । उस समय इसने जो पराक्रम  
दिखाया था वह भी तुम्हें याद रखना चाहिए ॥४२॥ जिस योद्धामें गुरवीरपनेकी सम्भावना हो

१ अतिशयेन वर । २ कृत । ३ - देकं समीप्सितम् ल०, म०, अ०. प०, इ०, सं० । ४ गुणदिग्गम् ।

५ रक्षकः । ६ सत्सहायो । सत्यक्षती च । ७ चक्रिणत् । ८ चन्द्र इव । ९ समानम् । १० इहामुत्र च ।

११ सोमवंशात् । १२ यत कारणात् । १३ चक्रिणः । १४ चक्रो । १५ जयस्य । १६ य ल० । १७ बलानि-  
योग । १८ भाविशौर्य इत्यर्थः ।



विना चक्राद् विना रत्नैर्मोक्षेयं श्रीस्त्वया तदा । जयात् मानुषी सिद्धिर्देवी पुण्योदयाद्या ॥४४॥  
 तृणक्षयोऽपि संवाहस्तव नीतिरियं कथम् । नाथेन्दुवंशानुच्छेद्यौ लक्ष्याः साक्षाद्भुजायितौ ॥४५॥  
 वन्धुभृत्यक्षयाद्भूयस्तुभ्यं चक्रयपि कुप्यति । अधर्मश्चायुगस्थायी त्वथा स्यात् संप्रवर्तितम् ॥४६॥  
 परदारामिलावस्थ प्राथम्यं मा वृथा कृथाः । अवश्यमाहुतायेपा न कन्या ते भविष्यति ॥४७॥  
 सप्रतापं यशः स्यास्तु जयस्य स्यादहर्था । तव रात्रिरिवाकीर्तिः स्थायिन्यत्र मलीमसा ॥४८॥  
 सर्वमेतन्ममैवेति मा मंस्था साधनं युधः । बहवोऽप्यत्र भूपालाः सन्ति तत्पक्षपातिनः ॥४९॥  
 पुरुषार्थत्रयं पुष्मिर्दुष्प्रापं तत्त्वथाऽजितम् । न्यायमार्गं समुल्लङ्घ्य वृथा तर्हि विनाशयः ॥५०॥  
 अकम्पनस्य सेनेशो जयः प्रागिव चक्रिणः । वीरलक्ष्यास्तुलारोहं युधा त्वं किं विधास्यसि ॥५१॥  
 ननु न्यायेन वन्धोस्ते वन्धुपुत्री समर्पिता । उल्लवे का परामृतिरक्षमाऽत्र परामवः ॥५२॥  
 कन्यारत्नानि सन्त्येव बहून्यन्यानि भूभुजायम् । इह तानि सरत्नानि सर्वाण्यद्यनं यामि ते ॥५३॥  
 इति नीलितवृद्धिविधाय्यपि वचः पथः । व्यधात् तच्चेतसः क्षोभं तसैतलस्य वा भृशम् ॥५४॥

राजाओको जानकर उसका भी सम्मान करना चाहिए फिर भला जिसका पराक्रम देखा जा चुका है और जिसने अत्यन्त असाध्य कार्यको भी सिद्ध कर दिया है उसकी तो बात ही क्या है ? ॥४३॥ आगे चलकर जिस समय विना चक्र और विना रत्नोंके यह लक्ष्मी तुम्हारे उपभोग करने योग्य होगी उस समय तुम्हारी देवी सिद्धि जिस प्रकार पुण्य कर्मके उदयसे होगी उसी प्रकार तुम्हारी मानुषी अर्थात् मनुष्योसे होनेवाली सिद्धि जयकुमारसे ही होगी ॥ ४४ ॥ जब कि तृणके समान तुच्छ पुरुषकी भी रक्षा करनी चाहिए यह आपकी नीति है तब राज्य लक्ष्मीके साक्षात् भुजाओके समान आचरण करनेवाले नाथ वंश और सोम वंश उच्छेद करने योग्य कैसे हो सकते हैं ? ॥४५॥ इन भाइयोंके समान सेवकोंका नाश करनेसे चक्रवर्ती भी तुमपर अधिक क्रोध करेंगे और युगके अन्त तक टिकनेवाला यह अधर्म भी तुम्हारे-द्वारा चलाया हुआ समझा जायगा ॥४६॥ तुम्हें व्यर्थ ही परस्त्रीकी अभिलाषाका प्रारम्भ नहीं करना चाहिए क्योंकि यह निश्चय है, यह कन्या जबरदस्ती हरी जाकर भी तुम्हारी नहीं होगी ॥ ४७ ॥ जयकुमारका प्रताप सहित यश दिनके समान सदा विद्यमान रहेगा और तुम्हारी मलिन अकीर्ति रात्रिके समान सदा विद्यमान रहेगी ॥ ४८ ॥ ये सब राजा लोग युद्धमे मेरी सहायता करेंगे ऐसा मत समझिए क्योंकि इनमे भी बहुत-से राजा लोग उनके पक्षपाती हैं ॥ ४९ ॥ जो धर्म अर्थ और कामरूप तीन पुरुषार्थ पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ है वे तुम्हें प्राप्त हो गये हैं इसलिए अब न्यायमार्गका उल्लंघन कर उन्हे व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो ॥ ५० ॥ यह जयकुमार जिस प्रकार पहले चक्रवर्तीका सेनापति बना था उसी प्रकार अब अकम्पनका सेनापति बना है तुम व्यर्थ ही वीरलक्ष्मीको तुलापर आरुढ़ क्यों कर रहे हो । भावार्थ — वीरलक्ष्मीको संशयमे क्यों डाल रहे हो ॥ ५१ ॥ निश्चयसे तेरे एक भाईकी पुत्री तेरे दूसरे भाईके लिए न्यायपूर्वक समर्पण की गयी है, ऐसे उत्सवमे तुम्हारा क्या तिरस्कार हुआ ? हाँ, तुम्हारी असहनशीलता ही तिरस्कार हो सकती है ? भावार्थ — हितकारी होनेसे जिस प्रकार जयकुमार तुम्हारा भाई है उसी प्रकार अकम्पन भी तुम्हारा भाई है । एक भाईकी पुत्री दूसरे भाईके लिए न्यायपूर्वक दी गयी है इसमें तुम्हारा क्या अपमान हुआ ? हाँ, यदि तुम इस बातको सहन नहीं कर सकते हो तो यह तुम्हारा अपमान हो सकता है ॥ ५२ ॥ सुलोचनाके सिवाय राजाओंके और भी तो बहुत-से कन्यारत्न हैं, रत्नालंकार सहित उन सभी कन्याओंको मैं आज तुम्हारे लिए यहाँ ला देता हूँ ॥ ५३ ॥ इस प्रकार

१ तव । २ पुरुषकुला । ३ रक्षणाय । ४ संप्रवर्तितं स०, ल०, अ०, प०, इ० । ५ प्रथमतवम् । ६ मा कार्षी । ७ युद्धस्य । ८ तव । ९ असहमानता । १० प्रापयामि । ११ व्याधात् ल० ।

सर्वमेतत् समाकण्यं बुद्धिं कर्मानुसारिणीम् । स्पष्टयन्निव दुर्बुद्धिरिति प्रत्याह भारतीम् ॥५५॥  
 अस्ति स्वयंवरः पन्थाः परिणीतौ चिरन्तनः । पितामहकृतौ मान्यो वधोज्येष्ठस्त्वकम्पनः ॥५६॥  
 किन्तु सोऽयं जयस्नेहात्तस्योत्कर्षं चिकीर्षुकः । स्वसुतायाश्च सौभाग्यप्रतीतिप्रविधिस्तुक् ॥५७॥  
 सर्वभूपालसदोहसमाविर्भावितौदयात्<sup>१</sup> । स्वयं चक्रीयितुं<sup>२</sup> चैव व्यघत्त कपटं गठः<sup>३</sup> ॥५८॥  
 प्राक्समर्थितमन्त्रेण<sup>४</sup> प्रदायास्मै स्वचेतसा । कृतसंकेतया माला सुतयाऽऽरोपिता मृषा ॥५९॥  
 भुरादौ कुलवृद्धेन<sup>५</sup> मायेयं संप्रवर्तिता । मयाद्य यद्युपेक्ष्येत<sup>६</sup> कल्पान्ते नैव वार्यते ॥६०॥  
 न चक्रिणोऽपि कोपाय स्यादन्यायनिषेधनम् । प्रवर्तयत्यसौ दण्डं मन्यप्यन्यायवर्तिनि ॥६१॥  
 जयोऽप्येयं<sup>७</sup> समुत्तिष्ठस्तत्पट्टेन<sup>८</sup> च मालया । प्रतिस्वं लब्धरन्त्रो<sup>९</sup> मां करोन्त्या रम्भकम्पुरा ॥६२॥  
 'समूलतूलमुच्छिद्य सर्वद्विषमसुं युधि । अनुरागं जलिष्यामि राजन्यानां मयि स्थिरम् ॥६३॥  
 द्विधा भवतु वा मा वा बलं ते न किमाशुभाः'<sup>१०</sup> । मालां प्रस्थानयिष्यन्ति जयवधो विभिद्य मे ॥६४॥  
 नाहं सुलोचनाभ्यस्मि मत्सरी<sup>११</sup> मच्छरैरथम्<sup>१२</sup> । परासुरधुनैव स्यात् किं मे विधवया त्वया ॥६५॥

अनवद्यमति मन्त्रीका वचनरूपी जल यद्यपि नीतिरूपी लताको बढानेवाला था तथापि उसने तपे हुए तेलके समान अकंकीर्तिके चित्तको और भी अधिक क्षोभित कर दिया था ॥५४॥ यह सब सुनकर 'बुद्धि कर्मके अनुसार ही होती है,' इस बातको स्पष्ट करता हुआ वह दुर्बुद्धि इस प्रकार वचन कहने लगा ॥५५॥ मैं मानता हूँ कि विवाहकी विधियोमे स्वयंवर ही पुरातन मार्ग है और यह भी स्वीकार करता हूँ कि हमारे पितामह भगवान् वृषभदेवके द्वारा स्थापित होने तथा वयमे ज्येष्ठ होनेके कारण अकम्पन महाराज मेरे मान्य है परन्तु वह जयकुमारपर स्नेह होनेसे उसीका उत्कर्ष करना चाहता है और सबपर अपनी पुत्रीके सौभाग्यकी प्रतीति करना चाहता है । समस्त राजाओके समूहके द्वारा प्रकट हुए वक्ष्यनसे अपने आपको चक्रवर्ती बनानेके लिए ही उस मूर्खने यह कपट किया है ॥ ५६-५८॥ 'यह कन्या जयकुमारको ही देनी है' ऐसी सलाह अकम्पन पहले ही कर चुका था और उसी सलाहके अनुसार अपने हृदयसे जयकुमारके लिए कन्या दे भी चुका था परन्तु यह सब छिपानेके लिए जिसे पहले ही संकेत किया गया है ऐसी पुत्रीके द्वारा उसने यह माला झूठमूठ ही डलवायी है ॥५९॥ युगके आदिमे उच्चकुलीन अकम्पनके द्वारा की हुई इस मायाकी यदि आज मैं उपेक्षा कर दूँ तो फिर कल्प-कालके अन्त तक भी इसका निवारण नहीं हो सकेगा ॥ ६० ॥ अन्यायका निराकरण करना चक्रवर्तीके भी क्रोधके लिए नहीं हो सकता क्योंकि जब मैं अन्यायमे प्रवृत्ति कर बैठता हूँ तब वे मुझे भी तो दण्ड देते हैं । भावार्थ—चक्रवर्ती अन्यायको पसन्द नहीं करते हैं, और मैं भी अन्यायका ही निराकरण कर रहा हूँ इसलिए वे मेरे इस कार्यपर क्रोध नहीं करेंगे ॥६१॥ यह जयकुमार भी पहले वीरपट्ट बाँधनेसे और अब मालाके पड़ जानेसे बहुत ही अभिमानी हो रहा है । यह छिद्र पाकर पहलेसे ही मेरे लिए कुछ-न-कुछ आरम्भ करता ही रहता है ॥६२॥ यह सबका शत्रु है इसलिए युद्धमें इसे आमूलचूल नष्ट कर सब राजाओका स्थिर प्रेम अपनेमे ही उत्पन्न कलंगा ॥६३॥ सेना फूटकर दो भागोमे विभक्त हो जाय अथवा न भी हो, उससे मुझे क्या ? मेरे बाण ही जयकुमारका वक्षःस्थल भेदन कर वरमालाको ले आवेगे ॥६४॥ मैं सुलोचनाको भी नहीं चाहता क्योंकि सबसे ईर्ष्या करनेवाला यह जयकुमार मेरे वाणसे अभी

१ विवाहे । २ अभ्युदय प्राप्यमाश्रित्य । ३ चक्रीवाचरितुम् ॥ ४ मायावी । ५ दत्त्वा । ६ अकम्पनेन । ७ -पेक्षेत ल० । ८ -प्येत ल० । ९ गति । १० वीरपट्टेन । ११ प्राप्तावसर । १२ व्यापारम् । १३ कारणसहितम् । १४ अरा । १५ मत्सरवान् । १६ मम वाणं । १७ गतप्राण । 'परामुप्राप्तपञ्चपरतरेन-संस्थिता ।' इत्यभिवाम्नात् ।

दुराचारनिषेधेन त्रयं धर्मादि वर्धते । कारणे सति कार्यस्य किं हानिर्दृश्यते क्वचित् ॥६६॥  
 व्यथो मे विक्रमस्यास्तां शरस्याप्यन्न न व्यथः । वधे प्रत्युत धर्मः स्याद् दृष्टस्याहः कृतो भवेत् ॥६७॥  
 कीर्तिर्विख्यातकीर्तये नार्ककीर्तेर्विनश्यति<sup>१</sup> । अकीर्तिरनिवार्या स्यादन्यायस्यानिषेधनात् ॥६८॥  
 तस्य<sup>२</sup> मेऽयशसः कीर्तेर्भवद्भिर्यदुदाहृतम्<sup>३</sup> । भवेत्तत्सत्यं संवादि<sup>४</sup> शीतकोऽस्म्यत्र यद्यहम् ॥६९॥  
 यूयमाध्वं तत्सत्पुण्यीशु<sup>५</sup> ण्णकोऽहमिदं प्रति । धर्म्यमर्घ्यं यशस्यं च मा निषेधि<sup>६</sup> हितैषिभिः ॥७०॥  
 एवं मन्त्रिणमुल्लङ्घ्य कुधीर्वा दुर्प्रहाहितः<sup>७</sup> । सेनापतिं समाहूय प्रत्यासन्नपराभवः ॥७१॥  
 कथयित्वा महीशानां सर्वेषां रणनिश्चयम् । मेरीमास्फालयामास जगत्त्रयभयप्रदाम् ॥७२॥  
 अनुमेरीरवं सद्यः सत्यावासं<sup>८</sup> महीशुजाम् । नटदसदशुजास्फोटचट्टलाराव<sup>९</sup> निष्ठुरः ॥७३॥  
 करिकण्टकुटोद्घोषघण्टाटङ्कारमैरवः । जितकण्ठीरवारावहयहेषाविभीषणः ॥७४॥  
 चलद्वरिखुरोदघट्टकठोरध्वाननिर्भरः । पदातिपद्धति<sup>१०</sup> प्रोद्यद्भूरिभूरवभीवहः<sup>११</sup> ॥७५॥  
<sup>१२</sup>स्पन्दत्स्यन्दनचक्रोत्थप्रधुचीलारमीकरः । धनुः सज्जीक्रियासक्तगुणास्फालनकर्कशः ॥७६॥  
 प्रतिध्वनितदिग्भिस्तिस्सर्वानकभयानक । चलकोलाहलः कालमिवाह्लातं समुद्यतः ॥७७॥

ही मर जावेगा तब उस विधवासे मुखे क्या प्रयोजन रह जावेगा ॥६५॥ दुराचारका निषेध करनेसे धर्म आदि तीनों बढ़ते हैं, क्योंकि कारणके रहते हुए क्या कहीं कार्यकी हानि देखी जाती है ? ॥६६॥ इस काममें मेरे पराक्रमका नाश होना तो दूर रहा मेरा एक बाण भी खर्च नहीं होगा बल्कि दुष्टके मारनेमें धर्म ही होगा, पाप कहाँसे होगा ? ॥६७॥ ऐसा करनेसे प्रसिद्ध कीर्तिवाले मुख अर्ककीर्तिकी कीर्ति भी नष्ट नहीं होगी परन्तु हाँ, यदि इस अन्यायका निषेध नहीं करता हूँ तो किसीसे निवारण न करने योग्य मेरी अपकीर्ति अवश्य होगी ॥६८॥ तुमने जो मेरी अपकीर्ति और उसकी कीर्ति होनेका उदाहरण किया है सो यदि मैं इस विषयमें मन्दोद्योगी हो जाऊँ तो यह आपका निरूपण सत्य हो सकता है ॥६९॥ इसलिए तुम लोग चुप बैठो, मैं इस कार्यमें उषण हूँ — क्रोधसे उत्तेजित हूँ । हित चाहनेवालोंकी धर्म, अर्थ तथा यश बढ़ाने वाले कार्योंका कभी निषेध नहीं करना चाहिए ॥७०॥ इस प्रकार जिसका पराभव निकट है और जो छोटे हठसे युक्त है ऐसे दुर्बुद्धि अर्ककीर्तिने मन्त्रीका उल्लंघन कर सेनापतिको बुलाया और सब राजाओंसे युद्धका निश्चय कहकर तीनों लोकोंको भय उत्पन्न करनेवाली मेरी बजवायी ॥७१-७२॥ जो राजाओंके प्रत्येक डेरमें मेरीके शब्दोंके साथ ही साथ बहुत शीघ्र नाचते हुए योद्धाओंकी भुजाओंकी ताड़नासे उत्पन्न होनेवाले चंचल शब्दोंसे कठोर है, जो हाथियोंके गलोंमें स्पष्ट रूपसे जोर जोरका शब्द करनेवाले घण्टाओंकी टकारसे भयकर है, जो सिंहोंकी गर्जनाको जीतनेवाले घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे भीषण है, जो चलते हुए घोड़ोंके खुरोंके संघटनसे उठनेवाले कठोर शब्दोंसे भरा हुआ है, जो पैदल सेनाके पैरोंकी चोटसे उत्पन्न हुए पृथिवीके बहुत भारी शब्दोंसे भयकर है, जो चलते हुए रथोंके पहियोंसे उत्पन्न होनेवाले बहुत भारी चीत्कार शब्दोंसे भय पैदा करनेवाला है, जो धनुष तैयार करनेके लिए लगायी हुई डोरीके आस्फालनसे कठोर है, जिसने दिशारूपी दीवारोंको प्रतिध्वनिसे युक्त कर दिया है और जो सब प्रकारके नगाड़ोंसे भयानक हो रहा है ऐसा बहुत भारी सेनाका कोलाहल उठा सो ऐसा जान पड़ता

१ आस्ता तावदित्यध्याहारः । २ पापः । ३ विनाशमेव्यति । ४ जयस्य । ५ यदुदाहरणम् । ६ सत्येन अविपरी-  
 तप्रतिपत्तिकम् । सत्येन एकवादीपेत वा । ७ मन्द । ८ पटु । 'वक्षे तु चतुरपेशलपट्व सुत्यान ओष्णश्च'  
 इत्यभिधानात् । ९ न निषिध्यते स्म । १० स्वीकृतः । ११ शिबिरं प्रति शिबिर प्रति । १२ नवस्थिता ।  
 १३ ध्वनिः । १४ पादहति । १५ भूमिध्वनिना भयंकरः । १६ चलत् ।

शिक्षिताः वलिनः शूराः शूरास्तुः सकेतवः । गजः समन्तात् सन्नाहाः प्राक्चेलुरचलोपमाः ॥७८॥  
 तुङ्गमास्तरङ्गामाः सङ्ग्रामाब्धेः सर्वमकाः<sup>२</sup> । अनुदन्ति नदन्तोऽयान् विक्रामन्तः समन्ततः ॥७९॥  
 सचक्रं<sup>३</sup> वेहि संयोज्य सधुरं<sup>४</sup> प्राज वाजिनः । इति संभ्रमिणोऽपत्तन्<sup>५</sup> रथास्तदनु सध्वजाः ॥८०॥  
 ८०३ः कोदण्डकुन्तासिप्रासचक्रादिभीकराः । यान्ति स्मानुरथं क्रुद्धा रुद्रत्रिकाः पदातयः ॥८१॥  
 गजं गजस्तदोद्भयं बाहो<sup>६</sup> बाह रथ इयः । पदातयश्च पादान्तं संप्रभान्निर्ययुधै<sup>७</sup> ॥८२॥  
 भारुद्धानेकपानेकभूपालपरिवारितः । भेरीनिष्ठुरनिर्घोषमीषिताशोपदिग्धिपः ॥८३॥  
 चक्रध्वजं समुत्थाप्य सम्यगाविष्कृतोन्नतिः । गजं विजयघोषाख्यमारुह्याद्रिवरोत्तमम् ॥८४॥  
 सर्ककीर्तिर्वहिर्मास्वदस्यु<sup>८</sup> धतभटावृतः । ज्योतिःकुलाचलैर्वर्किश्चचालाम्ब्यचलाधिपम्<sup>९</sup> ॥८५॥  
 किंवदन्ती<sup>१०</sup> विदित्वैतां भूपो भूला कुलाकुलः<sup>११</sup> । स्वालोचितं<sup>१२</sup> च कर्तव्यं<sup>१३</sup> विधिना क्रियतेऽन्यथा ॥८६॥  
 इति स्वस्वचित्वैः सार्धमालोच्य च जयादिभिः । प्रत्यर्ककीर्त्यया<sup>१४</sup> विश्वदू<sup>१५</sup> दूतं संप्राप्य सत्वरम् ॥८७॥  
 कुमार तव किं युक्तमेवं सीमातिलङ्घनम् । प्रसीद प्रलयो<sup>१६</sup> दूरं तन्मा कार्योर्मुखागमम् ॥८८॥

था मानो कालको बुलानेके लिए ही उठा हो ॥ ७३-७७ ॥ उस समय जो शिक्षित है, बलवान् है, बुरवीर है, जिनपर योद्धा बैठे हुए है, पताकाएँ फहरा रही हैं, जो सब तरहसे तैयार हैं और पर्वतोंके समान ऊँचे हैं ऐसे हाथी सब ओरसे आगे-आगे चल रहे थे ॥ ७८ ॥ जो संग्रामरूपी समुद्रकी लहरोंके समान हैं, कवच पहने हुए हैं, हीस रहे हैं और क्रुद्ध रहे हैं ऐसे घोड़े उन हाथियोंके पीछे-पीछे चारों ओर जा रहे थे ॥७९॥ पहिले जल्दी लगाओ, धुराको ठीक कर जल्दी लगाओ, इस प्रकार कुछ जल्दी करनेवाले, तथा जिनमें शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए हैं और ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे रथ उन घोड़ोंके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥८०॥ उन रथोंके पीछे धनुष, भाला, तलवार, प्रास और चक्र आदि गस्त्रोंसे भयंकर, फैलकर सब दिशाओंको रोकनेवाले, क्रोधी और बलवान् पैदल सेनाके लोग जा रहे थे ॥ ८१ ॥ उस समय हाथी हाथीको, घोड़ा घोड़ाको, रथ रथको और पैदल पैदलको धक्का देकर युद्धके लिए जल्दी-जल्दी जा रहे थे ॥ ८२ ॥ तदनन्तर - हाथियोंपर चढ़े हुए अनेक राजाओंसे घिरा हुआ, नगाड़ोंके कठोर शब्दोंसे समस्त दिगजोंको भयभीत करनेवाला, चक्रके चिह्नवाली ध्वजाको ऊँचा उठाकर अपनी ऊँचाईको अच्छी तरह प्रकट करनेवाला और चमकीली तलवार हाथमें लिये हुए योद्धाओंसे आवृत अर्ककीर्ति, मेरु पर्वतके समान उत्तम विजयघोष नामक हाथीपर सवार हो अचलाधिप (अचला अधिप) अर्थात् पृथ्वीके अधिपति राजा अकम्पनकी ओर इस प्रकार चला मानो ज्योतिर्मण्डल और कुलाचलोंके साथ-साथ सूर्य ही अचलाधिप (अचल अधिप) अर्थात् सुमेरुकी ओर चला हो ॥८३-८५॥ महाराज अकम्पन यह बात जानकर बहुत ही व्याकुल हुए और सोचने लगे कि अच्छी तरह विचारकर किया हुआ कार्य भी दैवके द्वारा उलटा कर दिया जाता है । इस प्रकार उन्होंने अपने मन्त्री तथा जयकुमार आदिके साथ विचारकर अर्ककीर्तिके प्रति शीघ्र ही एक शीघ्रगामी दूत भेजा ॥८६-८७॥ दूतने जाकर कहा कि हे कुमार, क्या तुम्हें इस प्रकार सीमाका उल्लंघन करना उचित है ? प्रलयकाल अभी दूर है इसलिए प्रसन्न हूँजिए

१ सगदा कृताः । २ तनुवसहिवा । ३ दन्तिना पश्चात् । ४ ध्वनन्तः । ५ अगच्छन् । ६ लङ्घनं कुर्वन्त । ७ चक्रं सह किंचिद् वेहि धारय । ८ धुरा सह किंचिद् वेहि । ९ प्रेरय । १० आनुभवानने प्रयुक्ता । ११ त्वरावन्तः । १२ अगच्छन् । १३ अथ । १४ बाहोऽन्वस्तुरगो वाजी हयो धुर्यस्तुरगम् इति वचनं जय । १५ सप्रामनितम् । १६ उद्धृतासि । १७ अकम्पन् महाराज प्रति । मेरु च । १८ जननातम् । १९ अधिकाकुल । १० सुष्ठुवालोचितम् । ११ कार्यम् । १२ अर्ककीर्ति प्रति । १३ प्राहिणोत् । १४ प्रलयः पञ्चकालान्ते भवतीत्यागमम् । भूषा मा क्रुह ।

इति सामादिभिः 'स्वोक्तैरशान्तमवगम्य तम् । प्रत्येत्य तच्चया सर्वमाश्रयवाजी' गमनपम् ॥८९॥  
 काशिराजसन्दाकर्ण्य विषादचलिताशयः । महामोहाहितो वाऽऽसीद् दुष्कार्यं को न सुखति ॥९०॥  
 'अत्र चिन्त्यं न वः किंचिन्म्यायस्तेनैत्र' लङ्घितः । 'तिष्ठतेहैव' संरक्ष्य सुनिधुक्ताः 'सुलोचनाम्' ॥९१॥  
 इदानीमेव दुर्बलं शृङ्खलालिङ्गमोत्सुकम् । शास्त्राभ्यासिवापेक्षे बध्वा दाराततायिनम् ॥९२॥ -  
 इत्युदीर्य जयो मेघकुमारविजयार्जिताम् । मेघघोषाभिर्घां मेरौ 'प्रण्डेनास्कोटयद्' रक्षा ॥९३॥  
 'द्रोणादिप्रक्षारस्मधनाघनघनध्वनिम् । तदध्वनिर्व्याप' निर्जित्य निर्मिच्छ हृदयं द्विषाम् ॥९४॥  
 तद्रचाकर्णनाद् धूर्णितार्णवप्रतिमे' बले । 'अतिवेलोत्सवोऽन्नासीदुत्सवो विजये' यथा ॥९५॥  
 तदोद्भिन्नकटपान्तप्रक्षरनुसदपायिनः । स्वमदेनेव मातङ्गाः प्रोत्तुङ्गाः प्रोम्मदिष्णवः ॥९६॥  
 सुस्वमन्तः खनन्तः खं बाजिनो वायुरंहसः' । कृतोत्साहा' रणोत्साहाद् रेजुस्तेजस्विता हि सा ॥९७॥

और आगमको झूठा मत कीजिए । भावार्थ-लड़कर असमयमें ही प्रलय काल न ला दीजिए । दूतने इस प्रकार बहुत-से साम, दान आदिके वचन कहे परन्तु तो भी उसे अशान्त जानकर वह लौट आया और शीघ्र ही ज्योके ल्यो सब समाचार अकम्पनसे कह दिये ॥ ८८-८९ ॥ उन समाचारोको सुनकर काशीराज अकम्पनका चित्त विषादसे विचलित हो उठा और वे स्वयं महा-मोहसे मूर्च्छित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि बुरे कामोंमें कौन मूर्च्छित नहीं होता ॥९०॥ जयकुमारने अकम्पनको चिन्तित देखकर कहा कि इस विषयमें हम लोगोको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि न्यायका उल्लंघन उसीने किया है, आप सावधान होकर सुलोचना-की रक्षा करते हुए यही रहिए । दुराचारी, स्त्रियोंपर उपद्रव करनेवाले और इसलिए ही साँकलोसे आलिंगन करनेकी इच्छा करनेवाले उस अर्ककोतिको बन्दरके समान बाँधकर मे अभी लाता हूँ ॥९१-९२॥ इस प्रकार कहकर जयकुमारने क्रोधमे आकर, युद्धमें आगे जानेवाले पुरुषके द्वारा मेघकुमारोको जीतनेसे प्राप्त हुई मेघघोषा नामकी मेरी बजवायी ॥९३॥ प्रलयकालके प्रारम्भमे प्रकट होनेवाले द्रोण आदि मेघोकी घोर गर्जनाको जीतकर तथा शत्रुओं-का हृदय विदारण कर वह मेरीकी आवाज सब ओर फैल गयी ॥ ९४ ॥ जिस प्रकार शत्रुके विजय करनेपर उत्सव होता है उसी प्रकार उस मेरोका शब्द सुनकर लहराते हुए समुद्रके समान चंचल जयकुमारकी सेनामें माला डालनेके उत्सवसे भी कहीं अधिक उत्सव होने लगा ॥९५॥ उस समय फटे हुए गण्डस्थलके समीपसे झरते हुए मदका पान करनेवाले और अपने उसी मदसे ही मानो उन्मत्त हुए ऊँचे-ऊँचे हाथी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे । तथा इसी प्रकार अच्छी तरह हीसते हुए, पैरोंसे आकाशको खोदते हुए और वायुके समान वेगवाले उत्साही घोड़े भी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उनका तेजस्वीपना

१ सोक्तै' ट० । वचनसहित । २ शीघ्र' आपितवान् । ३ अकम्पन' । ४ महामूर्च्छागृहीत इव । ५ अत्र कार्यं । ६ अर्ककीतिनेव । ७ निवसत । ८ राजभवन । ९ सावधानाः भूत्वा । १० दाराततायिनम् ट० । चारेपु कृतागमनम् । स्त्रीनिमित्तभागवतमर्ककीतिमित्यर्थ । दाराततायिनमिति पाठे दारार्थं वक्ष्यते । 'आत-तामी वधोद्यतः' इत्यभिधानात् । ११ अश्रयायिना पुरुषेण । १२ आस्फालन कारयति स्म । प्रण्डेना-स्फालयद् ल०, अ०, प०, इ०, स० । १३ द्रोणादि द्रोणकालपुष्करादि । प्रक्षारारम्भ प्रलयकालारम्भ । द्रोणादयश्च ते प्रक्षारारम्भघनाघनास्तेषां ध्वनिम् । १४ व्याप्नोति स्म । १५ समाने । "प्रतिमानं प्रतिविम्बं प्रतिमा प्रतिमाना प्रतिच्छाया । प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमान स्यात् ।" १६ अधिकोत्सवः । 'अतिवेलभृशस्वार्थसिमात्रं गाढनिर्भरम्' इत्यभिधानात् । अतिमालोत्सवो ल०, अ०, प०, इ० । १७ दिविजये । १८ पवनवेगा । १९ कृतोद्योगाः ।

रथाः प्रागिव<sup>१</sup> पर्यासाः<sup>२</sup> पूर्णसर्वयुधायुधः<sup>३</sup> । महाबाहसमायुक्ताः<sup>४</sup> प्रवृत्त्यन्तेतुवाहवः<sup>५</sup> ॥९८॥  
 योवितोऽप्यभयान्तं<sup>६</sup> पाट्यात् सयुगं प्रति<sup>७</sup> । ततः<sup>८</sup> प्रतिवलात्तत्र भूयान्सौ वा<sup>९</sup> पदायतः ॥९९॥  
 वदमानो ध्वनिस्तस्य<sup>१०</sup> रणरङ्गे भविष्यतः । वीरलक्ष्मीप्रवृत्तस्य प्रोद्ययौ गुणयशिव<sup>११</sup> ॥१००॥  
 वनान्नयं त्रयदिशक्षालक्षणेवैश्वर्यं विग्रहम्<sup>१२</sup> । सुवर्माणं सुवर्माणं<sup>१३</sup> कामवन्तं<sup>१४</sup> क्षरन्मदम् ॥१०१॥  
 सामजं विजयः<sup>१५</sup> द्वितीयं विजयाद्दमिवापरम् । बहुको दृष्टमंग्रामं<sup>१६</sup> गजध्वजविराजितम् ॥१०२॥  
 अविष्टाय<sup>१७</sup> जयः सर्वसाधनेन सहानुजः । निर्जंगाम युगप्रान्तकाललीलां विलङ्घयन् ॥१०३॥  
 कुर्वन्ती शान्तिपूजां त्वं तिष्ठ मात्रेति<sup>१८</sup> सादरम् । प्रवेक्ष्य चैवधामायथ<sup>१९</sup> सुतां नित्यमनोहरम् ॥१०४॥  
 समग्रवलसंपत्त्या चचाल चलयन्निजाम्<sup>२०</sup> । अकम्पः कम्पितारातिः<sup>२१</sup> साकम्पनिकम्पनः ॥१०५॥  
 सुकेतुः सूर्यमित्राख्यः श्रीधरो जयवर्मणा । देवकीर्तिर्जयं जग्युरिति भूपाः सप्तावनाः ॥१०६॥  
 इमे मुकुटबद्धे पञ्च विल्यातकीर्तयः । परे च क्षुरा नाथेन्दुवंशगृह्याः<sup>२२</sup> समाययुः ॥१०७॥  
 मधप्रभश्च चण्डासिप्रभाभ्यासवियत्तलः । विद्याबलोद्धतः सार्द्धमर्द्धविद्याधरैरगात् ॥१०८॥

वही था ॥९६-९७॥ जो सब प्रकारके शस्त्रोंसे पूर्ण है, जिनमे बड़े-बड़े घोड़े जुते हुए हैं, और जिनकी ध्वजारूपी भुजाएँ नृत्य कर रही हैं ऐसे युद्धके रथ पहलेके समान ही सब ओर फैल रहे थे ॥९८॥ जयकुमारकी सेनामे युद्धमे चतुर होनेके कारण स्त्रियाँ भी योद्धाओंके समान भावण करती थी इसलिए अन्य राजाओंकी अपेक्षा उसकी पैदल सेनाकी संख्या अधिक थी ॥९९॥ उस समय जो बाजोका शब्द बड़ रहा था वड़ ऐसा जान पड़ता था मानो रणके मैदानमे जो वीरलक्ष्मीका उत्तम नृत्य होनेवाला है उसे कई गुना करता हुआ ही बड़ रहा हो ॥१००॥

तदनन्तर—जो वनमे उत्पन्न हुआ है, वय, विशा और अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे जिसका शरीर देखने योग्य है, जिसका स्वभाव अच्छा है, शरीर अच्छा है, जो कामवान् है, जिसके मद सर रहा है, जिसने अनेक बार युद्ध देखे हैं, जो हाथीके चिह्नवाली ध्वजाओंसे सुगोमित है और दूसरे विजयार्थ पर्वतके समान जान पड़ता है ऐसे विजयार्थ नामके हाथीपर सवार होकर वह जयकुमार सब सेना और सब छोटे भाइयोंके साथ-साथ युगके अन्त कालकी लीलाको चल्लघन करता हुआ निकला ॥१०१-१०३॥ इधर शत्रुओंको कम्पित करनेवाले और स्वयं अकम्प ( निश्चल ) रहनेवाले महाराज अकम्पनमे भी 'तू अपनी माताके साथ आदरपूर्वक शान्ति-पूजा करती हुई बैठ' इस प्रकार कहकर पुत्री सुलोचनाको नित्यमनोहर नामके उत्तम चैत्यालयमे पहुँचाया और स्वयं अपने-पुत्रोंको साथ लेकर समस्त सेनारूपी सम्पत्तिके द्वारा पृथिवीको कैपाते हुए निकले ॥१०४-१०५॥ सुकेतु, सूर्यमित्र, श्रीधर, जयवर्मा और देवकीर्ति ये सब राजा अपनी-अपनी सेनाओंके साथ जयकुमारसे जा मिले ॥१०६॥ मुकुटबद्ध राजाओंमें जिनकी कीर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे ऊपर कहे हुए सुकेतु आदि पाँच राजा तथा नाथवंग और सोमवशके आश्रित रहनेवाले अन्य गूरवीर लोग, सभी जयकुमारसे आ मिले ॥१०७॥ जिसने अपनी तीक्ष्ण तलवारकी प्रभासे आकाशतलको व्याप्त कर लिया है और जो विद्याके बलसे

१ दिविजये यथा । २ समन्तात् प्राप्ताः । पर्वस्ता ल० । ३ रणस्थ । पूर्णसर्वयुधायुध इति समस्तपदपक्षे पूर्णसर्वयुधानि च भटाश्च येपु ते । ४ भटा इवाचरिता । ५ युद्धं प्रति । ६ तत्र कारणात् । ७ प्रतिवले विलोक्यमाने सतीत्यर्थ । ८ जयकुमारवले । ९ इव । १० अतिशयं कुर्वन्निव । ११ दत्तंनोयमृतिम् । १२ सुवर्माणं सुवर्माणं अ०, प०, स०, इ० । सुवर्माणं सुवर्माणं ल० । १३ शोभनस्वभावम् । १४ आरोह-कस्य वशवतिगमवन्तम् । १५ गजरूपध्वज । १६ आरुह्य । १७ जनन्या सह । १८ श्रेष्ठम् । १९ भूमिम् । २० अकम्पनस्यापत्तानि अकम्पनयस्ते सहित । २१ नाथवंशसोमवशश्रिताः ।

वलं विभज्य भूभागो विशाले सकलं समं । प्रकृत्य<sup>१</sup> मकरव्यूहं<sup>२</sup> विरोधिवलघस्मरः<sup>३</sup> ॥१०६॥  
 उच्चैरुजिततृणैर्धनिर्यन्त्रिषोपभीषणः<sup>४</sup> । जितमेघस्वरो गर्जनं रजे मेघस्वरस्तदा ॥११०॥  
 चक्रव्यूहं<sup>५</sup> विभक्तात्मभूरिषाधनमध्यगः । अर्ककीर्तिश्च भाति स्म परिवेषाहिं<sup>६</sup> तार्कवत् ॥१११॥  
 क्रुद्धाः खे खेचराधोशाः सुनिमिप्रमुलाः पृथक् । गरुडव्यूहमापाथ तस्थुश्चक्रिसुताज्ञया ॥११२॥  
 अष्टचन्द्राः खगाः ख्याताश्चक्रिणः परितः सुतम् । शरीररक्षकत्वेन मेखुर्विद्यामदोद्धताः ॥११३॥  
 अकालप्रलयाः रम्भजम्भिताम्भोदगर्जितम् । निर्जित्य तूर्णं तूयाणि दध्नुः सेनयोः समम् ॥११४॥  
 धानुष्कैर्मार्गैर्णैर्मार्गैः समरस्य पुरस्सरैः । प्रवर्तयितुमारंभे घोरघोषैः सवलितम् ॥११५॥  
 सग्रामनाटकारम्भसूत्रधारः धनुर्धराः । रणरङ्गं विशन्ति स्म गर्जन्तूर्यपुरस्सरम् ॥११६॥  
 आबध्य स्थानकं<sup>७</sup> पूर्वं रणरङ्गे धनुर्धरैः । पुष्पाक्षलिखितव्यस्यो<sup>८</sup> युक्तः शितशरोत्करः ॥११७॥  
 तीक्ष्णा मर्यादयिभिन्नन्तः पूर्वं कलहकारिणः । पद्माक्षवेदिनः<sup>९</sup> शब्दत् खलकद्वयं<sup>१०</sup> धनुर्धृतः ॥११८॥

उद्धत हो रहा है ऐसा मेघप्रभ नामका विद्याधर भी अपने आधे विद्याधरोके साथ निकला ॥१०८॥ जो शत्रुओंकी सेनाको नष्ट करनेवाला है, बड़े-बड़े बाजोके समूहसे निकलती हुई आवाजके समान भयंकर है और जिसने अपनी आवाजसे मेघोकी गर्जनाको भी जीत लिया है ऐसा जयकुमार उस समय विशाल और सम ( ऊँची-नीची रहित ) पृथ्वीपर अपनी समस्त सेनाका विभाग कर तथा मकरव्यूहकी रचना कर गर्जता हुआ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥१०६-११०॥ उधर चक्रव्यूहकी रचना कर अपनी बहुत भारी सेनाके बीच खड़ा हुआ अर्ककीर्ति भी परिवेषसे युक्त सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १११ ॥ क्रोधित हुए सुनिम आदि विद्याधरोके अधिपति भी गरुडव्यूहकी रचना कर चक्रवर्तीके पुत्र-अर्ककीर्तिकी आज्ञासे आकाशमें अलग ही खड़े थे ॥११२॥ विद्याके मदसे उद्धत हुए आठ चन्द्र नामके प्रसिद्ध विद्याधर शरीररक्षकके रूपमें चारो ओरसे अर्ककीर्तिकी सेवा कर रहे थे ॥ ११३ ॥ उन दोनों सेनाओंमें असामयिक प्रलयकालके प्रारम्भमें बढ़ती हुई मेघोकी गर्जनाको जीतकर शीघ्र-शीघ्र एक साथ बहुत-से बाजे बज रहे थे ॥११४॥ युद्धके आगे-आगे जानेवाले और भयंकर गर्जना करनेवाले धनुर्धारी योद्धाओंने बाणो-द्वारा अपना मार्ग बनाना प्रारम्भ किया था । भावार्थ-धनुष चलानेवाले योद्धा बाण चलाकर भीड़को तितर-बितर कर अपना मार्ग बना रहे थे ॥११५॥ जो संग्रामरूपी नाटकके प्रारम्भमें सूत्रधारके समान जान पड़ते थे ऐसे धनुष-को धारण करनेवाले वीर पुरुष गर्जते हुए बाजोको आगे कर युद्धरूपी रंगभूमिमें प्रवेश कर रहे थे ॥११६॥ धनुष धारण करनेवाले पुरुषोंने रणरूपी रंगभूमिमें सबसे पहले अपना स्थान जमाकर जो तीक्ष्ण बाणोका समूह छोड़ा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो उन्होंने पुष्पाजलि ही बिलेरी हो ॥११७॥ वे धनुषपर चढ़ाये हुए बाण सदा दुष्टोके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर स्वभाववाले होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी तीक्ष्ण अर्थात् पैने थे, जिस प्रकार दुष्ट मर्मभेदन करते हैं उसी प्रकार बाण भी मर्मभेदन करते थे, जिस प्रकार दुष्ट कलह करनेवाले होते हैं उसी प्रकार बाण भी कलह करनेवाले थे और जिस प्रकार दुष्ट पहले मधुर वचन कहकर फिर भीतर घुस जाते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मनोहर शब्द

१ कृत्वा । २ मकरसमूहरचनाविशेषम् । ३ विनाशक इत्यर्थः । ४ निर्घोषभीषण यथा भवति तथा । ५ विभ-  
 क्तात्म-पं, लं । ६ प्राप्त । ७ अष्टचन्द्राख्या । ८ बाणः । ९ क्रियाविशेषणम् । उत्प्लवनसहितं यथा ।  
 १० आलं, द्रप्रत्याली, द्वादि । ११ क्षिप्तः । १२ निघात । १३ शरीरं प्रवेदिनः । १४ बाणः ।

उभयोः<sup>१</sup> पादयोर्वैष्वा वाणधी<sup>२</sup> कृतवह्मताः । धन्विनः खेचराकारा<sup>३</sup> रेजुराजौ<sup>४</sup> जितश्रमाः ॥११६॥  
 क्रजुत्वाद् दूरदर्शित्वात् सद्यः कार्यप्रसाधनात् । शास्त्रमार्गांनुसारित्वात्<sup>५</sup> शाराः<sup>६</sup> सुसन्निवैः<sup>७</sup> समाः<sup>८</sup> ॥११७॥  
 क्रव्यासपायिनः<sup>९</sup> पत्रवाहिनी<sup>१०</sup> दूरपातिनः । लक्ष्येषूपक्रीय तीक्ष्णास्थाः खगाः<sup>११</sup> येतुः खगोपमाः ॥११८॥  
 धर्मेण<sup>१२</sup> गुणयुक्तेन<sup>१३</sup> प्रेरिता हृदयं गता । श्रान्<sup>१४</sup> शुद्धिरिवानैषीद्<sup>१५</sup> गतिं तन्निपस्मरा<sup>१६</sup> ॥११९॥  
 पुंसां सत्सर्गमात्रेण हृद्गता रक्तवाहिनी<sup>१७</sup> । क्षिप्रं न्यमीलयन्नेत्रे वेद्येव विगिन्वावली<sup>१८</sup> ॥१२०॥  
 त्यक्त्वा<sup>१९</sup> खेचरासातिवृष्टौ<sup>२०</sup> गृध्रधूलमस्ततौ<sup>२१</sup> । पतोऽन्विष्य शरावस्थां जायेव वशीकृतः ॥१२१॥

करते हुए पीछेसे भीतर घुस जाते थे ॥११८॥ जो दोनों बगलोमें तरकस बांधकर उछल-कूद कर रहे हैं तथा जिन्होंने परिश्रमको जीत लिया है ऐसे धनुषधारी लोग उस युद्धमें पक्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥११९॥ और बाण अच्छे मन्त्रियोंके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार अच्छे मन्त्री ऋजु अर्थात् सरल ( मायाचाररहित ) होते हैं उसी प्रकार बाण भी सरल अर्थात् सीधे थे, जिस प्रकार अच्छे मन्त्री दूरदर्शी होते हैं अर्थात् दूरतककी बातको सोचते हैं उसी प्रकार बाण भी दूरदर्शी थे अर्थात् दूर तक जाकर लक्ष्यभेदन करते थे, जिस प्रकार अच्छे मन्त्री शीघ्र ही कार्य सिद्ध करनेवाले होते हैं उसी प्रकार बाण भी शीघ्र करनेवाले थे अर्थात् जल्दीसे शत्रुको मारनेवाले थे और जिस प्रकार अच्छे मन्त्री शास्त्रमार्ग अर्थात् नीतिशास्त्रके अनुसार चलते हैं उसी प्रकार बाण भी शास्त्रमार्ग अर्थात् धनुषशास्त्रके अनुसार चलते थे । ॥१२०॥ मांस और खूनको पीनेवाले, पंख धारण करनेवाले, दूर तक जाकर पड़नेवाले और पंखे मुखवाले वे बाण पक्षियोंके समान उड़कर अपने निशानोपर जाकर पड़ते थे । भावार्थ—वे बाण पक्षियोंके समान मालूम होते थे, क्योंकि जिस प्रकार पक्षी मांस और खून पीते हैं उसी प्रकार बाण भी शत्रुआंको मांस और खून पीते थे, जिस प्रकार पक्षियोंके पंख लगे होते हैं उसी प्रकार बाणोंके भी पंख लगे थे, जिस प्रकार पक्षी दूर जाकर पड़ते हैं उसी प्रकार बाण भी दूर जाकर पड़ते थे और जिस प्रकार पक्षियोंका मुख तीक्ष्ण होता है उसी प्रकार बाणोंका मुख ( अग्रभाग ) भी तीक्ष्ण था । इस प्रकार पक्षियोंकी समानता धारण करनेवाले बाण उड़-उड़कर अपने निशानोपर पड़ रहे थे ॥१२१॥ जिस प्रकार गुणयुक्त धर्मके द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें प्राप्त हुई विशुद्धि पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करा देती है उसी प्रकार गुणयुक्त ( डोरी सहित ) धर्म ( धनुष ) के द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें चुमी हुई बाणोंकी पवित गूरवीर पुरुषोंको परलोक पहुँचा रही थी ॥१२२॥ जिस प्रकार हृदयमें प्राप्त हुई और श्लक्ष्णवाहिनी अर्थात् अनुराग धारण करनेवाली अथवा रागी पुरुषोंको वश करनेवाली वेश्या स्पर्शमात्रसे ही पुरुषोंके नेत्र बन्द कर देती है उसी प्रकार हृदयमें लगी हुई और रक्तवाहिनी अर्थात् शिखरको वहानेवाली बाणोंकी पवित स्पर्शमात्रसे शीघ्र ही पुरुषोंके नेत्र बन्द कर देती थी — उन्हें मार डालती थी ॥१२३॥ जिस प्रकार बहुत वर्षा होने और अन्धकारका समूह छा जानेपर

१ निजशरीरपादयोः । २ इषुकी द्वौ । ३ पक्षे सद्वाः । ४ युद्धे । ५ चापशास्त्रोक्तक्रमेण । प्रयोक्तृमार्ग-  
 शरणत्वात् । ६ वाणा । ७ मन्त्रिणि । ८ क्रव्यासूकपायिनः ट० । आममांसरक्तभोजिन । ९ पत्रवैहन्ति  
 गच्छन्तीति पत्रवाहिनः । १० वाणा । 'शार्कविहगा खगा' । ११ पक्षिसद्वाः । १२ धनुषा । १३ व्यास-  
 हितेन । अतिशययुक्तेन च । १४ विशुद्धिपरिणाम इव । १५ आनयति स्म । १६ शरस्तन्ति । १७ रक्तं  
 प्रापयन्ती । आत्मयुक्तं प्रापयन्ती च । १८ इतोऽग्रे पुन 'आत' नगरात् समायातद्विष्यपुस्तकात् दिग्ग-  
 समुद्रार क्रियते । १९ उपरिस्थितखेचरशिखरवर्षे । २० दाक्षायितमसमूहे । 'आतापित्विल्लो दाक्षानृद्वद्भो'  
 श्लयभिधानात् । \*भावे वतः ।



प्रगुणो मुष्टिं संवाह्या दूरं दृष्टवन्नुवर्तिनः<sup>३</sup> । गन्धेष्टं साधयन्ति स्म सद्भृत्या इव सायकाः ॥१२५॥  
 प्रयोज्याभिमुखं तीक्ष्णान् वाणान् परशरान्नति । तत्रैव पातयन्ति स्म घातुकाः सा हि धीर्धियाम्<sup>४</sup> ॥  
 जाताश्चापघृताः<sup>५</sup> केचिदन्वोन्यशरखण्डने । ज्वाघृताः श्लाघिताः पूर्व रणे किञ्चित्करोपसाः<sup>६</sup> ॥१२७॥  
 हस्त्यश्वरथपत्न्यौवमुद्भिद्यास्पष्टलक्ष्यवत्<sup>७</sup> । शराः पेतुः स्व रूपात्तमेवास्ता दृढमुष्टिभिः ॥१२८॥  
 पूर्व विहितसन्धानाः<sup>८</sup> स्थित्वा किञ्चिच्छरासने<sup>९</sup> । यानमध्यास्थ<sup>१०</sup> मध्यस्था<sup>११</sup> द्वैधीभावमुपागता ॥  
 विग्रहे<sup>१२</sup> हतशक्तित्वाद्यगत्या शत्रुमंश्रयाः । वाणा गुणितपाङ्गुण्या इव सिद्धिं प्रपदिरे ॥१३०॥

व्यभिचारिणी स्त्री अपना पति छोड़ किसी परपुरुषको खोजकर वश कर लेती है उसी प्रकार विद्याधारको खूनको बहुत वर्षा होने और गृद्ध पक्षीरूपी अन्धकारका समूह फैल जानेपर वाणों-की पक्षि अपने स्वामीको छोड़ खोज-खोजकर शत्रुओंको वश कर रही थी ॥१२४॥ अथवा वे वाण अच्छे नौकरोके समान दूर-दूरतक जाकर इष्ट कार्योको सिद्ध करते थे क्योंकि जिस प्रकार अच्छे नौकर प्रगुण अर्थात् श्रेष्ठ गुणोके धारक अथवा सीधे होते हैं उसी प्रकार वाण भी प्रगुण अर्थात् सीधे अथवा श्रेष्ठ डोरीसे सहित थे, अच्छे नौकर जिस प्रकार मुष्टियोसे दिये हुए अन्नपर निर्वाह करते हैं उसी प्रकार वे वाण भी मुष्टियो-द्वारा चलाये जाते थे और अच्छे नौकर-जिस प्रकार मालिककी दृष्टिके अनुसार चलते हैं उसी प्रकार वे वाण भी मालिककी दृष्टिके अनुसार चल रहे थे ॥१२५॥ धनुषको धारण करनेवाले योद्धा जहाँ-जहाँ शत्रुओंके वाण थे वही-वही देखकर अपने पने वाण फेंक रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंकी वैसी ही बुद्धि होती है ॥१२६॥ जो वाण एक दूसरेके वाणोको तोड़नेके लिए चलाये गये थे, धारण किये गये थे अथवा उस व्यापारमे लगाये गये थे वे युद्धमे नौकरोके समान सबसे पहले प्रशंसाको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ मजबूत मुष्टियोवाले योद्धाओंके द्वारा छोड़े हुए वाण अस्पष्ट लक्ष्यके समान दिखाई नहीं पड़ते थे और हाथी, घोड़े, रथ तथा पियादोके समूहको भेदन कर अपने पड़नेसे स्थानपर ही जाकर पड़ते थे ॥१२८॥ जिस प्रकार सन्धि विग्रह आदि छह गुणोको धारण करनेवाले राजा सिद्धिको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वे वाण भी सन्धि आदि छह गुणो-को धारण कर सिद्धिको प्राप्त हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार राजा पहले सन्धि करते हैं उसी प्रकार वे वाण भी पहले डोरीके साथ सन्धि अर्थात् मेल करते थे, जिस प्रकार राजा लोग अपनी परिस्थिति देखकर कुछ समय तक ठहरे रहते हैं उसी प्रकार वे वाण भी धनुषपर कुछ देर तक ठहरे रहते थे, जिस प्रकार राजा लोग युद्धके लिए अपने स्थानसे चल पड़ते हैं उसी प्रकार वे वाण भी शत्रुको मारनेके लिए धनुषसे चल पड़ते थे, जिस प्रकार राजा लोग मध्यस्थ बनकर द्वैधीभावको प्राप्त होते हैं अर्थात् भेदनीति-द्वारा शत्रुके सगठनको छिन्नभिन्न कर डालते हैं उसी प्रकार वे वाण भी मध्यस्थ ( शत्रुके शरीरके मध्यमे स्थित ) हो द्वैधीभावको प्राप्त होते थे अर्थात् शत्रुके टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे और अन्तमें राजा लोग जिस प्रकार युद्ध करनेकी

१ अवक्रा । २ मुष्टिना संवाह्यान्ते गम्यन्ते मुष्टिसवाह्याः । आशावशवर्तिनश्च । ३ नयनैरनुवर्तमाना आलोकन-  
 मात्रेण प्रभोरभिप्रायं ज्ञात्वा कार्यकराश्च । ४ यत्र शत्रुशरा स्थितास्तत्रैव । ५ सैव परशरखण्डनरूपाः ।  
 ६ बुद्धीना मध्ये । धीर्धियाम् ल० । ७ वाणाः । ८ किङ्करसमाना । ९ अस्पष्टलक्ष्यवत् । १० स्वयोग्यपतन-  
 स्थानं गत्वैवेत्यर्थः । ११ क्षिप्ता । १२ कृतसंयोजनाः कृतसन्धयश्च । १३ चापे क्षेत्रे च । १४ गमनमध्यास्थ ।  
 १५ मध्यस्थाः सन्त । १६ द्विषाखण्डनत्वम्, पक्षे सभयत्राश्रयत्वम् । १७ विक्रमभावे । अथवा शरीरे ।  
 १८ अस्पष्टः ।

धारा वीररसस्येव रेजे रक्तस्य कस्यचित् । पतन्ती सततं चैर्यादावन्त्याश्रिताश्रुगम् ॥१३१॥  
 'सायकोद्भिन्नमालोक्य कान्तस्य हृदयं प्रिया । परासुरासीच्चित्तेऽस्य वदन्तीवात्मनः स्थितिम् ॥१३२॥  
 छिन्नदण्डैः फले कश्चित् सर्वाङ्गीणैर्मटाग्रणीः । कीलितासुराक्रमस्तथैव युयुचे चिरम् ॥१३३॥  
 विलोक्य विलयज्वालिं त्वालालोलशिखोपमैः । शिलीमुखैर्वलं छिन्नं स्वं विपन्नचतुर्धरैः ॥१३४॥  
 गृहीत्वा वज्रकाण्डाख्यं सजीकृत्य गरासनम् । स्वयं योद्धुं समारब्धं सक्रोधः सानुजो जयः ॥१३५॥  
 'कर्णाभ्यर्णोद्धृतास्तस्य गुणयुक्ताः सुयोजिताः । पत्रैर्लघुसमुत्थानाः कालक्षेपाविधायिनः ॥१३६॥  
 मार्गे प्रगुणसञ्चाराः प्रविश्य हृदयं द्विषाम् । कृच्छ्रार्थं साधयन्ति स्म 'निस्स्पृष्टार्थसमाः गराः ॥१३७॥  
 पत्रवन्तः प्रतापोप्राः समग्रा चिग्रहे द्रुताः । अज्ञातपातिनश्चक्रुः कृत्युद्धं गिलांमुखाः ॥१३८॥

सामर्थ्यसे रहित शत्रुको वश कर लेते हैं उसी प्रकार वे बाण भी शत्रुको वश कर लेते थे॥१२९-१३०॥ निकाले हुए बाणके पीछे बहुत शीघ्र धीरतासे निरन्तर पड़ती हुई किसी पुरुषके सधिरकी धारा वीररसकी धाराके समान सुशोभित हो रही थी ॥१३१॥ कोई स्त्री अपने पतिका हृदय बाणसे विदीर्ण हुआ देखकर प्राणरहित हो गयी थी मानो वह कह रही थी कि मेरा निवास इसीके हृदयमे है ॥१३२॥ जिनके दण्ड टूट गये हैं और जो सब शरीरमे घुस गये हैं ऐसे बाणोकी नोकसे जिसके प्राण मानो कीलित कर दिये गये हैं ऐसा कोई योद्धा पहलेकी तरह ही निश्चल हो बहुत देर तक लड़ता रहा था ॥१३३॥ शत्रुओके धनुषधारी योद्धाओने प्रलयकालकी जलती हुई अग्निकी चंचल गिलाओके समान तेजस्वी बाणोके द्वारा मेरी सेनाको छिन्नभिन्न कर दिया है यह देख जयकुमारने अपने छोटे भाइयो सहित क्रोधित हो वज्रकाण्ड नामका धनुष लिया और उसे सजाकर स्वयं युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥१३४-१३५॥ उस समय जयकुमारके बाण † निःसृष्टार्थ ( उत्तम ) द्रुतके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार उत्तम द्रुत स्वामीके कानके पास रहते हैं अर्थात् कानसे लगकर बातचीत करते हैं उसी प्रकार बाण भी जयकुमारके कानके पास रहते थे अर्थात् कान तक खींचकर छोड़े जाते थे, जिस प्रकार उत्तम द्रुत गुण अर्थात् रहस्य रक्षा आदिसे युक्त होते हैं उसी प्रकार बाण भी गुण अर्थात् डोरीसे युक्त थे, जिस प्रकार उत्तम द्रुतकी योजना अच्छी तरह की जाती है उसी प्रकार बाणोकी योजना भी अच्छी तरह की गयी थी, जिस प्रकार उत्तम द्रुत पत्र लेकर जल्दी उठ खड़े होते हैं उसी प्रकार बाण भी अपने पंखोंसे जल्दी-जल्दी उठ रहे थे-जा रहे थे, जिस प्रकार उत्तम द्रुत व्यर्थ समय नहीं खोते हैं उसी प्रकार बाण भी व्यर्थ समय नहीं खोते थे, जिस प्रकार उत्तम द्रुत मार्गमे सीधे जाते हैं उसी प्रकार बाण भी मार्गमे सीधे जा रहे थे और जिस प्रकार उत्तम द्रुत शत्रुओके हृदयमें प्रवेश कर कठिनसे कठिन कार्यको सिद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार बाण भी शत्रुओके हृदयमे घुसकर कठिनसे कठिन कार्य सिद्ध कर लेते थे ॥१३६-१३७॥ अथवा ऐसा

१ सायकोद्भिन्न-ल० । २ सर्वाङ्गव्यापिभिः । ३ प्रलयानि । ४ छन्नमित्यपि पाठ । छदितं लपिठं वा ।  
 ५ आरमोयम् । ६ आकर्णमाकृष्टा । कर्णसमीपे कृताश्च । ७ पक्षे सन्देशपत्रं । ८ आनुविधायिन इत्यर्थः ।  
 ९ हृदयम् अभिप्राय च । १० असाधार्यम् । ११ असकृत् सम्पादितप्रयोजनद्रुतमगम् । १२ पट्टमन्तापभी-  
 कराः । भयङ्करा । सराजाओके छह गुण ये हैं—“सन्धिविश्रहयानानि, सस्याप्याननमेव च । ईषोभावञ्च  
 विजये पद्मगुणा नीतिवेदिनाम् ।” † जो दोनोका अभिप्राय लेकर स्वयं उत्तर-प्रत्युत्तर करता हुआ कार्य सिद्ध  
 करता है । उसे निःसृष्टार्थ द्रुत कहते हैं । यह द्रुत उत्तम द्रुत कहलाता है ।

प्रस्फुरन्निः फलोपेतैः सुप्रमाणैः सुकल्पितैः । विरोधोद्भाविना विश्वगोचरैर्विजयावहैः ॥१३९॥

वादिनेव जयेनोच्चैः कीर्तिं क्षिप्रं जिघृक्षुणा । प्रतिपक्षः प्रतिक्षिप्तः शस्त्रैः शास्त्रैर्जिगीपुणा ॥१४०॥

खगाः<sup>१</sup> खगान्प्रति प्रास्ताः<sup>२</sup> प्रोद्भिद्य गगनं गताः । निवर्तन्ते न यत्नैः<sup>३</sup> ते मियेवापतन्मृताः ॥१४१॥

सुतीक्ष्णा वीक्षणाभीलाः<sup>४</sup> प्रज्वलन्तः समन्ततः । मूर्धस्वशनिवत्येतुः खाद् विमुखाः खगैः शराः ॥१४२॥

शरसङ्घातसञ्चलान् गृध्रपक्षान्बकारितान् । अट्टमुदगरापातं<sup>५</sup> नमोना नमसो<sup>६</sup> व्यधुः ॥१४३॥

चण्डैर<sup>७</sup> काण्डमृत्युस्व<sup>८</sup> काण्डैरापाद्यतादिमै<sup>९</sup> । युगेऽस्मिन् किं किमस्तांशुमासिभिर्नाशुमै<sup>१०</sup> भवेत् ॥१४४॥

दूपाताय नो<sup>११</sup> किन्तु दृढपाताय खेचरैः । खगाः कर्णान्तमाकृष्य मुक्ता<sup>१२</sup> हन्युर्द्विपादिकान् ॥१४५॥

अधोमुखाः खगैर्मुक्ता रक्तपानात् पलाशनात्<sup>१३</sup> । पृषत्काः सांहसो<sup>१४</sup> वैयुर्नरकं<sup>१५</sup> वासवनेरधः<sup>१६</sup> ॥१४६॥

जान पड़ता था मानो वे बाण कपट युद्ध कर रहे हो क्योंकि जिस प्रकार कपट युद्ध करनेवाले पत्रवत अर्थात् सवारी सहित और प्रतापसे उग्र होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी पत्रवत अर्थात् पंखों सहित और अधिक सन्तापसे उग्र थे, जिस प्रकार कपटयुद्ध करनेवाले युद्धमें शीघ्र जाते हैं और सबसे आगे रहते हैं उसी प्रकार वे बाण भी युद्धमें शीघ्र जा रहे थे और सबसे आगे थे तथा कपट युद्ध करनेवाले जिस प्रकार बिना जाने सहसा आ पड़ते हैं उसी प्रकार वे बाण भी बिना जाने सहसा आ पड़ते थे ॥१३८॥ जिस प्रकार विजयके द्वारा उत्तम कीर्तिको शीघ्र प्राप्त करनेवाला और जीतनेकी इच्छा रखनेवाला वादी प्रकाशमान, अज्ञाननाशादि फलोंसे युक्त, उत्तम प्रमाणसे सहित, अच्छी तरह रचना किये हुए, ससारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शास्त्रोंसे विरोधी-प्रतिवादीको हराता है उसी प्रकार विजयके द्वारा शीघ्र ही उत्तम कीर्ति सम्पादन करनेवाले, जीतनेकी इच्छा रखनेवाले तथा विरोध प्रकट करनेवाले जयकुमारने देदीप्यमान, नुकीले, प्रमाणसे बने हुए, अच्छी तरह चलाये हुए, ससारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शास्त्रोंसे शत्रुओंकी सेना पीछे हटा दी थी ॥१३९-१४०॥ जयकुमारने विद्याधरोंके प्रति जो बाण चलाये थे वे आकाशको भेदन कर आगे चले गये थे और वहाँसे वे जबतक लौटे भी नहीं थे तबतक वे विद्याधर मानो भयसे ही डरकर गिर पड़े थे ॥१४१॥ जो अत्यन्त तीक्ष्ण है, देखनेमें भयंकर है, और चारों ओरसे जल रहे है ऐसे विद्याधरोंके द्वारा आकाशसे छोड़े हुए बाण योद्धाओंके मस्तकोंपर बज्जके समान पड़ रहे थे ॥१४२॥ जो बाणोंके समूहसे ढक गये हैं, गीधके पंखोंसे अन्वकारमय हो रहे है और जिन्हें मुदगरोंके आघात तक दिखाई नहीं पड़ते है ऐसे योद्धाओंकी विद्याधर लोग आकाशसे घायल कर रहे थे ॥१४३॥ इस युगमें उन तीक्ष्ण बाणोंने सबसे पहले अकालमृत्यु उत्पन्न की थी सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने सूर्यका प्रताप भी कम दिया है ऐसे लोगोंसे क्या-क्या अशुभ काम नहीं होते हैं ? ॥१४४॥ दूर जानेके लिए नहीं किन्तु मजबूतीके साथ पड़नेके लिए विद्याधरोंने जो बाण कान तक खींचकर छोड़े थे उन्होंने बहुतसे हाथी आदिको मार डाला था ॥१४५॥ जिस प्रकार रक्त पीने और मांस खानेसे पापी जीव नीचा मुख कर नरकमें जाते हैं उसी प्रकार विद्याधरों

१ निराकृत । २ बाणाः । ३ विद्याधरान् । ४ मुक्ता । ५ विद्याधराः । ६ दर्शने भयावहाः । ७ मुदगराघातान् ल०, म० । ८ गगनेमाश्रित्य । ९ अकाल । १० बाणैः । ११ उत्पादित । १२ 'अस्त्राक्षुगाक्षिभिः' इति पाठे अस्त्राण्ये-वाक्षुगाक्षिनः पवननामाः तैः सर्परित्यक्त । 'आनुगो वायुविशिखौ' इत्यभिधानात् । १३ न । १४ घ्नन्ति स्म । १५ मासाशनात् । १६ सपापाः । १७ वा इव । ईयुः गच्छन्ति स्म । १८ भूमेरधः स्थितम् ।

भूमिपैरिन्दुरक्षिसाद्विष्टानुत्कृष्य यथयः । ययुर्दूरं दिवं दूतीदेशीया<sup>१</sup> नित्ययापिताम् ॥१४७॥  
 चक्रिणश्चक्रमेकं<sup>२</sup> तत्र ततः कस्यचिच्छतिः । चक्रैश्कालचक्राभैर्वहस्त्वज्जन्तिर<sup>३</sup> ॥१४८॥  
 समवेगेः<sup>४</sup> सम<sup>५</sup> सुक्तेः शरैः<sup>६</sup> खचरभूचरैः । ज्योम्यन्योन्यमुखालनैः स्थितं कतिपयक्षणे<sup>७</sup> ॥१४९॥  
 खभूचशरैश्छन्ने खे परस्पररोषिभिः । अन्योन्यावीक्षणात्तेषामममूदं रणनिषेधनम् ॥१५०॥  
 स्त्राशरैः<sup>८</sup> शस्त्रैर्नभोगानां शरैश्चाबाधितं मृत्रम् । स्वसैन्यं वीक्ष्य खोक्षिसवीक्षणेप्राशुशुक्षणि<sup>९</sup> ॥१५१॥  
 सद्यः संहारसंकुद्धसमवर्तिसमो<sup>१०</sup> जयः । प्रारब्ध<sup>११</sup> योद्धुं वज्रेण वज्रकाण्डेन वज्रिवत् ॥१५२॥  
 निर्जिताशननिर्घोषजयज्याघोषमीलुकाः<sup>१२</sup> । आपसायकचेतांसि प्राक्षिपन्<sup>१३</sup> सह शत्रवः ॥१५३॥  
 आपमाकर्णमाङ्कुर्य ज्यानिवेगितसायकः । लघुसंधानमोक्षः सोऽवेक्ष्य<sup>१४</sup> विध्यन्निव<sup>१५</sup> अणम् ॥१५४॥  
 न मध्ये न शरीरेषु दृष्टास्तद्योजिताः शराः । दृष्टास्ते केवलं भूमौ सन्नगाः पतिताः परे ॥१५५॥  
 निमील्यगदक्षरूपि ज्वलयन्तः गिलीमुखाः । मुखानि ककुमां वज्रुः<sup>१६</sup> खादुल्कालीविभीषणाः<sup>१७</sup> ॥१५६॥

के द्वारा छोड़े हुए बाण शत्रुओंका रक्त पीने और मांस खानेसे पापी हो नीचा मुख कर पृथिवी-  
 के नीचे जा रहे थे-जमीनमें गड़ रहे थे ॥१४६॥ इसी प्रकार भूमिगोचरियों-द्वारा निर्दयताके  
 साथ छोड़े हुए बाण शत्रुओंको भेद कर आकाशमें बहुत दूर तक इस प्रकार जा रहे थे मानो  
 देवानाओंकी दासियाँ ही हो ॥१४७॥ चक्रवर्तीका चक्र तो एक ही होता है उससे किसीकी  
 हानि नहीं होती परन्तु उस युद्धमें अकाल चक्रके समान बहुत-से चक्रोंसे अनेक जीव मारे गये  
 थे ॥१४८॥ विद्याधर और भूमिगोचरियोंके द्वारा एक साथ छोड़े हुए समान वेगवाले बाण  
 आकाशमें एक दूसरेके मुखसे मुख लगाकर कुछ देर तक ठहर गये थे ॥१४९॥ परस्पर एक  
 दूसरेको रोकनेवाले विद्याधर और भूमिगोचरियोंके बाणोंसे आकाश ढक गया था और  
 इसीलिए एक दूसरेके न दिख सकनेके कारण उनका युद्ध बन्द हो गया था ॥१५०॥ अपने  
 और शत्रुओंके शस्त्रों तथा विद्याधरोंके बाणोंसे अपनी सेनाको बहुत कुछ घायल हुआ देखकर  
 नेत्ररूपी भयकर अनिको आकाशकी ओर फेकनेवाला और संहार करनेके लिए कुपित हुए  
 यमराजकी समानता धारण करनेवाला जयकुमार इन्द्रकी तरह वज्रकाण्ड नामके व्रणुपसे  
 युद्ध करनेके लिए तैयार हुआ ॥१५१-१५२॥ वज्रकी गर्जनाको जीतनेवाले जयकुमारके  
 व्रणुषकी डोरीके शब्द मात्रसे डरे हुए कितने ही शत्रुओंने धनुष, बाण और हृदय-सब फेंक  
 दिये । भावार्थ-भयसे उनके धनुष-बाण गिर गये थे और हृदय विक्षिप्त हो गये थे ॥१५३॥  
 कान तक धनुष खींचकर जिसने डोरीपर बाण रखा है और जो बड़ी शीघ्रतासे बाणोंको रखता  
 तथा छोड़ता है ऐसा जयकुमार क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ता था मानो प्रहार ही नहीं कर  
 रहा हो अर्थात् बाण चला ही नहीं रहा हो ॥१५४॥ जयकुमारके द्वारा चलाये हुए बाण न  
 बीचमें दिखते थे, और न शरीरमें ही दिखाई देते थे, केवल धावसहित जमीनपर पड़े हुए शत्रु  
 ही दिखाई देते थे ॥१५५॥ जो देखनेवालोंके नेत्र बन्द कर रहे हैं, संवको जला रहे हैं और  
 उल्काओंके समूहके समान भयंकर हैं ऐसे जयकुमारके बाणोंने दिशाओंके मुख ढक लिये थे

१ भूमौ स्थित । २ शत्रून् । ३ उद्ग्रिह । ४ बाणाः । ५ दूतीसदृशा । ६ -मेकान्तं न ल० । ७ वक्रात् ।  
 ८ समन्तात् कृतान्तसमूहसमानैः । ९ हताः । १० उभयत्रापि समानवर्त । ११ युगपत् । १२ खेचर-ल०,  
 अ०, प०, स०, इ० । १३ -क्षणात् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १४ परस्परवलोकनाभावात् । १५ आसी-  
 यात् । १६ स्त्राशरैः अ० । १७ अग्निः । १७ संहारार्थं कुपितयमसदृश । १८ उपक्रान्तवान् । १९ मोरवः ।  
 २० स्थितवन्तः । २१ दृष्टः । २२ शरास्त्रमुच्चन्निव । २३ वेद्यन्ति स्म । २४ गगनाग्निरिच्छन्त इत्यर्थः ।  
 २५ उल्कासमूहमीकराः ।

तिर्यग्गोष्फणपाषाणैरदृष्टान्यजिराद् बहिः । पातितान् खचरान्सुः सतनून् स्वर्गान् जडाः ॥१५७॥  
 अरसंस्पर्णं विद्याधन्मुकुटैर्भ्योऽगलन् सुदैः । मणयो गुणगुल्लैर्वा जयस्योपायनीकृताः ॥१५८॥  
 पतन्मृतखगान्नीतिप्रियाभिः स्वाश्रुवारिणा । वारिदानमिवाचर्य कृषामासादितो जयः ॥१५९॥  
 अन्तकः समवर्तीति तद्वा तैव न चेत्तथा । कथं चक्रिसुतस्यैव बले प्रेताधिपौ मवेत् ॥१६०॥  
 वधं विधाय न्यायेन जयेनान्यायवर्तिनाम् । यमस्तीक्ष्णोऽप्यभूद्भर्मस्तत्र दिव्यान्लोपसः ॥१६१॥  
 तावद्धेवितनिर्घोषैर्मिषयन्तो द्विषो हथाः । बलमास्वासयन्तः स्वं स्वीचक्रुश्चाक्रिसुतवः ॥१६२॥  
 प्रासान्प्रस्फुरतस्तीक्ष्णानभीक्ष्णं वाहवाहिनः । आवर्तयन्तः संप्रापन् यमस्येवाग्रगं भटाः ॥१६३॥  
 जयोऽपि स्वयमाख्य जयौ जयतुरङ्गमम् । क्रुद्धः प्रासान् समुदृत्य योद्धुमन्वीयमादिकान् ॥१६४॥  
 अभूत् प्रहृतगम्भीरभम्भा दिध्वनिभीषणः । जलार्णवहचलत्थूलकल्लोल इव वाजिभिः ॥१६५॥

॥१५६॥ तिरछे जानेवाले गोष्फण रूप पत्थरोके द्वारा युद्धके आँगनसे बाहर गिराये हुए विद्याधरोको न देखकर मूर्ख लोग कहने लगे थे कि देखो विद्याधर शरीर सहित ही स्वर्ग चले गये हैं ॥१५७॥ बाणोकी चोटसे छिन्न-भिन्न हुए विद्याधरोके मुकुटोसे जो मणि गिर रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो गुणोंसे बरा होनेवाले देवोंने जयकुमारको भेट ही किये हों ॥१५८॥ गिर-गिरकर मरे हुए विद्याधरोके साथ आयी हुई स्त्रियाँ अपने अश्रुरूपी जलसे जो उन्हें जलाँजलि-सी दे रही थी उसे देखकर जयकुमारको दया आ गयी थी ॥१५९॥ यमराज समवर्ती है अर्थात् सबको समान दृष्टिसे देखता है यह केवल कहावत ही है यदि ऐसा न होता तो वह केवल चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सेनामें ही क्यों प्रेतोंका राजा होता ? अर्थात् उसीकी सेनाको क्यों मारता ? ॥१६०॥ जयकुमारके द्वारा अन्यायमे प्रवृत्ति करनेवाले लोगोंको वध कराकर वह तीक्ष्ण यमराज भी उस युद्धमें दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था । भावार्थ—पूर्वकालमें साक्षी आदिके न मिलनेपर अपराधीकी परीक्षा करनेके लिए उसे अग्निमें प्रविष्ट कराया जाता था, अथवा जलते हुए अंगार उसके हाथपर रखाये जाते थे । अपराधी मनुष्य उस अग्निमें जल जाते थे परन्तु अपराधरहित मनुष्य सीता आदिके समान नहीं जलते थे । उसी आगको दिव्य अग्नि कहते हैं सो जिस प्रकार दिव्य अग्नि दुष्ट होनेपर भी अपराधीको ही जलाती है अपराधरहितको नहीं जलाती उसी प्रकार यमराजने दुष्ट होकर भी अन्यायी मनुष्योंका ही वध कराया न कि न्यायी मनुष्योंका भी, इसलिए वह यमराज दुष्ट होनेपर भी मानो उस समय दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था ॥१६१॥ इतनेमें ही हिनहिनाहटके शब्दोंसे शत्रुओंको डराते हुए और अपनी सेनाको घोरज बँधाते हुए चक्रवर्तीके पुत्र-अर्ककीर्तिके घोड़े सामने आये ॥१६२॥ यमराजके अग्रगामी योद्धाओंके समान, देदीप्यमान और पैने भालोको बार-बार घुमाते हुए घुडसवार भी सामने आये ॥१६३॥ विजय करनेवाले जयकुमारने भी क्रोधित हो, जयतुरगम् नामके घोड़ेपर सवार होकर अपनी घुडसवार सेनाको भाला लेकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी ॥१६४॥ घोड़ोंके द्वारा जिसमें चंचल और बड़ी-बड़ी लहरे-सी उठ रही है ऐसा वह सेनारूपी समुद्र बजते हुए गम्भीर नगाड़े आदिके शब्दों

१ शस्त्रविशेषः । २ रणाङ्गणात् । ३ पतितान् ल०, स०, अ०, म० । ४ स्वर्गं गतान् । ५ भुग्न । ६ गलन्ति स्म । ७ गतप्राणविद्याधरानुगत । ८ जलाञ्जलिम् । ९ विधाय । १० शस्त्रवद्धादिषु हतनक्रियाया समानेन वर्तमानः । ११ यमः । १२ अन्तकः । १३ जये । १४ शपथान्मिसमः । निनाद । १६ चक्रिसूनोः संबन्धिनः । १७ अश्वारोहा । १८ भग्नेत्यनुकरणम् ।

असिसंघट्टनिष्कृतविस्फुलिङ्गो रणेऽनलः । मीषणे शरसंघाते व्यदीपिते धराचिते ॥१६६॥  
 वाजिनः प्राक्कशाघातादधावन्ताभिसायकम्<sup>३</sup> । त्रियन्ते न सहन्ते हि परिभूति सतेजसः ॥१६७॥  
 शिखताः पश्चिमपादान्धां बद्धामर्षाः<sup>४</sup> परस्परम् । पतिं केचिदिवावन्तो<sup>५</sup> युध्यन्ते स्म चिरं हयाः ॥१६८॥  
 समुद्रतार्वं संप्रकृतलसलज्जोलसिपत्रकैः । नमस्तरुमाद् भूयस्तदा पहल्वितो यथा ॥१६९॥  
 पतितान्यसिनिर्घातात् सुदूरं स्वामिनां क्वचित् । अन्यासना<sup>६</sup> शिरांस्युच्चैरन्वेष्टुं वा अमन्ध्याः ॥१७०॥  
 पश्य विश्वज्ञान्मत्वाऽऽवन् कृपया कोऽपि नावधीत्<sup>७</sup> । ते<sup>८</sup> स्वदन्तक्षुरैरेव क्रुद्धाः प्राध्नवः<sup>९</sup> परस्परम् ॥  
<sup>१०</sup> वशमात्रावशिष्टाङ्गैः<sup>११</sup> मण्डलाग्नेश्चिरं कुषा । लोहदण्डैरिवाखण्डैर्धौसा युयुधिरे धुरि ॥१७२॥  
<sup>१२</sup> शिरःग्रहरगेनान्यो<sup>१३</sup> ऽपश्यन्त्रान्यं प्रकुर्वता । सर्वरोगसिराविद्धो<sup>१४</sup> दृष्ट्वा<sup>१५</sup> पञ्चादयुद्धं सः ॥१७३॥  
 हयान् प्रतिष्करोकृत्य<sup>१६</sup> धनुस्तत्कपिशिर्षकम्<sup>१७</sup> । अयुध्यत पुनः सुपुं तदा द्विगुणयुद्धम् ॥१७४॥  
 जयोऽयाद् सानुजस्तावदाविष्कृत्य यमाकृतिः<sup>१८</sup> । कण्ठीरवमिवारुह्य हयमस्युद्यतः<sup>१९</sup> क्रुधा ॥१७५॥  
 बाहयन्तं<sup>२०</sup> तमालोवय कल्यान्तज्ज्वालाम्बिषणम्<sup>२१</sup> । विवेश<sup>२२</sup> चिद्विडम्बाली नेत्रेण स्ववल्गाम्बुधिम्<sup>२३</sup> ॥

से भयकर हो रहा था ॥१६३॥ उस युद्धमें पृथिवीपर जो भयकर बाणोका समूह पड़ा हुआ था उसमें तलवारोकी परस्परकी चोटसे निकले हुए फुल्लिगोसे अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी ॥१६६॥ घोड़े कोडोकी चोटके पहले ही बाणोके सामने दौड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुष मर जाते हैं परन्तु पराभव सहन नहीं करते ॥१६७॥ परस्पर एक दूसरेपर क्रोधित हो पिछले पैरोसे खड़े हुए कितने ही घोड़े चिरकाल तक इस प्रकार युद्ध कर रहे थे मानो अपने स्वामीकी रक्षा ही कर रहे हो ॥१६८॥ उस समय ऊपर उठायी हुई और रुधिरसे रगी हुई तलवाररूपी चंचल पत्तोसे आकाशरूपी वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसपर फिरसे नवीन पत्ते निकल आये हो ॥१६९॥ कहीपर खाली पीठ लिये घोड़े इस प्रकार दौड़ रहे थे मानो तलवारकी चोटसे बहुत दूर पड़े हुए अपने स्वामियोके शिर ही खोज रहे हो ॥१७०॥ घोड़ोको बिना सीगके पशु मानकर दयासे कोई नहीं मारता था परन्तु वे क्रोधित होकर दाँत और लूरोसे एक दूसरेको मारते थे ॥१७१॥ उस युद्धमें कितने ही योद्धा क्रोधित होकर अखण्ड लोहेके ढण्डेके समान जिनमें बाँसमात्र ही शेष रह गया है ऐसी तलवारोसे चिरकाल तक युद्ध करते रहे थे ॥१७२॥ अन्य कोई योद्धा, अन्धा करनेवाली शिरकी चोटसे यद्यपि कुछ देख नहीं सक रहा था तथापि गलेकी पीछेकी नसोसे शिरको जुड़ा हुआ देखकर वह फिर भी युद्ध कर रहा था ॥१७३॥ उस समय कितने ही योद्धा घोड़ोकी सहायता ले कपिशिर्षक नामक धनुषोसे युद्धको द्विगुणित करते हुए अच्छी तरह लड़ रहे थे ॥१७४॥ इतनेमें ही तलवार हाथमें लिये हुए जयकुमार अपने छोटे भाइयोके साथ-साथ यमराज सरीखा आकार प्रकट कर और सिंहके समान घोड़ेपर सवार होकर क्रोधसे आगे बढ़ा ॥१७५॥ कल्यान्त कालकी अग्निके समान भयकर जयकुमारको घोड़ेपर सवार हुआ देखकर शत्रुके घोड़ोकी पंक्ति लहरके समान अपने सेनारूपी समुद्रमें जा घुसी ॥१७६॥ जिनपर पताकाएँ नृत्य कर रही हैं और वेगशाली घोड़े

१ ज्वलति स्म । २ भूमावुपचिते । ३ जायुषस्याभिमुखम् । ४ बद्धकृव । ५ रक्षन्त । ६ युद्धन्ते - ल० ।  
 ७ तावत्स-ल० । ८ स्वामिरहितपृष्ठा । ९ न हन्ति स्म । १० ते च दत्त-ल० । ११ ध्वन्ति स्म । १२ वेणु-  
 मात्रावशिष्टरूपः । १३ कौक्षेयकैः 'कौक्षेयकी मण्डलाग्र' करवाल कृपाणवत् इत्यभिधानात् । १४ मन्तक-  
 धावेन । १५ किंचिदपि नालोकयन् । १६ गलस्य पश्चिमसिरान्ति । १७ गल्पग्विभभाग करस्पृशेनालोवय ।  
 १८ युयुवे । १९ सहायोक्त्य । 'प्रतिष्कश' सहाये स्याद् वार्ताहरपरागयो' इत्यभिधानात् । २० चापविदीप ।  
 २१ चिन्वन इत्यर्थः । २२ यमाकृतिम् ल० । २३ उद्यतासि सन् । २४ अश्वमारोहयन्तम् । २५ प्रलयान्निवद्भय-  
 कम् । २६ शत्रुवाजिसमूह । २७ स्वसैन्यसागरम् ।

चिरात् पर्याय<sup>१</sup> मासाद्य<sup>२</sup> प्रवृत्त्यत्केतवो रथाः । जविभिर्बाजिमिर्व्यूढा प्राधावन् विद्विषः<sup>३</sup> प्रति ॥१७७॥  
 निदेशेषहे<sup>४</sup> तिष्ठणेषु रथेषु रथनायकाः । तुला<sup>५</sup> जगत्सुरास्य पिञ्जरैः<sup>६</sup> कुञ्जरादिभिः ॥१७८॥  
 चक्रसंघट्टसंपिष्टशवासग्मांसकर्मैः । रथकट्याश्चरन्ति स्म तत्राद्यौ मन्दपोतवत्<sup>७</sup> ॥१७९॥  
 कुन्तसिप्रासचक्रादिसंकीर्णं घणितक्रमाः<sup>८</sup> । अक्रामन् कृच्छुकृच्छेण रणे रथतुरङ्गमाः ॥१८०॥  
 तदा संनद्धसंयुक्तसर्वायुधभृता<sup>९</sup> रथम् । संक्रम्य<sup>१०</sup> वृषभै<sup>११</sup> वाऽर्कैः समाकूटपराक्रमाः ॥१८१॥  
 पुरोज्वलत्समुत्सर्पच्छरतीक्ष्णांशुस्ततः । शत्रुसन्तमसं भिन्दन् बालार्कमजयज्जयः ॥१८२॥  
 मण्डलाग्रसमुत्सृष्टदुष्टास्त्रः शस्त्रकर्मवित् । जयो मिषजमन्वैर्यः<sup>१२</sup> शत्रुशल्यं समुद्धरन् ॥१८३॥  
 ध्वजस्योपरि धूमो वा तेनाकृष्टो<sup>१३</sup> उ<sup>१४</sup> सायकः । पपात तापभापाद्य सूचयज्जुमं द्विषाम् ॥१८४॥  
 ध्वजदण्डान् समाखण्ड्य<sup>१५</sup> विद्विषोऽन्धीतपौरुषान् । कुर्वन् सर्वाङ्गं स<sup>१६</sup> निर्वृशान् सोमवंशध्वजायते ॥१८५॥  
 विच्छिन्नकेतवः केचित् क्षणं तस्सुसृता इव । प्राणैर्न प्राणिनः<sup>१७</sup> किन्तु भागप्राणा हि मानिनः ॥१८६॥  
 प्रचलन्तं<sup>१८</sup> जयन्तं ते जयन्तं सोढुमक्षमाः । सह सर्वेऽपि<sup>१९</sup> संपेतु<sup>२०</sup> भ्यग्निं शलभा-यथा<sup>२१</sup> ॥१८७॥

जिनमें जूते हैं ऐसे रथ चिरकालमें अपना नम्बर ( बारी ) पाकर शत्रुओंके प्रति दौड़ने लगे ॥१७७॥ रथोंके स्वामी, सम्पूर्ण शस्त्रोंसे भरे हुए रथोपर सवार हो पिंजरोंमें बन्द हुए सिहोंकी तुलना धारण करते हुए गरज रहे थे ॥१७८॥ उस युद्धमें पहियोंके सघट्टनसे पिसे हुए मुरदोंके खून और मांसकी कीचड़में रथोंके समूह ऐसे चल रहे थे मानो किसी समुद्रमें छोटी-छोटी नावें ही चल रही हों ॥१७९॥ बरछा, तलवार, भाले और चक्र आदिसे भरे हुए युद्धक्षेत्रमें बायल पैरोंवाले रथके घोड़े बड़े कष्टसे चल रहे थे ॥१८०॥ उसी समय तैयार हुए तथा जुड़े हुए सब प्रकारके शस्त्रोंसे व्याप्त रथपर आकूट होनेसे जिसका पराक्रम वृषभ राशिपर आकूट हुए सूर्यके समान बढ़ रहा है, जिसके आगे चलते हुए बाणरूपी तीक्ष्ण किरणोंका समूह प्रकाशमान हो रहा है और जो शत्रुरूपी अन्धकारको भेदन कर रहा है ऐसे उस जयकुमारने उदय होता हुआ बाल-सूर्य भी जीत लिया था ॥१८१-१८२॥ अथवा वह जयकुमार किसी अच्छे वैद्य या डाक्टरका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार वैद्य शस्त्रकी नोकसे बिगड़ा हुआ खून निकाल देता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी तलवारकी नोकसे दुष्ट-शत्रुओंका खून निकाल रहा था, जिस प्रकार वैद्य शस्त्र चलानेकी क्रियाको जानता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी शस्त्र चलानेकी क्रिया जानता था और वैद्य जिस प्रकार शल्यको निकाल देता है उसी प्रकार जयकुमार भी शत्रुरूपी शल्यको निकाल रहा था ॥१८३॥ उसके द्वारा चलाये हुए बाण शत्रुओंको सन्ताप उत्पन्न कर अशुभकी सूचना देते हुए धूमकेतुके समान उनकी ध्वजाओंपर पड़ रहे थे ॥१८४॥ उस समय शत्रुओंकी ध्वजाओंके दण्डोंको खण्ड-खण्ड कर सब शत्रुओंको पीरुषहीन तथा वंशरहित करता हुआ जयकुमार सोमवंशकी ध्वजाके समान आचरण कर रहा था ॥१८५॥ जिनकी पताकाएँ छिन्न-भिन्न हो गयी हैं ऐसे कितने ही शत्रु क्षणभरके लिए मरे हुएके समान खड़े थे सो ठीक ही है क्योंकि प्राणोंसे ही प्राणी नहीं गिने जाते किन्तु अभिमानी मनुष्य अभिमानको ही प्राण समझते हैं ॥१८६॥ अच्छी तरह जलते हुए

१ अवसरम् । 'पर्यायोऽवसरे क्रमे' इत्यभिधानात् । २ प्राप्य । ३ विद्विषं प्रति ल० । ४ आयुष । ५ साम्यम् । ६ गृजन्ति स्म । ७ पञ्जरैः ल० । ८ रणे । ९ मन्दनीरिव । १० क्षतपादा । ११ सज्जीकृत । १२ संग्राह्य । १३ वृषभराशिभिः । १४ करवालेन समुत्सृष्टदुष्टास्त्र । १५ अनुगतवान् । १६ गतो लङि रूपम् । मन्वीय ल० । १७ समुत्सृष्टः । १८ इव । १९ अनुगत । २० जयः । २१ न जीवन्ति । २२ जयतीति जयन् तम् । २३ अभिमुखभागात् । २४ अग्निमभि पतङ्गाः । २५ शलभा इव ल० ।

संनद्धस्यन्दनाश्चण्डास्तदा हेमाङ्गदादयः । कोदण्डास्फालनध्वानिरुद्धहरितः<sup>१</sup> कुधा ॥१८८॥  
 बवर्षुर्वह्निवृष्टिं वा वाणवृष्टिं प्रति द्विषः । यावत्ते<sup>२</sup> लक्ष्यतां<sup>३</sup> नैयुस्तावदाविष्कृतोद्यमाः ॥१८९॥  
 निरुध्वाणन्तसेनादिशरजालं रणाणवे । स्यन्दनाश्चोदयामासुः पोतान्वा चातरंहसः<sup>४</sup> ॥१९०॥  
 बलद्वयास्त्रसंघट्टसमुत्पन्नाशुशुभणिम्<sup>५</sup> । पेतुर्बाहाः<sup>६</sup> पर<sup>७</sup> तेजस्तेजस्वीं सहते कथम् ॥१९१॥  
 अन्योऽन्यं खण्डयन्ति-स्म तेषां शस्त्राणि तद्गणे ।<sup>८</sup> नैकमप्यपरान्प्रापुश्चित्रमस्त्रेण कौशलम् ॥१९२॥  
 न मृता वणिता नैव-न जयो न पराजयः । युद्धमानेज्वहो तेषु नाहवोऽप्याहवायते ॥१९३॥  
 युद्धाऽप्येवं चिरं शोकुर्न जेतुं ते परस्परम् । जयः सेनाद्वये तस्मिन्<sup>९</sup> जयादन्येन दुर्लभः ॥१९४॥  
 अन्तर्हासो जयः सर्वं तत्तदाऽऽलोक्य लीलया । शरैः संच्छादयामास सैन्यं पुनस्त्य चक्रिणः ॥१९५॥  
 निष्पन्नीभूतमालोक्य चक्रिसुनुः स्वसाधनम् । रक्तोत्पलदलच्छायासुच्छिद्य<sup>१०</sup> नयनत्विषा ॥१९६॥  
 जयः परस्य<sup>११</sup> नो मेऽद्य जयो<sup>१२</sup> जयमहं रणे । विध्वस्थ<sup>१३</sup> भुवने शुद्धमकल्पं स्थापयं यशः ॥१९७॥  
 विदप्यामद्य नायेन्दुःप्रसरद्गंशचर्द्वनम् ।<sup>१४</sup> जयलक्ष्मीर्वशीकृत्य विधेयान्मेऽधुना सुखम्<sup>१५</sup> ॥१९८॥

और-सबको-जीतते हुए उस जयकुमारको सहन करनेके लिए असमर्थ होकर वे सब शत्रु उसपर इस प्रकार दृष्ट-पड़े मानो अग्निपर पतंगे ही पड़ रहे हो ॥१८७॥ इतनेमे ही जिनके रथ तैयार हैं, जो बड़े क्रोधी हैं, -जिन्होंने क्रोधसे घनुष खीचकर उनके शब्दोंसे सब दिखाएँ भर दी हैं और शत्रु जबतक अपने लक्ष्य तक पहुँचने भी न पाये थे कि तबतक ही जिन्होंने अपना सब उद्यम प्रकट कर दिखाया है ऐसे हेमांगद आदि राजकुमार शत्रुओपर अग्नि वर्षाके समान बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥१८८-१८९॥ वे अनन्तसेन आदिके बाणोंका समूह रोककर बायुके समान वेगवाले रथोंको रणरूपी समुद्रमे जहाजोंके समान दौड़ाने लगे ॥१९०॥ वे रथोंके घोड़े दोनों सेनाओं सम्बन्धी शस्त्रोंके संघट्टनसे उत्पन्न हुई अग्निपर पड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य दूसरेका तेज कैसे सह सकता है ? ॥१९१॥ उस युद्धमे दोनों सेनाओंके शस्त्र एक दूसरेको खण्ड-खण्ड कर देते थे, एक भी शस्त्र शत्रुओं तक नहीं पहुँचने पाता था सो ठीक ही है क्योंकि उनकी अस्त्रोंके चलानेकी कुशलता आश्चर्य करनेवाली थी ॥१९२॥ आश्चर्य है कि उन योद्धाओंके युद्ध करते हुए न तो कोई मरा था, न किसीको घाव लगा था न किसीकी जीत हुई थी-और न किसीकी हार ही हुई थी, और तो क्या उनका वह युद्ध भी युद्ध-सा नहीं मालूम होता था ॥१९३॥ इस प्रकार बहुत समय तक युद्ध करके भी वे एक दूसरेको जीत नहीं सके थे सो ठीक ही है क्योंकि उन दोनों सेनाओंमे जयकुमारके सिवाय और किसीको विजय प्राप्त होना दुर्लभ था ॥१९४॥ उस समय यह सब देखकर मन ही मन हँसते हुए जयकुमारने चक्रवर्तिका पुत्र-अर्ककीर्तिका सब सेनाको लीलापूर्वक ही बाणोंसे ढक दी ॥१९५॥ अपनी सेनाको चैष्टारहित देखकर चक्रवर्तीका पुत्र-अर्ककीर्ति अपने नेत्रोंकी कान्तिसँ लाल कमलके दलकी कान्तिको जीतता हुआ अर्थात् क्रोधसे लाल-लाल आँखें करता हुआ कहने लगा कि आज शत्रुकी जीत नहीं हो सकती, मेरी ही जीत होगी, मैं युद्धमे जयकुमारको मारकर ससारमें कल्पान्त काल तक टिकनेवाला शुद्ध यश स्थापित करूँगा तथा आज ही बढते हुए नाथ-

१ दिशः- 'दिशस्तु ककुभ कक्षा आशाश्च हरितश्च ताः' । इत्यभिधानात् । २ रथिन । ३ रणाङ्गणे अभिमुख समागत्य मुख्यताम् । ४ न गच्छन्ति स्म । ५ वायुवेगिन । ६ अग्निम् । ७ जग्मु । ८ अश्वः । ९ अन्यत् । १० एकं शस्त्रमपि । ११ जयकुमारात् । १२ अभिशप्येत्यर्थः । १३ न । मे नो जय इति दुर्वनि । १४ जयकुमारम् । १५ विनाश्य । अविनाशयेति दुर्वनि । १६ जयस्य लक्ष्मी इति दुर्वनि । १७ सुखमिति दुर्वनि । 'आ०' प्रती अमुखमिति दुर्वनि ।



भुवन् स कल्पनादुष्टमिति<sup>१</sup> स्वानिष्टसूचनम् । द्विपं प्रचोदयामास क्रुषेवाजयमात्मनः<sup>३</sup> ॥१९६॥

प्रतिवातसमुद्भूतपद्मचार्वातपताकिनाः । मन्दं मन्दं वषण्दध्ण्टाः कुण्ठितस्ववर्त्तस्वाः ॥२००॥

संशुष्यद्धानं निप्यन्दकट्टीनात्तनत्रियः । निर्वाणालातनिर्मासनि.शेषास्त्रमराक्षमाः ॥२०१॥

आधोरणैः कृतोत्साहैः<sup>१</sup> कृच्छकृच्छ्रेण चोदिताः । आक्रमन्मिव कुर्वन्तः कुण्ठितैः कण्ठगर्जितैः ॥२०२॥

भीतभीता<sup>११२</sup> युधोऽन्यैश्च चिह्नैरभुमसूचिभिः । गजा गताजवाश्चेलुरचला इव जङ्गमाः ॥२०३॥

मन्दमन्दं प्रकृत्यैव<sup>१३</sup> मन्दा युद्धमयान्मृगाः<sup>१४</sup> । जग्मुर्निर्हेतुकं<sup>१५</sup> भद्रास्तद्व्राशुमसूचनम्<sup>१६</sup> ॥२०४॥

विजिगीषोर्विपुण्यस्य वृथा प्रणिधयो<sup>१७</sup> यथा । तथाऽर्ककीर्तयन्मृणां<sup>१८</sup> ते<sup>१९</sup> गजेषु निधोजिताः ॥२०५॥

लङ्घयन्नेत्रयोर्दीप्त्या<sup>२०</sup> पारिभद्रोद्गमच्छविम् । प्रकटभ्रुकुटीवन्ध्वसंधानितगरासनः ॥२०६॥

रिपुं<sup>२१</sup> कुपितभोगीन्द्रस्फुटाद्योपमथंकरः । कुर्वन्बिलोकं<sup>२२</sup> नातप्ततीव्रनाराचगोचरम् ॥२०७॥

गिरीन्द्रशिखराकारमारुह्य हरिविक्रमः । गजेन्द्रं विजयाद्वार्यं<sup>२३</sup> गर्जन्मेघस्वरस्तदा ॥२०८॥

वंश और सोमवंशका छेदन कहेगा, विजयलक्ष्मी मुझे अभी वश कर सुखी करेगी, इस प्रकार अभिप्रायसे दुष्ट तथा अपना ही अनिष्ट सूचित करनेवाला वचन कहते हुए अर्ककीर्तिने क्रोधसे अपने पराजयके समान अपना हाथी आगे बढ़ाया ॥१९६-१९९॥ प्रतिकूल वायु चलनेसे जिनकी ध्वजाएँ पीछेकी ओर उड़ रही हैं, जिनके घण्टा धीरे-धीरे वज रहे हैं, जिन्होंने अपनी सेनाके उत्सवको कुण्ठित कर दिया है, गण्डस्थलके मदका निप्यन्द सूख जानेसे जिनके मुखकी शोभा मलिन हो गयी है, जिनकी शोभा वृक्ष हुए अलातचक्रके समान है, जो सम्पूर्ण शस्त्रोंका भार धारण करनेमें असमर्थ है, उत्साह दिलाते हुए महावत जिन्हे बड़ी कठिनाईसे ले जा रहे हैं, जो कुण्ठित हुई कण्ठी गर्जनासे मानो रुदन ही कर रहे हैं, जो युद्धसे तथा अशुभको सूचित करनेवाले अन्य अनेक चिह्नोंसे अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं और जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे हाथी चलते फिरते पर्वतोंके समान चल रहे थे ॥२००-२०३॥ मन्द जातिके हाथी स्वभावसे ही मन्द-मन्द चल रहे थे, मृग जातिके हाथी युद्धके भयसे धीरे-धीरे जा रहे थे और भद्र जातिके हाथी बिना ही कारण धीरे-धीरे चल रहे थे परन्तु युद्धमें उनका धीरे-धीरे चलना अशुभको सूचित करनेवाला था ॥२०४॥ जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाले किन्तु पुण्यहीन मनुष्यके गुप्त सेवक व्यर्थ हो जाते हैं-अपना काम करनेमें सफल नहीं हो पाते हैं उसी प्रकार अर्ककीर्तिके लिए उन हाथियोंसे कही हुई महावत लोगोंकी प्रार्थनाएँ व्यर्थ हो रही थी ॥२०५॥ उधर जो अपने दोनों नेत्रोंकी कान्तिसे कल्पवृक्षके फूलकी कान्तिकी जीत रहा है, जिसने अपनी मौहोकी रचनाके समान ही प्रकटरूपसे बाण चढ़े धनुषका आकार बनाया है, क्रोधित हुए महा सर्पके समान जिसका शरीर कुछ ऊपर उठा हुआ है और इसीलिए जो भयंकर है, जो अपने शत्रुको अपनी दृष्टि तथा तपे हुए बाणोंका निशाना बना रहा है, एवं सिंहके समान जिसका पराक्रम है ऐसा मेघस्वर जयकुमार उस समय गर्जता हुआ भेरुके शिखरके समान आकारवाले विजयार्ध नामके उत्तम हाथीपर सवार होकर, अनुकूल वायु चलनेसे

१ अभिप्रायदुष्टम् । २ निजानिष्ट । ३ अपजयम् । ४ प्रतिकूलवायुः । ५ मन्दमन्द-अ०, प०, स०, इ०, ल० । ६ मदस्ववर्ण । नद्योल्मुकसदृशः । ७ हस्तिपदः । ८ कृतोद्योगः । ९ रोदनम् । १० अधिकभीताः । ११ सङ्शमात् । १२ स्वभावैर्नैव जहा । मन्दा इति जातिभेदाच्च । १४ मृगसदृशा मृगजातयश्च । १५ भद्रजातयः । १६ मन्दगमनम् । १७ वाञ्छा चराश्च । प्रणिधि प्रार्थने चरे इत्यभिधानात् । १८ गजारोहकानाम् । कीर्तये नृणां ल० । १९ मनोरथाः । २० मन्दारकुसुमच्छविम् । पारिभद्रो निवतर्कमन्दारः पारिजातकः । इत्यभिधानात् । २१ नटोपी भयंकर ल०, स० । २२ निबालोकनान्वये अतस्ततोक्षबाणास्तेषां विषयम् । २३ जयकुमारः ।

अनुकूलानिलोत्क्षिप्तपुरःसर्पद्वज्जानुकैः । क्रान्तद्विपारिविक्रान्तविख्यातास्त्वयोर्धनैः ॥२०९॥  
 प्रसुरस्त्रस्त्रसंधातदीसिदीपितदिदुमुखैः । धृतदुन्दुभिसद्वधान्वृहद्वृहतिभूपणैः ॥२१०॥  
 घण्टामधुरनिर्घोषनिर्मिन्नैर्भुवनत्रयैः । सद्यः समुत्तरदरैरपि सिहान् जिर्गोदुभिः ॥२११॥  
 प्रापयुद्धोत्सुकः सार्द्धं गजैर्विजयसुचिभिः । क्षयवेलांनिलोद्धतसिन्धुवेलां विडम्बयन् ॥२१२॥  
 महाहास्तिकं विस्तारस्थूलनीलवल्लहकैः । समन्तात् संपतच्छङ्कुं समूहसहस्रानकः ॥२१३॥  
 प्रोत्खातासिलताविद्युत्समुत्सृजितमासुरैः । नानानकमहाध्वानगम्भीरवन्नगजितैः ॥२१४॥  
 नवलहितपूरास्त्रुनिरुद्धधरणीतलः । नितान्तनिष्ठुरापातमुद्गराक्षानिसंततैः ॥२१५॥  
 चलसितपनाकालिवलाकां च्छादिताम्बरः । सङ्ग्रामः प्रावृषो लक्ष्मीमशेषामपुषत्तदा ॥२१६॥  
 सुचिरं सर्वसंदोहसंवृत्तसमराङ्गणे । सेनयोः सर्वशास्त्राणां व्यत्ययो बहुतोऽभवत् ॥२१७॥  
 निरुद्धमूर्धं गृध्राधैर्मध्यमुद्ध्वजानुकैः । सेनाद्वयविनिर्मुक्तैः शस्त्रैर्वात्रो च सा तता ॥२१८॥  
 जयलक्ष्मीं नवीनायाः । सपत्नीमिच्छता नवाम् । तदाकंकीर्तिमुद्दिश्य जयेनाचोद्यतं द्विपः ॥२१९॥  
 अष्टचन्द्राः पुरोभूयः भूयः प्रागष्टशक्तयः । क्षणकं वाहसां भेदा न्यस्तैस्तं निनद्धधवाः ॥२२०॥

जिनकी ध्वजाओके वस्त्र उड़कर आगेकी ओर जा रहे हैं, आक्रमण करते हुए सिंहके समान प्रसिद्ध पराक्रमवाले योद्धा जिनपर बैठे हैं, देदीप्यमान शस्त्रोके समूहकी दीप्तिसे जिन्होंने समस्त दिशाओके मुख प्रकाशित कर दिये हैं, बजते हुए नगाड़ोके वड़े-वड़े गव्दोसे वदती हुई गर्जनाओ-से जो भयकर है, घण्टाओके मधुर शब्दोसे जिन्होंने तीनों लोक भर दिये हैं, तत्काल उठते हुए अहंकारसे जो सिंहोंकी भी जीतना चाहते हैं और जो विजयकी सूचना करनेवाले हैं ऐसे हाथियों-के साथ, प्रलय कालकी वायुसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंकी विडम्बित करता हुआ युद्धकी उत्कण्ठा से आ पहुँचा ॥२०६-२१२॥ जिसमें वड़े-वड़े हाथियोंके समूहका विस्तार ही वड़े-वड़े काले बादल है, चारो ओरसे पड़ते हुए बाणोंके समूह ही मयूर हैं, ऊपर उठायी हुई तलवाररूपी बिजलियोंकी चमकसे जो प्रकाशमान हो रहा है, अनेक नगाड़ोके वड़े-वड़े शब्द ही जिसमें मेघोंकी गम्भीर गर्जनाएँ हैं, नवीन रुधिरके प्रवाहरूपी जलसे जिसमें पृथ्वीतल भर गया है, वडी निर्दयताके साथ पड़ते हुए मुद्गर ही जिसमें वज्रोंका समूह है और फहराती हुई सफेद पताकाओके समूहरूप बगलाओसे जिसमें समस्त आकाश आच्छादित हो रहा है ऐसा वह युद्ध उस समय वर्षाश्रुतुकी सम्पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहा था ॥२१३-२१६॥ बहुत देर तक सब योद्धाओके समूहसे घिरे हुए युद्धके मैदानमें दोनों सेनाओके सब शस्त्रोंका अनेक बार व्यत्यय (अदला-बदली) हुआ था ॥२१७॥ उस समय ऊपरका आकाश गीघोंके समूहसे भर गया था, मध्य भाग फहराती हुई ध्वजाओके वस्त्रोसे भर गया था और पृथिवी दोनों सेनाओके द्वारा छोड़े हुए शस्त्रोसे भर गयी थी ॥२१८॥ उसी समय जयलक्ष्मीकी नवीन विवाहिता नुलोचनाकी नयी सीत बनानेकी इच्छा करते हुए जयकुमारने अर्ककीर्तिको उद्देष्ट्य कर अपना हाथी आगे बढ़ाया ॥२१९॥ जिस प्रकार कर्मोंके भेद क्षणकश्रेणीवाले मुनिको रोकते हैं उसी प्रकार अष्टचन्द्र नामके विद्याधर जिनकी कि शक्ति पहले देखनेमें आयी थी फिरसे नामने आकर

१ आक्रान्तसिंहपराक्रमप्रसिद्धाकारणाधोरणै । २ ताडित । ३ व्याप्त । ४ प्रलयकालः । ५ विलम्बयन् ८०, ८०, ८०, ८०, ८० । ६ गजसमूह । ७ कालमेघ । ८ घट्यायुधसमूहमयूरक । ९ मयूर । १० नूतन-रक्त । ११ द्रुघण । १२ विपकण्डिका । १३ पुण्याति स्म । १४ व्यत्यय इति नवन्धिनः । १५ नूतन-रक्त । १६ नूतनविद्याग्निनाग (तां) प्रती व्यत्ययः । १७ प्रेरितः । १८ अग्रे भूत्वा । १९ पुनः पुनः । २० पूर्वं दृष्टराजम् । २१ क्षणकश्रेणी-रुद्धम् । २२ इव । २३ कर्मणाम् । २४ जयम् । २५ नाथिनुमिच्छत् ।

जयोऽपि सुचिरात्प्राप्तप्रतिपक्षो व्यदीप्यलम् । लब्धेव रन्धनं बद्धिः उत्साहाग्निसखोच्छ्रितः ॥२२१॥  
 तदोमथवल्लयातगजादिशिखरस्थिताः । योद्धमारेभिरे राजराजसिंहाः परस्परम् ॥२२२॥  
 अन्योन्यरघ्नोदमिजौ तत्र कौचिद् व्यसू गजौ । चिरं परस्पराधारावामातां यमलादिवत् ॥२२३॥  
 समन्ततः शरैश्छन्ना रेखुराजौ गजाधिपाः । छुद्वेषुगणाकीर्णसंचरद् गिरिसिन्धवाः ॥२२४॥  
 दानिनो मानिनस्तुंगाः कामवन्तोऽन्तकोपमाः । महान्तः सर्वसत्त्वैर्भ्यो न युद्धयन्तां कथं गजाः ॥२२५॥  
 'मृगैर्भू' 'गैरिवापात' 'मात्रभग्नैर्मयाद् द्विषैः । स्वसैन्यमेव संछुण्ण' 'धिक् स्थौढ्यं भीतचेतसाम् ॥२२६॥  
 निःशक्तीन् शक्तिभिः शक्ताः शक्ताश्चक्रुरशक्तकान् ।  
 'शक्तियुक्तानशक्तांश्च निःशक्तीन् शिथिलगुणताम् ॥२२७॥  
 शस्त्रनिर्मितसर्वाङ्गा निमीलितविलोचनाः । सन्थक् संहतसंरम्भाः संभावितपराक्रमाः ॥२२८॥  
 बुद्धयैव बद्धपथ्यङ्कास्त्यक्तसर्वपरिच्छदाः । समत्याधुरत्स्वचूरा निधाय हृदयेऽर्हताः ॥२२९॥

जयकुमारको रोकने लगे ॥२२०॥ जिस प्रकार बहुत-से इन्धनको पाकर वायुसे उदीपित हुई अग्नि देदीप्यमान हो उठती है उसी प्रकार उत्साहरूपी वायुसे बड़ा हुआ वह जयकुमार भी बहुत देरमें शत्रुको पाकर अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था ॥२२१॥ उस समय दोनों सेनाओं-में प्रसिद्ध हाथीरूपी पर्वतोंके शिखरपर बैठे हुए अनेक राजारूपी सिंहांने भी परस्पर युद्ध करना आरम्भ कर दिया था ॥२२२॥ उस युद्धमें एक दूसरेके दाँतोंके प्रहारसे विदीर्ण होकर मरे हुए कोई दो हाथी मिले हुए दो पर्वतोंके समान एक दूसरेके आधारपर ही चिरकाल तक खड़े रहे थे ॥२२३॥ चारों ओरसे बाणोंसे ढके हुए बड़े-बड़े हाथी उस युद्धमें छोटे-छोटे वाँसों-से व्याप्त और चलते हुए पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२२४॥ जो दानी है—जिनसे मद झर रहा है, मानी है, ऊँचे हैं, यमराजके समान है और सब जीवोंसे बड़े है ऐसे भद्र जातिके हाथी भला क्यों न युद्ध करते ? ॥२२५॥ जिस प्रकार हरिण भयभीत होकर भागते हैं उसी प्रकार मृगजातिके हाथी भी आरम्भमें ही पराजित होकर भयसे भागने-लगे थे और उससे उन्होंने अपनी ही सेनाका चूर्ण कर दिया था इससे कहना पड़ता है कि भीरु हृदयवाले मनुष्यों-के स्थूलपनको धिक्कार हो ॥२२६॥ शक्तिशाली ( सामर्थ्यवान् ) योद्धा अपने शक्ति नामक शस्त्रसे, जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र नहीं है ऐसे शक्तिशाली ( सामर्थ्यवान् ) योद्धाओंको शक्तिरहित—सामर्थ्यहीन कर रहे थे और जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र था किन्तु स्वयं अशक्त—सामर्थ्यरहित थे उन्हें भी शक्तिरहित—शक्ति नामक शस्त्रसे रहित कर रहे थे—उनका शस्त्र छुड़ा रहे थे इसलिए आचार्य कहते हैं कि ऊनता अर्थात् आवश्यक सामग्रीकी कमीको धिक्कार हो ॥२२७॥ जिनके समस्त अंग शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न हो गये हैं, नेत्र बन्द हो गये हैं, जिन्होंने युद्धकी इच्छाका अच्छी तरह संकोच कर लिया है, जो अपना पराक्रम दिखा चुके हैं, जिन्होंने बुद्धिसे ही पथ्यकासन बाँध लिया है और सब परिग्रह छोड़ दिये हैं ऐसे कितने ही

१ रन्धनम् इन्धनम् । लब्धेर्वद्धेन्धनं ल०, म०, अ०, प०, स०, इ०, द०, । २ उत्साहावयुता समृद्धः । ३ राज-  
 राजमुख्याः । सिंहा इति ध्वनिः । ४ विगतप्राणौ । ५ अन्योन्यावलम्बनौ । ६ यमकगिरिवत् । ७ सचलद्गिरि-  
 ल०, अ०, प०, स०, इ०, म० । ८ आरोहकानुकूला इत्यर्थः । ९ युद्धघ्न्यते ल० । १० मृगजातिभिः ।  
 'भक्त्याऽवेषणीयैर्वि' । ११ हरिणैरिव । १२ प्रथमदिशायामिव । १३ संचूर्णमशक्तम् । १४ शक्त्यायुधरहितम् ।  
 १५ शक्त्यायुधैः । १६ समर्थः । १७ समर्थान् । १८ शक्त्यायुधयुक्तान् । १९ शक्त्यायुधरहितान् ।  
 '२० सामग्रीविकलताम् । '२१ सम्यगुत्पुष्टसमारम्भा । २२-मनसैव कृतपर्यङ्कासनाः । '२३-सम्यक्  
 त्यक्तवन्तः । २४ प्राणात् ।

कस्यचिद् क्रोधसंहारः सृष्टिविश्व परमेष्ठिनि । निष्ठायामायुषोऽत्रासीदभ्यासान किं न जायते ॥२२०॥  
हृदि नाराचनिर्मिता वनत्राव स्वदसुकप्लवाः । शिवाकृष्टान्त्रतन्त्रान्ताः पर्यन्त्यस्तपकराः ॥२२१॥  
शुद्धपक्षानिलोच्छिन्नमूर्च्छाः संप्राप्तसंज्ञकाः । समाधाय हि ते शुद्धां श्रद्धां नृगमिं गता ॥२२२॥  
छिन्नैद्वक्त्रेण शूराणां शिरोऽम्भोजैर्विकासिभिः । रणझणोर्विलो वाभात् नुरयैः जयजयश्रियैः ॥२२३॥  
स्वामिसमानदानादिमहोपकृतिनिर्मराः । प्राप्याधमर्णता प्राणैः सेवां संपाद्य सेवकाः ॥२२४॥  
स्वप्राणव्ययसंतुष्टैस्तदुद्भुद्भिः स्वभूतः । कृष्णपूजान् विधायान्ये धन्या वैर्ऋण्यमागमन् ॥  
जयमुक्ता हुतं पेतुरविसुकजयाः शराः । अष्टचन्द्रान् प्रति प्रोच्यैः प्रदीप्योल्लोपमाः समम् ॥२२५॥  
जयप्रहितशस्त्राली तैर्निषिद्धा च विद्यया । ज्वलन्ती परितश्चन्द्रान् परिवेषाकृतिर्वसौ ॥२२६॥  
विश्वविद्याधराधीशमा दिराजाल्मनस्तदा । द्विषो निःशेषयामेषानित्याह सुममिं रपा ॥२२७॥  
सोऽपि सर्वैः स्वैः सार्द्धं निर्द्वन्द्वतारतिविक्रमः । बह्विष्टमिवाकाशे वर्यं शरसंततिम् ॥२२८॥

गूरवीरोने हृदयमें अर्हन्त भगवान्को स्थापन कर प्राण छोड़े थे ॥२२८—२२९॥ किसी योद्धाके आयुकी समाप्तिके समय क्रोध गान्त हो गया था और परमेष्ठियोका स्मरण होने लगा था सो ठीक है क्योंकि अभ्यासे क्या-क्या सिद्ध नहीं होता ? ॥२३०॥ जिनके हृदय बाणोसे छिन्न-मिन्न हो गये है, मैंहसे सधरका प्रवाह बह रहा है, सियारोने जिनकी अँतडियोकी ताँतोके अन्तभाग तकको खींच लिया है और जिनके हाथ-पैर फट गये हैं ऐसे कितने ही योद्धा गीधोंके पंखोंकी हवासे मूर्च्छारहित होकर कुछ-कुछ सचेत हो गये थे और गुब्ब श्रद्धा धारण कर गूरगाति-स्वर्ग गतिको प्राप्त हुए थे ॥२३१—२३२॥ चक्र नामक शस्त्रसे कटे हुए गूरवीरोके प्रफुल्लित मुखरूपी कमलोसे भरी हुई वह युद्धकी भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जयकुमारकी विजयलक्ष्मीके नृत्योंसे ही सुशोभित हो रही हो ॥२३३॥ स्वामीके द्वारा पाये हुए आदर सत्कार आदि बड़े-बड़े उपकारोसे दबे हुए कितने ही सेवक लोग अपने प्राणों-द्वारा स्वामीकी सेवा कर ऊन्नत अवस्थाको प्राप्त हुए थे और कितने ही धन्य सेवक, अपने-अपने प्राण देकर सन्तुष्ट हुए शत्रु राजाओसे अपने स्वामियोकी पूजा-प्रतिष्ठा कराकर कर्ज-रहित हुए थे । भावार्थ—कितने ही सेवक लड़ते-लड़ते मर गये थे और कितने ही शत्रुओंको मारकर कृतार्थ हुए थे ॥२३४—२३५॥ जिन्होंने विजय प्राप्त करना छोड़ा नहीं है और जो अपनी बड़ी भारी कान्तिसे उल्काके समान जान पड़ते है ऐसे जयकुमारके छोड़े हुए बाण अष्टचन्द्र विद्याधरोके पास बहुत शीघ्र एक साथ पड़ रहे हैं ॥२३६॥ जयकुमारके द्वारा छोड़ी हुई शस्त्रोंकी पकितयोको उन विद्याधरोने अपने विद्या बलसे रोक दिया था । इसलिए वे उनके चारो ओर जलती हुई खड़ी थी और ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो चन्द्रमाओके चारो ओर गोल परिधि ही लग रही हो ॥२३७॥ उसी समय आदि सत्राद्-भरतके पुत्र अर्ककीर्तिने बड़े क्रोधसे सब विद्याधरोके अधिपति सुनमिसे कहा कि तुम समस्त शत्रुओंको नष्ट करो ॥२३८॥ और शत्रुओंके पराक्रमको नष्ट करनेवाला सुनमिकुमार भी अग्नि वर्षाके समान आकाशमे बाणोंके समूहकी वर्षा करने लगा ॥२३९॥ जो अत्यन्त

१ परितप्तमार्तो सत्याम् । २ रणे । ३ साध्यते ल० । ४ शत्रुकाकृष्टपुरितत्तममूहाया । अन्वगततस्याप्रा वा ॥ ५ तन्मात्रा-८० । ६ विक्षिप्तपावपाणय । ७ स्पृहाम् । ८ स्वर्गम् । इन्द्रियजयवता गतिमित्यर्थ । ९ रण-रङ्गोऽन्विते-ल० । १० नर्तनाय । ११ जयकुमारस्य अलक्ष्म्या । १२ महोपकारातिशया । १३ ऋणप्राप्ति-ताम् । १४ शत्रुमुपालेः । १५ निजनुपतीन् । १६ ऋणवृद्धयनम् । ऋणाश्लिष्णान्तत्वम् । १७ जयकुमारैर्गोमुष्टा । १८ अयवतजयाः । १९ प्रदीप्योल्लोपमाः ल० । २० युगपत् । २१ जयकुमारैर्गोमुष्टा । २२ शत्रुभिः । २३ अष्टचन्द्रान् परितः, मुगाङ्कान् परितः । २४ अर्ककीर्ति । २५ शत्रून् । २६ विनाशय । २७ मुनमिः ।

मीकराः किङ्कराकाराः<sup>१</sup> स्वन्तो रुद्धिद्विमुखाः । कांस्कान्<sup>२</sup> शृणामं नेतीव सुतीक्ष्णाः<sup>३</sup> शरवोऽपतन् ॥२४०॥  
 मेघप्रभो जयादेशादिभेद<sup>४</sup> वा शृगाधिपः । आक्रम्य विक्रमो वास्व<sup>५</sup> ररोत्सीत्<sup>६</sup> विहायमि ॥२४१॥  
 तमोऽग्निगजमेघादिविधाः सुनमियोजिताः । तुच्छीकृत्य<sup>७</sup> स<sup>८</sup> विच्छिद्य<sup>९</sup> (?) सहसा मास्करादिभिः<sup>१०</sup> ॥२४२॥  
 जयपुण्योद्यात्सद्यो विजित्ये<sup>११</sup> स्वचराधिपम् । संग्रामेऽनुगुणे दैवे<sup>१२</sup> क्षोदिमा बहिमेति<sup>१३</sup> न ॥२४३॥  
 प्रबृद्धप्रावृडारम्भसम्भृताम्भोधराबलिम् ।<sup>१४</sup> विलङ्घ्यानेकपानीकं<sup>१५</sup> कौमारं<sup>१६</sup> जयमारुतम्<sup>१७</sup> ॥२४४॥  
 जयोऽप्यमिमुखीकृत्य विजयार्द्धं गजाधिपम् । धीरोद्धतं<sup>१८</sup> स्वा प्राप्तं<sup>१९</sup> धीरोदात्तोऽववीदिदम् ॥२४५॥  
 न्यायमार्गाः प्रवर्त्यन्ते सम्यक् सर्वेऽपि चक्रिणा ।<sup>२०</sup> तेषामेभिर्दुराचारैः<sup>२१</sup> कृतस्त्वं पारिपन्थिकः<sup>२२</sup> ॥२४६॥  
 बुद्धिमांस्त्वं तवाहार्यबुद्धिस्त्वमपि<sup>२३</sup> दूषणम् । कुमार नीयसे<sup>२४</sup> पापैस्त्वतीय<sup>२५</sup> तद्विगर्हितम्<sup>२६</sup> ॥२४७॥  
 अन्तःकोपोऽप्यर्थं<sup>२७</sup> पापैर्महानुत्थापितो पृथा । सर्वतन्त्रक्षयो भवतु<sup>२८</sup> सहसा येन<sup>२९</sup> तादृशः ॥२४८॥

भयकर है, किंकरोके समान काम करनेवाले है, वेगके कारण शब्द कर रहे है और जिन्होंने सब दिशाएँ रोक ली है ऐसे वे तीक्ष्ण बाण हम किस किसको नष्ट नहीं करे ? अर्थात् सभीको नष्ट करे यही सोचकर मानो सब सेनापर पड़ रहे थे ॥२४०॥ जिस प्रकार सिंह हाथीपर आक्रमण करता है उसी प्रकार खूब पराक्रमी मेघप्रभ नामके विद्याधरने जयकुमारकी आज्ञासे उस सुनमिपर आक्रमण कर उसे वास्त्रोंके द्वारा आकाशमें ही रोक लिया ॥२४१॥ मेघप्रभने सुनमिके द्वारा चलाये हुए तमोबाण, अग्निबाण, गजबाण और मेघबाण आदि विद्यामयी बाणोंको सूर्यबाण, जलबाण, सिंहबाण और पवनबाण आदि अनेक विद्यामयी बाणोंसे तुच्छ समझकर बहुत शीघ्र नष्ट कर दिया ॥२४२॥ इस प्रकार मेघप्रभने उस युद्धमें जयकुमारके पुण्योदयसे विद्याधरोके अधिपति सुनमिको शीघ्र ही जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि देवके अनुकूल रहनेपर छोटापन और बड़प्पनका व्यवहार नहीं होता है । भावार्थ—भाग्यके अनुकूल होनेपर छोटा भी जीत जाता है और बड़ा भी हार जाता है ॥२४३॥ बड़ी हुई वर्षाश्रुतुके प्रारम्भमें इकट्ठी हुई मेघमालाके समान हाथियोंकी सेनाको उल्लंघन कर अर्ककीर्तिके पक्षके लोगोंने जयकुमारको रोक लिया ॥२४४॥ इधर धीर और उदात्त जयकुमारने भी अपना विजयार्ध नामका श्रेष्ठ हाथी क्रोधसे प्राप्त हुए धीर तथा उद्धत अर्ककीर्तिके सामने चलाकर उससे इस प्रकार कहना शुरू किया ॥२४५॥ वह कहने लगा कि चक्रवर्तिके द्वारा सभी न्याय-मार्ग अच्छी तरह चलाये जाते है परन्तु इन दुराचारी लोगोंने तुझे उन न्यायमार्गोंका शत्रु बना दिया है ॥२४६॥ हे कुमार, यद्यपि तू बुद्धिमान् है परन्तु आहार्य बुद्धिवाला होना अर्थात् दूसरेके कहे अनुसार कार्य करना यह तेरा दोष भी है । इसके सिवाय तू पाप या पापी पुरुषोंके अनुकूल हो रहा है सो यह भी तेरा तीसरा दूषण है ॥२४७॥ इन पापी लोगोंने तेरे अन्तःकरणमें यह बड़ा भारी क्रोध व्यर्थ ही उत्पन्न कर दिया है जिससे भरत महाराजकी सब सेनाका ऐसा एक साथ अय हो रहा है ॥२४८॥

१ किङ्करस्वभावाः । २ ध्वनन्तः । ३ कान् शत्रून् शृणाम काम् शत्रून् न शृणाम न हन्म इति इव । शृ कृ मृ हिंसायाम् । लोट् । ४ बाणाः । ५ विद्याधरः । ६ गजाधिपम् । अनेन समबलत्वं सूचितम् । ७ श्रोत्र । ८ सुनः मिम् । ९ अक्षरा कृत्वा । १० विच्छेद त०, व०, पुस्तके विहाय सर्वत्र । ११ सूर्यजलसिंहबाणादिभिः । १२ अजयत् । १३ दैवे सहाये सति । १४ क्षुद्रत्वम् । १५ महत्त्वम् । १६ अतिशयम् । १७ गजबलम् । १८ अर्ककीर्तिसम्बन्धि । १९ जयकुमारं श्रोत्र । २० अर्ककीर्तिम् । २१ जयकुमारः । २२ मार्गणाम् । २३ प्रतीयमानैः । २४ विरोधी भूत्वा । २५ प्रेरकोपनीतबुद्धित्वम् । २६ पापोपेतः । २७ मोहनीयं कामं वा । २८ सद्भिः निन्दितम् । २९ पापिष्ठैः । ३० कोपेन ।

आहवोऽपरिहार्योऽयं<sup>१</sup> ममाथ भवता सह । अकीर्तिश्चावयो<sup>२</sup> रस्मिन्नाकल्पस्थायिनी ध्रुवम् ॥२५६॥

चक्री सुतेषु राज्यस्य योग्यं त्वामेव मन्यते । स्यात्तस्यापि मनःपीडा न वैत्यन्यायवर्तनान् ॥२५७॥

द्रोणवृन्त्यायस्य भूमर्तुस्तव चैतास्ततः क्षणात् । हुष्टान् सखेचरान् सर्वान् चत्वाथ भवतोऽप्येव ॥२५८॥

नागमारुह्य<sup>३</sup> तिष्ठ त्वं काष्ठान्तं<sup>४</sup> प्रार्थितो मया । अन्यायो हि पराभूतिर्न तस्यागौ महीपते ॥२५९॥

कुमार, समरे हानिस्तवैव महती मया । हन्त्यात्मानमनुमन्तः<sup>५</sup> कः स तीक्ष्णासिना स्वयम् ॥२६०॥

अमव्य इव सदसंमपकण्यं<sup>६</sup> लुदीरितम्<sup>७</sup> । आघातयितुमारमे गजेन स<sup>८</sup> गजाधिपम् ॥२६१॥

तदा जयोऽप्यतिक्रुद्धो गजयुद्धविशारदः । नवमिर्विजयाद्धनं दन्तघातैरपातयत्<sup>९</sup> ॥२६२॥

नवापि कुपितेभ्यश्च नवदन्ताहतिक्षताः । अष्टचन्द्रार्ककीर्तीनां प्रपेतुर्हृददन्तिनः ॥२६३॥

चक्रिसूनोः पुनः सेनापरितोऽथाद्<sup>१०</sup> युयुत्सया<sup>११</sup> । तदा तदायुवा<sup>१२</sup> रश्मिदह<sup>१३</sup> क्षयमपयत् ॥२६४॥

सोढुमनः खलस्तेजो<sup>१४</sup> जयस्थाशक्तनुवन्निव । जयन् जयोदौ<sup>१५</sup> भच्छायां संहताग्नेयक्रीधितिः ॥२६५॥

<sup>१६</sup> शरैरिवोत्सैरारक्तैर्विशुक्तेः खचरान् प्रति । जययैः<sup>१७</sup> स्वाङ्गसंलग्नैः<sup>१८</sup> क्षरत्क्षतजरन्निर्गतः ॥२६६॥

गतप्रतापः<sup>१९</sup> कृच्छात्मा सर्वज्ञेनाप्रियस्तदा । पपात कातरीभूय क्तालम्बितभूयः ॥२६७॥

मेरा आपके साथ जो युद्ध चल रहा है वह आज ही बन्द कर देने योग्य है क्योंकि इससे हम दोनोंकी कल्पान्तकाल तक टिकनेवाली अपकीर्ति अवश्य होगी ॥२४९॥ चक्रवर्ती सब पुत्रोंमें राज्यके योग्य आपको ही मानता है, क्या आपके इस अन्यायमें प्रवृत्ति करनेसे उसके मनको पीड़ा नहीं होगी ? ॥२५०॥ भरत महाराजके न्यायमार्गका द्रोह करनेवाले तुम्हारे इन सभी कुछ पुरुषोंको विद्याधरोके साथ-साथ बाँधकर आज क्षणभरमें ही तुम्हें सौंप देता हूँ ॥२५१॥ मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप हाथीपर चढ़े हुए यहाँ क्षण भर ठहरिए, क्योंकि महा-पुरुषोंका अन्याय करना ही तिरस्कार करना है, अन्यायका त्याग करना तिरस्कार नहीं है ॥२५२॥ हे कुमार, मेरे साथ युद्ध करनेमें तुम्हारी ही सबसे बड़ी हानि है क्योंकि ऐसा कौन सावधान है जो पैनी तलवारसे अपनी आत्माका स्वयं घात करे ॥२५३॥ जिस प्रकार अमव्य जीव समीचीन धर्मको नहीं सुनता उसी प्रकार जयकुमारके कहे हुए वचन अर्ककीर्तिने नहीं सुने और अपने हाथीसे जयकुमारके उत्तम हाथीपर प्रहार करवाना गुरु कर दिया ॥२५४॥ उस समय हाथियोंके साथ युद्ध करनेमें अत्यन्त निपुण जयकुमार भी अधिक क्रोधित हो उठा, उसने अपने विजयार्थ हाथीके द्वारा दाँतोके नी प्रहारोसे अर्ककीर्ति तथा अष्टचन्द्र विद्याधरोके नी हाथियोंको घायल करवा दिया ॥२५५॥ अर्ककीर्ति तथा अष्टचन्द्र विद्याधरोके नी ही हाथी क्रोधित हुए विजयार्थ हाथीके दाँतोके नी प्रहारोसे घायल होकर जमीनपर गिर पड़े ॥२५६॥ जिस समय जयकुमारने युद्धकी इच्छासे अर्ककीर्तिकी सेनाको चारों ओरमें घेरा उसी समय मानो उसकी आयुकी रक्षा करता हुआ ही दिन अस्त हो गया ॥२५७॥ जो अपनी कान्तिसे जासीनके फूलकी कान्तिको जीत रहा है, जिसने अपनी सब किरणें मकोच ली है, जो लाल-लाल किरणोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो जयकुमारने विद्याधरोके प्रति जो दायण छोड़े थे वे सब ही विद्याधरोके निकलते हुए रुधिरसे अनुरजित होकर उसके धनेरमें जा लगे हों, जिसका सब प्रताप नष्ट हो गया है, जो क्रूर है और सबके नेत्रोंको अग्रिय है ऐसा वह कुछ

१ आहव परि-ल० । २ युद्धे सति । ३ हन्तुमिच्छन् । ४ तिष्ठान ल०, इ०, प०, अ०, न० । ५ अमव्य-  
न्तम् । ६ अन्यायत्यागः । ७ महात्मनः । ८ बुद्धिमान् । ९ एवमुन्नववचनं ध्रुवम् । १० मारन्तिन् । ११ अ-  
र्ककीर्तिः । १२-रघातयत् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १३ अगमन् । १४ सोढुमिच्छन् । १५ यन् २०, २०,  
प० । १६ इव । १७ रसतीति रसत् । १८ दिवसः । १९ जयकुमारस्य । २० हन्तुम् । २१ शिखरः ।  
२२ जयकुमारस्य चित्रम् । २३ लवन् । २४ दुःसकारित्वनाम् ।

अर्ककीर्तिं स्वकीर्तिं<sup>१</sup> वा मत्वा रोपेण<sup>२</sup> भास्करः । अस्तं<sup>३</sup> जयजयस्यायात् कुर्वन् कालविलम्बनम् ॥२६१॥  
 स्फुटालोकोऽपि<sup>४</sup> सद्वृत्तोऽप्यगादस्तमहर्षतिः<sup>५</sup> । आश्रित्य वारुणी<sup>६</sup> रक्तः को न गच्छत्यधोगतिम् ॥२६२॥  
 उदयं<sup>७</sup> वर्धितच्छायो<sup>८</sup> व्याप्य विश्वं प्रतापवान् ।<sup>९</sup> दिनेनेनोऽप्यनश्यत्<sup>१०</sup> कस्तिष्ठेतीमकरः परः ॥२६३॥  
 इनं<sup>११</sup> स्वच्छानि विच्छाद्य<sup>१२</sup> तापहारीणि वा भृशम् । द्रष्टुं सरोऽस्यनिच्छन्ति<sup>१३</sup> कक्षाक्षीणि शुक्ला<sup>१४</sup> व्यङ्ग्यः २६४  
 जयनिर्दिशनिर्दिशनिपातपतितान् खगान्- ।<sup>१५</sup> प्राविशच्चिजनीडानि<sup>१६</sup> वीक्षितुं विक्षमाः खगाः<sup>१७</sup> २६५  
 स प्रतापः प्रमासाऽस्य सा हि सर्वैकपूज्यता । पातः<sup>१८</sup> प्रत्यहमर्कस्याप्यतनयः<sup>१९</sup> कर्कशो विधिः<sup>२०</sup> २६६॥  
 कीर्त्योपमानतां यातो यातोऽर्कश्चेददृश्यताम् । उपमेयस्य का वार्त्तव्यादीदृष्टुषां गणः ॥२६७॥

सूर्य मानो जयकुमारके तेजको न सह सकनेके कारण ही कातर हो अपने करों—किरणोंसे (हार्यों-से) अस्ताचलको पकड़कर नीचे गिर पड़ा ॥२५८—२६०॥ वह सूर्य अर्ककीर्तिको अपनी कीर्ति मानकर क्रोधसे जयकुमारके जीतमें विलम्ब करता हुआ अस्त हो गया ॥२६१॥ जिसका आलोक प्रकाश ( ज्ञान ) स्पष्ट है और जो सद्वृत्त—गोल ( सदाचारी ) है ऐसे सूर्यको भी अस्त होना पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा अथवा मद्यक्षा सेवन करनेवाला ऐसा कौन है जो नीचेको न जाता हो—अस्तं न होता हो—नरक न जाता हो । भावार्थ—जिस प्रकार मद्य पीनेवाला ज्ञानी और सदाचारी होकर भी नीच गतिको जाता है उसी प्रकार—सूर्य भी प्रकाशमान और गोल होकर भी पश्चिम दिशामें जाकर अस्त हो जाता है ॥२६२॥ उदय कालसे लेकर निरन्तर जिसकी कान्ति बढ़ती रहती है और जो संसारमें व्याप्त होकर तपता रहता है ऐसा तीव्रकर अर्थात् तीव्र किरणोंवाला सूर्य भी जब एक ही दिनमें नष्ट हो गया तब फिर भला तीव्रकर अर्थात् अधिक टैक्स लगानेवाला और सन्ताप देनेवाला अन्य कौन है जो संसारमें ठहर सके ॥२६३॥ सन्तापको दूर करनेवाले स्वच्छ सरोवर अतिशय कान्तिरहित सूर्यको देखना नहीं चाहते थे इसलिए ही मानो उन्होंने शोकसे अपने कमलरूपी नेत्र बन्द कर लिये थे ॥२६४॥ सब पक्षी अपने-अपने घोंसलोंमें इस प्रकार चले गये थे मानो वे जयकुमारकी तीक्ष्ण तलवारकी चोटसे गिरे हुए विद्याधरोको देखनेके लिए समर्थ नहीं हो सके हों ॥२६५॥ सूर्यका असाधारण प्रताप है, असाधारण कान्ति है और असाधारण रूपसे ही सब उसकी मूर्झा करते हैं फिर भी प्रतिदिन उसका पतन हो जाता है इससे जान पड़ता है कि निष्ठुर दैव तर्कका विषय नहीं है । भावार्थ—ऐसा क्यों करता है इस प्रकारका प्रश्न दैवके विषयमें नहीं हो सकता है ॥२६६॥ उस समय विद्वानोंका समूह यह कह रहा था कि जब अर्ककीर्तिके साथ उपमानता-को प्राप्त हुआ सूर्य भी अदृश्य हो गया तब उपमेयकी क्या बात है ? भावार्थ—अर्ककीर्तिके लिए सूर्यकी उपमा दी जाती है परन्तु जब सूर्य ही अस्त हो गया तब अर्ककीर्तिकी तो बात ही

१ निजनामधेयमिव । २ पीडया । ३ जयकुमारस्य । ४ व्यक्तोद्योतोऽपि । व्यक्तदर्शनोऽपीति ध्वनि । 'आलोको दर्शनोद्योतो' इत्यभिधानात् । ५ सद्वर्तुलमण्डलेऽपीति । सच्चारित्रोऽपीति ध्वनि । ६ रविः । ७ पश्चिमाशाम् । मद्यमिति ध्वनिः । ८ अणुः । अनुरक्तश्च । ९ उदयमे अम्युदये च । १० कान्तिं पक्षे उत्कोचः । 'छाया स्थादातपाभावे प्रतिबिम्बाकर्कषोऽपि । पालनोत्कोचयोः कान्तिसच्छोभापवित्तु स्मृता' इत्यभिधानात् । ११ दिवसेन च । इनं सूर्यं प्रमुच्य । 'इनं सूर्यं प्रभौ' इत्यभिधानात् । १२ अदृश्योऽभूत् । १३ सूर्यम् । १४ विगतकान्तिम् । १५ अनिच्छन्ति । १६ दधति स्म । १७ जयकुमारस्य निशितास्त्रघातेन प्रतितान् । १८ अविष्टा । १९ आत्मीयकुलायान् । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । २० पक्षिणः । २१ पतनम् । २२ क्रूरः । २३ नियतिः कर्म च ।

दुर्निरोक्षः<sup>१</sup> कर्तृस्तीक्ष्णैः संतप्तनिजमण्डलः । अलं कुञ्जलयध्वंसी दुस्तुतो<sup>२</sup> दुर्मनिसुर, ॥२०८॥  
निस्सहायो निरालम्बोऽस्यसोढा<sup>३</sup> पततेजसाम् ।<sup>४</sup> सिंहराशिश्चल, मूर सदनोऽपि<sup>५</sup> मृदंगः ॥२०९॥  
पापरोगी<sup>६</sup> परप्रेयो<sup>७</sup> रविर्विपममार्गगः । रक्तक्<sup>८</sup> मन्त्रद्वेषी<sup>९</sup> घघिनातोऽक्षनाम्यः ॥२१०॥  
<sup>१३</sup> सता बुधेन मित्रेण<sup>१०</sup> गुरुणा<sup>११</sup> ऽप्यस्तमाश्रयन् । बहुदोषो<sup>१२</sup> मिषवर्तुदुश्चिन्त्य इवाप्तः<sup>१३</sup> ॥२११॥  
तदा बलद्वयामात्माः श्रित्वा वद्धरूपो नृपा<sup>१४</sup> । इत्यध्वर्यं निनायुद्धमनुबध्<sup>१५</sup> न्यपेधयन् ॥२१२॥  
ताभ्या<sup>१६</sup> तत्रैव सा तारित्रिंक्षमिष्टा रणादृणो । भर्तारिब्रजणायध्वयेदनाराधमःपुनः ॥२१३॥

यथा है ? ॥ २६७ ॥ जो बड़ी कठिनतासे देखा जाता है, अपनी किरणोंमें तोड़न-झग है, जिसने अपना मण्डल भी सन्तप्त कर लिया है, जो कुबल्य अर्थात् कुमुदोत्तः ध्वंस करनेवाला है, बड़े कष्टसे जिसका उदय होता है अथवा जिसका पुनः - शानि द्रष्ट है, दुर्बुद्धि लोग ही इसकी स्तुति करते हैं, जो सहायरहित है, आधाररहित है, जो चन्द्र आदि ज्योतिषियोंका तेज नष्ट कर सकता, सिंह राशिपर है, चंचल है, क्रूर है, सहसा उछलकर मस्तकपर चलता है पार रोगी है, दूसरेके सहारेसे चलता है, विषममार्ग - आकाशमें चलता है, स्वतन्त्र-रहित किरणोंवाला है, सकल - कलासहित-चन्द्रमाके साथ द्वेष करनेवाला है, दिशाओंको बढ़ानेवाला है और पररहित-अरुण नामका सारथि जिसके आगे चलता है, ऐसा सूर्य, बुधग्रह और गुरु ( कर्कश ग्रह ) नामके सज्जन मित्रोंके साथ होनेपर भी अच्छे-अच्छे बंध भी जिसका स्पर्श नहीं कर सकते ऐसे बहुदोषी-अनेक दोषवाले ( पक्षमें रात्रिवाले ) रोगीके समान अस्त हो गता भी ही है क्योंकि दुष्ट होनेके कारण जिसकी ओर कोई देख भी नहीं सकता है जो जित्वा ईश्वर वसूल करनेके कारण तीक्ष्ण है, जो अपने परिवारके लोगोंको भी सन्ताप देनेवाला है । दुष्टग्रह अर्थात् पृथिवीमण्डलका खूब नाश करनेवाला है, जिसका पुनः खराब है, मृत्यु ही इसकी स्तुति करते हैं, जो सहायक मित्रोंसे रहित है, दुर्ग आदि आचारोंसे रहित है, अन्य प्रतापी राजाओंके प्रतापको सहन नहीं करता है, सिंह राशिमें जिसका जन्म हुआ है, नञ्चर है, सिद्धि के लक्षण जरा सी बातोंमें उछलकर शिरपर सवार होता है - असहनशील है, दूरे रोगोंमें निराश्रय है, दूसरेके कहे अनुसार चलता है, विषम मार्ग-अन्याय मार्गमें चलता है, स्वतन्त्र-रहित रोगी बीमारी है, जो सबके साथ द्वेष करता है, जिसकी तृष्णा बड़ी दृढ़ है और जिना करने के कार्यमें आगे आगे आता है, ऐसे अनेक दोषवाले राजाका लालाच सेवकों के लिये नियम और सज्जन गुरुके साथ होनेपर भी नाश होता ही है ॥ २६८-२६९ ॥ उन समय सेवकों के लिये के मन्त्रियोंने क्रोधित हुए उन दोनों राजाओंके पास जाकर राशिमें दुरुव्यवहार करने के लिये नियम कर उन्हें युद्ध करनेसे रोका ॥ २७० ॥ उन दोनोंने दोषोंको तोड़ पादोंके लिये वेदनाजनित चिल्लाहटसे भयंकर उसी रणके प्रधानमें राशि ज्योतिष के लिये अनेक

१-स्तीक्ष्णाः ४०, ५०, ६०, ७०, ८० । २-काटोदात्तिः ह्यमीमानुषव्य । ३-सर्वाणि ३० । ४-  
यन्मूत्रं च तेषामाम् । ५-मिथ्यासिन्धितः । ६-हृत्पद्मी भयः । ७-विपत्ता नरणा । ८-हृत्पद्मी १० ।  
शिरः । ९-सततगोत्रं च सत्तानां घातको वा । १०-सम्पत्तौ मन्त्रादपि न । ११-सर्वाणि ३० ।  
मियायव । १२-अनुवृत्तानां । 'मूत्रमूत्रोन्मोषाद्य' इत्यन्तिनाम् । १३-सर्वाणि ३० ।  
विदमन्तेतेति च । १४-सोममुत्तरे । विदुषा च । १५-सर्वाणि ३० ।  
सति । यावदोदात्तव्य । १६-यावदपिदिष्ट । १७-सर्वाणि ३० । १८-सर्वाणि ३० ।



प्रतीची<sup>१</sup> धेन<sup>२</sup> जायेऽहमंगिलत्तमहस्करम्<sup>३</sup> । इति सन्ध्याच्छलेना<sup>४</sup> हस्तत्र<sup>५</sup> कोपमिवागतम् ॥ २७४ ॥  
 लज्जे<sup>६</sup> संपर्कमर्केण कर्तुं लोचनगोचरे<sup>७</sup> । इयं वेलेति वा सन्ध्याऽप्यन्धगादाच्चप्रह्रां<sup>८</sup> ॥ २७५ ॥  
 अगादहः<sup>९</sup> पुरस्कृत्य मामर्को रत्रिगामिना । तेन<sup>१०</sup> पदचाकृतेऽतीव शोकात् सन्ध्या व्यलीयत<sup>११</sup> ॥ २७६ ॥  
 तमः सर्व<sup>१२</sup> तदा व्यापत् क्वचिद्दीर्घं गुहाद्विपु । शत्रुशेषं न कुर्वन्ति तत एव विचक्षणाः ॥ २७७ ॥  
 अवकाशं प्रकाशस्य यथात्मानमधात् पुरा । तथैव तमसः पदचाद् धिग्महत्त्वं विहायसः<sup>१३</sup> ॥ २७८ ॥  
 तमोवलान् प्रदीपादिप्रकाशाः प्रदिदोपिरे<sup>१४</sup> । जिनेनेव विनेनेव<sup>१५</sup> कलौ कण्ठं कुलिङ्गिनः ॥ २७९ ॥  
 तमोविमोहिते<sup>१६</sup> विश्व<sup>१७</sup> प्रबोधयितुमुद्धतः । विधिनेव सुधाकुम्भो<sup>१८</sup> दीर्घाणां विशुद्धयै ॥ २८० ॥  
 चन्द्रमाः<sup>१९</sup> कर्नालीभिरपिवद् बहलं तमः । वृद्धकास<sup>२०</sup> क्षय<sup>२१</sup> हातुं धूमपानमिवाचरन् ॥ २८१ ॥  
 निःशेषं नाशकदन्तुं ध्वान्तं हरिणलाञ्छनः ।<sup>२२</sup> अशुद्धमण्डलो हन्यान्निष्ठापः कथं रिपून् ॥ २८२ ॥  
 विधुं तत्करसंस्पर्शाद् भृशमासन् विकासिभिः । सरस्यो ह्लादयन्त्यो<sup>२३</sup> वा मुदा कुमुदलोचनैः ॥ २८३ ॥

॥ २७३ ॥ सन्ध्याके वहानेसे दिन लाल लाल हो गया, मानो जिससे मैं पैदा हुआ हूँ उस सूर्यको यह पश्चिम दिशा निगल रही है यही समझकर उसे क्रोध आ गया हो ॥ २७४ ॥ मैं सबके देखते हुए सूर्यके साथ सम्बन्ध करनेके लिए लज्जित होती हूँ यही समझकर मानो सन्ध्याकी वेला भी शरीर धारण कर सूर्यके पीछे पीछे चली गयी ॥ २७५ ॥ सूर्य जब दिनके पास गया था तब मुझे आगे कर गया था परन्तु अब रात्रिके पास जाते समय उसने मुझे पीछे छोड़ दिया है इस शोकसे ही मानो सन्ध्या वही बिलीन हो गयी थी ॥ २७६ ॥ दिनके समय जो अन्धकार किन्हीं गुफा आदि स्थानोंमें छिप गया था उस समय वह सबका सब आकर फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर लोग इसलिए ही शत्रुको बाकी नहीं छोड़ते हैं — उसे समूल नष्ट कर देते हैं ॥ २७७ ॥ आकाशने जिस प्रकार पहले प्रकाशके लिए अपनेमें स्थान दिया था उसी प्रकार पीछेसे अन्धकारके लिए भी स्थान दे दिया इसलिए आचार्य कहते हैं कि आकाशके इस बड़प्पनको धिक्कार हो । भावार्थ — बड़ा होनेपर भी यदि योग्य-अयोग्यका ज्ञान न हुआ तो उसका बड़प्पन किस कामका है ? ॥ २७८ ॥ जिस प्रकार कलिकालमें जिनेन्द्रदेवके न होनेसे अज्ञानके कारण अनेक कुलिङ्गियोंका प्रभाव फैलने लगता है उसी प्रकार उस समय सूर्यके न होनेसे अन्धकारके कारण अनेक दीपक आदिका प्रकाश फैलने लगा था ॥ २७९ ॥

इतनेमें चन्द्रमाका उदय हुआ जो ऐसा जान पड़ता था मानो अन्धकारसे मोहित हुए समस्त ससारको जगानेके लिए विघांताने अमृतसे भरा हुआ चाँदीका कलश ही उठाया हो ॥ २८० ॥ उस समय चन्द्रमा अपनी किरणरूपी नालियोंके द्वारा गाढ अन्धकारको पी रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिसमें खाँसी बढी हुई है ऐसे क्षय रोगका नाश करनेके लिए धूम्रपान ही कर रहा हो ॥ २८१ ॥ चन्द्रमा सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका था सो ठीक ही है क्योंकि जिसका मण्डल अशुद्ध है और जो प्रतापरहित है वह शत्रुओंको कैसे नष्ट कर सकता है ? ॥ २८२ ॥ तालाबोंमें चन्द्रमाके किरणोंके स्पर्शसे कुमुद खूब फूल रहे थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो खिले हुए कुमुदरूपी नेत्रोंके द्वारा चन्द्रमा

१ अहस्करणे । २ प्रादुर्भावाभि । ३ गिलति स्म । ४ दिवसः । ५ प्रतीच्याम् । ६ ह्रीवती भवानि । ७ दृष्टि-विषये प्रवेशे । बहुजनप्रवेशे इत्यर्थः । ८ स्वीकृतशरीराः । ९ आगच्छति स्म । १० दिवसम् । ११ पृष्ठे कृताह-मिति । १२ विलयं गता । १३ सर्वत्र विश्वं जगत् । १४ आकाशस्य । १५ तिमिरप्रावल्यात् । पक्षे आकाश-सामर्थ्यात् । १६ प्रकाशन्ते स्म । १७ रविणा । १८ मूढीकृतम् । १९ जगद् । २० राजतः । २१ किरण-नालीभिः । २२ कुत्सितपतिम् वृद्धप्रकाशं वा । २३ क्षयव्याधिम् । २४ कलंकयुतमण्डल । शत्रुसहितमण्डलश्च । २५ मुदं नयन्ति वा ।

उत्थितः 'पिलकोऽस्माकं विभुर्गण्डस्थ' वोपरि । का<sup>३</sup> जीविकेति<sup>४</sup> निर्विण्णाः प्रायः 'प्रोषितयोषितः २८४॥  
लब्धवच्चन्द्रचलस्योच्चैः स्मरस्य परितोषिणः । अट्टहास इवाशेषं साकश्चन्द्रातपोऽतर्त' ॥ २८५ ॥  
रुदो रागाद्वृकुरन्निवत्ते प्रमलानो भानुमानुभिः । तदा चन्द्रिकया<sup>५</sup> प्राच्यबृष्टयेवावर्तताङ्गिनाम् ॥ २८६ ॥  
'खण्डितानां तथा तापो नाभूद् भास्करश्चिमिभिः । यथाङ्गुमिस्तु<sup>६</sup> भारंशोर्विचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥ २८७ ॥  
खण्डनादेव<sup>७</sup> कान्तानां<sup>८</sup> ज्वलितो मदनालः । 'जान्वलीत्ययमे' तेने<sup>९</sup> त्यत्यजन्मधु<sup>१०</sup> काश्चन ॥ २८८ ॥  
बृथामिमानविध्वंसी नापरं मधुना विना । कलहान्तरिताः काश्चित्सखीभिरतिपायिताः<sup>११</sup> ॥ २८९ ॥  
प्रेम नः<sup>१२</sup> छत्रिमं नैतत् किमनेनेति<sup>१३</sup> काश्चन । दूरादेवात्यजन् स्निग्धाः श्राविका वाऽऽसवादिक्म<sup>१४</sup> ॥ २९० ॥  
मधु द्विगुणितस्वादु<sup>१५</sup> पीतं कान्तकरार्पितम्<sup>१६</sup> । कान्ताभिः<sup>१७</sup> कामदुर्वारमातङ्गमदवर्द्धनम् ॥ २९१ ॥  
हृष्याविर्भावितानङ्गरसास्ताः प्रियसङ्गमात् । प्रीतिं वाग्योचरातीतां स्वीचक्रुर्वक्रवीक्षणाः<sup>१८</sup> ॥ २९२ ॥

को हर्षसे प्रसन्न हो कर रहे हों । विशेष—इस श्लोकमें सरसी शब्दके स्त्रीलिंग होने तथा कर शब्दके श्लिष्ट हो जानेसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जिस प्रकार स्त्रियाँ अपने पतियोंके हाथका स्पर्श पाकर प्रसन्न हुए नेत्रोंसे उन्हें हर्षपूर्वक आनन्दित करती हैं उसी प्रकार सरसियाँ भी चन्द्रमाके कर अर्थात् किरणोंका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित हुए कुमुदरूपी नेत्रोंसे उसे हर्षपूर्वक आनन्दित कर रही थी ॥ २८३ ॥ प्रायः विरहिणी स्त्रियाँ यह सोच-सोचकर विरक्त हो रही थी कि यह चन्द्रमा हमारे गालपर फोड़ेके समान उठा है अथात् फोड़ेके समान दुःख देनेवाला है इसीलिए अब जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? ॥ २८४ ॥ जिसे चन्द्रमाका बल प्राप्त हुआ है और इसीलिए जो जोरसे संतोष मना रहा है ऐसे कामदेवके अट्टहासके समान चन्द्रमाका गाढ प्रकाश सब ओर फैल गया था ॥ २८५ ॥ मनुष्योंके हृदयमें उत्पन्न हुआ जो रागका अकूरा सूर्यकी किरणोंसे मुरझा गया था वह भारी अथवा पूर्व दिशासे आनेवाली वर्षाके समान फैली हुई चाँदनीसे उस समय खूब बढ़ने लगा था ॥ २८६ ॥ खण्डिता स्त्रियोंको सूर्यकी किरणोंसे वैसा सताप नहीं हुआ था जैसा कि चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थोंकी क्षणितयाँ विचित्र प्रकारकी होती हैं ॥ २८७ ॥ प्रिय पतिके विरहसे ही जो कामरूपी अग्नि जल रही थी वह इस मद्यसे ही जल रही है ऐसा समझकर कितनी ही विरहिणी स्त्रियोने मद्य पीना छोड़ दिया था ॥ २८८ ॥ मद्यके सिवाय व्यर्थके अभिमानको नष्ट करने-वाला और कोई पदार्थ नहीं है यही सोचकर कितनी ही कलहान्तरिता स्त्रियोंको उनकी सखियोने खूब मद्य पिलाया था ॥ २८९ ॥ हमारा यह प्रेम बनाबटी नहीं है इसलिए इस मद्यके पीनेसे क्या होगा ? यही समझकर कितनी ही प्रेमिकाओंने श्राविकाओंके समान मद्य आदिको दूर से ही छोड़ दिया था ॥ २९० ॥ कितनी ही स्त्रियाँ कामदेवरूपी दुर्निवार हाथीके मदको बढ़ाने-वाले स्वादिष्ट मद्यको पतिके हाथसे दिया जानेके कारण दूना पी गयी थी ॥ २९१ ॥ इस प्रकार जिनके कामका रस प्रकट हुआ है और जिनकी दृष्टि कुछ-कुछ तिरछी हो रही है ऐसी स्त्रियाँ

- १ पिटको ल०, अ०, इ०, स०, प० । पिटक स्फोटक । 'विस्फोट पिटकस्त्रिपु' इत्यभिधानात् ।  
२ गलगण्डस्थ । 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात् । ३ जीवितम् । ४ उद्वेगपरा । दुःखे तत्परा इत्यर्थः ।  
५ विभुवत्तमत् का स्त्रियः । ६ व्याप्नोति स्म । ७ प्रथमबृष्ट्या । ८ विरहिणीनां योषिताम् । ९ चन्द्रस्य ।  
१० वियोगात् । ११ प्रियतमाना पुष्पा । १२ मूर्धं ज्वलति । १३ दावाग्निः । १४ मध्येन । १५ मद्यम् ।  
१६ मद्यपानं कारिता । १७ अस्माकम् । १८ मध्येन । १९ मद्यादिकम् । २० विगुणितं स्वादु इत्यपि पाठः ।  
२१ प्रियतमकरणे दत्तम् । २२ कामदुःपूर. — ट० । पूरयितुमशक्यः । २३ वामलोकना ।

तत्र काचिद् प्रियं वीक्ष्य कथाशेषं द्विपच्छरैः । स्वयं कामशरैरक्षताङ्गी चित्रमभूद् व्यसुः ॥ २९३ ॥  
 क्षनैरनुपलक्ष्याङ्गं वीक्ष्य कान्तमजानती । परा परामुतां प्रापञ्चाग्न्याऽऽत्मविहितव्रणैः ॥ २९४ ॥  
 मया निवारितोऽप्यार्या वीरलक्ष्मीप्रियः प्रिय । तत्कठोरव्रणैरेवं जातोऽस्तीति श्रुत्वा ॥ २९५ ॥  
 मां निवार्य सहायान्तीं कीर्तिं स्वीकर्तुमागमः ॥ निर्मलेनि विपर्यस्तो ॥ जानन्नपि वहिश्चरीम् ॥ २९६ ॥  
 स्थिता तत्रैव सा कीर्तिः किं वदन्ति नरोऽन्तरम् । इति यासु यमुक्त्वाऽभ्यां प्रायार्सात् ॥ प्रियपद्वितिम् ।  
 न किं निवारिताऽप्यार्या ॥ त्वया सादृं विचेतना ॥ सन्निरां मे किमेवं त्वां नयन्ति गणिकाधामाः ॥ २९७ ॥  
 २९ अस्तु किं २९ यातमद्यापि नत्र ३ त्वां न हराणि ३ किम् । विलप्यैवं कलालापा काचित् ३ कान्तानुगमवत् २९९  
 शरनिर्भ्रसवार्द्धः कीर्लितासुरिवापरः । कान्तागमं प्रतीक्ष्यास्त लोचनस्थितर्जावितः ॥ ३०० ॥  
 कोपद्वयबिमुक्तां कान्तमालोक्य कामिनी । वीरलक्ष्म्या कृतामूया अणक्रोपाऽसुमत्यजत् ॥ ३०१ ॥  
 हृदि निर्मिश्रनाराचो मत्स्या कान्तां हृदि स्थिताम् । हा मृत्येयं वराकीर्ति २९ प्राणान् कश्चिद् व्यसर्जयत् ॥ ३०२ ॥

पतिके समागम होनेसे वचनातीत आनन्दका अनुभव कर रही थी ॥ २९२ ॥ उन स्त्रियोंमेंसे कोई स्त्री अपने पतिको शत्रुओंके वाणोंसे मरा हुआ देखकर आश्चर्य है कि कामके वाणोंसे शरीर क्षत न होनेपर भी स्वयं मर गयी थी ॥ २९३ ॥ अन्य कोई अजान स्त्री धावोसे जिसके अंग उपांग ठीक-ठीक नहीं दिखाई देते ऐसे अपने प्रिय पतिको देखकर और उन्हें अपने-द्वारा ही किये हुए धाव समझकर प्राणरहित हो गयी थी ॥ २९४ ॥ हे प्रिय, तुम्हे वीर लक्ष्मी बहुत ही प्यारी थी इसीलिए मेरे रोकनेपर भी तुम उसके पास आये थे अब उसी वीरलक्ष्मीके कठोर धावोमे तुम्हारी यह दशा हो रही है यह कहती हुई कोई अन्य स्त्री मर गयी थी ॥ २९५ ॥ हे प्रिय, मैं उसी समय आपके साथ आ रही थी परन्तु आप मुझे रोककर कीर्तिको स्वीकार करनेके लिए यहाँ आये थे, यद्यपि आप यह जानते थे कि कीर्ति सदा बाहर घूमनेवाली (स्वैरिणी-व्यभिचारिणी) है तथापि यह शुद्ध है ऐसा आपको भ्रम हो गया, अब देखिए, वह कीर्ति वही रह गयी, हाय, क्या मनुष्य हृदय अथवा विरहको जानते हैं ? इस प्रकार ईर्ष्याके साथ कहकर अन्य कोई स्त्री अपने पतिके मार्गपर जा पहुँची थी अर्थात् पतिको मरा हुआ देखकर स्वयं भी मर गयी थी ॥ २९६-२९७ ॥ हे प्रिय, रोक जाकर भी मैं मूर्खा आपके साथ क्यों नहीं आयी ? क्या मेरे समीप रहते थे नीच वेढ्याएँ (स्वर्गकी अप्सराएँ) इस प्रकार तुम्हे ले जाती ? खैर, अब भी क्या गया ? क्या मैं वहाँ उनसे तुम्हे न छीन लूँगी ! इस प्रकार विलाप कर मधुर स्वरवाली कोई स्त्री अपने पतिकी अनुगामिनी हुई थी अर्थात् वह भी मर गयी थी ॥ २९८-२९९ ॥ जिसका सब शरीर वाणोंसे छिन्न-भिन्न हो गया है, और इसलिए ही जिसके प्राण कीर्लित-मे हो गये हैं तथा नेत्रोंमें ही जिसका जीवन अटका हुआ है ऐसा कोई योद्धा अपनी स्त्री-के आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था ॥ ३०० ॥ जिसने क्रोधसे अपने ओठ डसकर छोड़ दिये हैं ऐसे अपने पतिको देखकर क्षण-भर क्रोध करती और वीरलक्ष्मीके साथ ईर्ष्या करती हुई किसी अन्य स्त्रीने अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥ ३०१ ॥ जिसके हृदयमें वाण घुस गया है ऐसे किसी योद्धाने

१ वार्तयैवावगिणं प्रियं श्रुत्वैत्यर्थः । २ वैरिणां वाणैरुपलसितम् । ३ विगतप्राणः । ४ व्रणं । ५ पञ्चत्वम् । ६ प्राप ल०, अ०, स०, इ०, प० । ७ आत्मना नखदन्तकृतव्रणैः । ८ आगमः । ९ वीरलक्ष्म्या निधुरम् । १० ममार । ११ आगच्छ । १२ वैपरीतः नीतः । वञ्चित इत्यर्थः । १३ विदन्ति ल० । १४ नरः मनुष्याः । अन्तरं विरहम् । नरोत्तरमिति पाठे उत्तमपुरुषम् । १५ असूयासहितं यथा भवति तथा । १६ आगात् । १७ प्रियतमस्य मार्गम् । मृत्तिमित्यर्थः । १८ आगच्छम् । १९ वराभ्यहम् । २० अमुख्यदेवस्त्रियः । २१ भवतु वा । २२ गमनम् । २३ स्वर्गं । २४ अपि तु हराण्येव । २५ प्रियतमस्यानुगामिन्यभूत् । कान्तास्मरणेन स्मरवशोऽभूदित्यर्थः । २६ सद्यः प्राणान् व्यसर्जयत् ल० ।

शखलमिन्नसर्वाङ्गमन्तको नेतुमागतः । कान्ता चिन्तापरं कन्तुस्तद्वस्तादृहतापरम् ॥३०३॥  
 कण्ठे<sup>१</sup> चालिङ्गितः प्रेमशोकभ्यां प्रियया परः । ध्यात्वा तां त्यक्तेहोऽगात् निर्वाणं<sup>२</sup> सन्नपस्तया ॥३०४॥  
 श्वः<sup>३</sup> स्वर्गे किं किमत्रैवं मंगमो नौ न संशयः । तत्र<sup>४</sup> त्वं बहुकान्तोऽद्य रमेऽत्येत्याह सन्नतम् ॥३०५॥  
 अत्र वाऽमुत्र<sup>५</sup> वासोऽस्तु किं तथा चिन्तयावयोः । विधोयः क्वापि नास्तीति कान्ता कान्तमतर्पयत् ॥३०६॥  
 सन्नतो वीरलक्ष्मी च कीर्तिं<sup>६</sup> चैहि<sup>७</sup> चिरायुषा । हन्तुं मामेव कामोऽयमिति कान्ताऽवददुषा ॥३०७॥  
 जयस्य विजयः प्राणैस्तवेवैतद् विनिश्चितम् ।<sup>८</sup> सन्नतावय यास्यानो दिवसित्यत्रवीत् परा ॥३०८॥  
 शराः पाप्मास्तव त्वं च<sup>९</sup> संयुक्तेष्वतिशीतगः<sup>१०</sup> । तत्र<sup>११</sup> विज्ञातसारोऽसि पुरुषेभ्यो मयं तव ॥३०९॥  
 आयसाः<sup>१२</sup> सायकाः<sup>१३</sup> काम त्वमप्यस्माकमन्तकः । इति कामं समुद्दिज्य खण्डिताः<sup>१४</sup> स्वगतं<sup>१५</sup> जगुः<sup>१६</sup> ॥३१०॥  
 सा रात्रिरिति संहारि<sup>१७</sup> प्रेमप्राणैरनीयत । तावत् संव्याऽगता रागाद् राक्षसीवेमिन्तुं रणम् ॥३११॥

अपनी स्त्रीको अपने हृदयमे स्थित मानकर तथा हाथ, यह बेचारी इस बाणसे व्यर्थ ही मरी जा रही है ऐसा समझकर शीघ्र ही अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥३०२॥ जिसका सब शरीर शस्त्रोसे छिन्न-भिन्न हो गया है ऐसे किसी अन्य योद्धाको यमराज लेनेके लिए आ गया था परन्तु स्त्रीकी चिन्तामे लगे हुए उसे कामदेवने यमराजके हाथसे छुड़ा लिया था ॥३०३॥ प्रेम और शोकके कारण अपनी स्त्रीके द्वारा गलेसे आलिङ्गन किया हुआ कोई धावसहित योद्धा उसी प्रियाका ध्यान कर तथा शरीर छोड़कर उसीके साथ मर गया ॥३०४॥ किसी योद्धाने व्रत धारण कर लिये थे इसलिए उसकी स्त्री उससे कह रही थी कि कल स्वर्गमे न जाने क्या-क्या होगा ? इसमें कुछ भी शंका नहीं है कि हम दोनोंका समागम यहाँ हो सकता है, चूँकि तुम्हें स्वर्गमें बहुत-सी स्त्रियाँ मिल जायेगी इसलिए मैं आज यहाँ ही क्रीड़ा करूँगी ॥३०५॥ हम दोनोंका निवास चाहे यहाँ हो, चाहे परलोकमे हो, उसकी चिन्ता ही नहीं करना चाहिए । क्योंकि हम लोगोका विधोय तो कहीं भी नहीं हो सकता है इस प्रकार कहती हुई कोई स्त्री अपने पतिको सन्तुष्ट कर रही थी ॥३०६॥ कोई स्त्री क्रोधपूर्वक अपने पतिसे कह रही थी कि तुम तो व्रत धारण कर वीर लक्ष्मी और कीर्तिको प्राप्त होओ — उनके पास जाओ, दीर्घ आयु होनेके कारण यह कामदेव मुझे ही मारे ॥३०७॥ कोई स्त्री अपने पतिसे कह रही थी कि यह निश्चित है कि जयकुमारकी जीत तेरे ही प्राणोसे होगी और व्रतोके धारण करनेवाले हम दोनों ही आज स्वर्ग जावेगे ॥३०८॥ खण्डिता स्त्रियाँ कामदेवको उद्देश्य कर अपने मनमे कह रही थी कि अरे काम, संयोगी पुरुषोपर पड़ते समय तेरे बाण फूलोके हो जाते हैं और तू भी बहुत ठण्डा हो जाता है, उन पुरुषोके पास तेरे बलकी सब परख हो जाती है, वास्तवमे तू पुरुषोसे डरता है परन्तु हम स्त्रियोपर पड़ते समय तेरे बाण लोहेके ही रहते हैं, और तू भी यमराज बन जाता है । भावार्थ — तू पुरुषोको उत्तना दुःखी नहीं करता जितना कि हम स्त्रियोको करता है ॥३०९—३१०॥ प्रेमरूपी प्राणोको धारण करनेवाले स्त्री-पुरुषोने इस प्रकारकी बातचीतके द्वारा ज्यो ही वह रात्रि पूर्ण की त्यो ही रागसे सन्नाम देखनेके लिए आयी हुई राक्षसीके समान सन्ध्या ( सवेरीकी लाली ) आ गयी ॥३११॥

१ कण्ठेनालिङ्गित इ०, अ०, स०, प० । २ मरणम् । ३ अनन्तरागामिदिने । ४ स्यादिति न जाने इति संबन्धः । ५ आवयो । ६ स्वर्गे । ७ क्रीडाणि । ८ स्वर्गे । ९ सनियमः । १० गच्छ । ११ सनियमावावाम् । १२ संगतेषु स्त्रीपुरुषेषु । १३ अतिशयेन सुखहेतु । १४ संयुक्तस्त्रीपुरुषेषु । १५ अयमसंबन्धिनः । १६ पुरुष-वियुक्ता । १७ स्वाभिप्रायम् । १८ भ्रान्ति स्म । १९ मिथो भावणैः । २० प्रेम इव प्राणा येषां तैः ।

प्राभातानककोटीनां निःस्वनः सेनयोः समम्<sup>१</sup> । आक्रामति स्म दिक्चक्रमक्रमेणोच्चरैस्तदा ॥३१२॥  
 प्रतीच्याऽपि युतश्चन्द्रो मयैवोदेति भास्करः । इति स्नेहादिव प्राची प्रागभादुदयाव्रवेः ॥३१३॥  
 सरसा<sup>२</sup> कमलाक्षिभ्यः प्रबुद्धानां तदा मुदा । निर्ययौ स्वार्थमादाय निद्रेव भ्रमरावली ॥३१४॥  
 गतायां स्वेन सङ्कोचं पशिन्यां स्वीदये रविः । लक्ष्मीं निजकरोणोच्चैर्विदधे सा हि मित्रता<sup>३</sup> ॥३१५॥  
 रक्तः<sup>४</sup> करैः समाक्षिप्य संध्यां सद्यो न्यरज्यत<sup>५</sup> । वदन्निव रविर्भोगान् पश्यन्तं विरसान् स्फुटम् ॥३१६॥  
 पर्यन्वज्जीव पुरेवैवां स्नां संध्यामिति वेपथ्या । रविं रक्तमपि स्थित्यै<sup>६</sup> प्राच्यक्षमत<sup>७</sup> न क्षणम् ॥३१७॥  
 शयित्वा वीरशय्यायां निशां नीत्वा निशामिनः<sup>८</sup> । आत्वा संतर्पिताशेषदीनानाथवनीपकाः ॥३१८॥  
 अञ्जित्वा विधिना स्तुत्वा जिनेन्द्रांखिजगन्नताम् । अतिष्ठन्नायकाः सर्वे परिच्छिद्य रणोन्मुखाः ॥३१९॥  
 अरिञ्जनाख्यमारुह्य रथं श्वेताश्वयोजितम् । गृहीत्वा वज्रकाण्डं च दत्तं यच्चक्रिणा द्वयम्<sup>९</sup> ॥३२०॥  
 बन्दिमाराधयन् देनं<sup>१०</sup> वन्धमानाङ्गमालिकः । गजध्वजै<sup>११</sup> समुत्थाप्य जयलक्ष्मीसमुत्सुकः ॥३२१॥  
 जयो ज्यास्फालं कुर्वन् कृतान्तविक्रताकृतिः । द्विपानां<sup>१२</sup> भीषणस्तस्थौ दिशामय्याहरन् मदम् ॥३२२॥  
 उपोदयायशस्कीर्तिः अर्ककीर्तिश्च्युतच्छविः । कारागारमिवाध्यास्य स्यन्दनं मन्दवाजिनम् ॥३२३॥

उसी समय दोनों सेनाओंमें साथ-साथ उठनेवाले प्रातःकालीन करोड़ों बाजोंके शब्दोंने एक साथ सब दिशाएँ भर दी ॥३१२॥ ग्रहपि चन्द्रमा पश्चिम दिशाके साथ है तथापि सूर्य तो मेरे ही साथ उदय होगा इसी प्रेमसे मानो पूर्व दिशा सूर्योदयसे पहले ही सुशोभित होने लगी थी ॥३१३॥ उस समय भ्रमरोंकी पंक्ति तालाबोके फूले हुए ( पक्षमें जागे हुए ) कमलरूपी नेत्रोंसे अपना इष्ट पदार्थ लेकर निद्राके समान बड़ी प्रसन्नताके साथ निकल रही थी ॥३१४॥ कमलिनी मेरे अस्त होते ही संकुचित हो गयी थी, इसलिए सूर्यने अपना उदय होते ही अपने ही किरणरूपी हाथोंसे उसपर बहुत अच्छी शोभा की थी सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता यही कहलाती है ॥३१५॥ रक्त अर्थात् लाल ( पक्षमें प्रेम करनेवाला ) सूर्य, कर अर्थात् किरणों ( पक्षमें हाथों ) से सन्ध्याका आलिंगन कर शीघ्र ही विरक्त अर्थात् लालिमारहित ( पक्षमें राग-हीन ) हो गया था सो मानो वह यही कह रहा था कि ये भोग अन्त समयमें नीरस होते हैं ॥३१६॥ इस सूर्यने पहलेके समान ही अपनी सन्ध्यारूपी स्त्रीका आलिंगन किया है इस ईप्स्यसे ही मानो पूर्व दिशाने सूर्यको प्रेमपूर्ण अथवा लाल वर्ण होनेपर भी अपने पास अण-भर भी नहीं ठहरने दिया था ॥३१७॥ व्रत-नियम पालन करनेवाले सेनापतियोंने वीरशय्यापर शयन कर रात्रि व्यतीत की । सवेरे स्नान कर सब दीन, अनाथ तथा याचकोंको सन्तुष्ट किया, त्रिजगद्वन्ध जिनेन्द्र देवकी विधिपूर्वक पूजा कर स्तुति की और फिर वे अपनी-अपनी सेनाका विभाग कर युद्धके लिए उत्सुक हो खड़े हो गये ॥३१८-३१९॥ बन्दीजन और मागध लोगोका समूह जिसके नामके अक्षरोंकी स्तुति करते हैं जो विजयलक्ष्मीके लिए उत्सुक हो रहा है, जिसका आकार यमराजके समान विकृत है, जो दिग्गजोंके भी मदको हरण करनेवाला है और भयकर है ऐसा जयकुमार सफेद घोड़ोंसे जुते हुए अरिजय नामके रथपर सवार होकर और वज्रकाण्ड नामका वह धनुष जो कि पहले चक्रवर्तिन दिया था, लेकर हाथीकी ध्वजाको उड़ाता तथा धनुषकी डोरीका आस्फालन करता हुआ खड़ा हो गया ॥३२०-३२२॥ जिसकी अपकीर्तिका उदय

१ युगपत् । २ सरोवराणाम् । ३ वृद्धौ वृद्धिः क्षये क्षयश्च । ४ अरुणः अनुरक्तश्च । ५ विरक्तोऽभूत् । ६ अव-  
 साने निस्साराणि इति वदन्ति वेति संबन्धः । ७ आलिलिङ्ग । ८ अनुरक्तम् । ९ निवसनाय । १० पूर्वविक्र ।  
 ११ न सहते स्म । १२ शयनं कृत्वा । १३ नियमवन्तः । १४ तिष्ठन्ति स्म । १५ रथवज्रकाण्डपद्मयम् ।  
 पुरा ल० । १६ स्तूयमानः । १७ गजाङ्घ्रितत्त्वजम् । १८ भयंकरः । १९ उदयप्राप्तापकीर्तिः । २० वन्धनालयम् ।

अष्टचन्द्रान् सखी कुर्वन् न चन्द्रोपमा युधः<sup>१</sup> । स्तोत्रातकेतुं संकाशचक्रकेतुपलक्षितः ॥३२४॥  
<sup>२</sup>प्रत्यायातमहावातविहृतस्त्रजवैः शरैः । विध्यन्मध्यन्दिनार्कं वा सुमनःक्षतहेतुभिः ॥३२५॥  
 जयं शत्रुदुरालोकं उन्नतसेजोमयं स्मयात्<sup>३</sup> । कलसो वाङ्मगद् वारि<sup>४</sup> प्रेरितः खलकर्मणा ॥३२६॥  
 जयोऽपि शरसन्तानघनी कृत्यघनाघनः । सहाकर्कशीर्तिमर्केण कुर्वन् विनिहृतप्रसम् ॥३२७॥  
 'प्रतीयायान्तरे छिन्दन्' रिपुप्रहितसायकान् । शराभ्रास्य पुरो धावन्<sup>५</sup> 'ध्वजस्येवोदयऽजवः' ॥३२८॥  
 अच्छैस्ती<sup>६</sup> 'छत्रमस्त्राणि वैजयन्ती'<sup>७</sup> च दुर्जयः । जयोऽर्ककीर्तेरौदृत्यं विहत्य विनिनीषया<sup>८</sup> ॥३२९॥  
 अष्टचन्द्रास्तदाभ्येत्य<sup>९</sup> विद्यावलविजृम्भणात् । न्यपेघयन् जयस्येपूतम्मोदा वा रवेः करान् ॥३३०॥  
 भुजबलयादयोऽ<sup>१०</sup> 'भ्येयुर्दोदुं हेमाद्भदं' कुधा । सानुजं सिंहसङ्घातं सिंहसङ्घ इवापरः ॥३३१॥  
 'सानुजोऽनन्तसेनोऽपि प्राप मेघस्वरानुजान् । आङ्गरेयो यथा यूयः कलिङ्गजं' भतङ्गजान् ॥३३२॥  
 अन्येऽप्यन्याश्च भूपाला भूपालान् कोपिनस्तदा । आनिपेतुः कुलाद्रीन्वा संचरन्तः<sup>११</sup> कुलाचलाः ॥३३३॥  
 नास्त्येषामीदृशी शक्तिर्विधेयमिति विधया । जयो युद्धाय सन्नद्धस्तदा<sup>१२</sup> 'मित्रसुखङ्गमः' ॥३३४॥

हो रहा है, कान्ति नष्ट हो गयी है, युद्धके नष्ट चन्द्रोके समान अष्टचन्द्र विद्याधरोको जिसने अपना मित्र बनाया है, जो अपना अनिष्ट सूचित करनेवाले धूमकेतुके समान चक्रके चिह्नवाली ध्वजासे सहित है, और उलटी चलनेवाली तेज वायुसे जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे देवतालोका घात करनेवाले बाणोसे जो दोपहरके सूर्यपर प्रहार करता हुआ-सा जान पड़ता है, ऐसा अर्ककीर्ति धीरे चलनेवाले घोडोसे जुते हुए जेलखानेके समान अपने रथपर बैठकर, शत्रु जिसे देख भी नहीं सकते और जो जलते हुए तेजके समान है ऐसे जयकुमारपर बड़े अभिमानसे इस प्रकार आया जिस प्रकार कि हाथी पकड़नेवालोके क्रूर व्यापारसे प्रेरित होता हुआ हाथीका बच्चा अपने बँधनेके स्थानपर आता है ॥३२३-३२६॥ बाणोके समूहसे मेघोको सघन करने-वाला जयकुमार भी सूर्यके साथ-साथ अर्ककीर्तिको प्रभारहित करता तथा शत्रुके द्वारा छोड़े हुए बाणोको छेदन करता हुआ सामने आया और जिस प्रकार उदयकालमे सूर्यकी किरणें उसके सामने जाती है उसी प्रकार उसके द्वारा छोड़े हुए बाण ठीक उसके सामने जाने लगे ॥३२७-३२८॥ बड़ी कठिनाईसे जीते जाने योग्य जयकुमारने अर्ककीर्तिको हटानेकी इच्छासे उसका उद्धतपना नष्ट कर, उसका छत्र शस्त्र तथा ध्वजा सब छेद डाली ॥३२९॥ जिस प्रकार मेघ सूर्यकी किरणोको रोक लेते है उसी प्रकार उस समय अष्टचन्द्रोने आकर अपनी विद्या और बलके विस्तारसे जयकुमारके बाण रोक लिये थे ॥३३०॥ जिस प्रकार एक सहोका समूह दूसरे सहोके समूहपर आ पड़ता है उसी प्रकार भुजबली आदि भी बड़े क्रोधसे छोटे भाइयोके साथ खड़े हुए हेमागदसे लड़नेके लिए उसके सन्मुख आये ॥३३१॥ जिस प्रकार अंगरक्षेसमे उत्पन्न हुए हाथियोका समूह कलिङ्ग देशमे उत्पन्न हुए हाथियोपर पड़ता है उसी प्रकार अनन्तसेन भी अपने छोटे भाइयोसहित जयकुमारके छोटे भाइयोके सामने जा पहुँचा ॥३३२॥ उस समय और भी राजा लोग क्रोधित होते हुए अन्य राजाओपर इस प्रकार जा टूटे मानो कुलाचल कुलाचलोपर दूट पड़ रहे हो ॥३३३॥ इन मेरे पक्षवालोकी न तो ऐसी शक्ति है

१ युद्धस्य । २ निजविनाशहेतुकजयसमान । ३ प्रतिकूलमायात । ४ मध्याह्नमिव । मध्याह्नरविमण्डलाभिमुखं मुक्ता शरा यथा स्वशरीरे पतन्ति तद्वदित्यर्थ । ५ गवात् । ६ गजपतनहेतुगर्तम् । ७ निविडीकृत । ८ अभिमुख जगाम । ९ शत्रुविशजित । १० रवे । ११ चिच्छेद । १२ ध्वजाम् । १३ निराकरणेच्छया नेतुमिच्छया वा । १४ सम्मुखमागत्य । १५ अभिमुखमागत्यम् । १६ निजानुजसहितः । १७ अङ्गरक्षेसे भव । आङ्गकेयो ल० । १८ कलिङ्गदेशे भव । १९ प्राप्नुवन्ति स्म । अभिपेतु ल०, इ०, स०, प० । २० सञ्चलन्तः कुलाग्रय । ल० । २१ पूर्व मुनेर्धर्मश्रवणज्जातनागराजः ।

विदित्वा विष्टराऽपाञ्चयं संग्राह्य सादरः । नागपाशं शरं चार्द्धचन्द्रं दत्त्वा यथावसौ ॥३३४॥  
 तं सहस्रसहस्रांस्तुस्फुरद्भुजप्रभास्वरम् । कौरवः शरमादाय वज्रकाण्डं प्रयोजयन् ॥३३५॥  
 हत एव सुतो भर्तुर्भुवोऽने नैति सम्भ्रमम् । नरविद्याधराधीना महाश्वसुदपादयन् ॥३३७॥  
 रथाञ्च तथा दुष्टानष्टचन्द्रान् ससारयन् । स शरो भस्मयामास भस्त्राणि च यथाऽश्वनिः ॥३३८॥  
 छिन्नदन्तकोरु दन्तीवान्तको वा हतायुधः । भग्नमानः क्रुमारोऽश्वाद् धिक्कष्टं चेष्टितं विधेः ॥३३९॥  
 इति दत्तग्रहं वीरं गजं वा पादपाशकैः । अपायुधैरुपायजैर्विधिज्ञस्तमः जीग्रहत् ॥३४०॥  
 तच्छौर्यं यत्पराभूतः प्राक् प्राप्तिपरिभूतिभिः । यत्पश्चात्साहसं धाष्टर्यात् स द्वितीयः पराभवः ॥३४१॥  
 सोऽन्वयः स पिता तादृक् पदं सा सैन्यसंहतिः । तस्याप्यासीदवस्थेयमुन्मार्गं कं न पीडयेत् ॥३४२॥  
 वीरपट्वेन वद्धोऽयं चक्रिणानेन तत्सुत । अणुपट्वेन नीतः पश्य कार्यविपर्ययम् ॥३४३॥  
 पतत्पतद्भस्मान्मर्ककीर्तिमनायुधम् । स्वरथे स्थापयित्वा चैराह्वानेन कर्णं स्वयम् ॥३४४॥  
 विपक्षखगभूपालान् नागपाशेन पाणिबन्धत् । निष्पन्दं निर्जितारतिर्न्यमसीत् सिंहविक्रमान् ॥३४५॥

और न यह विद्या ही है ऐसा समझकर जयकुमार स्वयं युद्धके लिए तैयार हुआ, उसी समय उसका मित्र सर्पका जीव जो कि देव हुआ था आसन कम्पित होनेसे सब समाचार जानकर बड़े आदरके साथ जयकुमारके पास आया और नागपाश तथा अर्द्धचन्द्र नामका बाण देकर चला गया ॥३३४-३३५॥ जो हजार सूर्यकी चमकती हुई किरणोंके समान देदीप्यमान हो रहा था ऐसा वह बाण लेकर जयकुमारने अपने वज्रकाण्ड नामके धनुषपर चढ़ाया ॥३३६॥ इस बाणसे चक्रवर्तीका पुत्र अवश्य ही मारा जायेगा यह जानकर भूमिगोचरी और विद्याधरोंके अधिपति राजाओंने बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न किया ॥३३७॥ उस बाणने नौ रथ, सारथिसहित आठो अर्धचन्द्र और सब बाण वज्रकी तरह भस्म कर दिये ॥३३८॥ जिसका मान भग्न हो गया है ऐसा अर्ककीर्ति, जिसके दाँत और सूँड कट गये हैं ऐसे हाथीके समान अथवा जिसका शस्त्र नष्ट हो गया है ऐसे यमराजकी तरह चेष्टारहित खड़ा था इसलिए कहना पड़ता है कि देवकी इस दुःख देनेवाली चेष्टाको धिक्कार हो ॥३३९॥ जिस प्रकार शस्त्ररहित किन्तु उपायको जाननेवाले पुरुष पैरोकी पाशसे दाँतोंको दबोचकर वीर हाथको पकड़ लेते हैं उसी प्रकार जयकुमारने अर्ककीर्तिको पकड़ लिया ॥३४०॥ तिरस्कार होनेके पहले-पहले जो लड़ना है वह गुरवीरता है और तिरस्कार प्राप्त कर घृष्टावश जो पीछेसे लड़ता है वह दूसरा तिरस्कार है ॥३४१॥ यद्यपि उस अर्ककीर्तिका लोकोत्तर वश था, चक्रवर्ती पिता थे, युवराज पद था और भारी सेनाका समूह उसके पास था तो भी उसकी यह दशा हुई इससे कहना पड़ता है कि दुराचार किसे पीड़ित नहीं करता है ? ॥३४२॥ चक्रवर्तीने जयकुमारको वीरपटु बाँधा था परन्तु इसने उनके पुत्रको घावोंकी पट्टियोंका स्थान बना दिया, जरा कार्यको इस उलट-पुलटको तो देखो ॥३४३॥ सब शत्रुओंको जीतनेवाले जयकुमारने अग्निपर पड़ते हुए पतंगके समान तथा हथियाररहित अर्ककीर्तिको अपने रथमें डालकर और स्वयं एक ऊँचे हाथीपर आरुढ़ होकर सिंहेके समान पराक्रमी शत्रुभूत विद्याधर राजाओंको बरुणके

१ अर्द्धचन्द्रशरम् । २ सहस्ररवि । ३ जयकुमार । ४ वज्रकाण्डकोदण्डे । ५ प्रवर्तयन् । ६ चक्रिणः । ७ जयेन । ८ सम्भ्रान्तिम् । ९ उत्पादितवान् । १० अर्द्धचन्द्रबाणः । ११ कृतग्रहणम् । दन्तग्रहं लं । १२ गजबन्धन-कुशलः । १३ अपगतशस्त्रैः । १४ अर्ककीर्तिम् । १५ ग्राहयति स्म । १६ वृष्टत्वात् । १७ पतत्पूर्यसद्भुशम् । १८ पाशपाणिबन्धु भवन्तीत्यर्थः । 'प्रचेता वरुण पाशो यादसा पतिरप्पति' इत्याभिधानात् । १९ नियमितवान् ।





जयोऽपि जगदीशानमित्यासंविनयोदयः । अस्तादीदस्तकर्माणं भक्तिनिर्भरचेतसा ॥३५७॥

वियोगिनी

शमिताखिलविघ्नसंस्तवस्त्वचि तुच्छोऽप्युपयात्यतुच्छताम् ।

शुचिशुक्तिपुटेऽम्बु संघृतं ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥३५८॥

घटयन्ति न विघ्नकोटयो

निकटे त्वक्कमथोर्निवासिनाम् ।

पटवोऽपि फलं दवाग्निभि-

र्भयमस्यैम्बुधिमाप्यवर्तिनाम् ॥३५९॥

हृदये स्वयि सन्निधापिते

रिपवः केऽपि भयं विधित्सवः ।

असृताक्षिपुं सत्सु सन्ततं

विषमोदार्पितविप्लवः कृतः ॥३६०॥

उपयान्ति समस्तसंपदो

विषदो विध्युतिमाप्नुवन्त्यलम् ।

दृषमं "दृषमार्गदेशिनं"

अपकेतुद्विषमाप्नुषां सताम् ॥३६१॥

वसन्ततिलकम्

इत्थं भवन्तमतिभक्तिपथं निनीयोः<sup>१०</sup>

प्रागेव बन्धकलयः<sup>११</sup> प्रलयं व्रजन्ति ।

पश्चाद्भनश्चरमयाचितमप्यवश्यं

<sup>१२</sup>सम्पत्स्यतेऽस्य विलसद्गुणमद्रमद्रम्<sup>१३</sup> ॥३६२॥

जिसे विजयका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ऐसा जयकुमार भी भक्तिसे भरे हुए हृदयसे समस्त कर्मों-को नष्ट करनेवाले जगत्पति-जिनेन्द्रदेवको इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥३५७॥ हे समस्त विघ्नोंको नष्ट करनेवाले जिनेन्द्रदेव, आपके विषयमें किया हुआ स्तवन थोड़ा होकर भी बड़े महत्त्वको प्राप्त हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि पवित्र सीपके सम्पुटमें पड़ी हुई पानी-की एक बूँद भी मोतीपनेको प्राप्त हो जाती है-मोतीका रूप धारण कर लेती है ॥३५८॥ हे देव, फल देनेमें चतुर करोड़ो विघ्न भी आपके चरणोंके समीप निवास करनेवाले पुरुषों-को कुछ फल नहीं दे सकते सो ठीक ही है क्योंकि क्या समुद्रके बीचमें रहनेवाले लोगोंको दावा-नलसे कभी भय होता है ? ॥३५९॥ हे प्रभो, आपको हृदयमें धारण करनेपर फिर ऐसे कौन शत्रु रह जाते है जो भय देनेको इच्छा कर सके, निरन्तर अमृतभक्षण करनेवाले पुरुषोंमें किसी विषसे उत्पन्न हुआ उपद्रव कैसे हो सकता है ? ॥३६०॥ धर्मके मार्गका उपदेश देने-वाले और कामदेवके शत्रु श्रीवृषभदेवकी शरण लेनेवाले सज्जन पुरुषोंको सब सम्पदाएँ अपने-आप मिल जाती हैं और उनकी सब आपत्तियाँ अच्छी तरह नष्ट हो जाती हैं ॥३६१॥ हे शोभायमान गुणोंसे कल्याण करनेवाले जिनेन्द्र, इस प्रकार जो आपको अतिशय भक्तिके मार्गमें ले जाना चाहता है उसके कर्मबन्धके सब दोष पहले ही से प्रलयको प्राप्त हो जाते हैं और फिर पीछेसे कभी नष्ट नहीं होनेवाला मोक्षरूपी कल्याण बिना माँगे ही अवश्य प्राप्त हो

१ प्राप्त । २ स्तौति स्म । ३ अस्ति किम् । ४ सन्निधानीकृते । ५ परिभवम् । ६ विधातुमिच्छव । ७ अमृत-भवनतीति अमृताक्षिनस्तेषु । ८ धर्ममार्गोपदेशकम् । ९ प्राप्नुवताम् । १० नेतुमिच्छो । ११ बन्धदोषाः । १२ सम्पन्नं भविष्यति । १३ कल्याणम् ।

मालिनी

परिणतपरितापास्त्वेदधारी विलक्षो<sup>१</sup>

विगलितविभ्रमावो विद्वद्भीभूतचेताः ।

<sup>३</sup>अधित विधिविधानं<sup>४</sup> चिन्तयँश्चक्रिस्तु-

विरहविभ्रुरवृत्तिं<sup>५</sup> वीरलक्ष्मीवियोगे ॥३६३॥

वमन्ततिलकम्

येषामर्थं<sup>६</sup> चित्तसुरः समरे सहाय-

स्तानप्यहं<sup>७</sup> क्लृतरतिः ससुपासयामि ।

<sup>८</sup>युयोऽयमेव यदि काऽत्र<sup>९</sup> विलम्बनेति

मत्वेव मद्भुक्तुं<sup>१०</sup> समिधाय जयं<sup>११</sup> जयश्रीः ॥३६४॥

मालिनी

स<sup>१२</sup> बहुतरमरा<sup>१३</sup> जन्मोच्छ्रिता<sup>१४</sup> शत्रुपांस्तु<sup>१५</sup>

<sup>१६</sup>भुतमिति समयित्वा वृष्टिभिः सायकानाम् ।

उपगतहरिभूमिः<sup>१७</sup> प्राप्य शूरिप्रतापं<sup>१८</sup>

दिनकर इव<sup>१९</sup> कन्यासंप्रयोगाभिलाषी ॥३६५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

सौभाग्येन यदा स्ववक्षसि<sup>२०</sup> यदा माला तवैवापरं

वीरो<sup>२१</sup> वीध्रमचार्यवीर्यविभवो विभ्रश्य<sup>२२</sup> विश्वद्विषः ।

वीरश्रीविहितं<sup>२३</sup> दृष्टौ स शिरसाऽम्लानं यदा शोखरं

लक्ष्मीमान् विवधाति साहससंखः<sup>२४</sup> किंच न पुण्योदये<sup>२५</sup> ॥३६६॥

जाता है ॥ ३६२ ॥ प्राप्त हुए सन्तापसे जिसे पसीना आ रहा है, जो लज्जित हो रहा है, 'मैं सबका स्वामी हूँ' ऐसा अभिप्राय जिसका नष्ट हो गया है, जिसका चित्त विह्वल हो रहा है, और जो भाग्यकी गतिका विचार कर रहा है ऐसे अर्ककीर्तिने वीरलक्ष्मीका वियोग होनेपर उसके विरहसे विधुर वृत्ति धारण की थी ॥ ३६३ ॥ देवोको जीतनेवाला यह जयकुमार युद्धमें जिनकी सहायता करता है मैं उनकी भी बड़े प्रेमसे उपासना करती हूँ, फिर यदि यह ही सबमें मुख्य हो तो इसमें विलम्ब क्यों करना चाहिए ऐसा मानकर ही मानो विजयलक्ष्मी जयकुमारके पास बहुत शीघ्र आ गयी थी ॥ ३६४ ॥ इस प्रकार बाणोंकी वर्षासे ऊपर उठी हुई शत्रुरूपी घूलिको शीघ्र ही नष्ट कर पराक्रमके द्वारा सिंहका स्थान प्राप्त करनेवाला और अब कन्याके सयोगका अभिलाषी जयकुमार उस सूर्यकी तरह बहुत ही अधिक सुजोषित हो रहा था जो कि सिंह राशिपर रहकर कन्या राशिपर आना चाहता है ॥ ३६५ ॥ जिसकी पराक्रमरूपी सम्पत्तिका कभी कोई निवारण नहीं कर सकता ऐसे शूरवीर जयकुमारने जिस समय सौभाग्यके वशसे अपने वक्ष स्थलपर माला धारण की थी उसी समय सब शत्रुओंको नष्ट कर वीरलक्ष्मीका बना हुआ तथा कभी नहीं भ्रुखानेवाला यशरूपी दूसरा सेहरा भी उसने अपने मस्तकपर धारण किया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो लक्ष्मीमान् है, साहसका मित्र है और जिसके पुण्यका

१ विस्मयान्वित । २ विभ्रुत्तरहितः । ३ वरति स्म । ४ कर्मभेदम् । ५ विरहविकलवत्स्य वर्तनम् ।

६ जयकुमार । ७ घुरघर । ८ कालक्षेप । ९ शीघ्रम् । १० जयकुमारम् । ११ जयः । १२ अत्यधिकम् ।

१३ विराजति स्म । १४ उन्नताम् । १५ रेणुम् । १६ शीघ्रम् । १७ प्राप्तशक्रपदः । प्राप्तसिंहराशिस्थान्त्वं ।

१८ संतापम्, प्रमादम् । १९ सुलोचनासङ्गाभिलाषी । कन्याराशिगतवसनंप्रयोगाभिलाषी च । २० मुञ्चम् ।

२१ पातयित्वा । २२ कृतम् । २३ साहस एव सखा । २४ पुण्योदये स०, अ०, प०, स०, इ० ।

## शिखरिणी

१ जयोऽयात्सोऽयश्च प्रभवति गुणेश्वरो गुणगणः  
 सदाचारात्सोऽपि तत्र विहितवृत्तिः श्रुतमपि ।  
 प्रणीतं सर्वज्ञैर्विदितसकलास्ते खलु जिना-  
 स्तत्तस्तान् विद्वान् संश्रयतु जयमिच्छन् जय इव ॥ ३६७ ॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणमद्राचार्यप्रणीते  
 जयविजयवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥ ४४ ॥

उदय है वह क्या नहीं कर सकता है ? ॥ ३६६ ॥ इस संसारमें विजय पुण्यसे होती है, वह पुण्य गुणोंसे होता है, गुणोंका समूह सदाचारसे होता है, उस सदाचारका निरूपण शास्त्रोंमें है, शास्त्र सर्वज्ञ देवके कहे हुए है और सर्वज्ञ सब पदार्थोंको जाननेवाले जिनेन्द्रदेव है इसलिए विजयकी इच्छा करनेवाले विद्वान् पुरुष जयकुमारके समान उन्हीं जिनेन्द्रदेवोंका आश्रय करें - उन्हींकी सेवा करे ॥ ३६७ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध गुणमद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके  
 हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमारकी विजयका वर्णन करनेवाला  
 चौवालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

## पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ मेघस्वरो गत्वा <sup>१</sup>प्रथमानपराक्रमः । मथितारातिदुर्गवः । पृथु स्वावासमास्थितः ॥ १ ॥  
 स्वयं च संचिताधानि हन्तुं स्तुत्वा जिनेशिनः । अकम्पनमहाराजः समालोक्य सुलोचनाम् ॥ २ ॥  
 कृताहारपरित्यागनियोगमायुधस्तदा <sup>३</sup> । सुप्रभातपथ्युर्धि कायोत्सर्गस्य सुस्थिताम् ॥ ३ ॥  
 सर्वशान्तिकं ध्याति ध्यायन्तो स्थिरचेतसा । धर्म्यमैकाग्र्यनिष्पन्दा <sup>४</sup> जिनेन्द्रामिसुखी मुदा ॥ ४ ॥  
 समभ्यर्च्य समाश्वास्य प्रशस्य बहुशो गुणान् । सवन्माहात्म्यतः पुत्रि शान्तं सर्वममङ्गलम् ॥ ५ ॥  
 प्रतिध्वस्तानि पापानि <sup>५</sup>नियामसुसंहर । इत्युक्त्वा पकरामुक्त्वा पुरस्कृत्य सुतां सुतैः ॥ ६ ॥  
 हृष्टः सुप्रमया चामा राजगेहं प्रविश्य सः । याहि पुत्रि निजागारं विसर्ज्येति सुलोचनाम् ॥ ७ ॥  
 अन्यथा चिन्तितं कार्यं दैवेन कृतसम्यया । इति कर्तव्यतामूढः <sup>६</sup>सुश्रुतादिभिरिन्द्रभीः ॥ ८ ॥  
 औत्पत्तिकादि <sup>७</sup>धीभेदैर्वाःलोक्य सचिवोत्तमैः । विद्याधरधरार्थीनाम् विपाशीकृत्य <sup>८</sup>कृत्यचित् ॥ ९ ॥  
 बिश्वानाश्वास्य तथोच्यैः <sup>९</sup>सामसारैरद्वीरितैः । सम्यग्विहितसत्कारः स्नानवस्त्रासमादिभिः ॥ १० ॥  
<sup>१०</sup>कुमारवंशो <sup>११</sup>पुष्पामिर्बिहितो <sup>१२</sup>वर्धितो च नः । तस्मिन्समयोऽप्येति <sup>१३</sup>यतोऽभूत् <sup>१४</sup>तत क्षयम् ॥ ११ ॥

अथानन्तर-प्रसिद्ध पराक्रमका धारक और शत्रुओके मिथ्या अभिमानको नष्ट करनेवाला जयकुमार अपने विशाल निवासस्थानमें जाकर ठहर गया ॥ १ ॥ इधर महाराज अकम्पन-ने स्वयं संचित किये हुए पाप नष्ट करनेके लिए श्री जिनेन्द्रदेवकी स्तुति की और फिर जिसने युद्ध समाप्त होनेतक आहारके त्याग करनेका नियम ले रखा है, माता सुप्रभा जिसके समीप बैठी हुई है, जो कायोत्सर्गसे खड़ी हुई है, स्थिरचित्तसे सब प्रकारकी शान्ति करनेवाला धर्म-ध्यान कर रही है, एकाग्र मनसे निश्चल है और आनन्दसे जिनेन्द्रदेवके सन्मुख खड़ी है ऐसी सुलोचनाको देखकर उसका सत्कार किया, आश्वासन देकर उसके गुणोंकी अनेक बार प्रशंसा की तथा इस प्रकार शब्द कहे-‘हे पुत्रि, तुम्हारे माहात्म्यसे सब अमंगल शान्त हो गये हैं, सब प्रकारके पाप नष्ट हो गये हैं, अब तू अपने निशर्मोका सकोच कर ।’ ऐसा कहकर उन्होंने हाथ जोड़कर खड़ी हुई सुलोचनाको आगे किया और राजपुत्रो तथा रानी सुप्रभाके साथ-साथ राज-भवनमें प्रवेश किया । फिर ‘हे पुत्रि ! तू अपने महलमें जा’ ऐसा कहकर सुलोचनाको बिदा किया ॥ २-७ ॥ पुनः यह कार्य अन्य प्रकार सोचा गया था और दैवने अन्य प्रकार कर दिया अब क्या करना चाहिए इस विषयमें मूढताको प्राप्त हुए अतिशय बुद्धिमान् महाराज अकम्पनने औत्पत्तिकी आदि ज्ञानके भेदोंके समान सुश्रुत आदि उत्तम मन्त्रियोंके साथ विचार कर विद्याधर राजाओको छोड़ दिया । फिर कार्यको जाननेवाले उन्हीं अकम्पनने बड़ी शान्तिसे उनके योग्य कहे हुए वचनोसे उन सबको आश्वासन देकर स्नान, वस्त्र, आसन आदिसे सबका अच्छी तरह सत्कार किया ॥ ८-१० ॥ तथा अर्ककीर्तिसे कहा कि ‘हे कुमार ! हमारे नाथवंश और सोम-

१ प्रकाशमान । २ स्वावासगृहे स्थित । ३ युद्धावसानपर्यन्तम् । ४ निजजन्मोविहितरसाजिनपूजादिपरिचर्याम् । ५ ध्यानम् । ६ एकाग्रत्वेन निश्चलाम् । ७ नियमम् । ८ त्यज । ९ गच्छ । १० सुश्रुतप्रभृतितमन्त्रिभिः । ११ जन्मव्रतनियमोपपत्तपोभिरुपज्ञानाभेदैः । १२ नागपाशबन्धनं गोशयित्वा । १३ साम्ना मारैः । १४ वचनैः । १५ हे अर्ककीर्तौ । १६ नाथवंशसोमवंशौ । १७ कृतौ । १८ जयस्य अस्माकं च । १९ यस्मात् पुरुषात् । २० संजातम् ।

पुत्रबन्धुपदातीनामपराधशतान्यपि । क्षमन्ते हि महात्मानस्तद्धि तेषां विभूषणम् ॥ १२ ॥  
 भवेदैवादिपि स्वाभिन्यपराधविधायिनाम् । आकलयमयः पापं चानुबन्धनिबन्धनम् ॥ १३ ॥  
 अपराधः कुतोऽस्माभिरेकोऽयमविवेकिभिः । वयं वो बन्धुभृत्यास्त्वं कुमार क्षन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥  
 पुषा कीर्तिरधं चैतत् प्रसादात्ते प्रशान्त्यति । शापानुग्रहयोः शक्तस्त्वं विशुद्धिं विधेहि नः ॥ १५ ॥  
 अर्केणालोकनारोधि हन्यते जगत्तमः । अस्माकं स भवानर्कस्तस्मादन्तस्तमो हरेन् ॥ १६ ॥  
 प्रातिवृत्तं तवास्मासु स्तन्यक्षेपे<sup>१</sup> स्तनंधये<sup>२</sup> । अस्मज्जन्मान्तरा<sup>३</sup> दृष्टपरिपाकविमेषतः ॥ १७ ॥  
 विञ्चविञ्चभराह्णादी यदि क्षिपति वारिदः । कदाऽप्यशनिमेकं स्मिस्तत्तस्यैवाशुभोदयः ॥ १८ ॥  
 हयेनेध दुरारोहाज्जयेनेहासि पातितः । स ते प्रेयः<sup>४</sup> किमत्रास्ति वैमनस्यस्य कारणम् ॥ १९ ॥  
 सुलोचनेति का वार्ता सर्वस्वं नस्तत्रैव तत् । निषिद्धश्चेत्त्वया<sup>५</sup> पूर्वं क्रियते किं स्वयंवरः ॥ २० ॥  
 लक्ष्मीमती गृहणेमांश्क्षमालापराभिधाम् । निर्मलां वा यणोमालां किं ते<sup>६</sup> पापाणमालया ॥ २१ ॥

वंग दोनों ही आपके द्वारा बनाये गये हैं और आपके द्वारा ही बढ़ रहे हैं । विपका वृक्ष भी जिससे उत्पन्न होता है उससे फिर नागको प्राप्त नहीं होता ॥११॥ महात्मा लोग पुत्र, बन्धु तथा पितादे लोगोके सैकड़ों अपराध क्षमा कर देते हैं क्योंकि उनको शोभा इसीमे है ॥ १२ ॥ औरों-की बात जाने दीजिए जो देवके भी अधीन होकर स्वामीका अपराध करते हैं उनका अपयण कल्पान्त काल तक बना रहता है और उनका यह पाप भी अनेक दोषोंका बढ़ानेवाला होता है ॥१३॥ हम मूर्खोंने आपका यह एक अपराध किया है । चूँकि हम लोग आपके भाइयों और भृत्योंमे-से हैं इसलिए हे कुमार, यह अपराध क्षमा कर देने योग्य है ॥१४॥ यह हमारी अपकीर्ति और पाप आपके प्रसादसे गान्त हो सकता है क्योंकि आप शाप देने तथा उपकार करने-दोनोंमें समर्थ हैं इसीलिए हम लोगोंकी शुद्धता अवश्य कर दीजिए ॥१५॥ प्रकाशको रोकनेवाला संसारका अन्धकार सूर्यके द्वारा नष्ट किया जाता है परन्तु हमारे लिए तो आप ही सूर्य हैं इसलिए हमारे अन्त करणके अन्धकारको आप ही नष्ट कर सकते हैं ॥१६॥ पूर्वजन्मके पाप कर्मोंके विनोप उदयसे हम लोगोके लिए जो आपका यह विरोध उपस्थित हुआ है वह मानो पुत्रके लिए माताके दूधका विरोध उपस्थित हुआ है । भावार्थ-जिस प्रकार माताके दूधके दिना पुत्र नहीं जीवित रह सकता है उसी प्रकार आपकी अनुकूलताके बिना हम लोग जीवित नहीं रह सकते हैं ॥१७॥ समस्त पृथिवीको आनन्दित करनेवाला वादल यदि कदाचित् किसी एक पर वज्र पटक देता है तो इसमें वादलका दोष नहीं है किन्तु जिसपर पड़ा है उसीके अशुभ कर्मका उदय होता है ॥१८॥ चढ़ता कठिन होनेसे जिस प्रकार घोड़ा किसीको गिरा देता है उसी प्रकार जयकुमारने आपको गिरा दिया है परन्तु वह तो आपका सेवक है इसमें बुरा माननेका कारण ही क्या है ? ॥१९॥ सुलोचना, यह कितनी-सी बात है ? हमारा जो सर्वस्व है वह आपका ही है । यदि आप पहले ही रोक देते तो स्वयंवर ही क्यों किया जाता ? ॥२०॥ जिसका दूसरा नाम अक्षमाला है ऐसी मेरी दूसरी पुत्री लक्ष्मीमतीको आप ग्रहण कीजिए । यह लक्ष्मीमती यशकी मालाके समान निर्मल है, पापाण (रत्नों) की मालासे आपको क्या प्रयो-

१. अलवृक्षमाल लव्वपरिरक्षणं रक्षितविवर्द्धनं चेत्यनुबन्ध. ते एव निबन्धनं कारणं यस्य । २. युष्माकम् ।  
 ३. तत् कारणात् । ते द० । ४. स्तनधीरस्थ । ५. शिबी । यथा स्तनधीरस्थ प्रातिकूल्यं विशोर्जीवनाय न स्यात्  
 तथा तव प्रातिकूल्यमपि अस्माकम् । ६. अशुभकर्म । ७. एकस्मिन् पुंसि । ८. जय । ९. तव किकरः ।  
 १०. स्वयंवरे क्षिप्तपापाणमालया । सुलोचनयाक्षिप्तरत्नमालया ।

आहारस्य<sup>१</sup> यथा तेऽद्य विकारोऽयं विना त्वया । जोदिकास्ति किमस्माकं प्रसीदतु विमो भवान् ॥२२॥  
यद्वयं मित्रमयदि त्वय्यवययैऽम्बुधाविच । तच्चेऽवजिष्टाः पुष्पेन भवलोषणकारिणः ॥२३॥  
त्व वद्विनेव केनापि पापिना विद्वज्जाचितः<sup>२</sup> । उष्णीकुतोऽसि प्रत्यस्मान् शीतोभव हि वारि<sup>३</sup> वा<sup>४</sup> ॥२४॥  
न चेदिमान् सुतान् दारान्<sup>५</sup> प्रतिग्राह्य पालय । मम तावाश्रयौ यामि पुरुणां पादपादपौ ॥२५॥  
इति प्रसाद्य संतोष्य समारोप्य गजाधिपम् । अर्ककीर्तिं पुरोधाय<sup>६</sup> वृत्तं सूचरस्वर्चरं ॥२६॥  
शान्तिपूजां विधायाष्टौ दिनानि विविधार्द्रिकाम् । महामिषेकपर्यन्तं सर्वपापोपशान्तये ॥२७॥  
जयमानीय सधार्थं संधानविधिविस्तदा । नितरां प्रीतिमुत्पाद्य कृत्वैकीभावमक्षरम्<sup>७</sup> ॥२८॥  
<sup>१</sup>अक्षिमाला महाभूत्या दत्त्वा सर्वार्थसंपदा । संपूज्य गमयित्वैनम्<sup>८</sup> युगम्य<sup>९</sup> यथोचितम् ॥२९॥  
तथेतरांश्च संमान्य नरविद्याधराधिपान् । सद्यो विसर्जयामास सद्रुक्गजवाजिमिः ॥३०॥  
ते स्वदुर्गलज्जास्तवैराः<sup>१०</sup> स्व<sup>११</sup> स्वमगुः<sup>१२</sup> पुरम् । सा बीर्द्धवा<sup>१३</sup> परावस्य<sup>१४</sup> प्रतिकर्त्रां हि याऽचिरात् ॥३१॥

जन है ? ॥२१॥ आज यह आपका विकार आहारके विकारके समान है, क्या आपके विना हम लोगोकी जीविका रह सकती है ? इसलिए हे प्रभो, हम लोगोपर प्रसन्न हुईए । भावार्थ — जिस प्रकार भोजनके विना कोई जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार आपकी प्रसन्नताके विना हम लोग जीवित नहीं रह सकते इसलिए हम लोगोपर अवश्य ही प्रसन्न हुईए ॥२२॥ हम लोग तो इधर-उधर भेजने योग्य सेवक है और आप जिसका निवारण न हो सके ऐसे समुद्रके समान है । हे नाथ, आपके मर्यादा छोड़नेपर भो जो हम लोग जीवित बच सके हैं सो आपके पुण्यसे ही बच सके हैं ॥२३॥ आप पानीके समान सबको जीवित करनेवाले हैं जिस प्रकार अग्नि पानीको गरम कर देतो है उसी प्रकार किसीने हम लोगोके प्रति आपको भी गरम अर्थात् क्रोधित कर दिया है इसलिए अब आप पानीके समान ही शीतल हो जाइए ॥२४॥ यदि आप शान्त नहीं होना चाहते हैं तो इन पुत्रो और स्त्रियोको स्वीकार कीजिए, इनकी रक्षा कीजिए, मैं हम आप दोनोंके आश्रय श्रवृषभदेवके चरणरूपी वृक्षोके समीप जाता हूँ ॥२५॥ इस प्रकार भूमिगोचरी और विद्याधरोसे घिरे हुए अर्ककीर्तिको प्रसन्न कर, सन्तुष्ट कर और उत्तम हाथी-पर सवार कराकर सबसे आगे किया तथा सब पापोकी शान्तिके लिए आठ दिन तक बड़ी विभूतिके साथ महामिषेक होने पर्यन्त शान्तिपूजा की । मेलमिलापकी विधिको जाननेवाले अकम्पनने जयकुमारको भी वहाँ बुलाया और उसी समय सन्धि कराकर दोनोंमे अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करा दिया तथा कभी न नष्ट होनेवाली एकता करा दी । तदनन्तर अर्ककीर्तिको बड़े वैभव और सब प्रकारकी धनरूप सम्पदाओके साथ-साथ अक्षमाला नामकी कन्या दी, अच्छा आदर-सत्कार किया और उनकी योग्यताके अनुसार थोड़ी दूर तक साथ जाकर उन्हें विदा किया । इसी प्रकार अच्छे-अच्छे रत्न, हाथी और घोड़े देकर अन्य भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओका सम्मान कर उन्हें भी शीघ्र ही विदा किया ॥२६-३०॥ अपने अन्यायके कारण उत्पन्न हुई लज्जासे जिनका वैर दूर हो गया है ऐसे वे सब लोग अपने-अपने नगरको चले गये, सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि बही है जो मायवश हुए अपराधका शीघ्र ही प्रतिकार कर लेती

१ आहारो दया विनाशयति । २ विस्वेवा जीवनं यस्मात् स विश्वजीवित । ३ विश्वजीवन अ०, प०, स०, ६०, ल० । ४ जलम् । ५ इव । ६ एवं न चेत् । ७ प्रतिग्रहं कुरु । ८ अग्रे कृत्वा । ९ अग्न्योन्ममंवाचं कृत्वा । १० अविनस्वरम् । ११ अक्षमालाम् अ०, स०, ६०, ल० । १२ अर्ककीर्तिम् । १३ किंचिदन्तरं गत्वा । १४ निरस्त । १५ स्वा स्वामगुः पुरीम् द०, अ०, स० । १६ युगम् । १७ दैवाज्जातापरावस्य । १८ प्रति-विधानं करिष्यति ।

तदा पूर्वोदितो देवः समागत्य सुसंपदा । सुलोचनाविवाहोत्सवस्थायणं समापादयत् ॥३२॥

मेघप्रभसुकेंधा देवसहस्राग्रान् सहानुजः<sup>२</sup> । जयोऽप्यगमयत् सर्वान् सन्तर्प्यार्थैर्बहुप्रियः<sup>३</sup> ॥३३॥

नाथवंशाग्रणीश्यामा जमात्राऽलोच्य सत्वरम् । सुधीः स्वगृहसाराणि<sup>४</sup> बध्ना रत्नान्मुपायनम् ॥३४॥

विदितप्रस्तुतार्थोऽसि अथाऽसौ नः प्रसीदति । तथा कुर्विति चक्रेषं<sup>५</sup> सुमुखाख्यमजीगमत्<sup>६</sup> ॥३५॥

आशु गत्वा निवेद्यासौ<sup>७</sup> दृष्ट्वेशं धरणीं<sup>८</sup> तनुम् । क्षिप्त्वा प्रणम्य दत्त्वा च प्राशृतं निभृताक्षलिः<sup>९</sup>

देवस्यानुचरो देव प्रणम्याक्रमणो मयात् । देवं विज्ञापयत्वेवं प्रसादं कुरु तच्छृणु ॥३६॥

सुलोचनेति नः<sup>१०</sup> कन्यासारस्वद्विहितश्रियं<sup>११</sup> । स्वयंवरविधानेन संप्रादायि<sup>१२</sup> जयाय सा ॥३८॥

तन्नागत्य कुमारोऽपि प्राक् सर्वमनु<sup>१३</sup> मत्य तत्<sup>१४</sup> । विद्याधरधरावीशैः सुप्रसन्नैः सह स्थितः ॥३९॥

पश्चात् कोऽपि ग्रहः क्रूरः स्थित्वा सह<sup>१५</sup> छुमग्रहम् । खलो बलघयाऽस्मभ्यं<sup>१६</sup> दृष्ट्वा कोपयति स्म तम् ॥४०॥

विज्ञातमेव देवेन सर्वं<sup>१७</sup> तत्संविधानकम् । चारचक्षुश्च वेत्येतत्किं पुनः<sup>१८</sup> सावधिमर्वात् ॥४१॥

कुमारो हि कुमारोऽसौ नापराधोऽस्ति कश्चन । तत्र तस्य सदोषाः<sup>१९</sup> स्मो<sup>२०</sup> वयमेव प्रमादिनः ॥४२॥

है ॥३१॥ उसी समय पहले कहे हुए देवने आकर बड़े वैभवके साथ सुलोचनाके विवाहका उत्सव सम्पन्न किया ॥३२॥ सबके प्यारे जयकुमारने भी अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ मेघप्रभ सुकेतु आदि अच्छे-अच्छे सब सहायकोंको धन-द्वारा सन्तुष्ट कर विदा किया ॥३३॥

तदनन्तर नाथवशके शिरोमणि अतिशय बुद्धिमान् अकम्पनने अपने जमाई जयकुमारके साथ सलाह की और अपने घरके अच्छे-अच्छे रत्न भेटमें देनेके लिए बाँधकर सुमुख नामक दूत-को यह कहकर चक्रवर्तिकी पास भेजा कि तू वर्तमानका सब समाचार जानता ही है, चक्रवर्तिकी जिस प्रकार हम लोगोपर प्रसन्न हों वही काम कर ॥३४-३५॥ उस दूतने शीघ्र ही जाकर पहले अपने आनेकी खबर भेजी फिर चक्रवर्तिकी दर्शन कर पृथिवीपर अपना शरीर डाल प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर साथमें लायी हुई भेट देकर कहा कि हे देव, अकम्पन नामका राजा आपका अनुचर है वह प्रणाम कर भयसे आपसे इस प्रकार प्रार्थना करता है सो प्रसन्नता कीजिए और उसे सुन लीजिए ॥३६-३७॥ उसने कहा है कि सुलोचना नामकी मेरी एक उत्तम कन्या थी वह मैंने स्वयंवर-विधिसे आपने ही जिसकी लक्ष्मी अथवा शोभा बढ़ायी है ऐसे जयकुमारके लिए दी थी ॥३८॥ कुमार अर्ककीर्तिने भी उस स्वयंवरमें पधारकर पहले सब बात स्वीकार कर ली थी और वे प्रसन्न हुए विद्याधर राजाओंके साथ-साथ वहाँ विराजमान थे ॥३९॥ तदनन्तर जिस प्रकार कोई दुष्ट शुभ ग्रहोंके साथ ठहरकर उसे भी दुष्ट कर देता है उसी प्रकार किसी दुष्टने जवरदस्ती हम लोगोपर व्यर्थ ही उन्हें क्रोधित कर दिया ॥४०॥ इसके बाद वहाँ जो कुछ भी हुआ था वह सब समाचार आपको विदित ही है क्योंकि गुप्तचर रूप नेत्रोंकी धारण करनेवाला साधारण राजा भी जब यह सब जान लेता है तब फिर भला आप तो अवधिज्ञानी है, आपका क्या कहना है ? ॥४१॥ कुमार तो अभी कुमार ( लड़का ) ही है इसमें उनका कुछ भी दोष नहीं है, प्रमाद करनेवाले केवल हम लोग ही उसमें सदोष है

१ स्वयंवरनिर्माणे प्रोक्तविचित्राङ्गकसुर । २ सहानुजान् प०, इ०, म०, ल० । ३ बहवः प्रियाणि मित्राणि यस्य स । ४ अकम्पन । ५ पुत्र्या प्रियेण सह । ६ निजगृहे स्थितेपूतकृष्टानि । ७ प्राभूतम् । ८ चक्री । ९ सुमुखा-ह्वयद्वयम् । १० गमयति स्म । ११ दूतः । १२ भूम्याम् । १३ स्थिराञ्जलिः । १४ कन्यासूक्तुष्टत्वात् । १५ त्वया कृतस्वयमयं जयाय संप्रादामीति संबन्धः । १६ दत्ता । १७ स्वयंवरे । १८ अनुमतिं कृत्वा । १९ स्वयंवरविधानम् । २० चन्द्रादिशुभग्रहान्वितं यथा भवति तथा स्थित्वा कोपयति त तथेति संबन्धः । २१ तद्वृत्तान्तम् । २२ चारा गूढपुरुषा एव चक्षुर्यस्य । २३ अवधिज्ञानसहितः । २४ बालकः । २५ संविधाने । २६ सापराधाः । २७ भवाम ।

तस्मै कन्यां गृहाणेति नास्माभिः सा समर्पिता । आराधकस्य दोषोऽसौ यत् प्रकुण्ठन्ति देवताः ॥ ४३ ॥  
मयैव विहिताः सम्यक् वर्षिता बन्धवोऽपि नः । स्निग्धाश्च<sup>३</sup> कथमेतेषां विदधामि विनिग्रहम् ॥ ४४ ॥  
इत्येतदेव मा मँस्थाः स्वाव सद्यो यदि त्वया । कुमारोऽपि निगृह्ये न्यायोऽयं त्वदुपक्रमः<sup>५</sup> ॥ ४५ ॥  
तदादिना<sup>१</sup> विधेयोऽयं को दण्डस्त्रिविधोऽपि नः । किंविधः किं परिवर्त्तेशः किं नार्थहरणं प्रभो ॥ ४६ ॥  
तदादिशविधानेन नितरां कृतिनो वयम् । इहामुत्र च तदेव यथार्थमनुशार्थि<sup>२</sup> नः ॥ ४७ ॥  
इति प्रश्रयणी वाणी निगद्य हृदयप्रियाम् । सुमुखो राजराजस्य<sup>४</sup> चरसीत् करसंज्ञया ॥ ४८ ॥  
सतां वचांसि चेतांसि हरन्त्यपि हि रक्षसाम् । किं पुनः सामसाराणि<sup>६</sup> तादृशां<sup>७</sup> समतादृशाम्<sup>८</sup> ॥ ४९ ॥  
इहैहीति<sup>९</sup> प्रसन्नोक्त्या प्रफुल्लवदनाम्बुजः । उषसिहासन<sup>१०</sup> चकी<sup>११</sup> निरुद्यार्थं निवेद्य तम् ॥ ५० ॥  
अकम्पनैः किमित्येवमुदीर्य<sup>१२</sup> प्रहितो<sup>१३</sup> भवान् । पुरम्भो<sup>१४</sup> निर्विदोषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च सम्प्रति ॥ ५१ ॥  
गृहाश्रमे त<sup>१५</sup> एवाध्यास्तैरेवाहं च बन्धुमान् । निपेक्षारः प्रवृत्तश्च समागमन्यायवर्त्मनि ॥ ५२ ॥  
पुरवो भोक्षमार्गस्य गुरवो दानसन्ततेः । श्रेयाश्च चक्रिणां वृत्तैर्येहास्त्यहमग्रणीः ॥ ५३ ॥  
तथा स्वयंवरस्थले नाभूवच्च यद्यकम्पनाः । कं प्रवर्त्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्थैव<sup>१६</sup> सनातनः ॥ ५४ ॥

॥ ४२ ॥ 'तुम इस कन्याको ग्रहण करो' ऐसा कहकर तो मैने जयकुमारके लिए दी नहीं थी, तथापि देवता जो कुपित हो जाते हैं उसमे देवताका नहीं किन्तु आराधना करनेवाले ही का दोष समझा जाता है ॥ ४३ ॥ ये सब वंश मेरे ही वनाये हुए हैं, मेरे ही बढ़ाये हुए हैं, मेरे ही भाई हैं और मुझसे ही सदा स्नेह रखते हैं इसलिए इनका निग्रह कैसे करूँ ऐसा आप मत मानिए क्योंकि यदि आपका पुत्र भी दोषी हो तो उसे भी आप दण्ड देते हैं, इस न्यायका प्रारम्भ आपसे ही हुआ है । इसलिए हे प्रभो, आज्ञा दीजिए कि इस अपराधके लिए हम लोगोको तीनो प्रकारके दण्डोमे-से कौन-सा दण्ड मिलने योग्य है ? क्या फाँसी ? क्या शरीरका क्लेश अथवा क्या घन हरण कर लेना ? ॥ ४४-४६ ॥ हे देव, आपकी आज्ञा पालन करनेसे ही हम लोग इस लोक तथा परलोकमे अत्यन्त धन्य हो सकेगे इसलिए आप अपराधके अनुसार हमें अवश्य दण्ड दीजिए ॥ ४७ ॥ इस प्रकार नम्रतासे भरे हुए और हृदयको प्रिय लगनेवाले वचन कहकर वह सुमुख दूत राजराजेश्वर — चक्रवर्तिकी हाथके इशारेसे चुप हो गया ॥ ४८ ॥ जब कि सज्जन पुरुषोके वचन राक्षसोके भी चित्तको मोहित कर लेते हैं तब सबको समान दृष्टिसे देखनेवाले भरत-जैसे महापुरुषोके शान्तिपूर्ण चित्तकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४९ ॥ जिनका मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहा है ऐसे चक्रवर्तिनि 'यहाँ आओ' इस प्रकार प्रसन्नता-भरे वचनोसे उस दूतको अपने सिंहासनके निकट बैठकर उससे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया कि 'महाराज अकम्पनने इस प्रकार कहकर आपको क्या भेजा है ? वे तो हमारे पिताके तुल्य हैं और इस समय हम सभीमें ज्येष्ठ हैं ॥ ५०-५१ ॥ गृहस्थाश्रममे तो मेरे वे ही पूज्य हैं, उन्हीसे मैं भाई-बन्धुवाला हूँ, औरकी क्या बात ? अन्यायमार्गमे प्रवृत्ति करनेपर वे मुझे भी रोकनेवाले हैं ॥ ५२ ॥ इस युगमे भोक्षमार्ग चलानेके लिए जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव गुरु हैं, दानकी परम्परा चलानेके लिए राजा श्रेयास गुरु हैं और चक्रवर्तियोकी वृत्ति चलानेमे मैं मुख्य हूँ, उसी प्रकार स्वयंवरकी विधि चलानेके लिए वे ही गुरु हैं । यदि ये अकम्पन महाराज नहीं होते तो इस स्वयंवर मार्गका चलानेवाला दूसरा कौन था ? यह मार्ग अनादि कालका है

१ जयाय । २ भरतेनैव । ३ स्नेहिता । ४ त्वया प्रथमोपक्रान्त । ५ तत् कारणात् । ६ दोषे । ७ निशमय । ८ तूष्णीं स्थित । ९ राक्षसानाम् । १० वचांसि साम्ना साराणि चेत् । ११ सताम् । १२ समत्वनेत्राणाम् । १३ अत्रागच्छेति । १४ सिंहासनसमीपे । १५ दूतमुख्यम् । १६ प्रेषित । १७ पुरुजिनेभ्यः । गुरुभ्यो अ०, प० म०, ल०, इ०, स० । १८ अकम्पना एव । १९ स्वयंवरम् ।



मार्गादिवन्तानां<sup>१</sup> यं<sup>२</sup> मांगभूमितिरिहितान् । कुर्वन्ति नूतनान् सन्तः सन्निः पूज्यास्त एव हि ॥५५॥  
 न चक्रेण न रत्नैश्च ज्येष्ठैर्न निधिभिरतथा । वलेन न पङ्क्त्येन नापि पुत्रैर्मया च न ॥५६॥  
 तदेतत् सार्वभौमत्वं ज्येष्ठैकेन केवलम्<sup>३</sup> । सर्वत्र शौर्यकार्येषु तेनैव विजयो भग ॥५७॥  
 म्लेच्छराजान् विनिजित्वा न्यामिशैले यशोभयम् । मन्त्राणां स्थापितं तेन<sup>४</sup> किमन्त्रान्येन केनचित् ॥५८॥  
 अर्ककीर्तिरकीर्तिं मे कीर्तनीयामकीर्तिषु । आशशाङ्कमिहाकार्णवमशीमापमलीमसाम् ॥५९॥  
 असुना<sup>५</sup> न्यायवर्त्मनं प्रावर्तति<sup>६</sup> न केवलम् । इह स्वयं च दण्डवानां<sup>७</sup> प्रथमः परिकल्पितः ॥६०॥  
 अभूदयशसो रूपं मलयदीपादिवाञ्जनम् । नार्ककीर्तिरसौ रूपायमयशःकीर्तिरेव हि ॥६१॥  
 जय एव मदादेशादीदृशोऽन्यायवर्तिनः । सर्माकुर्वान्ततस्तेन स साधु दमिती युधि ॥६२॥  
 सद्योपो यदि निर्गह्यो ज्येष्ठपुत्रोऽपि भूमुजा । इति मार्गमहं तस्मिन्मन्त्रवर्तयितुं स्थितः ॥६३॥  
 अक्षिमाला<sup>८</sup> किल प्रज्ञा<sup>९</sup> तस्मै कन्याऽवलेपिने<sup>१०</sup> । भवद्भिरविचार्यैतद्<sup>११</sup> विरूपकमनुष्ठितम् ॥६४॥  
 पुरस्कृत्येह तामिता<sup>१२</sup> नीतः सोऽपि प्रतीक्यताम्<sup>१३</sup> । सकलङ्कति किं मूर्खः परिहर्तुं भवेद्विधौ ॥६५॥  
 उपेक्षितः सद्योपोऽपि स्वपुत्रश्चक्रवर्तिना । इतीदमयशः स्थापि<sup>१४</sup> न्यायि तद्वक्त्रजैः ॥६६॥  
 इति सन्तोष्य विज्वेशः सौमुख्यं सुमुखं नयत् । हित्वा ज्येष्ठं तुज<sup>१५</sup> तोकं<sup>१६</sup> मकरोऽन्यायमौरसम् ॥६७॥

॥५३-५४॥ इस युगमें भोगभूमिसे छिपे हुए प्राचीन मार्गोंको जो नवीन कर देते हैं वे सत्पुरुष ही सज्जनो-द्वारा पूज्य माने जाते हैं ॥ ५५ ॥ मेरा यह प्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न शेष अन्य रत्नोसे मिला है, न निधियोसे मिला है, न छह अंगोंवाली सेनासे मिला है, न पुत्रोसे मिला है और न मुझसे ही मिला है, किन्तु केवल एक जयकुमारसे मिला है क्योंकि शूरवीरताके सभी कार्योंमें मेरी जीत उसीसे हुई है ॥ ५६-५७ ॥ म्लेच्छ राजाओंको जीतकर नाभि पर्वतपर मेरा कीर्तिमय नाम उसीने स्थापित किया था, इस विषयमें और किसीने क्या किया है ? ॥ ५८ ॥ इस अर्ककीर्तिने तो अकीर्तियोंमें गिनने योग्य तथा स्थाही और उड़दके समान काली मेरी अकीर्ति जबतक चन्द्रमा है तबतकके लिए संसार-भरमें फैला दी ॥ ५९ ॥ इसने अन्यायका मार्ग चलाया है केवल इतना ही नहीं है । किन्तु संसारसे दण्ड देने योग्य लोगोंमें अपने आपको मुख्य बना लिया है ॥ ६० ॥ जिस प्रकार दीपकसे काजल उत्पन्न होता है उसी प्रकार यह अकीर्तिरूप मुझसे उत्पन्न हुआ है, यह अर्ककीर्ति नहीं है किन्तु साक्षात् अयशस्कीर्ति है ॥ ६१ ॥ मेरी आज्ञासे जयकुमार ही अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले इस प्रकारके लोगोको दण्ड देता है इसलिए इसने युद्धमें जो उसे दण्ड दिया है वह अच्छा हो किया है ॥ ६२ ॥ औरकी क्या बात ? यदि बड़ा पुत्र भी अपराधी हो तो राजाको उसे भी दण्ड देना चाहिए यह नीतिका मार्ग अर्ककीर्तिपर चलानेके लिए आज मैं तैयार बैठा हूँ ॥ ६३ ॥ आप लोगोंने विचार किये बिना ही उस अभिमानीके लिए अक्षमाला नामकी कन्या दे दी यह बुरा किया है ॥ ६४ ॥ अथवा उस प्रसिद्ध अक्षमाला कन्याकी भेट देकर आपने उस अर्ककीर्तिको भी पूज्यता प्राप्त करा दी है सो ठीक ही है क्योंकि यह कलकसहित है यह समक्षकर क्या चन्द्रमाकी मूर्ति छोड़ी जाती है ? ॥ ६५ ॥ परन्तु चक्रवर्तिने अपराध करनेपर भी अपने पुत्रकी उपेक्षा कर दी — उसे दण्ड नहीं दिया इस मेरे अपयशको महाराज अकम्पनने स्थायी बना दिया है ॥ ६६ ॥ इस

१ पुरातनात् पुंस. २ युगादी । ३ ज्येष्ठ । ४ अर्ककीर्तिना । ५ प्रवर्तितम् । ६ दण्डितुं योग्यानाम् । ७ सम-  
 दण्डं कुर्यात् । ८ अर्ककीर्ति । ९ अक्षमाला अ०, म०, इ०, स०, ल० । १० दत्ता । ११ भविताय ।  
 १२ कष्टम् । १३ लक्ष्मीमालाम् । १४ पूज्यताम् । १५ अकारि । १६ पुत्रम् । १७ न्यायमेव पुत्रमकरोत् ।

सुमुखस्तदथा<sup>१</sup> बोहुं तदाक्षमः । स जयोऽकम्पनो देव देवस्य नमति क्रमौ ॥६८॥  
 लब्धप्रसादं इत्युक्त्वा क्षिप्त्वाऽङ्गानि प्रणम्य तम् । विकसद्बद्धनाम्भोजं ससुत्याय कृताञ्जलिः ॥६९॥  
 इत् एवोन्मुखौ तौ<sup>२</sup> त्व<sup>३</sup> एतौच्छन्तौ<sup>४</sup> मदारतिम्<sup>५</sup> । आस्थातां चातकौ वृष्टिं प्रादुषो वाऽदिवाभुञ्चः ॥७०॥  
 इति विज्ञाप्य चक्रेशात्<sup>६</sup> कृतानुज्ञः कृतत्वर । संप्राप्याकम्पनं नत्वा सजयं विहितादरम् ॥७१॥  
 गोभिः प्रकाश्य रक्तस्य प्रसादं चक्रवर्तिनः । रवेर्वा वासं रारम्भस्तद्वक्त्राञ्जं व्यकाशयत् ॥७२॥  
 साधुचादै<sup>७</sup> सदानैश्च संमानैस्तौ च तं तदा ।<sup>८</sup> आनिन्यतुरतिप्रीतिं कृतज्ञा हि महोभृतः ॥७३॥  
 इत्यतर्कोदयावासिबिभासितशुभोदयः ।<sup>९</sup> अनूषिवान् जयः श्रीमान् सुखेन स्वासुर<sup>१०</sup> कुलम् ॥७४॥  
 सुलोचनामुखाभोजषट्पदायितलोचनः । अनङ्गानुवाणैकदूषीरायितविग्रह ॥७५॥  
 तथा प्रवृत्ते सह ग्रामे सायकैरक्षतः क्षतः<sup>११</sup> ।<sup>१२</sup> पिलवैः कुमुमैरेभिर्विचित्रा विधिवृत्तयः ॥७६॥  
 अस्मितां सस्मितां कुर्वन्नहसन्ती सहासिकाम्<sup>१३</sup> ।<sup>१४</sup> समयां निर्भयां वालामाकुलां तामनाकुलाम् ॥७७॥

प्रकार सवके स्वामी महाराज भरतने सुमुख नामके दूतको सन्तुष्ट कर उसका मुख प्रसन्न किया और ज्येष्ठ पुत्रको छोड़कर न्यायको ही अपना औरस पुत्र बनाया । भावार्थ—न्यायके सामने बड़े पुत्रका भी पक्ष नहीं किया ॥६७॥ उसी समय चक्रवर्तीकी दयाका भार वहन करनेके लिए मानो असमर्थ हुआ सुमुख कहने लगा कि 'हे देव, जिन्हे आपका प्रसाद प्राप्त हो चुका है ऐसे जयकुमार और अकम्पन दोनों ही आपके चरणोको नमस्कार करते हैं, ऐसा कहकर उस दूतने अपने समस्त अंग पृथ्वीपर डालकर चक्रवर्तीको प्रणाम किया और जिसका मुखरूपी कमल विकसित हो रहा है तथा जिसने हाथ जोड़ रखे हैं ऐसा वह दूत खड़ा होकर फिर कहने लगा कि "जिस प्रकार दो चातक वर्षा ऋतुके पहले बादलसे वर्षा होनेकी इच्छा करते हैं उसी प्रकार जयकुमार और अकम्पन आपके समीपसे मेरे आनेकी इच्छा करते हुए इसी ओर उन्मुख होकर बैठे होंगे" ऐसा निवेदन कर जिसने चक्रवर्तीसे आज्ञा प्राप्त की है ऐसे उस दूतने वही शीघ्रतासे जाकर आदरके साथ महाराज अकम्पन और जयकुमारको नमस्कार किया तथा वचनोके द्वारा अनुराग करनेवाले चक्रवर्तीकी प्रसन्नता प्रकट कर उन दोनोंके मुखकमल इस प्रकार प्रफुल्लित कर दिये जिस प्रकार कि दिनका प्रारम्भ समय (प्रातःकाल) किरणोके द्वारा लाल सूर्यकी प्रसन्नता प्रकट कर कमलोको प्रफुल्लित कर देता है ॥६८—७२॥ उस समय उन दोनों राजाओने धन्यवाद, दान और सम्मानके द्वारा उस दूतको अत्यन्त प्रसन्न किया था सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग किये हुए उपकार माननेवाले होते हैं ॥७३॥ इस प्रकार विचारातीत वैभवकी प्राप्तिसे जिसके शुभ कर्मका उदय प्रकट हो रहा है ऐसा वह श्रीमाद जयकुमार सुखसे स्वसुरके घर रहने लगा ॥७४॥ जिसके नेत्र सुलोचनाके मुखरूपी कमलपर भ्रमरके समान आचरण करते थे और जिसका शरीर कामदेवके बड़े-बड़े वाण रखनेके लिए तरकसके समान हो रहा था ऐसा वह जयकुमार युद्ध होनेपर वाणोसे उस प्रकार धायल नहीं हुआ था जिस प्रकार कि अत्यन्त कोमल कामदेवके इन फूलोके वाणोसे धायल हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि देवलीला वही विचित्र होती है ॥७५—७६॥ वह जयकुमार मुसकराहटसे रहित सुलोचनाको मुसकराहटसे युक्त करता था, न हँसनेपर जोरसे हँसाता था, भययुक्त होनेपर निर्भय करता था, आकुल होनेपर निराकुल करता था, वार्तालाप न करनेपर

१ चक्रिङ्गया । २ अकम्पनजयकुमारो । ३ त्वत् । ४ वाञ्छन्तौ । ५ मदारगमनम् । ६ प्रथममेधात् । ७ चक्रवर्तिनः । ८ वाग्भिः किरणैश्च । ९ दिवसारम्भ । १० नीतवन्तौ । ११ स्थितवान् । १२ मातुलसं-  
 ग्विनि गृहे । १३ पीडित । १४ मृदुभिः । १५ हास्यहिताम् ।

अनालपन्तीमालाप्य लोकमानो विलोकिनीम् । अस्पृशन्तां समास्पृज्य च्यवाद् मीडाविलोपनम् ॥७८॥  
 कृतो भवान्तरावदत्तत्सेहवल्लगालिनी<sup>१</sup> । सुलोचनायाः कौरव्यः कामं<sup>२</sup> कामेन कामुकः ॥७९॥  
 सुलोचनामनोवृत्ती रागाभूतकरोद्भुरा<sup>३</sup> । क्रमाच्चाल वेल्लेव कामनाममहाभ्रुवे<sup>४</sup> ॥८०॥  
 मुकुले वा मुले चक्रे विकासोऽस्याः क्रमात्पदम्<sup>५</sup> । आक्रान्तार्घ्यकारातिग्रहानक्षरसूचनः ॥८१॥  
 सखीमुखानि संचीक्ष्य जङ्गपित्वा दिग्राभसा<sup>६</sup> । स्वैरं हसितुमास्व<sup>७</sup> गृहीतमदनग्रहा<sup>८</sup> ॥८२॥  
 सितसितसितालोलकटाक्षेक्षणतोमरैः । जयं तदा जितानङ्गं कृत्वानङ्गप्रतिष्कम्भम्<sup>९</sup> ॥८३॥  
 ससाध्वसा सलज्जा सा विव्याध विविचैर्मनाक् । अनालोकनवेल्लायामति<sup>१०</sup> सन्धित्सयेव तम् ॥८४॥  
 न भुजङ्गेन संदृष्टा नापि संसेवितासवा । न श्रमेण समाक्रान्ता तथापि<sup>११</sup> स्वियति स्म सा ॥८५॥  
 स्वलन्ति स्म<sup>१२</sup> फलालापश्चकम्पे हृदयं भृशम् । चलान्यालोकितान्यासन्नवशे वात्सल्यम्<sup>१३</sup> सा ॥८६॥  
 प्रक्षालितेव लज्जाशगात् सुदत्याः स्वेदवारिभिः । वागिन्धनैर्न्यर्दापिष्ट विचित्राक्षितजोऽनलः<sup>१४</sup> ॥८७॥  
 तावत्प्रया मयं तावत्तावत्कृत्यविचारणा । तावदेव धृतिर्यावज्जुम्भने न स्मरज्वरः ॥८८॥

उससे बातलाप करता था, अपनी ओर देखनेपर उसे देखता था, और स्पर्श न करनेपर उसका स्पर्श करता था । इस प्रकार यह सब करते हुए जयकुमारने सुलोचनाकी लज्जा दूर की थी ॥७७-७८॥ पूर्व पर्यायेसे वैसे हुए स्नेहरूपी वल्ले शोभमान कामदेवने इच्छानुसार जयकुमारको सुलोचनाका सेवक बना लिया था ॥७९॥ रागरूपी चन्द्रमाके सम्बन्धसे बड़ी हुई, कामदेव नामक महासागरकी वेलाके समान सुलोचनाके मनकी वृत्ति क्रम-क्रमसे चंचल हो रही थी ॥८०॥ सब शरीरमें घुसे हुए कामदेवरूपी पिणाचके द्वारा बिना कुछ बोले ही जिसकी मूचना हो रही है ऐसे विकासने सुलोचनाके मुखरूपी मुकुलपर धीरे-धीरे अपना स्थान जमा लिया था ॥८१॥ कामरूपी पिणाचको ग्रहण करनेवाली सुलोचना सखियोंके मुख देखकर दिशाओसे बातचीत कर अर्थात् निरर्थक वचन बोलकर इच्छानुसार हँसने लगी ॥८२॥ उस समय भय और लज्जा सहित सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले जयकुमारको न देखने योग्य समयमें मानो ठगनेकी इच्छासे ही कामदेवको अपना सहायक बनाकर सफेद काले इन दोनों रंगोंसे मिले हुए चंचल कटाक्षोंसे भरी हुई दृष्टिरूपी अनेक तोमर नामके हथियारोंसे धीरे-धीरे मार रही थी ॥८३॥ जब जयकुमार उसकी ओर नहीं देखता था उस समय भी वह सफेद, काले और चंचल कटाक्षोंसे भरी दृष्टिसे उसे देखती रहती थी और उससे ऐसा मालूम होता था मानो यह उसे ठगना ही चाहती है ॥८४॥ उस समय उसे न तो सर्पने काटा था, न उसने मद्य ही पिया था, और न परिश्रमसे ही वह आक्रान्त थी तथापि वह पसीनेसे तर हो रही थी ॥८५॥ उसके मधुर भाषण स्वलित हो रहे थे, हृदय अत्यन्त कँप रहा था, दृष्टि चंचल हो रही थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने बशमें ही न हो ॥८६॥ सुन्दर दाँतोंवाली सुलोचनाकी लज्जा इस प्रकार नष्ट हो गयी थी मानो उसके पसीनारूपी जलसे धुल ही गयी हो और कामदेवरूपी विचित्र अग्नि वचनरूपी ईंधनसे ही मानो खूब प्रज्वलित हो रही थी ॥८७॥ जबतक कामदेवरूपी ज्वर नहीं बढ़ता है जबतक ही लज्जा रहती है, तबतक ही भय रहता है, तबतक ही करने योग्य कार्यका विचार रहता है और तबतक ही धैर्य रहता है ॥८८॥

१ सामर्थ्य । २ अत्यर्थम् । ३ इच्छु । ४ अनुरागचन्द्रेणोत्कटा । ५ स्थानम् । ६ प्राप्तकामग्रहमक्षरेण बिना सूचक । ७ सहचरी । ८ निरर्थकविदोषदुष्टमुक्त्वा । ९ उपक्रान्तवती । १० श्वेतकृष्णसंबद्ध । ११ सहायम् । १२ वञ्चनेच्छया । १३ स्वेदवती बभूव । १४ मनोजवचनानि । १५ स्वस्थ पराधीनेव अथवा आत्मन वशे अधीने न वा नासीदिति । १६ चित्तबानल. अ०, प०, इ०, स०, ल० ।

विषयोक्त्य सर्वेषामिन्द्रियाणां परस्परम् । परामवापु श्रीनि दम्पती तौ पृथक् पृथक् ॥८९॥  
 अत्यासंगात् क्रमग्राहिकारणैस्तावत्पिती । अनिन्दतामसोपेकरणाकारिणं विधिम् ॥९०॥  
 अन्योन्यविषयं सौख्यं स्वत्वाऽऽशेषान्यथोचरम् । स्तोकेन सुखमप्राप्तं प्रापतुः परमात्मनः ॥९१॥  
 संग्राहभावपर्यन्तो विदुर्न स्वयं च तौ । मुक्तैकं शं सदैवोत्पन्नक्रियोद्वेकसंख्यम् ॥९२॥  
 स्तावसाने निःशक्त्योगादौ सुवयात् प्रपश्यतोः । तथोरन्योन्यमाभावा नन्दयोरिव पुत्रिके ॥९३॥  
 अवापि या तथा प्रीतिस्तस्मात्तेन च या ततः । तथोरन्योन्यमेवासादुपमानोपमेयता ॥९४॥  
 शुक्तमात्ममभित्वेन यत्सुखं परमात्मना । ततोऽप्यधिकमासीद्वा सन्निभावेऽपि तत्तयोः ॥९५॥  
 इत्यन्योन्यसमुद्भूतप्रीतिरुदीतामृतात्मसि । कामात्मोर्ध्वं निमग्नौ तौ स्वैर चिक्रीडतुश्चिरम् ॥९६॥  
 तदा स्वमन्त्रिहितगूढपत्रायचोदित । जयो जिगमिपुस्तूणं स्वस्थानीयं धियो वशः ॥९७॥

वे दोनो दम्पती परस्पर पृथक्-पृथक् सब इन्द्रियोके विषयोका सेवन कर परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥८९॥ अत्यन्त आसक्तिके कारण, क्रम-क्रमसे एक-एक विषयको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोसे वे सन्तुष्ट नहीं होते थे इसलिए सब इन्द्रियोको एक इन्द्रियरूप न करनेवाले विधाता-की वे निन्दा करते रहते थे । भावार्थ — उन दोनोंकी विषयासक्ति इतनी बड़ी हुई थी कि वे एक साथ ही सब इन्द्रियोके विषय ग्रहण करना चाहते थे परन्तु इन्द्रियाँ अपने प्राकृतिक नियमके अनुसार एक समयमें एक ही विषयको ग्रहण कर पाती थी अतः वे असन्तुष्ट होकर सब इन्द्रियोंको एक इन्द्रियरूप न बनानेवाले नामकर्मरूपी ब्रह्माकी सदा निन्दा करते रहते थे ॥९०॥ उन दोनोंने सब साधारण लोगोको मिलनेवाला परस्परका सुख छोड़कर आत्माका वह उत्कृष्ट सुख प्राप्त किया था जो कि अन्य छोटे-छोटे लोगोको दुष्प्राप्य था ॥९१॥ जिनके भावोका अन्त था चुका है ऐसे वे दोनो ही एक साथ उत्पन्न हुई अपनी क्रियाओके उद्वेकसे उत्पन्न होनेवाले एक सुखको छोड़कर और कुछ नहीं जानते थे ॥९२॥ सम्भोग क्रीडाके अन्तमे अशक्त हुए तथा गाढ़ उत्कण्ठाके कारण परस्पर एक दूसरेको देखते हुए उनके नेत्रोकी पुतलियाँ एक दूसरेके नेत्रोकी पुतलियोके समान ही सुगोभित हो रही थी । ( यहाँ अनन्वयालंकार होनेसे उपमेय ही उपमान हो गया है ) ॥९३॥ सुलोचनाने जयकुमारसे जो सुख प्राप्त किया था और जय-कुमारने सुलोचनासे जो सुख पाया था उन दोनोंका उपमानोपमेय भाव परस्पर — उन्ही दोनोमे था ॥९४॥ परमात्माने स्वावलम्बी होकर जिस सुखका अनुभव किया था उन दोनोंका वह सुख परस्परमें विभक्त होनेपर भी उससे कहीं अधिक था । भावार्थ — यद्यपि उन दोनोंका सुख एक दूसरेके सयोगसे उत्पन्न होनेके कारण परस्परमे विभक्त था, तथापि परिमाणकी अपेक्षा परमात्माके पूर्ण सुखसे भी कहीं अधिक था । ( यहाँ ऐसा अतिशयोक्ति अलंकारसे कहा गया है वास्तवमे तो वह परमात्माके सुखका अनन्तर्वा भाग भी नहीं था ) ॥९५॥ इस प्रकार परस्परमे उत्पन्न होनेवाले प्रेमामृतरूपी जलसे भरे हुए कामरूप समुद्रमें डूबकर वे दोनों, चिरकाल तक इच्छानुसार क्रीडा करते रहे ॥९६॥ उसी समय एक दिन जो अपने मन्त्रीके द्वारा

१ अत्यासक्तित । २ क्रमवृत्त्या पदार्थग्राहीन्द्रियै । ३ निन्दा चक्रवृत्तु । ४ मकलेन्द्रियविषयाणामेकमेवेन्द्रिय-  
 मकुर्वन्तम् । ५ सामान्यपुरुषेण । ६ उत्तमम् । ७ स्वस्य । परमात्मन परमपुरुषस्येति ध्वनि । ८ लीला ।  
 ९ वृद्धाते । १० आत्मनौ । ११ सुखम् । १२ सदैव प्रादुर्भवन्नजन्तुम्बनादिसमुत्कटनभूतम् । १३ सुरत-  
 क्रीडावसाने । १४ परस्परमालोकमानयो सतो । १५ व्यराजताम् । १६ जयकुमारात् । १७ सुलोचनायाः ।  
 १८ प्रीत्यो । १९ स्वीदरपूरकत्वेन । 'उभावात्ममन्त्रि स्वीदरपूरके' इत्यभिधानात् । २० परमात्ममुक्तात् ।  
 २१ वा अवधारणे । २२ विभजने । २३ सुखम् । २४ प्रेरित । २५ बोधम् । २६ न्वा पुरीम् । स्वं स्यान्ल-० ।

भवद्भिर्भावितैश्चर्यं मां मदीया<sup>१</sup> दिदृक्षवः । इति मामं<sup>३</sup> समभ्येत्य<sup>५</sup> प्रस्थानार्थमवब्रुवन्<sup>६</sup> ॥ १८॥  
 तदब्रुवन्वा नाथवंशेऽहं<sup>७</sup> किंचिदासीत् ससंभ्रमः । जयं<sup>८</sup> जिगमिषौ स्वस्मात् स्यान् कस्याकुलं मनः ॥  
 विचार्यै कार्यपर्यायं<sup>९</sup> तथास्त्वित्याह तं नृपः । स्नेहानुवर्तिनी वैति<sup>१०</sup> दीपिकां वा धियं सुधीः<sup>११</sup> ॥ १९०॥  
 प्रादात्<sup>१२</sup> प्रागेव सर्वस्वं तस्मै दत्तसुलोचनः । तथापि लौकिकाचारं परिपालयितुं प्रभुः ॥ १९१॥  
 दत्त्वा कोमादि सर्वस्वं स्वीकृत्य<sup>१३</sup> प्रीतिमात्मनः । अनुगम्य स्वयं दूरं शुभेऽहनि वध्वरम् ॥ १९२॥  
 कथं कथमपि त्यक्त्वा स<sup>१४</sup> सजानिर्जनाग्रणीः<sup>१५</sup> । व्यावर्तत ततः शोकी<sup>१६</sup> तुग्वियोगो हि दुःसहः ॥ १९३॥  
 विजया<sup>१७</sup> समाहूय जयोऽपि ससुलोचनः । आरूढसामनैः सर्वैः स्वानुजैर्विजयादिभिः ॥ १९४॥  
 हेमाङ्गदकुमारेण सानुजेन च सोत्सवः । प्रवर्तयन् कथाः पथ्याः<sup>१८</sup> परिहासं मनोहराः ॥ १९५॥  
 वृत्तः शशीव नक्षत्रैरनुगङ्गं<sup>१९</sup> ययौ शनैः । हलां संचालयन् प्राग्वा<sup>२०</sup> श्रीमान् स जयसाधनः ॥ १९६॥  
 स्वन्धाचारं<sup>२१</sup> यथास्थानं पारेगङ्गं<sup>२२</sup> न्यचीविशत् । चीक्ष्य कक्षपुटत्वेन भगवास्ता<sup>२३</sup> शास्त्रविच्छदा ॥ १९७॥  
 हृदस्पटकुटीकोटिनिकटोपनिर्गमः । धमासे<sup>२४</sup> शिविराधासः स्वर्गवास इवापरः ॥ १९८॥

मेजे हुए पत्रके गूढ अर्थसे प्रेरित हो रहा है, बुद्धिमान् हैं, और शीघ्रसे शीघ्र अपने स्थानपर पहुँचनेकी इच्छा कर रहा है ऐसे जयकुमारने मामा (स्वसुर) के पास जाकर अपने जानेकी सूचना दी कि हे माम, आपने जिसका ऐश्वर्य बढ़ाया है ऐसे मुझे मेरी प्रजा देखना चाहती है । ॥ १९७-१९८॥ यह जानकर नाथवंशका स्वामी अकम्पन कुछ घबड़ाया सो ठीक ही है क्योंकि अपनेसे जय (जयकुमार अथवा विजय) के जानेकी इच्छा करनेपर किसका मन व्याकुल नहीं होता है ? ॥ १९९॥ तदनन्तर कार्योका पूर्वापर विचार कर राजा अकम्पनने जयकुमारसे 'तथास्तु' कहा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य दीपिकाके समान स्नेह (तेल अथवा प्रेम) का अनुवर्तन करनेवाली बुद्धिको नहीं प्राप्त होते हैं । भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य स्नेहके पीछे बुद्धिको नहीं छोड़ते हैं ॥ १९०॥ यद्यपि महाराज अकम्पन, सुलोचनाको देकर पहले ही जयकुमारको सब कुछ दे चुके थे तथापि लौकिक व्यवहार पालन करनेके लिए अपने प्रेमके अनुसार खजाना आदि सब कुछ देकर उन्होंने किसी शुभ दिनमें वधू-वरको बिदा किया । सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाराज अकम्पन अपनी पत्नीसहित कुछ दूर तक तो स्वयं उन दोनोंके साथ-साथ गये फिर जिस किसी तरह छोड़कर शोक करते हुए वहाँसे वापस लौट आये सो ठीक ही है क्योंकि सन्तानका वियोग बड़े दुःखसे सहा जाता है ॥ १९०१-१९०३॥ जयकुमार भी सुलोचना सहित विजयाधर्मात्मके हाथीपर सवार होकर अन्य-अन्य हाथियोंपर बैठे हुए विजय आदि अपने सब छोटे भाइयों तथा लघु सहोदरोसे युक्त हेमाङ्गदकुमारके साथ बड़े उत्सवसे मार्गमें कहने योग्य हूँसी विनोदकी मनोहर कथाएँ कहता हुआ और पृथिवीको हिलाता हुआ नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी तरह गगाके किनारे धीरे-धीरे इस प्रकार चला जिस प्रकार कि पहले दिग्विजयके समय सेनाके साथ-साथ चला था ॥ १९०४-१९०६॥ शास्त्रोंके जाननेवाले और सबपर शासन करनेवाले जयकुमारने उस समय गंगाके किनारे यथायोग्य स्थानपर धासवाली जमीन देखकर सेनाके डेरे कराये ॥ १९०७॥ देदीप्यमान कपड़ोंके करोड़ों तम्बुओंके समीप ही जिससे आने-जानेका मार्ग

१ अस्मदीया. बन्धुमित्रादयः । २ द्रष्टुमिच्छवः । ३ स्वसुरम् । ४ सप्राप्य । ५ गमनप्रयोजनम् । ६ ज्ञापयति स्म । ७ अकम्पनः । ८ विजये इति ज्वलि । ९ कार्यक्रमम् । १० न गच्छति किम् । ११ शोभना धीर्यस्य सः । १२ वदाति स्म । १३ स्वस्थं प्रीतिमेकामेव स्वीकृत्य । १४ स्वीसहित । १५ अकम्पन । १६ व्याघ्र-टितवान् । १७ पुत्रविजयः । १८ विजयाङ्गजम् । १९ पथि हिता । २० गङ्गामनु । २१ पूर्वदिग्विजये यथा । २२ शिविरम् । २३ गगातीरे । २४ जयकुमार । २५ शुभमद्वस्त्रकुटीसमूहासन्नविस्तृतनिर्गमः । २६ रराज ।

तत् (तं) प्राप्य सिन्धुरं रुचा राजाद्वारि राजकम्<sup>१</sup> । विसर्ज्योच्चैः प्रविद्यान्तरवर्तीयं<sup>२</sup> निपाद्य तम्<sup>३</sup> ॥  
 राजा सुलोचनां चानुरोप्य स्वसुखलम्बिनीम् । निविज्य स्वीचिते स्थाने श्रुदुष्ययातले सुखम् ॥११०॥  
 तत्कालोचितवृत्तजः मिथ्या संतर्पयन् प्रियैः । स्नानभोजनवाद्यगायतनृत्यविनोदनैः ॥१११॥  
 नीत्वा रात्रिं सुखं तत्र प्रत्याप्य प्रत्यय<sup>४</sup> स्थितेः । तं निवेद्य समाप्यैव हेमाद्रदपुरस्सरम् ॥११२॥  
 नियोज्य स्वानुजान् सर्वान् सम्यक्कटकरक्षणे । आप्तैः कतिपर्यैरेव प्रत्ययोप्यमियाय सः ॥११३॥  
 अर्ककीर्त्यादिभिः प्रष्टैः प्रत्यागत्य प्रतीक्षितः<sup>५</sup> । सस्नेह सादरं भूयः कुमारैणालपन् पुरीम् ॥११४॥  
 सातुरागान् स्वयं रागाद् प्राविशद्वा विना पतिः<sup>६</sup> । न पूजयन्ति के वाऽन्ये पुरुषं राजपूजितम् ॥११५॥  
 इन्द्रो वेमाद् वहिर्द्वाराजिनस्योत्तोरं भूपतेः । समागेह समासाद्य मणिकुटिमभूतम् ॥११६॥  
 मध्ये<sup>७</sup> तस्य स्फुरद्वलखचितस्तम्भसम्भृते । विचित्रनेत्रविन्यस्तसहितानविराजिते ॥११७॥  
 मणिसुष्काफलप्रो<sup>८</sup> तलम्बलम्बूपभूषणे<sup>९</sup> । परार्धरत्नमाजालजटिले मणिसङ्घे<sup>१०</sup> ॥११८॥  
 बिभुं ज्योतिर्गिरेनेव राजकेन विराजितम् । स्वकीर्तिनिर्मलैर्वीज्यमानं<sup>११</sup> चमरजन्मभिः ॥११९॥

वनाया गया है ऐसा वह सेनाका आवास (पड़ाव) इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो स्वर्गका दूसरा आवास ही हो ॥१०८॥ जयकुमारने अपने डेरेके पास जाकर उसके बड़े दरवाजेके समीप ही अपना हाथी रोका, वही सब राजाओंको विदा किया फिर ऊँचे तम्बूके भीतर प्रवेश कर हाथीको बैठाया—स्वयं उतरे, अपनी भुजाओंका सहारा लेनेवाली सुलोचनाको भी उतारा और अपने योग्य स्थानमें कोमल गय्यातलपर सुखसे विराजमान हुए । फिर उस समयके योग्य समाचारोंको जाननेवाले जयकुमारने स्नान, भोजन, वार्तालाप, वाजे, गीत, नृत्य आदि मनोहर बिनोदोसे सुलोचनाको सन्तुष्ट किया, रात्रि वही सुखसे बितायी, वहाँ ठहरनेका कारण बतलाया, उसे समझा-बुझाकर वहीपर रखा, हेमागद आदि सुलोचनाके भाइयोंको भी वह रखा, अपने सब छोटे भाइयोंको अच्छी तरह सेनाकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया और फिर कुछ आप्त पुरुषोंके साथ अयोध्याकी ओर गमन किया ॥१०९—११३॥ अयोध्या पहुँचनेपर अर्ककीर्ति आदि अच्छे-अच्छे पुरुषोंने सामने आकर जिसका स्वागत किया है, तथा जो बड़े स्नेह और आदरके साथ अर्ककीर्तिसे वार्तालाप कर रहा है ऐसे राजा जयकुमारने अनुराग करनेवालोंके साथ-साथ बड़े प्रेमसे अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि अन्य ऐसे पुरुष कौन हैं जो राजमान्य पुरुषकी पूजा न करे ॥११४—११५॥ जिस प्रकार इन्द्र समवसरणके बाह्य दरवाजेपर पहुँचकर हाथीसे उतरता है उसी प्रकार जयकुमार भी राजभवनके बाह्य दरवाजेपर पहुँचकर हाथीसे उतरा और सभागृहमें पहुँचा । उस सभागृहकी जमीन मणियोंसे जड़ी हुई थी, उसके मध्यमें एक रत्नमण्डप था जो कि देदीप्यमान रत्नोंसे जड़े हुए खम्भोंसे भरा हुआ था, अनेक प्रकारके रेशमी वस्त्रोंके तने हुए चन्देबोसे सुशोभित था, मणियों और मोतियोंसे गुथे हुए लम्बे-लम्बे फन्नुस रूप आभूषणसे युक्त था, और बहुमूल्य रत्नोंकी कान्तिके जालसे व्याप्त था । जिस प्रकार उदयाचलपर सूर्य सुशोभित होता है उसी प्रकार उस रत्नमण्डपमें ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए महाराज भरत सुशोभित हो रहे थे । जिस प्रकार ज्योतिषी देवोंके समूहसे चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार महाराज भरत भी अनेक राजाओंसे सुशोभित हो रहे थे, उनपर अपनी कीर्तिके समान निर्मल चमर ढुलाये जा रहे थे, इन्द्रके

१ राजसमूहम् । २ उपविश्य । ३ त गम् । ४ प्रतिबोध्य । ५ कारणम् । ६ अयोध्या प्रति । ७ मुख्य । ८ पूजित । ९ चक्रवर्ती । १० समवसरणमिव भूपते सभागृहमिति सवन् । ११ सभागृहस्य । १२ पट-वस्त्रकृत । १३ खचित । १४ दाम । १५ रत्नमण्डपे ल० । १६ चामर ।

वेष्टित वेन्द्रधनुषा नानामरणरोचिया । रोचिषेव कृताकारं पूज्यं पुण्यैश्चतुर्विधैः ॥१२०॥  
 दुःखसिंहासनासीनं भारवन्तं वोदयाद्विगम् । राजराजं समालोक्य बहुभो भक्तिनिर्भरं ॥१२१॥  
 स वा प्रणम्य तीर्थेशं स्पृष्ट्वाऽष्टाङ्गैर्वरातलम् । करं प्रसार्य संसाल्य राजैवासन्नमासनम् ॥१२२॥  
 निजहस्तेन निर्दिष्टं दृष्ट्यालंकृत्य नृपवान् । व्यभासिष्टं समामध्ये स, तद्वान्येन तेजसा ॥१२३॥  
 प्रसन्नवदनेन्द्रधनुषाह्लादिवचनाञ्जुभिः । वधूः किमिति नानीता तां द्रष्टुं वयमुत्सुकाः ॥१२४॥  
 वयं किमिति नाहूतास्तद्विवाहोत्सवे नवे । अकम्पनैरिदं युक्तं सनाभिभ्यो वहिष्कृताः ॥१२५॥  
 'नन्वहं त्वत्पितृस्थाने मां पुस्स्कृत्य कन्यका । त्वयाऽसौ परिणेतव्या त्वं तद्विस्मृतवानसि ॥१२६॥  
 इत्यङ्गत्रिमसामोकस्या तर्पितश्चक्रवर्तिना । तदा विभावयन् भक्तिं स्ववक्त्रं मणिकुट्टिमं ॥१२७॥  
 नत्वाऽपश्यत् सादीव प्रतिगृह्य प्रमोदयाम् । जयः प्राञ्जलिस्तथाय राजराजं व्यजिज्ञपत् ॥१२८॥  
 क.शीदेगेशिना देव देवस्याज्ञाविधायिनाम् । विवाहविधिभेदेषु प्रागागस्त स्वयंवरः ॥१२९॥  
 इति सर्वैः समालोच्य सचिवैः शास्त्रवेदिभिः । कल्याणं तत्समारब्धं दैवेन कृतमन्यथा ॥१३०॥  
 शान्तं तत्त्वत्पसादेन मनमूलोच्छेदकारणम् । रणं शरणमायात इत्येष भवतः कर्म ॥१३१॥  
 सुरखेचरभूपालास्वत्पदाम्भोरुहालिनः । चक्रेणाक्रान्तद्विचक्र किंरास्तत्र कोऽस्यहम् ॥१३२॥

धनुषके समान अनेक प्रकारके आभरणोकी कान्तिसे वेष्टित थे अतएव ऐसे जान पड़ते थे मानो कान्तिसे ही उनका शरीर बनाया गया हो, और चारो प्रकारके ( शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र और सातावेदनीय ) पुण्योंसे पूज्य थे । इस प्रकार राजराजेश्वर महाराज भरतको देखकर भक्तिसे भरे हुए जयकुमारने तीर्थकरकी तरह आठो अंगोसे जमीनको छूकर अनेक बार प्रणाम किया । महाराज भरतने भी हाथ फैलाकर उसका सन्मान किया तथा अपने हाथसे बतलाये हुए अपने निकटवर्ती आसनपर बैठकर प्रसन्न दृष्टिसे अलंकृत किया । इस प्रकार सन्तुष्ट हुआ जयकुमार सभाके बीच एक विलक्षण तेजसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था । ॥११६-१२३॥ तदनन्तर महाराज भरत अपने प्रसन्न मुखरूपी चन्द्रमासे निकलते हुए और सबको आनन्दित करनेवाले जवनरूपी किरणोसे सबको प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहने लगे कि क्यों जयकुमार, तुम बहूको क्यों नहीं लाये ? हम तो उसे देखनेके लिए बड़े उत्सुक थे, इस नवीन विवाहके उत्सवमें तुमने हम लोगोको क्यों नहीं बुलाया ? महाराज अकम्पनने अपने भाई-बन्धुओसे हमको अलग कर दिया क्या यह ठीक किया ? अरे, मैं तो तुम्हारे पिताके तुल्य था तुम्हें मुझे आगे कर सुलोचनाके साथ विवाह करना चाहिए था, परन्तु तुम यह सब भूल गये इस प्रकार चक्रवर्तीके द्वारा स्वाभाविक शान्त वचनोसे सन्तुष्ट किया हुआ जयकुमार उस समय अपनी भक्तिको प्रकट करता हुआ नमस्कार कर अपराधीके समान अपना मुँह मणियोसे जड़ी हुई जमीनमें देखने लगा । फिर महाराज भरतसे दया प्राप्त कर हाथ जोड़कर खड़ा हुआ और राजाधिराज चक्रवर्तीसे इस प्रकार निवेदन करने लगा ॥१२४-१२८॥ हे देव, आपके आज्ञाकारी काशीनरेशने विवाहविधिके सब भेदोंमें एक स्वयंवरकी विधि भी पहलसे चली आ रही है इस प्रकार शास्त्रोको जाननेवाले सब मन्त्रियोंके साथ सलाह कर यह उत्सव प्रारम्भ किया था परन्तु देवने उसे उलटा कर दिया ॥१२९-१३०॥ मेरा मूल-सहित नाश करनेवाला यह युद्ध शान्त हो गया इसलिए ही यह सेवक आपके चरणोंमें आया है ॥१३१॥ हे चक्रके द्वारा समस्त दिशाओपर आक्रमण करनेवाले महाराज, अनेक देव, विद्याधर और राजा आपके चरणकमलोके भ्रमर होकर सेवक बन रहे हैं फिर भला मैं उन

१ शुभायुर्नामगोत्रसद्वैद्यलक्षण । २ चक्रिणा । ३ दिष्ट्या ट० । प्रीत्या । ४ राजते स्म । ५ नूतनेन । ६ अना-  
 त्तानिता । ७ बन्धुभ्य । ८ अहो । ९ प्रसादवान् । प्रमादीव ल० ।

‘देवेनान्यसामान्यमाननां मम कुर्वता ।’ ऋणीकृतः क्व<sup>१</sup> वाऽऽनृण्यं भवान्तरशतेत्पत्रिणि ॥१३२॥  
 नाथेन्दुर्वंशसरोहौ<sup>२</sup> पुण्या विहितौ त्वया । वर्द्धितौ पालितौ स्थापितौ च याचद्वारात्तलम् ॥१३३॥  
 इति प्रश्रयणीं वाणीं श्रुत्वा तस्य निधीङ्गवः । तृष्ट्या संपूज्य पूजाविद्वद्भ्रातरणवाहने<sup>३</sup> ॥१३५॥  
 दत्त्वा सुलोचनायै च तद्योग्यं विसर्जय तम् । महीं प्रियाभिवालिद्वयं तं प्रणम्य ययौ जयः ॥१३६॥  
 संपत्संपन्नपुण्यानामनुबध्नाति संपदम् । पौरैर्वर्चनीयकानीकै<sup>४</sup> स्तुयमानस्वसाहसः ॥१३७॥  
 पुराद् गजं समारुह्य<sup>५</sup> निष्क्रम्येषुर्मनःप्रियाम् । सद्यो गद्गां समासन्नः स्वमनोवेगचोदितः ॥१३८॥  
 शुष्कमूहृक्षालाघ्रे संमुखीभूय मास्वतः<sup>६</sup> ।<sup>७</sup> स्वनन्तं<sup>८</sup> ध्वाङ्क्षमालोक्य कान्तायाश्चिन्तयन्मयम् ॥  
 मूर्च्छितः प्रेमसद्भावात् तादृशो धिक् सुखं रतेः । समाश्वास्य तदोपायै सुखमास्ते सुलोचना ॥१४०॥  
 जलाद् भयं भवेत् किञ्चिदस्माकं शकुनादितः । हस्तुदीर्यैकितर्जनेन शकुनसेनं साम्बित<sup>९</sup> ॥१४१॥  
 सुरदेवस्य<sup>१०</sup> तद्वाक्यं कृत्वा प्राणावलम्बनम् । ब्रजन् म सत्वरं<sup>११</sup> मोहादतीर्थेऽबोदयद् गजम् ॥१४२॥  
 हेयोगेयविवेक<sup>१२</sup> कः कामिनां मुग्धचेतसांम् । उत्पुष्कर स्फुरदन्तं<sup>१३</sup> प्रोद्यत्तद्यतिमानकम् ॥१४३॥

सबसे कौन हूँ ? — मेरी गिनती ही क्या है ? ॥१३२॥ हे देव, जो दूसरे साधारण पुरुषोको न प्राप्त हो सके ऐसा मेरा सम्मान करते हुए आपने मुझे ऋणी बना लिया है सो क्या सैकड़ों भवोंमें भी कभी इस ऋणसे छूट सकता हूँ ? ॥१३३॥ हे स्वामिन्, ये नाथर्वंश और चन्द्र वंशरूपी अकुर भगवान् आदिनाथके द्वारा उत्पन्न किये गये थे और आपके द्वारा वर्धित तथा पालित होकर जबतक पृथिवी है तबतकके लिए स्थिर कर दिये गये हैं ॥१३४॥ आदर-सत्कारको जाननेवाले महाराज भरत इस प्रकार विनयसे भरी हुई जयकुमारकी वाणी सुनकर बहुत ही सन्तुष्ट हुए, उन्होंने वस्त्र, आभूषण तथा सवारी आदिके द्वारा जयकुमारका सत्कार किया तथा सुलोचनाके लिए भी उसके योग्य वस्त्र, आभूषण आदि देकर उसे विदा किया । जयकुमारने भी प्रियाके समान पृथिवीका आलिंगन कर महाराज भरतको प्रणाम किया और फिर वहाँसे चल दिया । इसलिए कहना पड़ता है कि पुण्य सम्पादन करनेवाले पुरुषोकी सम्पदाएँ सम्पदाओंको बढ़ाती हैं । इस प्रकार नगरनिवासी लोग और याचकोके समूह जिसके साहसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा वह जयकुमार हाथीपर सवार होकर नगरसे बाहर निकला और अपनी हृदयवल्लभाको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ अपने मनके वेगसे प्रेरित हो शीघ्र ही गंगाके किनारे आ गया ॥१३५-१३६॥ वहाँपर सुखे वृक्षकी डालोके अग्रभागपर सूर्यकी ओर मुँह कर रोते हुए कौएकी देखकर वह कुमार प्रियाके भयकी आशंका करता हुआ वैसा गुरवीर होनेपर भी प्रेमके वश मूर्च्छित हो गया । आचार्य कहते हैं कि ऐसे रागसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिक्कार है । चैत्रासे हृदयकी बातको समझनेवाले और शकुनको जाननेवाले पुरोहितने उसी समय अनेक उपायोसे सचेत कर आश्वासन दिया और कहा कि सुलोचना तो अच्छी तरह है । इस शकुनसे यही सूचित होता है कि हम लोगोकी जलसे कुछ भय होगा इस प्रकार कहकर पुरोहितने जयकुमारको शान्त किया ॥१३६-१४१॥ उस पुरोहितके वचनोको प्राणोंका सहारा मानकर वह जयकुमार शीघ्र ही आगे चला और मूलसे उसने अचाटमें ही हाथी चला दिया सो ठीक ही है, क्योंकि विचारहीन कामी पुरुषोकी हेय उपादेयका ज्ञान कहाँ होता है ?

१ अकम्पनेन । २ ऋणेन तद्वन् कृत । ३ कस्मिन् भवान्तरे । ४ वा अवधारणे । अनृण्यम् आनृणत्वम् । ५ जन्मनी । ६ चक्रिणम् । ७ जनयति । ८ याचक । ९ प्राप्नुमिच्छु । १० रवे । ११ ध्वनन्तम् । १२ वायसम् । १३ काके तु कर्दारिष्टवल्लिपुष्टसङ्कल्पप्रभा । ध्वाङ्क्षालम्बोषपरमृद्वलिमुग्वायसा अपि । इत्यभिधानात् । १३ सामवचनं नीत । १४ शाकुनिकस्य । १५ अजलोत्तारप्रदेशे । तीर्थं प्रवचने पात्रे लब्धाम्नाये विदा परे । पुष्पाण्ये जलोत्तारे महानद्या महामुनी । १६ उपादेय । १७ प्रोद्यत्कुम्भस्थलस्याधोभागप्रदेशकम् । ‘अव कुम्भस्य वाहीत्य प्रतिमानमवोऽयं यत् ।’ इत्यभिधानम् ।



तरन्त<sup>१</sup> मकराकारं म<sup>२</sup>ध्येहृदमिमाधिपम् । देवी कालीति पूर्वोक्ता<sup>३</sup> सरण्वाः<sup>४</sup> सङ्गमे<sup>५</sup>ऽग्रहीत् ॥१४४॥  
 नक्राकृत्या स्वदेशस्थः क्षुद्रोऽपि महतां बली । दृष्ट्वा गर्भं निमज्जन्तं प्रत्यागत्य<sup>६</sup> तटे स्थिताः ॥१४५॥  
 ससंभ्रमं सहापेतु<sup>७</sup> हृदं हेमाङ्गदादयः । सुलोचनाऽपि तान्भीक्ष्णं कृतपञ्चनमस्कृतिः ॥१४६॥  
 मन्त्रमूर्तीन् समाधाय हृदये भक्तितोऽर्हन्तः । उप<sup>८</sup>सर्गापसर्गान्जं त्यक्ताहारशरीरिका ॥१४७॥  
 प्राविशद् बहुभिः सार्धं गङ्गां गङ्गेव देवता । गङ्गापातप्रतिष्ठानगङ्गाकूटधिदेवता ॥१४८॥  
 विबुध्यासनकूपेन कृतज्ञाऽऽगत्य स्वस्वम् । तदानयत्तं सर्वान् संतर्ज्य खलकालिकाम् ॥१४९॥  
 स्वयमागत्य केनात्र रक्षन्ति कृतपुण्यकान् । गङ्गातटे विकृत्याहु<sup>१०</sup> भवनं सर्वसंपदा ॥१५०॥  
 मणिपीठे समास्थाप्य पूजयित्वा सुलोचनाम् । तत्र<sup>११</sup> दत्तनमस्काराज्ज<sup>१२</sup> गङ्गाधिदेवता ॥१५१॥  
 त्वत्प्रसादादिदं<sup>१३</sup> सर्वमवरोद्धामरेशिनः । तयैत्युक्ते<sup>१४</sup> जयोऽप्येतत्<sup>१५</sup> किमित्याह सुलोचनाम् ॥१५२॥  
 उपविन्ध्याद्रि<sup>१६</sup> विख्यातो विन्ध्यपुर्यामभूद् विभुः । विन्ध्यकेतुः प्रिया तस्य प्रियकुश्रीस्तयोः सुता ॥१५३॥

वह हाथी पानीमें चलने लगा, उस समय उसकी सूँडका अग्रभाग ऊँचा उठा हुआ था, दाँत धमक रहे थे, गण्डस्थल पानीके ऊपर था और आकार मगरके समान जान पड़ता था, इस प्रकार तैरता हुआ हाथी एक गढ़के बीच जा पहुँचा । उसी समय दूसरे सर्पके साथ समागम करते समय जिस सर्पिणीको पहले जयकुमारके सेवकोने मारा था और जो मरकर काली देवी हुई थी उसने मगरका रूप धरकर जहाँ सरयू गंगा नदीसे मिलती है उस हाथीको पकड़ लिया सो ठीक ही है क्योंकि अपने देशमें रहनेवाला क्षुद्र भी बड़ो-बड़ोसे बलवान् हो जाता है । हाथीको डूबता हुआ देखकर कितने ही लोग लौटकर किनारेपर खड़े हो गये परन्तु हेमागद आदि घबडाकर उसी गढेमें एक साथ घुसने लगे । सुलोचनाने भी उन सबको गढेमें घुसते देख पंच नमस्कार मन्त्रका स्मरण किया, उसने मन्त्रकी मूर्तिस्वरूप अर्हन्त भगवान्को बड़ी भक्तिसे अपने हृदयमें धारण किया और उपसर्गकी समाप्ति तक आहार तथा शरीरका त्याग कर दिया ॥१४२-१४७॥ सुलोचना भी अनेक सखियोंके साथ गंगामें घुस रही थी और उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानो गंगादेवी ही अनेक सखियोंके साथ गंगा नदीमें प्रवेश कर रही हो । इतनेमें ही गंगाप्रपात कुण्डके गंगाकूटपर रहनेवाली गंगादेवीने आसन कम्पायमान होनेसे सब समाचार जान लिया और किये हुए उपकारको माननेवाली वह देवी बहुत शीघ्र आकर बुध कालिका देवीको डाँटकर उन सबको किनारेपर ले आयी ॥१४८-१४९॥ सो ठीक ही है क्योंकि इस ससारमें ऐसे कौन है जो पुण्य करनेवालोंकी स्वयं आकर रक्षा न करे । तदनन्तर उस देवीने गंगा नदीके किनारेपर बहुत शीघ्र अपनी विक्रिया-द्वारा सब सम्पदाओसे सुशोभित एक भवन बनाया, उसमें मणिमय सिंहासनपर सुलोचनाको बैठाकर उसकी पूजा की और कहा कि तुम्हारे दिये हुए नमस्कार मन्त्रसे ही मैं गंगाकी अधिष्ठात्री देवी हुई हूँ, और सौधमैन्त्रकी नियोगिनी भी हूँ, यह सब तेरे ही प्रसादसे हुआ है ! गंगादेवीके इतना कह चुकनेपर जयकुमारने भी सुलोचनासे पूछा कि यह क्या बात है ? ॥१५०-१५२॥ सुलोचना कहने लगी कि विन्ध्याचल पर्वतके समीप विन्ध्यपुरी नामकी नगरीमें विन्ध्यकेतु नामका एक सिद्ध

१ तरतीति तरन् तम् । २ हृदस्य मध्ये । ३ पूर्वस्मिन् भवे जयेन सह बने धर्मं श्रुतवत्या नाम्ना सह स्थित-  
 विजातीयसहचरो । ४ सरयून्ना । ५ गङ्गाप्रदेशस्थाने । ६ कुम्भीराकारेण । 'नक्रस्तु कुम्भीर' इत्यभिधानात् ।  
 ७ अभिमुखमागत्य । ८ हृदे प्रविष्टवन्तम् । ९ उपसर्गावसानपर्यन्तम् । १० गङ्गापतनकुण्डस्थान । ११ ताना-  
 लं, इ०, अ०, स०, प० । १२ निर्माय । १३ त्वया वितर्णपंचनमस्कारपदात् । १४ अभूवम् । १५ विला-  
 सिनी ( नियोगिनीति यावत् ) । १६ गङ्गादेव्या । १७ जयकुमारोऽप्येतत् किमिति पृष्टवान् ।  
 १८ विन्ध्याचलसमीपे ।

विन्ध्यध्रीस्तां पिता तस्याः शिशितुं सकलान् गुणान् । मया सह सचि स्नेहान्महीशस्य<sup>१</sup> समर्पयत् ॥१५४॥  
 वमन्ततिलकोषाने क्रीडन्ती<sup>२</sup> संकटा दिवा । दष्टा तत्र मया दत्तनमस्कारपदान्यलम् ॥१५५॥  
 भावयन्ती मृनाऽत्रेयं भूवायौ न स्नेहिनी मयि । इत्यवर्षादीमौ<sup>३</sup> सोऽपि ज्ञात्वा सतुष्टचेतसा ॥१५६॥  
 तन्मालोचितसामोक्त्या गंगादेवी विमर्ज्य ताम् । स्वलोकं<sup>४</sup> प्रकुर्वन्तं मयं चलत्केतुमालया ॥१५७॥  
 स्वायामं मंप्रविशोच्चैः सप्रियः सहवन्नुभिः । सन्नेहं राजगजोक्तमुक्त्वा<sup>५</sup> तत्प्रहितं स्वयम् ॥१५८॥  
 पृथक् पृथक् प्रदायातिमुदमामाद्य<sup>६</sup> वल्लभाम् । नात्वा<sup>७</sup> तत्रैव तां रात्रिं प्रातरुत्थाय भावयत् ॥१५९॥  
 चिधातुमनुत्तानां<sup>८</sup> भुक्तिं सुयोनिनाखिलः<sup>९</sup> । अनुगमं प्रयान् प्रेम्णा कामिन्या<sup>१०</sup> कुर्वन्लब्धम् ॥१६०॥  
 कमनीयैरतिर्घनिमालपरितनोत्तराम् । जाह्नवी<sup>११</sup> दग्नितावर्तनाभिः कूलनितम्बिका ॥१६१॥  
<sup>१२</sup> चटुलोऽऽपल शरीरलोचना रमणोन्मुखा<sup>१३</sup> । तद्वद्गङ्गाभिर्गाटमालिङ्गनसमुत्सुका ॥१६२॥  
 स्वभावमुभया दृष्ट्वा दया स्वच्छतागुणान् । तद्वद्वयवनी<sup>१४</sup> पुङ्खमुमनोमालभारिणी ॥१६३॥  
<sup>१५</sup> अतिपुद्गरमां<sup>१६</sup> वेगं संपर्नुममहा द्रुतम् । पञ्च कान्ते प्रियं याति स्वानुरूपं पथोनिधिम् ॥१६४॥  
 रतेः कामाद्-विना नेच्छा न नीचेपुत्तमस्पृहा । मयमं<sup>१७</sup> उन्मयी जाता प्रेम नामेष्टां मतम् ॥  
 भाषयमेतया<sup>१८</sup> निन्धमेति लावण्यमनुषे<sup>१९</sup> ॥१६५॥

राजा रहता था । उसकी स्त्रीका नाम प्रियंगुथी था । उन दोनोंके विन्ध्यथी नामकी पुत्री थी । उसके पिताने मुत्तपर प्रेम होनेसे मेरे साथ मय गुण सौमनेके लिए उसे महाराज अकम्पनको सांप दिया ॥१५३-१५४॥ वह विन्ध्यथी किसी एक दिन उपवनमें क्रीडा कर रही थी, वहीपर उने किसी सांपने काट लिया जिससे मेरे द्वारा दिये हुए पंच नमस्कार मन्त्रका चिन्तवन करती हुई मरकर यह देवी हुई है और मुसपर स्नेहके कारण यहाँ आयी है यह जानकर जयकुमारने सन्तुष्टचित्त हो शान्तिमय वचन कहकर गंगादेवीको विदा किया । तदनन्तर अपनी प्रिया मुलोचना और उग्र-वन्धुओंके साथ-साथ, फहराती हुई पताकाओंके द्वारा अपने-आपको बगुलाओंसे सहित करते हुएके समान जान पड़नेवाले अपने ऊँचे डेरेंमें प्रवेग किया । वडे स्नेहसे महाराज भरतके कहे वचन सत्रको सुनाये, उनकी दी हुई भेट सबको अलग-अलग दी । मुलोचनाको अत्यन्त प्रसन्न किया, वह रात्रि वही वितायी और सबेरा होते ही उठकर अपनेमें अनुराग रखनेवाले लोगोके भोजनके लिए सूर्यके समान समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह कुर्वगियोंका प्यारा जयकुमार मुलोचनाके प्रेमसे गंगा नदीके किनारे-किनारे चलने लगा ॥१५५-१६०॥ वह जाते समय मनोहर वचनोंसे मुलोचनाको बहुत ही सन्तुष्ट करता जाता था । वह कहता था कि हे प्रिये, देखो यह गंगा नदी अपने अनुरूप समुद्ररूपी पति-के पास बड़ी शीघ्रतासे जा रही है, यह अपनी नाभिरूपी भौर दिखला रही है, दोनों किनारे ही इसके नितम्ब हैं, चंचल और उज्ज्वल मछलियाँ ही नेत्र हैं, यह पति अर्थात् समुद्रकी प्राप्तिके लिए उन्मुख है, तरंगरूपी भुजाओंके द्वारा गाढ आलिंगनके लिए उत्कण्ठित-सी जान पड़ती है, स्वभावसे मुन्दर है, अपने स्वच्छतारूपी गुणोंसे सबका हृदय हरनेवाली है, दोनों किनारोपर वनके फूले हुए पुष्पोंकी माला धारण कर रही है, इसका रस अथवा पानी सब ओरसे बढ रहा है और अपना वेग नहीं सँभाल सक रही है ॥१६१-१६४॥ सो ठीक ही है क्योंकि कामदेवके बिना

१ अकम्पनस्य । २ विन्ध्यथी । ३ आगच्छति स्म । ४ सुलोचना । ५ विसर्कणिकासहितम् । ६ बलाका विसर्कणिका इत्यभिधानात् । ७ चक्रिणा प्रोक्तम् । ८ भणित्वा । ९ चक्रिप्रेषितम् । १० दत्त्वा । ११ प्राप्यम् । १२ स्कुन्धावारे । १३ कर्तुम् । १४ असिमण्यादिव्यापारविभवजम् । १५ प्रकाशितसकललोक । १६ जयः । १७ गंगा । १८ गंगाविष्णुपदी जह्नु तनया सुरनिम्ना इत्यभिधानात् । १९ चंचल । २० समुद्रेण सह रति-कोडोन्मुखी । निगपतिसमुद्राभिमुखी वा । २१ अभिवृद्ध-लम् । २२ जलस्यासमन्ताद् वेगम् । रागोद्रेकं च । २३ समुद्रस्वरूपा । २४ गमया । २५ पट्पादोऽयं ब्लोकचिन्त्यः ।

उत्पत्तिर्भृता<sup>१</sup> पत्युर्धरण्यां वर्धिता सती<sup>२</sup> । वार्धिरेव पतिस्तस्माद्देवाऽभूत् पापनाशिनी ॥१६६॥  
 ब्रवता धार्मिकैर्मन्या सतीनामुपमानताम् । गता कवीश्वरैः सर्वैः स्तुयते देवतेति च ॥१६७॥  
<sup>३</sup>गुणिनश्चेन्न के नान्धाः संस्तुवन्ति गुणप्रियाः । इति गङ्गागतैः श्रवैरन्यैश्चैवातिमोहरैः ॥१६८॥  
 ततः कतिपयैरेव प्रयाणैः कुरुजाङ्गलम् । प्राप्य तद्वर्णनाल्याजान्मोदयन् काशिपालमजाम् ॥१६९॥  
<sup>४</sup>आप्तजानपदानीतफलपुष्पादिमिश्र सः । विकसन्नीलनीरेजसरोजातिविराजितैः ॥१७०॥  
 प्रत्येत्येव प्रपश्यन्तीं सरोनेत्रैर्वधूरम् । सद्ब्रजघनामोगां वापीकूपोरुनामिकाम् ॥१७१॥  
 परीतजातरूपोच्चप्राकारकटिसूत्रिकाम् । अलंकृतमहावीथिखिलसद्बाहुबल्लरीम् ॥१७२॥  
 सौधोत्तुङ्गकुचां भास्वद्गोपुराननशोभिनीम् । कुङ्कुमागुरुकूर्पूस्कन्दमाद्रितगात्रिकाम् ॥१७३॥  
 नानाप्रसवसन्दर्भमालाधमिल्लधारिणीम् । तोरणाबद्धस्तादिमालालंकृतविग्रहाम् ॥१७४॥  
 आह्वयन्तीमिवोर्ध्वधः पतत्केवलप्रहस्तकैः । द्वारासंवृतिविश्रम्भनेत्रा<sup>१०</sup> वासान्तस्तुका<sup>११</sup>म् ॥१७५॥  
 पुरोहितैः<sup>१२</sup> पुरन्ध्रीभिर्मन्त्रिभिर्वैश्वविश्रुतैः । दत्तशेषः पुरः स्थित्वा साशीर्वादः समुत्सुकैः ॥१७६॥

रतिकी इच्छा नहीं होती है, उत्तम पुरुषोकी इच्छाएँ नीच पदार्थोंपर नहीं होती है, यह नदी समुद्रमें जाकर समुद्ररूप ही हो गयी है सो ठीक ही है क्योंकि प्रेम ऐसा ही होता है, इसके समा-  
 गमसे ही समुद्रका लावण्य ( सौन्दर्य अथवा खारापन ) सदा सफल होता है ॥१६५॥ इस  
 गंगा नदीकी उत्पत्ति पर्वतोंके पति — हिमवान् पर्वतसे है, पृथिवीपर यह बढी है और समुद्र ही  
 इसका पति है इसलिए ही यह ससारमे पापोका नाश करनेवाली हुई है ॥१६६॥ यह सफेद  
 है, धर्मात्मा लोगोंके द्वारा मान्य है, सतियोंको इसकी उपमा दी जाती है और सब कवीश्वर  
 यदि गुणोजनोंकी स्तुति न करे तो फिर कौन किसकी स्तुति करेगा ? इस प्रकार सुननेके योग्य  
 गंगा सम्बन्धी तथा अन्य अत्यन्त मनोहर कथाओं-द्वारा मार्ग तय किया ॥ १६७—१६८ ॥  
 तदनन्तर कुछ ही पड़ावों-द्वारा कुरुजागल देश पहुँचकर उसके वर्णनके बहानेसे सुलोचनाको  
 आनन्दित करते हुए जयकुमारने अपनी उस हस्तिनागपुरी नामकी राजधानीमें प्रवेश किया  
 जो कि देशके प्रधान-प्रधान पुरुषों-द्वारा लाये हुए फल-पुष्प आदिकी भेंट तथा खिले हुए नील  
 कमल और सफेद कमलोसे अत्यन्त सुशोभित सरोवररूपी नेत्रोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो  
 आगे आकर बधू बरको देख ही रही हो । उत्तम धूलीसाल ही जिसका विस्तृत जघन प्रदेश था,  
 बावड़ी और कुएँ ही जिसकी विशाल नाभि थी, चारों ओर खड़ा हुआ सुवर्णका ऊँचा परकोटा  
 ही जिसकी करधनी थी, सजी हुई बड़ी-बड़ी गलियाँ ही जिसकी सुशोभित बाहुलताएँ थी, राज-  
 भवन ही जिसके ऊँचे कुच थे, देदीप्यमान गोपुररूपी मुखसे जो सुशोभित हो रही थी, केशर,  
 अगुरु और कपूरके विलेपनसे जिसका शरीर गीला हो रहा था, जो अनेक प्रकारके फूलोंसे गुंथी  
 हुई मालारूपी केशपाशको धारण कर रही थी, तोरणोंमें बाँधी गयी रत्न आदिकी मालाओंसे  
 जिसका शरीर सुशोभित हो रहा था, जो ऊपर नीचे उड़ती हुई पताकाओंके अग्रभागरूपी हाथों-  
 से बुलाती हुई-सी जान पड़ती थी, खुले हुए दरवाजे ही जिसके विश्वासपूर्ण नेत्र थे, जो धर-  
 धर होनेवाले उत्सवोंसे उत्कण्ठित-सी जान पड़ती थी और इस प्रकार जो दूसरी सुलोचनाके  
 समान सुशोभित हो रही थी । महाराजके दर्शन करनेके लिए उत्कण्ठित हो आशीर्वाद देने-

१ हिमवद्गिरे । २ प्रवृत्ता । ३ गुणवज्जान् । ४ अनन्या । कान्धा अ०, प०, इ०, स०, ल० । ५  
 इति गङ्गागतैरित्यनेन सह कमनीयैरतिप्रतिमालापैरिति संबन्ध । ६ सुलोचनाम् । ७ सप्रप्लवजपदजनानीत ।  
 ८ अभिमुखमागत्य । ९ प्रशस्तवृत्तिकुट्टिमघनविस्ताराम् । १० कषाटपिषानरहितद्वारनयनामित्यर्थ । ११ गृह-  
 मध्ये सोत्सवान् । १२ कुटुम्बिनीभिः ।

तृथमङ्गलनिर्घोषैः पुनन्दर इवापर । सुलोचनामिवान्यां स्वां प्रविश्य नगरौ जयः ॥१७७॥  
 राजगेहं महानन्दविधाधि विविधर्द्धिमिः । आनसत् कान्त्या सार्द्धं नगर्या हृदयं मुदा ॥१७८॥  
 तिथ्यादिपञ्चभिः शुद्धैः शुद्धे लग्ने महोत्सवम् । सर्वसंतोषणं कृत्वा जिनपूजापुरःसरम् ॥१७९॥  
 विधमङ्गलसंपरया स्त्रोचितासनसुरियताम् । हेमाङ्गदादिसान्निभ्ये राजा जातमहोदयः ॥१८०॥  
 सुलोचनां महादेवी पट्टवन्धं व्यधात्सुदा । स्त्रीषु मंचितपुण्यासु पत्युरेतावती रतिः ॥१८१॥  
 हेमाङ्गदं ससोदर्यमुपचर्य ससंभ्रमम् । पुरोभूय स्वयं सर्वभोग्यैः प्राचूर्णकोचितैः ॥१८२॥  
 मृत्युगीतसुखालयैर्वारणाशोहणालिभिः । वनवापीसरङ्गीडाकन्दुकादिविचोदने ॥१८३॥  
 अहानि स्थापयित्वैवं सुखेन कतिचिच्छ्रुती । तद्दीप्सितगजाद्यास्त्रगणिकाभूषणादिकम् ॥१८४॥  
 प्रवाय परिवारं च तोषयित्वा यथोचितम् । चतुर्विधेन कोशेन तत्पुरी तमजीगमत् ॥१८५॥  
 सुखप्रमाणैः संप्राप्य दृष्ट्वा भूषं ससुप्रमम् । प्रणम्याह्लादयच्छस्यात् स चत्वरवार्तया ॥१८६॥  
 सुख काले गलत्येवमकपनमहीपति । तदा संविन्तयामास विरक्तः कामभोगयो ॥१८७॥  
 अहो मया प्रमत्तेन विषयान्धेन नैक्षिता । कष्टं शरीरसंसारभोगनिस्सारता चिन्तम् ॥१८८॥

वाले पुरोहित, सौभाग्यवती स्त्रियाँ, मन्त्रो और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सेठ लोग सामने खड़े होकर जिसे शेषाक्षत दे रहे हैं ऐसे उस जयकुमारने तुरही आदि मागलिक वाजोके शब्दोंके साथ-साथ दूसरे इन्द्रके समान अपनी उस हस्तिनागपुरीमे प्रवेश कर अनेक प्रकारकी विभूतियोसे बहुत भारी आनन्द देनेवाले तथा उस नगरीके हृदयके समान अपने राजभवनमे प्रिया सुलोचनाके साथ-साथ बड़े आनन्दसे निवास किया ॥१८९-१७८॥

तदनन्तर बड़े भारी अभ्युदयको धारण करनेवाले महाराज जयकुमारने शुद्ध तिथि, शुद्ध नक्षत्र आदि पाँचो वातोसे निर्दोष लग्नेमे बड़ा भारी उत्सव कराकर सबको सन्तुष्ट किया और फिर जिनपूजापूर्वक सब मंगल-सम्पदाओंके साथ-साथ हेमाङ्गद आदि भाइयोंके सामने ही अपने योग्य आसनपर बैठी हुई सुलोचनाको बड़े हर्षसे पट्टबन्ध बाँधा अर्थात् पट्टरानी बनाया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यसंचय करनेवाली स्त्रियोमे पतिका ऐसा ही प्रेम होता है ॥१७९-१८१॥ उसके बाद कुशल जयकुमारने स्वयं आगे होकर पाहुनोंके योग्य सब प्रकारके भोगोप-भोगोसे, नृत्य, गीत और सुख देनेवाले वचनोसे, हाथी आदिकी सवारीसे, वन, बापिका, तालाब आदिकी झोडाओसे और गेद आदिके खेतोसे प्रसन्नतापूर्वक हेमाङ्गद और उनके भाइयोंकी सेवा की, कुछ दिन तक उन्हें बड़े सुखसे रखा और फिर उनको अच्छे लगनेवाले हाथी, घोड़े, अस्त्र, गणिका तथा आभूषण आदि देकर उनके परिवारके लोगोको यथायोग्य सन्तुष्ट किया और फिर रत्न, सोना, चाँदी तथा रुपये-पैसे आदि चारो प्रकारका खजाना साथ देकर उन्हें उनके नगर बनारसको विदा किया । ॥१८२-१८५॥ सुखपूर्वक कितने ही पड़ाव चलकर वे हेमाङ्गद आदि बनारस पहुँचे और माता सुप्रभाके साथ राजा अकम्पनके दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और जयकुमार तथा सुलोचनाकी बातचीतसे माता-पिताको आनन्दित करते हुए रहने लगे ॥१८६॥

इस प्रकार सुपूर्वक बहुत-सा समय व्यतीत होनेपर एक दिन महाराज अकम्पन काम-भोगोसे विरक्त होकर इस प्रकार सोचने लगे ॥१८७॥ कि मुझ प्रमादीने विषयोसे अन्धा

१ निवसति स्म । २ नगरीजनचित्ते इत्यर्थः । ३ त्रिषिग्रहक्षत्रयोगकरणे । तिथिनक्षत्रहोरावारमुहूर्तवा । ४ महोत्सवे ल० । ५ चकार । ६ ससानुजम् । ७ अग्रे भूत्वा । पुरस्कृत्य वा । ८ अतिथिः । ९ दिनानि । १० रत्नसुवर्णरजतव्यवहारयोग्यनाणकम् इति चतुर्विधेन । ११ वाराणसीम् । १२ हेमाङ्गदम् । १३ गमयति स्म । १४ अकम्पनम् । १५ सुप्रभादेवीसहितम् ।

<sup>१</sup> आदावशुच्युपादानमशुच्यवयवार्त्तिकम् । विश्वाशुचिकरं पापं दुःखदुश्चेष्टितालयम् ॥१८९॥  
 निरन्तरश्रवोक्तो धनवद्धारशरीरकम् <sup>२</sup> । <sup>३</sup> कृमिपुञ्जचितायस्मविष्टानिष्टं विनश्वरम् ॥१९०॥  
 तदभ्युप्यं जडो जन्तुस्तसः पञ्चन्द्रियाग्निभिः । विश्वेन्धनैः <sup>४</sup> कुलिङ्गीव भूयोऽथात् <sup>५</sup> कुत्सितं गतिम् ॥  
 साऽऽशास्त्रिभिः <sup>६</sup> किलात्रैव यत्र <sup>७</sup> विद्वमणूपमम् । तं <sup>८</sup> पुण्यैः <sup>९</sup> किलाद्याहं धनैः संख्यातिबन्धनैः <sup>१०</sup> ॥  
<sup>११</sup> यदादाय भवेज्जन्मी यन्मुक्त्वा मुक्तिमाययम् । तथाथात्म्यमिति <sup>१२</sup> ज्ञात्वा कथं पुण्याति <sup>१३</sup> धीधनः ॥  
 हा हतोऽसि चिरं जन्तो मोहेनाद्यापि <sup>१४</sup> ते यतः । नास्ति कायाशुचिज्ञानं तस्यागः <sup>१५</sup> क्वातिदुर्लभः ॥  
 दुःखी सुखी सुखी दुःखी दुःखी दुःख्येव केवलम् । <sup>१६</sup> धन्यधन्योऽधनो <sup>१७</sup> धन्यो निर्धनो निर्धनः सदा ॥  
 एवंविधैस्त्रिभिर्जन्तुरीप्सितानीप्सितैश्चिरम् । <sup>१८</sup> चतुर्थं भक्तमप्राप्य बन्धनमिति भवार्णवे ॥१९१॥  
<sup>१९</sup> श्री <sup>२०</sup> वष्टययमसौ वष्टि <sup>२१</sup> परं वष्टि स चापराम् । साऽपि वष्टयपरं कष्टमनिष्टेष्टपरम्परा <sup>२२</sup> ॥१९२॥

होकर इतने दिन तक शरीर, ससार और भोगोंकी असारता नहीं देखी यह बड़े खेदकी बात है ॥१८८॥ प्रथम तो यह शरीर अपवित्र उपादानों (माता-पिताके रज वीर्य) से बना है, फिर इसके सब अवयव अपवित्र हैं, यह सबको अपवित्र करनेवाला है, पापरूप है और दुःख देनेवाली खोटी-खोटी चेष्टाओंका घर है ॥१८९॥ इसके नौ द्वारोंसे सदा मल-मूत्र बहा करता है और अन्तमें यह विनश्वर शरीर कीड़ोंका समूह, चिताकी राख तथा विष्टा बनकर नष्ट हो जानेवाला है ॥१९०॥ ऐसे शरीरमें रहकर यह मूर्ख प्राणी, जिनमें संसारके सब पदार्थ ईंधन रूप हैं ऐसी पाँचों इन्द्रियोकी अग्नियोंसे तपाया जाकर कुलिङ्गी जीवके समान फिरसे नीच गतिधोमें पहुँचता है ॥१९१॥ जिसमें यह सारा संसार एक परमाणुके समान है ऐसा वह प्रसिद्ध आशास्त्रो गढा इसी शरीरमें है, इसी आशास्त्रो गढेको मैं आज थोड़े-से धनसे पूरा करता चाहता हूँ ॥१९२॥ जिस शरीरको लेकर यह जीव जन्म धारण करता है - संसारी बन जाता है और जिसे छोड़कर यह जीव मुक्त हो जाता है इस प्रकार शरीरकी वास्तविकता जानकर भी बुद्धिमान् लोग न जाने क्यों उसका भरण-पोषण करते हैं ॥१९३॥ हे जीव, खेद है कि तू मोहकर्मके द्वारा चिरकालसे ठगा गया है, क्योंकि तुझे आज तक भी अपने शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान नहीं हो रहा है, जब यह बात है तब अत्यन्त दुर्लभ उसका त्याग भला कहाँ मिल सकता है ॥१९४॥ इस संसारमें जो दुःखी है वे सुखी हो जाते हैं, जो सुखी है वे दुःखी हो जाते हैं और कितने ही दुःखी दुःखी ही बने रहते हैं इसी प्रकार धनी निर्धन हो जाते हैं, निर्धन धनी हो जाते हैं और कितने ही निर्धन सदा निर्धन ही बने रहते हैं । इस तरह यह जीव जो सुखी है वह सुखी ही रहे और जो धनी है वह धनी ही बना रहे यह चौथा भंग नहीं पाकर केवल-ऊपर कहे हुए तीन तरहके भंगोंसे ही संसाररूपी समुद्रमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है ॥१९५-१९६॥ यह पुरुष जिस स्त्रीको चाहता है वह स्त्री किसी दूसरे पुरुषको चाहती है, जिसको वह चाहती है वह भी किसी अन्य स्त्रीको चाहता है इस प्रकार यह इष्ट अनिष्टकी

१ अशुचिशुक्रशोणितमुख्यकारणम् । २ पृतिगन्धित्वम् । ३ कृमीनां पुञ्ज चिताया भस्म विष्टा पुरीषो निष्ठा-  
 यामन्ते यस्मिन् तत् । ४ तस्मिन् शरीरे । ५ स्थित्वा । ६ सकलविषयेन्धनं । ७ गच्छेत् । ८ अभिनिर्व-  
 शाकर । ९ जन्तावेव । १० आशास्त्रिणी । ११ सकलवस्तु । १२ आशास्त्रिणीम् । १३ पूरयितुमिच्छु ।  
 १४ गणनाविशेषः । १५ शरीरम् । १६ तच्छरीरस्य यथास्वरूपम् । १७ पुष्टिं नयति । १८ वैराग्योपपन्न-  
 कालेऽपि । १९ शरीरत्यागः । २० कुत्रास्ति । २१ बनवान् । २२ धनरहित । २३ सुखीः सुखीति धनी  
 धनोति चतुर्थभेदम् । २४ स्त्रियम् । २५ वष्टि इच्छति । अयम् पुमान् । २६ अन्यपुरुषम् । २७ अनिष्टवाञ्छा-  
 संततिः । 'वष्टि योगेच्छयोः' इत्यभिधानात् ।

यदिष्टं तदनिष्टं स्याद् यदनिष्टं तदिच्छते<sup>१</sup> । इहेष्टानिष्टयोरिष्टा नियमेन न हि स्थिति ॥१६८॥  
 'स सा' तत्तद्वेषा सा स स्यात् सोऽपि तत्पुनः । तस्य स्यात्तत्तद्वैवात्र चक्रके चक्रमंक्रमः ॥१६९॥  
 अन्तमस्य<sup>२</sup> विधास्यामि चिन्तयित्वा जिनोदितम् । संततं जन्मकान्तराभ्यान्तं श्रीतोऽहमन्तकात् ॥२००॥  
 भोगोऽयं भोगिनो भोगो<sup>३</sup> भोगिनो<sup>४</sup> भोगिनामकृत् । तावन्मात्रोऽपि नास्माकं भोगो भोगेतिवति प्रुतम् ॥  
 युज्यते<sup>५</sup> य. स भोगः स्याद् भुक्तिर्वा भोग<sup>६</sup> इत्यते । तद्द्वयं नरकेऽप्यस्ति तस्माद् भोगेषु का रतिः ॥२०२॥  
 भोगास्तृष्णाग्निसंबद्धौ<sup>७</sup> दोषनीयौषधोपमाः ।<sup>८</sup> पुमिः प्रवृद्धतृष्णाग्नेः<sup>९</sup> शान्त्यै चिन्त्यमिहापरम् ॥२०३॥  
 इत्यतो न सुयीः संघो बान्ततृष्णाविषो यृशम् । हेमांगदं समाह्वय<sup>१०</sup> पूज्यपूजापुरस्सरम् ॥२०४॥  
 अभिविष्य चलां मत्वा वप्त्वा पट्टेन वाऽचलम्<sup>११</sup> । लक्ष्मीं समर्प्य गत्वोच्चैरभ्यासं वृषमेशितुः ॥२०५॥  
 प्रव्रज्य बहुभिः साह<sup>१२</sup> भूषण्यैः स ससुप्रभः<sup>१३</sup> । क्रमाच्छ्रेणीं समाख्या कैवल्यमुदपादयत् ॥२०६॥  
 अथ जन्मान्तरापातमहास्नेहातिनिर्मलः । सुलोचनानानन्द<sup>१४</sup> नेन्दुविम्बात् सुतां<sup>१५</sup> सुधासू<sup>१६</sup> ॥२०७॥  
 'उन्मीलकः लोचनीरेजराभिलोकोक्तैः<sup>१७</sup> पिबन् । पूरयन् श्रोत्रपात्राभ्यां<sup>१८</sup> तद्गोपीतारसायनम् ॥२०८॥

परम्परा बहुत ही दुःख देनेवाली है ॥१६७॥ जो इष्ट है वह अनिष्ट हो जाता है और जो अनिष्ट है वह इष्ट हो जाता है, इस प्रकार ससारमे इष्ट-अनिष्टकी स्थिति किसी एक स्थानपर नियमित नहीं रहती ? ॥१६८॥ आजका पुरुष अगले जन्ममे स्त्री हो जाता है, स्त्री नपुंसक हो जाती है, नपुंसक स्त्री हो जाता है, वही स्त्री फिर पुरुष हो जाता है, वह पुरुष भी नपुंसक हो जाता है, वह नपुंसक फिर पुरुष हो जाता है अथवा नपुंसक नपुंसक ही बना रहता है, इस प्रकार इस चक्रमे बड़ा टेढ़ा संक्रमण करना पड़ता है ॥१६९॥ इसलिए श्रीजिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोका चिन्तवन कर मैं अवश्य ही इस ससारका अन्त कहेगा क्योंकि निरन्तर ससाररूपी वनके भीतर परिभ्रमण करनेमें मैं अब यमराजसे डर गया हूँ ॥२००॥ भोग करनेवाले मनुष्योंके ये भोग ठीक सपके फणाके समान हैं और भोगनेवाले जीवको भोगी नाम देनेवाले हैं । तथा इतना सब होनेपर भी उन भोगोमे-से एक भोग भी हमारा नहीं है यह निश्चय है ॥२०१॥ जिसका भोग किया जाता है उसे भोग कहते हैं अथवा उपभोग किया जाना भोग कहलाता है वे दोनों प्रकारके भोग नरकमे भी हैं इसलिए उन भोगोमे क्या प्रेम करना है ? ॥२०२॥ जिस प्रकार औषधसे पेटकी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है उसी प्रकार इन भोगोसे भी तृष्णारूपी अग्नि प्रदीप्त हो उठती है अतः इन भोगोसे बड़ी हुई तृष्णारूपी अग्निकी आन्तिके लिए कोई दूसरी ही उपाय सोचना चाहिए ॥२०३॥ इस प्रकार तृष्णारूपी विपको जगल देनेवाले बुद्धिमान् राजा अकम्पनने बहुत शीघ्र हेमांगदको बुलाकर पूज्य-परमेश्वरयोकी पूजापूर्वक उसका राज्याभिषेक किया, लक्ष्मीको चंचल समझ पट्टवन्धसे बाँधकर उसे अचल बनाया और हेमांगदको सौपकर श्रीभगवान् वृषभदेवके समीप जाकर अनेक राजाओं और रानी सुप्रभाके साथ दीक्षा धारण की तथा अनुक्रमसे श्रेणियाँ बढ़कर कैवल्यज्ञान उत्पन्न किया ॥२०४-२०६॥

अथानन्तर अन्य जन्मसे आये हुए बहुत भारी स्नेहसे भरा हुआ जयकुमार खुले हुए नीलकमलोके समान सुशोभित होनेवाले अपने नेत्रोसे सुलोचनाके मुखरूपी आनन्ददायी

१ इष्टं भवति । २ स पुमान् । ३ सा स्त्री स्यात् । ४ तत् नपुंसकम् । ५ एषा स्त्री स्यात् । ६ तन् नपुंसकम् । ७ तदेव पुनपुंसकमेव स्यात् । ८ चक्रवदावर्तमानसमारो । ९ नसारस्य । १० सर्पस्य । ११ भोगीति नामकृत् । भोगीति नामकर । सर्पनामकृदित्यर्थः । १२ भोगीति नामकृन्मात्रोऽपि । १३ पदार्थः । १४ पदार्थानुभवनक्रिया । १५ दीपनहेतुः । १६ भोगः । १७ उपशान्तिकारणम् । १८ पः मेषोपज्ञापूर्वकम् । १९ निश्चलं यथा भवति तथा । पट्टेन बद्ध्वा वा निबन्धनं कृत्वा समर्प्यति संबन्धः । २० धार्थिकः । २१ सुप्रभादेवी-सहितः । २२ आनन्दहेतुचन्द्रः । २३ निमृताम् । २४ कान्तिम् । २५ विक्रमयोग्यैस्तत्त्ववैदिकैर्ज्ञानैः । २६ नेत्रैः । - लोचनं तं विहाय सर्वत्र । २७ मुलोचनावचनरूपगीतम् ।

<sup>१</sup>हरत् करिकराकाकरालिङ्गनसंगतः<sup>२</sup> । <sup>३</sup>तद्वाग्रूपिकान्तःस्थं रसं<sup>४</sup> र्पशन्वेदिनम् ॥२०६॥

तद्भिवाधःसम्मात्रिताश्रुतःस्वादोत्सुकः । तद्वक्त्रावारिजामोदामोदमानोऽनिशं शृशम् ॥२१०॥

<sup>५</sup>अत्रैव न पुनरिति मम वामासमागमः<sup>६</sup> । स सुलोचनया स्त्रानि चक्षुरादीन्यतर्पयत् ॥२११॥

<sup>७</sup>समाकालभावेभ्यो यत्रतेः समता तथैः । ततः प्रभोगशृंगारावातापारान्तगौ हि तौ ॥२१२॥

-मालिनी

<sup>१</sup>अतिपरिणतया<sup>२</sup> ले पितालेपनादिः<sup>३</sup>

स सक्लकणानां<sup>४</sup> गोचरीभूय<sup>५</sup> तस्याः ।

हितपरविषयागां<sup>६</sup> सा-पि<sup>७</sup> तस्यैवमेतौ

-समरतिक्रुतसाराग्यन्वभूतां सुखानि ॥२१३॥

मनसि मनसिजस्याऽपि<sup>८</sup> सौख्यं न ताम्यां

पृथगनुगतभावेः<sup>९</sup> संगताभ्यां निवान्तम् ।

<sup>१०</sup>करणमुखसुखैस्तैश्चमनः प्रीतिमापत्

मवति परमुखं च क्वापि सौख्यं सुतृप्यै ॥२१४॥

शिशिरसुरभिमन्दोच्छ्वासतैः<sup>११</sup> स्वैः समारै-

<sup>१२</sup>शृदुमधुरचोभिः स्वादनीयप्रदेशैः ।

ललिततुलताभ्यां सार्द्धवैकाकराभ्या-

मखिलमनयतां तौ सौख्यमात्मेन्द्रियाणि ॥२१५॥

चन्द्रमासे झरते हुए अमृतको पीता था, सुलोचनाके वचन और गीतरूपी रसायनको अपने कानरूपी पात्रोसे भरता था, हाथीकी सूँड़के समान आकारवाले हाथोके आलिंगनसे युक्त हो स्पर्शान् इन्द्रियोसे जानने योग्य उसके शरीररूपी कुईयाके भीतर रहनेवाले रसको ग्रहण करता था, बिम्बी फलके समान सुशोभित उसके ओठोंमें रहनेवाले अमृतका आस्वाद लेनेमें सदा उत्सुक रहता था, उसके मुखरूपी कमलकी सुगन्धिसे रात-दिन अत्यन्त हर्षित होता रहता था और 'स्त्री समागम मुझे इसी भवमें है अन्यभवमें नहीं है, ऐसा मानकर ही मानो सुलोचनाके द्वारा अपनी चक्षु आदि इन्द्रियोको सन्तुष्ट करता रहता था ॥२०७-२११॥ चूँकि प्रमाण, काल और भावसे इन दोनोंके प्रेममें समानता थी इसलिए ही वे दोनों सम्भोग शृंगाररूपी समुद्रके अन्त तक पहुँच गये ॥२१२॥ खूब बढे हुए प्रेमसे जिसने विलेपन आदि छोड़ दिया है ऐसा वह जयकुमार सुलोचनाकी सब इन्द्रियोका विषय रहता था और सुलोचना भी जयकुमारके हित करनेवाले विषयोमें तत्पर रहती थी इस प्रकार ये दोनों ही समान प्रीति करना ही जिनका सारभाग है ऐसे सुखोका उपभोग करते थे ॥२१३॥ पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए परिणामोंसे खूब मिले हुए उन दोनोंने अपने मनमें कामदेवका सुख नहीं पाया था किन्तु इन्द्रियोसे उत्पन्न हुए उन-उन सुखोसे उनके मन प्रीतिको अवश्य प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि दूसरेके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख क्या कही उत्तम तृप्तिके लिए हो सकता है ? ॥२१४॥ अपने स्वासोच्छ्वासके उत्पन्न हुए शीतल सुगन्धित और मन्द पवनसे, कोमल और मधुर वचनोसे, स्वाद

१ स्वीकुर्वन् । २ आलिङ्गने हृदयङ्गम 'संगतं हृदयङ्गमम्' इत्यभिधानात् । ३ सुलोचनाशरीररसकूपमण्यस्थित । ४ स्पर्शजनकम् । ५ इह जन्मन्येव । ६ उत्तरभवे नास्तीति वा । ७ स्त्रोसंग । प्रतीपदक्षिणी वामा वनित महिषा तथा' इत्यभिधानात् । ८ विजय । ९ योनिपुष्पादिप्रमाणात् समरतिप्रभृतिवालात् अन्योन्यानुरागादिभावाच्च । १० अतीव प्रबुद्ध । ११ लुप्तश्रीलण्डकुङ्कुमचर्चामास्याभरणादि । १२ समस्तेन्द्रियाणाम् । १३ विषयीभूत्वा । १४ हितसकचन्दनादिविषयाणाम् । १५ सुलोचनापि । १६ जयस्य । १७ न प्राप्यते स्म । १८ पदार्थ । १९ इन्द्रियोपायजनितसुखे । २० परम् अन्यवस्तु मुख द्वारमुपायो यस्य तत् । परमुखं क्वापि भवति न कुत्रापि त्यर्थः । २१ आस्वादिषु योग्याधरादिप्रदेशैः ।

हृतसरसिजसरैरिष्टचेटीयमानैः<sup>१</sup>

सततरुनिमित्तैर्बालैर्मार्गप्रवृत्तैः ।

मृदुशिशिरतरैः संप्रापनुत्तौ समीरैः

सुरत<sup>२</sup>विरतिजातस्वेदविच्छेदसौख्यम् ॥२१६॥

वसन्ततिलका

तां तस्य वृत्तिरनुवर्तयति स्म तस्या—

इच्चैनं तदेव रतिवृत्तिनिमित्तमासीत् ।

प्रेमापदत्र<sup>३</sup> निजभावमचिन्त्यमन्त्य—

सातोदयश्च मधभृतिफलं तदेव ॥२१७॥

कामोऽशमत् सुरतवृत्तिषु तस्य शिष्य—

भावं सुधीरिति रतिश्च सुलोचनायाः ।

को गर्वमुद्वहति चेन्न वृथाभिमानी

स्वेष्टार्थसिद्धिविषयेषु गुणाधिकेषु ॥२१८॥

एवं सुखानि तनुजन्मनुभूय तौ च

नैवेद्यतुदिचररतेऽप्यभिलाषकोटिम्<sup>४</sup> ।

धिवकष्टमिष्टविषयोत्सुखं सुखाय

तद्गीतविश्वविषयाय बुधा यत्तथ्यम्<sup>५</sup> ॥२१९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसमूहे जयसुलोचना-

सुखानुभवव्यावर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४५॥

लेने योग्य अधर आदि प्रदेशोंसे और कोमलताकी एक खान स्वरूप सुन्दर शरीररूपी लतासे वे दोनों अपनी इन्द्रियोको समस्त सुख पहुँचाते थे ॥२१५॥ जिसने कमलका सार भाग हरण कर लिया है, जो प्रिय दासके समान आचरण करता है, निरन्तर सम्भोगका साधन रहता है, झरोखेके मार्गसे आता है और अत्यन्त कोमल ( मन्द ) तथा शीतल है ऐसे पवनसे वे दोनों ही सम्भोगके बाद उत्पन्न हुए पसीना सूखनेका सुख प्राप्त करते थे ॥२१६॥ जयकुमारकी प्रवृत्ति सुलोचनाके अनुकूल रहती थी और सुलोचनाकी प्रवृत्ति जयकुमारके अनुकूल रहती थी । उन दोनोंका परस्पर एक दूसरेके अनुकूल रहना ही उनके रतिजन्य सन्तोषका कारण था जो चिन्तनमे न आ सके ऐसा प्रेम इन्हीं दम्पतियोंमें पूर्णताको प्राप्त हुआ था, इन्हींके सातावेदनीय-का अन्तिम उदय था और यही सब इनके जन्म लेनेका फल था ॥२१७॥ बुद्धिमान् कामदेव, सम्भोग चैष्टाओंके समय जयकुमारका शिष्य बन गया था और रति सुलोचनाकी शिष्या बन गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य यदि व्यर्थका अभिमानी न हो तो ऐसा कौन हो जो अपने इष्ट पदार्थकी सिद्धिके विषयभूत अधिक गुणवाले पुरुषोंके साथ अभिमान करे ? ॥२१८॥

इस प्रकार शरीरसे उत्पन्न हुए सुखोंका अनुभव कर चिरकाल तक रमण करनेपर भी वे दोनों इच्छाओंकी अन्तिम अवधिको प्राप्त नहीं थे — उनकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हुई थी । इसलिए कहना पड़ता है कि इष्ट विषयोसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिवकार है । हे पण्डितो, तुम उसी सुखके लिए प्रयत्न करो जो कि संसारके सब विषयोंसे अतीत है ॥२१९॥

इस प्रकार आर्षे नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण-संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमार और सुलोचनाके सुखभोगका वर्णन करनेवाला पंतालोसवों पर्व समाप्त हुआ ।

१ इष्टव्यस्यायमानै । २ गवाक्षपथ । ३ सुरतावसानजात । ४ अन्योन्यानुवर्तनमेव । ५ प्रापत् । ६ जयसुलो-  
चनायो । ७ निजयोर्दम्पत्योर्भावो यत्र तत् । ८ अपविषयसुखोदयक । ९ जन्मप्राप्तिकफलम् । १० नैव प्रापतु ।  
११ अन्तम् । १२ कारणात् । १३ प्रयत्नं कुरुष्वम् ।



## षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व

जयः प्रासादमध्यास्य<sup>१</sup> दन्तावलगतो मुदा । यदृच्छयाऽन्यदालोक्य गच्छन्तो खगदम्पती<sup>२</sup> ॥१॥  
 हा मे प्रभावतीत्येतद् आलपन्नतिविह्वलः । रतिमेवाहितः सद्यः सहाय्यीकृत्य मूर्च्छया<sup>३</sup> ॥२॥  
 तथा पारावतद्वन्द्वं<sup>४</sup> तत्रैवालोक्य कामिनी । हा मे रतिवरेत्युक्त्वा साऽपि मूर्च्छामुपागता ॥३॥  
<sup>५</sup>दक्षचेदं जनक्षिप्रकृतशीतक्रिया क्रमात् । सद्यः कुमुदिनीवाप प्रबोधं शीतदीधितेः ॥४॥  
<sup>६</sup>हिमचन्दनसंमिश्रवारिभिर्मन्दमारुतैः । सोऽप्यमूर्च्छो दिशः पश्यन् मन्दमन्दतनुत्रयः<sup>७</sup> ॥५॥  
 यूयं सर्वेऽपि<sup>८</sup> सायन्तनाम्भोजानुकृतानना । किमेतदिति तत्सर्वं जानानोऽपि स नागरः<sup>९</sup> ॥६॥  
 अनेकानुनयोपायैर्गोत्रस्खलनं<sup>१०</sup> दुःखिताम् । सुलोचनां समाश्वास्य स्मरन् जन्मान्तरप्रियाम् ॥७॥  
<sup>११</sup>आकारसंवृत्तिं कृत्वा तामेवालपयन्<sup>१२</sup> स्थितः । वञ्चनाञ्जुञ्जवः<sup>१३</sup> सर्वे प्रायः कान्तासु कामिनः ॥८॥  
 तयोर्जन्मान्तरास्मीयवृत्तान्तस्मृत्यनन्तरम् । स्वर्गाद्रनुगतो बोधस्तृतीयो<sup>१४</sup> न्यक्तिसीधिवान्<sup>१५</sup> ॥९॥  
 तद्विलोक्य सपत्न्योऽस्त्वा<sup>१६</sup> श्रीमती सशिवंकरा । पताञ्च मत्सरोद्रेकादित्यन्योन्यं तदाम्बुवन्<sup>१७</sup> ॥१०॥

अथानन्तर किसी अन्य समय जयकुमार अपने महलकी छतपर आरुढ़ हो शोभाके लिए वनवाये हुए कृत्रिम हाथीपर आनन्दसे बैठे था कि इतनेमें ही अपनी इच्छानुसार जाते हुए विद्याधर दम्पती दिखे, उन्हें देखकर 'हा मेरी 'प्रभावती' इस प्रकार कहता हुआ वह बहुत ही वैचैन हुआ और मूर्च्छाकी सहायता पाकर शीघ्र ही प्रेमको प्राप्त हुआ । भावार्थ—पूर्वभवका स्मरण होनेसे मूर्च्छित हो गया ॥१-२॥ इसी प्रकार सुलोचना भी उसी स्थानपर कबूतरोंका युगल देखकर 'हा मेरे रतिवर' ऐसा कहकर मूर्च्छाको प्राप्त हो गयी ॥३॥ जिस प्रकार चन्द्रमासे कुमुदिनी गोघ्न ही प्रबोधको प्राप्त हो जाती है—खिल उठती है उसी प्रकार चतुर दासी जनोके द्वारा किये हुए शीतलोपचारके क्रमसे वह सुलोचना शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हुई थी—मूर्च्छा-रहित हो गयी थी ॥४॥ कपूर और चन्दन मिले हुए जलसे तथा मन्द-मन्द वायुसे कुछ लज्जित हुआ और दिशाओकी ओर देखता हुआ वह जयकुमार भी मूर्च्छारहित हुआ ॥५॥ यद्यपि वह चतुर जयकुमार सब कुछ समझता था तथापि पूछने लगा कि तुम लोगोके मुँह सन्ध्याकालके कमलको अनुकरण क्यों कर रहे हैं ? अर्थात् कान्तिरहित क्यों हो रहे हैं ? ॥६॥ पतिके मुँहसे दूसरी स्त्रीका नाम निकल जानेके कारण दुःखी हुई सुलोचनाको जयकुमारने अनेक प्रकारके अनुनय-विनय आदि उपायोसे समझाया तथा दूसरे जन्मकी प्रिया प्रभावती समझकर अपने मुँह-का आकार छिपे वह उसीके साथ बातचीत करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि सभी कामी पुरुष स्त्रियोके ठगनेमें अत्यन्त चतुर होते हैं ॥७-८॥ उन दोनोंके जन्मान्तर सम्बन्धी अपना समाचार स्मरण होनेके बाद ही स्वर्ग पर्यायसे सम्बन्ध रखनेवाला अवधिज्ञान भी प्रकट हो गया ॥९॥ यह सब देखकर श्रीमती शिवंकरा तथा और भी जो सुलोचनाकी सीते थी वे उस समय ईर्ष्याके

१ शोभायै विन्यस्तकृत्रिमगज । दन्तावलमनो ल० । २ विद्याधरदम्पती । ३ प्रीतिम् । ४ प्राप्त । स्वीकृतो । ५ कपीत । ६ सीवाप्रे । ७ चतुर । ८ कपूर । ९ ईपलज्जवान् । १० अस्तमयकाल । ११ निपुण । १२ प्रभावतीति नामान्तरग्रहणं, सुलोचनाया अथ प्रभावतीति अन्यस्त्रीनामग्रहण । १३ अन्यान्तरप्रियास्मरण-जातरोमाञ्चप्रभृत्याकारप्रावरणम् । १४ सम्भाषणम् । 'संभाषणमाभाषणमालापः कुरुकुञ्चिका' इति वैजयन्ती । १५ प्रतीता । चञ्चवः ल० । १६ अवधिज्ञानम् । १७ गतवान् । १८ सुलोचनायाः । १९ ऊचू ।

स्त्रीषु मायेति या वार्ता सत्यां तामय कुर्वती । पतिमूर्च्छां स्वमूच याः प्रत्ययीकृत्य मायया ॥११॥  
पश्य कृत्रिममूर्च्छात्तभावनाव्यक्तसंदृष्टिः । सन्ततान्त-स्थितप्रौढप्रेमप्रेरितचेतना ॥१२॥  
कन्याव्रतविलोपात्तगोत्रस्खलनदूषिता । पतिं रतिवरेत्युक्त्वा<sup>१</sup> यान्मूर्च्छां कुलदूषिणी ॥१३॥  
इयं शीलवतीत्येनां निस्स्वनम्<sup>२</sup> वर्णयत्ययम् । प्रायो रक्तस्य दोषोऽपि गुणवत् प्रतिभासते ॥१४॥  
प्रभावतीति संसुह कृतव-<sup>३</sup> कोपिनीमिमांस् । प्रसिसादयिषुः शोकं तलीत्या विदधाति नः ॥१५॥  
<sup>१</sup> एतान् सर्वास्तदालापान् जयोऽवधिचिलोचन । विदित्वा सस्मितं पश्यन् प्रियायाः स्मेरमाननम् ॥१६॥  
कान्ते जन्मान्तरावाप्तं विश्वं वृत्तान्तभावयोः । ज्वावर्ण्येमां समां तुष्टिकौतुकापहृतां कुरु ॥१७॥  
इति<sup>२</sup> प्राचोदयत् साऽपि प्रिया तद्भाववेदिनी । कथां कथयितुं कृत्स्नां प्राकृस्त<sup>३</sup> कलभापिणी ॥१८॥  
इह जन्ममति द्वीपे विदेहे प्राचि<sup>४</sup> पुष्कला-वती विषयमध्यस्था नगरी पुण्डरीकिणी ॥१९॥  
तन्नाभवत् प्रजापालः प्रजा राजा प्रपालयन् । फलं धर्मायकामानां स्त्रीकृत्य कृतिनां वरः ॥२०॥  
कुबेरमित्रस्तस्यासीद् राजश्रेष्ठो<sup>५</sup> प्रतिष्ठितः । द्वात्रिंशद्वनकथाया मायास्तस्य मनःप्रिया ॥२१॥  
गृहे तस्य ससुचुञ्चे नाभाभववनेष्टे । वसन् रतिवरो नाम्ना धीमान् पारावलोत्तमः ॥२२॥

उद्वेकसे परस्परमें इस प्रकार कहने लगी ॥१०॥ देखो, यह सुलोचना मायाचारसे पतिकी मूर्च्छाको अपनी मूर्च्छाका कारण बनाकर 'स्त्रियोमे माया रहती है' इस कहावतको कैसा सत्य सिद्ध कर रही है । और इस प्रकार जिसने कृत्रिम मूर्च्छाके द्वारा प्रकट हुई भावनाओंका साफ-साफ संवरण कर लिया है, जिसकी चेतना सदासे हृदयमे बैठे हुए प्रौढ प्रेमसे प्रेरित हो रही है जो कन्याव्रतके भग करनेसे प्राप्त हुए गोत्रस्खलन ( भूलसे दूसरे पतिका नाम लेने ) से दूषित है तथा कुलको दूषण लगानेवाली है ऐसी यह सुलोचना अपने पहलेके पतिको 'हे रतिवर' इस प्रकार कहकर बनावटी मूर्च्छाको प्राप्त हुई है ॥११-१३॥ यह जयकुमार इसे 'यह बड़ी शीलवती है, इस प्रकार कहता हुआ वर्णन करता है सो ठीक ही है क्योंकि रागी पुरुषको प्रायः दोष भी गुणके समान जान पड़ते हैं ॥१४॥ 'हे प्रभावति' ऐसा कहकर मूर्च्छित हो, क्रोध करनेवाली इस सुलोचनाको प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हुआ यह धूर्त कुमार उसके प्रेमसे ही हम लोगोको शोक उत्पन्न कर रहा है ॥१५॥ अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाला जयकुमार उन लोगोकी इन सब बातोको जानकर मन्द हँसीके साथ-साथ सुलोचनाके मुसकुराते हुए मुखको देखता हुआ कहने लगा कि 'हे प्रिये ! तू हम दोनोंके पूर्वभवका सब वृत्तान्त कहकर इस सभाको सन्तुष्ट तथा कौतुकके वशीभूत कर !' यह सुनकर पतिके अभिप्रायको जाननेवाली और मधुर भाषण करनेवाली सुलोचनाने भी पूर्वभवकी सब कथा कहनी प्रारम्भ की ॥१६-१८॥

इस जन्म द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमे एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि पुष्कलावती देशके मध्यमे स्थित है । उस नगरीका राजा प्रजापाल था जो कि समस्त प्रजाका पालन करता हुआ धर्म, अर्थ तथा कामका फल स्वीकार कर सब पुण्यवानोमें श्रेष्ठ था ॥१९-२०॥ उस राजाका कुबेरमित्र नामक एक प्रसिद्ध राजसेठ था और उसकी हृदयको प्रिय लगनेवाली धनवती आदि बत्तीस स्त्रियां थी ॥२१॥ अनेक भवनोसे घिरे हुए उस सेठके अत्यन्त ऊँचे महलमे एक रतिवर नामका कवूतर रहता था जो कि अतिशय बुद्धिमान् और सब कवूतरोंमें

१ कार्णीकृत्य 'प्रत्ययोऽधीनशयवज्ञानविज्ञानहेतुषु' इत्यभिधानात् । २ रतिवरेत्युक्तपुरुषे प्रवृद्धमनसि प्रेरित-मनसा । ३ अगच्छत् । ४ स्त्रीव ल० । -त्येता अ०, स०, इ०, प० । ५ निस्तनन् ट० । वृत्तम् । ६ अनुरक्तस्य । ७ मूर्च्छां गत्वा । ८ धूर्त । ९ प्रभावतीनामग्रहणान् कुपिताम् । १० प्रमादयितुमिच्छ । ११ एतान् । १२ अवाचीत् । १३ उपक्रान्तवती । १४ पूर्वविदेहे । १५ धीमानित्यर्थः ।

कदाचिद् राजगेहागतेन वैश्येक्षिता स्वयम् । स्नेहेन सस्मितालापैः स्वहस्तेन समुद्धतः ॥२३॥  
 कदाचिद् कामिनीकान्तकराजपित्तशर्करा-संमिश्रितान् सुशालीयतण्डुलानमिक्षयन् ॥२४॥  
 कदाचिच्छ्रेष्ठिनोद्विष्ट<sup>१</sup> हेतुदृष्टान्तपूर्वकम् । अहिंसाक्षुण्णं धर्मं भावयन् प्राणिनेहितम् ॥२५॥  
 कदाचिद् भवनायातृतिपादसरोजजम् । रेणुजालं<sup>२</sup> निराकुर्वन् पक्षाभ्यां प्रत्युपागतः ॥२६॥  
 स कदाचिद् गतिः का स्यात् पापापापात्मनामिति । कुतूहलेन पृष्टः सन् जनैस्तुण्डेन निर्दिशन् ॥२७॥  
 अयोभागमथोर्ध्वं च मौनीवागमपारागः । क्षयोपशममाहात्म्यात्तिर्यचोऽपि त्रिवेकिनः ॥२८॥  
 क्रीडन्नानाप्रकारेण कान्तया रतिषेणया<sup>३</sup> । सार्धमेवं चिरं तत्र सुखं कालमजीगमत् ॥२९॥  
 असौ रतिवरः कान्तस्त्वमहं सा तत्र प्रिया । रतिषेणा भवावर्ते जन्तुः किं किं न जायते ॥३०॥  
 सुतः कुबेरमित्रस्य धनवत्याश्च पुण्यवान् । जातः कुबेरकान्ताख्यः कुबेश<sup>४</sup> वा परः सुधीः ॥३१॥  
 द्वितीय इव तस्यासीत् प्राणः सोऽनुचराग्रणीः<sup>५</sup> । प्रियसेनाह्वयो बाल्यादारभ्य कृतसंगतिः ॥३२॥  
 आजन्मनः कुमारस्य कामधेनु रनुत्तमा<sup>६</sup> । मनोऽमिलयितुं दुग्धे समस्तसुखसाधनम् ॥३३॥  
 क्षेत्रं निष्पादयत्येकं गन्धशालिमनारतम् । इक्षुवन्मृतदेशीया<sup>७</sup> नन्यत्<sup>८</sup> स्थूलास्तनुत्वचः ॥३४॥  
 स्वयं मनोहरं वीणा दन्ध्वनीति<sup>९</sup> निरन्तरम् । तत्त्वानसमये सर्वरोगस्वेदमलापहम् ॥३५॥

श्रेष्ठ था ॥२२॥ कभी तो राजभवनसे आये हुए सेठ कुबेरमित्र बड़े स्नेहसे हँस-हँसकर वार्ता-  
 लाप करते हुए उसे अपने हाथपर उठा लेते थे, कभी वह स्त्रियोके सुन्दर करकमलों-द्वारा दिये  
 हुए और शक्कर मिले हुए उत्तम धानके चावलोंको खाता था, कभी सेठके द्वारा हेतु तथा  
 दृष्टान्तपूर्वक कहे हुए प्राणिहितकारी अहिंसा धर्मका चिन्तन करता था, कभी भवनमें आये हुए  
 मुनिराजके चरणकमलोंकी धूलिको उनके समीप जाकर अपने पंखोंसे दूर करता था, जब कभी  
 कोई कुतूहलवश उससे पूछता था कि पापी तथा पुण्यात्मा लोगोंकी क्या गति होती है ? तब  
 वह शास्त्रोंके जाननेवाले किसी मौनी महाशयके समान इशारेसे चोंचके द्वारा नीचेका भाग  
 दिखाता हुआ पापी लोगोकी गति कहता था और उसी चोंचके द्वारा ऊपरका भाग दिखलाता  
 हुआ पुण्यात्मा लोगोकी गति कहता था सो ठीक ही है क्योंकि क्षयोपशमके माहात्म्यसे तिर्यच  
 भी त्रिवेकी हो जाते हैं ॥२३-२८॥ इस प्रकार वह कबूतर अपनी रतिषेणा नामकी कबूतरीके  
 साथ नाना प्रकारकी क्रीडा करता हुआ वहाँ सुखसे समय बिताता था ॥२९॥ सुलोचना  
 कह रही है कि वह रतिवर ही आप मेरे पति हैं और वह रतिषेणा ही मैं आपकी प्रिया हूँ ।  
 देखो इस संसाररूपी आवर्तमें भ्रमण करता हुआ यह जीव क्या-क्या नहीं होता है ? ॥३०॥  
 उस कुबेरदत्त सेठके धनवती स्त्रीसे एक कुबेरकान्त नामका पुत्र हुआ था जो कि अतिशय  
 पुण्यवान्, बुद्धिमान् तथा दूसरे कुबेरके समान जान पड़ता था ॥३१॥ उस कुबेरकान्तका एक  
 प्रियसेन नामका श्रेष्ठ मित्र था जो कि बाल्य अवस्थासे ही उसके साथ रहता था और उसके  
 दूसरे प्राणोंके समान था ॥३२॥ एक अत्यन्त उत्तम कामधेनु कुमार कुबेरकान्तके जन्मसे  
 ही लेकर उसकी इच्छाके अनुकूल सुखके सब साधनोंको पूरा करती थी । वह कामधेनु प्रति  
 दिन एक खेत तो सुगन्धित धान्यका उत्पन्न करती थी और एक खेत अमृतके समान मीठे,  
 पतले छिलकेवाले बड़े-बड़े ईखोंका उत्पन्न करती थी ॥३३-३४॥ इसके सिवाय वही कामधेनु  
 कुमारके सामने निरन्तर मनोहर वीणा बजाती थी, और उसी कामधेनुके प्रतापसे उसके स्नानके

१ द्विष्ट-ल० । २ धूलिसमूहम् । ३ अपसारयन् । ४ अमिमुखागत सन् । ५ पारावतः । ६ अघामिकाणां  
 घामिकाणाम् । ७ रतिषेणसंज्ञया निबन्धयंया पारावत्या । ८ गमयति स्म । ९ धनद इव । १० मित्र ।  
 ११ जननकालादारभ्य । १२ न विद्यते उत्तमा यस्याः सकाशात् इत्यनुत्तमा, अनुपमेत्यर्थः । १३ सुधासदृशान् ।  
 १४ परं द्वितीयं क्षेत्रम् । १५ भृशं ध्वनति ।

सुगन्धिसलिल गाढ्यं<sup>१</sup> गम्भीरमधुरं<sup>२</sup> ध्वनन् । अमोघरो नमोभागादासन्नादवमुञ्जति ॥३६॥  
 कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूषणानि प्रयच्छति । अन्नमानं ददात्यन्यद् द्वयं कल्पमहीरहः<sup>३</sup> ॥३७॥  
 एवमन्यच्च भोगाढ्यमक्षेपं देवनिर्मितम् । शश्वज्जिर्विशतस्तस्य पूर्णं प्राथमिकं वयः ॥३८॥  
 तद्वीक्ष्य पितरावेषं किमकाममिलायुक्तं<sup>४</sup> । किं बह्वीरिति चित्तेन संदिहानौ समाकुलौ ॥३९॥  
 प्रियसेनं समाहूय तथ्यज्ञात्तन्मनोगतम्<sup>५</sup> । अवादीधरतां मैत्री सैव या त्वेकचित्ता ॥४०॥  
 ततः समुद्रदत्तास्थो धनवत्या<sup>६</sup> सहाभवत् । स्वसा<sup>७</sup> कुबेरमित्रस्य<sup>८</sup> तन्नामैवैतयोः<sup>९</sup> सुता ॥४१॥  
 प्रियदत्ताह्वया तस्याश्चेष्टिका<sup>१०</sup> रतिकारिणी । कन्यकास्तां विषायादि द्वात्रिंशत्सुन्द्राकृतीः ॥४२॥  
 श्रेष्ठी कदाचिदुद्याने यक्षपूजाविधौ सुधीः । सुपरीक्ष्य निमित्तेन<sup>११</sup> प्रियदत्तां गुणान्विताम् ॥४३॥  
 अवधार्यास्य पुत्रस्य<sup>१२</sup> पञ्चतारावल्गन्विते । दिने महाविभूष्यैनां<sup>१३</sup> कल्याणविधिनाऽग्रहीत् ॥४४॥  
 तन्निमित्तपरीक्षायामवलोकितुमागते । सुते गुणवती राज्ञो<sup>१४</sup> यक्षस्वत्यभिधा परा ॥४५॥  
 भाजनं<sup>१५</sup> भक्ष्यसंपूर्णमदत्तवति<sup>१६</sup> साकुले<sup>१७</sup> (?) ! स्वाभ्यां<sup>१८</sup> लज्जामरान्नन्नवदने जातनिर्विदे<sup>१९</sup> ॥४६॥

समय समीपवर्ती आकाशसे आकर मधुर तथा गम्भीर गर्जना करते हुए मेघ सब प्रकारके रोग, पसीना और मलको हरण करनेवाला गंगा नदीका सुगन्धित जल वरसाते थे ॥ ३५-३६ ॥  
 उस कुमारके लिए एक कल्पवृक्ष वस्त्र देता था, एक आभूषण देता था, एक अन्न देता था और एक पेय पदार्थ देता था ॥ ३७ ॥ इस प्रकार इनके सिवाय देवोंके दिये हुए और भी सब प्रकारके भोगोंका निरन्तर उपभोग करते हुए उस कुमारकी पहली अवस्था पूर्ण हुई थी ॥ ३८ ॥  
 पहली अवस्थाको पूर्ण हुआ देखकर माता-पिताको चिन्ता हुई कि यह एक कन्या चाहता है अथवा बहुत । उसी चिन्तासे वे कुछ सन्देह कर रहे थे और कुछ व्याकुल भी हो रहे थे । उन्होंने कुबेरकान्तके मित्र प्रियसेनको बुलाकर उसके मनकी बात पूछी और उसके कहनेपर उन्होंने निश्चय कर लिया कि इसके 'एक पत्नीव्रत है' — यह एक ही कन्या चाहता है, सो ठीक ही है क्योंकि दोनोंका एक चित्त हो जाना ही मित्रता कहलाती है ॥ ३९-४० ॥

तदनन्तर — उसी नगरमें समुद्रदत्त नामका एक सेठ था, जो कि कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीका भाई था और उसे कुबेरमित्रकी बहन कुबेरमित्रा व्याही गयी थी । इन दोनोंके प्रियदत्ता नामकी एक पुत्री हुई थी और रतिकारिणी उसकी दासी थी । समुद्रदत्त सेठके प्रियदत्ता आदि बत्तीस कन्याएँ थी । किसी एक दिन उस बुद्धिमान् सेठने एक बागमें यक्षकी पूजा करते समय सुन्दर आकारवाली उन बत्तीसों कन्याओंकी निमित्तवश परीक्षा की और उन सबमें प्रियदत्ताको ही गुणयुक्त समझा । फिर सूर्य, चन्द्र, गुरु, शुक्र और मंगल इन पाँचों ताराओंके बलसे सहित किसी शुभ दिनमें बड़े वैभवेके साथ कल्याण करनेवाली विधिसे उस प्रियदत्ताको अपने पुत्रके लिए स्वीकार किया ॥ ४१-४४ ॥ राजा प्रजापालकी गुणवती यगस्वती नामकी

१ गङ्गासन्धि । २ गम्भीरं मधुरं व०, अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ कल्पवृक्षस्य । ४ अनुभवतः । ५ जननीजनकौ । ६ दामित्यपि पाठ । स्त्रियम् । ७ सन्देहं कुर्वन्ती । ८ कुबेरकान्तस्य मित्रम् । ९ कुबेरकान्तस्वामिश्रायम् । १० एकपत्नीव्रतवारणमित्यवधारितवन्तौ । ११ कुबेरमित्रस्य भार्यया धनवत्या सहोत्पन्न इत्यर्थः । १२ भगिनी । १३ कुबेरमित्राह्वया । १४ समुद्रदत्तकुबेरमित्रयोः । १५ सखी । १६ द्वाविगभाजनैपु विविधमध्यमायसघृत पूरयित्वा एकस्मिन् भाजने अनर्थ्यं रत्नं निक्षिप्य यथाये सत्याप्य द्वात्रिंशत्कन्यकानामेकैकस्मै एकैकं भाजनं दत्तं यस्या हस्ते अनर्थ्यं रत्नं समागतं सा मम पुत्रस्य प्रियेति सुपरीक्ष्य । १७ त्रिय्यादि-पञ्चनक्षत्रवल्गन्विते । १८ प्रियदत्ताम् । १९ प्रजापालपुत्रस्य । २० यक्ष — ल०, व०, ड०, प०, अ०, स० । २१ अददति सति । २२ मातुले अ०, प०, म०, इ०, ल०, ट० । निजं मामे घ्रेष्ठिनि । २३ आत्मन्ग्राम् । २४ उत्पन्नवैराग्ये ।

अमितानन्तमत्यार्थिकाम्बासौ संयमं परम् । आददाते स्म यात्येवं काले तस्मिन् महीपतौ ॥४७॥  
 लोकपालाय दत्त्वाऽऽत्मलक्ष्मीं संयममागते । शीलगुप्तपुरोः पात्रं शिवङ्करवनान्तरे ॥४८॥  
 देव्यः कनकमालाद्याः परे चोपायस्तपः । दुर्गमं च व्रजन्त्यरूपाः प्रसुर्यदि पुरस्सरः ॥४९॥  
 लोकपालोऽपि संप्राप्तराज्यश्रीर्विश्रुतोदयः । कुबेरमित्रबुद्धयैव चरित्रीं प्रत्यपालयत् ॥५०॥  
 मन्त्री च फल्गुमत्याख्यो बालोऽसत्यवचः प्रियः । सवयस्को नृपस्याज्ञः प्रकृत्या चपलः खलः ॥५१॥  
 तत्समीपे नृपेणामा यद्वा तद्वा मुखागतः । शङ्कमानो वचो वक्तुं श्रेष्ठशपायं विचिन्त्य सः ॥५२॥  
 स्वीकृत्य शयनाध्यक्षं<sup>१</sup> सामदानैस्त्वया निशि । देवतावचिरोभूय राजन् पितृसमं गुरुम्<sup>२</sup> ॥५३॥  
 विनयाद् विच्युतं राजश्रेष्ठिनं तव सन्निधौ । विधाय सर्वथा मां स्थाः<sup>३</sup> कार्यकाले स ह्ययताम्<sup>४</sup> ॥५४॥  
 इति वक्तव्यमित्याख्यत्<sup>५</sup> सोऽपि सर्वं तथाकरोत् । अर्थार्थिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किञ्चन ॥५५॥  
 श्रुत्वा तद्वचनं राजा<sup>६</sup> समीराहूय मातुलम् । नाशान्तव्यसनाहूतैरित्यनालोच्य<sup>७</sup> सोऽब्रवीत् ॥५६॥  
 पद्माद् विषविपाकिन्यः<sup>८</sup> प्रागनालोचितोक्तयः । श्रेष्ठी तद्वचनात् सद्यः सोद्वेगं<sup>९</sup> स्वगृहं ययौ ॥५७॥

दो कन्याएँ भी वह नैमित्तिक परीक्षा देखनेके लिए आयी थी, जब मामा कुबेरमित्रने भोजनसे भरे हुए पात्र उन्हे नहीं दिये तब अपने आप ही लज्जाके भारसे उनके मुख नीचे हो गये और उसी समय उन्हे वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥ ४५-४६ ॥ उन्होंने उसी समय अमितमति और अनन्तमति आर्थिकके समीप उत्तम संयम धारण कर लिया । इस प्रकार कितना ही समय व्यतीत होनेपर राजा प्रजापालने भी अपनी सब लक्ष्मी लोकपाल नामक पुत्रके लिए देकर शिवकर नामके वनमें शीलगुप्त नामक मुनिराजके समीप संयम धारण कर लिया । इसी प्रकार कनकमाला आदि रानियोने भी कठिन तपश्चरण धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि यदि राजा आगे चलता है तो अल्प शक्तिके धारक लोग भी उसी कठिन रास्तेसे चलने लगते है ॥ ४७-४९ ॥ इधर जिसे राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई है और जिसका वैभव सब जगह प्रसिद्ध हो रहा है ऐसा राजा लोकपाल भी कुबेरमित्रकी सम्मतिके अनुसार ही पृथिवीका पालन करने लगा ॥ ५० ॥ उस राजाका फल्गुमति नामका एक मन्त्री था, जो अज्ञानी था, असत्य बोलनेवाला था, राजाकी समान उमरका था, मूर्ख था और स्वभावसे चंचल तथा दुर्जन था ॥ ५१ ॥ वह मन्त्री कुबेरवत्त सेठके सामने राजाके साथ मुँहपर आये हुए यद्वा-तद्वा वचन कहनेमें कुछ डरता था इसलिए वह सेठको राजाके पाससे हटाना चाहता था । उसने राजाके शयनगृहके मुख्य पहरेदारकी समझा-बुझाकर और कुछ धन देकर अपने वश कर लिया, उसे समझाया कि तू रातके समय देवताके समान तिरोहित होकर राजासे कहना कि हे राजन्, राजसेठ कुबेरमित्र पिताके समान बड़े है, सदा अपने पास रखनेमें उनकी विनय नहीं हो पाती इसलिए उन्हे हमेशा अपने पास नहीं रखिए, कार्यके समय ही उन्हे बुलाया जाय इस प्रकार फल्गुमतिने शयनगृहके अध्यक्षसे कहा और उसने भी सब काम उसीके कहे अनुसार कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि धन चाहनेवाले लोगोके द्वारा नहीं करने योग्य कार्य इस संसारमें कुछ भी नहीं है ॥ ५२-५५ ॥ शयनगृहके अधिकारीकी बात सुनकर राजाको भी कुछ भय हुआ और उसने बिना विचारे ही मामा (कुबेरमित्र) को बुलाकर कह दिया कि आप बिना बुलाये न आवे ॥ ५६ ॥ जो बात पहले बिना विचार किये ही कही जाती है उसका फल पीछे विषके

१ समीपे । २ पुरो ० । ३ प्राप्तवन्तः । ४ समानवयस्कः । ५ नृपस्यान्यः इत्यपि पाठ । द्वितीयां नृप । मन्त्रीत्यर्थः । ६ असमर्थः । ७ कुबेरमित्रमन्निधौ । ८ यत्किञ्चित् । ९ स्ववशं कृत्वा । १० प्रियवचनसुवर्ण-रत्नादिदाने । ११ पुत्रम् । १२ मा स्म तिष्ठ । १३ आहूयताम् । १४ शयनाध्यक्षः । १५ सभयः । १६ अनाहूयमानं भवद्भिः । १७ अविचार्यः । १८ विषवद् विपाकवत्य । १९ उद्वेगसहितम् ।

राजा कदाचिद्वाजीद् घट्या ललिताख्यया । विहारार्थं वनं तत्र वाय्वामालोक्य विस्मयात् ॥५८॥  
तदनुष्कांघ्रिपासन्नशाखाग्रस्थपरिस्फुत् । पुरार्च्यवायसानीतपद्मरागमणिप्रभाम् ॥५९॥  
मणिमत्स्यप्रविश्यान्तर्नैपु केन, पयः लम्ब्यसौ । आन्या प्रवर्तमानानां कुतः क्लेशाद् विना फलम् ॥६०॥  
चिरं निरीक्ष्य निविण्णाः सर्वे ते पुरमांगमन् । बुद्धिनाग्रेसरी यस्य न निर्वन्धः फलत्सर्ग ॥६१॥  
कदाचिद् भूपतिः श्रेष्ठिसुतया रक्तचित्तया । वसुमत्या विभावयाभात्मसौभाग्यसुचिना ॥६२॥  
क्रमेण<sup>१०</sup> कुङ्कुमाङ्गण ललाटे स्फुटमङ्कितः<sup>११</sup> । कान्ताः किं किं न कुर्वन्ति स्वभागपतिते नरे ॥६३॥  
पट्टवन्धा<sup>१२</sup> परं मत्वा तत्कमाङ्कं महीपतिः । प्रातरास्थानमध्यास्य मन्त्र्यादीनित्यबुद्धयत् ॥६४॥  
ललाटे यदि केनापि राजा पादेन ताडितः । कर्तव्यं तस्य किं वाच्यं<sup>१३</sup> ततो मन्त्र्यवर्गादिदम् ॥६५॥  
पट्वा ललाटो भान्येन दृश्यः स यदि ताडितः । पादेन केनचिद्-वच्यः स प्राणान्तमिति स्फुटम् ॥६६॥  
तदाकण्यधिष्ठेन<sup>१४</sup> स्मितेनाहूय मातुलम् । नृपोऽप्राक्षीत् स<sup>१५</sup> चाहृतत् प्रस्तुतं प्रस्तुतार्थवित् ॥६७॥  
तस्य पूजा विधातव्या सर्वालंकारसंपदा । इति तद्वचनात्पुत्रा मणिवार्ता न्यवेदयत् ॥६८॥

समान होता है । राजाके वचन सुनकर सेठ भी दुःख सहित शीघ्र ही अपने घर चला गया ॥५७॥ किसी एक दिन राजा ललितघट नामक हाथीपर बैठकर विहार करनेके लिए वनमें गया, उस वनमें एक वावड़ी थी, उसके तटपर एक सूखा वृक्ष था, उसकी एक शाखा वावड़ीके निकटसे निकली थी, उस शाखाके अग्रभागपर एक कीवेने कहींसे देदीप्यमान बहुमूल्य पद्मराग मणि लाकर रख दी । वावड़ीमें उस मणिकी कान्ति पड़ रही थी, राजा तथा उसके सब साथियो-ने उस कान्तिको मणि समझा और यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ — उस मणिको लेनेके लिए सब वावड़ीके भीतर घुसे परन्तु ज़नमें-से वह मणि किसीको भी नहीं मिली सो ठीक ही है क्योंकि भ्रान्तिसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोको क्लेशके सिवाय और क्या फल मिल सकता है ॥५८-६०॥ उन सब लोगोंने वावड़ीमें वह मणि बहुत देर तक देखी परन्तु जब नहीं मिली तब उदास हो अपने नगरको लौट आये सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रयत्नमें बुद्धि अग्रेसर नहीं होती वह प्रयत्न कभी सफल नहीं होता ॥६१॥ किसी समय प्रेमसे भरी हुई वसुमती नामकी सेठकी पुत्रीने रात्रिके समय अपने सौभाग्यको सूचित करनेवाले तथा कुङ्कुमसे गीले अपने पैरसे राजाके ललाट-में स्पष्ट चिह्न बना दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुरुषके अपने अधीन होनेपर स्त्रियाँ क्या-क्या नहीं करती हैं ? ॥६२-६३॥ राजाने उस पैरके चिह्नको पट्टवन्धसे भी अधिक माना और सबेरा होते ही सभामें बैठकर मन्त्री आदिसे इस प्रकार पूछा कि यदि कोई पैरसे राजाके ललाट-पर ताड़न करे तो उसका क्या करना चाहिए ? यह सुनकर फल्गुमति मन्त्रीने कहा कि राजा-का जो ललाट पट्टके सिवाय किसी अन्य वस्तुके द्वारा छूया भी नहीं जा सकता उसे यदि किसीने पैरसे ताड़न किया है तो उसे प्राण निकलने तक मारना चाहिए ॥६४-६६॥ यह सुनकर राजाने उस मन्त्रीका तिरस्कार किया तथा मन्द-मन्द हँसीके साथ मामा कुवेरमित्रको बुलाकर उनसे सब हाल पूछा । प्रकृत बातको जाननेवाला कुवेरमित्र कहने लगा कि जिसने आपके गिरपर पैरसे प्रहार किया है उसकी सब प्रकारके आभूषणरूपी सम्पदासे पूजा करनी चाहिए । इस प्रकार उसके वचनोसे सन्तुष्ट होकर राजाने वनविहारके समय वावड़ीमें दिखनेवाले मणिकी

१. अगमत् । प्राज्ञाजीत् ल० । २ परार्च्यमिति पद्मरागस्य विशेषणम् । ३ ललितघटाख्यजनपे । ४ लब्ध ।  
५ मणि । ६ पुरुषस्य । तस्य ट० । ७ अविलिखन्नप्रवृत्तिः । ८ न फलप्रदो भवति । ९ निजभाष्यया ।  
१० पादेन । ११ ताडित इत्यर्थः । १२ भवद्भिर्वक्तव्यम् । १३ परित्यज्य । १४ कुवेरमित्र ।

मणिं जलमध्येऽस्ति तटस्थतरसंश्रितः । प्रभाज्याप्यामिति ग्राहं तद्विचिन्त्यं जणिम्वरः ॥६९॥  
 तदा कुबेरमित्रस्य प्रज्ञामज्ञानमात्मनः । दौष्ट्यं च मन्त्रिणो ज्ञात्वा पश्चात्तापान्महीपतिः ॥७०॥  
 पश्य धृतैरहं मूढो वञ्चितोऽस्मीति सर्वदा । श्रेष्ठिनं ग्राहसमानं<sup>२</sup> प्रत्यापन्नं व्यधात् सुधीः ॥७१॥  
 तन्त्रावायमहाभारं<sup>३</sup> ततः प्रभृति भूरतिः । तस्मिन्नारोप्य निर्व्यग्रः सधर्म काममन्वभूत् ॥७२॥  
 कदाचित् कान्तया दृष्टपलितो निजमूर्द्धनि । श्रेष्ठी तां सत्यमद्य त्वं धर्मपत्नीत्यभिप्लवन् ॥७३॥  
 दृष्ट्वा विमोच्य राजानं वरधर्मगुरोस्तपः<sup>४</sup> । सार्धं समुद्रदत्ताद्यैरादाय सुरभूषरं ॥७४॥  
 तादुमौ ब्रह्मलोकान्तेऽभूतां लौकान्तिकौ सुरौ । किं न साध्यं यथाकालपरिस्थित्या मनीषिभिः ॥७५॥  
 अन्येषुः प्रियदत्ताऽसौ<sup>५</sup> दत्त्वा दानं मुनीशिवे । अकत्या विपुलमर्त्योत्थचारणाय यथोचितम् ॥७६॥  
 संप्राप्य नवधा पुण्यं तपसः संनिधिमभः । किमस्तौत्यव्रवीद् व्यकविनया मुनिपुद्गवम् ॥७७॥  
 पुत्रलोभाभिं तच्चित्तं त्रिदिवाऽबधिलोचनः । जामेतरकरे भीमान् स्पष्टमण्डगुलिपञ्चकम् ॥७८॥  
 कनिष्ठामण्डगुलिं वामहस्तेऽसौ समदर्शयत् । पुत्रान्कालान्तरे पञ्च साऽऽचैकामात्मजामपि<sup>६</sup> ॥७९॥  
 ते<sup>७</sup> कदाचिजगत्पालचक्रेशस्य सुते समम् । अमितावन्तमर्त्याख्ये<sup>८</sup> गुणज्ञे गुणभूषणे ॥८०॥

बात निवेदन की ॥६७-६८॥ वैश्योमें श्रेष्ठ कुबेरमित्रने विचारकर कहा कि वह मणि पानीके भीतर नहीं थी किनारेपर खड़े हुए वृक्षपर थी, बावड़ीमें केवल उसकी कान्ति पड़ रही थी ॥६९॥ यह सुनकर उस समय राजा लोकपाल कुबेरमित्रकी बुद्धिमत्ता, अपनी मूर्खता और मन्त्रीकी दुष्टता जानकर पश्चात्ताप करता हुआ इस प्रकार कहने लगा - “देखो इन धूर्तोंने मुझ मूर्खको खूब ही ठगा ।” इस प्रकार कहकर वह बुद्धिमान् राजा सेठका आदर-सत्कार कर उसे सदा अपने पास रखने लगा ॥७०-७१॥ उस दिनसे राजाने तन्त्र अर्थात् अपने राष्ट्रकी रक्षा करना और अवाय अर्थात् परराष्ट्रोसे अपने सम्बन्धका विचार करना इन दोनोंका बड़ा भारी भार सेठको सौंप दिया और आप निर्द्वन्द्व होकर धर्म तथा काम पुरुषार्थका अनुभव करने लगा ॥७२॥ किसी समय सेठकी स्त्रीने सेठके शिरसे पका बाल देखकर सेठसे कहा । सेठने यह कहते हुए उसकी बड़ी प्रशंसा की कि तू आज सचमुच धर्मपत्नी हुई है । उस सेठने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजाको छोड़कर समुद्रदत्त आदि अन्य सेठोंके साथ-साथ देवगिरि नामक पर्वतपर वरधर्मगुरुके समीप तप धारण किया और दोनों ही तपकर ब्रह्मलोकके अन्तमे लौकान्तिक देव हुए सो ठीक ही है क्योंकि समयके अनुकूल होनेवाली परिस्थितिसे बुद्धिमानोंको क्या-क्या सिद्ध नहीं होता ? ॥७३-७५॥

किसी दूसरे दिन प्रियदत्ता ( समुद्रदत्तकी पुत्री और कुबेरकान्तकी स्त्री ) ने विपुलमति नामके चारण ऋद्धिधारी महामुनिको नवधा भक्तिपूर्वक दान देकर पुण्य सम्पादन किया और फिर विनय प्रकट कर उन्हीं मुनिराजसे पूछा कि मेरे तपका समय समीप है या नहीं ! ॥७६-७७॥ अवधिज्ञान ही है नेत्र जिनके ऐसे बुद्धिमान् मुनिराजने यह जानकर कि इसका चित्त सन्तानको चाह रहा है अपने दाहिने हाथकी पाँच अँगुली और बाये हाथकी छोटी अँगुली दिखायी और उससे सूचित किया कि पाँच पुत्र और एक पुत्री होगी । तथा कालान्तरमें उस प्रियदत्ताने भी पाँच पुत्र और एक पुत्री दिखलायी अर्थात् उत्पन्न की ॥७८-७९॥ किसी समय गुणरूप आभूषणोंको धारण करनेवाली, जगत्पाल चक्रवर्तीकी पुत्री, अमितमति और अनन्तमति नाम-

१ विचार्य । २ -समानं अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ स्वराष्ट्रपरराष्ट्रमहाधुरम् । ४ आत्मानं राजा मोचयित्वेत्यर्थः । ५ वरधर्मगुरोः समीपे । ६ सुरनाम्नि कस्मिंश्चिद् गिरौ । ७ कुबेरदत्त-समुद्रदत्तौ । ८ -परिच्छिद्यता ट० । कालानुरूपेण ज्ञानेन । ९ कुबेरकान्तप्रिया । १० एकां पुत्रीम् । ११ प्रसिद्धे । १२ गणित्यौ अ०, प०, स०, इ० । गुणित्यौ ल० ।

प्रजापालतनूलाभ्यां यशस्वत्या तपोभृता । गुणवत्या च संप्राप्ते पुरं<sup>१</sup> तत्परमर्द्धिकम् ॥८१॥  
 राजा<sup>२</sup> शान्तः पुरः श्रेष्ठि<sup>३</sup> चानथोनिक्टे चिरम् । श्रुत्वा सद्धर्मसद्भावं दानाद्युद्योगमाययौ ॥८२॥  
 कदाचिच्छेष्टिनो गेहं जङ्घाचारणयोर्युगम् । प्राविशद् सन्निवृत्तौ स्थापयतां तौ दम्पती सुदा ॥८३॥  
 'तद्दृष्टिमात्रविज्ञातप्राभवं तत्पदाम्बुजम् । कपोतमिधुनं पक्षैः परित्यज्यामिनस्य<sup>४</sup> तत् ॥८४॥  
 गलितान्योन्यसंप्रीति वभूवालोक्त्य तन्मुनी<sup>५</sup> । जातसंसारनिर्वेगौ निर्गन्थापगतौ गृहात् ॥८५॥  
 प्रियदत्तद्वित्तज्ञैतदवगत्यान्यदा<sup>६</sup> तु ताम् । रतिपेणासपृच्छते नाम प्राग्जन्मनीति किन् ॥८६॥  
 सा पुण्डेनालिखन्नाम रतिवेगेति वीक्ष्य तत्<sup>७</sup> । ममैषा पूर्वमार्येति कपोतः प्रीतिमीयिवान् ॥८७॥  
 तथा रतिवरः पृष्टः स्वनाम<sup>८</sup> प्रियदत्तया ।<sup>९</sup> सुकान्तोऽस्यहमित्येषोऽप्यक्षराण्यलिखद् सुवि ॥८८॥  
 तश्चिरीक्ष्य समैवायं पतिरित्यमिलापुका । रतिपेणाऽप्यग्रासेन संगमं<sup>१०</sup> विध्यनुग्रहात् ॥८९॥  
 'तत्समावर्तिनामेतत् श्रुत्वा प्रीतिरभूदलम् । पुनः श्रुश्रूषवच्चासन् कथाशेषं<sup>११</sup> सकौतुकाः ॥९०॥  
 अन्यथाकर्णितं दृष्टमावाभ्यां-यदि चेत्तथा । ज्ञायते तच्च वक्तव्यमित्युक्त्वति कौरवै<sup>१२</sup> ॥९१॥  
 निजवागमृतभूमिभिः सिद्ध्यन्ती तां समां शुभाम् । सुलोचनाऽश्ववीट् सम्यग्ज्ञायते श्रूयतामिति ॥९२॥

की गणिनी ( आयिकाओकी स्वामिनी ), तप धारण करनेवाली, प्रजापालकी पुत्री यशस्वती और गुणवतीके साथ-साथ उत्कृष्ट विभूतिसे सुशोभित उस पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारी ॥८०-८१॥ सब अन्त पुरके साथ-साथ राजा लोकपाल और सेठ कुबेरकान्त भी उन आयिकाओंके समीप गये और चिरकाल तक समीचीनधर्मका अस्तित्व सुनकर दान देना आदि उद्योग-को प्राप्त हुए ॥८२॥ किसी एक दिन सेठ कुबेरकान्तके घर दो जघाचारण मुनि पधारे । दोनों ही दम्पतियोने बड़ी भक्ति और आनन्दके साथ उनका पढागहन किया ॥८३॥ उन मुनियोके दर्शन मात्रसे ही जिसने अपने पूर्वभवके सब समाचार जान लिये है ऐसे कबूतर कबूतरी ( रति-वर-रतिपेणा ) के जोड़ेने अपने पंखोंसे मुनिराजके चरणकमलोंका स्पर्श कर उन्हें नमस्कार किया और परस्परकी प्रीति छोड़ दो । यह देखकर उन मुनियोको भी संसारसे वैराग्य हो गया और दोनों ही निराहार सेठके घरसे निकलकर बाहर चले गये ॥८४-८५॥ इशारोको समझनेवाली प्रियदत्ताने यह सब जानकर किसी समय रतिपेणा कबूतरीसे पूछा कि पूर्वजन्ममें तुम्हारा क्या नाम था ? ॥८६॥ उसने भी चोचसे 'रतिवेगा' यह नाम लिख दिया । उसे देखकर यह पूर्वजन्मकी मेरी स्त्री है यह जानकर कबूतर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८७॥ इसी प्रकार प्रियदत्ताने रतिवर कबूतरसे भी उसके पूर्वजन्मका नाम पूछा तब उसने भी मैं पूर्व जन्ममें सुकान्त नामका था ऐसे अक्षर जमीनपर लिख दिये ॥८८॥ उन्हें देखकर और यह मेरा ही पति है यह जानकर उसीके साथ रहनेकी अभिलाषा करती हुई रतिपेणा भी दैवके अनुग्रहसे उसीके साथ समागमको प्राप्त हुई-दोनों साथ-साथ रहने लगे ॥८९॥ यह सब सुनकर सभामें बैठे हुए सभी लोगोंको बहुत भारी प्रसन्नता हुई और कथाका शेष भाग सुननेकी इच्छा करते हुए सभी लोग बड़ी उत्कण्ठासे बैठे रहे ॥९०॥ 'इसके सिवाय हम दोनोंने और भी जो कुछ देखा या सुना है उसे यदि जानती हो तो कहो' इस प्रकार जयकुमारके कहनेपर अपने वचनमृतरूपी जलसे उस शुभ सभाको सींचती हुई सुलोचना कहने लगी-'हाँ, अच्छी तरह'

१ पुण्डरीकिणीपुरम् । २ लोकपाल । ३ कुबेरकान्त । ४ अभितानन्तमत्यो । ५ जङ्घाचारणद्वयावलोकन-  
 माय । ६ नत्वा । ७ विगलितपरस्परान्तस्नेहवदित्यर्थ । ८ कपोतमिधुनम् । ९ गलितमोहमिति ज्ञात्वा ।  
 गम्यान्व-ल०, अ०, प०, ६० । १० लिखितनामाक्षरम् । ११ निजपूर्वजन्मनाम । १२ सुकान्ताद्योज्ज्वल-ल० ।  
 १३ विचेरानुकूल्यात् । १४ जयकुमारसमावतिनाम् । सप्त्यादीनाम् । १५ जातिनिर्वादात् भिक्षामपृहीत्वा  
 निर्गत्य गतचारणादिशेषकथाम् । १६ जयकुमारे ।



तदा मुनेर्गृहाद् भिक्षां त्यक्त्वा गमनकारणम् । अज्ञात्वा भूपतेः<sup>१</sup> प्रश्नादा<sup>२</sup> हामितमतिः<sup>३</sup> श्रुतम् ॥९३॥  
 विषयेऽस्मिन् खगक्षमाभ्युपत्यासन्नं<sup>४</sup> वनं महत् । अस्ति धान्यकमालाख्यं तदभ्यणं<sup>५</sup> पुरं परम् ॥९४॥  
 शोभानगरमस्येशः<sup>६</sup> प्रजापालमहीपतिः । देवश्रीस्तस्य देव्यासीत् सुखदा श्रीरिवापरा ॥९५॥  
 शक्तिषेणोऽस्य<sup>७</sup> सामन्तस्तस्याभ्युत् प्रीतिदायिनी । अटवीश्रीस्तयोः<sup>८</sup> सत्यदेवः सुनुरिमे<sup>९</sup> समम् ॥९६॥  
 सर्वेऽप्यासन्नभ्यत्वाद् अस्मत्पा<sup>१०</sup> दसमाश्रयात् । श्रुत्वा धर्मं नृपेणामा समापन्नममंसास्योः ॥९७॥  
 त्यागं पर्वोपवासं च अक्षितपेणोऽपि भक्तिमान् । मुनिवैलास्ये<sup>११</sup> भुक्तिम<sup>१२</sup> गृहीत् स गृहिव्रतम् ॥९८॥  
<sup>१३</sup> तत्पत्नी<sup>१४</sup> शुक्लपक्षादिदिनेऽष्टम्यामथापरे । पक्षे<sup>१५</sup> पञ्चसमास्त्यागमाहारस्य समग्रहीत् ॥९९॥  
 अनुप्रबद्धकल्याणनामधेयमुपोषितम्<sup>१६</sup> । सत्यदेवश्च साधूनां<sup>१७</sup> स्तवनं प्रत्यपद्यत्<sup>१८</sup> ॥१००॥  
 इत्यभूत्तन्मही श्रद्धाविहीनव्रतभूषणाः । स मृणालवतीं नेतुं कदाचिदटवीश्रियम् ॥१०१॥  
 पित्रोः<sup>१९</sup> पुरी<sup>२०</sup> प्रवृत्तः सन् शक्तिषेणः ससैन्यकः । वने धान्यकमालाख्ये प्राप्य सर्पसरोवरम् ॥१०२॥  
 निशिष्टवामिदं धान्यम् प्रकृतं तत्र कथ्यते । पतिमृणालवत्याख्यमगर्गा धरणीपतिः<sup>२१</sup> ॥१०३॥

जानती हूँ, सुनि ॥९१-९२॥ उस समय वे मुनि आहार छोड़कर सेठके घरसे चले गये थे । जब राजाको उनके इस तरह चले जानेका कारण मालूम नहीं हुआ तब इसने अमितमति गणिनी ( आर्याका ) से पूछा । अमितगतिने भी जैसा सुना था वैसा वह कहने लगी ॥९३॥

इसी पुष्कलावती देशमें विजयार्ध पर्वतके निकट एक 'धान्यकमाल' नामका बड़ा भारी वन है और उस वनके पास ही शोभानगर नामका एक बड़ा नगर है । उस नगरका स्वामी राजा प्रजापाल था और उसकी स्त्रीका नाम था देवश्री । वह देवश्री दूसरी लक्ष्मीके समान सुख देनेवाली थी ॥९४-९५॥ राजा प्रजापालके एक शक्तिषेण नामका सामन्त था, उसकी प्रीति उत्पन्न करनेवाली अटवीश्री नामकी स्त्री थी । उन दोनोंके सत्यदेव नामका पुत्र था । किसी समय निकटभय होनेके कारण इन सभीने मेरे चरणोंके आश्रयसे धर्मका उपदेश सुना । राजा भी इनके साथ था । उपदेश सुनकर सभीने मद्य-मांसका त्याग किया और पर्वतके दिन उपवास करनेका नियम लिया । भक्ति करनेवाले शक्तिषेणने भी गृहस्थके व्रत धारण किये और साथमे यह नियम लिया कि मैं मुनियोंके भोजन करनेका समय टालकर भोजन करूँगा ॥९६-९८॥ शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्रीने पाँच वर्षतक शुक्ल पक्षका प्रथम दिन और कृष्णपक्षकी अष्टमीको आहार त्याग करनेका नियम किया, अनुप्रबद्ध कल्याण नामका उपवास व्रत ग्रहण किया तथा सत्यदेवने भी साधुओंके स्तवन करनेका नियम लिया ॥९९-१००॥ इस प्रकार ये सब सम्यग्दर्शनके बिना ही व्रतरूप आभूषणको धारण करनेवाले हो गये । किसी एक दिन सेनापति शक्तिषेण अपनी सेनाके साथ अटवीश्रीको लेनेके लिए उसके माता-पिताकी नगरी मृणालवतीको गया था । वहाँसे लौटते समय वह धान्यकमाल नामके वनमें सर्पसरोवरके समीप ठहरा । उसी समय एक दूसरी घटना हुई जो इस प्रकार कही जाती है ।

१ लोकपालस्य । २ वसित । ३ अमितमत्यायिका । ४ स्वयं चारणमुनिकटे आकर्णितम् । ५ पुष्कलावत्याम् । ६ विजयाद्धगिरिसमीपम् । ७ समीपे । ८ नगरस्य । ९ नायकः । १० सत्यदेवनामा स्वीकृतपुत्रः सजातः । ११ इमे सर्वे देवश्रीदेव्यादयः समं धर्मं श्रुत्वेति संबन्धः । १२ अमितगतिनामास्मत्पादसमाश्रयात् । १३ मुनिचर्याकाले अतिक्रान्ते सति । १४ आहारं स्वीकरोमीति व्रतम् । १५ शक्तिषेणभार्या । १६ शुक्लपक्षप्रतिपदिने । अपरे पक्षे अष्टम्या दिने च । १७ पञ्चवर्षाणि । १८ उपवासव्रतं संग्रहीत् । १९ परमेष्ठिना स्तोत्रम् । २० गृहीतवान् । २१ जननीजनकयोः । २२ मृणालवतीनामनगरीम् । २३ भूपतिः ।

सुकेतुस्तत्र<sup>१</sup> वैश्वेशस्तनूजो रतिवर्मणः । भवदेवोऽभवत्तस्य विपुण्यः कनकश्रियाम्<sup>३</sup> ॥१०४॥  
तत्रैव<sup>२</sup> दुहित्वा जाता श्रीदत्तस्यातिवल्लभा । विमलादिश्रियास्तथा रतिवेगास्तथा सती ॥१०५॥  
सुकान्तोऽगोके देवेष्टजिनदत्तासुतोऽजनि । भवदेवस्य दुर्मुख्या दुर्मुखास्त्योऽप्यजायत ॥१०६॥  
स एष द्रष्टव्यमावर्ज्य रतिवेगां जिघृक्षुः<sup>४</sup> । वाणिज्यार्थं गतस्तस्मान्नायात<sup>१</sup> इति सा<sup>२</sup> तदा ॥१०७॥  
मातापितृभ्यां प्राटार्थि<sup>३</sup> सुकान्ताय सुतेजसे । देशान्तरात् ममागत्य तद्गार्तश्ववणाद् भृशम् ॥१०८॥  
दुर्मुखे कुपिते भीत्या तदानीं तद्वध्वरम्<sup>४</sup> । यजित्वा शक्तिपेणस्य शरणं समुपागतम्<sup>५</sup> ॥१०९॥  
तद्दुर्मुखोऽपि निर्वन्धादनुगत्य<sup>६</sup> वध्वरम् । शक्तिपेणभयाद् चद्रवैरो निवृत्ते<sup>७</sup> ततः<sup>८</sup> ॥११०॥  
तत्रैकस्मिन्<sup>१२</sup> वियस्चारणद्वन्द्वाय समापुषे<sup>३</sup> । शक्तिपेणो ददावशं पार्थेयं<sup>२</sup> परजन्मनः ॥१११॥  
तत्रैवागम्य सार्थेशो<sup>१</sup> निविष्टो बहुभिः सह । विशुभैरुक्तदत्तास्त्य श्रेष्टी भार्यास्य धारिणी ॥११२॥  
मन्त्रिणस्तस्य<sup>३</sup> भूर्यार्यः शकुनिः मयूहस्पतिः । धन्वन्तरिश्च चत्वारः सर्वे शास्त्रविगारदाः ॥११३॥  
पमिः परिवृतः श्रेष्टी हीनाङ्गः<sup>२</sup> कंचिदागतम् । समीक्ष्यैनं कुतो हेतोर्जातोऽयमिति<sup>३</sup> तान् जगौ ॥११४॥

मृणालवती नगरीका राजा धरणीपति था । उसी नगरीमें सुकेतु नामका एक सेठ रहता था जो कि रतिवर्मिका पुत्र था । सुकेतुकी स्त्रीका नाम कनकश्री था और उन दोनोंके एक भवदत्त नामका पुण्यहीन पुत्र था ॥१०१-१०४॥ उसी नगरमें एक श्रीदत्त सेठ थे । उनकी स्त्रीका नाम था विमलश्री और उनके दोनोंके अत्यन्त प्यारी रतिवेगा नामकी सती पुत्री थी ॥१०५॥ उसी नगरके अशोकदेव सेठ और जिनदत्ता नामकी उनकी स्त्रीसे पैदा हुआ सुकान्त नामका एक पुत्र था । जिसका वर्णन ऊपर कर आये हैं ऐसा भवदेव बड़ा दुराचारी था और उस दुराचारीपनके कारण ही उसका दूसरा नाम दुर्मुख भी हो गया था ॥१०६॥ वह भवदेव धन उपार्जन कर रतिवेगाके साथ विवाह करना चाहता था इसलिए व्यापारके निमित्त वह बाहर गया था, परन्तु जब वह विवाहके अवसर तक नहीं आया तब माता-पिताने वह कन्या अत्यन्त तेजस्वी सुकान्तके लिए दे दी । जब दुर्मुख (भवदेव) देशान्तरसे लौटकर आया और रतिवेगाके विवाहकी बात सुनी तब वह बहुत ही कुपित हुआ । उसके डरसे वधू और वर दोनों ही भागकर शक्तिपेणकी शरणमें पहुँचे ॥१०७-१०९॥ दुर्मुखने भी हठसे वधू और वरका पीछा किया परन्तु शक्तिपेणके डरसे अपना वर अपने ही मनमें रखकर वहाँसे लौट गया ॥११०॥ शक्तिपेणने वहाँ पधारे हुए दो चारण मुनियोंके लिए अपने आगामी जन्मके कलेबाके समान आहार दान दिया था ॥१११॥ उसी सरोवरके समीप धनी और सब संघके स्वामी मेरुकदत्त नामका सेठ बहुत लोगोंके साथ आकर ठहरा हुआ था । उसकी स्त्रीका नाम धारिणी था । उस सेठके चार मन्त्री थे-१ भूतार्थ, २ शकुनि, ३ वृहस्पति और ४ धन्वन्तरि । ये चारो ही मन्त्री अपने-अपने शास्त्रोंमें पण्डित थे ॥११२-११३॥ एक दिन सेठ इन सबसे घिरा हुआ

१ मृणालवत्याम् । २ वणिगमुद्यत्य । ३ कनकश्रियः । ४ श्रीदत्तविमलश्रियोः । ५ पुत्री । ६ अशोकदेवस्य प्रियतमाया जिनदत्ताया सुत । ७ दुर्मुख इति नामान्तरमपि । स दुर्मुख स्वमातुलु श्रीदत्त रतिवेगा याचितवान् । मातुलो भणितवान् त्वं व्यवसायहीनो न ददामीति । दुर्मुखोऽजोचत्-यावदहं द्वीपान्तरेषु द्रव्यमावप्यगिच्छामि तावद् रतिवेगा कस्यापि न दातव्या इति द्वादशवर्षाणि कालावधि दत्त्वा । ८ वनमजंगित्वा । ९ गृहीतुमिच्छु । १० कृन्द्वादशवर्षदि सकाशात् । ११ नागत । १२ रतिवेगा । १३ दीयते स्म । १४ सुकान्तरतिवेगाद्वयम् । १५ गत्वा । १६ समुपाश्रयत् । १७ अविच्छेदेन । १८ पृष्ठतो गत्वा । १९ व्यापुटितवान् । २० सर्पसरोवरस्थितशक्तिपेणशिविरात् । २१ सर्पसरोवरे । २२ गगनचारण । २३ आगताय । समीपुषे ल०, इ०, अ०, म०, प०, स० । २४ संवलम् । २५ वणिगसघाषिप । २६ मेरुकदत्तस्य । २७ विकलावयवम् । २८ इति पृष्ठवान् त अंशम् ।

शकुनिः शकुनाद् दुष्टाद् अहात्यापाद् बृहस्पतिः । धन्वन्तरिस्त्रिदोषेभ्यो जन्मनीति समादिशत् ॥११५॥  
 भूतार्थस्त्वस्तु तत्सर्वं कर्म हिंसाद्युपार्जितम् । प्रधानकारणं तेन<sup>१</sup> हीनाङ्ग<sup>२</sup> इति सूक्तवान्<sup>३</sup> ॥११६॥  
 शक्तिपेणं महीपालप्रतिपन्नतुजः पिता<sup>४</sup> । सत्यदेवस्य दृष्ट्वाऽस्मिन्स्तं मन्विष्यन्त्य दृच्छया ॥११७॥  
 तदा कृत्वा महद्दुःखं सभ्यैराकर्ण्यतामिदम् । च्युतं पयोऽतिपाकेन भाजनात्पञ्चलानपि ॥११८॥  
 मक्ष्यमाणान् कपोतायैः पश्यंस्तूष्णीमयं स्थितः । क्रोधान्मातुः<sup>५</sup> कनीयस्या<sup>६</sup> भर्तृनादागतोऽसहः<sup>७</sup> ॥  
 अधस्ताद् वक्त्रविवरं घ्राणस्येति तदप्ययम् । क्षमते नेति सर्वेषां<sup>८</sup> तदकर्मण्यतां<sup>९</sup> ब्रुवन् ॥१२०॥  
 गन्तुं सहात्मना<sup>१०</sup> तस्यानमिलाषाद्<sup>११</sup> विषण्णवान् । परस्मिन्नपि भूयासं<sup>१२</sup> भवे ते स्नेहगोचरः<sup>१३</sup> ॥  
 इति कृत्वा निदानं स<sup>१४</sup> द्रव्यसंयममाश्रितः । प्रपेदे लोकपालत्वं<sup>१५</sup> तद्गतस्नेहमोहितः ॥१२२॥  
 कदाचिच्छुक्लपक्षस्य दिनादौ भार्यया सह । कृतोपवासया शक्तिपेणो मक्तिपुरस्सरम्<sup>१६</sup> ॥१२३॥  
 मुनिभ्यां दत्तदानेन पञ्चाश्रयभवाप्तवान् । दृष्ट्वा<sup>१७</sup> तच्छ्रेष्ठिधारिण्या<sup>१८</sup> चावधोरन्यजन्मनि ॥१२४॥  
<sup>१९</sup> एतावपत्ये<sup>२०</sup> भूयास्तां<sup>२१</sup> निदानं कुरुतामिति । मन्त्रिणस्तस्य<sup>२२</sup> चत्वारोऽप्यस्तसर्वपरिग्रहाः ॥१२५॥

बैठा था कि इतनेमे जहाँ एक हीन अंगवाला पुरुष आया । उसे देखकर सेठने सब मन्त्रियोंसे कहा कि यह ऐसा किस कारणसे हुआ है ? ॥११४॥ इसके उत्तरमें शकुनि मन्त्रीने कहा कि जन्मके समय बुरे शकुन होनेसे यह ऐसा हुआ है ? बृहस्पतिने कहा कि जन्मके समय वात पित्त कफ इन तीन दोषोके कारण यह विकलांग हो गया है । यह सुनकर भूतार्थ नामक मन्त्रीने कहा कि आप यह सब रहने दीजिए, इस जीवने पूर्वभवमे हिंसा आदिके द्वारा जो कर्म उपार्जन किये थे वे ही इसके हीनांग होनेमें प्रधान कारण है ॥११५-११६॥ इतनेमे ही शक्तिपेण सेनापतिने जिसे अपना पुत्र स्वीकार किया है ऐसे उस सत्यदेवका पिता अपनी इच्छानुसार उसे खोजता हुआ आ पहुँचा । उस हीनांग पुत्रको देखकर उसे बहुत ही दुःख हुआ और वह कहने लगा कि हे सभासदो, सुनो, एक दिन घरमें चावल पक रहे थे सो पानीके उफानके कारण कुछ चावल बरतनसे नीचे गिर गये और उन नीचे गिरे हुए चावलको कबूतर आदि पक्षी चुगने लगे परन्तु यह सब देखता हुआ चुपचाप खड़ा रहा—इसने उन्हे भगाया नहीं । तब इसकी माँकी छोटी बहनने क्रोधसे इसे डाँटा, उस डाँटको न सह सकनेके कारण ही यह यहाँ चला आया है । यह इतना असह्यशील है कि 'तेरी नाकके नीचे मुँहका छेद है' इस बातको भी नहीं सह सकता है । इस तरह सब सभासदोंसे उसके पिताने उसकी अकर्मण्यताका वर्णन किया । चूँकि सत्यदेव अपने पिताके साथ वापस नहीं जाना चाहता था इसलिए उसने दुःखी होकर निदान किया कि 'अगले भवमें भी मैं तेरे स्नेहका पात्र होऊँ' इस प्रकार निदान कर वह द्रव्यालींगी मुनि हो गया और सत्यदेवके प्रेमसे मोहित होकर मरा जिससे लोकपाल हुआ ॥११७-१२२॥ किसी एक समय शुक्लपक्षकी प्रतिपदाके दिन शक्तिपेणने उपवास करनेवाली अपनी स्त्री अटवीश्रीके साथ-साथ भक्तिपूर्वक मुनियोंको आहारदान देकर पंचाश्रय प्राप्त किये, उसे देखकर सेठ मेरुकदत्त और उनकी स्त्री धारिणीने निदान किया कि 'ये दोनों अगले-जन्ममे हमारी ही सन्तान हों' । सेठ मेरुक-

१ कर्मकरणेन । २ विकलाङ्गो जात इति । ३ मुष्टु प्रोक्तवान् । ४ शक्तिपेणनामसामन्तेनायं मम पुत्र इति स्वीकृत्युक्तस्य । ५ सत्यनामजनकः । ६ सर्पसरोवरे । ७ गवेपयन्नित्यर्थः । ८ सभाजनैः । ९ सत्यदेवजनन्याः । १० भगिन्या । ११ असहमान । १२ सभाजनानाम् । १३ तत् सत्यदेवस्य कर्मण्यक्षमताम् । १४ सत्यकेन स्वेन । १५ सत्यदेवस्य । १६ अनभिमततात् । १७ भवेयम् । १८ स्नेहगोचरम् इ०, अ०, स० । १९ सत्यकः । २० लोकपालनाय देवत्वम् । २१ पुरस्सरः ल० । २२ दानसंज्ञाताश्चर्यम् । २३ मेरुकदत्ततद्भाष्यधारिणी । २४ शक्तिपेणाविक्रिणी । २५ पुत्री । २६ अकुरुताम् । २७ मेरुकदत्तस्य ।

तपो विधाय कालान्ते समापन् लोकपालताम्<sup>१</sup> । वधूवर<sup>२</sup> च दानानुमोदपुण्यमवाप्तवत्<sup>३</sup> ॥१२६॥  
 तदाकर्ण्य महीशस्य<sup>४</sup> देवी<sup>५</sup> वसुमती तदा । स्वजन्मान्तर संबोधमूर्च्छान्तरप्रोक्षिता ॥१२७॥  
 अहं पूर्वोक्तं देवश्रीस्त्वत्पसादादिमीं श्रियम् । प्राप्ता<sup>६</sup> तदातनो राजा<sup>७</sup> वटं त्वाच प्रवर्तते ॥१२८॥  
 इति तस्याः परिश्रमे स प्रजापालभूषतिः ।<sup>८</sup> लोकपालोऽयमित्युक्ते प्रियदत्ता स्वपूर्वजम् ॥१२९॥  
 जन्मावबुद्ध्य वन्दित्वा साऽऽवीश्रीरियं त्वहम् । शक्तितेषो मम प्रेयानसौ त्वाद्य प्रवर्तते ॥१३०॥  
 इति<sup>९</sup> पुण्यावदच्छक्तिपेणस्ते<sup>१०</sup> सत्यः<sup>११</sup> मनोरमः<sup>१२</sup> । कुबेरदयितः सत्यदेवोऽभूत्तनुजस्तव ॥१३१॥  
 देवभूय<sup>१३</sup> गताः श्रेष्ठिसचिवास्त्वत्पते<sup>१४</sup> भूशम् ।<sup>१५</sup> आरभ्य जन्मनः स्नेहात् परिचर्यां प्रकुर्वते ॥१३२॥  
 कुबेरदयितस्यापि पिता प्राच्यः<sup>१६</sup> स सत्यकः । पाता<sup>१७</sup> गत्यन्तरस्थाश्च पुण्यात् स्निह्यन्ति देहिनाः ॥१३३॥  
 मवदेवने<sup>१८</sup> निर्दग्ध द्विजावैतौ<sup>१९</sup> वधूवरम् । सार्थशो<sup>२०</sup> धारिणी चेह<sup>२१</sup> पत्युस्ते<sup>२२</sup> पितराविमौ<sup>२३</sup> ॥१३४॥

दत्तके चारों मन्त्रियोने सब परिग्रहका परित्याग कर तप धारण किया और आयुके अन्तमें लोकपालकी पर्याय प्राप्त की । इसी प्रकार सुकान्त और रतिवेगा नामके वधू-वरने भी दानकी अनुमोदना करनेसे प्राप्त हुआ बहुत भारी पुण्य प्राप्त किया ॥ १२३-१२६ ॥ यह सब सुनकर राजा लोकपालकी रानी वसुमतीको अपने पूर्वजन्मकी सब बात याद आ गयी जिससे वह मूर्च्छित हो गयी और सचेत होनेपर अमितमति आर्यिकासे कहने लगी कि मैं पूर्वजन्ममे शोभानगरके राजा प्रजापालकी रानी देवश्री थी, आपके प्रसादसे ही मैं इस लक्ष्मीको प्राप्त हुई हूँ, मेरे उस जन्मके पति राजा प्रजापाल आज कहाँ है ? यह कहिए ॥ १२७-१२८ ॥ इस प्रकार वसुमतीका प्रश्न समाप्त होनेपर अमितमति आर्यिकाने कहा कि यह लोकपाल ही पूर्वजन्मका प्रजापाल राजा है । इतना कहते ही प्रियदत्ताको भी अपने पूर्वजन्मकी याद आ गयी । उसने आर्यिकाको वन्दना कर कहा कि शक्तितेजकी स्त्री अटवीश्री तो मैं ही हूँ, कहिए मेरा पति शक्तितेज आज कहाँ है ? इस प्रकार पूछा जानेपर अमितमतिये कहा कि यह तेरा पति कुबेरकान्त ही उस जन्मका शक्तितेज है और यह कुबेरदयित ही उस जन्मका सत्यदेव है जो कि तुम्हारा पुत्र हुआ है । सेठ मेरुकदत्तके जो भूतार्थ आदि चार मन्त्री थे वे देवपर्यायको प्राप्त हो स्नेहके कारण जन्मसे ही लेकर तुम्हारे पतिकी भारी सेवा कर रहे हैं — कामधेनु और कल्पवृक्ष बनकर सेवा कर रहे हैं ॥ १२९-१३२ ॥ कुबेरदयितका पूर्व जन्मका पिता सत्यक भी देव होकर उसकी रक्षा करना है सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके प्रभावसे दूसरी गतिमें रहनेवाले जीव भी स्नेह करने लग जाते हैं ॥ १३३ ॥ भवदेवने पूर्वोक्त वधू-वर ( रतिवेगा और सुकान्त ) को जला दिया था इसलिए वे दोनों ही मरकर ये कवूतर-कवूतरी हुए हैं । सेठ मेरुकदत्त और उनकी

१ लोकपालसुरत्वम् । २ सुकान्तरतिवेगेति मिथुनम् । ३ प्राप्तम् । ४ पुण्यम् । प्राप्तमित्वादिबचनम् । ५ प्रजापालपुत्रलोकपालस्य । ६ सार्थो कुबेरमित्रस्य, पौत्री वसुमती । ७ निजभगवान्तरपरिज्ञानजात । ८ शोभानगरपतिप्रजापालमहोपदेवार्थी देवश्री । ९ हे अमितमत्याधिके, भवत्यद्यादात् । १० प्राप्तवत्यहम् । ११ शोभानगरप्रतिपालप्रजापाल इत्यर्थः । १२ तव सती लोकपाल । १३ आर्यिका । १४ तव प्रियदत्ताया । १५ पुरोवर्ती । १६ कुबेरकान्त । १७ शक्तितेजस्य स्वीकृतपुत्रः । कुबेरदयित इति तव मुश्रोऽभूदिति सम्बन्धः । १८ देवत्वम् । १९ तव भर्तुः कुबेरकान्तस्य । २० जननकालादारभ्य कामधेनुकृतमेति श्लोकोक्तत्वेना कुर्वते । २१ पूर्वभवसन्निविष्टा सत्यक । २२ रत्नकोऽभूत् । २३ रतिवर्मकनकश्रियो सूनुना भवदेवेन । क्रोधान् शक्तितेजकालान्तरेण निर्यद्य वधूवर सुकान्तरतिवेगेति द्वयम् । २४ कपोतपक्षिणावभूतामिति नवम् । २५ मेरुकदत्त । २६ अस्या पुत्र्यम् । पुण्डरीकिण्याम् । २७ तव भर्तुः कुबेरकान्तस्य । २८ कुबेरमित्रधनवन् ।

इत्युक्त्वा<sup>१</sup> सेदमन्याह<sup>२</sup> खगाचलसमीपगे ।<sup>३</sup> वसन्तौ चारणावद्गौ मुनी मलयकाञ्चने ॥१३५॥  
 पूर्व वननिवेशे<sup>४</sup> तौ भिक्षार्थं समुपागतौ । तत्र पुत्रसमुत्पत्तिमुपदिश्य गतौ ततः ॥१३६॥  
 अन्येद्युर्वसुधारादिहेतुभूतौ कपोतकौ । दृष्ट्वा सकलौ भिक्षामनादाय वनं गतौ ॥१३७॥  
 गुणैर्गुल्वं युवयोरुपयातौ तयोरिदम् । उपदेशात् समाकर्ण्य सर्वमुक्तं यथाश्रुतम् ॥१३८॥  
 इति तेऽमितमत्युक्तकथावगमतत्पराः<sup>५</sup> । स्वरूपं संछन्तेः सम्यक् सुदुर्गुहुरभावायन् ॥१३९॥  
 एवं प्रयाति कालेऽसौ प्रियदत्ता प्रसंगतः । यशस्वतीगुणवत्यौ युवाभ्यां केन हेतुना ॥१४०॥  
 इयं दीक्षा गृहीतेति पप्रच्छोत्पन्नकौतुका । ते<sup>६</sup> च तत्कारणं स्पष्टं यथावृत्तमवोचताम् ॥१४१॥  
 ततो धनवती<sup>७</sup> दीक्षां गणिन्याः<sup>८</sup> सज्जिवौ ययौ । माता<sup>९</sup> कुबेरसेना च तयोरायिकयोर्द्वयोः ॥१४२॥  
 तावन्त्येद्युः कपोतौ च ग्रामान्तरमुपाश्रितौ । तण्डुलाद्युपयोगाय<sup>१०</sup> समवर्तिप्रचोदितौ ॥१४३॥  
 मन्दवचरेणानुबद्धैरेण पापिना । दृष्ट्वाभ्युत्थकोपेन<sup>११</sup> मारितौ पुद्गलशसौ<sup>१२</sup> ॥१४४॥  
 तद्वाट्टविजयार्द्धस्य दक्षिणश्रणिमाश्रिते । गान्धारविपयोगीरवत्याख्यनगरैऽधिपः ॥१४५॥

स्त्री धारिणी यहाँ तेरे पति कुबेरकान्तके माता-पिता हुए हैं ॥ १३४ ॥ इतना कहकर अमित-  
 मति यह भी कहने लगी कि विजयार्ध पर्वतके समीप मलयकाचन नामके पर्वतपर दो मुनिराज  
 रहते थे, जब पूर्वजन्ममें शक्तिषेण सर्पसरोवरके समीप डेरा डालकर वनमें ठहरा हुआ था तब  
 वे भिक्षाके लिए तेरे यहाँ आये थे और तेरे अँगुलियोंके इशारेसे पाँच पुत्र तथा एक पुत्री होगी  
 ऐसा कहकर चले गये थे । तदनन्तर रत्नवृष्टि आदि पञ्चाश्चर्योंके कारणस्वरूप वे मुनिराज इस  
 जन्ममें भी किसी समय तेरे घर आये थे परन्तु कबूतर-कबूतरीको देखकर दयायुक्त हो बिना  
 भिक्षा लिये ही वनको लौट गये थे । वे ही तेरे पिता और तेरे पतिके गुरु हुए हैं । उन्हींके  
 उपदेशसे मैंने यह सब सुनकर अनुक्रमसे कहा है ॥ १३५-१३८ ॥ इस प्रकार जो पुरुष  
 अमितमति आर्थिकाके द्वारा कही हुई कथाके सुननेमें तल्लीन हो रहे थे वे ससारके सच्चे  
 स्वरूपका बार-बार चिन्तन करने लगे ॥ १३९ ॥ इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होनेपर किसी  
 दिन प्रियदत्ताने प्रसंग पाकर यशस्वती और गुणवतीसे पूछा कि आप लोगोंने यह दीक्षा किस  
 कारण ग्रहण की है ? मुझे यह जाननेका कौतुक हो रहा है । तब उन दोनोंने स्पष्ट रूपसे अपनी  
 दीक्षाका कारण बतला दिया ॥ १४०-१४१ ॥ तदनन्तर कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने संघकी  
 स्वामिनी अमितमतिके पास दीक्षा धारण कर ली और उन दोनों आर्थिकाओंकी माता कुबेर-  
 सेनाने भी अपनी पुत्रीके समीप दीक्षा धारण की ॥ १४२ ॥

किसी एक दिन यमराजके द्वारा प्रेरित हुए ही क्या मानो वे दोनों कबूतर-कबूतरी  
 चावल चुगनेके लिए किसी दूसरे गाँव गये । वहाँ एक बिलाव था जो कि भवदेवका जीव था ।  
 उस पापीको पूर्व जन्मसे बँधे हुए बैरके कारण कबूतर-कबूतरीको देखते ही पापकी भावना  
 जागृत हो उठी और उसने उन दोनोंको मार डाला ॥ १४३-१४४ ॥ उसी पृच्छलावती  
 देशके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक गान्धार नामका देश है और उसमें उशीरवती

- १ अमितमत्यायिका । २ विजयार्धपर्वत । ३ निवसन्तौ । ४ शक्तिषेणपाटवीश्रीभव । ५ सर्पसरोवरनिवेशे ।  
 ६ कुबेरमित्रसमुद्रदत्तयोः । ७ कुबेरकान्तप्रियदत्तयोः गुरुत्वमुपयातौ यौ द्वौ तयोरेव चारणयोः । ८ यथाक्रमम्  
 ल० । ९ लोकपालादाय । १० परिज्ञाने रता । ११ यशस्वतीगुणवत्यौ । १२ मम मातुलकुबेरदत्ताद् विविध-  
 भक्ष्यपूर्वभोजनाभाज्जातलज्जया तपो गृहीतम् । १३ कुबेरमित्रस्य भार्या । १४ अमितमत्यायिकायाः ।  
 १५ जगत्पालकवर्तितपुत्र्योरमितमत्यनन्तमत्योर्जनी । १६ जम्बूद्वीपम् । १७ भक्षणाया । १८ अन्तकप्रेरिती ।  
 १९ पूर्वस्मिन् भवदेवेन । २० पापेन ल० । २१ जम्बूद्वीपस्य कदलीवनस्थमाजरेणि ।

आदित्यगतिरस्यासीन्महादेवी शशिप्रभा । तयोर्हिरण्यवर्मास्थः सुतो रतिवरोऽभवत् ॥१४६॥  
 तस्मिन्नेवोत्तरेण्यं गौरीविषयविश्रुते । पुरे भोगपुरे वायुरथो विद्याधराधिपः ॥१४७॥  
 तस्य स्वयंप्रभं देव्यां रतिपेणां प्रभावती । वभूव जैनधर्माशोऽप्यभ्युद्धरति देहिनः ॥१४८॥  
 माता पिताऽपि या यश्च सुकान्तरतिवेगयोः । जन्मन्धस्मिन् किलाभूतां चित्रं तावेव संसृति ॥१४९॥  
 हा मे प्रभावतीत्याह जयश्चेत् ससुलोचनं । रूपादिवर्णनं तस्याः किं पुनः क्रियते ग्रथक् ॥१५०॥  
 यौवनेन समाक्रान्तां कन्यां दृष्ट्वा प्रभावतीम् । कस्मै देयेयमित्याह खगेशो मन्त्रिणस्तव (ततः) ॥१५१॥  
 शशिप्रभा स्वप्ता देव्यां भ्रातृदित्यगतिस्तथा । परं च खचराधीशाः प्रीत्याऽयाचन्त कन्यकाम् ॥१५२॥  
 ततः स्वयंवरो युक्तो विरोधस्तत्र केनचित् । हृत्प्रभाषन्त निश्चित्य तद्भूषोऽप्यभ्युपागमत् ॥१५३॥  
 ततः सर्वेऽपि तद्द्वार्ताकिर्णनादागमन् वराः । कमप्येतेषु सा कन्या नामहीद् रत्नमालया ॥१५४॥  
 मातापितृभ्यां तद् दृष्ट्वा संवृष्टा प्रियकारिणी । यो जयेद् गतियुद्धे मां मालां संयोजयाम्यहम् ॥१५५॥  
 कण्ठे तस्येति वचस्तेषां प्राणित्याह सखी तयोः । श्रुत्वा तत्र दिने सर्वानुचितोक्त्या व्यसज्यत ॥१५६॥

नामकी एक नगरी है । उसके राजा थे आदित्यगति और उनकी रानीका नाम था शशिप्रभा । रतिवर कवूतर मरकर उन दोनोंके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥१४५-१४६॥ उसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमे एक गौरी नामका देश है उसके भोगपुर नामके प्रसिद्ध नगरमें विद्याधरोका स्वामी राजा वायुरथ राज्य करता था । उसकी स्वयंप्रभा नामकी रानी थी । रतिपेणा कवूतरी मरकर उन्हीं दोनोंको प्रभावती नामकी पुत्री हुई सो ठीक ही है क्योंकि जैनधर्मका एक अंश भी प्राणियोका उद्धार कर देता है ॥१४७-१४८॥ सुकान्त और रतिवेगा-के जो पहले माता-पिता थे वे ही इस जन्ममे भी माता-पिता हुए हैं सो ठीक ही है क्योंकि यह संसार बड़ा ही विचित्र है । भावार्थ — सुकान्तके पूर्वभवके माता-पिता अशोक और जिनदत्ता इस भवमे आदित्यगति और शशिप्रभा हुए हैं तथा रतिवेगाके पूर्वभवके माता-पिता विमलश्री और श्रीवत्ता इस भवमें वायुरथ तथा स्वयंप्रभा हुए हैं ॥१४९॥ जब जयकुमारने मुलोचनाके साथ बैठकर 'हा' मेरी प्रभावती' ऐसा कहा तब फिर उसके रूप आदिका वर्णन अलगसे क्या किया जाय ? ॥१५०॥ प्रभावती कन्याको यौवनसे सम्पन्न देखकर विद्याधरोके अधिपति वायुरथने अपने मन्त्रियोसे कहा कि यह कन्या किसे देनी चाहिए ? ॥१५१॥

मन्त्रियोने परस्परमे निश्चय कर कहा कि 'शशिप्रभा आपकी वहन है, और आदित्यगति आपकी पट्टराज्ञीका भाई है । ये दोनों तथा इनके सिवाय और भी अनेक विद्याधर राजा बड़े प्रेमसे कन्याकी याचना कर रहे हैं इसलिए स्वयंवर करना ठीक होगा क्योंकि ऐसा करनेसे किसीके साथ विरोध नहीं होगा ।' मन्त्रियोकी यह बात राजाने भी स्वीकार की ॥१५२-१५३॥ तदनन्तर स्वयंवरकी बात सुनकर सभी राजकुमार आये परन्तु कन्या प्रभावतीने इन सबमे-से किसीको भी रत्नमालाके द्वारा स्वीकार नहीं किया — किसीके भी गलेमे रत्नमाला नहीं डाली ॥१५४॥ यह देखकर माता-पिताने उसकी सखी प्रियकारिणीसे इनका कारण पूछा, सखीने उन दोनोंसे कहा कि यह पहले कहती थी कि 'जो मुझे गतियुद्धमे जीतेगा मैं उसीके गलेमे माला डालूंगी' यह सुनकर राजाने उस दिन यथायोग्य कहकर सबको बिदा किया ॥१५५-१५६॥

१ रतिवरनामकपोतः । २ रतिपेणा नाम कपोती । ३ श्रोतद्विजयवर्मा । अशोकदेवजिनव्रते हे च अभूना वायुरथस्वयंप्रभादेव्यौ चादित्यगतिशशिप्रभे च पितरावभूतामिति । ४ सुलोचनमा सहित । ५ तव गतिप्रमेनि भगिनी । ६ वायुरथस्य तव भार्याया । ७ स्वयंप्रभादेव्या भ्राता आदित्यगतिश्च नोऽपि न्वपुत्राय मानिनः गन् इत्यर्थः । ८ एव सति । ९ तथास्त्वित्यनुमतिमकरोत् । १० कन्याया समी । ११ वायुरथस्वयंप्रभयोः ।

अन्येषुः खचराधीशो घोषयित्वा<sup>१</sup> स्वयंवरम् । सिद्धकूटाख्यचैत्यालयस्य मालां पुरःस्थिताम् ॥१५७॥  
 अपातयन्महामरुं<sup>२</sup> त्रिः<sup>३</sup> परीत्य महीतवम् । अस्पृष्टां खचराः केचिन्तां प्रहीतुमनीश्वराः ॥१५८॥  
 त्रयां गताः समादाय प्रभावत्या विनिर्जिताः । समो ननु न मृत्युश्च मानमङ्ग्रेण मानिनाम् ॥१५९॥  
 ततो हिरण्यवर्माऽद्याद् गतियुद्धविशारदः । मालामासञ्जयामास<sup>४</sup> तत्कण्ठे तेन निर्जिता ॥१६०॥  
 तथोर्जन्मान्तरस्नेहसमृद्धसुखसंपदा । काले गच्छति कस्मिँश्च ( चित् ) कपोतद्वयदर्शनात् ॥१६१॥  
 ज्ञातप्राग्भवसंबन्धा सुविरक्ता प्रभावती । स्थिताक्षोकाकुलैकैव<sup>५</sup> त्रिन्तयन्ती किमप्यसौ ॥१६२॥  
 हिरण्यवर्मणा ज्ञातजन्मना लिखितं स्फुटम् । पट्टकं प्रियकारिण्या<sup>६</sup> हस्ते<sup>७</sup> समवलोक्य तम् ॥१६३॥  
 क्व लब्धमिदमित्याख्यत् प्राह सापि प्रियेण ते । लिखितं चेटकस्तस्य<sup>८</sup> सुकान्तो मे समर्पयत् ॥१६४॥  
 इति तद्वचनं श्रुत्वा स्वयमप्यात्मवृत्तकम् । प्राक्तनं<sup>९</sup> पट्टके तस्या लिखित्वाऽसौ<sup>१०</sup> करे ददौ ॥१६५॥  
 तद्विलोक्य कुमारोऽभूत् प्रभात्रस्यां प्रसक्तधीः । साऽपि तस्मिन् तयोः प्रीतिः प्राक्तन्या<sup>११</sup> द्विगुणाऽभवत्<sup>१२</sup>  
 संभूय बान्धवाः सर्वे कल्याणमिषवन् तयोः । अकुर्वन्निव कल्याणं द्वितीयं ते चिकीर्षवः ॥१६७॥  
 दशम्या<sup>१३</sup> सिद्धकूटाग्रे स्नानपूजाविधौ<sup>१४</sup> सुवित्<sup>१५</sup> । हिरण्यवर्मणा दीक्ष्य परमावधिचरणः ॥१६८॥

दूसरे दिन राजाने स्वयवरकी घोषणा कराकर कहा कि 'एक माला सिद्धकूट नामक चैत्यालयके द्वारसे नीचे छोड़ी जायगी' जो कोई विद्याधर माला छोड़नेके बाद महामेरु पर्वतकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर प्रभावतीके पहले उसे जमीनपर पड़नेके पहले ही ले लेगा वही इसका पति होगा' यह सुनकर बहुत से विद्याधरोंने प्रयत्न किया परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे माला न ले सके इसलिए प्रभावतीसे हारकर लज्जित होते हुए चले गये सो ठीक ही है क्योंकि मृत्यु भी अभिमानी लोगोंके मानभंगकी बराबरी नहीं कर सकती है ॥१५७-१५९॥ तदनन्तर गतियुद्ध करनेमें चतुर हिरण्यवर्मा आया और उससे हारकर प्रभावतीने वह माला उसके गलेमें डाल दी ॥१६०॥ पूर्व जन्मके स्नेहसे बड़ी हुई सुखरूप सम्पत्तिसे जब उन दोनोंका कितना ही समय व्यतीत हो गया तब किसी एक दिन कबूतर-कबूतरीका जोड़ा देखनेसे प्रभावतीको पूर्वभवका सम्बन्ध याद आ गया, वह विरक्त होकर शोकसे व्याकुल होती हुई अकेली बैठकर कुछ सोचने लगी ॥१६१-१६२॥ इधर हिरण्यवर्माको भी जाति स्मरण हुआ था, उसने एक पट्टियेपर अपने पूर्वजन्मका सब हाल साफ-साफ लिखकर प्रभावतीकी सखी प्रियकारिणीको दिया था, प्रभावतीने प्रियकारिणीके हाथमें वह पट्टिया देखकर कहा कि यह चित्रपट तुझे कहाँ मिला है ? सखीने कहा कि 'यह चित्रपट तेरे पतिने लिखा है और उनके नौकर सुकान्तने मुझे दिया है, इस प्रकार सखीके वचन सुनकर प्रभावतीने भी एक पट्टियेपर अपने पूर्वजन्मका सब वृत्तान्त लिखकर सखीके हाथमें दिया ॥१६३-१६५॥ वह चित्रपट देखकर हिरण्यवर्मा प्रभावतीपर बहुत अनुराग करने लगा और प्रभावती भी हिरण्यवर्मापर बहुत अनुराग करने लगी, उन दोनोंका प्रेम पूर्व पर्यायके प्रेमसे कहीं दूना हो गया था ॥१६६॥ कुटुम्बके सब लोगोंने मिलकर उन दोनोंका मंगलाभिषेक किया मानो वे उनका दूसरा कल्याण ही करना चाहते हो ॥१६७॥ किसी समय दशमीके दिन ये दोनों सिद्धकूटके चैत्यालयमें अभिषेक पूजन आदि कर रहे थे उसी समय हिरण्य-

१ स्वयवरमिति घोषयित्वा तद्दिने व्यसर्जयदिति सबन्धः । २ भूमौऽपातयति स्म । ३ मेरोस्त्रि ल० । ४ संयोजयति स्म । ५ असहायैव । ६ प्रभावत्या 'सख्या' । ७ हस्ते स्थितम् । ८ हिरण्यवर्मणः । ९ प्राग्भवम्, पुरातनमित्यर्थः । १० प्रभावती । ११ पुरातनी । १२ आ समन्ताद् द्विगुणा । १३ विवाहदिनाद् दशमदिने । १४ अभिषेकपूजाविधौ । १५ प्रत्यक्षज्ञानम् । प्रत्यक्षज्ञानी ता० टि० । नचिद् अ०, प०, स०, इ०, ल० ।

प्रभाश्रया च पृष्टोऽसौ स्वं पूर्वमववृत्तकम् । अभाषत मुनेत्रचैवमनुग्रहधिया तयोः ॥१६९॥  
 तृतीयजन्मनीतोऽत्र संभूतौ वणिजां कुले । रतिवेगा सुकान्तश्च प्राक् मृणालवतीपुरे ॥१७०॥  
 भर्तुं मायांसिंशधं<sup>३</sup> संप्रागगरिमयाद् गतौ<sup>४</sup> । कृत्वाऽनुमोदनं शक्तिपेणदाने सपुण्यकौ ॥१७१॥  
 पातवतभवे चाप्य<sup>५</sup> धर्मं जातौ युवामिति । विधाय पितरौ<sup>६</sup> वैश्यजन्मनोर्याविहापि तौ ॥१७२॥  
 तृतीयजन्मनो<sup>७</sup> युष्मद्गुरवोऽहं<sup>८</sup> च संगताः । रतिपेणपुरोः पार्श्वे गृहीतप्रोषधाचिरम् ॥१७३॥  
 जिनेन्द्रभवने भवत्या नानोपकारैः सदा । विधाय पूजां समजायामहीह<sup>९</sup> खगाधिपाः ॥१७४॥  
 पिताऽहं भवदेवस्य रतिवर्माभिधस्तदा । भूत्वा श्रीधर्मनामाऽतः संयमं प्राप्य शुद्धधीः ॥१७५॥  
 चारणत्वं तृतीयं च ज्ञानं प्रापमिहैत्यद् । श्रुत्वा मुनिवचः प्रीतिमापद्येतान्तरां च तौ<sup>१०</sup> ॥१७६॥  
 एवं सुखेन यात्येपा<sup>११</sup> काले वायुरथः पृथुम् । विशारदं<sup>१२</sup> समालोच्य स्तनयितुं<sup>१३</sup> प्रतिक्षणम् ॥१७७॥  
 विष्वं विनश्चरं पश्यन् शश्वच्छाश्वतिकी मतिम् । जनः करोति सर्वत्र दुस्तरं किमिदं तमः<sup>१४</sup> ॥१७८॥  
 इति याथात्म्यमासाद्य दत्त्वा राज्यं विरज्य<sup>१५</sup> सः । मनोरथाय नैस्संग्य<sup>१६</sup> प्रपिंसुरभवत्तदा ॥१७९॥  
 आदित्यगतिमभ्येक्ष्य प्रीत्या सर्वेऽपि बान्धवाः<sup>१७</sup> । प्रभावतीसुता देव्या भवत्येवं रतिप्रभा ॥१८०॥

वर्माने परमावधि ज्ञानको धारण करनेवाले चारणमुनि देखे, प्रभावतीने उनसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त पूछा, मुनिराज भी अनुग्रह वृद्धिसे उन दोनोंके पूर्वभवका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे ॥१६८-१६९॥ कि तुम दोनों इस जन्मसे तीसरे जन्ममें मृणालवती नगरीके वैश्य कुलमे रतिवेगा तथा सुकान्त हुए थे ॥१७०॥ स्त्री पुरुषका सम्बन्ध पाकर तुम दोनों शत्रुके भयसे भागकर शक्तिपेणकी शरण गये थे । वहाँ शक्तिपेणने मुनिराजके लिए जो आहार दान दिया था उसकी अनुमोदना कर तुम दोनोंने पुण्यबन्ध किया था, उसके बाद कबूतर-कबूतरीके भवमे धर्म लाभ कर यहाँ विद्याधर-विद्याधरी हुए हो । तुम दोनोंके वैश्य जन्मके जो माता-पिता थे वे ही इस जन्मके भी तुम्हारे, माता-पिता हुए हैं । तीसरे जन्मके तुम्हारे माता-पिता तथा मैंने मिलकर एक साथ रतिपेण गुरुके समीप प्रोषध व्रत लिया था, और उसका चिरकाल तक पालन करते हुए श्रीजिनेन्द्रदेवके मन्दिरमे भक्तिपूर्वक अनेक उपकरणोसे सदा पूजा की थी उसीके फलस्वरूप हमलोग यहाँ विद्याधर हुए हैं । मैं पूर्वभवमे रतिवर्म नामका भवदेवका पिता था, अब श्रीधर्म नामका विद्याधर हुआ हूँ, मैंने शुद्ध हृदयसे समय चारण कर चारणश्रद्धा और तीसरा अवधि ज्ञान प्राप्त किया है । इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर हिरण्यवर्मा और प्रभावती दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए ॥१७१-१७६॥

इस तरह इन सबका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था कि किसी एक समय प्रभावतीके पिता वायुरथ विद्याधरने प्रत्येक क्षण नष्ट होनेवाला मेघ देखकर ऐसा विचार किया कि यह समस्त संसार इसी प्रकार नष्ट हो जानेवाला है, फिर भी लोग इसे स्थिर रहनेवाला समझते हैं, यह अज्ञानरूपी घोर अन्धकार सब जगह क्यों छाया हुआ है ? इस प्रकार यथार्थ स्वरूपका विचार कर विरक्त हो मनोरथ नामक पुत्रके लिए राज्य दे दिया और स्वयं निर्भन्ध अवस्था धारण करनेकी इच्छा करने लगे ॥१७७-१७९॥ उसी समय वायुरथके सभी भाई-बन्धुबाने बड़े

१ स्वपूर्व-अ०, प०, इ०, स०, ल० । २ दम्पतिसंबन्धम् । ३ भवदेवमयात् । ४ पलायितौ । ५ प्राप्य । ६ श्रीदत्तविमलश्रियो । अशोकदेवजिनवत्ते च । ७ युवयो पितर । श्रीदत्तविमलश्री-अशोकदेवजिनवत्ता । ८ भवदेवस्य पिता रतिवर्मा । ९ जाता स्म । १० श्रीधर्मखगाधिपति । ११ हिरण्यवर्माप्रभावत्यौ । १२ वायुरथादीनाम् । १३ विनश्चरशीलम् । १४ मेघम् । 'अत्र मेघो वारिवाह स्तनयितुर्बलाहक' इत्य-मिहात् । १५ पुत्रमित्रकलत्रसकृच्चन्दादिकम् । १६ अज्ञानम् । १७ विरक्तौ भूत्वा । १८ प्राप्नुमिच्छु । १९ वायुरथस्य बन्धुजना ।



मनोरथस्य पुत्राय कन्या चित्ररथाय सा । इत्याहुः<sup>१</sup> सोऽप्यनुज्ञाय<sup>२</sup> कृत्वा बन्धुविसर्जनम् ॥१८१॥  
<sup>३</sup>हिरण्यवर्मणः सर्वलगराजामिषेचनम् । विधाय ब्रह्मिः सार्धं मंप्राप्य मुनिपुङ्गवम् ॥१८२॥  
 संयमं प्रतिपन्नः सन्न सहवायुयुधः<sup>४</sup> स्वयम् । तपो द्वादशधा प्रोक्तं यथाविधि समाचरत् ॥१८३॥  
 इत्युक्त्वा रतिवेगाऽहं रतिपेणा<sup>५</sup> प्रभावती । चाहमेवेति<sup>६</sup> सभ्यानां निजगादं सुलोचना ॥१८४॥  
 तदाकर्ण्य जयोऽप्याह पतिस्तासामहं<sup>७</sup> क्रमात् । जाये स्म<sup>८</sup> तत्र तत्रेति विश्वविस्मयकृद्बहः ॥१८५॥  
 पुनः प्रियां जयः प्राह प्रकृतं किंचिदप्यतः । अवशिष्टं तदप्युच्चैस्त्वया कान्ते निगद्यताम् ॥१८६॥  
 इति पथ्युः परिप्रञ्जनादशनज्योत्स्नया समाम् । मूर्तिः कुमुदती वेन्दोर्विकासमुपनीयताम् ॥१८७॥  
 साऽश्वीदिति तद्वृत्तं स्वपुण्यपरिपाकजम् । सुखं राज्यममुद्भूतं यथेष्टमपि निर्विशन्<sup>९</sup> ॥१८८॥  
 परेषुः कान्तया साद<sup>१०</sup> स्वेच्छया विहरन् वनम् । सरो धान्यकमालालयं वीक्ष्यादित्यगतेः<sup>११</sup> सुतः ॥१८९॥  
<sup>१२</sup>हवप्राच्यभवनसंनधं प्रत्यक्षमिव लक्षयन् । काललब्धिवलाललब्धनिर्विदो विदुषां वरः ॥१९०॥  
 भद्रुर<sup>१३</sup> संगमः सर्वोऽप्यद्विनामभिवाञ्छितः । किं नाम सुखमत्रेदमल्पसंवल्लसंभवम् ॥१९१॥  
 आयुर्वायुचलं कायो ह्येव एवामयालयः । साम्राज्यं भुज्यते<sup>१४</sup> लोलैर्वालि<sup>१५</sup> गर्वहृद्रोपलम्<sup>१६</sup> ॥१९२॥  
 अद्रुपारः<sup>१७</sup> कायोऽयमसरो दुरितान्ध्रयः । तादात्म्यप्राप्तमनोऽनेन<sup>१८</sup> धिगेनमनुचिप्रियम्<sup>१९</sup> ॥१९३॥

प्रेमसे आदित्यगतिके समीप जाकर प्रार्थना की 'किं यह प्रभावतीकी पुत्री रतिप्रभा कन्या आप मेरे मनोरथके पुत्र चित्ररथके लिए दे दीजिए।' आदित्यगतिने भी स्वीकार कर समागत बन्धुओंको विदा किया ॥१८०-१८१॥ महाराज आदित्यगति सब विद्याधरोके राज्यपर हिरण्यवर्माका अभिषेक कर अनेक लोगोंके साथ किन्ही मुनिराजके समीप पहुँचे, और वायुरथके साथ-साथ स्वयं भी संयम धारण कर विधिपूर्वक शास्त्रोक्त कहे हुए बारह प्रकारके तपश्चरण करने लगे ॥१८२-१८३॥ यह सब कहकर सुलोचनाने सब सभासदोंसे कहा कि वह रतिवेगा भी मैं ही हूँ, रतिपेणा (कवूतरी) भी मैं ही हूँ और प्रभावती भी मैं ही हूँ ॥१८४॥ यह सुनकर जयकुमारने भी सबको आश्चर्य करनेवाले वचन कहे कि उन तीनों भवोंमें अनुक्रमसे मैं ही उन रतिवेगा आदिका पति हुआ हूँ ॥१८५॥ जयकुमार फिर अपनी प्रिया सुलोचनासे कहने लगा कि हे प्रिये, कुछ बात बाकी और रह गयी है उसे भी तू अच्छी तरह कह दे ॥१८६॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी मूर्ति कुमुदिनीको विकसित कर देती है उसी प्रकार वह सुलोचना भी अपने पतिके पूर्वोक्त प्रश्नसे दाँतोकी कान्तिके द्वारा सभाको विकसित-हर्षित करती हुई अपने पुण्यके फलसे होनेवाले समाचारोको इस प्रकार कहने लगी कि वह हिरण्यवर्मा राज्यसे उत्पन्न हुए सुखका इच्छानुसार उपभोग करने लगा । किसी एक दिन अपनी वल्लभाके साथ विहार करता हुआ वह आदित्यगतिका पुत्र हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनमें जा पहुँचा । वहाँ सर्पसरोवर देखकर उसे अपने पूर्वभक्तके सब सम्बन्ध प्रत्यक्षकी तरह दिखने लगे, काललब्धिके निमित्तसे जिसे वैराग्य उत्पन्न हुआ है और जो विद्वानोमें श्रेष्ठ है ऐसा वह हिरण्यवर्मा सोचने लगा कि प्राणियोंकी इच्छाका विषयभूत यह सभी समागम क्षणभंगुर है, इस समागममें थोड़े-से संकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सुख क्या वस्तु है ? यह आयुके समान चंचल है । अनेक रोगोंका घर स्वरूप यह शरीर छोड़ने योग्य ही है । अनेक दोषोंको देनेवाले राज्यको चंचल

१ वायुरथस्य वियोगादाहुः । २ तथास्तिवत्यनुमति कृत्वा । ३ अयं श्लोकः ल० 'म० पुस्तकयोर्न दृश्यते । ४ वायुरथेन सहित । ५ आदित्यगतिः । ६ रविप्रेणेति कपोती । ७ सुलोचना । ८ सभाजनानाम् । ९ अभापत । १० रतिवेगादीनाम् । ११ जातोऽस्मि । १२ अनुभवन् । १३ प्रभावत्या सह । १४ हिरण्यवर्मा । १५ पूर्वभव । १६ क्षयशील । १७ आसक्त । १८ सुखं । १९ बहुदोषप्रदम् । २० आसन्नवसानाः । २१ तत्स्वरूपत्वम् । २२ कायेन । २३ आत्मानम् ।

देहवासो<sup>१</sup> भयं नास्य<sup>२</sup> यानमस्मान्म<sup>३</sup> हृद् भयम् । देहिनः किल मार्गस्य<sup>४</sup> विपर्यासोऽत्र<sup>५</sup> निवृत्तेः॥ १३४॥  
 नीलरूपोऽयं स्वरूपेण रूपी देहैरूपता । निर्वाणासिरतो हेयो देह एव यथा तथा ॥ १९५॥  
 वन्धः सर्वोऽपि संवन्धो<sup>६</sup> भोगो रोगो रिपुर्वपुः । दीर्घमायासमत्यायुस्तृष्णाग्नेरिन्धनं धनम् ॥ १९६॥  
 आदौ जन्म जरा रोगा मध्येऽन्तेऽप्यन्तकः खलः । इति चक्रकसंभ्रान्तिः जन्तोर्मध्येमवाणं वम् ॥ १९७॥  
 भोगिनो<sup>७</sup> भोगवद्<sup>८</sup> भोगा न<sup>९</sup> भोगा नाम भोग्यकाः । पूर्वं भावयतो भोगान् भूयोऽभूवन् मयावहाः ॥ १९८॥  
 निपेक्ष्यमाणा विषया विषमा विषसन्निभाः । देदीप्यन्ते<sup>१०</sup> बुभुक्षाभिर्दीपनीयैरिवौषधैः<sup>११</sup> ॥ १९९॥  
 न तृप्तिरिमिरित्येष<sup>१२</sup> एव दोषो न पोषका । तृष्यन्<sup>१३</sup> विषवल्लर्याः संसृतेऽच्चावलम्बनम् ॥ २००॥  
 वनितातनुसंभृतकामाग्निः<sup>१४</sup> स्नेहसेचनैः । कामिनं भस्मसाद्भावमनीत्वा न निवर्तते ॥ २०१॥  
 जन्तोर्मणिषु भोगान्ते सर्वत्र<sup>१५</sup> विरतिर्भूवा । स्थैर्यं तस्याः<sup>१६</sup> प्रयत्नोऽस्य क्रियाद्येषो<sup>१७</sup> मनीषिणः ॥ २०२॥  
 प्रापितोऽप्यसङ्कटदुःखं भोगैस्तानेव याचते । धत्तेऽवताडितोऽप्यर्हि मात्रास्या एव बालकः ॥ २०३॥

और भूख लोग ही भोगते है, इस शरीरका अन्त निकट है, यह असार है, और पापका आश्रय है, इसी शरीरके साथ इस आत्माका तादात्म्य हो रहा है, इसलिए अपवित्र पदार्थोंसे प्रेम करने-वाले इस प्राणीको धिक्कार हो, इस प्राणीको शरीरमें निवास करनेसे तो भय मालूम नहीं होता परन्तु उससे निकलनेमें बड़ा भय मालूम होता है, निश्चयसे इस ससारमें मोक्षमार्गसे विपरीत प्रवृत्ति ही होती है ॥ १८७-१९४ ॥ यह जीव स्व स्वरूपकी अपेक्षा रूपरहित है परन्तु शरीरके सम्बन्धसे रूपी हो रहा है, रूपरहित होना ही मोक्षकी प्राप्ति है इसलिए जिस प्रकार बने उसी प्रकार शरीरको अवश्य ही छोड़ना चाहिए ॥ १९५ ॥ सब प्रकार सम्बन्ध ही बन्ध है, भोग ही रोग है, गरीर ही शत्रु है, लम्बी आयु ही तो दुःख देती है और धन ही तृष्णारूपी अग्निका ईधन है ॥ १९६ ॥ इस जीवको पहले तो जन्म धारण करना पड़ता है, मध्यमें दुःखापा तथा अनेक रोग हैं और अन्तमें दुष्ट मरण है, इस प्रकार संसाररूप समुद्रके मध्यमें इस जीवको चक्रकी तरह भ्रमण करना पड़ता है ॥ १९७ ॥ भोग करनेवाले लोगोंको ये भोग सर्पके फणोंके समान हैं इसलिए भोग करने योग्य नहीं हैं इस प्रकार भोगोका बार-बार विचार करनेवाले पुरुषके लिए ये भोग बड़े भयंकर जान पड़ने लगते हैं ॥ १९८ ॥ ये सेवन किये हुए विषय विषके समान हैं, जिस प्रकार उत्तेजक ओषधियोंसे पेटकी आग भभक उठती है उसी प्रकार भोगकी इच्छाओंसे ये विषय भभक उठते हैं ॥ १९९ ॥ इन विषयोंसे तृप्ति नहीं होती केवल इतना ही दोष नहीं है किन्तु तृष्णाको पुष्ट करनेवाले भी हैं और ससाररूपी विषकी बेलको सहारा देनेवाले भी हैं ॥ २०० ॥ स्त्रियोंके शरीरसे उत्पन्न हुई यह कामरूपी अग्नि स्नेहरूपी तेलसे प्रज्वलित होकर कामी पुरुषोंको भस्म किये बिना नहीं लौटती है ॥ २०१ ॥ भोग करनेके बाद इन समस्त भोगोंमें जीवोंको वैराग्य अवश्य होता है, बुद्धिमान् लोगोंको जो तपश्चरण आदि क्रिया करनी पड़ती है वे सब इस वैराग्यको स्थिर रखनेका उपाय ही है ॥ २०२ ॥ यद्यपि यह जीव भोगोंसे अनेक बार दुःखको प्राप्त है तथापि ये जीव उन्हीं भोगोंको चाहते हैं सो ठीक ही है क्योंकि माता बालकको जिस पैरसे ताड़ती है बालक उसी-उसी प्रकार माताके चरणको पकड़ते हैं ॥ २०३ ॥

१ शरीर निवसनम् । २ निर्गमनम् । ३ देहवासात् । ४ व्यत्यय । ५ देहिनि । ६ येन केन प्रकारेण । ७ पुन-  
 मिनादिसंख्य । ८ भवाणंवे ल०, अ०, प० । ९ सर्पस्य । १० शरीरवत् । फणवद् वा । 'भोगः सुखे  
 स्त्रियादिभूतावहेत्य' फणकाययो' इत्यभिधानात् । ११ भूया दहन्ति । १२ भोगतृप्तिच्छाभिः । १३ दीपनहेतुभिः । १४ भोगे । १५ तृष्णाया । १६ स्नेह प्रीति तैल च । स्नेह-  
 सेवनं, अ०, स० । स्नेहदीपनं प०, ल० । १७ सर्वेषु । १९ अग्रिति । २० विरते । २१ अनुष्ठानयोग ।

अध्रुवत्वं गुणं मन्ये भोगायुः<sup>१</sup> कायसंपदाम् । ध्रुवेष्वेव कुतो मुक्तिर्विना मुनतेः कुतः सुखम् ॥२०४॥  
<sup>२</sup>विस्त्रम्भजननैः पूर्वं पश्चात् प्राणार्थहारिभिः । पारिपन्थिकसङ्काशैर्विषयैः कस्य नापदः ॥२०५॥  
 तद्दुःखस्यैव माहात्म्यं स्यात् सुखं विषयैश्च यत् । यत्कारवल्लिका स्वादुःप्राप्तं ननु तत्क्षुधः<sup>३</sup> ॥२०६॥  
 संकल्पसुखसंतोषाद्<sup>४</sup> विमुक्तस्वात्मजात् सुखान् । गुह्याग्नितापसस्तुष्टशाखासृगसमो जनः ॥२०७॥  
 सदास्ति निर्जरा नासी युक्त्यै बन्धच्युतेर्विना । तच्च्युतिश्च हतेर्बन्धहेतोस्तच्छ्रुतौ यते<sup>५</sup> ॥२०८॥  
 केन मोक्षः कथं जीव्यो<sup>६</sup> कुतः सौख्यं क्व वा मतिः । परिग्रहाग्रहग्राहग्रहीतस्य भवार्णवे ॥२०९॥  
 किं<sup>७</sup> भव्यः किमभव्योऽयमितिसंशेते<sup>८</sup> बुधाः । ज्ञात्वाऽध्यनित्यतां<sup>९</sup> लक्ष्मीकटाक्षशरायिते ॥२१०॥  
 अयं कायद्रुमः<sup>१०</sup> कान्ताग्रततीततिवेष्टितः । जस्त्वि<sup>११</sup> जन्मकान्तारे<sup>१२</sup> कालाग्निग्रासमाप्स्यति ॥२११॥  
 यदि धर्मकणादित्य<sup>१३</sup> निदानविषद्विषितात्<sup>१४</sup> । सुखं धर्मासृताम्भोधिमज्जनेन किमुच्यते ॥२१२॥

भोग, आयु, काल और सम्पदाओंमें जो अस्थिरपना है उसे मैं एक प्रकारका गुण ही मानता हूँ क्योंकि यदि ये सब स्थिर हो गये तो मुक्ति कैसे प्राप्त होगी ? और मुक्तिके बिना सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा ? ॥ २०४ ॥ पहले तो विश्वास उत्पन्न करनेवाले और पीछे प्राण तथा धनको अपहरण करनेवाले शत्रु तुल्य इन विषयोंसे किसे भला आपदाएँ प्राप्त नहीं होती है ? ॥ २०५ ॥ इन विषयोंसे जो सुख होता है वह दुःखका ही माहात्म्य है क्योंकि जो करेला सीठा लगता है वह भूखका ही प्रभाव है ॥ २०६ ॥ यह जीव कल्पित सुखोंसे सन्तुष्ट होकर आत्मासे उत्पन्न होनेवाले वास्तविक सुखसे विमुक्त हो रहा है इसलिए यह जीव गुमचियोंके तापनेसे सन्तुष्ट होनेवाले बानरके समान है । भावार्थ — जिस प्रकार गुमचियोंके तापनेसे बन्दरकी ठण्ड नहीं दूर होती है उसी प्रकार इन कल्पित विषयजन्य सुखोंसे प्राणियोंकी दुःख-रूप परिणति दूर नहीं होती है ? ॥ २०७ ॥ इस जीवके निर्जरा तो सदा होती रहती है परन्तु बन्धका अभाव हुए बिना वह मोक्षका कारण नहीं हो पाती है, बन्धका अभाव बन्धके कारणोंका नाश होनेसे हो सकता है इसलिए मैं बन्धके कारणोंका नाश करनेमें ही प्रयत्नशील हूँ ॥ २०८ ॥ इस संसाररूपी समुद्रमें जिन्हें परिग्रहके ग्रहण करने रूप पिशाच लग रहा है उन्हें भला मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है ? उनका जीवन किस प्रकार रह सकता है ? उन्हें सुख कहाँसे मिल सकता है और उन्हें बुद्धि ही कहाँ उत्पन्न हो सकती है ? ॥ २०९ ॥ लक्ष्मीके कटाक्षरूपी बाणोंसे सुलाये हुए ( नष्ट हुए ) पुरुषमें अनित्यताको जानकर भी विद्वान् लोग 'यह भव्य है ? अधवा अभव्य है ?' इस प्रकार व्यर्थ संशय करने लगते हैं ॥ २१० ॥ स्त्रीरूपी लताओंके समूहसे घिरा हुआ यह शरीररूपी वृक्ष संसाररूपी अटवीमें जीर्ण होकर कालरूपी अग्निका ग्रास हो जायगा ॥ २११ ॥ जब कि निदानरूपी विषसे दूषित कर्मके एक अंशसे मुझे ऐसा सुख मिला है तब धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें अवगाहन करनेसे जो सुख प्राप्त होगा उसका तो

१ काल — ल० । २ विश्वासजनकः । ३ शत्रुसदृशः । ४ न विपत्तयः । ५ कटुकास्वादः शाकविशेषः । कारवेल्लिकं स्वादु प०, दं०, स०, अ०, ल० । ६ ब्रमुखायाः । ७ विमुखवचात्मजात् ल०, प०, दं०, अ० । ८ तत् कारणात् । ९ यत्न करोमि । १० जीवनम् । ११ परिग्रहस्वीकारनक्रस्वीकृतस्य । १२ विशिष्टेष्ट-परिणामेन किं भविष्यति । १३ संशयं कुर्वन्ति । १४ अपाङ्गदर्शनवाणतनुकृतशरीरे पुंसि । १५ भार्यालता । १६ जीर्णीभूत्वा । १७ यमदावाग्निः । १८ घर्मलेशात् । १९ कपोतजन्मनि कुबेरमित्रेण स्वैनं कृतदानपुण्यस्यैकाशः कपोतस्य सत्तः विद्याधरविमानं विलोक्य कपोतः श्रेष्ठिदत्तपुण्याशात् समविद्याधरत्वं भवत्विति कृतनिदानविषद्विषितात् ।

ॐ मिथ्यादर्शन, अवरिति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धनके कारण हैं ।

अश्वेदेधरागात्मा संसारस्तद्विपर्ययः । मोक्षश्चेद् वीक्षितो विद्मिः<sup>१</sup> कः क्षेपो<sup>२</sup> मोक्षसाधने ॥२१३॥  
यदि<sup>३</sup> देशादिसाकल्ये न तपस्तत्पुनः कृतः । मध्येऽर्णवं यतो<sup>४</sup> वेगात् कराग्रच्युतरत्नवत् ॥२१४॥  
आत्मैस्त्वं परमात्मानमात्मन्यात्मानमात्मना । हिंसा दुरात्मतामात्मनीने<sup>५</sup> ऽध्वनिं चरन्<sup>६</sup> कुरु ॥२१५॥  
इति संचिन्तयन् गत्वा पुरं<sup>७</sup> परमतत्त्ववित् । सुवर्णवर्मणे राज्यं सामिपेकं वित्तीयं सः ॥२१६॥  
अतीत्यं<sup>८</sup> मही प्राप्य श्रीपुरं श्रीनिकेतनम्<sup>९</sup> । दीक्षां जैनेश्वरी प्राप श्रीपालगुरुसंनिधौ ॥२१७॥  
परिग्रहग्रहान्मुक्तो दीक्षित्वा स तपोऽश्रुभिः । हिरण्यवर्मा<sup>१०</sup> धर्माश्रुनिर्गलो व्यद्युतचराम् ॥२१८॥  
प्रभावती च तन्मात्रा<sup>११</sup> गुणवत्यास्ततोऽग्रामत् । कुतश्चन्द्रमस मुक्त्वा चन्द्रिकायाः स्थितिः पृथक् ॥  
सद्वृत्तस्तपसा दीप्तो दिग्भ्रवरविभूषणः<sup>१२</sup> । निस्संगो<sup>१३</sup> ध्योमगाम्येकविहारी विश्ववन्दितः ॥२२०॥  
नित्योद्यो<sup>१४</sup> बुधाधीशो विश्वदृश्वा<sup>१५</sup> विरोचनः<sup>१६</sup> । स कदाचित् समागच्छन्मोदयन् पुण्डरीकीणीम् ॥२२१॥

कहना ही क्या है ? ॥२१२॥ यह संसार अज्ञान, द्वेष और राग स्वरूप है तथा मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् सम्यग्ज्ञान और समता स्वरूप है । यदि विद्वान् लोग ऐसा देखते रहे तो फिर मोक्ष होनेमें देर ही क्या लगे ? ॥२१३॥ जिस प्रकार-वेगसे जाते हुए पुरुषके हाथसे बीच समुद्रमें छूटा हुआ रत्न फिर नहीं मिल सकता है उसी प्रकार देश-काल आदिकी सामग्री मिलनेपर भी यदि तप नहीं किया तो वह तप फिर कैसे मिल सकता है ? ॥२१४॥ इसलिए हे आत्मन्, तू आत्माका हित करनेवाले मोक्षमार्गमें दुरात्मता छोड़कर अपने आत्मके द्वारा अपने ही आत्मामें परमात्मा रूप अपने आत्माको ही स्वीकार कर ॥२१५॥ इस प्रकार चिन्तन करते हुए परम तत्त्वके जाननेवाले राजा हिरण्यवर्मनि अपने नगरमें जाकर अपने पुत्र सुवर्णवर्मके लिए अभिषेकपूर्वक राज्य सौपा और फिर विजयाद्वै पर्वतसे पृथ्वीपर उतरकर लक्ष्मीके गृहस्वरूप श्रीपुर नामके नगरमें श्रीपाल गुरुके समीप जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली ॥२१६-२१७॥ परिग्रहरूपी पिशाचसे युक्त हो दीक्षा धारण कर सूर्यके समान निर्मल हुआ वह राजा हिरण्यवर्मा तपस्वरणरूपी किरणोंसे बहुत ही देदीप्यमान हो रहा था ॥२१८॥ प्रभावतीने भी हिरण्यवर्माकी माता-शशिप्रभाके साथ गुणवती आर्थिकाके समीप तप धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमाको छोड़कर चाँदनीकी पृथक् स्थिति भला कहाँ हो सकती है ? ॥२१९॥ वे हिरण्यवर्मा मुनिराज ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोल है उसी प्रकार वे मुनिराज भी सद्वृत्त अर्थात् निर्दोष चारित्रिको धारण करनेवाले थे । जिस प्रकार सूर्य तप अर्थात् गरमीसे देदीप्यमान रहता है उसी प्रकार मुनिराज भी तप अर्थात् अनशनादि तपस्वरणसे देदीप्यमान रहते थे, जिस प्रकार सूर्य दिग्भ्रवर अर्थात् दिशा और आकाशका आभूषण है उसी प्रकार मुनिराज भी दिग्भ्रवर अर्थात् दिशारूप वस्त्र-को धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ मुनियोंके आभूषण थे, जिस प्रकार सूर्य नि संग अर्थात् सहायता-रहित अकेला होता है उसी प्रकार मुनिराज भी नि संग अर्थात् परिग्रहरहित थे, जिस प्रकार सूर्य आकाशमें गमन करता है उसी प्रकार चारणऋद्धि होनेसे मुनिराज भी आकाशमें गमन करते थे, जिस प्रकार सूर्य अकेला ही धूमता है उसी प्रकार मुनिराज भी अकेले ही धूमते थे — एकविहारी थे, जिस प्रकार सूर्यको सब वन्दना करते हैं उसी प्रकार मुनिराजको भी सब वन्दना

१ अज्ञान । २ बुद्धि । ३ कालयापना । ४ सुदेशकुलजात्यादिसामग्र्ये । ५ गच्छत । ६ आत्मन् स्व लं । ७ आत्महिते । ८ मार्गे । ९ वर्ण लं, पं । रति कुरु अं, सं । १० धान्यकमालवनात् निजनगरं प्राप्य । ११ विजयाद्वैचलात् मुवं प्राप्य । १२ श्रीगृहम् । १३ आदित्य । १४ हिरण्यवर्मणो जनन्या शशिप्रभया सह । १५ गुणवत्याधिकायाः समीपे । १६ रविपक्षे दिग्भ्रव अम्बर च विभूषयतीति । १७ गगनचारिणः । १८ सर्वकालोत्कृष्टवेष । १९ जगज्जुषु । २० रविरिव ।

सप्रभा चन्द्रलेखेव सह तत्र प्रभावती । गुणवत्त्वा समागते संगतिः स्यादृच्छया ॥२२२॥  
 गुणवत्त्वार्थिको दृष्ट्वा नत्वोक्ता प्रियदत्ता । कुतोऽसौ गणिनीत्याख्यत् स्वर्गतेति प्रभावती ॥२२३॥  
 तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता नौ सैवेति शुचमागता । कुतः प्रीतिस्तित्युक्ता साऽब्रवीत् प्रियदत्ता ॥२२४॥  
 न स्मरिष्यसि किं पारावतद्वन्द्वं भवद्गृहे । तत्राह रतिपेणेति तच्छ्रुत्वा विस्मिताऽवदत् ॥२२५॥  
 क्वासी रतिवरोऽथेति सोऽपि विद्याधराधिपः । हिरण्यवर्मा कर्मारियविरत्रेति साब्रवीत् ॥२२६॥  
 प्रियदत्ताऽपि तं गत्वा वन्दित्वैव महासुनिम् । प्रभावती परिप्रज्ञात् पश्युरत्याह वृत्तकम् ॥२२७॥  
 विजयाद्गंगिरेरस्य गान्धारनगरादिह । विहर्तुं रतिपेणोऽमा गान्धार्या प्रिययाऽगमत् ॥२२८॥  
 गान्धारी सर्पदष्टाऽहमिति तत्र मृषा स्थिता । मन्त्रौषधीः प्रयोज्यास्याः अष्टौ विद्याधरश्च सः ॥२२९॥

करते थे, जिस प्रकार सूर्यका नित्य उदय होता है उसी प्रकार मुनिराजके भी ज्ञान आदिका नित्य उदय होता रहता था, जिस प्रकार सूर्य बुध अर्थात् बुधग्रहका स्वामी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी बुध-अर्थात् विद्वानोके स्वामी थे, जिस प्रकार सूर्य विश्वदृश्व अर्थात् सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विश्वदृश्व अर्थात् सब पदार्थोंको जाननेवाले थे, जिस प्रकार सूर्य विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान रहता है अथवा विरोचन नामको धारण करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान थे अथवा खचिरहित उदासीन थे और जिस प्रकार सूर्य पुण्डरीकिणी अर्थात् कमलनीको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार मुनिराज भी पुण्डरीकिणी अर्थात् विदेह क्षेत्रकी एक विशेष नगरीको आनन्दित करते थे इस प्रकार सूर्यकी समानता रखनेवाले मुनिराज-हिरण्यवर्मा किसी समय पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारे ॥२२०-२२१॥ प्रभासहित चन्द्रमाकी कलाके समान आर्थिका-प्रभावती भी वहाँ आयी और गुणवती-गणिनीके साथ मिलकर रहने लगी सो ठीक ही है क्योंकि समागम अपनी इच्छानुसार ही होता है ॥२२२॥ गुणवती गणिनीको देखकर प्रियदत्ताने नमस्कार कर पूछा कि संधाधिकारिणी अमितमति कहाँ है ? तब उसने कहा कि 'वह तो स्वर्ग चली गयी है' यह सुनकर प्रभावती कुछ शोक करने लगी और कहने लगी कि 'हम दोनोंकी आँखें वही थी,' तब प्रियदत्ताने पूछा कि उनके साथ तुम्हारा प्रेम कैसे हुआ ? उत्तरमें प्रभावती कहने लगी कि आपको क्या स्मरण नहीं है आपके घरमें जो कबूतर-कबूतरीका जोड़ा रहता था उनमें-से मैं रतिपेणा नामकी कबूतरी हूँ, यह सुनकर प्रियदत्ता आश्चर्यसे चकित होकर कहने लगी कि 'वह रतिवर कबूतर आज कहाँ है तब प्रभावतीने कहा कि वह भी विद्याधरोका राजा हिरण्यवर्मा हुआ है और कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाला वह आज इसी पुण्डरीकिणी नगरीमें विराजमान है । प्रियदत्ताने भी जाकर महामुनि-हिरण्यवर्माकी वन्दना की और फिर प्रभावतीके पूछनेपर अपने पतिका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगी ॥२२३-२२७॥

एक रतिपेण नामका विद्याधर अपनी स्त्री गान्धारीके साथ-साथ इसी विजयाई पर्वतके गान्धार नगरसे विहार करनेके लिए यहाँ आया था ॥२२८॥ मुझे सर्पने काट खाय है इस प्रकार झूठ-झूठ बहाना कर गान्धारी यहाँ पड़ रही, सेठ कुबेरकान्त और विद्याधरने बहुत-सी औषधियोंका प्रयोग किया परन्तु गान्धारीने मायाचारीसे कह दिया कि 'अभी मुझे

१ पुण्डरीकिण्याम् । २ समागतवती संगतवती वा । ३ गुणवत्त्वादिका ट० । गुणवती शशिप्रभावत्यायिकाः । ४ क्वास्ते । ५ यशस्वती । ६ अनन्तमत्तिसहिताऽमितमत्यायिका । ७ गुणवती जगदा । ८ नाक प्राप्तेति । ९ नेत्रसदृशी । १० प्रियदत्ता । ११ पारावतद्वन्द्वे । १२ कर्मारियाति ल०, प० । १३ अस्मिन् पुरे तिष्ठतीति । १४ प्रभावती । १५ हिरण्यवर्ममुनिम् । १६ पुनरागत्य । १७ पुण्डरीकिण्याम् । १८ कुबेरकान्तः ।

मायया नास्मि शान्तेति तद्वाक्यान् खेदमागतौ<sup>१</sup> । आह तु स्वपतौ याते वच<sup>२</sup> शक्तिमर्दपथम्<sup>३</sup> ॥२३०॥  
 गान्धारी<sup>४</sup> वनधकीभावं सुपेत्य स्मरविक्रियाम् । दर्शयन्तो निरीक्ष्याह वणिग्वर्यौ दृढव्रतः ॥२३१॥  
 अहं<sup>५</sup> वर्षवरो वेत्सि न किं मामित्युपायविव् । व्यधाद् विरक्तचित्तां तां तदेव हि धियः फलम् ॥२३२॥  
 तदानीमागतं पत्नी स्वे स्वास्थ्यमहमागता । पूर्वोपघट्टयोगेत्युक्तत्वाऽगात् सपतिः पुत्रम् ॥२३३॥  
 दयितान्तकुबेराख्यो मित्रान्तश्च कुबेरवाक् । परः कुबेरदत्तश्च कुबेरशान्तदेववाक् ॥२३४॥  
 कुबेरमित्रिप्रियाश्चान्यः पञ्चैतं संचितश्रुताः । कलाकौशलमापन्नाः संपन्नवर्ग्यवनाः ॥२३५॥  
 एतैः स्वसुनुभिः सार्धमारुह्य शिपिकां वनम् । धृत्वा कुबे<sup>६</sup>रश्रीगर्भं मां विहर्तुं समागताम् ॥२३६॥  
 दृष्ट्वा कदाचिद् गान्धारी पृथक्<sup>७</sup> पृथक्ती पुमान् । स्वच्छेष्टी<sup>८</sup> नेति तत्सत्यमुत्<sup>९</sup> नेत्यन्ववादिशम् ॥२३७॥  
 तत्सत्यमेव<sup>१०</sup> मत्तोऽन्यां प्रत्यसौ न पुमानिति । तदाक्वण्यं विरज्यासौ<sup>११</sup> सपतिः संथमं श्रिता ॥२३८॥  
 पुनस्तत्रागता<sup>१२</sup> दृष्ट्वा कीक्ष्यं केन हेतुना । तत्रेति सा मया पृष्टा प्रप्रणम्य प्रियोक्तिभिः ॥२३९॥  
 श्रेष्ठेन वे तपोहेतुरिति प्रत्यवचीदसौ । निगूढं तद्वचः श्रेष्ठं श्रुत्वाऽऽगत्य पुरः स्थितः ॥२४०॥  
 मामर्जशीत्<sup>१३</sup> सखाऽसौ मे<sup>१४</sup> क्वाचेति परिपृष्टवान् । सोऽपि मत्कारणेनैव गृहीत्सेहागमत्तपः<sup>१५</sup> ॥२४१॥  
 इति तद्वचनाच्छ्रेष्टी नृपश्चाभ्येत्य तं सुमिम् । बन्दिवाधर्ममापृच्छथ काललक्ष्या महीपतिः<sup>१६</sup> ॥२४२॥

शान्ति नहीं हुई है, यह सुनकर उसके पति रतिपेणको बहुत दुःख हुआ । वह अधिक शक्ति-  
 वाली औषधि लानेके लिए वनमें चला गया, इधर उसके चले जानेपर गान्धारीने कुलटापन  
 धारण कर कामकी चेष्टाएँ दिखायी, यह देखकर उपायको जाननेवाले और अपने व्रतमें दृढ़ रहने-  
 वाले सेठ कुबेरकान्तने कहा कि अरे, मैं तो नपुंसक हूँ — क्या तुझे मालूम नहीं ? ऐसा कहकर  
 सेठने उसे अपनेसे विरक्तचित्त कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिका फल यही है ॥२२९-  
 २३२॥ इतनेमें ही उसका पति वापस आ गया, तब गान्धारीने कह दिया कि मैं पहले दी हुई  
 औषधिके प्रयोगसे ही स्वस्थ हो गयी हूँ ऐसा कहकर वह पतिके साथ नगरमें चली गयी ॥२३३॥  
 कुबेरदयित, कुबेरमित्र, कुबेरदत्त, कुबेरदेव और कुबेरप्रिय ये पाँच मेरे पुत्र थे । ये पाँचों ही  
 समस्त शास्त्रोंको जाननेवाले, कला-कौशलमें निपुण तथा नव यौवनसे सुगोभित थे । किसी एक  
 दिन जब कि कुबेरश्री कन्या मेरे गर्भमें थी तब मैं अपने पूर्वोक्त पुत्रोंके साथ पालकोमें बैठकर  
 वनमें विहार करनेके लिए गयी थी उसी समय गान्धारीने मुझे देखकर और अलग ले जाकर  
 मुझे पूछा कि 'आपके सेठ पुरुष नहीं है' क्या यह बात सच है अथवा झूठ ? तब मैंने उत्तर  
 दिया कि विलकुल सच है क्योंकि वे मेरे सिवाय अन्य स्त्रियोंके प्रति पुरुष नहीं हैं यह सुनकर  
 उसने विरक्त हो अपने पतिके साथ-साथ समय धारण कर लिया ॥२३४-२३८॥ किसी  
 एक दिन वह गान्धारी आर्थिका यहाँ फिर आयी तब मैंने दर्शन और प्रणाम कर प्रिय वचनों-द्वारा  
 पूछा कि 'आपने यह दीक्षा किस कारणसे ली है ?' उसने उत्तर दिया था कि 'मेरे तपस्वरण-  
 का कारण तेरा सेठ ही है, सेठ भी गुप्तरूपसे यह बात सुनकर सामने आकर खड़े हो गये  
 और पूछने लगे कि जिसने मुझे जीत लिया है ऐसा मेरा मित्र आज कहाँ है ?  
 तब गान्धारी आर्थिकाने कहा कि 'वे भी मेरे ही कारण तप धारण कर यहाँ पधारे हैं,  
 ॥२३९-२४१॥ यह सुनकर सेठ और राजा दोनों ही उन मुनिराजके समीप गये और दोनोंने

१ -मागतं ल० । ती द्वौ खेदमानौ अ०, स० । २ विजयाद्धवनम् । ३ विपापहरणसामर्थ्यवन्महोपचम् ।  
 ४ गान्धारी ल० । ५ कुलटापनम् । ६ दर्शयन्ती ल० । ७ वर्षवरो ल० । पण्ड । ८ पतिमहिता । ९ कुबेर-  
 देव । १० कुबेरप्रिय सबन्धि गर्भम् । ११ एकान्ते । १२ पुमान् न भवतीति । १३ कस्त्य वा । १४ मत् ।  
 १५ गान्धारी । १६ पुण्डरीकिण्याम् । १७ जितवती । १८ मम मित्रं रतिपेण । १९ कुत्र तिष्ठतीति ।  
 २० गतस्तपः ल०, अ०, प०, स० । २१ लोकपाल ।

गुणपालाय तद्ग्राज्यं दत्त्वा संयममादधे<sup>१</sup> । निकटे रतिषेणस्य विद्याधरमुनीक्षितुः<sup>१</sup> ॥२४३॥  
 पञ्चमं<sup>३</sup> स्वपदे सूनुं नियोज्यान्धैः<sup>३</sup> सहात्मजैः । ययौ श्रेष्ठौ<sup>३</sup> च तत्रैव दीक्षां मोक्षामिलापुकः ॥२४४॥  
 तथोक्त्वा कान्तवृत्तान्तं<sup>३</sup> सां<sup>३</sup> समुपब्रसंविदा<sup>३</sup> । विरज्य गृहसंवासात् कुबेरादिश्रियं सतीम्<sup>३</sup> ॥२४५॥  
<sup>१०</sup> गुणपालाय दत्त्वा स्वां सुतां गुणवतीं<sup>१०</sup> श्रिता । प्रभावत्युपदेशेन प्रियदत्ताऽप्यदीक्षत<sup>१२</sup> ॥२४६॥  
 मुनिं हिरण्यवर्माणं कदाचित् प्रेतभूतले<sup>३</sup> । दिनानि सप्त संगीयं<sup>३</sup> प्रतिमायोगधारिणम् ॥२४७॥  
 वन्दित्वा नागराः<sup>३</sup> सर्वे तत्पूर्वमवसकथा । कुर्वाणा पुरमागच्छन् विशुच्योरोऽप्युदीरितात्<sup>३</sup> ॥२४८॥  
 चेतक्याः प्रियदत्तायास्तन्मुनेः प्राक्तनं भवम् । जित्वा तद्गतक्रोधात्तदीप्यन्नभिभूतः<sup>३</sup> ॥२४९॥  
 मुनिपृथक्प्रदेशस्थां<sup>३</sup> प्रतिमायोगमास्थिताम्<sup>३</sup> । प्रभावती च संयोज्य चित्कार्यां<sup>३</sup> दुराशय ॥२५०॥  
 एकस्यामेव निष्पिण्याधार्क्षी<sup>३</sup> षड्जिपृक्षया<sup>३</sup> । सोढ्वा तदुपसर्गं तौ विशुद्धपरिणामतः ॥२५१॥  
 स्वर्गं समुपपद्येतां<sup>३</sup> क्षमया किं न जायते । सुवर्णवर्मां तज्ज्ञात्वा विशुच्योरस्य निग्रहम् ॥२५२॥  
 करिण्यामीति कोपेन पापिनः संगंरं व्यधात्<sup>३</sup> । विदित्राऽवधिवोधेन सतीं<sup>३</sup> स्वर्गनिवासिनौ ॥२५३॥  
 प्राप्य संयमरूपेण सुतां धर्मकथादिभिः । तत्त्वं श्रद्धाप्यं<sup>३</sup> तं कोपादपस्य कृपयाऽऽहितां<sup>३</sup> ॥२५४॥

ही वन्दना कर धर्मका स्वरूप पूछा । काललब्धिका निमित्त पाकर राजा लोकपालने अपने पुत्र गुणपालके लिए राज्य दिया और उन्हीं विद्याधर मुनि रतिषेणके निकट संयम धारण कर लिया ॥२४२-२४३॥ मोक्षके अभिलाषी सेठने भी अपने पाँचवे पुत्र - कुबेरप्रियको अपने पदपर नियुक्त कर अन्य सब पुत्रोंके साथ-साथ वही दीक्षा धारण की ॥२४४॥ इस प्रकार प्रियदत्ता अपने पतिका वृत्तान्त कहकर उत्पन्न हुए आत्मज्ञानके द्वारा गृहवाससे विरक्त हो गयी थी, उस सतीने अपनी कुबेरश्री पुत्री राजा गुणपालको दी और स्वयं गुणवती आर्थिकाके समीप जाकर प्रभावतीके उपदेशसे दीक्षा धारण कर ली ॥२४५-२४६॥ किसी समय मुनिराज हिरण्यवर्माने सात दिनका नियम लेकर इमशानभूमिमें प्रतिमा योग धारण किया, नगरके सब लोग उनकी वन्दना करनेके लिए गये थे । वन्दना कर उनके पूर्वभवकी कथाएँ कहते हुए जब सब लोग नगरको वापस लौट आये तब एक विशुच्योरने भी प्रियदत्ताकी चेटीसे उन मुनिराजका वृत्तान्त सुना, सुनकर उसे उनके प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी क्रोधके कारण उसे विभगावधि भी प्रकट हो गया, उस विभंगावधिसे उसने मुनिराजके पूर्वभवके सब समाचार जान लिये । यद्यपि मुनिराज प्रतिमायोग धारण कर अलग ही विराजमान थे और प्रभावती भी अलग विद्यमान थी तो भी उस दुष्टने पापसचय करनेकी इच्छासे उन दोनोंको मिलाकर और एक ही चितापर रखकर जला दिया वे दोनों विशुद्ध परिणामोसे उपसर्ग सहन कर स्वर्गमें उत्पन्न हुए सो ठीक ही है क्योंकि क्षमासे क्या-क्या नहीं होता ? जब सुवर्णवर्माको इस बातका पता चला तब उसने प्रतिज्ञा की कि मैं विशुच्योरका निग्रह अवश्य ही करूँगा - उसे अवश्य ही मारूँगा । यह प्रतिज्ञा स्वर्गमें रहनेवाले हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव देव-देवियोने अवधिज्ञानसे जान ली, शीघ्र ही संयमीका रूप बनाकर पुत्रके पास पहुँचे, दया

१ -माददो अ०, ल०, प०, स०, इ० । २ मुनीक्षितः ल० । ३ चरमपुत्रं कुबेरप्रियम् । ४ कुबेरदयितादिभि । ५ कुबेरकान्तः । ६ प्रियस्य वृत्तकम् । ७ प्रियदत्ता । ८ समुत्पन्नज्ञानेन । ९ सती ल० । १० लोकपालस्य सुताय । ११ गुणवत्यायिकायाम् । १२ दीक्षामग्रहीत् । १३ चैत्यभूतले ल० । चित्तायोगमहीतले । परेतभूमा-विरथ्य । १४ प्रतिज्ञा कृत्वा । १५ नगरजना । १६ वचनात् । उदीरिताम् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १७ विभङ्गतः ल०, अ०, स०, इ० । १८ नित्यमण्डितचैत्यालयस्य पुर प्रतिमायोगस्थितामित्यर्थः । प्रदेशस्थे ल० । १९ -मास्थितम् ल० । २० गवशब्दायाम् । २१ दहति स्म । २२ पापं गृहीतुमिच्छया । २३ कनकप्रभ-देवकनकप्रभदेवयो समुत्पन्नी । २४ हिरण्यवर्मण सुत । २५ प्रतिज्ञामकरोत् । २६ हिरण्यवर्मप्रभावतीवरदेव-देव्यो । २७ विश्वास नीत्या । २८ दयया स्वीकृती ।

दिव्यरूपं समादाय निगद्य निजवृत्तकम् । प्रदायाभरणं तस्मै पराद्वयं स्वपदं गतौ ॥२५५॥

कदाचिद् वत्सविषये सुसीमा नगरे मुनेः । शिवधोषस्य कैवल्यमुदपाद्यस्तघातिनः ॥२५६॥

शक्रप्रिये<sup>१</sup> शची मेनका च नत्वा जिनेश्वरम् । समाश्रित्य सुराधीशं स्थिते प्रदत्ता<sup>२</sup> सुरेशितुः ॥२५७॥

अत्रैव सप्तमेऽहिं प्राक्<sup>३</sup> समास्तश्रावकवते । नाम्ना पुष्पवती सान्त्त्या<sup>४</sup> प्रथमा पुष्पपालिता ॥२५८॥

कुसुमावचयासक्ते वने सर्पाग्निहेतुना<sup>५</sup> । मृते देव्यावजायेतामित्याहासौ स्म तीर्थकृत् ॥२५९॥

प्रभावतीचरी देवी श्रुत्वा देवश्च तत्पतिः । स्वपूर्वभवसंबन्धं तत्रागातौ समावनेः<sup>६</sup> ॥२६०॥

निजान्वजन्मसौख्यानुभूतदेशाग्निजेच्छया । आलोकयन्तौ तत्सर्पसरोवणसमीपगौ ॥२६१॥

सह सार्धेन<sup>७</sup> भीमाख्यं साधुं दृष्ट्वा समागतम् । विनयेनासिध्न्यैर्धर्मं तौ समप्रच्छताम् ॥२६२॥

मुनिस्तद्वचनं श्रुत्वा नाहं धर्मोपदेशने । सर्वागमार्थवित्कार्यैः समर्थो नवसंयतः ॥२६३॥

प्ररूपयिष्यते किञ्चित्<sup>८</sup> स युष्मदनुरोधतः । मया तथापि श्रोतव्यं यथाशक्त्यवधानवत्<sup>९</sup> ॥२६४॥

इति सम्यक्त्वसत्प्राप्तदानादि श्रावकाश्रयम् । यमादियसिंसंबन्धं धर्मं गतिचतुष्टयम् ॥२६५॥

तदेतुफलपर्यन्तं मुक्तिमुक्तिनिबन्धनम्<sup>१०</sup> । जीवादिद्रव्यतत्त्वं च यथावत् प्रत्यपाद्यत् ॥२६६॥

धारण करनेवाले उन देव-देवियों ने धर्मकथाओं आदिके द्वारा तत्त्वश्रद्धान कराकर उसका क्रोध दूर किया और अन्तमें अपना दिव्यरूप प्रकट कर अपना सब हाल कहा तथा उसे बहुमूल्य आभूषण देकर दोनों ही अपने स्थानपर चले गये ॥२४७-२५५॥ किसी एक दिन वत्स देशमें सुसीमानगरीके समीप घातिया कर्म नष्ट करनेवाले शिवधोष मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥२५६॥ उस उत्सवमें शची और मेनका नामकी देवानाएँ भी इन्द्रके साथ आयी और श्रीजिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर इन्द्रके पास ही बैठ गयी । इन्द्रने भगवान्से पूछा कि ये दोनों किस कारणसे देवियाँ हुई हैं ? तब तीर्थ कर देव कहने लगे कि दोनों हो पूर्वभवमें मालिनकी लड़कियाँ थी, पहलीका नाम पुष्पपालिता था और दूसरीका पुष्पवती । इन दोनोंने आजसे सातवे दिन पहले श्रावकवत् लिये थे । एक दिन ये वनमें फूल तोड़नेमें लगी हुई थी कि सर्परूपी अग्निके कारण मर गयी और मरकर देवियाँ हुई हैं ॥२५७-२५९॥ हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव जो देव-देवी हुए थे उन्होंने भी उस समय समवसरणमें अपने पूर्वभवके सम्बन्ध सुने और फिर दोनों ही सभाभूमिसे निकलकर इच्छानुसार पूर्वभव सम्बन्धी सुखानुभवनके स्थानोंको देखते हुए सर्पसरोवरके समीपवाले वनमें पहुँचे ॥२६०-२६१॥ उस वनमें अपने सबके साथ-साथ एक भीम नामके मुनि भी आये हुए थे, दोनोंने उन्हें देखकर विनयपूर्वक नमस्कार किया और धर्मका स्वरूप पूछा ॥२६२॥ उनके वचन सुनकर मुनि कहने लगे कि अभी नवदीक्षित हैं, धर्मका उपदेश देना तो समस्त शास्त्रोंका अर्थ जाननेवाले मुनियोंका कार्य है इसलिए यद्यपि मैं धर्मोपदेश देनेमें समर्थ नहीं हूँ तथापि तुम्हारे अनुरोधसे शक्तिके अनुसार कुछ कहता हूँ तुम लोगोको सावधान होकर सुनना चाहिए ॥२६३-२६४॥ यह कहकर उन्होंने सम्मदर्शन तथा सत्प्राप्तदान आदि श्रावक सम्बन्धी और यम आदि मुनि सम्बन्धी धर्मका निरूपण किया । चारो गतियाँ, उनके कारण और फल, स्वर्ग मोक्षके निदान एवं जीवादि द्रव्य और तत्त्व इन

१ दिव्य रूप ल०, प०, इ० । २ समुत्पन्नम् । ३ इन्द्रस्य वल्लभे । ४ इमे पूर्वजन्मनिके इति इन्द्रस्य प्रचन-  
वशात् तीर्थकृदाह । ५ आ सप्तदिनात् पूर्वमित्यर्थ । ६ पूर्वजन्मनि । ७ सम्यक्स्वीकृत । ८ सान्त्त्या ल० ।  
९ पुष्पकरण्डकनाम्नि वने पुष्पवाटीकुसुमावचयार्थमासक्ते इत्यर्थ । १० अहिंविषयानिकारणेन । ११ सम-  
सवरणात् । १२ नगिकृच्छिबरेण । १३ धर्मः । १४ क्रियाविशेषणम् । १५ संयम । १६ मुनितकारणम् ।



तच्चश्रुत्वा पुनरप्याभ्यां भवता केन हेतुना । प्रव्रज्येत्यनुयुक्तोऽसौ वक्तुं<sup>३</sup> प्रक्रान्तवान् मुनिः ॥२६७॥  
 विदेहे पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी । तत्राहं सीमनामाऽऽसं<sup>४</sup> स्वपापाद् दुर्गतं<sup>५</sup> कुले ॥२६८॥  
 अन्येद्युर्यतिमासाद्य किंचित्कालादिलब्धितः । श्रुत्वा धर्मं ततो लेभे गृहीमूलगुणाष्टकम् ॥२६९॥  
 तज्ज्ञात्वा मरिपता पुत्र किमेभिर्दुष्करैर्वृथा । दारिद्र्यकृद्मालिसदेहानां<sup>६</sup> निष्कलैरिह ॥२७०॥  
 व्रतान्येतानि दास्यामस्तस्मै स्वलोककाङ्क्षिणे । ऐहिकं फलमिच्छामो भवेद्येनेह जीविका ॥२७१॥  
 व्रतं दत्तवतः स्थानं तस्य मे दर्शयत्यसौ । मामवादीद् गृहीत्वैनमाव्रजव्रह्मन्तरं ॥२७२॥  
 वज्रकेतोर्महावीर्या देवतागृहकुवकुटम् । भास्वत्किरणसंशोष्यमाणधान्योपयोगिनम् ॥२७३॥  
 पुत्रो हतवतो दण्डं जिनदेवार्पितं धनम् । लोमादपह्नुवानस्य<sup>७</sup> धनदेवस्य दुर्मतेः ॥२७४॥  
 रसनोत्पादनं हारमनर्घ्यमणिनिर्मितम् । श्रेष्ठिनः प्राप्य चौर्येण गणिकायै समर्पणात् ॥२७५॥  
 रतिपिङ्गलसंज्ञस्य शूले तलवारपणम् । निशि मातुः क्लीयस्याः कामनिरुत्सविदः<sup>८</sup> ॥२७६॥  
 पुत्र्या गेहं गतस्याङ्गच्छेदं पुररक्षिणः<sup>९</sup> । क्षेत्रलोभाज्जिजे ज्येष्ठे मृते दण्डहते<sup>१०</sup> सति ॥२७७॥  
 लोलस्यान्वर्थसंज्ञस्य<sup>११</sup> विलाप<sup>१२</sup> देशनिर्गमे । द्यूते सागरदत्तेन प्रभूते निर्जिते धने ॥२७८॥

सबका भी यथार्थ प्रतिपादन किया ॥२६५-२६६॥ यह सुनकर उन देव-देवियोने फिर पूछा कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिराज कहने लगे ॥२६७॥

विदेहक्षेत्रके पुष्कलावती देशमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है वहाँपर मैं अपने पापोंके कारण एक अत्यन्त दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुआ था । मेरा नाम भीम है ॥२६८॥ किसी अन्य दिन थोड़ी-सी काललब्धि आदिके निमित्तसे मैं एक मुनिराजके पास पहुँचा और उनसे धर्मश्रवण कर मैंने गृहस्थोके आठ मूल गुण धारण किये ॥ २६९ ॥ जब हमारे पिताको इस बातका पता चला तब वे कहने लगे कि “दरिद्रतारूपी कीचड़से जिनका समस्त शरीर लिप्त हो रहा है ऐसे हम लोगोको इन व्यर्थके कठिन व्रतोसे क्या प्रयोजन है । इनका फल इस लोकमें तो मिलता नहीं है, इसलिए आजो, ये व्रत स्वर्गलोककी इच्छा करनेवाले उसी मुनिके लिए दे आवे । हम तो इस लोकसम्बन्धी फल चाहते हैं जिससे कि जीविका चल सके ॥२७०-२७१॥ व्रत देनेवाले गुरुका स्थान मुझे दिखा” ऐसा मेरे पिताने मुझसे कहा तब मैं उन्हें साथ लेकर चला । रास्तेमें मैंने देखा कि वज्रकेतु नामके एक पुरुषको दण्ड दिया जा रहा है । पितासे मैंने उसका कारण पूछा, तब कहने लगे कि यह सूर्यकी किरणोंमें अपना अनाज सुखा रहा था और किसी मन्दिरका मुर्गा उसे खा रहा था । इसने उसे इतना मारा कि बेचारा मर गया । इसलिए ही लोग इसे दण्ड दे रहे हैं । आगे चलकर देखा कि जिनदेवके द्वारा रखी हुई ब्रूहर्कको लोभसे छिपानेवाले दुर्वृद्धि धनदेवकी जीभ उखाड़ी जा रही है । कुछ आगे चलकर देखा कि एक सेठके घरसे बहुमूल्य मणियोंका हार चुराकर वेश्याको देनेके अपराधमें रतिपिङ्गलको कोतवाल शूलीपर चढ़ा रहा है, किसी जगह देखा कि कामवासनासे जिसका सब ज्ञान नष्ट हो गया है ऐसा एक कोतवाल रातमें अपनी माताकी छोटी बहनकी पुत्रीके घर गया था इसलिए राज्यकर्मचारी उसका अंग काट रहे हैं । दूसरी जगह देखा कि सार्थक नाम धारण करनेवाले एक लोल नामके किसानने खेतके लोभसे अपने बड़े लड़केको डण्डोसे मार-मारकर मार डाला है, इसलिए उसे देशनिकालेकी सजा

१ देवदेवीम्याम् । २ पृष्ठ । ३ प्रारभते स्म । ४ अभूवम् । ५ दरिद्रे कुले । ६ अस्माकम् । ७ पितरम् । ८ अदन्तम् । भक्षयन्तमित्यर्थः । ९ जिनदेवाख्येन दत्तम् । १० वञ्चयतः । ११ निरस्तज्ञानस्य । १२ तल-वरस्य । १३ लोलैः हते । १४ लोल इति नाम्ना । १५ परिदेवनम् ।

दातुं समुद्रदत्तस्य निश्चयत्वेरातपे क्रुधा । परिवर्द्धितदुर्गन्धधूमान्तर्वर्गिनिश्चिरम् ॥ २७१ ॥  
निरोधममयोद्धो<sup>१</sup> यणायामानन्ददेशनात्<sup>२</sup> । अङ्गकस्य नृपोरञ्जवातिनः<sup>३</sup> कलखण्डनम् ॥ २८० ॥  
आनन्दराजपुत्रस्य<sup>४</sup> तद्भुक्त्याऽवस्कराशनम्<sup>५</sup> । मद्यविक्रयणे<sup>६</sup> बालं कंचिदासरणेच्छया ॥ २८१ ॥  
हत्वा भूमौ विनिक्षिप्तवत्यास्तस्त्विधानकम् । प्रकाशितवती स्वात्मने<sup>७</sup> झण्डायाश्च निग्रहम् ॥ २८२ ॥  
पापान्तेतानि कर्माणि पश्यन् हिंसादिदोषतः । अन्नामुत्र च पापस्य परिपाकं दुरुत्तरम् ॥ २८३ ॥  
अवधार्यानभिप्रेतवत्तयागो<sup>८</sup> मवाद् भयात्<sup>९</sup> । भ्रेममोपमृषायोषाश्लेषहिंसादिदूषिताः ॥ २८४ ॥  
नात्रैव किन्त्वमुत्रापि तत्तद्विचित्रवचोचिता । अस्माकमपि दौर्गल्यं<sup>१०</sup> प्राक्तनात् पापकर्मणः ॥ २८५ ॥  
इदं तस्मात् समुच्चये<sup>११</sup> पुष्पं सचचेष्टितैः पुरु । इति सं मोचयित्वाऽग्रहीषं दीक्षां सुमुख्या<sup>१२</sup> ॥ २८६ ॥  
सद्यो मुख्यसाग्रेन सर्वशास्त्राविधिवारणः । विमुद्धमसिन्धेयुः समीपे सर्ववेदिनः<sup>१३</sup> ॥ २८७ ॥  
मद्दष्टपूर्वजन्मानि समश्रोयं<sup>१४</sup> यथाश्रुतम् । कथयिष्याम्यहं तानि कर्तुं वा<sup>१५</sup> कौतुकं महत् ॥ २८८ ॥  
इहैव पुष्कलावत्यां विपश्ये पुण्डरीकिणीम् । परिपालयति<sup>१६</sup> ग्रीत्या वसुपालमहीमुखि ॥ २८९ ॥  
विद्युद्देगाह्वयं<sup>१७</sup> चौरमवष्टभ्य<sup>१८</sup> करस्थितम् । धनं स्वीकृत्य शेषं च भवता दीयतामिति ॥ २९० ॥

वी जा रही है और वह विलाप कर रहा है । आगे जानेपर देखा कि सागरदत्तने ज्वामे समुद्र-  
दत्तका बहुत-सा धन जीत लिया था परन्तु समुद्रदत्त देनेमें असमर्थ था इसलिए उसने क्रोधसे उसे  
बहुत देर तक दुर्गन्धित घुआंके बीच धूपमें बैठाल रखा है, किसी जगह देखा कि आनन्द महा-  
राजके अभय घोषणा कराये जानेपर भी उनके पुत्र अंगकने राजाका मेढा मारकर खा लिया है  
इसलिए उसके हाथ काटकर उसे बिष्ठा खिलाया जा रहा है और अन्य स्थानपर देखा कि मद्य  
पीनेवाली स्त्रीने मद्य खरीदनेके लिए आभूषण लेनेकी इच्छासे किसी बालकको मारकर जमीनमें  
गाड़ दिया था, वह यह समाचार अपने पुत्रसे कह रही थी कि किसी राज कर्मचारीने उसे चुन  
लिया इसलिए उसे दण्ड दिया जा रहा है । हिंसा आदि दोषसे उत्पन्न हुए इन पाप कार्योंको  
देखकर मैने निश्चय किया कि पापका फल इस लोक तथा परलोक दोनों ही जगह बुरा होता  
है । मैने संसारके भयसे ब्रत छोड़ना उचित नहीं समझा । मै सोचने लगा कि हिंसा, झूठ, चोरी,  
परस्त्रीसेवन आदिसे दूषित हुए पुरुषोंको इसी जन्ममें अनेक प्रकारके बध-बन्धनका दुःख भोगना  
पड़ता हो सो बात नहीं किन्तु परलोकमें भी वही दुःख भोगने पड़ते हैं, हमारी यह दरिद्रता भी  
तो पहलेके पापकर्मसे मिली है, इसलिए सदाचारी पुरुषोंको इस पुण्यका अधिकसे अधिक संचय  
करना चाहिए यह सोचकर मैने अपने पिताको छोड़कर मोक्षकी इच्छासे दीक्षा धारण कर  
ली है ॥ २७२-२८६ ॥ गुरुके प्रसादसे मैं शीघ्र ही सब शास्त्ररूपी समुद्रका पारगामी हो गया  
और मेरी बुद्धि भी विगुद्ध हो गयी । किसी अन्य दिन मैने सर्वज्ञ देवके समीप दोषोंसे भरे हुए  
अपने पूर्वजन्म सुने थे सो उसीके अनुसार आप लोगोका बड़ा भारी कौतुक करनेके लिए उन्हें  
कहता हूँ ॥ २८७-२८८ ॥

इसी पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीको राजा वसुपाल बड़े प्रेमसे पालन करते  
थे ॥ २८९ ॥ किसी एक दिन कोतवाले विद्युद्देग नामका चौर पकड़ा, उसके हाथमें जो धन  
था उसे लेकर कहा कि बाकीका धन और दो, धन न देनेपर रक्षकोंने उसे दण्ड दिया तब उसने

१ घोषणाया सत्याम् । २ आनन्दाख्यनृपस्य निदेशनात् । ३ एलक (एडक) पातकस्य । ४ तद्भुक्त्या  
इत्यपि पाठ । ५ गृथभक्षणम् । ६ मद्यव्यवहारनिमित्तम् । ७ बालवातिन्या सुते । ८ मद्यपायिन्या ।  
९ अनिष्टो ब्रतत्यागो यस्य अननुभवव्रतत्याग इत्यर्थः । १० हिंसाचौरान्निवृत्तापाब्रह्मवधपरिग्रहः । रोपमोपमृषा-  
योपा हिंसादिश्लेषादि । ११ ल० । १२ दारिद्र्यम् । १३ मोक्षमिच्छया । १४ सर्वज्ञस्य । १५ शृणोमि स्म ।  
१६ युवयोः । १७ रक्षति सति । १८ बलात्कारेण गृहीत्वा ।

आरक्षिणो<sup>१</sup> निगुह्नीयुर्दत्तं विमतये<sup>२</sup> धनम् । इत्यब्रवीत् स<sup>३</sup> सोऽप्याह गृहीतं न मयेति तत्<sup>४</sup> ॥२९१॥  
 विमतेरेव तद्गेहे दण्डबोपायेन केनचित् । दण्डकारणिकैः<sup>५</sup> प्रोक्तं मृत्सना पात्रीत्रयोन्मिसम् ॥२९२॥  
 शङ्कतो<sup>६</sup> भक्षणं मल्लैस्त्रिदाम्मुष्टयभिताडनम् । सर्वस्वहरणं चैतत्त्रयं जीवितवाञ्छया ॥२९३॥  
 'स सर्वमनुभूयायात् प्राणान्ते नारकीं गतिम् । विद्युच्चोरस्त्वया हन्यतामित्यारक्षको नृपात् ॥२९४॥  
 लब्धादेशोऽप्यहं हन्मि<sup>७</sup> नैनं हिंसादिवर्जनम् । प्रतिज्ञातं मया साधोरित्याज्ञां नाकरोदसौ ॥२९५॥  
 गृहीतोत्कोचं<sup>८</sup> इत्येष<sup>९</sup> चोरारक्षकयोर्नृपः । शृङ्खलाबन्धनं कृत्वा कारयामास निर्घृणम्<sup>१०</sup> ॥२९६॥  
 त्वयाऽहं हेतुना केन हतो नेत्यनुयुक्तवान् । प्रतुष्टचारक्षकं चोरः सोऽप्येवं प्रत्यपादयत् ॥२९७॥  
 एतत्पुरमप्यैव राज्ञः पितरि रक्षति । गुणपाले महाश्रेष्ठी कुबेरप्रियसञ्जया ॥२९८॥  
 अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा नाट्यमालिका । आस्थायिकायां भावेन स्थायिना नृत्यद्वन्द्वसम् ॥२९९॥  
 तदाकौण्ड्य महोपालो बहुविस्मयमागमत् । गणिकोत्पलमालाख्यत् किमत्राश्चर्यमीश्वर ॥३००॥  
 श्रेष्ठितोऽस्य<sup>११</sup> मिथोऽन्येद्युः प्रतिमायोगधारिणः । सोपवासस्य पूज्यस्य गत्वा चालयितुं मनः ॥३०१॥  
 नाक्षकं<sup>१२</sup> तदिहाश्चर्यमित्याक्यद् भूशुजापि सा । गुणप्रिये वृणीष्वेति<sup>१३</sup> प्रोक्ता शीलभिरक्षणम् ॥३०२॥  
 अभीष्टं मम देहीति तद्वत् व्रतमग्रहीत् । अन्यदा तद्गृहं<sup>१४</sup> सर्वरक्षिताख्यः समागमत् ॥३०३॥

कहा कि मैंने बाकीका धन विमतिके लिए दे दिया है । जब विमतसे पूछा गया तब उसने कह दिया कि मैंने नहीं लिया है, इसके बाद कोतवालने वह धन किसी उपायसे विमतिके घर ही देख लिया, उसे दण्ड देना निश्चित हुआ, दण्ड देनेवालोंने कहा कि या तो मिट्टीकी तीन थाली भरकर बिष्ठा खाओ, या मल्लोंके तीस मुक्कोंकी चोट सहो या अपना सब धन दो । जीवित रहनेकी इच्छासे उसने पूर्वोक्त तीनों दण्ड सहै और अन्तमें मरकर नरक गतिको प्राप्त हुआ । राजाने एक चाण्डालको आज्ञा दी कि तू विद्युच्चोरको मार डाल, परन्तु आज्ञा पाकर भी उसने कहा कि मैं इसे नहीं मार सकता क्योंकि मैंने एक मुनिसे हिंसादि छोड़नेकी प्रतिज्ञा ले रखी है ऐसा कहकर उसने जब राजाकी आज्ञा नहीं मानी तब राजाने कहा कि इसने कुछ घूस खा ली है इसलिए उसने प्रोधित होकर चोर और चाण्डाल दोनोंकी निर्दयतापूर्वक सोंकलसे बँधवा दिया ॥ २९०-२९६ ॥ चोरने सन्तुष्ट होकर चाण्डालसे पूछा कि तूने किस कारणसे मुझे नहीं मारा तब चाण्डाल इस प्रकार कहने लगा कि ॥ २९७ ॥ पहले इस नगरकी रक्षा इसी राजाके पिता गुणपाल करते थे और उनके पास कुबेरप्रिय नामका एक बड़ा सेठ रहता था ॥ २९८ ॥ इसी नगरीमें नाट्यमालिका नामकी नाटकाचार्यकी एक पुत्री थी । एक दिन उसने राजसभामे रति आदि स्थायी भावोंद्वारा श्रृंगारादि रस प्रकट करते हुए नृत्य किया ॥ २९९ ॥ वह नृत्य देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ तब उत्पलमाला नामकी वेश्या बोली कि हे देव, इसमे क्या आश्चर्य है ? एक दिन अत्यन्त शान्त और पूज्य कुबेरप्रिय सेठने उपवासके दिन प्रतिमा योग धारण किया था, उस दिन मैं उनका मन विचलित करनेके लिए गयी थी परन्तु उसमें समर्थ नहीं हो सकी । इस संसारमें यही बड़े आश्चर्यकी बात है । यह सुनकर राजाने कहा कि "हे गुणप्रिये ! तुझे गुण बहुत प्यारे लगते हैं इसलिए जो इच्छा हो सो माँग ।" तब उसने कहा कि मुझे शीलव्रतकी रक्षा करना इष्ट है यही वर दीजिए । राजाने वह वर उसे

१ तलवराः । २ निग्रहं कुर्वुः । ३ विमतिनामधेयाय । ४ चोरः । विमतिरपि । ५ धनम् । ६ कारणज्ञैः 'पुरोहितादिधर्मकारिभिरित्यर्थः । ७ गृहस्य । 'उच्चारवस्करी शमलं शङ्कुत् । पुरीषं उत्कोचं गृहवर्त्कमस्त्री विष्ठाविशौ स्त्रियाम् ।' इत्यभिधानात् । ८ विमतिः । ९ न वधं करोमि । १० 'लञ्च उत्कोचं जामिषः,' इत्यभिधानात् । ११ तलवरः । १२ निष्कृतं यथा भवति तथा । १३ प्रतुष्टया ऋ०, सं०, 'इ०, प० । १४ आस्थाने । १५ श्रेष्ठिनः शमितोऽन्येद्युः ल०, अ०, प०, इ०, सं० । १६ न समर्थोऽभूवमहम् । १७ वाञ्छितं प्रार्थय । १८ उत्पलमालागृहम् ।



श्रेष्ठिनैव निकारोऽयं<sup>१</sup> ममाकारीत्यमस्त सः । पापिनामुपकारोऽपि<sup>२</sup> सुमुजङ्गमपयापते ॥३१६॥  
 अन्वेयुर्मैथुनो राज्ञः स्वेच्छया विहरन् वने । स्नेहरान्मुद्रिकामापत्<sup>३</sup> कामरूपविधायिनीम् ॥३१७॥  
 कराङ्गुली विनिक्षिप्य तां वसोः स्वकनीयसुः<sup>४</sup> । संकल्प्य श्रेष्ठिनो<sup>५</sup> रूपं सत्यवत्या निकेतनम् ॥३१८॥  
 प्रवेश्य ( प्रविश्य ) पापधी राजसमीपं स्वयमास्थितः<sup>६</sup> । वसुं गृहीतश्रेष्ठीस्वरूपं वीक्ष्य महीपतिः ॥३१९॥  
 श्रेष्ठि किमर्थमायातोऽकालं<sup>७</sup> इत्यवदत्तदा । अनात्मजोऽयमायातः पापी सत्यवतीं प्रति ॥३२०॥  
 मद्वनानलसंतप्त इति मैथुनिकोऽवधीत्<sup>८</sup> । तद्वाक्यादपरीक्ष्यैव तमेवाह प्रहृत्यताम् ॥३२१॥  
 श्रेष्ठो तवेति श्रेष्ठो च तस्मिन्नेव दिने निशि । स्वगृहे प्रतिमायोगधारको भावयन् स्थितः ॥३२२॥  
 पृथुवीस्तमघटस्थ<sup>९</sup> गृहीत्वा घोषयन् अने । अपराधमसन्तं<sup>१०</sup> च नीत्वा प्रेतमहीतलम् ॥३२३॥  
 आरक्षककरे हस्तमुपयामास पापमाक् । सोऽपि राजनिदेशोऽयमित्यहबहिना<sup>११</sup> दृढम् ॥३२४॥  
 तस्य वक्षःस्थले तत्र प्रहारो मणिहारताम् । प्राप शीलवतो मक्तस्याहंत्परमदैवते ॥३२५॥  
 दण्डनादपरीक्ष्यस्थ<sup>१२</sup> महोत्पातः पुरेऽजनि । अयः स येन सर्वेषां किं नादुष्टवधाद् भवेत् ॥३२६॥  
 नरेणो नागराश्चैतदालोक्य मयविह्वलाः । तमेव शरणं गन्तुं श्मशानाभिमुखं ययुः ॥३२७॥  
 तदोपसर्गनिर्णये विस्मयन्नाकवासिनः । शीलप्रभावं व्यावर्ण्य वणिगवर्गमपूजयन् ॥३२८॥

छुड़वा दिया ॥३१५॥ परन्तु मन्त्रीके पुत्रने समझा कि मेरा यह तिरस्कार सेठने ही कराया है, सो ठीक ही है क्योंकि पापी पुरुषोंका उपकार करना भी साँपको दूध पिलानेके समान है ॥३१६॥ किसी अन्य दिन वह राजाका साला अपनी इच्छासे वनमें घूम रहा था, उसे वहाँ एक विद्याधरसे इच्छानुसार रूप बना देनेवाली अँगूठी मिली ॥३१७॥ उसने वह अँगूठी अपने छोटे भाई वसुके हाथकी अँगूठीमें पहना दी एवं उसका सेठका रूप बनाकर उसे सत्यवतीके घर भेज दिया । और पाप बुद्धिको धारण करनेवाला पृथुधी स्वयं राजाके पास जाकर बैठ गया । सेठका रूप धारण करनेवाले वसुको देखकर राजाने कहा कि 'यह सेठ असमयमें यहाँ क्यों आया है ?' उसी समय पृथुधीने कहा कि 'अपने आपको, नहीं जाननेवाला यह पापी काम-रूपी अग्निसे सन्तप्त होकर सत्यवतीके पास आया है' इस प्रकार उसके कहनेसे राजाने परीक्षा किये बिना ही उसी पृथुधीको आज्ञा दी कि तुम सेठको मार दो । सेठ उस दिन अपने घरपर ही प्रतिमायोग धारण कर वस्तुस्वरूपका चिन्तन कर रहा था ॥३१८-३२२॥ पृथुधीने उसे वही कसकर बाँध लिया और जो अपराध उसने किया नहीं था लोगोंने उसकी घोषणा करता हुआ उसे श्मशानकी ओर ले गया ॥३२३॥ वहाँ जाकर उस पापीने मारनेके लिए चाण्डालके हाथसे सौप दिया । चाण्डालने भी यह राजाकी आज्ञा है ऐसा समझकर उसपर तलवारका मजबूत प्रहार किया ॥३२४॥ परन्तु क्या ही आश्चर्य था कि श्री अरहन्त परमदेवके भक्त और शीलव्रत पालन करनेवाले उस सेठके वक्षःस्थलपर वह तलवारका प्रहार मणियोंका हार बन गया ॥३२५॥ बिना परीक्षा किये उस सेठको दण्ड देनेसे नगरमें ऐसा बड़ा भारी उपद्रव हुआ कि जिससे सबका क्षय हो सकता था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोंके वधसे क्या नहीं होता है ? ॥३२६॥ राजा और नगरके सब लोग यह उपद्रव देखकर भयसे घबड़ाये और उसी सेठकी शरणमें जानेके लिए श्मशानकी ओर दौड़े ॥३२७॥ जब सब उसकी शरणमें पहुँचे तब कहीं वह उपद्रव दूर हुआ, स्वर्गमें रहनेवाले देवोंने बड़े आश्चर्य-

१ तिरस्कार वञ्चना च । २ क्रियते स्म । ३ -मुपकारोऽय अ०, स० । ४ -माप काम-इ०, अ०, स० ।

५ वसुनामधेयस्य । ६ निजानुजस्य । ७ कुबेरप्रियस्य- । ८ समीपमागत्य स्थितः । ९ अवैलायाम् । १० बला-  
 स्कारेण वद्ध्वा । ११ अविद्यमानम् असत्यं वा । १२ हिनस्ति स्म । १३ श्रेष्ठिनः ।

अप्रीक्षितकार्याणामस्माकं क्षन्तुमर्हसि । इति तेषु मय्यग्रैस्तमानतेषु नृपादिषु ॥३२६॥  
 अस्मद्विजितदुष्कर्मपरिपाकादभूद्विदग्धः । विषादस्तत्र कर्तव्यो न भवदभिरिति ध्रुवम् ॥३२७॥  
 नैनस्य निरस्यैषां श्रेष्ठी प्रष्टुं क्षमावताम् । सर्वैः पुरस्कृतः पूज्यो विभूत्या प्राविशत् पुरम् ॥३२८॥  
 एवं प्रयाति कालेऽस्य वारिषेणां सुतां नृपः । वसुपालाय पुत्राय स्वस्यादत्त विभूतिम् ॥३२९॥  
 अथान्येषुः सभामप्ये पृष्टवान् श्रेष्ठिनां नृपः । विरुद्धं किं न वाऽन्योन्यं धर्मादीनि चतुष्टयम् ॥३३०॥  
 परस्पराणुकूलास्ते सम्यग्दृष्टिषु साधुषु । न मिथ्यादृष्टिर्वि प्राह श्रेष्ठी धर्मादितत्त्ववित् ॥३३१॥  
 इति तद्वचनाद् राजा तुष्टोऽमीष्टं त्वयोच्चताम् । दास्यामीत्याह सोऽप्याख्यज्जातिमृत्युक्षयाविति ॥३३२॥  
 न मया तद्द्वयं साध्यमिति प्रत्याह भूपतिः । मां मुञ्च साधवामीति तमवोचद्गृहिण्वरः ॥३३३॥  
 तदाकर्ण्य गृहत्यागमह च सह ॥३३४॥ करोमि किन्तु मे पुत्रा बालका इति चिन्तयन् ॥३३५॥  
 सद्योभिन्नाण्डकोद्भूतात् मक्षिकादानतत्परात् । छुधापीडाहतात् वीक्ष्य सहसा गृहकोकिलान् ॥३३६॥  
 सर्वेऽपि जीवनोपायं जन्तवो जानतेतराम् । स्वेषां विनोपदेशेन ॥३३७॥ तर्हि मे वलचिन्तया ॥३३८॥  
 इत्यसौ वसुपालाय दत्त्वा राज्यं यथाविधि । विधाय यौवराज्यं च श्रीपालस्य सपट्टकम् ॥३३९॥

से शीलव्रतके प्रभावका वर्णन कर उस सेठकी पूजा की ॥३२८॥ जिनके मन भयसे उद्विग्न हो रहे हैं ऐसे राजा आदिने सेठसे कहा कि हम लोगोने परीक्षा किये बिना ही कार्य किया है अत आप हम सबको क्षमा कर दीजिए, ऐसा कहनेपर क्षमा धारण करनेवालोमे श्रेष्ठ सेठने कहा कि यह सब हमारे पूर्वोपाजित अशुभ कर्मके उदयसे ही हुआ है । निश्चयसे इस विषयमे आपको कुछ भी विषाद नहीं करना चाहिए ऐसा कहकर उसने सबका वैमनस्य दूर कर दिया । तदनन्तर सब लोगोके द्वारा आगे किये हुए पूज्य सेठ—कुबेरप्रियने बड़ी विभूतिके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥३२९—३३१॥ इस प्रकार समय व्यतीत होनेपर वैभवशाली राजाने वारिषेणा नामकी इसी सेठकी पुत्री अपने पुत्र वसुपालके लिए ग्रहण की ॥३३२॥ किसी अन्य दिन राजाने सभाके बीच सेठसे पूछा कि ये धर्म आदि चारो पुरुषार्थ परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध हैं अथवा नहीं ? ॥३३३॥ तब धर्म आदिके तत्त्वको जाननेवाले सेठने कहा कि सम्यग्दृष्टि सज्जनोके लिए तो ये चारो ही पुरुषार्थ परस्पर अनुकूल हैं परन्तु मिथ्यादृष्टियोके लिए अनुकूल नहीं हैं ॥३३४॥ सेठके इन वचनोसे राजा बहुत ही सन्तुष्ट हुआ, उसने सेठसे कहा कि 'जो तुम्हे इष्ट हो माँग लो मैं दूँगा' तब सेठने कहा कि मैं जन्म-मरणका क्षय चाहता हूँ ॥३३५॥ इसके उत्तरमे राजाने कहा कि ये दोनों तो मेरे साध्य नहीं हैं तब वैश्यवर सेठने कहा कि अच्छा मुझे छोड़ दीजिए मैं स्वयं उन दोनोको सिद्ध कर लूँगा ॥३३६॥ यह सुनकर राजाने कहा कि तेरे साथ मैं भी घर छोड़ता परन्तु मेरे पुत्र अभी बालक हैं — छोटे-छोटे हैं इस प्रकार राजा विचार कर ही रहा था कि ॥३३७॥ अचानक उसकी दृष्टि छिपकलीके उन वच्चोपर पड़ी जो उसी समय विदीर्ण हुए अण्डेसे निकले थे, भूखकी पीड़ासे छटपटा रहे थे और इसलिए ही मक्खियाँ पकड़नेमे तत्पर थे, उन्हें देखकर राजा सोचने लगा कि अपनी-अपनी आजीविकाके उपाय तो सभी जीव बिना किसीके उपदेशके अपने-आप अच्छी तरह जानते हैं इसलिए मुझे अपने छोटे-छोटे पुत्रोकी चिन्ता करनेसे क्या लाभ है ? यही विचार कर गुणपाल महाराजने वसुपालके लिए विधिपूर्वक राज्य दिया और श्रीपालको पट्ट सहित युवराज बनाया । तदनन्तर

१ व्रत-प०, ल० । २ मुख्य । ३ पुरीम् ल० । ४ विभूतिमान् प०, ल०, इ० । ५ धर्मायकामनेक्षा । ६ ते धर्मादयः । ७ सज्जनेषु । ८ मिथ्यादृष्टिषु । ९ धर्मायकाममोक्षस्त्वपेक्षी । १० जननमरपविनानो ममेष्टाविति । ११ त्वया सह । १२ तत्त्वणं स्फुटितकोमजातान् । १३ तत् कान्पात् ।

गुणपालमहाराजः सकुवेरप्रियोऽग्रहीत् । बहुभिर्भूमुजैः सार्धं तपो यतिवरं श्रितः ॥३४१॥  
 श्रेष्ठयहिंसाफलालोकान्मयाऽप्यग्राहि तद्व्रतम् । तस्मात्त्वं न हतोऽसीति<sup>३</sup> ततस्तुष्टाव<sup>४</sup> सोऽपि तन्<sup>५</sup> ॥  
 इत्युक्त्वा<sup>६</sup> सोऽग्रवीदेव<sup>७</sup> प्राक् मृणालवतीपुरे । भूत्वा त्वं<sup>१०</sup> भवदेवाभ्यो रतिवेगासुकान्तयोः ॥३४३॥  
 वद्वैरो<sup>११</sup> विहन्ताऽभूः पारावतमवेऽप्यनु<sup>१२</sup> । मार्जारः सन्मृतिं<sup>१३</sup> गत्वा पुनः<sup>१४</sup> खचरजन्मनि ॥३४४॥  
 विद्युच्चोरश्चसासाध सोपसर्गा मृतिं व्यधाः । तत्पापाक्षरके द्रुःखमनुभूयागतस्ततः ॥३४५॥  
 अत्रेत्याखिलवेद्युक्तं<sup>१५</sup> व्यक्तवाग् विसरः स्फुटम् । व्यधात् सुधीः स्ववृत्तान्तं भीमसाधुः सुधाशिनी ।  
 त्रिः पाक् त्वन्मारीतावावामिति<sup>१६</sup> बुद्धिप्रयान्वितौ<sup>१७</sup> । जातसद्वर्त्मसद्भावावभिवन्ध मुनिं<sup>१८</sup> गतौ ॥३४७॥  
 इति व्याहृत्य<sup>१९</sup> हेमाहगदानुजेदं<sup>२०</sup> च साऽग्रवीत् । भीमसाधुः पुरे पुण्डरीकिण्यां धातिधातनात् ॥३४८॥  
 रम्ये शिवंकरोधाने पञ्चमज्ञानपूजितः । तस्थिर्वास्त<sup>२२</sup> समागत्य चतस्रो देवयोषितः ॥३४९॥  
 वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य पापादस्मत्पतिमृतः । श्लोकेश वदास्माकं पतिः कोऽभ्यो सविप्यति ॥३५०॥  
 इत्यष्टच्छक्तौ<sup>२३</sup> चाह पुरोऽस्मिन्नेव<sup>२४</sup> भोजकः<sup>२५</sup> । सुरदेवाह्वयस्तस्य वसुपेणा वसुन्धरा ॥३५१॥

सेठ कुवेरप्रिय तथा अन्य अनेक राजाओके साथ-साथ मुनिराजके समीप जाकर तप धारण किया ॥३३८-३४१॥ वह चाण्डाल कहने लगा कि सेठके अहिंसा व्रतका फल देखकर मैंने भी अहिंसा व्रत ले लिया था यही कारण है कि मैंने तुम्हें नहीं मारा है । यह सुनकर उस विद्युच्चर चोरने भी उसकी बहुत प्रशंसा की ॥३४२॥

इतना कहकर वे भीम मुनि सामने बैठे हुए देव-देवियोसे फिर कहने लगे कि सर्वज्ञ-देवने मुझसे स्पष्ट अक्षरोमें कहा है कि 'तू पहले मृणालवती नगरीमें भवदेव नामका वैश्य हुआ था वहाँ तूने रतिवेगा और सुकान्तसे वैर बाँधकर उन्हे मारा था, मरकर वे दोनों कबूतर-कबू-तरी हुए सो वहाँ भी तूने बिलाव होकर उन दोनोंको मारा था, वे मरकर विद्याधर-विद्याधरी हुए ये सो उन्हे भी तूने विद्युच्चोर होकर उपसर्ग-द्वारा मारा था, उस पापसे तू नरक गया था' और वहाँके द्रुःख भोगकर वहाँसे निकलकर यह भीम हुआ हूँ । इस प्रकार उन बुद्धिमान् भीम मुनिने सामने बैठे हुए देव-देवियोके लिए अपना सब वृत्तान्त कहा ॥३४३-३४६॥ जिन्हे आपने पहले तीन बार मारा है वे दोनों हम ही हैं ऐसा कहकर जिनके मन, वचन, काय — तीनों शुद्ध हो गये हैं और जिन्हे सद्वर्त्मकी सद्भावना उत्पन्न हुई है — ऐसे वे दोनों देव-देवी उन भीममुनिकी वन्दना कर अपने स्थानपर चले गये ॥३४७॥

यह कहकर हेमांगदकी छोटी बहन सुलोचना फिर कहने लगी कि एक समय पुण्डरी-किणी नगरीके शिवंकर नामके सुन्दर उद्यानमें धातिया कर्म नष्ट करनेसे जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे भीममुनिराज विराजमान थे, सभी लोग उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय वहाँपर चार देवियोने आकर उनकी वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना और पूछा कि हे तीन लोकके स्वामी, हम लोगोके पापसे हमारा पति मर गया है । कहिए — अब दूसरा पति कौन

१ तस्मात् कारणात् । २ एवं तलवरोऽवादीत् । ३ तलवरवचनानन्तरम् । ४ स्तोति स्म । ५ विद्युच्चोर । ६ अहिंसाव्रतम् । तस्मात् त्वं न हतोऽसीति श्लोकस्य सोऽप्येवं प्रत्यपादयदित्यनेन सह संबन्धः । ७ उक्त-प्रकारेण प्रतिपाद्य । ८ मुनिः पुनरप्यात्मन सर्वज्ञेन प्रतिपादितनिजवृत्तकं सुरदम्पत्योराह । ८ वक्ष्यमाण-प्रकारेण । ९ पूर्वजन्मनि । १० हे भीममुने, भवान् । ११ धातुकः । १२ कपोतभवेऽपि मार्जारः सन् तयोनिहन्ताऽभूति संबन्धः । १३ कृत्वा ल०, ख०, प०, स०, इ० । १४ तद्वर्त्मत्योर्विद्याधरभवे । १५ रजन्मनि प०, इ० । १६ सर्वज्ञप्रोक्तम् । १६ हिरण्यवर्मप्रभावतीचरौ । १७ मनोवाक्कायशुद्धियुतौ । १८ भीममुनिम् । १९ उक्तत्वा । २० सुलोचना । २१ भीमः साधुः प०, इ०, ल० । २२ आस्ते स्म । २३ भीमकेवली । २४ पुण्डरीकिण्याम् । २५ पालकः ।

धारिणी पृथिवी चेति चतस्रो योषितः प्रियाः । श्रीमती वीतशोकाख्या विमला सचसन्निहा ॥३५२॥  
 चतस्रश्चेष्टिकास्तासामन्येषुस्ता वनान्तरे । सर्वा यतिवराभ्यांशो धर्म दानादिनाऽऽद्भु<sup>१</sup> ॥३५३॥  
 तत्फलेनाच्युते कश्ये प्रतीन्द्रस्य प्रियाः क्रमात् । रतिपेणा सुसीमाख्या सुख्याख्या च सुखावती ॥३५४॥  
 सुभगेति च देव्यस्ता यूयं ताश्चेष्टिकाः पुनः । चित्रपेणा क्रमाच्चित्रवेगा धनवती मती ॥३५५॥  
 धनश्रीरित्यजायन्त वनदेवेषु<sup>२</sup> कन्यकाः । सुरदेवेऽप्यग्न्युन्मृत्वा पिङ्गलः पुररक्षकः ॥३५६॥  
 स तत्र निजदोषेण प्रापश्चिगलवन्धनम् । मातुस्तत्सुरदेवस्य प्राप्ता या राजसुनुताम् ॥३५७॥  
 श्रीपालाशयुक्कुमारस्य ग्रहणे<sup>३</sup> वन्धमोक्षणे । सर्वेषां पिङ्गलाख्याऽपि सुवतः सन्यस्य संप्रति ॥३५८॥  
 भूत्वा बुधविमानेऽसौ<sup>४</sup> इहागत्य भविष्यति । स्वामी युष्माकमित्येतत्तत्त्वतो हरणं तदा ॥३५९॥  
 परमार्थं कृतं तेन<sup>५</sup> तर्थागत्य<sup>६</sup> सुनेधं च । पृष्ट्वा<sup>७</sup> कन्य<sup>८</sup> काश्चैनमात्मनो<sup>९</sup> भाविनं पतिम् ॥३६०॥  
 पूर्वोक्तपिङ्गलाख्यस्य सुनुनाम्नाऽतिपिङ्गलः । सोऽपि सन्यस्य युष्माकं<sup>१०</sup> रतिदायी भविष्यति ॥३६१॥  
 इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य गत्वा<sup>११</sup> तत्पूजनाधिषो<sup>१२</sup> । स्वसां निरोक्षणात्<sup>१३</sup> कामसमोहप्रकृतं महत् ॥३६२॥  
 रतिकूलाभिधानस्य<sup>१४</sup> संविधानं<sup>१५</sup> मुने<sup>१६</sup> श्रुतम्<sup>१७</sup> । तत्पितुर्मणिनायादिदत्तस्य प्रकृतं<sup>१८</sup> तथा ॥३६३॥

होगा ? तब सर्वज्ञ — भीम मुनिराज कहने लगे कि इसी नगरमें सुरदेव नामका एक राजा था उसकी वसुपेणा, वसुन्धरा, धारिणी और पृथिवी ये चार रानियाँ थी तथा श्रीमती, वीतशोका, विमला और वसन्तिका ये चार उन रानियोंकी दासियाँ थीं । किसी एक दिन उन सबने वनमें जाकर किन्ही मुनिराजके समीप दान आदिके द्वारा धर्म करना स्वीकार किया था । उस धर्मके फलसे वे अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्रकी देवियाँ हुई हैं । क्रमसे उनके नाम इस प्रकार हैं — रतिपेणा, सुसीमा, सुखावती और सुभगा । वह देवियाँ तुम्ही सब हो, तथा तुम्हारी दासियाँ चित्रपेणा, चित्रवेगा, धनवती और धनश्री नामकी व्यन्तर देवोकी कन्याएँ हुई हैं । राजा सुरदेव मरकर पिङ्गल नामका कोतवाल हुआ है और वह अपने ही दोषसे कारागारकी प्राप्त हुआ था, नुरदेवकी माता राजाकी पुत्री हुई है और श्रीपालकुमारके साथ उसका विवाह हुआ है । विवाहोत्सवके समय सब कैदी छोड़े गये थे उनमें पिङ्गल भी छूट गया था, अब संन्यास लेकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न होगा और वही तुम सबका पति होगा ! इधर मुनिराज ऐसे मनोहर वचन कह रहे थे कि उधर पिङ्गल संन्यास धारण कर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहाँसे आकर उसने मुनिराजके वचन सत्य कर दिखाये । इतनेमें ही चारो व्यन्तर कन्याएँ आकर नर्वनदेवसे अपने होनहार पतिको पूछने लगी ॥ ३४८-३६० ॥ मुनिराज कहने लगे कि पूर्वोक्त पिङ्गल नामक कोतवालके एक अतिपिङ्गल नामका पुत्र है वही संन्यास धारण कर तुम्हारा पति होगा ॥३६१॥ भीम केवलीके ये वचन सुनकर चारो ही देवियाँ जाकर अतिपिङ्गलकी पूजा करने लगी, उसे देखनेसे उन देवियोंको कामका अधिक विकार हुआ था ॥३६२॥ उन देवियोंने रतिकूल नामके मुनिका चरित्र सुना, उनके पिता मणिनागदत्तका चरित्र सुना, गुप्तेनुषा

१ स्त्रीकुर्वन्ति स्म । २ व्यन्तरदेवेषु । ३ तलवर । ४ विवाहसमये । ५ च्युतविमानेऽसौ ६०, ५०, ५० । ६ बुधविमानेऽसौ ६०, ५०, ५० । ७ पृष्ट्वा । ८ कन्य । ९ काश्चैनमात्मनो । १० युष्माकं । ११ गत्वा । १२ तत्पूजनाधिषो । १३ स्वसां निरोक्षणात् । १४ रतिकूलाभिधानस्य । १५ संविधानं । १६ मुने । १७ श्रुतम् । १८ तत्प्रोक्तमाकर्ण्य गत्वा । १९ तत्पूजनाधिषो । २० युष्माकं । २१ गत्वा । २२ रतिकूल नामके मुनिका चरित्र सुना, गुप्तेनुषा । २३ तत्पूजनाधिषो । २४ अतिपिङ्गलस्य समीप प्राप्य । २५ अतिपिङ्गलस्य परिचर्यायिणी । २६ तत्पूजनाधिषो । २७ श्रुतम् । २८ तत्प्रोक्तमाकर्ण्य गत्वा । २९ तत्पूजनाधिषो । ३० युष्माकं । ३१ गत्वा । ३२ तत्पूजनाधिषो । ३३ स्वसां निरोक्षणात् । ३४ रतिकूलाभिधानस्य । ३५ संविधानं । ३६ मुने । ३७ श्रुतम् । ३८ तत्प्रोक्तमाकर्ण्य गत्वा ।



‘सुकेतोदचाखिले तस्मिन्सत्यभूते’ मुनीश्वरम् । ताः सर्वाः परितोषेण गताः समभिवन्द्य तम् ॥३६४॥  
आवामपि<sup>३</sup> तदा वन्दनाय तत्र गताविदम् । श्रुत्वा दृष्ट्वा गतौ प्रीतिपरीतहृदयौ दिवम् ॥३६५॥

### शार्दूलविक्रीडितम्

इत्यात्मीयभवावलीमनुगतैर्मान्यैर्मनोरञ्जनैः

स्पष्टैरस्त्रलिप्तैः<sup>४</sup> कलैरविरलैरन्याकुलैर्जल्पितैः<sup>५</sup> ।

आत्मोपात्तशुभाशुभोदयवशोद्भूतोच्चनीचस्थितिं<sup>६</sup>

संसर्पदृशनांशुभूषितसभासम्भानं<sup>७</sup> सावभ्यघातं<sup>८</sup> ॥३६६॥

श्रुत्वा तां हृदयप्रियोक्तिमनुषक्तान्तो<sup>९</sup> रतान्ते यथा

संसच्च<sup>१०</sup> व्यकसत्तरां शरदि वा लक्ष्मीः सरःसंश्रया ।

कान्तानां<sup>११</sup> वदनेन्दुकान्तिरगलत्तद्वाग्दिनेशोद्गते-<sup>१२</sup>

रस्थाने कृतमत्सरोऽसुखकरस्त्या<sup>१३</sup> ज्यस्ततोऽसौ<sup>१४</sup> बुधैः ॥३६७॥

कान्तोऽभूद् रतिषेणया वणिगसौ पूर्वं सुकान्तस्ततः

संजालो रतिषेणया रतिवरो गेहे कपोतो विशाम्<sup>१५</sup> ।

चरित्र सुना और सबके सत्य सिद्ध होनेपर बड़े सन्तोषके साथ मुनिराजकी वन्दना कर अपने-अपने स्थानोंकी ओर प्रस्थान किया ॥३६३-३६४॥ उस समय हम दोनों भी मुनिराजकी वन्दना करनेके लिए वहाँ गये और यह सब देख-सुनकर प्रसन्नचित्त होते हुए स्वर्ग चले गये थे ॥३६५॥

इस प्रकार अपने द्वारा उपार्जन किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंके उदयवश जिसे ऊँची-नीची अवस्था प्राप्त हुई और जिसने अपने दाँतोंकी फैलती हुई किरणोंसे समस्त सभाको सुशोभित कर दिया है ऐसी सुलोचनाने सब सभासदोंको क्रमबद्ध मान्य, मनोहर, स्पष्ट, अस्त्रलिप्त, मधुर, अविरल और आकुलतारहित वचनों-द्वारा अपने पूर्वभवकी परम्परा कह सुनायी ॥३६६॥

हृदयको प्रिय लगनेवाले सुलोचनाके वचन सुनकर जयकुमार उस प्रकार सन्तुष्ट हुए जिस प्रकार कि सम्मोगके बादमे सन्तुष्ट होते । वह सभा उस तरह विकसित हो उठी जिस तरह कि शरदश्रुतुमें सरोवरकी शोभा विकसित हो उठती है । और सुलोचनाके वचनरूपी सूर्यके उदय होनेसे अन्य स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमाओंकी कान्ति नष्ट हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि अयोग्य स्थानपर की हुई ईर्ष्या दुःखी करनेवाली होती है इसलिए विद्वानोंकी ऐसी ईर्ष्या अवश्य ही छोड़ देनी चाहिए ॥३६७॥ सुलोचनाने जयकुमारसे कहा कि मैं पहले रतिवेगा थी और आप मेरे ही साथ मेरे पति सुकान्त वैश्य हुए, फिर मैं सेठके घर रतिषेणा कबूतरी हुई और आप मेरे ही साथ रतिविर नामक कबूतर हुए, फिर मैं प्रभावती विद्याधरी हुई और आप मेरे ही साथ हिरण्यवर्मा विद्याधर हुए उसके बाद मैं स्वर्गमें महादेवी हुई और आप मेरे ही साथ अतिशय

१ मृणालवतीपुरपदे. सुकेतोदरपि चेष्टित मुने सकाशाच्चयुतमिति सबन्ध । एतत् कथावयं ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यम् ।

२ सत्यभूते ल०, प०, इ०, स० । ३ प्रभावतीचरीहिरण्यवर्मचरसुरदम्पती । ४ सुन्दरं । ५ सम्पूर्णः ।

६ स्थिति ल० । ७ सुलोचना । ८ उवाच । ९ जयः । १० सभा च । ११ जयस्य श्रीमतीशिवशङ्करादियोषिताम् ।

१२ सुलोचनावचनादित्योदये सति । १३ दुःखकर । १४ मत्सरः । १५ वैश्यानाम् ।

वत्यन्तप्रमयाऽभवत्त्वगपति<sup>१</sup>र्वर्मा हिरण्यादिवाक्<sup>३</sup>

देवः कल्पगतो भवा<sup>२</sup> सह महादेव्याऽजनीदयो भवान्<sup>४</sup> ॥३६८॥

मालिनी

सकलमधिकलं तत्सप्रपञ्चं रमण्या

मुखकमलरसावत्<sup>५</sup> श्रोत्रपात्रे विधाय ।

सदुदितमपरंच श्रोतुकामो जयोऽभू-

ञ रसिकदयितोवसैः कामुकास्तृप्नुवन्ति ॥३६९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे जयमुलोचना-  
भवान्तरवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४६॥

■

पूज्य देव हुए ॥३६८॥ इस प्रकार जयकुमार प्रियाके मुखरूपी कमलके रससे भोगे हुए मनोहर,  
पूर्ण और विस्तारयुक्त वचनोंको अपने कर्णरूपी पात्रमे रखकर उसके द्वारा कहे हुए अन्य  
वृत्तान्तको सुननेकी इच्छा करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुष स्त्रियोंके रसोले वचनोमे  
कभी तृप्त नहीं होते हैं ॥३६९॥

इस प्रकार आर्पनामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण  
महापुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमे जयकुमार और मुलोचनाके  
भवान्तर वर्णन करनेवाला छियालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

■

१ प्रभावत्या सहेत्यर्थ । २ विद्याधरपति । ३ हिरण्यवर्मा । ४ मुलोचनाया मह । ५ जय । ६ रस-संग्रहम् ।  
७ रसनप्रियदयितावचनै ।

## सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व

कान्ते तत्रान्यदप्यस्ति प्रस्तुतं स्मर्यते त्वया । श्रीपालचक्रिसंवन्धमित्यप्राक्षीत् स तां पुनः ॥१॥  
 वाढं स्मरामि सौभाग्यभागिनस्तस्य वृत्तकम् । तवैवाद्योचितं वेति सा प्रवक्तुं प्रचक्रमे ॥२॥  
 जम्बूद्वीपे विदेहेऽस्मिन् पूर्वस्मिन्पुण्डरीकिणी । नगरी नगरीवासौ वासवस्यातिविश्रुता ॥३॥  
 श्रीपालवसुपालाख्यौ सूर्याचन्द्रमसौ च तौ । जित्वा महौ सहैवावतः स्मेव नयविक्रमौ ॥४॥  
 जननी वसुपालस्य कुबेरश्रीर्दिनेऽन्यदा । वनपाले समागत्य केवलावगमोऽभवत् ॥५॥  
 गुणपालमुनीशोऽस्मत्पतेः सुरगिराविति । निवेदितवति क्रान्त्वा पुरः सप्तपदान्तरम् ॥६॥  
 प्रणम्य वनपालाय दत्त्वाऽसौ पारितोषिकम् । पौराः सपर्यया सर्वेऽप्याययुरिति घोषणाम् ॥७॥  
 विधाय प्राक् स्वयं प्राप्य भगवन्तमवन्दत । श्रीपालवसुपालौ च ततोऽनु समुदौ गतौ ॥८॥  
 प्रमदाख्यं वनं प्राप्य सद्गुप्तैरभ्यमन्तरे । प्रागजगत्पालचक्रतो यस्मिन्म्यग्रोधे पादपे ॥९॥  
 देवताप्रतिमालक्ष्ये स्थित्वा जग्राह संयमम् । तस्यावस्तत् समीक्ष्येक्ष्यं प्रवृत्तां नृत्तमादरात् १०  
 तयोः कुमारः श्रीपालः पुरुषो नर्तयत्ययम् । अस्तु स्त्रीवेषधारिणी चेत्पुरुषधारिणी ॥११॥  
 स्यादेव स्त्री प्रनृत्यन्ती नृत्तं युक्तमिदं भवेत् । इत्याह तद्वचः श्रुत्वा नदी मूर्च्छासुपागता ॥१२॥

यह सुनकर जयकुमारने सुलोचनासे फिर पूछा कि हे प्रिये, इस कहीं हुई कथासे श्रीपाल चक्रवर्तीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और भी है, वह तुझे याद है या नहीं ? सुलोचनाने कहा हाँ, सौभाग्यशाली श्रीपाल चक्रवर्तीकी कथा तो मुझे ऐसी याद है मानो मैंने आज ही देखी हो, यह कहकर वह उसकी कथा कहने लगी ॥१-२॥ इस जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि इन्द्रकी नगरी-अमरावतीके समान अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥३॥ सूर्य और चन्द्रमा अथवा नय और पराक्रमके समान श्रीपाल और वसुपाल नामके दो भाई समस्त पृथिवीको जीतकर साथ ही साथ उसका पालन करते थे ॥४॥ किसी एक दिन मालीने आकर वसुपालकी माता कुबेरश्रीसे कहा कि सुरगिरि नामक पर्वतपर आपके स्वामी गुणपाल मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर उसने सामने सात पैड चलकर नमस्कार किया, मालीको पारितोषिक दिया और नगरमें घोषणा करायी कि सब लोग पूजाकी सामग्री साथ लेकर भगवान्‌के दर्शन करनेके लिए चले, उसने स्वयं सबसे पहले जाकर भगवान्‌की वन्दना की । माताके पीछे ही श्रीपाल और वसुपाल भी बड़ी प्रसन्नतासे चले ॥५-८॥ मार्गमें वे एक उत्तम वनमें पहुँचे जो कि अच्छे-अच्छे वृक्षोंसे सुन्दर था और जिसमें देवताकी प्रतिमासे युक्त किसी वट वृक्षके नीचे खड़े होकर महाराज जगपाल चक्रवर्तीने संयम धारण किया था । उसी वृक्षके नीचे एक दर्शनीय नृत्य हो रहा था, उसे दोनों भाई बड़े आदरसे देखने लगे ॥९-१०॥ देखते-देखते कुमार श्रीपालने कहा कि यह स्त्रीका वेष धारण कर पुरुष नाच रहा है और पुरुषका रूप धारण कर स्त्री नाच रही है । यदि यह स्त्री स्त्रीके ही वेषमें नृत्य करती तो बहुत ही अच्छा नृत्य होता । श्रीपालकी यह बात सुनकर नदी मूर्च्छित

१ तत्रैवा-अ०, स० । यथैवा-ल०, प०, इ० । २ प्रत्यक्षं दृष्टमिव । ३ चित्ती ट० । संयोजितौ । ४ अवारक्ष-  
 ताम् । ५ मुनीशस्य । ६ सुरगिरिनाम्नि पर्वते । ७ कुबेरश्रीः । ८ पूजया । ९ आगच्छेयुः । १० शुभवृक्षैः ।  
 ११ वट । 'न्यग्रोधो बहुपाद् वटः' इत्यभिधानात् । १२ वटस्य । १३ आलोच्य । १४ दर्शनीयम् । १५ वसु-  
 पालश्रीपालयोः । १६ चेत् ।

उपायैः प्रतियोग्यैर्नां तदा प्रश्रयपूर्वकम् । इति विज्ञापयामास कानिचं भाविचक्रिणम् ॥१३॥  
 सूर्ययधिपये श्रीपुराधिपः श्रीधराङ्गयः । तद्वेदी श्रीमती तस्याः सुता जयवतीत्यमृत ॥१४॥  
 तज्जातौ<sup>१</sup> चक्रिणो देवी भाविनीत्यादिशन्दिदः<sup>२</sup> । अभिज्ञानं च तस्यैतत् वटनटयोर्विवेचितं<sup>३</sup> यः ॥१५॥  
 भेदं स चक्रवर्ती तत्परीक्षितुमागताः । पुण्वाद् दृष्टस्त्वभम्भामिनिधिवत्सो यदृच्छया ॥१६॥  
 अहं प्रियरतिनामा<sup>४</sup> सुतेय नर्तकी मम । ज्ञेया मदनवेगाख्या पुण्याकारधारिणी ॥१७॥  
 नटोऽयं वासवो नाम ख्यातः स्त्रीवेषधारकः । तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तुष्टा तां संतर्प्य यथोचितम् ॥१८॥  
 गुहं वन्दितुमालीयं गच्छन् सुरगिरिं ततः<sup>५</sup> । अथ केनचिदानीतमाख्यासक्तचेतसा ॥१९॥  
 अथावयदर्थो<sup>६</sup> किञ्चिदन्तरं धरणीतले । गत्वा गगनमास्त्रं व्यक्तीकृतसगाकृतिः<sup>७</sup> ॥२०॥  
 न्यग्रोधपादपाथ स्थप्रतिमावासिना मृशम् । द्वेवेन तर्जितो भीत्वाऽग्निवेगोऽमुच्यत खय ॥२१॥  
 कुमारं<sup>८</sup> पणलघात्यधियाया स्वनिबुक्तया । रत्नावर्तगिरेरुर्मि स्थित तं सन्ति भाविनः ॥२२॥  
 बहवोऽप्यस्य लम्भा इत्यग्रहीत्वा निवृत्तवात् । देवः सरसि कास्मिन्निवृत्तानादिविनिना श्रमम् ॥२३॥  
 मार्गं स्थितमुद्गृह्य तमेकस्माद् सुधागृहाद् । आगत्य राजपुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा यथोचितम् ॥२४॥  
 दृष्ट्वा<sup>९</sup> षड्राजकन्यास्ताः स्मृत्तान्तं न्यवेदयन् । षडग्रीत्रकुलनामादि निर्दिश्य सचरंशिता ॥२५॥  
 बलाद्यानिवेगेन बयमस्मिन्निवेमिताः । इति तथोक्तमाकर्ण्य कुमारस्यानुकम्पिनः ॥२६॥

हो गयी ॥११-१२॥ उसी समय अनेक उपायोसे नटीको सचेत कर कोई स्त्री उस होनहार चक्रवर्ती श्रीपालसे विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगी ॥१३॥ कि सुरम्प वेणके श्रीपुर नगरके राजाका नाम श्रीधर है उसकी रानीका नाम श्रीमती है और उसके जयवती नामकी पुत्री है ॥१४॥ उसके जन्मके समय ही निमित्तज्ञानियोने कहा था कि यह चक्रवर्तीकी पट्टराणी होगी और उस चक्रवर्तीको पहचान यही है कि जो नट और नटीके भेदको जानता हो वही चक्रवर्ती है, हम लोग उसीकी परीक्षा करनेके लिए आये हैं, पुण्योदयसे हम लोगोंने निधिके समान इच्छा-नुसार आपके दर्शन किये हैं ॥१५-१६॥ मेरा नाम प्रियरति है, यह पुष्पका आकार धारण कर नृत्य करनेवाली मदनवेगा नामकी मेरी पुत्री है और स्त्रीका वेष धारण करनेवाला यह वासव नामका नट है । यह सुनकर राजाने सन्तुष्ट होकर उस स्त्रीको योग्यतानुसार सन्तोषित किया और स्वयं अपने पिताकी बन्दना करनेके लिए सुरगिरि नामक पर्वतकी ओर चला, मार्ग-मे कोई पुष्प बोड़ा लाया उसपर आसक्तचित्त हो श्रीपालने सवारी की और दौड़ाया । कुछ दूर तक तो वह घोडा पृथिवीपर दौड़ाया परन्तु फिर अपना विद्यावरका आकार प्रकट कर उसे आकशमे ले उड़ा । उस वट वृक्षके नीचे स्थित प्रतिमाके समीप रहनेवाले देवने उस विद्याधरको ललकारा, देवकी ललकारसे डरे हुए अशनिवेग नामके विद्याधरने अपनी भेजो हुई पणलघु विद्यासे उस कुमार श्रीपालको रत्नावर्त नामके पर्वतके गिखरपर छोड़ दिया । देवने देखा कि उस पर्वतपर रहकर ही उसे बहुत लाभ होनेवाला है इसलिए वह कुमारको साथ लिये बिना ही लौट गया । कुमार भी किसी तालाबमें स्नान आदि कर मार्गमे उत्पन्न हुए परिश्रमको दूर कर बैठे ही थे कि इतनेमे एक सफेद महलसे छह राजकन्याएँ निकलकर आयीं और कुमारको 'यह- राजाका पुत्र है' ऐसा समझकर यथायोग्य रीतिसे दर्शन कर अपना समा-चार निवेदन करने लगी । उन्होंने अपने गोत्र-कुल और नाम आदि वतलाकर कहा कि 'अशनि-वेग नामके विद्याधरने हम लोगोको यहाँ जबरदस्ती लाकर पटक दिया है' कन्याओंकी यह बात

१ जयवती जननसमये । २ विद्यास । ३ परिचायकं चिह्नम् । ४ विद्येण ज्ञानाति ।  
 ५ मान्ना ल०, अ०, प०, स०, इ० । ६ वनात् ( प्रयववनात् ) । ७ गमरति म्म । ८ मायाश्रवः ।  
 ९ विद्याधराकारः ।

निजागमनवृत्तान्तकथनावसरे परा । विद्युद्वेगाभिधा विद्याधरी तत्र समागता ॥२७॥  
पापिनाऽशनिवेगेन हन्तुमेन<sup>१</sup> प्रयोजिता । समीक्ष्य भद्रनाक्रान्ताऽभूच्चित्राश्चिच्चवृत्तयः ॥२८॥  
सूनुः स्तनितवेगस्य राज्ञो राजपुरेशितुः<sup>२</sup> । खगेशोऽशनिवेगाख्यो<sup>३</sup> ज्योतिर्वेगाख्यमातृकः ॥२९॥  
त्वमत्र तेन सौहार्दादानीतः स ममाग्रजः । विद्युद्वेगाह्वयाऽहं च प्रेषिता ते स मैथुनः ॥३०॥  
रत्नावर्तगिरिं याहि स्थितस्तत्रेति सादरम् । भवत्समीपं प्राप्तैवमिति रक्तविचेष्टितम् ॥३१॥  
दर्शयन्ती समीपस्थं यावत् सौधगृहान्तरम् । इत्युक्त्वाऽनभिलाषं च ज्ञात्वा तस्य महात्मनः ॥३२॥  
तत्रैव विद्यया सौधगेहं निर्माप्य निस्त्रपा । स्थिता तद्वाजकन्याभिः सह का कामिनां त्रपा ॥३३॥  
एस्यानङ्गपताकाऽस्या<sup>४</sup> स्तं सखीस्थमवोचत् । त्वत्पितुर्गुणपालस्य सन्निधाने जिनेशितुः<sup>५</sup> ॥३४॥  
ज्योतिर्वेगागुरुं प्रीत्या कुबेरश्रीः समादिशत् । निजजामातरं<sup>६</sup> कापि श्रीपालस्वामिनं मम ॥३५॥  
स्वयं स्तनितवेगोऽसौ सुतमन्वेषयेदिति । प्रतिपन्नः स तत्त्वोक्तं मन्वन्तं मैथुनस्तव ॥३६॥  
आनीतवानिहैत्येतद्वज्रश्रव्यात्मनो द्विषम् । पतिं मत्त्वोत्तरश्रेणेशाश्चक्यानलवेगकम् ॥३७॥  
स्वयं तदा समालोच्य निवार्य स्वचराधिपम्<sup>७</sup> । उदीर्यान्वेषणोपायं त्वत्स्नेहाहितचेतसः ॥३८॥  
आनीतयां प्रयत्नेन कुमार इति बान्धवाः । आवां प्रियसकाशं ते प्राह्युस्त<sup>८</sup> दिहागते ॥३९॥

सुनकर कुमारको उनपरें दया आयी और वह भी अपने आनेका वृत्तान्त कहनेके लिए उद्यत हुआ । वह जिस समय अपने आनेका समाचार कह रहा था उसी समय विद्युद्वेगा नामकी एक दूसरी विद्याधरी वहाँ आयी ॥ पापी अशनिवेगने कुमारको मारनेके लिए इसे भेजा था परन्तु वह कुमारको देखकर कामसे पीड़ित हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि चित्तकी कृत्ति विचित्र होती है ॥१७-२८॥ वह कहने लगी कि अशनिवेग नामका विद्याधर राजपुरके स्वामी राजा स्तनितवेगका पुत्र है, उसकी माताका नाम ज्योतिर्वेगा है ॥२९॥ वह अशनिवेग मित्रताके कारण आपको यहाँ लाया है, वह मेरा बड़ा भाई है, मेरा नाम विद्युद्वेगा है और उसीने मुझे आपके पास भेजा है, अब वह आपका साला होता है ॥३०॥ उसने मुझसे कहा था कि तू रत्नावर्त पर्वतपर जा, वे वहाँ विराजमान हैं इसलिए ही मैं आदर सहित आपके पास आयी हूँ ऐसा कहकर उसने रागपूर्ण चेष्टाएँ दिखलायी और कहा कि यह समीप ही चूनेका बना हुआ पक्का मकान है परन्तु इतना कहनेपर भी जब उसने उन महात्माकी इच्छा नहीं देखी तब वहीपर विद्याके द्वारा मकान बना लिया और निर्लज्ज होकर उन्हीं राजकन्याओंके साथ बैठ गयी सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुषोंको लज्जा कहाँसे हो सकती है ? ॥३१-३३॥ इतनेमें विद्युद्वेगाकी सखी अनङ्गपताका आकर कुमारसे इस प्रकार कहने लगी कि 'आपकी माता कुबेरश्री आपके पिता श्रीगुणपाल जिनेन्द्रके समीप गयी हुई थी वहाँ उसने बड़े प्रेमसे ज्योतिर्वेगाके पितासे कहा कि मेरा पुत्र श्रीपाल कही गया है उसे ले आओ । ज्योतिर्वेगाके पिताने अपने जामाता स्तनितवेगसे कहा कि मेरे स्वामी श्रीपाल कही गये हैं उन्हें ले आओ । स्तनितवेगने स्वयं अपने पुत्र अशनिवेगको भेजा, पिताके कहनेसे ही अशनिवेग आपको यहाँ लाया है, वह आपका साला है । उत्तरश्रेणीका राजा अनलवेग इनका शत्रु है उसकी आशंका कर तुम्हारे स्नेहसे जिनका चित्त भर रहा है ऐसे सब भाई-बन्धुओंने स्वयं विचारकर आपके खोजनेका उपाय बतलाया और कहा कि कुमारको बड़े प्रयत्नसे यहाँ लाया जाय । वे सब विद्याधरोंके अधिपति अनलवेगको रोकनेके लिए गये हैं और हम दोनोंको आपके पास भेजा है । यहाँ आनेपर यह विद्युद्वेगा

१ श्रीपालम् । २ पुरेशिन अ०, प०, स०, ल० । ३ ज्योतिर्वेगाख्या भाता यस्यासीत् । ४ विद्युद्वेगाया । ५ श्रीपालम् । ६ जिनेशिन' ल०, प०, । ७ अशनिवेगस्य मातुर्ज्योतिर्वेगाया' पितरम् कुबेरश्रीः समादिशदिति सबन्ध । ८ स्तनितवेगजामातरम् । ९ ज्योतिर्वेगापिता । १० अशनिवेगम् । ११ तत्कारणात् ।

विद्युद्देगाऽवलोक्य त्वामनुरक्ताऽभवत्त्वया । न त्याज्येति तदाकर्ण्य<sup>१</sup> स विचिन्त्योचितं वचः ॥४०॥  
 मयोपनयनेऽग्राहि<sup>२</sup> व्रतं गुरुभिरर्पितम् । मुक्त्वा गुरुजनानीनां स्वीकरोमि न चापराम् ॥४१॥  
 हृत्पद्मोत्ततस्ताश्च शृङ्गाररसचेष्टितैः । नानाविधै रक्षयितुं प्रवृत्ता नाशकंस्तदा ॥४२॥  
 विद्युद्देगा ततोऽगच्छत् स्वमातृपितृसंनिधौ । पिपाथ द्वारमारोप्य सौधाग्रं प्राणवल्लभम् ॥४३॥  
 तावानेतुं कुमारोऽपि सुसवान् रक्तकम्बलम् । प्रावृत्त्य तं समालोक्य मेरुण्ड<sup>३</sup> पिशितोच्चयम्<sup>४</sup> ॥४४॥  
 मत्वा नीत्वा द्विजः<sup>५</sup> सिद्धकूटाग्रे खानितुं स्थितः । चलन्तं वीक्ष्य<sup>६</sup> सोऽत्याक्षीत् स<sup>७</sup> तेषां जातिजो गुणः ४५  
<sup>८</sup> ततोऽवतीर्य श्रीपालः स्नात्वा सरसि भक्तिमात् । सुपुण्याणि सुगन्धीनि समादाय जिनालयम् ॥४६॥  
 परीत्य स्तोतुमारंभे विष्टुचं<sup>९</sup> द्वास्तदा<sup>१०</sup> स्वयम् । तज्जिरीक्ष्य प्रसन्नस्सन्नभ्यर्च्य जिनपुगवान् ॥४७॥  
 अभिवन्द्य यथाकामं विधिवत्तत्र सुस्थितः । तमभ्येत्य खगं<sup>११</sup> कश्चित् समुद्रतः नमःपथे ॥४८॥  
 गच्छन्मनोरमे राष्ट्रे शिवंकरपुरेशिनः । नृपस्थानिर्वर्गस्य कान्ता कान्तवतीत्यभूत् ॥४९॥  
 तयोः सुतां भोगवतीमाकाशस्फटिकालये । शृदुशय्यातले सुसां का कुमारीयमित्यसौ<sup>१२</sup> ॥५०॥  
 अपृच्छत्<sup>१३</sup> सोऽप्रवीक्षेया भुजंगी विषमेति च । तदुक्तेः<sup>१४</sup> स क्रुधा कृत्वा कन्यापितृसमीपगम्<sup>१५</sup> ॥५१॥

आपको देखकर आपमें अत्यन्त अनुरक्त हो गयी है अतः आपको यह छोड़नी नहीं चाहिए । कुमारने ये सब बातें सुनकर और अच्छी तरह विचारकर उचित उत्तर दिया कि मैंने यज्ञोपवीत सस्कारके समय गुरुजनोके द्वारा दिया हुआ एक व्रत ग्रहण किया था और वह यह है कि मैं माता-पिता आदि गुरुजनोके द्वारा दी हुई कन्याको छोड़कर और किसी कन्याको स्वीकार नहीं करूँगा । जब कुमारने यह उत्तर दिया तब वे सब कन्याएँ अनेक प्रकारकी शृङ्गाररसकी प्रेमाश्रुतियोंसे कुमारको अनुरक्त करनेके लिए तैयार हुई परन्तु जब उसे अनुरक्त नहीं कर सकी तब विद्युद्देगा प्राणपति श्रीपालको मकानकी छतपर छोड़कर और बाहरसे दरवाजा बन्द कर माता-पिताको बुलानेके लिए उनके पास गयी । इधर कुमार श्रीपाल भी लाल कम्बल ओढ़कर सो गये, इतनेमें एक मेरुण्ड पक्षीकी दृष्टि उनपर पड़ी, वह उन्हें मासका पिण्ड समझकर उठा ले गया और सिद्धकूट-चैत्यालयके अग्रभागपर रखकर खानेके लिए तैयार हुआ परन्तु कुमारको हिलता-डुलता देखकर उसने उन्हें छोड़ दिया सो ठीक ही है क्योंकि यह उन पक्षियोंका जन्मजात गुण है ॥३४-४५॥ तदनन्तर श्रीपालने सिद्धकूटके शिखरसे नीचे उतरकर सरोवरमें स्नान किया और अच्छे-अच्छे सुगन्धित फूल लेकर भक्तिपूर्वक श्री जिनालयकी प्रदक्षिणा दी और स्तुति करना प्रारम्भ किया, उसी समय चैत्यालयका द्वार अपने-आप खुल गया, यह देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और विधिपूर्वक इच्छानुसार श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा-बन्दना कर सुखसे वहीपर बैठ गया । इतनेमें ही एक विद्याधर सामने आया और कुमारको उठाकर आकाश-मार्गमें ले चला, चलते-चलते वे मनोरम देशके शिवकरपुर नगरमें पहुँचे, वहाँके राजाका नाम अनिलवेग था, और उसकी स्त्रीका नाम था कान्तवती, उन दोनोंके भोगवती नामकी पुत्री थी, वह भोगवती आकाशमें वने हुए स्फटिकके सहलमें क्रोमल शय्यापर सो रही थी उस देखकर उस विद्याधरने श्रीपालकुमारसे पूछा कि यह कुमारी कौन है ? कुमारने उत्तर दिया कि

१ सविचि-८०, ५०, अ० । २ स्वीकृत । ३ कन्यकाञ्चनोजनकानुमतेन क्षताम् । ४ तरदत्ताम् । ५ यवना न वभूवुः । ६ रत्नावर्तगिरेः । ७ निजमातापितरो । ८ प्रच्छाद्य । ९ पक्षिविज्ञेय । १० मानपिण्डम् । ११ मेरुण्ड । १२ भूमौ च । १३ सजीवस्य त्याग । १४ पक्षिणाम् । १५ सिद्धकूटाग्रात् । १६ उद्घाटितम् । १७ द्वारम् । १८ विद्याधरः । १९ श्रीपाल । २० श्रीपालवचनात् । २१ भोगवतीजनकस्य ममीपस्यं कृत्वा तेन अनिलवेगेन सह विद्याधरो वदति । किमिति ? अस्मत्कन्यका भोगवतीमेव खलु श्रीपाल विषमभुजंगीनि यन्नवीदिति ।

तमस्मत्कन्यकामेष भुजंगीति खलोऽब्रवीत्<sup>१</sup> । इत्यवोचततः<sup>२</sup> क्रुद्ध्वा दुष्टो<sup>३</sup> निक्षिप्यतामयम्<sup>४</sup> ॥५२॥  
 दुर्द्धरोस्तपोभारधारिभ्यो घने वने । इत्यभ्यधातृपस्तस्य वचनानुगमादसौ<sup>५</sup> ॥५३॥  
 विजयाद्गौतरश्रेणिमनोहरपुरान्तिके । स्मशाने शीतवैतालविद्यया तं शुभाकृतिम्<sup>६</sup> ॥५४॥  
 कृत्वा व्यत्यक्षिपत् पापी जरतीरूपवारिणम् । तन्नास्पृश्यकुले जाता काऽपि जामातरं स्वयम्<sup>७</sup> ॥५५॥  
 स्वं प्रामसृगरूपेण स्वसुताचरणद्वये । समन्तालुडितं कृत्वा तां प्रसार्य<sup>८</sup> शृंशं ततः<sup>९</sup> ॥५६॥  
<sup>१०</sup> तं पुरातनरूपेण समवस्थापयत् खला । तद्विलोक्य कुमारोऽसौ खगाः स्वामिमताकृतिम्<sup>११</sup> ॥५७॥  
<sup>१२</sup> विनिवर्तयितुं शक्ता इत्याह्वय विचिन्तयन् । यमाग्रयायिसंकाशकाशप्रसवहासिभिः<sup>१३</sup> ॥५८॥  
 विरोरुहैर्गाम्भोधितरङ्गामतनुत्वचा<sup>१४</sup> । समेतमात्मनो रूपं दृष्ट्वा दुष्टविभावितम्<sup>१५</sup> ॥५९॥  
 लज्जाशोकाभिभूतः सन् मद्धु गच्छैस्ततः परम्<sup>१६</sup> । तत्र<sup>१७</sup> भोगवती<sup>१८</sup> आतुर्हरिकेतोः सुसिद्धया<sup>१९</sup> ॥६०॥  
 विद्यया शबरूपेण सद्यः प्रार्थितया करे । कुमारस्य<sup>२०</sup> समुद्रम्य<sup>२१</sup> निर्वाण्तमविचारयन्<sup>२२</sup> ॥६१॥  
 उद्धत्येदं विशाङ्कस्त्वं पिबेत्युक्तं प्रपीतवान्<sup>२३</sup> । तं दृष्ट्वा हरिकेतुस्त्वां सर्वव्याधिनिनाशिनी<sup>२४</sup> ॥६२॥  
 विद्याश्रितेति संप्रीतः प्रयुज्य वचनं गतः । ततः स्वरूपमापन्नः<sup>२५</sup> कुमारो वटमूरुहः<sup>२६</sup> ॥६३॥  
 गच्छन् स्थितमधोभागे दृष्ट्वा कंचिन्नभश्चरम् । प्रदेष्टाः कोऽयमित्वेतदपृच्छत्<sup>२७</sup> सोऽब्रवीदिदम्<sup>२८</sup> ॥६४॥

यह विषम सर्पिणी है । श्रीपालके ऐसा कहनेपर वह विद्याधर क्रुद्ध होकर उन्हें उस कन्याके पिताके पास ले गया और कहने लगा कि यह दुष्ट हम लोगोकी कन्याको सर्पिणी कह रहा है । यह सुनकर कन्याके पिताने भी क्रुद्ध होकर कहा कि 'इस दुष्टको कठिन तपका भार धारण करनेके योग्य किसी सघन वनमे छुडवा दो ।' राजाके अनुसार उस पापी विद्याधरने शीत-वैताली विद्याके द्वारा सुन्दर आकारवाले श्रीपालकुमारको वृद्धका रूप धारण करनेवाला बनाकर विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणिके मनोहर नगरके समीपवाले श्मशानमे पटक दिया । वहाँ अस्पृश्य कुलमे उत्पन्न हुई किसी स्त्रीने अपने जमाईको कुत्ता बनाकर अपनी पुत्रीके दोनो चरणोपर खूब लोटाया और इस तरह अपनी पुत्रीको अत्यन्त प्रसन्न कर फिर उस दुष्टा चाण्डालिनीने उसका पुराना रूप कर दिया । यह देखकर कुमार कुछ भयभीत हो चिन्ता करने लगा कि ये विद्याधर लोग इच्छानुसार रूप बनानेमे समर्थ है । उस समय वह मानो यमराजके सामने जानेवालेके समान ही था - अत्यन्त वृद्ध था, उसके बाल काशके फूले हुए फूलोकी हँसी कर रहे थे, और शरीरमे बूढ़ापाखूपी समुद्रकी तरंगोंके समान सिकुडनं उठ रही थी । इस प्रकार दुष्ट विद्याधरके द्वारा किया हुआ अपना रूप देखकर वह लज्जा और शोकसे दब रहा था । इसी अवस्थामें वह शीघ्र ही आगे चला । वहाँ भोगवतीके भाई हरिकेतुको विद्या सिद्ध हुई थी उससे उसने प्रार्थना की तब विद्याने मुरदेका रूप धारण कर श्रीपाल कुमारके हाथपर कुछ उगल दिया और कहा कि तू बिना किसी विचारके निश्चक हो इसे उठाकर पी जा, कुमार भी उसे शीघ्र ही पी गया । यह देखकर हरिकेतुने कुमारसे कहा कि तुझे सर्वव्याधिनिनाशिनी विद्या प्राप्त हुई है, यह कहकर और विद्या देकर हरिकेतु प्रसन्न होता हुआ वहाँ चला गया । इधर कुमार भी अपने असली रूपको प्राप्त हो गया । कुमार आगे बढ़ा तो उसने एक वट वृक्षके

- १ इत्युवाच ततः क्रुद्धा दुष्टो अ०, प०, ६०, स०, ल० । २ तदवचनाकर्णनान्तरम् । ३ अनिलवेग प्रकुप्य । ४ श्रीपाल । ५ खग । ६ श्रीपालम् । ७ स्मशाने । ८ सारमेयरूपेण । ९ प्रसन्नता नीत्वा । १० जामातरम् । ११ मायास्वरूपम् । १२ विनिवर्तितम् । १३ कृतान्तस्य पुरोगामिसदृशः । १४ हारिभि ल० । १५ जराम्भो-वेस्तरङ्गाम् इत्यपि पाठः । १६ दुष्टविद्याधरं समुत्पादितम् । १७ तस्मादन्यप्रदेशम् । १८ स्मशाने । १९ पूर्ववर्तिभोगवतीकन्याग्रजस्य । २० श्रीपालकुमारस्य । २१ वमन कृत्वा । २२ पिबति स्म । २३ श्रीपालम् । २४ निजरूपं प्राप्तः । २५ न्यग्रोधवृक्षस्य । वटमूरुहम् ल० । २६ वक्ष्यमाणामित्येवम्-ल०, प०, अ०, स०, इ० ।

हमाद्रेः पूर्वदिग्भागे नीलाद्रेरपि पश्चिमे । सुसीमाख्योऽस्ति देशोऽत्र महानगरमप्यदः ॥६५॥  
तद्भूतवनमेतत्तत्र सम्यक् चित्तेऽवधारय । अस्मिन्नेताः शिलाः सप्त परस्परधृताः कृताः ॥६६॥  
येनाऽसौ चक्रवर्तिल्ले प्राप्येत्यादेश ईदृक् । इति तद्भवनमेषु तास्तथा कृतवांस्तदा ॥६७॥  
दृष्ट्वा तस्माहम् वक्तुं सोऽगमज्ञगरेशिनः । कुमारोऽपि विनिर्गत्य ततो निर्विण्णचेतसा ॥६८॥  
आचिज्जरावर्ता कुत्स्यभारतीं कस्यचित्तरोः । अवस्थितामधोमार्गे विपथं पुष्कलावतीम् ॥६९॥  
वद प्रयाति कः पन्था इत्थप्राप्तीति प्रियं वहन् । जिना गगनमार्गेण प्रधातुं नैव शक्यते ॥७०॥  
११ स गम्युत्तिष्ठतोऽर्धविजयार्द्धगिरिरपि । परस्मिन्नित्यसावाह तदाकर्ण्य नृपात्मजः ॥७१॥  
रूहि तत्प्राणोपायमिति तां प्रत्यमापत । इह जम्बूमपि द्विपे विषयो वत्सकावती ॥७२॥  
तस्मैचरगिरौ राजपुरं खेचरचक्रिणः । देवी धरणीकम्पस्य सुप्रभा वा प्रभाकरी ॥७३॥  
तयोर्हं तज्जास्मि विपद्याताप्या सुखावती । त्रिप्रकारोविद्यानां पाशगाऽन्नेदुरागता ॥७४॥  
विपये वत्सकावत्यां विजयार्धमहीधरे । अकम्पनसुतां विपलाख्यां प्राणसमां सखांम् ॥७५॥  
ममाभिर्बाक्षितुं तत्र चित्रमालोदय कम्बलेम् । कथयामं कुतस्त्यस्ते तन्मांति प्रश्नतो मम ॥७६॥

नीचे बैठे हुए किसी विद्याधरको देखकर उससे पूछा कि यह कौन-सा देश है ? तब वह विद्याधर कहने लगा कि ॥४६-६४॥ विजयार्ध पर्वतकी पूर्वदिशा और नीलगिरिकी पश्चिमकी ओर यह सुसीमा नामका देश है, इसमें यह महानगर नामका नगर है और यह भूतारण्य वन है, यह वृ अपने मनमें अच्छी तरह निश्चय कर ले, इधर इस वनमें ये सात शिलाएँ पड़ी हैं जो कोई इन्हे परस्पर मिलाकर एकपर एक रख देगा वह चक्रवर्ती पदको प्राप्त होगा ऐसी सर्वज्ञ देवकी आज्ञा है विद्याधरके यह वचन सुनकर श्रीपालकुमारने उन शिलाओंको उसी समय एकके ऊपर एक करके रख दिया ॥६५-६७॥ कुमारका यह साहस देखकर वह विद्याधर नगरके राजाको खबर देनेके लिए चला गया और इधर कुमार भी कुछ उदासचित्त हो वहाँसे निकलकर आगे चला । आगे किसी वृक्षके नीचे निम्न शरीरको धारण करनेवाली एक बुढ़िया-को देखकर मधुर वचन बोलनेवाले कुमारने उससे पूछा कि पुष्कलावती देशको कौन-सा मार्ग जाता है, वताओ, तब बुढ़ियाने कहा कि वहाँ आकाश मार्गके बिना नहीं जाया जा सकता क्योंकि वह देश पच्चीस योजन ऊँचे विजयार्ध पर्वतसे भी उस ओर है, यह सुनकर राजपुत्र श्रीपालने उससे फिर कहा कि वहाँ जानेका कुछ भी तो मार्ग बतलाओ । तब वह कहने लगी - इस जम्बू द्वीपमें एक वत्सकावती नामका देश है, उसके विजयार्ध पर्वतपर एक राजपुर नामका नगर है । उसमें विद्याधरोंका चक्रवर्ती राजा वर्णीकम्प रहता है, उसकी कान्तिको फैलानेवाली सुप्रभा नामकी रानी है, मे रून्ही दोनोंकी प्रसिद्ध पुत्री हूँ, सुखावती मेरा नाम है और मैं जाति बिद्या, कुल बिद्या तथा सिद्ध की हुई बिद्या इन तीनों प्रकारकी बड़ी-बड़ी विद्याओंकी पारगामिनी हूँ । किसी एक दिन मैं वत्सकावती देशके विजयार्ध पर्वतपर अपने प्राणोके समान प्यारी सखी, राजा अकम्पनकी पुत्री पिप्पलाको देखनेके लिए गयी थी । वहाँ मैंने एक विचित्र कम्बल देखकर उससे पूछा कि हे सखि, कह, यह कम्बल तुझे कहाँसे प्राप्त हुआ है ? उसने कहा कि 'यह कम्बल मेरी ही आज्ञासे प्राप्त हुआ है' । कम्बल प्राप्तिके समयसे ही कम्बलवालेका ध्यान करती हुई वह अत्यन्त विह्वल हो रही है ऐसा सुनकर उसकी सखी मदनवती उसे देखनेके लिए उसी

१ वने । २ एकैकस्या सपर्यपरस्थिता । ३ विहिता । ४ प्रादयति । ५ शीतलाः । ६ नगरेशितु ल०, प०, अ०, सं०, ७० । ७ वनात् । ८ निष्ठा । ९ अध - ल० । १० प्रियं वद ल० । ११ पुष्कलावतीविषयः । १२ पञ्चविंशतियोजन । १३ अपरभागे । १४ जरती । १५ चन्द्रिने । १६ नातिकुलसावितविद्यानाम् । १७ महोत्तल ल०, प० । १८ पिप्पलायाम् ।



जगाद् साऽपि मामेष<sup>१</sup> प्रायादेशवशादिति ।<sup>२</sup> कम्बलावाप्तिस्तद्वन्तं<sup>३</sup> समाध्याय विह्वलाम् ॥७७॥  
 पूर्वा<sup>४</sup> तस्याः सखी श्रुत्वा समन्वेष्टु समागता । काञ्चनाख्यपुराज्ञान्ना मदनादिवती तदा ॥७८॥  
 दृष्ट्वा तत्कम्बलस्यान्ते निबद्धां रत्नमुद्रिकाम् । तत्र<sup>५</sup> श्रीपालनामाक्षराणि चादेशसंस्मृतैः ॥७९॥  
 'अकायसायकोद्भिन्नहृदयाऽमृदुहं' ततः । कथं वैद्याधरं लोकमिमं श्रीपालनामभृत् ॥८०॥  
 समागतः स इत्येतन्निश्चेतुं पुण्डरीकिणीम् । उपगत्य जिनागारे वन्दित्वा समुपस्थिता ॥८१॥  
 त्वत्प्रवासकथां<sup>६</sup> सर्वा तव मातुः प्रजल्पनात् । विदित्वा विस्तरेण त्वामानेप्यामीति निश्चयात् ॥८२॥  
 अगच्छन्ती भवद्वातां विद्युद्देवामुखोद्गताम् । अवगत्य त्वया सार्द्धं योजयिष्यामि ते प्रियम् ॥८३॥  
 न<sup>७</sup> विषादो विधातव्य इत्याश्वास्य भवन्नित्यम् । विनिर्गत्य ततोऽभ्येत्य सिद्धकूटजिनालयम् ॥८४॥  
 अभिवन्द्यागतां<sup>८</sup> 'ऽस्त्येहि'<sup>९</sup> मयाऽमा पुण्डरीकिणीम् । सातरं आतरं चान्यास्त्वद्भृश्व समीक्षितम् ॥८५॥  
 यदीच्छास्ति तवैत्याह सा तच्छ्रुत्वा<sup>१०</sup> पुनः कुतः । त्वमेव जरती जातव्यब्रवीत् स<sup>११</sup> सुखावतीम् ॥८६॥  
 कुमारवचनाकर्णनेन<sup>१२</sup> वार्द्धक्यमागतम् । भवतश्च न किं वैर्लाल्यपहस्य तथोदितम् ॥८७॥  
 जशमिभूतमालोच्य स्त्रधारीरमिदं त्वया । कुतमर्धविधं केन हेतुनेत्यनुयुक्तवत् ॥८८॥  
 तच्छ्रुत्वा साऽश्र्वकीर्त्तय पितृपुत्राख्ययोदिता । मदनादिवती या च मैथुनौ विश्रुतौ तयोः ॥८९॥  
 बलवान् धूमवेगाद्यस्यास्त्रघरिब्रह्मोऽपि च । तद्व्यवस्थां<sup>१३</sup> तिरोधाय पुरं<sup>१४</sup> प्रापयितुं मया ॥९०॥  
 मायारूपद्वयं<sup>१५</sup> विद्याप्रभावात् प्रकटीकृतम् । कुमार, मत्करस्थामृतास्वादफलभक्षणात् ॥९१॥

समय काचनपुर नगरसे आयी । उसने वह कम्बल देखा, कम्बलके छोरमें बैधी हुई रत्नोकी अँगूठी और उसपर खुदे हुए श्रीपालके नामाक्षर देखकर मुझे अपने गुरुकी आज्ञाका स्मरण हो आया, उसी समय मेरा हृदय कामदेवके बाणोसे भिन्न हो गया, मैं सोचने लगी कि श्रीपाल नामको धारण करनेवाला यह भूमिगोचरी विद्याधरोके इस लोकमें कैसे आया ? इसी बातका निश्चय करनेके लिए मैं पुण्डरीकिणी पुरी पहुँची, वहाँ जिनालयमें भगवान्की वन्दना कर बैठी ही थी कि इतनेमें वहाँ आपकी माता आ पहुँची, उनके कहनेसे मैंने विस्तारपूर्वक आपके प्रवासकी कथा मालूम की और निश्चय किया कि मैं आपको अवश्य ही ढूँढकर लाऊँगी । उसी निश्चयके अनुसार मैं आ रही थी, रास्तेमें विद्युद्देवाके मुखसे आपका सब समाचार जानकर मैंने उससे कहा कि 'तू अभी विवाह मत कर, मैं तेरे इष्टपतिको तुझसे अवश्य मिला दूँगी' इस प्रकार आपकी भावी प्रियाको विश्वास दिलाकर वहाँसे निकली और सिद्धकूट जिन्यालयमें पहुँची । वहाँको वन्दना कर आयी हूँ, यदि माता भाई तथा अन्य बन्धुओंको देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो तो मेरे साथ पुण्डरीकिणी पुरीको चलो, यह सब सुनकर मैंने सुखावतीसे फिर कहा कि अच्छा, यह बतला तू इतनी बूढ़ी क्यों हो गयी है ? कुमारके वचन सुनकर उस बुढियाने हँसते-हँसते कहा कि क्या आप अपने शरीरमें आये हुए बुढापेको नहीं जानते—आप भी तो वूढे हो रहे हैं । कुमारने अपने शरीरको बूढ़ा देखकर उससे पूछा कि 'तूने मेरा शरीर इस प्रकार बूढ़ा क्यों कर दिया है ।' कुमारकी यह बात सुनकर वह इस तरह कहने लगी कि जिनका कथन पहले कर आयी हूँ ऐसी पिप्पला और मदनवती नामकी दो कन्याएँ हैं, उन्हें दो प्रसिद्ध

- १ कम्बल । २ कम्बलप्राप्तिमादि कृत्वेत्यर्थ । कम्बलप्राप्तिस्त-अ०, स०, ल० । ३ कम्बलवन्त पुत्रपत्न्यम् । ४ पिप्पलाम् । ५ पिप्पलाया । ६ मुद्रिकायाम् । ७ सस्मृतौ इ०, अ०, स०, प० । ८ कामवाण । ९ सुखावती । १० भवद्देशान्तरगमनकथाम् । ११ विवाहो ल० । विदोषो अ०, स० । १२ अत्रागताहम् । १३ आगच्छ । १४ सुखावतीवचनमाकर्ण्य । १५ श्रीपाल । १६ कुमारवचनामाकर्ण्य इ०, अ०, स० । कुमारवचनामाकर्ण्य ल० । १७ धूमवेगहरिवरभयात् । १८ पुण्डरीकिणीम् । १९ मम जरतीरूपम् भवतश्च वार्द्धक्यमिति द्वयम् ।

विगतभुङ्क्षुमः शीघ्रं मामास्वह्य पुरं प्रति । व्रजेति सोऽपि तच्छ्रुत्वा स्त्रियो रूपसमासकम् ॥९२॥  
 न स्पृशामि कथं चाहमारोहामि पुरा<sup>१</sup> गुरोः । संनिधाचादनामीदृश्वतमित्यवतीदिदम् ॥९३॥  
 सा तदाकर्ण्य संचिन्त्य किं जातमिति विद्यथा । गृहीत्वा पुरुषाकारमुद्वहन्ती<sup>२</sup> तमित्वरी<sup>३</sup> ॥९४॥  
 वन्दित्वा सिद्धकूटालयं तत्र विश्रान्तये स्थिता । तस्मिन्नेव दिने भोगवती<sup>४</sup> शशिनमात्मनः ॥९५॥  
 प्रविश्य भवनं कान्त्या कलामिदं चाभिवर्द्धितम् । निर्वर्त्तमानमालोक्य स्वप्नेऽर्मागव्यशान्तये ॥९६॥  
 तस्मिद्धकूटपूजार्थं कान्ता कान्तवती सती । रत्नवेगा सुवेगाऽमितमती रतिकान्तया ॥९७॥  
 सहिता त्रितवेगाख्या पिप्पला मदनावती । विद्युद्वेगा तथैवान्यास्ताभिः सा परिवारिता ॥९८॥  
 समागत्य महाभक्त्या परीत्य जिनमन्दिरम् । यथाविधि प्रणम्येनं संपूज्य स्तोतुमुद्यता ॥९९॥  
 ताश्च तासां तदा व्याकुलीभावमपि चेतसः । तस्मिन् शिवकुमारस्य वक्ताक्रान्तमाननम् ॥१००॥  
 आदिष्टसंनिधानेन विलोक्य प्रकृतिं<sup>५</sup> गतम् । सुखावती<sup>६</sup> तदुद्देशादपनीय कुमारकम् ॥१०१॥  
 स्थानेऽन्यस्मिन्न्यधादेन<sup>७</sup> तत्राप्यम्बुनि<sup>८</sup> मुद्रया<sup>९</sup> । स्वरूपं कामरूपिण्या<sup>१०</sup> प्रश्रमाणं यदृच्छया ॥  
 इष्टा<sup>११</sup> हरिवरस्तस्माज्जीत्वा कोपात् स पापमाक् । निचिक्षेप<sup>१२</sup> महाकालगुहायां<sup>१३</sup> विहितायकम् ॥१०३॥

विद्याधर चाहते है, एकका नाम धूमवेग है और दूसरेका नाम हरिवर । ये दोनों ही अत्यन्त बलवान् है, उन दोनोंके भयसे ही मैंने आपको छिपाकर नगरमें पहुँचानेके लिए विद्याके प्रभावसे मायाभय दो रूप बनाये है । हे कुमार, मेरे हाथमें रखे हुए इस अमृतके समान स्वादिष्ट फलको खाकर आप अपनी भूख तथा थकावटको दूर कीजिए और मुझपर सवार होकर शीघ्र ही नगरकी ओर चलिए<sup>१</sup> यह सुनकर कुमारने कहा कि मेरे सवार होनेके लिए स्त्रीका रूप अयोग्य है, मैं तो उसका स्पर्श भी नहीं करता हूँ, सवार कैसे होऊँ ? क्योंकि मैंने पहले गुरुके समीप ऐसा ही व्रत लिया है यह सुनकर उसने सोचा और कहा कि अब भी क्या हुआ ? वह विद्याके द्वारा उसी समय पुरुषका आकार धारण कर कुमारको बड़ी शीघ्रतासे ले चली । चलते-चलते वह सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुँची और वन्दना कर विश्राम करनेके लिए वहीं बैठ गयी । उसी दिन भोगवतीने स्वप्नमें देखा कि कान्ति और कलाओसे बड़ा हुआ चन्द्रमा हमारे भवनमें प्रवेश कर लौट गया है । इस स्वप्नको देखकर वह अमंगलकी शान्तिके लिए सिद्धकूट चैत्यालयमें पूजा करनेके लिए आयी थी । वह सुन्दरी कान्तवती, सती रत्नवेगा, सुवेगा, अमितमती, रतिकान्ता, चित्तवेगा, पिप्पला, मदनावती, विद्युद्वेगा तथा और भी अनेक राजकन्याओसे घिरी हुई थी । उन सभी कन्याओने आकर बड़ी भक्तिसे जिन-मन्दिरकी प्रदक्षिणा दी, विधिपूर्वक नमस्कार किया, पूजा की और फिर सबकी सब स्तुति करनेके लिए उद्यत हुईं । स्तुति करते समय भी उनका चित्त व्याकुल हो रहा था । उसी चैत्यालयमें एक शिवकुमार नामका राजपुत्र भी खड़ा था, उसका मुँह टेढ़ा था परन्तु श्रीपालकुमारके समीप आते ही वह ठीक हो गया, यह देखकर सुखावतीने उसे उसके स्थानसे हटाकर दूसरी जगह रख दिया । उस चैत्यालयमें श्रीपालकुमार अपनी कामरूपिणी मुद्रासे इच्छानुसार जलमें अपना खास रूप देख रहा था । उसे ऐसा करते पापी हरिवर विद्याधरने देख लिया और पूर्व जन्ममें पुण्य करनेवाले कुमारको

१ मम सर्वस्वीरूपं मुक्त्वा अन्यस्वीरूपम् । २ पूर्वस्मिन् । ३ गुरो समीपे ४

५ श्रीपालम् । ६ गमनशीला । ७ पुरा कुमारेण भुजङ्गीत्युक्ता भोगवती । ८ यहा ११

९ आदेशपुरुषसामीप्येन । १० पूर्वस्वरूपम् । ११ तत्प्रदेशात् । १२ स्थापयामास

१४ मुद्रिकया । १५ प्रेक्षमाणं इ० । १६ मदनावतीमैश्वर्यम् । १७ निक्षिप्तवाम्

श्रीपालम् ।

वसंस्तत्र महाकालस्तं गृहीतुमुपागतः<sup>१</sup> । तस्य पुण्यप्रभावेन सोऽप्यकिंचिकरो गतः ॥१०४॥  
 तत्र गच्छातले सुप्त्वा शुचौ श्रुत्वा विस्तृते । परंशुनिर्गतं<sup>२</sup> तस्याः<sup>३</sup> संप्रयुक्तैः परीक्षितम् ॥१०५॥  
 आदिष्टपुण्यं श्रुत्यैर्जात्राऽभ्येत्य निवेदितम् । गृहीत्वा स्थविराकारं कोपशवकं<sup>४</sup> पातितः ॥१०६॥  
 तं वीक्ष्य धूमवेगात्<sup>५</sup> खगबन्धपुराद् बहिः । उमशानमध्ये पाषाणनिशातविधायुधैः<sup>६</sup> ॥१०७॥  
 न्यगृह्णात्तानि चास्यासन् पतन्ति कुसुमानि वा । परोऽपि स्वेचरस्तत्र नरेशोऽतिव्याह्वयः ॥१०८॥  
 त्वदेव्यां चित्रसेनायां श्रुत्यं द्रुष्टरं सति । तं निर्हत्याद्दहत्तस्मिन्<sup>७</sup> धूमवेगो निधाय तम् ॥१०९॥  
 कुमारं चागमन्तत्र महौषधजनकितः<sup>८</sup> । निराकृतज्वलद्वह्निमक्तिस्तस्मात् स निर्गतः ॥११०॥  
 हतानुचरमायान्ति काचिन्निरपराधकः । हतो नृपेण मद्मतेत्यस्य<sup>९</sup> शुद्धिप्राप्तिगिनी ॥१११॥  
 तत्कुमारस्य संस्पृशान्निष्ठा किं त्या कुलाग्रतः । विदित्वा प्राविशद् दृष्ट्वा कुमारस्तं सकौतुकः ॥११२॥  
 अनेघमपि वज्रेण स्त्रीणां सावधानिर्मितम्<sup>१०</sup> । कवचं द्विवेशा<sup>११</sup> च नीरन्त्रमिति निर्णयः ॥११३॥  
 स्थितस्तत्र स्मरन्नेवं युता तन्नगरं शिनः । राज्ञो विमलसेनस्य जल्पन्तकमलाह्वया ॥११४॥  
 कामग्रहाहिता तस्यास्तदग्रहापनिर्हापया<sup>१२</sup> । जने समुदिते<sup>१३</sup> सद्यः कुमारस्तन्मपादरत्<sup>१४</sup> ॥११५॥

क्रोधसे उस स्थानसे ले जाकर महाकाल नामकी गुफामें गिरा दिया । उस गुफामें एक महा-  
 काल नामका व्यन्तर रहता था वह उसे पकड़नेके लिए आया परन्तु कुमारके पुण्यके प्रभावसे  
 अकिंचित्कर हो चला गया—उसका कुछ नहीं विगाड़ सका । वह कुमार उस दिन उसी गुफामें  
 पवित्र, कोमल और बड़ी शय्यापर सोकर दूसरे दिन वहाँसे बाहर निकला, यद्यपि उसने अपना  
 बूढ़ेका रूप बना लिया था तथापि धूमवेगके द्वारा परीक्षाके लिए नियुक्त किये हुए पुरुषोंने  
 उसे पहचान लिया, स्वामीके पास जाकर उन्होंने सब खबर दी और पकड़कर श्रीपालकुमार-  
 को सामने उपस्थित किया । क्रोधरूपी अग्निसे प्रज्वलित हुए धूमवेग विद्याधरने कुमारको  
 देखकर आज्ञा दी कि इसे नगरके बाहर इमशानके बीच पत्थरपर धिसकर तेज किये हुए अनेक  
 धत्तरोसे मार डालो । सेवक लोग मारने लगे परन्तु वे सब धत्त उसपर फूल होकर पड़ते थे ।  
 इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और लिखी जाती है जो इस प्रकार है —

उसी नगरमें एक अतिबल नामका दूसरा विद्याधर राजा रहता था ॥६८—१०८॥  
 उसकी चित्रसेना नामकी रानीसे कोई द्रुष्ट नौकर फँस गया था, इसलिए राजा उसे मारकर  
 जला रहा था । धूमवेग विद्याधर श्रीपालकुमारको उसी अग्निकुण्डमें रखकर चला गया परन्तु  
 कुमारकी महौषधिकी शक्तितसे वह अग्नि निस्तेज हो गयी इसलिए वह उससे बाहर निकल आया ।  
 उस मारकर जलाये हुए सेवककी स्त्रीको जब इस बातका पता चला कि कुमारके स्पर्शसे अग्नि  
 शक्तिरहित हो गयी है तब वह स्वयं उस अग्निमें धुस पड़ी और उससे निकलकर यह कहती  
 हुई अपनी शूद्धि प्रकट करने लगी कि 'भिरा पति निरपराध था राजाने उसे व्यर्थ ही मार डाला  
 है ।' कुमारको यह सब चरित्र देखकर बड़ा कौतुक हुआ, वह सोचने लगा कि 'स्त्रियोंकी मायासे  
 बने हुए इस कवचको इन्द्र भी अपने वज्रसे नहीं भेद सकता है, यह छिन्नरहित है' इस प्रकार  
 सोचता हुआ वह निर्भय होकर वहाँ बैठा था । इधर उस नगरके स्वामी राजा विमलसेनकी पुत्री  
 कमलावती कामरूप पिशाचसे आक्रान्त हो रही थी, उसके उस पिशाचको दूर करनेकी इच्छा-  
 से बहुत आदमी इकट्ठे हुए थे, श्रीपालकुमार भी वहाँ गया था और उसने उस पिशाचको दूर

१ भुक्तिनिर्णयः । २ गृह्यायाः सकाशात् । ३ संप्रयुक्तैः व० । मुद्रयुक्तैः ल०, ब०, प० । ४ पिप्पलायाः  
 नैयुचः । ५ निमित्त । ६ निग्रहं चकार । ७ पाषाणायुधानि । ८ हत्वा । ९ निशातनी । १० पूरा स्वयाने  
 हरिकेतोविद्यया निर्वातं पीत्वा जातग्रहीपविगन्तितः । ११ स्मर्त्तुं । १२ कपटनित्यर्थः । १३ इन्द्रेण ।  
 १४ कामग्रहमहमुन्मिच्छया । १५ एकत्र मिलिते सति । १६ कामग्रहमपसारितवानित्यर्थः ।

सत्योऽभूत् प्राक्तनादेश इति तस्मै महोपतिः । तृष्ठा तां कन्यकां<sup>१</sup> दिव्यसुस्तस्या<sup>२</sup> निच्छां<sup>३</sup> विवृण्व्य स.<sup>४</sup> ११६  
अभ्यर्णं बन्धुवर्गस्य नेयोऽयं भवता हृतम् । यत्नेनेत्यात्मजं स्वस्य वरसेन समादिशत् ॥११७॥  
नीत्वा सोऽपि कुमारं तं विमलादिपुरो बहिः । वने तृणोपसंतप्तं स्थापयित्वा गतोऽम्बुजे<sup>५</sup> ॥११८॥  
तदा सुखावती कुञ्जा भूत्वा कुसुममालया । परिस्पृश्य तृषां नीत्वा<sup>६</sup> कन्यकां तं<sup>७</sup> चकार सा ॥११९॥  
धूमवेगो हरिवरञ्चैतां<sup>८</sup> वीक्ष्यामिलाषिणौ । अभूतां बद्धमालयौ तस्याः स्वीकरणं प्रति ॥१२०॥  
द्वेषवन्तौ तदाऽऽलोक्य युवयोर्विग्रहो द्रुया । पतिर्भक्तवसावस्या यमेषाऽभिलषिष्यति ॥१२१॥  
इति बन्धुजनैर्वार्यमाणौ वैराट् विरेमतुः । स्त्रीहेतोः कस्य वा न स्यात् प्रतिघातः परस्परम् ॥१२२॥  
कन्याकृत्यैव<sup>९</sup> गत्वास्तः कान्तया स सुकान्तया । रतिकान्ताख्यया कान्तवत्या च सहितः पुनः ॥१२३॥  
स्थितं प्राक्तनरूपेण<sup>१०</sup> काचित् वीक्ष्य लज्जिता । रतिं समागमत् काचिन्मैकमावा<sup>११</sup> हि योषितः ॥१२४॥  
प्रसुप्तवन्तं तं तत्र प्रत्यूषे च सुखावती । यत्नेनोद्धृत्य गच्छन्वी तेनोन्मीलितचक्षुषा ॥१२५॥  
विहाय मामिहैकाकिनं त्वं वष प्रस्थितेति सा । दृष्ट्वा न क्वापि यासाञ्च<sup>१२</sup> त्वल्लस्यमोगता सदा ॥१२६॥  
<sup>१३</sup> आदिष्टवनिवारललाभो नैवात्र ते भयम् । इत्यन्तर्हितमापाद्य<sup>१४</sup> स्वरूपेण समागमः<sup>१५</sup> ॥१२७॥

कर दिया था । 'निमित्तज्ञानियोने जो पहले आदेश दिया था वह आज सत्य सिद्ध हुआ ।' यह देख राजाने सन्तुष्ट होकर वह पुत्री कुमारको देनी चाही परन्तु जब कुमारकी इच्छा न देखी तब उसने अपने पुत्र वरसेनको आज्ञा दी कि इन्हें शीघ्र ही बड़े यत्नके साथ इनके बन्धु वर्गके समीप भेज आओ ॥१०९-११७॥ वह वरसेन भी कुमारको लेकर चला और विमलपुर नामक नगरके बाह्यर प्याससे पीड़ित कुमारको वैठाकर पानी लेनेके लिए गया ॥११८॥ उसी समय कूबड़ीका रूप बनाकर सुखावती वहाँ आ गयी, उसने अपने फूलोंकी मालाके स्पर्शसे कुमारको प्यास दूर कर दी और उसे कन्या बना दिया ॥११९॥ उस कन्याको देखकर धूमवेग और हरिवर दोनों ही उसकी इच्छा करने लगे । उसे स्वीकार करनेके लिए दोनों ईर्ष्यालु हो उठे और दोनों ही परस्पर द्वेष करने लगे । यह देखकर उनके भाई-बन्धुओंने रोका और कहा कि 'तुम दोनोंका लड़ना व्यर्थ है इसका पति वही हो जिसे यह चाहे' इस प्रकार बन्धुजनोंके द्वारा रोके जानेपर वे दोनों वरसे विरत हुए । देखो ! स्त्रीके कारण परस्पर किस किसका प्रेम भंग नहीं हो जाता है ? ॥१२०-१२२॥ उस कन्याने उन दोनोंमेंसे किसीको नहीं चाहा इसलिए सुखावती उसे कन्याके आकारमें ही वहाँ ले गयी जहाँ कान्ता, सुकान्ता, रतिकान्ता और कान्तवती थी ॥१२३॥ पहलेके समान असली रूपमें बैठे हुए कुमारको देखकर कोई कन्या लज्जित हो गयी और कोई प्रीति करने लगी सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके भाव अनेक प्रकारके होते हैं ॥१२४॥ श्रीपाल रातको वही सोया, सोते-सोते ही सवेरेके समय सुखावती बड़े प्रयत्नसे उठा ले चली, कुमारने आँख खुलनेपर उससे पूछा कि तू मुझे यहाँ अकेला छोड़कर कहाँ चली गयी थी ? तब सुखावतीने कहा कि मैं कहीं नहीं गयी थी, मैं सदा आपके पास ही रही हूँ, यहाँ आपको स्त्रीरत्न प्राप्त होगा ऐसा निमित्तज्ञानीने बतलाया है, यहाँ आपको कोई भय नहीं है । आज तक मैं अपने रूपको छिपाये रहती थी परन्तु आज असली रूपमें आपसे मिल

१ दातुमिच्छुः । २ श्रीपालस्य । ३ कन्यकायामनभिलाषम् । ४ विमलसेन । ५ जलाय । जलमानेतुमित्यर्थ । ६ गमयित्वा । अपसार्येत्यर्थ । ७ श्रीपालम् । ८ कृतकन्यकाम् । ९ प्रोत्तिघात ल०, अ०, प०, सं० । १० कन्यकाकारेणैव । ११ पूर्वस्वरूपेण ( निजकुमारस्वरूपेण ) । १२ अनेकपरिणामा । १३ आदिष्टो ल०, प०, इ० । १४ इत्यन्तर्हितरूपाद्य-ल० । अन्तर्हितमाच्छादित यथा भवति तथा । १५ समागममित्यपि पाठ । समागतास्मि ।

इत्याह तद्वचः श्रुत्वा प्रमुद्यैत्य<sup>१</sup> खगाचले । पुरं दक्षिणभागस्य गजात्रिं<sup>२</sup> तत्समीपगम् ॥१२८॥  
 कंचिद् गजपतिं स्तम्भमुन्मूल्यारूढदर्पकम् । द्वात्रिंशदुक्तक्रीडाभिः क्रीडित्वा वशमानयत् ॥१२९॥  
 ततः समुदिते<sup>३</sup> चण्डदीपितौ<sup>४</sup> निक्षिप्ताद् गजात् । कुमारगमनं पौरा ब्रुध्वा सतुष्टचेतसः ॥१३०॥  
 "प्रतिकेतनमुद्बद्धचलत्केतुपताकाकाः । प्रत्युद्गममकुर्वन्ते<sup>५</sup> तत्पुण्योदयचोदिताः ॥१३१॥  
 ततो नमस्यन्तौ गच्छन् कंचिद्वयपुरे हयस् । स्थितं प्रदक्षिणीकृत्य त्वं<sup>६</sup> पश्यन्नाचविस्मयः ॥१३२॥  
 तत्रापि विदितादेशैर्नगरैः प्राप्तपूजनः । पुनस्ततोऽपि निष्क्रम्य समागच्छन्निजेच्छया ॥१३३॥  
 "चतुर्जनपदाभ्यन्तरस्थसीममहाचले<sup>७</sup> । जने महति संभूय<sup>८</sup> स्थिते केनापि हेतुना ॥१३४॥  
 कस्यचित् कोगतः<sup>९</sup> खड्गं कस्मिंश्चिदपि यत्नतः । सत्यशक्ते समुत्तानुं तं<sup>१०</sup> समुद्शीर्य<sup>११</sup> हेलया ॥  
 कुमारः<sup>१२</sup> प्राहद् वंशस्तम्बं<sup>१३</sup> संभृत्य वंशकम् । तदालोक्य जनः सर्वः प्रमोदादारवं<sup>१४</sup> व्यधात् ॥१३५॥  
 तत्र कश्चित् समागत्य मूकः समुपविष्टवान् । प्रप्रणम्य कुमारं तं जयगन्धपुस्तकम् ॥१३६॥  
 "कुण्डश्च कश्चिदङ्गुल्या प्रसारितकराङ्गुलिः । अङ्गुलिं मुकुलीकृत्य समीपे समुपस्थितः ॥१३७॥  
 यो वज्रमणिपाकाय समुद्युक्तस्तदा मुदा । तेषां पाके व्यलोकिते कुमारं विनयेन सः ॥१३८॥

रही हूँ" ॥१२५-१२७॥ उसके यह वचन सुनकर श्रीपाल बहुत ही हर्षित हुआ और वहसि आगे चलकर विजयाधर पर्वतके दक्षिण भागमे स्थित गजपुर नगरके समीप जा पहुँचा ॥१२८॥ वहाँ कोई एक गजराज खम्भा उखाड़कर मदीनमत हो रहा था । उसे कुमारने शास्त्रोक्त वत्तीस क्रीड़ाओसे क्रीड़ा कराकर वश किया ॥१२९॥ तदनन्तर सूर्योदय होते-होते नगरके सब लोगोंने गजराजको जीत लेनेसे कुमारका आना जान लिया, सबने सन्तुष्टचित्त होकर घर-घर चचल पताकाएँ फहरायीं और कुमारके पुण्योदयसे प्रेरित होकर सब लोगोंने उसकी अगवान्नी की ॥१३०-१३१॥ कुमार वहाँसे भी आकाशमे चला, चलता-चलता हयपुर नगरमे पहुँचा वहाँ एक ढोड़ा कुमारकी प्रदक्षिणा देकर समीप ही में खड़ा हो गया, कुमारने यह सब स्वयं देखा परन्तु उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ ॥१३२॥ जब नगरनिवासियोको इस बातका पता चला तब सबने कुमारका सत्कार किया, कुमार वहाँसे भी निकलकर अपनी इच्छानुसार आगे चला ॥१३३॥ चलता-चलता चार देशोके बीचमे स्थित सुसीमा नामक पर्वतपर पहुँचा । वहाँ किसी कारण बहुत-से लोग इकट्ठे हो रहे थे, वे प्रयत्न कर म्यान्से तलवार निकाल रहे थे परन्तु उनमें-से कोई भी उक्त कार्यके लिए समर्थ नहीं हो सका परन्तु कुमारने उसे लीला-मात्रमें निकाल दिया जिसमें बहुत-से बाँस उलझे हुए खड़े थे, ऐसे बाँसके विड़ेपर उसे चलाया यह देखकर सब लोगोंने बड़े हर्षसे कुमारका आदर-सत्कार किया ॥१३४-१३६॥ इतनेमें ही वहाँ एक गूँगा मनुष्य आया और जय-जय शब्दका उच्चारण करता हुआ कुमारको प्रणाम कर बैठ गया ॥१३७॥ वहींपर एक टेढ़ी अंगुलीका मनुष्य आया, कुमारको देखते ही उसकी अंगुली ठीक हो गयी, उसने हाथकी अंगुली फैलाकर हाथ जोड़े और नमस्कार कर पास ही खड़ा हो गया ॥१३८॥ वहींपर एक मनुष्य हीरात्रोकी भस्म बना रहा था, वह बनती नहीं थी परन्तु कुमारके सन्निधानसे वह वन गयो इसलिए उसने भी वड़ी विनयसे कुमारके दर्शन किये

१ संतुष्य । २ गजपुरम् । ३ उदय गते सति । ४ सूर्ये । ५ प्रतिगृहम् । ६ सम्मुखगमनम् । ७ चक्रिरे । ८ श्रीपालपुष्य । ९ स्वयं पश्यन्नविस्मय । ल०, इ०, अ०, स० । १० चतुर्दशमव्यस्थितसीमास्थमहागिरी । ११ महागिरी ट० । १२ मिलित्वा । १३ खड्गपिघानत । १४ खड्गम् । १५ उत्खातं कृत्वा । १६ प्रहरति स्म । १७ वेणुगुहम् । १८ परिवेष्टितवेणुक्म् । १९ -दादरं ल०, प० । २० कुब्जश्च अ०, स० । कुण्डश्च ल० । विनाल ।

प्रागुक्तचरालेशः पुरेऽमृद् विजयाह्वये । सोऽस्य<sup>१</sup> सेनापतिर्भावी भविष्यच्चक्रवर्तिनः ॥१४०॥  
तत्पुरे वरं कीर्तिष्टकीर्तिमत्यात्मजापते<sup>२</sup> । खड्गोत्पाटनमादेनस्तस्य श्रीपालचक्रिणः ॥१४१॥  
मूकः श्रेयः पुरे जातस्तस्य भावी पुरोहितः । शिवसेनमहीपालः श्रीमास्तन्नगेश्वरः ॥१४२॥  
वीतशोकाह्वया तस्य तन्वा वनजेक्षणा । मूकभाषणमादेशः कुमारस्य तदापते<sup>३</sup> ॥१४३॥  
“कुण्डः शिल्पपुरोत्पन्नः स्थपतिस्तस्य भान्यसा<sup>४</sup> । नाम्ना नरपतिस्तत्पुरेशो नरपते, सुता ॥१४४॥  
रत्यादिविमलासाहू<sup>५</sup> तयैतस्य समागमः । अङ्गुलिप्रसरादेशात् स्मरन्त्यपद्वया<sup>६</sup> चिरम् ॥१४५॥  
स वज्रमणिपाकस्थ<sup>७</sup> प्रधानपुरुषो<sup>८</sup> भवेत् । तस्य<sup>९</sup> धान्यपुरे<sup>१०</sup> जातिविशालस्तत्पुराधिपः ॥१४६॥  
सुता विमलसेनास्य श्रीपालस्य तदापते<sup>११</sup> । आदेनस्तस्य तद्भ्रमणिपाको महीजसः ॥१४७॥  
इत्यादेशवरं शारवा सर्वे<sup>१२</sup> स्वं स्वं पुर यदुः । तदा कुमारमृदवाऽथाद्यमोमार्गं सुखावती ॥१४८॥  
धूमवेगो बिलोक्यैव<sup>१३</sup> त्रिद्विपो<sup>१४</sup> भीषणारवः । अभितर्ज्य स्थितो रथा खे खेटक्युतासिभृन् ॥१४९॥  
तदा<sup>१५</sup> पूर्वोदित्वाचार्या<sup>१६</sup> वृक्षता आऽस्य<sup>१७</sup> पालिका<sup>१८</sup> । सा निष्ठावररूपेण ससुपेय सुखावतीम् ॥१५०॥

॥१३९॥ श्रीपालने जो तलवार म्यानसे निकाली थी उसका स्वामी विजयपुर नगरका रहने-  
वाला था और होनहार इसी श्रीपाल चक्रवर्तीका भावी सेनापति था ॥१४०॥ उसी विजयपुर  
नगरके राजा वरकीर्तिष्टकी रानी कीर्तिमतीकी एक पुत्री थी, उसके विवाहके विषयमे निमित्त-  
ज्ञानियोने बतलाया था कि इसका वर श्रीपाल चक्रवर्ती होगा और उसकी पहचान म्यानमे-से  
तलवार निकाल लेनी होगी ॥१४१॥ वह गूंगा श्रेयस्पुरमे उत्पन्न हुआ था और इसका भावी  
पुरोहित था, उसी श्रेयस्पुर नगरका स्वामी राजा शिवसेन था, उसके कमलके समान नेत्रवाली  
वीतशोका नामकी पुत्री थी उसके वरके विषयमे निमित्तज्ञानियोने आदेश दिया था कि जिसके  
समागमसे यह गूंगा बोलने लगेगा, वही इसका वर होगा ॥१४२-१४३॥ जिसकी अँगुली  
टेढ़ी थी वह शिल्पपुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार स्थपति रत्न था । उसी शिल्पपुर  
के राजाका नाम नरपति था उसके रतिविमला नामकी पुत्री थी, निमित्तज्ञानियोने बताया  
था कि जिसके देखनेसे इसकी टेढ़ी अँगुली फँलने लगेगी उसीके साथ कामक्रीड़ा करनेवाली  
इस कन्याका चिरकाल तक समागम रहेगा ॥१४४-१४५॥ जो हीराओंका भस्म बना रहा  
था वह इसका मन्त्री होनेवाला था और धान्यपुर नगरमे पैदा हुआ था, उसी धान्यपुर नगरके  
राजाका नाम विशाल था उसकी एक विमलसेना नामकी कन्या थी, निमित्तज्ञानियोने बतलाया  
था कि जिसके आनेपर हीराओका भस्म वन जायेगा वही महा तेजस्वी श्रीपाल इसका पति  
होगा ॥१४६-१४७॥ इस प्रकार निमित्तज्ञानियोके आदेशानुसार उस पुरुषको पहचान  
कर वे सब अपने-अपने नगरको चले गये और उसी समय मुखावती थी कुमारको लेकर  
आकाशमार्गसे चलने लगी ॥१४८॥ चलते-चलते इसे धूमवेग भन्नु मिला, वह कुमारको  
देखकर भयकर गव्द करने लगा, और डाँट दिखाकर रास्ता रोक आकाशमे खड़ा हो गया,  
उस समय खेटक और तलवार दोनों शस्त्र उसके पास थे ॥१४९॥ उसी समय पहले कहीं

१ श्रीपालस्य । २ वरकीर्तिनृपते प्रियाया कीर्तिमत्या सुताया आपने परिणयने । ३ 'पन व्यवहारे न्मुनी  
च' पुनीत्यवहारे त० टि० । -त्यात्मजापते ३० । जायते अ०, स०, ल० । ४ वीतशोकाया परिणयने ।  
५ कुणि ल० । ६ कामविशिष्टवर्मप्रदया अथवा कामविविधगमनप्रदया । ७ वज्रमणिपाकस्थ ल०, ट० ।  
वज्रमणिपाकी वज्ररत्नपाकवान् । अस्य श्रीपालस्य । ८ मन्त्रिमुख्य । ९ वज्रमणिपाकिनः । १० उत्तरानिः ।  
११ विमलसेनाया प्राप्त्यै । १२ आदेशजामातरम् । -देगनर ल०, प० । -देवान्तर अ०, म० ।  
१३ शत्रोभयकरध्वनि । तद्विपो भीषणारवम् ३०, अ०, म० । १४ पूर्वोक्तप्रमदवनम्यवटतरोरक्षितप्रति-  
भायाम् । १५ श्रीपालस्य । १६ रक्षिका ।

सुक्त्वा कुमारमभ्येत्य विभीर्षिद्याधराधमम् । नियुज्य विजयस्वेति निजगाद निराकुलम् ॥१५१॥  
 साऽपि सुक्त्वा कुमारं तं धूमवेगं रणाङ्गणे । चिरं युध्वा स्वविद्याग्निर्नरौत्सौ चौर्यशालिनी ॥१५२॥  
 कुमारोऽपि समीपस्थशिलायां धरणो धरे । शनैः समापतत्तस्य<sup>१</sup> देवश्री जननी पुरा ॥१५३॥  
 यक्षीभूता तदागल्य संस्पृशन्ती करेण तम् । अपास्यास्त्र श्रमं मदधु कुमारं प्रविश हृदम् ॥१५४॥  
 जगादैर्नसिति श्रुत्वा सोऽपि विश्वस्य तद्वचः । प्रविश्य तं शिलास्तम्भस्योपरिस्थितवाञ्छिनि ॥१५५॥  
 कुर्वन् पद्मनमस्कारपदानां परिवर्तनम् । प्रभाते तदुदभागे जिनेन्द्रप्रतिविम्बकम् ॥१५६॥  
 विलोक्य कृतपुष्पादिसंपूजननमस्क्रियः । सहस्रपत्रमम्भोजं चक्ररत्नं सकूर्मकम् ॥१५७॥  
 आतपत्रं सहस्रोत्त रत्नं च फणिनां पतिम् । दण्डरत्नं समण्डकं नक्रं चूडामहामणिम् ॥१५८॥  
 चर्मरत्नं स्फुरद्वक्त्रशिकं काकिणीमणिम् । ईक्षाचक्रे स पुण्यात्मा तत्र यक्ष्युपदेशतः ॥१५९॥  
 तदा मुदितचित्तः सन् छत्रमुद्यम्य दण्डमृत् । प्रद्योतमानरत्नलोपानत्को<sup>१०</sup> यक्षीसमर्पितैः ॥१६०॥  
 सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूषाभेदैर्विभूषितः । निर्जगाम गुहातोऽसौ तदैवेत्य सुखावती ॥१६१॥  
 धूमवेगं विनिर्जित्य प्रतिपद्वा<sup>२</sup> हिमद्युतिम्<sup>३</sup> । बृद्ध्यै कुमारमापन्ना सकलाऽसिलतान्विता<sup>४</sup> ॥१६२॥  
 एतया सह गत्वातः संप्राप्तसुरभूधरम्<sup>५</sup> । गुणपालजिनाधीश सभामण्डलमासवान् ॥१६३॥  
 तत्र तं सुचिरं स्तुत्वा मनोवाक्पायशुद्धिमाक । मातरं आतरं चोचितोपचारो विलोक्य तौ ॥१६४॥

हुई प्रतिमापर जो इसकी रक्षा करनेवाली देवी रहती थी वह विद्याधरका रूप धारण कर आयी और सुखावतीको छोड़कर कुमारको ले गयी तथा सुखावतीसे कह गयी कि तू निर्भय हो निराकुलतापूर्वक इस नीच विद्याधरसे लड़ना और इसे जीतना ॥१५०-१५१॥ शूरवीरतासे शोभायमान रहनेवाली सुखावती भी कुमारको छोड़कर धूमवेगसे लड़ने लगी और रणके मैदानमें बहुत समय तक युद्ध कर उसने उसे अपनी विद्याओं-द्वारा रोक लिया ॥१५२॥ कुमार भी समीपवती पर्वतकी एक शिलापर धीरे-धीरे जा पड़ा । वहाँ उसकी पूर्वभवकी माता देवश्री जो कि यक्षी हुई थी आयी । उसने हाथसे स्पर्श कर श्रीपालका सब परिश्रम दूर कर दिया और कहा कि तू शीघ्र ही इस तालाबमें घुस जा । कुमार भी उसके वचनोका विश्वास कर तालाबमें घुस गया और वही रात-भर पत्थरके खम्भेपर बैठा रहा ॥१५३-१५५॥ सवेरे पंच नमस्कार मन्त्रका पाठ करता हुआ उठा, तालाबके उत्तरकी ओर श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा देखकर पुष्प आदि सामग्रीसे पूजन और नमस्कार किया । तदनन्तर उसी यक्षीके उपदेशसे उस पुण्यात्माने सहस्र पत्रवाले कमलको चक्ररत्नरूप होते देखा, कछुवेको छत्र होते देखा, बड़ी-बड़ी हजार फणाओंको धारण करनेवाले नागराजको दण्डरत्न होते देखा, मेढकको चूडा-मणि, मगरको चर्मरत्न और देदीप्यमान लाल रंगके बिच्छूको काकिणी मणि रूप होते देखा ॥१५६-१५९॥ उस समय उसने प्रसन्नचित्त होकर छत्र धारण किया, दण्ड उठाया, चमकीले रत्नोके जूते पहने और फिर वह यक्षीके द्वारा दिये हुए मणिमय दिव्य आभूषणोंसे सुशोभित होकर गुहासे बाहर निकला । उसी समय जिस प्रकार चन्द्रमाकी वृद्धिके लिए शुक्लपक्षकी प्रतिपदा आती है उसी प्रकार धूमवेगको जीतकर तलवार लिये हुए चतुर सुखावती कुमारकी वृद्धिके लिए उसके पास आ पहुँची । श्रीपाल यहाँसे उसके साथ-साथ चला और चलता-चलता सुरगिरि पर्वतपर गुणपाल जिनेन्द्रके समवसरणमें जा पहुँचा ॥१६०-१६३॥ वहाँ मन,

१ शरीर । २ संप्राप्त । ३ श्रीपालस्य । ४ कुमारं ल० । ५ हृदम् । ६ मुहुर्मुहुरनुचिन्तनम् । ७ हृदस्योत्तर-दिग्भागे । ८ चूडामणि तथा ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ छंदे । वक्त्राण्येव रूपाणि । सहस्रपत्राम्भोजादीनि ईक्षाचक्रे इति संबन्धः । १० मणिमयपादत्राणः । ११ गुहायाः सकाशात् । १२ प्रतिपद्दिनश्रीरिव । १३ चन्द्रम् । १४ चन्द्रकाल्विता । १५ सुखावत्या । १६ सुरगिरिनागगिरिम् ।

तदाशीर्वादसंतुष्टः संविष्टो मातृसंनिधौ । सुखावतीप्रभावेण युष्मदन्तिकमासवान् ॥१६५॥  
 क्षेमणेति तयोरग्रं प्राणसंचां नृपालुजः । सतां स सहजो भावो यत्स्तुवन्त्युपकारिणः ॥१६६॥  
 वसुपालमहीपालप्रज्ञान् सगवतोदितैः । स्थित्वा विद्याधरश्रेण्यां बहुलम्मान् समापिवान् ॥१६७॥  
 ततः सप्तदिनैरेव सुखेन प्राविशत् पुरम् । संचितोर्जितपुण्यानां भवेदापच्व संपदे ॥१६८॥  
 वसुपालकुमारस्य वारिषेणादिभिः समम् । कन्याभिरभवत् कक्ष्याणविधिर्निविधित्कः ॥१६९॥  
 स श्रीपालकुमारस्य जयावत्यादिभिः कृती । तदा चतुरश्रोतीष्ट कन्यकाभिरलंकृतः ॥१७०॥  
 सूर्याचन्द्रमसौ वा तौ स्वप्रमाण्यासदिकृतौ । पालयन्तौ पराचक्रं चिरं निर्विघ्नतः स्म शम् ॥१७१॥  
 जयावत्यां ससुषुप्तो गुणपालो गुणोज्ज्वलः । श्रीपालस्यायुधागारे चक्रं च समजायत ॥१७२॥  
 स सर्वाश्चक्रवर्त्युक्तभोगाननुभवन् भुशम् । शक्रलीलां व्यङ्ग्यिष्ट लक्ष्म्या लक्षितविग्रहः ॥१७३॥  
 अभूज्जयावतीभ्रातृस्तनूजा जयवर्मणः । जयसेनाह्वया कान्तसेना सेनेव विजिम्बरी ॥१७४॥  
 मनोवेगोऽशनिवरः शिवाख्योऽशनिवेगवाक् । हरिकेतुः परे चोच्चैः श्मामुखः रत्ननायकः ॥१७५॥  
 जयसेनाख्यभुल्याभिस्तेषां तुभिः सहामभवत् । विवाहो गुणपालस्य स तामिः प्राप्तसंसद ॥१७६॥

वचन, कायकी श्रद्धा धारण करनेवाले श्रीपालने बहुत देर तक गुणपाल जिनेन्द्रकी स्तुति की, माता और भाईको देखकर उनका योग्य विनय किया और फिर उन दोनोंके आशीर्वादसे सन्तुष्ट होकर वह माताके पास बैठ गया । उसने माता और भाईके सामने यह कहकर सुखावतीकी प्रशंसा की कि मैं इसके प्रभावसे ही कुशलतापूर्वक आपलोगोंके समीप आ सका हूँ सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोंका जन्मसे ही ऐसा स्वभाव होता है कि जिससे वे उपकार करनेवालोंकी स्तुति किया करते हैं ॥१६४-१६६॥ महाराज वसुपालके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने जैसा कुछ कहा था उसीके अनुसार उस श्रीपालने विद्याधरोकी श्रेणीमें रहकर अनेक लाभ प्राप्त किये थे ॥१६७॥ तदनन्तर वह सात दिनमें ही सुखसे अपने नगरमें प्रविष्ट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि प्रबल पुण्याका संचय करनेवाले पुरुषोंको आपत्तियाँ भी सम्पत्तिके लिए हो जाती हैं ॥१६८॥

नगरमें जाकर वसुपाल कुमारका वारिषेणा आदि कन्याओंके साथ विवाहोत्सव हुआ, वह विवाहोत्सव अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त था ॥१६९॥ उसी समय चतुर श्रीपाल कुमार भी जयावती आदि चौरासी इष्ट कन्याओंसे अलंकृत—सुशोभित हुए ॥१७०॥ अपनी कान्तिसे विरदिगन्तको व्याप्त करनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके समान पृथिवीका पालन करते हुए दोनों भाई चिरकाल तक सुखका उपभोग करते रहे ॥१७१॥ कुछ दिन बाद श्रीपालकी जयावती रानीके गुणोंसे उज्ज्वल गुणपाल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ और इधर आयुधचालामें चक्रवर्त्तन प्रकट हुआ ॥१७२॥ जिसका शरीर लक्ष्मीसे सुशोभित ही रहा है ऐसा वह श्रीपाल चक्रवर्त्तिक कहे हुए सब भोगोंका अत्यन्त अनुभव करता हुआ इन्द्रकी लीलाको भी उल्लिखन कर रहा था ॥१७३॥ जयावतीके भाई जयवर्मणके जयसेना नामकी पुत्री थी जो अपनी कान्तिमें मेनार्क समान सबको जीतनेवाली थी ॥१७४॥ इसके सिवाय मनोवेग, अगनिवर, शिव, अगनिवेग, हरिकेतु तथा और भी अनेक अच्छे-अच्छे विद्याधर राजा थे, जयसेनाको आदि लेकर

१ कुबेरश्रीवसुपालयोराशीर्वचन । २ सुखावत्या सामर्थ्येन । ३ स्तीति स्म । ४ श्रीपाल । ५ कन्यादिनाम्नि । ६ प्राप्त सन् । ७ सप्तदिनानन्तरमेव । ८ आत्मोयपुण्डरीकोणीपुरम् । ९ वदद्वन्नाथो नृपद्वन्द्विर्गतिः । १० प्रियतरुणीभिः, पट्टाहर्षभिरित्यर्थः । ११ नुमन्वभूताम् । १२ तिरस्करोति स्म । वल्लिहृष्ट ल० । १३ लक्ष्म्यालङ्कित अ०, म० । लक्ष्मीललित प०, ल० । १४ कान्त्या इ०, प०, अ०, म०, ल० । १५ चन्द्रिभिः । १६ जयशीला । १७ जयसेनादिप्रधानाभिः । १८ मनोवेगादीनाम् । १९ पृथ्वीभिः ।



कदाचित् काललब्ध्यादिवोदितोऽभ्यर्णनिर्घृतिः । विलोक्यन्नभोभागमकस्मादन्धकारितम् ॥ १७७॥  
 चन्द्रग्रहणमालोक्य धिगैतैः स्थापि चेदियम् । अवस्था संसृतौ पापप्रस्तस्यान्यस्य का गतिः ॥ १७८॥  
 इति निर्विधं संजातजातिस्मृतिरुदात्तधीः<sup>१</sup> । स्वपूर्वभवसंबन्धं प्रत्यक्षमिव संस्मर ॥ १७९॥  
 पुष्करार्द्धेऽपरे भागे विदेहे पद्मकाङ्क्षये । विषये विश्रुते कान्त पुराधीशोऽवनीश्वरः ॥ १८०॥  
 रथान्तकनकस्तस्य वल्लभा कनकप्रभा । तथोर्त्त्वा<sup>२</sup> प्रभापास्तमास्करः कनकप्रभः ॥ १८१॥  
 तस्मिन्नन्येषु रुद्याने दृष्टा सप्रेमं मल्लिथा । विद्युत्प्रभाङ्ग्या तस्या वियोगेन विषण्णवान् ॥ १८२॥  
 सार्धं समाधिगुप्तस्य समीपे संयमं परम् । संप्राप्तवानतिस्निग्धैः पितृसानुसनाभिभिः ॥ १८३॥  
 तत्र सम्यक्त्वमुद्भयादिषोडश प्रत्ययान्<sup>३</sup> मृशम् । भावयित्वा भवस्यान्ते<sup>४</sup> जयन्ताख्यविमानजः ॥ १८४॥  
 प्रान्ते<sup>५</sup> ततोऽहमागत्य जातोऽत्रैवमिति स्फुटम्<sup>६</sup> ।<sup>७</sup> समुद्रद्वेष्टेनादित्यगति<sup>८</sup> बार्थुराङ्ग्यः<sup>९</sup> ॥ १८५॥  
 श्रेष्ठी कुबेरकान्तश्च लौकान्तिकपदं गताः । बोधितस्तैः<sup>१०</sup> समागत्य गुणपालः प्रबुद्धवान् ॥ १८६॥  
 मोहपार्श्वं समुच्छिद्य तत्सवांश्च तपस्ततः । घातिकर्माणि निर्वृत्त्य सयोगिपदमागमत् ॥ १८७॥  
 यशःपालः सुखावत्यास्तनूजस्तेन संयमम् । गृहीत्वा सह तस्यैव गणभृत्यप्रयोऽभवत् ॥ १८८॥

उन सब राजाओको पुत्रियोके साथ गुणपालका विवाह हुआ । इस प्रकार वह गुणपाल उन कन्याओके मिलनेसे बहुत ही हर्षित हुआ ॥ १७५-१७६॥

अथानन्तर-किसी समय जिसका मोक्ष जाना अत्यन्त निकट रह गया है ऐसा गुणपाल काललब्धि आदिसे प्रेरित होकर आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमें उसको दृष्टि अकस्मात् अन्धकारसे भरे हुए चन्द्रग्रहणकी ओर पड़ी, उसे देखकर वह सोचने लगा कि इस संसारको धिक्कार हो, जब इस चन्द्रमाकी भी यह दशा है तब संसारके अन्य पापप्रसित जीवोंकी क्या दशा होती होगी ? इस प्रकार वैराग्य आते ही उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले गुणपालको जाति स्मरण उत्पन्न हो गया जिससे उसे अपने पूर्वभवके सम्बन्धका प्रत्यक्षकी तरह स्मरण होने लगा ॥ १७७-१७९॥ उसे स्मरण हुआ कि पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम विदेहमें पद्मक नामका एक प्रसिद्ध देश है, उसके कान्तपुर नगरका स्वामी राजा कनकरथ था । उसकी रानीका नाम कनकप्रभा था, उन दोनोंके मे अपनी प्रभासे सूर्यको तिरस्कृत करनेवाला कनकप्रभ नामका पुत्र हुआ था । किसी दिन एक बगीचेमें विद्युत्प्रभा नामकी मेरी स्त्रीको साँपने काट खाया, उसके वियोगसे मे विरक्त हुआ और अपने ऊपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले पिता माता तथा भाइयोके साथ-साथ मैने समाधिगुप्त मुनिराजके समीप उत्कृष्ट संयम धारण किया था ॥ १८०-१८३॥ वहाँ मैं दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओका अच्छी तरह चिन्तवन कर आयुके अन्तमें जयन्त नामके विमानमें अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ ॥ १८४॥ और अन्तमें वहाँसे चयकर यहाँ श्रीपालका पुत्र गुणपाल हुआ हूँ । वह इस प्रकार विचार ही रहा था कि इतनेमें ही ऋषिसमुद्रदत्त, आदित्यगति, वायुरथ और श्रेष्ठ कुबेरकान्त जो कि तपश्चरण कर लौकान्तिक देव हुए थे उन्होंने आकर समझाया । इस प्रकार प्रबोधको प्राप्त हुए गुणपाल मोहजालको नष्ट कर तपश्चरण करने लगे और घातिया कर्मोंको नष्ट कर सयोगिपद-तेरहवे गुण स्थानको प्राप्त हुए ॥ १८५-१८७॥ सुखावतीका पुत्र यशपाल भी उन्ही गुणपाल जिनेन्द्रके पास दीक्षा धारण कर

१ चन्द्रस्य । २ रुद्राधीः अ०, स०, ल० । ३ कान्त्या निराकृत । ४ कारणानि । ५ आयुपस्यान्ते । ६ अहमिन्द्र । ७ स्वर्गयुरन्ते । ८ स्वर्गात् । ९ पूर्वभवसंबन्ध प्रत्यक्षमिव संस्मरन्निति संबन्ध । १० प्रियकान्तायाः जनकेन सह । ११ हिरण्यवर्मणो जनकः । १२ प्रभावत्या पिता । १३ उद्यतलौकान्तिकामरैः ।

\*प्रियदत्ताका पिता, † हिरण्यवर्माका पिता, ‡ प्रभावतीका पिता, § कुबेरमित्रका पिता ।

राजराजस्तदा भूरिविभूत्याऽभ्येत्य तं<sup>१</sup> सुदा । श्रीपालः पूजयित्वा तु धृत्वा धर्मद्रयात्मकम् ॥१८६॥  
 ततः स्वभावतन्वन्धमप्राप्तीत् प्रश्रयाश्रयः । भगवान्ब्रह्मलुवाचेति कुरारजं सुलोचना ॥१८७॥  
 निवेदितवती पृष्ठा मृष्टवाक् सौष्टवान्विता । विदेहे पुण्डरीकिण्यां यवःपालो महोपतिः ॥१८८॥  
 तत्र सर्वसमृद्धाख्यो वणिक् तस्य मनःप्रिया । धनक्षयानुजालाऽसौ धनश्रीर्धनवर्दिनी ॥१८९॥  
 तयोस्तुक् सर्वदयितः श्रेष्ठी तद्गणिनी सती । संज्ञया सर्वदयिता श्रेष्ठिश्चिन्तवद्भूमे ॥१९०॥  
 सुता सागरसेनस्य जयसेना समाह्वया । धनक्षयवणीगस्य जयदत्ताभिधाऽपरा ॥१९१॥  
 त्रेश्वरीरनुजा श्रेष्ठिपितृस्तस्यां तन्मूढवौ<sup>२</sup> । जातौ सागरसेनस्य सागरो दत्तवाक्परः ॥१९२॥  
 ततः समुद्रदत्तश्च सह सागरदत्तया । सुतौ सागरसेनानुजायां जातमहोदयौ ॥१९३॥  
 जातौ सागरसेनायां दत्तौ<sup>३</sup> वैश्रवणादिवाक् । दत्ता<sup>४</sup> वैश्रवणादिश्च दयादः<sup>५</sup> श्रेष्ठिः<sup>६</sup> स<sup>७</sup> तु ॥  
 भार्या<sup>८</sup> सागरदत्तस्य दत्ता<sup>९</sup> वैश्रवणादिका । सती समुद्रदत्तस्य<sup>१०</sup> सा सर्वदयिता<sup>११</sup> प्रिया ॥१९४॥  
 सा वैश्रवणदत्तेष्टा दत्तान्ता<sup>१२</sup> सागराह्वया । तेषां<sup>१३</sup> सुखसुखेनैवं काले गच्छति मृतम् ॥१९५॥  
 पद्मपालमहोपालमावजितमहाधनः<sup>१४</sup> । वणिग्धनक्षयोऽभ्येत्यः सप्तलैर्दर्शनीकृतैः<sup>१५</sup> ॥२००॥

उन्हीका पहला गणधर हुआ ॥१८८॥ उसी समय राजाधिराज श्रीपालने बड़ी विभूतिके साथ  
 आकर गुणपाल तीर्थ करकी पूजा की और गृहस्थ तथा मुनिसम्बन्धी-दोनो प्रकारका धर्म  
 सुना । तदनन्तर बड़ी विनयके साथ अपने पूर्वभवका सम्बन्ध पूछा, तब भगवान् इस प्रकार  
 कहने लगे — यह सब बातें मधुर वचन बोलनेवाली सुन्दरी सुलोचना महाराज जयकुमारके  
 पूछनेपर उनसे कह रही थी । उसने कहा कि —

विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमे यशपाल नामका राजा रहता था ॥१८९-१९१॥  
 उसी नगरमें सर्वसमृद्ध नामका एक वैश्य रहता था । उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था जो कि  
 धनको बढानेवाली थी और धनजयकी छोटी बहिन थी । उन दोनोंका पुत्र सर्वदयित सेठ था,  
 उसकी बहिनका नाम सर्वदयिता था जो कि बड़ी ही सती थी । सर्वदयितकी दो स्त्रियाँ थी,  
 एक तो सागरसेनकी पुत्री जयसेना और दूसरी धनजय सेठकी पुत्री जयदत्ता ॥१९२-१९४॥  
 सेठ सर्वदयितके पिताकी एक छोटी बहिन थी जिसका नाम देवश्री था और वह सेठ सागर-  
 सेनको व्याहो थी । उसके सागरदत्त और समुद्रदत्त नामके दो पुत्र थे तथा सागरदत्ता नामकी  
 एक पुत्री थी । सागरसेनकी छोटी बहिन सागरसेनाके दो सन्ताने हुई थी — एक वैश्रवणदत्ता  
 नामकी पुत्री और दूसरा वैश्रवणदत्त नामका पुत्र । वैश्रवणदत्त सेठ सर्वदयितका हिस्सेदार  
 था ॥१९५-१९७॥ वैश्रवणदत्ता सेठ सागरदत्तकी स्त्री हुई थी, सेठ समुद्रदत्तकी स्त्रीका  
 नाम सर्वदयिता था और सागरदत्ता सेठ वैश्रवणदत्तको व्याहो गयी थी । इस प्रकार उन सबका  
 समय निरन्तर बड़े प्रेमसे व्यतीत हो रहा था ॥१९८-१९९॥ जिसने बहुत धन उपार्जन किया  
 है ऐसे सेठ धनजयने किसी दिन अच्छे-अच्छे रत्न भेट देकर राजा यशपालके दर्शन किये

१ गुणपालकेवलनम् । २ जयकुमारम् । ३ गणिनी । ४ पुत्र । ५ राजवेष्टी । ६ धनजयनामवैश्यस्य ।  
 ७ द्वितीया । ८ सर्वदयितश्रेष्ठिजनकसर्वसमृद्धस्य । ९ पुत्री । १० देवधियोर्भक्तुर्भगिन्याम् । ११ सर्वसमृद्धस्य  
 भार्यायाम् । १२ दत्ता ७०, ५०, ६०, ८०, ९० । १३ दत्तो ८०, ५०, ६०, ७०, ८० । १४ जातिः ।  
 १५ सर्वदयितश्रेष्ठिः । १६ वैश्रवणदत्तः । १७ सागरसेनस्य ज्येष्ठपुत्रस्य । १८ वैश्रवणदत्ता । भार्याऽभिप्रेति  
 सम्बन्धः । १९ सागरसेनस्य, कनिष्ठपुत्रस्य । २० सर्वदयितश्रेष्ठिनी गणिनीप्रिया । भार्या जातेति नवम् ।  
 २१ समुद्रदत्तस्यानुजा सागरदत्ताह्वया । वैश्रवणदत्तस्येष्टा भवूवेति नवम् । २२ मनुद्रादीनाम् । २३ अष्टचष्टेण,  
 अत्यन्तमुत्तमेत्यर्थः । २४ आनीत । २५ उपायनीकृतैः ।

व्यलोकिष्टं स मृत्योऽपि तस्मै संमानपूर्वकम् । प्रीत्या धनं हिरण्यादि प्रभूतमदितो वितम् ॥२०१॥  
 विलोक्य तं वगिष्णुशः सर्वोऽपि धनसाक्षितुम् । अने पुरोपकण्ठस्ये संभूय विनिवेशिरे ॥२०२॥  
 नखिवेगादधाल्नेयुः स सन्नुद्रादिदत्तकः । रामे स्वगृहभागस्य भागोऽर्पकपूर्वकम् ॥२०३॥  
 केनाप्यविदितो राजावै सत्यसुपागतः । काले गर्भं विदित्वाऽस्याः पापो दुश्चरितोऽभवत् ॥२०४॥  
 इति सागरदत्ताख्यस्तथा मन्दसमागमम् । अपिदोऽप्यपरीक्षया स्वगेहां सानपाकरोत् ॥२०५॥  
 ततः श्रेष्ठिगृहं याता तेषामपि त्वं दुराचरा । नास्मद्गेहं समागच्छेत्प्रज्ञानात् सा निवारिता ॥२०६॥  
 सतीपवर्तिन्यङ्गस्मिन् कतने विहितस्थितिः । नवमासावधौ पुत्रमलब्धानत्पुण्यकम् ॥२०७॥  
 तद्विदित्वा कुलस्यैव सन्त्यष्टः पराभवः । यत्र क्वचन नीचैर्न निमिषेत्यनुजीविकः ॥२०८॥  
 प्रत्येयः श्रेष्ठिना श्रेष्ठः श्रेष्ठिनिस्त्रय बुद्धिमान् । स्मराने साधितुं विद्यामागतस्य स्यादग्निः ॥२०९॥  
 बलं सन्मर्यामास विविश्रो दुरितोदयः । लघोऽसौ जयधानाख्यो सयमालस्य बहुभा ॥२१०॥  
 तौ भोगपुरवास्तव्यौ जितशत्रुसमाह्वयम् । कृत्वावर्षयतां पुत्रनिव नवौतनं सुदा ॥२११॥

राजाने नी उसका सम्मान किया और बड़े प्रेनसे उसके लिए उपायोग्य बहुत-सा नुबर्ण आदि धन वापिस दिया ॥२००-२०१॥ यह देखकर सब वैश्यपुत्र धन कमानेके लिए बाहर निकले और सब मिलकर नगरके समीप ही एक गाँवमें जाकर बहुर गये ॥२०२॥ दूसरे दिन समुद्रदत्त रात्रिमें उन डेरोंसे अपने घर आया और अपनी स्त्रीसे संभोग कर किसीके जाने बिना ही रात्रिमें ही अपने झुण्डमें जा निला । इधर सनयानुसार उसका गर्भ बढ़ने लगा । जब इस बातका पता समुद्रदत्तके बड़े भाई सागरदत्तको चला तब उसने समझा कि यह अवश्य ही इसका पापरूप दुराचरण है । समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने पसिके साथ सजागम होनेका सब समाचार दृष्टिप बतलाया तथापि उसने परीक्षा किये बिना ही उसे घरसे निकाल दिया ॥२०३-२०५॥ तब सर्वदयिता अपने भाई सेठ सर्वदयितके घर गयी परन्तु उसने भी अज्ञानतासे वही कहकर उसे भीतर जानेसे रोक दिया कि 'तू दुराचारिणी है, मेरे घरमें मत आ' ॥२०६॥ तदनन्तर वह पासके ही एक दूसरे घरमें रहने लगी, नौ महीनेकी अवधि पूर्ण होनेपर उसने एक अतिशय पुण्यवान् पुत्र प्राप्त किया ॥२०७॥ जब सेठ सर्वदयितको यह खबर लगी तो उसने समझा यह पुत्र क्या, हमारे कुलका कलंक उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसने एक नौकरको यह कहकर भेजा कि 'इसे ले जाकर किसी दूसरी जगह रख आ' । वह सेवक बुद्धिमान् था और सेठका विश्वासपात्र भी था, वह बालकको ले गया और सेठके एक विद्यावर मित्रको जो कि विद्या सिद्ध करनेके लिए इमज्ञानमें आया था, सौंप आया तो ठीक ही है क्योंकि पापका उदय बड़ा विचित्र होता है । सेठके उस मित्रका नाम जयधाम था और उसकी स्त्रीका नाम जयभाना था । वे दोनों भोगपुरके रहनेवाले थे उन्होंने उस पुत्रका नाम जितशत्रु रखा और उसे औरत पुत्रने समान मानकर वे बड़ी प्रसन्नतासे उसका पालन-पोषण करने लगे ॥२०८-

१ ददर्श । २ अन्त्यजम् । ३ दत्तौ । ४ धर्मजं राजाभूदितोऽयं कृष्ण । ५ नञ्तिनु ल० । ६ तच्छिञ्चिपात् । ७ देवर्षीसागरसेनयोः पुत्रः सन्नुद्रदत्तः । ८ सिद्धिरम् । ९ सर्वदत्तापाः । १० लघोऽनन्त्यवहारः । ११ कुर्वतः कश्चिज्जारीरोगवदिति । १२ सर्वदयिता । १३ निष्पूरणगन्तम् । १४ मन भस्ती सिद्धिप्राप्तारम्भ गण सह सम्पर्क इतवानिति विवेचितोऽपि । १५ सर्वदयिताम् । १६ निष्कासितवान् । १७ निष्कास्यतर्वदयितोऽप्येतिगुहम् । १८ कुट्टनाचरति स्त । १९ नास्मद्गेहं ल०, ल०, प०, स०, इ० । २० गृहे । २१ शिशुः । २२ यन् कुत्रापि । २३ त्याग्य । २४ नृत्यः । २५ विद्यास्यः । २६ विद्यावरस्त्र । २७ लघ्वानलजयभानेति द्वौ । २८ भोगपुरनिवासिनी । २९ शिशोऽजितशत्रुरित्याख्यां कृत्वा । ३० वध्यतः स्त ।

तदा पुत्रवियोगेन सा सर्वदयिताऽचिरात् । खीवेदमिच्छनान्मृत्या संप्रापज्जन्म पौरुषम् ॥२१०॥  
ततः समुद्रदत्तोऽपि साधेनामा<sup>१</sup> समागतः । श्रुत्वा स्वमार्गवृत्तान्तं निन्दित्वा आतरं निजम् ॥२१३॥  
<sup>२</sup>श्रेष्ठिनेऽनपराधया गृहवेशनिवारणात् । <sup>३</sup>अकुप्यन्नितरां कृत्यं कः सहताविचारितम् ॥२१४॥  
ज्येष्ठे न्यायगतं योग्ये मयि स्थितवति स्वयम् । श्रेष्ठित्वमयमभ्यास इति श्रेष्ठिर्नि<sup>४</sup> कोपवान् ॥२१५॥  
इ<sup>५</sup> वैश्रवणदत्तोऽपि स ससागरदत्तकः । सार्द्धं समुद्रदत्तेन मात्मन्योच्छेदिनि<sup>६</sup> स्थिता ॥२१६॥  
दुस्सहं तपसि श्रेयो मत्सरोऽपि केचित् नृणाम् । अन्येषु जितगन्तुं तं दृष्ट्वा श्रेष्टी कृतो भवान् ॥२१७॥  
<sup>७</sup>समुद्रदत्तसारु<sup>८</sup> दधत्सं स दमागतः । इति पप्रच्छ सोऽप्यात्मागमनक्रममब्रवीन् ॥२१८॥  
नान्यो मद्भागिनेयोऽयमिति तदस्तसंस्थिताम् । मुद्रिकां वीक्ष्य निश्चित्य निःपरीक्षकता<sup>९</sup> निजाम् ॥  
मैथुनस्य<sup>१०</sup> च संसृत्य तस्मै<sup>११</sup> सर्वश्रेयं सुताम् । धनं श्रेष्ठिपदं चामा<sup>१२</sup> दत्त्वा निर्विण्णमानसम् ॥२१९॥  
जयधामा<sup>१३</sup> जयभामा जयसेना<sup>१४</sup> तथाऽपरा । जयदत्ताभिधाना च परा सागरदत्तिका<sup>१५</sup> ॥२२०॥  
सा वैश्रवणदत्ता<sup>१६</sup> च परे चोत्पन्नबोधकाः । संज्ञातास्तैः सह श्रेष्टी संयमं प्रत्यपद्यत ॥२२१॥  
सुनि रतिवरं प्राप्य विरं विहितसंयमाः । एते सर्वेऽपि कालान्ते स्वर्गलोकं समागमन् ॥२२२॥

२११॥ सर्वदयिताने पुत्रके वियोगसे बहुत दिन तक स्त्रीवेदकी निन्दा की और मरकर पुनरु-  
त्पाद जन्म पाया ॥२१२॥ तदनन्तर समुद्रदत्त भी अपने झुण्डके साथ वापस आ गया और  
अपनी स्त्रीका वृत्तान्त सुनकर अपने भाईकी निन्दा करने लगा। सेठने अपराधके बिना ही  
उसकी स्त्रीको घरमें प्रवेश करनेसे रोका था इसलिए वह सेठपर अत्यन्त क्रोध करता रहता  
था सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य बिना विचारे किया जाता है उसे भला कौन सहन कर  
सकता है ? ॥२१३-२१४॥ कुछ दिन बाद वैश्रवण सेठ सागरदत्तसे यह कहकर क्रोध करने  
लगा कि 'जब मैं बड़ा हूँ, और योग्य हूँ तो न्यायसे मुझे सेठ पद मिलना चाहिए, मेरे रहते  
हुए यह सेठ क्यों बन बैठा है' । इसी प्रकार सागरदत्त और समुद्रदत्त भी सेठके साथ ईर्ष्या  
करने लगे ॥२१५-२१६॥ आचार्य कहते हैं कि कठिन तपश्चरणके विषयमें की हुई मनुष्योंकी  
ईर्ष्या भी कहीं-कहीं अच्छी होती है परन्तु अन्य सब जगह अच्छी नहीं होती। किसी एक  
दिन सेठ सर्वदयिताने जितशत्रुसे पूछा कि तू समुद्रदत्तकी समानता क्यों धारण कर रहा है -  
तेरा रूप उसके समान क्यों है ? और तू सभामें किसलिए आया है ? तब जितशत्रुने भी  
अनुक्रमसे अपने आनेका सब समाचार कह दिया ॥२१७-२१८॥ उसी समय सेठकी दृष्टि  
उसके हाथमें पहिनी हुई अँगूठीपर पड़ी, उसे देखकर उसने निश्चय कर लिया कि 'यह मेरा  
भानजा ही है, दूसरा कोई नहीं है। उसे अपनी और अपने तह्मनोईकी अपरीक्षकता ( बिना  
विचारे कार्य करने ) की याद आ गयी और उसे सर्वश्री नागकी पुत्री, तह्मन-सा धन और सेठका  
पद देकर स्वयं विरक्तचित्त हो गया ॥२१९-२२०॥ उसी समय जितशत्रुको पालगेवाला  
जयधाम विद्याधर, उसकी स्त्री जयभामा, जयसेना और जयदत्ता नागकी अपनी रिश्तियाँ, वैश्रवण-  
दत्तकी स्त्री सागरदत्ता और वैश्रवणदत्तकी बहन वैश्रवणदत्ता तथा और भी अनेक लोगोंको  
आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ। उन सबके साथ-साथ सेठने रतिवर भूमिज, रामीप जाकर संयम धारण

१ वणिक्समूहने सह । २ सर्वदयिताय । ३ युकीप । ४ तर्कदमिता । ५ य वै-२०, अ०, १०, १० । ६ सागर-  
दत्तसहितः । ७ श्रेष्ठिने ल०, य०, द०, न०, अ० । ८ समुद्रदत्तस्य समानता गताम् । ९ सभाम् । १० विचार-  
वृत्तताम् । ११ सागरदत्तस्य विचारवृत्तताम् । १२ निजभाषितेना नवपत्नये । १३ सर्वदयिताकी  
१४ जितशत्रुवर्चनविद्याधरदम्पती । १५ सर्वदयिताया भा । १६ सागरदत्तस्य

प्रान्ते स्वर्गादिहागल्य जयधामा तदातनः । वसुपालोऽत्र संजातो जयभामाऽप्यजायत ॥२२४॥  
 जयवत्सातसौन्दर्या जयसेनाऽजनिष्ट सा । पिप्पला<sup>३</sup> जयदत्ता तु वल्यन्तमदनाऽभवत् ॥२२५॥  
 विद्युद्वेगाऽभवद् वैश्रवणदत्ता कलाखिला<sup>४</sup> । जाता सागरदत्तापि स्वर्गादित्य सुखावती ॥२२६॥  
 तदा सागरदत्तास्थः स्वर्गलोकात् समागतः । पुत्रो हरिवरो जातः स<sup>५</sup> पुरुरवसः प्रियः ॥२२७॥  
 समुद्रदत्तो ज्वलनवेगस्याजनि विश्रुतः । तनूजो धूमवेगाख्यो विद्याविहितपौरुषः ॥२२८॥  
 स वैश्रवणदत्तोऽपि भूतोऽग्राहनिवेगकः । श्रेष्ठी स सर्वदयितः श्रीपालस्त्वमिहाभवः ॥२२९॥  
 त्वं जामातुर्निराकृत्या सनाभिभ्यो विद्योजितः । तदा<sup>६</sup> त्वद्द्वेषिणोऽस्मिंश्च तव द्वेषिण एव ते ॥२३०॥  
 तदा प्रियास्तवात्राऽपि संजाता नितरां प्रियाः । अहिं<sup>७</sup> सयाऽमर्क स्यात्सीद् बन्धुमिस्तव<sup>८</sup> संगमः ॥२३१॥  
 सत्तपःफलतो जातं चक्रित्वं सकलक्षितेः । सर्वसंगपरित्यागान्मदङ्घ्रु भोक्षं गमिष्यसि ॥२३२॥  
 अथोदीरिततीर्थं शवचनाकर्णनेन ते । सर्वं परस्परद्वेषाद् विरमन्ति स्म विस्मयात् ॥२३३॥  
 जन्मरोगजरामृत्युसिंहान्तं<sup>९</sup> सन्ततानुगान् । भनिषांश्च<sup>१०</sup> धियं<sup>११</sup> धन्योऽधासीद्वर्माभृतं ततः ॥२३४॥  
 भिगिदं<sup>१२</sup> चक्रिस्तात्राज्यं कुलालस्येव जीवितम् ।<sup>१३</sup> मुक्तिश्चक्रं<sup>१४</sup> परित्राय मृदुत्पन्नफलासितः<sup>१५</sup> ॥२३५॥

कर लिया । वे सभी लोग चिरकाल तक संयमका साधन कर आयुके अन्तमें स्वर्ग गये ॥२२१-२२३॥ वहाँकी आयु पूरी होनेपर स्वर्गसे आकर पहलेका जयधाम विद्याधर यहाँ राजा वसुपाल हुआ है, जयभामा वसुपालकी सुन्दरी रानी जयावती हुई है, जयसेना पिप्पली हुई है, जयदत्ता मदनावती हुई है, वैश्रवणदत्ता सब कलाओंमें निपुण विद्युद्वेगा हुई है, सागरदत्ता स्वर्गसे आकर सुखावती हुई है, उस समयका सागरदत्त स्वर्गसे आकर पुरुरवाका प्यारा पुत्र हरिवर हुआ है, समुद्रदत्त ज्वलनवेगका प्रसिद्ध पुत्र हुआ है जो कि अपनी विद्याओसे ही अपना पौरुष प्रकट कर रहा है, वैश्रवणदत्त अशनिवेग हुआ है और सर्वदयित सेठ यहाँ श्रीपाल हुआ है जो कि तू ही है ॥२२४-२२९॥ तूने पूर्वभ्रममें अपने जैमाई ( भानेज-जितशत्रु ) को उसकी मातासे अलग कर दिया था इसलिए तुझे भी इस भ्रममें अपने भाई-बन्धुओंसे अलग होना पड़ा है, पूर्व-भ्रममें जो वैश्रवणदत्त, सागरदत्त तथा समुद्रदत्त तेरे द्वेषी थे वे इस भ्रममें भी तुझसे द्वेष करने-वाले धूमवेग, अशनिवेग और हरिवर हुए हैं । उस भ्रममें जो तुम्हारी स्त्रियाँ थीं वे इस भ्रममें भी तुम्हारी अत्यन्त प्यारी स्त्रियाँ हुई हैं । तुमने अपनी बहनके बालककी हिंसा नहीं की थी इसलिए ही तेरा इस भ्रममें अपने भाई-बन्धुओंके साथ फिरसे समागम हुआ है । तूने उस भ्रममें जो तपश्चरण किया था उसीके फलसे सम्पूर्ण पृथिवीका चक्रवर्ती हुआ है और अन्तमें सब परिश्रहोंका त्याग कर देनेसे तू शीघ्र ही मोक्ष पा जायेगा ॥२३०-२३२॥ इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् गुणपालके कहे हुए वचनोंको सुनकर सब लोगोंने आश्चर्यपूर्वक अपना परस्परका सब वैर छोड़ दिया ॥२३३॥

तदनन्तर पुण्यात्मा श्रीपालने सदासे पीछे छोड़े हुए जन्म, रोग, जरा और मृत्युको नष्ट करनेके लिए बुद्धि स्थिर कर धर्मरूपी अमृतका पान किया ॥२३४॥ वह सोचने लगा कि यह चक्रवर्तीका साम्राज्य कुम्हारकी जीवनीके समान है, क्योंकि जिस प्रकार कुम्हार अपना चक्र ( चाक ) घुमाकर मिट्टीसे बने हुए घड़े आदि बरतनोंसे अपनी आजीविका चलाता है

१ तत्कालभव । २ श्रीपालस्याश्रमहिवी जाता । ३ पिप्पली ल०, प०, इ०, अ०, सं० । ४ संपूर्णकला । ५ पुरुरवस इति विद्याधरस्य । ६ भगिनीपुत्रस्य निराकरणेन । ७ तत्काले । ८ अहिंसनेन । ९ तव भगिनी-शिषोः । १० पुनर्बन्धवः सह संयोगः । ११ निरन्तरानुगमनश्रीलान् । १२ पत्नी । वेद पाने इति धातुः । १३ भोजनक्रिया । १४ चक्ररत्नम् घटक्रियामन्त्री च । १५ क्षेत्रोत्पन्नफलप्राप्तित्वं । मृत्पिण्डोत्पन्नप्राप्तित्वं च ।

आयुर्वायुर्य<sup>१</sup> मोहो<sup>२</sup> भोगो मङ्गी<sup>३</sup> हि संगमः<sup>४</sup> । वयुः पापस्य दुष्पात्रं विबुल्लोला विभूतयः ॥२३६॥  
 मार्गविभ्रंशहेतुत्वाद् यौवनं गहनं वनम् । या रतिर्विषयेष्वेवा गवेपयति साजरतिम् ॥२३७॥  
 सर्वमे तत्सुखाय स्याद् यावन्मसितिविपर्ययः<sup>५</sup> । प्रगुणायां मतौ सत्यां किं तत्पाप्यमतः परम् ॥२३८॥  
 चित्तदुग्धस्य चेद् बुद्धिर्मिलापविषादुद्भूतः<sup>६</sup> । कथं दुःखफलानि स्युः संभोगविट्पेषु न ॥२३९॥  
 भुक्तो भोगो दशाहोऽपि यथेष्टं सुचिरं मया । मात्रामात्रेऽपि मात्रासीत्सिस्तृष्णाविघातिनी ॥२४०॥  
 अस्तु वास्तु समस्तं च संकल्पविषयीकृतम् । इष्टमेव तथाप्यस्मान्नास्ति<sup>७</sup> व्यस्ताऽपि निर्द्वि<sup>८</sup>ति<sup>९</sup> ॥२४१॥  
 किल स्त्रीभ्यः सुखावाप्तिः पौरुष<sup>१०</sup> किमतः परम् । दै-यमात्मनि संभाव्य<sup>११</sup> सौख्यं स्यां परम्<sup>१२</sup> पुमान् ॥  
 इति स्त्रीपालचक्रेशः सत्यजन् वक्रतां धियः । अक्रमेणाखिलं त्यक्तुं सचक्रं मतिमातनोत् ॥२४३॥  
 ततः सुखावतीपुत्रं नरपालाभिवाचकम् । कृताभिपेक्षमारोप्य समुत्तुङ्गं निजासनम् ॥२४४॥  
 जयवत्यादिभिः स्वामिर्देवोभिर्धरणीधरैः । वसुपालादिभिश्चासा संयमं प्रत्यपचत् ॥२४५॥  
 स द्याहमन्तरङ्गं च तपस्तप्त्वा यथाविधि । क्षपकश्रेणिमारुह्य<sup>१३</sup> मासेन<sup>(१)</sup> हतमोहक ॥२४६॥  
 यथाप्यातमवाप्योत्चारित्रिनिष्कपायकम् । ध्यायन् द्वितीयशुक्लेन वीचाररहितात्मना<sup>१४</sup> ॥२४७॥

उसी प्रकार चक्रवर्ती भी अपना चक्र (चक्ररत्न) घुमाकर मिट्टीसे उत्पन्न हुए रत्न या कर शब्दसे अपनी आजोविका चलाता है — भोगोपभोगकी सामग्री जुटाता है इसलिए इस चक्रवर्ती-के साम्राज्यको धिक्कार है ॥२३५॥ यह आयु वायुके समान है, भोग मेघके समान है, इष्ट-जनोका संयोग नष्ट हो जानेवाला है, शरीर पापोका छोटा पात्र है और विभूतियां विजलीके समान चंचल है ॥२३६॥ यह यौवन समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करानेका कारण होनेसे सघन वनके समान है और जो यह विषयोमे प्रीति है वह द्वेषको ढूँढनेवाली है ॥२३७॥ इन सब वस्तुओंसे सुख तभी तक मालूम होता है जबतक कि बुद्धिमें विपर्ययपना रहता है । और जब बुद्धि सीधी हो जाती है — तब ऐसा जान पड़ने लगता है कि इन वस्तुओंके सिवाय छोड़ने योग्य और क्या होगा ? ॥२३८॥ जब कि अभिलाषारूपी विषके अंकुरोंसे इस चित्तरूपी वृक्षकी सदा वृद्धि होती रहती है तब उसकी सभोगरूपी डालियोंपर भला दुःखरूपी फल क्यों नहीं लगेगे ? ॥२३९॥ मैंने इच्छानुसार चिरकाल तक दसों प्रकारके भोग भोगे परन्तु इस भवमें तृष्णाको नष्ट करनेवाली तृप्ति मुझे रचमात्र भी नहीं हुई ॥२४०॥ यदि हमारी इच्छाके विषयभूत सभी इष्ट पदार्थ एक साथ मिल जायें तो उनसे थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिलता है ॥२४१॥ स्थियोसे सुखकी प्राप्ति होना ही पुरुषत्व है ऐसा प्रसिद्ध है परन्तु इससे बढ़कर और दीनता क्या होगी ? इसलिए अपने आत्मामें ही सच्चे सुखका निश्चय कर पुरुष हो सकता हूँ — पुरुषत्वका धनी बन सकता हूँ ॥२४२॥ इस प्रकार बुद्धिकी वक्रताको छोड़ते हुए श्रीपाल चक्रवर्तीने चक्ररत्नसहित समस्त परिग्रहको एक साथ छोड़नेका विचार किया ॥२४३॥ तदनन्तर उसने नरपाल नामके सुखावतीके पुत्रका -राज्याभिषेक कर उसे अपने बहुत ऊँचे सिंहासनपर बैठाया और स्वयं जयवती आदि रानियो तथा वसुपाल आदि राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥२४४-२४५॥ उन्होंने विधिपूर्वक बाह्य और अन्तरंग तप तपा, क्षपक श्रेणीमें बढ़कर मोहरूपी शत्रुको नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला कपायरहित यथाक्यातं नामका उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त किया, वीचाररहित द्वितीय शुक्ल ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपका

१ वायुवेगी । २ मेघो ल० । ३ विनाशी । ४ इष्टसंयोग । ५ सम्मार्गच्युतिकारणत्वात् । ६ स्रक्चन्दनादि । ७ भवेज्यायाम्, मोह । ८ इष्टसकृकामिन्यादिकादन्वत् । ९ अत्यल्पकालेऽपि । १० अल्पापि । ११ सुखम् । १२ कुशलकुशलसमाचरणलक्षणं पौरुषम् । १३ संकल्पसुखम् । १४ अहं परमपुरुषो भवेयम् । १५ मोहाराति-जयाजितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । १६ एकत्ववितर्कबीचाररूपद्वितीयशुक्लध्यानानेन ।

धातिकर्मत्रयं हत्वा संप्राप्तनवकेवलः<sup>१</sup> । सयोगस्थानमाक्रम्य वियोगो वीतवत्समः ॥२१८॥  
 शरीरश्रितयापायादाविष्कृतगुणोत्करः । अनन्तगो न्वमप्रायमवाप सुखसुप्तम् ॥२१९॥  
 तस्य राज्यश्च ताः सर्वा विधाय विविधं तपः । स्वर्गलोके स्वयोग्योरुविमानेष्वभवन् सुराः ॥२२०॥  
 आवां चाकर्ण्य तं नत्वा गत्वा नाकं निजोचितम्<sup>२</sup> । अनुभूय सुखं प्रान्ते<sup>३</sup> शेषपुण्यविशेषतः ॥२२१॥  
 दृहागतविति व्यक्तं व्याजहार सुलोचना । जयोऽपि स्वप्रियाप्रज्ञाप्रभावादुत्पन्ना ॥२२२॥  
 तदा सदस्सदः सर्वे प्रतीयुस्तदुदाहृतम्<sup>४</sup> । कः प्रत्येति<sup>५</sup> न दुष्टश्चेत् सद्भिर्निगदितं वचः ॥२२३॥  
 एवं सुखेन साम्राज्यभोगसारं निरन्तरम् । सुभ्रानौ रञ्जितान्योन्यौ कालं गमयतः स्म तौ ॥२२४॥  
 तदा<sup>६</sup> रङ्गमवावाप्तप्रज्ञप्तिप्रमुखाः श्रिताः । विद्यास्तां<sup>७</sup> च महीशो<sup>८</sup> च संप्रीत्या तौ मनन्दतुः<sup>९</sup> ॥२२५॥  
 तद्वलात् कान्तया सार्द्धं विहर्तुं सुरगोचरान् । वाञ्छन् देशान् निजं राज्यं नियोज्य विजयेऽनुजे ॥२२६॥  
 यथेष्टं सप्रियो विद्यावाहनः सरितां पतीन्<sup>१०</sup> । कुलसैलाभदीरम्यवनानि विविधान्यपि ॥२२७॥  
 विहरन्न्यदा मेघस्वरः कैलासशैले । वने सुलोचनाभ्यर्णदसौ किंचिदपासरत्<sup>११</sup> ॥२२८॥

चिन्तितवन करते हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन धातिया कर्मोंको नष्ट कर नौ केवललब्धियाँ प्राप्त की, सयोगकेवली गुणस्थानमे पहुँचकर क्रमसे योगरहित होकर सब कर्म नष्ट किये और अन्तमें औदारिक, तैजस, कार्माण-तीनों शरीरोंके नाशसे गुणोका समूह प्रकट कर अनन्त, शान्त, नवीन और उत्तम सुख प्राप्त किया ॥२४६-२४९॥ श्रीपाल चक्रवर्तीकी सब रानियाँ भी अनेक प्रकारका तप तपकर स्वर्गलोकमें अपने-अपने योग्य बड़े-बड़े विमानोमे देव हुई ॥२५०॥ सुलोचना जयकुमारसे कह रही है कि हम दोनों भी ये सब कथाएँ सुनकर एवं गुणपाल तीर्थंकरको तमस्कार कर स्वर्ग चले गये थे और वहाँ यथायोग्य सुख भोगकर आयुके अन्तमे बाकी वचे हुए पुण्यविशेषसे यहाँ उत्पन्न हुए हैं । ये सब कथाएँ सुलोचनाने स्पष्ट शब्दोमे कही थी और जयकुमार भी अपनी प्रियाकी बुद्धिके प्रभावसे उस समय अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ था ॥२५१-२५२॥ उस समय सभामे बैठे हुए सभी लोगोने सुलोचना के कहनेपर विश्वास किया सो ठीक ही है, क्योंकि जो दुष्ट नहीं है वह ऐसा कौत है जो सज्जन-के द्वारा कहे हुए वचनोपर विश्वास न करे ॥२५३॥ इस प्रकार साम्राज्य तथा श्रेष्ठ भोगोंका निरन्तर उपभोग करते और परस्पर एक दूसरेको प्रसन्न करते हुए वे दोनों सुखसे समय बिताने लगे ॥२५४॥ उसी समय पहले विद्याधरके भवमें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली जो प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ थी वे भी बड़े प्रेमसे जयकुमार और सुलोचना दोनोंको प्राप्त हो गयी ॥२५५॥ उन विद्याओके वलसे महाराज जयकुमारने अपनी प्रिया-सुलोचनाके साथ देवोके योग्य देशोंमें विहार करनेकी इच्छा की और इसलिए ही अपने छोटे भाई विजयकुमारको राज्यकार्यमें नियुक्त कर दिया ॥२५६॥

तदनन्तर जिसकी सवारियाँ विद्याके द्वारा वनी हुई हैं ऐसा वह जयकुमार अपनी प्रिया-सुलोचनाके साथ-साथ समुद्र, कुलाचल और अनेक प्रकारके मनोहर वनोमें विहार करता

१ संप्राप्तसाधिकाज्ञानदर्शनसम्पत्त्वचारित्रदानलाभभोगोपभोगवीर्यापीतितनवकेवललब्धि । २ औदारिकशरीर-कार्माणमिति शरीरत्रयविनाशात् । ३ अनन्तं शान्तमप्राप्तमवाप्तः इ०, अ०, स०, ल०, प० । अप्रायमनुपमम् । 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इत्यभिधानात् । ४ यथोचितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । ५ आगुरन्ते । ६ उवाच । ७ सदः सौदन्तीति सदस्सदः । सभां प्राप्ता इत्यर्थः । ८ विश्वस्तवन्तः । ९ सुलोचनावचनम् । १० न श्रद्धाति । ११ हिरण्यवर्मप्रभावतीश्वरे प्राप्ते । १२ सुलोचनाम् । १३ जयम् । १४ वचितश्रियः ल०, प०, इ०, स० । १५ प्रज्ञप्त्यादिविद्याबलात् । १६ पतिम् ल०, प०, इ०, स० । १७ अपसरति स्म ।

अमरं च समामध्ये शीलमाहात्म्यपांसनम् । जयस्य तस्मिन्नायाङ्गं प्रकुर्वति कदाचन ॥२५६॥  
 श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः । श्रीशं रविप्रभाल्येन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥२६०॥  
 प्रेषितां कांचना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः । क्षेत्रेऽस्मिन् भारते खेचराद्वैरुहरदिकृते ॥२६१॥  
 मनोहराल्यविषये राजारत्नपुराधिपः । अभूत् पिङ्गलगान्धारः सुखटा तस्य सुप्रभा ॥२६२॥  
 तपोविभुलभा पुत्री नमोभार्या अटच्छया । त्वां नन्दने महामरौ क्रोडन्तं वीक्ष्य सोत्सुका ॥२६३॥  
 तदा प्रभृति मन्त्रितेऽभवत्सर्वं लिखिताकृतिः । त्वत्समागममेवाहं ध्यायन्ती देवयोगतः ॥२६४॥  
 दृष्टव्यस्मि कान्ता<sup>१</sup> स्मिन्निवेगं<sup>२</sup> सोढुमक्षमा । इत्यपास्तोपकण्ठस्थान् स्वकीयान् स्मरविह्वला ॥२६५॥  
 स्वातुरागं जये व्यक्तमकरोद् विकृतेक्षणम् । तद्दृष्ट्वेष्टितं दृष्ट्वा मा मर्याः पापमीदृशम् ॥२६६॥  
 सौम्या त्वं समादायि मया मुनिवराद् व्रतम् । पराङ्मना<sup>३</sup> ससङ्गसुखं मे विपमक्षणम् ॥२६७॥  
 महीशेनेति संप्रोक्ता<sup>४</sup> मिथ्या सा कोपवेपिनी । उपात्तराक्षसीवेधा तं<sup>५</sup> ससुदृश्य गत्वरौ<sup>६</sup> ॥२६८॥  
 गुप्यावचयसक्तं नृपकान्तामितर्जिता<sup>७</sup> । भीत्वा तच्छीलमाहात्म्यात्<sup>८</sup> काङ्क्षनाऽदृश्यतां गता ॥२६९॥  
 अविभ्यवेचता खैवं शीलवत्याः परे न के । ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिन प्रति ॥२७०॥

हुआ किसी समय कैलाश पर्वतके वनमें पहुँचा और किसी कारणवश सुलोचनासे कुछ दूर चला गया ॥२५७-२५८॥ उसी समय इन्द्र अपनी सभाके बीचमें जयकुमार और उसकी प्रिया सुलोचनाके शीलकी महिमाका वर्णन कर रहा था उसे सुनकर पहले स्वर्गके रविप्रभ विमानमें उत्पन्न हुए लक्ष्मीके अधिपति रविप्रभ नामके देवने उनके शीलकी परीक्षा करनेके लिए एक काचना नामकी देवी भेजी, वह बुद्धिमती देवी जयकुमारके पास आकर कहने लगी कि 'इसी भरतक्षेत्रके विजयार्थ पर्वतकी उत्तरश्रेणीमें एक मनोहर नामका देश है, उसके रत्नपुर नगरके अधिपति राजा पिङ्गलगान्धार है, उनके सुख देनेवाली रानी सुप्रभा है, उन दोनोंकी मैं विभुलभा नामकी पुत्री हूँ और राजा नमिकी भार्या हूँ । महामेरु पर्वतपर नन्दन वनमें क्रीड़ा करते हुए आपको देखकर मैं अत्यन्त उत्सुक हो उठी हूँ । उसी समयसे मेरे चित्तमें आपकी आकृति लिख-सी गयी है, मैं सदा आपके समागमका ही ध्यान करती रहती हूँ । देवयोगसे आज आपको देखकर आनन्दके वेगकी रोकनेके लिए असमर्थ हो गयी हूँ ।' यह कहकर उसने समीपमें बैठे हुए अपने सब लोगोको दूर कर दिया और कामसे विह्वल होकर तिरछी आँखें चलाती हुई वह देवी जयकुमारमें अपना अनुराग स्पष्ट रूपसे प्रकट करने लगी । उसकी दुष्ट चेष्टा देखकर जयकुमारने कहा कि तू इस तरह पापका विचार मत कर, तू मेरी वहन है, मैंने मुनिराजसे व्रत लिया है कि मुझे परस्त्रियोके शरीरके ससर्गसे उत्पन्न होनेवाला सुख विप खानेके समान है । महाराज जयकुमारके इस प्रकार कहनेपर वह देवी झूठमूठके क्रोधसे कांपने लगी और राक्षसीका वेप धारण कर जयकुमारको उठाकर जाने लगी । फूल तोड़नेमें लगी हुई सुलोचनाने यह देखकर उसे ललकार लगायी जिससे वह उसके शीलके माहात्म्यसे डरकर अदृश्य हो गयी । देखो, शीलवती स्त्रीसे जब देवता भी डर जाते हैं तब औरोकी तो बात ही क्या है ? वह काचना देवी उन दोनोंके शीलका माहात्म्य जानकर अपने स्वामीके पास गयी, वहाँ उसने उन दोनोंके उस माहात्म्यकी प्रशंसा की जिसे सुनकर वह रविप्रभ देव भी आश्चर्यसे उनके गुणोंमें प्रेम करता हुआ उन दोनोंके पास आया । उसने अपना सब

१ रविप्रभविमानोत्पन्नलक्ष्मीपति । २ श्रीशो ल० । ३ निरुपिता । ४ भो प्रिय । ५ एतस्मिन् प्रदेशे । ६ कामवेगम् । ७ स्वजनान् । ८ स्वीकृतम् । ९ ससर्ग - ल०, प०, द०, स० । १० सम्प्रोक्तं ल० । ११ पाप-वेपनी ट० । अशोभन कम्पयन्ती । १२ जयम् । १३ गमनशीला । १४ सुलोचनातजिता । १५ काङ्क्षनास्था-मराङ्गना ।



प्राप्तं सर्वं सा तपोस्तादृशमाहात्म्यं सोऽपि विस्मयात् । रविप्रभः समागत्य ताडुर्मा तदगुणप्रियः ॥२७१॥  
 स्तब्धचान्तं समाख्याय युवाभ्यां क्षम्यतामिति । पूजयित्वा महारत्नैर्नाकिलोकं समीपिवान् ॥२७२॥  
 तथा चिरं विद्वत्प्राप्तमप्रीतिः कान्तया सनम् । निवृत्त्य पुरमागत्य सुखसारं समन्वभूत् ॥२७३॥  
 अथान्यदा समुत्पन्नोऽधिर्मधस्वरविपः । तीर्थोधिनाथं मासाद्य बन्दिस्वऽऽनन्दमाजयम् ॥२७४॥  
 कृत्वा धर्मपरिग्रहं श्रुत्वा तस्माद्यथोचितम् । आक्षेपिण्यादिकाः सम्बन्धं कथावन्बोद्ध्यादिकम् ॥२७५॥  
 कर्मनिर्मुक्त्यप्राप्त्यं शर्मसारं प्रबुद्धवीः । शिवं कर्ममहादेव्यास्तत्तुजो जगतां प्रियः ॥२७६॥  
 अवायोऽनन्तवीर्यान्धः शत्रुसिः गच्छशासविप् । आक्रमारं यदस्तस्य<sup>३०</sup> गौर्यं शत्रुजयावधि ॥२७७॥  
 त्यागः सर्वार्थिनन्तर्पां सत्यं स्वप्नेऽप्यविप्लवम्<sup>३१</sup> । विघायासिपवं तस्मै प्रदायात्मीयसंपदम् ॥२७८॥  
 पदं परं परिप्रादनुमन्यप्रनमिलापुकः । विसर्जितसगोत्रा<sup>३२</sup> द्विविनिजितनिवेन्द्रियः ॥२७९॥  
 वितर्जितमहामोहः समर्जितशुभाग्रयः<sup>३३</sup> । विजयेन जयन्तेन संजयन्तेन सातुजैः ॥२८०॥  
 भन्वैश्च निश्चितन्यागं गगद्वेषाविदूषितैः । रविकीर्त्ता<sup>३४ ३५</sup> रिपुजयोऽरिन्दमोऽरिजयाह्वयः ॥२८१॥  
 सुजयश्च सुक्रान्तश्च सप्तमद्वयानिर्जयः । महाजयोऽतिवीर्यश्च<sup>३६</sup> वीरंजयसमाह्वयः ॥२८२॥  
 रविबीर्यस्तथाऽन्ये च तन्वाश्चक्रवर्तिनः । तैश्च सादृ<sup>३७</sup> सुनिर्विण्णैश्चरमाहो विशुद्धिभाक् ॥२८३॥

वृत्तान्त कहकर उन दोनोंसे अमा माँगी और फिर बड़े-बड़े रत्नोंसे पूजा कर वह स्वर्गको चला गया । डवर जयकुमार भी प्रिया-सुलोचनाके साथ चिरकाल तक बड़े प्रेमसे विहारकर वापस लौटे और नगरमें आकर श्रेष्ठ युत्तोंका अनुभव करने लगे ॥२५९-२७३॥

अनान्तर-जिस आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे जयकुमारने किसी एक दिन आनन्दके पात्र श्री आदिनाथ तीर्थकरके पास जाकर उनकी वन्दना की, धर्मविषयक प्रश्न कर उनका यथा योग्य उत्तर सुना, आक्षेपिणी आदि कथाएँ कही और कर्मोंके बन्ध उदय आदिकी चर्चा की, ॥२७४-२७५॥ इन प्रकार प्रबुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले जयकुमारने कर्मोंके नाशसे प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ मुक्तिको प्राप्त किया । तदनन्तर उसने जो लोगोंको बहुत ही प्रिय है, जिसे शत्रु नहीं रोक सकते हैं, जो गन्ध और शास्त्र दोनोंका जाननेवाला है, जिसका यग कुमार अवस्थाने ही फैल रहा है, जिसकी गूखीरता शत्रुओंके जीतने तक है, जिसका दान सब पात्रकोंको सन्तुष्ट करनेवाला है, और जिसका सत्य कभी स्वप्नमें भी खण्डित नहीं हुआ है ऐसे शिवंकर महादेवोंके पुत्र अनन्तवीर्यका राज्याभिषेक कर उसे अपनी सब राज्य-सम्पदा दे दी ॥२७६-२७८॥ तदनन्तर जो आकुलतारहित परम पद प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहा है, जिनने अपने सब कुटुम्बका परित्याग कर दिया है, अपनी इन्द्रियोंको वश कर लिया है, महामोहको डँट दिना भी है और गुप्तासूचका संचय किया है ऐसे चरमगरीरी तथा विगुद्धि-को धारण करनेवाले जयकुमारने विजय, जयन्त, संजयन्त तथा परिग्रहके त्यागका निश्चय करनेवाले और राग-द्वेषसे अद्विष्ट अन्य छोटे भाइयों एवं रविकीर्ति, रविजय, अरिन्दम, अरिजय सुजय, सुक्रान्त, मातर्वी अजितंजय, महाजय, अतिवीर्य, वरंजय, रविवीर्य तथा इनके सिवाय और भी वैराग्यको प्राप्त हुए चक्रवर्तिक पुत्रोंके साथ-साथ दीक्षा धारण की ॥२७९-२८३॥

१ प्रसादां चकार । २ जयमुक्तोवनयोः । ३ तथा ल० । ४ मण्डभाजनं कल्याणभाजनं वा । तीर्थान्ति-ल० । ५ आक्षेपणी विक्षेपणी मन्वेजनी निर्वेजनीति चेति वतलः । “आक्षेपणी स्वमतनन्तर्हणी समेजी विक्षेपणी कुमतनिग्रहणी व्याहर्म् । मन्वेजनी प्रयजिन् सुकृतागुभावं निर्वेजनीं वदतु वर्यकथाविरक्तम् ॥” ६ कृत्वा कथा-दन्त्रोदयादिकाः ल०, प०, इ०, स० । ७ कर्मबन्धविमुक्तैः प्राप्नु योग्यम् । ८ अनन्ताप्रियः ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ कुमारकोपादारभ्य । १० अनन्तवीर्यस्य । ११ अविच्युतम् । निर्वर्चं वा । १२ वाचवादि । ‘मगोपवाचवज्रादिवन्धुस्त्वन्जनाः समा’ इत्यभिधानात् । १३ गुप्तासूचः ल० । १४ रविकीर्तिनाम् । १५ रविजयो ल०, प०, स०, इ० । १६ वरंजय ल०, अ०, प०, स० ।



चतुष्पाद्विभिस्तिर्यग्जातिभिश्चामिषेवितः । चतुस्त्रिंशदतीशेष<sup>१</sup> विशेषैर्लक्षितोदयः ॥३९८॥  
<sup>२</sup>आत्मोपाधिविशिष्टावबोधकं सुखवीर्यसद<sup>३</sup> । देहसौन्दर्यवासोक<sup>४</sup> ससंस्थानसंगतः ॥३९९॥  
 प्रातिहायिकोद्विष्टनष्टवाचित्तुष्टयः । वृषमाद्यन्विताथष्टसहस्राह्यमाषितः ॥४००॥  
 विकासितविनेयाम्बुजावलिर्वचनांशुभिः । संवृताक्षलिपङ्केजमुकुलेनाखिलेजिना ॥४०१॥  
 भरतेन समभ्यर्च्य दृष्टो धर्ममसाधत । ध्रियते धारयत्युच्चैर्विनेयान्<sup>५</sup> कुगतेस्ततः ॥४०२॥  
 धर्म इत्युच्यते सन्निश्चयैर्दं समाश्रितः । सम्यग्दृक्ज्ञानचारित्र्यतपोरूपः कृपापरः<sup>६</sup> ॥४०३॥  
 जीवादिससके तत्त्वे श्रद्धानं यत् स्वतोऽज्ञसा ।<sup>७</sup> परप्रणयनाद् वा तत् सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥४०४॥  
 शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं भावव्रथविवेचितम्<sup>८</sup> । तेषां जीवादिससानां संशयादिविचर्जनात्<sup>९</sup> ॥४०५॥  
 याथात्म्येन परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समादिशेत् । यथाकर्मस्त्रयो न स्याच्चारित्र्यं संयमस्तथा ॥४०६॥  
 निर्जरा कर्मणा येन तेन वृत्तिस्तपो मत्तम् । चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥४०७॥  
 निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् । चतुष्टयमिदं वर्त्म मुक्तैर्दुष्प्रापमंगिमिः ॥४०८॥  
 मिथ्यात्वमव्रताचारः प्रमादाः सकषायता<sup>१०</sup> । योगाः शुमाशुभा जन्तोः कर्मणा बन्धहेतवः ॥४०९॥

सेवा कर रहे है, चौतीस अतिशय विशेषोंसे जिनका अभ्युदय प्रकट हो रहा है, जो केवल आत्मा-  
 से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट दर्शन, विशिष्ट सुख और विशिष्ट वीर्यको प्राप्त हो रहे  
 है, जो शरीरकी सुन्दरतासे युक्त है, जो सज्जाति आदि सात परम स्थानोंसे संगत हैं, जो आठ  
 प्रातिहायिकोंसे युक्त है, जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये है, जो वृषभ आदि एक हजार  
 आठ नामोंसे कहे जाते हैं और जिन्होंने भव्य जीवरूपी कमलके वनको प्रफुल्लित कर दिया है  
 ऐसे भगवान् वृषभदेवके पास जाकर मुकुलित कमलके समान हाथ जोड़े हुए चक्रवर्ती भरतने  
 उनको पूजा की और धर्मका स्वरूप पूछा तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे -

जो शिष्योंको कुगतिसे हटाकर उत्तम स्थानमें पहुँचा दे सत् पुरुष उसे ही धर्म कहते  
 हैं । उस धर्मके चार भेद है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्प । यह  
 धर्म कर्तव्य प्रधान है ॥२८७-३०३॥ अपने-आप अथवा दूसरेके उपदेशसे जीव आदि सात  
 तत्त्वोंमें जो यथार्थ श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥३०४॥ यह सम्यग्दर्शन शंका  
 आदि दोषोंसे रहित होता है तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावों-  
 द्वारा इसकी विवेचना होती है अर्थात् भावोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके तीन भेद है । संशय,  
 विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे उन्ही जीवादि सात तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होना  
 सम्यग्ज्ञान कहलाता है । जिससे कर्मोंका आस्रव न हो उसे चारित्र अथवा संयम कहते है ।  
 ॥३०५-३०६॥ जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है । ये  
 चारो ही गुण यदि कषायसहित हों तो स्वर्गके कारण है और कषायरहित हों तो आत्माका  
 हित चाहनेवाले लोगोको स्वर्ग और मोक्ष दोनोंके कारण हैं । ये चारों ही मोक्षके मार्ग हैं  
 और प्राणियोंको बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होते है ॥३०७-३०८॥ मिथ्यात्व, अव्रताचरण,  
 ( अवरित ), प्रमाद, कषाय और शुभ-अशुभ योग ये जीवोंके कर्मबन्धके कारण है ॥३०९॥

१ अतिशय । २ आत्मा उपाधि कारणं यस्य । ३ वीर्यं ल०, प०, इ०, अ०, स० । ४ प्रशस्त-सौन्दर्यवास ।  
 समवसरण । ५ सौन्दर्यवान् स्वोक्तसप्त-ल०, प०, इ०, अ०, स० । ६ अभ्युदयनिःश्रेयसरूपोन्नतस्थाने ।  
 ७ भव्याम् । ८ दुर्गते सकाशात् अपसार्य । ८ ततः कारणात् । ९ दयाप्रधानः । क्रियापरः ल० । १० परोप-  
 देशात् । ११ औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभावनिर्णीतम् । १२ विचर्जनात् ल० । १३ सकषायत्वम् ।

मिथ्यात्वं पञ्चधा<sup>१</sup> साष्टशतं चाविरतिर्मता । प्रमादाः पञ्चदश च कपायास्ते चतुर्विधाः ॥३१०॥  
 योगा, पञ्चदश ज्ञेयाः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः । समूलोत्तरभेदेन कर्माण्युत्तानि कोविदः ॥३११॥  
 बन्धश्चतुर्विधो ज्ञेयः प्रकृत्यादिविकल्पितः । कर्माण्युदयसंप्राप्त्या हेतवः फलबन्धयोः ॥३१२॥  
<sup>२</sup>तद्युक्तं संसृतेर्हेतुं परित्यज्य गृहाश्रमम् । दोषदुःखजरामृत्युपापप्राप्यं भयावहम् ॥३१३॥  
<sup>३</sup>शक्तिमन्तस्समासन्नविनेथा<sup>४</sup> विदितगमाः । गुण्यादिपदविधे<sup>५</sup> सम्यगनुगत्य यथोचितम् ॥३१४॥  
 प्रोक्तोपेक्षादिभेदेषु वीतरागादिकेषु च । पुलाकादिप्रकारेषु व्यपेतागारकादिषु ॥३१५॥  
 प्रमत्तादिगुणस्थानविशेषेषु च सुस्थिताः । निश्चयव्यवहारोक्तमुपाध्वं मोक्षमुत्तमम् ॥३१६॥  
 तथा गृहाश्रमस्थाश्च सम्यग्दर्शनपूर्वकम् । दानशीलोपवासाहंदाग्निपुलोपलक्षिताः ॥३१७॥  
 आश्रितैकाग्रोपासककृता सुशुभाश्रयाः<sup>६</sup> । संप्राप्तपरमस्थानसप्तका सन्तु धीघनाः ॥३१८॥  
 इति सत्तत्त्वसद्वर्गभवाग्निभवात्पमोः<sup>७</sup> । सप्तमो भरताशीलाः सर्वमेवममन्यत ॥३१९॥  
 शिश्नान्नैवसम्यक्त्वशुद्धिमागुं देवसंयतः । स्त्रष्टारसमिवन्ध्यायात् कैलासागरोत्तमम् ॥३२०॥  
 जगत्स्थितयनायोऽपि धर्मक्षेत्रेऽवनातम् । उदया सद्धर्मवीजानि म्यषिद्धदमं वृष्टिभिः ॥३२१॥

मिथ्यात्व पाँच तरहका है, अविरति एक सौ आठ प्रकारकी है, प्रमाद पन्द्रह है, कपायके चार भेद हैं, और सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले लोगोको योगके पन्द्रह भेद जानना चाहिए । विद्वानोंने कर्मोका निरूपण मूल और उत्तरभेदके द्वारा किया है — कर्मोके मूल भेद आठ है और उत्तरभेद एक सौ अठ्ठासी है ॥३१०—३११॥ प्रकृति आदिके भेदसे बन्ध चार प्रकारका जानना चाहिए तथा कर्म उदयमे आकर ही फल और बन्धके कारण होते हैं । भावार्थ — पहलेके वैसे हुए कर्मोका उदय आनेपर ही उनका सुख-दुःख आदि फल मिलता है तथा नवीन कर्मोका बन्ध होता है ॥३१२॥ तुम लोग भक्तिमान् हो, निकटभव्य हो और आगमको जाननेवाले हो, इसलिए संसारके कारण स्वरूप — दोष, दुःख, दुःपाप और मृत्यु आदि पापोसे भरे हुए इस भयकर गृहस्थाश्रमको छोड़कर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिपहजय और चारित्र इन छहोंका अच्छी तरह अभ्यास करो तथा जिनके उपेक्षा आदि भेद कहे गये हैं ऐसे वीतरागादि मुनियोमे, जिनके पुलाक आदि भेद हैं ऐसे अनगरादि मुनियोमे अथवा प्रमत्त-संयतको आदि लेकर उत्कृष्ट गुण-स्थानोमें रहनेवाले प्रमत्तविरत आदि मुनियोमे-से किसी एककी अवस्था धारण कर निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारके उत्तम मोक्षकी उपासना करो ॥३१३—३१६॥ इसी प्रकार गृहस्थाश्रममे रहनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सम्यग्दर्शन पूर्वक दान, शील, उपवास तथा अरहन्त आदि परमेष्ठियोकी पूजा करे, शुभ परिणामोसे श्रावकोकी ग्यारह प्रतिमाओका पालन करे और यथायोग्य सज्जाति आदि सात परमस्थानोको प्राप्त हो ॥३१७—३१८॥ इस प्रकार भरतेश्वरने समीचीन तत्त्वोकी रचनासे भरी हुई भगवान्की वचनरूप विभूति सुनकर सब सभाके साथ-साथ कही हुई सब बातोको ज्योकी त्यो माना अर्थात् उनका ठीक-ठीक श्रद्धा किया ॥३१९॥ मति, श्रुत, अवधि — इन तीनों ज्ञानरूपी नेत्रों और सम्यग्दर्शनकी विबुद्धिको धारण करनेवाला देशसयमी भरत भगवान् वृषभदेवकी वन्दना कर कैलास पर्वतसे अपने उत्तम नगर अयोध्याको आया ॥३२०॥ इधर तीनों लोकोके स्वामी भगवान् आदिनाथने भी धर्मके योग्य क्षेत्रोमे समीचीन धर्मका बीज बोकर उसे धर्मवृष्टिके

<sup>१</sup> साष्टशतवाविरति — ल०, प०, अ०, स०, इ० । २ तत् कारणात् । ३ भक्ति-ल०, प०, इ०, अ०, स० ।

<sup>४</sup> अथासन्नभग्या । <sup>५</sup> गुप्तिस्समितिचर्मागुप्रेक्षापरीपहजयचारित्र्यभेदै । <sup>६</sup> सुषु घोभनपरिणामा । <sup>७</sup> पूर्वोत्तर-सत्त्व । <sup>८</sup> पुरोत्सकागात् । विभो ल० । ९ सभासहित ।

सतां सत्फलसंप्राप्त्यै विहरन् स्वर्गणैः समम् । चतुर्दशदिनोपेतसहस्राब्दोत्पूर्वकम् ॥३२२॥  
 लक्षं कैलासमासाद्य श्रीसिद्धशिखरान्तरे । पौर्णमासीदिने पौषे<sup>१</sup> निश्चिच्छः समुपाविशत् ॥३२३॥  
 तदा भरतराजनेत्रे महामन्दरभूषणम् । आग्राग्राभारं व्यलोकित्वा स्वप्ने दैव्येण संस्थितम् ॥३२४॥  
 तदैव युवराजोऽपि<sup>२</sup> स्वर्गादित्य महौषधिः । हुमद्विहत्वा नृणां जन्मरोगं स्वयान्तमैक्षत्<sup>३</sup> ॥३२५॥  
 कल्पद्रुममभीष्टार्थं त्वा नृम्यो निरन्तरम् । गृहेट्<sup>४</sup> निशामयाभासं स्वर्गप्राप्तिसमुद्यतम् ॥३२६॥  
 रत्नद्वीपं जिघृक्षुभ्यो<sup>५</sup> नानारत्नकदम्बकम् । प्रादायाग्रगमोद्युक्तमद्राक्षीत् सत्त्वाग्रिमः ॥३२७॥  
 वज्रपञ्चरसुद्रिय कैलासं गजवैरिणम् । उल्लङ्घयितुमुद्यन्तं सेनापतिमपश्यत् ॥३२८॥  
 आलुलोके बुधोऽनन्तवीर्यः श्रीमान् जयात्मजः । यान्तं त्रैलोक्यमामास्य सतारं<sup>६</sup> तारकेश्वरम् ॥३२९॥  
 यशस्वतीसुनन्दाभ्यां सार्द्धं शक्रमनःप्रिया । शोचन्तीश्चिरमद्राक्षीत् सुमद्रा<sup>७</sup> स्वप्नगोचरा ॥३३०॥  
 वाराणसीपतिश्चिन्नाद्भोऽप्यालोकाकुलः । खमुत्पलत्तं भास्वन्तं प्रकाश्य ध्वरणीतलम् ॥३३१॥  
<sup>१</sup> पृथ्व्यालोकिस्वप्ना राजराजपुरस्सराः । पुरोधसं फलं तेषामपृच्छन्नर्थमोदये<sup>१२</sup> ॥३३२॥  
 कर्माणि हत्वा निर्मूलं मुनिभिर्वहुभिः समम् । पुरोः सर्वेऽपि शंसन्ति स्वप्नाः स्वर्गाग्रगामिताम्<sup>१३</sup> ॥३३३॥  
 इति स्वप्नफलं तेषां<sup>१४</sup> भाषमाणे पुरोहिते । तदैवानन्दनामैव भर्तुः<sup>१५</sup> स्थितिमवेदयत् ॥३३४॥  
 ध्वनौ भगवता दिव्ये संहते सुकुलीभवात् । कराम्बुजा समा जाता पूष्णीव<sup>१६</sup> सरसीत्यसौ ॥३३५॥

द्वारा खूब ही सीखा ॥३२१॥ इस प्रकार सज्जनोको मोक्षरूपी उत्तम फलकी प्राप्ति करानेके लिए भगवान्ने अपने गणधरोके साथ-साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहार किया । और जब आयुके चौदह दिन बाकी रह गये तब योगोंका विरोध कर पौष मासकी पौर्णमासीके दिन श्रीशिखर और सिद्धशिखरके बीचमें कैलास पर्वतपर जा विराजमान हुए ॥३२२-३२३॥ उसी दिन महाराज भरतने स्वप्नमें देखा कि महामेरु पर्वत अपनी लम्बाई-से सिद्ध क्षेत्र तक पहुँच गया है ॥३२४॥ उसी दिन युवराज अर्ककीर्तिने भी स्वप्नमें देखा कि एक महौषधिका वृक्ष मनुष्योंके जन्मरूपी रोगको नष्ट कर फिर स्वर्गको जा रहा है ॥३२५॥ उसी दिन गृहपतिने देखा कि एक कल्पवृक्ष निरन्तर लोगोंके लिए उनकी इच्छानुसार अभीष्ट फल देकर अब स्वर्ग जानेके लिए तैयार हुआ है ॥३२६॥ प्रधानमन्त्रीने देखा कि एक रत्न-द्वीप, ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले लोगोंको अनेक रत्नोंका समूह देकर अब आकाशमें जानेके लिए उद्यत हुआ है ॥३२७॥ सेनापतिने देखा कि एक सिंह वज्रके पिण्डको तोड़कर कैलास पर्वतको उल्लङ्घन करनेके लिए तैयार हुआ है ॥३२८॥ जयकुमारके विद्वान् पुत्र श्रीमान् अनन्त-वीर्यने देखा कि चन्द्रमा तीनो लोकोंको प्रकाशित कर ताराओं सहित जा रहा है ॥३२९॥ सीती हुई सुभद्राने देखा कि यशस्वती और सुनन्दाके साथ बैठी हुई इन्द्राणी बहुत देर तक शोक कर रही है ॥३३०॥ बनारसके राजा चित्रांगदने ध्वझाहुटके साथ यह स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवीतलको प्रकाशित कर आकाशकी ओर उड़ा जा रहा है ॥३३१॥ इस प्रकार भरतको आदि लेकर सब लोगोंने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही सबने पुरोहितसे उनका फल पूछा ॥३३२॥ पुरोहितने कहा कि ये सभी स्वप्न कर्मोंकी बिलकुल नष्ट कर भगवान् वृषभदेवका अनेक मुनियोंके साथ-साथ मोक्ष जाना सूचित कर रहे हैं ॥३३३॥ इस प्रकार पुरोहित उन सबके लिए स्वप्नोका फल कह ही रहा था कि इतनेमें ही आनन्द नामका एक मनुष्य आकर भगवान्का सब हाल कहने लगा ॥३३४॥ उसने कहा कि भगवान्ने अपनी दिव्यध्वनिका

१ पुण्यमासे । २ पूर्वसिद्धक्षेत्रपर्यन्तम् । ३ अर्ककीर्ति । ४ स्वर्गं गतम् । ५ गृहपतिरत्नम् । ६ ददर्श । ७ गृहीतु-मिच्छुम् । ८ बुद्धिमान् । ९ तारकासहितम् । १० स्त्रीरत्नम् । ११ एवं विलोकिता-लम् । १२ सूर्योदये । १३ मोक्षगामित्वम् । १४ भरतादीनाम् । १५ पुरो । १६ सुर्वे । इत्यसाववेदयदिति संबन्धः ।

तदाकगनमावेण सस्वरः सर्वसंगतः । चक्रवर्ती<sup>१</sup> तमभ्येत्य त्रि.परीत्य कृतस्तुतिः ॥३३६॥  
 महामहमहापूजां भक्त्या निरवर्तयन्स्वयम् । चतुर्दश दिनान्येवं भगवन्तमसेवत ॥३३७॥  
 माघकृष्णवतुर्दश्या भगवान् भास्कोदये । मुहुर्तेऽभिजित् प्राप्तपत्न्यङ्को मुनिभिः समम् ॥३३८॥  
 प्राग्निदुष्टस्तुतीयेन शुक्लध्यानेन रुद्रवान् । योगत्रितयमन्येन ध्यानेनावातिकर्मणाम् ॥३३९॥  
 पञ्चहस्तस्वरोच्चारणप्रमाणेन सक्षयम् । कालेन विदधत्यान्तगुणस्थानमधिष्ठितः ॥३४०॥  
 शरीरत्रिनयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययम् । निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणास्तनुवातकः ॥३४१॥  
 नित्यो निरञ्जनः किंचिद्भूतो देहादसृतिभाक् । स्थितः स्वसुखसाद्गतः पश्यन्विश्वमनारतम्<sup>२</sup> ॥३४२॥  
 तदागत्य सुराः सर्वे प्रान्तपूजाचिकीर्षया<sup>३</sup> । पवित्रं परमं मोक्षसाधनं शुचिनिर्मलम् ॥३४३॥  
 शरीरं भर्तुरस्येति पराद्वैर्यशिविकार्षितम्<sup>४</sup> । अग्रीन्द्ररत्नभाभासिप्रोत्तुङ्गसुकुटोद्भवा<sup>५</sup> ॥३४४॥  
 चन्द्रागुरुकूर्परारी काश्मीरजादिभिः<sup>६</sup> । धृतक्षीरादिभिश्चासृष्टिना हुतभोजिना ॥३४५॥  
 जगद्गृहस्य सागन्ध्यं संपाद्याभूतपूर्वकर्म<sup>७</sup> । तदाकारोपमर्दने<sup>८</sup> पर्यायान्तरमानयन्<sup>९</sup> ॥३४६॥  
 अर्घ्यान्तस्मिन्नि कुण्डस्य गन्धपुष्पादिभिस्तथा । तस्य दक्षिणभागेऽभूद् गणमुत्संस्क्रियानलः ॥३४७॥  
 तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेषैकैवलिकायगः । गृध्रं वह्नित्रयं भूमा अवस्थाप्यामरेश्वरा<sup>१०</sup> ॥३४८॥

संकोच कर लिया है इसलिए सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है और ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यास्तके समय निमीलित कमलोसे युवत सरसी ही हो ॥३३५॥ यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगोके साथ-साथ कैलास पर्वतपर गया, वहाँ जाकर उसने भगवान् वृषभदेवकी तीन प्रदक्षिणाएँ दी, स्तुति की और भवितपूर्वक अपने हाथसे महामह नामकी पूजा करता हुआ वह चौदह दिन तक इसी प्रकार भगवान्की सेवा करता रहा ॥३३६-३३७॥ माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्रमे भगवान् वृषभदेव पूर्वदिशाको ओर मुँहकर अनेक मुनियोके साथ-साथ पर्यकासनसे विराजमान हुए, उन्होने तीसरे-दूधमक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्ल ध्यानसे तीनों योगोका निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थानमे ठहरकर पाँच लघु अक्षरोके उच्चारण प्रमाण कालमे चौथे व्युपरत क्रिया-निवर्ति नामके शुक्लध्यानसे अघातिथा कर्मोका नाश किया । फिर औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनों शरीरोके नाश होनेसे सिद्धत्वपर्याय प्राप्त कर वे सम्यक्त्व आदि निजके आठ गुणोसे युक्त हो क्षण भरमे ही तनुवातवलयमे जा पहुँचे तथा वहाँपर नित्य, निरञ्जन, अपने शरीरसे कुछ कम, अमूर्त, आत्ममुख तल्लीनमे और निरन्तर ससारको देखते हुए विराजमान हुए ॥३३८-३४२॥ उसी समय मोक्ष-कल्याणककी पूजा करनेकी इच्छासे सब देव लोग आये उन्होने "यह भगवान्का शरीर पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्षका साधन, स्वच्छ और निर्मल है" यह विचारकर उसे बहुमूल्य पालकीमे विराजमान किया । तदनन्तर जो अग्निकुमार देवोके इन्द्रके रत्नोकी कान्तिसे देदीप्यमान उन्नत मृकुटसे उत्पन्न हुई है तथा चन्दन, अगरु, कपूर, केदार आदि सुगन्धित पदार्थों और घी दूध आदिसे बढ़ायी गयी है ऐसी अग्निसे जगत्की अमृतपूर्व सुगन्धि प्रकट कर उसका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी ॥३४३-३४६॥ गन्ध, पुष्प आदिसे जिसकी पूजा की गयी है ऐसे उस अग्निकुण्डके दाहिनी ओर गणधरोके शरीरका सस्कार करनेवाली अग्नि स्थापित की और बाँयी ओर तीर्थ कर तथा गणधरोसे अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियोके शरीरका सस्कार

१ विनम् । २ लोकालोकम् । ३ निर्वाणपूजा कर्तुमिच्छया । ४ यागे स्थापितम् । ५ मुकुटोद्भूतेन । ६ कपूरमणि । ७ कुकुमादिभिः । ८ पूर्वस्मिन्नजातम् । ९ शरीराकारोपमर्दनेन । १० भस्मीभाव चक्रुरित्यर्थः ।

ततो भस्म समादाय पञ्चकल्याणमग्निरनः । ध्वं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥३४६॥  
 कण्ठे हृदयदेशे च तेन<sup>१</sup> संस्पृश्य भक्तितः । तत्पवित्रतमं मत्वा धर्मरागसाहिताः ॥३४७॥  
 तोषाद् संपादयामासुः संभूयानन्दनाटकम् । सप्तमोपासकाद्यास्ते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिणः ॥३४८॥  
 गार्हपत्याग्निं पूर्वं परमाहवनीयकम् । दक्षिणाग्निं ततो न्यस्य<sup>२</sup> संध्यासु तिसृषु स्वयम् ॥३४९॥  
 तच्छिस्तत्रयसंनिधौ चक्रमातपवारणम् । जितेन्द्रप्रतिमाश्चैवा<sup>३</sup> स्थाप्य मन्त्रपुरस्सरम् ॥३५०॥  
 तात्त्विकालं समभ्यज्य गृहस्थैर्विहितादराः । भवतात्थियो<sup>४</sup> यूयमित्यावस्थुस्पासकम् ॥३५१॥  
 ज्ञेहेनेष्टवियोगोत्थः प्रदीप्तः शोकपावकः । तदा प्रबुद्धमप्यस्य<sup>५</sup> चेतोऽधाक्षीदधीगितुः ॥३५२॥  
 गणी वृषभसेनास्यस्तच्छ्लोकपनिनीषर्था । प्राकृते<sup>६</sup> वक्तुं सर्वेषां स्वेषां व्यक्तं भवावलीम् ॥३५३॥  
 जयवर्मा भवे पूर्वं द्वितीयोऽभूत् षष्ठेऽयं श्रीधरोऽमरः । ततोऽवतीर्थं सर्वेन्द्रवन्दितो वृषभोऽभवत् ॥३५४॥  
 पञ्चमे भोगभूजोऽभूत् षष्ठेऽयं श्रीधरोऽमरः । सप्तमे सुविधिः क्षमाभृदष्टमेऽच्युतनाथकः ॥३५५॥  
 नवमे वज्रनाभीशो दशमेऽनुचरान्वजः<sup>७</sup> । ततोऽवतीर्थं सर्वेन्द्रवन्दितो वृषभोऽभवत् ॥३५६॥  
 धनश्रीरादिमे जन्ममृत्यो निर्णायिका ततः । स्वयंप्रभा ततस्तस्माच्छ्रीमत्याया<sup>८</sup> ततोऽभवत् ॥३५७॥  
 स्वयंप्रभः सुरस्तस्मादस्मादपि च केशवः । ततः प्रतीन्द्रस्तस्माच्च धनदत्तोऽहमिन्द्रताम् ॥३५८॥  
 गतस्ततस्ततः श्रेयान् दानतीर्थस्य न.यकः । आश्रयपञ्चकस्यापि प्रथमोऽभूत् प्रवर्त्तकः ॥३५९॥

करनेवाली अग्नि स्थापित की, इस प्रकार इन्द्रोने पृथिवीपर तीन प्रकारकी अग्नि स्थापित की । तदनन्तर उन्ही इन्द्रोने पचकल्याणकको प्राप्त होनेवाले श्री वृषभदेवके शरीरकी भस्म उठायी और 'हम लोग भी ऐसे ही हो' यही सोचकर बड़ी भक्तितसे अपने ललाटपर दोनो भुजाओमे, गलेमे और वक्ष स्थलमे लगायी । वे सब उस भस्मको अत्यन्त पवित्र मानकर धर्मानुरागके रससे तन्मय हो रहे थे ॥३४७-३५०॥ सवने मिलकर वड़े सन्तोषसे आनन्द नामका नाटक किया और फिर श्रावकोको उपदेश दिया कि 'हे सप्तमादि प्रतिमाओको धारण करनेवाले सभी ब्रह्मचारियो, तुम लोग तीनों संध्याओमे स्वयं गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियोकी स्थापना करो, और उनके समीप ही धर्मचक्र, छत्र तथा जितेन्द्रदेवकी प्रतिमाओकी स्थापना कर तीनों काल मन्त्रपूर्वक उनकी पूजा करो । इस प्रकार गृहस्थोके द्वारा आदर-सत्कार पाते हुए अतिथि बने' ॥३५१-३५४॥

इधर उस समय इसके वियोगसे उत्पन्न हुई और स्नेहसे प्रज्वलित हुई शोकरूपी अग्नि भरतके प्रबुद्ध चित्तको भी जला रही थी ॥३५५॥ जब भरतका यह हाल देखा तब वृषभसेन गणधर भरतका शोक दूर करनेकी इच्छासे अपने संव लोगोके पूर्वभब स्पष्ट रूपसे कहने लगे ॥३५६॥ उन्होने कहा कि वृषभदेवका जीव पहले भवमे जयवर्मा था, दूसरे भवमे महावल हुआ, तीसरे भवमे ललितागदेव और चौथे भवमे राजा वज्रजघ हुआ । पाँचवे भवमे भोग-भूमिका आर्य हुआ । छठवे भवमे श्रीधरदेव हुआ, सातवे भवमे सुविधि राजा हुआ । आठवें भवमे अच्युतेन्द्र हुआ, नौवे भवमे राजा वज्रनाभि हुआ, दशवे भवमे सर्वार्थसिद्धिमे अहमिन्द्र हुआ और वहाँसे आकर सब इन्द्रोके द्वारा वन्दनीय वृषभदेव हुआ है ॥३५७-३५९॥ श्रेयान्-का जीव पहले भवमे धनश्री था, दूसरे भवमे निर्णायिका, तीसरे भवमे स्वयंप्रभा देवी, चौथे भवमे श्रीमती, पाँचवे भवमे भोगभूमिकी आर्या, छठवे भवमे स्वयंप्रभदेव, सातवे भवमे केशव, आठवे भवमे अच्युतस्वर्गका प्रतीन्द्र, नौवे भवमे धनदत्त, दशवे भवमे अहमिन्द्र हुआ और वहाँसे

१ भस्मना । २ भस्म । ३ स्थाप्य । ४ चावस्थाप्य ल०, प०, इ०, स० । ५ पात्रतयाभोक्षका । ६ चक्रिणः । ७ दहति स्म । ८ भरतस्य शोकमपनेतुमिच्छया । ९ प्रारभते स्म । १० सर्वार्थसिद्धिज ।

अतिगृधः पुरा पञ्चाक्षरकोऽणु चमुरकः । दिवाकरप्रभो देवस्तथा मतिवराह्वयः ॥३६३॥  
 ततोऽहमिन्द्रस्तस्माच्च सुबाहुर्हमिन्द्रताम् । प्राप्य त्वं भरतो जातः षट्खण्डाखण्डपालकः ॥३६४॥  
 आसः सेनापतिः पञ्चाचार्यस्तस्मात्प्रभञ्जकः । ततोऽकम्पनभूपालः वस्पातीनस्ततस्ततः ॥३६५॥  
 महाबाहुस्ततश्चाभूद्दहमिन्द्रस्ततश्च्युतः । एष बाहुवली जातो जातापूर्वमहोदयः ॥३६६॥  
 मन्त्री प्राग् भोगभूमिोऽणु सुरोऽणु कनकप्रभः । आनन्दोऽभवहमिन्द्रोऽणु ततः पीडाह्वस्ततः ॥३६७॥  
 अहमिन्द्रोऽग्रिमोऽभूत्समहमच्च गणाधिपः । पुरोहितस्ततश्चार्थो बभूवास्तम्यमञ्जनः ॥३६८॥  
 भवमिन्द्रस्ततस्माद्दहमिन्द्रस्ततश्च्युतः । महापीडोऽहमिन्द्रोऽस्माद्वन्तविजयोऽभवत् ॥३६९॥  
 उग्रसेनश्चमुरोऽतो भोगभूमिसमुद्भवः । ततश्चित्राङ्गदस्तस्माद् वरदत्तः सुरो जयः ॥३७०॥  
 ततो गत्वाऽहमिन्द्रोऽभूत्समाख्यागत् भूतलम् । महासेनोऽभवत् कर्ममहासेनाजयोजितः ॥३७१॥  
 हरिवाहननामघो वराहार्थस्ततोऽभवत् । मणिकुण्डल्यतस्तस्माद् वरसेनः सुरोत्तमः ॥३७२॥  
 ततोऽस्माद् विजयस्तस्माद्दहमिन्द्रो दिवश्च्युतः । अन्ननिष्ठ विशिष्टेष्टः श्रीपेणः सेवितः श्रिया ॥३७३॥  
 नागदस्ततो वानरायोऽस्माच्च मनोहरः । देवश्चित्राङ्गदस्तस्माद्भूद् सामानिक सुरः ॥३७४॥  
 ततश्च्युतो जयन्तोऽभूद्दहमिन्द्रस्ततस्ततः । महीतलं समासाद्य गुणसेनोऽभवद् गणी ॥३७५॥

आकर दानतीर्थका नायक तथा पञ्चाचार्यकी सबसे पहले प्रवृत्ति करानेवाला राजा श्रेयात् हुआ है ॥३६०-३६२॥ तेरा जीव पहले भवमे अतिगृध नामका राजा था, दूसरे भवमे तारकी हुआ, तीसरे भवमे शार्दूल हुआ, चौथे भवमे दिवाकरप्रभदेव हुआ, पाँचवें भवमे मतिवर हुआ, छठवें भवमे अहमिन्द्र हुआ, सातवें भवमे सुबाहु हुआ, आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमे छह खण्ड पृथिवीका अखण्ड पालन करनेवाला भरत हुआ है ॥३६३-३६४॥ बाहुवलीका जीव पहले सेनापति था, फिर भोगभूमिमें आर्य हुआ । उसके बाद प्रभकर देव हुआ, तदनन्तर अकम्पन हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, फिर महाबाहु हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब उसके बाद अपूर्व महा उदयको धारण करनेवाला बाहुवली हुआ है ॥३६५-३६६॥ मैं पहले भवमे राजा प्रीतिवर्धनका मन्त्री था, उसके बाद भोग-भूमिका आर्य हुआ, फिर कनकप्रभ देव हुआ, उसके पश्चात् आनन्द हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ, वहाँसे आकर पीठ हुआ, फिर सर्वार्थ-सिद्धिका अहमिन्द्र हुआ और अब भगवान् वृषभदेवका गणघर हुआ हूँ । अनन्तविजयका जीव सबसे पहले पुरोहित था, फिर भोगभूमिका आर्य हुआ, उसके बाद प्रभञ्जन नामका देव हुआ, फिर वनमित्र हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, उसके अनन्तर महापीठ हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब अनन्तविजय गणघर हुआ है ॥३६७-३६९॥ महासेन पहले भवमे उग्रसेन था, दूसरे भवमे शार्दूल हुआ, तीसरे भवमे भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमे चित्राङ्गद देव हुआ, पाँचवें भवमे वरदत्त राजा हुआ, छठे भवमे देव हुआ, सातवें भवमे जय हुआ, वहाँसे चलकर आठवें भवमे अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें वहाँसे पृथिवीपर आकर कर्मरूपी महासेनाको जीतनेमे अत्यन्त बलवान् महासेन हुआ है ॥३७०-३७१॥ श्रीपेणका जीव पहले भवमे हरिवाहन था, दूसरे भवमे वराह हुआ, तीसरे भवमे भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमे मणिकुण्डली देव हुआ, पाँचवें भवमे वरसेन नामका राजा हुआ, छठवें भवमे उत्तम देव हुआ, सातवें भवमे विजय हुआ, आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमे अतिगय पूज्य तथा लक्ष्मीसे सेवित श्रीपेण हुआ है ॥३७२-३७३॥ गुणसेनका जीव पहले नागदत्त था, फिर वानर हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोहर नामका देव हुआ, उसके पश्चात् चित्राङ्गद नामका राजा हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर

१ व्याघ्र । २ पूर्वभवे ।



लोलुपो नकुलार्योऽस्मादेतस्मात्समनोरथः । ततोऽपि शान्तमदनस्ततः सामानिकामरः ॥३७६॥

राजाऽपराजितस्तस्मादहमिन्द्रस्ततोऽजनि । ततो भगवानुजो जातो जयसेनोऽयमूर्जितः ॥३७७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थस्मिन्मवसंकटे मवभृतः स्वेष्टैरनिष्टैस्तथा

संयोगः सहसा वियोगचरमः सर्वस्य नन्वीदृशम् ।

त्वं जानन्नपि किं विषण्णहृदयो त्रिद्विष्टकर्मण्यको

निर्वाणं भगवानवापदतुलं तोषे विषादः कुतः ॥३७८॥

मालिनी

वयमपि<sup>१</sup> चरमाङ्गाः संगमाच्छुद्धुद्धेः

सकलमलविलोपापादितात्मस्वरूपा ।

निरूपमसुखसारं चक्रवर्त्तिस्तदीयं<sup>२</sup>

पदमचित्तरेण प्राप्नुमोऽ<sup>३</sup> नाप्यमन्यैः ॥३७९॥

हरिणी

भवतु सुहृदां मृत्यौ शोकः शुभाशुभकर्मभिः

भवति हि स<sup>४</sup> चेत्तेषामस्मिन् पुनर्जननावहः ।

विनिहतमवे प्राप्ये<sup>५</sup> तस्मिन् स्वयं समुपागते

कथमयमहो धीमान् कुर्याच्छुचं यदि नो रिपुः ॥३८०॥

वसन्ततिलका

अष्टापि दुष्टरिपवोऽस्य समूलतूलं<sup>६</sup>

नष्टा गुणैर्गुणभिरष्टमिरेष जुष्टः<sup>७</sup> ।

किं नष्टमत्र निषिन्नाय जह्राहि मोहं

सन्धेहि शोकविजयाय शिषं विशुद्धाम् ॥३८१॥

जयन्त हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब वहांसे पृथिवीपर आकर गुणसेन नामका गणधर हुआ है ॥३७४-३७५॥ जयसेनका जीव पहले लोलुप नामका हलवाई था, फिर नैवला हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोरथ नामका देव हुआ, उसके पश्चात् राजा शान्तमदन हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, तदनन्तर राजा अपराजित हुआ, फिर-अहमिन्द्र हुआ और अब मेरा छोटा भाई अतिशय बलवान् जयसेन हुआ है ॥३७६-३७७॥ श्री वृषभ-सेन गणधर चक्रवर्ती भरतसे कह रहे हैं कि इस ससाररूपी संकटमे इसी प्रकार सब प्राणियोंको इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंका सगम होता है और अन्तमे अकस्मात् ही उसका नाश हो जाता है, तू यह सब जानता हुआ भी इतना खिन्नहृदय क्यों हो रहा है ? भगवान् वृषभदेव तो आठों कर्मोंको नष्ट कर अनुपम मोक्षस्थानको प्राप्त हुए हैं फिर भला ऐसे सन्तोषके स्थानमें विषाद क्यों करता है ? ॥३७८॥ हे चक्रवर्त्तिन्, हम सब लोग भी चरमशरीरी हैं, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान्के समागमसे सम्पूर्ण कर्ममलको नष्ट कर आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए हैं और अनुपम सुखसे श्रेष्ठ तथा अन्य मिथ्यादृष्टियोंके दुर्लभ उन्हीं भगवान्के पदको हम लोग भी बहुत शीघ्र प्राप्त करेगे ॥३७९॥ इष्ट मित्रोंकी मृत्यु होनेपर शोक हो सकता है क्योंकि उनकी वह मृत्यु शुभ अशुभ कर्मोंसे होती है और फिर भी इस ससारमे उनका जन्म करनेवाली होती है, परन्तु जिसने संसारका नाश कर दिया है और निरन्तर जिसकी प्रार्थना की जाती है ऐसा सिद्ध पद यदि स्वयं प्राप्त हो जावे तो इस बुद्धिमान् मनुष्यको यदि वह शत्रु नहीं है तो शोक कैसे करना चाहिए ? भावार्थ—हर्षके स्थानमे शत्रुको ही शोक होता है, मित्रको नहीं होता इसलिए तू सबको आनन्द मानना चाहिए न कि शोक करना चाहिए ॥३८०॥ हे निधिपते, भगवान् वृषभदेवके आठों ही दुष्ट शत्रु जड़ और शाखासहित बिल्कुल

१ वृषभसेनभरतादय । २ पुरो । सम्बन्धि । ३ अप्रापणीयम् । ४ मृत्यु । ५ संसारे । ६ मृत्यो । ७ कारण-सहितम् । ८ सेवित । ९ सम्पन्न धारय ।

देहच्युतौ यदि गुरोर्गुरुं शोचसि त्वं

तं<sup>१</sup> भस्मसात्कृतिमवाप्य<sup>२</sup> विवृद्धगयाः ।

प्राग्जन्मनोऽपि<sup>३</sup> परिकर्मकृतोऽस्य<sup>४</sup> कस्मा-

दानन्दुत्तमधिकं विवृद्ध्युनाथा<sup>५</sup> ॥३८२॥

शादू<sup>६</sup> लचिक्रीडितम्

नेक्षे विश्वदशं शृणोमि न वचो दिव्यं तद्वृद्धिद्वये

नम्रस्तन्नखमाविभामिसुकुटं<sup>७</sup> कर्तुं लभे नाशुना ।

तस्मात् स्नेहवशोऽस्यहं बहुतरं शोकीति चेदस्त्विदं

किन्तु आन्तरिणं व्यतीतविषयप्राप्त्यै भवत्प्राथना ॥३८३॥

वसन्ततिलका

विज्ञानधनं<sup>८</sup> त्रिभुवनैकगुरुगुस्तं

स्नेहेन मोहविहितेन<sup>९</sup> विनाशयः विभू ।

स्वोदात्तता<sup>१०</sup> शतमलस्य न लज्जसे कि

तस्मात्तव<sup>११</sup> प्रथमसुकृतिगतिं न वेत्सि<sup>१२</sup> ॥३८४॥

शादू<sup>६</sup> लचिक्रीडितम्

दृष्टं किं किमनिष्टमत्र वितथं संवक्ष्य जन्तुर्जडः

किंचिद्भेदश्चपि वष्टि<sup>१३</sup> किञ्चिन्नयाः कुर्यादपि व्यन्ययम् ।

तैर्नोऽनुरागितस्ततो<sup>१४</sup> भववने भव्योऽप्यभव्योपमो

आम्रवत्येप कुमार्गवृत्तिरधो<sup>१५</sup> वाऽऽतद्वर्मादुःखितः ॥३८५॥

ही नष्ट हो गये हैं और अब वे आठ बड़े-बड़े गुणोंसे सेवित हो रहे हैं, भला, इसमें क्या हानि हो गयी ? इसलिए अब तू मोह छोड़ और जोककी जीतनेके लिए विषुद्ध बुद्धिको धारण कर ॥३८१॥ पूर्य पिताजीका शरीर छूट जानेसे यदि तू इतना अधिक जोक करता है तो बतला, जन्मसे पहले ही उनकी सेवा करनेवाले और बड़े हुए अनुरागकी धारण करनेवाले ये देव लोग भगवान्के शरीरको भस्म कर इतना अधिक आनन्द नृत्य क्यों कर रहे हैं ? भावार्थ — ये देव लोग भी भगवान्से अधिक प्रेम रखते थे जन्मसे पहले ही उनकी सेवामें तत्पर रहते थे फिर ये उनके शरीरको जलाकर क्यों आनन्द मना रहे हैं इससे मालूम होता है कि भगवान्का शरीर छूट जाना दुःखका कारण नहीं है तू व्यर्थ ही क्यों जोक कर रहा है ? ॥३८२॥ कदाचित् तू यह कहेगा कि 'अब मैं उनके दर्शन नहीं कर रहा हूँ, उनके दिव्य वचन नहीं सुन रहा हूँ, और उनके दोनों चरणोंमें नम्र होकर उनके नखोंकी कान्तिसे अपने मुकुटको देखीप्यमान नहीं कर पाता हूँ, इसलिए ही स्नेहके वशसे आज मुझे बहुत जोक हो रहा है तो तेरा यह कहना ठीक है परन्तु बीती हुई वस्तुके लिए प्रार्थना करना तेरी भूल ही है ॥३८३॥ हे भरत, तेरे दिता तो तीनों लोकोंके अद्वितीय गुरु थे और तू भी तीन जानोंका धारक है फिर इस मोहजात स्नेहसे अपनी उत्तमता क्यों नष्ट कर रहा है ? क्या तुझे ऐसा कर्म हुए इन्द्रसे लज्जा नहीं आती ? अथवा क्या तू यह नहीं समझता है कि मैं इन्द्रसे पहले ही भोजनको प्राप्त हो जाऊँगा ? ॥३८४॥ इस ससारमें क्या इष्ट है ? क्या अनिष्ट है ? फिर भी यह मूर्ख प्राणी व्यर्थ ही सकल्प कर किसीसे द्वेष करता है, किसीको चाहता है और सभी दोनोंको उल्टा मग्न लेता है, इसलिए ही इसके पापकी परम्परा चलती रहती है और इसलिए ही यह भव्य होकर भी

१ बहल यथा भवति तथा । २ देहम् । ३ भस्मावीनम् । ४ नीत्वा । ५ उत्पत्तेराश्रयपि । ६ परिचयज्जन । ७ वृषभस्य । ८ तस्य नखकाल्या भासत इति । ९ भो विज्ञानवारिन् मम । १० अज्ञानहर्तेन । ११ मन्द-  
दातव्यम् । १२ गजमवात् । १३ न जानासि किम् । १४ वाञ्छति । १५ कान्येन । १६ पान्नादिः ।  
१७ निर्वन इव ।

मन्यस्यापि भवोऽभवद् भवगतः<sup>१</sup> कालादिलब्धेर्विना

कालोऽनादिरचिन्त्यदुःखनिवितो धिक् धिक् स्थितिं संसृतेः ।

इत्येतद्विदुषाऽत्र<sup>२</sup> शोच्यमथवा नैतच्च यदेहिनां

मन्यत्वं बहुधा महीश सहजा वस्तुस्थितिस्तादृशी ॥३८६॥

उपजाति

गतानि संबन्धशतानि जन्तोरेतन्तकालं परिवर्तनेन

नावेहि किं त्वं हि विबुधविश्वो वृथैव मुखेः<sup>३</sup> किमिहेतरो वा ॥३८७॥

अनुवृत्तुप्

कर्मभिः कृतमस्यापि न स्यात्सु त्रिजगत्पतेः । शरीरादि तत्तत्स्याज्जं सन्वते तन्मनीषिणः ॥३८८॥

प्रागभिगोचरः संप्रत्येष चेत्तसि वर्तते । भगवांस्तत्र कः शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥३८९॥

मालिनी

इति मनसि यथार्थं चिन्तयत् शोकवर्हि

शमय विमलबोधाम्भोमिरित्यावभाषे ।

गणभृदथ स चक्री दावदग्धो महीध्रो

नवजलद्वजलैर्वा तद्वचोभिः प्रशान्तः ॥३९०॥

वसन्ततिलका

चिन्तां व्यपास्य गुह्यशोककृतां गणेश-

मानस्य नम्रमुकुटो निकटात्मबोधिः ।

निन्दुञ्जितान्तनितरां निजभोगमुष्णां

मोक्षोष्णकः स्वनगरं व्यविशद् विभूत्या ॥३९१॥

अमन्यकी तरह दुःखी, निर्धन, कुमार्गमें प्रवृत्ति करनेवाला और रोगोंसे भयभीत होता हुआ इस संसाररूपी वनमें भ्रमण करता रहता है ॥३८५॥ काल आदि लब्धियोंके बिना पूज्य भव्य जीवको भी संसारमें रहना पड़ता है, यह काल अनादि है तथा अचिन्त्य दुःखोंसे भरा हुआ है इसलिए संसारकी इस स्थितिको बार-बार धिक्कार हो, यही सब समझ विद्वान् पुरुषको इस संसारमें शोक नहीं करना चाहिए अथवा जीवोंका यह भव्यत्वपना भी अनेक प्रकारका होता है । हे राजन्, वस्तुका सहज स्वभाव ही ऐसा है ॥३८६॥ हे भरत, तू तो संसारका स्वरूप जाननेवाला है, क्या तू यह नहीं जानता कि अनन्त कालसे परिवर्तन करते रहनेके कारण इस जीवके सैकड़ों सम्बन्ध हो चुके हैं ? फिर क्यों अज्ञानीकी तरह व्यर्थ ही मोहित होता है ॥३८७॥ तीनों लोकोंके अधिपति भगवान् वृषभदेवका शरीर भी तो कर्मोंके द्वारा किया हुआ है इसलिए वह भी स्थायी नहीं है और इसलिए ही विद्वान् लोग उसे हेय समझते हैं ॥३८८॥ जो भगवान् पहले आँखोंसे दिखायी देते थे वे अब हृदयमें विद्यमान हैं इसलिए इसमें शोक करनेकी क्या बात है ? तू उन्हें अपने चित्तमें सदा देखता रह ॥३८९॥ इस प्रकार मनमें वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना हुआ तू निर्मल ज्ञानरूपी जलसे शोक-रूपी अग्नि शान्त कर, ऐसा गणधर वृषभसेनने कहा तब चक्रवर्ती भी जिस प्रकार दावानलसे जला हुआ पर्वत नवीन बादलोंके जलसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार उनके वचनोंसे शान्त हो गया ॥३९०॥ जिसे आत्मज्ञान शीघ्र होनेवाला है और जिसका मुकुट नम्रभूत हो रहा है ऐसे भरतने पिताके शोकसे उत्पन्न हुई चिन्ता छोड़कर गणधरदेवकी नमस्कार किया और अत्यन्त बड़ी हुई अपनी भोगविषयक तृष्णाकी निन्दा करते हुए तथा मोक्षके लिए शीघ्रता करते हुए उसने बड़े वैभवके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया ॥३९१॥

१ संसारानुगतः । २ संसारे । ३ शोकविषयम् । ४ अन्य अज्ञ इवेत्यर्थः । ५ चेत्तसि । ६ मुकुटद्योगे दक्षः ।  
 'दक्षे तु चतुरपेशलपटवः । सूत्रान् सज्जस्व' इत्यभिधानात् शीघ्रकारी वर्गः । मोक्षोत्सुक ल० ।

द्रुतविलम्बितम्  
अथ कदाचिदसौ चटनाम्बुजं  
सममिवीक्ष्य समुज्ज्वलदर्पणे ।  
पलितमैक्षत दूतमिवागतं  
परमसौख्यपदात् पुस्तनिधेः ॥३९२॥  
वसन्ततिलका  
आलोक्य तं गलितमोहरसः स्वराज्यं  
मत्वा जरत्तुणमिवोद्गतयोधिरुध्वम् ।  
आदातुमात्महितमात्मजमर्ककीर्तिं  
लक्ष्म्या स्वया स्वयमशोजयदूर्जितेच्छ ॥३९३॥  
मालिनी  
विदितसकलतत्त्वः सोऽपवर्गस्य मार्गं  
जिगमिषुरपसत्तैर्दुर्गमं<sup>३</sup> निष्पयासम्-<sup>४</sup>  
यमस्तमितिसमं<sup>५</sup> संयमं गन्धलं<sup>६</sup> वा-  
ऽदितं<sup>७</sup> विदितसमर्थाः किं परं प्रार्थयन्ते ॥३९४॥  
भुजङ्गप्रयातम्  
अनःपर्ययज्ञानमप्यस्य सद्यः  
समुत्पन्नचर्व केवलं चाजुं तस्मात्<sup>८</sup> ।  
तदैवाभवद् भव्यता तादृशी सा  
विचित्राङ्गिनां निवृत्तेः प्राप्तिरत्र ॥३९५॥  
स्वदेशोद्भवैरेव<sup>९</sup> सपूजितोऽसौ  
सुरेन्द्रादिभिः साप्रतं बन्धमानः ।  
त्रिलोकाधिनाथोऽभवत् किं न साध्यं  
तयो दुष्करं चेत् समादातुमीशः<sup>१०</sup> ॥३९६॥

अथानन्तर भरत महाराजने किसी समय उज्ज्वल दर्पणमें अपना मुखकमल देखकर परम सुखके स्थान स्वरूप भगवान् वृषभदेवके पाससे आये हुए दूतके समान सफेद बाल देखा ॥३९२॥ उसे देखकर जिनका सब मोहरस गल गया है, जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, जो आत्महितको ग्रहण करनेके लिए उद्युक्त है और जिनकी वैराग्यविषयक इच्छा अत्यन्त सुदृढ़ तथा वृद्धिशील है ऐसे भरतने अपने राज्यको जीर्णतुणके समान सानकर अपने पुत्र अर्ककीर्ति-को अपनी लक्ष्मीसे युक्त किया अर्थात् अपनी समस्त सम्पत्ति अर्ककीर्तिको प्रदान कर दी ॥३९३॥ जिसने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जो हीन जीवोंके द्वारा अगम्य मोक्षमार्गमें गमन करना चाहते हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने मार्ग हितकारी भोजनके समान प्रयासहीन यम तथा समितियोंसे पूर्ण सयमको धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाले पुत्र सयमके सिवाय अन्य किसी पदार्थकी प्रार्थना करते हैं ? ॥३९४॥ उन्हे उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रकट हो गया । उनकी वैसी भव्यता उसी समय प्रकट हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोंको मोक्षकी प्राप्ति वही विचित्र होती है ॥३९५॥ जो भरत पहले अपने देशमें उत्पन्न हुए राजाओंसे ही पूजित थे वे अब इन्द्रोंके द्वारा भी बन्धनीय हो गये । इतना ही नहीं, तीन लोकके स्वामी भी हो गये सो ठीक ही है जो कठिन तपस्चरण ग्रहण करनेके लिए समर्थ रहता है उसे क्या-क्या वस्तु साध्य

१ उद्यमान । २ गन्तुमिच्छु । ३ अपगतवले । ४ मूलगुणसमूह । ५ पाथेयमिव । ६ स्वीकृतवान् । ७ ज्ञात-समीचीनार्था । ८ ज्ञातार्थक्रियासमर्था वा । ८ समुद्भूतम् । ९ पश्चात् । १० नयमात् । ११ पद्लण्डनः । १२ समर्थ ।

मालिनी  
परिचितयतिहंसो<sup>१</sup> धर्मवृष्टिं निषिञ्चन्  
नमसि कुतनिवेदो निर्मलस्तुङ्गवृत्तिः ।  
फलमविकलसङ्गं मन्व्यसस्येषु कुर्वन्  
व्यहरदखिलदेशान् आरदो वा स मेघः ॥३९॥  
पृथ्वी  
विहृत्य सुचिरं<sup>२</sup> विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो,  
सुहृत्परिभ्रास्यतो<sup>३</sup> विहितसक्रियो विच्युतो ।  
तनुत्रितयबन्धनस्य गुणसारमूर्तिः स्फुरन्  
जगत्प्रशिक्षामणिः सुखनिधिः स्वधाम्नि स्थितः ॥३९८॥  
वसन्ततिलका  
सर्वेऽपि ते वृषभसेनमुनीशमुख्याः  
सौख्यं<sup>४</sup> गताः सकलजन्तुषु शान्तचिन्ताः ।  
कालक्रमेण यमशीलगुणाभिपूर्णा  
निर्वाणमापुरमितं गुणिनो गणीन्द्राः ॥३९९॥  
शार्दूलचिक्रीडितम्,  
यो नेतेव<sup>५</sup> पृथुं जघान दुरितारतिं चतुस्साधनो  
येनात्तं कनकाक्षमेव विमलं रूपं स्वभाभास्वरं<sup>६</sup> ।  
आभेजुश्चरणौ सरोजजयिनौ यस्यालिनो वाऽमरा-  
स्तं त्रैलोक्यगुरुं पुष्टं श्रितवतां श्रेयांसि वः स क्रियात् ॥४००॥  
शार्दूलचिक्रीडितम्  
योऽभूत्पञ्चदशो विभुः कुलभूतां तीर्थेशिनां चाग्निमो  
दृष्टो येन मनुष्यजीवन् विधिसुक्तेश्च मार्गो महान् ।  
बोधो<sup>७</sup> शेषविमुक्तश्चिरसिलो यस्योद्पाद्यन्तिमः<sup>८</sup>  
स श्रीमान् जनकोऽखिलावनिषत्तराद्यः<sup>९</sup> स दद्याच्छ्रियम् ॥४०१॥

नहीं है अर्थात् सभी वस्तुएँ उसे साध्य है-॥३९६॥ मुनिरूपी हंस जिनसे परिचित है, जो धर्म-  
की वर्षा करते रहते हैं, जो आकाशमें निवास करते हैं, निर्मल है, उत्तमवृत्तिवाले हैं (पक्षमे ऊँचे  
स्थानपर विद्यमान रहते हैं) और जो भव्य जीवरूपी घानोंमें मोक्षरूपी पूर्ण फल लगानेवाले  
हैं ऐसे भरत महाराजने शरद ऋतुके मेघके समान समस्त देशोंमें बिहार किया ॥३९७॥  
चिरकाल तक बिहार कर जिन्होंने शिक्षा देने योग्य जनसमूहका बहुत भारी कल्याण किया है  
ऐसे भरत महाराजने अपनी आयुकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बाकी रहनेपर योगनिरोध किया  
और औदारिक, तैजस तथा कामाण इन तीन शरीररूप बन्धनोके नष्ट होनेपर सम्यक्त्व आदि  
सारभूत गुण ही जिनकी मूर्ति रह गयी है, जो प्रकाशमान हैं, जगत्प्रत्येक चूड़ामणि हैं और  
सुखके भाण्डार हैं ऐसे वह भरतेश्वर आत्मधाममें स्थित हो गये अर्थात् मोक्षको प्राप्त हो गये  
॥३९८॥ जो समस्त जीवोंके विषयमें शान्तचित्त है, उत्तम सुखको प्राप्त है, यम शील आदि  
गुणोंसे पूर्ण है, गुणवान् है और गण अर्थात् मुनिसमूहके इन्द्र है ऐसे वृषभसेन आदि मुख्य मुनिराज  
भी कालक्रमसे अपरिमित निर्वाणधामको प्राप्त हुए ॥३९९॥ जिन्होंने नेताकी तरह चार  
आराधनारूप चार प्रकारकी सेनाको साथ लेकर पापरूपी विशाल शत्रुको नष्ट किया था,  
जिन्होंने सुवर्ण पाषाणके समान अपना देदीप्यमान स्वरूप प्राप्त किया है, भ्रमरोंके समान  
सब देवलोग जिनके कमलविजयी चरणोंकी सेवा करते हैं और जो तीन लोकके गुरु हैं ऐसे श्री  
भगवान् वृषभदेवकी सेवा करनेवाले तुम सबको वे ही कल्याण प्रदान करनेवाले हों ॥४००॥  
जो कुलकरोमे पन्द्रहवें कुलकर थे, तीर्थकरोमे प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होंने मनुष्योकी जीविका

१. परिवेष्टितयतिमुख्य । २. भयंजनसमूहस्योपकारि । ३. मुहूर्तपरिसमास्थितौ सत्याम् । ४. सख्यं ल० ।  
५. सेनापतिरिव । ६. चतुर्विधाराधनसाधन । ७. आ समन्ताद् आम्बरम् । ८. जीवितकल्पः । ९. आवरण-  
विभूत । १०. उत्पन्नवान् । ११. भरतस्य ।

वसन्ततिलका

साक्षात्कृतप्रथितसप्तपदार्थसार्थः

सद्धर्मतीर्थपथपालनमूलहेतुः ।

मन्यात्मनां भवभृतां स्वपैरार्थसिद्धि-

सिद्धाकुञ्जशबुधमो वृषभो<sup>२</sup> विदध्यात् ॥४०२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यो नामेस्तनयोऽपि विद्वद्विदुषां पूज्यः स्वयम्भूरिति

त्यक्ताशेषपरिग्रहोऽपि सुविधां स्वामीति यः शक्यते ।

मध्यस्थोऽपि विनयेसत्त्वसमितेरेवोपकारी मतो

निर्दानोऽपि बुधैरपास्य चरणो यः सोऽस्तु यः शान्तये ॥४०३॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे प्रथमतोर्थ-

करचक्रधरपुराणं नाम सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्वपरिसमाप्तम् ॥४७॥

की विधि और मोक्षका महान् मार्ग प्रत्यक्ष देखा था, जिन्हें आवरणसे रहित पूर्ण अन्तिम — केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और जो समस्त पृथिवीके अधिपति भरत चक्रवर्तीके पिता थे वे श्रीमान् प्रथम तीर्थकर तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करे ॥४०१॥ जिन्होंने प्रसिद्ध सप्त पदार्थोंके समूह को प्रत्यक्ष देखा है और जो समीचीन धर्मरूपी तीर्थके मार्गकी रक्षा करनेमें मुख्य हेतु हैं ऐसे इक्ष्वाकु वंशके प्रमुख श्री वृषभनाथ भगवान् संसारी भव्य प्राणियोंको मोक्षरूपी आत्माकी उत्कृष्ट सिद्धिको प्रदान करें ॥४०२॥ नाभिराजके पुत्र होकर भी स्वयम्भू हैं अर्थात् अपने आप उत्पन्न हैं, समस्त विद्वानोंके पूज्य हैं, समस्त परिग्रहका त्याग कर चुके हैं फिर भी विद्वानोंके स्वामी कहे जाते हैं, मध्यस्थ होकर भी भव्यजीवोंके समूहका उपकार करनेवाले हैं और दान-रहित होनेपर भी विद्वानोंके द्वारा जिनके चरणोंकी सेवा की जाती है ऐसे भगवान् वृषभदेव तुम सबकी शान्तिके लिए हों अर्थात् तुम्हें शान्ति प्रदान करनेवाले हों ॥४०३॥

इस प्रकार आर्पनामसे प्रसिद्ध भगवान् गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीआदिपुराण

संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें प्रथम तीर्थकर और प्रथम चक्रवर्तीका वर्णन

करनेवाला यह सैतालीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

पुराणखिवरगम्योऽयमर्थवीचिविभूषितः ।

सर्वथा शरणं मन्ये जिनसेनं महाकविम् ॥

पारग्रामो जन्मभूमिर्धृदीया

गल्लीलालो जन्मदाता यदीयः ।-

पन्नालालः छुट्टबुद्धिः स चाहं

टीकामेतां स्वल्पबुद्ध्या चकार ॥

आषाढकृष्णपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथावियम् ।

पञ्चसप्तचतुर्गुणवर्षे पूर्णा वभूव सा ॥

ते ते जयन्तु विद्वांसो वन्दनीयगुणाधराः ।

यत्कृपाकोणमालम्ब्य तीर्णोऽयं शास्त्रसागरः ॥



## श्लोकानुक्रमणिका

अ	अणिमादिभिरष्टाभि	अय ते सह सम्भूय
सकम्पन खल. क्षुद्रो ३८६	अताप्सोत् प्रणतानेष ६६	अथ दुर्मर्षो नाम ३८६
अकम्पनसहाराजम् ३७१	अतिक्रान्ते रथे तस्मिन् ३८७	अथ दूतवचश्चण्ड- २००
अकम्पनमहोक्षस्य ४२१	अतिगृह्य पुरा पश्चात् ५०९	अथ देशोऽस्ति विस्तीर्णः ३६२
अकम्पनस्य सेनेशो ३९०	अतिपरिणतरत्या ४४४	अथ निर्वर्तिताशेष- २६१
अकम्पने, किमित्येवम् ४२९	अतिवृद्ध अयासश्च ३६७	अथ नृपतिसमाजेनाचित ११०
अकम्पनोऽप्यनुप्राप्य ४२१	अतिवृद्ध रसावेग ४३९	अथ प्रादुरभूत् कालः ३७२
अकरा भोक्तुमिच्छन्ति १५६	अतीत्य परत किञ्चित् १३७	अथ मेघस्वरो गत्वा ४२५
अकस्मात् क्षुपितो दन्ती ७४	अतीन्द्रियसुखोऽप्यात्मा ३३७	अथ रथपरिवृत्त्यै ५८
अकस्मादुच्चरद्दधानम् ४०	अतीन्द्रियात्मदेहश्च ३३७	अथवा कर्म नोर्कर्म गर्भेऽस्य ३३९
अकाशायकोद्भिन्न- ४८६	अतोऽतिबालविद्यादीन् ३१५	अथवा खलु संशय ४८
अकारणरगैनालम् २०३	अत्यन्तरसिकानादी २०७	अथवाऽयं भवेदस्य ३५३
अकालप्रलयारम्भ- ३९६	अत्यन्तुपानादुद्रिक्त- ४०	अथवा तन्त्रभूयस्त्वम् २०२
अक्षयिवाश्च वृत्तस्था. ३३३	अत्यासगात् क्रमप्राहि- ४३३	अथवा दुर्मवाविष्ट- १५२
अक्षत्रक्षणमात्रं ते १६८	अत्र चिन्त्यं न वः किञ्चित् ३९४	अथवाद्यापि जेतव्य १५२
अक्षरत्वं च भुवतस्य ३३९	अत्र वामुश्च वासोऽस्तु ४१७	अथवा सोऽनभिज्ञोऽपि ३५४
अक्षिमाला महाभूत्या ४२७	अत्रान्तरे गिरिन्द्रेऽस्मिन् १२२	अथ व्यापारयामाम १८
अक्षिमाला किल प्रेता ४३०	अत्रान्तरे ज्वलन्मौलि- १०४	अथ सम्मुखमागत्य ११०
अक्षीपावसथ. सोऽभूत् २१४	अत्रापि पूर्ववहानम् २४८	अथ सरसि जिनानाम् ७९
अक्षयधनुरागेण १८९	अत्रायं भुजगशिषु. ५३	अथात श्रेणिक पीत्वा ३५६
अगाध पुरस्कृत्य ४१४	अत्रेत्याखिलवेद्युक्तम् ४७६	अथात. सम्प्रवक्ष्यामि २७७
अगोष्पदमिव देव २०	अत्रैकैषा निसृष्टाथान् ३७१	अथात सम्प्रवक्ष्यामि २९०
अगोष्पदेष्वरण्येषु ३५	अत्रैव न पुनर्भेति ४४४	अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि ३११
अग्निमित्रोऽय मित्राग्नि ३५६	अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा ४७२	अथान्यदा जगत्काम- ३५९
अग्रथा दण्डरत्नेन १०	अत्रैव सप्तभेऽङ्गि ४६९	अथान्येदा समुत्पन्न- ५०२
अङ्गसादं मतिश्रेष्ठम् २०८	अथ कदाचिदसौ वदनाम्बुज ५१३	अथान्येषु सभांध्ये ४७५
अङ्गादङ्गात्सम्भवसि ३०५	अथ चक्रधर. काले ३१७	अथान्येषुद्विपारम्भे ११२
अङ्गानां सप्तमादङ्गात् २४४	अथ चक्रधर पूजाम् १	अथान्येषुदिनारम्भे ८३
अङ्गान् मणिभिरस्यङ्गै ६६	अथ चक्रधरो कौनीम् ६२	अथापरातन्निर्जेतुम् ८१
अचलो मेवसंज्ञश्च ३५७	अथ जन्मान्तरापात- ४४३	अथाद्रवीद् द्विजन्मयो २६९
अचिन्तयच्च किं नाम ३५२	अथ जातिमदावेशात् २७९	अथावर्ह्य कौत्यामात् १५१
अचिन्तयच्च किं नाम २०६	अथ तत्र कृतावासम् ९९	अथास्मै वृत्तरत्नं प्रादु- १२७
अचिराच्च समासाद्य १३२	अथ तत्र शिलापट्टे १२५	अथोदीरिततोयैश्च ४९८
अच्छैर्त्वाच्छवमस्त्राणि ४१९	अथ तत्रस्थ एवादिषम् ५०	अथोपाचक्रमे वदन् १७७
अजितञ्जयमावसत् ३८	अथ तस्मिन् वनाभोगे ७१	अथोनयवन्ते धीराः २०३
अञ्जित्वा विधिना स्तुत्वा ४१८	अथ ते कृतनम्माना २४१	अथोऽप्यभटानीक- १८६
		अदधुनैवन्दानि ६



अदीक्षाहं कुले जाता	३११	अनुगगातट सैन्यैः	१२७	अन्यैश्च निश्चितत्यागै-	५०२
अदीनमनसं शान्ता	१६८	अनुतीरवनम्	५४	अन्योऽन्यं खण्डयन्ति स्म	४०५
अद्वारपार कायोऽयम्	४६२	अनुत्तरविमानौप-	१६३	अन्योऽन्यं सह सम्भूय	३२३
अदृष्टपारमसौभ्यम्	४४	अनुद्धता गभीरत्वम्	४	अन्योऽन्यरदनीदमित्री	४०८
अदृष्टमधुतं कृत्यं	१५६	अनुद्धता मृगा. शार्व.	९८	अन्योन्यविषयं सीरुयम्	४३३
अद्यासिन्धु प्रयातव्यम्	३४	अनुप्रवृद्धकल्याण-	४५४	अन्योन्यस्येति संजल्पे.	३४
अद्यैव च प्रहेतव्या	१५८	अनुभेरीरवं सद्य	३९२	अपमृत्युविनाशनम्	२९३
अधस्ताद् वक्त्रविवरम्	४५६	अनुयायिनि तस्यागादिव	२६५	अपराधः कृतोऽस्माभि.	४२६
अधायदसौ किञ्चित्	४८१	अनुरक्ततया दूरम्	१९१	अपरीक्षितकार्याणाम्	४७५
अधिकारे ह्यसत्यस्मिन्	३१४	अनुरक्तापि सन्ध्येय-	१८८	अपरेद्युदिनारम्भे	२६२
अधित्यकासु सोऽस्याद्रे-	१३३	अनुवाचितं कर्षन्	६२	अपापोपहृता वृत्ति.	२४३
अधिमेलनस्यासीत्	१२५	अनुवाचितं गत्वा	९३	अपातयन्महामेघम्	४६०
अधिवक्षस्तर्जिणी	२०४	अनुवेणुमतीतीरम्	६८	अपायो हि संपत्तेभ्यः	२६४
अधिवासितजैनाश्च	३८	अनुसिन्धुतटं सैन्यै-	९७	अपि चात्र मन खेद-	३४१
अधिशय्य गृहागर्भम्	११५	अनूत्तिषु सस्त्रीत्या	२६५	अपि चाद्य मया स्वधना	३१९
अधिष्ठाय जय	३९५	अनेकमन्तरद्वीप-	४३	अपि चास्मदुपगतं यद्	३१७
अधीतविद्यं तद्विद्यै	२५५	अनेकानुनयोपायै-	४४६	अपि चैवा विद्युद्वज्रम्	२८२
अधोभागमधीर्ध्वं च	४४८	अन्तःकोपोऽप्ययम्	४१०	अपि राग समुत्तुज्य	२५५
अधोमुखा खगैर्मुक्ताः	४००	अन्तःप्रकृतिजः कोपो	१७३	अपूर्वैरस्तसन्दर्भै-	३७
अध्यानमात्रमेताराद्	२०५	अन्तःक. समवर्तीति	४०२	अपूर्वलाभ इलाध्यश्च	३७०
अध्वनत् गुण मन्थे	४६४	अन्तमस्य विधास्यामि	४४३	अपृच्छत् सोऽनवीदेया	४८३
अनग्नमुत्ता एव	१६४	अन्तर्हीनो जय सर्वम्	४०५	अप्सव्यस्तितिरयमाजिघाम्	५५
अनन्तदर्शनत्वं च	३३९	अन्तवर्धन चास्य	३३८	अवन्धाद् बन्धुरा तस्य	३८४
अनन्तसुखशब्दश्च	२९१	अन्यच्च गोधन गोपो	३४७	अवन्ध्यशासनस्यास्य	१७९
अनन्यशरणैरन्यै-	६४	अन्यच्च देवता सन्ति	११७	अबाहुबलिनानेन	१५७
अनन्यसदृशैरेभिः	२५२	अन्यच्च तमिताशेष-	१७९	अविभ्यद्देवता चैवम्	५०१
अनन्विष्य मयि प्रौढिम्	३५२	अन्यच्च बहुवाग्जाले	२८७	अबोधद्वेपरागात्मा	४६५
अनलस्यानिलोवाय	३८७	अन्यच्चाकणित दृष्टम्	४५३	अभग्न इव सद्बर्गम्	४११
अनादिपदपूर्वाच्च	३९२	अन्यत्र भ्रातृमण्डानि	२०८	अभिम्य नृप. क्षिप्रम्	३७४
अनादिमस्तपर्यन्तम्	४२	अन्यथा चिन्तित कार्यम्	४२५	अभिचारक्रियेवासीत्	१
अनादिश्रोत्रियाद्येति	२९४	अन्यथाऽन्यकृता सृष्टिम्	३१३	अभिमतफलसिद्ध्या	३८४
अनालपन्तीमालाग्र	४३२	अन्यथा विमर्तिसृयो	२६४	अभिन्नश्च यथाकामम्	४८३
अनाशितमव पीत्वा	४२	अन्यथा सृष्टिवादेन	३१३	अभिवन्धागताऽस्त्येहि	४८६
अनाशुषोऽपि तस्यासीत्	२१४	अन्येषु खचराधीनो	४६०	अभिविष्य च राजेन्द्रम्	१२०
अनाश्वान्नियताहार-	२८७	अन्येषु. त्रियदत्तासी	४५२	अभिविष्य चला मत्वा	४४३
अनित्या त्राणससारै-	२१५	अन्येषु रिममारुह्य	३६०	अभीष्ट मम देहीति	४७२
अतिराकृतसत्ताप	१८०	अन्येषु मधुनो राज्ञ-	३७४	अभूतपूर्वमुद्भूत-	९८
अनिष्टवर्तित्वेयम्	२०७	अन्येषु र्यतिमासाद्य	४७०	अभूतपूर्वमेतन्नो	११६
अनुकूलानिलोत्क्षिप्त-	४०७	अन्येषु र्यसुधारादि-	४५८	अभूजज्यावती भ्रातु.	४९३
अनुगगातट देशान्	१३१	अन्येषु र्यार्थैश्च भूपाला-	४१९	अभूतान्तिश्चकोराक्ष्या	२३०
अनुगगातटं भाति	२०	अन्येऽमी च खगाधीना	३८१	अभूत प्रहेतगम्भीर-	४०२
अनुगगातट यावती	३५	अन्येष्वपि कलाज्ञास्त्र-	३२९	अभूदयशसो रूपम्	४३०

अभूद् रागी स्वयं राग	३६४	अलं स्तुतिप्रपञ्चैव	१४६	अर्चय्यशङ्खमाक्रान्त-	३९
अभेदमपि ध्वजेण	४८८	अलका इव सरज्जु	१	असत्फला इमे स्वप्नाः	३१७
अभेदाद्यमभूतस्य	२३४	अलका कामकृष्णाहि-	२२४	असत्यस्मिन् गुणोऽन्यस्मात्	३१५
अभेदा दृढसम्माना	८१	अलघ्यं चक्रमाक्रान्त-	३३	असत्यस्मिन्नमान्यत्वम्	३१४
अभेदे मम देहाद्रो	२०८	अलघ्यत्वान्माहीयस्त्वाद्	३७	असह्यं बलसघट्टैः	८५
अभ्यर्चितानि कुण्डस्य	५०७	अलघ्यमहिमोदघ्नो	१२३	असिमण्यादिपट्कर्म-	२२७
अभ्यर्णं बन्धुवर्गस्य	४८९	अलघ्वभावो लब्धार्थ-	४८	असिसघट्टनिष्ठमृत-	४०३
अभ्येति वरटाशकी	२०	अवकाशा प्रकाशास्य	४१४	असौ रतिवर कान्त	४४८
अभ्येत्य वृषभारुणासम्	३५९	अवतसितनीलाब्जा	१२	अस्ति माधुर्यमस्त्योज	१५३
अभ्येत्ते समाभ्ये	५०१	अवतारक्रियाऽन्या	२५९	अस्ति स्वयंवर. पन्था	३९१
अभानुषेण्वरण्येषु	११४	अवतारक्रियाऽन्येषा	२७२	अस्तु किं यातमद्यापि	४१६
अभिमानन्तमस्यायि काम्यासौ	४५०	अवतारितपर्याण-	७३	अस्तु वास्तु समस्त च	४९९
अभुनाऽभ्यायवर्त्मव	४३०	अवतारो वृत्तलाभ	२४४	अस्त्रैर्व्यस्त्रैश्च शस्त्रैश्च	१०२
अभुमाज्जनसघट्टात्	२८	अवतीर्य महीं प्राप्य	४६५	अस्मद्विजितपुष्कर्म-	४७५
अभुष्य जलमुत्पतद्	५१	अवधार्यानिभिप्रेत-	४७१	अस्मिता सस्मिता कुर्वन्	४३१
अभुतवचने मन्दम्	२५९	अवधार्यास्य पुत्रस्य	४४९	अस्मिन्नतिशये पूजाम्	३०१
अभ्येयैर्यमाहार्य-	१४१	अवधूत पुरानङ्ग	३७९	अस्या पय प्रवाहिण	१८
अभोवपास्तस्तस्यासन्	२३४	अवध्य क्षतमित्यास्था	१७२	अस्या प्रवाहमस्मोधिः	१८
अय कायद्रुम. कान्ता	४६४	अवनिपतिसमाजे	७९	अस्याग्रह इवानङ्गः	३७९
अयं खलु खलाचारो	१८०	अवरुद्धाश्च तावन्त्य	२२३	अस्यानुसानु-रन्येय	१२२
अयं च चक्रमुद्बो	२०२	अवान्तरविशेषोऽत्र	२४६	अस्थोपास्तभुवश्चकासति-	५६
अयं जलधिरुचलत्तरल-	५०	अवापि या तथा प्रीति	४३३	अस्वेदमलमच्छायम्	१४१
अयमनिभूतवैलौ	५३	अवार्योऽनन्तवीर्याख्य.	५०२	अह कृतो कुतो धर्मः	३६२
अयमनुसरन् कोक-	१९५	अवास्किरन्त शृंगाग्र	५	अह पूर्वोक्तदेवश्री	४५७
अयमयमुद्गारो	५८	अविगणितमहत्त्वा	५३	अह प्रियरतिर्नामा	४८१
अयमेकचर. पोत-	२३	अविदितपरिमाणैः	७९	अह वर्षवरो वेत्ति न	४६७
अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य	३८२	अव्यावाधत्त्वमस्येष्टम्	३३९	अह हि भरतो नाम	४६
अयोनिस्मभवं जन्म	२७५	अव्यावाधत्तपद चान्यद्	२९१	अहमद्य कृतार्थोऽस्मि	१४८
अयोनिस्मभवं दिव्य-	२७८	अवाक्यधारणं चैवम्	२५४	अहमिन्द्रोऽग्निमोऽभूवन्	५०९
अयोनिस्मवास्तेन	२८०	अवाक्योद्घाटनाभ्याम्	११२	अहमेको न मे कश्चित्	२५६
अरिजयाख्यमाश्वा	४१८	अशिथिरकरो लोका-	१९४	अहानि स्वापयित्वैवम्	४४१
अरेमित्रमरेमित्रम्	१५४	अशोकतरुत्रायम्	२१	अहिंसाखण धर्म	३२१
अर्ककीर्ति स्वकीर्ति वा	४१२	अशोकशाखिचिह्नेन	१४०	अहिंसाशुद्धिरैषा स्यात्	२७१
अर्ककीर्ति पुरो पीत्रम्	३५६	अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि	२७	अहिंसा सत्यमस्त्येषाम्	१६५
अर्ककीर्तिरकीर्ति मे	४३०	अष्टचन्द्रा खगा ख्याता.	३९६	अहो तदवनस्यास्य	२१
अर्ककीर्तिर्वहिर्भवेद्	३९३	अष्टचन्द्रा पुरो भूयः-	४०७	अहो परममास्वर्थ-	१३५
अर्ककीर्त्यादिभि प्रल्ले	४३५	अष्टचन्द्रान् सखी कुर्वन्	४१९	अहो महानय सैलो	१२२
अकणालोकनारोधि-	४२६	अष्टचन्द्रास्तवाभ्येत्य	४१९	अहो महानुभावोऽय	१२६
अयो मनसि जिह्वेभ्ये-	३५५	अद्यापि दुष्टरिपवोऽस्य	५१०	अहो महानुभावोऽय	२०२
अयं युष्मिन्नेवास्य	३५२	अष्टोत्तरसहस्राद् वा	२४७	अहो मया प्रमत्तेन	४४१
अहमातृपदं तद्वत्	२९४	असंख्यकरूपकोटीषु	१२५	अहो मातृगणोऽस्माकम्	१७२
अल वत चिरं	१९३	असकृत् किलरस्त्रीणाम्	१२१	अहो दिपयसाख्य न	२०६

आ	आधानं प्रीतिसुप्रीति-	२४४	आरूढकलिकां पश्यन्	२३२
आकारसवृति कृत्वा	आधानमन्त्र एवान्	३०३	आरूढयौवनोष्माणी	२३०
आकारेण्विव रत्नानाम्	आधानात् पञ्चमे मासि	२४६	आरूढानेकपानेक-	३९३
आकालिकीमनादृत्य	आधानादिक्रियारम्भे	२९०	आरूढो जगतीमद्रे	१०९
आकृष्टदिग्गजालीनि	आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत्	२४४	आरोहति दुरारोहम्	२०७
आकृष्टनिचुलामोदम्	आधाने मन्त्र एव स्यात्	३०२	आयणिमपि वाग्भूया	३६१
आक्रान्तभूभृतो नित्यम्	आधोरणा मदमधीमलिनान्	७६	आयिकाभिरभिष्टूयमान-	५०३
आक्रान्तसैनिकैरस्य	आधोरणे कृतोत्साहै-	४०६	आर्हन्त्यभागी भवेति	३०२
आखण्डलधनुर्लोखाम्	आनन्दराजपुत्रस्य	४७१	आर्हन्त्यमहंतो भावो	२८८
आग. परागमातन्वन्	आनन्दिन्योऽन्विनिर्घोषा.	२३६	आलिनिता वनतस्त्वमितिमात्र- ७७	
आगच्छन्ती भवद्वातम्	आनन्दिन्यो महाभयैः	२२१	आलि त्वं नालिक. ब्रूहि	१९१
आघातुको द्विरदिनः	आनीतवानिहेत्येतत्	४८२	आलुलोके बुधोऽनन्त-	५०६
आचारस्य बलान्येके	आनीयता प्रयत्नेन	४८२	आलोकयन् जिनस्त्वभाव-	१५०
आचारगेन नि.शेषम्	आन्धान् रुद्रप्रहारेपु	७०	आलोक्य तं गलितमोहरसः	५१३
आजन्मनः कुमारस्य	आपदिचमार्णवतटात्	८६	आवश्यकेऽप्यसम्भावम्	२१२
आजानुलम्बिता ब्रह्मा	आ पाण्डुरगिरिप्रस्थात्	६७	आवा चाकर्ण्य त नत्वा	५००
आज्ञापायी विपाक च	आपातमात्ररम्याणाम्	२०६	आवामपि तदा वन्दनाय	४७८
आज्ञाभिमानमुत्सृज्य	आपीतपयसा प्राज्य-	१२	आबु गत्वा निवेद्यासी.	४२८
आतपत्रं सहस्रोऽह	आपो घन धृतरसा.	५२	आश्रितैकादशोपासकव्रत	५०५
आतिथ्यमिव नस्तन्वन्	आप्तजानपदानीत-	४४०	आष्टाङ्गिको मह सार्व-	२४२
आत्मस्त्व परमात्मानम्	आप्तागमपदाथिच	३६८	आसन्नभग्यशब्दश्च	२९३
आत्मनेव द्वितीयेन	आप्तोपज्ञं भवेत्तत्त्वम्	३३३	आसन् विजयबोधाख्याः	२३६
आत्मसम्यग्गुणैर्युक्तः	आप्तोपज्ञेषु तत्त्वेषु	३२८	आस्तामाध्यात्मिकीयं ते	१४४
आत्मान्वयप्रतिष्ठाप्यम्	आप्तोऽर्हन् वीतदोपत्वात्	३३४	आस्ता भुजबली तावद्	१५८
आत्मोपाविशिष्टाव-	आवध्यस्थानकं पूर्वम्	३९६	आस्थाने जयदुन्दुभी ननु नदन्	८०
आत्रिकापायसरक्षा-	आभिजात्य बयो रूपम्	३६०	आस्कलिता तदा भेरी	३७५
आत्रिकामुत्रिकापायात्	आमुच्छ्रय स्वगुरुम्	१४९	आहवो परिहार्योऽयं	४११
आदावशुच्युपादानम्	आयसा सायका काम-	४१७	आहारभयसरो च	२१२
आदिक्षत्रियनृत्तस्थाः	आयुर्वयुचलं कायो	४६२	आहारस्य तथा तेऽद्य	४२७
आदित्यगतिमस्येत्य	आयुर्वयुरय मोहो	४९९	आहूता. केचिदाजन्मु	१०२
आदित्यगतिरस्यासीत्	आयुर्वेदे स दीर्घायु-	३२८	आह्वायन्तीमिदोऽर्वाच.	४४०
आदिराजकृता लक्ष्मीम्	आयुष्मन् कुशलं प्रष्टुम्	१०५		
आदिष्टव्रतितारन-	आयुष्मन् भवता सुष्टा	३२०		
आदिष्टसन्निधाने	आयुष्मन् धूमदोयाज्ञाम्	१००		
आदौ जन्मजरारोगा-	आयुष्माप्तिरिति	५७		
आदौ परमकाष्ठेति	आरक्तकलुषा दुष्टिः	१९२		
आदौ मुनीन्द्रभागीति	आरक्षककरो हन्तुम्	४७४		
आद्यः सेनापति पञ्चादर्य.	आरक्षिणो निगृह्णीयु-	४७२		
आद्यन्तमसकृत्पीत-	आरुध्यमानमश्नीयै.	३०		
आद्योऽयं महति स्वयंवरविधौ	आरुरोह स तं शैलम्	१३३		
आधानं नाम गर्भादौ	आरुष्टकलिका दुष्टिम्	४१५६		
	आरूढ. शिबिका दिव्योम्	२६५		

इतश्च संकोतोसंगे	२२	इति प्रशान्तमोजस्वि	१७७	इति सपूर्णसर्वाङ्ग-	३६८
इतश्च हरिणाराति-	१३५	इति प्रशान्तो रौद्रश्च	१३५	इति सम्यक्त्वसत्पात्र-	४६९
इति कञ्चुकिनिर्दिष्टम्	३८१	इति प्रश्रयणी वाणी	४२९	इति सर्वैः समालोच्य	४३६
इति कालान्तरे दोष-	३२१	इति प्रश्रयणी वाणी	४३७	इति सागरदत्ताक्षः	४९६
इति कृत्वा निदान स	४५६	इति प्रसाद्य सन्तोष्य	४२७	इति सामादिभि स्त्रोक्त्रै	३९४
इति गोपालदृष्टान्तम्	३४७	इति प्रसाधितस्तेन	१००	इति सोत्कर्षमेवास्याम्	२३३
इति चक्रधरादेश-	१०७	इति प्रसाध्य ता भूमिम्	१०९	इति लीलोचने युद्धे	४२०
इति जल्पति संरम्भाच्च	१५७	इति प्रस्पष्टचन्द्राद्यु-	७	इति स्तुतात्मसोभाग्य-	३८१
इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य	४७७	इति प्रागेव निर्विद्य	३४१	इति स्थिते प्रणामार्थ	१६०
इति सत्फलविज्ञान-	३२०	इति प्राचोदयत् सापि	४४७	इति स्वप्नफल तेषाम्	५०६
इति तद्वचन श्रुत्वा	४६०	इति प्राणप्रिया काचित्	१९१	इति स्वप्नफलान्तरमाद्	३२३
इति तद्वचनस्यान्ते	१८०	इति वञ्चजनैर्वार्यमाणी	४८९	इति स्वसचिवैः सार्धम्	३९३
इति तद्वचनाच्चक्री	१५८	इति नृवैस्तथोत्थाय	१००	इतीद वनमत्यन्त-	२३
इति तद्वचनाच्छ्रेष्टी	४६७	इति नृवाण सप्राप्य	३८६	इतीदमनुमान न	३१७
इति तद्वचनाज्ज्ञात-	११७	इति भरतनरेन्द्रात्	३१६	इतोमामार्पभूमिष्टिम्	१७०
इति तद्वचनात् किञ्चित्	४९	इति भूयोऽज्जिह्वितान्	२६३	इतो ध्रुवबोऽनिल-	५६
इति तद्वचनात् सर्वान्	२४१	इति मण्डलभूपालान्	६५	इतोऽन्यदुत्तर नास्ति	१६५
इति तद्वचनाद् राजा	४७५	इति मनसि यथार्थ चिन्तयन्	५१२	इतोऽपसर्पतामवीयाद्	२८
इति तस्य वच श्रुत्वा	३८३	इति मन्त्रपदान्युक्त्वा	२९३	इतो भहीशसन्नेवान्	३७७
इति तस्या परिप्रक्षे	४५७	इति माध्यस्थ्यदृष्ट्यैके	२०२	इतोऽमी किन्नरीगीत	२२
इति तेऽभिमतमत्युक्त-	४५८	इति याथात्म्यमासाद्य	४६१	इत्य चराचरपुत्र परमादिदेव	१४९
इति वत्सह वीरम्	४२०	इति युष्मत्पदावज्जम्भ-	१६०	इत्य नियन्तरि पराम्	५७
इति द्रष्टावदान तं	१२७	इति रम्भान् पुरस्यास्य	१७५	इत्य नियन्तुरिरनेकपदबृह-	७७
इति नामाविधैर्भावि	१०३	इति वतव्यमित्याख्यत्	४५०	इत्य पुण्यादशाच्चक्री	११०
इति निर्धार्य कार्यज्ञान्	१५९	इति विज्ञाप्य चक्रेशात्	४३१	इत्य पुराणपुरुषाद्	१७०
इति निश्चितमर्थद-	३८७	इति विशति गाङ्गमन्त्रु	५१	इत्य भवन्तमतिभक्तिपथ	४२२
इति निर्विण्णपर्यन्ता-	२६७	इति व्यवतलिपिन्यासो	४६	इत्य मनु सकलचक्रमुदादि-	३४८
इति निर्विद्य सजात-	४९४	इति व्याहृत्य हेमाववा-	४७६	इत्य वनस्य सामूह्यम्	२५
इति निश्चित्य कार्यज्ञान्	१७३	इति शासति तस्याद्रे	१३६	इत्य स धर्मविजयी	३१६
इति निश्चित्य मन्त्रज्ञा-	२०३	इति शारदिके तीर्थम्	२६	इत्य स पुषिषीमव्यान्	६९
इति निश्चित्य राजेन्द्र	२४०	इति शासति शास्त्रज्ञे	१५६	इत्य सरस्सु रुचिर	७५
इति निश्चित्य सभ्रान्तै	४९	इति शुद्ध भव यस्य	२७१	इत्य स विश्वविद् विश्व	२१८
इति नीतिलताद्वि-	३९०	इति शुद्धतरा वृत्तिम्	३११	इत्य सर्वेषु शास्त्रेषु	३२९
इति पत्युः परिप्रवणाद्	४६२	इति श्रीपासचक्रेश-	४९९	इत्य स्वपुण्यपरिपाकज-	६१
इति पुण्यादयाजिज्जु	९४	इति सकलकलानामेक-	३२९	इत्यङ्कनिर्मसोमोक्या	४३६
इति पृष्ठवते तत्स्य	२७०	इति सचिन्तयन् गत्वा	४६५	इत्यङ्गानि त्पूजोदस्य	३०४
इति पृथावच्छक्तिपेण	४५७	इति सत्तत्त्वसन्दर्भ-	५०५	इत्यजेतव्यपक्षेऽपि	८२
इति प्रतीतमाह्लास्यम्	१०६	इति सत्कृत्य तान् दूतान्	१५९	इत्यतर्कोदयावपि-	४३१
इति प्रवोपसमये	१९०	इति सत्त्वा वनस्थेव	९९	इत्यतो न सुखो सद्यो	४४३
इति प्रयाणसजल्यै-	२८	इति सन्तोष्य विश्वेश-	४३०	इत्यतोऽमी दिदृक्षुस्तं	३६०
इति प्रशस्तिमालोयाम्	१२६	इति समुचितैस्त्वं	१९८	इत्यत्यदभुतमाहात्म्य	१४६
इति प्रशान्तमोजस्वि	१०७	इति समुपगता श्री-	३८५	इत्यत्युन्नतरे श्रीमे	१६४

इत्यत्र ब्रूमहे नैतत्	३३४	इत्याविष्कृतसंपदो विजयिन	२३८	इन्द्रजालमिवामुष्मिन्	११८
इत्यत्र ब्रूमहे सत्यम्	२८२	इत्याशक्य नभोभागि	९	इन्द्रत्यागक्रिया सैषा	२५८
इत्यनङ्गमयी मूर्ष्टि	२२५	इत्याह तद्वच श्रुत्वा	४९०	इन्द्रा. स्युस्त्रिदशाधीशा.	२५७
इत्यनङ्गातुरा काचित्	१९२	इत्युक्तास्ते च तं सत्यम्	२७५	इन्द्रियार्था मनोशा ये	२२७
इत्यनाकुलमेवेदम्	२५	इत्युक्ती पाषिर्व सर्वे	२०३	इन्द्रोपादाभिषेकी	२४४
इत्यनुत्सुकता तेषु	२५८	इत्युक्त्वा रतिवेगाहं	४६२	इन्द्रो वेभाद् बहिर्हरात्	४३५
इत्यनुध्याय निष्कोप.	३६२	इत्युक्त्वा सेवमप्याह	४५८	इमे मकुटवद्धा. किम्	२०२
इत्यनुश्रुतमस्माभि	१५४	इत्युक्त्वा सोऽन्नवीदेवम्	४७६	इमे मकुटवद्धेषु	३९५
इत्यनेकगुणेष्यस्मिन्	१२३	इत्युक्त्यैव समास्वात्य	२७५	इमा वनगजाः प्राप्य	१८
इत्यन्तरङ्गशश्रूणाम्	२१२	इत्युक्त्योपपुरे योग्ये	३७१	इमे वनद्वसा भान्ति	२५
इत्यन्योन्यसमुद्भूत-	४३३	इत्युच्चरद् गिरामोषो	२०९	इमे सप्तच्छदाः पौष्णं	१९
इत्यपृच्छसो चाह	४७६	इत्युच्चावचता भेजे	२२५	इय दीक्षा गृहीतेति	४५८
इत्यप्राप्तीत्तवा प्राह	३६९	इत्युच्चैर्भरताधिप.	२६८	इयं निधुवनासक्ताः	२१
इत्यभून्नमी श्रद्धा	४५४	इत्युच्चैर्भरतेशिनानुकथितम्	४८	इय शीलवतीत्येनाम्	४४७
इत्यस्यर्णतमे तस्मिन्	२३२	इत्युच्चैर्व्यतिवचता	७८	इयन्तकालमज्ञानात्	२७३
इत्यस्यर्णं बले जिष्णोः	२०३	इत्युदीर्य जयो मेघकुमार-	३९४	इयमाह्लादिताशेष-	१८
इत्यस्यमनगराणाम्	१७०	इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिः	२४४	इष्टं किं किमनिष्टमत्र	५११
इत्यनङ्गवलक्ष्मी	११६	इत्युद्घोष्य कृतानन्द-	२०४	इह जम्बूमति द्वीपे	३५८
इत्यवोचत्त तस्माच्च	४८३	इत्युपायैरुपायज्ञ.	१०९	इह जम्बूमति द्वीपे	४४७
इत्यशास्वतमप्येतद्	२०८	इत्युपाखण्डमभम्	२७९	इहागताविति व्यक्तम्	५००
इत्यसाधारणा प्रीतिः	२५८	इत्युपाखण्डसध्यान-	२१७	इहामी भुजङ्गाः सरत्नैः	५३
इत्यसाध्वी क्रुध भर्तु	३८६	इत्येकशोऽप्यमी भक्ति-	२१७	इहामी भुजङ्गाः सरत्नैः	४९
इत्यसौ वसुपालाय	४७५	इत्येतच्चाह तच्छ्रुत्वा	३६१	इहेनुकरसंस्पर्शात्	१३६
इत्यस्मिन् भवसकटे-	५१०	इत्येतद्देव मा भस्था.	४२९	इहैव पुष्कलावत्याम्	४७१
इत्यस्यै कुण्डले दिव्ये	५०	इत्येभि स्पन्दनादेवा	३८४	इहैव स्याद् यथोलाभो	२६३
इत्यस्याद्रेः परां क्षोभाम्	१२४	इत्येवमनुशिष्य	२५३	इहैहीति प्रसन्नोक्त्या	४२९
इत्यस्या रूपमुद्भूत-	२३०	इत्येवमनुशिष्येनम्	२५२		
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यम्	३२३	इत्येवमास्थिते पक्षे	३३४		
इत्याकर्ण्य विभोर्वाक्यम्	१६२	इत्येवमुक्तं तत्सर्वं.	३७०		
इत्याकुलाकुलविध.	४६	इदं चक्रवरक्षेत्रम्	१०८		
इत्यागमानुसारेण	२८८	इदं तस्मात् समुच्चैयम्	४४१		
इत्यात्मगतमालोच्य	३१८	इद निष्पन्नमेवात्र	३५६		
इत्यात्मनो गुणोत्कर्षम्	२८०	इद बुधा ग्रहोप्यन्ति	३५४		
इत्यात्मीयभावसौमनुगतै	४७८	इद महदनाख्येयम्	१५७		
इत्यादिकामिमा भूतिम्	२६७	इद वाचनिक कृत्स्नम्	१८३		
इत्यादिराज तत्सम्प्राद्	३२९	इदं वाचिकमन्यत्	१५८		
इत्यादेगवर जात्वा	४९१	इद शृश्रूषवो भव्या.	३५३		
इत्याप्तानुमत क्षात्रम्	३३५	इदमस्मद्वलक्षोभाद्	२३		
इत्यारक्षिभटैस्तूर्ण	४७	इदमेव गत हन्त	३२१		
इत्याविर्भावितानङ्गरसा	४१५	इदानीमेव दुर्वृत्तम्	३९४		
इत्याविष्कृतमानेन	१८५	इन स्वच्छानि विच्छाद्य	४१२		
इत्याविष्कृतमंगोभाम्	१६	इनुपादै. समुत्कर्षम्	१९०		
				इन्द्रजालमिवामुष्मिन्	११८
				इन्द्रत्यागक्रिया सैषा	२५८
				इन्द्रा. स्युस्त्रिदशाधीशा.	२५७
				इन्द्रियार्था मनोशा ये	२२७
				इन्द्रोपादाभिषेकी	२४४
				इन्द्रो वेभाद् बहिर्हरात्	४३५
				इमे मकुटवद्धा. किम्	२०२
				इमे मकुटवद्धेषु	३९५
				इमा वनगजाः प्राप्य	१८
				इमे वनद्वसा भान्ति	२५
				इमे सप्तच्छदाः पौष्णं	१९
				इय दीक्षा गृहीतेति	४५८
				इयं निधुवनासक्ताः	२१
				इय शीलवतीत्येनाम्	४४७
				इयन्तकालमज्ञानात्	२७३
				इयमाह्लादिताशेष-	१८
				इष्टं किं किमनिष्टमत्र	५११
				इह जम्बूमति द्वीपे	३५८
				इह जम्बूमति द्वीपे	४४७
				इहागताविति व्यक्तम्	५००
				इहामी भुजङ्गाः सरत्नैः	५३
				इहामी भुजङ्गाः सरत्नैः	४९
				इहेनुकरसंस्पर्शात्	१३६
				इहैव पुष्कलावत्याम्	४७१
				इहैव स्याद् यथोलाभो	२६३
				इहैहीति प्रसन्नोक्त्या	४२९
				ई	
				ईक्षितव्या मही कृत्स्ना	१०६
				उ	
				उक्तस्यैवार्थतत्त्वस्य	३३५
				उग्रसेनश्चमुरोऽतो	५०९
				उचितं युग्ममारूढौ	१७४
				उच्चाद्वाऽदुद्रुवन्निम्बम्	३८१
				उच्चैर्ष्वतत्तृतीयं	३९६
				उज्जगार ज्वलत्सूलविस्फु-	३८७
				उज्जितानकसगीत-	२८६
				उत्तमार्थं कृतास्थान.	२५६
				उत्तरार्धजयोद्योग-	१०१
				उत्तारिताखिलपरिच्छद-	७७
				उत्थित. पिलकोऽस्माकम्	४१५
				उत्पत्तिपतत्कैतु-	३७९

सत्पतिभूता पत्युर्धरण्याम् ४४०  
सत्पुष्कर सरोमध्ये ७४  
सत्पुष्करान् स्फुरद्रीवम् ७४  
सत्फूलपाटलोदगन्वि- २३२  
सत्फूलमलिकामोद- २३२  
सत्तेनज्जमिकारम्भै- ३९  
सत्संगसङ्गिनीभर्तुं १९०  
सत्सवो राजगृहस्य ३७६  
सद्यशिलरिप्राव- १९५  
सद्ये वधितच्छायो ४१०  
सद्युक्तं फल मत्वा ३६६  
सदाहायकम् ज्ञात्वा २९९  
संगाहंविनिर्बृत- ७५  
सद्धादितकवादेन १०८  
सद्धृत्यैव विशक्तत्वं ४८४  
सद्यानाविकृता छायां २८६  
सन्मत्कोकिले काले २३१  
सन्मोल्लीनीरेज- ४४३  
सपक्षे च गोधेनू- १७५  
सपनतत्कनाधुनाना १९६  
सपनीतिस्त्रियामन्त्रम् ३०९  
सपनीतिर्हि वैपस्य २७४  
सपप्रधानमण्येवम् १११  
सपयानि समस्तसम्पदो ४२२  
सपयोमेपु धान्येपु ६२  
सपयुच्छ्वासयत्येनाम् ११४  
सपवासपरिश्रान्ता ३६९  
सपविध्याद्रिविख्यातो ४३८  
सपशल्पभुवः कुल्या १७५  
सपशल्पभुवोऽद्राक्षीत् १३  
सपशिल्परिति व्यथतम् ८५  
सपार्थि भोगिना भोगे २१५  
सपाञ्च प्राकृतक्षेत्रान् १२  
सपानाहादुते कोऽन्य ११४  
सपानित्यु कुरीन्द्राणाम् ९१  
सपार्थः प्रतिबोध्यैनाम् ४८१  
सपेक्षित सदीपोऽपि ४३०  
सपोदयायश्कोति- ४१८  
सप्रयो पास्वयोर्बध्वा ३९७  
सरो लिगमयास्य स्यात् २४९

ऊहा च समतोयां च ६८  
ऊट्टुत्वाद् हरिदशित्वात् ३९७  
ए  
एकत सार्वभौमश्री- १४८  
एकतो लवणाम्भोधि- ६२  
एकदाय विहारार्थं ३५९  
एकस्यामेव निक्षिप्या- ४६८  
एकाद्येकादशान्तानि ३१९  
एकाधः पातयत्यन्या ११४  
एकान्नशतमं स्यास्ते १५४  
एकोऽथो धर्मकार्येऽतो २५३  
एतत्पुण्यमयं सुरुपमहिमा ३८५  
एतत्पुरममृष्यैव ४७२  
एतया सह गत्वाऽत ४९२  
एतस्य दिग्गये सर्वं ३८९  
एता तस्या सखी भुत्वा ४८६  
एतान् सर्वास्तदालापान् ४४७  
एतावपत्ये भूयास्ताम् ४५६  
एते तु पीठिकामन्त्रा ३००  
एते ते मकरादयो जलचरा ५६  
एतेऽर्था यत्र तत्त्वेन २७०  
एतेष्वहापयन् काश्चिद् २१२  
एते स्वसूनुभि सार्धम् ४६७  
एत्यानङ्गपताकाऽस्यास्तम् ४८२  
एभि परिवृत श्रेष्ठौ ४५५  
एलालवगसवास- ८४  
एवं कृतविवाहस्य २५१  
एव कृतव्रतस्याद्य २७५  
एवं केवलसिद्धेभ्य २९२  
एव परमराज्यादि- ३१०  
एवं प्रजा प्रजापालान् २६३  
एव प्रयाति कालेऽसी ४५८  
एवं प्रयाति कालेऽस्य ४७५  
एवं प्रायास्तु ये भावा ३३९  
एवंप्रायेण लिङ्गेन २४९  
एवं प्रायर्जनालापै २०३  
एवं भवत्रयश्रेयः ३६३  
एवं मन्त्रिणमुल्लेख्य ३९२  
एवविषविधानेन २४२

एवविषैस्त्रिभिर्जनु- ४४२  
एव विहिततत्पुञ्ज- ३७५  
एव सुखानि तनुजान्यनुभूय ४४५  
एव सुखेन यात्येपाम् ४६१  
एव सुखेन साम्राज्य भोगसारं ५००  
एवं हि यत्रियश्रेष्ठो ३४०  
एवमन्यच्च भोगाङ्गम् ४४९  
एवमालोकितस्वप्न- ५०६  
एव धर्मप्रिय सभ्राट् ३२५  
एव पात्रविद्येपस्ते ५०३  
एव महामणिरग्निविकीर्ण ५३  
एव ससारिदृष्टान्तो ३४०  
एवा कीर्तिरयं चैतत् ४२६  
ऐ  
ऐश्वर्यक. प्रथमो राज्ञाम् १७८  
औ  
औत्पत्तिश्चादिवीभेदं ४२५  
औदुम्बरी च पनसाम् ६७  
क  
कक्षान्तरे तत्तस्मिन् १३९  
कक्षान्तरे द्वितीयेऽस्मिन् १३८  
कचिद् गजपतिं स्तम्भम् ४९०  
कञ्जकिञ्जल्कपुञ्जेन २  
कटका रत्ननिर्माण- २३६  
कटिमण्डलसंस्रत- २६२  
कटी कुटी मनोऽस्य २२४  
कटीलिङ्गं भवेदस्य २४९  
कणपोऽस्य मनोवेगी २३५  
कण्ठीरवकिशोराणाम् १६६  
कण्ठे चालिङ्गित ४१७  
कण्ठे तस्यैति वक्तव्येपा ४५९  
कण्ठे हृदयदेशे च ५०८  
कतरकतमे नाक्रान्ताः १९४  
कथं कथमपि त्यक्त्वा ४३४  
कथं च पालनीयास्ता- ३४३  
कथं च सोऽनुचैतव्यो १७२  
कथं मुनिजनादेपाम् ३३३  
कथमपि रथचक्रम् ५८  
कथयित्वा महीगानाम् ३९२  
कदम्बामोदमुरभि- २२

ऊ  
ऊढभायोऽन्य तावद् २५१

कदाचिच्छुभलपक्षस्य	४५६	कर्णान्तिगामिनी नेत्रे	३६६	कान्तोऽभूद् रतिवेषया	४७८
कदाचिच्छ्रेष्ठिभोगेह	४५३	कर्णस्मिणीकृतास्तस्य	३९९	कावेरीवारिजास्वाद-	३७७
कदाचिच्छ्रेष्ठिनोहिष्ठम्	४४८	कर्णोत्पलनिलीनालि-	१९२	काम स राजराजोऽस्तु	१८२
कदाचित्कान्तया	४५२	कन्वयक्रियावचैव	२४४	काममेवयुग्महोभि.	८
कदाचित् कामिनोकान्त-	४४८	कर्मेनिर्मुक्तसंप्राप्यम्	१०२	कामग्रहाहिता तस्याः	४८८
कदाचित् काललब्ध्यादि-	४९४	कर्म्मणि कृतमस्यापि	५१२	कामपाद्यायतो वाहू	२५४
कदाचित् प्रावृडारम्भे	३९५	कर्माणि हत्वा निर्मूलम्	५०६	कामरूपित्वमाप्तस्य	३३७
कदाचिदुचिता वेत्ताम्	३२७	वक्ष्येन्मूर्तिमात्मीयाम्	२८५	कामशुद्धिमता तेषाम्	२७१
कदाचिद् धर्मशास्त्रेषु	३२८	कलकण्ठोकलवषाण-	२३१	कामोऽगमत् सुरतवृत्तिपु	४४५
कदाचिद् भवनायात्	४४८	कलभाम् कलभाङ्कार-	२१५	काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्	२९५
कदाचिद् भूपति श्रेष्ठि-	४५१	कलशैर्मुखविन्ध्यस्त-	३७७	काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्	३००
कदाचिद् राजगृहागतेन	४४८	कलहसा हसन्तीव	३	कारयन्ती जिनेन्द्रार्चाः	३६८
कदाचिद् वत्सविषये	४६९	कलापी बह्मारेण	२४	कारयित्वा पुरी सर्व-	४२१
कदाचिद्विधिरत्नानाम्	३२८	कलामिजात्यसम्पन्ना	२२३	कालज्ञानिभिरादिष्टे	३४१
कनिष्ठामगुलि वामहस्तेऽसौ	४५२	कलाविदश्च नृत्याविदर्शनै.	३२७	कालव्यालगजनेदं	२०८
कन्याकृत्यैव गत्वात्	४८९	कलेवरमिदं त्याज्यम्	१८६	कालश्रमणशब्द च	२९६
कन्यागृहात्तदा कन्याम्	३७६	कलैरलिङ्गुलवर्णै.	२३१	कालाश्वघ्न महाकालो	२२७
कन्यारत्नानि सन्त्येव	३९०	कलैरलितोद्गान	२१६	कालिङ्गकान्, गजप्राय-	७०
कन्याव्रतविलोपत्त-	४४७	कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूषणादि	४४९	कालिङ्गकैर्गजैरस्य	८५
कपयः-कपिकच्छानाम्	७२	कल्पद्रुममभीष्टार्थम्	५०६	कालिन्दकालकूटौ च	६७
कपोलकापसंलग्न-	१३४	कल्पाधिपतये स्वाहा	२९७	काशिराजस्तदाकर्ण्य	३९४
कपोलाबुज्ज्वली तस्या	२२९	कल्पानोकहसेवैव	१५८	काशीदेशेक्षिना देव	४३६
कमनीयैरतिप्रीतिम्	४३९	कल्याणाङ्गस्त्वमेकान्ताद्	३२२	काष्ठोऽपि दहत्यग्निः	३५४
कमलनलिनीनाल	१९६	कवाटपुटविस्लेपाद्	१०८	किं किंकरै. करालास्त्र-	१५७
करग्रहेण लक्ष्मीवान्	३८०	कविरेव कवेर्वेति	३५३	किं किमास्त्र दुरात्मानो	१५६
करग्रहेण सम्पीड्य	७१	कस्तूरिकामुगाध्यास-	३७	किं च भो विषयास्वादः	१६१
करवालं करालाग्रम्	२०१	कस्मिन्चित्सुकृतावासे	२५९	किं च भो विजानाति	१५७
करवालान् करे कृत्वा	१०२	कस्यचित् कोषतः खड्गम्	४९०	किं बलैर्बलिना गम्यै.	१६१
कराग्रविधूत खड्ग	२०१	कस्यचित् क्रोधसंहार.	४०९	किं भव्यः किमभयोऽय-	४६४
करागुलौ विनिक्षिप्य	४७४	कस्याप्यकालचक्रेण	१५२	किं भूमिगोचरेष्वस्या-	३७०
करिकण्ठस्फुटोद्घोष-	३९२	काश्चित् सम्मानदानाभ्याम्	९२	किं वदन्ती विदितैताम्	३९३
करिणी नौभिरवधीय-	१३१	काश्चिदालोकनै काचित्	३२६	किं वा सुरभट्टैरभिः	१५७
करिणी हरिणाराती	२१५	काश्चिददुग्धाश्रितान् म्लेच्छान्	१०९	किंकिणीकृतशंकार-	३७९
करिण्यो विसिनीपत्र-	२१५	काकिणीमणिरत्नाभ्याम्	११३	किंचिच्चान्तरमुल्लंघ्य	१०७
करिण्यामीति कोपेन	४६८	काकिणीरत्नमादाय	१२५	किंचिच्चान्तरमुल्लंघ्य	१३६
करीरकन्धराखडः	३२२	काकैरुलकसम्बाध-	३२२	किंचित् पञ्चामुखं गत्वा	११२
करीन्द्रभारनिभुङ्गन-	३२२	काचिदुत्तापिभिर्वाणै	१९१	किंचिदन्तरमाखडः	१३
करीरवणसंरुद्ध-	८७	काचिज्जरावती कुत्स-	४८५	किंचिदेकं वृणीते	३७
करैरक्षिप्य पद्मानि	७५	काञ्चीस्थानं तदालोक्य	३६५	किंचिन्मायाविशिष्टायाम्	२५८
करैरिग्यग्रसलम्	१८७	कान्तारत्नमभूत्तस्य	२२८	किन्तु प्रजान्तरं स्वेन	३१५
कर्णतालानिलाधूति-	१८६	कान्ते जन्मान्तरावासम्	४४७	किन्तु सोऽयं जयस्नेहात्	३९
कण्टिकान् स्फुटाटोप-	७०	कान्ते तस्यान्यदप्यस्ति	४८०	किञ्चाराणा कलवर्णा.	१५

किमत्र बहुना धर्म-	१७०	कुब्जा वीर्या च चूर्णी च	७०	कृतकृत्यस्य तस्यान्तः-	२४०
किमत्र बहुना रत्नं.	२१८	कुमार चागमत्तत्र	४८८	कृतप्रत्यक्षपरित्याग	५०३
किमत्र बहुना सोऽग्नि	९७	कुमारं पर्णलघ्वाख्य-	४८१	कृतचक्रपरिभ्रान्तिः	१८४
किमत्र बहुनोक्तेन	१५५	कुमार. प्राहरद् वशस्तम्ब	४९०	कृतदीक्षोपवासस्य	२५४
किमत्र बहुनोक्तेन	२८७	कुमार तव किं युक्तम्	३९३	कृतद्विजाचनस्यास्य	२५०
किमत्र बहुनोक्तेन	३२९	कुमारवन्द्यो युष्मासि	४२५	कृतपूजाविधिर्भूयः	१४१
किमत्र बहुनोक्तेन	३४७	कुमारवचनाकर्णनेन	४८६	कृतमङ्गलनेपथ्यं	११९
किमप्येतदधिष्योति	१०५	कुमार समरे हानिस्तवैव	४११	कृतमङ्गलनेपथ्या-	३७७
किमप्यार शिरोजास्त-	१६०	कुमारोऽपि समीपस्य-	४९२	कृतमङ्गलनेपथ्यो	७
किमन्वरमणोद्विम्ब-	१५१	कुमारोऽहि कुमारोऽसौ	४२८	कृतमङ्गलमंगीत-	१२७
किममम्भोजज पुञ्ज-	१६०	कुमार्या त्रिजगज्जेता	३६७	कृतमालभृत्तिव्यक्त्यै	१०५
किमसंख्यो द्विपत् कश्चित्	१५२	कुमार्या निजित क.म.	३७७	कृतमालादयो देवा	१७८
किमिदं प्रलयशोभाद्	९	कुमार्यैव जित कामो	३६७	कृतयत्ना प्लवन्तोऽमी	२०
किमेतानि स्थलाब्जानि	२९	कुम्भस्थलीषु समक्ता	२५	कृतराज्यापणो ज्येष्ठे	२६४
किमेप क्षुभितोऽम्भोधि	४६	कुरराजस्तदास्फूर्जन्	११८	कृतव्यूहानि सैन्यानि	११५
किरैस्तत्परैरेव	११३	कुरुनवन्तीनु पाञ्चालान्	६६	कृतात्मरक्षणवचैव	३४२
किल तस्मिन् जयो नाम	३५६	कुर्याद्विषयपूजार्थम्	२९१	कृताञ्चगोपरोधानि	१२
किल श्लोभ्य सुखावाप्ति	४९९	कुर्वन्ती शान्तिपूजा त्वम्	३९५	कृतानुबन्धना भूय	२४१
किसलयपुटमेवो देवदारु-	१३०	कुर्वन् पञ्चनमस्कार-	४३२	कृतापदान तद्योग्यै	३४४
कीदृक् परिच्छदस्तस्य	२२२	कुलकस्तम्ब्या तात	२५३	कृतापदान इत्युच्चैः	२०६
कीति कुलयाह्लादी	३८२	कुलचयमिनुप्राप्तो-	२५२	कृताभिपेक्षमेव च	१००
कीतिर्वह्निश्चरा लक्ष्मी.	३८३	कुलजातिवयोरुपगुणं	३०४	कृताभिपेक्षमेव च	२२१
कीतिविद्यारतकोर्तेमै	३९२	कुलधर्मोऽयमित्येवाम्	२४२	कृताहर्षजनस्यास्य	२४९
कीर्त्योपमानता यातो	४१२	कुलरूपवयोविद्या-	२६९	कृतावधि त्रियो नागात्	२३२
कुक्षिबासशताम्यस्य	२२६	कुलादिनिलया देव्य	२६०	कृतावास च तत्रैव	९१
कुक्ष्यागश्चकूर्पूर-	१०१	कुलाचलपृथुस्तम्भ-	४२	कृतासनं च तत्रैव	१०१
कुञ्जेषु प्रतनुतुणाकुरान्	७८	कुलानुपालनं तत्र	३३१	कृताहारपरित्याग-	४२५
कुटीपरितरेख्यस्य	१३	कुलानुपालनं प्रोक्तम्	३३३	कृती कतिपर्यरेप	१०७
कुटीव च प्रसूतायाः	११३	कुलानुपालने चायम्	२६४	कृतीच्चविग्रहारम्भौ	११६
कुटुम्बानोलिकाश्चैव	६९	कुलानुपालने यत्नम्	३३३	कृतोदयमिनं ध्वान्तात्	१२९
कुण्ड धिष्णपुरोत्पन्न	४९१	कुलावधि कुलाचार-	३१२	कृतोपच्छन्दन चायम्	१२९
कुण्डशये प्रणेतव्या	३०१	कुलोपकुलसम्भूतै	९२	कृतोपशोभमावद्ध-	३०
कुण्डश्च कश्चिदगुल्या	४९०	कुल्या कुलधनान्मस्मै	६४	कृती भवान्तरावद्ध-	४३२
कुण्डोन्नेऽमृतपिण्डेन	५	कुवलयपरिवोष सन्धानं.	३८५	कृतोऽभिपेक्षो यस्यारात्	१७९
कृत. कृता समुत्पत्ता-	३६६	कुसुमावचयासक्तै	४६९	कृत्वा कृञ् भृञ् मध्यम्	३६५
कृतवित् कारणाद् यस्य	३११	कृजन्ति कोकिला मत्ता.	२२	कृत्वा जैनैस्वरौ पूजाम्	३७५
कृशश्चिद् भगवत्यस्य	३१७	कृजितै कलहृष्टानाम्	४	कृत्वा धर्मपरिप्रणं	५०२
कृता. सिंहाटो नाम	२३४	कृतस्या वयमस्याद्रे	१०६	कृत्वा परिकरं योग्य	२५६
कृतासिप्राश्चक्रादि-	४०४	कृत कृत वतानेन	२०६	कृत्वा विविधिमं पञ्चात्	२७२
कुवेरमितस्तस्यापि	४५७	कृत वृथा मटालापै.	१८५	कृत्वा विमानं सानुत्तरेऽमृत	५०३
कुवेरमित्रस्तस्यासीत्	४४७	कृत कलकल सैन्यै	११४	कृत्वा व्रत्यक्षिपत् पापी	४८४
कुवेरादिप्रियश्चाय	४६७	कृतकार्यं च सत्कृत्य	१२९	कृत्वा श्रोतृपदे कर्णौ	२२९



कृत्वैवमात्मसंस्कारं २५५  
 कृत्स्नकर्ममलापायात् २८८  
 कृत्स्नामिति प्रसाध्यैनाम् १२८  
 केचिन्मूचरस्थाने २५८  
 केचित् काम्बोजवाह्लीक- ९२  
 केचित् कोर्त्यगनासंग- १९२  
 केचित् कृतधियो धीराः १०८  
 केचित् परिजनस्थाने २५८  
 केचित् सौराष्ट्रिकैर्नरैः ९१  
 केचित् बलैरवष्टब्धाः १०९  
 केचिद् रणरसासवत- १९३  
 केचिष्मन्निवातेषु ९६  
 केतवो हरिबन्धराब्ज- १३९  
 केन मोक्ष कथं जीव्यम् ४६४  
 केनाप्यविदितो रात्रावेव ४९६  
 केरलीकठिनोत्तुग- ३७७  
 केवलार्थं परं ज्योतिः १४२  
 केवलाकर्तुते नाग्य ३१७  
 केवलार्कौदयात् प्राक् च २१७  
 केशवापस्तु केशाना २४८  
 केपाचित् पन्निसौक्ष्मम् ६४  
 कैलासाचलमभरणम् १३२  
 कैश्चिद् वीरभट्टैर्भावि १९२  
 कोककान्तानुरागेण १९३  
 कोकिलानकनि स्वानी २१  
 कोकिलालापधुरैः ८४  
 कोटयोऽष्टादशाक्षानाम् २२३  
 कोटयोऽष्टादशास्य ९६  
 कोटीशतसहस्रं स्याद् २२६  
 को नाम मत्सिमान्प्लेद् २०६  
 कोपदष्टविमुक्तौष्टम् ४१६  
 कोऽयं प्रभुरवष्टम्भी ११६  
 कोक्षयकैनिशाताग्र- २०१  
 कौपीनाच्छादनं चैनम् ३१०  
 कौवेरीमथ निर्जेतुम् ९६  
 कौवेरी दिशमास्थाय ११५  
 कोसुम धनुरादाय ३७८  
 क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रान्ति- ३०७  
 क्रमेण कुङ्कुमाद्रेण ४५  
 क्रमेण देशान् सिन्धुश्च १७४  
 क्रमेण कोऽयमुत्पत्त २८  
 क्रव्यासपाथिन पत्रवाहिनी ३९७

क्रान्त्या स्वस्योचिता भूमिम् २५१  
 क्रियाकलापेनोक्ततेन २७४  
 क्रियाकल्पोऽयमाभ्यातो २४५  
 क्रियागर्भादिका यास्ता- २७१  
 क्रियाग्रनिर्वृतिनिमि २६७  
 क्रियामन्त्रविहीनास्तु ३१५  
 क्रियामन्त्रानुषण्णेण ३१५  
 क्रियामन्त्रास्त एते ३००  
 क्रियामन्त्रास्त्वह ज्ञेयाः ३१५  
 क्रियाशेषास्तु नि शेषा २७६  
 क्रियोपनीतिर्नामास्य २४८  
 क्रोणाति शकुनादोनाम् ३४५  
 क्रोताश्च वृत्तिमूल्येन ३४३  
 क्रोडनासक्तकान्ताभि ३७३  
 क्रोडशानाप्रकारेण ४४८  
 क्रोडाहेतोरहिंसेऽपि १३४  
 क्रुद्धाः खे खेचराधीशा ३९६  
 क्रोधं तितिक्षया मानम् २१३  
 क्रोधान्धतमसे ममन् १५७  
 क्रोधान्धेन तदा दम्ये २०५  
 किलछात्राः परे नैव २८१  
 क्वचिच्छुक्लमुखाकृष्ट- १७५  
 क्वचिच्छुतिपुटोद्भेद- ४४  
 क्वचित् किन्नरसम्भोग्यैः १३२  
 क्वचित् सितोपलोत्सम- १३३  
 क्वचित् स्फुटितशुभितमोभितक- ५१  
 क्वचिद्रुक्लमन्दार- १३३  
 क्वचिद् गजमदामोद- १३३  
 क्वचिद् गुहान्तराद् गुञ्ज- १३३  
 क्वचिद् वनान्तसमुत्पत्त- १३३  
 क्वचिद्विरलनीलाशु- १३२  
 क्वचिन्निर्जुजसंयुताम् १३३  
 क्वचिन्महोपलच्छाया ४४  
 क्वचिन्मृगेन्द्रमिश्रेभ- ८९  
 क्वचिलतागृहान्त स्थ- ११  
 क्वचिल्लताप्रसूनेषु ११  
 क्वचिद् विविलष्टशैल्य- १३३  
 क्व ते गुणा गणैर्द्राणाम् १४२  
 क्व लब्धमिदमित्याख्यत् ४६०  
 क्व वय क्षुद्रका देवाः १०५  
 क्व वय जितजेतव्याः १५६  
 क्वासो रतिवरोऽद्वेति ४६६

क्षणं रथागसंघट्टात् ४५  
 क्षणं समरसघट्ट- १८५  
 क्षणमस्ताचलप्रस्त- १८६  
 क्षतात् त्रायत इत्याक्षीत् ३८९  
 क्षतीर्वन्येभदन्तानाम् १४  
 क्षतैरनुपलक्ष्याग ४१६  
 क्षत्रियाणां कुलाभ्यायः ३३१  
 क्षत्रियास्तोऽर्थमुत्पाद्य ३३४  
 क्षत्रियो यस्त्वनारामः ३४२  
 क्षमामथोत्तमां भेजे २१४  
 क्षायिकानन्तवीर्यश्च ३३६  
 क्षितिसार इति ख्यातः २३३  
 क्षीबकुञ्जरयोगेऽपि ८८  
 क्षीरश्लवमयी कृत्स्ना ५  
 क्षीरवृक्षोपशालाभिः ३०६  
 क्षीरस्थतो क्लिप्तान् वत्सान् ६  
 क्षीराज्यममृतं पूर्णं ३०५  
 क्षुब्धं पिपासा धीतोष्ण- २१०  
 क्षुब्धाभिवातोऽचलित ३६  
 क्षुभितत्वं च संक्षोभ- ३३९  
 क्षेत्रं निष्पादयत्येकम् ४४८  
 क्षेत्रज्ञाऽज्ञा सभाकीतिः २८४  
 क्षेत्रज्ञास्तुसमुत्सर्गात् २८६  
 क्षेत्रेणैति तयोरे ४९३  
 क्षेत्रेकतानता भेषुः २२२  
 क्षोमाशुकदुकूलैश्च ९२  
 ख ३  
 खगा खगान् प्रति प्रास्ताः ४००  
 खगात्रे पूर्वदिग्भागे ४८५  
 खचराविरलंज्योऽपि १२६  
 खण्डनादेव क्रान्ताना ४१५  
 खण्डिताना तथा तापो ४१५  
 खट्वयुंजपक्षोऽ- ५०३  
 खपक्षसन्तवारिणि- ५०३  
 खभूचरशरैश्छन्ने ४०१  
 खमुन्मथितरीटाशु- ५०  
 खर प्रणयगर्भेषु २२५  
 खलपेदय लघीया- १५३  
 खुरोद्भूतान् महोरणून् ९६  
 ख ३  
 गंगातटवनोपास्त- १२७

गगाद्वारं समुल्लघ्व	१७८	गर्जद्भिरतिगम्भीरम्	४३	गुरोरनुज्ञया लब्ध-	२५१
गगपगोमयप्रान्त-	१२९	गर्भाधानक्रियामेनाम्	२४५	गुरोरनुमतत् सोऽपि	२५५
गगावर्णनयोपेताम्	९७	गर्भाधानात् पर मासे	२४६	गुरोरनुनतेऽजीति-	२०९
गगासिन्धु सरिद्धेव्यो	२२१	गर्भान्वयक्रियाञ्चैव	२४४	गुरोर्वचनमादेयं	१७८
गच्छन् मनोरमे राष्ट्रे	४८३	गलद्गङ्गासन्निष्ठयूताः	१२७	गुरोर्विमुल्लय युधयो.	४५८
गच्छन् स्थितमथो	४८४	गलद्धमन्निबुद्धिनि	२७	गुल्फदन्तप्रसूनीध-	१३७
गर्जं गजस्तदोद्धव्याहो	३९३	गलम्बजलास्तस्य	२२२	गुहामुखमपध्वान्तम्	१७८
गजतावनमम्भीर्यै.	८६	गलिताभ्योन्यसप्रीति-	४५३	गुहामुखमस्फुरद्भोर-	८९
गजतावरीयध्यानाम्	११२	गवां गणानथापक्यत्	११	गुह्यमतिगुध्येव	११५
गजदन्तान्तरालानि	१८६	गान्धारी बन्धकीभावम्	४६७	गुह्योपमया स नाग्लेखि	१०८
गजप्रवेकैर्जल्प्यै	९२	गान्धारी सर्पदष्टाऽहमिति	४६६	गृष्टपक्षानिकोच्छिन्न-	४०९
गजयूषमिति कच्छाद्	२३	गार्हपत्याभिष पूर्वम्	५०८	गृहत्यागस्ततोऽप्य	२७६
गजस्कन्धगता रेजु	२००	गार्हस्थ्यमनुपाल्यैवम्	२८३	गृहसोभा कृतारक्षा	२८६
गर्भे पश्य भृगुन्द्राणाम्	१३५	गिरिकूटकमित्यासीत्	२३३	गृहाणेहास्ति चेद् दोषम्	३५३
गर्भगण्डोत्पलह्रै.	९०	गिरिदुर्गोऽयमुल्लङ्घ्यो	१०३	गृहाश्रमे त एवार्था.	४२९
गणग्रह स एष ह्यात्	२७३	गिरीन्द्रशिखराकारमारुह्य	४०६	गृहीतप्रग्रहस्तन	३८१
गणपोषणमित्यादि-	२५५	गिरेरधस्तले दूराद्	१३३	गृहीतोत्कीच इत्येव	४७२
गणयन्ति महान् किम्	३५४	गोवर्णं कृतमाल इत्यभिमत	१११	गृहीत्वा वज्रकाण्डाख्यम्	३९९
गणाभ्युषितभूभाग-	१४५	गोवर्णा वयमन्यत्र	१०५	गृहे तस्य समुत्तुङ्गे	४४७
गणामिति क्रमात् पश्यन्	१४०	गुग्गुलूना वनादेव	२४	गोकुलानामुपान्तेषु	३६
गभी तेनेति सपुष्टः	३५८	गुणतोऽपि न वैशिष्ट्यम्	३४७	गोचराग्रगता योग्यम्	१६९
गभी वृषभसेनाख्य.	५०८	गुणपालमहाराज	४७६	गोत्रस्त्रलनसमुद्-	१९१
गतप्रतापं कृच्छात्मा	४११	गुणपालमूनीशोऽस्मत्-	४८०	गोदोहैः प्लाविता धात्री	३२३
गतस्ततस्तत् श्रेयान्	५०८	गुणपालाय तद्राज्यम्	४६८	गोपायिताऽहमस्याग्रे	१००
गतानि सबन्धशतानि	५१२	गुणपालाय दत्त्वा स्वाम्	४६८	गोपालको यथा यत्नाद्	३४३
गताया स्वेन सकोचम्	४१८	गुणभूमिकृताद् भेदात्	२४१	गोपालको यथा यूथे	३४४
गताया वारयो म्लान-	३८४	गुणयन्ति सपत्ति-	१७४	गोभि प्रकाश्य रक्तस्य	४३१
गतस्त्रलगतो ज्ञात्वा	२१६	गुणवत्यायिका दृष्ट्वा	४६६	गोक्षीषं दुर्दुरादि च	७०
गते मासपृथग्वै च	२४८	गुणा. क्षमादय सर्वे	३८८	गोष्ठगणेषु सत्त्वापै	३६
गतो नु दिनमन्वेष्टुम्	१८७	गुणागुणानभिज्ञेन	३५४	गौरवैस्त्रिभिस्समुक्त-	२१२
गत्वा कतिपयान्वधौ	४६	गुणिनस्त्वेक्ष के नाग्वाः	४४०	ग्रहोपरागग्रहणे	२८३
गत्वा किंचिदुदरभूय.	९१	गुणिनां गुणमादाय	३५३	ग्रामकोटधश्च विज्ञेया	२२६
गत्वा च गुहमद्राक्षु	१५९	गुणेनैतेन चिष्टानाम्	३४८	ग्रामान् कुक्कुटसपात्यान्	१३
गत्वा च ते यपोद्देशम्	१५९	गुणेष्वेव विशेषोऽप्यो	३१५	श्रीष्मेऽर्ककरसन्तापम्	१६४
गत्वा पुष्पगिरे. प्रस्थान्	६८	गुणैरभिरुपाहूढ-	२७९	घ	
गत्तुं सहात्मना तस्य	४५६	गुप्तित्रयमयी गुप्तिम्	२१२	घटदासी कृता लक्ष्मी.	१७९
गन्धप्रधानमन्त्रश्च	२९०	गुहं बन्धितुमात्मीयं	४८१	घटयन्ति न विज्जकोटयो	४२२
गर्भे पुण्यैश्च धूपैश्च	१०१	गुरुप्रदाहप्रसृता	१४	घण्टामधुरनिर्घोष-	४०७
गर्भोदकाप्रितान् कृत्वा	२४८	गुरुप्रसाद इत्युच्यं.	१६०	घन तमो विनार्केण	१८८
गम्भीरामतिगम्भीराम्	६७	गुरुर्जनयिता तत्त्व-	२७२	घनावरणनिर्मुक्ता	६
गम्भीरावर्तनामान.	२३६	गुरुसाक्षितया देहा-	३४२	घनावरणरहस्तम्	३२३
गमंजोऽह गिरेरस्मी-	१०६	गुरुणामेव माहात्म्यम्	३५३		

घनावली कृगा पाण्डु	३	चतुरः श्रावकज्येष्ठ-	२७५	चलदञ्जीयकलोलै.	३०
घातिकर्मक्षयोद्भूताम्	२१८	चतुस्त रयाञ्जीत्या	५०३	चलद्विरिखुरोद्घट्ट-	३१२
घातिकर्मत्रय हृत्वा	५००	चतुर्जनपदाम्यन्तरस्थ-	४९०	चलद्विरचलोदग्रै.	४१
घातिकर्ममलापायात्	१४२	चतुर्जनिमलज्योति -	५०३	चलिते चलितं पूर्वं	६२
च		चतुर्णामाश्रमाणां च	२८३	चातका वाञ्छद्वृष्ट्या	३७८
चक्रं तदयुना कस्मात्	१५२	चतुर्दशमिरन्विताम्	१६	चापमाकर्णमाकृष्य	४०१
चक्रं नाम पर देवम्	१५३	चतुर्भिरधिकज्योति	२२३	चामराणि तवामूनि	१४४
चक्रछत्रं समुत्थाय	३९३	चतुर्भिरधिकाद्योतिरिति-	३५७	चामराण्युपमानाम्	२३४
चक्रभृद् भरत. स्रष्टुः	२०८	चतुर्भेदेऽपि बोधोऽस्य	२१३	चामरैर्वैजयमानोऽपि	२२२
चक्रमस्य ज्वलद्वयोस्मिन्-	१०	चतुष्केषु च रथग्रासु	१	चामरोत्प्रेषताम्बूलशान-	३२७
चक्रमाक्रान्तदिक्चक्रम्	१५२	चतुष्टयी वनश्रेणीम्	३१८	चारणत्व तृतीयं च	४६१
चक्ररत्न पुरोधाय	२६१	चतुष्पदादिभिस्तिर्यग्-	५०४	चारणाध्युपितानेते	१३५
चक्ररत्नप्रतिस्पष्टि-	८	चन्दनद्रवससिक्त-	१५१	चारुचक्रधरस्यायम्	१८३
चक्ररत्नमभूजिज्जणो	२३५	चन्दनद्रवसंसिक्तसुन्दराङ्ग-	२३१	चिताः सिता समा स्निग्धा	३६६
चक्रलाभो भवेदस्य	२६०	चन्दनद्रवसिक्तायः	१९०	चित्तद्रुमस्य चेद् वृद्धिः	४९९
चक्रवाकयुवा भेजे	२६	चन्दनागुरुकर्पूर-	५०७	चित्रं जगत्त्रयस्यास्य	३८२
चक्रवाकी वृत्तोत्कण्ठम्	१८८	चन्दनोद्यानमाधूय	८४	चित्रं महेंद्रदत्ताख्यो	३७८
चक्रवाकी सरस्तीरे	२०	चन्द्रग्रहणमालोक्य	४९४	चित्र प्रतीकप्राकार-	३७१
चक्रवाकीमनस्ताप-	१८८	चन्द्रपादास्तपन्तीव	१९१	चित्रवर्णा घनाबद्ध-	३
चक्रव्यूहविभवतात्म-	३९६	चन्द्रमा करनालीभि.	४१४	चित्रैरलङ्कृता रत्नै	१२२
चक्रसङ्घट्टपिष्ट-	४०४	चन्द्रे तीव्रकरोत्सन्ना-	३६७	चिन्तामपास्य शुशोभिककृताम्	५१२
चक्रसन्दर्शनादेव	९१	चमरीवालकान् केचित्	३७	चिरं निरीक्ष्य निविण्णा.	४५१
चक्रातपत्रदण्डासि-	२२८	चमरीवालकाविद्धः	३७	चिरं वर्द्धस्व बद्धिणो	१२७
चक्रात्मना ज्वलत्येप-	१०६	चमरोज्यं चमूरोघात्	२४	चिरमाकलयन्नेवम्	२०८
चक्रानुयायि तद् भेजे	१०	चमूपतिरयोग्याख्यो	२३५	चिराल्चक्रधरस्याद्य	१७७
चक्राभिपेक्ष इत्येक-	२६२	चमूमतङ्गजा रेजुः	२००	चिरात् पर्यायमासाद्य	४०४
चक्राभिपेक्षाम्राज्ये	२४४	चमूरवश्रवादेव	६३	चिरात् समरसंमर्दः	१८५
चक्रायुधोऽयमरिचक्रभय-	६०	चमूरवश्रवोद्भूतः	९८	चिरानुभूतमप्येवम्	३१
चक्रासिदण्डरत्नानि	२२८	चम्पका विकसन्तीञ्च	२१	चिरासनेऽपि तत्रास्य	१०१
चक्रिणश्चक्रमेकम्	४०१	चरणालम्बनमाकर्षन्	७५	चेदक्या. प्रियदत्ताया-	४६८
चक्रिणा शापितो भूय	११३	चरणोचितमन्यच्च	२४९	चेतासि तरणाङ्गोप-	७
चक्रिणोऽवसर कोऽस्य	१०३	चरन्ति वनमानुष्या	२०७	चेदिपर्वतमुल्लंघ्य	६७
चक्रिणं चरमाङ्गत्वम्	४९	चरमाङ्गधरो धीर-	१२५	चैत्यचैत्यालयादीनां	२४२
चक्रिसूतो. पुनः सेना-	४११	चरमाङ्गवरावेतो	२०३	चैत्यचैत्यालयादीनां	३२५
चक्रो मुतेषु राज्यस्य	४११	चर्मरत्नं स्फुरद्रत्नवृत्तिचकं	४९२	चोदनालक्षणं धर्म	२८१
चक्रोत्पत्तिक्षणे भद्र	५०	चर्या तु देवतार्थं वा	२८८	चोलिकान्नालिकप्रायान्	७०
चञ्च्वा मृणालमुद्धृत्य	१०	चर्यया गृहिणां श्रोक्ता	२८३	चौलकमण्ययो मन्त्र	३०९
चटुलोचनचलपाठोन-	४३९	चलच्छाखीचलत्सत्त्व-	८६	चौलाख्यया प्रतीतियम्	२४८
चण्डाः कोदण्डकुन्तासि-	३९३	चलता रथचक्राणां	१३१	च्यवन्ते स्वस्थिते काले	३८८
चण्डाकाण्डाशनिप्रस्थ-	२३४	चलत्प्रकीर्णकाकीर्ण-	१४०	छु	
चण्डैरकाण्डमृत्युञ्ज	४००	चलत्सत्त्वो गुह्यारन्ध्रैः	८६	छत्रं चन्द्रकरापहासि रचिरे	१११
चतस्रश्चेदिक्तासासम्	४७७	चलत्सत्पताकालि-	४०७	छत्रत्रयकृतच्छाय-	१४०

छत्रभङ्गाद् विनायकस्य	१८३	जयति मदनबाणै	१९७	जयोऽप्यभिमुखीकृत्य	४१०
छत्ररत्नकृतच्छायो	२९	जयति जिनमनोभू	१९७	जयोऽप्येव समुत्पिक्त	३९१
छत्ररत्नमुपयासीत्	११९	जयहिरदमारुढी	३३	जयो महारमः वच्छ-	३५७
छत्रपण्डकृतच्छायम्	३०	जयधामा जयभामा	४९७	जयोऽयात् सानुजस्तावद्	४०३
छायात्मान सहोत्थानम्	९६	जय निजितमोहारे	१४६	जयोऽयात् सो यञ्च	४२४
छिन्नदण्डे फले कश्चिद्	३९९	जय निर्मद निर्माय	१४७	जरञ्जम्बुकमाध्याग	२१५
छिन्नदन्तकरो दन्ती	४२०	जय निस्तीर्णससाग्-	१४७	जरञ्जन्त ष्टङ्गाग्र-	१३५
छिन्नैकक्रेण शूरायाम्	४०९	जयनिस्त्रिगनिस्त्रिज-	४१२	जरठविसिनोकन्द-	१९५
ज		जयन्ति जितमृत्यवो	३५०	जरठेऽनातपो नायम्	२५
जगतः प्रसवगाराद्	९	जयन्ति विवृताक्षेप-	३९	जरामिभूतमालोक्य	४८६
जगति जयिनमेनम्	२२०	जयन्त्यखिलवाङ्मार्ग-	२४०	जरयुपटलं चास्य	३०५
जगत्स्त्रितयनायोऽपि	५५०	जयपुण्योदयात् सद्यो	४१०	जलदान् पेलवान् जित्वा	३८७
जगत्स्थितिरिब्रानाद्या	११३	जयप्रयाणशसित्य-	१२९	जलदुष्टिनियुद्धेषु	२०४
जगद्गुह्यस्य सौगन्ध्यम्	५०७	जय प्रबुद्ध सम्मार्ग-	१४७	जलस्तम्भ प्रयुक्तोऽनु-	४५
जगाद् सापि मामेव	४८६	जयप्रहितस्त्राली	४०९	जलस्थलपथान् विज्यक्	९२
जगद्गैरमिति श्रुत्वा	४९२	जयमानोय सधाय	४२७	जलादजगरस्तिमिम्	५५
जनसाया सग्रामो	३४७	जयमुक्ता हुतं पेतु	४०९	जलाद् भयं भवेत् किञ्चित्	४३७
जनतोऽसारणव्यग्र-	३१	जयलक्ष्मी नबोद्धया-	४०७	जलाद्वज्रं जलवासिन	३६८
जननी वसुपालस्य	४८०	जय लक्ष्मीपते जिष्णो-	१४६	जलोचो भरतेशेन	२०४
जन्तुसंभवस्य ह्वायाम्	३४५	जयलक्ष्मीमुखालोक-	१२४	जलं मल तृणस्पर्श-	२११
जन्तोर्भोगेषु भोगान्ते	४६३	जयवत्यात्तसौन्दर्या-	४९८	जातकर्मविधि सोऽयं	३०६
जन्मरोगजराभ्युत्थं	४९८	जयवत्यादिभि स्वाभिः	४९९	जाता वय चिरादद्य	१०९
जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयम्	३०४	जयवर्मा भवे पूर्वं	५०८	जातास्त्रापवृता केचिद्	३९८
जन्मानन्तरमायातं	२६०	जयवाद्योऽनुवादोऽयम्	१२०	जाति सैव कुलं तच्छ	२७९
जन्माध्वबुद्धयः बन्धित्वा	४५७	जयश्रीर्दुर्जयस्वामी-	४२०	जातिस्त्रियवत्तमजित-	३४९
जन्मद्वीपे विवेहेऽस्मिन्	४८०	जयश्रीशफरीजालम्	९४	जातिमन्त्रोऽयमाम्नातो	२९४
जय शम्भुपुरालोकम्	४१९	जयसाधनमस्याब्धे-	८५	जातिमानप्यनुस्मिक्त-	२८४
जय परस्य मो मेऽद्य	४०५	जयसेनास्यमुख्याभि-	४९३	जातिरैश्वरी भवेद्दिव्या	२८४
जय प्रसादमध्यास्य	४४६	जयस्तम्बेरमा रेजु-	२००	जातिर्मूर्तिश्च तत्तत्त्वम्	२८४
जय एव मदादेशाद्	४३०	जयस्य विजयः प्राणी-	४१७	जातो सागरसेनायाम्	४९५
जयकारिषटावर्ध-	१९९	जयाखिलजगद्वेदिन्	१४६	जात्यादिकानिमान् सप्त-	२८४
जयकुञ्जरमारुढ-	११२	जयाब्जवरपते यज्जन्	१४७	जात्यैव ब्राह्मण पूर्वम्	३१०
जयताम्रध्वजवर्षाति	१०७	जयावत्या समुत्पत्तो	४९३	जातकिरिन्द्रजालेन	३६१
जयति जननताप-	१९८	जयेनास्थानसंग्राम-	४२१	जितजेतव्यता देव	१५७
जयति जयविलास-	१९७	जयेन जय निर्दम-	१४६	जितजेतव्यपक्षस्य	१५४
जयति जिनवरायाम्	११०	जयेन विजयिन् विश्वम्	९	जितनिर्घातनिर्घोषम्	४६
जयति समरभेरी-	१९७	जयो ज्यास्फालन् कुर्वन्	४१८	जितनुपूरुषङ्कारम्	२२
जयति तहरशोको	१९८	जयो नामात्र कस्तस्यै	३८६	जितमेघकुमारोऽयम्	३८२
जयति दिविजनायै	१९६	जयोऽपि जगदीशानम्	४२२	जिता च भवतवाद्य	२०८
जयति भरतराज-	२२०	जयोऽपि शरसंतान-	४१९	जितान्तक नमस्तुभ्यम्	१४८
जयति भुगवक्त्रोद्गन्त-	२१९	जयोऽपि सुचिरात्प्राप्त-	४०८	जितामरपुरोद्योभा-	३३६
जयति भुजवलीशो	२१९	जयोऽपि स्वयमारुह-	४०२	जित्वा महीमिमं कृत्स्नाम्	१३१

जित्वा मेघकुमारस्थानम्	३८२	ज्वलत्प्रतापः सौम्योऽपि	३६२	ततः कतिपयैरेव	१५१
जित्वा भ्लेच्छन्वी विजित्य	१३०	ज्वलत्येव स तेजस्वी	१७३	ततः कतिपयैरेव प्रयाणैः	४४०
जिनमतविहितं पुराणधर्मम्	२८८	ज्वलत्पौषधिजालेऽपि	१३६	ततः कलियुगेऽभ्यर्थे	३२०
जिनविहितमनून् स्मरन्	३२९	ज्वलदचि कराल वो	१५४	ततः किञ्चित् स्वलद्गर्वो	१२५
जिनाज्ञानुगतः शशवत्	१६८	ज्वलद्वावपरीतानि	८८	ततः किञ्चित् पुरो गच्छन्	१३८
जिनानुस्मरणे तस्य	३२६	ज्वलन्त्यौषधयो यस्य	८९	ततः कुमारकालेऽप्य	२६०
जितार्चिभिर्मूर्धं सूरि	२७२	ज्वलन्मुकुटभाचक्रो	२०५	ततः कुतूहलाद् बाधिम	५०
जितालये शुचौ रज्जे	२७२	त		ततः कृतमथ भूयो	१८६
जिनेन्द्रभवने भक्त्या	४६१	तं कृष्णगिरिमुल्लङ्घ्य	८६	ततः कृतयुगस्यास्य	३१७
जिनेन्द्रालम्ब्यसज्जन्मा	२७८	त नत्वा परमं ज्योतिः	२४०	ततः कृतार्थमात्मानम्	२५३
जिनेषु भवितमातन्वन्	३२५	त निरीक्ष्य जितेर्मर्ता	३७२	ततः कृतेन्द्रियजयो	२६४
जीयादरीनिह भवानिति	५९	त परीत्य विशुद्धोर	३७१	ततः कृतोपवासस्य	२७२
जीवाजीवविभागजा	१६७	तं पुरातनरूपेण	४८४	ततः क्षणमिव स्थित्वा	३१८
जीवादिसन्तके तत्त्वे	५०४	त रूप्याग्रिगुहाद्वार-	१०७	ततः क्षान्तिम धर्मम्	२६५
जीवेति नन्दतु भवानिति	५९	तं लौहित्यसमुद्रं च	६७	ततः क्षेपीय एवासी	३१८
जीनास्तु पादिवास्तेषाम्	३३३	तं वीक्ष्य धूमवेगाख्य	४८८	ततः परम्बनस्कार-	२७२
जीनीमिषया वितन्वन्	३४९	तं शासनहरं जिणो	१७७	ततः परं निषद्यास्य	२४७
जीनेश्वरी परामाज्ञाम्	२८७	तं शैल भुवनस्यैकम्	१२४	ततः परः प्रधानत्वम्	३३८
जीनोपासकदीक्षा स्थात्	२७४	तं सहस्रसहस्राणु	४२०	ततः परमजाताय	२९१
ज्ञातप्राग्भवसम्बन्धा	४६०	त इमे कालपर्यन्ते	३२१	ततः परमजाताय	२९९
ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन	२८३	तच्चक्रमरिचक्रस्य	६२	ततः परमरूपाय	२९९
ज्ञातिव्याजनिगुहान्त	१७३	तच्चेदं कुलमध्यात्म-	३३१	ततः परमवीर्याय पदम्	२९९
ज्ञातुधर्मकथा सम्यक्	१६३	तच्छासनहरा गत्वा	१५५	ततः परमार्हाताय स्वाहा	२९७
ज्ञात्वा तदाशु तद्वन्धु	३७१	तच्छिञ्जितयसानिष्ये	५०८	ततः परमरेन्द्राय स्वाहा	२९७
ज्ञात्वा समागतं जिष्णुः	११९	तच्छुद्धयशुद्धी बोद्धव्ये	२८२	ततः परार्थसम्पत्तये	२६७
ज्ञात्वा संभाव्यशीर्षोऽपि	३८९	तच्छेषादिग्रहे दोषः	३३२	ततः पर्यन्तविन्यस्त-	३०
ज्ञात्वा सूत्रकृत सूक्तम्	१६३	तच्छेषाशीर्षच-	३३२	ततः पुण्योदयोद्भूताम्	२३७
ज्ञानजः स तु संस्कारः	२७७	तच्छीर्यं यत्पराभूतः	४२०	ततः पूजाङ्गतामस्य	३०१
ज्ञानध्यानसमायोगो	२६६	तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता नो	४६६	ततः पूर्ववदेवास्य	२७६
ज्ञानमूर्तिपव तद्वत्	२९४	तच्छ्रुत्वा पुनरप्याभ्यां	४७०	ततः प्रचलिता सेना	३४
ज्ञानविज्ञानसंपन्नः	२५४	तच्छ्रुत्वा साऽञ्जवीदेवम्	४८६	ततः प्रतीतभूपालपुत्रा	३६९
ज्ञानशुद्ध्या तपः शुद्धिः	२१३	तज्जल जलदोद्गीर्ण-	११७	ततः प्रतीपमागत्य	१०१
ज्ञानोद्योताय पूर्व च	२९१	तज्जातौ चक्रिणो देवी	४८१	ततः प्रभूत्यमीढं हि	२४७
ज्ञेयः पुरुषदृष्टान्तो	३३५	तज्ज्ञात्वा मत्पिता पुत्र	४७०	ततः प्रयाणकैः कैदिचद्	११३
ज्येष्ठः प्रणम्य इत्येतत्	१८२	तदनिर्झरसंपातः	१३२	ततः प्रविश्य साकेत-	३२३
ज्येष्ठे न्यायगत योग्ये	४९७	तदशुष्काघ्रिपासन्न-	४५१	ततः प्रसन्नगम्भीर-	१५३
ज्योतिर्ज्ञानमथ	२५०	तदस्थपुटपापाण	८८	ततः प्रसेदुषी तस्य	४९
ज्योतिर्वैगागुरुः प्रीत्या	४८२	तदायोग्य विमान्त्यस्य	१२२	ततः प्राची दिश जेतुम्	१०
ज्योत्स्नाकीर्तिमिवातन्वन्	४	ततः कञ्चुकिनिर्देशाद्	३७९	ततः प्राविशदुत्तुङ्ग-	३१८
ज्योत्स्नादुकूलवसना	४	ततः कतिपये देवाः	१५१	ततः प्रास्थानिकैः पुण्य-	८
ज्योत्स्नामये दुकूले च	७	ततः कतिपयैरेव	३९	ततः श्रेष्ठिगृहं याता	४९६
ज्योत्स्नासलितसम्भूता	४	ततः कतिपयैरेव	११५	ततः श्रेयोर्जयना श्रेयम्	२७०

तत. षट्कर्मणैः स्वाहा	२९४	ततो दिव्याष्टसहस्र-	३०६	ततो वाल्पमिद काव्यम्	१५३
तत सद्गृहिकल्याणि-	३०३	ततो धनवती दीक्षाम्	४५८	ततो विद्वरमुल्लङ्घ्य	१३
तत सप्तदिनैरेव	४९३	ततो धनुर्वरप्रायम्	११६	ततो विद्वरमुल्लङ्घ्य	३७
तत समरसद्यष्टे-	१८५	ततोऽविगतसङ्गातिः	२७८	ततो विद्योपदेशोऽस्य	२६०
तत समुदिते चण्डदीधितौ	४९०	ततोऽचिरह्य तं गैलम्	१३७	ततो विधिर्गमं संभ्याग्	३१६
तत समुद्रदत्तञ्च	४९५	ततोऽभीताखिलाचार	२५४	ततो विविचदानर्च-	१४१
तत. समुद्रदत्तास्थो	४४९	ततो ध्यायेदनुप्रेक्षा.	३४२	ततो विन्वेष्वास्तन्य-	३०५
ततः समुद्रदत्तोऽपि	४९७	ततोऽञ्चनि विनामीन	१०	ततो विसजितस्थान	३२७
तत सर्वप्रयत्नेन	३१४	ततो नभस्यसौ गच्छन्	४९०	ततो व्यस्यास्यन्नेव	१८१
तत सर्वेऽपि तद्वत्किर्णनाद्	४५९	ततो नानागच्छानश्रोत्कीर्ण-	३७३	ततोऽसौ दिव्यशय्यायाम्	२५७
तत सुखावतीपुत्रम्	४९९	ततो नास्त्यत्र नश्चर्म्यम्	३६९	ततोऽसौ धृतविद्यास्त्रो	९३
तत सुविहितस्यास्य	२५४	ततो निचद्वनि शेष-	२६७	ततोऽस्माद् विजयस्तस्माद्	५०९
तत स्वकाम्यसिद्ध्यर्थम्	२९३	ततो निचवृत्ते जित्वा	११८	ततोऽस्मै दत्तपुण्याशी	३८
तत स्वपतिरत्नेन	८	ततो निर्गन्धमुष्णदि-	३०९	ततोऽस्य केवलोल्लसती	२६६
ततः स्वितमिद जैनात्	३३३	ततोऽन्तः प्रविशन् वीक्ष्य	१३८	ततोऽस्य गुर्वनुमानाद्	२५१
तत स्वभावसङ्गन्धम्	४९५	ततोऽन्या पुण्यशङ्काया	२७३	ततोऽस्य जिनरूपत्वम्	२७६
तत स्म बलसञ्जीमाद्	८५	ततोऽयमुपितेनालम्	२७३	ततोऽस्य दिग्जयोद्योग-	१
तत स्वयवरो युक्तो	४५९	ततोऽपरान्तमारुह्यम्	८५	ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे	२४८
तत स्वस्थ समालक्ष्य	३५७	ततोऽपि नेमिनाथाय	२९८	ततोऽस्य विदिताक्षेप-	२५४
तत आमुकिकापाय-	३४१	ततो अस्म सभावाय	५०८	ततोऽस्य वृत्तलाम् स्यात्	२७९
तत जगितपुण्येति	३०६	ततोऽभिमत्तसिद्ध्यै	४५	ततोऽस्य हायने पूर्णं	२४८
तततारावली रेजे	१८९	ततोऽभिपेक्षमानोति	२६१	ततोऽन्यावीतश्चिदस्य	२५०
ततश्चक्रधरादिष्टा	११८	ततो भुवतोऽतारास्थाने	३२७	ततोऽह्निमन्त्रस्तस्माच्च	५०९
ततश्चक्रधरेणार्य	१७८	ततो मतिमतास्मीय-	३४२	ततो हिरण्यवर्मायाद्	४६०
ततश्च दिव्यजाताय स्वाहा	२९७	ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णे	२६	तत्कर्णं कर्मभूमित्वाद्	३३१
ततश्च स्वप्रधानाय	२९१	ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णे	३२७	तत्कर्णवैव कर्णेपु	३६६
ततश्चानुपमैन्द्राय स्वाहा	२९८	ततोऽमरात् प्रमेयोवती	२९२	तत्कालोचितमयश्च	२६२
ततश्चाहृत्यकल्याणभागी-	३०२	ततो महानयं धर्म	३१५	तत्कालोचितवृत्तञ्च	४३५
ततश्च्युत परिप्राप्तमानुष्य	३४२	ततो महावयोत्पन्ना	३३३	तत्कालोचितमामोक्त्या	४३९
ततश्च्युतो ज्यन्तोऽभूद्	५०९	ततो महीभूत सर्वे	३७४	तत्कुमारस्य सत्पशति	४८८
ततस्तमूचुरूपणीः	४८	ततोऽमी श्रुतनि शेष-	१६४	तत्कमी नूपरामञ्जु-	२२८
ततस्तस्मिन् वने मन्त्रम्	९९	ततो मुनीन्द्रकल्याण-	३०३	तत्खेवरगिरौ राजपुरे	४८५
ततस्तितिक्षमाणेन	१५८	ततोऽयं कृतसंस्कार	३१०	तत्तदोपात्तविश्रान्त-	१२४
ततस्तुर्गवशेषेऽङ्गि	३२७	ततोऽयं शुद्धिकाम सन्	३१२	तत्तप फलतो जातम्	४९८
ततस्ते जलदाकार-	११७	ततोऽयमानवानेवान्	२५७	तत्तु स्यादसिक्त्वा वा	३११
ततस्त्वमिदं वयोरूप-	३८३	ततोऽयमुपनीत सन्	२७४	तत्त्राणे च नियुक्तानां	३३१
ततान्यतमसे लोके	१८९	ततो राज्यामिद हेयमपथ्यमिव	३४१	तत्त्वादर्थं न्चिते देवे	३१७
ततो गत्वाह्निमोऽभूत्	५०९	ततोऽन्याह्नादस्य	२८६	तत्पत्नी युक्तापश्यादिदिने	४५४
ततो गुणकृता स्वस्मिन्	३१२	ततोऽवतीर्णं गर्भेऽप्यौ	२५९	तत्पदोपात्तविश्रान्ता-	२२५
ततो जितारिपद्वर्ध	२६५	ततोऽवतीर्णं श्रीपाल	४८३	तत्पालनं कथ च स्यात्	३३३
ततोऽतिबालविद्यादीन्	३१०	ततोऽवतीर्णचनबधू-	२९	तत्पुरे वरणीतोऽष्टकानि-	४९१
ततो दृष्टापदानोऽयं	११८	ततो वर्णोत्तमत्वेन	२५२	तत्प्रकाशवृत्तोऽप्येतम्	१३३

तत्प्रनिष्ठाभिपेकान्ते	३६८	तत्रापि पूर्ववन्मन्त्र-	२४६	तथाऽयमात्मरक्षायाम्	३६४
तत्प्रश्नावसिताविरत्यम्	३२०	तत्रापि विदितादेशैः	४९०	तथा योगं समाधाय	२५७
तत्प्राप्य सिधुर्न रुद्धा	४३५	तत्राप्युक्तो विधिः पूर्व.	२४६	तथा रतिवरः पृष्ट.	४५३
तत्फलं सन्मतिं मुक्त्वा	३२२	तत्राभवत् प्रजापाल.	४४७	तथाऽन्वात्मलाभस्य	२८०
तत्फलेनाच्युते कल्पे	४७७	तत्रामोघं शर दिव्यम्	११९	तथा विसर्जितप्राणः	३४२
तत्सत्यमेव मत्तोऽज्याम्	४६७	तत्रारोप्य भर कृत्स्नम्	२५५	तथाऽसावर्थशास्त्रार्थे	३२८
तत्सभावंतिनामेतत्	४५३	तत्रार्चनाविधौ चक्रव्ययम्	२४५	तथास्य दृढचर्या स्यात्	२७३
तत्समीपे नृपेणामा	४५०	तत्रार्हती त्रिधा भिन्नाम्	२८०	तथा स्वयंवरस्वये	४२९
तत्सभूतो समुद्भूतम्	३२९	तत्रावतारसंज्ञा स्यात्	२६९	तथैताराश्च सामान्य	४२७
तत्सिद्धकृतपूजार्थं कान्ता	४८७	तत्रावासितसाधनो निधिपतिः	७९	तथैवमपि मन्तव्यम्	३२१
तत्सोपानेन रूप्याङ्गे	१०७	तत्रावासितसैन्यं च	१२८	तथैव चक्रचीत्कार.	४५
तत्स्वप्नदशानात् किञ्चित्	३१७	तत्राविष्कृतमङ्गले	३१	तथैव नृपतिर्मालम्	३४३
तत्र कसोपमैर्देवै	१४०	तत्रासीनमुपायनैः	३२	तथैर्गन्धियकदुकृशन्ति.	३३५
तत्र कञ्चित् समागत्य	४९०	तत्रासीनश्च संशोध्य	१०९	तथैर्गन्धियकवीर्यद्वय	३३५
तत्र काचित् प्रिय वीक्ष्य	४१६	तत्रास्य नृपशाईल-	२२१	तथैर्गन्धियकसीन्दर्य	६३६
तत्र कश्चिन्नारीणाम्	१३८	तत्रेष्टो गात्रिकावन्वो	२४६	तथैव पृथिवीपालो	३४४
तत्र क्षणमित्रासीने	२६१	तत्रैकस्यै त्रियन्चारणद्वन्द्वाय	४४५	तथैव सत्कृता विश्वे	२२१
तत्र चैत्यमुदास्तुङ्गान्	१३८	तत्रैन्द्रियकविज्ञान.	३३५	तथोक्त्वा कान्तवृत्तान्तम्	४६८
तत्र तं सुचिरं स्तुत्वा	४९२	तत्रैन्द्रियमुखी	३३५	तथा. स्यु. स्वस्य सन्दृष्टा.	३२१
तत्र नित्यमहो नाम	२४२	तत्रैव दुहिता जाता	४५५	तदतीत्य समं सैन्यैः	३०
तत्र पक्षो हि जैनानाम्	२८२	तत्रैव विद्यया सोधमेष्टम्	४८२	तदत्र कारणं चिन्त्यम्	१५३
तत्र पञ्च नृपस्त्रीणाम्	१३९	तत्रैवागत्य सार्थेशो	४५५	तदत्र-गुरुपादाज्ञा	१५९
तत्र बन्धुजनादर्थ-	२४७	तत्रैवामाष्टमावर्त्य-	३६२	तदत्र-प्रतिकर्तव्यम्	१५५
तत्र भद्रासनं दिव्यम्	११९	तत्रोन्मैस्त्वरदृशाना	१२६	तदत्र भगवद्वक्त्र-	३१७
तत्र बारविलासिन्यो	३२७	तत्रोद्घोषितमङ्गलैः	५९	तदध्यव्य जडो जन्तुस्तप्त-	४४२
तत्र वास्तुवशादस्य	३८	तत्रोपनयनिष्क्रान्तिभागी	३०७	तदन्तर्गतिं शेष-	१६३
तत्र शाय्यासने सुप्त्वा	४८८	तत्रोपायनसंपत्त्या	३२७	तदभावे च वध्यत्वम्	३१३
तत्र संस्कारजन्मेदं	२८०	तथा गृहाश्रमस्थाश्च	५०५	तदभावे स्वमन्याश्च	३१३
तत्र सञ्जातिरित्याद्या	२७७	तथा चिरं विहृत्यात्तसंप्रीति.	५०२	तदलं देव संरम्भ	४९
तत्र सम्पत्त्वशुद्ध्यादि	४९४	तथात्माऽतिशयोऽप्यस्य	३३४	तदलं स्पष्टया दध्यम्	१६१
तत्र सर्वमभूदाद्यो	४९५	तथाऽतीन्द्रियदुन्मार्थी	३३६	तदलमधिपकाल-	१९८
तत्र सूक्ष्मपदान्याहु.	२८४	तथाब्धानन् महाधोपा	२२१	तदस्य रुचिमातेने	८
तत्राकामकृते शुद्धि-	२८२	तथा नृपोऽपि सङ्ग्रामे	३४४	तदाकर्णनमात्रेण	५०७
तत्रागत्य क्रुमारोऽपि	४२८	तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वे	३४४	तदाकर्ण्य गृहत्यागम्	४७५
तत्रातिवाकविद्याया	३१२	तथाऽन्तकृद्दसाङ्गात्	१६३	तदाकर्ण्य जवोऽप्याह	४७२
तत्रादौ तावद्वेष्ट्ये-	२९०	तथा पारावतद्वन्द्वम्	४४६	तदाकर्ण्य महोशस्य	४५७
तत्रादौ सत्यजाताय	२९९	तथापि त्वकृतोऽस्मासु	१५४	तदाकर्ण्यवधूयैनम्	४५१
तत्राधिवासितानोऽङ्ग-	९३	तथापि बहुचिन्तस्य	३२६	तदा कलकलश्चक्रे	२०५
तत्रानर्चं मुद्रा चक्री	१४०	तथाप्यस्त्येव जेतव्यः	१५४	तदा कालानुभावेन	३२४
तत्रान्तपालद्वुर्णाम्	३७	तथा प्रहृते सङ्ग्रामे	४३१	तदा कुबेरमित्रस्य	४५२
तत्रापरान्तकान् नागान्	८६	तथाभिधिवत्स्तेनैव	२२१	तदा कृत्वा महद्दुःखम्	४५६
तत्रापश्यन् मुचोनिद्र-	१४०	तथा भूपोऽप्यतन्मालु	३४६	तदा-सगमवावाप्त-	५००

तदागम्य सुरा सर्वे	५०७	तदुन्मुखस्य या वृत्ति	२६९	तदुत्पालोकोच्चक्षुः	२३०
तदा जन्मान्तरस्नेह-	३८३	तदुज्ज निमित्तानि	३२८	तद्वच पवनग्रीह-	३८६
तथा जयोऽप्यतिशुद्धो	४११	तदुपाकृतस्तीर्ष-	१२८	तद्वच समुखीनेऽस्मिन्	१७७
तदा त राजगेहस्थम्	३७४	तदुपाहृतस्नायै-	११०	तद्वन पवनाद्गतम्	११५
तदा तुष्ट्या महीनायो	४७३	तदुपेत्य प्रथमेन	१७९	तद्विदित्वा कुलस्त्रिव	४९६
तदादि प्रत्यहं भेरी	२४६	तदेतद् सार्वभौमस्त्रम्	४३०	तद् विलोक्य कुमारोऽभूत्	४६०
तदादिश दिशामस्मै	३८६	तदेतत् सिद्धसाधनस्य	२६६	तद्विलोक्य सपत्न्योऽस्या	४४६
तदादिश विधेयोऽन	४२९	तदेतद् योगनिर्वाणम्	२५६	तद्वीक्ष्य पितरावेप-	४४९
तदा मभोजङ्गण कृत्स्नम्	८	तदेतद् विविदानेन्द्र	२५७	तनुतापमसह्यं ते	१६४
तदानीमागते पत्यौ	४६७	तदेत्य द्रुतमायुष्मन्	१८०	तनूवरी बरारोहा	२२८
तदा पटकुटीमेदा	११७	तदेन शरमस्पर्ध	४९	तनूतपयोवेणी	४
तथापि खलु विद्यन्ते	३६२	तदेन्द्रा पूजयन्त्येनम्	२६०	तन्नावायगता चिन्ता	३२७
तथापि पूर्ववत् सिद्ध-	२५१	तदेपा जातिसंस्कार	२४३	तन्नावायमहामारम्	४५२
तदा पुत्रविधेगेन सा	४९७	तदेव युवराजोऽपि	५०६	तन्निमित्तपरीक्षाया	४४९
तदा पुरात् समागत्य	३७८	तदैव परमज्ञान-	२७८	तन्निरीक्ष्य ममैवायम्	४५३
तदा पूर्वोदिताचार्या	४९१	तदेवोभित्तकटप्रान्त	३९४	तन्निवेशादधान्येष्टुः	४९६
तदा पूर्वोदितो देव	४२८	तपोपसर्गनिर्वाणे	४७४	तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायाम्	२४५
तदाप्रचलदक्षवीय-	९१	तवोभयबलरुपात-	४०८	तन्मा भूदनयोर्युद्धम्	२०२
तदा प्रणेतुगामन्द्रम्	१००	तद्गर्भे रत्नसन्दर्भ-	१४०	तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा	११८
तदा प्रभूति मन्त्रिते	५०१	तद्गोपकलनिर्वाण-	२३०	तन्मो वनलता रेजु	५
तदा प्रियास्तवात्रापि	४९८	तद्गोपुरावर्णि क्रात्वा	१३८	तपः श्रुत च जातिव	२४६
तदा बलद्वयमाया	४१३	तद्वदुल्लस्यैव माहात्म्यम्	४६४	तप श्रुताभ्यामेवातो	२४३
तदा भरतराजेन्द्रो	५०६	तद्वदुर्मुखोऽपि निर्वन्धाद्	४५५	तपसोऽग्रेण चोद्योऽन	२१४
तदाऽभूद्वचमवोयम्	१३१	तद्वदुष्टिमात्रविजात-	४५३	तपस्तनूनपात्ताप-	२१०
तदा भूद्वचमष्टाद्	१८५	तद्देव कथयात्माकम्	१६०	तपस्तनूनपात्तापद्	१६९
तदा मुदितचित्त सन्	४९२	तद्देव विरममामुष्मात्	१५७	तपस्तापतनूत-	१६९
तदा भूतगुहाद् भिक्षाम्	४५४	तद्देव्यश्च महादेव्यो	३३४	तपस्तोन्नमथासाध	१६२
तदा रणाङ्गणे वर्पन्	११७	तद्देहवीप्तिप्रसरो	२१५	तपोऽग्निवत्पदीप्ताङ्गा	१६९
तदालोक्य महोपालो	४७२	तद्दौर्गत्यं व्रणस्थान-	३४४	तपोऽनुभावादस्त्वैवम्	२१६
तदाभीमदिसतुष्ट	४९३	तद्वधर्मस्योयमाम्नायम्	३१४	तपोभिरङ्गुलैरेभि-	२१४
तदागु प्रतिकर्तव्यम्	१७३	तद्वधेतुफलपर्यन्तं	४६९	तपो भुजबली रेजे	२०४
तदावीयसुरोद्घाताद्	२५	तद्वलात् कान्त्या साद्धम्	५००	तपोमयः प्रणीतोऽग्नि-	१७०
तदा ध्वज सर्वे	५००	तद्विम्बाधरसंभाविता-	४४४	तपोऽयमनुपानत्क	२८७
तदा संग्रहेऽयुवत-	४०४	तद्वुद्वधा नायवंचेशः	४३४	तपोऽयमनुपानत्क	१६२
तदा सर्वोपघागुद्धो	३८८	तद्वसूतवनमेतत्त्वम्	४८५	तपो विषाद्य कालान्तो	४५७
तदा सागरवत्ताह्य	४९८	तद्वशात् शरासन कामः	३६६	तत्तापान्मुचिताभूमिः	१६४
तदा सुखावतो कुञ्जा	४८९	तद्वथातीन्द्रियज्ञानः	३६६	तमः कवाटमुद्घाटय	१९८
तदास्ता समारम्भ	११७	तद्वथा यदि योः कश्चिद्	३४३	तमः सर्व तदा व्यापत्	४१४
तदाऽस्य सपक्षेत्रणीम्	२६६	तद्वथा संसृती बेही	३३८	तमव्यपेपमव्यवै-	२९
तदाऽप्येनयाहृत्त्वम्	३११	तत् यूयं संसृतेर्ह्येतुम्	५०५	तमभ्यपिञ्चन् पौराश्च	२२१
तदा स्वमन्त्रप्रहितः	४३३	तद्वरवाकणनाद् धूमित-	३९४	तमस्मत्कन्यकामेप	४८४
तदिदं तस्य साम्राज्यम्	२६३	तद्वराष्ट्रविजयाद्धस्य	४५८	तमानयानुनीयेह	१९२



तनालवनवीदीष्ट	८४	तस्मादयं गुणैर्गत्वाद्	३१४	तान्यवन्धोपलभ्यानि	१०३
तमाप्तिमित्रे नन्दम्	७१	तस्माद् रसदतीक्ष्णानीम्	२६४	तान् सम्पुङ्ग विनङ्गीकृद्	३७०
तमित्यद्भुतया लब्ध्या	१३३	तस्माद्धर्मकतानः सन्	३४१	तान् स्वयंवरशालायाम्	३७४
तमित्यद्भुतया लब्ध्या	१३३	तस्माश्चास्माभिराज्जान्तम्	२४१	ताभ्यां तत्रैव सा रात्रिः	४१३
तमित्यलोकयन् दूरात्	११७	तस्मिन् दिने प्रविष्टस्य	३१०	तामाजान्तहरिमुखात्	१७
तमित्येति गृह्यासी	११२	तस्मिन्न्येष्टद्वयानम्	४९४	तामालोक्य वर्तु जित्गोः	११३
तमूर्च्छवृत्तिमाक्रान्त-	१२१	तस्मिन्नष्टद्वये पद्मे	२७०	तामूर्च्छां जनकोनाद्	९०
तमृष्यमृषुनाक्रम्य	६७	तस्मिन्नेव मन्त्रे धावतः	३४२	ताम्बूलरससंगतिः	३७५
तमेकमक्षरं व्यात्वा	३५२	तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्याम्	४५९	ताम्राकृतमुद्राकीर्णं	४
तमेकान्धुरं धौलम्	१२४	तस्मिन् पीरपत्राव्येऽपि	३८	ताम्रालितरत्नलङ्घ-	२६१
तमेनं वर्पनः दुर्धनम्	२७८	तस्मिन् वने वसन्	३५९	ताम्रगयाली कृपमः	३२०
तमोऽग्निपवनैवाविच्छिन्नाः	४१०	तस्मै कन्यां गृहाणाति	४२९	ताम्रञ्च परचक्रैश्च	११६
तमो हूरं विवृणोपि	१८९	तस्य पूवा विवातव्या	४५१	ताम्रञ्च नन्दिपो मुख्याः	५०३
तमो निश्चोपमुद्धूय	१८९	तस्य मेऽग्नयसः कोनः	३९२	ताम्रञ्च नुविणे वीराः	११६
तमोद्वान्मुद्रादीगदिप्रकाशा	४१४	तस्य राजश्च ताः सर्वा	५००	ताम्रत्रया भयं तावत्	४३२
तमोऽगुपिता रेजे	१८८	तस्य लक्ष्मीमनाशिन्य	३५८	ताम्रशरीर् दिगारम्भो	१९३
तमो विजय दूरेण	१८९	तस्य वज्रस्यले तत्र	४७४	ताम्रद्वेषितनिर्वाणः	४०२
तमोविन्दे हितं विजयम्	४१४	तस्य स्वर्गप्रभावेण्याम्	४५९	ताम्रद्विर्वादिभिर्वन्धो	५०३
तमोः कुमारः धीपालः	४८०	तस्यां तन्नायवर्णाद्य-	३६४	ताम्रकण्ठे सहस्राणि	२२६
तमोः पुत्रां नोगवर्षी	४८३	तस्याखिलाः क्रियायस्या-	३२६	ताम्रकण्ठेः कपोतो व	४५८
तमोर्हं तनूनास्ति	४८५	तस्या दक्षिणतोऽस्त्यद्	९०	ताम्रनैतुं कुमारोऽपि	४८३
तमोरासन् तदे पश्यन्	११४	तस्यातरस्मिन् दिग्भागे	५०३	ताम्रद्विहितनिश्चय-	१२९
तमोरासन् तदे सैन्यम्	११४	तस्यामस्त्यां मूढास्मा	३१०	ताम्रनीं ब्रह्मलोकान्ते	४५२
तमोऽर्जुनान्तरस्तेह-	४६०	तस्या लालाटिको नैकः	३६६	ताम्र क्रियास्त्रिजगन्माताः	२४४
तमोऽर्जुनान्तरासीय-	४८६	तस्या विनीलविहस्त-	२३०	ताम्र तन्त्रितहारिणः	२२५
तमोर्जुनोऽभवत्	३७८	तस्यासिपुत्रिका वीप्रा	२३५	ताम्र तावां तदा व्याकृत्यो-	४८७
तमोर्विद्वत्पुत्रा पुत्री	५०१	तस्यासीत् मुग्रना बेवी	३६३	तावां किमुच्यते कोपः	३६१
तमोस्तु सर्वव्यतिः	४९५	तस्यास्तु भेदसंख्यायाम्	२६९	तावां मृदुकरस्पर्शः	२२५
तमोस्तुस्तोऽयम्	५८	तस्येष्टपूरं लिङ्गं च	२४९	ताम्रामृदुवक्त्रेह-	१९३
तमोस्तुतन् वृद्धम्	४१	तस्योक्तयोगेऽस्त्यर्थो	३३६	ताम्रामात्रासंलाप-	३२७
तमोस्तुतन्धुगम्	९०	तां काण्डकप्रपाताख्याम्	१२९	तास्तु कर्तव्या जेग-	२८५
तमोस्तुतन्धुगम्	१०	तां तस्य वृत्तिरनुवर्तयति तस्य	४८५	तास्त्रिकार्णं सन्यस्य	५०८
तमोस्तुतन्धुगम्	५६	तां पश्यस्यस्येस्तावच्च	१३९	त्रिध्यादिपञ्चभिः दृष्टैः	४४१
तमोस्तुतन्धुगम्	४८८	तां मनोहरसस्येव	१२९	त्रिमिरकरिणां वृक्षः	१९५
तमोस्तुतन्धुगम्	९२	तां लक्ष्मीमक्षयं मत्वा	३७५	त्रिरोटं स्फुटतराङ्गम्	२६१
तमोस्तुतन्धुगम्	३२३	तां विलोक्य महोपालो	३६९	त्रिरोटमुद्वहन् वीप्रम्	२५७
तमोस्तुतन्धुगम्	३०	ताः श्रयन्ते गुणानैव	३६१	त्रिरोटविहरोदयो	९९
तमोस्तुतन्धुगम्	३२६	ताः सम्पदस्तत्रैवार्थम्	१७९	त्रिरोटोदग्रमूर्धनी	७
तमोस्तुतन्धुगम्	५०	तादवस्तैर्गुणैर्दृष्टैः	३४०	त्रिरोगोऽप्यनगापार्थः	४०२
तमोस्तुतन्धुगम्	४२९	तानेकशः शतं चाष्टौ	१३९	त्रिरोगोऽप्यनगापार्थः	१८७
तमोस्तुतन्धुगम्	३४७	तान् प्रकानुग्रहे नित्यम्	२६३	त्रिरोगोऽप्यनगापार्थः	२२६
तमोस्तुतन्धुगम्	३१३	तान् प्रादुर्ध्वरन्ध्रेच्छा-	३४६	त्रिरोगोऽप्यनगापार्थः	३४३

तीक्ष्णा मर्माप्यभिन्नन्त	३९६	तैरश्चिक गिरिं क्रास्वा	६८	त्वतो न्याया प्रवर्तन्ते	३८८
तीर्थकृत्यु स्वत प्राग्यो	३५१	तैस्तु सर्वप्रयत्नेन	३३२	त्वत्पदस्मृतिमात्रेण	१४९
तीर्थकृद्गणभूच्छेप-	३०१	तोषाद् संपादयमासु	५०८	त्वत्पादनखमाजाल-	१४८
तीर्थकृद्भिरिय स्रष्टा	३१३	तोपितैरवदानेन	११८	त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा	३०६
तोत्र तपस्यता तोषाम्	१६९	तौ भोगपुरवास्तव्यौ	४९६	त्वत्प्रणामानुरक्तानाम्	१६०
तोत्र तपस्यतोऽन्यस्य	२१०	त्यक्तकाममुखो भूत्वा	२८७	त्वत्प्रताप गरव्याजात्	१२०
तुङ्गसिंहासनासीनम्	४३६	त्यक्तचेलादिसगस्य	२५३	त्वत्प्रसादाच्छ्रुत सम्यक्	३५६
तुङ्गोऽय हिमवानद्रिः	१२०	त्यक्तवीर्यतापपत्राण-	२८६	त्वत्प्रसादादिद सर्वम्	४३८
तुङ्गगमवाद्वरार्त्	११०	त्यक्तस्नानादिसंस्कारः	२८५	त्वत्स्तुते पूतवागस्मि	१४८
तुङ्गगमास्तरङ्गाभा	३९३	त्यक्तागारस्य यस्यात	२७६	त्वद्देहदीप्त्यो वीप्रा-	१४४
तुलापुष्प एवाम्	१८५	त्यक्तागारस्य सद्दृष्टे	२५३	त्वद्भुक्तिवासिनो देव	१२०
तुर्यम्बानाहुतिप्रेङ्ख-	३७८	त्यक्तोपधिधरा धीरा	१६७	त्वमत्र तेन सीहादाद्	४८२
तुर्यमङ्गलनिधौर्वि	४४१	त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि	२८५	त्वमादिराजो राजपि	१५३
तृणकल्पोऽपि सबाह्व	३९०	त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि	३९७	त्वमामुष्मायण किन्न-	२७९
तृतीयजन्मतोऽन	४६१	त्यागं पर्वोपवास च	४५४	त्वमुद्घाटय गुहाहारम्	१०७
तृतीयजन्मतो युष्मद्-	४६१	त्याग, सर्वोपसर्तपि	५०२	त्वया न्यायवनेनाङ्ग-	२६४
तृतीयज्ञानसम्पन्नै-	५०३	त्यागो हि परमो धर्म	३४१	त्वया मदीयामरणम्	४७३
तृतीयैर्जनि चानन्तज्ञानदर्शो	३०६	त्रपा गता समादाय	४६०	त्वयाऽहं हेतुना केन	४७२
ते कवाचित्जगत्पाल-	४५२	त्रय पञ्चाशदेता हि	२४४	त्वयि राजनि राजोक्ति	१५५
ते च सकल्प्य सेनायम्	७१	त्रयोऽनय प्रणया स्यु-	३०१	त्वयीद कार्यमित्यस्मै	१५३
ते च स्वप्ना द्विधाम्नाता	३२१	त्रयोऽनयोर्हृद्गणभृत्	२४५	त्वयेदानी ससोपानाम्	१०८
ते चिर भावयन्ति स्म	१६८	त्रसान् हरितकायाश्च	१६७	त्वय्यता प्रस्थितो देवो	३४
तेजसा चक्रवालेन	१४१	त्रि परीत्य नमस्कृत्य	३५९	त्वा नमस्यन् जनैर्नम्रै-	१४८
तेऽतितीक्ष्णतनोयोगी	१६२	त्रि प्राक् त्वन्मारितावावाम्	४७६	त्वा स्तोष्ये परमात्मानम्	१४१
ते तु स्वप्नतसिद्धपर्य	२४१	त्रिकलिङ्गाधिपानांज्ञान	६९	त्वामायुष्मन् जगन्मान्यो	१७९
तेऽतीत्योपासकाध्याय-	१६३	त्रिकालविषयं योगम्	१६५	व	
तेन पाङ्गुण्यमभ्यस्तम्	३२८	त्रिकूटमलयोत्सङ्गे	८४	दक्षबेटीजनसिप्रकृत-	४४६
तेनापि व्याप्यमेवेदम्	१६१	त्रिगुप्ताय नमो	२९५	दक्षिणानिलमापल्ल-	३७७
तेनापि भारते वर्षे	३३१	त्रिजगज्जनताजस्र	१३८	दक्षिणेन तमद्रीन्द्रम्	१०१
तेऽनुरक्ता जिनप्रोक्ते	१६५	त्रिज्ञानधृत् त्रिभुवनैकगुरु-	५११	दक्षिणेन नदं धोणम्	६७
ते पीरवा मुनिवरा	१७०	त्रिज्ञाननैत्रसम्यक्त्व-	५०५	दक्षिणैर्मतया विष्वक्	२४
तेऽभ्यनन्दमहासत्त्वा	१६६	त्रिभिनिदर्शनैरेभि	३४०	दक्षिणोत्तरयो श्रेण्यो	१२८
तेऽमी जातिमवाविष्टा	३२०	त्रिमेखलस्य पीठस्य	१४५	दक्षिणोत्तरयो श्रेण्यो	३८१
तेषां कृताणि चिह्नानि	२४१	त्रिमेखलस्य पीठस्य	३१८	दण्डनादपरीक्ष्यास्य	४७४
तेषां निवृत्तारम्भ-	१९३	त्रिष्वेतेषु न संसर्गो	२८३	दण्डरत्नं पुरोवाय	१०
तेषां स्यादुचितं लिङ्गम्	३११	त्वं नामातुरिनाकृत्या	४९८	दण्डरत्नाभिषातेन	१०७
तेष्वर्हद्विषयावेषाश्च	२४५	त्वं मन्दरामिपेकाहोर्गवेति	३०५	दत्त्वा किमिच्छकं दानम्	२४२
तेष्वग्रता विना सगात्	२४०	त्व वल्लिनेव केनापि	४२७	दत्त्वा कोशादि सर्वस्वम्	४३४
ते स्तुर्गुणलज्जान्तवरा	४२७	त्वगस्थिमात्रदेहास्ते	१६९	दत्त्वा सुलोचनायै च	४३७
ते स्वभूतोऽपिज्ञत भूयो	१६५	त्वङ्गुत्तुङ्गसुरगसाधनखुर-	९४	ददती पात्रादानानि	३६८
ते हिमाग्री परिकिण्ठाम्	१६४	त्वत्त स्मो लब्धजन्मान-	१५९	ददुरस्मै नृपा प्राच्यकलिङ्ग-	६६
ते हि साधारणा सर्व-	३१५	त्वत्तीर्थसरसिस्वच्छे	१४८	ददौ दानमसौ सद्ग्यो	३२५

दधचचाक्रचरी वृत्तिम्	१८४	दीक्षा जैनी प्रपन्नस्य	२७९	दृष्टिवादेन निर्ज्ञात-	१६३
दधतीरातपस्कलान्त-	१७५	दीक्षा रक्षा गुणामृत्या	१६१	दृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन्	२३
दधददपडाभिधातोत्यम्	१०७	दीक्षावल्या परिष्वक्तः	२०९	दृष्ट्वा कदाचिद् गान्धारी	४६७
दधदधीरतमा दृष्टिम्	२०४	दीपिकायामिनामुष्याम्	२१५	दृष्ट्वा तत्कम्बलस्यान्ते	४८६
दधानं तुलिताशेष-	१७६	दीपिका रचिता रेजुः	१८९	दृष्ट्वा तत्साहस वनम्	४८५
दधानं स्कन्धपर्यन्त-	२१०	दीप्रीः प्रकीर्णकद्राति	२६२	दृष्ट्वाऽयं त महाभाग-	४५
दधानास्ते तपस्तापम्	१६५	दीपज्ञा कृतपुण्याय	३७०	दृष्ट्वा विमोच्य राजानम्	४५२
दन्तकाष्ठग्रहो नास्य	२४९	दीर्घदीर्घतिनिर्घात-	२०७	दृष्ट्वा षड्राजकन्यास्ता	४८१
दन्तिदन्ताग्न्यप्रोतोद्-	१८६	दुःखी सुखी सुखी दुःखी	४४२	दृष्ट्वा हरिवरस्तस्मान्नोत्वा	४८७
दयितान्तकुबेराख्यो	४६७	दुनोति नो भृशं हृत-	१८४	दृष्ट्वा कृष्टहरिणाम्	१८९
दर्पाद्धरा खुगेत्खात-	५	दुन्दुभिन्निते मन्द्रम्	२५९	द्वेयमन्यत् स्वतन्त्रेण	१८५
दर्भास्तिरणसम्बन्ध-	२९०	दुराचारनिपेषेन त्रयम्	३९२	देयान्यनुज्ञताप्यस्ते	३१०
दर्शयन्ती समीपस्थाम्	४८२	दुर्गाटवीसहस्राणि	२२७	देवताऽतिथिपित्रनि-	२७९
दशम्या सिद्धकूटाग्रे	४६०	दुर्द्धरोस्तपोभार-	४८४	देवताप्रभितालक्ये	४८०
दशाङ्गमिति भोगाङ्गम्	२३३	दुर्गिरोक्ष्य करैस्तीक्ष्णै-	४१३	देव त्वामनुवर्तन्ताम्	१५५
दशाधिकारास्तस्योपता-	३११	दुर्मुखे कुपिते शीत्वा	४५५	देवदानवगन्धर्व-	३१९
दशाधिकारि बास्तूनि	३१२	दुर्मृतश्च दुरन्तेऽस्मिन्	३४२	देवदिग्विजयस्यार्द्धम्	१००
दशार्णकवनोद्भूतानपि	६६	दुर्विगाहा महाप्राहा	३५	देव दीप्रः शरः कोऽपि	४६
दशार्णान् कामरूपाश्च	६६	दुष्टा हिंसादिदोषेषु	३४८	देवभूय गताः श्रेष्ठि-	४५७
दातुं समुद्रदत्तस्य	४७१	दुस्तरा सुतरा जाता	६८	देवश्रीरनुजाश्रेष्ठि-	४९५
दानं पूजां च धीर्लं च	३२५	दुस्सहे तपसि श्रेयो	४९७	देवस्यानुचरो देव	४२८
दानिनो मानिनस्तुङ्गा-	४०८	द्वत तातवितोर्णा नो	१८५	देवाना प्रिय देवत्वम्	१०५
विस्स्वस्तिका सभाभूमि-	२३३	द्वत नो द्वयते चित्तम्	१८२	देवान्तस्तस्यः सस्यान्तदेवो	३५७
विगङ्गनाथनापाय-	४	द्वत सात्त्वत्समानाः	१५८	देवीपुष्पवरन्तीपु	२५९
विगन्तरेभ्यो व्यावर्त्य	३४०	द्वरापाताय नो किञ्चु	४००	देवोऽयमक्षततनुविजिताग्नि-	५९
दिग्जये यस्य सैन्यानि	१२६	द्वरमध्य प्रयातव्यम्	३४	देवानान्यसामान्यमाननाम्	४९७
दिव्यः प्रभास्वय कोऽपि	१०५	द्वरमुखारिता सैन्यै	८२	देवोऽयमभ्युषिमगाधमलङ्घ्य-	५९
दिव्यभाषा तवाशेष-	१४५	द्वरादेव जिनास्थान-	३१८	देव्यः कनकमालाद्या	४५०
दिव्यमूर्तेरुदुस्पद्य	३३२	द्वरादेवावरुहात्म-	४२१	देवाध्यक्षा बलाध्यक्षै-	१०१
दिव्यमूर्तेर्जिनेन्द्रस्य	२८१	द्वराद् दृष्यकुटीमेवाद्	२९	देशेऽपि कारयेत् कृत्स्ने	३४६
दिव्यरत्नविनिर्माण-	२२३	द्वरानतचलन्मौलि-	१०१	देहक्षुती यदि गुरोर्गुरु-	५११
दिव्यरूप समादाय	४६९	द्वरानतचलन्मौलि-	११०	देहबासी भयं नास्य	४६३
दिव्यसंगीतवादित्र-	२५७	द्वरानतचलन्मौलि-	१४१	देहान्तरपरिप्राप्ति	२८०
दिव्यसिंहासनपदाद्	३०७	द्वष्टता कटकैरेनाम्	२०९	देवानुपवाधाभ्य	३८८
दिग्भानुभावसंभूत-	२५७	दृगर्द्धवीमिति सान्तः	१९३	दोर्ध्वं विमणय्यास्य	२०३
दिग्भामरणभेदानाम्	२२७	दृग्विलासाः क्षरास्तासाम्	२२४	दोर्ध्वं विमण्यतुसंघात्	२२२
दिग्यास्त्रदेवताश्चाम्	२६३	दृढव्रतस्य यस्यान्या	२७३	दोष कोऽत्र गुण कोऽत्र	३१९
दिशा प्रसाधनायावाद्	३	दृढीकृतस्य चास्योद्ध-	३४३	दोषघातुमलस्थानम्	३३६
दिशा प्रान्तोपु विश्वार्त्तः	८५	दृष्ट सम्यगुपायोऽयम्	३७०	दोषा किं तन्मयास्तासु	३६१
दिशा रावणमाक्रान्त्या	४१	दृष्टवत्यस्मि कान्ताऽस्मिन्	५०१	दोषान् गुणान् गुणी गृह्णन्	३५३
दिशाजयः स विज्ञेयो	२६१	दृष्टाः स्वप्ने भृगावीक्षाः	३२२	दोषान् पश्येत्स्व जात्यादीन्	३३६
दिश्यानिव द्विपान्	९१	दृष्टापदानानन्याश्च	७१	द्रष्टव्या गुरवो नित्यम्	३१८

द्रष्टव्या विविधादेशा	१०३	धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो	३४१	न खट्वाद्ययर्न तस्य	२५०
द्रोग्यन्यायस्य भूमतुः	४११	धर्म्यमर्थ्यं यगस्सारम्	३८८	नखदण्डमक्रान्त-	१४५
द्रोणादिप्रज्ञाधारम्-	३९४	धर्म्यराचरितं सत्य-	२७९	नखाङ्गुसुमोदभेद-	२२४
द्रोणामुखसहस्राणि	२२६	धवला धार्मिकैर्मन्या	४४०	नखेन्दुचन्द्रिका तस्या	३६४
द्राविडन्मौलिवद्धानान्	२२३	धानुष्कर्मिणामार्गं	३९६	न गुहीतं मयेत्यस्मिन्	४७३
द्रावशाङ्गुतस्कन्ध-	१६२	धारयञ्चक्ररत्नस्थ	९३	न चक्रिणोऽपि कोपाय	३९१
द्रावशाहात् पर नाम	२४७	धारा रज्जुभिरानद्धा-	२३२	न चक्रेण न रत्नञ्च	४३०
द्रावपति सहस्राणि	२२६	धारा वीररसस्येव रेजे	३९९	न च ताम्रग्वथ कश्चित्	३३५
द्रिस्ता त्रिलोकविजय	३००	धारिणी पृथिवी चेति	४७७	न चास्य मदिरामगो	४१
द्रिवातो हि द्विजस्मेध	२४३	धार्मिकस्यास्य कामार्थ-	३२६	न चित्रं तत्र मच्चिती	३७६
द्रिवातिसर्जन तस्माद्	३२१	विगिद चक्रिसाम्राज्यम्	४९८	न चेदिमान् सुतान्	४२७
द्रितीय इव तस्यासीत्	४४८	धृततटवने रक्ताशोक-	६१	न चेलमनोपमस्यामीत्	११७
द्रितीयमार्जुन सालम्	१३९	ध्वनी वैतरणो मापवती च	७०	नटोऽयं वासवो नाम	४८१
द्रितीयमेखलाया च	१४०	ध्वनी सुभाषणी गङ्गाम्	६७	न तथाऽस्मादुशा खेदो	१७२
द्रिवा भवतु वा मा वा	३९१	धूमवेग विनिर्जित्य	४९२	नताना सुरकोटीनाम्	१४५
द्रिवातुदन्तस्तीव्रम्	७३	धूमवेगो विलोपयैवम्	४९१	नतावोपो जय स्नेहाद्	३६४
द्रिवाटो भावनास्तत्र	३३१	धूमवेगो हरिबरश्चैताम्	४८९	न तुष्यन्ति स्म ते लम्बो	१६८
द्रिवायं वषट्मासेति	२९७	धूलीसालपरिक्षेप-	१३७	न सुतोया गतिस्तेषाम्	१५५
द्रिवायं ताविमी शब्दो	२९६	धूनीसालपरिक्षेपो-	१४५	न तुप्तिरेविरित्येप	४६३
द्रिपिस्तुतोऽयमद्विग्नो	१२२	धूममङ्गलवेपस्य	३९	नत्तोऽपश्यत् प्रनादीव	४३६
द्रिपद्विषयमपागच्छ-	४६	धृतरथासुका संश्याम्	१८८	नत्वा विश्वसुख चराचरगुरुम्	१७१
द्रिपन्तमववा पुत्रम्	३४८	धृतिस्तु सप्तमे मासि	२४६	नदी वृधवती कान्वा	६७
द्रिपवन्तो तदालोक्य	४८९	वेहि देव ततोऽस्मासु	१२१	नदीन रत्नमृषिम्	४३
ध		धौरितं मतिचातुर्यम्	९६	नदीना पुलिनान्यामन्	२
धत्ते सानुचरान् भद्रान्	१३४	धौरितैर्गतमुत्साहं	९६	नदीपुलिनदेशेषु	१०
धन यथोधन चाल्मे	११८	धौरयः पाथिवैः किञ्चित्	२६५	नदीमवन्तिकामा च	६८
धनमिश्रस्ततस्तस्माद्	५०९	ध्यानमगमं हान्ता.स्था	१६४	नदी वधूभिरासेवम्	४२
धनमेतदुपाधाय	२५२	ध्रुवं स्वगुरुणा दत्ताम्	१८५	नदीसखीरिय स्वच्छ-	१९
धनश्रीरादिमं जन्मस्यतो	५०८	ध्वजदण्डान् समालण्डय	४०४	न दुनोति मनस्तीव्रम्	१७९
धनश्रीरित्यत्रायस	४७७	ध्वजस्योपरि धूमो वा	४०४	नद्योन्तरणोपाय	११४
धनुर्धरा धनु सज्यम्	१०२	ध्वनतो धनसंघातान्	१३४	ननु म्यानेन वन्मोत्ते	३९०
धन्विन शरमाराच-	१०२	ध्वनस्तु सुरक्ष्येषु	२६६	ननु सुरनर्तव्य	१००
धन्विन, शरमाराच-	२०१	ध्वनी भगवती दिग्धे	५०६	नन्दन सोमदत्ताह्व	३५६
धर्म कामञ्च सञ्चयेयो	३६०	ध्वस्तोष्मप्रसरा गाढम्	६४	नन्दनप्रतिमे तस्मिन्	३८
धर्मकर्मदहिर्भूता-	१०९	न		नन्दनो वृषभेयस्य	२२२
धर्म इत्युच्यते सद्धि	५०४	न करं पीडितो लोको	११५	नन्दावर्तो निवेगोऽस्य	२३३
धर्मशोले महीपाले	३२४	न किं निवारिताऽभ्यायाम्	४१६	नन्वह त्वन्मिन्म्याने	२३६
धर्मस्यावशतता दोषे	२१५	न किञ्चिदप्यनालोच्य	११६	न पञ्चात्र पुरा लक्ष्मी.	३६७
धर्मसंक्राममोक्षाणाम्	३५८	न किञ्चिदप्यनालोच्य	४८	नन्वा धीनामिगजस्य	१६६
धर्मोऽनोऽयं महानामीद्	२३३	न केवलं मिलाभितो	१२६	नम मनारमारजे	३
धर्मण गुणयुक्तेन	३९७	न केवलं समुद्रात् -	३९	नम न्फटिचिन्मिणम्	१४०
धर्मोऽयं मुनितपदमय	३५०	नक्राकृत्या स्वदेयस्य	४३८	न नृजगेन मर्यादा	१३२

न भेतव्यं न भेतव्यम्	१०८	न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वम्	३०१	निःकृषी पेशलौ लक्ष्णौ	३६५
न भोवतुमन्यथाकारम्	१५७	न हर्षा केवलं दाता	३६३	नि शक्तीन् शक्तिभिः	४०८
नभोगृहाङ्गणे तेनु-	४	नाकौकसां धृतरसम्	५२	नि शेष नाशकद्वन्द्वम्	४१४
नम शब्दपरी चेतो	२९६	नागदत्तस्ततो बानरायो-	५०९	नि.श्रेणीकृत्य तज्जङ्घे	२२८
नम. सकलकल्याणपथ-	३५०	नागप्रियाद्रिमाक्रम्य	६७	नि स्वासवूममलिना	५२
न मध्ये न शरीरेपु दृष्टा	४०१	नागमारुह्य तिष्ठ त्वम्	४११	नि संभवृत्तिरेकाकी	२५५
न मया तद्द्वय साध्यमिति	४७५	नागमारोपि तां पश्यन्	३६०	नि.सपत्नमिति श्रेमूः	६८
नमस्ते नतनाकोन्द्र-	१४८	नाङ्गरागस्तुरंगणाम्	४५	नि.सृत्य नाभिवल्मीकात्	२२९
नमस्ते परमानन्त.	१४७	नाटकाना सहस्राणि	२२६	निगमान् परितोऽग्नयत्	१३
नमस्ते पारनिर्वाण-	१४७	नाट्यमालामरस्तत्र	१२९	निगलस्यो यथानेष्टम्	३३७
नमस्ते प्रचलन्मीलि-	१४७	नाट्यमालाद्वय कीप्तम्	१२६	निगलस्यो विपाशञ्च	३३७
नमस्ते प्राप्तकल्याण-	१४८	नाणिमा महिमैवास्य	२७९	निचुल सहकारेण	२२
नमस्ते भुवनोद्भासि-	१४७	नातिदूरे निविष्टस्य	१५१	निजगम्भीरपाताल-	४०
नमस्ते मस्तकन्यस्त-	१४७	नात्रैव किञ्चमुत्रापि	४७१	निजग्राह नृपान् दृष्टान्	६५
नमस्ते मुकुटोपाग्र-	१४७	नाथवशाग्रणीश्चामा	४२८	निजवागमृताम्भोभि-	४५३
नमस्ते स्वकिरीटाग्र-	१४७	नाथेन्दुवंगसरोहौ	४३७	निजहस्तेन निविष्टम्	४३६
नमिनिमिपुुरोगै-	१२९	नादरिद्रोऽज्जनः कश्चिद्	१	निजागमनवृत्तान्त-	४८२
नमिश्च विनमिश्चैव	१२८	नाब्जा द्रुतं गुरुतरैरपि-	७६	निजाग्न्यजन्मसीद्यानु-	४६९
न मृता व्रणिता नैव	४०५	नागारा वसून्त्यस्मत्	२४०	निजोचितासनाहृदा	३७७
नमोऽन्तो मीरजग्नश्च	२९०	नानाप्रम्वसद्वय-	४४०	नित्यप्रवृत्तिशब्दत्वात्	४२
नमोऽस्तु तुभ्यमिदं	१४८	नानाभाषात्मिका दिव्य-	१४१	नित्यानुवदतृष्णत्वात्	४२
नयन्ति निर्हारा यस्य	८८	नानारत्नविधानदेशविलसत्	२३८	नित्योदयो बुधावीशो	४६५
नरविद्याधराधीशान्	३७३	नाभ्यो मद्भागिनियोऽयमिति	४९७	नित्यो निरञ्जनः किञ्चिद्	५०७
न रूपमस्य व्यावर्ण्यं	३८२	नाभिकूपप्रवृत्तास्या	३६७	निदेशैश्चित्तैश्चास्मान्	१२१
नरेशो नागराक्षरैतत्	४७४	नाभूत् परिबर्हभङ्गः	१६९	निधयो नव तस्यासन्	२२७
नर्मदा सत्यमेवासीत्	९०	नाभकर्मविधाने च	३०६	निधयो यस्य पर्यन्ते	३१
न लक्ष्मीरपि तत्प्रीत्यै	३६३	नाम्नातिसंधितो मूढो	३८७	निधिः पुण्यनिधेरस्य	२२७
नवमे मास्यतोऽम्पणं	२४६	नाम्ना वज्रमयं दिव्यम्	२३५	निधीना सह रत्नानाम्	२२८
नवमे वज्रनाभीशो	५०८	नाम्ना विद्युत्प्रभे चास्य	२३४	निध्यानादंजयूथस्य	३२२
नवलोहितपूराम्बु	४०७	नाम्नैव कम्पितारातिः	३६३	निपतत्पुष्पवर्षेण	१३६
नवापि कुपितेभेन्द्र	४११	नाम्नैव लवणाम्भोधिः	९३	निपतश्चिर्हरारवौ	१३२
नवाम्बुकलुषा पूरा	२३२	नायकैः समन्येषु	११५	निपपे नालिकेराणाम्	८२
नवास्य निधय सिद्धा.	१३१	नालिकेरद्रुमेष्वासीत्	७४	निपेतुरमरस्त्रीणाम्	१०८
न विघ्न किञ्च खल्वत्र	२०२	नालिकेररसः पानम्	८३	निमीलयन्तञ्चक्षुषि-	४०१
न विपादो विघातव्य.	४८६	नालिकेरासर्वमत्ताः	८३	निमूर्च्छास्ते स्वदेहेऽपि	१३६
नद्यात् कर्ममल कुलस्मृ	३०५	नाशकं तदिहास्त्वयम्	४७२	नियुद्धमय मंगीर्यं	२०५
नष्टमष्टादशाम्भोधि-	३५१	नास्त्येषामोदशी शक्ति-	४१९	नियोज्य स्वानुजान् सवर्गान्	४३५
नष्टाधिमासदिनयो	२८४	नास्त्रे व्यापारितो हस्तो	३६	निरुत्तरश्चोत्कोच-	४४२
न स सामान्यसदेनै	१७२	नास्यासीत् स्त्रीकृता वाचा	२११	निरगलीकृतं द्वारम्	११५
न स्पृशामि कथं चाहम्	४८७	नास्वादि मदिरा स्वैरम्	१९०	निराकृत्यार्ककोत्थादीन्	३८१
न स्मरिष्यसि किम्	४६६	नाहं देहो मनो नास्मि	२५६	निरुद्धमूर्ध्वं गृध्रीवैः	४०७
न स्थूले न कुणो नर्तु	३६५	नाहं मुलोचनार्थस्मि	३९१	निरुध्यानन्तरीनादि-	४०५

निरोधमयोदोषपायाम्	४०१	नीलं श्यामा कृतरव-	५४	पञ्चवैज्यायन्नायासात्	२१२
निर्गुणान् गुणिनो मन्तुम्	३६१	नीलोत्पल्लेक्षणा रेजे	२	पट्टवन्धात् पर मत्वा	४५१
निर्गन्धाय नमो वीतरागाय	२९५	नूनं चक्रिण एवायम्	४८	पट्टाङ्गुलकुलादि-	२२७
निर्जरा कर्मणा येन	५०४	नून पुणं पुराणाञ्चे	३५५	पट्टाल्लेखो नाग्नेन	४५१
निजिताग्निभटैर्मन्या	१९२	नूतमपसरसा पश्यन्	२१	पठन् मुनोन्त्रसद्वर्म-	४७३
निजिताग्निनिर्घोष-	४०१	नृत्यगीतसुखालापे	४४१	पतत्पतङ्गसङ्काशम्	४२०
निर्दय परिस्मेषु	२२५	नृत्यस्त्वन्वपर्यन्त-	१६६	पतद्गङ्गाजलावर्त-	१२७
निर्दिष्टस्थानलाभस्य	२७३	नृप सिंहासनासीनम्	३६८	पतन्तं वार्षासगात्	१८७
निर्दिष्टा गुरुणा साक्षाद्	१६२	नृपतेर्मथुनो नाम्ना	४७३	पतन्युगखगान्वीतप्रियाभि	४०२
निर्दिष्टवृत्तिरव्यात्मम्	२१४	नृपवर जिनभर्तुः	१९३	पतन्यत्र पतङ्गोऽपि	९३
निर्मलत्वं तु तस्येष्टम्	३३९	नृपवल्लभिकाववत्र-	२७	पताकाकोटयोऽप्याष्ट-	२३६
निर्मितोऽस्य पुराणस्य	३५२	नृपस्ताम्बूलवल्लीनाम्	८३	पतिः पतिर्वा ताराणा	३५८
निर्मोक्तमिष कामाहेः	२२९	नृपाङ्गनामुखाब्जानि-	२७	पतिताग्निसिन्धितात्	४०३
निर्णीत हृदयाद् बाधो	३५३	नृपालवारपारीणान्	६९	पत्तनाना सहजानि	२२६
निर्णीपितास्ततो घण्टा-	३२३	नृपालाकर्पतो हूरान्	१८४	पत्रवत् प्रतापोग्रा	३९९
निर्वाणदीक्षयात्मानम्	२६६	नृपालेतान् विजित्यागु	६९	पत्रश्यामरथं प्रोच्यै	३८
निर्वाणसाधनं यत् स्यात्	२७१	नृपान् सौराष्ट्रकानुष्ट-	९१	पथि द्वे द्वे स्थिता तस्मिन्	११३
निर्विघ्नो पुरोरेनम्	३८९	नृपा भरतगृह्या ये	२०४	पथि प्रणमुरागत्य	३५
निर्व्यापितिराकाङ्क्षा	१६७	नृपासनमवाध्यास्य	३२६	पदं पर परिप्राप्तुम्	५०२
निर्मता निमग्नकारा	३४७	नृपैर्गङ्गाद्वारे	५८	पदैरेभिरय मन्त्रस्तद्विद्विभ	३०७
निर्विघ्नानिद चान्यत्	४५४	नृपोपायनवाजीभ-	१७६	पद्व्यामारोहृतोऽप्याग्निम्	१३३
निवेदितवती पृष्ठा	४९५	नृवरभरतराज्योऽपि	१९८	पद्मरागागुर्भिभिन्नम्	८५
निवेद्य कार्यविज्ञानम्	१५३	नेक्षे विष्वद्व्यं मृणोमि	५११	पद्मरागागुर्भिभिन्नै	१३३
निवेद्य सुप्रभायाश्च	३७१	नेत्रावलीमिवातन्वन्	२४	पद्महृदादिमवत-	१८८
निर्वोषपट्टेतिपूर्णेपु	४०४	नेन्दुपार्धवृत्ति लेभे	१९१	पद्मिन्यो स्नानपथास्या	१८८
निषेव्यभाषा विपया	४६३	नेम्यादिविजयं चैव	२९८	पलसानि मूढयन्त-	८३
निष्कण्टकमिति प्राप्य	२२२	नैकान्तगमनं साम	१८१	परदारभिलापस्य	३९०
निष्कपायाणि नाकस्य	५०४	नैगाजिनचरो ब्रह्मा	२८१	परप्रणामविमुखो	१६०
निष्क्रान्त इति सञ्चान्तै	६३	नोद्वेषातः कोऽयमभूवङ्गे	२९	परप्रणामसञ्जात-	१६०
निष्क्रान्तिपदमव्ये स्ताम्	३०७	न्यगृह्णात्तानि चास्यासन्	४८८	परमजिनपदानुव्रतधी	२८९
निष्कन्तकनच्छायम्	२२३	न्यग्रोषपादपाद्य स्थ-	४८१	परमद्विषट् चान्यत्	२९९
निष्कुरं जुम्भसंजमुष्मिन्	३८३	न्यपेवन्त वनोद्देवान्	१६७	परमपिम्ब इत्यस्मात्परम्	२९६
निष्कन्तव्यभूतमालोक्य	४०५	न्यायमार्गं प्रवर्त्यन्ते	४१०	परमादिगुणार्थेति	२९९
निष्कप्यपि वनेऽमुष्मिन्	५१	न्यायश्च द्वितयो दुष्ट-	२६३	परमादिपदान्नेत्र इत्यस्माच्च	२९९
निस्सपत्ना महीमेनाम्	११९	ष		परमार्थकृतं तेन	४७७
निस्सहायो निरालम्बो	४१३	पनववालिभुवो नम्र-	२	परमार्हताय स्वाहा	२९८
निस्तृष्टार्थतयाऽस्मासु	१८०	पङ्कजेषु विकीर्यन्ते	१९	परमार्हन्त्यपराधश्यामा	३०८
नोचैर्गतेन सुखवन्त-	७३	पञ्चवाणाननङ्गस्य	२३०	परमावबिमुल्लङ्घ्य	२१३
नीत्वा रात्रिं सुखं तथ	४३५	पञ्चमं स्वपदे सुनु	४६८	परस्मत्तमिहाद्रीन्द्रे	१२३
नीत्वा सोऽपि कुमारं तम्	४८९	पञ्चमुष्टिविधानेन	२७८	परस्परानुकूलास्ते	४७५
नीरा तीरस्थवानो-	८७	पञ्चमे भोगभूजोऽभूत्	५०८	राजोपहृता लक्ष्मी	१८३
नीरपोऽत्र स्वरूपेण	४६३	पञ्चहस्तस्त्वरोचचारण-	५	य	१६१

पराधर्मणिनिर्माण-	११२	पथ्य तादृश-एवात्र	३८९	पुसां संस्पृशमात्रेण	३९७
पराधर्म मानसं सैहम्	१४४	पथ्य देवसिरेरस्व	१३४	पुसां स्त्रीणां च चारित्र-	३२३
पराधर्मरत्ननिर्माणम्	१४५	पथ्य धूर्तरंहं मूढो	४५२	पुंसो हृतवतो दण्डम्	४७०
परावमानमलिनां भूतिम्	१८३	पथ्यन्नुपसमुद्रं तम्	३७	पुंस्कोकिलकलालाप-	२१
परिग्रहग्रहामुक्तो	४६५	पथ्यन् स्तम्भकारिस्तम्भान्	१७४	पुंस्कोकिलकलालाप-	२१६
परिचितयतिहृष्टो	५१४	पथ्य पुण्यस्य साहाय्यम्	३७६	पुण्डरीकातपत्रेण	२६
परिणतपरितापात् स्वेदधारी	४२३	पथ्याम्भोवे-नुतटमेपा	५४	पुण्यं जले स्थलमिवाम्भ-	६०
परित कायमानानि	२९	पह्रां विपमशहं	८७	पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजन-	६०
परित. सरसी. सरसै.	५४	पामुवूनररत्नीध-	३२२	पुण्यं पर शरणमापदि दुर्वि-	६०
परितस्त्वत्मभा देव	१४४	पाकसत्त्ववताकीर्णाम्	१६७	पुण्यं साधनमस्यैकम्	६५
परिनिष्क्रान्तिरेपा स्यात्	२६६	पाणिग्रहणदीप्तायाम्	२५१	पुण्यकल्पतरोरारसन्	२३७
परिभूतिद्विधा सात्र	३८१	पाण्डवान् प्रचण्डदीर्घ-	७०	पुण्याच्चक्रधरश्रिय विजयिनी-	९५
परिवेपोपरक्तस्य	३२३	पादातकृतसंवाचात्	१३१	पुण्यादयं भरतचक्रधरो-	६०
परिवेष्टय निर्दयन्त	२०१	पादैरय जलनिधिः	५२	पुण्यादित्ययमादिमा-	१३०
परिसिन्धुदीप्तोत्त.	११३	पापः स सद्वृत्तैर्मृत्वा	३६०	पुण्याद् विना कुतस्तादृग्	१३७
परिहायं यथा देव	३१४	पापयोगी परप्रेयो	४१३	पुण्याथये क्वचित् सिद्धः	२५१
परीतजातरूपोच्च-	४४०	पापसूत्रधरा धूर्ताः	३२१	पुण्याहवोषणापूर्वं कुर्याद्	३०६
परीत्य स्तोत्रुमारभे	४८३	पापसूत्रानुगा यूयम्	२८०	पुण्यै. सिन्धुजलेरेनम्	११९
परीपहजयादस्य	२१२	पापान्येतानि कर्माणि	४७१	पुण्योदयाक्षिपति	१५०
परीपहजयैर्दीप्तो	२१३	पापिनाऽगनिवेगेन	४८२	पुण्योदयेन मकराकर-	६०
परीपहमलाभं च	२११	पारमात्म्ये पदे पूज्यो	३६३	पुत्रवन्धुपदातीनाम्	४२६
पर्यु. कान्तया सार्धं	४६२	पारां पारैर्जलं कूजत्	८७	पुत्रलाभाय तच्चित्तम्	४५२
पर्यन्ति तदेवस्य	१२२	पारावतभवे चाप्यधर्मम्	४६१	पुत्र्यश्च संविभागार्ह.	२५३
पर्यन्तेऽस्य ततोद्देशा	१२३	पारिवर्ज्यं परिव्राजो	२८३	पुत्र्या गेहं गतस्याङ्ग-	४७०
पर्यप्यञ्जीत पुरैवेताम्	४१८	पार्थिवस्यैकराष्ट्रस्य	६५	पुन. प्रियां जय प्राह	४६२
पर्याप्तमात्र एवायम्	२५७	पार्थिवान् प्रणतान् यूयम्	२६३	पुनरव्यास्य हृज्जगम्	३७९
पर्याप्तमेतदेवाय	१३४	पार्थिवैर्दण्डनीयाश्च	२८१	पुनरेकाकिन. सिंह-	३२२
पर्वतोद्गमालुढो	१३१	पालयेदनुहपेण दण्डनेव	३४३	पुनविवाहसंस्कारः	२७४
पर्वपवासासाधाय	३२५	पालयेद्य इमं धर्मम्	२६३	पुनस्तत्रागता दृष्टा	४६७
पलायमानो पापार्ण.	३६०	पिताहं भवदेवस्य	४६१	पुनातीयं हिमाद्रिं च	१८
पत्यङ्गेन निपण्णास्ते	१६७	पितुः पदमधिष्ठाय	३५९	पुरः पादातमस्त्रीयम्	९
पवनस्य जयन् वंगम्	२३६	पितुरन्वयगुडिर्या	२७७	पुरः प्रतस्ये दण्डेन	६२
पवनायूतगान्नाश-	७१	पित्रो पुरी प्रवृत्त. सन्	४५४	पुरः प्रचावित् प्रेङ्ख-	२८
पवनाधोरणाह्ला	६	पिनद्धतोरणामुच्चै.	९७	पुर प्रयातमञ्जीवै.	८१
पशुहृत्यासमारम्भात्	२८१	पीठिकामन्त्र एष स्यात्	२९३	पुरमोपुत्सुलङ्घ्य	१७५
पशून् विष्टुङ्गान् मत्वाञ्चान्	४०३	पीतं पुरा गजतया सलिलं	७७	पुरवो मोक्षमार्गस्य	४२९
पञ्चाजम्बूलमूलाञ्जानि	३८१	पीतं वनद्विपै पूर्वम्	७४	पुरस्कृत्येह तामेताम्	४३०
पदचात् कोऽपि ग्रह	४२८	पीताम्बु राम्बुदस्यद्वि	७४	पुरस्तीर्थकृतां पूर्व-	३५६
पदचात् सर्वाङ्गिरीच्छेया	३८१	पीताम्भनो मदासारैः	७४	पुरस्सरपमात्रेण	३८९
पदचाद् विपविपाकिन्य	४५०	पीत्वाऽग्नौ धर्मयीयुषम्	३१९	पुरस्सरेपु निश्चोप-	२६५
पदिचमार्गेन विन्ध्याद्रिम्	९१	पीत्वाऽम्भो व्यपगमितान्-	७७	पुराङ्गनाथिरुमुक्त	९
पथ्य कृत्रिममूर्च्छात्त-	४४७	पीनस्तनतटोत्सङ्ग-	१७५	पुराण तस्य मे ब्रूहि	३५७

पराण धर्मशास्त्र च	२७१	प्रकृतित्येन रूपेण	३३७	प्रतीपवृत्तयः कामम्	१७२
पराण मार्गमासाद्य	३५५	प्रकृष्टो यो गुणैरेभि	२७०	प्रतीपवृत्तिमादर्शे	६३
पराणस्यास्य ससिद्धि-	३५५	प्रकालितेव लज्जाप्राप्तु	४३२	प्रतीयायामन्तरे छिन्दन्	४१९
पराणे प्रोद्भास्यार्थे	३५२	प्रक्षेपिततरथ विक्ष्वग्	१०४	प्रत्यक्षो गुरुरस्माकम्	१५९
पुराद् गज समाल्लु	४३७	प्रगुणस्थानसोपानाम्	११२	प्रत्यग्रसमरारम्भ-	२०१
पुरुषार्थंयं पुमिन्-	३९०	प्रगुणामुष्टिसवाह्या	३९८	प्रत्यग्रा किसलयनीगृहाण	७८
पुरोव्वलत्समुत्सर्पच्छर-	४०४	प्रचचाल बलं विष्वग्	८	प्रत्यनीककृतानेक-	१८६
पुरोयाम शर रत्न-	५०	प्रचण्डदण्डनिघाति-	१७९	प्रत्यापणमसौ तव	३०
पुरोधोमध्यमात्मानाम्	२५८	प्रचण्डचण्डवेगाख्यो	२३५	प्रत्यायातमहावात-	४१९
पुरोपाजितपुण्यस्य	३६३	प्रचण्डा बज्रतुण्डाख्या	२३४	प्रत्येत्येव प्रपण्यन्तीम्	४४०
पुरोपाजितसद्धर्मत्	३७५	प्रचलद्बलसंक्षोभाद्	८१	प्रत्येय ओष्ठिना प्रोक्ता	४९६
पुरो बहि पुरः पश्चात्	९	प्रचेलु सर्वसामग्र्या	१०४	प्रथमं सत्यजाताय नम	२९५
पुरो भागानिवायेतुम्	९६	प्रजा करभराक्रान्ता	६४	प्रथमं सत्यजाताय स्वाहा	२९६
पुरोहितसखस्तत्र	११९	प्रजाना पालनार्थं च	२६४	प्रथमोऽस्य परिक्षोपो	१४५
पुरोहितं पुरुषोभि	४४०	प्रजाना सदसद्वृत्तचिन्तनै	३२६	प्रदानार्हत्वनस्येष्टम्	३१२
पुल्लवकन्यकासैन्य-	३७	प्रजानुपालन प्रोक्तम्	३४८	प्रदाय परिवारं च	४४१
पुष्कराद्वैजये भागे	४९४	प्रजापतिः सर्वसन्धो	३५७	प्रदीपः स्वकुलस्यायम्	३८२
पुष्करावर्त्यभिरु च	२३३	प्रजापालतनूजाम्याम्	४५३	प्रदुष्टान् भोगिन काञ्चिद्	६३
पुष्करं पुष्करोदस्तं	२१५	प्रजासामान्यतैवेपाम्	३४६	प्रदिपन् परपापण्डी	३३२
पुष्टो मौलेन तन्त्रेण	३४३	प्रजा परिपह प्राप्नो	२११	प्रनृत्या प्रभूतानाम्	३२२
पुण्यचूतवनोद्गमिन्	२३१	प्रज्वलन्तं जयन्त वा	४०४	प्रपन्नलालिकेरीशस्य-	७३
पुष्टमार्तवमाप्तान	३७२	प्रणतानमृगग्राह	६५	प्रफुल्लवनमानीकम्	१३८
पुण्यमर्द्धसुरीमि	१९२	प्रणमचरणवेत्य	१७७	प्रबुद्धपद्मसोम्मास्या	२२८
पुण्यावचमसक्त-	५०१	प्रणम्य वनपालाय	४८०	प्रबोधजन्मभणादास्यम्	९८
पुणोपहारिभूभागा-	३७५	प्रणम्य प्रश्रयश्चेति	१८२	प्रमग्नचरण किञ्चिद्	३४३
पुष्कुर स्फुरदस्त्रोवा-	२०१	प्रणिधाय मनोवृत्तिम्	२५६	प्रभातमस्तोद्धूतप्रबुद्ध-	३२६
पुनराधावधया कृपाता	२७३	प्रणिपत्य विधानेन	१५९	प्रभावती च तन्मात्रा	४६५
पूर्वं वमिवेगे ली	४५८	प्रतापी भुवनस्यैकम्	७	प्रभावतीचरी देवी	४४९
पूर्वं विहितसधाना	३९८	प्रतिकर्षं सुरस्त्रीणा	३१८	प्रभावतीति समुह	४४७
पूर्वमेव समालोच्य	३८६	प्रतिकेतनमुद्बद्ध-	४९०	प्रभावत्या च पृष्टोऽनी	४६१
पूर्ववत् पश्चिमे क्षण्डे	११५	प्रतिग्रहापसारादि-	३८	प्रभा समजयत्तव	९४
पूर्वोक्तापिङ्गलावस्थ	४७७	प्रतिध्वनितदिग्गति-	३९२	प्रभुणाऽनुमत्तवायम्	१०५
पुण्यं पुण्यं प्रदायाति	४३९	प्रतिव्वस्तानि पापानि	४२५	प्रभोरवसरः सार्व-	१०३
पुण्यं पुण्यमि शब्दा	२९२	प्रतिप्रयाणमस्येत्य	६५	प्रभोरिवागमात्पृष्ट-	९७
पुण्योस्तमवष्टभ्य	४७४	प्रतिप्रयाणमानप्रा-	१२८	प्रमत्तादिगुणस्थान-	५०५
पुण्यशस्तो सुज्ञ-	१७६	प्रतिप्रयाणमित्यस्य	९२	प्रमदाख्य वनं प्राप्य	४८०
पीपयत्यित्यलेन	३४५	प्रतियोद्धुमशक्ततास्तम्	३५	प्रमाणकालभावेन्यो	४८८
पीपयति महोपाला-	१८६	प्रतिराष्ट्रमुपानोत-	३६	प्रमाद्यन् द्विरद कञ्चिद्	७५
पीराः प्रकृतिमुपारब्ध	२६२	प्रतिवादसमुद्बद्धत-	४०६	प्रमेयत्व परिच्छिन्न-	३३८
पीरैर्नरैरत स्वैपु	३२४	प्रतिशय्यानिपातेन	१५६	प्रमोदान् नृप्रभादेनान्	३३६
प्रकाममधुरानित्यम्	२२५	प्रतीची येन जायेद्भृम्	४१४	प्रयत्नेनाभिरह्यं स्यात्	३०१
प्रकोणकचलद्वीनि	१३१	प्रतीच्यापि युतश्चन्द्रो	४१८	प्रययी निकृपान्मोघिम्	६२



प्रयाणभेरीनि स्वानः ६२  
 प्रयात धावतापेत- २८  
 प्रयान्तमनुजगमुस्तं १३२  
 प्रयायानुवनं किचिद् ९९  
 प्रयुक्तानुनय भूयो २०६  
 प्रयोज्याभिमुखं तीक्ष्णान् ३९८  
 प्ररुद्धशुष्कनाथेन्दु- ३८७  
 प्ररुपयिष्यते किचिद् ४६९  
 प्रवालपत्रपुष्पादे २४१  
 प्रविभक्तचतुर्द्वारम् ११७  
 प्रविशद्भिन्नच निर्यद्भिः ३१  
 प्रविश्य भवनं कान्त्या ४८७  
 प्रविष्टमात्र एवास्मिन् १०८  
 प्रवीरा राजगुह्यवान् १०३  
 प्रवृत्तेय कृति कृत्वा ३५४  
 प्रवृद्धनिजचेतोभि ३५८  
 प्रवृद्धप्रावृद्धारम्भ- ४१०  
 प्रवृद्धवयसो रेजु ६  
 प्रवेद्य पापवी राजसमीपम् ४७४  
 प्रवेष्टुमिजनीपत्र- ७४  
 प्रव्रज्य बहुभिः सार्द्धम् ४४३  
 प्रशस्ततिथिनक्षत्र- २८३  
 प्रशान्तधी समुत्पन्न- २६५  
 प्रशान्तमत्सरा शान्ता १५६  
 प्रवन्ध्याकरणात् प्रवन्म १६३  
 प्रसन्नमभवत्तौयम् १  
 प्रसन्नया दुर्धैवास्य ६६  
 प्रसन्नवदनेन्दुचदाल्लादि- ४३६  
 प्रसन्नसलिला रेजु २  
 प्रसह्य च तथाभूतान् ३४५  
 प्रसह्य तमसा खडौ १८९  
 प्रसह्य पातयन् भूमौ २०७  
 प्रसादा विविधास्तत्र १३९  
 प्रसाधितदिशो यस्य १२६  
 प्रसाधितानि दुर्गाणि ११६  
 प्रसाध्य दक्षिणामाशाम् ८४  
 प्रसारितसरिज्जिह्वो ८७  
 प्रसुप्तवन्त तं तत्र ४८९  
 प्रस्थानभर्यो गम्भीर- ७  
 प्रस्फुरच्छस्त्रसघात- ४०७  
 प्रस्फुरद्भिः फलोपेतैः ४००  
 प्रहारकर्कशो दृष्ट- १९३

प्राकृतोऽपि न सोढव्य २८६  
 प्राक् केन हेतुना यूयम् २४१  
 प्राक् पीतमम्बु सरसा ७७  
 प्राक् समन्वितमन्त्रेण ३९१  
 प्राक् समुच्चितदुष्कर्मा ३६३  
 प्राक् स्वीया जलदा जाता ६  
 प्रागक्षिणोचरः संप्रत्येप ५१२  
 प्रागत्र सत्यजाताय स्वाहा २९८  
 प्रागभावितमेवाहम् ३४२  
 प्रागुक्तकरवालेषा ४९१  
 प्रागुक्तवर्णनं चास्य २३६  
 प्राग्दिह्मुल्लस्तुतीयेन ५०७  
 प्राग्देहाकारभूतित्वम् ३४०  
 प्राग्गणितमथानन्दम् ३०५  
 प्राग्मुखं सर्वतोभद्रम् ३७१  
 प्राची दिशमथो जेतुम् ३३  
 प्राच्यानाजलधरेपाच्य- ९५  
 प्राच्यानिव स भूपालान् ९२  
 प्राणा इव वनादस्माद् २३  
 प्रातस्तथाय धर्मस्थैः ३२६  
 प्रातरुचान्तमुद्धृत- ३२६  
 प्रातरुन्मीलितक्षत्र सन् ३२६  
 प्रातस्तारामथानीय ३४६  
 प्रातस्तारमथोत्थाय १९४  
 प्रातिकूल्यं तवास्मात् ४२६  
 प्रातिहार्यमयी भूति १४५  
 प्रातिहार्यमयी भूतिः ३३४  
 प्रातिहार्याष्टकं दिव्यम् २६७  
 प्रातिहार्याष्टकोद्दिष्ट- ५०४  
 प्रादात् प्रागेव सर्वस्वम् ४३४  
 प्रादुर्भवति नि शेष- २६६  
 प्राध्वकृत्य गले रत्न- ३८३  
 प्रान्ते ततोऽहमागत्य ४९४  
 प्रान्ते स्वर्गादिहागत्य ४९८  
 प्रापयुद्धोत्सुक सार्द्धम्- ४०७  
 प्रापितोऽप्यसकृद्दुःखम् ४६३  
 प्राप्तातीन्द्रियसौन्दर्यो ३३७  
 प्राप्तीक्ष्णं तदस्य स्यात् २८७  
 प्राप्तीषधर्द्धस्यासीत् २१४  
 प्राप्य संयमरूपेण ४६८  
 प्राप्तात्तानककोटीनाम् ४१८  
 प्रायश्चित्तविधानञ्च २७६

प्रायो व्याख्यात एवास्य १७३  
 प्राविशद् बहुभिः सार्द्धम् ४३८  
 प्राशनेऽपि तथा मन्त्रम् ३०७  
 प्राशंसत् सा तयोस्तादृङ् ५०२  
 प्रासान् प्रस्फुरतस्तोक्षान् ४०२  
 प्रादुर्भूतमुखं खेटम् २३५  
 प्रादुर्भूतगुणानेतान् २१२  
 प्रियदत्तापि त गत्वा वन्दित्वा ४६६  
 प्रियदत्ताह्वया तस्या ४४९  
 प्रियदत्तेऽङ्गितजैतवदगत्यान्- ४५३  
 प्रियदुहितरमेना नाय- ३८५  
 प्रियसेन समह्वय ४४९  
 प्रियोद्भवः प्रसूतायाम् २४६  
 प्रियोद्भवे च मन्त्रोऽयम् ३०४  
 प्रीतावचाभिप्टुवत्येनम् २६२  
 प्रीतिमप्रीतिमादेयम् ३६०  
 प्रेम न कृत्रिम नैतत् ४१५  
 प्रेयसीय तवैवास्तु २०८  
 प्रेषिता काञ्चना नाम ५०१  
 प्रोक्ता पूजार्हतामिष्या- २४२  
 प्रोक्तास्त्विन्द्रोपपादा २५८  
 प्रोक्तोपेक्षादिभेदे ५०५  
 प्रोत्खातासिलता विलुप्त ४०७

फ

फणमात्रोद्गता रम्भात् २१६  
 फलानतान् स्वम्भकरीन् १२  
 फलाय त्वद्गता भवित १४२  
 फलेन योजितास्तीक्ष्णा ८१  
 फेनोभिहिमसंख्याभ- १६५

ब

बद्धभ्रुकुटिरुद्भ्रान्त- २०५  
 बद्धवैरो निहन्ता भूः ४७६  
 बद्धाय च तृणाद्यस्मै ३५३  
 बन्ध सर्वोऽपि स बन्धो ४६३  
 बन्धवं स्पृर्नपा सर्वे ३६९  
 बन्धवचतुर्विधो ज्ञेय ५०५  
 बन्धुजीवेण विन्यस्त- ४  
 बन्धुभृत्यकथाद् भूय ३९०  
 बन्धुवैरिन्द्रोपपत्नी- ३  
 बन्धुर्नभोऽम्बुधौ तारा ४

वभुर्मुकुटवद्वास्ते	२०१	विभक्ति य पुमान् प्राणान्	४७	भवेत्कर्ममलावेगाद्	३३८
वभ्रे हारलता कण्ठलग्नम्	२२९	विभक्ति हिमवानेनाम्	१९	भवेदन्यत्र कामस्य	३७३
वलक्षोभादिभो नियन्	९८	विभक्त्य जननिर्वादाद्	१५८	भवेद् दैवानपि स्वामित्य-	४२६
वलद्वयास्त्रसंघट्ट-	४०५	बुद्धिमास्त्व तर्वाहार्य-	४१०	भवेद्युस्तदहीषा	२२६
वलद्वान् गुहारत्त्रे	१०४	बुद्धिसागरनामास्य	२३५	भवेदस्मिन्नेव भव्योऽयम्	३६२
वलद्रेणुमिराखे	११	बुद्धयैव बद्धपत्यङ्का	४०८	भवज्यापि भवोऽभवद्	५१२
त्वाननुवर्त्यश्चेद्	४९	ब्रह्मचर्य च धर्मस्य	२१४	भव्यात्मा समवाप्य जातिम-	२८९
वलवान् कुरराजोऽपि	११८	ब्रह्मचारी गृहस्थश्च	२८३	भागी भवपदं ज्ञेयम्	३०८
वलवान् भूमवेगास्त्रः	४८६	ब्रह्मणोऽपत्यमित्येवम्	२८१	भागी भवपद वाच्यम्	३०४
वलवाभ्याभियोक्तव्यो	११६	ब्राह्मणा व्रतस्काराद्	२४३	भागीभवपदान्तश्च	३०४
वल विभज्य भूभागो	३९६	ब्रुवन् स कल्पना दुष्टमिति	४०६	भागीभवपदोपेत	३०७
वलम्यसनमाशङ्क्य-	११४	ब्रुवाणानिति साल्पयम्	१६१	भागीभवपदोपेत	३०२
वलादशनिवेगेन	४८१	ब्रुवाणैरिति सहस्रग्राम-	१८६	भाजन वक्ष्यमन्मूर्धमदत्त-	४४९
वलादुद्धरणीयो-हि	१५३	ब्रूत यूय महाप्रज्ञा	२६९	भाति तस्या पुरो भागा	३६६
वलानि प्रविभक्तानि	२००	ब्रूयाच्च जेमिनायाय स्वाहा	२९७	भाति य गिन्नरैस्तुङ्ग-	८८
वलान्तभद्रो गन्धी च	३५७	ब्रूहि तत्प्रापणोपायमिति	४८५	भाया सागरदत्तस्य	४९५
वलिनामपि सन्त्येद	४८	अ		भावनव्यन्तरव्योति	१४०
वलिनोर्मुषयोर्मध्यं	३८२	भक्त्या प्रणमतस्तस्य	३१९	भावयन्ती मृताऽत्र यम्	४१९
वर्ल प्रसह्य निर्भुक्ता	८१	भक्त्यापिता स्रजम्	१४९	भास्वरभाप्रमरणप्रतिबुद्ध-	३८४
वर्लार्कषपरोक्षेयम्	२०३	भक्षाश्चासुतगभक्षिण	२३६	भास्वत्सूर्यप्रभ तस्य	२६४
वर्लोपभुक्तानि-शिव-	९०	भक्ष्यमाणान् कपोतादीं	४५६	भिषा नियतवेलागम्	१६८
वर्लिया स्फोटितैपिचत्रै	२०५	भगवत्स्वदगुणस्तोत्रात्	१४९	भिषज्ज्वे कर्तृ स्फुटवा	१९०
वह्नोऽप्यस्य लम्भा-	४८१	भगवद्दिव्यवागर्थ-	३२०	भिन्नो युवतो मृदुस्तव्यौ	३६५
वहि कलकलं श्रुत्वा	११८	भगवानभिनिष्क्रान्त	२६६	भीकरा किङ्कराकारा	४१०
वहिः पुरमयासाद्य	१७४	भङ्गिता किम् राज्येन	१६१	भीतभीता युवोऽन्यैश्च	४०६
वहिः समुद्रमृद्विक्तम्	३७	भङ्गुर सङ्गम सर्वोऽपि	४६२	भुक्तमात्मभरित्वेन	४३३
वहिरन्तर्मलापायाद्	३४०	भटा हस्त्युरर भेजु-	२०१	भुक्तो भोगो दणाङ्गोऽपि	४९९
वह्निनिवेदामिरयादीन्	३०	भटैर्लङ्कितैर्केचिद्	१०४	भुक्त्वापि सुचिर कालम्	१६१
वह्निर्गण्डमेवासीत्	१५४	भरतविजयलक्ष्मी-	११९	भुजङ्गप्रयातैरिद वारिरादी	५४
वह्निन ततो द्वित्रैः	२४७	भरतस्यादिराजस्य	१०८	भुजवत्यादयोऽप्येव	४१९
वह्निभूतिरित्युच्यैः	१४६	भरतेन समस्यर्क्य	५०४	भुजोपरोचमृदुवृत्त	२०५
वह्निस्तद्वन्नादेतन्	२३	भरतेन किलान्नापि	२०५	भुज्यते य स भोग म्याः	४४३
वह्नापि न दत्तेन	३४४	भरतो भारत वर्ष	२४०	भुनक्तु नृपगाहू लो	१६१
वह्नापासनाकीर्णम्	२५	भरतोऽभिरतो धर्मे	३२५	भूतार्थम्भवन्तु तत्तमम्	४५६
वह्नापायमिद राज्यम्	३४१	भर्तृमायाभिसम्बन्धम्	४६१	भूत्वा वृचविनाशेनो	४८७
वाध्यत्वं ताडनानिष्टवचन-	३३८	भवतु सुहृदा मृत्यो लोक	५१०	भूयोऽप्यनुन परस्पर	१८३
वाल समर्पयामास	४९६	भवत्कुलाचलस्योभौ	३८९	भूयोऽप्येव बन्नी मन्त्रिन्	३५३
वालानिव छलादस्मान्	१८२	भवदेवचरणानुवद्वारेण	४५८	भूयोऽप्येवमुपायमम्	३८५
वालास्ते बालभावेन	१५७	भवदेवेन निर्दग्ध्यम्	४५७	भूभृता पतिमुत्तमम्	८३
वाप्य एव ततोऽप्यस्येत्	३१२	भवदभिर्भावितेष्वयम्	४२४	भूमिर्नैनिष्टर सिन्धो	८०१
वात्याद् प्रभृति या विद्या	३१२	भवद्वन्धनमुक्तस्य	२८८	भूय परमाग्रासि-	३०८
वाह तस्या जितानङ्गपाशौ	२२९	भवेच्च न तप कामो	३२७	भूय प्रोक्तानि तौ रवे	१८३

भूयस्तदलमालय	१८५	मदलुतिमिवाबद्ध-	८७	मन्त्रोऽवतारकल्याणभागी-	३०२
भूयो ब्रह्मयमश्रस्ति	१०१	मदीयराज्यमाक्रान्त-	१७९	मन्थरज्जुसमाकृष्टः	३६
भूयोऽपि सप्रवक्ष्यामि	२८०	मद्गृहाङ्गणवेदीयम्	३९	मन्थाकर्षश्रमोद्भूत-	३६
भूयो भूयः प्रणम्येशम्	३२३	मद्दृष्टपूर्वजन्मानि	४७१	मन्थारवानुसारेण	३६
भूरणवस्तदाश्वय-	२०२	मद्यस्यः कुसुमस्लान-	३८७	मन्दं पयोमुचा मार्गे	२१८
भृङ्गीसङ्गीतसम्मूर्च्छन्	१३८	मधु द्विगुणितस्वादु-	४१५	मन्दमन्दं प्रकृत्यैव	४०६
भेजे ण्डकृतुजानिष्टान्	२२८	मधुमासपरित्यागः	२५०	मन्दराभिषेककल्याण-	३०३
भेद स चक्रवर्तीति	४८१	मधौ मधुमदारवतलोचनाम्	२३१	मन्दराभिषेकनिष्क्रान्ति-	३०७
भेयं प्रस्थानशसिन्यौ	१३१	मध्यस्थवृत्तिरेवं यः	३४८	मन्दरेन्द्राभिषेकश्च	२४४
भो भोः सुधासना यूयम्	२५८	मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रम्	२७	मन्दरेन्द्राभिषेकोऽथै	२६०
भोक्तृसूच्यं नभोगाङ्गम्	३७६	मध्ये वक्षुरधीराक्ष्या	२२९	मन्दसाना मव भेजुः	२
भोगक्षत्राव्रतादेवम्	२५०	मध्ये तस्य स्फुरद्बल-	४३५	मन्दाकिनीतरङ्गोदय-	२०
भोगास्तृणानि सवृद्धयै	४४३	मध्ये महाकुलीनेषु	३८९	मन्दातपस्वरच्छाये	१८६
भोगिनी भोगवद् भोगा-	४६३	मध्ये महीभृता तेषाम्	२०४	मन्दारकुसुमामोद-	२६२
भोगोपभोगयोर्गोद-	२०७	मध्ये रत्नद्वयस्यास्य	११७	मन्दारकुसुमोद्गमि-	१३७
भोगोऽयं भोगिनी भोगी	४४३	मध्ये विन्ध्यमथैक्षिष्ट-	९०	मन्दारवनवीथीनाम्	२१
भोग्येष्वर्णवनीसुक्य-	३३९	मध्येवेदि जिनेन्द्रार्चा-	२९०	मन्दाररत्नजमलानिम्	२५९
भ्रमरप्येकाकिनी लोकात्	१०६	मध्ये सभमथान्येष्टुः	३३१	मन्ये पत्राणि गात्राणि	२२४
भ्रमरश्च कुटीरान्न-	१७५	मनः पर्ययज्ञानमप्यस्य	५१२	समाभिधीक्षितुं तत्र	४८५
भ्रातरोऽमी तवाजय्या-	१५४	मनसि मनसिजस्यावापि	४४४	मया तु चरितो धर्मः	२७५
भ्रातृभाण्डकृतमर्प-	१५६	मनुश्चक्रभृतामाद्यः	२२२	मया निवारितोऽप्याया	४१६
भ्रूलोपयन्त्रपाषाणैः	२२५	मनुष्यजातिरेकैः	२४३	मया सुष्टा द्विजन्मान-	३१९
भ्रूमङ्गैर्न विना भङ्गः	२०३	मनोऽगारे महत्त्वस्य	२१३	मयि स्वसातृकृते देव	१०६
म		मनोजशरपुङ्गवज्जैः	१९	मयैव विहिताः सम्यक्	४२९
मर्णि मत्वा प्रविश्यान्तर्गु	४५१	मनोभवनिवेशस्य	२१	मयापनयनेऽग्राहि	४८३
मणिकुण्डलभारेण	३७५	मनोभुवोऽतिवृद्धस्य	२२४	मखान्बोलितोदग्र-	१३२
मणिपीठे समास्थाप्य	४३८	मनोरथस्य पुत्राय	४६२	मखुद्भूतशाखाग्र-	७१
मणिमुक्ताफलप्रोत-	४३५	मनोवेगोऽशनिवरः	४९३	मलयानिलमाक्षेष्टुम्	३७२
मणिर्न जलमध्येऽस्ति	४५२	मनोव्याक्षेपरक्षायम्	३४२	मलयोपास्तकान्तारे	८४
मणिश्चूडामणिर्नाम	२३५	मनोहाराख्यविषये	५०१	मलिनाचरिता ह्येते	२८२
मण्डलाग्रसमुत्सृष्ट-	४०४	मन्त्रः परमराजादिर्मतोऽयं	२९८	मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्ट-	२८५
मत संसारि दुष्टान्त-	३३८	मन्त्रमेदभयाद् गृहम्	१७४	मल्लिकाविततामोदै	२२
मतिज्ञानसमुत्कर्षात्	२१३	मन्त्रमूर्तीन् समाधाय	४३८	महद्भिरपि कलोलैः	४५
मतिर्न केवल सूते	३५४	मन्त्रानिमान् यथायोगम्	३१५	महाशस्य तपोयोग-	२१६
मतिश्चुतिभ्या निक्षेपम्	२१३	मन्त्रास्त एव धर्मा स्युः	२७१	महाकल्याणकं नाम	२३६
मत्स्यद्वयवारिदाराशि-	३८७	मन्त्रिणस्तस्य भूतार्थं	४५५	महाजवजुषो वक्त्राद्	२७
मत्वा नीत्वा द्विज	४८३	मन्त्री च फलमत्यारब्धो	४५०	महातपोधनायार्चा	२४२
मत्वाऽतो गत्वरी लक्ष्मीम्	१२६	मन्त्री प्राग्भोगभुजो-	५०९	महादानमथो दत्त्वा	२६५
मत्वेति तनुमाहारन्	३४१	मन्त्रेणानेन शिष्यस्य	३१०	महाद्विरयमुत्सृङ्ग-	१३४
मदनज्वरतापार्ता	२३१	मन्त्रेणानेन सम्मन्त्र्य	३०५	महाध्वरपतिर्देवो	१७०
मदनानलसन्तप्त इति	४७४	मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य	२९१	महान्गजघटावन्वो	२००
		मन्त्रोभोदक्रियाया च	३०३	महान्ति गिरिदुर्गाणि	६९

महापगामित्वाभि	१२३	मानस्तम्भस्य पर्यन्ते	१३७	मूक. श्रेय पुरे वात	४९१
महापगारयस्येव	६३	मा नाम प्रणति यस्य	१७८	मूर्च्छित प्रेमसद्भावत्	४३७
महाबलिनि निक्षिप्त-	२०९	मामजैषोत् सखासी मे	४६७	मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या	२८५
महाबाहुस्तद्वचाभूद्	५०९	मामक्षिष्य कन्येयम्	३८७	मूर्धाभिषिक्तं प्राप्त-	२२१
महाविहारीद्रसद्व्याम-	२०७	मायया नास्मि शान्तेति	४६६	मूर्ध्नि पद्यहृदोऽस्यास्ति	१२३
महाभियेकसामय्या-	२६१	मायारूपद्वय विद्याप्रभावात्	४८६	मूलस्कन्धाग्रमध्येपु	३७२
महाभोगैर्नृपैः कैश्चिद्	६३	मार्गजं स्थितमुद्वृष्य	४८१	मूलोत्तरगुणेष्वन्त-	३२२
महामाना वपुर्मन्तो	१६१	मार्गविभ्रंशहेतुत्वाद्	४९९	मृगाङ्गस्य कलङ्कोऽयम्	३६८
महामहसह कृत्वा	२४०	मार्गाभिचरन्तान् येऽन	४३०	मृगैः प्रविष्टैश्चान्तैः	१३५
महामहसपूजाम्	५०७	मार्गे प्रगुणसंचारा.	३९९	मृगैर्मृगैरिवापातमात्रभनैः	४०८
महामुकुटबद्धानाम्	३३	मार्गे बहुविधान् देशान्	३५	मृणालैरङ्गमावेष्टय	२६
महामुकुटबद्धानाम्	२०१	माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत्	३३२	मृणालैरधिदन्ताग्रम्	७५
महामुकुटबद्धास्तम्	८	मित्रयज्ञ स्वयंभूश्च	३५७	मृदवस्तनव स्निग्धा	३६६
महामुकुटबद्धश्च	२४२	मित्र्यात्वं पञ्चवधा साष्ट-	५०५	मृण्मता च तदस्माभिः	२०९
महाव्रत भवेत् कृत्स्न-	२६९	मित्र्यात्वमन्नताचार	५०४	मेखलाया तृतीयस्याम्	१४०
महाह्रिस्तिकवित्सार-	४०७	मित्र्यामदोद्धत. कोऽपि	१५५	मेखलाया द्वितीयस्याम्	३१९
महाहिरण्यमायामम्	२३	मुकुले वा मुखे चक्रे	४३२	मेघप्रभश्च चण्डासिप्रभा-	३९५
महिम्ना धामिन शान्तम्	२१६	मुक्तसिंहप्रणादेन	११९	मेघप्रभमुकेत्वादि	४२८
महिम्नाऽस्य तपोवीर्य-	२१६	मुक्तस्तु न तया किन्तु	३३५	मेघप्रभो जयादेवाद्	४१०
महो व्योमशागो सूर्य	३८८	मुक्तात्मना भवेद् भाव	३३९	मेघस्वरो भीमसूज-	३७०
महोद्योनेति सप्रोक्ता	५०१	मुक्ताफलाच्छमापाय-	१६०	मेघात्पकारितक्षेप-	१६४
महेन्द्राग्नी समक्रामन्	७०	मुक्तेतरात्मनोर्व्यक्त्ये	३३७	मेघा सत्त्वजवोपेता	२७
महोत्तङ्गानुदग्राङ्गान्	८६	मुक्त्वा कुमारभक्त्ये	४९२	मैथुनस्य च सस्मृत्य	४९७
महापवासम्भानाङ्गा	१६९	मुखं रत्निमुखागार-	२२४	मैथुनाय नृप- कुञ्जा	४७३
मा निवार्यं सहायान्तीम्	४१६	मुखमुद्भूतं तनूदर्या	२२९	मोक्षो गुणनयो नित्यो	३६१
मा स्वकार्यं स्मरेत्युक्त्वा	३६२	मुखैरर्ज्यकारेण	११०	मोहापार्श्वं समुच्छिद्य	४९४
मागधामितमेवास्य	६६	मुखेन चन्द्रकान्तेन	१७६	मीनाभ्ययनवृत्तत्वम्	२४४
मा मा मागधवैचिताम्	४९	मुखेन पङ्कजच्छायाम्	१७६	म्लापयन् स्वाङ्गसीन्दर्यम्	२८५
माघकृष्णचतुर्दश्याम्	५०७	मुखैरनिष्टवाग्बद्धि-	१७२	म्लेच्छखण्डमखण्डान्	१०८
माता पिताऽपि या यश्च	४५९	मुख्यमाना गुहा सैन्यैः	१२९	म्लेच्छराजसहस्राणि	२२७
मातापितृभ्यां तद्वृत्त्वा	४५९	मुदा निष्पादयामास	३७२	म्लेच्छराजादिभिर्दत्ताः	२२३
मातापितृभ्यां प्रादायि	४५५	मुद्गराद्यभिधातैः	३३८	म्लेच्छराजान् विनिर्जित्य	४३०
मायन्ति कोकिला शवत्	२२	मुनयोऽपि समानाश्चेत्	१८३	म्लेच्छाचारो हि हिंसायाम्	३४६
मायान्मलयमातङ्ग-	३७७	मुनि रतिवरं प्राप्य	४९७	म्लेच्छाननिच्छतोऽप्यज्ञानम्	१७८
मायवीर्यतया गाढम्	२१०	मुनि हिरण्यवर्माणम्	४६८	य	
मायवीर्यतयैकैवन्त	२२	मुनि पृथक्प्रदेशस्थाम्	४६८	यं नत्वा पुनरामनन्ति न परः	२३९
मागलण्डनसमूत-	१६०	मुनिभ्या दत्तदानेन	४५६	य. कोऽप्यकारणद्वेषी	१५२
मागलमस्य सधत्	३१४	मुनिमन्त्रोऽयमात्मनो	२९६	य पूर्वापरकोटिभ्याम्	८८
मागमेवाभिरक्षन्तु	१८३	मुनिस्तद्वचनं श्रुत्वा	४६९	यः समग्रैर्गुणैरभि	३४०
मागमेवाभिरक्षन्तु	१८३	मुनीन्द्रपाठनिर्वापे	१३५	य स्तुत्यो जगतां त्रयस्य	२३८
मागमेवमिति तद्वाक्यम्	१२१	मुसलस्थूलधाराभि	१६४	यक्षीभूता तदागत्य	४९२
मागमेवमहाचैत्य-	३१८	मुहु प्रचलदुद्वेले-	३९	यच्च दण्डकपाटादि-	२६७

यज्ञोपवीतमस्य स्यात्	२७८	यथा किल विनिर्याति	३२४	यावज्जीवं त्रेवेषु	१६५
यतिमाधाय लोकाग्रे	३५६	यदादाय भवेज्जन्मी	४४२	यावदभ्येति सेनानी	१२८
यतोऽक्षरकृतं गर्वम्	३४६	यदाय त्यक्तवाह्यान्त	२६६	यावद् विद्यासमाप्तिः स्यात्	२५०
यतो नि शेषमाहार	२५६	यदि देशादिसाकल्ये	४६५	या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः	२८८
यतोऽय लब्धसंस्कारो	२८०	यदि धर्मकणादित्यम्	४६४	याऽमी दिवोऽवतीर्णस्य	२८८
यतो यतो बल जिष्णो	६९	यदिष्ट तदनिष्ट स्याद्	४४२	युक्त परमपिहङ्गेन	३१७
यतोऽस्य दृढद्वकानाम्	६२	यदि स्यात् सर्वसंप्रार्थ्या	३८९	युक्त्यानया गुणाधिक्यम्	३१४
यत्तु न. सविभागार्थम्	१५९	यदीच्छाऽस्ति तवेत्याह	४८६	युगभार बहेनेक.	३५२
यत्पुत्रवचरणं दीक्षा	२५३	यदुक्तमादिराजेन	१५९	युगादौ कुलवृद्धेन	३९१
यत्प्रष्टुमिष्टमस्माभि	३५७	यदुक्तं गृहचर्यायाम्	२७८	युगान्तविप्लवोदकाः	३१७
यत्र शास्त्राणि मित्राणि	१६१	यदैव लब्धसंस्कार-	२७८	युद्धवाप्येवं चिर शकुर्न-	४०५
यत्रोन्मग्नजला सिन्धु	११४	यद्विभ्रान्तिविमूढेन	१४९	युवा तु दोर्बली प्राज्ञ	१७२
यत्संसारिणमात्मानम्	३३८	यद्वचनार्कबिम्बोत्थ-	३१७	युवाभ्या निर्जित काम	३८३
यथा कालायसाविद्धम्	३१४	यद्वचन प्रतिभू. कश्चित्	३४५	युष्मत्पदरज स्पृशाद्	५०
यथा क्रममती ब्रूम	२७०	यद्वच भिन्नमयदि	४२७	युष्मत्प्रणमनाभ्यास-	१६०
यथा खल्वपि गोपाल	३४४	यन्नाम्ना भरतानित्वमगमत्	२३८	युष्मत्साक्षि तत कृत्स्नम्	२५८
यथाख्यातमवाप्योर-	४९९	यमसंबन्धदिकृत्यागम्	३७२	युष्मादृशालामो वु	२७५
यथा गोपालको मौलम्	३४३	ययु करिभिरारुद्धम्	७५	युथ वनवराहानाम्	२६
यथा च गोकुल गोमिन्यायाते	३४७	यवीयानेष पथ्यस्त्री	२८	ययं त एव मद्ग्राह्या	४७
यथा च गोपी गौयूथम्	३४४	यवीयान् नृपसाङ्गलम्	२०५	ययं निस्तारका देव	२७५
यथा जिनाम्बिका पुत्र-	३०६	यश पाल- सुखावत्या	४९४	ययं सर्वेऽपि सायन्तनाम्भोजा	४४६
यथा तथा नरेन्द्रोऽपि	३४३	यश पालमहीपाल-	४९५	ययमाध्वं ततस्तृष्णीम्	३९२
यथा तव हृतं चेत.	१९१	यशस्यभिदमेवार्थ-	१५८	ये विशुद्धतरा वृत्तिम्	२८२
यथा वृष्टमुपपत्ये	३१९	यशस्वतीसुनन्दाम्याम्	५०६	ये केचिच्चाक्षरम्लेच्छाः	३४६
यथान्धतमसो दूरात्तर्क्यम्	१४४	यशोधनमसहार्थ-	१८४	ये तस्यास्तनुनिर्माणे	३६६
यथान्नमुपयुक्त सत्	३२१	यस्त्वतीन्द्रियविज्ञान-	३३६	येन प्रकाशिते मुक्तेः	३५१
यथार्थदर्शनज्ञान-	१४२	यस्त्वेताः द्विजसत्तमैरभिमता	२६८	येनायं प्रहितः पत्रो	४७
यथार्थवरमर्ध्यं च	४८	यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा-	२७६	येनाऽसी चक्रवर्तित्वम्	४८५
यदावदभिषिक्तस्य	२६१	यस्य दिग्विजये मेषकुमार-	३४६	येनास्य सहजा प्रज्ञा	३२९
ययाविभवमन्त्रापि-	२४८	यस्य दिग्विजये विज्वम्	१२५	ये ये यथा यथा प्राप्ता	३७४
यथाविभवमन्त्रेष्टम्	२४७	यस्य यत्र गता. स्याद्दृक्-	३७९	येचामयं जितसुर- समरे	४२३
यथा विषयमेवैवाम्	१८१	यस्याष्टादशकोट्योऽस्वा-	१२५	योग समाधिनिर्वाणम्	२५६
यथाऽस्मत्पितृवृत्तेन	२५२	यस्योत्संगभुवो रम्या.	१२४	योगक्षेमो जगत्स्थित्वे	६५
यथार्चं संविभज्यामी	२२२	या कचग्रहपूर्वेण	१६२	योगजा सिद्धयस्तेवाम्	१६९
यथास्वानुगमर्हन्ति	३५३	या कृता भरतेशेन	२१७	योगजाश्चर्द्धयस्तस्य	२१३
यथा हि कुलपुत्राणाम्	३३३	यागहस्तिनि मासस्य	४७३	योगा पञ्चदश ज्ञेया.	५०५
यथेष्टं सप्रियो विद्यावाहनः	५००	या च पूजा मुनीन्द्राणाम्	२४२	योगो ध्यान तदर्धो यो	२५६
यथेह वन्धनान्मुक्त	३३	याचित्रियेण नास्येष्टा	२११	योगज्ञतधरा- धीरा	२४०
यथेव खलु गोपालः	३४५	याथास्येन परिज्ञानम्	५०४	योगभूत पञ्चदशो विभु	५१४
यथेव खलु गोपालो	३४४	यादोर्धोर्धोनिर्वाति	४२	योगो शेषो विधिर्मुक्त	२६६
यथेव गोप. संजातम्	३४५	याममात्रावशिष्टायाम्	३४५	यो नाभेस्तनयोऽपि	५१५
यथोक्तविधिनेताः स्युः	२६७	या वष्टचयमसौ वष्टि-	४४२	योऽनुतिष्ठत्यतन्द्राकु-	२८८

यो नेतेष्वं पृथुं जघान	५१४	रत्नानि द्वितयान्वस्य	२२७	राजन् राजन्वती भूयान्	१५५
यो योजनगतोच्छ्रायो	१२४	रत्नान्यपि विचित्राणि	६९	राजराजस्तदा भूरि-	४९५
यो वज्रमणिपाकाय	४९०	रत्नान्यपि यथाकामम्	२२२	राजविद्यापरिज्ञानाद्	३३४
योपिता मधुगण्डूर्प	३७८	रत्नान्यमून्यनर्घाणि	५०	राजविद्याश्चतस्रोऽभू-	३२८
योपितो निष्कमालाभिः	१३	रत्नान्येतानि दिव्यानि	२३६	राजवृत्तमिदं विद्धि-	२६४
योपितोऽप्यभयान्त	३९५	रत्नार्घं पर्युपासताम्	१७९	राजवृत्तिमिमां सम्यक्	२६३
योऽस्मिन्श्चतुर्गुणालादौ	३५१	रत्नावर्तगिरि ग्राहि	४८२	राजसिद्धान्ततत्त्वज्ञो	३२९
योऽस्य जीवघनाकार-	३३९	रत्नै किमस्ति वा कृत्यम्	१८४	राजहृत्, कृताश्चास्ता	३४
योवनेन समान्तान्ताम्	४५९	रत्नैश्चाम्यर्च्यरत्नेभ्यम्	५०	राजहंसं, कृतोपास्य-	१५
योवनोन्मादजस्तेषाम्	१५६	रत्यप्रतर्क्यमाहात्म्यम्	१४१	राजहंसैरिय सेव्या	१९
र		रत्नादिविमलासाढ्यम्	४९१	राजा कदाचिद्वराजीद्	४५१
रक्त करै समाचिलप्य	४१८	रथकटघा परिक्षेपो	२००	राजाऽपरराजितस्तस्मात्	५१०
रक्षामयुधता येन	३३१	रथचक्रसमुत्पीडात्	४५	राजा राजप्रभो लक्ष्मीवती-	३५९
रक्षावृत्तिपरिक्षेपम्	१७६	रथबाहौ रथानूहु-	२७	राजा वित्तं समाधाय	३४८
रक्ष्य देवसहस्रेण	३३	रथवेगानिलोदस्तम्	२९	राजा सान्त.पुर श्रेष्ठी	४५३
रक्ष्य सुष्ठुधिकारोऽपि	३१३	रथा. प्रागिव पर्याप्ता	३९५	राजा मुलोचना चावरोप्य	४३५
रङ्गितोऽप्यलितं क्षौभं	४३	रथाङ्गुपाणिरित्युर्चं	४४	राजोक्तिर्यपि तस्मिन्	१८२
रज.सत्तमसे रुद्ध	२०२	रथान्तकनकस्तस्य	४९४	राजोक्तिस्तस्यै राजेन्द्र-	१०६
रजन्तामपि यत्कृत्यम्	३२७	रथान्नव तथा कुष्ठान्न-	४२०	राजामावसयेयुः क्षातजनता	३२
रजस्वला मही स्पृष्ट्वा	७३	रथिनो रथकटघातु	१०२	राज्यं कुलकर्म च	१५५
रजो विसानयन् पीण्य-	९७	रथिनो रथकटघातु	२०१	राज्यादिपरिवर्तु	३४५
रञ्जिताञ्जनसन्नेभ्यः	३७५	रथोऽर्जितजयो नाम्ना	२३४	राज्यादिपरिवर्तु भर्तु	२२१
रणभूमिं प्रसाध्यारात्	२०२	रथोद्धतगतिर्कोभाद्	२९	राज्ये न सुखलक्ष्योऽपि	३४१
रणभूमिं समालोक्य	४२१	रथो मनोरथात् पूर्व	४५	राज्ये मनोभवस्यास्मिन्	१९२
रतानुवर्तनैर्गाढ-	१९३	रथोऽस्याभिमता भूमिम्	४५	रात्राविन्दुदिवाम्भोजम्	३६७
रतावसाने नि शक्यो	४३३	रथ्या रथ्यान्वसंघट्टात्	९	रात्रौ तलवरो दृष्ट्वा	४७३
रति चारितमप्येव	२१०	रमणा रमणीयाश्च	१९०	राष्ट्राण्यवधयस्तेषाम्	६९
रति. कुलामिधानस्य	४७७	रम्या तीरतरुच्छाया	८७	रिपुं कुपितभोगीन्द्र-	४०६
रतिपिङ्गलसप्तस्य	४७०	रम्ये शिवंकरोद्याने	४७६	रुद्रोऽथोवनाधुण-	९६
रतो कामाद् विना नेच्छा	४३९	रराज राजराजस्य	१०९	रुद्ध्वा माल्यवतीतीरवनम्	६८
रत्न स्यपतिरप्यस्य	२३६	रराज राजराजोऽपि	२०४	रुपिता. कञ्जकिज्जकै.	२०
रत्नं रत्नेषु कथ्येव	३८६	रवि पर्योषरोत्सङ्ग-	१४३	रुद्रो रागाङ्कुरैश्चित्ते	४१५
रत्नतोरणविन्यासे	३२४	रविरविरलानश्रुत्	१९४	रूपतेजोयुगस्थान-	२७०
रत्नतोरणसंकीर्ण-	३७१	रविशाखावधूरत्न-	३२०	रेजु सूत्रेषु मंत्रोक्ता	३२४
रत्नत्रयस्य मरण प्रवृत्तिम्	२९४	रविरोर्यस्तथान्ये च	५०२	रेजुर्दण्डुल्यस्तस्या.	३६४
रत्नद्वीप जिघृक्षुभ्यो	५०६	रवे किमपराधोऽयम्	१८८	रेजुर्वनलता मन्त्रे	२१६
रत्नमालाऽतिरोचिष्णु.	२३४	रशनारज्जुविभ्राजि	३७६	रेजे करतल तस्या.	२२९
रत्नागुचितविततल	४३	रसनोत्पाटनं हारम्	४७०	रेजे स तदवस्थोऽपि	२१०
रत्नागुच्छुरितं विभ्रत्	२६१	रागद्वेपी समुत्सृज्य	२५६	रोगस्यातन वेदम्	२११
रत्नागुच्छुरितान्तस्य	२३४	रागादीन् दूरतस्त्यक्त्वा	३५२	रोगोभूज्य तनुगीकर-	५५
रत्नाकरत्वदुर्गवम्	३८०	राजगेहं महानन्दविवायि	४४१	रोमोलतालयाभीनान्	१५
रत्नातपत्रमप्योर्चं	२१८	राजन्यकेन सखद्	३०	रोमोलतायिबोल्मुष्ट-	११

रोमराजिनिवासीलात्	१४	सोकाशवासवैलोक्य-	३४०	वनस्पतीस्तच्छाया	७२
रोमै रजोभिराकरोन्	८	सोकाशवासिने शब्दात्	२३३	वनस्पतौ तु फलान्नात्	८३
रोमदण्डेषु विन्त्यन्	२९	सोकाशनिभिरन्नापरिगतैः	५६	वनस्पत्तं वनस्पिन्ना-	३९५
स		सोलत्तत्तुज्जिल्लिप्तवृष्टिः	५३	वनानोगनपद्वस्तम्	८८
ससं वैलासनासाध	५०६	सोलत्तान्त्वत्तं तन्	४७०	वनितातनुं भूतकानाग्निः	४६३
सन्निः पुरिमिवादेव्यान्	३७८	सोलुना मनुष्यायोजनात्	५१०	वने वनगवैर्दृष्टो	३६
सन्निः सरस्वती ज्योतिः	३६१	सोलोनिहस्तनिर्भूत-	१४	वने वनचरस्त्रीषाम्	१२८
सन्निः सा सर्वयोगेभ्यः	३७९	सोहृत्वेवोपसप्तस्य	१८१	वनेषु वनमातङ्गा	१६७
सन्निः प्रहासविद्यया	३३	स		वनेषु वनमातङ्गा	१६७
सन्निः प्रहासविद्यया	३३०	वन्दनामावगिष्टाङ्गैः	४०३	वन्दनार्थं कृता माला	३२४
सन्निः प्रहासविद्यया	४२६	वस्तुमान्गतो देव	१४२	वन्दनार्थं मृगान्द्राणां	१४५
सन्निः प्रहासविद्यया	३६७	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	२२९	वन्दनार्थं मृगान्द्राणां	३४९
सन्निः प्रहासविद्यया	९४	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	३८४	वन्दित्वा वन्दनाकर्तुं	४३६
सन्निः प्रहासविद्यया	४०६	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१४२	वन्दित्वा वागवाः सर्वे	४६८
सन्निः प्रहासविद्यया	३८९	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	४६	वन्दित्वा वन्दनार्थम्	२८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४८४	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	७	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४१४	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	६७	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	८३	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१८३	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	११	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	४७०	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४१५	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	५७	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४६१	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	५०६	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	२५२	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	२२३	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४७२	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	३६५	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	३२४	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१०७	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	२७८	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	२१७	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	२४	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१४२	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	१७६	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	४८५	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	२२४	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	४०२	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४५१	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	७६	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	७१	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	५६	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	९१	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	७४	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	३८०	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	७४	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	५५	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	९९	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४१	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१३५	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	८४	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१९	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	१२३	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	५	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	१२८	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	२५	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	७९	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	८६	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	३२४	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१३९	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४५०	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१४६	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	४५०	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१३८	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७
सन्निः प्रहासविद्यया	१०५	वस्तुमन्त्याः कृताङ्गस्य	१९	वन्दित्वा सिद्धकृदाहम्	४८७

बलीना समुमुपपल्लवाभ-	७८	बाह्यन्तं तमालोवय	४०३	विदितप्रस्तुतार्थोऽसि	४२८
बलीवनं ततोऽप्राप्तीत्	१३७	विकसन्ति सरोजानि	१९	विदितसकलतत्त्व.	५१३
बवपुर्नहिर्वाष्ट वा	४०५	विकासं बन्धुजीवेपु	३	विदित्वा विष्टराकम्पाञ्जयम्	४२०
बबुर्मेन्द्र स्वरुहान-	२१८	विकासितविनेयासु	५०४	विद्वरुष्यैर्न युष्माभि	१५८
बबौ मन्द गजोद्धृष्ट-	३७२	विक्रमं कर्मचक्रस्य	३५१	विदेश. किल यातव्यो	१०२
बलीकरणपुष्पाणि	३२२	विक्रियां न मन्येते	३४६	विदेहे पुष्कलावध्याम्	४७०
बसस्तत्र महाकालस्तम्	४८८	विक्रियाऽष्टतयो चित्रम्	२१४	विद्धि मां विजयाद्वैत्य	१०६
बसन्ततिलकोद्याने	४३९	विख्यातविजय. श्रीमान्	३८३	विद्धि मा विजयाद्वैत्यम्	१००
बसन्तश्रीविद्योगो वा	३७२	विगतच्छुत्तच्छुम् शीघ्रम्	४८७	विद्धि सत्योद्यमाप्तोयम्	२७०
बसन्तामुचरातीत-	३७८	विग्रहे हृत्शक्तित्वात्	३९८	विद्यया श्वरूपेण सद्य	४८४
बसन्ति स्मानिकेतास्ते	१६६	विघट्ट्य तमो नैवम्	१८७	विद्यावरचरावीथी.	१२८
बभुभारकमित्यासीद्	२३४	विघट्ट्य रथाङ्गानाम्	१९३	विद्यावरचरासार-	१२८
बभुपालकुमारस्य	४९३	विधायं कार्यपर्यायम्	४३४	विद्यावरिकारुण-	२१०
बभुपालमहीपालप्रवनाद्	४९३	विचित्रपदविन्यासा	३५५	विद्याधर्य. कदाचिच्च	२१७
बभुमस्थापगामवि-	६८	विचिन्त्य विघ्नविघ्नानाम्	४२१	विद्याभितेति समीतः	४८४
बस्तुबाहनराज्याङ्गी	४७	विचूर्येनं नर तावत्	४७	विद्युच्चोरोत्त्वमासाद्य	४७६
बस्तुबाहनसर्वस्वम्	६४	विच्रे. स्वखुरोद्धृत-	६७	विद्युद्बेगा ततोऽप्यन्त-	४८३
बागाद्यतिगर्भैरेभि.	३३५	विच्छिन्नकेतव केचित्	४०४	विद्युद्बेगाऽभवद्	४९८
बागाद्यतिशयोपेत	३३४	विजयमिश्रो विजयिलो	३५७	विद्युद्बेगाऽवलोक्य	४८३
बागुप्तो हितवामृत्त्या	२८७	विजयामेत्यार्हत्स्य-	३०४	विद्युद्बेगाह्वयं चोत्	४७१
बाग्वेय्य सममाक्षयो	१६४	विजयाद्वै समारह्य	४३४	विधवेति विवेदाबीर्नेद्वक्षम्	३६०
बाचयमत्वमास्थाय	१६९	विजयाद्वैगिरैरस्य	४६६	विधातुमनुरक्तानाम्	४३९
बाचयमस्य तस्यासीक्ष	२१३	विजयाद्वैज्येऽप्यासीत्	१०१	विधाय चरणे तस्य	३४५
बाचयमो विनीतारमा	२५४	विजयाद्वैतटाक्रान्ति-	१५	विधाय प्राक् स्वयं प्राप्य-	४८०
बाजिन प्राक्कक्षाधस्ताद्	४०३	विजयाद्वैप्रतिस्पदि-	३३	विधायामाह्लिकी मृजाम्	३६८
बाज्य कपाटोयुग्मम्	११२	विजयाद्वैमहागन्ध-	४२१	विधारेप न चाशक्ति-	११९
बाह् स्मरामि ह्रीभाग्यभागिन	४८०	विजयाद्वैचलप्रस्था-	१०४	विधुं ज्योतिर्गणेनेव	४३५
बाणामिधिरताबाणाम्	८७	विजयाद्वैचले यस्य	१७८	विधुं तत्करसंस्पशद्	४१४
बाणं कुसुमबाणस्य	१९	विजयाद्वैचिलोद्धृष्टो	११६	विधुविम्ब-प्रतिस्पदि	८
बातपुष्टदरीभागानृक्षवत्	६८	विजयाद्वैचिते कृत्स्नम्	१००	विध्वस्ते पञ्चगान्तोके	११८
बातायातात्	५४	विजयाद्वैत्तरक्षेणि-	४८४	विजयाद् विष्णुर्न राज-	४५०
बासर्कं क्षीरसपीपाद्	१२	विजिगीपुतया देवा.	४७	विना चक्राद् विना रत्नै.	३९०
बादिनेव जयेनोच्चै	४००	विजिगीपोविपुण्यस्य	४०६	विनियोगास्तु सर्वासु	२४५
बापोकूपतडागैश्च	१७५	विजिताज्विसमाक्रान्त	१२०	विनिवर्तयितु शक्ता	४८४
बापानशी जितायोध्या	३७४	विजितेन्द्रियवर्णाणाम्	१५८	विनिवार्यं कृतक्षेमम्	२०४
बापानसोपतिविचित्राङ्गवो	५०६	विज्ञातमेव देवेन	४२८	विनीतं संवरो मुप्तो	३५७
बापानशी पुरो तत्र	३६३	वितर्जितमहामोह	५०२	विध्यश्रीस्तां पिता तस्या.	४३९
बारिबारिजकिञ्चल्-	७३	वित्रस्त. करभमिरीक्षणाद्	७८	विपक्षव्यभूषणालम्	४२७
बार्या विगृह्यन्त्या स्यात्	२४२	वित्रस्ताद्वैसरदेनाम्	२८	विपरीतामवदृत्ति.	३४
बासगहे जयो रात्री	३६०	वित्रस्तेरपथमुपाहृत-	७८	विपयसि विपयैति	३८८
बासन्त्यो विकसन्त्येताः	२२	विद्ययास्य वाथेन्दु-	४०५	विपाककट्टस्राप्यम्	२०६
बासवन्त महाशैलम्	६८	विदस्य मञ्जरीस्तीव्रया	८३	विपाकसुवनिर्जात-	१६३



विप्रकृष्टान्तरां द्वास्माद्	१२०	विजाला नालिकां सिन्धुम्	६८	वीचिवाहुरिमाध्वन्तम्	४१
विप्रकृष्टान्तरावास-	१०६	विजालाक्षो महाबाल.	३५७	वीचिवाहुरिन्मृगतै.	३९
विप्रलोपि स्वजातीयो	१५४	विशुद्धकुलगोत्रस्य.	२८३	वीज्यमाना विवृस्पष्टि-	३७९
विप्रभावम्बरे कञ्ज-	७३	विशुद्धकुलजात्यादि	२७७	वीतशोकाह्वया तस्थ	४९१
विप्रभू. पचनोद्भूता.	६२	विशुद्धवृत्तयस्तस्मात्	२८२	वीरपट्टं प्रवध्यास्य	३८२
विप्रध्यासनकम्पेन	४३८	विशुद्धस्तेन वृत्तेन	२७६	वीरपट्टस्तदा सोढो भुवो	३८७
विप्रवस्तोरणामुच्चैः	११०	विशुद्धाकरसंभूतो	२७७	वीरपट्टेन वद्धोऽयम्	४२०
विभिन्न् केतकी सूची.	२३२	विशुद्धा वृत्तिरस्यार्थ-	२५२	वीरलक्ष्मीपरिप्लवत-	३६५
विभुत्वपरिचक्रेषु	३५	विशुद्धावृत्तिर्येषाम्	२४३	वृणुते सर्वभूपाला-	३६९
विभोर्वलभरक्षोभम्	६६	विशुद्धिचभयस्यास्य	२७७	वृत्. परिमितरेव	३१८
विभ्राणमतिविस्तीर्णम्	१७६	विशेषतस्तु तत्सर्गः	३३२	वृत्तः शमीव नक्षत्रैः	४३४
विमतेरेव तद्गृहे	४७२	विशेषविषया मन्त्रा.	३१५	वृत्तस्थानथ तान् विधाय	३१६
विमत्सरणि चेतसि	१५२	विशोचितमहावीर्यो	३७५	वृत्तवनात्मनीनाडी.	३३५
विमुक्तं व्यक्तसूतकारम्	७५	विश्वं विनश्चरं पश्यन्	४६१	वृथाभिमानविध्वंसी	४१५
विमुक्तकङ्कणं पञ्चात्	२५१	विश्वक्षत्रजयोद्योगम्	१७७	वृश्चिकस्य विषं पश्चात्	३६१
विमुक्तप्रग्रहैर्वाहै	४५	विश्वदिग्बिजये पूर्व-	१५२	वृषभाय नमोऽशेष-	३५०
विषद्वन्द्वुभिर्मिन्द्र-	१४१	विश्वमङ्गलसंपत्त्या	४४१	वृषा ककुदसंलग्न-	५
विषद्विभूतिमाक्रम्य	३७३	विश्वविद्याषरावीक्षम्	४०९	वेद. पुराणं स्मृतयः	२७०
विरक्तो हृथानुजीवी स्यात्	३४४	विश्वविश्वंभराह्लादी	४२६	वेदनाभिस्त्राभावाद्	३३९
विरज्य राज्यं सयोज्य	३५९	विश्वस्य धर्मसङ्घस्य	३१९	वेदनाभ्याकुलीभाव	३३८
विराग. सर्ववित् सार्वः	२७०	विश्वानाश्वास्य तद्योग्यै.	४२५	वेदिका ताम्रतिक्रम्य	१०८
विखडावज्जाल-	१४३	विश्वेश्वरा जगन्माता	२६०	वेदिकातोरणद्वारम्	३८
विरूपं रूपिणं चापि	३८९	विश्वेश्वरादयो ज्ञेया	२७१	वेदिकेव मनोज्ञस्य	३६५
विरूपकमिदं युद्धम्	२०२	विषकण्टकजालीव-	२०९	वेदां प्रणीतमग्नीनाम्	२५१
विरैजुरसनापुष्पै.	६	विषयीकृत्य सर्वेषाम्	४३३	वेलापयन्तसंमूर्च्छत्	४४
विरोचिनीऽप्यमी मुक्त-	२१५	विषये वत्सकावत्याम्	४८५	वेलासरित्करान्वादिः	९३
विलङ्घ्य विविबान् देशान्	९२	विषयेष्वनभिष्वङ्गो	२५३	वेष्टितं वेन्द्रवनुषा	४३६
विलसत्पद्मसंभूताम्	१५	विषयेऽस्मिन् खगाक्षमाभूत्-	४५४	वेणवेस्तण्डुलैर्मृक्त्वा	९०
विलसद्ब्रह्मपूत्रेण	२६२	विषाणोस्तिखितस्कन्वो	९८	वैमनस्यं निरस्येषाम्	४७५
विलोक्य कृतपुष्पादि-	४९२	विष्वगापूर्यमाणस्य	१०१	वैरकाम्यति यः स्मास्मिन्	६४
विलोक्य तं वणिक्पुत्रा.	४९६	विष्वक्सारि दाक्षिण्यम्	८४	वैराग्यस्य परा कोटीम्	१६२
विलोक्य विलयज्जालि-	३९९	विषभट्ट गै. कृताहारा	२६	वै वैश्रवणदत्तोऽपि	४९७
विलोलीचिचंघटाद्	१४	विसर्जितस्य सानुज्ञम्	१००	वैशिष्ट्यं किं कृतम्	३४७
विलोलितालिरामुञ्च-	१२८	विस्तीर्णार्जनसंभोग्यैः	१४	व्यक्तये पुरुषार्थस्य	३३५
विनाश्रुविषिवेदित्यः	३७६	विस्मयजननं. पूर्वम्	४६४	व्यजनैरिव शास्त्राग्रैः	११५
विवाहस्तु भवेदस्य	२७४	विहर्तुो मही कृत्स्नाम्	१६७	व्ययो मे विक्रमस्थास्ताम्	३९२
विवाहो वर्णलाम्बव	२४४	विहृदस्यदा मेघस्वरः	५००	व्यलोकिए स भूपोऽपि	४९६
विविक्तस्मणीषेपु	१२२	विहाय मामिहैकाकिनम्	४८९	व्यवहारनयापेक्षा-	३०१
विविक्तैकान्तसेवित्वाद्	१६६	विहारस्तु प्रतीतार्थो	२६७	व्यवहारैरिनितां प्राहु	३१३
विविधद्विपदं चास्मात्	२९५	विहारस्योपसंहार.	२६७	व्यवहारैरिनिताया स्याद्	३१२
विविधव्यजनत्यागाद्	२८६	विहृत्य सुचिरं विनयजन-	५१४	व्यसनेऽस्मिन् दिनेगत्स्य	१८७
विवृणोति खलोऽप्येषाम्	१८०	वीक्ष्य काकोदरेणात्मा	३६०	व्यापारितदृचं तत्र	१८

न्यायोदरं चलकुलाचल-	५१	शयुपोता निकुञ्जेषु	२३	शिखरैरेप कुत्कील-	१२३
न्यायसा जीविताशेष	११३	शय्यासनालयादीनाम्	२७	शिखरोल्लिखिताम्भोद-	१३२
व्यालोलोमिकरास्पृष्ट	१५	शरतल्पगतानल्प-	१९३	शिखाभेतेन मन्त्रेण	३०९
व्यावहारीयमिवातेनु	६	शरदुपहितकान्तिम्	१६	शिखी सितान्शुक सान्त	२४९
व्युष्टिक्रियाश्रित मन्त्रम्	३०८	शरनिभिन्नसर्वाङ्ग	४१६	शितिभिरल्लिकुलाभै	२२०
व्युष्टिश्च केशवापस्व	२४४	शरभ खं समुत्पत्य	२४	शिर-प्रहरणेनान्यो	४०३
व्योमागमिमा प्राहु-	१८	शरभो रभसाद्भुवम्	९८	शिरोपमुकुमाराङ्गी	२२८
व्रजन् मन्द्राश्च कण्ठाश्च	६६	शरल्लक्ष्मीमुखालोक-	५	शिरोरुहैराम्भोवि-	४८४
व्रतं च समिति सर्वाः	२१२	शरव्यमकरोष्ठस्य	१७८	शिरोलिङ्गं च तल्पेष्टम्	२४९
व्रत दत्तवत् स्थानम्	४७०	शरव्याज प्रतापानि	१७८	शिरोलिङ्गमुरोलिङ्गम्	३११
व्रतचर्यामौ वक्ष्ये	२४९	शरद्याली प्रभु कोऽपि	४७	शिलातलेषु सत्तेषु	१६४
व्रतचिह्न भवेदस्य	२७८	शरसरणविद्यायुत्	४०२	शिवानामशिवैर्ध्वाने	१६६
व्रतसिद्धयर्थमेवाहु	२७५	शरसङ्घातसंछन्नान्	४००	शिशिरसुरभिमन्दो-	४४४
व्रतानुपालन शील-	३२५	शरा पोष्पास्तव त्वं च	४१७	शिष्टान् पृष्ट्वा च वैवज्ञान्	३७०
व्रतान्येतामि दास्यामः	४७०	शरीरं भर्तुरस्येति	५०७	शितमुष्ण विश्व च	१६८
व्रतावतरण चेदम्	२५०	शरीरं यच्च यावच्च	२२३	शीलानुपालने यत्नो	३२५
व्रतावतरणस्यान्ते	२७५	शरीरजन्ममा सेवा	२७७	शुकान् शुक्लच्छवच्छायै	१७५
व्रतावतारणं तस्य	२७४	शरीरजन्मसंस्कार-	२८०	शुकावलीप्रवालाभ-	६
व्रताविकरण दीक्षा	२६९	शरीरभित्तयापामाद्	५००	शुक्लवस्त्रोपवामादि-	२७४
श		शरीरभित्तयापामे	५०७	शुचिश्रावविनिर्माणे	१३२
शफलीवचनैर्दूता-	१९०	शरीरवलमेतच्च	२०८	शुद्धस्फटिकसङ्काश-	१३६
शकुनि शकुनाद् दुष्टाद्	४५६	शरीरमरण स्वायु-	२८०	शुनोऽचितस्य सरकारै	३२२
शकुनी भक्षण मल्ले	४७२	शरैरिवोस्त्रैरासक्तैर्विमुक्तै	४११	शुभं श्रुतार्थसिद्धार्थ-	३६९
शक्तिमन्त समाससन्निवेश	५०५	शश शशध्व देव	२४	शुभे प्रौढशभि स्वने	२५९
शक्तिपेणमहीपालप्रतिपन्नतुज-	४५६	शशाङ्ककरजैत्रास्त्रै-	१९०	शुश्रूष व्यनिरामन्द्रो	१३७
शक्तिपेणोजस्य सामन्त-	४५४	शशिप्रभा स्वसा देव्या	४५९	शुष्कभूस्त्वशास्त्रे	४३७
शक्तप्रिये शची मेनका	४६९	शस्वद्विकसितकुसुमै-	२१६	शुष्कमध्य तडाग च	३२०
शङ्काविदोपनिर्मुक्तम्	५०४	शस्त्रनिभिन्नसर्वाङ्गा-	४०८	शुष्कमध्यतडागस्य	३२२
शङ्कितानिहृतोविष्ट	१६८	शस्त्रप्रहारदीप्तानि-	२०७	शून्यगतस्वने स्त्रीणाम्	१९०
शङ्के निशातपापाणम्	२२४	शस्त्रशस्त्रनिभसर्वाङ्गम्	४१७	शून्यागारस्त्वज्ञानादि-	१६६
शङ्खत् प्रदक्षिणावर्तात्	२२७	शस्त्रोपलीखिवर्ग्यवेद्	२५०	शूर्पान्नेयानि रत्नानि	९३
शतभोगा च नन्दा च	६८	शक्तिका सह याष्टीकै	२८	शृणु भो मृषाद्गुल-	२०८
शनै प्रयाति संजिघ्रन्	२३	शास्त्रामङ्गौ कृतच्छाया	२६	शृणु श्रेणिक सप्रश्न-	३५८
शनै शनैर्जनैर्मुक्ता	९	शास्त्रामृगा मुनेन्द्राणाम्	१३५	शेषशत्रिययूना च	१७३
शनैराकाशवाराशि-	१८८	शास्त्रामृगा द्विपस्कन्धम्	३१९	शेषो विद्युत्तु नि शेप-	३०७
शनैर्वलिन्दुरेखेव सा-	३६८	शान्तं तत्त्वप्रसादेन	४३६	शेषोविद्युत्तु प्राक्प्रोक्त	३११
शफरी प्रक्षेपामुखत्	१३	शान्तस्वनेनैर्दन्ति स्म	२१६	शैलोदरे महानस्य	२३६
शवपारमार्गी भव	३०९	शान्तिक्रियामतश्चक्रे	३२३	शैवानगरमर्षेश	४५४
शब्दविद्यार्थशास्त्रादि-	२५०	शान्तिपूजा विद्यायाप्तौ	४२७	शैवोत्तमदजलासार-	२००
शमितोऽखिलविघ्नसस्तव	४२२	शासनं तस्य चक्राङ्कम्	२२३	श्यामाङ्गीरमनिग्यक्त-	३७
शमिता चक्रवर्ती	५०३	शास्त्रज्ञा वयमेकान्ताद्	१५३	श्यावकान्तिकासङ्घम्	२५५
शमिता वीरशय्यायाम्	४१८	शिक्षिताः वलिन जूरा-	३९३	श्याविकाभि स्तुतः पञ्च-	५०३

शिवं तमेतु स श्रिंगान्	३५१	षोडशास्य सहस्राणि	२३३	सच्छायानप्यसंभाव्य-	७२
शिवेन्दुश्च सतिरेन्द्रो	२६२	षोडशैस्तेष्व गन्धिनाम्	३२०	सच्छायान् स्रज्जान् तुङ्गान्	११
शिवेन्द्रो वात ते वात	३०५	षोडशैश्च सहस्राणि	२२६	सच्छायान् स्रज्जान् तुङ्गान्	७२
शिवेन्द्रं च विजिन्वाम्	७०	स		च व्यति ज्यलदानी-	२१९
शिवेन्द्रमुवाक्यौ	४८०	संननं प्रतिपन्नः सन्	४६२	च व्यति त्विराजो	१९७
श्रीनालाहृङ्गनारस्य	४७७	संननस्याननं प्राप्न-	५०३	च वदति हिमकाले	२२०
श्रीनन्दनमिष्यस्ते	१४५	संवाहानां सहस्राणि	२२६	च वीर्याद् वृषभो मोह-	२४०
श्रीनामानन्तिहायेप-	१३१	संवेगवनिष्यदाः	१६५	सज्जनं दुर्जनः कोपम्	३५३
श्रीनामानन्तिहायेप-	१२५	संयुज्ज्वलानिष्यन्द-	४०६	सज्जनप्रतिस्ननीयम्	२७७
शून्यं च बहुमेज्जनाभिः	४८	संसाराजस एषोऽस्य	३३९	सज्जातिः सद्गृहित् व	२४५
शून्यं मुनिहितं वेगे	२७१	संसाराजसनिषिण्या-	१६५	सज्जातिनामो भव	३०२
शून्यं हि विधिमानेन	२५४	संसारीन्द्रियविज्ञान-	३३५	संचरन्मोषयश्रद्धा-	८६
शुभमानज्जो वृष्ट-	१६८	संस्कारजनना चान्या	२७७	संचितरयैरजो हृन्तो	३५५
शुभवृत्ताक्रियानव	२५३	संस्त्रुषाणां हिते प्रीतिः	३५६	संचातानुशया साऽपि	३६०
शुभादिभिः श्रुतं वद्यात्	२५५	संहारैः किन्दुष्यादिभिः	४६	स र्त्तं स्पन्दननाश्रु-	८
शुभा निश्चिदधिः सिद्धाः	१७७	स एतद्विलैश्रयैः	३३७	स ततोऽन्तरकष्टे-	१०४ ०
शुभित्पिपूरासु-	२८२	स एवासीद् गृहस्थापाद्	३५७	स तत्र जिनदीपेन	४७७
शुभा सदाभिने कल्पे	५०१	स एष धनमावर्ज्य-	४५५	स तत्रयथाग्नौ दूराद्	८९
शुत्वा सङ्गनं राजा	४५०	स कदाचिद् गतिः का	४४८	स तनालीकण्ठ् दूरान्	८९
शुत्वा तां हृदयश्रियोक्ति-	४७८	सन्लक्षणविषयैः	३८९	स तन्म रत्नभूज्ज्वारन्	१००
शुत्वा पुराणपुराणम्	१४९	सकलनृपसमाजे	२१९	स तां प्रदक्षिणीकृत्य	३१८
शुद्धा सम्यक्वित्तवन्	३७०	सकलनविकलं वृत्त	४७९	सतां वचांसि चैतांसि	४२९
शुचेति देवतां सत्ताम्	२७२	सकान्तां रनयाभास	२३३	सतां सत्तनसंश्रान्त्यै	५०६
शुद्धतां नो द्विजन्त्य-	२७९	स किं न समर्थय्यायाम्	१८४	सता ब्रूवेन मित्रेण	४१३
शुद्धतां नो द्विजन्तां	३६९	स कुटुम्बिभिश्चद्वात्रैः	१७४	सतामन्मनां विज्य	१८०
शुद्धतां नो नृहत्यानाः	३३१	सलीगुहानि संवीक्य	४३२	सति चैवं कृतनोऽयम्	३४४
श्रेष्ठिनेऽनपराधाय-	४९७	सलीकनन्तुलङ्घ्य	१९०	स तु न्यायेऽतिमान्ता	३३२
श्रेष्ठिनेव तिकारोऽयम्	४७४	स गन्धूतिशतोत्सेक-	४८५	स तु संयुज्य गेगीन्द्रम्	२६९
श्रेष्ठिनोऽयं निधोऽन्येषु-	४७२	स गिरिर्गणनिर्माण-	९७	सतोऽपनसिन्धु	१०९
श्रेष्ठो कदाचिदुद्यते	४४९	संकल्पमुखसन्तोषात्	४६४	सत्कवेरजुनस्येव	३५४
श्रेष्ठो किनर्थनायातो	४७४	संकल्पेऽप्यहिंसोक्तो	२२५	सत्कारलानसंयुद्ध-	३२०
श्रेष्ठो कृतेऽन्तद्वय	४९४	संकीर्ततां रथाङ्गागान्	२४	संयुक्तः स वज्राद्यं सम्	२०६
श्रेष्ठो तरेति श्रेष्ठो च	४७४	संविच्छो भरताजीवः	२१७	सत्यं दिविष्ये चक्री	१८४
श्रेष्ठश्चिदाकालोक्तान्	४७६	सङ्ग्राम ताटकारम्भ-	३९६	सत्यं परिभवः सोऽयम्	४८
श्रेष्ठेभ्य ते उपोह्युरिति	४६७	सचक्रं वेहि राखेत्	३५	सत्यं भरतारोऽयम्	१५१
श्रेष्ठगवाक्ष्णालि कृत्वा	३५५	सचक्रं वेहि संयोज्य	३९३	सत्यं महेष्ठी कृद्दे	२२४
श्रेष्ठान्नि हि वाक्चानि	३६९	स चक्रिणः सहाज्यम्	३६२	सत्यजननदं क्षात्रम्	२९३
श्रेष्ठेभ्य पिष्टकृतेन	२७२	स चन्दनरसस्फार-	३७५	सत्यवातपदं पूर्यम्	२९१
श्वः स्वर्गे किं किन्दैव	४१७	सचानरां चलद्धंसात्	३४	सत्यमेव दशो रक्ष्यम्	४८
श्वन्मन्त्रिणसंभोगः	२०९	सचित्रपुरषो वास्तु	४७	सत्यानसर्वं तैः स्वीयान्	३६१
य		सचिवस्य सुतं दृष्ट्वा	४७३	सत्येवं दृष्ट्वा स्याद्	३४६
यद्वल्लभयामस्या	२००	स चैव नारतं कथम्	३३१	सत्योऽयुज्य प्राप्तवादेश-	४८९

# श्लोकानुक्रमिका

५५३

सत्त्वापघातनिरता	३२१	स पुमान् य पुनोते	४७	समुद्भूतासमपुक्त-	४०३
सदाचारैर्निर्जरित-	२४०	सप्तगोदावर तीर्त्वा	७०	समुद्भूतरमप्रायै	२०२
सदानमान सपूज्य	३७१	सप्तमद्भ्यवात्मिकैर् यं ते	१४२	समुद्भवसमाह्वयम्	४९७
सदास्ति निर्वा नासौ	४६४	सप्रणाम च संप्राप्तम्	१०५	समुद्भवतो ज्वलनवेगस्य	४९८
सदेव बलमिदमस्य	८१	सप्रताप यशः स्वास्तु	३९०	समुद्भवश्च पश्याम	३४
सदोऽनिरिय देव	१४६	सप्रताप प्रभा सास्य	४१२	समूलतूलमुच्छिद्य	३९१
सदोपो यदि निश्रीह्यो	४३०	स प्रतिज्ञामिवाह्वो	३९	समेत्तावसरावेक्ष्य	१३१
सद्गृहित्वमिद ज्ञेयम्	२८३	सप्रभा चन्द्रलेखेव	४६६	समीक्षित स्फुरद्वलम्	३०
सद्यः सहारसक्रुद्ध-	४०१	मप्रसाद च सामान्य	११०	सपत्न्यगणपुण्यानाम्	४३७
सद्यो गुरुप्रसादेन	४७१	स प्रेयसीभिरावृद्ध-	७२	सपूज्य निविशन्तानि	२६१
सद्यो मित्राण्डकोद्भूतान्	४७५	स बहुतरमराजन् प्रोच्छिन्नान् ४२३		मप्रत्यक्षमनोपक्रमम्	३७०
सद्वत्तकटक प्रोच्यै	२६२	स बाह्यमन्तरङ्गं च	४९९	सप्रदायमनादृत्य	२८४
सद्वृत्तसत्पमा दीप्तो	४६५	सभापरिच्छेद सोऽयम्	१४६	सप्रधार्यमिद तावद्	१५२
सद्वृत्तान् धारयन् सूरि	२५५	सभावनानि तान्येव	३२५	सप्राप्तभावपर्यन्तो	४३३
स धर्मविजयो सज्जाद्	३२५	सम ताम्बूलवल्लीनि.	८३	सप्राप्तस्व तमुद्देशम्	१२०
सधार्मैर्हरितै कीर्णम्	२४१	सम समञ्जसत्वेन	२६५	सप्राप्य नवधा पुण्यम्	४५२
समुपपद्योर्मुग्ध तत्र	१३८	समं सुप्रविभक्ताङ्गम्	२२३	सप्रेक्षितै स्मिन्तैर्हर्मि	६५
सञ्जीवो दीप्तिसदृशम्	१०	समक्षमीक्षमाणेषु	२०५	सभापितश्च सज्जाजा	१०५
स नयो नागपुत्राय-	९७	समक्षवलम्पस्या	३९५	सभूय बान्धवा सर्वे	४६०
समर्गसचिव कचित्	३२७	समञ्जसत्त्वमस्येष्टन्	२६५	संभोगैर्वनमिति निविशन्	७८
सगायमसनागैश्च	१२४	समन्तत शरैश्छेष्टवा	४०८	सम्यग्दृष्टिपद वान्ते	२९६
स गत्य परम विभ्रत्	२१०	समन्तादिति सामन्तै	१०४	सम्यग्दृष्टिपद वात्माद्	२९७
समातनोऽस्ति मार्गोऽयम्	३८९	समन्ताद् योजनायाम-	१४०	सम्यग्दृष्टिपद वात्माद्	२९८
स निमित्त निमित्तानाम्	३२९	समभ्यर्च्य समाश्वास्य	४२५	सम्यग्दृष्टिपदं चैव	२९५
स निवेदिनवृत्तान्तो	१७६	समवायाख्यमङ्गं ते	१६३	सम्यग्दृष्टिपद बोध्यविषयं	३०६
स नृगमपरिप्राप्तो	२७७	समवेगै समं भुवतै	४०१	सम्यग्दृष्टिपदं बोध्ये	३०५
सत्तागार्यमृतावेव	२५१	समस्तनेत्रसंप्रीत-	३८०	सम्यग्दृष्टिस्तवाम्बयमत	३०४
समुद्युक्त स्वे वने शूरान्	८६	समस्तवलमदोहम्	३७८	सज्जाद् पश्यन्प्रयोद्धवा	९
सत्यप्यनिलया देवा	३९	स महाभ्युदय प्राप्य	२८६	स यजन् याजयन् धीमान्	२७६
सत्यैवानन्तशो जीवा	२४१	समासमीना पर्याप्त-	१४	स यत्न जयमैर्न्यानि	१७९
सर्वे च पणवन्ध च	१७४	समागत, स हत्येवमिच्छेत्	४८६	सःपरिचरेत्वासन्	७२
सर्वविग्रहचित्तात्स्य	८२	समागत्य महाभक्त्या	४८७	सर.मरोजरजना	२
सर्वविग्रहप्रहयानादि-	१०९	स मागवदवाध्याय	१२०	सरस्वतं धृत्तभूषणान्	४२१
संघातपक्षपात्यासन्	१८८	स मातङ्गं वनं यस्य	८८	सरजोऽश्वरज कोर्ण-	१८५
सघात्रिद्विषये नास्ति	३६	समानदत्तिरेपा स्यात्	२४३	सरति सरन्तीतोर हय	१९५
मध्याह्ना कलाभिन्दो	२३१	समानायात्मनाऽयस्मै	२८३	सन्त्यमुल्लग्नविषयम्	४०
मन्त्रास्तन्निग्रये	३००	समापतच्छरद्वात-	२०७	सरला निघन नवै	२१८
समृद्धयन्नाश्चण्डास्तदा	४०५	समीपवर्तित्येकस्मिन्	४९६	सरला निघशो द्विदशः	२३३
समाग बहूपुत्रायम्	७१	समुच्चरन् जयध्वान-	१२०	मर्मकिसलयान्त्पन्द-	१२९
म पवश्चक्षिणामन्न-	१२	समुच्छ्रितपुरोभागा-	२७	मर्या क्रमलाक्षिणः	४८८
सपदि विजयतैर्नैर्निजित-	१३०	समुत्थाय सामाख्ये	३५६	सरनानि मरीचानि	८३
सपुत्रविटपाटोप	३५९	ममुत्तृजेदनात्मीयम्	३४२	सरनिद्रमन्त्रो-	

सरसीजलमागाढौ	२०४	सलीलमृदुभिर्याति	८४	सारोपं स्फुटिताः केचिद्	१०२
सरस्तरङ्गघोताङ्गा -	७५	सवज्जमणिपाकस्थ	४९१	सा तदाकर्ण्यं संचित्य	४८७
सरस्तीरतच्छायायाम्	२६	सवन. सावनि. सोऽद्रि-	१०४	सा तुष्टेनालिखन्नाम	४५३
सरस्तीरतरुणान्त-	९९	सवमिता भृगं रेजु.	१०२	सा तु षोडशवाऽऽम्नाता	२५४,
सरस्तीरभुवोऽपश्यत्	११	सवागतिश्चयो ज्ञेयो	३३४	सादिना वारवाणानि	२५
सरस्य स्वच्छसलिला	२५	स वा प्रणम्य तीर्थेशम्	४३६	साधनैरमुनाक्रान्ता	६४
सरासि कमलामोदन्	१०	स वैश्रवणदत्तोऽपि	४९८	साधारणास्त्वमे मन्त्रा	३०१
सरांसि ससरोजानि	२	सव्रतो वीरलक्ष्मी च	४१७	सा धुनीव्रलसंधोभाद्	९०
सरितं रोहितास्या च	१२३	स संसितव्रतोऽनाम्बान्	२०९	साधु वत्स कृतं साधु	३२०
सरितोऽमू सम सैन्यैः	८७	स शरो दूरमुत्पत्य	१२०	साधुवादै सदानैश्च	४३१
सरितोऽमूरमाधापा-	६८	स शिखामणयोऽमीषाम्	१४५	साधून् माधुवृत्तत्वम्	१८०
सरितो विपमावर्त-	२०७	स गैल पवनावृत-	९७	सानुकम्पमनुग्राह्ये	२४२
सङ्घबृहस्तदुत्सङ्गो	८९	स श्रीपालकुमारश्च	४९३	सानुगोऽनन्तसेनोऽपि	४१९
स रेमे जरदारम्भे	२३२	स श्रीमानिति विष्वत	३१	सानुरागान् इव रागात्	४३५
सरोजरागस्तानु-	१३६	स श्रीमान् भरतेश्वर.	१७१	सान्द्रपथरज कीर्णा	७३
सरोजल समासे	२	स सत्कारपुरस्कारे	२११	सान्ध्यो राग. स्फुरन् दिङ्	१८८
सरोजलमभूत् कान्तम्	२	ससत्त्वमतिगम्भीरम्	४३	सापि भुवत्वा कुमार तम्	४९२
सरोवगाहनिर्णक्त-	७५	ससम्भ्रमं च सोऽभ्येत्य	९९	सा पुरी गोपुरोपान्त-	१५१
सरोवगाहनिर्बृत-	७३	ससम्भ्रमं सहापेतु	४३८	साज्जवीदिति तद्वृत्तम्	४६२
सर्पिर्गुह्यमीमिश्र-	४७३	ससम्भ्रममिवास्याभूद्	४९	सामजं विजयादाख्यम्	३९५
सर्व प्राणी न हन्तव्यो	३१३	स सर्वमनुभूयायात्	४७२	साम दर्शयता नाम	१८०
सर्वगुप्त प्रियप्रान्त-	३५७	स सर्वस्वक्रवर्त्युक्त-	४९३	सामन्ताणां निवेनेषु	२९
सर्वज्ञाय नमोवाक्यमर्हते	२९९	स साधनं समं भजे	६९	सामवायिकसामन्त-	१०४
सर्वतोभद्रमारुह्य	३७८	स साध्वसा सलज्जा सा	४३२	सामात्य. स महीपाल-	२१७
सर्वद्वन्द्वसहान् सार्वाङ्	१३४	स सा सा तत्तदेवैषा	४४३	साम्नाऽपि दुष्करं साध्या	१८२
सर्वभूपासं दोह-	३९१	स सेहे वधमाक्रोशम्	२११	साम्प्रतं स्वर्गमोगेषु	२५८
सर्वमङ्गलसम्पूर्ण-	३७६	सहंसान् सरसा तीरेषु	१०	साम्राज्य नात्य तोपाय	१५८
सर्वमेतत्समाकर्ण्य बुद्धिम्	३९१	सहकारेण्यमी मत्ता	२१	साम्राज्यमाधिराज्य स्यात्	२८८
सर्वमेतत्सुखाय स्याद्	४९९	सह वक्षोनिवासिन्या-	३६५	सायप्रातिकनि गैव-	३८
सर्वमेतन्ममैवेति मा संस्था	३९०	सह सार्थेन भीमाख्यम्	४६९	सायकोद्भिन्नमालोक्य	३९९
सर्वमेवमयं धर्मम्	२८१	सहसा सर्वतृयणिाम्	३८४	सायमुद्गाहनिर्णक्तैः	२३१
सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूषा-	४९२	सहिता चित्तबेगास्था	४८७	सारङ्गोऽयं तनुच्छाया	२४
सर्वरत्नान् महानील-	२२७	स हृषादिपरमब्रह्मा	२८१	सारदारुगिरितम्भ्य	११४
सर्वशान्तिकरी ध्यातिम्	४२५	सह्योत्सङ्गे लुठन्नन्वि.	८५	सा रात्रिरिति तैल्लापै.	४१७
सर्वसह क्षमाभारम्	२१०	सांशुकर्ममिवोद्यन्तम्	३७४	सार्व कुवलये वेन्दुः सह	३६८
सर्वरस्य व्ययोऽजाय	३६९	साक्षात्कृतप्रस्थितसप्तपदाय	५१५	सार्व समाधिगुप्तस्य	२९४
सर्वारम्भविनिर्मुक्ता	१६५	साक्षिणं परिकल्प्यैनम्	४७३	सार्वज्ञ्यं तव वक्तव्य	१४२
सर्वाङ्गत तजो	१७७	साक्षेपमिति संरम्भात्	४८	सालजितयमुत्तुङ्ग-	१४६
सर्वेऽपि जीवनोपाय	४७५	सा धनस्तनितव्याजात्	२३२	सावच्चरितवृत्तम्	२७१
सर्वेऽपि वृषभसेन-	५१४	साहस्रामिकथो महाभैरव.	२००	सावनिः सावनीबोद्यत्	१३९
सर्वेऽप्यसन्नमव्यत्याद्	४५४	साङ्गो यद्येतयाऽवैवम्	३७९	सा वैश्रवणदत्ता च	४९७
सर्वोऽपि विधिनिर्मुक्ता	१६६	सा चिन्ता जननीत्यस्य	२३५	सा वैश्रवणदत्तो	४९५

साऽऽशाखनि किलायैव ४४२  
 साऽशोककलिका चतुस्रजरीम् २३१  
 सिद्धर्षवृक्षार्द्धं ल- १६६  
 सिद्धवाहिन्यभूच्छाया २३४  
 सिंहा इव नृसिंहास्ते १६७  
 सिंहासने निवेष्टयैनम् १२७  
 सिंहासनोपघाने च २८४  
 सिंहो मृगेन्द्रपातश्च ३१९  
 सितच्छावली रेजे १  
 सितोशुकधर स्त्रयी ९९  
 सितोतपमस्योच्चै ३३  
 सितासिता सितालोल- ४३२  
 सिद्धादिभिजयस्यास्य २९१  
 सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रै २००  
 सिद्धगेपा समादाय ३७७  
 सिद्धशेषासर्तं पुण्यं ९३  
 सिद्धार्चनविधिं सम्यक् २५१  
 सिद्धार्चना पुरस्कृत्य २५३  
 सिद्धार्चनादिक सधौ २४७  
 सिद्धार्चासिद्धौ मन्त्रान् ३००  
 सिद्धार्थापादास्तत्र १३९  
 सिद्धायाऽग्राह तत्सर्वमिति ३६९  
 सिन्धुरोधो मुव- धुन्दन् ११९  
 सिन्धोस्तटवने रम्ये ९३  
 मुकुण्डा पेतुस्तुच्चै १९४  
 मुकुण्डाऽशोकदेवेषु- ४५५  
 मुकुण्डश्च सुराजा च ३२४  
 मुकुण्डे, सूर्यमिवाह्वः ३९५  
 सुरेनुस्तम् दैर्येशः ४५५  
 सुरेनोश्चासिते तस्मिन् ४७८  
 सुव काले गलत्येवम् ४८१  
 सुवप्रणयि, मन्त्राप्य ४४१  
 सुवागुल बलाहारी ३३९  
 सुगमिकलमानोद- १७५  
 सुगमिपन्नानोद- १३८  
 सुगमिन्मूलनिष्वासा १२  
 सुगमि नलिल नाङ्गम् ४४९  
 सुचिर नर्तनोद्द- ४०७  
 सुनयश्च सुरागन्ध- ५०२  
 सुन, सुदेरमिस्त- ४४८  
 सुग विनयनान्ध- ४९१  
 सुगवतुर्गोस्त्रायै ३५८

सुता सागरसेनस्य ४९५  
 सुतीक्ष्णा वीक्षणामि- ४००  
 सुदूरपारगम्भीरम् ३५५  
 सुद्योगुह्यतिनमिना २३५  
 सुन्दरेण्वपि कुन्देषु ३७३  
 सुप्रयोगा नदी तीर्त्वा ७०  
 सुभगेति च देव्यस्ता ४७७  
 सुमतस्त निशम्यार्यम् ३७०  
 सुमत्याख्यामला- ३६४  
 सुमनोवर्षमातेनु ११  
 सुमनोवृष्टिरापस्तद् १३७  
 सुमुखस्तद्ब्रह्माभारमिव- ४३१  
 सुरक्षेचरभूपाला ४३६  
 सुरकुन्दुभयो मन्दम् १४४  
 सुरदेवस्य सद्वाक्यं ४३७  
 सुरदोषारिकारदय- १३८  
 सुरम्ये विषये श्रीपुराविप ४८१  
 सुरसा कृतनिर्वाणा ८१  
 सुरसा जातश्च केचित् १५१  
 सुराणामभिगम्यत्वात् १३६  
 सुराश्चैवसकम्येन २१८  
 सुराण्डेपूर्वगम्याद्विम् ९२  
 सुरेन्द्रजन्मना मन्दराभि- ३०८  
 सुरेन्द्रमन्त्र एव स्यात् २९८  
 सुरेभं शरदभ्राभम् ३३  
 सुरैरासेवितोपान्ते १४४  
 सुरैरित्यर्चित प्राप्ते- २१८  
 सुरैरश्चिष्टमेतत्ते १४४  
 सुलोचना महादेवीम् ४४१  
 सुलोचनाम्यसहार्थोका- ५०४  
 सुलोचनाभिधाकृष्टि- ३७३  
 सुलोचनामनोवृत्ति- ४३२  
 सुलोचनामुखाम्भोज- ४३१  
 सुलोचनाऽमी बालिव ३६४  
 सुलोचनेति का वार्ता ४२६  
 सुलोचनेति नः ४२८  
 सुवर्णघातुरधवा २७७  
 सुस्वनन्त वनन्त लम् ३९४  
 सुवर्ण गणधर्तृव्यम् ३१०  
 सुवर्णोपानिकं चाम्य २५०  
 सुतु स्तनितवेगम् ४८२  
 सुवर्णानि पद्माम्पटा १३६

सूर्याचन्द्रममौ वा ४१३  
 सृष्टि, पितामहेत्यम् ३८८  
 सृष्टपन्तरमनो द्वारम् ३१३  
 सेनानोप्रमुखास्तावत् १५२  
 सेनानोरपि वधाम ६९  
 सेनान्तो वृषभ, कुम्भी ३५६  
 सेनान्य बलव्यायै ३८  
 सेवागतं पृथिव्यादि- २६२  
 सैनिकैर्यमारु २३  
 सैन्ये च कृतमन्त्राहं २६६  
 सैन्यैरनुगतो रेजे १५१  
 सैन्यानुवर्तनीया न १९१  
 सैपा चतुष्टयी वृत्ति- ३३२  
 सैपा निष्क्रान्तिरस्येष्टा २६४  
 सैपा सकलवृत्ति स्यात् २८३  
 सौञ्चल, प्रभुमायान् १२८  
 सौञ्चल, मिश्ररोपास्त- ९७  
 सौदुम्नकं खलमन्त्रै ४११  
 सौञ्चल्यत तपस्वपत् २१८  
 सौत्पला कुञ्जकृद्ब्रह्म २३३  
 सौदवा त्व ममादायि ५०१  
 सौश्या विपुलगाहारम् ३२५  
 सौञ्जीतो पदविद्याम् ३६८  
 सौञ्जु रूप ततो लब्धा २५०  
 सौञ्ज पुरे चरेन् पात्रम् २८९  
 सौञ्जव्य भ पिता तादृक् ८२०  
 सौञ्जीय ववित चैवेयम् १८८  
 सोपप्रधान नामादौ १८०  
 सोऽप्यभिगमोपानं १३  
 सोर्गि भाक् प्रतिपाद्यन् ४८८  
 सोऽपि नदं गमि गान् ८०१  
 सोऽभिषिक्तोऽनन्दिनो २०५  
 सोऽमेघो नोनिचुम्नः १८३  
 सोऽय चन्द्रमाभातो ४०  
 सोऽय नृगमन्त्रादरा २५५  
 सोऽय नृगवर्गा दाह- १३०  
 सोऽय मादिनानामयं ३६५  
 सोऽयमष्टादशैष्टो १३५  
 सोऽयमोपा च ३८६  
 सोऽयमष्टादशैष्टो १३५  
 सोऽयमष्टादशैष्टो १३५

सौरभेयान् स षृङ्गाग्र-	११	स्फुरत्पुष्पसपात-	८३	स्वप्नाना द्वैतमस्त्यन्यद्	३२१
स्कन्धावारं यथास्थानम्	४३४	स्फुरत्पुष्पशाङ्गल-	१६६	स्वप्नानेव फलान्येतान्	३२३
स्कन्धावारनिवेगोऽय	९०	स्मितमालोकिन्तं हासो	२३०	स्वप्राञ्चभयसम्बन्धम्	४६२
स्खलति स्म कलाकापा	४३२	स्मितज्वाला दुरोद्भिन्नो	२२५	स्वप्राणनिर्विशेषश्च	२५८
स्तनाङ्गरागसंमर्दी	१९२	स्मितः प्रसादै सजल्य-	६५	स्वप्राणव्ययसतुष्टे	४०९
स्तनावजकुड्मलैरास्य-	२२४	स्मृत्वा ततोऽर्हद्वर्णानाम्	३२४	स्वभावदुर्गमे तन्न	११७
स्तुतिं निन्दा सुखं दुःखम्	१६९	स्यात् परमकाङ्क्षिनाय	२९९	स्वभावपक्षे चास्मिन्	१७३
स्तुतिनिन्दे कृतिं श्रुत्वा	३५२	स्यात् परमनिस्तारक-	३०९	स्वभावबुभुगा दृष्टहृदया	४३९
स्तुत्वा स्तुतिभिरीक्षानम्	३१९	स्यात् परमविज्ञानाय	२९९	स्वभुक्तिक्षेत्रसीमानम्	१२४
स्तूपाश्च रत्ननिर्माणा	१३९	स्यात् प्रजान्तरसंबन्धे	३१४	स्वभ्यस्तात् पञ्चमादङ्गाद्	१६३
स्त्रीरत्नगजवाजीनाम्	२२८	स्यात् प्रीतिमन्त्रस्त्रीलोक्य-	३०२	स्वय कस्यचिदेकस्य	१२५
स्त्रीषु मायेति या वार्ता	४४७	स्यात् समञ्जसवृत्तित्वम्	२६४	स्वयं च सञ्चितताघाति	४२५
स्थलाब्जवाङ्मिनी हसो	२०	स्यादस्त्येव हि नास्त्येव	१४२	स्वयं तदा समालोच्य	४८२
स्थलाब्जिनीवनाद् विष्वक्	१२१	स्यादव्यव्याधिकारेऽपि	३१३	स्वयं धीतमभाद् व्योम-	५
स्थलाम्भोरुहिणीवास्य	१२१	स्यादेव स्त्री प्रनृत्यन्ती	४८०	स्वयंप्रभ. सुरस्तस्माद्	५०८
स्थलेषु पद्मपद्मिन्यो	२०	स्यादस्य सुखमप्येवम्	३३८	स्वयं मनोहर वीणा	४४८
स्थानाध्ययनमध्याय	१६३	स्याद्यत्किञ्चिच्च सावद्यम्	१६७	स्वयं महान्धयत्वेन	३३२
स्थानान्येतानि सप्त स्यु	२४५	स्यादारेका च पट्कर्म-	२८२	स्वयं व्यधूयतास्योच्चै-	२१८
स्थानेऽप्यस्तिमन्यथादेनम्	४८७	स्याद्दण्डवर्त्यत्वमप्येवम्	३१४	स्वयं स्तनितवेगोऽसौ	४८२
स्थालीना कोटिरैकोक्ता	२२६	स्याद्देवब्राह्मणायेति	२९५	स्वयमर्षपथ गत्वा	३७४
स्थित प्रावतनक्षणेण	४८९	स्यान्निरामिपभोजित्वम्	३११	स्वयमर्पितसर्वथा-	६४
स्थितश्चर्या निपद्याम्	२११	स्यान्निरामिपभोजित्वम्	२७१	स्वयमागस्य केनाव	४३८
स्थितस्तत्र स्मरक्षेवम्	४८८	स्वग्री सदगुको वीप्र	२५७	स्वराज्यमधिराज्ये	२६०
स्थिता पश्चिमपादाभ्याम्	४०३	स्वं ग्राममृगरूपेण	४८४	स्वर्गं समुदपपद्येताम्	४६८
स्थिता तत्रैव सा कीर्ति.	४१६	स्वं मणिस्नेहदोषादि-	२८५	स्वर्गोद्यानश्चियमिव हसति	५५
स्थिता सामयिके वृत्ते	१६२	स्वं स्वापतेयमुचितम्	२८६	स्वर्गुनीशीकरपरिधि-	८
स्थित्वा महन्त्रवत्तोऽपि	३८१	स्वं स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा	२८५	स्वर्गुनीशीकरासार-	१२६
स्थिरप्रकृतिस्त्वानाम्	९६	स्वकामि-भिन्नारब्ध-	१९२	स्वर्गक्षेमनिर्देश्यम्	२८५
स्थूलनीलोत्पलावदस्फुरद्-	३७१	स्वकुलान्युत्सुकानीव	१५५	स्वर्गक्षमोव्याप्तसर्वाथ	३७८
स्नपनोदकधीताङ्गम्	२४८	स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा	२८७	स्वविमानद्विदानेन	२५७
स्नेहेनष्टवियोगीत्य	५०८	स्वगुरुस्थानर्धकान्ति-	२४४	स्ववृत्तान्तं साह्याय	५०२
स्नग्दत्यन्दनचक्रोत्थ-	३९२	स्वगेहादिपु संप्रीत्या	३७४	स्वसारं च नमर्धन्याम्	१२८
स्पृशन्नपि मही नैव	२७९	स्वच्छं स्व हृदयं स्फुटं	८०	स्वसोभागवदशात् सर्वान्	३७९
स्फुटद्वेगूदरोन्मुक्तै	८९	स्वतटस्फटिकोत्सर्पत्	१२४	स्वस्तोत्पाकुलकुल्योम-	१२५
स्फुटन्निम्नोन्नतोद्देशे	८९	स्वतटाश्रयिणी वृत्ते	१९	स्वाम प्रमाजनार्थज्या-	२१७
स्फुटालोकोऽपि सद्वृत्तो	४१२	स्वतन्त्रस्य प्रभो सत्यम्	१८०	स्वाज्यन्यागुगमोऽस्त्येको	२१७
स्फुटीकरणमस्यैव	३३६	स्वदेव्या चित्रसेनायाम्	४८८	स्वादरेणैव संक्षिप्तम्	३७४
स्फुरज्य वज्रकाण्डम्	४६	स्वदेशे वासस्तस्मैच्छान्	३४६	स्वाद्यं चामृतकल्पाख्यम्	२३६
स्फुरदामरणोद्योत-	१७६	स्वदेशोद्भवैरेव संपूजितो-	५१४	स्वाद्यं चामृतकल्पाख्यम्	८३
स्फुरद्गम्भीरनिर्घोष	१४१	स्वदोद्गमफलं कलाध्यं	१८२	स्वाध्याययोगसम्बता-	१६७
स्फुरमणितटोपान्त-	१३५	स्वपक्षैरेव तेजस्वी	१५४	स्वाध्यायेन मनोरोध	१६२
स्फुरन्मोर्वीरवस्तस्य	४६	स्वपूर्वापरकोटिभ्याम्	१२२	स्वानुरागं जये व्यवतम्	५०१

स्वामिसमानदानादि-	४०९	हरन् करिकराकार-	४४४	हिमवद्विधृतां पूज्याम्	१३
स्वामीष्टभूयन्वादि-	२८६	हरिणोप्रेक्षितेज्वेता	२५	हिमवानयमुत्तुङ्गा	१२२
स्वापम्भुवान्मुखाज्जाता	२८०	हरितैरङ्कुरै पुष्पै-	२४०	हिमाचलमनुप्राप्त	११९
स्वावास सप्रविबोधोच्चै-	४३९	हरिद्रारञ्जितसम्भु	२८	हिमाचलस्थलेज्जस्य	१२१
स्वास्वै शस्त्रैर्नभोगानाम्	४०१	हरिन्मणिप्रभाजालै	१३२	हिमानिलै कुचोत्कम्पम्	२३०
स्वाहान्तं सत्यजाताय	२९४	हरिन्मणिप्रभोत्सर्पे	४४	हिरण्यवर्मण सर्व-	४६२
स्वीकुर्वन्निन्द्रयावासम्	३३६	हरिन्मणिप्रभोत्सर्पे	८५	हिरण्यवर्मणा ज्ञातजन्मना	४६०
स्वीकृतस्य च तस्य	३४५	हरिन्मणिमयस्तम्भ -	१७७	हिरण्यवृष्टि वनदे	२५९
स्वीकृत्य धयनाध्यक्षम्	४५०	हरिवाहननामाद्यो	५०९	हिरण्यसूचितोत्कृष्ट-	२५९
स्वेदविन्दुमिराबद्धः	२७	हरीशस्त्ररनिभिन्न-	१३४	हुम्भारवभृतो वरसान्	६
स्वेन मूर्ध्ना बिभर्त्येव	१२३	हवि पीयूषपण्डेन	२१८	हृतसारस्रजसारै-	४४५
स्वैर अपृहुरावासम्	९९	हविष्पाके च धूम्रे च	३०१	हृतालिकुलस्रजकार-	२३१
स्वैर न पपुरम्भासि	७४	हसन्तमिव फेनीषे	४०	हृत्वा सरोज्ज्वलकिरणो	७६
स्वैर नवाभ्युपरिपीतमयस्म-	७६	हस्तितन्त्रेऽश्वतन्त्रे च	३२८	हृदये त्वयि सनिधापिते	४२२
स्वोचितासनभेदानाम्	२८५	हस्तितना पदरक्षायै	१०३	हृदि धर्ममहारात्मन्	३५४
स्वोपधानाद्यनादुत्य	२८५	हस्त्यश्वरथपत्न्यौघम्	३९८	हृदि नाराचनिभिन्ना-	४०९
स्वोन्ने प्रयुक्ता सवे	३५२	हस्त्यश्वरथपादातम्	६२	हृदि निभिन्ननाराचो	४१६
<b>ह</b>					
हंसपोत ह्वाग्विच्छन्	१८९	हा दुष्टं कृतमित्युच्चै	२०९	हृच्चै- ससारसारारैः	१६
हंसपूनाञ्जकिञ्जल्क-	१०	हा मे प्रभावतीत्याह	४५९	हृष्ट सुप्रभया चामा	४२५
हंसस्वनानकाकाश-	३	हा मे प्रभार्वतीत्येतद्	४४६	हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैतम्	२७०
हसा कलमपण्डेषु	२६	हारान्तस्तनाभोग-	२२९	हेमपञ्चाकितौ तन्मया	२२९
हसोऽय निजबावाय	२०	हारिणीतस्वनाकुण्डै	१२	हेमस्तम्भाग्रविन्यस्त-	१३७
हृत्पटकुटीकोटि-	४३४	हारिभि किशरोद्गोतै	१६	हेमाङ्गव समोदयम्	४४१
हृत एव सुतो भर्तु-	४२०	हारोऽयमतिरोचिष्णु	५०	हेमाङ्गदकुमारेण	४३४
हृतावचरभार्याज	४८८	हास्तिनाथ्य पुर तत्र	३५८	हेमाङ्गदसुकेतुधी	३६४
हत्वा भूमौ विनिक्षिप्त-	४७१	हा हृतोऽसि चिरं जन्तो-	४४२	हेयोपेयविवेक क	४३७
हृषान् प्रतिष्कषीकृत्य	४०३	हिमचन्दनसमिश्र-	४४६	हैमनीपु त्रियामासु	१६५
हर्षेनैव दुरारोहाज्यै-	४२६	हिमवज्जयशसीनि	१२१	हैयङ्गवीनकलशै	१३
		हिमवत्पद्मयोगञ्जा	३६४	हृदस्यास्य पुर- प्रत्यक्	१२३
		हिमवद्विजयोद्देशी	२२२	हृत्स्ववृत्तसुरास्तुङ्गा	२७



## पारिभाषिक शब्द-सूची

**अ**  
**अक्षीणमहानस-** जैन मुनिकी एक ऋद्धि, जिसके प्रभावसे जहाँ इस ऋद्धिप्राप्त मुनिका भोजन होता है वहाँकी भोजन-सामग्री अक्षीण हो जाती है। अर्थात् वहाँ कितने ही लोग भोजन करते जाये, पर भोजन-सामग्री कम नहीं होती। ३६।१५५  
**अक्षीणावस्थ-** जैन मुनिकी एक ऋद्धि, जहाँ इस ऋद्धिका धारक मुनि निवास करता है, वहाँ छोटे स्थानमें भी बहुत बड़ा समूह भी स्थान प्राप्त कर सकता है। ३६।१५५  
**अग्रनिवृत्ति-** गर्भान्वय क्रियाका एक भेद। ३८।६२  
**अणिमादिगुण-** अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईक्षित्व और वंशित्व ये आठ सिद्धियाँ अथवा गुण कहलाते हैं। ३८।१९३  
**अजीव-** जानने देखनेकी शक्तितसे रहित। इसके पाँच भेद हैं - १ पद्मल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल। ३४।१९२  
**अणुव्रत-** हिंसादि पाँच पापोंका एकदेश त्याग करना, ये अहिंसाव्रत आदि पाँच हैं। ३९।४  
**अनुप्रेक्षा-** परार्थके स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना। इसका दूसरा नाम भावना

है। ये बारह होती हैं - १ अनित्य, २ अशरण, ३ ससार, ४ एकत्व, ५ अन्धत्व, ६ अशुचित्व, ७ आलस्य, ८ सवर, ९ निर्जग, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ, और १२ धर्मस्वाख्यातत्व। ३६।१५९-१६०  
**अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग-** द्वादशाङ्गका चौथा भेद। जिसमें प्रत्येक तीर्थकारके तीर्थमें उपसर्ग सहन कर अनुत्तर विमानोमें उत्पन्न होनेवाले दश-दश पुरुषोंका वर्णन होता है। ३४।१४२  
**अनुत्थान-** अङ्गसहित वेदका अध्ययन करनेवाला ३९।५३  
**अनुप्रवृद्धकल्याण-** एक उपोषित व्रतका नाम ४६।१००  
**अन्तकृदशाङ्ग-** द्वादशाङ्गका आठवाँ भेद ३४।१४२  
**अन्वयवृत्ति-** पुत्रके लिए परिग्रहका भार सौपना। इसीका दूसरा नाम सकलवृत्ति है। ३८।४०  
**अपायविचय-** धर्म्यध्यानका एक भेद ३६।१६१  
**अब्ज-** चक्रवर्तीकी एक निधि। इसीका दूसरा नाम शङ्ख भी है ३७।७३  
**अभिषेक-** गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०  
**अवतार-** गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०  
**अवतार-** दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४  
**अरिषड्वर्ग-** काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये छह

अन्तरङ्ग शत्रुओंका समूह है। ३८।२८०  
**अलोक-** लोकके बाहरका अनन्त आकाश ३३।१३२  
**अश्व-** चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न ६७।८४  
**असि-** चक्रवर्तीका एक निर्जिव रत्न ३७।८४  
**आ**  
**आर्किचम्य-** परिग्रहका त्याग करना ३६।१५७  
**आचाराङ्ग-** द्वादशाङ्गका पहला अङ्ग, जिसमें मुनियोंके आचारका वर्णन है। ३४।१३५  
**आज्ञाविचय-** धर्म्यध्यानका एक भेद ३६।१६१  
**आतपत्र-** चक्रवर्तीका एक निर्जिव रत्न ३७।८४  
**आतपयोग-** ग्रीष्म ऋतुमें पर्यंत-चतुर्नोपर ध्यान करना ३४।१५४  
**आधान-** गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५  
**आवश्यक-** अवश्य करने योग्य छह कार्य - १ समता, २ वन्दना, ३ स्तुति, ४ प्रतिक्रमण, ५ स्वाध्याय और ६ व्युत्सर्ग ३६।१३४  
**आर्जव-** मायाचारको जीतना ३६।१५७  
**आर्थ षट्कर्म-** इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, सयम और तप ये आर्थोंके छह कर्म हैं। ३९।२४  
**आर्हती-** अरहन्त सम्बन्धी ३६।११५

आहन्त्य-गर्भान्वय । का एक भेद ३८।६२  
 आहवनीय- वह अग्नि जिसमें गणधारोंका अन्तिम संस्कार होता है ४०।८४  
 आष्टाहिक- पूजाका एक भेद । कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ मासके अन्तिम आठ दिनोंमें नन्दीश्वर द्वीप सम्बन्धी ५२ शैत्यालयोगी पूजा ३८।२६  
 इ  
 इत्या- पूजा, पूजाके चार भेद हैं १ मदार्षन (नित्यमह), २ चतुर्मुख मह, ३ कल्पद्रुम-मह और ४ आष्टाहिक-मह ३८।२६  
 इन्द्रत्याग- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०  
 इन्द्रोपपाद- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०  
 इम- चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न-हाथी ३७।८४  
 उ  
 उत्तमक्षमा- क्रोधपर विजय प्राप्त करना ३६।१५७  
 उत्तर गुण- मुनियोंके चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं ३६।१३५  
 उपधा- धर्म, अर्थ, काम और भयके समय किसी बहानेसे दूसरेके चित्तकी परीक्षा करना उपधा है । ४४।२२  
 उपनीति- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६  
 उपयोगिता- दीक्षाव्यय क्रियाका एक भेद ३८।६४  
 उपासकाध्याय- द्वादशाङ्गका सातवां भेद जिसमें श्रावका-चारका वर्णन है ३४।१४१  
 ऋ  
 ऋतु- स्त्रीकी रज बुद्धिके दिन-

से लेकर पन्द्रह दिन तकका काल ऋतुकाल कहलाता है । ३८।१३४  
 ऋद्धि- तपसे प्रकट हुई विविष्ट शक्तियाँ । ये बुद्धि, विक्रिया आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी होती हैं ३६।१४४  
 ऐ  
 ऐन्द्रध्वज- इन्द्रोके द्वारा की हुई पूजा । पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाकी पूजा इन्द्रध्वज पूजा है । इसमें मनुष्यमें इन्द्रका आरोप कर उसके द्वारा पूजा की जाती है ।  
 औ  
 औषधद्धि- इसके अनेक भेद हैं आमर्ष, च्वेल, जल्ल, मल्ल आदि ३६।१५३  
 क  
 कर्मचक्र- ज्ञानावरणादि कर्मोंका समूह ४३।२  
 कर्मत्रय- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय ४७।२४७  
 कर्त्रन्वय क्रिया- एक विविष्ट क्रिया, इसके ७ भेद हैं ३८।५१  
 कल्पद्रुम- जिनपूजाका एक भेद । इसे चक्रवर्ती ही कर पाता है । ३८।२६  
 कषाय- क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं ३६।१३९  
 काकिणी- चक्रवर्तीका एक रत्न जिससे दीवालपर लिखनेसे प्रकाश उत्पन्न होता है, ३२।१५  
 कारुण्य- दुखी जीवोंका दुःख दूर करनेका भाव होना ३९।१४५  
 काल- चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३

कुल- पिताकी वंशशुद्धि ३९।८५  
 कुलचर्चा- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७  
 कृतयुग- चतुर्थकाल ४१।५  
 केशवाप- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६  
 केवलाल्य ज्योति- केवलज्ञान-रूपी ज्योति ३३।१३२  
 कोष्ठबुद्धि- बुद्धिगृह्यिका एक भेद ३६।१६  
 क्षपकश्रेणी- चारित्र्य मोहका क्षय करनेके लिए परिणामोकी विद्युद्धता । यह विद्युद्धता आठवेंसे दसवें गुणस्थान तक रहती है ४७।२४६  
 क्षयोपशम- चातिया कर्मोंकी एक अवस्था विशेष, जिसमें वर्तमान कालमें उदय आनेवाले सर्वधाति स्पन्दकोका उदयाभावी क्षय आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वधाति स्पन्दकोका सदवस्था रूप उपशम और वेशधाति स्पन्दकोका उदय रहता है ३६।१४५  
 कव्याद-मास खानेवाले व्यक्ति ३९।१३७  
 ग  
 गण- समवसरणकी १२ सभाएँ ३३।१५७  
 गणग्रह- दीक्षाव्यय क्रियाका एक भेद ३८।६४  
 गमग्रह- मिथ्या देवों-देवताओंको अपने घरसे अन्यत्र विस्तारित करना ३९।४५  
 गणोपग्रहण- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५८  
 गन्धकुटी- समवसरणका वह मूलस्थान जहाँ भगवान् विराजमान रहते हैं ३३।१५०

गर्भान्वय क्रिया— एक विभेप  
प्रकारकी क्रिया, इसके ५३  
भेद होते हैं । ३८।५१

गार्हपत्य— जिस अग्निसे तीर्थंकर  
के मृत शरीरका दाह  
संस्कार होता है वह अग्नि  
४०।८४

गुप्तित्रयी— १ मनोगुप्ति, २ वचन-  
गुप्ति, ३ कायगुप्ति ३६।  
१३८

गुरुपञ्चोपलम्भन— गर्भान्वय  
क्रियाका एक भेद ३८।६१

गुरुस्थानाभ्युपगम— गर्भान्वय  
क्रियाका एक भेद ३८।५८

गृहत्याग— गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।५७

गृहपति— चक्रवर्तीका एक सचे-  
तन रत्न ३७।८४

गृहिसृष्ट्याष्टक— गृहस्थके आठ  
मूलगुण— १ मद्यत्याग, २  
मांसत्याग, ३ मधुत्याग,  
४ महिसामुद्रत, ५ सत्यानु-  
व्रत, ६ अचौर्यानुव्रत, ७  
ब्रह्मचर्यानुव्रत और ८ परि-  
ग्रहपरिमाणावुव्रत ४६।  
२६९

गृहीशिता— गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।५७

घ

घातिकर्म— ज्ञानावरण, दर्शना-  
वरण, मोहनीय और अन्त-  
राय ये चार घातियार्कर्म  
कहुलाते हैं । ३३।१३०

च

चक्रधर— चक्रवर्ती भरत । भरत,  
ऐरावत और त्रिवेह क्षेत्रमें  
चक्रवर्ती होते हैं । ये पट्ट-  
खण्ड भूमण्डलके स्वामी  
होते हैं । इन्हें देवोपनीत  
चक्ररत्न प्राप्त होता है ।  
ये दश कोड़ाकोड़ी सागरके  
अवमपिणो तथा जत्-

सपिणो युगमें बारह-बारह  
होते हैं । भरतक्षेत्रका पहला  
चक्रवर्ती भरत था जो कि  
प्रथम तीर्थंकर वृषभदेवका  
पुत्र था २६।१

चक्रलाम— गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६१

चक्रामिपेक— गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६२

चतुर्गति— नरक, तिर्यच, मनुष्य  
और देव ये चार गतियाँ  
हैं । ४२।९३

चतुर्दश महाविद्या— उत्पादपूर्व  
आदि चौदह पूर्व ३४।१४७

चतुर्मुखमह— पूजाका एक भेद,  
महामुकुटवद्ध राजाओंके  
द्वारा यह की जाती है ।  
इसका दूसरा नाम सर्वतो-  
भद्र है ३८।२६

चतुर्भेद ज्ञान— मतिज्ञान, श्रुत-  
ज्ञान, अवधिज्ञान, मन-पर्यव  
ज्ञान ३६।१४५

चमूपति— सेनापति, चक्रवर्तीका  
एक सजीव रत्न ३७।८४  
चर्म— चक्रवर्तीका एक निर्जीव  
रत्न ३७।८४

चर्या— मन्त्र, देवता, औषध  
तथा आहार आदिके लिए  
हिंसा नहीं कहेगा ऐसी  
प्रतिज्ञा धारण करना ३९।  
१४५-१४७

चातुराश्रम्य— कृत्यचर्य, गृहस्था-  
श्रम, वानप्रस्थ और संन्यास  
ये चार आश्रम हैं । ३९।२४

चार आराधना— १ सम्यग्दर्शन,  
२ सम्यग्ज्ञान, ३ सम्यक्-  
चारित्र और सम्यक् तप ये  
चार आराधना हैं ४७।४००

ज

जाति— माताकी अन्वय शुद्धि  
३९।८५

जातिब्राह्मण— तप और श्रुतसे  
रहित नाम मात्रके ब्राह्मण  
जातिब्राह्मण हैं, ३८।४५

जिनरूपवा— गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।५७

जीव— जानने देखनेकी शक्तसे  
युक्त जीव द्रव्य ३४।१९२

ज्ञानधर्मकया— द्वादशाङ्गका  
छठवाँ भेद ३४।१४०

त

तश्चन्— चक्रवर्तीका एक सचेतन  
रत्न ३७।८४

तद्विहार— गर्भान्वय क्रियाका एक  
भेद ३८।६२

तप— इच्छाका निरोध करना तप  
है । इसके बारह भेद हैं—  
१ अनशन, २ ऊनीदेर, ३  
वृत्ति परिमंस्थान, ४ रस-  
परित्याग, ५ विविक्त-  
गम्यासन, ६ कायक्लेष, ७  
प्रायश्चित्त, ८ विनय, ९ वैया-  
वृत्य, १० स्वाध्याय, ११  
भुत्सर्ग और १२ ध्यान  
३८।४१

तप ऋद्धि— इसके उग्रोग्रतप,  
दीप्ततप, धीरतप आदि  
अनेक भेद हैं ३६।१४९-  
१५१

तीर्थ— तीर्थंकरका प्रवृत्तिकाल  
३४।१४२

तीर्थकृद्भावना— गर्भान्वय क्रिया-  
का एक भेद ३८।५७

तिष्यादिपञ्च— तिथि, ग्रह, नक्षत्र,  
योग और करण ४५।१७९  
त्याग— विकार भावोंको छोड़ना  
३६।१५७

त्रस— चलने-फिरनेवाले जीव  
दीर्न्द्रिय, शीर्न्द्रिय, जगुरि-  
न्द्रिय, पंचेन्द्रिय ३४।१९४

त्रिगौरव— १ रस गौरव, २ शब्द-  
गौरव, ३ ऋद्धिगौरव,  
गौरव = अहंकार ३६।१३७

त्रैगुण्यसंशिता— सम्प्रदर्शन,  
सम्प्रज्ञान और सम्प्रक-  
चारित्र सम्बन्धी ३९।११५

द्व

दक्षिणाग्नि— वह अग्नि जिसके  
द्वारा सामान्य केवलियोंके  
शरीरका दाह संस्कार  
होता है ४०।८४

दण्डकपाटादि— केवलिसमुद्घात-  
के भेद— १ दण्ड, २ कपाट,  
३ प्रतर और ४ लोकपूरण  
३८।३०७

दण्ड— चक्रवर्तीका एक निर्जोव  
रत्न ३७।८४

दधि— दान, इनके चार भेद हैं—  
१ पावदत्ति, २ समदत्ति,  
३ अन्यदत्ति और ४  
करणादत्ति ३८।३५-३६  
दयादत्ति— करुणा दान ३८।३६  
दशधर्म— १ क्षमा, २ मार्दव,  
३ आर्जेव, ४ शौच, ५  
सत्य, ६ संयम, ७ तप,  
८ त्याग, ९ आर्क्षिक्य और  
१० अहंस्वयं ३६।१३७

दिव्या जाति— इन्द्रकी जाति  
दिव्या जाति कहलाती है।

३९।१६८

दिसाअय— गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६१

दीक्षाध— गर्भान्वय क्रियाका एक  
भेद ३८।५७

दीक्षान्वय क्रिया— एक विशिष्ट  
क्रिया, इसके ४८ भेद होते  
हैं। ३८।५१

दीपोद्दीपनसंविधि— पूजाके  
समय दीपक जलाना। इस  
कार्यमें दक्षिणाग्निका प्रयोग  
होता है। ४०।८६

दृष्टिवाद— द्वादशाङ्गका बारहवां  
भेद ३४।१४६

द्वादशगण— समवसरणमें गन्ध-  
कुटीमें चारों ओर परिक्रमा  
७१

रूपसे स्थित बारह सभाएँ  
४२।४५

द्वादशाङ्ग— आचाराङ्ग आदि  
बारह अङ्ग ३४।१३३

द्विज— ब्राह्मण, क्षत्रिय और  
वैश्य ३८।४८

द्वितीय शुक्लध्यान— एकत्व-  
वितर्क, यह बारहवें गुण-  
स्थानमें होता है ४७।२४७

द्विधाम्नात— अन्तरङ्ग और बहि-  
रङ्गके भेदसे दो प्रकारका  
माना हुआ ३४।१७२

द्विरष्टौ भावना— सोलह कारण  
भावनाएँ १ दर्शनविक्षुद्धि,  
२ विनयसम्पन्नता, ३ शील-  
व्रतज्वनती चार, ४ आभीष्टण  
ज्ञानोपयोग, ५ सवेग, ६  
शक्तितत्त्वाग, ७ शक्ति-  
तत्त्वप, ८ साधुसमाधि, ९  
वैद्यावृत्यकरण, १० अहं-  
भक्ति, ११ आचार्यभक्ति,  
१२ बहुभुतभक्ति, १३ प्रव-  
चन भक्ति, १४ आवश्यक-  
परिहाणि, १५ मार्गप्रभावना  
और १६ प्रवचनवात्सल्य

ध

धर्मध्यान— ध्यानका एक भेद,

इसके चार भेद हैं— १

आज्ञाविचय, २ अपायवि-

चय, ३ विपाकविचय और

४ सत्त्वानविचय ३६।१६१

धूलीसाल— समवसरणका एक  
कोट जो कि रत्नमयी धूलीसे  
निर्मित होता है ३३।१६०

धृति— गर्भान्वय क्रियाका एक  
भेद ३८।५५

न

नामकर्म— गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।५५

निगोत— सम्मुखनि जीव विशेष  
३८।१८

निःसङ्गतात्मभावना— गर्भान्वय

क्रियाका एक भेद ३८।५९  
निर्वरा— कर्मोंका एकदेग क्षय  
होना ३६।१३८

निपद्या— गर्भान्वय क्रियाका एक  
भेद ३८।५५

निष्क्रान्ति— गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६२

नैःसर्प— चक्रवर्तीकी एक निधि  
३७।७३

नौकर्म— औदारिक, वैक्रियिक,  
आहारक शरीर ४२।९१

प

पक्ष— एक वृत्तिका भेद— जिन-  
चर्मका पक्ष स्वीकृत करना  
३९।१४५

पञ्चनमस्कारपद्— णमीकार-  
मन्त्र णमो अरुहन्ताण आदि  
३९।४३

पञ्चेन्द्रिय— १ स्पर्शन, २ रसना,  
३ घ्राण, ४ चक्षु और ५  
कर्ण ये पाँच इन्द्रिय हैं  
३६।१३०

पञ्चोदुम्बर— दव, पीपल, पाकर,  
ऊमर और अज्जीर  
३८।१२२

पक्ष— चक्रवर्तीकी एक निधि  
३७।७३

परमनिर्वाण— कर्मन्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६७

परमा जाति— अर्हत्त मगवान्की  
परमा जाति कहलाती है  
३९।१६८

परमाहन्त्य— कर्मन्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६७

परमावधि— अवधिज्ञानका एक  
भेद, जो मुनियोंके होता है  
३६।१४७

परमधिष्— अर्हत्त, मिट्ट,  
आचार्य, उपाध्याय और  
नाथ ये पाँच परमंटी हैं  
३८।१८८

परिपह— नमता भावसे आगम

विपत्तिको सहन करना ।  
 इसके २२ भेद हैं—१ क्षुवा,  
 २ तुषा, ३ शीत, ४ उष्ण,  
 ५ दशमंशक, ६ नाग्न्य, ७  
 अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या,  
 १० निषद्या, ११ शय्या,  
 १२ आक्रोश, १३ वध, १४  
 याचना, १५ अलाभ, १६  
 रोग, १७ तृणस्पर्श, १८  
 मल, १९ सत्कार पुरस्कार,  
 २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान और  
 २२ अवधान, ३६।१२८

पर्णलक्ष्मी—एक विद्या, जिसके  
 प्रभावसे भारी शरीर पत्ते-  
 के समान हलका होकर  
 आकाशसे नीचे आ जाता  
 है ४७।२२

पथयज्ञ—एक आसन—पालकी  
 ३४।१८८

पाण्डुक—चक्रवर्तीकी एक निधि  
 ३७।७३

पात्रदान—मुनि-आयिका, आचक-  
 आचिक आदि चतुःसंघको  
 विधिपूर्वक दान देना  
 ३८।३७

पारिव्रज्य—कर्मन्वय क्रियाका  
 एक भेद ३८।६७

पिङ्ग—चक्रवर्तीकी एक निधि  
 ३७।७३

पुण्ययज्ञ—दीक्षान्वय क्रियाका  
 एक भेद ३८।६४

पुराकल्प—पञ्चमकाल ४।१३

पुरोधस्—चक्रवर्तीका पुरोहित  
 रत्न ३७।८४

पूजाराध्य—दीक्षान्वय क्रियाका  
 एक भेद ३८।६४

प्रतिमा योग धारण—पर्वके उप-  
 वासके बाद रातमें एकान्तमें  
 प्रतिमाके समान नम्र रह-  
 कर ध्यान धारण करना ।  
 ३९।५२

प्रमोद—गुणी मनुष्योंको देखकर

हर्ष धारण करना ३९।१४५

प्रत्यन्याकरण—द्वादशाङ्गका  
 दशवाँ भेद ३४।१४४

प्रशान्ति—गर्भान्वय क्रियाका भेद  
 ३८।५७

प्रातिहार्य—अरहन्त अवस्थामें  
 तीर्थकरके प्रकट होनेवाले  
 आठ विशिष्ट कार्य—१  
 अजोक वृक्ष, २ सिंहासन,  
 ३ छत्रत्रय, ४ भ्रामण्डल,  
 ५ दिव्यध्वनि, ६ पुष्पवृष्टि,  
 ७ चौसठ चमर, ८ कुन्दुभि  
 वाजा ४२।४५

प्राशन—गर्भान्वय क्रियाका एक  
 भेद ३८।५५

प्रासुक—निर्जीव ३४।१९२

प्रियोद्भूत—गर्भान्वय क्रियाका  
 एक भेद ३८।५५

प्रीति—गर्भान्वय क्रियाका एक  
 भेद ३८।५५

ब  
 बलद्धि—ऋद्धि का एक भेद  
 ३६।१५।

बहिर्यानि—गर्भान्वय क्रियाका एक  
 भेद ३८।५५

बोधि—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,  
 सम्यक्चारित्र्य ३९।८५-८६

ब्रह्मचर्य—आत्मस्वरूपमें लीन  
 रहना अथवा स्त्री मात्रका  
 परित्याग करना ३६।१५८

अ  
 भोगाङ्ग—चक्रवर्तीके भोगके दश  
 अङ्ग होते हैं—१ रत्न और  
 निधियाँ, २ देवियाँ, ३ नगर,  
 ४ शय्या, ५ आसन, ६ सेना,  
 ७ नाट्यशाला, ८ वर्तन,  
 ९ भोजन और १० वाहन—  
 सवारी ३७।१४३

अ  
 अग्नि—चक्रवर्तीका एक निर्जीव  
 रत्न ३७।८४

अतिज्ञान—पाँच इन्द्रियों और

मनकी सहायतासे होनेवाला  
 एक ज्ञान ३६।१४२

मनःपर्ययज्ञान—दूसरेके मनमें  
 स्थित पदार्थको जाननेवाला  
 ज्ञान । यह ज्ञान मुनिके ही  
 होता है ३६।१४७

मन्दरेन्द्रामिपेक—गर्भान्वय  
 क्रियाका एक भेद ३८।६१

महामह—भगवान्की एक विशिष्ट  
 पूजा ३८।६

महाकाल—चक्रवर्तीकी एक निधि  
 ३७।७३

महावत—हिंसादि पापोंका सर्व-  
 देश त्याग करना । ये पाँच  
 हैं ३९।४

महाचैत्यद्रुम—समवसरणमें  
 विद्यमान चैत्यवृक्ष, इनके  
 नीचे जिन-प्रतिमाएँ विद्य-  
 मान रहती हैं । ४१।२०

माणव—चक्रवर्तीकी एक निधि  
 ३७।७३

माध्यस्थ्य—विपरीत मनुष्योंपर  
 समभाव रखना ३९।१४५

मानस्त्वम्भ—समवसरणकी चारों  
 दिशाओंमें विद्यमान रत्नमय  
 चार स्तम्भ इनके देखनेसे  
 मानी जीवोंका मान नष्ट हो  
 जाता है । ४०।२०

मादव—मानको जीतना  
 ३६।१५७

मूलगुण—मुनियोंके मूलगुण २८  
 होते हैं—५ महाव्रत, ५  
 समिति, ५ इन्द्रिय दमन,  
 ६ आवश्यक, ७ शेष सात  
 गुण ३६।१३५

मैत्री—किसी जीवको दुःख न हो  
 ऐसी भावना रखना  
 ३९।१४६

मोद—गर्भान्वय क्रियाका एक भेद  
 ३८।५५

मौनाध्ययन वृत्तत्व—गर्भान्वय  
 क्रियाका एक भेद ३८।५८

य  
यथापत्या- चारित्र्य मोहके  
अभावमे प्रकट होनेवाला  
चारित्र्य। इसके औपशमिक  
और धार्मिकके भेदसे दो  
भेद हैं। ४७।२४७

योगत्याग- गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६२

योगनिर्वाणसंप्राप्ति- गर्भान्वय  
क्रियाका एक भेद ३८।५९

योगान्वय- गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६१

योगममह- गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६२

योजन- चारकोशका एक योजन  
होता है परन्तु अकृत्रिम  
बीजके नापमें दो हजार  
कोशका योजन लिया जाता  
है। ३३।१५९

योषित- चक्रवर्तीका एक सचेतन  
रत्न, स्त्री ३७।८४

र  
रत्नप्रथ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान  
और सम्यक्चारित्र्य ये तीन  
रत्नप्रथ हैं। ३६।१३९

रसदि- ऋद्धिका एक भेद  
३६।१५४

रहस- अन्तराय कर्म ३५।१८६

राजविद्या- आन्वीक्षिकी, प्रयी,  
वार्ता और दण्डनीति ये  
चार राजविद्याएँ हैं।

४१।१३९

रू  
रूपि- गर्भान्वय क्रियाका एक  
भेद ३८।५६

रुद्रेया- कपायके उदयसे अनु-

रञ्जित योगोंकी प्रवृत्ति।

इसके ६ भेद हैं- १ कृष्ण,  
२ नील, ३ कापीत, ४ पीत,  
५ पद्म और ६ शुक्ल।

३६।१८४

लोक- नहीं तक जीव आदि छह

द्रव्य पाये जायें उसे लोक  
कहते हैं। यह १४ राज्जु लँका  
है और ३४३ राज्जु क्षेत्रफल  
वाला है। ३३।१३२

व  
वर्णलाभ- गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।५७

वार्ता- खेतों आदिके द्वारा  
निर्दोष आजीविका करना

३८।३५

विक्रया- राग द्वेषको बढानेवाली  
कथाएँ, ये चार हैं- १ स्त्री

कथा, २ राष्ट्र कथा, ३

भोजन कथा ४ और राज

कथा ३६।१४०

विक्रिया- एक प्रकारकी ऋद्धि,  
इसके ८ अवान्तर भेद हैं।

३६।१५२

विजयाश्रिता- चक्रवर्तियोंकी  
जाति विजयाश्रिता जाति

कहलसी है। ३९।१६९

विधिदान- गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।६०

विपाक विचय-धर्म्यध्यानका एक  
भेद ३६।१६१

विपाकसूत्र- द्वादशाङ्गका ग्यार-

हवा भेद ३४।१४५

विपुलमति- मनःपर्यय ज्ञानका

उत्कृष्ट भेद ३६।१४७

विसृक्ता- निष्परिग्रहता

३४।१६९

विवाह-गर्भान्वय क्रियाका एक  
भेद ३८।५७

वीरासन-आसनका एक भेद,  
जिसमें दोनों पगथली जघा-

सत्य, ३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य  
और अपरिग्रह ३६।१३३

व्रतचर्या- गर्भान्वय क्रियाका एक  
भेद ३८।५६

व्रतावतरण- गर्भान्वय क्रियाका  
एक भेद ३८।५६

वृत्त-चारित्र्य- पापपूर्ण क्रियाओं-

से विरत होना ३९।२४

व्याख्याप्रज्ञप्ति- द्वादशांगका

पाँचवाँ भेद ३४।१३८

व्युष्टि- गर्भान्वय क्रियाका एक  
भेद ३८।५६

श  
शब्द- १ माया, २ मिथ्या और

३ निदान ये तीन शब्द हैं।

ब्रह्मी मनुष्यके इनका अभाव

होना चाहिए। ३६।१३७

शुक्लध्यान- ध्यानका सर्वोत्कृष्ट

भेद ३६।१८४

शौच- लोभका त्याग करना

३६।१५७

श्रीमण्डप- समवसरणका मूल

मण्डप जिसमें भगवान्की

गन्धकुटी होती है।

३३।१५९

श्रुत- पाँच इन्द्रियों और मनकी

सहायतासे उत्पन्न होनेवाला

एक सर्वगणशील ज्ञान

प

पट्टकम्- अढतालीस (पण्णा-

मष्टक पट्टकम्) ३९।६

स

सञ्जाति- कर्मन्वय क्रियाका एक

भेद ३८।६७

सत्य- हितमित प्रामाणिक वचन

बोलना ३६।१५७

सदाचर्य-नित्यमह- पूजाका एक

भेद घरसे लायी हुई सामग्रियों

से जिनेन्द्रदेवका प्रतिदिन

सद्गुह्यत्व- कर्त्तव्य क्रियाका  
एक भेद ३८।६७

सप्तमय- १ इस लोकका भय, २ परलोकका भय, ३ वेदनाभय, ४ आकस्मिक भय, ५ मरण भय, ६ अगुप्तिभय और ७ अरक्षा-भय ३४।१७६

सप्तभङ्गी- किसी पदार्थका निरूपण करनेके लिए वक्ताकी इच्छासे होनेवाले सात-भंगों का समूह । जो इस प्रकार है—१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्तिनास्ति, ४ स्याद् अवक्तव्य, ५ स्याद् अस्ति अवक्तव्य, ६ स्याद् नास्ति अवक्तव्य, और ७ स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य, ३३।१३५

सप्तमय- द्वादशागका चौथा-भेद, ३४।१३८

समानदत्ति- सहधर्मोंके लिए दान देना । ३८।३८-३९

समिति- प्रमादरहित प्रवृत्ति करना । समितियाँ पाँच हैं—१ ईर्ष्या, २ भापा, ३ एषणा, ४ आदान निक्षेपण और ५ प्रतिष्ठापन, ३६।१३५

सर्वरत्न- चक्रवर्तीकी एक निधि, ३७।७३

सर्वाधि- अवधिज्ञानका एक-भेद जो मुनियोगे होता है ३६।१४७

संख्यानसंग्रह- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६

संज्ञा- एक प्रकारकी इच्छाएँ । ये ४ हैं १ आहार, २ भय, ३ मैथुन और परिग्रह, ३६।१३१

संयम- पाँच इन्द्रिय और मनको वश करना तथा लहकायके जीवोंकी रक्षा करना ३६।१५७

संस्थानविधाय- धर्म्यध्यानका एक भेद ३६।१६१

साधन- आयुके अन्तमें संन्यास धारण करना, ३९।१४५

सामायिक- चारित्रिका एक भेद जिसका सामान्य रूपसे समस्त पापोंका त्याग कर समताभाव धारण करना अर्थ है ३४।१३०

साम्राज्य- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६२

साम्राज्य- कर्त्तव्यक्रियाका एक भेद ३८।६७

सिद्धार्थपादप- समवसरणमें विद्यमान एक वृक्ष ४०।२०

सिद्धि- १ अणिमा, २ महिमा, ३ गरिमा, ४ लघिमा, ५ प्राप्ति, ६ प्राकाम्य, ७ ईशित्व, और ८ वशित्व ये आठ सिद्धियाँ हैं ३४।२१४

सुखोदय- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०

सुप्रति- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५

सुरेन्द्रता- कर्त्तव्य क्रियाका एक भेद ३८।६७

सूत्र- यज्ञोपवीत ३९।९४

सूत्रकृत- द्वादशाङ्गका दूसरा भेद ३४।१३६

स्थप- समवसरणमें विद्यमान ऊँची भूमि ४१।२०

स्थपति- चक्रवर्तीका एक चेतन-रत्न जिसे इंजीनियर कह सकते हैं ३२।२४

स्थानलाम- दीक्षाम्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४

स्थावाध्ययन- द्वादशाङ्गका तीसरा भेद ३४।१३६

स्थाव्याय- शास्त्रका अध्ययन और भावना करना ३८।४१

स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५९

स्वराज्य- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६१

स्वात्मोत्था- मुक्त जीवोंकी स्वात्मोत्थ जाति कहलाती है । ३९।१६८

ह

हरितकाय- वृक्ष, लता, फल, फूल आदि हरी वनस्पतियाँ ३४।१९४

हविष्पाक- नैवेद्य बनाना इसमें गार्हपत्यअग्निका उपयोग होता है ३४।८६

हिरण्योच्छृजन्मता- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०

## भौगोलिक शब्द-सूची

अ

अङ्ग = एक देश — भागलपुरका

समीपवर्ती प्रदेश २९।३८

असिगम्भीरा = एक नदी २९।५०

अश्विन्ध = सुमेरु पर्वत ३६।५०

अनङ्ग = एक पर्वत २९।७०

अनन्तर पाण्ड्य = एक देश

२९।८०

अपरान्त = पश्चिम दिग्भाग

३०।१

अम्बेणा = एक नदी २९।८७

अयोध्या = सम्राट् भरतकी राज-

धानी उत्तरप्रदेशकी प्रसिद्ध

नगरी २६।८३

अदमा = एक नदी २९।५०

अवन्तिकामा = एक नदी २९।६४

अवन्ती = मालवाका एक भाग —

उज्जैनका समीपवर्ती भाग

२९।४०

असुरधूपन = एक पर्वत २९।७०

आम्ब्र = एक देश २९।७९

आम्ब्र = आम्ब्र-देशके लोग

२९।९२

आयाण्वर गिरि = एक पर्वत

२९।४६

इ

इक्षुमली = एक नदी २९।८३

उ

उण्ड = एक देश २९।४१

उन्मन्मजला = विजयार्धकी गुफा-

में बहनेवाली एक नदी

३२।२१

उमयश्रेणी = विजयार्धकी उत्तर

और दक्षिण श्रेणी ३५।७३

उशीरवती = गान्धार देशकी

एक नदी ४६।१४५

उशीनर = एक देश २९।४२

ऊ

ऊर्ज्यन्ताद्रि = गिरनार पर्वत

३०।१०२

ऊहा = एक नदी २९।६२

ऋ

ऋक्षवत् = एक पर्वत २९।६९

ऋष्यमूक = एक पर्वत २९।५६

ओ

ओङ्ग = ओङ्ग देशके लोग २९।९३

औद्र = दक्षिण भारतका एक

देश २९।७९

औदुम्बरी = एक नदी २९।५४

क

कच्छ = एक देश काठियावाड

२९।४१

कञ्जा = एक नदी २९।६२

कर्णवती = एक नदी २९।४९

कर्मकुर = एक देश २९।८०

कम्बलाद्रि = एक पर्वत २९।६९

कम्बुक = एक सरोवर २९।५१

करमवेगिनी = एक नदी २९।६५

करोरी = एक नदी ३०।५७

कर्णाटक = कर्णाटक देशके लोग

२९।९१

कलिङ्ग = उड़ीसा — भुवनेश्वरका

समीपवर्ती प्रदेश २९।३८

कागन्धु = एक नदी २९।६४

काञ्चनपुर = विदेहका एक नगर

४७।७८

काण्डकप्रपात = एक गुफा

३२।१८८

कास्तपुर = पुष्करार्ध द्वीपके

पश्चिम विदेह क्षेत्रके पश्चक

देशका एक नगर ४७।१८०

कामरूप = एक देश — आसाम

२९।४२

कालमही = एक नदी २९।५०

कालकूट = एक देश २९।४८

कालतोया = एक नदी २९।५०

कालिङ्गक = कलिङ्ग देशके लोग

२९।९३

कालिन्द = एक देश २९।४८

काश्मीर = भारतका उत्तर

दिशावर्ती एक प्रसिद्ध प्रदेश

२९।४२

काशी = वाराणसीका समीपवर्ती

प्रदेश २९।४०

किरातविषय = म्लेच्छलोक एक

देश २९।४८

किष्किन्ध = एक पर्वत २९।९०

कुङ्कुम्ब = एक देश २९।८०

कुञ्जा = एक नदी २९।८७

कुङ्ग = उत्तर प्रदेशके अन्तर्गत

मेरठका समीपवर्ती प्रदेश

२९।४०

कुदञ्जाङ्गल = मेरठका समीपवर्ती

प्रदेश ४५।१६९

कूदाद्रि = एक पर्वत २९।६७

कुवामाला = एक नदी २९।६३

कूप्यगिरि = एक पर्वत ३०।५०

कूप्यवेणा = एक नदी २९।८६

केतम्बा-केतवा = एक नदी

३०।५७

केरल = एक देश २९।७९

कैलास = वर्तमान हिमालय

३३।११

कोलाहलगिरि = एक पर्वत

३३।११

कौसल = अयोध्याका समीपवर्ती

प्रदेश २९।४०

कौशिकी = एक नदी २९।५०

ख

खचराचल = विजयार्ध पर्वत

३७।१९८

ग

गङ्गा = एक प्रसिद्ध नदी २९।४९



गङ्गापात = एक कुण्ड जिसमें हिमवत् पर्वतसे गङ्गा नदी गिरती है ३२।१६३  
 गङ्गाद्वार = जिस द्वारसे गङ्गा नदी लवणसमुद्रमें प्रवेश करती है ३५।६८  
 गजपुर = विजयार्ध पर्वतके दक्षिणभागमें स्थित एक नगर ४७।१२८  
 गङ्गागिरि = एक पर्वत २९।६८  
 गम्भीरा = एक नदी २९।५०  
 गान्धारदेश = पुष्कलावती देशके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण-श्रेणीका एक देश ४६।१४५  
 गोदावरी = एक नदी २९।८५  
 गोमती = एक नदी २९।४९  
 गोरथ = एक पर्वत २९।४६  
 गोक्षीर्ष = एक पर्वत २९।८९  
 गौड = एक देश २९।९१  
 गौरी दिष्य = विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक देश ४६।१४७  
 च  
 चर्मपवती = एक नदी - चम्बल २९।६४  
 चित्रवती = एक नदी २९।५८  
 छुल्लितापी = एक नदी २९।६५  
 चूर्णा = एक नदी २९।८७  
 चेदिकृष्ण = एक देश २९।५७  
 चेदिपर्वत = एक पर्वत २९।५५  
 चेदिराष्ट्र = चेदी देश २९।५५  
 चेदी = एक देश मालवाका एक भाग २९।४१  
 ज  
 जगती = लवणसमुद्रकी वेदी २८।६७  
 जम्बूद्वीप = प्रथम द्वीप ४३।७४  
 जम्बूमती = एक नदी २९।६२  
 जाह्नवी = गंगा नदी २६।१४७  
 त  
 तत्साह्व = वरतनु नामका द्वीप २९।६६  
 तमसा = एक नदी २९।५४

तमिस्रा = विजयार्ध पर्वतकी एक गुफा ३२।६  
 तापी = एक नदी ३०।६१  
 ताम्रा = एक नदी २९।५०  
 तुङ्गवरक = एक पर्वत ३०।४९  
 तैरश्चिक = एक पर्वत २९।६४  
 तैला = एक नदी २९।८३  
 त्रिकलिङ्ग = दक्षिण भारतका एक देश २९।७९  
 त्रिकूट = दक्षिणका एक पर्वत ३०।२६  
 त्रिमार्गा = गंगा २८।१९  
 त्रैराज्य = चोल, केरल, पाण्ड्य ३०।३५  
 द  
 दशार्ण = विदिशाका समीपवर्ती प्रदेश २९।४२  
 दशार्णा = घसान नदी २९।६०  
 दमना = एक नदी ३०।५९  
 दुर्दुराष्ट्रि = एक पर्वत २९।८९  
 दाक्षेणा = एक नदी ३०।५५  
 देवनिम्नगा = गंगा नदी २७।३  
 ध  
 धान्यकमाल = विदेह क्षेत्रके पुष्कलावती देश सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतके निकट स्थित एक वन ४६।९४  
 धान्यपुर = विजयार्धका एक नगर ४७।१४६  
 धैर्या = एक नदी २९।८७  
 न  
 नक्ररवा = एक नदी २९।८३  
 नन्दा = एक नदी २९।६५  
 नर्मदा = भारतकी एक प्रसिद्ध नदी २९।५२  
 नाग = एक पर्वत २९।८७  
 नागप्रिय = एक पर्वत २९।५८  
 नासिश्चैल = वृषभाचल जिसपर चक्रवर्ती अपनी प्रशस्ति लिखता है ४५।५८  
 नालिका = एक नदी २९।६१  
 निन्दुरा = एक नदी २९।५०

निमग्नजला = विजयार्धकी गुफा-में बहनेवाली एक नदी ३२।२१  
 निर्विन्ध्या = एक नदी २९।६२  
 निषध = एक कुलाचल ३६।४८  
 निष्कुन्दरी = एक नदी २९।६१  
 नीरा = एक नदी ३०।५६  
 नीलाद्रि = एक कुलाचल ३६।४८  
 प  
 पञ्चक = पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम विदेहका एक प्रसिद्ध देश ४७।१८०  
 पनसा = एक नदी २९।५४  
 पम्पासरस् = एक प्रसिद्ध सरोवर २९।५५  
 परक्षा = एक नदी २९।६३  
 पाञ्चाल = पंजाब २९।४०  
 पाण्ड्य = एक देश २९।८०  
 पाण्ड्य कवाटक = एक पर्वत २९।८९  
 पारा = एक नदी ३०।५९  
 पारियात्र = एक पर्वत २९।६७  
 पुण्ड्र = एक देश २९।४१  
 पुण्डरीकिणी = विदेहकी एक नगरी ४६।१९  
 पुन्नाग = एक देश २९।६९  
 पुष्कलावती = विदेहका एक देश ४६।१९  
 पुष्पगिरि = एक पर्वत २९।६८  
 पोदन = पोदनपुर - बाहुबलीकी राजधानी ३४।६८  
 प्रमृशा = एक नदी २९।५४  
 प्रवेणी = एक नदी २९।८६  
 प्रहरा = एक नदी ३०।५८  
 प्राच् विदेह = पूर्व विदेह ४६।१९  
 प्राह्माल्यगिरि = एक पर्वत २९।५६  
 प्रातर = एक देश २९।७९  
 ब  
 बह्व = बंगाल २९।३८

बहुवज्रा = एक नदी २९।६१

बाणा = एक नदी ३०।५७

बीजानदी = एक नदी २९।५२

भ

भरत = जम्बू द्वीपका दक्षिण दिशावर्ती क्षेत्र ४३।७४

भूतवन = भूतारण्य नामका वन ४७।६६

भैरवथी ( भीमरथी ) = एक नदी ३०।५५

भोगपुर = गौरी देशकी नगरी ४६।१४७

भ

भवेभ = एक पर्वत २९।७०

भद्र = एक देश २९।४१

भनोरम = एक देश ४७।४९

भलय = दक्षिणका एक पर्वत ३०।२६

भलयकाञ्चन = विजयार्ध पर्वत-के समीपस्थ एक पर्वत ४६।१३५

भलदु = एक देश २९।४७

भल्लदेश = एक देश २९।४८

भलाकाल = एक युगा ४७।१०३

भलेष्ट = एक पर्वत २९।८८

भलेष्टका = एक नदी २९।८४

भागाधिक = मगध देशकी राजा ।

राजगृही ( विहार ) का समीपवर्ती प्रदेश मगध

कह्लाता था २९।३८

भामम = एक प्रसिद्ध सरोवर २९।८५

भायवती = एक नदी २९।५९

भापवती = एक नदी २९।८४

भरिप = एक देश २९।८०

भुङ्ग = एक पर्वत ३०।५०

भुरा = एक नदी ३०।५८

भुला = एक नदी ३०।५६

भुगालवती = विदेहकी एक नगरी ४६।१०१

भेतला नदी = एक नदी २९।५२

य

यमकाद्रि = विदेहका एक पर्वत,

जिसे घेरकर सीता नदी

बहती है ३७।९८

यमुना = एक प्रसिद्ध नदी २९।५४

र

रत्नावर्त = एक पर्वत ४७।२२

रथास्का = एक नदी २९।४९

रम्या = एक नदी २९।६१

राजत = विजयार्ध पर्वत ३१।१४

राजपुर = जम्बू द्वीपके विदेह क्षेत्रमें स्थित विजयार्ध पर्वत-का एक नगर ४७।७३

रूप्याद्रि = विजयार्ध पर्वत ३७।१७३

रथिक = एक पर्वत २९।७०

रेवतक = गिरनार पर्वत ३०।१०१

रेवा = एक नदी २९।६५

रोहितास्या = एक महानदी ३२।१२३

रौप्य शैल = विजयार्ध पर्वत ३७।८६

ल

लाङ्गल खालिका = एक नदी ३०।६२

लौहित्य समुद्र = एक सरोवर २९।५१

ख

वज्रा = एक नदी २९।८३

वत्स = प्रयागके पासका एक देश २९।४१

वत्सकावती = जम्बू द्वीपका एक देश ४७।७२

वसुमती = एक नदी २९।६३

वातपृष्ठ = एक पर्वत २९।६९

वासव = एक पर्वत २९।७०

विजयपुर = विजयार्धका एक नगर ४७।१४०

विजयार्धचल = विजयार्ध पर्वत ३५।७२

विनीता = अयोध्यापुरी ३४।१

विन्ध्य = एक पर्वत २९।८८

विन्ध्याद्रि = भारतका एक प्रसिद्ध पर्वत ४५।१५३

विन्ध्यपुरी = विन्ध्याचलके निकटमें स्थित एक नगरी ४५।१५३

विमलपुर = एक नगर ४७।११८

विबुधापगा = गंगा नदी २६।१५०

विशाला = एक नदी २९।६१

वृत्रवती = एक नदी २९।५८

वृषभाद्रि = वृषभाचल, जिसपर चक्रवर्ती अपनी प्रणति लिखता है ३५।७७

वेणा = एक नदी २९।८७

वेणी = एक नदी ३०।८३

बेणुमती = एक नदी २९।५९

वैतरणी = एक नदी २९।८४

वैजयन्त = समुद्रका द्वार २५।१६७

विदर्भ = बरार २९।४०

वैमार पर्वत = एक पर्वत २९।४६

वैदूर्य = एक पर्वत २९।६७

व्याघ्री = एक नदी २९।६४

श

शतभोगा = एक नदी २९।६५

शर्करावती = एक नदी २९।६३

शिवंकर = मनोरमदेशका एक नगर ४७।४९

शिवंकर = एक वन ४६।४८

शिल्पपुर = विजयार्धका एक नगर ४७।१४४

शुक्लनदी = एक नदी २९।८४

शुक्तिमती = एक नदी २९।५४

श्रीतगुह = एक पर्वत २९।८९

शोण = एक नदी-स्रोत २९।५२

शोभानगर = विदेह क्षेत्र फुलका-वती देशका एक नगर ४६।९५

श्रीपुर = सुरम्य देशका नगर ४७।१४

श्रीकट = एक पर्वत २९।८९  
 श्रीपर्वत = एक पर्वत २९।९०  
 श्रेयस्पुर = विजयार्जका एक  
 नगर ४३।१४२  
 श्वत्सना = एक नदी २९।८३  
 स  
 सहपारा = एक नदी २९।८५  
 सन्नारा = एक नदी २९।८६  
 सप्तगोदावर = एक नदी २९।८५  
 सप्ततीर्या = एक नदी २९।८२  
 सरयू = अयोध्याके निम्न दृष्टे-  
 वाली एक नदी ४५।१४४  
 सप्तशरोवर = दान्यकनाल वनका  
 एक नदीवर ४५।१०२  
 सद्यचल = एक पर्वत ३०।७३  
 सक्रेन = अयोध्यापुरी ३०।१  
 सिकदिनी = एक नदी २९।८१

सिनगिरि = एक पर्वत २९।८८  
 सिद्धकूट = विजयार्जका एक  
 चैत्यालय ४६।१५८  
 सिन्धु = एक नदी २९।६१  
 सिन्धु = एक नदी २९।६३  
 सिंहल = एक देश ( श्रीलंका )  
 ३०।२६  
 सीना = विदेहकी एक नदी  
 ३०।९८  
 सीममहाचल = नीम नामका  
 पर्वत ४३।१३४  
 सुप्रयोगा = एक नदी २९।८६  
 सुजन्दर = एक पर्वत ३०।५०  
 सुभागधी = एक नदी २९।४९  
 सुरभ्य = विदेहका एक देश  
 ४३।१४  
 सुरगिरि = एक पर्वत ४३।६

सुसीमा = विदेहका एक देश  
 ४३।६५  
 सुसीमानगर = वत्स देशका नगर  
 ४३।२५६  
 सुहक = एक देश २९।४१  
 सुकरिका = एक नदी २९।८७  
 स्वःतवन्ती = गंगा नदी २६।  
 १४८  
 स्वर्धुनी = गंगा नदी ३५।७७  
 ह  
 हयपुर = विजयार्जका एक नगर  
 ४३।१३२  
 हस्तिपानी = एक नदी २९।६४  
 हस्तिनाख्यपुर = हस्तिनापुर  
 ४३।७६  
 हिमाद्रि = हिमवत् नामका कुला-  
 चक ३६।६१

## व्यक्तिवाचक शब्द-सूची

अ

अक्रमप- दाराणतीके राजा  
४३।१२७  
अक्रमप- वत्सकावती देशके  
विजयार्थपर रहनेवाला एक  
विद्याधर राजा - पिप्पला-  
का पिता ४७।७५  
अक्षमाला- सुलोचनाकी बहिन  
लक्ष्मीमतीका दूसरा नाम  
५३।२१  
अक्षिमाला- सुलोचनाकी बहिन  
लक्ष्मीमती, इसके दूसरे  
नाम अक्षिमाला, अक्षमाला  
४५।६४  
अग्निदेव- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।४५  
अथल- भगवान् वृषभदेवका एक  
गणधर ४३।५७  
अजितजय- चक्रवर्ती भरतका  
रथ २८।५८  
अजितजय- भरत चक्रवर्तीका  
पुत्र ४७।२८२  
अटवीश्री- शोभा नगरके शक्ति-  
प्रेम सामन्तकी स्त्री ४६।९६  
अतिमल- एक विद्याधर ४७।१०८  
अतिवल- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।६५  
अतिवीर्य- भरत चक्रवर्तीका पुत्र  
४७।२८२  
अतिपिङ्गल- पिङ्गल नामक  
कोतवालका पुत्र ४६।३६१  
अधिराट्- भरत चक्रवर्ती  
३६।१९२  
अनवद्यमति- भरत चक्रवर्तीका  
एक मन्त्री, जो कि सुलो-  
चनाके स्वयंवरके समय  
अर्ककीतिके साथ गया था  
४८।२२  
७२

अनन्तमति- एक आर्थिका  
४६।४७  
अनङ्गपताका- विष्णुदेगाकी सखी  
४७।३४  
अनन्तवीर्य- जयकुमारका पुत्र  
४७।२७७  
अनिलवेग- शिवंकरपुरका राजा  
४७।४९  
अनुत्तर- चक्रवर्ती भरतका सिंहा-  
सन ३७।१५४  
अनुपमान- चक्रवर्ती भरतके  
चमर ३७।१५५  
अनुपम- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।६६  
अन्त्यमनु- भरत चक्रवर्ती  
३६।१०३  
अपराजित- भगवान् वृषभदेवका  
एक पुत्र ४३।५९  
अमेध- भरत चक्रवर्तीका कवच  
३७।१५९  
अमितमति- एक आर्थिकाका  
नाम ४६।४७  
अमृत- भरत चक्रवर्तीका पेश  
रस ३७।१८९  
अमृतकल्प- भरत चक्रवर्तीके  
खाद्य पदार्थ ३७।१८९  
अमृतगर्भ- भरत चक्रवर्तीके  
खाने योग्य लड्डू आदि  
पदार्थ ३७।१८८  
अमोघ- चक्रवर्ती भरतके बाण  
३७।१६२  
अयोध्य- चक्रवर्ती भरतका  
सेनापति ३७।१७४  
अरिन्दम- भरत चक्रवर्तीका पुत्र  
४७।२८१  
अरिञ्जय- भरत चक्रवर्तीका  
पुत्र ४७।२८१  
अर्ककीर्ति- भरत चक्रवर्तीका  
पुत्र ४३।५३

अवर्तयिका- चक्रवर्ती भरतकी  
रत्नमाला ३७।१५३  
अग्निवेग- एक विद्याधर  
४७।२१  
अग्निवर- एक विद्याधर राजा  
४७।१७५  
अशोकदेव- मृणालवती नगरीका  
एक सेठ ४८।१०६  
अष्टचन्द्र- विद्याधरविशेष ४४।  
११३

आ

आदिगुरु- भगवान् वृषभदेव  
३४।४५  
आदिभर्ता- भगवान् आदिनाथ  
४१।४  
आदिबेधन्- भगवान् आदिनाथ  
३५।१०९  
आदित्यगति- जमीरवती नगरी-  
का राजा ४६।१४६  
आदित्यगति- हिरण्यवर्माका  
पिता ४७।१८५  
आद्यवेधा- भगवान् वृषभदेव  
४२।२  
आद्यस्रष्टा- भगवान् वृषभदेव  
३६।९५  
आलन्द- एक राजा ४६।२८०  
आनन्दिनी- भरत चक्रवर्तीकी  
भेरी ३७।१८२  
आप्त- जिनैन्द्रका नाम ३९।१३  
आवर्त- विजयार्थके उत्तरमें  
रहनेवाला एक म्लेच्छ  
खण्डका राजा ३२।४६  
उ  
उत्पलमाला- एक वैज्या  
४६।३००  
ऐ  
ऐश्वर्याक- इन्द्राकुवशी राजा  
भरत ३५।६७

क

कच्छ- भगवान् वृषभदेवका एक  
गणधर ४३।६५  
कनकरथ- कान्तपुरका राजा  
४७।१८१  
कनकप्रभ- राजा कनकरथ और  
रानी कनकप्रभाका पुत्र  
४७।१८१  
कनकप्रभा- राजा कनकरथकी  
स्त्री ४७।१८१  
कनकमाला- राजा प्रजापालकी  
रानी ४६।४९  
कनकश्री- मृणालवतीके सेठ  
मुकेतुकी स्त्री ४६।१०४  
कमलावती- विमेलसेनकी पुत्री  
४७।११४  
काकोदर- एक साँपका नाम  
४३।९३  
काञ्चना- स्वर्गकी एक देवी  
४७।२६१  
कान्तवती- अमिलवेगकी स्त्री  
४७।४९  
कामदेव- भगवान् वृषभदेवका  
एक पुत्र ४३।६६  
कामवृष्टि- भरत चक्रवर्तीके  
गृहपति-रत्नका नाम ३७।  
१७६  
काली- नागीका जीव भरकर  
काली नामकी जलदेवी हुई  
४३।९५  
काशिपालमजा- सुलोचना  
४५।१६९  
काशिराज- वाराणसीका राजा  
अकम्पन ४४।९०  
कीर्तिमती- वरकीर्ति राजाकी  
प्रिय स्त्री ४७।१४१  
कीर्ति- एक देवी ३८।२२६  
कुबेरकान्त- कुबेरमित्र सेठ और  
धनवतीका पुत्र कुबेरकान्त  
४६।३१  
कुबेरश्री- वसुपालकी माता  
४७।५

कुबेरकान्त- चक्रवर्ती भरतका  
अक्षय भाण्डार ३७।१५१  
कुबेरमित्र- एक सेठका नाम  
४६।२१  
कुबेरमित्रा- समुद्रदत्त सेठकी  
स्त्री ४६।४१  
कुमार- अर्ककीर्ति ४५।४२  
कुम्भ- भगवान् वृषभदेवका एक  
गणधर ४३।५४  
कुरुराज- हस्तिनापुरके राजा  
सोमप्रभका पुत्र जयकुमार  
३२।६८  
कौरव्य- जयकुमार ४५।७८  
कृतमाल- एक देव ३५।७३  
कृतमाल- एक देव ३१।९४  
क्षितिसार- चक्रवर्ती भरतके  
प्राकार-कोटका नाम ३७।  
१४६

ग

गङ्गा- गंगा नामकी देवी ३७।१०  
गङ्गा देवी- एक देवी ४५।१४९-  
१५१  
गणवद्धामर- चक्रवर्तीकी आज्ञा-  
का-पालन करनेवाले एक  
प्रकारके देव, जो कि सोलह  
हजारकी सख्यामे चक्रवर्ती-  
की निधियो और रत्नोकी  
रक्षा करते हैं ३७-१४५  
गम्भीरावर्त- भरत चक्रवर्तीके  
वंशका नाम ३७।१८४  
गान्धारी- एक आर्याका ४६।  
२३७  
गिरिकूट- चक्रवर्ती भरतका  
राजमहल, जिसपर चढकर  
सब दिशाओकी शोभा देखते  
थे ३७।१४९  
गुणपाल- एक मुनिराज ४७।६  
गुणपाल- श्रीपालकी जयावती  
रानीसे उत्पन्न पुत्र  
४७।१७२  
गुणपाल- विदेह क्षेत्रके एक  
तीर्थंकर ४७।१६३

गुणपाल- राजा लोकपालका पुत्र  
४६।२४३  
गुणवती- एक आर्याका ४६।२१९  
गुणवती- राजा प्रजापालकी  
पुत्री ४६।४५  
गुप्तफल्गु- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।६२  
गुप्तयज्ञ- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।६१  
गुरु- भगवान् आदिनाथ  
३६।२०३  
गृहकूट- चक्रवर्ती भरतका  
वर्षाकालीन महल ३७।१५०  
गौतम- भगवान् महावीरके  
प्रतिगणधर

ख

चक्रधर- भरत चक्रवर्ती ३४।४६  
चक्रपाणि- ,, ३४।७१  
चक्रिन्- ,, २६।५९  
चण्डवेश- चक्रवर्ती भरतके दण्ड  
रत्नका नाम ३७।१७०  
चन्द्रचूल- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।६४  
चित्ररथ- मनोरथका पुत्र  
४६।१८१  
चित्रवेगा- व्यन्तर देवी ४६।३५५  
चित्रसेना- अतिबल विद्याधरकी  
स्त्री ४७।१०९  
चित्रयेणा- व्यन्तर देवी ४६।३५५  
चिन्ताजननी- भरत चक्रवर्तीके  
काकिणी रत्नका नाम  
३७।१७३  
चिलाल- विजयावर्तके उत्तरवर्ती  
खण्डमे रहनेवाला एक  
म्लेच्छ राजा ३२।४६  
चूडामणि- चक्रवर्ती भरतके  
मणिका नाम ३२।४६  
ज  
जगद्गुरु- भगवान् आदिनाथ  
४१।१७  
जगत्पाल- एक चक्रवर्ती ४७।९

जगन्माता— भगवान्की माताका  
नाम ३८।२२५  
जय— जयकुमार ४३।५०  
जय— भगवान् वृषभदेवका गण-  
घर ४३।६५  
जयन्त— जयकुमारका छोटा भाई  
४७।२८०  
जयधाम— सर्वदयित सेठका एक-  
मित्र ४७।२१०  
जयदत्ता— सर्वदयित सेठकी  
स्त्री ४७।१९४  
जयधामा— जयधामकी स्त्री  
४७।२१०  
जयवती— राजा श्रीधर और  
रानी धीमतीकी पुत्री  
४७।१४  
जयवती— श्रीपाल चक्रवर्तीकी  
स्त्री ४७।१७०  
जयसेना— सर्वदयित सेठकी स्त्री  
४७।१९४  
जयसेना— श्रीपालके पुत्र गुण-  
पालकी स्त्री ४७।१७६  
जयवर्मा— जयवतीका भाई  
४७।१७४  
जयवर्मा— एक राजा ४४।१०६  
जितशत्रु— समुद्रदत्तका शक्ति  
पुत्र ४७।२११  
जितलता— मृणालवतीके सेठ  
अशोकदेवकी स्त्री ४६।१०६  
जितदेव— धरोहर रखनेवाला  
एक पुरुष ४६।२७४  
जितानिका— भगवान्की माता-  
का नाम ३८।२२५  
जीमूत— चक्रवर्ती भरतका स्नान-  
घृह ३७।१५२  
जीतिवेगा— अशान्तिवेगकी माता-  
का नाम ४७।२९  
त  
ज्योतिरामि— भगवान् ऋषभदेव-  
का एक गणघर ४३।६३

द  
दिवस्वस्तिका— चक्रवर्ती भरतकी  
सभासुमिका नाम ३७।१४८  
दुर्मर्षण— एक राजकुमार ४४।१  
दुर्मुख— भवदेवका दूसरा नाम  
४६।१०६  
देवकीर्ति— एक राजा ४४।१०६  
देवभाव— भगवान् ऋषभदेव-  
का एक गणघर ४३।५४  
देवस्थाना— चक्रवर्ती भरतकी  
कपड़ेकी चाँदनी ३७।१५३  
देवश्री— शोभानगरके राजा  
प्रजापालकी स्त्री ४६।९५  
देवश्री— एक यक्षी, श्रीपाल  
चक्रवर्तीकी पूर्वभवकी माता  
४७।१५३  
देवश्री— सर्वदयित सेठके पिताकी  
छोटी बहन ४७।१९५  
देवशर्मा— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणघर ४३।५४  
देवसत्य— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणघर ४३।६०  
ददरथ— भगवान् वृषभदेवका  
गणघर ४३।५४  
ददरत— भगवान् वृषभदेवके  
समवसरणका प्रमुख धावक  
४७।२९६  
देवामि— भगवान् वृषभदेवका  
गणघर ४३।५५  
दोर्वली— बाहुवली, भगवान्  
आदिनाथका सुतन्दा स्त्रीसे  
उत्पन्न पुत्र ३५।१  
ध  
धनक्षय— एक सेठ ४७।२००  
धनक्षय— धनश्रीका बड़ा भाई  
४७।१९२  
धन्वन्तरि— मेरुकदत्त सेठका  
मन्त्री ४६।११३  
धनदेव— दण्डवमान एक पुरुष  
४६।२७५  
धनपालक— भगवान् वृषभदेवका  
गणघर ४३।६३

धनवती— अन्तरदेवी ४६।३५५  
धनवती— कुबेरमित्र सेठकी  
वत्तीस स्त्रियोमे एकका  
नाम ४६।२१  
धनश्री— सर्वसमृद्ध वणिक्की  
स्त्री ४७।१६२  
धनश्री— अन्तरदेवी ४६।३५६  
धरणिक्षय— राजपुरका राजा  
विद्याधर ४७।७३  
धरणीपति— मृणालवती नगरीका  
राजा ४६।१०३  
धारागृह— चक्रवर्तीका फत्तारा,  
जहाँ बैठकर वे गरमीको  
शान्त करते थे ३७।१५०  
धारिणी— मेरुकदत्त सेठकी स्त्री  
४६।११२  
धारिणी— राजा सुरदेवकी स्त्री  
४६।३५२  
धूमवेग— एक विद्याधर ४७।९०  
धृति— एक देवी ३८।२२६  
न  
नन्दन— भगवान् वृषभदेवका एक  
गणघर ४३।५५  
नन्दिमित्र— भगवान् वृषभदेवका  
गणघर ४३।६६  
नन्दी— भगवान् वृषभदेवका एक  
गणघर ४३।६६  
नन्दावर्त— चक्रवर्तीकी सेनाका  
पड़ाव ३७।१४७  
नमि— भगवान् वृषभदेवका एक  
गणघर ४३।६५  
नमि— विद्याधर राजा ३२।१८०  
नरपति— शिल्पपुरका राजा  
४७।१४४  
नारायण— एक देव ३२।५६  
नारायण— " ४३।११  
नाट्यमाला— " ३२।१११  
नाट्यमालिका— नाट्याचार्यकी  
पुत्री ४६।२९९  
निधिपति— चक्रवर्ती भरत  
२६।१५०

निधिराट्-चक्रवर्ती भरत ४११४२  
 निधीश .. ३६१३  
 निधीश्वर .. ४१११८  
 निधीश्वर .. ३६१५  
 निमल-भगवान् वृषभदेवका  
 गणधर ४३१६०  
 नृपमातुल-चक्रवर्ती भरत  
 ३६१६०

प

पवनञ्जय-भरतचक्रवर्तीकेभरत-  
 रत्नका नाम ३६१६९  
 पिङ्गल-राजा सुरदेवका जीव,  
 नगररक्षक ४६१३५६  
 पितानह-भगवान् आदिनाप  
 ४४१२८  
 पिप्पला-सुखान्तोको सखी  
 ४७१७५  
 पुराणपुर-भगवान् आदिनाप  
 ३४१२२०  
 पुष्-भगवान् आदिनाप ४३१२९  
 पुष्करावर्ति-चक्रवर्ती भरतका  
 छात्र मूल ३७ १५१  
 पुष्पाविका-एक कालिनकी  
 पुत्री ४६१२५२  
 पुष्पवती-एक मालिनकी पुत्री  
 ४६१२५८  
 पृथिवी-राजा सुरदेवकी स्त्री  
 ४६१३५२  
 पृथिवीश्वर-भरत चक्रवर्ती  
 ३६१२०  
 पृथुधी-मन्त्रिना पुत्र ४६१३०५  
 प्रजापाल-विदेहजीव सन्ध्या  
 पुष्कलावती वैराके शोभा-  
 नगरका राजा ४६१९५  
 प्रजापाल-पुष्कराविकाकी नगरी-  
 का राजा ४६१२०  
 प्रजापति-भगवान् आदिनाप-  
 का गणधर ४३१६३  
 प्रमञ्जन-एक राजकुमार  
 ४३१८९  
 प्रभावती-रतिपेया ककुत्तरीका  
 जीव ४६१४८

प्रभावती-सुलोचनाके पूर्वभवे  
 वर्णनमें आनेवाला एक नाम  
 प्रभास-उत्तर देवीका अधि-  
 पति ३०१२३  
 प्रियकारिणी-उभावतीको सखी  
 ४६१२५  
 प्रियकुम्भी-विलम्बपुरीके राजा  
 ४५१५३  
 प्रियङ्गा-समुद्रदत्त और कुँवर-  
 मिहानी पुत्री  
 प्रियरति-एक नट  
 प्रियसेन-कुँवरकात्तका एक  
 मित्र ४६ ३२  
 यौरा-भगवान् वृषभदेव  
 सन्ध्या

फ

फरुणसि-राजा सोरुपातका  
 मन्त्री ४६१५१

व

वल-भगवान् वृषभदेवका गण-  
 धर ४३१६५  
 वाहुकली-भगवान् वृषभदेवका  
 पुत्र ३४१६७  
 वुहिलगर-चक्रवर्ती भरतका  
 दूतहित ३७१७५  
 वृहस्पति-मेरुदत्तसेठका मन्त्री  
 ४६१११३  
 ब्राह्मी-भगवान् वृषभदेवकी  
 पुत्री ४५१२८८

भ

भगदत्त-भगवान् वृषभदेवका  
 गणधर ४३१६२  
 भगदेव .. ४३१६२  
 भगदत्त .. ४३१६२  
 भवदेव-मुपास्यवतीके सेठ  
 सुकेतुका पुत्र ४६१०४  
 भद्रसुख-चक्रवर्ती भरतका  
 खिलावट ३६१८७  
 भद्रवल-भगवान् वृषभदेवका  
 गणधर ४३१६६  
 भरत-भरत चक्रवर्ती ३८१४

भरतार्थश-भरत चक्रवर्ती  
 ३६११८६  
 भरतेश-भरत चक्रवर्ती ३४१३१  
 भरतेश्वर .. ३४१२२३  
 भरतेश्वर .. ३६१८८  
 भीम-एक मुनि ४६१६२  
 भीमसुख-एक राजकुमार  
 ४३११०

भुजकली-बाहुकली ३४१८८  
 भुजविकली .. ३६५१  
 भूतसुख-भरत चक्रवर्तीकी बाल  
 ३७१६८  
 भूतार्थ-मेरुदत्त सेठका मन्त्री  
 ४६११३  
 भोगवती-अनिलकेग औरकात्त-  
 वतीकी पुत्री ४७१५०

म

मधवान्-भगवान् वृषभदेवका  
 गणधर ४३१६३  
 मगिलागदत्त-रतिकुल मुनिके  
 मित्रा ४६१३६३  
 मदनवती-पिप्पलाकी स्त्री  
 ४६१८८  
 मदनवेगा-एक नटी भिनरति  
 नटकी पुत्री ४७१६७  
 मनु-भरत चक्रवर्ती ३०१७  
 मनोरप-प्रभावतीके मित्रा मनु-  
 रणका पुत्र ४६१३९  
 मनोवेग-भरत चक्रवर्तीके एक  
 कपट (रात्रिभेद) का  
 नाम ३७१६६  
 मनोवेग-एक विद्याधर राजा  
 ४७१७७  
 महाकच्छ-भगवान् वृषभदेवका  
 एक गणधर ४३१६५  
 महाकल्याण-भरत चक्रवर्तीके  
 भोजनका नाम ३७१८७  
 महाकाल-महाकाल गुजामें  
 रहनेवाला एक अन्तरदेव  
 ४७१०४  
 महाकथ-चक्रवर्तीका पुत्र  
 ४७१८२

महादेवी- भगवान्की माताका  
नाम २८।२२५  
मित्रफल्गु- भगवान् वृषभदेव-  
का एक गणधर ४३।६२  
महाबलिन्- बाहुवलीका पुत्र  
३६।१०४  
महाबाल- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।६४  
महामातो- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।६६  
महावीर- ,, ४३।६३  
महारस- ,, ४३।६५  
महारथ- ,, ४३।६३  
महासती- भगवान्की माताका  
नाम ३८।२२५  
महाधर- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।५६  
महेंद्रदत्त- राजा अकम्पनका  
कंचुकी ४३।२७८  
महेंद्र- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।५६  
मागध- सवण समुद्रका अधि-  
पता एक व्यन्तरदेव  
२८।१२२  
मित्राग्नि- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।५६  
मित्रवज्र- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।६२  
मुनिवृक्ष- ,, ४३।६१  
मुनियज्ञ- ,, ४३।६१  
मुनिगुप्त- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।६१  
मुनिदेव- ,, ४३।६१  
मेघसुता- एक देव ३२।५६  
मेघशोभा- एक भेरीका नाम  
४४।९३  
मेघस्वर- जयकुमारका दूसरा  
नाम ४३।१९०  
मेघयम- एक विद्यावर ४४।१०८  
मेनका- इंद्राणी  
४६।२५७

मेरुकदत्त- एक सेठका नाम ४६।  
११२  
मेरु- भगवान् वृषभदेवका गणधर  
४३।५७  
मेरुधन- ,, ४३।५७  
मेरुभूति- ,, ४३।५७  
य  
यशःपाल- विदेह क्षेत्रकी पुण्ड-  
रीकिणी नगरीका राजा  
४७।१९१  
यशःपाल- सुखावतीका पुत्र  
४७।१८८  
यशस्वती- राजा प्रजापालकी-  
पुत्री ४६।४५  
यशोवाहु- भगवान्का एक गण-  
धर ४३।५५  
योगिराज- मुनि बाहुवली  
३६।२०१  
र

रत्निकारिणी- प्रियदत्ताकी चेटी  
४६।४२  
रतिकूल- एक मुनि ४३।३६३  
रतिपिङ्गल- एक वैष्णवभवत चोर  
४६।२७६  
रतिवर- एक कनूतर ४६।२२  
रतिवर्मा- मृणालवतीका एक  
सेठ ४६।१०४  
रतिविमला- शिल्पपुरके राजा  
नरपतिकी पुत्री ४७।१४५  
रतिपेणा- मृणालवतीके सेठ श्री-  
दत्तकी पुत्री ४६।१०५  
रतिपेणा- अच्युत स्वर्गके प्रतीन्द्र-  
की देवी ४६।३५२  
रतिपेणा- रतिवर कनूतरकी स्त्री  
४६।३०  
रतिप्रभा- प्रभावतीकी पुत्री  
४६।१८०  
रतिप्रभा- प्रभावतीकी पुत्री  
४६।१८०  
रतिवर- एक मुनि ४७।२२३  
रत्नेश- भरत चक्रवर्ती ३६।१९५

रथचरण हस्ति- चक्रायुध-चक्रवर्ती  
२८।२०७  
रथवर- एक राजकुमार  
४३।१८९  
रविकीर्ति- भरत चक्रवर्तीका एक  
पुत्र ४७।२८१  
रविप्रभ- स्वर्गका देव ४७।२६०  
रविवीर्य- भरत चक्रवर्तीका पुत्र  
४७।२८२  
राजप्रभ- हस्तिनापुरके राजा  
सोमप्रभका दूसरा नाम  
४३।८२  
राजराज- भरत चक्रवर्ती ४५।४८  
रिपुजय- भरत चक्रवर्तीका पुत्र  
४७।२८१

ल

लक्ष्मीवान्- भरत चक्रवर्ती  
३८।२०  
लक्ष्मी- एक देवी ३८।२२६  
लक्ष्मीमती- वाराणसीके राजा  
अकम्पनकी पुत्री ४३।१३५  
लक्ष्मीवती- जयकुमारकी माता  
४३।७८  
लोकपाल- राजा प्रजापालका  
पुत्र ४६।४८  
लोल- एक किसान ४६।२७८  
लोहबाहिनी- भरत चक्रकी  
छुरीका नाम ३७।११५

व

वज्र- भगवान् वृषभदेवका एक  
गणधर ४३।६४  
वज्रकाण्ड- भरत चक्रवर्तीका  
धनुष ३७।१६१  
वज्रवैद्य- एक पुरुष जिसे लोग  
दण्ड दे रहे थे ४६।२७३  
वज्रजुण्डा- भरत चक्रवर्तीकी  
शक्तिका नाम ३७।१६३  
वज्रमय- भरत चक्रवर्तीके चर्म-  
रत्नका नाम ३७।१७१  
वज्रसार- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।६४



वज्रायुध- एक राजकुमार  
४३१८९  
वरतनु- अन्तर देवोंका स्वामी  
३९१६६  
वरकीर्ति- विजयपुरका राजा  
४३१४१  
वरधर्मपुर- एक मुनि ४३१३४  
वरग- भगवान् वृषभदेवका गण-  
वर ४३१६३  
वर्धमानक- चक्रवर्तीका नाट्य-  
गृह ३३१८९  
वरमेन- विमलसेनका पुत्र  
४३११३  
वलि- एक राजकुमार ४३१८९  
वसन्तिका- राजा मुरदेवकी  
एक दासी ४३१३२  
वसु- राजाका नाका ४३१३८  
वसुपाल- पुष्पनाथकी देव-  
पुत्रीका निगमराजा  
राजा ४३१८९  
वसुपाल- अन्तर चक्रवर्तीका  
भाई ४३४  
वसुगल- राजा गुणनाथका  
पुत्र ४३१३३  
वसुदेव- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणवर ४३१५६  
वसुधासक- चक्रवर्ती भरतका  
कौटार-संस्कृत ३३१५२  
वसुन्वर- भगवान् वृषभदेवका  
गणवर ४३१५६  
वसुन्वरा- राजा मुरदेवकी स्त्री  
४३१५१  
वसुवती- शोकनाथकी स्त्री  
४३१६०  
वसुमित्र- भगवान् वृषभदेवका  
पुत्र ४३१५९  
वसुपेया- राजा मुरदेवकी स्त्री  
४३१६५  
वायुरथ- प्रभावतीका पिता  
४३१८५  
वायुरथ- भोगपुरका एक विद्या-  
वर राजा ४३१४३

वायुशर्मा- भगवान् वृषभदेवका  
गणवर ४३१५५  
वारिपेया- वसुपालकी स्त्री  
४३१३०  
वामन- एक मन्त्र ४३१८  
विचित्राश्व- वक्रवर्तीका मित्र-  
देव ४३१२०४  
विजयगुप्त- भगवान् वृषभदेवका  
गणवर ४३१२८  
विजय- जटुकुमारका छोटा  
भाई ४३१८०  
विजयवाय- चक्रवर्ती भरतके  
पट्ट- नगाड़का नाम  
३३१८३  
विजयपर्वत- भरतका हाथी-  
रत्न ३३१३९  
विजयमित्र- भगवान् वृषभदेव-  
का एक गणवर ४३१५९  
विजयाश्व- जटुकुमारका हाथी  
४३१२०२  
विजयाश्व- विजयाश्व पर्वतका  
कठिनाता देव ३१४२  
विजयाश्वेन- विजयाश्व पर्वतका  
स्वामी देव ३३१२  
विजयाश्वकुमार- विजयाश्वपर्वत-  
का कठिनाता देव  
३३१५५  
विजयविल- भगवान् वृषभदेवका  
गणवर ४३१५९  
विद्युन्मन- हस्तिनापुरके राजा  
मोमप्रभका दूसरा नाम  
४३१८४  
विद्युन्मन- चक्रवर्ती भरतके  
कुन्डल ३३१५७  
विद्युन्मना- गुणनाथकी स्त्री  
४३१८२  
विद्युद्वेग- एक और ४३१२९०  
विद्युद्वेगा- एक विद्यावरी  
४३१२३  
विद्युच्चौर- हिरण्यवर्मा और  
प्रभावतीपर लपकने करने-  
वाला एक और ४३१२४८

विमनि- भगवान् वृषभदेवका  
गणवर ४३१५५  
विमनि- विद्यावर राजा  
३२१८०  
विनीत- भगवान् वृषभदेवका  
गणवर ४३१६१  
विन्ध्यकेतु- विन्ध्यपुरीका  
निवासी राजा ४५११५३  
विन्ध्यश्री- विन्ध्यपुरीके राजा  
विन्ध्यकेतु और राने  
गियङ्गरीकी पुत्री  
४५११५४  
विपुलमति- एक वारग क्रांति-  
कारी मुनि ४३१३६  
विमलसेना- वाष्पपुरके राजा  
विशालकी पुत्री ४३१४३  
विमलसेन- एक विद्यावर  
४३११४  
विमलश्री- नृनालवती नगरी-  
के सेठ शंभुदेवकी स्त्री  
४३१२०५  
विमला- राजा मुरदेवकी एक  
दासी ४३१५२  
विमति- एक पुरग ४३१२९१  
विशामनि- चक्रवर्ती भरत  
२६१८८  
विशग- जितेन्द्रदेवका नाम  
३९११३  
विशालीशः- भरत चक्रवर्ती  
४३११९  
विशालाक्ष- भगवान् वृषभदेव-  
का गणवर ४३१६४  
विशाल- वाष्पपुरका राजा  
४३११६  
विश्वसेन- भगवान् वृषभदेवका  
गणवर ४३१५९  
विश्वेश्वर- जगत्के ईश्वर तीर्थ-  
वर ३९१२३  
विश्वेश्वरा- भगवान्की नागा-  
का नाम ३८१२६५  
विश्ववसु- भगवान् वृषभदेव  
३४१२२२

विष्मोचिका— भरत चक्रवर्तीकी  
पादुका ३७।१५८  
वीतशोका— श्रेयस्पुरके राजा  
खिवसेनकी पुत्री ४७।१४३  
वीतशोका— राजा सुरदेवकी  
एक दासी ४६।३५२  
वीरज्ञथ— भरत चक्रवर्तीका  
पुत्र ४७।२८२  
वीराहद— भरत चक्रवर्तीके  
हाथके कडेका नाम  
३७।१८५  
वृषभ— भगवान् आदिनाथ  
३४।२१६  
वृषभध्वज— प्रथम तीर्थकर  
४३।१  
वृषभसेन— भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।५४  
वृषभेशिन्— प्रथम तीर्थकर  
३७।४  
वैजयन्त— चक्रवर्ती भरतके  
महलका नाम ३७।१४७  
वैश्रवणवृत्त— सागरसेन और  
सागरसेनाका पुत्र ४७।१९७  
वैश्रवणवृत्त— सागरसेन और  
सागरसेनकी पुत्री  
४७।१९७  
शु  
शकुनि— मेखकदस सेठका  
भग्नौ ४६।११३  
शक्तिपेण— शोभानगरके राजा  
प्रजापालका एक सामन्त  
४६।९६  
शायी— इन्द्रकी इन्द्राणी ४६।२५७  
शतचतु— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।५४  
शतमातुर— भरत चक्रवर्ती  
( शतस्य माता शतमाता,  
तस्या अपत्य पुमान् शत-  
मातुर ) ३७।२१  
शशिप्रभा— उशीरवती नगरीके  
राजा आदित्यगति की स्त्री

शिव— एक विद्याधर राजा  
४७।१७५  
शिवंकर महादेवी— जयकुमारकी  
रानी ४७।२७६  
शिवंकर— पुण्डरीकिणी पुरीका  
एक उद्यान ४६।३४९  
शिवंकरा— सुलोचनाकी सपत्नी  
४६।१०  
शिवकुमार— एक राजकुमार  
४७।१००  
शिवसेन— श्रेयस्पुरका राजा  
४७।१४२  
शिवघोष— एक मुनि, जिन्हें  
सुसीमा नगरमें केवल ज्ञान  
उत्पन्न हुआ ४६।२५६  
शुचिसाल— भगवान् वृषभदेव-  
का एक गणधर ४३।६४  
शीलगुप्त— एक मुनि ४३।८८  
शीलगुप्त— „ ४६।४८  
श्री— एक देवी ३८।२२६  
श्रीदत्त— मृणालवती नगरीका  
एक सेठ ४६।१०५  
श्रीधर— एक राजा ४४।१०६  
श्रीधर— श्रीपुरका राजा ४७।१४  
श्रीपाल— एक मुनि ४६।२१७  
श्रीपाल— राजा गुणपालका छोटा  
पुत्र ४६।३४०  
श्रीपाल— जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह  
क्षेत्र सम्बन्धी पुण्डरीकिणी  
पुरीका राजा ४७।४  
श्रीमती— सुलोचनाकी सपत्नी  
४६।१०  
श्रीमती— राजा सुरदेवकी एक  
दासी ४६।३५२  
श्रीमती— श्रीपुरके राजा श्रीधर-  
की स्त्री ४७।१४  
श्रेणिक— राजगृहका राजा, भग-  
वान् महावीर स्वामीका  
प्रधान श्रोता ३८।३  
श्रेयान्स— हस्तिनापुरके राजा  
सोमप्रभके छोटे भाई, दान-  
तीर्थके प्रवर्तक ४३।८२

सु  
संजयन्त— जयकुमारका छोटा  
भाई ४७।२८०  
सत्यगुप्त— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।६०  
सत्यदेव— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।६०  
सत्यदेव— शोभानगरके गवितपेण  
सामन्तका पुत्र ४६।९६  
सत्यमित्र— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।६०  
सत्यवती— एक स्त्री ४६।३०६  
सन्मार्गदेभिन्— जिनेन्द्रका नाम  
३९।१३  
समाधिगुप्त— एक मुनिराज  
४७।१८३  
समुद्रवृत्त— एक सेठ, कुबेरमित्र  
की स्त्री वनवतीका भाई  
४६।४१  
समुद्रवृत्त— एक जुआरी ४६।२७९  
समुद्रवृत्त— सागरसेन और  
देवश्रीका पुत्र ४७।१९६  
समुद्रवृत्त— त्रियवत्ताका पिता  
४७।१८५  
सम्राट्— भरत चक्रवर्ती ३८।११  
संवर— भगवान् वृषभदेवका एक  
गणधर ४३।६१  
सर्वविजय— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।५८  
सर्वतोभद्र— चक्रवर्ती भरतके  
गोपुरका नाम ३७।१४६  
सर्वतोभद्र— एक महत्त्वका नाम  
४३।२७८  
सर्वदेव— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।५८  
सर्ववित्— सर्वज्ञ, जिनेन्द्रका नाम  
३९।१३  
सर्वयश— भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।५७  
सर्वयज्ञ— भगवान् वृषभदेवको  
एक गणधर ४३।५७

सर्वसमृद्ध- पुण्डरीकिणी नगरी-  
का राजा ४७।१९२

सर्वदयित- सर्वसमृद्ध वणिक् और  
धनश्रीका पुत्र ४७।१९३

सर्वभिय- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।५८

सर्वसन्ध- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।६३

सर्वगुप्त- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।५८

सर्वरक्षित- कोतवालका नाम  
४६।३०३

सर्वदयिता- सर्वसमृद्ध वणिक्  
और धनश्रीकी पुत्री, सर्वद-  
यितकी बहिन ४७।१९३

सर्वदयिता- समुद्रदत्तकी स्त्री  
४७।१९८

सागरदत्त- सागरसेन और देव-  
श्रीका पुत्र ४७।१९६

सागरदत्त- एक जुआका खिलाड़ी  
४६।२७८

सागरदत्त- वैश्ववणदत्ताका पति  
४७।१९८

सागरदत्ता- वैश्ववणदत्तकी स्त्री  
४७।१९९

सागरसेन- देवश्रीका पति  
४७।१९५

सागरसेना- सागरसेनकी छोटी  
बहिन ४७।१९७

साधुसेन- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।५९

सार्व- जिनेन्द्रका नाम ३९।१३

सिद्धार्थ- वाराणसीके राजा  
अकम्पनका मन्त्री ४३।१८८

सिन्धु- सिन्धु नामकी देवी  
७३।१०

सिन्धुदेवी- सिन्धु नदीकी अधि-  
ष्ठात्री देवी ३२।७९

सिंहवाहिनी- भरत चक्रवर्तीकी  
शय्या ३७।१५४

सिंहाटक- भरत चक्रवर्तीके  
भालिका नाम ३७।१६४

सुकान्त- वाराणसीके राजा  
अकम्पनका पुत्र ४३।१३४

सुकान्त- हिरण्यवर्माका सेवक  
४६।१६४

सुकान्त- भरत चक्रवर्तीका पुत्र  
४७।२८२

सुकान्त- मृणालवती नगरीके  
सेठ अशोकदेव और जिन-

दत्ताका पुत्र ४६।१०६

सुकेतुश्री- वाराणसीके राजा  
अकम्पनका पुत्र ४३।१३४

सुकेतु- एक राजा ४४।१०६

सुकेतु- मृणालवतीका एक सेठ  
४६।१०४

सुखावती- अच्युतस्वर्गके प्रतीन्द्र-  
की देवी ४६।३५४

सुखावती- धरणिकम्प और  
सुप्रभाकी पुत्री ४७।७४

सुजय- भरत चक्रवर्तीका पुत्र  
४७।२८२

सुदर्शन- भरत चक्रवर्तीका  
चक्ररत्न ३७।१६९

सुनमि- एक विद्याधर ४४।११२

सुप्रभा- धरणिकम्प विद्याधर-  
की स्त्री ४७।७३

सुप्रभा- अकम्पनकी स्त्री-  
सुलोचनाकी माता ४५।७

सुमगा- अच्युत स्वर्गके प्रतीन्द्र-  
की देवी ४६।३५५

सुमद्रा- भरत चक्रवर्तीकी पट्ट-  
राक्षी ३२।१८३

सुमति- वाराणसीके राजा  
अकम्पनका एक मन्त्री

४३।१९४

सुमती- सुमित्रा-सुलोचनाकी  
धाय ४३।१३७

सुमङ्गला- भगवान्की माताका  
नाम ३८।२२५

सुमुख- अकम्पनका दूत ४५।३४

सुदेव- एक राजा ४६।३५१

सुलोचना- वाराणसीके राजा  
अकम्पनकी पुत्री ४३।१३५

सुवर्णवर्मा- हिरण्यवर्माका पुत्र  
४६।२५२

सुविधि- चक्रवर्ती भरतकी छोटी-  
का नाम ३७।१४८

सुव्रता- भगवान् वृषभदेवकी  
समवसरणकी प्रमुख श्राविका

सुसीमा- अच्युतस्वर्गके प्रतीन्द्र-  
की देवी ४६।३५२

सूरदत्त- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।५५

सूर्यप्रभ- चक्रवर्ती भरतके छत्रका  
नाम ३७।१५६

सूर्यमित्र- एक राजा ४४।१०६

सोमदत्त- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।५५

सोमप्रभ- हस्तिनापुरके राजा  
जयकुमारके पिता ४३।७७

सौमन्दक- भरत चक्रवर्तीकी  
तलवारका नाम ३७।१६७

सौम्य- जयकुमार ४३।१२०

स्तनितवेग- अशनिवेगका पिता  
४७।२९

स्वयंप्रभा- भोगपुरके राजा  
वायुरथकी स्त्री ४६।१४८

स्वयंभू- भगवान् वृषभदेवका  
गणधर ४३।६२

ह  
हरिकेतु- भोगवतीका नाम  
४७।६२

हरिवर- एक विद्याधर ४७।९०

हलध्वज- भगवान् वृषभदेवका  
एक गणधर ४३।५६

हिमवदीश- हिमवान् पर्वतका  
स्वामी देव ३७।१२

हिरण्यवर्मा- प्रभावतीका पति  
४६।१६०

हिरण्यवर्मा- आदित्यगति और  
शशिप्रभाका पुत्र रतिवर

कबुतरका जीव ४६।१४६

हेमवत्-हिमवत् पर्वतके हिमवत्  
कूटपर रहनेवाला एक देव

३२।८९

हेमाङ्गद- वाराणसीके राजा  
अकम्पनका एक पौत्र

४३।१३४

हेमाङ्गदाजना- सुलोचना  
४६।३४८

ही- एक देवी ३८।२२६

## विशिष्ट शब्द-सूची

अ  
अकथन = स्वयं अपनी प्रशंसा करनेवाला ३५।२३  
अकामसायक = कामवाण ४७।८०  
अकालचन्द्र = अपमृत्यु ३४।११  
अकृतकस्नेह = वास्तविक प्रेम ३५।२१७  
अक्षरपद = अविनाशी पद मोक्ष ३४।१९७  
अक्षरश्लेष = हिंसादिमें प्रवृत्ति करनेवाला ४२।१८४  
अक्षसद = शरीरपीडा ३६।८७  
अमेसर = प्रधान ३४।२२३  
अगोप्यद = जहाँ गायिका भी प्रवेश असम्भव है - अद्वान्त निर्जन २७।३३  
अग्रज = वडे भाई भरत चक्रवर्ती ३६।९१  
अग्रजन्मा = ब्राह्मण ४०।९०  
अग्निकार्य = होम ३९।१११  
अचेलता = नग्नता ३६।१३३  
अजपूथ = वकरीका समूह ४१।६८  
अजसा = यथार्थ ३४।१३७  
अजग्राह्य = प्रमादरहित ३९।१००  
अजन्त्रित = आलस्यरहित ३८।१५५  
अजिन्म = दोष - अतिचार ३१।१३५  
अतिगुणता = अत्यासक्ति ३५।११०  
अतिविज्ञा = अज्ञा, क्रोध ३४।१२०  
अतिरेकिणी = अधिक ३४।२११  
अतिवाल्लभ्य = अतिमूल्यता ४१।३२  
अटीष्ट = मेरुपर्वत ३७।३२  
अटीश = सुमेरु पर्वत २६।७२  
७३

अधित्यका = पर्वतका ऊपरी मैदान ३३।३१  
अधीयान = पढता हुआ ३९।१०३  
अधी.ली = अध्ययनकुशल ३६।१०५  
अध्यध्वस् = मार्गमें ३१।५  
अनगार = मुनि ३८।७  
अनन्यज = काम ३५।१९२  
अनन्तुकासाः = नयस्कार करने-के अनिच्छुक ३४।२२०  
अनंछुक = किरणरहित, नग्न ३५।१५७  
अनाविल = निर्दोष ३९।९  
अनाश्वान् = उपवास करनेवाला ३६।१०७  
अमिकेत = निवासेरहित मुनि ३४।१७४  
अनुदात्तता = निकृष्टता, नीचता ३६।९१  
अनुदन्ति = हाथियोंके पीछे ४४।७९  
अनुद्दिन = उद्वेगरहित ३४।१८३  
अनुपानक = जूतासे रहित ३९।१९३  
अनुग्रथ = पश्चात्ताप ३५।१९८  
अनूचान = शास्त्रका सागोपाग अध्ययन करनेवाले ३४।२१७  
अनेकपेक्षित = हाथीकी चेष्टा ४६।३१२  
अन्तर = स्थान ३४।१८५  
अन्तर = भेद ३५।११  
अन्तःप्रकृतिज = मूलवर्गमें उत्पन्न हुआ ३५।१८  
अन्वयि = अनुकूल ३५।२३

अनुननतुक्त = वांछनेकी माँग २९।१३७  
अन्धतमस = गाढ़ अन्धकार ३५।१७१  
अन्यपुष्ट = कोयल ३७।१२०  
अपक्षपतित = पक्षपातमें रहित ४२।२००  
अपराग = द्वेषरहित ३५।२३८  
अपदान = पराक्रम ३२।७४  
अपध्वान्त = अन्धकारसे रहित ३५।७४  
अपचिति = पूजा ४२।२०७  
अपवर्ग = मोक्ष ३४।२१६  
अपत्रपा = लज्जा ३६।२०५  
अपाय = विघ्न ३४।१९४  
अप्रतिक्रम = असहाय-अकेला ३५।६८  
अप्रतिशासन = प्रतिद्वन्द्वीसे रहित शासनवाला ३४।१४  
अप्सव्य = जलमें होनेवाला २८।१९३  
अप्सुज = जनमें उत्पन्न होने-वाला मत्स्य २८।१९४  
अवडकाल = वर्षाकाल ३६।२११  
अभिगम्य = आराध्य ३६।२०२  
अभिचारकिंवा = मारणक्रिया २६।४  
अभिसारिका = अभिचारके लिए पतिके घर जानेवाली वध्या ३५।१७०  
अभ्यग्नि = अग्निके मन्मथ ४४।१८६  
अभ्यवकाश = जुला आराध ३४।१५८  
अभयनि = अजन्म २८।१३१  
अभिज्ञ = ज्ञानकार ३४।३३  
अभ्यर्ण = निषट ४१।४७  
अमय = पाय ३४।१९८

अमा = साथ ४५।७  
 अमुत्र = परलोकमे ३४।११०  
 अमोघपाती = अव्ययपाती  
 ३५।७२  
 अम्बर = आकाश, वस्त्र ३६।२२  
 अम्बरमणि = सूर्य ३४।१०  
 अरन्नि = मुट्टो वंधा हुआ हाथ  
 ३५।१३१  
 अररीपुट = किवाड़ोकी जोड़ी  
 ३१।१२४  
 अरण्यानी = भयकर अटवी  
 ३६।८१  
 अर्क = सूर्य ३५।१६९  
 अर्ककान्त = सूर्यकान्तमणि  
 ३४।४२  
 अलक = केश, आगेके वाल  
 २६।६  
 अलिनी = भ्रमरी ३५।२३५  
 अल्योदक = थोड़े फलवाला  
 ३५।१४४  
 अवष्टम्भयष्टिका = सहारेकी  
 लकड़ी ३७।४३  
 अवन्ध्य = अव्यय ३५।८६  
 अवस्थाथ = बर्फ, ओसकी बूँदें  
 २७।१०३  
 अवस्कराशन = विष्टाका भोजन  
 ४६।२८१  
 अवाय = पराङ्मुखिन्ता  
 ४१।१३८  
 अवारपारीण = दोनों पार, सटो-  
 में होनेवाले २९।७४  
 अव्यय्या = पीठासे रहित  
 ३४।१५६  
 अशन = आहार ३४।१९२  
 अशनीयित = वज्रके समान  
 आचरण करनेवाला  
 ३७।१६६  
 अशीय = घोड़ोका समूह ३६।३  
 अंशुमत् = सूर्य ३८।१  
 अशाश्वत = भंगुर, नाशशील  
 ३४।१२१  
 अशिव = अमागलिक ३४।१८२

असन = सहजनाके वृक्ष २६।५२  
 असाध्वस = निर्भय ३४।१७९  
 असंस्कृत = संस्काररहित ३५।६३  
 असिपुत्रिका = छुरी ३७।१६५  
 असुमति = भूर्ख, दुर्बुद्धि २८।१८२  
 अस्मदुपज्ञम् = मेरे द्वारा प्रार-  
 म्भित ४१।१२  
 अस्त्र = औसू ३५।२३१  
 अहः = दिन ३५।१५१  
 अहस् = पाप ४४।६७  
 अहिमस्विष् = सूर्य ३५।१६०  
 आ  
 आकम्पनि = अकम्पनके पुत्र  
 हेमागद आदि ४३।२३१  
 आकाशवाराशि = आकाशरूपी  
 समुद्र ३५।१६३  
 आकालिकी = अस्थिर २९।१०७  
 आकुलाकुल = अत्यन्त आकुल  
 २८।१२४  
 आगःपराग = अपराधरूपी धूलि  
 ३५।१२७  
 आगाढ = प्रविष्ट ३६।५३  
 आजि = युद्ध ४४।११९  
 आजीमुख = रणाग्रभाग ३७।१६८  
 आजानेय = उच्चजातिके घोड़े  
 ३०।१०८  
 आत्रिक = इसलोक - सम्बन्धी  
 ३८।२७१  
 आद्युव = बहुत खानेवाला २८।७६  
 आध्यानमात्रम् = स्मरण करते  
 ही ३६।६६  
 आधूति = अकम्पन ३५।१४७  
 आधोरण = हाथोके महावत  
 ४४।२०५  
 आनन्दधु = हर्ष ३४।५५  
 आनाय = जाल ३५।११  
 आनुषङ्गिणी = गौण ४१।११९  
 आपाटल = कुछ-कुछ गुलाबी  
 ३७।९०  
 आसीय = आप्त-जिनेन्द्र सम्बन्धी  
 वचन ३९।२  
 आमिष = मांस ३९।२७

आमुत्रिक = परलोकसम्बन्धी  
 ३८।२७१  
 आमुष्यायण = प्रसिद्ध पितासे  
 उत्पन्न पुत्र ३९।१०९  
 आयुरालानक = आयुरूपी खम्भा  
 ३६।८८  
 आयुधालय = शस्त्रागार ३७।८५  
 आयुध = युद्धपर्यन्त ४५।३  
 आयति = उत्तरकाल ४१।५४  
 आयुष्मत् = हे चिरजीव ३५।८८  
 आरसित = शब्द ३४।१७८  
 आरट्ट = आरट्ट देणके घोड़े  
 ३०।१०७  
 आरेका = शंका ३९।१४३  
 आर्जुनम् = चाँदीका ३३।९६  
 आर्षमी = भगवान् ऋषभदेव-  
 सम्बन्धी ३४।२१६  
 आलष्ट = कुपित ३४।१८६  
 आलान = हाथी बाँधनेका स्तम्भ  
 २९।१३६  
 आर्जित = वशीकृत ३७।८७  
 आवसथ = स्थान ३४।१९२  
 आवान् = आता हुआ २९।१६४  
 आविष्ट = प्रविष्ट, घुसा हुआ  
 ३५।१०  
 आशो = दिशा और अभिलाषा  
 २६।२२  
 आशितम्भव = सन्तोष, तुष्टि  
 ३४।११८  
 आश्रुत निष्ठिति = शास्त्रकी  
 समाप्ति पर्यन्त ३८।१६१  
 आशु = शीघ्र ३९।२१०  
 आसन्नम्भव = निकटम्भव  
 ३९।८२  
 आसिस्वादयिषु = स्वाद लेनेका  
 इच्छुक ४३।४७  
 आसेतुहिमाद्रि = सेतुबन्धसे  
 लेकर हिमगिरि तक  
 ३७।२०३  
 आस्माकी = मेरी ३८।५  
 आस्थयिका = सभा ४६।२९९  
 आहव = युद्ध ३५।१२९

आहार्य = आभूषण ३३।२१

इ

इज्या = पूजा ३८।२४

इन = स्वामी ४४।२६५

इम = हाथी ३५।४३

इयुधि = तरकश ३६।१२

इष्टि = यज्ञ ३४।२१७

इह = इस लोकमें

ई

ईडा = स्तुति ३६।९५

ईदित = स्तुत ४१।२६

उ

उडुमरप्रिय = युद्धके प्रेमी २९।९३

उच्चावच = नामाप्रकारके  
३५।२४८

उत्कता = उत्कण्ठा ३५।१८७

उक्कोच = घूस ४६।२९६

उत्सेक = गर्व ३६।१२९

उत्थस्त = खेदक्षिप्त ४१।२

उवगाह = जलप्रवेश ३७।१२६

उवच् = उत्तर दिशा ३०।९५

उवम्यन् = पाससे युक्त होता  
हुआ ३४।१७७

उदन्वान् = समुद्र ३५।१८४

उदकी = फल ३९।१

उहात्र = काटनेके लिए हँसिया

ऊँचा उठाये हुए ३५।३०

उदितोदित = एकसे एक बढकर  
अभ्युदयसे युक्त ४३।१९०

उद्देश = स्थान ४०।१७

उद्ध = प्रघटत ३५।२४४

उद्दिष्ट = अपने उद्देश्यसे निमित्त  
३४।१९९

उज्जस = नाक ऊपर करनेवाला  
अहकारी ३९।१०९

उपक्षेत्रम् = क्षेत्रोंके समीप ३५।३८

उपधि = बाह्य और अन्तर  
परिग्रह ३४।१८९

उपपन्न = बाध्यभूत ३०।१७

उपगूढ = बालिङ्गित ३६।११०

उपश्रुहित = वृद्धिको प्राप्त हुआ  
३४।१३०

उपनाह = बाँधना ३२।२७

उपशाल्यभू = गाँवकी निकट-  
वर्तिनी भूमि ३५।४०

उपादिम्न = चरणोंके समीप  
३६।१६५

उपात्त = स्वीकृत-गृहीत ३८।२१

उपालम्ब = उलाहना दिया हुआ  
३९।११३

उपोषिन् = उपवास करनेवाला  
३५।१२५

उत्सुक = जलती हुई लकड़ी  
३४।५५

उत्स्वण = बहुत भारी ३७।१५८

ऊ

ऊर्जस्वि = बलिष्ठ ३७।८७

ऊर्जिता = बलिष्ठता २८।१३४

ए

एकतान = मुख्यरूपसे लगे हुए  
तन्मय ३४।२२१

एकावली = एक लडका हार  
३७।९६

एणाग्नि = मृगचर्म ३९।२८

एनस् = पाप ३५।१५५

एन-प्रकर्षतः = पापकी अविकता-  
से ४१।५

औ

औक्षक = बैलोकामूह २९।१६२

औत्पातिक = उत्पातको सुचित  
करनेवाला ३६।१५

औपासिक = १. उपासकाचार-  
सम्बन्धी ३९।९५

क

कक्षा = तुलना ३५।१०५

कज्ज = कमल २६।११

कडङ्गर = वृक्ष (भूसा) २९।१५६

कणिका = बालें २६।१७

कणिशमञ्जरी = घानकी बालें  
३५।३१

कदर्थक = कुपण २९।११०

कवरी = चोटी ३७।१०७

कमलावती = लक्ष्मी ३५।४९

कर = किरण, टैक्स ३५।१५७

करक = ओले ३६।२९

कराल = तीक्ष्ण भयकर ३६।१६

कर्णजाह = कानोंके पास  
३५।२०४

कहे = कब ३५।१४९

कलकण्ठी = कोयल ३७।१२१

क्लत्र = स्त्री ३४।११९

कलम = हाथीके बच्चे ३६।१६८

कलम = घान ३५।३२

कलघातमय = स्वर्णनिमित्त  
४३।२६१

कल्पाधिप = इन्द्र ३९।१५

कादम्बजाया = कलहसी २६।१०

काञ्चीस्थान = नितम्ब ४३।१४३

कामरूपविधायिनी = मनचाहा  
रूप बना देनेवाली ४६।३१७

कामितसंसिद्धि = इष्टसिद्धि  
३४।२१६

कामिन्, कलकाञ्ची = स्त्रियोकी  
सुन्दर मेखलाएँ ३५।२०३

काम्योज = कावुली घोड़े ३०।१०७

कायमान = कुटियोके प्रकार  
२७।१३२

काहल = अफसूद वचन-बोलने-  
वाले २७।२१

किमीय = किसका २८।१४३

किञ्जक = केसर २६।११

किलासिन्धु = कुछी ३३।२२

कुडिमभूतल = फर्म २६।९

कुक्षिवास = जहाँ रत्नोंका

व्यापार होता है ३७।७०

कुटिब = दुलमे लगी हुई बीज  
बोनेकी नली ३७।६८

कुण्ड = टेढ़ी अँगुलीवाला  
४७।१३८

कुण्डोष्ठी = कुण्डके समान बड़े-  
बड़े धनवाली गाँयें २६।४६

कुतप = भकानकी देहरी २९।५७

कुन्त = माला ३७।१६४

कुञ्जक = अन्त पुरमें रहनेवाले  
बोने मनुष्य ३७।१४१

कृपस्त्व = भूपतिपना, खोटा  
राजपना ३०११०

कुमार = बालक ४५१४२

कुलाल = कुम्हार ३५१२६

कुल्या = नहर ३५१४०

कुवलय = पृथ्वीमण्डल, नील-  
कमल ४३१७७

कुसुमर्तु = वसन्त २७१४३

कुसुमवाण = कामदेव २७११९

कृजित = पक्षियोंका कलरव  
२६११५

कृतक्षण = कृतोत्साह ४११३९

कृतकृत = वर्ण-वर्ण ३६१६७

कृतदी = कृतज्ञ ४३११७

कृतसङ्गर = कृतप्रतिज्ञ ४३१५३

कृतानुबन्धन = जिनसे आग्रह  
किया गया ३८११५

कृतान्तवाक् = यमवचन ३९१२२

कृत्स्ना = सम्पूर्ण ४२१२०८

केतन = गृह ४७१२०७

केतुमालाकुल = पताकाओंके

समूहसे व्याप्त ४११८४

केरल = केरल देशके लोग २९१९४

केवलार्क = केवलज्ञान रूपी सूर्य  
४११९

कोक = चकवा ३५१२३०

कोककान्ता = चकवी ३५१२२३

कोटी = अग्रभाग, चरम सीमा  
३०१३०

कोण = म्यान ४७१३५

कोक्षेयक = तलवार ३६१११

कोबेरी = उत्तर दिशा ३१११

कौशिक = उल्लू ४११३७

क्रमश्च = क्रमको जाननेवाला  
३५१७

क्रयक्रीत = मूल्य देकर खरीदा  
हुआ ३४११९९

क्रमाब्ज = चरणकमल ३५१२४५

क्लम = खेद ४४११७

क्षत्रिय = एक वर्ण २८१४६

क्षीरस्यत् = दूधकी इच्छा रखने-  
वाला २६१४८

क्षेपीयस् = अत्यन्त शीघ्र ४१११७

क्षेम = प्राप्त हुई वस्तुको रक्षा  
करना २९१२८

क्षोदीयान् = अत्यन्त क्षुद्र ३४१३४

क्षमा = भूमि ३४१७६

क्षमाज = वृक्ष ३५११५३

क्षमाध्र = पर्वत ३७१६६

क्षमात्राण = पृथिवी रक्षा ३७१८३

ख

खग = वाण ४४११२१

खग = विद्याधर ४७१२१

खण्डिता = वियोगिनी स्त्री,  
जिसका पति संकेत देकर

भी न आवे ३५११९३

खरघृणि = सूर्य ३६१२११

खरांशु = सूर्य २७१९३

खलकल्पाः = दुर्जनके समान  
४४११८

खेचर = विद्याधर ४६१३७

ग

गजता = हाथियोंका समूह  
३०१४८

गजप्रवेक = श्रेष्ठ हाथी ३०११०५

गन्धर्व = व्यन्तर देवोंका एक  
भेद ४११२६

गरुडग्रावसच्छवि = नीलमणि-  
के समान वर्णवाला

३६१४९

निर्दृष्टि = शारीरिक सुख

३७१२७

गान्धार = कान्धारके घोड़े  
३०११०७

गुणग्राम = गुणोंका समूह ३५१५०

गुप्ति = रक्षा ३६११७

गुरु = पिता, भगवान् वृषभदेव  
३६१०४

गुरु = पिता ३८१३७

गुरुहृत्प = पितृतुल्य ३४१८१

गुर्वजुगृह = गुरुकी कृपा ३९१६५

गुरुदक्ष = घुटने प्रमाण

३३१७१

गृध्रु = लोभी ३५१३३

गृहकोकिल = छिपकुलों

४६१३३८

गोगृष्टि = पहली बार वियानी

हुई गाय २६१४६

गोत्रस्खलन = स्त्रीके सामने  
हृदयमें बसी हुई दूसरी

स्त्रीका नाम उच्चरित  
होना ४६१७

गोमतल्लिका = श्रेष्ठगाये २६१४५

गाममृग = कुत्ता ३५१२१

घ

घनस्तनित = मेघगर्जना ३७१३१

घस्मर = विनाशक ४४११०६

च

चक्र = चक्रवर्तीका एक अजीब-  
रत्न ३७१८४

चक्राङ्ग = चकवा २७१२८

चक्रोद्योत = चक्ररत्नका प्रकाश  
३६१२३

चक्षुःश्रवस् = साँप ३६११७६

चक्षायुस्त्व = तुणका बना पुरुष  
२८१३०

चण्डमन्दर = तेजवायु - आँधी  
३६११

चतुष्क = चौराहा २६१३

चतुरस्र = समचतुरस्रस्थानसे  
युक्त मनोज्ञ ३७१२८

चमरिख = चमर ३५१२४४

चरमाङ्गधर = तद्भवमोक्षगामी  
३६१३९

चर्याशुद्धि = चारित्रकी शुद्धता  
३४१३५

चातुरन्त = चतुर्दिगन्त ३५११२

चातुरन्त = सब दिशाओंका  
स्वामी चक्रवर्ती २८१८५

चामीकर = स्वर्ण ३६१५०

चारभट = चारवीर ३११६५

चारचक्षुः = गुप्तचररूपी नेत्रसे  
युक्त ४५१४१

चित्तज = काम ४५१८७

चित्तजन्मन् = काम ३७१४२

चुन्तुक = प्रतीत-प्रसिद्ध २९१९४





दृष्यकुटी = कपडेका तम्बु  
३७।१५३

दृष्यशाला = कपडेकी चाँदनी  
२७।२४

दृढसंगर = दृढप्रतिज्ञ ३४।२०८

दृढधा = गूँधी हुई ३७।१४१

देव = स्वर्गके निवासी देव  
४१।२६

देवदत्त = विजिज्ञाज्ञद नामक  
देवके द्वारा किया हुआ  
४३।२७८

देवभूय = देवतर ३९।१०८

देशसन्धि = दो देशोंके मिलनेकी  
सीमाएँ ३५।२७

दोघाति = भुजाओका आघात  
३६।७९

दोर्दण्ड = भुजदण्ड २९।९५

दैवज्ञान = ज्योतिष शास्त्र  
४१।१४८

द्वैत्य = द्वीपोमे होनेवाले २९।७४

द्वैराज्यःस्थिता = दो राजाओंके  
राज्यसे व्यवस्थाहीन  
३४।४७

द्रोणामुख = बन्धरगाह ३७।६२

द्वन्द्व = परीपह ३६।११६

द्विजन्मन् = द्विज ३८।४९

द्विजिह्वा = दुष्टता, कुटिलता  
३४।८८

द्विषच्छक्र = शत्रुओंका समूह  
३६।६५

द्विषद् = बारह २८।११५

द्विरद = हाथी ३५।११५

द्युसद् = देव ३५।७०

द्युमणि = सूर्य २९।१०८

द्युध

धमाया = तुष्णा ३६।७८

धनोच्छन्नचुञ्चुता = धन इकट्ठा  
करनेकी उत्पत्ति ३५।१२२

धन्वन् = धनुष धारण करनेवाले  
२७।१११

धव = पति ४३।९८

धर्मसर्ग = धर्मसृष्टि ४१।३२

धर्म्या = धर्मयुक्त ३४।१४०

घात्रीकल्प = घायके समान  
४३।३३

घोरित = वैर्य-भरे वचन ३६।२१

घुर्थ = घुरन्धर ४३।८५

घूर्गत = महावत ३६।१०

घूमध्वज = अग्नि ४४।१०

घृतिप्रावार = वैर्यरूपी ओढनी  
३४।१५७

घृतिसंवर्मित = वैर्यरूपी कवचसे  
युक्त ३४।१५९

घेनुका = हथिनी २९।१५६

घेनुप्या = बँधानमें दी हुई गाये  
२६।४८

घोरित = घोड़ोंकी एक चाल ।

घोड़ोंकी चालको धारा  
कहते हैं । इसके पाँच भेद

हैं—आस्कान्धित, २ घोरि-  
तक, ३ रेधित, ४ वलित

और प्लुत । ३१।१

घौरैय = श्रेष्ठ ३८।८

ध्याति = ध्यान ४५।४

ध्वाद्भक्ष = कौए ४१।३७

न

नद्धा = बँधी हुई २६।८

नन्दधु = आनन्द ३५।२

नमोग = विद्याधर ३५।७३

नर्मदा = क्रीडा देनेवाली ३०।८५

नवग्रह = नया पकड़ा हुआ  
२९।१२२

नवोडा = नयी विवाहित ४४।२०७

नागमिश्रुन = नाग-नागीका जोड़ा

४३।९०

नाथवंश = वाराणसीके राजा

अकम्पनका वंश ४४।३७

नार्पत्य = राज्य ( नृपते कार्य

नार्पत्यम् ) ४३।८६

नालिक = सत्य ३५।१९६

निकार = तिरस्कार ४६।३१६

निगम = गाँव २६।१३४

निगल = वेडी ४२।७६

निगलस्य = वेडीमें पड़ा हुआ  
४२।७६

निध्नता = अधोनता ३७।१४२

निधुल = वेतका वृक्ष २७।४६

नितम्बिनी = स्त्री ३५।१९४

निधन = मृत्यु २८।१३४

निधुवन = मैथुन ३५।२१८

निध्यान = अवलोकन ४१।६८

निगृह्यु = नृत्यके इच्छुक  
३६।१७४

नियति = वैव, भाग्य ३५।१६७

नियाम = नियम ४५।६

नियुद्ध = बाहुयुद्ध, कुत्ती ३६।४५

निरारेका = सन्देशरहित ३०।२३

निरुद्ध = प्रसिद्ध ३७।२६

निर्घाति = वज्र २६।७७

निर्घाति — निर्घोष = वज्रपातका

शब्द २८।१२२

निर्मल = निरतिचार (निर्मम =

समतारहित) ३४।१७१

निर्मृच्छ = मोहरहित ३४।१७३

निर्वाणक्षेत्र = मुक्तिस्थान ४०।८९

निर्विष्ट = उपभुक्त ३७।९९

निर्वृति = सुख ३७।१४

निर्वर्तित = पूर्ण-समाप्त ३७।१

निर्विक्त = प्रकाशित ३७।१२६

निर्विष्ट = बैठे हुए ४२।१

निःश्रेयस = मोझ ३९।१

निशात = तीक्ष्ण ३६।११

निषधाद्रि ( औ ) = निषध

कुलाचल ३३।८०

निष्प्रवाणी = नवीन शास्त्र,

अथी हाल यन्त्रसे चतारे

हुए २६।५४

निष्ठा = पूर्णता ४२।१०७

निसर्गसुभगा = स्वभावसे सुन्दर

३७।२९

निसृष्टार्थ = राजदूत ४३।२०२

नीरेक = नि सन्देश ३५।१३८

नोत्तुञ्चुत्त्व = नीतिनिपुणता

३५।१२

नृपञ्चु = नीच मनुष्य ३५।११४

मुषसाहूल = श्रेष्ठ राजा ३७।२  
मैदावा = ग्राम ऋतुसम्बन्धी  
३७।३०

मैकिकन्य = निष्परिग्रहता  
३४।८९

मै = रात्रिसम्बन्धी ३५।१५७  
मैश्रेयसी = मोक्षसम्बन्धनी  
३९।२

मैक्षिक = तलवार धारण  
करनेवाले २७।११

प

पह = पाप और कीचड़ २६।२२  
पक्षमा. = पाँच वर्ष तक  
४६।९९

पञ्चाह = पाँच दिन ३४।१७५  
पवित्रा = गारुडी विद्या, जिससे  
विपका वेग दूर होता है  
३८।२

पटु = चतुर ३५।७

पटव = पक्षी ३५।२३३  
पदाकिनी = सेना २६।१४०

पवित्र = बाण २८।१२१

पञ्चाकर = तालाब ३५।२२३

पवस्विनी = गायें २६।४८

परासु = मृत ४४।१३२

परिगत = व्याप्त ३५।२३५

परिच्छिन्ति = समाप्ति-विनाश  
३५।१५१

परिणीति = विवाह ४४।५५

परिकल्प्यु = अत्यन्त नि सार  
३५।१२१

परिमृति = तिरस्कार ३४।११२

परिमा = प्रमाण २८।१७३

परिष्कृत = धिरा हुआ २६।८९

परिवन्त = आलङ्घित  
३६।१०५

पलित = वृद्धावस्थाके कारण  
प्रकट हुई वालोकी सफेदी  
३६।८४

पखल = स्वल्प जलाशय ३३।४९

पाकसख = सिंह आदि दुष्ट  
जन्तु ३३।५४

पाञ्चनद = पञ्चावके ३०।९८

पाटल = गुलाब ३७.९०

पाणिगृहीती = कन्या ३४।१२७

पण्ड्य = पाठ्य देगके लोग  
२९।९५

पादात = पैदल मैनिफोका  
समूह ३२।२

पात्र = पैर धोनेका पानी २७।१

पारिपन्थिक = शत्रु ४६।२०५

पार्थिव = वृक्ष, राजा ३४।४३

पार्थिव = घडा, राजा ३५।१२६

पार्थिव = राजा, वृक्ष २९।१०५

पिण्डोखण्ड = खलोका टुकडा  
३५।१११

पिनितीचय = मासका पिण्ड  
४७।४४

पीथ = दूधसहित भस्मन २७।२६

पीनापीनाः = स्थूल धनवाली  
गायें. २६।४७

पुत्रकल्प = पुत्रतुल्य ३४।१९१

पुत्रविटपाटीप = पुत्ररूपी  
बाखाओके विस्तारसे युक्त  
४३।८३

पुराधिद = पूर्व व्यवहारके साता  
४३।१८८

पुरुषव्रत = पौरुष ३७।२६

पुरुषोत्तम = नारायण, श्रेष्ठ  
पुरुष ४३।३५

पुरुदंशस् = सार्जार ४६।१४४

पुरुषी = अत्यन्त बुद्धिमान्  
३७।१७५

पुष्कर = कमल ३६।१७०

पुष्करोदस्त = सँढके अधभागसे

उठायें हुए ३६।१७०

पुष्यबाण = काम ३७।१०६

पुष्यसन्ध्व = काम ३७।४६

पूरीकृत = राशीकृत ३५।४२

पौरस्थ = पुरुषसम्बन्धी २९।७७

पौंस = पुरुषसम्बन्धी २८।१३०

प्रकीर्णकमात = चमरोका समूह  
३८।२५५

प्रोतनमास्त = प्रात कालकी

वायु ३५।२३६

प्रग्रह = रस्सी २८।१०५

प्रणय = स्नेह ३५।१०६

प्रणिधानपरायण = एकाग्रतामें  
तत्पर ४२।१३१

प्रणिधि = दूत ३४।२२३

प्रणीत अग्नि = सस्कार की हुई  
अग्नि ३४।२१५

प्रणय = सस्कार करने योग्य  
४०।८२

प्रतिभू = जामिनदार ४२।१७३

प्रतिच्छन्द = प्रतिविम्ब, प्रति-  
निवि ४१।१४६

प्रतिष्कल = सहायक ३४।४३

प्रतिवृष = प्रतिद्वन्द्वी बैल २६।४२

प्रतिसूर्य = दूसरा सूर्य ३४।१०

प्रतीची = पश्चिम दिशा ३०।९५

प्रतीच्य = पश्चिमके राजा  
३०।११२

प्रतीक्ष्य = पूज्य २८।१५५

प्रतीक्ष्यता = पूज्यता ४५।६५

प्रतीयता = प्रतिकूलता ३५।३

प्रतीली = गोपुर, नगरका प्रधान  
द्वार. २६।८३

प्रत्यग्नू = नवीन २६।८६

प्रत्यगूर्लगम = नवीन समागम  
३७।५५

प्रत्यमूलखण्डिता = नयी विरहिणी  
३५।२०२

प्रत्यनीक = शत्रु ३५।१४६

प्रत्यार्य = जललाकर ४५।११२

प्रत्यसन्ननिष्ठ = निकट कालमें  
मोक्ष जार्नेवाला ३९।८१

प्रत्यय = कारण ४५।१११

प्रत्यकम् = सूर्यके सम्मुख भाग  
३५।२२९

प्रत्याख्याः = योग्य ३४।८

प्रत्याख्येयत्व = स्कार ३५।१

प्रत्येय = विश्वास दिलानेके  
योग्य ३५।१२४  
प्रथन = युद्ध २८।१३४  
प्रमास् = प्रकृष्ट कान्तिसे युक्त  
३०।१२३  
प्रभूत = बहुत भारी ४१।७१  
प्रमथ = भूत ४१।३७  
प्रयुयुत्सा = युद्ध करनेकी  
इच्छा ३६।३७  
प्रवथस् = वृद्ध २७।१२०  
प्रवालवन = मूंगेका वन  
३५।२३४  
प्रशेसुषी = शान्त होती हुई  
२८।१५४  
प्रश्रय = विनय ३५।१०६  
प्रशयी = विनयी ३५।७  
प्रष्ट = श्रेष्ठ ४३।३८  
प्रस्थ = शिखर ३५।१५३  
प्रसङ्ग = हठपूर्वक, जबरबस्ती  
३५।१७२  
प्रज्ञता = नम्रता ३४।२२३  
प्राकृत = साधारण पुरुष ४३।४५  
प्राकृतनी = पूर्वभव-सम्बन्धीनी  
३६।१८८  
प्राच्य = पूर्वदिशाके राजा  
३०।११२  
प्राजित् = सारथि २८।१०४  
प्राज्य = श्रेष्ठ ३६।२०४  
प्राज्ञ = बुद्धिमान् ३५।७  
प्रतिक्लृप्त्य = प्रतिकूलता ३५।५  
प्राप्ताप्य = शत्रुता २८।१४९  
प्राध्वंक्लृप्त्य = बन्धनमे डालकर  
३५।७०  
प्राबोधिक = जगानेके कार्यमें  
नियुक्त सारण ३५।२२६  
प्रारोहित = अकुरित २९।१३५  
प्रावृषेय = वर्षाऋतु-सम्बन्धी  
३२।६९  
प्राशु = ऊँचे ३६।५५  
प्रासुक = जोवरहित ३८।१५  
प्रासिक = भाले धारण करने-  
वाला २७।१११

प्रेयस्कर = पतिका हाथ  
फं  
फालिनीफल = गुमचीके फल  
२८।३९  
ब  
बद्धकक्ष = तत्पर ३४।१४५  
बन्ध = बन्धन ३६।९७  
बन्धूक = लाल रंगके पुष्पविशेष  
जिन्हें दुपहरियाके फूल  
कहते हैं। २६।२१  
बलपरिवृद्ध = सेनापति ३५।२४९  
बलाम्मोधि = सेनारूपी समुद्र  
३५।१  
बाणासन = पुष्पविशेष जिन्हें  
क्षिप्रि कहते हैं २६।२४  
बाणासन = धनुष ३६।२४  
बालार्क = प्रातःकालका सूर्य  
३५।२३५  
बालिश = मूर्ख ४६।१९२  
बाल्हीक = बाल्हीक देशके घोड़े  
३०।१०७  
बाह्यालिकास्थल = खेलका मैदान  
३७।४७  
बृंहित = हाथियोंकी चिंगवाड  
३४।१८५  
ब्रह्मवर्चस = आत्मतेज ३९।१०१  
ब्रह्मसूत्र = जनेक २६।६३  
ब्राह्मण = एक वर्ण ३८।४६  
भ  
भग्नरद = जिसका दाँत टूट गया  
है ३५।११५  
भट्टबुव = अपनेको झूठ-मूठ योद्धा  
कहनेवाला २८।१३१  
भवदेवचर = भवदेवके जीव  
(भूतपूर्वों भवदेवों भव-  
देवचरः) ४६।१४४  
भर्मकुम्भ = स्वर्णकलश ४३।२१०  
भास्वत् = सूर्य ३५।२३३  
भिदा = भेद ३५।११५  
भृष्ट = पर्वत ३६।२१०  
भृष्टत् = पर्वत, राजा ३५।१५७  
भृति = सम्पत्ति ३५।११४

भृशुपात = पर्वतोंके ऊपरी भागसे  
नीचे गिरकर मरना  
३०।७०  
भेरुण्ड = एक पक्षी ४७।४४  
भोग = साँपका फन ३६।१०८  
भोगिन् = साँप ३६।१७१  
भ्रातृजाया = भाईकी स्त्री  
३५।१३४  
भ्रातृभाण्ड = भाईरूप मूलधन  
३४।५९  
म  
मकरकेतन = कामदेव ३५।१८४  
मकरालय = समुद्र ३५।६८  
मगधावास = मगध नामक देव-  
का निवासस्थान ३५।७१  
मधु = वसन्त ऋतु ३७।१२९  
मधुकरमन = भ्रमरसमूह २६।६  
मन्त्रविद्याचण = मन्त्रविद्याके  
प्रसिद्ध विद्वान् ३५।१०  
मन्दसान = हंस २६।१८  
मनोभू = काम ३५।१८६  
मन्दाक्रान्ता = मन्द गमन करने-  
वाली २८।१९२  
मन्दुरा = बुड़साल २९।१११  
मन्यु = क्रोध ३५।१९२  
महानक = बड़े-बड़े नगाड़े ३७।७  
महापितृवन = महात्मशान  
३४।१८२  
महामिजग = महाकुल ४२।३७  
महाहव = महायुद्ध ३७।१५९  
महास्थान = सभामण्डप ४१।१५  
महोक्षित् = राजा ३७।३२  
महोयस् = अत्यन्त महान्  
३४।२१८  
मागधायितम् = स्तुति पाठकोके  
समान आचरण किया  
२९।३९  
मातृकल्प = माताके समान  
३४।१९१  
माधवी = वसन्तऋतु-सम्बन्धी  
२७।४६

माधवी = एक लता-मधुकामिनी  
२७।४७

मुञ्चोन्मुञ्चि = मुक्तके सम्मुख  
३७।१०५

मुनेन्द्रात्मन = सिंहासन  
३१।१५८

मैथुन = साला ४६।३१७  
मौञ्जी = मूँजकी रस्मीने वनी  
हुई मैथला ३८।१०४

य

यवीयान् = अतिशय युवा  
३४।४४

यवीयान् = छोटे भाई बाहुबली  
३६।५२

यष्ट्याः = पूजा करने योग्य  
४१।१३

याचिग्रिम = याचनामे प्राप्त  
३६।१२२

यादृप् = जलजन्तु ३६।७९

यादृमां पतिः = मसुद्र ३६।७९

याममात्र = प्रहरमात्र ४२।१७८

याष्टीक = यष्टि-लकड़ी धारण  
करनेवाले २७।१११

युग्य = बाहुन ३५।२१

योग = ध्यान ३८।१७९

योग = अप्राप्त वस्तुको प्राप्त  
करना ३७।१७

योगसिद्धि = ध्यानसिद्धि  
३६।१५८

योगज = सपके प्रभावसे होने-  
वाली ३६।१४४

र

रजःसन्तमस = धूलिहूयी गाढ  
अथकार ३६।२३

रथकट्या = रथोका समूह ३६।४

रथाङ्ग = चक्रवा ३५।१६८

रथ्या = रथ चलने योग्य चौड़ी  
सड़क २६।३

रद = दाँत ३७।२३

रंहस् = वेग ३७।२४

राजवती = कुत्तित राजाजीसे  
युक्त भूमि ३४।४७  
७४

राजन्वती = उत्तम राजासे युक्त  
भूमि ३४।४७

राजीवास्य = कमलके समान  
मुखवाले २८।१८७

राजिव = चन्द्रमाके समान  
४४।३८

रोगासु = रोगरूपी चूहे ३६।८९

रोदसी = आकाश और पृथिवी-  
का अन्तराल ३६।१

रैराणि = घनकी राशि ३१।६२

ल

लघु = लघु ३४।३४

लर्वायान् = अत्यन्त छोटा  
३४।२४

लाट = लाट देशके राजा  
३०।९७

लाछा = लार ३५।४३

लालाटिक = सेवक ४३।१५७

लुब्धक = शिकारी ३७।१३४

व

वचोहर = दूत ३५।१३८

वज्रनालुप्सु = प्रतारणापटु,  
ठगनेमें होशयार ४६।८

वज्रसार = बलके समान स्थिर  
३५।५२

वज्रिजय = शूद्रविजय ३७।१६३

वणिज् = वैश्य ३८।४६

वत्सरानक्षम = एक वर्षका  
उपवास ३६।१८५

वत्सर्पधुग = आगामी - पञ्चम -  
काल ४१।५३

वदान्यकुल = दानियोका समूह  
२६।१२

ववधि = सरोवर २८।२२

वनमातङ्ग = जंगली हाथी  
३४।१८६

वनक्षमाव = वनके वृक्ष ३६।१२

वनसामज = जंगली हाथी  
३०।६३

वनजेक्षणा = कमललोचना  
४७।१४३

वनीपकानीक = याचकसमूह  
४५।१३७

वन्दारु = वन्दना करनेवाले  
४२।२०७

वप्रभूमि = खेतकी भूमि २६।१४

वररा = चमडेकी मजबूत रस्ती  
३५।१४९

वरिष्ठ = अत्यन्त श्रेष्ठ ४४।३२

वरासोहा = उत्तम नितम्बवाली  
स्त्री ३७।९२

वरुथ = रथ ३३।९

वर्क = तरुण हाथी २९।१५३

वर्ष = क्षेत्र ३८।४

वर्षमन् = गरीर ३५।५२

वसुवाहन = धन, सवारी ३८।८

वायुरा = जाल ३७।४८

वाग्देवी = नरस्वती ३५।४९

वाचयम = मीनी ३८।१६२

वाच्यमस्व = मीनवत ३४।२०५

वाचिक = सन्देश ३४।८४

वाजि = घोड़ा ३५।४३

वात्सक = बछड़ोका समूह  
२६।१११

वापेय = वापी देशके घोड़े  
३०।१०७

वामी = घोड़ी ३०।१०१

वायुवीथ्यलुगामिन् = वायुके  
मार्गका अनुसरण करनेवाले,  
निष्परिग्रह ३४।१९०

वायुणी = मदिरा, पश्चिम दिशा  
३५।१५५

वारी = हाथी बाँधनेका स्थान  
२९।१२२

वार्पिकी = वर्षाकालसम्बन्धी  
३४।१५६

वास्तु = घर २८।५१

विकर्षितम् = कम नहीं हुआ  
३७।१५

विक्रया = विकार ३५।७

विगाढ = प्रविष्ट ३१।१४५

विग्रह = गरीर २६।६

विग्रह = शुद्ध ३५।२३

विचक्षण = बुद्धिमान् ३४।१९७  
 विजाति = पक्षियोंकी जाति,  
 नीच जाति ३०।७२  
 विनृद् (विनृप्) = प्यासे  
 रहित २७।८  
 वित्रस्त = भयभीत २९।१६१  
 विद्वाम्बर = विद्वानोपे श्रेष्ठ  
 ३४।१४३  
 विद्यार्थ = विद्यार्थ पर्वतके  
 निवासी विद्याभोसे सुशो-  
 भित मनुष्य ४१।२६  
 विद्रुम = मूँगा ३५।१६३  
 विष्टु = चन्द्रमा ३५।१७५  
 विध्युय = कम्पित करके ३५।२३०  
 विधेयता = आज्ञाकारिता,  
 अधीनता ३५।७३  
 विनियोग = कार्य ४०।८६  
 विनिपात = बाधा ३६।१७९  
 विनियन्त्रण = निरंकुश ३६।२५  
 विनीलवसना = नीले वस्त्र  
 धारण करनेवाली ३५।१७०  
 विपाश = वन्धनसे मुक्त ४२।७८  
 विमरुष्ट = दूरवर्ती पदार्थ  
 ४२।५६  
 विप्रतिपत्ति = सन्वेह ४१।४१  
 विभावरी = रात्रि ३५।२१२  
 विमलाम्बरा = निर्मल वस्त्रवाली,  
 निर्मल आकाशवाली २६।५  
 विमानता = तिरस्कार ३४।२०४  
 विरूपक = विरुद्ध—कष्टकारी  
 , ३६।२७  
 विरूपा = अमूर्ता, कुरूपा  
 ३५।२४१  
 विलक्षता = आश्चर्य ३६।६३  
 विलक्ष्यता = लज्जा, आश्चर्य  
 , ३३।५९  
 विवस्वत् = सूर्य ३५।१६२  
 विवृत्सु = जमीनपर छोटनेका  
 इच्छुक २९।११२  
 विशरारु = नश्वर ४६।१७७  
 विशद्वट = विशाल ३१।१४

विश्राप = जिसका श्राप नष्ट हो  
 चुका है ३५।२३३  
 विशिखावली = बाण पङ्क्ति  
 ४४।१२३  
 विश्वविन्मत = सर्वज्ञमत  
 ४१।१४१  
 विय = देश ४६।९४  
 विष्वग् = सब ओरसे ३५।९७  
 विष्टपातिग = लोकोत्तर  
 ३३।१४९  
 विष्णान् = भोजन ३६।११२  
 विसिनी = कमलनी ३५।२३०  
 विस्रब्ध = निश्चिन्त, विश्वासको  
 प्राप्त ३६।१६४  
 विहितायक = कृतपुण्य ४७।१०३  
 वीरागूणी = वीरोमें अग्रसर  
 श्रेष्ठ ३६।३४  
 वीरुध् = लता ३६।२०८  
 वृत्तिभेद = आजीविका भेद  
 ३८।४५  
 वृष = बैल ४१।७७  
 व्रेपथु = कम्पन ३६।८६  
 वेशन्त = स्वल्प जलाशय ३३।५०  
 वेसर = खच्चर २९।१६१  
 वैलक्ष्य = आश्चर्य, लज्जा, श्रौं  
 ३६।९२  
 वैवस्वतास्पद = यमपुर ४४।८  
 वैशाखस्थान = बाण चलानेका  
 एक आसन ३२।८७  
 व्यञ्जन = तिल मसे आदि चित्त  
 ३७।२९  
 व्यामूढि = मूढता — मूर्खता  
 ३५।२३५  
 व्युत्थित = विरुद्ध आचरणवाले  
 ३४।४०  
 व्यूहोरस्क = चौड़ी छातीवाला  
 ३१।१४६  
 व्यपरोपण = घात करना ३८।१७  
 व्युत्सृष्ट = त्यक्त ३६।१२३  
 व्रज = गोष्ठ — गायोंके रहनेका  
 स्थान ३७।६९  
 व्रतव्रात = व्रतोंका समूह ३९।३६

व्याघ्रधेनुका = नवप्रसूता व्याघ्री  
 ३६।१६६  
 व्याचास्य = जिसने मुख लोल  
 रखा है २८।१८०  
 व्यातुक्षी = एक दूसरेपर पानी  
 छछालना, फाग ३६।५३  
 व्यावहासी = परस्पर हास्य-  
 मजाक २६।३३  
 श्रु  
 शक्रु = विष्ठा ४६।२९१  
 शतमखेष्वास = इन्द्रधनुष २६।२०  
 शताप्सर = इन्द्र ३६।१९६  
 शब्दविधा = व्याकरण शास्त्र  
 ३८।११९  
 शम्बल-सम्बल = मार्गहित-  
 कारी भोजन ३५।२२  
 शम्फली = दूती ३४।१६  
 शरब्धता = लक्ष्यता २८।९  
 शत्रुपोत = अजगरके बच्चे  
 २७।३४  
 शक्कसात्कुतात् = खण्ड-खण्ड  
 किये ३४।६०  
 शरवक्ष = बाणोंकी शय्या  
 ३५।२११  
 शरवत् = बाणोंका समूह ३६।८०  
 शरव्य = निशाना ३५।७१  
 शर्वरी = रात्रि ३४।१५५  
 शाक्तम् = शक्ति समूह (उत्साह-  
 , शक्ति, सम्प्रशक्ति, प्रभुत्व-  
 शक्ति) ३०।७  
 शाक्तिक = शक्तिनामक शास्त्रको  
 धारण करनेवाले २७।१११  
 शास्त्राभ्युग = वानर ४१।३७  
 शास्त्रि = वृक्ष ३६।६  
 शारीर = शरीर सम्बन्धी ३७।३०  
 शारदी = शरद् ऋतु सम्बन्धी  
 ३७।१४०  
 शार्वर = रात्रि सम्बन्धी ३५।२२२  
 शालिगोपिका = धानके खेत  
 रखानेवाली गोपियाँ ३५।३६  
 शालिब्र = धानके खेत ३५।३१  
 शासन = शिक्षक ३५।८६

शासनहर = हूत ३४५०  
 शिखण्डिन् = मयूर २६१९  
 शिञ्जित = नृपुत्रोको क्षणकार  
 २६१५  
 शिवा = शृगालो ३४१८२  
 शिरस्त्र = शिरका टोप ३६१४  
 शीघ्रमान = सींचे गये २८११०९  
 शुचि = ग्रीष्म ऋतु २७४९  
 शुद्ध = एक वर्ण ३८४६  
 शोमुषी = बुद्धि २८१५८  
 शमधर्मास्तुविप्रुष = पत्नीनाकी  
 वृद्धे ३५१३५  
 श्रावकाचारसुखु = श्रावकाचारसे  
 प्रसिद्ध ४०१३०  
 श्रीगृह = खजाना ३७८८५  
 श्रुतोपासक सूत्र = उपासकाध्य-  
 यनाङ्गश्रावकाचारका वर्णन  
 करनेवाला शास्त्र ३८१२४  
 श्रौत = श्रुति अथवा वेद सम्बन्धी  
 ३९११०  
 श्लाघ्य परिच्छद = प्रशंसनीय  
 परिकरसे सहित ३४१२४  
 श्वेतभालु = चन्द्र ४११७६  
 च  
 चट्कर्मजीविन् = जसि, मषी,  
 कृपि, शिल्पि, वाणिज्य, और  
 विद्या इन छह कार्योंसे  
 आजीविका करनेवाले  
 ३९११४३  
 चट्स्थी = छह सेवसे युक्त ३८४२  
 चटङ्ग = हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल-  
 सैनिक, देव, और विद्याधर  
 ये चक्रवर्तीकी सेनाके ६  
 अंग कहलाते हैं। ३६१५  
 पाङ्गुण्य = सन्धि, विग्रह, यान,  
 बासन, हँसीभाव, आश्रय,  
 ये राजाजीके छह गुण हैं।  
 २८१२८

स

सङ्गर = युद्ध ४३१५२  
 सङ्गर = प्रतिज्ञा ३४१७०

संग्रामनिकष = युद्धरूपी कसीटो  
 ३५१३७  
 सजयकेतन = विजय पताकासे  
 सहित ३६१६  
 सज्जालि = स्त्रियोसे सहित  
 २९११०८  
 सत्योद्य = सत्यपदार्थका कथन  
 करनेवाला ३९११२  
 सत्त्वोपधात = प्राणिधात ४१५१  
 सद्गोऽवनि = समवसरण भूमि  
 ४१११९  
 सप्रची = सखी २६११४६  
 सनामि = बन्धु ४५१२५  
 सनाभि = सगीत्र, कुटुम्बीजन  
 ३४१२०  
 सनासिन्धु = सगा भाईपना  
 ३५१२  
 सन्नाह = कवच ३२१६९  
 सन्निधि = सामीप्य, सन्निधान,  
 ३६१२०३  
 सन्निधि = एकत्र उपस्थिति  
 ३५१४६  
 ससच्छद = सप्तपर्ण नामका  
 एक वृक्ष, जो शरद् ऋतुमें  
 फूलता है। इसकी छण्डल-  
 ने सात-सात पत्ते होते हैं।  
 २६१६  
 सभावनि = सभाभूमि ३६१२००  
 सभामण्डल = समवसरण  
 ४७१६३  
 सभरसघटपिञ्जल = युद्धके  
 सम्मर्दको सूचित करने-  
 वाला ३५१४१  
 सभवाय = समूह ३४१३८  
 सभवर्ती = यय ४६१४३  
 सप्पतन्ती = उड़ती हुई २६१८  
 संप्रीत = प्रसन्न ३९१४४  
 सभूत = समुत्पन्न ३४११२  
 समा = वर्ष ३३१२०२  
 समानता = मानसे सहितपना  
 ३५११७

समासमीना = प्रतिवर्ष गर्मिणी  
 होनेवाली गाय २६१३६  
 समित्सहस्र = हजारों लकड़ियाँ  
 ३५१११  
 समिद्ध = प्रचण्ड ४४३३४६  
 समुत्सिक्त = गवित ४४१६२  
 समुद्वाह = विवाह २६१६५  
 सरोजरागरत्न = पद्मरागमणि  
 ३३१६०  
 सर्वज = मृष्टि ४११२२  
 सर्वङ्गप = सर्वघाती ३९१२९  
 सर्वभोगिणी = सबके भोगर्त  
 योग्य ३४११९  
 सलिलाखोडित = पानीमें घुला  
 हुआ ३९१४३  
 सल्येष्ट = सारथि २८१५९  
 सहसान = मयूर २६११८  
 सहसारसाः = सारग पक्षियोंमें  
 सहित २६११५  
 मख्यातरात्र = कुछ राते ३५१२७  
 संख्याज्ञान = गणित शास्त्र  
 ३८१२०  
 संघात = समूह ३६१६  
 संदमित = कवच पहने हुए  
 ३६११५  
 संप्रेक्षा = आलोकन ३६१२२  
 संप्लुष्ट = दान ३४११५४  
 संयुग = युद्ध ४४१९९  
 संवर्मित = कवच धारण किमें  
 हुए ३६१३८  
 संवाह = पहाड़ीपर बसने वाले  
 गाँव ३७१६६  
 संविद् = ज्ञान ४६१२४५  
 संवेग = नवरात्रे भय ३८१४६  
 संस्त्रुत = उत्तम मन्त्र ४३१८१  
 सहित = इकट्ठे हुए, मित्रे हुए  
 ४२११  
 साम्प्रत्य = आरम्भ - अक-  
 मन्त्रके पुनर्गते मन्त्र  
 ४४११०५  
 मास = मन्त्र ३८१७

साङ्गामिकी = युद्ध सम्बन्धी  
३६१२

सातोद्य = वादित्रोसे सहित  
३७५९

सादिन् = युद्धसवार ३६११

साधन = सेना ३६१८

साध्वस = भय ३६१२

साध्वाचार = मुनिके योग्य  
आचारसे सहित ३४१३५

सान्ताणिकी = कल्पवृक्षसम्बन्धी  
३०१२४

सामि = साम, दान, दण्ड, भेद  
इन चार उपयोगे-से एक  
उपाय ३५१००

सामज = हाथी ३५१०२

सामवायिक = सहायक ४४१२१

साम्प्रतम् = युक्त-हीक ४११४३

सामि = कुछ ३६१११

साथप्राप्तिक = सुबह । ग्रामके  
२८५५

साराम = बगीचोसे सहित  
३४१४१

सार्व = सर्वहितकारी ३५१२४४

सार्वभौमत्व = चक्रवर्तित्व

४५५७

सावनी = सबन-यज्ञसम्बन्धिनी  
३३१९३

सावधि = अवधिज्ञानसे सहित  
४५५४१

सावद्य = पापसहित कार्य  
३४१९९२

सावद्यमीर = पापसहित कार्य-  
से डरनेवाले ३८१४४

सितच्छदावली = हंसोकी पंक्ति  
२६१८

सितपक्षिन् = हंस २६११२

सिद्ध = व्यन्तर देवोका एक भेद  
४११२६

सिद्धार्थविटप = सिद्धार्थ नामक  
वृक्ष जिसके नीचे जिन-  
प्रतिमाएँ होती हैं ३३१९९

सिन्धु = नदी ३५१२७

सिद्धि = मुक्ति ३६११५८

सिति = काले ३६११७२

सीमन्त = मार्ग ३५१३४

सीमान्त = गाँवोकी सीमा  
३५१३९

सुधागिन् = देव ३०१२०२

सुधासुब् = देव ३६१३१

सुधासित = चूनासे पुता हुआ  
सफेद ३७११५१

सुयज्वन् = होम करनेवाले  
३४१२१५

सुमेधस् = बुद्धिमान् ३४५७

सुरगज = ऐरावत हाथी ३७१२३

सुरदेव = शकुनज ४५११४२

सुरभिमास = चैत्र मास, वसन्त-  
मास ३७१२२२

सुरभीकृत = सुगन्धोक्त

३७१२२२

सुरा = मदिरा ३६१८७

सुरेस = सुन्दर शब्दसे युक्त  
२८१६

सैकतारोह = रेतीले, तटक्षपी  
नितम्ब २६११४८

सैन्धव = सिन्धु नदी सम्बन्धी  
२८११७२

सैन्धव = सिन्धु देशके घोड़े  
३०११०७

सोमकक्षपङ्क्तिप्रप = राजा सोम-  
प्रभक्षपी कल्पवृक्ष ४३१८३

सोदर्य = सगे भाई ३४१४५

सौराष्ट्रिक = सौराष्ट्र देशके  
३०१९९

सौविद्वल्ल = कंचुकी, अन्तःपुरका  
पहरदार २७१११८

स्कन्धावार = शिबिर - सेनाका  
पड़ाव ४५११०७

स्तन्य = दूध ३६११६६

स्तनित = मेघगर्जना ३३१७

स्तम्बकरिस्तम्ब = धानके पीछे  
३५१२९

स्तम्बेरम = हाथी ३६११७०

स्तनयिलु = मेघ ४६११७७

स्थपुट = ऊँचे नीचे स्थान  
३६१९१

स्थलपद्मायित = गुलाबके फूलके  
समान आचरण करनेवाला  
३५१७६

स्थविराकार = वृद्धका रूप  
४७११०६

स्फीत = अत्यन्त विस्तृत ३७१२०१

स्मराकाण्डावस्कन्द = कामका  
असमयमे हुआ आक्रमण  
३७१२२१

स्त्रिगिणी = माला पहननेवाली  
३५११८३

स्वर्धुनी = गङ्गा नदी ३५११९७

स्वःसद् = देव २७५७

स्ववगृह = उत्तम ललाटेसे युक्त,  
पक्षमे सुष्ठु प्रतिबन्धसे युक्त  
३३१४३

स्वायम्भुव = भगवान् सम्बन्धी  
३४१२१५

स्वारोह = जिनपर अच्छी तरह  
चढ़ा जाय ऐसे पर्वत  
२९१७२

स्वान्व = चित्त ३४११८३

ह

हरि = घोड़े ४४१७५

हरि = सिंह ३४१११२

हरिणाराति = सिंह ३६११६७

हरिन्मुख = बिड़मुख २७११८

हरिषिष्टर = सिंहासन ४२११

हारि = मनोहर ३५१६२

हार्य = हरण करने योग्य - नक्षत्र  
३४१११६

हास्तिक = हाथियोका समूह  
३६१३

हिमानी = बहुत भारी बर्फ  
३०१२११

हेति = शस्त्र ३६११३

हृद्यू = काम ३७१३४

हेषित = घोड़ोकी हिनहिनाहट  
३३१६

हैमनी = हेमन्त ऋतु सम्बन्धी  
३०११६०

## आदिपुराण भाग दो के सुभाषित

'अहो कष्टा दरिद्रता ।'	२६।४३
'रम्यं हारि न कस्य वा ।'	२७।१९
'नून तीव्रप्रतापाना माध्यस्थ्यमपि तापकम् ।'	२७।१००
'महता विश्रमीहितम् ।'	२८।२७
'अहो स्यैव महात्मनाम् ।'	२८।५७
'विभति यः पुमान् प्राणान् परिभूतिमलीमसान् । न गुणैर्लिङ्गमात्रेण पुमानेप प्रतीयते ॥'	२८।१२९
'सच्चित्रपुरुषो वास्तु चञ्चापुरुष एव च । यो विनापि गुणै पीत्सौ माम्नैव पुरुषायते ॥'	२८।१३०
'स पुमान् य पुनीते स्व कुलं जन्म च पौरुषं । भट्टभूवो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवनिर्भुवि ॥'	२८।१३१
'सत्यं परिभव सोढुमशक्यो मानसालिनाम् । बलवद्भिरविरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥'	२८।१३९
'बलिनामपि सत्येव बलीयासो मनस्विन । बलवानहमस्मीति नोत्सेकतव्यमत परम् ॥'	२८।१४२
'इहामुत्र च जन्तूनामुत्तमै पूज्यपूज्यतिक्रम । तापं तत्रानुबन्नाति पूज्यपूज्यतिक्रम ॥'	२८।१५१
'सम्भोगैरतिरसिको न तृप्यतीह'	२८।१९०
'पुण्ये बलीयसि किमस्ति जगत्पञ्चम्यम्'	२८।२१४
'पुण्यात्पर न ललु साधनमिष्टसिद्धयै'	२८।२१५
'पुण्यात्पर न हि वशीकरण जगत्याम्'	२८।२१६
'पुण्य जले स्थलमिवाभ्यवपद्यते नृन् पुण्य स्थले जलमिवायु नियन्ति तापम् । पुण्यं जलस्थलभये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्तम् ॥'	२८।२१७
'पुण्यं परं शरणमापदि दुर्विलङ्घ्य पुण्य दरिद्रति जने धनदायि पुण्यम् ।	
'पुण्यं सुखायिनि जने सुखदायि रत्नं पुण्यं जिनोदितमतः सुजनाश्चिन्नुध्वम् ॥'	२८।२१८
'पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत् । पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यायिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥'	२८।२१९
'किमु कल्पसरोः सेवास्त्यकलाल्पफलापि वा'	२९।३३
'सत्यं बहुनटो नृप.'	२९।३७
'सर्वो हि वाञ्छति जनो विषयं मनोज्ञम्'	२९।१५३
'अभवो मितभाषिण.'	३४।३०



'क्रोधान्धतमसे.मर्नं यो नात्मान समुद्धरेत् ।	
स कृत्य संशयं द्वेषात्तोत्तरीतुमलन्तराम् ॥'	३४१७४
'किं तरा स विजानाति कार्याकार्यप्रनात्मवित् ।	
यः स्वान्तःप्रभवान् जेतुमरीत्र प्रभवेत् प्रभुः ॥'	३४१७५
'स्थायुकं हि यसो लोके गत्वर्थो ननु सम्पदः ।'	३४१८६
'किमप्सर शिरोजान्तसुमनोमन्धलाकितः ।	
तुम्बीवनान्तमभ्येति प्राणान्तोऽपि मधुव्रतः'	३४१९६
'मुक्ताफलाच्छमापाय गगनाम्बुनवाम्बुदात् ।	
शुष्यत्सरोऽपि किं वाञ्छेदुदयन्तपि च ॥'	३४१९७
'उन्तिष्ठन्ते स्म मुनत्यर्थं बद्धकक्षा मुमुक्षवः'	३४१९७
'सर्वं हि परिकर्मदं बाह्यमध्यात्मशुद्धये'	३४१९८
'प्रादुरासन् विद्युदं हि तपः सूते महत्फलम्'	३४१९८
'अयं खलु खलावारो यद् बलात्कारवर्धनम् ।	
स्वगुणोत्कीर्तनं दोषोद्भावनं च परेषु यत् ॥'	३५१९४
'विवृणोति खलोऽन्येषा दोषान् स्वास्व गुणान् स्वयम् ।	
संवृणोति च दोषान् स्वान् परकीयान्युपानपि ॥'	३५१९५
'अनिराकृतसंतापा सुमनोभिः समुज्जिताम् ।	
फलहीनां श्रयत्यज्ञ खलतां खलतामिव ॥'	३५१९६
'सतामसम्मता विध्वगाचिता विरसैः फलैः ।	
मन्ये दु खलतामेना खलता लोकतापिनीम् ॥'	३५१९७
'नैकान्तशमनं साम समाम्नातं सहोष्मणि ।	
स्निग्धेऽपि हि जने तप्ते सपिबोवाम्बुसेचनम् ॥'	३५१९००
'उपप्रदानमप्येवं प्रायं मन्ये महीजसि ।	
समित्सहस्रदानेऽपि दीप्तस्याग्ने कुतः शमः ॥'	३५१९०१
'लोहस्येवोपतप्तस्य मृदुता न मनस्विनः ।	
दण्डोऽन्यनुनयग्राह्ये सामजे न मृगद्विषि ॥'	३५१९०२
'जरस्यपि गजः कक्षा गाहते किं हरेः शिशोः ।'	३५१९०५
'तेजस्वी भानुरेवैकः किमन्योऽप्यस्त्यत परम् ॥'	३५१९०८
'स्वदोर्द्धमफलं बलाध्यं यत्किञ्चन मनस्विनाम् ।	
न चातुरत्तमप्यैश्वर्यं परभ्रूलतिकाफलम् ॥'	३५१९१२
'पराज्ञोपहृता लक्ष्मी यो वाञ्छेत्पाथिवोऽपि सन् ।	
सोऽपार्थयति तामुक्तिं सर्पोक्तिमिव दुष्पुङ्गवः ॥'	३५१९१३
'परावमानमलिना भूतिं धत्ते नृपोऽपि यः ।	
नृपशोस्तस्य नल्येष भारो राज्यपरिच्छदः ॥'	३५१९१४
'मानभङ्गाजितैर्मैरिष्यः प्राणान्धर्तुमीहते ।	
तस्य भग्नरदस्येव छिरदस्य कुतो भिदा ॥'	३५१९१५
'छत्रभङ्गाद्विनाप्यस्य छायाभङ्गोऽभिलक्ष्यते ।	
यो मानभङ्गभारेण विभर्त्यवनत शिरः ॥'	३५१९१६
'भुतयोऽपि समानास्त्वेत् त्यक्तभोगपरिच्छदाः ।	
क्रो नाम राज्यभोगार्थो पुमानुज्ज्ञेत्समानताम् ॥'	३५१९१७
'वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम् ।	
कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता ॥'	३५१९१८

'मानमेवाभिरक्षन्तु वीरा प्राणैः प्रणवैरै ।	
नन्वलंकुसुते विश्वं शश्वन्मानोजितं यथा ॥'	३५।१।१९
'वचोभिः पोषयन्त्येव पण्डिताः परिफल्गवपि ।	
प्रक्रान्तायास्तुताविष्टसिंहो ग्राममगो ननु ॥'	३५।१।२१
'ननु सिंहो जयत्येकः सहितानापि दन्तिनः ।'	३६।३०
'को नाम मतिमानोऽप्येद् विषयान्विषदाशुणान् ।	
येषा वशगतो जन्तु यात्यनर्थपरम्पराम् ॥'	३६।३३
'वर विपं यदेकस्मिन्मये हन्ति न हन्ति वा ।	
विषयास्तु पुनर्धनंति हन्त जन्तुननन्तश्च ॥'	३६।३४
'आपातमात्ररम्याणा विपाकफट्टकात्मनाम् ।	
विषयाणां कृते नाज्ञो यात्यनर्थनिपाथकम् ॥'	३६।३५
'अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिणः ।	
किं पाकपाकविषयान् विषयान् क कृती भजेत् ॥'	३६।३६
'प्रसङ्गं पायतन् भूमी गात्रेषु कृतवेपथुः ।	
जरापातो नृणां कष्टो ज्वरः शीत इवोऽङ्गवन् ॥'	३६।८६
'अङ्गसाध मतिभ्रेपं वाचामस्कृष्टतामपि ।	
जरा सुरा च निर्णिष्टा घटयत्याशु देहिनाम् ॥'	३६।८७
'नाम्य नाम पर तपः'	६।१।१७
'ज्ञानशुद्ध्या तप क्षुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी ।	
ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महावरोः ॥'	३।१।४८
'सुते हि फलमक्षीणं तपोऽमूणमुपासितम् ॥'	३।१।५५
'महता हि मनोवृत्तिर्नोत्तिकपरिरस्मिणी'	३७।१३
'रत्नानि ननु ताम्येव यानि यान्युपयोगिताम् ॥'	१७।१९
'तप श्रुतं च जातिवच त्रय ब्राह्मण्यकारणम् ।	
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥	३।८।४३
'क्षत्रियो न्यायजीविकः'	१।२६२
'प्रजा कामदुषा वेनुर्मता न्यायेन योजिता ।'	१।२६९
'राजवृत्तमिदं मिद्धि यन्त्यायेन वनाजंनम् ।	
वर्धनं रक्षणं चास्य तीर्थं च प्रतिपादनम् ॥'	१।२७०
'अज्ञानकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूषयेत्कुलम्'	१।२७४
'रक्षितं हि भवेत्सर्वं नृपेणात्मनि रक्षितं'	१।२७५
'हिसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽमी कृतान्तवाक्'	१।२२
'पुराणं धर्मभास्त्रं च तस्याद् वचनिपेधि यत् ।	
वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं ब्रूतप्रणेतृकम् ॥'	३९।२३
'मन्त्रास्त एव धर्म्यासु ये क्रियासु नियोजिताः ।	
दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ता प्राणिमारणे ॥'	३९।२६
'स्यान्निरामिवभोजित्वं बुद्धिराहारगोचराः ।	
सर्वकयास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिपभोजिनः ॥'	३९।२९
'अहिंसाशुद्धिरेषा स्याद् ये नि सङ्गा दयालवः ।	
रता पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुरासया ॥'	३९।३०
'न्यायो दयार्द्रवृत्तिवमन्याय प्राणिमारणम् ।'	३९।३४
को हि नाम तमो नैव हन्यादन्यत्र भास्करात् ।'	४०।१

'धर्मशीले महोपाले याति तच्छीलता प्रजा ।	
अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजा ॥'	४१।९७
'दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् ।	
धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमात्मनो गृहमेधिनाम् ॥'	४१।१०४
'धर्मं हि चिन्तिते सर्वं चिन्त्यं स्यादनु चिन्तिनम्'	४१।११४
'धर्मो रक्षत्युपायेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः ।	
धर्मं श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मणेहाभिनन्दयुः ॥'	४१।११६
'धर्माग्रं ननु केनापि नादक्षि विरसं भवचित्'	४३।१६
'दोषान्गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषास्तु दोषवान् ।	
सदसज्ज्ञानयोद्विचक्षमत्र माहात्म्यमीदृशम् ॥'	४३।२०
'गुणिना गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः ।	
असदोषसमादानाद् दोषवान् दुर्जनोऽद्भुतम् ॥'	४३।२१
'कविरेव कवेर्वेत्ति कामं क्लृप्पपरिश्रमम्,	
वन्ध्या स्तनन्धयोत्पत्तिवेदनामिव नाकवि.'	४३।२४
'गुणागुणानभिज्ञेन कृता निन्दाथवा स्तुतिः ।	
जात्यन्धस्येव धृष्टस्य रूपे हासाय केवलम् ॥'	४३।२६
'गणयन्ति महान्तः किं क्षुद्रोपद्रवमल्पवत्,	
दाह्यं तृणाग्निना तूर्लं पत्युस्तापोऽपि नाम्भसाम् ॥'	४३।२८
'काष्ठजोऽपि दहत्यग्निः काष्ठं तं तत्तु बर्धयेत् ।	
प्रदीपायितमेताम्या सदसद्भूतभासने ॥'	४३।२९
'हृदि धर्ममहारत्नमागमाभ्योविस्मयम् ।	
कोस्तुभादधिकं भत्वा दद्यात् पुरुषोत्तमः ॥'	४३।३५
'आकरेण्विव रत्नानामुद्धाना नाशये क्षयः ।	
विचित्रालङ्कृती : कर्तुं दीर्घत्वं किं कवेः कृतीः ॥'	४३।४२
'नाथिनो विमुखात्मस्तः कुर्वते तद्धि तद्व्रतम्'	४३।७२
'सन्तोऽजसरवादिनः'	४३।७३
'न सहन्ते ननु स्त्रीणां तिर्थचोऽपि परामवम्'	४३।९९
'आभिजात्यं वयोरूपं विद्या वृत्तं यशःश्रियम् ।	
विभुत्वं विक्रमं कान्तिर्मैहिकं पारलौकिकम् ॥	
प्रीतिमप्रीतिमादेयमनादेयं कृपा त्रपाम् ।	
हानिं वृद्धिं गुणान्दोषागणयन्ति न योषितः ॥',	४३।१०२।१०३
'वृद्धिचकस्य हि विषं पक्वात्पन्नगस्य विषं पुरः ।	
योषिता ब्रूषितेच्छाना विषवतो विषमं विषम् ॥'	४३।१०४
'जालकैरिन्द्रजालेन वरुण्या ग्राम्या हि मायया ।	
ताभिः सेन्द्रो गुर्वञ्ज्यस्तन्मायामातरः स्त्रियः ॥'	४३।१०७
दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः ।	
तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः ॥'	४३।१०९
'निर्गुणान्गुणिनो मन्तुं गुणिनः खलु निर्गुणान् ।	
नाशकत् परमात्मापि मन्यन्ते ता हि हेतव्या ॥'	४३।११०
'आर्याणामपि वारभूयो विचार्या कार्यवेदिभिः ।	
वज्रयाः किं पुनर्नार्याः कामिनां का विचारणा ॥'	४३।११५
'कनीयसोऽपि सम्बन्धं वेच्छन्ति ज्यायसा सह'	४३।१८८

'नहि मत्सरिणः सन्तो न्यायमार्गानुसारिणः '	४३।१९९
'धिक् स्थूल्यं भीतचेतसाम्'	४४।२२६
'अन्यायो हि परा भूतिर्न तत्त्यागो महीयसः '	४४।२५२
'उन्मार्गं कं न पीडयेत्'	४४।३४२
'सा धीर्देवापरावस्य प्रतिकर्त्री हि याञ्चिरात्'	४५।३१
'अर्थार्थिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किंचन'	४६।५५
'बुद्धिनिग्रेसरी यस्य न निर्वन्ध फलत्यसौ'	४६।६१
'कान्ता किं किं न कुर्वन्ति स्वभागपतिते नरे'	४६।६३
'पुण्यात् स्निह्यन्ति देहिनाः '	४७।१३३
'भङ्गुरः सपम सर्वोऽप्यङ्गिनामभिवाञ्छितः ।	
किं नाम सुखमन्नेदमल्पसंकल्पसंभवम् ॥'	४८।१९१
'आयुर्वायुचल कायो ह्येव एवामयालयः ।	
साम्राज्यं भुज्यते लोलैर्बालिषैर्बहुदोषलम् ॥' *	४८।१९२
'केन मोक्षः कथं जीव्यं कुतः सीक्ष्यं क्व वा मतिः ।	
परिग्रहाग्रहग्राहगुहीतस्य भवार्णवे ॥'	४९।२०९
'अयं कायद्रुम कान्ताग्रसतीततिवेष्टितः ।	
जरित्वा जन्मकान्तारे कालाग्निग्रासमाप्स्यति ॥'	४९।२११
'सता स सहजो भावो यस्तु बन्त्युपकारिणः ।'	४९।१६६
'सचित्तोजितपुण्यानां भवेदापन्नं संपदे'	४९।१६८



**BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA**  
**MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ**

*General Editors :*

Dr. H. L. JAIN, Jabalpur : Dr. A. N. UPADHYE, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions etc. and published by the Jñānapīṭha.

**Mahābandha or the Mahādhaḥalā :**

This is the 6th Khaṇḍa of the great Siddhānta work *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Bhūtabali : The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prakrit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindi Translation. Vol. I is edited by Pt. S. C. DIWAKAR and Vols. 2 to 7 by Pt. PHOOLACHANDRA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prakrit Grantha Nos 1, 4 to 9. Super Royal Vol I : pp. 20+80+350 ; Vol II : pp. 4+40+440 ; Vol. III : pp. 10+496 ; Vol. IV : pp. 16+428 ; Vol. V : pp 4+460, Vol VI : pp 22+370 ; Vol. VII : pp 8+320 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1947 to 1958. Price Rs 11/- for each vol.

**Karalakkhaṇa :**

This is a small Prakrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindi Translation by Prof P. K. MODI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prakrit Grantha No. 2. Third edition, Crown pp. 48 Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price 75 nP.

**Madanaparājaya :**

An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Saṃvat 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid. Edited critically by Pt. RAJKUMAR JAIN with a Hindī Introduction, Translation etc., Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 1. Second edition. Super Royal pp. 14 + 58 + 144. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

**Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Grantha-sūci :**

A descriptive catalogue of Palmleaf Mss. in the Jaina, Bhaṇḍāras of Moodbidri, Karkal, Aliyoor etc. Edited with a Hindī Introduction etc. by Pt. K. BHUJABALI SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 2. Super Royal pp. 32 + 324. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1948. Price Rs. 13/-.

**Tattvārtha-vṛtti :**

This is a critical edition of the exhaustive Sanskrit commentary of Śrutasaṅgāra (c. 16th century Vikrama Saṃvat) on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti which is a systematic exposition in Sūtras of the fundamentals of Jainism. The Sanskrit commentary is based on earlier commentaries and is quite elaborate and thorough. Edited by Pts. MAHENDRAKUMAR and ŪDAYACHANDRA JAIN. Prof. MAHENDRAKUMAR has added a learned Hindī Introduction on the exposition of the important topics of Jainism. The edition contains a Hindī Translation and important Appendices of referential value. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 4. Super Royal pp. 108 + 548. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949, Price Rs. 16/-.

**Ratna-Maṅjūṣā with Bhāṣya :**

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 5. Super Royal pp. 8 + 4 + 72. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949. Price Rs. 2/-.

**Nyāyavinīścaya-vivarana :**

The Nyāyavinīścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D.) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (c. 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol. I : pp. 68 + 546 ; Vol. II : pp. 66 + 468. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949 and 1954. Price Rs. 15/- each.

**Kevalajñāna-praśna-cūḍāmaṇi :**

A treatise on astrology etc Edited with Hindi Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc. by Pt. NEMICHANDRA JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 7. Super Royal pp. 16+128. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 4/-.

**Nāmamālā :**

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanamjaya (c 8th century A D) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarakīrti (c. 15th century A.D). The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes. Edited by Pt. SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr. P. L. VAIDYA and a Hindi Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR. The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣari-kośa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 6. Super Royal pp. 16+140. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 3.50 nP.

**Samayasāra :**

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism. Prākṛit Text, Sanskrit Chāyā Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof. A CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all-important topic of the Self. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, English Grantha No 1. Super Royal pp 10+162+244. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs 8/-.

**Jātakatthakathā :**

This is the first Devanāgarī edition of the Pālī Jātaka Tales which are a store-house of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikṣu DHARMARAKSHITA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Pālī Granthamālā No 1, Vol. 1. Super Royal pp. 16+384. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 9/-.

**Kural or Thirukkural :**

An ancient Tamil Poem of Thevar. It preaches the principles of Truth and Non-violence. The Tamil Text and the commentary of Kavrajapadita. Edited by Prof A. CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English. Bhāratīya Jñānapīṭha Tamil Series No. 1. Demy pp. 8+36+440. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs 5/-.



**Mahāpurāṇa :**

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopædic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jain lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A.D.) is an outstanding scholar, poet and teacher; and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindi Translation, Introduction, Verse Index etc. by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 8, 9 and 14. Super Royal Vol. I: Second edition, pp. 8 + 68 + 746 Varanasi 1963; Vol. II: pp. 8 + 556; Vol. III: pp. 8 + 16 + 640; Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951 to 1954. Price Rs. 10/- each.

**Vasunandī Śrāvākācāra :**

A Prākṛit Text of Vasunandī (c. Saṃvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder, critically edited along with a Hindi Translation by Pt. HIRALAL JAIN. The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvākācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākṛit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākṛit Grantha No. 3. Super Royal pp. 230. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1952. Price Rs. 5/-.

**Tattvārthavārttikam or Rājavārttikam :**

This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20. Super Royal Vol. I: pp. 16 + 430; Vol. II: pp. 18 + 436. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1953 and 1957. Price Rs. 12/- for each Vol.

**Jinasahasranāma :**

It has the Svopajñia commentary of Paṇḍita Āśādhara (V. S. 13th century). In this edition brought out by Pt. HIRALAL a number of texts of the type of Jinasahasranāma composed by Āśādhara, Jinasena, Sakalakīrti and Hemacandra are given. Āśādhara's text is accompanied by Hindi Translation. Śrutasāgara's commentary of the same is also given here. There is a Hindi Introduction giving information about Āśādhara etc. There are some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 288. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954. Price Rs. 4/-.

**Purāṇasāra-Saṅgraha :**

This is a Purāṇa in Sanskrit by Dāmanandī giving in a nutshell the lives of Tīrthaṅkaras and other great persons. The Sanskrit text is edited with a Hindi Translation and a short Introduction by G.C. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 15 and 16 Crown Part I : pp 20+198 ; Part II : pp. 16+206. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1954, 1955. Price Rs 2/- each

**Sarvārtha-Siddhi :**

The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāla is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti called here by the name Ḡḍhrapiccha. It is edited here by Pt. PHOOLACHANDRA with a Hindi Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 13. Double Crown pp. 116+506. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1955. Price Rs. 12/-.

**Jainendra Mahāvṛtti :**

This is an exhaustive commentary of Abhayānandī on the *Jainendra Vyākaraṇa*, a Sanskrit Grammar of Devānandī alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A. D. Edited by Pts S N. TRIPATHI and M. CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr. V. S. AGRAWALA, *Devānandikā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khīlapāṭha* by MIMĀNSAKA and some useful Indices at the end. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 17. Super Royal pp. 56+506. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 15/-.

**Vratatīthi Nirpaya :**

The Sanskrit Text of Smhanandī edited with a Hindi Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 19. Crown pp. 80+200. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 3/-.

**Pauma-caritū :**

An Apabhrāṃśa work of the great poet Svayambhū (677 A. D.). It deals with the story of Rāma. The Apabhrāṃśa text up to 56th Sandhi with Hindi Translation and Introduction of Dr. DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 3 Volumes. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhrāṃśa Grantha Nos. 1, 2 & 3. Crown size, Vol. I : pp. 28+333 ; Vol. II : pp 12+377 ; Vol. III : pp 6+253 Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1957, 1958. Price Rs. 3/- for each Vol.

**Jivāmdhara-Campū :**

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jivāmdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by Pt. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by Prof. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jivāmdhara tale by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4+24+20+344. Bhāratiya Jñānapīṭha Kāshī, 1958. Price Rs. 8/-.

**Padma-purāṇa :**

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by Pt. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I : pp. 44+548 ; Vol. II : pp. 16+460 ; Vol. III : pp. 16+472. Bhāratiya Jñānapīṭha Kāshī, 1958-59. Price Rs. 10/- each.

**Siddhi-viniścaya :**

This work of Akalaṅkadeva with Svopajñāvṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with exhaustive, learned Introductions both in English and in Hindī, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16+174+370 ; Vol. II : pp. 8+808. Bhāratiya Jñānapīṭha Kāshī, 1959. Price Rs. 18/- and Rs. 12/-.

**Bhadrabāhu-Saṁhitā :**

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents etc Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72+416. Bhāratiya Jñānapīṭha Kāshī, 1959. Price Rs. 8/-.

**Pañcasamgraha :**

This is a collective name of 5 Treatises in Prākṛit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gommaṭasāra etc. The Text is edited with a Sanskrit commentary, Prākṛit Vṛtti by Pt. HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākṛit Grantha No. 10. Super Royal pp. 64+804. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1960. Price Rs. 15/-.

**Mayaṇa-parājaya-carit :**

This Apabhraṁśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by Prof. Dr. HIRALAL JAIN. It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina. This edition is equipped with a learned Introduction both in English and Hindī. The Appendices give important passages from Vedic, Pālī and Sanskrit Texts. There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 5. Super Royal pp. 88+90. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 8/-.

**Harivaṁśa Purāṇa :**

This is an elaborate Purāṇa by Jināsena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivaṁśa in which are included the cycle of legends about Kṛṣṇa and Pāṇdavas. The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 27. Super Royal pp. 12+16+812+160. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 16/-.

**Karmaprakṛti :**

A Prākṛit text by Nemcandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommaṭasāra. Edited by Pt. HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatīkīrti and Hindī Tīkā of Paṇḍita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśeṣārtha. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākṛit Grantha No. 11. Super Royal pp. 32+160. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 6/-.

**Upāsakādhyayana :**

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI, Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 28. Super Royal pp. 116 + 539, Bhāratiya Jñānapīṭha, Kashi, 1964. Price Rs. 12/-.

**Bhojacaritra :**

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.). Critically edited by Dr. B. Ch. CHHABRA, Jt. Director General of Archaeology in India and S. SANKARANARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 29. Super Royal pp. 24 + 192. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

**Satyaśāsana-parikṣā**

A Sanskrit text on Jain logic by Ācārya Vidyānandi, critically edited for the first time by GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text, by Dr. NATHMAL TATIA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jain Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 30. Super Royal pp. 56 + 34 + 62. Bhāratiya Jñānapīṭha, Kashi, 1964. Price Rs 5/-.

**Karakaṇḍa-carīi**

An Apabhraṃśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as 'Pratyeka Buddha' in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindi & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices etc. by Dr. HIRALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṃśa Grantha No. 4. Super Royal pp. 64 + 278. Bhāratiya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs 10/-.

*For Copies Please write to—*

BHARATIYA JNANPITH,  
3620/21 Netaji Subhas Marg, Dariyaganj,  
Delhi (India).

or

BHARATIYA JNANPITH,  
Durgakund road, Varanasi (India).

